

प्रकाशक

लाला खजानचोराम जैन,
अध्यक्ष, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास,
संस्कृत-हिन्दी पुस्तक-विक्रेता, गली
नन्हेखाँ, कूचा चेला, कैच बाजार,
दरियागंज, दिल्ली।

पुनर्मुद्रणाधिकारा. प्रकाशकायता.

All Rights Reserved by the Publishers

केवल टाइटल और भूमिका के

मुद्रक
पंजाब नेशनल प्रेस,
चायझी बाजार, दिल्ली।

मुद्रक
गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली।



COLLECTION OF VARIOUS

- HINDUISM SCRIPTURES
- HINDU COMICS
- AYURVEDA
- MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

icreator of
hinduism
server!

SUSHRUTA SAMHITĀ

With Hindi Commentary Named

"AYURVEDA RAHASYADIPIKĀ"

By

DR. BHASKAR GOVIND GHANEKAR.

B. Sc. (Bombay), M.B.B.S. (Bombay), Ayurvedāchārya, Gold Medalist
and Prizeman (All India Āyurveda Vidyāpith), Author of *Swāsthya*
Shikshā Pathāvali, *Swāsthya Vijnān*, *Jivābhuvijnān*, *Jivan*
Rasāyan, *Chikitsā Shāstra*, *Aupasargic Roga*, Comparative
Survey of Ayurvedic Nosology, Ayurvedic Concep-
tion of Urine formation in human body etc.
Lecturer, Ayurvedic College, Hindu
University, Banaras.

VOLUME ONE

(*SŪTRA-NIDĀN-STHĀN*)

Published by

MEHARCHAND LACHHMANDAS

Sanskrit & Hindi Booksellers, Publishers & Printers.

KUCHA CHERAN, DARYAGANJ,
DELHI.

माधवनिदान

टीकाकार—आयुर्वेदाचार्य, कविराज प० दीनानाथ शास्त्री वैद्यवाचस्पति
संशोधक—विषय विशेषज्ञ आयुर्वेदाचार्य, कविराज पूर्णानन्द जी

निम्नलिखित विविध विशेषताओं सहित

मूलपाठ, मूलपाठ का हिन्दी म अनुवाद, मधुकोश सस्तुत व्याख्या, मधुकोश व्याख्या का हिन्दी अनुवाद, विशृत हिन्दी वक्तव्य, हिन्दी मे विशद विवेचन, निदानोक रोगो क विभिन्न भाषाओं म नामो का निर्देश, विशिष्ट टिप्पण, पाठान्तर लक्षण सहित, सानुवाद परिशिष्ट सहित, मूलभेदों पर विषयसूचक शीर्षक, श्लोकों के आगे उनके सहित प्रथा प्रथा का प्रमाण, मधुकोश व्याख्या म प्रमाण रूप से दिये हुये पथो वा प्रथकर्त्ताओं के नामो का निर्देश और विशेष रोगों पर पाश्चात्य हिन्दीगांग का भी सम्यक प्रकार से आलोचन विद्या गया है।

दो भागो में

मूल्य १२)

पृथक् भाग भी मिल सकते हैं।

पहला भाग—अस्मरी निदान तक

४=)

दूसरा भाग—प्रमेहरोग निदान से अन्त तक

५॥=)

सुश्रुतसंहिता (शारीरस्थान)

अनुवादक—डाक्टर भास्कर गोपिन्द घाणेकर
छप रहा है।

आवश्यक चेतावनी

सुश्रुतसंहिता सूत्र निदानस्थानात्मक प्रथम भाग और शारीरस्थानात्मक द्वितीय भाग दोनों के पुनर्मुद्रणादि कार्यार्थिट के सब अधिकार मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास के पास सुरक्षित हैं। डाक्टर घाणेकर के पास कोई अधिकार नहीं। जो भी कोई इसके विरुद्ध इन प्रन्थों के छापन की चेष्टा करेगा उसके विहङ्ग कानूनी कार्रवाई की जायेगी।

मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास
दरियागढ़, दिल्ली।

प्रस्तावना

भारतवर्ष में महाभारतीय युद्धकाल या उससे भी पहले शाल्य, शालाक्य, काय्चिकित्सा, कौमारभृत्य आदि आयुर्वेद के आठ प्रधान अंगों एवं ज्ञारतन्वादि उपांगों में आत्रेय पुर्वसु, कश्यप आदि महर्षियों ने एवं धन्वन्तरि, विदेह आदि राजर्पियों ने अनेक तन्त्र (संहिताएँ) बनाये थे । परन्तु दुर्दश का विषय है कि प्राचीन संहिताओं में से केवल चरक और सुश्रुत-संहिता सम्पूर्ण, तथा भेल और काश्यप-संहिता (वृद्ध जीवकीय तन्त्र) खण्डित रूप में उपलब्ध हैं । इनको छोड़कर अन्य कोई आर्प्त प्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ । उसके अनन्तर वाग्मट ने आर्प्त तन्त्रों का सारांश लेकर अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय ऐ दो संहिताएँ रचीं । उसके अनन्तर के काल में स्वतन्त्र संहिताएँ बनाने का कोई प्रमाण नहीं उपलब्ध होता । परन्तु उन आर्प्त संहिताओं एवं अष्टांगसंग्रह तथा अष्टांग-हृदय पर भट्टार हरिचन्द्र, जेज्जट, गयदास, इन्दु, चक्रपाणिदत्त, दलहण, अरुणदत्त आदि ने अनेक व्याख्याएँ लिखीं । इन प्राचीन व्याख्याकारों ने मूल प्रन्थकार के आशयों को भली भाँति खोलना और अन्य तन्त्रों या प्रकरणान्तर से जहाँ विरोध का आभास होता तो उसका निराकरण करना, इस ध्येय को सामने रखकर अपने व्याख्या-प्रन्थ लिखे थे । इन व्याख्या-प्रन्थों में से भी दलहण, चक्रपाणिदत्त, इन्दु और अरुणदत्त की सम्पूर्ण व्याख्याओं तथा भट्टार हरिचन्द्र, जेज्जट, गयदास, शिवदास सेन और हेमाद्रि की खण्डित व्याख्याओं के सिवाय अन्य व्याख्या-प्रन्थ उपलब्ध नहीं होते । संहिता-काल और व्याख्या-काल के पीछे विक्रम की इस (२०वीं) शताब्दी में भाषानुवाद (भाषान्तर) का काल आरम्भ हुआ । संस्कृत भाषा के पठन-पाठन का दिन-प्रतिदिन हास होने के कारण आर्प्त प्रन्थों के मूल के आशयों तथा प्राचीन व्याख्याकारों के स्पष्ट किये हुए भावों को भी ठीक-ठीक समझने वाले वैद्यों की संख्या वैद्य-समाज में दिन-प्रतिदिन घट रही है । इसी लिए वर्तमान समय में अल्प-संस्कृतज्ञ तथा संस्कृतानभिज्ञ वैद्यों एवं विद्यार्थियों के लिए भाषानुवाद करने की प्रवृत्ति आरम्भ हुई । किन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि आज तक हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती प्रभृति भाषाओं में चरक, सुश्रुतादि के जितने भी अनुवाद निकले हैं इनमें से कुछ को अपवादरूपेण छोड़कर प्रायः सब ऐसे ही हैं, जिनके बनाने वाले अनुवादक टीकाकारों का तो क्या मूल का आशय तक ठीक दिखाने में प्रायः असमर्थ ही रहे हैं । इसका कारण यही हो सकता है कि ऐसे अनुवाद करने वाले प्रायः गुरुमुख से आयुर्वेद पढ़े हुए नहीं हैं । कुछ तो ऐसे भी हैं, जिन्होंने अन्य भाषा के अनुवाद को सामने रखकर उसी का अनुवाद कर दिया है । कुछ अनुवाद वैद्यों के हारा होते हुए भी उनकी व्याकरण, न्यायादि दर्शन तथा साहित्य की अनभिज्ञता और असाधानता के कारण वे भी उच्चकोटि के नहीं हुए हैं ।

सम्प्रति भारतवर्ष में एलोपैथी आदि अन्य चिकित्सा-पद्धति एवं पाश्चात्य भौतिक विज्ञान आदि का प्रचार भी ज्ञार से हो रहा है । आयुर्वेद-विद्यालयों में आयुर्वेद की पढाई के साथ-साथ उपर्युक्त नवीन विषयों के पढाने का सिलसिला भी जारी हो गया

सुश्रुतसंहितायाः विषयानुक्रमणिका

त्राङ्का:	विषयः	पृष्ठाङ्का:	सूत्राङ्का:	विषयः	पृष्ठाङ्का:	
	प्रथम अध्याय		१३ आयुर्वेद की निरुक्ति	६	चार भेद	१०
१	वेदोत्पत्ति अध्याय का उपक्रम	१	१४ प्रत्यक्षादि प्रसारणों द्वारा शल्यार्थ की अनुकूलता सिद्धि	६	२६-३० ओपधियों के चिकित्सोपयोगी आङ्गों का वर्णन	११
२-४	ओपधेनव आदि शिष्यों का आयुर्वेदाध्ययनार्थ धन्वन्तरि के समीप आगमन	२-३	१५ शल्याङ्ग का आदित्व निरूपण करना	७	२१ पार्थिव ओपधियां	११
५	ओपधेनवादि का धन्वन्तरिद्वारा स्वागत करना	२	१६ आयुर्वेद तन्त्रों में शल्याङ्ग की श्रेष्ठता सिद्ध करना	७	२२ कालकृत ओपधियों का निरूपण	११
६	आयुर्वेद अर्थवेद का उपाङ्ग है	"	१७ शल्यतन्त्र की प्रशंसा	७	२३ कालकृत ओपधियों का प्रयोजन	११
७	आयुर्वेद के शल्यादिक आठ आङ्ग	४	१८ आयुर्वेद की गुरु परम्परा से प्राप्ति	७	२४ पूर्वोक्त चतुर्विध ओपधियों शारीर विकारों के प्रकोप और प्रशासन से कारणभूत हैं	१२
८	शल्यादिक आठ आङ्गों का संक्षेप से लक्षण शल्य का लक्षण	"	१९ भगवान् धन्वन्तरि का आत्मपरिचय देना	८	२५-३६ आगन्तु रोगों की आश्रय भेद से चिकित्सा	१२
९	शालाक्य का लक्षण	"	२० आयुर्वेदाधिष्ठान भूत पुरुष का निरूपण	८	३७ पूर्व निर्दिष्ट (व्याधि, पुरुष, ओपध, कियाकाल) चतुष्टय का उपसंहार	१२
१०	कायचिकित्सा का लक्षण	५	२१ व्याधियों का सामान्य वर्णन	८	३८ प्रथमाध्यायोङ्क संचिसार्थ को चिकित्सा वीज सिद्ध करना	१२
११	भूतविद्या का लक्षण कौमारमृत्यु का लक्षण	५	२२ व्याधियों के चार भेद	८	३९ सुश्रुततन्त्रान्तर्गत स्थान एवं अध्यायों की संख्या सूची	१२
१२	अग्रदत्तन्त्र का लक्षण रसायनतन्त्र का लक्षण	५	२३ आगन्तु व्याधियों	८	४० सुश्रुत तन्त्र के अध्ययन का फल	१२
१३	वाजीकरणतन्त्रका लक्षण	५	२४ शारीरक व्याधियों	८	४१ द्वितीय आच्याय	
१४	आयुष्म उपसंहार	५	२५ व्याधियों के निप्रह के व्यारण	८	१ शिष्योपनयनीय ग्रन्थाय का उपक्रम	१३
१५	शल्याङ्ग प्रधान आयुर्वेदोपदेश की भगवान् धन्वन्तरि के आगे ओपधेनवादि शिष्यों की	६	२६ संशोधन आदि में आहार की सुरक्षा तथा स्थावर, जलम भेद से ओपधियों का हिविध वर्णन	१०	२ शिष्यपरीक्षा	१३
१६	सब की ओर से सुधृत को प्रधानिका अधिवार देना	६	२७ स्थावर ओपधियों के चार भेद	१०	३ आयुर्वेद टीका विवि	१३
१७	सुधृत को आयुर्वेद का प्रयोजन देता	६	२८ जलम ओपधियों के		४-५ आयुर्वेदाध्ययन के अधिवार	
					६ शिष्य का उपक्रम	१३

आयुर्वेदोपनीत प्रन्थों के प्रमाण दिये हैं। मत-मतान्तरों का उल्लेष करके जो मत मुझे उचित मालम हुआ, उसकी सिद्धि भी उपर्युक्त प्रन्थों के प्रमाणों के द्वारा की गई है। मूल में जहाँ अति सक्षेप है परन्तु आयुर्वेद के अन्य प्रन्थों में जिसका विस्तार से वर्णन मिलता है, वहाँ उन प्रन्थों के उद्धरण दिये हैं। स्थान स्थान पर सुराववोध के लिए तुलनात्मक वोष्टक दिये हैं। इस प्रकार मूल के उचित और विशद अर्थ करने के लिए प्राचीन प्रन्थों में जो सामग्री मिलती है, वह यथास्थान व्यवस्थित रूप से वक्तव्य में इकट्ठी की गई है। इसके सिवाय आयुर्वेदिक पारिभाषिक शब्दों के लिए डॉक्टरी पारिभाषिक शब्द दिये हैं। आयुर्वेदिक वस्तुनायै डॉक्टरी परिभाषा में प्रदर्शित की हैं, आयुर्वेदिक मतों का और गूढ आशयों का परीक्षण डॉक्टरी और नव्य विज्ञान के अनुसार करके जहाँ दोनों का समन्वय हो सकता है वहाँ समन्वय करने की चेष्टा की गई है और जहाँ वास्तविक विरोध है वहाँ पक्षपात रहित होकर विरोध प्रदर्शित किया है। आधुनिक विद्वानों ने आयुर्वेद के ऊपर परिश्रम करके प्रन्थ के या लेख के रूप में जो कुछ भी सशोधनात्मक सामग्री प्रकाशित की है, उसका यथास्थान उचित परामर्श लिया है और आधुनिक विज्ञान के छेत्र में आयुर्वेद ने हजारों वर्ष पहले जो आश्चर्यननक कमाई का है उसका गौरवपूर्ण उल्लेख किया है। सर्वेष में, वक्तव्य में पूर्व और पश्चिम तथा प्राचीन और अर्वाचीन दोनों का सुन्दर मिलान करने की चेष्टा की है। अन्त में इस प्रथम भाग के अन्तर्भूत सम्पूर्ण विषयों और शब्दों की विस्तृत सूक्ष्म-हिन्दी शादानुक्रमणिका तथा विवरण और पर्याय के लिए प्रयुक्त समस्त अंग्रेजी शब्दों की सूची भी दी गई है, जिसकी सहायता से वैद्य तथा आयुर्वेद विज्ञान में डॉक्टर और अन्य विद्वान् लोग इस प्रन्थ से यथेच्छ लाभ उठा सकते हैं।

इस टीका के लिखने में मुझे अनेक सख्त, अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी, बंगाली प्रन्थों से अमूल्य सहायता मिली है। अत उन प्रन्थकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना में अपना परम कर्तव्य समझना हूँ तथा परमधर्मद्वेष आयुर्वेदमार्तण्ड यादवनी त्रिकमजी आचार्य जी के प्रति भी मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर प्रस्तावना लिखने का कष्ट किया।

यह सम्भव नहीं कि इस टीका म तुटियाँ न हो। इसलिए अन्त में मैं विद्वान् चिकित्सकों और सहदेव पाठ्यों से नम्र निवेदन करता हूँ कि आप लोग कृपानन्द हंस-दीर्घायेन दोपों भी ओर दृष्टि न देकर गुणों को प्रहण वरे और लेखन का साहस बढ़ावें।

सन्त हंस गहरि पय, परिहरि धारि विकार।

विनयाद्वरभी, संग्रह १६६३
ग्रामी हिन्दू विश्वविद्यालय } }

भास्फर गोविन्द धारेकर

निवेदन

क चात्पविपथा बुद्धिः क चायुर्वेदसागरः ।
तितीर्पुर्दुर्स्तरं मोहादुहुपेनास्मि सागरम् ॥
तथापि कृतवाग्द्वारे कार्येऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुक्तीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥

सुश्रुत-संहिता आयुर्वेद का एक बहुत प्रसिद्ध, सर्वमान्य और मेरी सभभ में सर्वोत्तम ग्रन्थ है। ऐसे सर्वांगसुन्दर प्रन्थ पर टीका लिखने के लिए जितना अधिकार, अनुभव और पात्रत्व लेखक में होना आवश्यक है, उतना मुझमें नहीं है। परन्तु लाहौर के प्रसिद्ध संस्कृत पुस्तकालय के अध्यक्ष श्रीयुत मेहरचन्द्र लखणदास जी ने जब आयुर्वेद-संसार में सुचिख्यात, आयुर्वेद-मार्तण्ड श्रीमान् यादवजी त्रिकमजी आचार्य जी से सुश्रुत-संहिता की टीका लिखने के लिए किसी योग्य लेखक को सूचित करने की प्रार्थना की तब आपने मेरा नाम सूचित किया; और मैंने भी 'आज्ञा गुरुणां व्यविचारणीया' कविकुलगुरु की इस उक्ति के अनुसार सुश्रुतसंहिता की टीका लिखने का सहस किया। वार्तव में मेरा यह मत है कि इस समय प्राचीन परम्परा में पढ़े हुए धुरन्धर विद्वान् वैद्य और पाश्चात्य परम्परा में पढ़े हुए आयुर्वेदप्रेमी तथा आयुर्वेदज्ञ भारतीय डॉक्टर इनकी समिति के द्वारा आयुर्वेद के चरक, सुश्रुत और वाग्मट इन तीन ग्रन्थों के ऊपर अधिकृत टीका बननी चाहिए।

प्राचीन काल से लेकर अब तक सुश्रुत-संहिता की कई संस्कृत टीकाएँ, प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद तथा अङ्ग्रेजी तर्जुमे हुए हैं। ये सब अपनी-अपनी तरह के अच्छे होने पर भी विद्यार्थियों की दृष्टि से नहीं लिखे गये हैं। अतः संहिता पढ़ते समय विद्यार्थियों के सामने कई तरह की कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। आयुर्वेद का अभ्यास करते समय इन कठिनाइयों से मैं पर्यातया परिचित हुआ हूँ। इसलिए इस टीका में उनको दूर करने की मैंने यावच्छक्य चेष्टा की है।

प्रथम संहिता का मूल बड़े अक्षरों में दिया है। उसके बाद छोटे अक्षरों में उसी-का सरल हिन्दी अनुवाद दिया है। मूल में जिन वाक्यों या शब्दों के लिए आभार नहीं है, परन्तु मूलार्थ स्पष्ट करने के लिए जिनकी आवश्यकता मालूम हुई, वे शब्द या वाक्य कोष्ठ()में दिये गए हैं। इससे विद्यार्थियों को मूल में क्या है और अनुवाद की योग्य सिद्धि करने के लिए क्या अधिक लिखा गया है, उसका बोध हो जाता है। अनुवाद के पश्चात् जहाँ-जहाँ आवश्यकता मालूम हुई है वहाँ-वहाँ वक्तव्य भी दिया गया है। वक्तव्य में कठिन तथा गूढ़ शब्दों के अर्थ दिये हैं। अर्थसिद्धि के लिए चरक, सुश्रुत, वाग्मट, माधव-निदान, भावप्रकाश इत्यादि प्राचीन तथा प्रत्यक्षाशारीर, सिद्धान्त-निदान इत्यादि अर्धाचीन ग्रन्थों के; उल्लङ्घण, चक्रपाणिदत्त, अरुणदत्त, इन्दु इत्यादि प्राचीन, हाराणचन्द्र आदि अर्वाचीन टीकाकारों के तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र, सांख्यकारिका, योगसूत्र, स्मृति इत्यादि

है। एतदेशीय पारचाल्य चिकित्सकों में भी प्राचीन आयुर्वेद में क्या लिया है, इसके जानने की अभिभृति उत्पन्न हुई है। ऐसी अपस्था में मूल का ठीक अनुवाद, प्राचीन टीकाकारों का आशय तथा नवीन विचारा के साथ तुलनात्मक वर्णन लिये गये टिप्पण जिनमें ही ऐसे अनुवादों की नितान्त आवश्यकता उत्पन्न हुई है। ऐसे अनुवाद सभी ही सम्भव हैं जबकि अनुवादमन्त्री प्राच्य प्रतीच्य इन दोनों विषयों के ज्ञाता हीं।

सुश्रुत के हिन्दी अनुवाद का सूत्रनिदानात्मक यह प्रथम खण्ड पाठकों के सामने है। वे देखेंगे कि यह अनुवाद उपर्युक्त गुण सम्पन्न हुआ है। इस अनुवाद के बर्ता काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद कालेज के अध्यापक हमारे मित्र डॉ भास्कर गोविन्द घाणेकर जी वी० एस० सी०, एम० वी० एम० वी० एम०, आयुर्वेदाचार्य हैं। आपने पाश्चात्य साधन्यास और डाकटरी का अध्यापन करके अनन्तर निखिल भारतवर्षपर्याय आयुर्वेद विद्यापीठ की आचार्य परीक्षा भी सम्मान के साथ उत्तीर्ण की है। अत आप प्राच्य प्रतीच्य इन दोनों विषयों के ज्ञाता हैं, और आप आयुर्वेद कालेज में अध्यापन कार्य करते हैं। अत आपको उसकी कठिनाइयों का भी अनुभव है। आज जैसे अनुवाद की आवश्यकता थी उस प्रकार का अनुवाद करने की आपने भरसक चेष्टा की है। मूल मय के आशय को खोलने के लिए आपने स्थान स्थान पर अपना वक्तव्य लिखा है। उसमें तन्त्रकारों पर्व प्राचीन व्यायामाकारों के हिन्दी अनुवाद सह उद्धरण देकर विषय को समझाने की यावद्यक्षय पूरी चेष्टा की है। इतना ही नहीं, आपने स्थान स्थान पर प्राचीन मतों के साथ नव्य वैज्ञानिक एवं डाकटरी मत दो भी तुलनात्मक दृष्टि से लिखा है। यह अनुवाद वेदल विद्यार्थियों के लिए ही नहीं परन्तु वैद्यों एवं डाकटरों के लिए भी अत्यन्त उपयुक्त हुआ है।

अत म श्रीमान् मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, अध्यक्ष सस्कृत हिन्दी पुस्तकालय, लाहौर को भी धन्यवाद दिये विना रहा नहीं जा सकता। आपने मेरे अनुरोध पर ही डॉ घाणेकर जी से यह अनुवाद कराके और सुन्दर कागज और टाइपों में छपाकर प्रकाशन करना आरम्भ किया है। आशा है कि आप आश्य भी आयुर्वेदीय प्रन्थों के ऐसे सुन्दर अनुवाद प्रसिद्ध करने की प्रवृत्ति जारी रखेंगे।

विजयादशमी, संवत् १९६३
कालवादेवी रोड, गुरुवारी }

वैद्य यादवजी पिंकमजी आचार्य

अर्थः

सुश्रुतसंहितायाः विषयानुक्रमणिका

—१०८५—

सूचारूपः	विषयः	पृष्ठांकः	सूचारूपः	विषयः	पृष्ठांकः	सूचारूपः	विषयः	पृष्ठांकः
	प्रथम अध्याय		१३	आयुर्वेद की निरुक्ति ६		२६-३०	चार भेद	१०
१ वेदोत्पत्ति अध्याय का उपक्रम	१		१४ प्रत्यक्षादि प्रसाग्गुणं द्वारा शल्यार्थ की अनुकूलता सिद्धि ६			३१ पार्थिव ओषधियाँ ११		
२-४ औपधेनव आदि शिष्यों का आयुर्वेदाध्ययनार्थ धन्वन्तरि के समीप आगमन २-३			१५ शल्याङ्ग का आदित्व निरूपण करना ७			३२ कालकृत ओषधियों का निरूपण ११		
५ औपधेनवादि का धन्वन्तरिद्वारा स्वागत करना ३			१६ आयुर्वेद तन्त्रों में शल्याङ्ग की श्रेष्ठता सिद्ध करना ७			३३ कालकृत ओषधियों का प्रयोजन ११		
६ आयुर्वेद अर्थवेद का उपास्त है „			१७ शल्यतन्त्र की प्रशंसा ७			३४ पूर्वोक्त चतुर्विध ओषधियाँ शारीर विकारों के प्रकोप और प्रशासन में कारणभूत हैं १२		
७ आयुर्वेद के शल्यादिक आठ अङ्ग ४			१८ आयुर्वेद की गुरु परम्परा से प्राप्ति ७			३५-३६ आगन्तु रोगों की आश्रय भेद से चिकित्सा १२		
८ शल्यादिक आठ अङ्गों का संचय से लक्षण „			१९ भगवान् धन्वन्तरि का आत्मपरिचय देना ८			३७ पूर्व निर्दिष्ट (व्याधि, पुरुष, औपधि, क्रियाकाल) चतुष्टय का उपसंहार १२		
शल्य का लक्षण „			२० आयुर्वेदाधिष्ठान भूत पुरुष का निरूपण ८			३८ प्रथमाध्यायोक्त संक्षिप्तार्थ को चिकित्सा बोज सिद्ध करना १२		
शासाक्ष्य का लक्षण „			२१ व्याधियों का सामान्य वर्णन ८			३९ सुश्रुततन्त्रान्तर्गत रथान एवं अध्यायों की संख्या सूची १२		
कायचिकित्सा का लक्षण ५			२२ व्याधियों के चार भेद ८			४० सुश्रुत तन्त्र के अध्ययन का फल १२		
भूतविद्या का लक्षण ५			२३ आगन्तु व्याधियाँ ८			द्वितीय आध्याय १		
कौमारभूत्य का लक्षण ५			२४ शारीरक व्याधियाँ ८			शिष्योपनयनीय अध्याय का उपक्रम १३		
अग्रदत्तन्त्र का लक्षण ५			२५ मानसिक व्याधियाँ ८			२ शिष्यपरीक्षा १३		
रसायनतन्त्र का लक्षण ५			२६ संशोधन आदि में आहार की मुख्यता तथा स्थायर, जड़म भेद से ओषधियों का द्विविध वर्णन १०			३ आयुर्वेद दीक्षा विधि १३		
वाजीकरणतन्त्रका लक्षण ५			२७ स्थायर ओषधियों के चार भेद १०			४-५ आयुर्वेदाध्ययन के अधिकारी १३		
६ अष्टाङ्ग उपसंहार ५			२८ जड़म ओषधियों के ६			६ शिष्य का कर्तव्य निरूपण १३		
७ शल्याङ्ग प्रधान आयुर्वेदोपदेश की भगवान् धन्वन्तरि के आगे औपधेनवादि शिष्यों की वार्षिक ६								
८ सब की ओर से सुश्रुत को प्रशादि का अधिकार देना ६								
९ सुश्रुत को आयुर्वेद का प्रयोजन बताना ६								

पर्ण	१४	४३ उत्तरतन्त्र की निरुक्ति	१६	६ शख व्यवहार करने वाले निकित्सके गुण	२३
७ शिष्य के विषय में शुरु का आत्मकर्तव्य निह-		४३-४५ अथार्वायुर्वेद का संचेप से तन्त्रदृश्य में नियमन	१६	१०-११ एक व्रण से पाक स्थान की शुद्धि न होने पर और व्रण कर देने	
पर्ण	१४	४६ आयुर्वेद का उपासक वैद्य राजा है होता है १८		चाहिये	२३
८ रोगी के लिये वैद्य का कर्तव्य	१४	४७-५१ देवल शाक्ति अथवा केवल कर्मनिश्चात		१२ तिर्यक् छेद करने के स्थान	२३
६-१० आयुर्वेद के अध्ययन में वर्जित शाल	१४	भिषज् का निकित्सा कार्य में अनधिकार १८		१३-१४ उक्त स्थानों के अतिरिक्त इतरत्र तिर्यक् छेद से	
दृतीय अध्याय		५२ उभयज्ञ अर्थात् शाक्ति और कर्म निश्चात		हानि	२३
१ अध्ययन सम्प्रदानीय अध्याय का उपक्रम	१५	भिषज् की प्रशंसा १८		१५ मूढगभासि में खाली पेट शब्दकिया करनी	
२ स्त्रीदि प्रत्येक इथानों की अध्याय संख्या	१५	५३ आयुर्वेद शाल के अध्या- पन और अध्ययन		चाहिये	२४
३-१० सूक्ष्मस्थानान्तर्गत अध्या- यों के नाम	१५	का प्रकार	१८	१६ शब्दकिया के अनन्तर उपचार विधान	
११ 'सूक्ष्मस्थान' की निरुक्ति	१५	५४-५५ अध्ययन समाप्त कर लेने पर शिश्य का कर्तव्य	१८	१७ बण के धूपन दृश्य	२४
१२ निदानस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम	१५	वतुर्धि अध्याय		१८-३१ बण रोगी का रुक्षकर्म	२५
१२ 'निदानस्थान' की निरुक्ति	१५	१ प्रभावणीय अध्याय का		३२ मुरक्षित त्रणरोगी के	
१४-१५ शारीरस्थानान्तर्गत अ- ध्यायों के नाम	१६	उपक्रम	१८	स्वकर्तव्य	२५
१६ 'शारीरस्थान' का प्रयो- जन	१६	२-३ प्रभावण का प्रयोजन	२०	३३-३४ बण में परी शादि शोधने और खोलने के समय	
१७-२४ चिकित्सास्थानान्तर्गत		४ इस शाल के स्पर्शलान की आवश्यकता	२०	पर विचार	२६
अध्यायों के नाम	१६	५-६ इतर शालों में वर्णित विषयों के विज्ञान का उपाय २०		३५ बण में कपाय लेपन धूधन आदि एवं आहारादि का विधान	२६
२१ चिकित्सास्थान की निरुक्ति	१६	७ युह मुख से आयुर्वेद को अध्ययन करने वाले ही व्यक्ति 'पैथ' संज्ञा के अधिकारी हो		३६-३७ बण की रोपण चिकित्सा कर करनी चाहिये हैं २६	
२६ कल्पस्थानान्तर्गत अ- ध्यायों के नाम	१६	८ सकते हैं	२०	३८ काल विशेष से बण में परी शादि शोधने और खोलने का नियम	२६
२७ कल्पस्थान की निरुक्ति	१६	९ औरप्रेतादि तन्त्रों की		३९ अतिपाती रोगी में पूर्ण विधि आव- श्यक नहीं	२६
३८ उपसंहार	१६	अन्य सामानतन्त्रों में प्रधानता का निर्देश २१		४० शब्दजनित पीड़ा को शान्त करने लिये एवं का परियेक (डॉकर) करना चाहिये	२६
४८ उत्तरतन्त्र के उपम अध्याय के 'शोषद- विक' नामकरण में कारण	१७	पांचर्या अध्याय		४१ छुटा अध्याय	
५०-५३ शासांस्कृतान्तर्गत		१ अप्रोपदरशीय अध्याय		४२ अतुक्या अध्याय का उपक्रम	२७
अध्यायों के नाम	१७	का उपक्रम	२१	२ काल शान्त की निरुक्ति	२७
५४-५६ दोमातन्त्रान्तर्गत		२ विषिष्प चिकित्साकर्म	२१	३ संवत्सरात्यकाल काल के गति निरोप ऐ निमेवादि विग्राम	
अध्यायों के नाम	१७	३ शारीर्की की प्रधानता	२१	२१	
५७-५८ चायचिकित्सान्तर्गत		४ शब्दकिया के आठ भेद	२१		
अध्यायों के नाम	१४	५ शब्दकिया में उपदरशीय			
५९ भूदिवासान्तर्गत अध्यायों के नाम	१०	साधन	२३		
६१ 'तन्त्रगृहण' अध्यायोंके नाम	१०	६ शब्दकिया का उपदेश	२३		
		७-८ शब्दकिया में प्रारूप गत के उपय	२३		

४ निमेपादि के लक्षण २७	२ यन्त्रों की गणना ३५	१२ किस प्रकार का शल कर्म में प्रयुक्त करना चाहिये ५०
५ छः प्रतुओं का विभाग २८	३ यन्त्रों का सामान्य लक्षण ३६	१३ अगुशय ५०
६ दक्षिण और उत्तर दो प्रकार का अवयन-विभाग २८	४-५ यन्त्रों के छः प्रकार और अवान्तर भेद ३६	१४-१६ अगुशलों के विषय ५०
७ चन्द्र, सूर्य और वायु ही प्रजापालन में कारण हैं २८	६ यन्त्र बनाने के द्वय ३६	१७ शलों की गुणसम्पत्ति में कारण ५१
८ युगों का वर्णन २६	७-८ गन्त्र निर्माण विधि ३६	१८ धैय को शल परिचय अवश्य करना चाहिये ५२
९ संशोधनाश्रय वर्षादिक्रम से प्रतुविभाग २६	९ स्वरितक यन्त्रों के नाम लक्षण और कर्म ३७	१९ योग्यास्त्रीय अध्याय का उपक्रम ५२
१० वर्षादि वृत्तुओं में पित्तादि दोषों के लक्ष्यप्रकोप किस प्रकार होते हैं ? २६-३०	१० संदर्शयन्त्रों के नाम स्वरूप और कर्म ३८	२० योग्या करने की आवश्यकता ५२
११ प्रकृष्टित दोषों के संशोधन का उपदेश ३०	११ तालयन्त्रों के नाम स्वरूप और कर्म ३८	२१ छेदादि शल कर्म में योग्य प्रदर्शन ५२
१२ वात आदि दोषों का स्वाभाविक संरामन काल ३१	१२ नाडीयन्त्रों के नाम स्वरूप और कर्म ३८	२२ अनिनिदिष्ट योग्यार्थ पुष्पफलादि में योग्या करानी चाहिये ५२
१३ अहोरात्र में भी संवत्सर लक्षणों का अतिदेश ३१	१३ शलाकायन्त्रों के नाम स्वरूप और कर्म ४०-४१	२३ दशम श्वाध्याय
१४ अव्याप्त अग्नुओं में औपधों का गुणशाली होना ३२	१४-१५ उपयन्त्रों के नाम स्वरूप और कर्म ४२-४४	१ विशिखाऽनुप्रवेशनीय अध्याय का उपक्रम ५३
१५ अहोरात्र से भी संवत्सर लक्षणों का अतिदेश ३१	१६-१७ यन्त्र कर्म ४४	२ किस प्रकार का धैय चिह्निताधिकारी हो सकता है ५३
१६ अव्याप्त अग्नुओं का गुणशाली होना ३२	१८ यन्त्र दोष ४४	३ रोग विश्लेषन के छः साधन ५३-५४
१७ अग्नुओं की विकृति के कारण ३२	१९ प्रशस्त यन्त्र ४५	४ श्रोत्र, त्वक्, नज़ु, प्राण, जिहा और प्रश्न द्वारा रोग विश्लेषन प्रकार ५४
१८ विश्वत अग्निधियों के उपयोग से रोगों परिचि ३२	२० यन्त्रों के विषय भेद ४५	५ अपरीक्षित रोगों में चिकित्सक किंकर्तव्य पिस्तू हो जाता है ५६
१९ विश्वत अग्नुओं का चिकित्सा सूत्र ३२	२१ यन्त्रों से कष्टमुख की प्रधानता ४५	६ साध्य, याप्य और असाध्य रोगों से वैय कर्तव्य ५६
२० अग्नुविश्वति के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी व्याधियाँ हो जाती हैं ३२	२२ आठचां श्वाध्याय	७ किन व्यक्तियों की साप्य व्याधियाँ भी हुथि कित्स्य होती हैं ? ५६
२१ अग्नुविश्वतजन्य रोगों की चिकित्सा ३३	१ शलावचारणीय श्वाध्याय का उपक्रम ४५	८ वैय को परदारा सम्पर्क का निषेध ५६
२२-२७ अव्याप्त अग्नुओं के लक्षण ३३-३४	२ वीस प्रकार के शल ४५-४६	९ व्यारहयां श्वाध्याय ५६
३८ संक्षेप से अग्नुविश्वति वर्णन ३५	३ शलों का अष्टविधि कर्म से विषय भेद ४६	१ व्यारहयां श्वाध्याय का उपक्रम ५६
३९ वसन्त आदि अग्नुओं में दोषहरण व्यवस्था ३५	४ शलकर्म से शलग्रहण करने की विधि ४८-४९	२ श्वाध्याय का उपक्रम ५६
४० १ यन्त्रविधि अध्याय का उपक्रम ३५	५ संक्षेप से शलाङ्गतिनिर्दर्शन एवं शलों के ग्रामण ४९	३ श्वाध्याय का उपक्रम ५६

पर्य	१४	४२ उत्तरटन्त्र की निरुक्ति १८	६ राज्य स्ववद्वारा करने वाले चिकित्सक के गुण २१
५ शिश्र के विषय में गुरु व्याघ्रमन्तर्भव निरुक्ति		४३-४४ व्याघ्र आयुर्वेद का संचेतन से तन्त्रद्रव्य में नियमन १८	१०-११ एक व्रण से पांक स्पान की शुष्टि न होने पर और व्रण कर देने चाहिये २३
पर्य	१४	४५ आयुर्वेद का उपासक वैद्य यजाहृ होता है १८	१२ तिर्थक्षेत्रकर्म के स्थान २३
८ रोगी के लिये वैद्य का कर्तव्य	१४	४६-४७ केवल शास्त्र अध्यवा के द्वारा कर्मनिष्ठाता निरुक्ति का चिकित्सा कर्यमें अनाधिकार १८	१३-१४ उक्त स्थानों के अतिरिक्त इन्द्रत्रितिर्थक्षेत्र से हनि २३
१० अयुर्वेद के अध्ययन में कर्तव्य व्याप्ति	१४	४८ उमयह अयोग्य शास्त्र से और कर्म निष्ठाता निरुक्ति की प्रशंसा १८	१५ मूर्यमार्दि में सारी पेट शाश्वकिया करनी चाहिये २४
१४-१० दृष्टिय अध्याय		४९ अयुर्वेद शास्त्र के अध्याय पन और अध्ययन का प्रवार १८	१६ शाश्वकिया के अनन्तर उपचार विधान २४
१ अध्यन सम्प्रदानीय अध्याय का उपक्रम १५		५०-५१ अध्ययन समाप्त कर देने पर शिश्र का कर्तव्य १८	१७ मणि के धूपन इव्य २४
३ स्नान अन्देश इत्यानों की अध्याय संख्या १२		५२ अतुर्य अध्याय	१८-१९ मणि रोगी का रुचाकर्म २४
३-१० सदस्यनान्तर्गत अध्यायों के नाम १२		५३ प्रमाणितीय अध्याय का उत्तरक्रम १८	२० द्विरात्रित व्रणरोगी के स्वकर्तव्य २४
११ 'सूक्ष्मस्यान' की निरुक्ति १८		२-३ प्रमाणण का प्रयोग्रन २०	२१-२४ मणि में पर्षी आदि शाखाएँ और सूक्ष्मने के समय पर विचार २६
१२ निदानस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम १८		४ इस शास्त्र के अवास्थान की आवश्यकता २०	२५ मणि में कथाय लेपन बंधन आदि एवं आहारादि का विधान २६
१३ 'निदानस्यान' की निरुक्ति १८		५-६ इतर शास्त्रों में वर्णित विषयों के विवाह का उपाय २०	२६-२७ मणि की रोगण चिकित्सा कर करनी चाहिये ! २६
१४-१२ शास्त्रस्यानान्तर्गत अध्यायों के नाम १६		७ गुरु मुख से आयुर्वेद की अध्ययन करने वाले ही व्यक्ति 'वैद्य' संहा के अधिकारी हो सकते हैं २०	२८ काल विशेष से मणि में पर्षी आदि शाखाने और सूक्ष्मने का निर्णय २६
१५ 'रात्रीरस्यान' का प्रयोग जन १६		८ अप्रेनतवादि उन्नयों की अन्य समानताओं में प्रधानता का निर्देश २१	२९ अतिपती रोगों में पूर्वोक्त विधि आवश्यक नहीं २६
१७-१४ चिकित्सास्यानान्तर्गत अध्यायों के नाम १६		९ अन्यवर्चयादि व्याधीय अध्ययन का उपचार २१	३० राज्यनित धीरा और राज्य करने लिये धूप का परियोग (डोकर) करना चाहिये २६
२१ चिकित्सास्यान की निरुक्ति १६		१० विविष चिकित्साकर्म २१	३१ द्वितीय अध्याय
२६ कवरस्यान की निरुक्ति १६		११ रात्रदर्शन की प्रधानता २१	१ शूद्रवर्चय अध्याय का उपचार २७
२७ कवरस्यान की निरुक्ति १६		१२ राज्यकिया के आठ भेद २१	२ बल रान्द्र की निरुक्ति २७
२८ उपसंहार १६		१३ राज्यकिया में उपदररणीय साधन २२	३ संतुलयस्थक कात के गति विशेष से निर्माण २७
२९ उत्तरटन्त्र के प्रथम अध्यायों के नाम १६		१४ राज्यकिया का उपदेश २२	
३० उत्तरटन्त्र के प्रथम अध्यायों के नाम १६		१५ राज्यकिया में प्रशस्त वैद्य के उपचार २२	
३१ राज्यवद्वारा करने वाले गुण २१		१६ राज्यकिया का उपदेश २२	
३२ 'तन्त्रमूर्त' अध्यायों के नाम १८		१७ राज्यकिया के उपचार २२	
		१८ राज्यकिया के उपचार २२	

१४ रस की निःक्षि	८०	२ दोषों के ज्ञगद्विदि वर्णन का कारण	८८	३६ दोष ही धातु और मलों के ज्ञय में कारण होते हैं	९८
-१६ रस मा एक एक धातु में अवस्थान गाल	८०	३ प्रहृतिरथ वात के कार्य	८८	४० दोष, धातु और मलों के परिमाण निर्देश न करने के कारण	९८
१७ सरीर में धीन प्रकार से रसगति	८०	४ प्रहृतिरथ पित्त के कार्य	८८	४१ विना स्वास्थ्य के दोष- समता के ज्ञान का अभाव	९८
१८ वाजीकरण शोषणियों में शीघ्रशुकरेनकनाशुण	८१	५ „ „ कफ के कार्य	८८	४२ दोष ज्ञय पृद्धि लक्षण अनु- मान रो जाने जाते हैं	९८
१९ वातकों में शुक्र प्रतीत न होने में सुक्षि	८२	६ प्रहृतिरथ धातुओं के कार्य	८८	४३ स्वस्थ और अस्वस्थ के प्रति वैष्य का कर्तव्य	९८
२० वृद्धायस्या में अस्तरस पोषक नदी होता	८२	७ मलोंके स्वाभाविक कार्य	८८	४४ स्वरथ के लक्षण	९८
२१ धातुशब्द की निःक्षि	८३	८ उपधातुओं के स्वाभाविक कार्य और धातुओं के परिवर्तन का उपदेश	८८	४५ स्वरथ के लक्षण और सोलहद्वां आध्याय	९८
२२ विकृत रक्त के दोषभेद से लक्षण	८३	९ दोषों के ज्ञयलक्षण और चिकित्सा	८०	१ कर्णव्यधवेदि विधि आध्याय का उपकरण	९८
२३ शुद्ध शुक्रशोणित के लक्षण	८४	१० धातुक्षय के लक्षण और संक्षेप से धातुक्षय- चिकित्सा	८०	२ कर्णव्यध का विधान	९८
२४ विक्रान्त रोगियों का अति- देश से कथन	८४	११ मलक्षय के लक्षण और चिकित्सा	८१	३ अन्यदेशविद्व का ज्ञानो- पाय	९८
२५ अविक्षात्य रोगी	८४	१२ उपधातु ज्ञय के लक्षण और चिकित्सा	८२	४६ सम्बृद्धि में पश्चात्- कर्म	९८
२५ दो प्रकार का रक्तमोज्जण	८४	१३-१४ अतिशुद्ध दोषों के लक्षण	८२	४७ कर्णव्यध के विधान	९८
२६ पद्धन का विधान	८४	१५ अतिशुद्ध धातुओं के लक्षण	८२	५ दुर्विद्धि कर्ण की व्यापत्ति और चिकित्सा	१००
२७-२८ रक्तमोज्जण में प्रयोग के ऐतु	८४	१६ वृद्ध पूर्वधातु उत्तरधातु को जड़ता है	८२	६ सम्बृद्धि में पश्चात्-	
२८ दुष्टरक्त के न निकालने में दोष	८४	१७ अतिशुद्ध दोषों के लक्षण	८२	कर्म	१००
३० रक्तातियोग और अतियोग- जन्य व्यापत्तियाँ	८४	१८ अतिशुद्ध दोषों के लक्षण	८२	७ कर्णोपद्रव शान्त होने पर वर्धन के उपाय	१००
३१ रक्तविषायण का योग्य समय	८५	१९ अतिशुद्ध दोषों के लक्षण	८२	८ छिंग कर्ण संधान	१००
३२ समयांगयुत रक्त के लक्षण	८५	२० अतिशुद्ध दोषों के लक्षण	८२	६-११ कर्णव्यध की पन्द्रह आकृ- तियाँ	१००-१०१
३३-३४ रक्तविषायण का फल	८५	२१ अतिशुद्ध दोषों के लक्षण	८२	१२-१५ कुछ कर्णवन्धों के सन्धान-	
३५ अप्रश्नित रक्त का प्रवर्तन	८५	२२ अतिशुद्ध दोषों के लक्षण	८२	सूत्र	१०१
३६-३८ रक्तातिश्वसि में रक्तोध के उपाय	८५-८७	२३ अतिशुद्ध दोषों के लक्षण	८२	१६ कर्णवन्ध विधि	१०२
४०-४२ रक्तमोज्जण को रोकने के चार उपाय	८७	२४ अतिशुद्ध दोषों के लक्षण	८२	१७ कर्णवन्ध में परिहार्य	१०२
४४ रक्तमोज्जण में अतिक्रम का नियंत्र	८७	२५ अतिशुद्ध दोषों के लक्षण	८२	१८ किस प्रकार का कर्ण संधेय नहीं होता	१०२
४५ शोणितरक्त का महत्व	८८	२६ अतिशुद्ध दोषों के लक्षण	८२	१६-२२ कर्णव्यध में पश्चात्-कर्म	१०२
४६ शोणित मोज्जण में पथरात्मर्म	८८	२७ अतिशुद्ध दोषों के लक्षण	८२	२३-२४ ब्रण रुद्ध होने पर कर्ण का पुनर्वर्धन	१०३
४७ अन्द्रहृदय आध्याय	८८	२८ अतिशुद्ध दोषों के लक्षण	८२	२५ अरुद्ध ब्रण के वर्धन में दोष	१०३
१ दोष-धातु-मलों के ज्ञयवृद्धि- निःक्षानीय आध्याय का उपकरण	८८	२९ अतिशुद्ध दोषों के लक्षण	८२	२६ किस प्रकार का कर्ण वडाना चाहिये	१०३

२ शास्त्रानुशासनों में चार की प्रथानता	५७
३ चार की निराकृति	५७
१ चार के गुण और कर्म	५७
४ चार के दो भेद	५८
४ प्रतिसारणीय चार के विषय	५८
४ पानीय चार के विषय	५८
५ चारचिकित्सा के प्रयोग स्थानीय चार के विषय	५८
५ पानीय चार पाक विधान	५८
६-६ प्रतिसारणीय चार निर्माण विधि	५८-६०
१० पाक्य संकृत तोषाचार का निर्माण प्रकार	६०
११ स्याधि के बलावल को देखकर चार प्रयोग करना चाहिये	६०
११ मृदु चार में बलाधानार्थ चारिदक का प्रयोग	६०
१२ चार के गुण	६१
१३ चार के दोष	६१
१४ चार प्रतिसारण की विधि	६१
१५ चार से सम्यग् दृष्टि के लक्षण	६२
१५ सम्यग् दृष्टि के प्रबाल लक्षण	६२
१६-२१ चारदृष्टि वेदना अस्ति से रान्त होती है, इसमें मुक्ति	६३
२२ चारदृष्टि सम्यक्, हीन और अतिदृष्टि के लक्षण	६४
२३ चारदृष्टि विकित्सा	६४
२४ द्विविष चार का प्रतियोग विषय	६४
२५ प्रदेश विरोध में चार का नियेष	६४
२६ चार का अवस्था विरोध में नियेष	६४
२७ सम्यक् प्रयुक्त चार का मदागुण शास्त्री होना	६४

पारहयां आध्याय	
१ अग्निकर्म विधि आध्याय का उपकर्म	६५
२ अग्निकर्म का महत्व	६५
३ अग्निकर्म के राग्रत	६५
४ अग्निकर्म का उपकर्म	६५
५ अग्निकर्म विधान	६६
६ अग्निकर्म में एकीयमत	६६
७ त्वगादि में अग्निशह के पृथक् ३ लक्षण	६६
८ रोगभेद से शरीराङ्गों में अग्निकर्म विधान	६६
९ अग्निकर्म विधय	६६
१० दाहकर्म के त्वगादि आकृतिभेद	६७
११ रोगस्थान, मर्म, बलादि देखकर अग्नि कर्म निवित करे	६७
१२ सम्यक् दृष्टि चिकित्सा	६७
१३ अग्निशह के अनधिकारी	६७
१४ भेददृष्टि के लक्षण	६७
१५ अग्निदृष्टि के चार भेद	६७
१६-१७ दहन के सावैदेहिक लक्षण और उनकी सम्प्रसारिति	६८
१८-२० प्लुष्टदृष्टि की विकित्सा	६८
२१ दुर्दृष्टि की विकित्सा	६८
२२-२३ सम्यक् दृष्टि की विकित्सा	६९
२४-२५ अतिदृष्टि की विकित्सा	६९
२६-२७ सर्वांगी दृष्टियों के लिये रोगण पृत	६९
२८ भेददृष्टि की विकित्सा	६९
२९-३६ धूमोपहृत लक्षण „ „ विकित्सा	६९
३७-३८ उषणावात आतप और विषुद् आदि से दृष्टि की विकित्सा	७०
तेरहयां आध्याय	
१ जलोकावचारणीय आध्याय का उपकर्म	७१
२ जलोका विषय	७१
३ जलोकावचारणीय प्राप्त शर्त और	७१

४-६ बातादि दुष्ट रह कर्मा शर्त, जलोका और अलातु से निकालना चाहिये	
७ जलोका प्रमत्र में शर्त और अलातु प्रकार	
८ जलोका शब्द की निराकृति	
९ जलोकाओं का संख्यानिर्देश	
१० सविष जलोकाएं	
११ निर्विष जलोकाएं	
१२ निर्विष जलोकाओं के प्रशस्त चेत्र	
१३-१४ चेत्रभेद से जलोकाओं का सविष निर्विषत्व	
१५ जलोकाओं के पकड़ने का उपाय	
१६ जलोकाओं का पोषणक्रम	
१७ स्त्रायज जलोका	
१८ जलोकाओं का प्रयोग	
१९ रोगाधिष्ठान में उनका प्रहण लक्षण	
२० जलोका द्वारा शुद्धरक्षण का विश्वानोपाय	
२१ रक्तसूप जलोकाओं में से रह कर निवालने का विधान	
२२ रक्त मोहण के अनन्तर कालीन उपाय	
२३ संमद्द स्त्रीक वौद्धद्वयां आध्याय	
१ रोगिणवर्णीय आध्याय का उपकर्म	
२-४ रस वा वर्णन	७४-७६
५-६ रक्त की उत्पाति का वर्णन	७७
७ रक्त से आर्तिक की उत्पत्ति	७८
८ रक्त और आर्तिक वा स्वभावत भेद	७८
९-१० रस त्वगादि में मतान्तर	७८
११ रक्त पश्चभूतात्मक दै	७८
१२ रक्तादि धातुओं की क्योत्वाति वा वर्णन	७८
१३-१४ रस अन्य धातुओं का	७८

१४ रस की निःक्षि	८०	२ दोषों के लक्ष्यवृद्धि वर्णन का कारण	८८	३६ दोष ही धातु और मलों के लक्ष्य में कारण होते हैं	८८
-१६ रस का एक एक धातु में आवश्यक काल	८०	३ प्रकृतिस्थ वात के कार्य	८८	४० दोष, धातु और मलों के परिमाण निर्देश न करने के कारण	८८
१७ शरीर में तीन प्रकार से रसगति	८०	४ प्रकृतिस्थ पित्त के कार्य	८८	४१ विना स्वास्थ्य के दोष- समता के ज्ञान का अभाव	८८
१८ वार्जीकरण श्रोषणियों में शीघ्रशुकरेचकतागुण	८१	५ प्रकृतिस्थ धातुओं के कार्य	८८	४२ दोष लक्ष्य वृद्धि लक्षण अनु- मान से जाने जाते हैं	८८
१९ वालकों में शुक्र प्रतीत न होने में युक्ति	८२	६ प्रकृतिस्थ धातुओं के स्वाभाविक कार्य और धातुओं के परिस्तेण का उपदेश	८८	४३ स्वस्थ और अस्वस्थ के प्रति वैद्य का कर्तव्य	८८
२० इद्धावस्था में अन्नरस पोषक नहीं होता	८२	७ दोषों के लक्ष्यवृद्धि वर्णन चिकित्सा	८०	४४ स्वस्थ के लक्षण	८८
२१ धातुशब्द की निःक्षि	८३	८ धातुक्षय के लक्षण और संकेप से धातुक्षय- चिकित्सा	८०	सोलहवां अध्याय	
२२ विकृत रक्त के दोषभेद से लक्षण	८३	९ मत्तज्ञय के लक्षण और चिकित्सा	८१	१ कर्णेव्यधवंध विधि	
२३ शुद्ध शुक्रशोणित के लक्षण	८४	१० उपधातु लक्ष्य के लक्षण और चिकित्सा	८०	अध्याय का उपकरण	८८
२४ चिक्षाव्य रोगियों का आति- देश से कथन	८४	११ अतिशुद्ध दोषों के लक्षण	८१	२ कर्णेव्यध का विधान	८८
२४ अविक्षाव्य रोगी	८४	१२ उपधातु लक्ष्य के लक्षण और चिकित्सा	८२	३ अन्यदेशविद्ध का ज्ञानो- पाय	८८
२५ दो प्रकार का रहमोक्षण	८४	१३-१४ अतिशुद्ध दोषों के लक्षण	८२	४ उर्विद्ध कर्ण की व्यापत्ति और चिकित्सा	१००
२६ पछ्न का विधान	८४	१५ अतिशुद्ध धातुओं के लक्षण	८२	५ सम्यग् विद्ध में पश्चात्- कर्म	१००
२७-२८ रक्तसाव में प्रयोग के हेतु	८४	१६ अतिशुद्ध धातुओं के लक्षण	८३	६ कर्णोपद्रव शान्त होने पर वर्धन के उपाय	१००
२८ दुष्टरक्त के न निकालने में दोष	८४	१७ अतिशुद्ध उपधातुओं के लक्षण	८३	७ छिन्न कर्ण संधान	१००
३० रक्तातियोग और आतियोग- जन्य व्यापत्तियां	८४	१८ अतिशुद्ध दोषधातुमलादि की चिकित्सा	८३	८-११ कर्णवंध की पन्द्रह आकृ- तियां	१००-१०१
३१ रक्तविक्षावण का योग्य समय	८५	१९ वृद्ध पूर्वधातु उत्तरधातु को बढ़ाता है	८३	१२-१५ कुछ कर्णवन्धों के संधान- सूत्र	१०१
३२ समयोगस्तुत रक्त के लक्षण	८५	२० बल (ओज) के लक्षण	८३	१६ कर्णवन्ध विधि	१०२
३३-३४ रक्तविक्षावण का फल	८५	२१ ओज के प्राकृत कर्म	८३	१७ कर्णवन्ध में परिहार्य	१०२
३५ अप्रश्रुत रक्त का प्रवर्तन	८५	२२-२३ ओज के गुण निर्देश	८४	१८ किस प्रकार का कर्ण संधेय नहीं होता	१०२
३६-३८ रक्तातिप्रवृत्ति में रक्तरोध के उपाय	८५-८७	२४-२५ ओज के लक्ष्यहेतु	८५	१९-२२ कर्णवन्ध में पश्चात्-कर्म	१०२
४०-४३ रक्तसावण को रोकने के चार उपाय	८७	२६-२८ ओज की तीन व्यापत्तियां	८५	२३-२४ वण रुद्ध होने पर कर्ण का पुनर्वर्धन	१०३
४४ रक्तसाव में अतिकम का नियेद्य	८७	२९-३१ ओज की चिकित्सा	८५	२५ अरुण वण के वर्धन में दोष	१०३
४५ शोणितरक्ता का महत्व	८८	३२ स्थूल और कृश व्यक्ति दोषवान् और मध्य- शरीर घैष होते हैं	८७	२६ किस प्रकार का कर्ण बड़ाना चाहिये	१०३
४६ शोणित मोक्षण में पश्चात्कर्म	८८			२७ कर्णवन्धों का अपरि-	
४७ यन्द्रहवां अध्याय					
१ दोष-धातु-मलों के लक्ष्यवृद्धि- विज्ञानीय अध्याय का उपकरण					

संस्कृत द्वारा 102	फल 111	३६-४३ व्रतवन्य की विधि 111
३८-४६ कहौंभिति रोग और विकिसा १०२-१०४	४ देष को सूखवे न देना 111	४४-४७ व्रतवन्य के गुण 111
४८-५१ विष नासिका वा संस्कृत विधि १०४	चाहिये 111	उद्धीर्णस्यां आधारम्
५२ विष थोड़ा संश्लनविधि १०५	५-६ प्रलेप, प्रदेह और कालेप भैद से देष तीव्र प्रदार था होता है 112	१ व्रहुषोपातनीय आधारम् वर्णक्रम 112
संस्कृतविधि १०५	७-१० आतेप की आतावधि और फल 112	२-३ मरिति के बोग्य आगार ज्ञानविमोग्य 112
संस्कृतविधि १०५	११ पतसे खेल का कारण 112	४-५ प्रहरोगी की रात्रा ११०
१ आमवृक्षाद्याय आधार का उल्लङ्घन १०५	१२-१२ आतेप लगाने के बुद्ध नियम ११२-११३	६-७ व्रहुषोपातनी के पास मिश्रो का निवास १११
२ व्रहुषोपातनीय आधार लक्षण १०५	१८ वैद्युह बन्धन गोद्दी का नाम निर्देश ११२	८-९ व्रहुषोपाती को इन में जरू रीजा चाहिये १११
३-४ देष भैद से थोक के विधेय उल्लङ्घन १०६	१९ पूर्णोङ्क बन्धों के विषय ११३	१०-१२ मरुषोपाती को उल्लेखन में व्रहुचाचा करनी चाहिये १११
४-५ जाम, अन्यतमान और एक थोक के उल्लङ्घन	२० बंध (पटी) बोधने की विधि ११५	१३-१४ मरुषोपाती को गम्भीरियों के दर्शन आदेश विशेष १११
१०७-१०८	२१ आतिक्षिक्यहृष्ट बर्ति कन्क का विषेष ११५	१५-१६ मरुषोपाती को बद्ध नहीं पीना चाहिये १११
१० थोक की आधारित अव- स्थायों को जानने शब्दाद्याय देष है और इतर दस्तक होते हैं १०८	२२ व्रयातन विशेष से चीन प्रस्ताव का बन्ध ११५	१६-२१ मरुषोपाती के विषय वर्ज्य आतावपादि का वर्णन ११३
११-१२ एक दीप से भी आतेप होने वाले थोक के पाह व्यक्त में सब दीपों का विषयण १०८	२३ याद, विशिष्ट और सम सन्धनों के उल्लङ्घन ११५	२०-२१ मरुषोपाती को यह करो जीहने चाहिये १११
१२-१४ आम मरु वीं न करो और पक्की चीं रोदा म करो १०८-११०	२४ वृष्णि के आतेप विशेष में बन्ध विशेष की योजना ११५	२२ व्रयाती को विशेष आगन्तु आधारी का परिद्वार करना चाहिए १११
१५-१७ रात्रिकर्म में पूर्ण कर्म ११०	२५ दोष भैद से बन्ध- भैद ११५	२३ रात्रिकर्म भूतादि से रक्षार्थी धूप वार्षि उपहारादि देना १११
१८ थोक की विकिसा न जाने वे होती हैं ११०	२६ दोष काल विशेष से बन्ध में विशेषता ११५	२४ रात्रिकर्म भूतादि की प्रसंसकता का कर्त १११
१९ यद्य व्यक्त विकिसा करने वे सफलता आए होती हैं १११	२७ गाडादिस्यान में अन्यत्याऽ- बद्ध बन्ध के होत ११८	२५ भन की प्रसंसकता का कर्त १११
२० एक थोक की रोदा में देष १११	२८ वर्षोदित बध के गुण ११८	२६ शार लार्य वैदमन्यों द्वारा रोगी की रक्षा करनी चाहिये १११
२१-२२ थोक के विस्तारपत्रादि दर्शनम् १११	२९ विना बध के व्रयात्रोप ११८	२७ रुद्र रोगी की रक्षा के लिये धूप १११
आठारस्यां आधाराय	३०-३१ बन्ध आतेप शुणवान् देता है ११८	२८ विरोधार्थ और विधियों का वर्णन १११
१ मरुषोपातन बन्धन विधि आधारदा दर्शनम् १११	३२ अकम्भ्य देष ११८	२९ रुद्र रोगी की रक्षा के लिये धूप १११
२ ब्रह्म के उल्लङ्घन, भैदेन और बन्धन वीक्रम- नद्य १११	३३ कुष, अमिदाप्र आदि रोगों में बंध विषेष ११८	३० विरोधार्थ और विधियों का वर्णन १११
३ मरुषोपातन छड़ आतेपन	३४-३५ देष और थोकादि वी परीक्षाकर बन्ध विधित दर्शन चाहिये ११८	३१ अज्जनवीज्जनादि द्वारा ब्रह्म की रक्षा करना १११

३० राजसों को नष्ट करने वाली विधि का फल १२३	२२-२६ दिव्यभेद से वातगुण कथन १२६ इक्षीसवां आध्याय १ ब्रणप्रश्न आध्याय का उपक्रम १२६	स्थान गत दोष का प्रतीकार १३८
-३३ ब्रण रोगी के पथ्य आहार १२३	२-३ वात पित्त कफ ही देह की उत्पत्ति स्थिति और प्रत्यय के कारण होते हैं १२६	३१ दोषों का प्रसार तच्छण १३८
-३६ यथोक्त आहार आचार पर नियमित रोगी १२४	४ वातादि की निश्चिति १३० ५ प्रकृतिस्थ वातादि दोषों के स्थान १३०	३२ दोषों के स्थान संशय का वर्णन १३८
घीसधां आध्याय	६ प्रत्येक स्थान के पुनः पांच विभाग १३१	३३ व्याधियों की भेदावस्था १३८
१ हिताहितीय आध्याय का उपक्रम १२४	७ कफ, पित्त, वात-यह देह के धारक हैं १३१	३४ व्याधियों के संचय प्रकोपादि जानने वाला ही वैद्य हो सकता है १३८
२ हिताहितीय विषय में अन्य मत १२४	८ अधिनि और पित्त म परस्पर भेद विवार १३१	३५ संचयावस्था में दोष हरण में गुण १४०
३ एकान्त हित द्रव्य और एकान्त अहित द्रव्य १२४	९ पश्चिमविधि पित्त का वर्णन १३२	३६ संसर्ग में अंशांश वल विकल्प से अनुबन्धा- त्रुवन्धिभाव १४०
४ सर्वप्राणिहित रक्षशालगादि आहारवर्ग १२५	१० पित्त का चिकित्सोपयोगी स्वलक्षण १३३	३८ संसर्ग और संजिपात का चिकित्सा सूत्र १४०
५ हितविहार १२५	११-१३ पंचविधि लेज्या का स्थान और कर्म १३३-१३४	३९ प्रण शब्द की निश्चिति १४१
६ हिताहित १२५	१४ लेज्या का चिकित्सोपयोगी स्वलक्षण १३४	४० यार्द्दलखां आध्याय
७ संयोग से अहित १२५	१५ रक्त का स्थान कथन १३४	१ प्रणा साव विज्ञानीय व्याध्याय का उपक्रम १४१
८ विरुद्ध द्रव्यों का भी क्वचित्प्रयोग १२५	१६ रक्त का स्वलक्षण १३५	२ प्रण के आठ अधिष्ठान १४१
९ स्वस्थ व्यक्ति में ही एकान्त हिताहित की व्यवस्था होती है १२५	१७ दोषों के संचय का लक्षण १३५	३ द्वुचिकित्स्य और दुक्षिः- कित्स्य प्रण १४१
-१२ संयोग से अहित द्रव्यों का वर्णन १२६	१८ वातप्रकोपण द्रव्य १३५	४ प्रण की आकृतिर्या १४१
१३ कर्म विरुद्ध द्रव्यों का वर्णन १२६	१९ वातप्रकोपण का समय १३६	५ प्रणों के शीघ्र भरने और प्रदुषित जारी कारण १४२
१४ मान विरुद्ध द्रव्यों का वर्णन १२७	२० पित्त के प्रकोपण द्रव्य १३६	६ दुष्ट प्रणों के लक्षण १४२
१५ वीर्य और विषाक से विरुद्ध रसद्वन्द्व १२७	२१ पित्त प्रकोप का समय १३६	७ सम्पूर्ण वर्णों के आन्तर लक्षण १४२
१६ अतियोग ऊँक लिंगधादि द्रव्य भी अहित होते हैं १२७	२२ कफ प्रकोपण द्रव्य १३६	८-१० स्थान भेद से प्रणालय के लक्षण और शासाध्यता १४२
१७-१८ विरुद्ध रस वीर्य वाले द्रव्यों के सेवन से हानि १२७	२३ कफ के प्रकोपण का समय १३६	११ सम्पूर्ण वर्ण वेदनाशों का वर्णन १४३
१९ अहित का सामान्य वर्णन १२७	२४ रक्तप्रकोपण द्रव्य १३६	१२ प्रणवर्ण वर्णन १४३
२० विरुद्धशाशनजन्य रोगों की चिकित्सा १२८	२५ रक्तप्रकोपण का काल १३६	१३ इस प्रकार की प्रणा-साव वर्णवेदनाएं अन्यत्रोह दम्पूर्ण शोफ विकारों में जानका १४४
२१ कर्म व्यक्तियों को विरुद्ध-शर्न भी अहित नहीं होता १२८	२६ दोष प्रकोप के लक्षण १३६	१४ तेर्देशक्षां आध्याय
	२७ प्रकृतिपत दोषों के प्रसर के विशेष लक्षण १३७	१५ कृत्याकृत्यविदि आध्याय
	२८-२९ प्रकृतिपत दोष जहां प्रसर करता है, वहां ही रोग उत्पन्न होता है १३७	

३ सुखमाध्य वरण	१४४	१६ मसदोषज विकार	१५४	स्थाय	१६०
३ कष्टमाध्य	१४४	१७ हन्दिग्राहीन विकार	१५५	४० तिर्यक् शब्द प्रयोग की	
४ शुद्ध रोपयोग वरण	१४४	१८ व्याधियों के अनेक च		स्थापतिर्या	१६०
५-६ दुध्यविकृत्य वरण १४४-१४५		में वारण	१५५	४१ रोगी को वैद्य पर विश्वास	
७ याप्य मणि	१४५	१६-२० व्याधि और वैद्यों का		नाहिये	१६०
८ प्रतिकार न करने से		कार्यन्वारण भाष्य		४२ विश्वस्त रोगी के प्रति	
साध्य वरण याप्य		सम्बन्ध १५५-१५६		वैद्य दा कर्तव्य	१६०
और याप्य असाध्य		२१ अध्यायोवसहार	१५६	४३ हितवूर्वक सम्पूर्ण चिकित्सा	
हो जाते हैं	१४५	पर्यासयां अध्याय		करने का फल	१६१
१-१० याप्य लक्षण	१४६	१ अट्टविधि शब्दकर्मीय		४४ साध्य व्याधि भी अनेक	
११-१२ असाध्य वरण	१४६	अध्याय का उपकरण	१५६	इमों से साध्य होती	
१४-१५ साध्य व्याधि की वेद्यता		२-३ छेद व्याधियों	१५६	है	१६१
करने से असाध्यता	१४६	४-७ मेय व्याधियों	१५७	छुच्चीसयां अध्याय	
१६ व्याधि की सुखमाध्यता	१४६	८ देश्य व्याधियों	१५७	१ प्रणाट शब्द विजानीय	
१७ शुद्ध वरण लक्षण	१४६	९ वैद्य व्याधियों	१५७	अध्याय का उपकरण १६१	
१८ भर हो गया के लक्षण	१४६	१० एष्य और आदार्य	१५७	२ शब्द की निश्चिक और	
१९ सम्यग् रुद वरण के		व्याधियों	१५७	शब्द के चिकित्सो-	
लक्षण	१४६	११-१४ विद्याल्य व्याधियों	१५७	पर्यायी भेद	१६१
२० दोष प्रकोपादि से रुद		१५ चिक्ष्य रोग	१५७	३ शब्द शास्त्र की निराळी	१६१
भी वरण फट जाता है १५०		१६ सीवन दा विषयविद्योप		४ शाहीर और आगमन्तु	
चौदीसयां अध्याय		में प्रतिवेध	१५७	शब्दों के लक्षण	१६१
१ व्याधिसमुत्तोतीम अध्याय		१७-१८ विरोधानीय रोग	१५७	५ शब्दों में शर की प्रथा-	
का उपकरण	१४७	१९-२४ सीवनकर्म का विस्तार		मता	१६१
२ राजसाध्यत्व और भेदादि		से वर्णन १५८-१५९		६ शर के दो भेद	१६१
साध्यत्व से रोगों के		२५-२६ सीवन में प्रथात् कर्म	१५८	७ शब्दों के आहरणोप-	
दो भेद	१५७	२७ सूत्र में सहित अष्ट		योगी गतिभेद	१६२
३ त्रिविधि दु ल	१५८	विष शब्दकर्म का		८ शरीर में शल्य किस	
४ सप्त शक्ति की व्याधियों १५८		निकिता में विस्तार		प्रकार रिधिति करते हैं १६२	
५ त्रिविधि आध्यात्मिक		संकेत	१५८	९ शल्य रिधिति के लक्षण १६२	
व्याधियों के लक्षण १५८		२८ अष्टविधि शद्गर्कम् की		१०-११ लगादिगत शब्दों के	
६ आध्यभौतिक व्याधियों		व्यापतिदा	१५८	लक्षण १६२-१६३	
के लक्षण	१५९	२९ व्याधियों में हेतु	१५८	१२ शल्य के वरण रोहण	
७ आधिदैविक व्याधियों		३० अननिष्ट वैद्य का स्थाग	१५८	का लक्षण १६३	
के लक्षण	१६१	कर देना चेय है	१५८	१३-१४ लगादि में प्रणाट शब्दों	
८ सब व्याधियों के बात-		३१ अतियुक शब्द व्यापद्-		का विज्ञानोपाय	
पिता कफ ही कारण		वर्णन	१५८	१६३-१६४	
होते हैं	१५३	३२-३३ सर्वविद्य के सामान्य		१५-१७ सरात्य वरणों के आमन्य	
९ रसदोषज विकार	१५४	लक्षण	१५८	लक्षण १६४	
१० रक्षदोषज ..	१५४	३४-३७ असर्वविद्य सिरादि के		१८-१९ निराल्य के लक्षण १६४	
११ मासदोषज ..	१५४	लक्षण	१६०	२० लगादिगत शल्य की	
१२ भेदोषज ..	१५४	३८ अनुहरित भारामर्द के		आहरणोपयोगी	
१३ अविद्योषज ..	१५४	लक्षण	१६०	अवस्था	१६४
१४ भजदोषज ..	१५४	३९ मोह से निजग्राहक्षेत्र		२१ वार्ष (काँडा) आदि	
१५ भजदोषज ..	१५४	करने जाने वैद्य का		जगत् व चिकित्से जाने	

तो रक्ष मांस आदि को पका देते हैं १६४	के उपाय १६८	उन्नतीसचां अध्याय
२३ शुवर्णादि (धातुज) शल्य न निकालने पर समय पाकर रक्तादि में लीन हो जाते हैं १६५	१२ कर्णवान् शल्यों के आहरण का उपाय १६८	१ विपरीताविपरीत स्वप्न- निदर्शनीय अध्याय
२४ विषाणादि शल्य शरीर में नहीं गते १६५	१३ करठासङ्ख लाज्जा आदि एवं इतर शल्यों के आहरण का उपाय १६८	का उपक्रम १७३
२५ सम्यक् शल्यज्ञाता वैद्य राजा की चिकित्सा कर सकता है १६५	१४ तिर्यक् करठासङ्ख आस्थादि शल्य के आहरण का उपाय १६८	२-३ विर्देश्य दूत कथन १७३
सत्ताईसचां अध्याय	१५ जलमध्यव्यक्ति के उद- रान्तःस्थ जल के आहरण का उपाय १६८	४-५ अशस्त दूत १७३
१ शल्यपत्तयनीय अध्याय का उपक्रम १६५	१६ करठासङ्ख ग्रासशल्य के आहरण का उपाय १६८	६-७ अशस्त दूत वैषादि १७३
२ शल्य के दो भेद १६५	१७ चाहु-रज्जुपाश (फांसी) पीडित करठ प्रकृष्टित बातेष्ठम को अनु- लोम करने के उपाय १७०	८ अशस्त दूत संभाषण १७३
३ अनवरद्ध शल्योद्धरण में पन्द्रह छेतु १६५	१८-१९ शल्याकृतियों के अनन्त होने से अनुकूल उपायों की स्वयं कल्पना कर सेनी चाहिये १७०	९-१२ दूतगमन काल में वैद्य की अशस्त चेष्टा आदि १७५
४ स्वभावादि कारण का विषय १६५	२०-२१ अनिहत शल्य के दोष १७०	१७-२२ दूत और वैद्य के समागम का ग्रशस्तप्रशस्त काल १७४
५ शल्यों का अनुलोम प्रति- लोम भेद से द्विविध आहरणोपाय १६६	अठाईसचां अध्याय	२३-२५ प्रशस्त दूत दर्शन १७४
,, द्विविध आहरण का विषय १६६	१ विपरीताविपरीत ब्रण- विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम १७१	२६-४० शुभाशुभ शकुन कथन १७५
,, उच्चुरिडत को काट कर निकाले १६६	२-३ अरिष्ट मृत्यु सूक्षक होते हैं १७१	४१ शुभाशुभ वायु लक्षण १७५
,, हाथ द्वारा आहरण योग्य शल्य को हाथ से ही निकाले १६६	४ रिष्ट अं भी मृत्यु रोकने के उपाय १७१	४२-४४ वैद्य की यात्रा में रोग- विशेषानुसार शुभा- शुभ शब्द १७६
,, हस्ताशक्य शल्य में शक्तिक्रिया करे १६६	५ कालान्तर में भी रिष्ट पीडा होती है १७२	४५-४६ वैद्य की यात्रा में अप्रशस्त चेष्टा; आतुर यह में भी वैद्य विधि का अतिदेश १७६
६ शल्याहरण में उपद्रवों की चिकित्सा १६६	६ अरिष्ट ज्ञान प्राप्ति न करने में दोष १७२	४६-५३ यात्रोन्मुख एवं आतुर- गृहगत वैद्य के विपरीत निमित्त १७६
७ शल्य आहरण के पथकर्म १६७	७ ब्रण के अरिष्ट १७२	५४ स्वप्नों द्वारा शुभाशुभ ज्ञान १७७
८ शिरादितम् शल्याहरणो- पाय १६७	८-९ प्राहृत ब्रण गंध कथन १७२	५५-६६ अशस्त स्वप्न १७७
९ वज्जःपतित शल्यापहरण में विशेष विधि १६७	१०-११ गंध विकृति १७२	६७ विफल स्वप्न १७८
१० अवयदशल्य निकालने के उपाय १६७	१२-१४ वर्ण विकृति १७२	६८-७० रोग विशेष में विशिष्ट स्वप्न देखना रिष्ट होता है १७८
११ कुक्ति आदि अच्छेदनीय प्रदेशस्थ उत्तुरिडत शल्य निकालने	१५ शब्द विकृति १७२	७१-७४ अशुभ स्वप्नों का परिहार १७८
	१६ स्पर्श विकृति १७२	७५-८१ प्रशस्त स्वप्न १७८
	१७-१८ रूप विकृति १७२	तीसचां अध्याय
	१९ असाध्य ब्रण १७२	१ पञ्चनिद्रियार्थी विप्रतिपत्ति अध्याय का उपक्रम १७८
	२० अध्यायोपसंहार १७३	२ शरीर और शील की प्रकृति का विकृत

होना ही अरिष्ट होता है १७६	६-७ सम्पूर्ण रोगों के अनुकूल रिष्टों का उपसद्वार १८६	चौतीसंयां अध्याय १ युक्तेनीय अध्याय का उपक्रम १८६
३-४ आतुरप्राण विरुद्ध शब्द- विप्रतिपत्ति १७६	८ अरिष्ट ज्ञान का फल १८६	२-३ विषादि से राजा की रक्षा करनी चाहिये १८६
३-७ " " स्पर्य- विप्रतिपत्ति १७६	९-२ अवारणीय अध्याय का उपक्रम १८६	४ विषप्रयोग के भेद १८६
८ अतुरप्राण विरुद्ध रूप- विप्रतिपत्ति १८०	३ स्वागत से ही दुष्किं- त्स्थ महागढ १८०	५ प्रमाणों द्वारा अकाल- मृत्युसिद्धि १८६
८ " विरुद्ध रस- विप्रतिपत्ति १८०	४-५ रोगों की असाध्यता में हेतु- भूत उपद्रव १८०	६ वैद्य और पुरोहित का कर्तव्य है कि दोपज और आगन्तुज मृत्यु- ओं से राजा की रक्षा करें १८०
" " विरुद्ध गन्ध- विप्रतिपत्ति १८०	६ असाध्य वातव्याधि के उपद्रव १८०	७ वैद्य से पुरोहित की प्रधानता १८०
१०-११ रसमधुर विप्रतिपत्ति १८०	७ " प्रमेत्र के उपद्रव १८०	८ वर्षीयकरादि भव से राजा की रक्षा करनी चाहिये १८०
१२ गन्धमधुर विप्रतिपत्ति १८०	८ " इष्ट के उपद्रव १८०	९-१० वैद्य देवसमान राजा की उपसना करे १८०
१३ रसमधुर विप्रतिपत्ति १८०	९ " इर्षा के उपद्रव १८०	११-१२ प्रतिवृणा उपयोगों होने से वैद्य का निवास राजा- निवास के समीप ही उचित रथान में होना चाहिये १८०
१४-२२ रसमधुर विप्रतिपत्ति १८०-१८१	१० " भग्नदर के उपद्रव १८०	१४-१५ चिकित्सा के चार पाद उनमें वैद्य की प्रधानता १८१
इकतीसंयां अध्याय	११ " अरमरी के उपद्रव १८०	१६-१७ पादनय के ढीक न होने पर भी गुणवान् वैद्य चिकित्सा में युक्त होता है १८१
१ छायाविप्रतिपत्ति अध्याय का उपक्रम १८१	१२ " मृदगम के उपद्रव १८०	१८-१९ वैद्य के गुण १८१
२ रिष्टभूत छाया १८१	१३ " उदर के उपद्रव १८०	२० रोगी के गुण १८१
३ रीतिकृति जन्य अरिष्ट १८१	१४-१७ " ऊर के उपद्रव १८०	२१-२२ भेदज के गुण १८१
४-८ घोषादि अवयव विकृति जन्य अरिष्ट १८१	१८ " अतिसार के उपद्रव १८०	२३ परिचारक के गुण १८१
६-१६ काय, अवयव और कियाओं की रिष्टभूत विकृतियों १८१	१९ " यज्ञम के उपद्रव १८०	१८ दीतीसंयां अध्याय
१७-२६ शारीरदेशविशेषाधित प्रिष्ट भूत व्याधियों १८१	२० " गुणम के उपद्रव १८०	१ आद्युरोपक्रमणीय अध्याय
२८ मृत्यु के कारण १८४	२१ " विद्यधि के उपद्रव १८०	२ उपक्रम १८२
३०-३१ गतात्प्राणियों की विकृता विकृत होने में कारण १८४	२२ " पारदुर्दोग के उपद्रव १८०	३ रोगी को देखने पर वैद्य
पचासंयां अध्याय	२३ " रहपत्र के उपद्रव १८०	४ प्रथम रोगी की आयु परीका ही
१ स्वागत विप्रतिपत्ति अध्याय का उपक्रम १८४	२४ " उन्माद के उपद्रव १८०	
२ शारीरदेशविशेषाधित हीना भरण दूषण होता है १८४		
३-१ राठीप्रयवों के अन्यथा		

४-५ दीर्घायु के लक्षण १६२	३७ दोपचारादि में भी वय ज्ञान आवश्यक है २०१	१२-१३ वर्ति ग्रन्थ २०५
६-७ मध्यमायु के लक्षण १६३	१८ किया विशेष में भी वय ज्ञान का फल होता है २०१	१४-१५ कल्प द्रष्टव्य २०५
८-१० अल्पायु के लक्षण १६४	३८ स्थूल, कृश और मध्य भेद से देह के भेद २०१	१६ शोधन धृत २०५
११-१३ आयु ज्ञान के लिये अङ्ग प्रत्यक्ष प्रमाणो- पदेश १६३-१६४	४० स्थूलादि की कर्षण चिकित्सा करनी चाहिये २०१	१७-१८ शोधन तैल २०५
१४ जी की श्रोणि और पुरुष के चक्रःस्थलादि जी यौवन में ही यथोक्त प्रमाणता होती है १६५	४१ बल विचार २०१	१९ शोधन चूर्ण २०५
१५-१६ उक्त प्रमाण ज्ञान का प्रयोजन १६५	४२ बल और उपचय के लक्षणों में व्यनि- चार २०१	२० शोधन की रसक्रिया २०५
१७ सार द्वारा आयु निर्देश १६६	४३ सत्त्व परीक्षा २०२	२१ द्रगाधूपन २०५
१८ अङ्ग प्रत्यक्ष भान और सार ज्ञान का फल १६६	४४-४६ सात्म्य परीक्षा २०२	२२-२३ रोपण कवाय २०५
१९-२१ व्याधि के साध्यादि भेद निरूपण १६६	४७ प्रकृति और ओषधि का अतिदेश से वर्णन २०२	२३ रोपण वर्तियाँ २०५
२२ अनुकूल रोग में लक्षणों द्वारा रोग का उप- चार करना चाहिये १६७	४८ देश परीक्षा, आनुपदेश २०२	२४ रोपण कल्प द्रष्टव्य २०५
२३-२४ आत्यरिक व्याधि में ऋतुचिकित्सा विधि १६८	४९ जाग्रत्ता तथा साधारण देश २०२	२५ रोपण धृत २०६
२५ कौन किया सिद्ध नहीं होती १६८	५१-५२ देश परिज्ञान का फल २०२	२६ रोपणी उत्सादन २०६
२६ किया और अक्रिया का लक्षण १६८	५३-५४ साध्यासाध्य व्याधियों के लक्षण २०३	२७-२८ रोपण चूर्ण २०६
२७ अभिपरीक्षा और पाचक अभियों के लक्षण १६९	५५ कियासंकर निषेध २०३	२८ रोपणी रसक्रिया २०६
२८ अभियों के लक्षण १६९	५६ कुच्छु व्याधियों में एक किया से फल न होने पर भी कुछ काल तक वही किया करनी चाहिये २०४	२९ रोपण उत्सादन २०६
२९ विषम आदि अभि- वातादि दोषों के प्रकोपक हैं १६९	५७ काल और देश के अनुसार चिकित्सा करने वाले वैद्य की प्रशंसा २०४	३० रोपण अवसादन द्रष्टव्य २०६
३० समादि अभियों की चिकित्सा १६९	३१ छुच्चीस्वर्वां शाध्याय	३१-३२ छुच्चीस्वर्वां शाध्याय २०६
३१ सूक्ष्म होने से रस प्रहण करने वाले अभि की विवेचना नहीं हो सकती १६९	१ भिन्नक अध्याय का उपक्रम २०४	३३ सैंतीस्वर्वां अध्याय २०६
३२ वायु जठरामि का सहायक है १६९	२-६ वातादि दोषों के प्रतिकूल विम्लापन योग २०४	३४ भूमिप्रचिभाग विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम २०६
३३-३५ वय की परीक्षा १६९-२००	७ दोपभेद से तैप के संस्कार विशेष २०४	३५ अौषध तेजे योग्य भूमि २०६
३६ भेपजमात्रा प्रयोग ही वय ज्ञान का फल है २०१	८ शोधपाचन द्रष्टव्य २०४	३६ पंचमहाभूतगुणा विशिष्ट भूमि के विशेष गुण कथन २०७
	९,, दारण द्रष्टव्य २०४	३७ किन ऋतुओं में अौषध प्रहण करनी चाहिये २०७
	१० ब्रणपीडन द्रष्टव्य २०४	३८ शोधन द्रष्टव्य कैसी भूमि के ग्राम हैं २०७
	११ मूलादि विशेष में मूलादि प्रहण के नियम का अपवाद २०८	३९ नूतन अौषध ही गुणवाले होते हैं २०७
	१२-१४ कार्यविशेष में द्रष्टव्यगुण की विवेषण २०८	४० विड्जादि पुरातन ही ग्राम हैं २०७

१२ कैमा औदय इय्य प्रथा है	२०८	६८-६९ वृहत्समूल गण	२१५	३ रसप्रधानता में एकीयमत २२१ ४ वीर्यप्रधानता में एकीयमत २२१ ५-८ रसायनित वीर्य कर्म ३२३ ६ अन्य भव से विवाक की प्रधानता ३२१
१५ जहाम औरपियों का प्रदण कान २०८		७०-७१ दशगुण गण	२१२	१०-१२ विवाकविवेचन ३२३
१७ भयनाशक वैमा दोनों चाहिये २०८		७२ विदायादि गण	२१३	१४ इय्यादि समूहय प्राधान्य संघणों में युक्त समत- स्थापन ३२३
अठतीसयां अध्याय		७३-७४ करमादिंदि गण	२१३	१५ उमल इय्यादि का कियाकारित्व ३२३
१ इय्यप्रधानीय अध्याय का उपक्रम २०८		७५-७६ कुरादि तुणयमूलगण २१५		१७-१९ रसादि इय्य वीर्य होते हैं भत इय्य प्रधान है ३२४
२ इय्यगुण समूह २०८		७७ एष पवक्त्रों के गुण २१६		२१-२२ आगमोह युक्त छिद्र ओषधियों पर लकड़ करने का निषेध ३२४
३-४ विदायादिगण २०८		७८ विद्वादि गण का अति- देश २१६		२३ प्रयोक्तादि समूहीय होते हैं से आगम की सर्व- सेष्टता ३२४
४-६ आरवधादि गण २०८		७९ संचेष्ट से ग्रोक हन गुणों का विवित्या में विस्तारसेष्ट २१६		एकतालीसयां अध्याय १ इय्य विशेष विवानीय अध्याय का उपक्रम ३२४
७-८ बदादि गण २०८		८० इन गुणों का उपयोग २१६		२ इय्य पापमोतिकहोते हैं ३२४
८-१० वीर्यादिगण २१०		८१ सम्भात इय्यों की धूमादि उपचारों से रक्षा २१६		३ वार्षिक इय्य के संघण एवं गुण ३२४
११-१२ सातवाहादि गण २१०		८२ इन गुणों की योजना का प्रकार २१६		४ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
११-१४ रोपादि गण २१०		उनतासांसयां अध्याय		५ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
१२-१५ अस्तीदिगण २१०		१ संरोपन संरामनीय अध्याय		६ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
१३-१८ शुरादि गण २११		२ आ उपक्रम २१६		७ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
१४-२० शुरुवादि गण २११		३ अभोगागहर इय्य २१६		८ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२१-२३ तिरप्रदादि गण २११		४ उभदभागहर इय्य २१७		९ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२१-२४ एतादि गण २११		५ शिरोविवेचन इय्य २१७		१० आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२२-२७ वसादि वीर्यादि गण २१२		६ वातमंसामन वर्ण २१८		११ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२४-२८ इसामादि गण २१२		७ वित्तमंसामन वर्ण २१८		१२ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२०-२१ शुरुवादि गण २१२		८ वक्तमंसामन वर्ण २१८		१३ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२२-२३ वटीलादि गण २१२		९ मंसोपक एवं संरामन इय्यों का यात्रा- विवरण २१८		१४ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२४-१२ काषेयवर्णादि गण २१२		१० दुर्बल रोगी को संवाद दोषपन वही देना, वर्दिये २१८		१५ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२४-१७ खट्टदि गण २१२		११-१२ अनेक दुर्बल रोगी की मारात्मकुल होषण देना वार्षये २१८		१६ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२५-१३ गौरीदिगण २१२		१३ वायवकल वर्णनि, वर्णि चैत्र वृषभ में वर्ण मात्रा २१८		१७ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२७-२१ शुरुवादि गण २१२		१४ वायवीयासयां अध्याय		१८ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२२-२१ वस्त्रादिगण २१२		१५२३, १५४, युल, वर्ण विवरण अध्याय		१९ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२४-१६ शुरुवादि गण २१२		१५५४ वर्ण अध्याय		२० आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२५-२० शुरुवादि गण २१२		१५५५ वर्ण अध्याय		२१ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२१-२२ वसादि गण २१२		१५५६ वर्ण अध्याय		२२ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२२-२४ शुरुवादि गण २१२		१५५७ वर्ण अध्याय		२३ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२२-२५ वस्त्रादि गण २१२		१५५८ वर्ण अध्याय		२४ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२३-२५ वस्त्रादि गण २१२		१५५९ वर्ण अध्याय		२५ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२४-२६ वस्त्रादि गण २१२		१५६० वर्ण अध्याय		२६ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२४-२७ वस्त्रादि गण २१२		१५६१ वर्ण अध्याय		२७ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२५-२८ वस्त्रादि गण २१२		१५६२ वर्ण अध्याय		२८ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२६-२९ वस्त्रादि गण २१२		१५६३ वर्ण अध्याय		२९ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२७-२९ वस्त्रादि गण २१२		१५६४ वर्ण अध्याय		३० आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
(विवरण)	११८	१५६५ वर्ण अध्याय		३१ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
१८-२१ विद्वादि-वेचन (विवरण) ११८				३२ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२१-२० वस्त्रादि-वर्ण ११८				३३ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२१-२१ वस्त्रादि-वर्ण ११८, ११९				३४ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२१-२२ वस्त्रादि-वर्ण ११९				३५ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२१-२३ वस्त्रादि-वर्ण ११९				३६ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२१-२४ वस्त्रादि-वर्ण ११९				३७ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२१-२५ वस्त्रादि-वर्ण ११९				३८ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२१-२६ वस्त्रादि-वर्ण ११९				३९ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२१-२७ वस्त्रादि-वर्ण ११९				४० आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२१-२८ वस्त्रादि-वर्ण ११९				४१ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४
२१-२९ वस्त्रादि-वर्ण ११९				४२ आगम इय्य के संघण एवं गुण ३२४

२० शरीर की स्थिति वृद्धि और ज्यां प्रव्याप्ति वृद्धि होते हैं २२८	२३ कथायरस के गुण कर्म और अति सेवन में दोष २३१	१६ वैरेचनिक श्वलेह ३३७
वयालीसचां आध्याय	२४ संक्षेप से मधुर वर्ग २३१	१७ अन्य अवलेह २३७
१ रस-विशेषपिज्ञानीय आध्याय का उपक्रम २२८	२५ „ अम्ल वर्ग २३२	१८ पित्तम् अवलेह २६७
२ रस सम्बन्ध हेतु २२८	२६ „ लवण वर्ग २३२	१९ लेपमध्य „ २३७
३ रस भेद २२८	२७ „ पटु वर्ग २३२	२०-२१ अन्य अवलेह २३७
४ भूम्यादि महाभूत गुण विशेष से रस विशेष २२८	२८ „ तिक्त वर्ग २३२	२२ चुर्णावलेह २३७
५ मधुरादि छः रस वातादि दोषों को शान्त करते हैं २२८	२९ „ कथाय वर्ग २३२	२३ वैरेचनिक मोदक २३७
६ दोषों की उत्पत्ति का कारण २२८	३० व्रेसठ रस संयोग २३३	२४-२५ „ लेह और गुटिका प्रयोग २३७
७ सौम्य, आम्रेय भेद से रस के दो भेद २२८	३१ विशिष्ट विषय में रसायास दोष नहीं होता २३३	२६-२७ वैरेचनिक चूर्ण २३७
८ कथाय रस वातल होता है २२८	३२ वैतालीसचां आध्याय	२८-३० वैरेचनिक आसव २३८
९ कटु रस पित्तल होता है २२८	१ वगन द्रव्य विकल्प विज्ञानीय आध्याय का उपक्रम २३३	३१-३४ वैरेचनिक पिण्ठीकृत सुरा २३८
१० मधुर रस लेपमध्य होता है २२८	२-६ वमनीय मधन फल कल्प २३३-२३४	३५-३६ वैरेचनिक सौचीर २३८
११ कटुरस लेपमध्य होता है २२८	७ „ जीमूत फल कल्प २३४-२३५	४०-४४ „ तुषोदक २३८
१२ छः रसों के लक्षण २३०	८ „ कुटज कल्प २३५	४५ सब विरेचन द्रव्यों में त्रिवृत्तमूल विधि का अतिदेश २३८
१३ मधुर लक्षण २३०	९ „ कृतवेधन कल्प २३५	४६ दन्ती-द्रवन्ती का विशेष कल्प २३८
१४ अम्ल लक्षण २३०	१० „ इच्छाकु कल्प २३५	४७-४८ दन्ती द्रवन्ती के सेहयोग २३८
१५ लवण लक्षण २३०	११ धामार्गव कल्प २३५	४९-५१ दन्त्यादि चूर्ण २३८
१६ कटु लक्षण २३०	१२ वमन के लिये आप्राण-योग २३५	५२-५३ दन्त्यादि मोदक २३८
१७ तिक्त लक्षण २३०	१०-११ वमनीयधों का योजनाप्रकार २३५	५४-५६ व्योषादि विरेचन २३८
१८ कथाय लक्षण २३०	१८ चौवालीसचां आध्याय	५०-६१ तिलवक कल्प २४०
१९ मधुर रस के गुण, कर्म और अति सेवन में दोष २३०	१ विरेचन द्रव्य विकल्प विज्ञानीय आध्याय का उपक्रम २३५	६२-६३ हरीतकी कल्प २४०
२० अम्ल रस के गुण में दोष २३०	२-४ विरेचन में प्रधान द्रव्य २३५	६४-६६ हरीतकी योग २४०
२१ लवणरस के गुण, कर्म और अति सेवन में दोष २३१	५ वातज रोग में त्रिवृत्कल्प २३६	७० आमलक के गुण २४०
२२ तिक्त रस के गुण, कर्म और अति सेवन में दोष २३१	६ पित्तज रोग में त्रिवृत्कल्प २३६	७१ विभीतक के गुण २४०
२३ कटुरस के गुण, कर्म और अति सेवन में दोष २३१	७ कफज रोग में „ २३६	७१ त्रिफला के गुण और कल्प २४०
२४ चुर्ण रस के गुण, कर्म और अति सेवन में दोष २३१	८-८ वातलेप्त रोग में „ २३६	७२ वैरेचनिक फलों में हरीतकी विधान का अतिदेश २४०
२५ यूष रस के गुण, कर्म और अति सेवन में दोष २३१	९-११ सर्वविषयक गुलिकादि योग २३६	७३-७५ चतुरद्वयलक्लप २४०
२६ यूष रस के गुण, कर्म और अति सेवन में दोष २३१	१२-१३ मोदक भक्ष्यरूप त्रिवृत्कल्प २३६	७६-७७ एरराड तैल कल्प २४१
२७ यूष रस के गुण, कर्म और अति सेवन में दोष २३१	१४ यूष रूप त्रिवृत्कल्प २३६	७८-८१ स्तुहीक्षीर कल्प २४१
२८ यूष रस के गुण, कर्म और अति सेवन में दोष २३१	१५ पुटपाक रूप त्रिवृत्कल्प २३७	८६-८७ उपसंहार २४१
२९ यूष रस के गुण, कर्म और अति सेवन में दोष २३१		८८-९८ वैरेचनिक त्रिवृदादि-मोदक २४१
३० यूष रस के गुण, कर्म और अति सेवन में दोष २३१		९० अनुक अज्ञ-पानादि में प्रयोग कल्प २४२
३१ यूष रस के गुण, कर्म और अति सेवन में दोष २३१		९१ चीर रस आदि छः औषध कल्प और

८ सनकी उत्तरोत्तर लम्हुता २४३	२४ भौमजल का अपेक्षाकृत प्रदण काल ० २४७	६२ नारी दुष्प के पाक का निवेद २५१
९ पैतालीसंवाद अध्याय १ इवद्रव्यविधि अध्याय का उपकर्म २४३	२५ भौमजल सूर्यरिमयों के प्रमाण से आन्त- रिक्ष समय गुण रखता है २४७	६३ धारोग्य और बहुत कड़े हुए दुष्प के गुण २५१
१० धारीयवर्ग- २ आन्तरिक्ष जल के गुण २४२	२६ आकाश जल के गुण २४७	६४ वर्जनीय दुष्प २५२
३ पूर्वी पर पवे हुए जल में स्थान भेद से विशिष्ट रसोत्पत्ति २४२	२७ चन्द्रकान्तभूषण से तत्पक्ष जल के गुण २५७	६५ दधिकर्ग-
४ लोहितादि भूमि भेद से पानीय रसोत्पत्ति में एकीयमत २४३	२८ शीतजल का विषय २४७	६६ दधि के सामान्य गुण २५२
५ पानीय में अग्नेयान्तर- प्रविष्ट पार्थिकादि गुण विशेष से रस विशेष की उत्पत्ति २४३	२९-३० पार्थिशूलादि में शीतजल का निवेद २५८	६७ मधुरा दधि के गुण २५२
६ आन्तरिक्ष उदक के चार भेद और उसके गुण २४३	३१-३६ नदी तदागादि भेद से भौमजल के गुण- विशेष २५८	६८ माहिष दधि के गुण २५२
७ अद्युभेद से आन्तरिक्षादि उदक की सेवन विधि २४४	३७-३८ अनूरादि देशजन्य जल के गुण २५८	६९ उम्भी के दधि के गुण २५२
८-९ नदीन उदक के दोष २४४	३९ उदयोदक के गुण २५८	७० उद्योदक के गुण २५८
१० उदयोदक जल के लकड़ा २४५	४० उदयोदक विधि २५८	७१ गोदी के दधि के गुण २५२
११ स्पर्शादि मात्रा दोष २४५	४१ वासी उदयोदक त्याज्य है २५८	७२ गोदी के दधि के गुण २५२
१२ उदयोदक की शुद्धि करने के तराय २४५	४२-४३ शृतशीत जल के गुण २५८	७३ नारी दधि के गुण २५२
१३ किस प्रक्र में जल पीना चाहिये २४५	४४ नारिकेलफलादक के गुण २५८	७४ दधित दुष्पजन्य दधि के गुण २५८
१४-१५ विहृत जल का वर्जन २४५-२४६	४५-४६ जल की अवधेयता २५८	७५ दधित दुष्पजन्य दधि के गुण २५८
१६ कलुष जल की शुद्धि करने के सात विध्य २४६	४७ दधि के गम्यादि आठ भेद २५८	७६ उद्युभेद से दधि का प्रहण और त्याग २५८
१७ कलुष जल की शुद्धि करने के सात विध्य २४६	४८-४९ सब दुष्पों के सामान्य गुण कर्म २५८	७७-७९ दधि स्तुति के गुण २५८
१८ जल के पांच निवेदण २४६	५० गव दुष्प के गुण २५०	८० दधि दुष्प के गुण २५८
१९ जल के सात शीतीकरण तराय २४६	५१-५२ अग्ना दुष्प के गुण २५०	८१ तक और गोल के लकड़ा २५४
२० छीं दा भौम जल गुण- वान् होता है २४६	५३ उम्भी दुष्प के गुण २५१	८२ तक का निवेद २५४
२१ इवेष्ट्रे से नदीजल के गुण तथा नदियों की पुरुषतुल्यता में वरात २४६	५४ नेत्र के दुष्प के गुण २५१	८३ तक और योगी २५४
२२-२३ गति एवं देवभेद से नदियों में गुणविशेष २४६	५५ माहिष दुष्प के गुण २५१	८४ तक में रस विशेषता से गुण विशेष २५४
	५६ ऐक्षराक (योदी आदि) दुष्प के गुण २५१	८५ सामान्य तक के गुण २५४
	५७ नारी दुष्प के गुण २५१	८६ तक और गोल के लकड़ा २५४
	५८ हस्तिनी दुष्प के गुण २५१	८७ तक का निवेद २५४
	५९ ग्रामातिक दुष्प के गुण २५१	८८ तक और योगी २५४
	६० अराह वालीन दुष्प के गुण २५१	८९ तक में रस विशेषता से गुण विशेष २५४
	६१ आम और वर्ज दुष्प के गुण २५१	९० गति एवं देवभेद से निवेद- नाराकाता २५४
		९१ तक कृदिष्ठ और मण्ड के गुण २५४
		९२ विश्वट, वीर्य और गोराट के गुण २५४

६२ नवनीत के गुण	२५४
६३ दुरध से निकाले हुए	
नवनीत के गुण	२५४
६४ सन्तानिका (मलाई)	
के गुण	२५५
६५ पूर्वोक्त तकादि गव्य-	
तक के जानने	२५५
दृष्टवर्ग-	
६६ सामान्य धृत के गुण	२५५
६७ गठ्य धृत के गुण	२५५
६८ वकरी के धृत के गुण	२५५
६९ भैंस के धृत के गुण	२५५
१०० ऊँटनी के धृत के गुण	२५५
१०१ भेड़ी के धृत के गुण	२५५
१०२ घोड़ी आदि के धृत के गुण	२५५
१०३ नारी धृत के गुण	२५५
१०४ हस्तिनी धृत के गुण	२५५
१०५ दुग्ध से निकाले हुए धृत	
के गुण	२५५
१०६ धृतमरण के गुण	२५५
१०७-१११ पुराण धृत के गुण	२५५
तैलवर्ग-	
११२-११३ सामान्यतया तैल के	
गुण और कर्म	२५६
११४ प्रत्येक तैल के गुण	
और कर्म	२५६
११५ निम्बादि फलों के तैल	
के गुण	२५७
११६ अलसी तैल के गुण	२५७
११७ सरसों के तैल के गुण	२५७
११८ इज्जदी तैल के गुण	२५७
११९ कुषुभृत्ति तैल के गुण	२५७
१२० चिरायतादि तैल के गुण	२५७
१२१ मधुकादि तैल के गुण	२५७
१२२ तुवरक और भस्त्रातक-	
तैल के गुण	२५७
१२३ चीड़ आदि सार ज्ञेह के	
गुण	२५७
१२४ तुम्बी आदि के तैल के	
गुण	२५७
१२५ यज्ञानिका तैल के गुण	२५७
१२६ कैथिका तैल के गुण	२५७
१२७ आम्र तैल के गुण	२५७

१२८ फलतैलों के फल	
समान गुण होते हैं	२५८
१२९ स्थावर ज्ञेहों में तिल	
तैल के गुण	२५८
१३० तिल तैल की श्रेष्ठता	२५८
१३१ वसा, मेद और मज्जा	
के गुण	२५८
मधुवर्ग-	
१३२ मधु के सामान्य गुण	२५८
१३३ मधु के भेद	२५८
१३४-१३६ पैतिकादि मधुजातियों	
में प्रत्येक के गुण	२५८
१४० नवीन और पुराण मधु	
के गुण	२५८
१४१ पक्ष और अपक्ष मधु	
के गुण	२५८
१४२ मधु योगवाही है	२६०
१४३-१४५ मधु उच्छविरोधी है	२६०
१४६ वमनार्थ मधु का उच्छ्व	
से विरोध नहीं है	२६०
१४७ अजीर्ण मधु कष्टप्रद है	२६०
इच्छुवर्ग-	
१४८ इच्छु के सामान्य गुण	२६०
१४९-१५० इच्छुओं की वारह	
जातियां	२६०
१५१-१५५ इच्छु विशेषों के गुण	२६०
१५६ इच्छु के अवयव विशेष	
में गुण विशेष	२६१
१५७ दांत से चूसे हुए इच्छु-	
रस के गुण	२६१
१५८ यन्त्रपीडित इच्छुरस के	
गुण	२६१
„ अभि पक्षरस के गुण	२६१
१५९ फारिष्ट के गुण	२६१
१६० गुड़ के गुण	२६१
१६१ पुराने गुड़ के गुण	२६१
१६२-१६३ गुड़ के संस्कार विशेष	
से नामान्तर और	
गुण	२६१
१६४ गुडादि के संस्कार समय	
में अपसार्यमाण	
मत्त के गुण	२६१
१६५ शर्करा के गुण	२६१
१६६ सधुशर्करा के गुण	२६१

१६७ यवासशर्करा के गुण	२६१
१६८ अवशिष्ट शर्कराओं के	
गुण	२६१
१६९ मधुकपुष्पजनित फारिष्ट	
के गुण	२६१
१७०-१७१ मध्यों के सामान्य	
गुण कर्म	२६२
१७२-१७३ द्राक्षा के मध्य के गुण	२६२
१७४ खर्जूरमध्य के गुण	२६२
१७५ सामान्य सुरा के गुण	२६२
१७६ प्रसादा के गुण	२६२
१७७ थेत्सुरा के गुण	२६२
१७८ यवसुरा के लक्षण	२६२
१७९ कुधान्य सुरा के गुण	२६२
” आचिकी सुरा के गुण	२६२
१८० कोहल और जगल के	
गुण	२६२
१८१ वफ्स के गुण	२६२
१८२ शुद्धीषु के गुण	२६२
१८३ शर्कराशीषु के गुण	२६२
१८४ पक्षरसशीषु के गुण	२६२
१८५ अपक्षरसशीषु के गुण	२६२
१८६ आचिकशीषु के गुण	२६२
” जाम्बवशीषु के गुण	२६२
१८७ सुरासव के गुण	२६२
१८८ मध्वासव के गुण	२६२
१८९ मैरेयक के गुण	२६२
१९० इन्जुरसासव के गुण	२६२
१९१ मधुरसीषु के गुण	२६२
१९२ नव मध्य के दोष	२६२
१९३ जीर्ण मध्य के गुण	२६२
१९४-१९५ अरिष्ट के गुण	२६२
१९६ पिप्पल्यारिष्ट के गुण	२६२
१९७ शेष अरिष्टों के गुण	२६२
१९८-२०२ दोष युक्त मध्य	२६४
२०३ मध्य के गुण	२६४
२०४-२०५ किस प्रकार का मध्य	
नशा करता है	२६४
२०६ शारीर दोष भेद से मद	
के भेद	२६४
२०७-२०८ मानस दोष से मद भेद	२६४

संशित कदादि के	१७ उपाह कर अन्यथा ए हुए	५२ शाम्भवं का डप्सेहर २७१
गुण २६५	रातिप्रदों के गुण २६७	५३ मांसवर्णं २७२
२१२ योनि भेद से शुक्र के	१८ दिनहस्त धार्यों के गुण २६८	५४ जह्याल्वर्णं २७२
गुण २६५	१९ शारिर्वर्णं का उपसहार २६९	५५ एष के गुण २७२
२१३ तुष्मात्मा और सौकीरक	२० २२ दोरदयादि कुपान्धं और	५६ हीरण गुण २७२
के गुण २६५	इतक गुण २६९	५७ हीरण भेद २७२
२१४-२१५ शाम्भवं के गुण २६५	२३ शोदयादि धार्यों के गुण २६९	५८ मृगमातृदा के गुण २७२
मूर्खवर्णी-	२४ विषधृ के गुण २६९	५९-६० विधिक वर्ग वा वर्णन
२१७-२१८ सामान्य मूल के गुण २६५	२५ मधुपूर्णि, नन्दीमुरा,	और उसके गुण २७२
२२०-२२१ गोमूल के गुण २६५	करक और मुखन्द-	६१ लावक के गुण २७२
२२२ मधुपूर्णि मूल के गुण २६५	कादि धार्यों के गुण २६९	६२-६३ कुण्ठा और मोर्दतिलिर
२२३ छाग मूल के गुण २६५	२६ वेणुग्रन्थ के गुण २६९	के गुण २७२
२२४ भेदामूल के गुण २६६	२७-२८ शामी धार्यं और उनके	६४ कठर और वयचक्र के
२२५ अरब मूल के गुण २६६	सामान्य गुण २६९	गुण २७२
२२६ गजमूल के गुण २६६	२९ सुद के गुण २६९	६५ मधूर के गुण २७२
२२७ गर्भमी मूल के गुण २६६	३० मधुर, भटुष्ट और कक्षाय	६६ कुकुर वे गुण २७२
२२८ चढ़ा मूल के गुण २६६	वे गुण २६९	६७ प्रतुदर्वणं २७२
२२९ अरब मूल के गुण २६६	३१-३२ आद्वी और चण्डक के	६८ प्रतुदर्वणं के सामान्य
२३० गजमूल के गुण २६६	गुण २६९	गुण २७२
२३१ पूरोक्त गुण २६६	३३ हैरेषु और सतीन के गुण २६९	६९ भेदामो और वाणिकोत
छ्यालीसंघो अध्याय	३४ माय के गुण २६९	के गुण २७२
१ अविपात विधि अध्याय	३५ राजमाय के गुण २६९	७० पारावत के गुण २७२
का उपकरण २६२	३६ आत्मगुणा, काकारुण और	७१ गुहुलिक के गुण २७२
२ प्रणियों के आहार के	अरणमाय के गुण २६९	७२ गुदाशय प्राणी २७२
विषय में सुश्रुत वा	३७ वुल्यथ के गुण २६९	७३ गुदाशय प्राणियों के
प्रथ २६६	३८ वनदुलय के गुण २६९	सामान्य गुण २७२
शासिकी-	३९ तिल के गुण २६९	७४-७५ प्रसह शारी और उनके
३-४ विविध धार्यों का नाम-	४० तिल के उत्तम, मध्यम	सामान्य गुण २७२
निरोश तथा गुण २६७	शीर अभमादि भेद २६९	७६ पृष्ठगृह २७२
५-६ लोहितशालि के गुण	४१-४२ यव के गुण २७०	७७ पृष्ठामूर्गों के सामान्य गुण २७२
तपा अन्य शासि	४३ अतिवय और गोधूय	७८ विलेशय प्राणी २७२
धार्यों की कमरा	के गुण २७०	७९ विलेशय प्राणियों के
अद्यगुणाता २६७	४४-४५ सामान्यतया शिम्बी के	सामान्य गुण २७२
७-८ घटि धार्य के भेद और	गुण २७०	८० शाराक के गुण २७२
गुण २६७	४६ मुद्रपर्णादि शिम्बी के	८१ गोधा के गुण २७२
८-९० गोदृष्टि तथा रोप वर्णि	गुण २७१	८२-८४ शत्यक, अनंगर और
धार्यों के गुण २५८	४७ मुद्रादि की हरी पलियों	सर्व के गुण २७२
९१ मीहिधार्य के भेद २६०	के गुण २७१	८५ श्राम्य प्राणी २७२
१०-११ मीहिधार्य के सामान्य	४८-५० गुमुस्त, अलंडी और	८६ श्राम्य प्राणियों के सा-
गुण २६०	सरसों के गुण २७१	मान्य गुण २७२
१२-१३ मीहिधार्य के गुण २६०	५० त्याजय धार्य २७१	८७ इग्नल गुण २७२
१४ कुण्ठा औरि के गुण २६०	५१ नवीनशीरविहृ धार्यों	८८ गेप और भेद पुरुषों पे
१५-१६ भूमि भेद स शाम्भवादि-	के गुण २७१	गुण २७२
धार्यों के गुण विशेष २६७		

पुष्पकासीस	२७६	प्रतितूरी	३२७, ३२८	प्रमेह, कफज, नाम और साध्यता ३४८
पुष्पर्ग	२६०	प्रतिपत्ति	६४	, कफगुण और कफज प्रमेहों का संबंध ३४८
पुष्पित (अरिष्ट)	१८०	प्रतिमर्शी	१६५	, पित्तज, नाम और याप्तता ३४८
पुस्त	५२, ११४	प्रतिलोम (आलेप)	१११	, वातज नाम और असाध्यता ३४८
पूरीफल	२८४	“ (शल्य)	१६६	, ३४८, ३४९
पूर्तिविष	१५२	प्रतिवाप	६०	
,, के जीवाणु और लक्षण	२७८	प्रतिसारण (अग्रिकर्म)	६६	
पूर्ण, संगठन	१०६	प्रतिसारणीयचार	५८	
, संप्राप्ति	१०६	,, चवाने की विधि ५६, ६०		
, जीवाणुरहित	१०६	,, के मृदु, मध्य, तीक्ष्ण भेद		
पूर्यजनक जीवाणु	१०६			
पूर्यभवन	१०६	,, रासायनिक विवरण		
पूर्यवर्धन द्रव्यर्ग	१२१	,, योग्य रोग	६३, ६३	
पूर्वकर्म (शास्त्रक्रिया का)	२१	,, अयोग्य रोगी	५८	
पूर्वरूप	१३६, १६७	प्रतुद, निरुक्ति	२७२	प्रमेहपिङ्का १८७, ३४८
पृथिवी की गति	२७, २८	,, वर्गी	२७४	, संख्या ३४२, ३४३
,, की आकर्षणशक्ति	३६४	प्रतोली वंध	११३, ११४	, स्थान ३४३
पैदा	२६५	प्रत्यक्ष प्रमाण	६	, हेतु ३४३
पैदी	३२३	प्रत्यष्ठीला	३२८	, लक्षण ३४३
, उदरच्छुदा आदिमा	३८४	प्रत्याधामान	३२८	, स्थानानुसार असाध्यता ३४३
, उरकर्णमूलिका	३२६	प्रधमन	४४, १६५	, उपद्रव ३४३
, शुद्धसंकेचनी	३२६, १८७	प्रधान कर्म (शास्त्रकर्म)	२१	प्रमेही व्याख्या ३४४
, दराडक	३२४	प्रनश्टशल्यविज्ञानीय अध्याय	१६१-१५६	प्रवाहण ४३, १६६, १६७
, फलकोपकर्षिणी	३८८	प्रपद	१६३	प्रशमन १०६, १११
पैशीगत शाल्यलक्षण	१६२	प्रभा, अर्थ और प्रकार	१८१	प्रसन्ना (सुराभेद) २६२
पौधकी	४५५	,, और द्वाया में भेद	१८१	प्रसरावस्था १३७
पौरुष, अर्थ	३३६	प्रभापणीय अध्याय	१६-२१	, पन्द्रह भेद १३७
पौष्टिकावतन्त्र	२१	प्रभाव	२१६	, लक्षण १३८
प्याज	२८७	,, व्याख्या	२२४	प्रसव, काल ३६५
प्रकाश, सूर्यप्रकाश देखो		,, विवरण और उदाहरण	२२५	, काल के कारणों का विचार ३६३, ३६४
प्रकृति (मतुष्यों की) त्रिविधि	१३०	प्रमाण (प्रत्यक्षादि)	६	, काल्पनूर्व ३६५
,, सत्त्विधि	१७६	प्रमाद दग्ध, प्रकार और लक्षण	६७	, कालातीत ३६५
,, के अनुसार अनुपान	३०१	,, चिकित्सा	६८, ६६	प्रसवकालमर्यादा, तुलनात्मक कोष्ठक ३६५
,, के अनुसार आयुर्मीन	१६२	प्रमार्जन	४४, १६५	
प्रकृति (द्रव्यों की)	१२४	प्रमेह, निरुक्ति	३४८	
प्रक्षोपावस्था, लक्षण	१३६	,, के भेद करने का कारण	३४८	
,, और संचयावस्था में		,, के भेद होने का कारण	३५४	प्रसव योग्या, पुस्त का उपयोग ५२
भेद	१३७	,, हेतु	३४७	प्रसह धर्ग ३७४
प्रक्षालन	४४, १६५	,, और खियाँ	३४७	, निषेकि २४२
प्रच्छान	४८, ७१	,, संप्राप्ति	३४७	प्रसुति ३६१
, विधि	८४	,, पूर्वरूप	३४७	प्राणत रोग ३५, १५२
प्रत्यसमांतर	२६६	,, सामान्य लक्षण	३४८	प्राणवायु (दोष), स्थान और कार्य ३१६
प्रतिष्ठिर	२६१, ३६२	,, निरोग्न	३४८	
प्रतिष्ठिर	१८१			

प्रादृग्रातु और क्यों का संबंध	२६	बद्धम	२६२	यहमूल में	१४६
प्रायक्षित	१६,३३	बृक्ष	२८२	बदेश	२१४,२४०,२५४
प्रियक	२७२	" शूल	२८०	" की सीधु	२६२
प्रियाचार्यादिगण	२१३	बदिश	६३,४८,५०	बाण, शन्यतन्त्र में महत्व	१६१
प्रियान कल	३८१	बडिरामुखी	४१	बादाम	२८१
" मच्छ	-	बथ्यामुखी	१ -	बार्थिय	१२०
प्रोग्रेस ७६,१३२,२६-		बै	३८८	बान्दा	२१०,२८८
" यारी में कार्य	३१२	बद्धगुरुदेव	३४८	बाल (केश), उपयोग	४३,४१
" माय और दाल के प्रोटीन में		संशासि और देतु	३४८	" कामने के लिये नियम	१४
फर्क	२८२	" अर्हो में उत्पत्ति	३३१	" जनक सेप	४३
झवरी	२७६	बंद, सम्ब्य और नाम	११३	बाल (दिशु) अथ सेवन संबंधी	
झींदा, कार्य	३५७	" के स्थान	११३	कुछ नियम	२००
" इकोलेटि से स्वप्न	५७	" विविध बंध बोधने की पद्धतियाँ	११३,११४,११५	" के लिये माता के दूध का	
झींदोदर, हेतु और लघण	१४५	बोधने की साधारण पद्धतियाँ	११३	महत्व	४०
झींदविधि	३६६	बंधन कर्म	४४	" के लिये मातृत्व का महत्व	१४४
ज्ञुष (दम्भ)	६७,६८	" योग्या	५३,११४	" के लिये अग्रिकार का नियेष	२०१
" चिकित्सा	६८	" के लिये योग्य विकार	११३	" के लिये देस माल करने वाला	
फ					
फलबर्गे	२८०	" के लिये अयोग्य विकार	११५	मनुष्य	४६
फल, सेवन के लिये अयोग्य २८४,२८५		" कर्म का फल	१११,११८	" के लिये ओवधि मात्रा का	
" साधारण गुण २८१,२८२,२८३		" न करने का फल	११८	प्रमाण	३०१
" में ऐषु फल	२८४	" प्रश्न, दोष और स्थान के		बालवद्य, व्याह्या, तीन अवस्था और	
फजी	२८८	अनुसार	११५,११८	उनका प्रमाण	२००
फायित	२११	बल, व्याह्या (औल औ देसो)	५३	बालपिक्निमा	५
" मनुकु उच्छ्रव	२६३	बल की विविधता	२०१	विडलवण्य	२८३
कारट	२४२	" आनने का उपाय	२०१	विद्विका	४११
कालस्था	२८२	" का चिकित्सा में महत्व	२०१	विम्बी	२८१
कीष, चिकित्सा के लिये लेने का		बलाय	४११	विलेशय, अर्थ	२७२
नियम	५,५७	बलि	१२२	" वर्ग	२४४
किंग, प्राचीन प्रयोग का वर्णन	३८६	बसन्त रोग, मसूरिका देसो		विल्व	२८३,२८४
" कीवाणु	३८६	बत्ति (मूत्राशय) वर्णन	३३६	विवाह	३४४,३४३
" की अवस्थाएँ और उनके		" के द्वार	३३७	वीज (मूत्राशय)	३६१-३६२
लघण	३८६,३८७	" में गृह तर्पण	३३७	बुक	३६६
" कुन्ज	३८७	बत्तिशिर	३३६	बृहतीद्वय, अर्थ	२०६
" और उपदण्ड का अन्तर	३४७	बलियुदा	३३७	बृहती शाक	२८६
पुष्कुर्यात रुक परिघ्रमय	८१	बलिमर्म	३३७	बृहद्यादिगण	२१२
" में रुक शुद्धि	८१	बलिविद्धि	३६६	बृहदण्डव्य, व्याह्या	२८७
केनोद्द	३४०	बा न्द्र	३६	" सपठन	२२७
ष					
बहुती, दूध	२५०	उत्तर	३६	" और विरेवन के सम्बन्ध	
" दही	२५३	मालवन्त	५३	का तरतम विचार	२२७
" धी	२५५	गहरापन	३२४	बृहद्यादिति	६७
" मूत्र	२६४	बहिपरिमार्जन	१४४	वेर, प्रकार	२१५
" माय	२७५			" शृण	२८०

मस्त्य के तेल के गुण	२५८, २७८	मधुमेह में गव	२७०	मल, चयानुसार अभिलिप्त प्रव्य	६६
मस्त्यपिण्डका (शर्करा) गुण	२६१	“ में जामुन	२८३	“ शुद्धि लच्छण	६३
मदनफल, वायक द्रव्यों में घेष	२६३	“ में सूखे भेवे	२८३	“ जन्य विकार	१५५
“ वायक मात्रा	२३४	“ में सागसजी	२८९	मलभरा कला	१६८
“ विविध योग	२३४	“ में ब्रह्मों की असाध्यता	१४५	मलाई	२४५
मष वर्ग	२६२	“ मूँछों में गथपरीचा	५६	मपक	२६७
“ गुण	२६२	मधुमेह, अर्थ	१५४	मसूर	२६६
“ के रस	२६२	मधुरस, लच्छण	२३०	मसूरदलमुखी	४१
“ विविध के पृष्ठक गुण	२६२, २६३	“ गुण	२३०	मसूरिका, निरक्षि	३४४
“ नवीन के गुण	२६३	“ द्रव्यवर्गी	२३१	“ पर्याय नाम	३४४
“ पुरोने के गुण	२६३	“ में घेष द्रव्य	२६४	“ इतिहास	३४४
“ दोषयुक्त	३६४	“ संगठन	२२६	“ प्राचीन प्रैयोक्त वर्णन	३४५
“ की प्रशास्त्रता	२६४	“ अधिक सेवन करने का फल	२३०	“ जीवाणु	३४५, ३६
“ मद उत्पन्न करने का तरीका	२६४	मधूक, पुष्प और कल	२८३	“ निदान	३४५
“ मद की तीन अवस्थाएँ	२६४	“ तेल	२५७	“ वय और श्रातु	३४५
“ प्रकृत्यनुसार मद उत्पन्न होने का काल	२६४	“ आसव	१६३	“ प्रमार के मार्य	३४५, ३६
“ प्रकृत्यनुसार मद की विशेषताएँ	२६५	“ फागित	२६२	“ संप्राप्ति	३४५
“ का प्रकृति निर्दर्शकत्व	२६५	मधुलिका	२६२	“ प्रकार	३४५
“ ग्रन्थी के लिये नियेत	१२२	मध्यवय, विभाग और मर्यादा	२००	“ चार अवस्थाएँ	३४५
मधु, गुण	२५८	मध्यासव	२६३	“ रक्षानी	३४६
“ संगठन	२५८	मन, के दोष	८, १५१, ११६	“ सौम्य	३४६
“ उपयोग	२५८	“ जा कार्य	६४	“ उपद्रव	३४६
“ परीक्षा	२५८	“ इन्द्रियार्थ प्रहण में	१७६	“ सावधासाध्यता	३४६
“ प्रकार और लच्छण	२५८	“ खम और निदा में	१७७	“ और लघुमरुरिका में	
“ नव पुराणादि के गुण	२५८	मनुव्यायी	१४८	अन्तर	३४६
“ का योगाधित	२६०	मन्य, व्याह्या	२६८	मस्तिष्क, कार्य	८०, १३३, ३२८
“ उषण से विरोध	१२६, २६०	“ विविधद्रव्ययुक्त के गुण	२४८	“ केद	३२४, ३६४, ३७५
“ धमन और निलूप के लिये उषण प्रयोग	२३३, २६०	मन्यन	२२	“ खसन का	६६
“ पुराणत्व	२०८, २६०	मन्दगुण	३०६	“ बोलने का	३२५
“ शूदण के लिये नवीन का प्रयोग	२०८	मन्यासाम	३२६	“ गति का	३२५
“ जन्यमासाभीष्ट की असाध्यता	२६०	मयूर (मोर)	२७३	“ उष्णानानियामक	७०
मधुरार्द्ध	२६१	मरक, अर्थ (मनपदोदूषस भी देना)	३२	“ में रक्षाद	१५३, १२४
मधुयुक्त	२६५	“ देह	१२	“ में रक्त की कमी	८४
मधुमल्क	२६६	“ परिहार	१३	“ में रक्त की कमी की विकिसा	८६
मधुमेह	२६६	मरिच (काली)	२०६	मस्तिष्क विधि	३६६, ३७०
“ राम की वार्षेकता	३५१	मर्म, अर्थ	२२, ६४, ११४	महाबुध	३४३
“ संप्राप्ति	३५१, ३५२	“ निद के सापान्व लच्छण	१५६,	महापद	७२
“ में भूम	३५१	“	२६३	महावनी	७६
“ अवास्त्रा	३५४	“ विशेष्य	१७०	महामूर्त	१२८, ३१८
“ में गुण	३५४	“ गत शब्दा लच्छण	१६३	“ के गुण	१२८, ३१८
		मल, नाम और सत्त्वा	८८	“ इनी द्रव्यों की उपति	२२५
		“ के कार्य	८८	“ अधिकतानुसार पार्यवादि	
		“ दृश्य लघ्यण और विकिसा	६१	“ गेद	३४५, ३२६

महाभूत वमन विरेचनादि इव्यों में	मांस, आहार के अनुसार पक्षियों	मूढगर्भ असाध्य लक्षण १८८, ३६३,
इनका प्रमाणा २२७	की गुरुलघुता २७६	३६५
,, इनकी उपस्थिति के अनुसार	,, वर्गानुसार गुरुलघुता २७६	,, अवस्थानुसार चिकित्सा का
। रस का घटिधत्व २२६	,, गुरुलघुता का सामान्य विचार २७६	तत्त्व ३६६
,, द्रव्यात् भूत निर्देश का	,, में श्रेष्ठ मांस २६४	उद्दरविपाटन से निकालने
तत्त्व २२८, २३३	,, विरोधी पदार्थ १२६	की पदति ३६७
महामारी ३२	,, और दाल में पचन का अन्तर २७२	, की शक्तिक्रिया में भोजन
महाश्वेता २११	,, के आहार का अनुपात ३०१	का निषेध २४, ११०
महाशौद्धि ४०६	,, सेवन और कैन्सर का संवर्ध ३८०	मूत्र, शरीर में उत्पत्ति ३१४, ३२७
माता रोग, मसूरिका देखो	मांसरस २६६	,, शरीर में कार्य ८८
माता से बालक में होने वाले	,, का शोरवा २६६	,, ज्यय लक्षण ६१
दिकार १५०, ३८८	मांसजन रोग १५४	,, ज्यय में उपयोगी द्रव्य ६१
,, बाल के प्रति अव्यभिचारी	मांसविद्ध लक्षण १६०	,, वृद्धि लक्षण और चिकित्सा ६३
त्रैम ३७५	मांसगत शल्य लक्षण १६२	,, शामरी में ३३८
,, के दूध का बालक के लिये	,, की परीक्षा १६३	,, प्रेमहों में ३४८, ३४६, ३५०
महत्त्व ६०	,, निकालने की रीति १६४	, में शर्करा के कारण ३५१
मातुलुंग २८०	मांसजातीय द्रव्य, प्रोटीन देखो	, की अधिकता के कारण ३४६
मात्रा (समयविभाग) ६१	मांसतान रोग ४०६	,, परीक्षा ५६
मात्रा (श्रोषिधप्रमाण) २०१	मांससंघात रोग ४१२	,, परीक्षा के लिये चीटियों का
मात्स्यन्याय १६०, २७७	मांसार्दुद ३७६, ३८०	उपयोग
मानविरुद्ध १२७	मिन्मनत्व ३२७	मूत्रदोष, स्थान ३३८
मानसविकार, व्याख्या	मिश्रक अध्याय २०४-२०६	मूत्रसंग्राहक, अर्थ २८२
,, नाम ८	मुख, शल्यतन्त्र में उपयोग ४३, १६५	,, कर्म २८२
,, कारण ६, १५१	मुखदूषिका ३६७	मूत्रल ६४, २६०, २६१
,, पचन पर परिणाम ३०६, ३०७	मुखपाक ४१२	मूत्ररोग, प्रकार ३३८
,, स्तन्य पर परिणाम ३७५	मुख रोग निदान अध्याय ४०४-४१२	मूत्रकृच्छ्र ३२३
,, मूत्र पर परिणाम ३५०, १५२	मुचुड़ी ३७	मूत्राधात ३३८, १८६
,, चिकित्सा १२	मुद्र	,, और मूत्रकृच्छ्र में अन्तर ३३८
,, में उन्मादादि का समावेश	मुद्रिका ४६	मूत्रावरोध ३३८
का कारण ८	मुरगा, कुकुट देखो	मूत्रशोष ३३८
मार्गविशेषण	मुरलमत्स्य २७७	मूत्रजठर ३४५
माप (रोग) ४४	मुर्कादिगण २११	मूत्रज (वृषण) वृद्धि ६३, १५७, ३५६
माप (धान्य) ३६७	मुस्तादिगण २१४	,, संप्राप्ति ३८३
मांसवर्ग	मुँहासा ३६७	,, लक्षण ३८३
,, के विभाग २७२	मूकत्व ३२७	,, दीपपरीक्षा ३८३
,, तुलनात्मक कोष्ठक	मूँग २६६	,, गल निकालने की विधि ३६, ४७
मांस, गुण २६६	मूढगर्भ निदान अध्याय २६०-२६७	मूत्रजृद्धि यन्त्र ३६
,, संस्कृत के गुण २६६	मूढगर्भ, व्याख्या ३६०, ३६१	मूत्रमार्गविशेषणी ४१, ४२
,, सेवन के लिये अयोग्य २७८	,, हेतु ३६०	मूत्रविषयमयावस्था १८३
,, सेवन के लिये शैय २७८	,, कीलादि चुम्पिंघ प्रकार ३६१	मूत्रवर्ग (श्रोषिधि) २६५
,, से होने वाले रोग २७८	,, गति की असंल्येषता ३६२	,, अष्टविधि के गुण २६५
,, शैय और धातु के अनुसार	,, त्रिविधि गति ३६२	,, श्रोषिधि प्रयोग के लिये मूत्र
गुरुलघुता २७८	,, अष्टविधि प्रकार ३६२	प्रहण विचार २०८, २६६

मूली	२८६	मोतिया शीतला	१६६	योग्या, आर्थ्य	५२
“ यूप	१६७	मोरठ	२५४	“ देवनादि योग्या की वस्तुएँ ५२	
“ पत्र पुष्पादि की गुणवत्ता	२८७	य		योग्यामूलीय अध्याय ५२-५३	
गुणवर्ग, लंगाल देखो		यहूद, रक्त की उत्पत्ति से संबंध ७७		योनिवाहेच्छण दन्त ५०	
मृगामातृत्वा	२७१	“ रक्षश्वास और पाण्डुरोग में		योनिसं(शृति)वरण १५८, १६३	
मृत्यु, सत्त्वा	१८६	सेवन ७७, १११		यीवनपीड़िका ३६७	
“ काल और अकाल	१८६	यहूदान्तुदर ३५७			
कर्मन	१८४	“ और झीलोदार का संबंध ३५७		रक्तसा दुष्ट ३४३	
“ के सामान्य कारण १८८		यहूद विद्विति ३६१		रक्त, व्याह्या ५७, १११	
“ और अरिष्ट का संबंध १८९		“ में लंगाणु रहित पृथ १०६		उत्पत्तिस्थान ५७, ११४	
मृदुगुण	३०६	यंग का और पवित्र मात्रा का नियम २०१		यनावट ५७	
मेद (पातु), स्थान	६२, २५८	यन्त्र, व्याह्या ३६		कार्य ८३, ८६	
“ घय सद्गण ६०		“ के उद्देश्य ३६		विशुद्ध स्वरूप ८४, ११५	
“ हृदि लक्षण ६२		“ के प्रकार ३६		“ को दोष मानने का कारण ८, १३०	
ओदोइदि (स्त्रील्य), संप्राप्ति,		“ की संहवा ३५		प्रकोप के कारण ११६	
लक्षण, चिकित्सा ६६, २०१		“ के लिये धातु ३६		“ के दोष ८४, ११४	
“ जन्य उदर ३५४		“ की वनावट ३६, २७		दोषानुसार दूषित के लक्षण ८२	
“ के लिये अनुगम ३०१		“ के कार्य ४४		की चारीयता ८४, २६१, ३६१	
मेदोज विकार	१५४	“ के दोष ४४		चय के लक्षण ८०, ८६	
मेदोजुर्दि	३७६, ३८०	“ में कान्दमुख का प्राथान्य ४५		चय दी चिकित्सा ८६, १०७	
मेदोजल (नेत्र का)	१३३	“ में हस्त का प्राथान्य ३५, १६		हृदि के लक्षण ८२	
मेदोइदि (हृषण की)	४६, ३८३	यन्त्रविधि अध्याय ३५-४५		घर्षन इच्छा ८७	
“ की संप्राप्ति ३८८		यन्त्रविधि २२		“ और पिता का संबंध १४	
मेदशतीय पदार्थ ५६, १३३, २५८		यमकंध ११३, ११४		“ दूषित न मिकालने का परिणाम ८४	
(लेट भी देखो)		यत २७०		शारीर का आधार और मूल ८८	
मेदशतीय पदार्थ का कार्य ११२		“ के विविध योग और उपयोग २७०		रक्तकण ७७, ८३, १०८	
“ के लिये पाचकद्रव्य ३१३		“ से मानून बनाने की विधि २७०		रक्तजंक द्रव्य बनावट और कार्य ७७,	
“ का संग्रह १३३, २५८		यवद्वार २६३, २६४		८३, ८४, ३१३	
“ आन्त्र से योग्यण		यवप्राण्या ३६१		रक्तस ८७, ८०	
मार्ग ७६		यवमुखी सूची ४६		रक्तप्रिण्यमण ७६, ८१, ३१४, ३२०	
मेद पुच्छ	२७४	यवागू २६५		“ के दो विभाग ८१	
मेय	६२, २७४	यवातसरकरा २६१		रक्तलम्भन (जमना), सामाविक	
मेदा	२७५	यटिकण्ठ १००, १०१		तरीका ८३	
मेधुन, व्याह्या	१२५	याद्य व्याधि ५६, १४५		“ कुलिम स्थानिक उपाय ८३,	
“ बयानुसार नियेष	५	युक्ति (प्रमाण) ६		८६, ८७, ४३	
“ वरणी के लिये नियेष १२१		युक्ति (योग्यता) २२६		आभ्यन्तरीय उपाय ८६	
“ जन्य व्याधि ३८६		युक्तोत्तीय अध्याय १८४-१८२		रक्तविशावण, दो पदातियाँ ८४	
“ जन्य व्याधि के नाम और वर्णन ३८६-३८८		युग २६		विज्ञावण भी देखो	
मेय	१२३, २६३	यूप १७८		रक्तविशावण, में अल्पस्थान के कारण	
मोरस	११३	यूप २१७		(और परिणाम) ८४	
मोठ	२६६	“ कृत और अहन २१७		“ में सावधिक्य के हेतु	
मोतियादि, आदिवलप्रौति	१५०	“ अन्य विधि प्रकार २६७, २८८		“ और परिणाम ८४	
“ की शालाका ४८		योगवाही २६०, २१२		“ के लिये योग्य अवस्था ८४	

रक्तविश्वावण योग्य विधि का परिणाम	५५	रज लक्षण	६१	रसशेषाणीर्ण	३०७,३०८
„ में अल्पव्याव की चिकित्सा	५५	„ चय चिकित्सा	६२	रसक्रिया (व्रण की)	२०५
„ में स्नावधिक्य की चिकित्सा	५५	„ वृद्धि लक्षण	६३	रसांगन	२१३
„ के लिये अयोग्य रोग और रोगी	५४	रजोगुण	६१,१३७,१५१	रसायन, व्याख्या	१७१,२४०
„ के शब्द	४८	रजजु	४२,४३	रसायनतन्त्र	५
„ में रक्त निकालने का परिमाण	५७	रंजकपित्त	७७,१३३	रसाला	२६८
रक्तव्याव, शरीर पर परिणाम	५४	रस (आहाररस) निहिति	७६,८०	रसोन	२८७
„ जलौकाजन्य के कारण	७४	„ व्याख्या	७५,७६	„ व्युत्पत्ति	२८७
„ जलौक जन्य की चिकित्सा	७५	„ का हृदय में पहुँचने का मार्ग	७६	„ संगठन	२८७
रक्तदर्शन से मूर्छा	२३	„ का स्थान	७६	„ उपयोग	२८७
रक्तव्याहिनियों, तीन प्रकार	८१	„ की गति	७६,७७	रात्स	१२२
रक्तगुल्म, सुखसाध्यता	५६,२०३	„ का रक्त बनने का स्थान	७७	राग	२६८
रक्तचन्दन, कथय और लेप में प्रयोग	२०४	„ से धातुपोषणक्रम	७८,७९	रागयाडव	२६७
रक्तपाक	१०८	„ की धातुओं में प्रवेश करने की रीति	८०,८१	रामा धातु	२६४
रक्तपित में अतुपान	३०१	„ पोष्य और पोषक भेद	७६	राजयक्षमा, जीवाणु	१०६,३७८
„ में अरिष्ट	१८२,१८३	„ से अन्य धातुओं के उत्पत्तिकाल	८०	„ शरीर में प्रवेशमार्ग	३७८
„ में अशुभ स्वप्न	१७८	„ का कार्य	७६,८६	„ सहायक कारण	३७८
„ में असाध्य लक्षण	१८८	„ जीणता के लक्षण	६०	„ के स्थान	३७८
„ में ज्ञात प्रयोग	५७	„ वृद्धि के लक्षण	६१	„ के लिये हितकर हवा	१२६
रक्तप्रदर, लक्षण	३२०	„ का स्थौल्य और कार्य से संबंध	६६,	„ में आदिवलप्रवृत्ति	१४६
रक्तमद	७४		६७	„ में बकरी का दूध	२५१
रक्तमला	७७,७८,२५८	„ संवहन, रक्त परिप्रमण देखो		„ में धूपन का प्रयोग	४०
रक्तमेह	३५१	रसजन्य रोग	१५४	„ में मक्खन	२५४
रक्तज (वृषण) वृद्धि	३८२	रस (द्रव्यगुण) व्याख्या	२१६	„ में नारियल की गरी का दूध	२८२
रक्तार्थुद	३७६,३८०	„ कार्य करने की पद्धति	२१६	में काढ़लिवर तेल	२८३
रक्तार्थ, वरणी का	२५,१२३	„ और अनुरस	२१६	में पुरीष का महत्व	८६
रज (आर्तव)	७८	„ की उपलब्धि	२१६, २२०	मांसादि धातुओं की अनुत्पत्ति	१४५
„ प्रथम दर्शन काल	७८	„ प्राधान्य का विवरण	२२१	के अशुभ स्वप्न	१७८
„ यनावट	७८	„ का घडविधत्व	२१६, २२६	की असाध्यता	१८८
„ की अवधि	७८	„ पृथक् २ शुण कर्म	२३०, २३१	में भगन्दर की असाध्यता	३४०
„ की अप्रशृति के स्वाभाविक कारण	७८	„ के ब्रेसठ संयोग	२३३		
„ और शुक का सादृश्य और अन्तर	७८	„ के अनुसार द्रव्य निर्देश करने का तत्त्व	२३३,३४२	जन्य व्रणों की असाध्यता	१४५
„ के कार्य	८६	„ का दोषहरत्व	१८२,२२२,२२६	„ ग्रंथिक	३७८
„ की उत्पत्ति और स्तनादि वृद्धि का संबंध	८२	रसविप्रपत्ति	१८०	रागा से वैद्य व्यवसाय के लिये अनुशङ्खा	
„ और शुक का सादृश्य और अन्तर	८१	रसविशेष विज्ञानीय अध्याय	२२८-२३३	„ की रक्ता करने के स्थान	१८८
„ की उत्पत्ति और स्तनादि वृद्धि का संबंध	८८	रसकृत रोग (गर्भिणी के)	१५०	„ का नाश होने से सब का नाश	१६०
„ और गर्भोत्पत्ति का संबंध	८८,८९	रसविरुद्ध	१२७	„ की रक्ता करने के उपाय	१६०
„ स्त्रा और लौबीज का संबंध	८१	रसपरीक्षा (रोगविज्ञान में)	५४,५५,५६	„ को देवता मानने के कारण	१६०
		रससेवनसंबंधी नियम	३०६	राजादान	

राजमात्र	२६६	लघु मस्तिका	३६६	लोह उत्तमादि की कालमर्यादा	११८
यगिना	३६१	,, मस्तिका से अन्तर	३२६	लोप्रादिगण	११०
रिह, अरिष्ट देखो		लता कल्पिका	२८४	व	
स्वपुण	३०६	लबण्यरस, संगमन	२२६	वचादिगण	११२
स्थाया, स्थाया, स्थग	३६५	,, लच्छण	२१०	दनस्पति, व्याह्या	१०
स्फु	२७६	,, शुष्ण	२३१, २६२	वेषा	३८४
स्फप्त्रहया की गुकि (नेत्र की)	१३३	,, वर्ण	२३२, २६२	वमन इथ्य में घेषु फल	३३३
स्फप्त्रशिरिपति	१८०	,, अधिक सेवन का फल	२३१	,, के लिये डाकित भूमि	२०७
देवाचिनी	१७२	लकड़ा में घेषु लकड़ा	२५४	,, का महाभूतात्मक संगमन	३२२
देहनमन	२१३	लकड़ा में इ	३५०	,, के विविध योग	२४४, २४५
रोग, व्यापि देखो		लदनी	२८३	दमनदूर्घटिक्लृप्तिविहानीय शायाय	
रोगविकान के उपाय	५४, ५५	लक्ष्मन (लक्ष्मन), रसोन देखो		२३३-२३४	
रोगवाहक कटि	२५, १२२, ३४७	लसिका प्रयि	३४८	वमन, अव्याय सक्षण	३५८
रोगवार्ष	३४१	लसिका धातु	५०, ५१०	,, में लोकों का प्रयोग	७८
रोगी, शुण	१४७	लाक्ष्मदिगण	२१५	,, की इष्टाका सक्षण	२३४
,, के शुभाशुभ के सूचक	१७३	लाजमधाद	२६५	,, के लिये उपर्युक्तु का सेवन	३३३
,, के वर के शुभाशुभ निषित	१७६	लाजमधुक्तु	३००	वय, व्याह्या	२००
रोगी शह	११६, १२०	लाजा	३००	,, की विविधता	१६६
रोगादिगण	२१०	लाज्जन	३६८	,, के अनुसार ओपरिमात्रा का	
रोपण एत (दम्प के लिये)	६६	लालकण (रक्त के) आकार और		प्रमाण	३०१
,, दम्प कल्पादि के लिये २०४, २०६		संह्या	७७	,, के अनुसार स्वामानिक दोष	
रोमनक लेप	४३	,, प्रतिदिन नाश	५०	प्रावद्य	३०१
रोमान्त	१४४	लाला	५६, १२०, १२२	,, शान विश्वान हृदि का संवेष	१६३
रोपक	२६३	,, काँये	३११, ३१३, ३१४	वय स्थापन	१
रोमानिका, लक्षण	२६७	,, प्रापि, कर्णमूलिक	३६२	वगाहदूर्	३५१
,, के प्रकार	३६७	,, प्रापि, लिङ्गाधीय	४०६	वहगानदिगण	१०६
,, के उपद्रव	३६७	लालामेह	३४८	वर्ण (शारीर का)	१६१
,, केवले का मार्ग	३२	लावण्यादी	२७३	,, के प्रकार	१६१
,, कारण	३३, ३६७	लिंगमारावेषनी	४८	,, का अरिष्ट १८०, १८१, १८२	१८०
रोपण धातु	१४७	लिंगर्णी	३१३, ३८८	वर्णसकर, अर्धे और हेतु	१८०
रोद्दृश्य	१४६	लूटा दंडा	४८	वर्तन (गवर्तनम्)	४४
रोहितस्त्र	२५४	सूखना	५०	वर्त्ति विकेन्द्रिया भी देखो	१४
रोहिणी, दोषानुग्रार सक्षण	४१०	लेखन (शाकबद्ध)	२१, ४८, ५१	,, संतोषक के दम्प	३०२
मारक कल्प	४१०	,, योग्या	५१	,, रोपण के दम्प	१०२
,, का अवायु	४१०	,, के राय	४८	वर्तन रोग	७०६
,, संशासि, लक्षण	४१०	,, योग्य विकार	१५७	वर्तन (कान का)	१००
,, उपद्रव	४१०	लेखन (शुष्ण) धारणा	-२१०	वर्धमाना	१०८
,, प्रसार के मार्ग	४१०	,, महाभूतात्मक संगमन	३३४	वर्धन धूत, वर्द्धन	३१४
		,, वर्त्ति	५६	,, में ओपरिमात्रा शब्द	१
ल		लोक, अर्धे और प्रदार	८	,, के मार्गन में लान्तिरित शब्द	
लक्षण	११३	लोह, अर्धे	११२	,, लेखन का नियेष	१४
लघुत मिठ्ठी	१५	लोह, अर्धे	११२, ११३	,, में लेखन शब्द उपेन का	
,, रोपण	१५	,, शुष्ण	३४८	नियेष	१४४
लघु शुष्ण	१०१	लोह मत्र शुष्ण	११४		

वर्षोन्नति में पीने योग्य जल	२४४	वातव्याधिनिदान अध्याय	३१८-३२८	विदारिका	३६३
वलय (दाह)	६६	वातसंशमनवर्ग	२१८	विदारिगन्धादिगण	२०६
वलय रोग	४११	वातकरटक	३२७	विदाही द्रव्य	१३६, २६१, ३५७
वल्हीकर्णवंघ	१००, १०१	वातकुरांडलिका	१४५	विदग्धाजीर्ण	३०७
वल्लूरक, अर्थ	१००	वातवलासक	३१२	„ लक्षण	३०८
वसन्तन्त्रस्तु, वर्णन	३४	वातवलास	३२१	„ चिकित्सा	३०८
„ में पीने योग्य जल	२४४	वातरक,	३२१	„ मैं शीतलजलपान	३०८
वसा, मेंदजातीय पदार्थ और स्नेह देखो		„ हेतु-	३२१	विद्रधि, निहक्ति	३६७
वसामेह	३५१	„ संप्राप्ति	३२१	„ व्याख्या	१०७
वसिर	२८३	„ दोषानुसार स्थानिक लक्षण	३२१	„ संप्राप्ति श्वैरं संख्या	३६७
वस्त्र, उपयोग	४३	„ सार्वदेहिकलक्षण	३२२	„ वायू और आभ्यन्तर	३६७
वाजीकरण, व्याख्या	२५०	„ स्थानिक और सार्वदेहिक		„ वायू और आभ्यन्तर का	
„ का अधिकार	५	पूर्वज्ञप	३२२	अर्थ	३६८
„ ओपथि	८१	प्रारंभ स्थान और प्रसार	३२२	वातजादि वायू के लक्षण	
वाजीकरणतन्त्र	५	उत्तान और गंभीर भेद	३२२	३६७, ३६८	
वात (दोष), निश्फळ	५३०	उपद्रव	३२२	सत्रिपातज की असाध्यता	३६८
„ स्थान	१३०	साध्यासाध्यता	३२२	आभ्यन्तर, हेतु संप्राप्ति	३६८
„ के भेद	८८, ११८	में आदिवलप्रश्नति	१४६	आभ्यन्तर के स्थान	३६८
„ के शरीर में कार्य	८०, ११८	में श्रेष्ठ का उपयोग	२७४	स्थानानुसार लक्षण	३६८
„ का अव्याहतगतिव	३१८	में दाल का निषेध	२७२	साध्यासाध्यता	१८८, ३६६,
„ की रोगोनुण्डप्रधानता	१३७, १७	वातानुलोमक	२६३	३७०, ३७१	
„ का योगवाहित्व	२६	वाताधीना	३२८	स्तन	३७४
„ का रोगोनुपत्ति में प्रायान्य	१३७, १६	„ के अरिष्ट	१८३	अथिमज्जागत	३७१
„ का स्वप्न	३१८	वाणी, अर्थ	३४	मक्खि विद्रधि	३६८
„ के गुण	२२६	जलगुण	२४८	आभ्यन्तर के उदाहरण	३६७
„ के आवरण	३२०	वायवीय द्रव्य	२२६	विद्रधि और गुलम की विशेषताएँ	
„ आवरणायुक्त के लक्षण	३२०	वायुजनक जीवाणु	१५७	तथा भेद	३७०
„ चय के लक्षण	६०	वाराहकन्द	२६२	विद्रधि के लिये गुलम शब्द का चरक	
„ चय में अमिलियित द्रव्य	६५	वालुकैल लवण	२६३	में प्रयोग	३७०
„ चृद्धि के लक्षण	६२	वास्तु (गृह)	११६	विनमन	४४
„ ग्रकोपकारण	१२५, ३२१	वास्तुक शाक	२८८	विपरीतानिपरीतत्रणविज्ञानीय	१७१-१७३
„ ग्रकोपकाल	१३६	विकर्षण	४८	विपरीतानिपरीतस्वपनिर्दर्शनीय	१७३-१७५
„ आमपकाशय में ग्रकोप के लक्षण	३१६	विकाराजात	१५३	विपाल, व्याख्या	२२०
„ इन्द्रिय में	३१६	विकासी गुण	३०६	„ की उपत्तिभिधि	२२०
„ धातुगत	३१६	विकृति (रिष्टहृषा)	१७६	„ का प्रायान्य	२२२
„ सर्वशरीरगत	३२०	विकेशिका	२४, ११७, ११८	„ की अत्यमध्यभूषिष्टता	२२०
„ मिश्र के	३१६	विचर्चिका	३४३	„ के भेदों के संबंध में	
„ का कथायरस से साध्य	२२६	विज्ञान	१६३	मतमतान्तर	१३३, २२०,
„ का जगद् में कार्य	२६, १३१	विंडंग	२८४	२२२, २२३	
वातव्याधि, व्याख्या	३१८	वितानवंध	११३, ११४	„ विशेष	१२७
„ का वर्णन करने का		„ वांधने की रीति	११५	„ की गुरु लघुता और उसको	
कारण	३१८	विदारी	४१२	जानने के उपाय	२२८
„ संख्या	३१८	विदारी कन्द	२८१	विषादिका	३४३
„ असाध्यलक्षण	१८७			विप्रतिति, शब्दस्पर्शादि की	१७६, १८०

विवर बन्ध	११३,११४	विरोधन पदादि का	२४	शीरतांदिगण	११०
" बधने की रीति	११२	विजाची	३२६	वीष्य	१०
विमलापन	१११	विष (जीवाणु)	३२,३३,१२३	बीर्ह, शुक्र देखो	
विदोनि	३८५	विषगत वैरोधिक प्रशमन	५	बीर्ह (द्रव्यगुण), दो अर्थ १२५,	
वियोनिगर्भ	१५०	विषपाशक	१२३	" के प्रकार	२२०,२२१
विद्ध, व्याह्या	१२७,१२८	विषपुष्प	३२	" की उपलब्धि	२२०
" के प्रकार	१२७	विषमाशन	१२२,३०६	" प्रायान्य विवरण	२२१
" संयोग	१२५,१२६	विषमोपचार	१८४	" की कार्य करने की पदति	२२२
" कर्म	१२६	विषणा, शृग देखो		" के अष्टविष गुणों का महाभूषा-	
" मान	१२७	विषर्ति, (विषजुट), के लिये		स्वप्न संगठन	२२७
" रसायीविषाक	१२७	अनुपान	३०१	" विद्ध	१२७
" सेवनननित विकार	१२७	" के वर्षों की असाध्यता	१४५	इक, बरुन	३३७
" सेवनननित विकारों का		विषपुष्पामृत	५१	इक्षुल	३३६,३३७
परिद्वारा और विकित्सा	१२८	विषयोपचारि	३२	इच्छ, व्याह्या	१०
" से वर्चने के कारण	१२८	विष्कम्भ (मूडगर्भ)	३६१,३६२	इच्छादीनी	२१०,२८८
विषद्वोपकर्म	२६०,३४६	विष्क्रित, निरक्षि	२७२	इदावस्था	१६६
विरेचनद्रव्य वर्ग,	२१६	" वर्षी	२७३	" की वर्षमर्यादा	२००
" का भूमात्रक संगठन	२२६	विष्टव्याजीर्ण	३०७	" लचण और विकित्सा	३०८
" प्रदण के लिये उचेत		विष्वन्दन (मत्त्य)	२६६	" में ओषधि मात्रा का प्रमाण	२०१
भूमि	२०७	विसर्ग	२८,१३१	" अकाल का कारण	२५३
" में घेष्ठ द्रव्य	२३५	विसर्प	३६२	" में अधिकार का निरेष	२०१
" के मूलद्रव्य के प्रयोग	२३६	विसर्प, निरक्षि	३७३	इदावपदशालीपदनिदान अस्थाय	३८२
" त्वचा द्रव्य के प्रयोग	२४०	" सप्राप्ति	३७१,३७२		३६०
" फल द्रव्यों के प्रयोग	२४०	" स्थानीय	३७१	इदि (इषण की), व्याह्या	३८२
" दुग्ध द्रव्यों के प्रयोग	२४१	" सहायक हेतु	३७२	इषण इदि भी देखो	
विरेचनद्रव्य विकल्प विज्ञानीय अस्थाय		" वातागादि दोषग	३७३	" संख्या	३८२
	२३४-२४२	" इतन	३७३	" द्वैष्य	३८२
विजयन	५८	" अपि	३७२	" वातागादि के लक्षण	३८२
विनेता (दाद)	६६	" कर्दम	३७२	" मेंटोल	४६,४८३,४८८
विनेती	२४५	" अथि	३७२	" रक्त	३८२
विवरण	४४	" और अरची	३७३	" मूत्रज	३८२
विवर्तन	४४	" साधारणात्मका	३७३	" मूत्रग	३८२
विवाह के लिये योग्य क्षम्भूर १४८,१४९		" उपद्रव	३७३	" आन्त्रज	३८२
" सोयत्र और सपिङ्ग का		विषर्वनाडीतनरोगनिदान	३७१-३७६	" वपानान्य	३८२
निरेष	१४६	विषर्वनाडीतनरोगनिदान	अस्थाय	इद	४१
" निरिद कुल	१४६				
" पुरुष का वय	१४६	विषरेत्कुड़	३४३	इविकाली	३०६
विक्षा	३६१	विष्टोटक	३४३	इषण, रसना	४०
वियद गुण	३०२	" चर	३१	" का अन्त सार और उपका	
विद्युता, अर्थ	५३	विष्टव्य २१,४८,५१ एवं विवरण		चार्य	४३,४९,५५२
" के लिये देख दी देखता	५३	मी देखो		इषणकथु	५५२
विष्टव्यानुदरेशीय अस्थाय	३१-३७	" योग्या	५२	इषणप्रक्रिय	५५२
विहोपन	२१,१००	" योग्य विकार	१५७		३०३
" के द्रव्य	५२				

„ नया और पुराना	३८४	व्यंग (शारीरिक)	१५०	व्याधि, का मूल निदोष	१५३
„ राजयक्षमा और किरण		व्यंग (त्वरणे)	३६७	„ और दोष का संवंध १५५, १५६	
जन्य	३८४	व्यावायी गुण	३०६	„ की उत्पाति परम्परा	१५६
„ दोनों में पार्थक्य	३८४	व्याधि, व्याख्या .	८, १५६, २०३	„ के अधिष्ठान	६
अर्थुदजन्य	३८४	“ के हेतु	१६, १५२, १५३	व्याधिसमुदर्शीय अध्याय	१४७-१५६
प्रणालृद्धि	३८२,	“ विज्ञान के उपाय	५४, ५५	व्याधिसाम्य	२०२
„ के कारण	३८४	“ दो भेद	१४७, १५३	व्यान वायु	८८, ३१४, ३१६
“ से पीड़ित रोगियों की		“ चार भेद	२, ८	व्यायाम, व्याख्या	१२५
परीक्षा की पद्धति	३८४	“ सात भेद	१४८	“ से फायदे	१२६, ३०२
“ के कारणों का सापेक्ष		“ की असंख्येयता का कारण	१५४	“ का बल परीक्षा में उपयोग	२०१
विचार	३८४	“ अनुचंध या अप्रधान	१६७	व्यायाम साम्य	२०२
वृथ	२१४, २४०	“ अनुचंध या प्रधान	१६७	व्यायोजित कर्णवंध	१००
वैशिका	४२, ४३	“ अभावदर्शक	३१४	व्यूहन	४४
वैशुव	२६८	“ आकृतिमंक	१५१, १५२	ब्रणोपत्र अध्याय	१२६-१४१
वैतसपत्र	४७	“ आगन्तु	८	ब्रणालैपनवंधविधि अध्याय	१११-११६
वैदनाहर घृत	२६	“ आदिवलप्रवृत्त	१४८	ब्रणात्माविज्ञानीय अध्याय	१४१-१४४
वैदनाम	२४, ११०		१४६, १५०	ब्रणितोपासनीय अध्याय	११६-१२६
वैदेत्पति अध्याय	१-१२	“ उपसर्गज	१५१-१५२	ब्रण, निरुक्ति	१४१
वैदेत	२१, ४८	“ द्वौपसर्गिक	१६६, २४७	“ के अधिष्ठान	१४१
“ योग्या	५२	“ कर्मज, कर्मदोषज	१४४, ३४७	“ वंधन द्रव्य	११३
“ योग्य विकार	१५७	“ कालवलप्रवृत्त	१५१	“ के गुण	२३
“ के शब्द	४८	“ जन्मवलप्रवृत्त	१५०	“ पूर्व, पश्चात् और प्रधान कर्म	२१
वैक्षितक सीखन	१५८	“ दैववलप्रवृत्त	१५१, १५२	“ की तीन अवस्थाएं	१४६, १४७
वैसवार	२६७	“ दोपवलप्रवृत्त	१५३	“ की दुय्यवस्था के लक्षण १४२, १४७	
वैक्षीन	१२८	“ दौहिदापचारज	१५०	“ शुद्ध के लक्षण २६, १४६, १४७	
वैद्यर्म	४०८	“ धातुज	१५४	“ स्थूल के लक्षण २६, १४६	
वैदल वर्ग	२६६	“ नानात्मज	३७८	“ साध्य के लक्षण १४६	
“ सामान्य गुण	२६६, २७०	“ प्रकृतिप्रभव	१५२	“ रोहत के लक्षण १४६	
“ प्रत्येक के गुण	२६६	“ प्रत्याख्येय या असाध्य	५६, १६६	“ की परीक्षा में ध्यान करने की वातें	१४७
“ के भक्ष्य पदार्थ	२६६	“ प्राकृत	३५, १५२	“ शोधन के कथायादि आठ प्रकार	२०५
वैद्य का व्यवसाय	५३	“ प्राकैवल	१६६	“ रोपण के कथायादि आठ प्रकार	२०५
“ का चिकित्सा में महत्त्व	१६७	“ मानस	८	“ धूपन द्रव्य २४, ४०, १२३, २०५	
“ के गुण	१६१	“ याप्त	१६६	“ उत्सादन और अवसादन द्रव्य २०६	
“ के शब्द कर्म के लिये गुण	२३	“ शारीर	८	“ स्वामाविक वंध	१७२
“ की व्यवसाय करने के लिये		“ संघातवलप्रवृत्त	१५१	“ की शब्दस्पर्शादि की विकृति १७२	
राजाशा	१६, ५३	“ संसर्गज	१५१, १५२	“ व्रणवंध मोदन काल २६, ११८	
“ के प्रति रोगी का विश्वास	१६०	“ सामान्यग	२१८	व्रणवस्तु	१४७
“ को धार्थर्थ के लिये दण्ड	१८	“ साध्य	१६६	व्रणज्ञाव, अधिष्ठानानुसार	१४२
“ का वैशा	५३	“ स्वकृत	१५२	“ दोपानुसार	१४३
“ की अयोग्यता	१८, १६	“ स्वभाववलप्रवृत्त, स्वाभाविक	८, १५१, १५२	“ की स्थानानुसार असा-	
“ की योग्यता	२०, ५३, १०८, १३६,	“ दुष्यकित्स्य	१८७		
	१८६, १६५, २५६				

ब्रह्मवेदना, दोषानुसार १४३	शमीयन्त्र ४०	शल्य, शरीर में चंचित गति ११२
ब्रह्म वर्ष, दोषानुसार १४३	शम्बूकवर्ते ३४०	“ के अधिग्रन ११३
“ की विहृति १७२	शर, शम्बृतन्त्र में प्राधान्य १६१	“ के सामान्य लक्षण ११२
ब्रह्माण्डान्यासाभ्यता, १४१, १४३, १४४, १४५, १४६, १७२, १७३	“ दो शकार १६२	“ विरोध लक्षण ११३, ११४
ब्रह्मचिकित्सा में आभ्यन्तरीय चिकित्सा का महत्व १४५	“ शरीर में गति १६३	“ की विरोध परीक्षा ११३, ११४
ब्रह्मित के लिये प्रशास्त गृह ११६, १२०	शरद घटा, घर्यन ३४	“ की सामान्य परीक्षा ११४
“ के लिये शाया और वज्र १२०, १२१	“ में वर्षांश की प्रसङ्गता २४४	ब्रह्माकृति से आकार की परीक्षा ११४
“ के लिये नित्रोंकी आवश्यकता १२१	“ में वित्त व्यापि २२	सूक्ष्म होने पर लक्षण १११
“ के लिये उत्थानादि नियेष १२१	शरपुरुषमुखी ४३, ४२	“ की शरीर में अनिम गति १६४, १११
“ के लिये दिवानिदा नियेष १२१	शरम २७३	आहरण के प्रद्रढ उत्तराय १११
“ के लिये ह्योमेनुसादि नियेष १२१	शरारीर पची ४७	आहरण के दो मार्ग १११
“ के लिये नद्यावल्यादि नियेष १२१	शरारीर व्यन्त्र ४७	आहरण विधि ११६, ११७
“ के लिये वासातपादि नियेष १२२	शरीर नियकि ६७	आहरण के लिये वन्त्र १६५, १५०
“ के लिये मद्य सेवन नियेष १२२	“ व्याक्या १६१, १७८	स्थानानुसार आहरण कर्म १६५, १५८
“ के लिये शुष्कि रहने की आवश्यकता १२२, १२३	“ व्ययमेंवर्षी कृजना ८०	“ आहरण के लिये अपोग्य १६७
“ की बैद मन्त्रों से रक्षा २५, १२२	“ के धातु ७८, ८२, १४१	शम्बृतन्त्र ४
“ के लिये घारण योग्य श्वीपथियों १२३	“ की वृद्धि का काल १६५, २००	“ आष अंगों में प्राधान्य ६५
“ के लिये प्रशास्त आहार १२३	१४४	“ नियकि १११
“ मैतुन जगरादि का परिणाम १२४	“ की लंबाई १६४, १६५	“ का अधिकार १११
“ के लिये पथ्य से रहने की काल मर्यादा २६	“ का अग्र प्रत्यंग प्रमाण १६३, १६४	शल्यमिर्द्धातिनी नाडीयन्त्र ७०
ब्रह्मि दग्ध २६७	“ की रचना ३१०	शल्यान्यन्त्रीय अध्याय १६५-१७०
ब्रह्मिमुख व्यन्त्र	“ वा रासायनिक संगठन ३११	शल्यक प्राणी २७५
श	“ की वृद्धि के साथ तुलना ८८	शरा २७२
शकुन ५४	“ की समता के लक्षण २०३	शर, संहस्रा और नाम ५७
“ प्रशास्त के १५५	शरीर परमाणु (सेल) ७६, ८०, १४१	“ प्रत्येक वा वर्णन ४५, ४८
“ रोगानुसार शार्दिक १५६	शर्करा (मूर), व्याक्या ३३५, ५८	प्रशुणपदति ४८, ५१
“ दैष के प्रशास्त के १५६	“ संप्राप्ति ३३६	“ के कार्य ४८
“ रोगों के घर के १५६	“ शौर अस्मी में भेद ३३६	“ लंबाई और आकार ४८
शक्तु, शक्तु देसो	“ से पीड़ित के लक्षण ३३६	“ युण और दोष ४६, ५१
शक्तीयों १२३	शर्कराउद ३६३	“ कर्मनुसार भारा ५०
शक्तावरी २११	शक्तेर (चीनी) सामान्य गुण २६१	“ की पायना ५०
शक्तीयी ४११	“ विमलता से तुषांकर्य २६१	नियातनी ५१
शक्तोनक ३११	“ बनक बनस्पतियों २६२	“ के लिये कोरा ५१
शक्तिमैद ३१०	“ का पुराणल २०८, २१०	“ का कर्म के लिये प्राशस्त ५०
शक्तिमिर्द्धातिपति १५६	शक्ताका व्यन्त्र ३६	“ के लिये धातु ५१
शमन (रोक या) १०२, १११	“ संघ्रासा ३६	शक्त्रम् ५१
शक्तिमैन १५४	“ वर्षन ४०, ४१	“ के प्रकार ५१
	शक्ताद ३११	“ के लिये दैष के गुण ५१
	शक्त्य, व्याक्या ४, २६, १६१, १६२	“ की विधि ५१
	“ के दो प्रकार १६१, १६२	“ के लिये दिवानाप्त ५१

विकर्म के लिये सामग्री	२२	शिशु		शुलु क्षय के लक्षण	६०
„ के लिये यन्त्रण विधि की गहरी	२२	शिशीर्वर्ग	२७०, २७१, २७२	„ क्षय की चिकित्सा	६१
„ के पूर्व भोजन देने की रीति	२२, ११०	„ का संगठन और विशेषता	२७२	„ क्षय में अभिलपित द्रव्य	६६
„ के पूर्व मध्य सेवन	११०	शिरा, व्याख्या ८१, ६६ सिरा भी देखो		„ वृद्धिलक्षण	६२
„ के पूर्व भोजन का नियेध	२४, ६६	„ अधरा और उत्तरा महा- ७६, ८१		„ और रज का आन्तर	७८
„ का विविध कर्म	२१	„ अक्षाधरा	७६	„ और ओज को संवंध ७६, ८२, ३१४	
„ की व्यापासियों	१५६	„ प्रतिहारिणी	७६, ३५६	„ के विकार	१५४, ३८७
शस्त्रप्रिणिधान	१४७	„ गुद की	३२६	शुक्सार	८२, ६१
शस्त्रावचरणीय अध्याय	४५-५२	शिरा(वृषण)वृद्धि, हेतु, लक्षण	३८४	शुक्राणु	१०, ८६, ६०, १५४
शाक, सामान्य गुण	२६१	„ और वपागन्न्य		„ आदिवलप्रशृति से संवंध	१४८
„ वज्र्य	२६१	वृद्धि में अन्तर ३८४		शुक्रमेह	३४८
„ पुष्प पत्रादि से लघुगुरुता	२६१	शिरोविरेचनवर्ग	२१८	शुण्ठी	२८६
„ सेवन संवधी कुछ वार्ते	२६१	शिशिर ऋतु वर्णन	३४	शूल	३८५, ४००
„ पकाने की विधि	२६६	शिप्प, गुण	३, १३	„ दोष	४००
शाक वर्ग	२८५	„ का गुरु के प्रति कर्तव्य	१४	„ विकारों के लक्षण	४००, ४०१
„ का संगठन	२६२	„ के प्रति गुरु का कर्तव्य	१४	„ के असाध्य विकार	४०१
शान्ति कर्म	३३	शिष्योपनयनीय अध्याय	१३, १४	शूलदोषनिदान अध्याय	४००-४०१
शार्दूला	२०६	शिश्रमणि	३३२	शूलवर्ग	२७१
शालाक्ष्य तन्त्र	४	शिश्रचर्मे	३३२	„ का संगठन	२७२
„ के अध्याय	१७	„ के लीचे मैत्रा का जमना	१४५	शूद्र, आयुर्वेद पठन के लिये आधिकार	१४४
शालिवर्ग	२६७	शीत(गुण)	३०६	शूल, आन्त्र	३१६, ३२८
„ के विभाग	२६८	शीतकपाय	२०५, २४२	„ वृक्ष	३२८, ३३६
शालि, के भेद	२६७	शीतदन्त	४०७	शूल्य मास	२६६
„ सामान्य गुण	२६७	शीतपाय	२८३	शूद्रयन्त्र	४०, ७१, १६५, १६६
„ में लौहित की श्रेष्ठता	२६७	शीतमेह	३४४	शृङ्गाटक	२६२
„ और ग्रीहि का अन्तर	२६८	शीतला, मसूरिका देखो		शोणित, रक्त देखो	
„ रोप्यातिरोप्य के गुण	२६७	„ स्तोत्र	३६५	शोणितास्थापक	८६
„ खाद जल इत्यादि के अनुसार गुण	२६८	„ मोतिया	३६६	„ के उपाय	८७
„ मशीन में कूटने का परिणाम	२६८	शीतवर्षोनिलदग्ध	७०	शोणितवर्धन	८७
„ और गेहूँ में अन्तर	२७२	शीताद	४०६	शोधन (ब्रण का) के अष्टविध	
„ संगठन	२६८	शीर्यशृन्त	२८५	प्रकार	२०५
„ और वेरी वेरी का संवंध	२६८,	शुक्ल	२६५	शोफ (ब्रण), व्याख्या	१०५
„ के वेरे रखने का स्थान	२७१, ३१२	शुक्ल का स्थान	६०, ६१	„ के प्रकार	१०६
„ प्रचार के भारतीय प्रान्त	२६८	„ का सर्वशरीरव्यापित्व	६१, ३७५	„ के कारण	१०६
„ प्रकार के संसार के देश	२७१	„ की उत्पत्ति	७८, ८२	„ दोषानुसार लक्षण	१०६
शालि नातीय पदार्थ,	२८६, २८०	„ की उत्पत्ति में वानीकरण	८४, ६०	„ की संप्राप्ति	१०७
कार्बो हैड्रैट देखो		ओषधियों का भाग	८१	„ तीन आवस्थाएँ	१०७
शालूक	३६२	„ यौवनावस्था में अभिव्यक्ति का विवरण	८२	„ आमावस्था के लक्षण	१०७
शालूक रोग	४१०	„ का कार्य	८६	योफ, गच्छमानावस्था के लक्षण	१०८,
शाज्ञाभ्यास का महत्वे	१८, १६	„ स्वरण के हेतु	३७५	„ पक्षावस्था के लक्षण	१०८
		„ स्वरण की युक्ति	३७५	„ पक्षावस्था में चीरा न लगाने से नुकसान	१०९

शोफ, आमावस्या में चीरा लगाने के परिणाम	१०६	स्ट्रेपातक	२८४	सचय की अवस्था में विकिसा का महत्व	३०,१३५,१७०
“ को पकाने के लिये प्रिदोष की जहरी	१०६	दूसरन का केन्द्र	६६,१६६	“ श्रीर प्रकोप में अन्तर	११०
“ के सार्वदेहिक लक्षण १०७,१०८		“ उर्ध्वर युक्त	८०	“ प्रकोप और प्रसर में दोषों की स्थिति	११०
“ के सात प्रधान उपक्रम	१११	“ छिक	१८३	सचय काल (रोगों का)	११०
शोफहरणलेप, दोषानुसार	२०४	“ छिक के दो प्रकार	१८३	अपतानक का	११५
शोफपाचनलेप	२०४	“ कृत्रिम	८०	“ कुप्र का	१८२
शोफदारणलेप	२०४	“ कृत्रिम की पद्धतियाँ	१६६	“ मस्त्रिका का	१८१
शोफपीडनलेप	२०४	द्वास, ज्ञुद	६६	“ उपदश का	३८५,३८७
शोफ, दोषानुभार वेदनाविदेश १४३,१४४		“ का अरिष्ठ	१८३	“ किरणा का	३८६,३८७
शोष (सर्वोंग) कारण	१०६	द्वेषकथ्य	८०	संज्ञाहर शोषधि	२२,११०
“ सप्रसि	१५६	“ स्वाभाविक सम्बन्ध	१०८	संक	२११
“ के उपद्रव	१८३	“ सूखनिधिति में उपयोग	१०८	सतीन शाक	१८८
“ अरिष्ठलक्षण १८३,१७५,२५५		ए	/	सत्त्व	१६६,२०२
“ विश्वासा का निषेध	८४	पठ	१५८	“ का रोग की साथ्यता में उपयोग १४४	
“ आपत्तगतिसेवन	२४६	परिक वर्ग	२६७	सत्त्ववान्	१४४,२०२
शोपिर	४०६	“ का अर्थ	२६८	सत्त्वसार	१४४,१४६
शमादिगण	२१२	पाइव	२६८	सत्तर्पणकृत रोग	२४०
श्वावदातक	४०८	सयोग, व्यास्या	१२४	शदृश गत्र	३१
अवण, परीका	५५	“ विषद	१०५,१२६	“ राहया	३१
“ विप्रतिस्ति	१७६	सब्यूहिम चार	६०	“ वर्णन	३६,३७
“ शोणिगुहा	३३७	सशमन	६,२१६	“ सतिग्रह और अविग्रह	३७
“ शोग्रिम	५६	सशोधन	६,२१५	सधान	३२०
“ क्लद्धशुगुण	३०६	सषेषण	८३,३१०	सधि, चल और अचल	१६०
श्वीपद, निरक्षि	३८६	सप्तर्ण (दोषों की) व्याख्या	१४०	“ विद्व लक्षण	१६०
“ निदान	३८८	“ में विकित्याक्रम	१४०	“ गत शब्द लक्षण	१६१
“ सप्रसि	३८६,३८८	सप्तर्ण रोग	१५१	“ गत रात्र की परीका	१६४
“ लक्षण	३८८	सस्कार	१२५,३०८	सषेषण	८८
“ द्वे विकृत होने वाले अग्न ३८६,३८०		“ विषद	१२६	सधि विकेषण, व्याख्या	४०१
“ के लिये अनुकूल देश	३८०	सकृद, अर्थ	२०४	“ के प्रकार	४०१,४०३
“ असाध्यता	३८६	“ के शुण	२६८	“ अप्रणा, सवण दो भेद	४०२
श्वीपदहर्मि	२४७,२५०	सकर, विका का	२०३	सधिविकेषण सामान्य लक्षण	४०३
“ का वर्णन	३८८	“ चतुर्वर्ष का	१४२	“ उपिषादि के सदृश	४०३
“ सूक्ष्म कृमि	३८८	सकीलक	३६१,३६२	सनिपात, अर्थ	६,१४०
“ छीर के उपस्थिति छी		सकमण मार्ग	३४७	“ में विकिसा क्रम	१४०
“ विचित्रता	३८८	सधिस कण्ठवध	१००,१०१	सनिषद् युद, निरद् युद देही	
“ विचित्रता का कारण	३८८	समादी, अर्थ और दो भेद	२२७	सप्तला	११२
“ का मच्छरशीरीगत जीवन		सप्तावलम्बप्रस्त	१५१	समदेह लक्षण	१०१
क्रम	३८८	सर्वी विही	२६३	समशून	१०८
श्वीपदवाहक मध्यर	३८८	सर्वी चार	२६३	समवायी करण	१११
स्ट्रेप कफ	४८,१३४	सचय (दोषों का), लक्षण सामान्य	११४	समान वायु	११२
स्ट्रेपा, कफ देहो		“ और विटेप	११४	सम्प्रदेन	११
		काल	२८,२६	सम्प्रदग्ध, लक्षण	१७

“ चिकित्सा	६६	साहस के पांच प्रकार	२६५	“ की विशेषता	१९
स्म्यवान्त लक्षण	२३४	सिंद्धमुख यन्त्र	४५	“ में शाल्यरात्र का प्राधान्य	
परगुण	२४६, ३०६	तिक्तता	५८, ३३५	ओर सर्वव्यापित्व, १८, २१	
परसों का शाक	२८६	सिकतामेह	३३५, ३५०	सूक्त	२७६
“ तेल	२५७	तिंपाराक	१४२	सूक्तम गुण	३०६
“ धूपून के लिये उपयोग	२५, १२२	सिद्ध मांस	२६६	सूक्तमदर्शक	१२३, १५३
सजिका ज्ञार	२६३, २६४	सिघ	३४३	सूक्तमदर्शकार्त्ति जीवाणु	१२३, १५३
सर्पेदा चिकित्सा	४३	सिरा, शिरा देखो		सूक्ते मेवे	२८३
“ गुण	२७५	सिरानिद लक्षण	१६०	सूची	४६
सर्पेकणमुटी	४१, ४२	सिरागत शल्य लक्षण	१६२	“ विविध प्रकार के लिये योग्य	
सर्पस्त्य	४८	“ की परीक्षा	१६४	स्थान	१५८, १५८
सर्पिमेह	३५१	सिरावेद	२१, ८८	“ यवमुरी	४६
सर्वस्तर रोग	४१२	सिरा कुटिलता (गंठीली)	३२०	सूत्र के प्रकार	२
सर्वार्थ रोग	३२५	“ में आदिवलप्रगृहि १३६, ३२६		सूप	२६५
सहर, अर्थ	३३१	“ की रक्षाप्राप्ति	३७७	सूर्य	२६२
सहस्रीरी	१२३	सींग, शंग देखो		“ जंगली	२६२
साधक पित्त	८८, १३३	सीधु	१२२	सूर्य का महत्व	१२०, १३१
साधारण देश	२०२	“ विविध सीधु के गुण	२६३	सूर्यप्रकाश की रचना	१२०
साध्वासाध्यता	१८६	सीमान्त	१४५	“ के तीन विभाग	१२०
“ के चार प्रकार	१४५	सीरमचिकित्सा	१२८	“ का चिकित्सा केलिये उपयोग १२०	
“ रोग के कालानुसार	१४६	सीबन	२१	“ का जलशुद्धि में उपयोग	२४५, २५१
साथ रोग	५६, २०३	“ द्रव्य	४३, ४३, १५८	“ का जीवद्रव्य की उत्पत्ति	
“ के दो भेद	१४४	“ का शब्द	४८	में उपयोग	२१२
“ रोग असाध्य होने के बाले रोगी	५६	“ योग्या	५२	सूर्यप्रकाश का जानवरों के दूध से संबंध ३१३	
“ रोग असाध्य होने के कारण	१४५	“ योग्य वृण	१५७	सूर्यकान्त	५१, ६५
सात्य,	५४, १२४	“ के लिये अयोग्य वृण	१५७	सूमर	२७६
“ के प्रकार	२०२	“ के चार प्रकार	१५८	सेल (शरीर का)	७६, ८०, १४१
सान्द गुण	३०६	“ की विधि	१५८, १५९	सेवनी	६४
सान्द मेह	३५०	सीसा	२६४	सेवनी कुटकास्थि	१४५
सान्द प्रसाद मेह	३४८	सुगन्ध गुण	३०६	सैन्धव	२६२, २६३
सांप, सर्प देखो	३८८	सुधा वृत्त	२४१	सोजाक, कारण, लक्षण, उपद्रव	२८७
सामित	२३६	सुनिपराणक	२८६	सोंठ	२८६
सामुद बल	२४८	सुपारी	२८४	सोहजना	२८६
सामुद बल (आन्तरिक का भेद)	२४३	सुरसादिगण	२११	सोहागा	२६४
“ की परीक्षा	२४३	“ के गुण	२८६	सौवर्चेल	२६३
सामुद लवण	२६३	सुरा	१२२	सौवीरक	२३८
सांवर लवण	२६३	“ गुण	२६२	सौश्रुततन्त्र	२१
सार, व्याह्या	१६६	“ विविध सुरा के गुण	२६२	सौहित्य	३०७
“ अष प्रकार	१६६	“ मणि	२६२	स्कन्दन	८३, ८७
“ का वज्रविज्ञान से उपयोग	१६६	सुरामेह	३५०	स्कन्धावार	१६०
“ शाठों प्रकारों से युक्त के लक्षण	१६६	सुरावीज, खमीर देखो		“ में वैद्य का स्थान	१६०
सारिवादिगण	२१३	सुवर्ण	२६४	“ में नर्स की आयोजना १६१, १६२	
सारकोमा	३८०	सुश्रुत महर्षि	१	स्तनरोग निदान	३७४
सालसारादिगण	२१०	सुश्रुतसंहिता का काल	१, २	कथ्यकाव्या में अनुकृति	

„ प्रसू और समावस्था में बलति	३७४	लेइदग्ध	६७,६६	हथनी मूर	२६६
„ हेतु	३७४	स्पर्शनाद्यमता	१०६	हनुमह	३२३
„ संप्राप्ति और लक्षण	३७६	स्पर्शनपरीचा	५४,५५	हनुमोच, हेतु और संप्राप्ति	४०८
स्वन और गर्भ का संबंध	३७४	स्पर्शविप्रतिपत्ति	१७६,१८०	“ चिकित्सा	५१
स्वनविधि, स्वनप्रकोप	३७४	स्पर्शाद्युक्त	६८	हस्तु	३१४
स्वन, निरुद्धि	३७४	स्पृति	१८,१८१	हरका रेखी	२८१
“ घटति	३७४	स्पौत्स, व्याह्या रखना और कार्ये	६१,	हरिण का मासि	२७५
“ स्वण के हेतु	३७५	स्पौत्सत शत्र्य लक्षण	१६२	एष और उत्तर में अन्तर१८५	
“ स्वण की गुणि	३७५	“ पीड़ा	१६४	हरितक वर्ण	१११
“ दुष्ट के लक्षण	३७५	स्प्राप्ति, संप्राप्ति	१७७	हरिदारिण्य	११३
“ निरोग के लक्षण	३७५	“ के सात प्रकार तथा व्याह्या	१७७	हरीतकी	२१४,२२०,२४०,२४४,
“ कार्य	६०	“ के सात प्रकारों की शुगमाशुभता		३०८,३१८	
“ बालक के लिये महसू	६०	और फलाफलता	१७७,१७८	हरेणु	३६६
“ घय लक्षण	६१	“ को रोगानुसार अशुभता	१७८	हर्निया, अर्प	३८८
“ घय चिकित्सा	६२,६६	“ को अशुभता का परिदृश्य	१७८	“ के स्थान	३८९
“ शुद्धि लक्षण और चिकित्सा	६३	“ शुम	१७८	“ के कारण और प्रकार	
स्वमन(रक्त)	५८	स्वभाव(हस्यों का)	१२४,३०७	३८३,३८४	
स्वमिनी	१०	स्वमाववलप्रश्ना (रोग), अर्प	६	हर्ष	४३,४१५,४६६
सी का दूष	२१०	“ के नाम	८,१५१	हवा, शुद्ध का महसू	१२०
दी का दूष का आवाहन्या में सेवन	२५१	“ के सर्वधी विरणण	१५२	“ की आवश्यक राशि	१२०
“ दी	२५३	स्वामावविप्रति अव्याय	१८४,१८६	“ के दिशानुसार गुण	१२०
“ पी	२५५	स्वरम, व्याह्या	२४२	हस्त	३५,३६,३८
स्वपिण्डा वंप	६१३,६१४	स्वाम	४११	हस्तिन(हाथी), मांस	२०१
“ याखने की रुचि	११५	स्वलिङ्क, अर्प	१७२	हरितदत्त	४१
स्वनस्प्रय	११८	स्वलिङ्कवध	१११,११४	हरितपिण्डी	२१
“ करने का तन्त्र	११६,११५	स्वलिङ्कयन,	११	हरितमेह	३१
स्वप्न ओप्पि	१०	“ लहरा	११	हरिदमेह	३१
“ के देहकोष्ठोगी अग	११	“ वर्णन	३६,३७	हिंगोट, शुद्धी देखो	
स्वप्नाशक	३४३	“ के दो विवाह	३७	हिताहितीय अचाय	१२४-१३
स्वीक्ष्य, मेदोइद देखो		स्वानुमोजन	३०४-३०५	हिर्वितिमा	३३
स्वप्न, अर्प	११८	स्वामावविक, स्वमाववलप्रश्ना देखो		हींग (हिंग)	२५
“ रोगा के लिये उपयोग	११८	स्वार्थ, व्याह्या	५८,३०३	हीनकर्ण वंप	१००,१०
“ विद्युत्प्रयु	११०	स्वेत की प्रयित्यों	४१,४७३	हिम्मूलना	६
“ का कार्य	१११	“ का कार्य	४४,४४४	हिंक	५०,५१
“ घय लक्षण	११२	“ घय लक्षण और चिकित्सा	४१	हिंप	५५,५
“ घन राम्यनष्टय	११३	“ घय में अनिवार्य दृष्टि	४६	“ के दृष्टि	१११,११८
“ घन्य की परीक्षा	११४	“ घटालप्रयु	४३	“ की व्याप्तिरी का चारण	१४
प्रानुप्रस्त्रि	२४२,२४१	“		“ की घटालन	१०
विद्युत्प्रयु	१०८	इषारी	३०१	“ मे निवन्धने वाली परमिदा	५१
वेदाध्य, मेदाधीन वदार्पि भी देखो		इषारी	३०२	हरप्रिदिपि	१११
“ एवं वेदाध्य	११३,११४,११५	ईंगेश्व	३०२,३०३	हृष	११३,११४
“ वी विद्युत्प्रयु	११८	इषनी का दूष	३४०	हेमन दूष दंत	३१
“ अनुप्रस्त्रि का दूष	२४१	“ दी	३४१	“ मे वायाध्यपि वदार्पि का चारण	१०
वेदाध्याद्यो	११४	“ पी	३४२	होठ	१११

श्रीः ।

सुश्रुतसंहिता ।

सूत्रस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो वेदोऽपत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः, यथो-
भगवान् धन्वन्तरिः सुश्रुताय ॥१॥

पृथि के प्रारम्भ में आयुर्वेदोत्पत्ति नामक अध्याय का
शान करते हैं, जैसे श्री धन्वन्तरि भगवान् ने सुश्रुत के
वृण्ण किया ॥१॥

चक्षव्य—यहां वेद शब्द के पहले आयुः शब्द लुप्त
ना चाहिये । इस प्रकार आयुर्वेद के लिये वेद शब्द का
ए बहुत होता है ।

प्राणाचार्य वृष्टस्तमदीमन्त वेदपारगम् ॥ (चरक)

प्राणाचार्य वेदपार प्रयातम् । (अ० संग्रह)

आयुर्वेद अनादि और शाश्वत है, अतः उसकी नवीन
ति नहीं हो सकती । उत्पत्ति का अर्थ केवल अभिव्यक्ति है
आयुर्वेद में जहां आयुर्वेदोत्पत्ति शब्द प्रयोग होता है वहां
ति का यही अर्थ करना चाहिये । चरक-संहिता में लिखा
स्तोऽयमायुर्वेदः शाश्वते अनानित्वात्, स्वभावसंसिद्ध-
णवात्, भाववभावनित्यत्वाच्च । न ह्यायुर्वेदस्याभूतोत्पत्तिमुप-
भते, अन्यत्रावदोयोपदेशाभ्याम् । एन्द्रै द्वयमधिकृत्योत्पत्तिमुप-
स्त्येके । (सूत्रस्थान अ०-३०)

आयुर्वेद एक अत्यन्त प्राचीन चिकित्साशास्त्र है । भारतीयों
द्वारा से आयुर्वेद अनादि है, जिस की केवल अभिव्यक्ति
मुद्व प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में किया करते हैं । इस आयुर्वेद
अत्यन्त प्राचीन काल से कायचिकित्सा और शल्यचिकित्सा
में चिकित्सा के दो संप्रदाय प्रचलित हैं । प्रथम संप्रदाय
हर्षि आवेद के नाम से और द्वितीय संप्रदाय भगवान्
न्तरि के नाम से प्रसिद्ध है । प्रत्येक संप्रदाय के आचार्यों
कई ग्रन्थ 'निर्माण' किये थे । इन में से अधिकांश ग्रन्थ
जाज अनुपलब्ध हैं । उपलब्ध ग्रन्थों में चरक-संहिता आवेद
प्रदाय का और सुश्रुत-संहिता धन्वन्तरि संप्रदाय का प्रधान
ग्रन्थ है । भगवान् धन्वन्तरि से महर्षि सुश्रुत जी ने गल्य-प्रधान

आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त कर जो ग्रंथ निर्माण किया था उसका
नाम सुश्रुत तंत्र था । महर्षि सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र थे ।
सुश्रुत का काल निश्चित करने के लिये कोई ठीक साधन नहीं
है । आयुर्वेदिक पुराण-शास्त्रविदों का यह मत है कि सुश्रुत का
काल खिंस्तपूर्व एक हजार साल से कम नहीं हो सकता ।
परन्तु आज जो सुश्रुतसंहिता उपलब्ध है वह यद्यपि सुश्रुत के
नाम पर प्रसिद्ध है तथापि वह सुश्रुत-प्रणीत मूल संहिता नहीं
है । इसके कई प्रमाण उपलब्ध सुश्रुत-संहिता में मिलते हैं ।

(१) कर्त्ता कर्त्ता ग्रंथारंभ में निम्न पृष्ठ मिलता है—

नमो ब्रह्मप्रजापत्यभिवलभिद्वन्तसुश्रुतप्रभूनिभ्यः ॥

उपलब्ध संहिता मूल सुश्रुत-प्रणीत होती तो ग्रंथारंभ में
सुश्रुत को प्रणाम करने की कोई आवश्यकता नहीं थी ।

(२) मूल सुश्रुत तंत्र के कई पाठ वृद्ध सुश्रुत के नाम से
सर्वीगसुंदरी, व्याख्या मधुकोग, व्याख्या कुसुमावलि, निवंध
संग्रह, तोडरानन्द, भावप्रकारा इत्यादि ग्रंथों में उद्धृत किये हैं
जो उपलब्ध सुश्रुत-संहिता में नहीं मिलते हैं ।

(३) इस अध्याय के पहले सूत्र पूर्ण टीका लिखते हुए
दलहणाचार्य कहते हैं—

यत्र यत्र परोने लिट्प्रयोगस्तत्र तत्रै प्रनिसंस्कृतसूत्र शातव्यम् ।
प्रनिसंस्कृतार्डीह न्युम्युन एव ॥

(४) सुश्रुत-संहिता के प्रथम, नृतीय और चतुर्थ अध्याय में
संहिता के केवल एक सौ दो अध्याय और पांच स्थान लिये
हैं । उत्तर तंत्र का उल्लेख स्वतंत्र किया है ।

वीज चिकित्सनस्यैतत्समासन प्रकीर्तिम् ।

संविशमायायशनमस्य व्याख्या भविष्यति ॥

तथा सर्विशमस्यायशन पनसु स्थानेषु । तत्र स्वनिदानशारीरचिकि-
त्सिनकल्पेषु अर्थवशात्, सविभज्य उत्तर तत्रै शेषानर्थान् व्याख्यास्यामः ।

इससे यह स्पष्ट है कि उत्तरतंत्र को किसी ने बाद में इस
संहिता में समाविष्ट किया है ।

(५) पंचम स्थान के अंत में आयुर्वेद का महत्व वर्णन कर
संहिता की समाप्ति के सूचक श्लोक मिलते हैं ।

(६) उत्तर तत्र के प्रारम्भ में निमि नामक अन्य प्रथि का निर्देश किया है। वस्तुत सुश्रुत-संहिता में भगवान् धन्वन्तरि के सिवाय अन्य किसी का भी निर्देश नहीं होता चाहिये। घूंकि सुश्रुतादि अपि भगवान् धन्वन्तरि के पास आयुर्वेद की विज्ञा प्राप्त करने के लिये गये थे। इस से यह सालम होता है कि भूल सुश्रुत, जो शल्य प्रयोग था, की दूर्ति करने के लिये अन्य अग्रायुक्त उत्तरतत्र किसी ने इस में समाविष्ट कर दिया ।

उत्तर्युक्त प्रभावाणी से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आज की सुश्रुत-संहिता भूल सुश्रुत तत्र की प्रतिसङ्कृत आवृत्ति है। यह संस्करण नागार्जुन नामक आचार्य के हारा हुआ है ऐसी किंवदन्ति प्राचीनी काल से प्रचलित थी जिस का विकास इलाहार्याच ने अपनी पहले अध्याय के एहले ही सूत्र की टीका में किया है ।

भारतर्वर्ष में सिद्ध नागार्जुन, दौद नरपति नागार्जुन और महायान प्रतिष्ठापक नागार्जुन नामक अनेक नागार्जुन हो सुके हैं। इन में से महायान प्रतिष्ठापक दौद नागार्जुन ने सुश्रुत का प्रतिसङ्करण किया—ऐसा कुछ विद्वानों का मत है । यह नागार्जुन दो हजार साल के पहले था। इस से यह सिद्ध है कि आज की उपलब्ध सुश्रुत-संहिता कम से कम दो हजार साल की उत्तरी है ।

इस सूत्र की टीका में इलाहण सूत्र के चार प्रकार लिखते हैं—

(१) गिर्व्यसूत्रम् । उदाहरण—

वायो प्रकृतिभूतस्य व्याप्रस्य च लक्षणम् ।
स्थानं कर्म च रोगाश्च बद्धस्व बद्धावर ॥

(२) गुरुसूत्रम् । उदाहरण—

देहै विचरतलाप्य लक्षणानि निरोप मे ।

(३) एकीयसूत्रम् । उदाहरण—

दत्र लोहिकपिण्डाणुपूरीनीलाकुड़ेवनिमदेशेऽपुराम्ळवणकुड़ित्तिकरणाणि यथास्त्वयमुक्तानि भवन्ति इत्यक भाषने ॥

(४) प्रतिसंस्कृतसूत्रम् । उदाहरण—

योवाच भगवान् धन्वन्तरि ।

लक्षण—यद यत्र पराये निद्रयोगस्त्र तत्र प्रतिसंकृतसूत्रं भाषत्यम् ।

चतुर्थांश्च चरक की अपनी टीका में चार प्रकार के सूत्रों का उल्लेख करते लिखते हैं कि प्रथि सूत्र चार प्रकार के होते हैं तथापि उनमें प्राणोत्तों को भिन्न भिन्न भावनां की आवश्यकता नहीं है। एक ही मनुष्य भिन्न भिन्न प्रकार की भूमिका लेकर भिन्न भिन्न प्रकार के सूत्र लिमांग करता है। इसलिये चरक-संहिता में मिलने वाले सब सूत्र अनियोग प्राप्तिनि और सुश्रुत में मिलने वाले सब सूत्र सुश्रुत मणीन सम्माने चाहिए ।

‘अनेन भ्यावेन परंतु विप्रतिसंकृतसूत्रे निविजितानि । तत्त्वात्पर्योक्तव्यिनिर्देशं सुमने मुकुन च शृणुता प्रेतोऽनित् विविर्यं स्तेऽपि निर्दितु वा आवश्यकप्रयुक्तम् प्रदर्शयत् विजिति तत्र पुरुषस्तुरादृक्षणात् विमेयीयमात्मारुदृक्षणा निर्दि ॥’ (विग्रेष विवरण के लिये चरक सूत्र स्थान अध्याय १ में ‘इति इ स्माह भगवान्नामेष’ सूत्र की टीका देखो ।)

अथ खलु

थप्रस्थं काशित्

धैतरणौरभ्रपौष्कलावतकरवीयेगापुरराघतसुश्रुतप्रभृतय ऊचुः ॥२॥

एक समय अविगायों से परिवेष्टित अपने आध्रम् में विराजमान देवधेष्ट काशिताज द्विवाय भगवान् धन्वन्तरि की से भौमपेनव, धैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुरक्षित, सुश्रुत प्रभृति अपि वृक्षों लगे ॥२॥

वक्तव्य—समस्तैवये माहात्म्यं यद्य श्रीकामार्ये प्रयत्न दुष्क जो होता है, उसे भगवान् कहते हैं । यथा—

ऐर्ष्येण समप्रयत्नं वीर्येण यशम् ग्रिय ।

हानैवैराययोद्वैतैव पण्णा भग इतिहास ॥(विष्णुपुराण)

किंवा—उत्पत्ति प्रलय चैव भूतानामात्मि गतिम् ।

वैति विद्यानविद्या च स वाचो भगवानिनि ॥

धन्वन्तरि की बोयता, सैवज्ञता और विश्वानीयता प्रदर्शित करने के लिये भगवान् विशेष प्रयुक्त किया गया है ।

यस्य विकिरणा में जो वारागत है वह धन्वन्तरि कृष्णाना है । पन्थ शत्यरात्रम् तथ्य अन पायम् इत्यति गच्छतीति धन्वन्तरि ।

सुश्रुतप्रभृतवत्—भगवान् धन्वन्तरि के पास शत्यरात्रम् पढ़ने के लिये जो अपि गये थे उनकी संख्या सात से अधिक ही वह बतलाने के लिये प्रभृति शब्द का उपयोग किया गया है । उन में जो महस्त के या नाम श्रावण वीर्यं अधिरहे उन्हें नाम यहाँ दिये हैं । जो विषेष महस्त के नहीं थे, उन सर्वे व ममावेष प्रभृति शब्द में किया है । प्रभृति शब्द से ‘भोजाद्य तथा ‘निमिक्षुत्वानगर्वाहवा’’ ऐसा अपना और दूसरे के मत इलाहण ने टीका में दिया है । गोपुरक्षित नाम से कों गोपुर और रक्षित ऐसे दो ऋषि मानते हैं ।

भगवन् ! शारीरमानसागन्तुव्याधिभिर्विविष्टे वेदान्तभिधातोपद्वातान् सनातानप्यनाथयद्विचेष्टमा नान् , विक्रोशतव्य मानवानभिसमीक्ष्य मनसि न पीडा भवति; तेषां सुर्येष्याणां रोगोपशामार्थमान्म नश्य प्राण्यात्रार्थं प्रजाहितेतोरायुर्वेदं श्रोतुमि- द्वाष्टम इद्वैष्टिद्वयमानम् ॥३॥

हे भगवन् ! शारीर, मानव और आग्रुद्ध दोनों से, नाना प्रकार की पीड़ा के क्षय से दु लिंग और धन मित्रादिक वन्दुओं की अनुदृतता होते हुए भी दीन अमहाय की भाँति तहस्ते और विकाप करते हुए मनुष्यों की देशकर हमरे मन में दुख होता है । अत उन आदेष्याभिलासी देवियों की दीप-सार्वति के लिये प्रजाःकृत्याणार्थं और हमारे स्वास्थ्यरक्षण के लिये आप यहाँ आयुर्वेद का जो उपदेश दिया करते हैं उसे अपन करने की इम सब इच्छा करते हैं ॥३॥

यज्ञवल्य—शारीर, मानव, आग्रुद्ध और स्वामाविक ऐसे व्यापियों के भार प्रकार इसी अध्याय में आगे लक्षणों के साथ बतलाये गये हैं । इन में से वेष्टन सीनों का ही यहा-

* दीपकरणे ने ‘वनप्रस्तावन मैं विराजमान’ देखा जब दिया है ।

पूर्वया प्रस्तुतिर्गुच्छुर्विभिरुच ।

पनी दंवस्त्रागे प्राप्ति प्रस्त्रात् मर्दिता ॥ (अ० १)

इसी प्रकार अन्य शूलों में भी अपने अपने शब्द की उपर्युक्त और विनामार व्याघ्रदृश्य से बताया गया है । यान्त्र्यादन वे कामगाराओं पे प्रारम्भ में लिया है—

प्रारम्भिरिप्रवा दृष्ट्वा तथा विविनिमन विकृंद मापन
मध्यादाता इक्षमहदण्डे नोवार ॥

अत्यायुक्त—सूनिं और पुराणों के मैनुपार आयुर्वेद में भी यह माना गया है कि युगे के अनुपार मनुओं की आयु घटती जा रही है । इन्युग मध्यां मौ माल की, द्रेन-युग में नीति मौ साल की, द्वापर में दो मौ माल की और कलियुग के आरम्भ में एक मौ माल की आयु होती है । इस से भी आयु और धीर पर्याप्त घटना जा रही है । मनुसूति और चरक में लिया है—

क्रोता वैस्मिदिपाप्त्युर्विराम्युक्त ।

कृत्रियुक्त दात्रामार्युनति पृथ्वी ॥ (मनु १, ४)

यो युगे धर्मेन्द्र व्रतानेन हीयते ।

गुणरद्ध भूतानामव लोक प्रीयते ॥

मवत्सरागे पूर्णे दाति मत्वात्तर भवेत् ।

दहिनाम्युक्त कर्ते यत् य मानविषय ॥ (चरक वि अ ३)

तथाथ—दात्य, दात्राक्यं, कायचिकित्सा, भूत विद्या, वौमारभूत्यम्, अग्रदत्तन्त्रं, रसायनतन्त्रं, याजीकरणतन्त्रमिति ॥७॥

वे आठ भाग ये हैं—(१) दात्यतत्र (२) दात्रायतत्र (३) कायचिकित्सा (४) भूतविद्या (५) वौमारभूत्य (६) अग्रदत्त (७) रसायनतत्र (८) याजीकरणतत्र ॥७॥

अथ उपर्युक्त प्रत्येक अह के संक्षिप्त लक्षण कहते हैं ॥८॥

(१) तत्र दात्य नाम विधिदृशस्त्राप्तापाशाशापाशु लोहलोपास्थिथालनप्रयाक्षावान्तर्गम्भेश्वयोदरणा धैर्य, यन्त्रशालक्षारारसियणिधानवरणविनिश्चयार्थं च ॥

धाम, लकड़ी, पथर, रसकण, लोह, मिट्ठी, हड्डी, बाल, गल, पूय, अन्य लाव, अन्तर्गत मूढ़वाहिनि नाना प्रकार के गत्य निकालने का ज्ञान, धार्यप्रयन्त्रात्रि क्षारों का प्रयोग करने का ज्ञान तथा छाँटों का निश्चय विस प्रकार से किया जाय । इस का ज्ञान आयुर्वेद के जिय अग्र भी होता है उसे गलवनंत्र कहते हैं ।

दात्राय—उपर्युक्त सूत्र में नाना प्रकार के शब्दों के उदाहरण देकर गल्य का विवेच स्वरूप बतलाया गया है । अत गल्य का सामान्य स्वरूप बललोने के लिये दात्राय ने अपनी ईका में निम्न लिख दिया है ।

विप्रियद मलदोषव वा शरीरिण रथावरजग्मानाम् ।

यत् विविदावापकर शरीर तत् मर्देवं प्रवदित्वा रस्तम् ॥

इस सूक्ष्म का अर्थ अधिक व्यापक कर कुछ लोग शब्द से आगे बललाये गये वार्ताएँ प्रकार के रीति समझते हैं । परन्तु यह गलत है । इस सूक्ष्म का अर्थ उपर्युक्त सूत्र तथा उच्चीसवे

अथवा म शब्द का जो स्पृहीदरग किया है, उसके अनुगाम करना उचित है ।

'गर्भिणिः मनु वाता शरीर विप्रियद मलव शूद्रुरुद्धर्मलः
मर्दित्वन् विप्रियद दात्र ।' (ग्रन्थिविवर्यं पत्तु तामना) इस
नारायणव्यापावादित वा, वा व्यापाराणा शूद्रापात्तिर्विप्रिय
प्रभृताना नामना इन्दिरियीना वा पृथि विविदावापकर देहवा
न् त् सौ इन्द्र प्रदर्शन्ति' ॥

शब्दवत्र विमाग पापात्म वैद्यगाम म 'सर्वी?' (Surgery)
नाम से प्रसिद्ध है ।

(२) दात्रायत्र नाम ऊर्ध्वजुगतानां रोगाणां
थथएनयनपदनग्रामादिमंधितानां द्वार्यीनामुप
दामनार्थं, दात्रायत्रप्रणिधानार्थं च ॥

कर्ण, नेत्र, मुख, नामादि ततु के ऊपर के अंगों में दात्रा
दुष्ट रोगों की शालिं बरतने के लिये तथा शलाका यन्त्र के
उपर्योग करने के लिये जो (आयुर्वेद का) अग्र होता है, उस
शालायत्र कहने हैं ।

घनतद्य—'ग्रन्ता, नन्दा कर्ण, नाम्प्रसाद तत्र शलायत्रम्
जिम अग्र में शलाका यन्त्र का उपयोग विवेच स्वरूप
होता है उसे शालायत्र कहते हैं । अग्रंग स्वरूप और दृढ़
में इसका उपर्योग 'अर्द्धांग' शब्द से किया गया है । 'प्राणादि
यहाँ आदि शब्द से सिर ममकना चाहिये । हारीन सहित
लिया है—रिरोटोग नेत्रारोग सैरोरोग विशेष ।'

भृशापात्रमन्त्राम् ये राता मध्यवलि दि ॥

तत्र ग्रीवाकारक लस्यवस्थानानि च ।

अध्यगम्भुग्रामदृश्यत्रिया शालायत्रमिता ॥

ज्ञु—इस के अर्थ के सम्बन्ध में बहुत मत विभिन्नता पाई जाती है । इस से दाती और ग्रीवा के तत्त्वादित्य, ग्रीवा, कण्ठ नाई (Trachea), ग्रीवामूल, वर्षीयसमधि, हुमुसि इत्यादि
अर्थ भिन्न भिन्न दीक्षाकार समझते हैं । सामग्रत आयुर्वेदिक
परिभाषा में ज्ञु शब्द अक्षम (Clavicle) का पर्याप्त माना
जाता है । जैसे—

'अप्यु नाम अनन्यजातुर प्रस्त्रक्षम भुवुक्त नलकारित । तरेऽ
'ज्ञु' महाविनि प्राप्त' (प्रथम शरीर ए ५२) । परन्तु इस
अर्थ से ज्ञु का उपयोग प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रंथों में
हृचिर द्विवलाई डाता है । नक्ष में अस्थि गलना के समय
'द्वावक्षरी', एक ज्ञु' इस प्रकार अस्थक और ज्ञु का स्वतंत्र
निन्दित किया है । यह गव्य दृढ़वैश्वर्य एवं ग्रयुक द्वाता है
और अस्थक द्विवलन में ग्रयुक होता है । इन सभी दातों का
विचार करने पर अस्थक के स्थान में ज्ञु से कण्ठनाई समझना
अधिक प्रयोग्य है । विशेष विवरण के लिये दौ० होर्नल की
Studies in the medicine of ancient India Part I
पृष्ठ १५८-१६० देखो ।

शालायत्र में समाविष्ट किये अंगों में से आयुर्वेदिक पात्राः
वैद्यक में कर्ण, नाम्प्रसाद कण्ठ (Ear, Nose and Throat)
का एक विमाग होता है, दैर्घ्य का (Ophthalmology),
स्वतंत्र विमाग होता है, दंति का (Dentistry) स्वयं
विभाग होता है और चिरोरोग सामान्य कायचिकित्सा
समाविष्ट होते हैं ।

(३) कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंग्रहितानां व्याधीनां उवरक्तपित्तशोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमनार्थम् ॥

ज्वर, रक्तपित्त, राजयक्षमा, उम्माद, अपमार, कृष्ट, प्रमेह, तिसारादि सर्व शरीर में फैले हुए रोगों की शान्ति किस प्रकार की जाती है इस विषय का ज्ञान जिस अंग में है उसे कायचिकित्सा कहते हैं ।

(४) भूतचिद्या नाम देवासुरगन्धर्वयन्तरक्षः-रत्पिशाचनाग्रहाद्युपस्तुप्त्वेतसां शान्तिकर्मवलिरणादिग्रहोपशमनार्थम् ॥

देव, वैत्य, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग, हादि से रेसडित चित्तवाले लोगों के अहादि दोष होम (हवन) लिदानादि उपायों से दूर करने के लिये जो अंग होता है उसे भूतचिद्या कहते हैं ।

(५) कौमारभूत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीर-दोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुथानां च व्याधी-नामुपशमनार्थम् ॥

बालकों का पोषण करने के लिये, धात्री के दूध के दोष गोधन करने के लिये, दूषित दूध से तथा बालग्रहों से उत्पन्न होने वाले बालकों के रोगों की शान्ति करने के लिये जो अंग होता है उसे कौमारभूत्य कहते हैं ।

वक्तव्य—अष्टाग्र मग्न और हृदय में इसी अंग का नाम 'बालचिकित्सा' दिया है । अंग्रेजी में बालकों के धारण पोषण के इस अंग को (Science of Paediatrics) कहते हैं । कौमारभूत्य में बालरोगों के सिवाय 'योनिव्यापचिकित्सा' का भी समावेश होता है ग्रयपि इसका उल्लेख यहाँ नहीं किया है ।

(६) अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतामूषिकादिदष्ट-विषव्यञ्जनार्थं विविधविषपसंयोगोपशमनार्थं च ॥

सर्पकीटलूतादि से डसे हुए, अनेक प्रकार के स्वाभाविक, कृत्रिम और संयोगविष से उपहत मनुष्यों के विषों का निदान तथा चिकित्सा के लिये जो अंग होता है उसे अगदतन्त्र कहते हैं ।

वक्तव्य—अष्टाग्र मग्न और हृदय में इस अंग का नाम 'देष्टचिकित्सा' दिया है । अंग्रेजी में इसे Toxicology कहते हैं । चरक में 'विषगवैरोधिकप्रग्रामनम्' और कहीं कहीं 'जांगलि' शब्द से इसका उल्लेख किया गया है ।

(७) रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मध्याचलकरं रोगापहरणसमर्थं च ॥

तारण्यावस्था (योग्य काल तक या उस से भी अधिक काल तक) स्थापन करने के लिये, आयु, तुदि और वल की वृद्धि करने के लिये तथा (शरीर के भीतर स्वाभाविक) रोग प्रतिरोधक शक्ति (Natural immunity) बढ़ाने के लिये जो अंग हैं, उसे रसायनतन्त्र कहते हैं ।

वक्तव्य—वयःस्थापन का अर्थ तारण्यावस्था की वृद्धि करने वाला अर्थात् अप्रत्यक्षतया शरीर स्थिर करके जराहरण करनेवाला होता है । रसायन के गुणों का वर्णन करते समय चरक में लिखा है—

दीर्घायुः सृनि मेधामारोग्य तरुण वयः ।
प्रभावर्णस्वरोदार्य देहस्त्रियवल परम् ॥
वाक्तिस्त्रेण प्रणति कान्ति लभते ना रसायनात् ॥ (चि.अ.१)
अस्य प्रयोगाच्छ्वयवनः सुवृद्धोऽभूत् पुनर्युवा ॥
स्थिर शरीर क्रिये शरीरिणाम् ॥ (अ.सं.उ.अ.४९)

(८) वाजीकरणतन्त्रं नाम अस्पदुष्टकीर्णविशुद्ध-रेतसामाप्यायनप्रसादोपचयजनननिमित्तं प्रहर्षजन-नार्थं च ॥

अल्पवीर्य, दृष्टवीर्य, क्षीणवीर्य और शुष्कवीर्य लोगों में वीर्यपुष्टि, वीर्यगोधन, वीर्यवृद्धि और वीर्योत्पादन के लिये तथा (स्वस्थ लोगों में मैथुन के समय) हर्ष बढ़ाने के लिये जो अंग होता है उसे वाजीकरणतन्त्र कहते हैं ।

वक्तव्य—इस सूत्र का एक वैकल्पिक व्याख्यान डलहण ने अपनी टीका में दिया है—

अल्परेतसः पचविशनिमप्राप्ताः । क्षीणरेतसस्तु मध्यमवयसः कारण-दलीभनरेतसः । शुष्करेतसो ग्रुदाः ।

पुरुषों में वाजीकरण सेवन का अधिकार केवल तारण्यावस्था में होता है । बाल और वृद्धावस्था वाजीकरण के लिये निपिद्ध है । इसलिये उपर अल्परेतस और शुष्करेतस का जो अर्थ दिया गया है वह ही नहीं सकता । चक्रपाणिदत्त चरक (चिकित्सास्थान अ० २) के 'वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान्' श्लोक पर टीका करते हुए लिखते हैं—

'पुरुषः' इति पठेन तरणपुरुषयाहिणा बालवृद्धौ निषिद्धव्यवायौ निराकरोनि । उत्त हि—

अतिवाले व्यसम्पूर्णसर्वधातुः त्रिय ब्रजन् ।

उपतयेत् सहस्रा तडागमिव काजलम् ॥

शुष्क रुक्ष यथा काष जनुदग्ध विजर्जरम् ।

स्पष्टमाद्यु विशीर्णेत तथा वृद्धः त्रिय ब्रजन् ॥ (च. चि. अ. २)

इसलिये अल्परेतस्वादि धारों द्वारा युक्तावस्था में ही विलद्ध आहार विहार के कारण उत्पन्न हुए समझना चाहिये । इस अंग का उल्लेख कामगात्र में 'ओपनिषदिक' नाम से होता है ।

एवमयमायुर्वेदोऽप्याङ्ग उपदिश्यते । अत्र कस्मै किमुच्यताम् ॥९॥

इस प्रकार यह आयुर्वेद अप्याङ्ग कहलता है । इस में संक्षिप्त किस अंग का उपदेश किया जाते ॥९॥

वक्तव्य—यद्यपि उपर्युक्त आयुर्वेद के आठ चिकित्सा विभाग स्वतंत्र रूप से व्यतीय गये हैं तथापि कायचिकित्सा और शल्य के सिवाय अन्य अंगों के ग्रन्थ आज लुप्तप्राय हैं । उन अंगों के ग्रन्थों का ज्ञान संग्रह-अन्यों से होता है । प्राचीन काल में इन अंगों के ग्रन्थ तथा उनके विशेषज्ञ भी थे । इस का ज्ञान वैद्यक श्रंथों के सिवाय अन्य श्रंथों से होता है ।

उपानिषद्यन्यो वैथाः शत्योद्वारणकोविदाः ।

नवोपनिषद्युरुक्ता तुरुनैः सातु शिविनाः ॥ (महाभारत) ।

चित्तिन्द्रकः शत्यन्यागदलक्षव्यहस्ताः ॥ (कौ० अ०१०) ।

आपनसत्यावा कौमारन्यो गर्भमर्मण प्रजने च विवेततः ॥ (कौ०)

नरगत्य जागलिविदो यिषजस्थामन्नाः स्तुः ॥ (कौ० अ०१०) ।

तुरुमर औपनिषदिकविति ॥ (वात्स्यायन कामसूत्र) ।

परन्तु आज कायचिक्षया के सिवाय अन्य सब सम्बद्धाय विलुप्तप्राप्य है।

त ऊचुः—अस्माकं सर्वेणगमेव शल्यशानं मूलं
कृत्योपदिशतु भगवानीति। स उचाचैवमस्त्विति ॥१०॥

सब गिर्य थोरे—इम सब ही को शल्यधान आयुर्वेद
का उपरेक्ष आप कीजियेगा। भगवान् धन्वन्तरि ने कहा—
ऐसा ही होगा ॥१०॥

वक्तव्य—मूल एवं का अर्थ आय है। परन्तु यहाँ प्रधान
अर्थ सुखुत के निझ आधार पर किया है—

अस्य तु शास्त्रं इरुक्तमान्यात् इरुक्तं तत्त्वं
पूर्वमुद्देश्यात्मस्त्वात् ॥ (सूत्र ० अ० ५)

त ऊचुर्भ्योऽपि भगवन्तम्। अस्माकमेकमतीनां
मतमभिसमीक्ष्य सुखुतो भगवन्तं प्रह्यति, अस्मै
चोपदिद्यमानं धयमस्युपधारयिष्यामः। स उचा-
चैवमस्त्विति ॥११॥

सब गिर्य फिर धन्वन्तरि भगवान् से थोड़े—एक मति
वाले इम सब का मत देखतर मुक्तुन आप से प्रश्न करेंगे और
उनके लिये आगे थोड़े उपरेक्ष करेंगे हम सब उसको धारण
करेंगे। उस पर धन्वन्तरि भगवान् थोरे—ऐसा ही होगा ॥११॥

यत्स सुखुत ! इह शल्यायुर्वेदप्रयोजनं-द्यायस्यु-
पस्थानां द्यायिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणं च ॥१२॥

है उप्र सुखुत ! रोग से पीड़ित मनुष्यों का रोग निवारण
करना और स्वस्य मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा करना यह
आयुर्वेद का प्रयोजन है ॥१२॥

वक्तव्य—चरक में भी आयुर्वेद का यही प्रयोगन बत-
साया गया है। वही अनुक्रम डलता है। परन्तु चरक का ही
अनुक्रम स्वाभाविक और योग्य है।

प्रयोगन चार्य स्वस्थरय स्वस्थरक्षणम् तुरस्य विकारप्रबन्धन च ।
(च. सू. ३०)

कारण यह है कि प्रवाजी ऊपर होती है वह स्वस्थ और
भीतोग अवस्था में जन्म के समय होती है। तपायात्, प्रशा-
पराप्रादि कारणों से वह स्वाधित हो जाती है। अत प्रवाज-
हितार्थ जो आयुर्वेद प्रयोगपति के साथ या उसके पहले
दृष्ट द्वारा दमका प्रयोगन भी स्वस्थ प्रवाज का स्वास्थरक्षण
और स्वाधित प्रवाज का स्वाधि परिमोक्ष इस अनुक्रम से होना
चाहिए।

इसलिए अपनी दीक्षा में 'स्वस्थस्य रक्षणं चेति वज्ञानोऽनुकूल-
सम्पूर्वायां' ऐसी स्पष्टता की है परन्तु यह अर्थ है। स्वाव-
हारिक दृष्टि से तथा आयुर्वेदिक संवादिति की दृष्टि से प्रयोगन
के दर्शक दो ही विभाग हो सकते हैं। पातुप्राय रक्षण यह
आयुर्वेद का उरित है। यह उरित सम्पत्ति का भागुपायानु-
कूल करें और विषय आयु की विचरण का दृष्टमन करके
साथ होता है।

इन्द्रायन्त्रिया भेदेष्व अन्यस्थाय दोषेन्द्रन् ॥ (चरक गृ. १)

आयुर्वेद पात्राय दैदृष्ट में भी ये ही ही दो प्रयोगन के
विषय होते हैं। स्वास्थ्यरक्षण विषय का नाम Preventive
Medicine and Hygiene है, दूसरे का नाम Curative
Medicine है।

आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन या आयुर्वेदिती
युरेदः ॥१३॥

जिस शास्त्र में आयु (के सर्वेष में विचार होता)
निषेधशास्त्र के द्वारा (दीर्घ) आयुष्य की प्राप्ति होती है।
आयुर्वेद कहते हैं ॥१३॥

वक्तव्य—चरक में भी आयुर्वेद की निरूपि सुखुत
उत्सार परन्तु अधिक स्पष्ट स्पष्ट से बतलाई गई है।

आयुरेश्वरीयायायुरेदः । (सू. अ. ३०)

हितादिति तुष्ट दुसमयुलस्य विद्यादिति ।

मान च तत्र योक्तमप्युरेदः स उत्पत्ते ॥ (सू. अ.

गतीर्द्विन्द्रियस्त्वत्-आयुर्वेदिता से जो उपलक्षित क
उसे आयु कहते हैं ।

शरीरिन्द्रियस्त्वत्तम्योगो धारिजीवितम् ।

निवाशातुरप्रथं पर्याप्तायुरुच्यते ॥ (चरक सृ. ३

यह आयु हितादिति-तुष्ट दुखामङ्ग चार प्रकार की
है। इस का विवेच विवरण चरक स्वस्थान के दृष्टमहामू
अध्याय (३०वीं) में देखता चाहिए ।

आयुर्वेद प्रयत्न से आयु इसलिये कहती है कि आयु
आयु के लिये हिताकर तथा अहिताकर द्रव्यगुण कर्मी का
विचार करता है। उल्लं च चरके—

यतश्चायुक्त्याद्यानुप्याप्ति च द्रव्यगुणकर्मी वैश्यस्य
यायुरेदः ॥ (सू. अ. ३०)

तस्याह्वरमायां प्रत्यहागमानुभानोपमानैर्वा
दस्युद्यम्यमानुपूर्यारय ॥१४॥

उस आयुर्वेद के सर्वथेष और आयु अंग का मैं प्राप्त
आयम्, अनुमान और उपमान हृत चारों प्रयोगों से विरोध
दिलाते हुए यो उपरेक्ष कर रहा है उसको तुम पारण करो ॥१४॥

वक्तव्य—चरक शास्त्र का आधार तथा वेदात्म
मूल १५ और १६ में सकारण बतलाया गया है। यही शास्त्र
की विचरणीयता प्रतिपाद्य करने के लिये प्रत्यक्षादि जीव
प्रयोग निर्दित किये हैं वे प्राप्ति गोत्रम के स्वाय शास्त्रानुस
हैं—‘प्रत्यशानुभानोपमानाद्यानुभानोपमानाति’ (स्यायुमूल)। वैश्यों
और सोलह मनादुमार प्रमाण तीन होते हैं और उपमान ।
समावेष यही अनुभान में होता है । वे उपमान स्वतन्त्र प्रमा-
नहीं मानते । आयुर्वेद चार प्रमाण मानता है । चरक
हिता है—दिविदेव दशु सर्व सत्त्वन्तर । तथा चतुर्विधा परीक्ष-
प्रयोगेन प्रयोगनन् बुक्तिभूति । (सू. अ. ११)

उनके लक्षण-प्रत्यक्ष—प्रयत्न नाम तदात्मन दर्शिते-
स्वयुक्त्यन्ते । प्रयोगाविन्द्र का उदाहरण—नामा में वर्ष
प्रयोग करने से या सूक्ष्म की तरफ देखने से हीक उपर द्वितीय
आयम का अर्थ शास्त्र या वेद होता है । आयमविवेस
का उदाहरण—

भूतेष्व द्विया—‘देवा दहस्य विरवित्प्रदिनि’ ॥

अनुमाने नाम यत्ते तुष्टोदेहः ॥ उदाहरण—तदात्मन
नन्दप्रदेहं प्रत्यक्षाद्यानुभानोपमानायायुरुच्यते इन्द्रायुरुच्यते वा वै
यत् वै इस विषय दीक्षयते ॥ (सू. अ. १५)

नामान् का हक्षण—‘वैदेव वन्याय वस्त्रात्मप्रियं प्रय-
त्नम् । वै वस्त्रात्मन्, विद्यर्द्वन्द्र विद्यर्द्वेष ॥

एतद्विषयं प्रथमम्, प्रागभिद्यातवरणसंरोहात्, यज्ञशिरः संधानाच्च । श्रूयते हि यथा—‘रुद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्नमिति । ततो देवा अश्विनावभिगम्योच्चुः—भगवन्तौ ! नः श्रेष्ठतमौ युवां भविष्यथः । भवद्द्वयां यज्ञस्य शिरः संधानतव्यमिति । तावूच्चतुरेवमस्त्विति । अथ तयोरर्थे देवा इन्द्रं यज्ञभागेन प्रासादयन् । ताभ्यां यज्ञस्य शिरः संहितम्’ इति ॥१५॥

(शारीरिक रोग उत्पन्न होने के) पूर्व (देव दैत्यों के युद्ध में) प्रहारजन्य वर्णों का रोपण करने के कारण तथा यज्ञ के कठे हप्त पित्र को (धड़ के साथ) जोड़ देने के कारण यही (शत्य ही) युर्वेद का अंग आध द्वारा होता है । ऐसा सुना जाता है कि रुद्र ज्ञ का सिर काट दिया था तब सब देवता अश्विनीकुमारों के स जाकर कहने लगे ‘आप दोनों भगवान् हमारे से अछ हो, अपको यज्ञ का सिर जोड़ना चाहिये । दोनों अश्विनीकुमार ले ‘ऐसा ही हो जायगा । तदनन्तर उन दोनों को यज्ञ का गांग मिलने के लिये देवताओं ने इन्द्र को प्रसन्न किया और अश्विनीकुमारों ने यज्ञ का सिर जोड़ दिया ॥१५॥

बत्तकव्य—इस सूत्र में शत्यशास्त्र का आद्यत्व या प्रधानता तलाने के लिये दो योग्य कारण दिये हैं । प्राचीन आर्य क्षात्रीय और प्रवासी थे । उनका और अनार्य लोगों का हमेशा संप्राप्त हुआ करता था; इसलिये उन को कायचिकित्सा की अपेक्षा शत्यचिकित्सा की अधिक आवश्यकता थी जिस के कारण शत्यांग अन्य अंगों की अपेक्षा प्रधान माना गया था ।

दूसरे कारण में ऐसी घटना बतलाई गई है जो शत्यचिकित्सा के सिवाय अन्य अङ्गों से होना असंभवनीय है और जिसके कारण समाज में चिकित्सकों का संमान पहले से अधिक होने लगा । इस से भी शत्यचिकित्सा का प्राधान्य सिद्ध होता है ।

यह घटना शतपथ व्राह्मण, ऐतरेय व्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता में भिलती है—यज्ञस्य शिरच्छित ते देवा अश्विनाववृवर्ण मिपजौ वै स्य इन्द्रं यज्ञस्य शिरः प्रतिपत्तमिति तावद्वृत्तां वरं वृणवावै ग्रह एव नावरात्रिपि गृह्णतामिति ताभ्यामेतमाश्विनमगृह्णन्तो वै तौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यपत्ताम् ॥ (तैत्तिरीय संहिता ६ । ४ । ९)

चरक संहिता में भी अश्विनीकुमारों का वर्णन करते समय इस घटना का उल्लेख सर्वप्रथम किया गया है—

अश्विनो देवमिपजौ यज्ञवाहाविति सृष्टौते ।

दक्षस्य हि शिरच्छित्रं पुनस्ताभ्यां समाहितम् ॥ (च. अ. १)

अष्टास्त्वपि चायुर्वेदतन्त्रेषु एतदेवाधिकमभिमत्तमाशुक्यिकरणात्, यन्त्रशत्रुव्याप्तिप्रणिधानात्, सर्वतन्त्रसामान्याच्च ॥१६॥

अन्य अंगों की समान चिकित्सा इस में होने के कारण, अन्य शत्रुव्याप्ति और अग्नि का व्यवहार करने के कारण, तथा चिकित्साफल शीघ्र मिलने के कारण आयुर्वेद के आठों अंगों में यही अंग सब से अधिक अभिमत अर्थात् उत्कृष्ट है ॥१६॥

बत्तकव्य—इस सूत्र में शत्यतंत्र का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करने के लिये एक उत्कृष्ट विधि है जो विषय ग्रन्थ विषय ग्रन्थ

प्रयोग जरा संदिग्ध है । इसके कई अर्थ हो सकते हैं । इनमें से जो अर्थ अधिक प्रशस्त प्रतीत हुआ वह ऊपर दिया है । इससे सुश्रुत का वैशिष्ट्य स्पष्ट रूप से दिखलाया जाता है । जैसा कि दृढ़वल ने चरकसंहिता की विशेषता बतलाने के लिये ‘यदिहस्ति तदन्यत्र यज्ञहस्ति न तत्कवित् ।’ श्लोकार्ध बनाया है, जैसा भी उपर्युक्त सूत्र के अनुसार सुश्रुतसंहिता की विशेषता बतलाने के लिये निम्न श्लोकार्ध हो सकता है—

‘तद्रिहस्ति यदन्यत्र यज्ञहस्ति न तत्कवित् ॥’

तदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं वृत्तिकरं चेति ॥१७॥

यह शत्यतन्त्र मोक्षदायक, पुण्यदायक, स्वर्गदायक, यथा कैलाने वाला, आयु बढ़ाने वाला और (द्रव्योपर्जन से) निर्वाहोपयोगी है ॥१७॥

बत्तकव्य—सांप्रत वैद्य लोग रोगियों से फ्रीस लेकर अपना निर्वाह करते हैं । इस प्रकार चिकित्सा के बदले धन या अन्य वस्तु मांगना श्रुति, स्मृति तथा आयुर्वेद संमत नहीं है । तैत्तिरीयसंहिता में लिखा है कि यज्ञशिरःसंधान के बदले अश्विनीकुमारों ने यज्ञ में भाग मांग लिया अतः देवता उनको अपवित्र मानने लगे—यदाश्विनी गृह्णते यज्ञस्य निष्कृत्यै तौ देवा अग्रवत्र पूतौं वा इसमें मनुष्यचरौ भिजाविति ।

चरकसंहिता में लिखा है—

धर्मर्थं नार्याकार्थमायुर्वेदो महर्पिणः । प्रकाशितः—

कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम् ।

ते हित्वा कांचनं राशिं पांशुराशिमुपासते ॥ (च. अ. १)

यह वचन सच्च वैद्यों के लिये नहीं परन्तु वैशधारियों के लिये है ।

वरमाशीविपविपं कथितं ताम्रमेव वा ।

पीतमत्यसिंतसा भस्तिता वाप्ययोगुडाः ॥

न तु श्रुतवतां वैशं विभ्रता शरणागतात् ।

गृहीतमन्नं पानं वा वित्तं वा रोगीविदिताव ॥ (च. सू. अ. १)

यहाँ चिकित्सा के बदले अन्यपान चित्तादिक का ग्रहण करने के लिये निषेध किया है । रोगी या उसके आसमिन्न अपने संतोष से यदि कुछ दान करें तो उसका ग्रहण करने के लिये निषेध नहीं है ।

या पुनरीश्वराणां वसुमतां वा सकाशात् सुखोपहारनिमित्ता भवत्यर्थानामवासिः………सोऽस्त्वार्थः ॥ (चरक. सू. अ. १०)

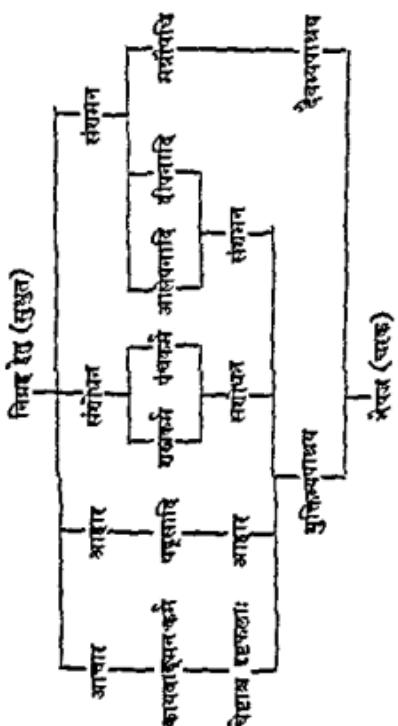
इस प्रकार धन धान्यादिक की जो प्राप्ति होती है उस पर निर्वाह करना यह वृत्त्यकर शब्द का अर्थ है । धन की प्राप्ति न होने के कारण रोगी की चिकित्सा न करना पातक है । अष्टांगसंग्रह में चिकित्सा विषयक एक बहुत ही सुंदर और रोचक सुभाषित है ।

कन्चिदर्थः कचिनित्रं कचिदर्थः कचिदधशः ।

कर्मभ्यासः कचिच्छेति चिकित्सा नास्ति निष्कला ॥ (उ.अ. ५०)

ब्रह्मा प्रोवाच ततः प्रजापतिरधिजगे, तस्माद्विश्वनौ, अश्विभ्यामिन्द्रः, इन्द्रादहं, मया त्विह प्रदेयमर्थिभ्यः प्रजाहितहेतोः ॥१८॥ भवति चाप—

अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो



प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो वलयण्ठेऽजसां च; स पद्धु रसेष्यापचः; रसाः पुनर्देव्याध्या; द्रव्याणि पुनरोपधयः। तास्तु द्विविधाः स्यावत् जङ्घमध्य ॥२५॥

आहार से प्राणियों की उत्पत्ति तथा उनके बल, वर्ण और ओग्नि (vitality) का प्रबोधन कारण है। वह आहार पृथक्काशपी है और रस द्रव्याधी होते हैं। (वैष्णक शास्त्र में) ओपियिं द्वारा प्रयोग कहते हैं और इनके स्थावर और जैगम दो भेद हैं ॥२६॥

यद्यत्य—माता पिता में शुक्रोग्निं (sperm और ova) की उत्पत्ति आहार से ही होती है। दोनों का संयोग होने के पश्चात् भी गर्भ की हृदि माता के आहारसे से ही होती है। अन्म होने के पश्चात् भी आहार सेवन से गर्भीर की हृदि होती है और वलयण्ठिक प्राप्त होते हैं। आहार ओपियिं से जाता है। अतः गर्भीर की उत्पत्ति और स्थिति आहार पर निर्भर है।

ओपियेंड्रेन् । वज्राद् तुर्ह । वज्राद् भूमानि जायन्ते । जनन्यदेव वर्णने । वज्राद् भूमानो व्येष्ट । तर्मात् संक्षेपमूच्यते । (सेलिरीयोपियिन् वज्राद्भान्दवही)

परिवय द्विप्रभीकोहो वज्राद्भान्दव । (व सू अ २८)

वैष्णक शास्त्र में ओपियि शब्द से ज्ञायम्, उद्दित्त और पारिव द्रव्यों का बोध होता है, तपापि हस्तरमें आहारोपयोगी द्रव्यों के लिये सुखनाया ओपियि शब्द वही मपुक होने के कारण पारिव द्रव्यों का समावेश ओपियि में नहीं करता

जातिये। दूसरा कारण यह है कि सूत्र २७-२८ में ओपियि के लो आठ विभाग बतलाए हैं, उनमें भी पारिव द्रव्यों का समावेश न करके उनका स्वातन्त्र्य उत्तेज सूत्र ३१ में किया है। स्थावर शब्द का भी यहाँ जो बनस्पत्यादि चतुर्विधाग्रन् अर्थ दिया है, वह एक्षेत्रीय और अन्य स्थान के उद्दित्तकाम के लिये है। बास्तव में स्थावर शब्द से पारिव और उद्दित्त दोनों गणों का बोध होता है।

तासां स्यावताराचतुर्विधाः—चनस्पतयोः, चृत्ता, वीरुद्ध, ओपधय इति। तासु, अपुप्या. फलवन्तो वनस्पतयः, पुष्पफलवन्तो वृक्षाः, प्रतानवत्यः स्त्र निविष्य वीरुद्धः, फलपक्कनिष्ठा ओपधय इति ॥२७॥

इनमें स्थावरों के चार भेद हैं—चनस्पति, चृत्ता, वीरुद्ध और ओपियि। इनमें से जिनके पुष्प न हों परन्तु फल हों वे वनस्पतियाँ हैं, जिनके पूर्ण भी हों और फल भी हों वे वृक्ष हैं, जो फैलने वाली या शुष्म के स्वस्थ की छोटी हों वे वीरुद्ध हैं, जो एक बार ही फल के पक जाने पर नष्ट हो जाती हों वे ओपियियाँ हैं ॥२८॥

यद्यत्य—अतुष्ठा—इसका अर्थ ‘अविभानुपुष्पा’ (इलहण) या ‘पाता उप्पमलतेपौर फलवन्म’ (हारामध्य) पैसा किया गया है और इस वर्ग के उदाहरण में औदुर इल्याति इति निर्दिष्ट किये हैं। इन शूक्ष्मों का विचार आवृत्तिक वैज्ञानिक इति से करने पर यह मालाम् होता है कि इनके मी असंस्पृश्यम् पूर्ण हों वो एक बड़ आधार में (closed receptacle) रहते हैं और इनका फल सामासिक (compound) होता है जिसके भीतर इन पूर्णों से बने हुए अनेक शूक्ष्म होते हैं। इसलिये अपुष्प का अर्थ ‘अविष्युपुष्प’ करता प्रयत्न है, व्योंगि ये पूर्ण बाहर से दिखाई नहीं देते हैं।

प्रतानवत्य—तुरुकृत यथा त्रुपुलावृमूति । स्त्रिविष्य—काहरूदिता यथा शालपार्वीक्षिपव्यादियः। इसको युष्म भी कहते हैं। इन दोनों के सिवाय वीरुद्धवर्गी में तृणजाति तथा युष्म (प्रभूमूल संवत्सरा रोमुष्ममूत्र) और वल्लि (उद्यत्याद या भूमूलेनामोहनित) का भी समाविष्य होता है—उद्यत्यालूम त्रिविष्य तैयर तृणजाति । वीक्षण्डलहान्वेद प्राणा बृत्य यत च (मतु अ १)। ओपियि—वज्रूत पुष्प फलयुक्त पश्च फल एक जाने पर नष्ट होने वाली। यथा—शालिपूष्प यत्किल्मुद् स्यादि । ओपियि फलकान्ता वज्रूप्यलीणा । (मतु अ १)

जङ्घमा खल्पयि चतुर्विधा—जरायुजाएडज र्वेदजोन्द्रिताः ॥२८॥

जङ्घम भी चार भक्तार के हैं—जरायुज, अण्डज, र्वेदज और उदित्त ॥२८॥

यद्यत्य—जो चलने वाले होते हैं वनको जङ्घम कहते हैं, तपापिति जंगमम्। गर्भांशय में गर्भ का जो आवरण होता है उसे जरायु इहते हैं—ग्रंथेनवर्कर्म्मुक जरायु। ग्रंथेनी में जरायु का भी Placenta वे membranes होता है। प्रथम् ग्रंथांशय में एक विठेव आवरण में जिनकी उपस्थि होती है, उनको जरायु कहते हैं। ग्रंथेनी में इस वर्ग का नाम Placentalis or viviparous है। अण्डज—अण्डे से

वरज्ञ होने वाले जीव । औप्रेजी में दूसरे वर्ग का नाम Oviparous है । स्वेदज वर्ग का दूसरा नाम उभयज भी है । जननि फोड़कर जो उत्पत्ति होते हैं वे उद्दिज हैं—उद्दिज पृथिवी जानने इति उद्दिजः । औप्रेजी में दूसरे वर्ग का नाम Vegetable Kingdom है ।

तत्र पशुमनुष्यव्यालादयो जरायुजाः, स्वर्ण-
सर्पसरीसुप्रभृतयोऽरुदजाः, कुमिकीटपिरी-
लिकाप्रभृतयः स्वेदजाः, इन्द्रगोपमण्डुकप्रभृतय
उद्दिजाः ॥२९॥

उनमें से (गोमिष्ठादि शुणाहारी) पशु, मनुष्य, (व्याघ्र सिंहादि मांगाहारी) हिंग पशु इत्यादि जरायुज होते हैं । पत्नी, सर्प, मरुत्सु, मकरादि अण्डज होते हैं । कुमिकीट पिरी-लिकादि स्वेदज होते हैं । इन्द्रगोप मण्डुक प्रभृति उद्दिज होते हैं ॥२९॥

वक्तव्य—यहाँ जन्म सृष्टि के चार भाग किये हैं; परन्तु अन्यत्र केवल तीन ही भाग होते हैं—जरायुज, अण्डज और स्वेदज और इन तीनों में समस्त लंगमसृष्टि का समानेग होता है । यहाँ उद्दिजवर्ग में जिन लंगम जीवों का निर्देश नहीं, उनका समावेश अण्डजवर्ग में होता है ।

अण्डजः पश्चिमः सर्पो नक्ता मरुत्सुश चन्द्रपः ।

यानि वैवेदिकाराणि रेत्कामान्त्रिकानि च ॥(मनु. अ. १. ४५)

उद्दिज वर्ग में केवल चतुर्विध वनस्पत्यादिगण होते हैं एवं वह स्थावर का एक विभाग होता है ।

उद्दिजः स्थावरः सर्वे वीजाण्प्रयोगिणः ॥ (मनु. अ. १. ४६)

चरक और भेल संहिता में लिखा है—

औद्दिज तु चतुर्विषम् । वनस्पतिसत्या वीज्दानरस्त्वस्त्वपौष्पिः ।

(च. सू. अ. १)

उद्दिजासु तृणलक्ष्मानृक्षयनस्तयः । (भेलसंहिता)

तत्र स्यावरेभ्यस्त्वक्षपत्रपुष्पफलमूलकन्दनि-
रीसस्वरसादयः प्रयोजनवन्तः, जङ्गमेभ्यश्चर्मनस्त्व-
त्रेमस्थिरादयः ॥३०॥

इनमें स्थावरों के छाल, पत्ते, फूल, जड़, कन्द, गोंद, वरसादिक प्रयोजन में आते हैं, और जंगमों के चर्म, नख, गाल, स्तकादिक प्रयोजन में आते हैं ॥३०॥

वक्तव्य—हथिरादयः—मज्जा, यकृत, पित्त इत्यादि ।

मृद्दा भक्षयेदज्ञामां पित्तसमायुतम् । (उत्तरस्थान अ. ४५) ।

इन जंगमावयवों का आन्यन्तरीय प्रयोग करके रोगों की चिकित्सा करने का अंग पादचात्य वैद्यक में सांप्रत वहुत उपलब्ध हुआ है । उसे Organo-Therapy कहते हैं । इनमें यकृत, स्तीहा, मज्जा, अग्न्याशय, थायराइंड, प्याराथायराइंड, जननग्रन्थियाँ आदि शरीर के अनेक अवयव विधिय रोगों में सफलता से प्रयुक्त हो रहे हैं ।

स्थावर और जंगमों से जो जी चीज़ काम में लाई जाती है, उनके कुछ अधिक नाम चरकसंहिता में दिये हैं—

मधुनि गोरसः पित्तं वसा मज्जासुगमिषम् ।

विष्मूरुचर्मीतोऽस्तिसायुश्चनानाः सुराः ।

जङ्गमेभ्यः प्रयुज्यन्ते केशलोमानि रोचनाः ॥ (सू. अ. १)

नृश्वरप्रसारनियांसनालवस्तपहातः ।

क्षाराः धीरं फलं पुष्पं भरकौटानि कञ्जकाः ।

पथाणि शुद्धाः कन्दाध प्रोहार्धीदिते गणः ॥(च.सू.अ.१)

पार्थिवाः सुवर्षीरजतमस्तिमुक्तामनःशिलामृत-
पालादयः ॥३१॥

पार्थिव द्रव्यों में सुर्यग, रोप्य, मणि, मुक्ता, मनःशिला, मिट्ठा, शिकरा आदि पार्थिव काम में लागे जाते हैं ॥३१॥

चक्षव्य—उपर्युक्त द्रव्यों के सिवाय शिलाजतु, सिरुता, सुथा, एरिताल, लवण, गैरिक, रसाजनादि द्रव्यों का भी समावेश पार्थिव ओपथियों में होता है । पार्थिव द्रव्यों का समावेश ऊपर स्थावर विभाग में न करने के कारण यहाँ उनका स्वतन्त्र उद्देश किया है । आहार की दृष्टि से यथापि यह गण अत्यन्त गोण ऐता है तथापि ओपथि की दृष्टि से यह एक अत्यन्त महत्त्व का गण है । चरक में भी ओपथि द्रव्यों के सुश्रूत के अनुसार तीन विभाग किये हैं—

तत्पुरिकिप्तं प्रोक्तं वाग्मीश्चिदपार्थिवः ॥(च. सू. अ. १)

कालकृताः प्रवातनियातातपच्छायात्योत्तातमः-
शीतोप्यावर्पाऽद्वोरात्रपक्षमासर्व्यनानदयः संवत्सर-
विशेषाः ॥३२॥ त पते स्वभावत एव दोपाणां सञ्चय-
प्रकोपमशमप्रतीकारहेतवः प्रयोजनवन्तस्थ ॥३३॥

वायु चलना, वायु वंद होना, धूप, धाया, चांदीनी रात, अंधेरा, सरदी, गरमी, वर्षा, दिन, रात, पक्ष, भृतीना, भृतु, अयन और संवत्सरादि विशेष कालकृत (ओपथि) हैं ॥३२॥ (कारण) ये सब काल विशेष स्वभाव से ही (वात पित्त कफ) दोषों के संचय, प्रकोप, प्रशमन और प्रतीकार करते हैं (और चिकित्सा के) प्रयोजन में आते हैं ॥३३॥

चक्षव्य—इन कालकृत विभागों का ज्ञान स्वास्थ्यरक्षण तथा रोग चिकित्सा में आवश्यक होने के कारण इनका समावेश ओपथियों के साथ किया गया है । इनसे स्वास्थ्य-रक्षण में ओपथि आहरण करने में, ओपथियाँ तैयार करने में, द्रव्यों का गुण धर्म जानने में, ओपथि का प्रयोग किंस समय और कितने काल तक करना चाहिये इस विषय में, शर्षकर्म करने में बहुत ही सहायता मिलती है । कालकृत विभागों का विचार न करते हुए यदि चिकित्सा की जाय तो उसमें सफलता मिलना बहुत ही कठिन है । चरक में काल का वर्णन करके अन्त में लिखा है—

काले हि भैप्यज्यप्रयोगपर्याप्तिमिनिर्वेष्यत ॥(च०विमान.अ.८)

चिकित्सा में काल विभाग का निर्देश विधि और निषेध के स्वरूप का होता है । उपर जो काल के विभाग दिये हैं, उनके प्रयोजन के कुछ उदाहरण ग्रन्थों में से नीचे दिये हैं । लाजोतलेशीरुचन्दनानि दत्ता प्रवाते निशि वासेच । निवातदेश निचिति कुत्ता । मदनफलानमातपपरिशुक्षाणाम् । छायाशुर्क विभायाय वटी कार्या चणोपमा । वायवश्चन्द्रपादाय शीतदाहन्तरापहः । अपेतलोटकाषायैः संरोध्यश्च तमोगृहे । नैवातिशीते नास्युणे न प्रवाते न चान्ति । सिराणा व्यवन कार्यमरोगे वा कदाचन ॥

न च आलेपं रात्रोऽप्युचित । प्रदेहसाथ्ये व्याधौ तु हितमाणेन दिवा-। पक्षाज्ञातरसं पितृ । खानादिनानाविधिना जहाति मासाद-

गृह्याहमकृररैपेतं

प्रापोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टम् ॥१९॥

इम आयुर्वेद के सर्व प्रथम महार्जी कर्ण करते रहे, महा में दक्षप्रापणि पहले रहे, दक्षप्रापति से अधिनी-कुमार, अधिनीकुमारों से हनु और (धन्वन्तरि जी वह है) हनु में मै पहला रहा, अब मुझे प्रजाकल्पार्थ मृत्यु लोक में विश्वार्थिया के लिये इमका दान करना (पदाना) है ॥२०॥

इसमें यात्र यह है कि—मै देवों की बृद्धाचरण, रोग और मृत्यु हरण करने वाला आदि देव धन्वन्तरि आयुर्वेद के अन्य खंडों के साथ गृह्यतत्र का उपदेश करने के लिये पिर इम पृथिवी पर प्राप्त हुआ है ॥२१॥

यत्कथ्य—पृथ १० में धन्वन्तरि सप्तदाय की परम्परा यालाई गई है। इसमें और पहले मृत की ईका से उपलब्ध सुखुन्त्रहिता की निश्च परम्परा होती है।

महा-दक्षप्रापणि-अधिनीकुमार-हनु-धन्वन्तरि-सुखुन्त्रहिता नामानुन् । 'र्याहमकृररैष्टम्' का अर्थ समझने के लिये देखो अध्याय ३ होके ४—५।

अस्मिन्नु शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरित्यमवायः पुरुष इत्युच्यने । तस्मिन् किया, सोऽधिष्ठानं, कसान् ? लोकस्य हृविधात्, लोको हि द्विधिः स्थापतो जह्नमध्य, हृविधात्मक पवाश्रेयं सौम्यध्य, तद्यस्यनान्; पञ्चामत्रो या, तत्र चतुर्विधो भूत-प्राप्तम् स्तेदज्ञाङडजोऽद्विजजरायुजंगंवः, तत्र पुरुषः प्रधानं, तन्योपकरणमन्यत्; तस्मात् पुरुषोऽधिष्ठानम् ॥२०॥

आयुर्वेद में गृहिणी, जन्म, नेत्र, वातु, आकाश और आमा इन छ तत्त्वों के स्वाम का नाम पुरुष है। इसी पुरुष की विकिपात्रा की जानी है, और यही पुरुष विकिपात्रा कंपेन्ट का प्रधान है। कर्त्तवीक जगत् दों प्रकार का होने से, सर्वीव एष्टि व्याप्त भींर औंगम हों प्रकार की है, उण तथा गीत के अधिकत के मनुगार आप्तव और सौम्य र्मनी भी हों प्रकार की है, ग्रथा पार्वित, आव, आपेय, वार्षीय भींर आद्यात्मिप इम प्रकार एकामय है। साकार त्रिगमायाम एष्टि में शोदृश, अप्तव, उटित्र भींर जागुरुषं पेणे चार प्रकार होंगे हैं, इम सब में मनुष्य प्रधान (उठायें) हैं भींर अन्य ग्रथ उपरे दरारात्र हैं, इम बालं तं मनुष्य सर्वविकास का आपात है ॥२१॥

यत्कथ्य—पुरुष गरदे गे यही एवं पदा पश्चात्कृष्ट यदै गर्वीं गर्वि दा दोष हो गया है तपापि आयुर्वेद मनुष्य-विद्वान् गाय इनी के द्वारा पुरुष दा अर्थ मनुष्य करना बारपाप है। चार में लिया है—

मनुष्य पुरुषो देने हेतुदाता ग्रन् ।

१२२३ व मनुष्यो लक्ष्मणस्तदेव ॥ (ग्र. १.)

इति गरदे गरदे गर्वीं गर्वि दोष मनुष्या चाहिए।

१२२४ व मनुष्यो देने हेतु गरदे गर्वि ॥ अप्तवदाने ॥ (ग्र. १.)

मनुष्याम गर्वीं व गरदे गर्वि दोष ॥ गरदे गर्वि ॥

मनुष्यो देने हेतु गरदे गर्वि ॥ गरदे गर्वि ॥ (ग्र. १.)

तदुःखसंयोग व्याधय उच्यन्ते ॥२१॥

चतुर्विधाः—आगन्तवः, शारीरः, मानसाः, स्वा विकारघेति ॥२२॥

जितका स्थान उम मनुष्य को दुष्ट होता है उनकी कहते हैं ॥२१॥

ये रोग चार प्रकार के हैं—१ आगन्तु, २ शारीर, ३ मा॒ व्याभाविक ॥२२॥

वक्तव्य—विविध दुर्गमाधर्थानीति व्यापि । नावा इ के दुष्ट जो देती है वह व्याधि है। दुष्ट का अर्थ कायवाह नमी पीड़ा या प्रतिहृष्ट घेना है।

तेष्वागन्तवोऽभिधाततिमित्ता । शारीरास्त्व पानमूला वातपित्तकफयोणितसन्धिपातवैयम्भामित्ताः । मानसास्तु कोषधोकमयहर्यविषयोद्यमस्यादैन्यमास्त्वर्यकामलोभप्रभृतय इत्युद्योग्यमेभ्यन्ति । स्वाभाविकास्तु श्रुतिपासाजपम् निद्रामण्डतयः ॥२३॥

इनमें से आगन्तु रोग चोट आदि दगदें के कारण हैं। गारीरिक रोग (विशम) अद्यानादि से बात चित्त और इन इनमें से एक या अनेक की विषमता होती के का होते हैं। शोय, गोक, भय, हृष्ण, विषाद, हृष्ण, अम्बू मतोदैन्य, माल्यव, काम, होमादि, मानसिक रोग होता है वे अनेक प्रकारों के कारण होते हैं। शुष्मा, दूषा, दूष वस्त्रा, मृत्यु, निद्रा आदि स्वाभाविक रोग होते हैं ॥२३॥

यत्कथ्य—अभियान शस्त्र से शस्त्र, व्याह, दृष्टि व काल का अभियान समक कर संषेषात्मक प्रवृत्त, दृष्टवल भी और कालवल प्रवृत्त (ग्र. २४) रोगों का शमायें आप्त रोगों में बरता चाहिए। गारीर रोगों का दूसरा नाम रोग है। संषिपात्र गरदे का अर्थ एकत्र अवगतान या गम है। वातपित्तक की विषमायाम्य यह यों संषिपात्र गम विशेष अर्थ है वह अर्थ यही अभियान नहीं है। व्याहि गम से भी गारीर में देष्ट तीन ही दोष होते हैं।

इतिरेप्यान् एव देष्टवलवात् । (ग्र. २५)

रोगों च अर्थात् वातपित्तवेष्ट्यान् एव वल् ॥ (ग्र. २५.)

तपापि गत्यन्तव में वर्णोपति तपा वातपित्तवेष्ट्यान् के रूप का प्राप्ताय दोषों के कारण यही तपा अन्य रोगों च रूप का विशेष दोषों में दिया गया है—“रितिर देष्टवलवात्पित्तवेष्ट्यान् एव वल् ।

तो दो वातपित्त व विशम च वलात् ।

देष्टवलवात् च विशम दोष विशु वलवात् ॥ (ग्र. २५.)

इतिरेप्य एव दोषोपचयवलवात्पित्तवेष्ट्यान् वलवात्पित्तवेष्ट्यान् वलवात् ।

इति वातपित्तवेष्ट्यान् वलवात्पित्तवेष्ट्यान् वलवात् ॥ (ग्र. २५.)

प्रथा वात विशम वात वातपित्तवेष्ट्यान् वलवात् ॥ वलवात् ॥

एव और तप वलवात् वातपित्तवेष्ट्यान् वलवात् ॥ वलवात् ॥ वलवात् ॥

तीनों कारण नहीं होते । केवल रज् और तम मानसिक रोगों के कारण हैं । वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंब्रहः ।

मानसः पुनरशदिष्टो रजश्च तम एव, च ॥(च.सू.अ. १)

स्वभाव वल के कारण या प्रकृति शक्ति के कारण उत्पन्न हुए रोग स्वाभाविक कहलाते हैं । इनके कालकृत और अकालकृत दो भेद होते हैं—

तेऽपि द्विधिः कालकृता अकालकृताश्च । (सू.अ. २४)

इनमें जो कालकृत हैं, उनका प्रतिकार नहीं हो सकता है । यथा—जरा और मृत्यु । क्षुधा तृप्ता निद्रादिक जो दूसरे स्वाभाविक रोग हैं, उनका प्रतिकार यद्यपि हो सकता है तथापि स्वास्थ्य की दृष्टि से करना हितकर नहीं है । इसलिये कालकृत रोग निष्ठातिक्रिय हैं । अकालकृत रोगों का प्रतिकार करना चाहिये । वास्तव में अकालकृत रोगों का समावेश शारीर रोगों में होता है ।

आगन्तुक और शारीर रोगों का भेद—आगन्तुक में रोग उत्पन्न होने के पश्चात् वातादि दोषों की विप्रमता होती है । शारीर में प्रथम वातादि दोषों की विप्रमता उत्पन्न होकर पश्चात् रोग उत्पन्न होता है । चरक में लिखा है—

आगन्तुर्ह व्यथारूपसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तेष्वामाणं वैप्रम्य-
मायादयति, निजे तु वातपित्तेष्वामाणः पूर्वं वैप्रम्यमापद्धते जघन्यं
व्यथामभिन्निर्वित्यन्ति ॥ (सू.अ. २०)

त एते मनःशरीराधिष्ठानाः ॥२४॥ तेपां संशो-
धनसंशमनाहाराचाराः सस्यक्रप्रयुक्ता निग्रह-
देत्वयः ॥२५॥

ये चारों प्रकार के रोग मन और शरीर के आश्रयभूत ॥२४॥ देशकालादिक का विचार करके संशोधन, संशमन, आहार और आचार का प्रयोग करने से इन रोगों का प्रतिकार होता है ॥२५॥

वक्तव्य—इन चारों प्रकार के रोगों में मानसिक और इछा आगन्तुक रोगों का अधिष्ठान मन है और शारीर, आगन्तुक और स्वाभाविक रोगों का अधिष्ठान शरीर है, यद्यपि मानसिक रोगों से शरीर में पीड़ा होती है और शारीर रोगों से मन में पीड़ा होती है । मद् मूर्च्छा सन्न्यास प्रभभूतोन्मादापस्मारादि रोग वातादि दोषज होने के कारण शारीर ही मानना चाहिये गर्तु व्यवहार में उनका समावेश सदैव मानसिक रोगों में होता है । इसका कारण यह है कि यद्यपि ये दोषज होते हैं तथापि इनका अधिष्ठान शरीर की अपेक्षा मन में अधिक होता है । वास्तव में ये रोग उभयात्मक हैं । शुद्ध मानस रोग वे हैं, जिनके कारणभूत दोष रज तम और जिनका अधिष्ठान मन है ।

मानस इति न कामकोथादिवन्मानसो व्याधिः, किन्तु शारीरदोष-
दृष्टिमनःप्राधान्यात् शरीरस्थले चाप्राधान्यान्मानस इति व्यपदेशः ।

संशोधन—जो शारीरस्थ दोषों को बाहर निकाल देता है, उसे संशोधन कहते हैं । यह वायु और आम्बन्तर दो प्रकार का होता है । वमन, विच्वन, शिरोविच्वेचन और वस्ति चतुः प्रकार अन्तः संशोधन हैं और यन्त्र शस्त्र क्षार अग्नि जलोका द्वारा छेदन भेदन वेधन लेखन उपाटन प्रच्छनकर्म से बाय्य संशोधन होता है ।

यदोरयेद्विद्वयोन् पञ्चवा शोधनं च तत् ।

निस्त्रै वमनं काषायपित्तोद्दृष्टिवित्तिः ॥(अ.सं.सू.अ. २४)

संशमन—जो शारीरस्थ दोषों को बाहर नहीं निकालता है, समदोषों में वैप्रम्य नहीं उत्पन्न करता है तथा विप्रम्य दोषों का उपशम करता है, वह संशमन है ।

न शोधयति यद् दोषान् समानोदीरयत्यपि ।

समीकरोति विप्रमान् शमनं तत्—॥ (अ.सं.सू.अ. २४)

यह संशमन तीन प्रकार का है—१ दैवव्यप्रश्रय, मन्त्रोपचयि
मणि मंगल वल्युपहारादि, २ वायु, आलेप परिपेकावगाहादि
३ आम्बन्तर पाचन लेखन वृंहणादि ।

आहार—मधुरादि भेद से छः प्रकार का, पेयादि भेद से चार या छः प्रकार का, उण्ण और शीत वीर्य की दृष्टि से दो प्रकार का, पृथिव्यादि भेद से पांच प्रकार का होता है । रोगी को आहार देते समय इन सब वातों का विचार करना चाहिये ।

आचार—शारीरिक, मानसिक और वाचिक कर्म । यद्यपि आहार और आचार का समावेश संशमन चिकित्सा में हो जाता है तथापि इनका प्राधान्य प्रदर्शित करने के लिये स्वतन्त्र उल्लेख किया गया है । इनके पर्य के सिवाय चिकित्सा में सफलता मिलना अनेक रोगों में असम्भव सा प्रतीत होता है । इसलिये लिखा है—

पथ्ये सति गदारत्स्य किमौपथनिपेवणम् ।

पथ्येऽसति गदारत्स्य किमौपथनिपेवणम् ॥

विनाडिभेषजैर्याधिः पथ्यादेव निर्वर्तते ।

न तु पथ्यविहीनस्य भेषजानां शरैरपि ॥

सम्यक् प्रयुक्त—अष्टाङ्गहृदय में प्रदर्शित की हुई निम्न वातों पर ध्यान देकर ।

दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः ।

सत्त्वं सात्यं तथाऽहरमवस्थाश्च पृथग्विभाः ॥

सूक्ष्मसूक्ष्माः समीद्वैषां दोषौपथनिस्पष्टे ।

यो वर्तते चिकित्सायां न स स्वलति जातुनित् ॥ (सू.अ. १२)

निग्रहेतु—धातुवैप्रम्य दूर करने के लिये जो जो उपयोगी हो सकता है वह सब है, चरक की परिभाषा में इसको 'भेषज' कहते हैं ।

भेषजं नाम तदुपकरणोपकल्पते यिषजो धातुसाम्याभिनिर्वृत्तौ प्रयत्नमानस्य । तद्विविधं व्यप्राश्यभेदात्, दैवव्यप्राश्यं युक्तिव्यप्राश्यं चेति । (च.८) । युक्तिव्यप्राश्यं संशोधनोपशमने चेष्टाश्च दृष्टफलाः आहारौपथद्रव्याणां योजना । (च.सू.अ. ११)

इससे यह स्पष्ट है यहाँ रोगों की जो सामान्य चिकित्सा बतलाई है वह चरक के साथ पूर्णतया मिलती है । आगे दोनों का समन्वय बतलाया गया है ।

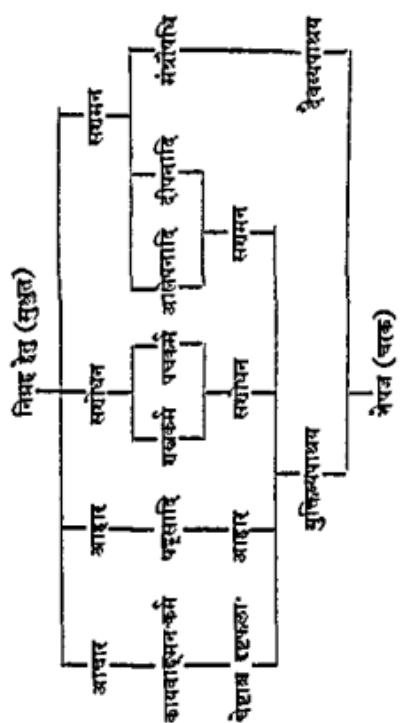
उपर चिकित्सा के जो चार प्रकार बतलाये गये हैं, उनके लिये अंग्रेजी में निम्न नाम प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि वे पूर्णतया समानार्थी नहीं हैं ।

संशमन चिकित्सा—Sedative or Conservative treatment.

संशोधन चिकित्सा—Eliminative or Radical treatment.

आहार चिकित्सा—Dietetic treatment.

आचार चिकित्सा—Purgative treatment.



प्राणिनां पुनर्मूलमादारो थलवर्णजसां च; स
पदसु रसेष्यापत्तः; रसाः पुनर्दृश्याश्रयाः; द्रव्याणि
पुनरोपय. । तास्तु द्विविधाः स्थापता जङ्गमाश्च
॥२९॥

आहार तो प्राणियों की उत्पत्ति तथा उनके मृत्यु, जीवन और ओज (vitality) का प्रधान कारण है। वह आहार यसुस्त्रायी है और सब द्रव्यादी होते हैं। (वैयक्ति तात्त्व में) अप्राणियों को प्रश्य कहते हैं और इसके स्थानवर और जंगल दो भेद हैं ॥२१॥

युक्तव्य—माता पिता में शुक्रयोगिता (sperm और ova) की उत्पत्ति आहार से ही होती है। दोनों का संयोग होने के पश्चात् भी गर्भ की वृद्धि मात्र के आहारसे से ही होती है। जल्म होने के पश्चात् भी आहार सेवन से शरीर की वृद्धि होती है और बलवानांदिक प्राप्त होते हैं। आहार औषधियों से आता है। अत शरीर की उत्पत्ति और स्थिति आहार पर निर्भर है।

बोधविद्याऽन्नम् । अश्रावं पुण्यं । अश्राद् भूतानि जायन्ते ।
जातान्पृष्ठेन वर्धन्ते । अश्रद्भूतानां क्षेष्ट्रम् । तस्मात् स्त्रीवधमुच्चते ।

(तैतिरीयोपनिषद् ब्राह्मणस्त्वर्थी) परीक्ष्य द्विमध्येयारेहो ब्राह्मणस्त्वत् । (च सु अ २८)

वैष्णव शास्त्र में ओपरिव शब्द से ज्ञान, उद्घाटन और पारिवह द्रष्टव्यों का बोध होता है, तथापि इसामर्भ आहारोपयोगी द्रष्टव्यों के लिये सुखतया ओपरिव शब्द पहली प्रयुक्ति होने के कारण पारिवह द्रष्टव्यों का समावेश ओपरिव में नहीं करता

चाहिये। दूसरा कारण यह है कि सूत्र २७-२८ में ओपिडि के जो आठ विभाग बतलाये हैं, उनमें भी पार्श्व द्रव्यों का समावेश न करके उनका स्वातंत्र उल्लेख सूत्र १ में किया है। स्थावर शब्द का भी यहाँ जो वनस्पत्यादि चुरुविधियां अर्थ दिया है, वह एकदीर्घीय और अन्य स्थान के उल्लिङ्गण के लिये है। वास्तव में स्थावर शब्द से पार्श्व और उल्लिङ्ग दोनों शब्दों का बोध होता है।

तासां स्यावराद्धतुर्विधाः—वनस्पतयो, वृक्षाः,
धीरुद्ध, ओषधय इति । तासु, अपुष्णाः फलवन्तो
वनस्पतयः, पुण्यफलवन्तो वृक्षाः, प्रतानवत्यः स्त-
मिन्याश्च धीरुद्धः, फलपाकनिष्ठा ओषधय इति ॥२७॥

उनमें स्थावरों के घार भेद हैं—दनसप्ति, वृक्ष, वीर्य
और ओपिधि । इनमें से जिनके वृष्ट म हों परन्तु फल हों वे
दनसप्तियाँ हैं, जिनके फूल भी हों और फल भी हों वे वृक्ष हैं,
जो फैलने वाली या गुलम के स्थरूप की होती हों वे वीर्य हैं,
जो एक बार ही फल के पक जाने पर नष्ट हो जाती हों वे
ओपिधियाँ हैं ॥३॥

वस्त्राद्य—भयुषा—इसका अर्थ 'मविदमानयुषा' (दल्हण) या वेशी पुर्यममोर्जैव फलकम्भ' (हाराणचद) देखा किया गया है और इस की के उदाहरण में अंतुम इत्यादि वृत्त निर्दिष्ट किये हैं। इन वृत्तों का विचार आगुनिक वेजानिक इष्ट से करने पर यह मालम होता है कि इनके भी असल्य सूक्ष्म फूल हैं जो एक बद आधार में (closed receptacle) रहते हैं जो इनका फल सामासिक (compound) होता है जिसके भीतर इन फूलों से थने हुए अनेक धीम होते हैं। इसलिये अपुष का अर्थ 'अट्टयुष' करना प्रशस्त है, जबकि ये फूल बाहर से दिखाई नहीं देते हैं।

—मतान्वयन्य—सुदुरक वथा श्रुत्यानुप्रवृत्ति । स्तविन्य—
काण्डरहित यथा शास्त्रार्थादिविषयादय । इसको गुण भी कहते
हैं । इन दोनों के स्विवाप वीरवर्धने में तुरजाति तथा गुरुम्
(एकलाल स्थानात् शोध्यमध्याय) और बहिल (शुद्ध्यादय
या शूद्धेश्वरादेवनि) का भी समावेश होता है—गुरुत्वम् तु
विविध तैयर् तुरजातय । वीक्षण्डहायेव भ्रातान् वथय एव
(भूत अ १) । ओषधि—जहुत उप फलयुक्त परंतु फल पक
जाने पर न दृष्टे वाली । वथा—शालिभूषण वरतिम्भूत स्त्वादि ।

ओवद्य फलामान्त ब्रह्मयक्तिपेणा । (मनु० अ० १)
 जहमाः खल्वपि चतुर्विधाः—जरायुजार्डज-
 एवं देवित्ता : ॥३॥

जाग्रूम भी धार प्रकार के हैं—जरायुज, अण्डज, स्वेदज
विद्युतिका ॥३॥

यत्कृत्य—जो स्थले वाले होते हैं, उनको जड़म कहते हैं, गर्भांशुति जगमध्। गर्भांशु में गर्भ का जो आवरण होता है उसे जारायु कहते हैं—गर्भेणवनर्थ्युक जारायु। औप्रैली में जारायु का अर्थ Placenta with the membranes होता है। अर्थात् गर्भांशु में पृथक् विशेष आवरण में जिनकी उत्पत्ति होती है, उनको जारायु कहते हैं। औप्रैली में इस वर्ग का नाम Placentalia of viviparous है। मण्डन—अर्धे से

उत्पन्न होते वाले जीव । अंग्रेजी में इस वर्ग का नाम Oviparous है । स्वेदज वर्ग का दूसरा नाम उपमज भी है । जीवन फोड़कर जो उत्पन्न होते हैं वे उद्दिज्ज हैं—उद्दिज्ज पृथिवी जीवने इति उद्दिज्जाः । अंग्रेजी में इस वर्ग का नाम Vegetable Kingdom है ।

तत्र पशुमनुष्यव्यालादयो जरायुजाः, खग-
सर्पसरीसृपभृतयोऽरण्डजाः, कृमिकीटपिपी-
लिकाप्रभृतयः स्वेदजाः, इन्द्रगोपमरहूकप्रभृतय
उद्दिज्जाः ॥२९॥

उनमें से (गोमहिषादि तृणाहारी) पशु, मनुष्य, (व्याघ्र सिंहादि मांसाहारी) हिंस पशु इत्यादि जरायुज होते हैं । पक्षी, सर्प, मत्स्य, मकरादि अण्डज होते हैं । कृमिकीट पिपी-लिकादि स्वेदज होते हैं । इन्द्रगोप मण्हूक प्रभृति उद्दिज्ज होते हैं ॥२९॥

वक्तव्य—यहाँ जड़म सृष्टि के चार भाग किये हैं; परन्तु अन्यत्र केवल तीन ही भाग होते हैं—जरायुज, अण्डज और स्वेदज और इन तीनों में समस्त जंगमसृष्टि का समावेश होता है । यहाँ उद्दिज्जवर्ग में जिन जंगम जीवों का निर्देश किया है, उनका समावेश अण्डजवर्ग में होता है ।

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्त्रा मत्स्याश्च कच्छपाः ।

यानि चैवप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥(मनु.अ.१.४४)
उद्दिज्ज वर्ग में केवल चतुर्विध वनस्पत्यादिगण होते हैं और वह स्थावर का एक विभाग होता है ।

उद्दिज्जाः स्थावराः सर्वे वीजकाण्डप्रोहिणः ॥ (मनु.अ.१.४६)
चरक और भेल संहिता में लिखा है—
औद्दिदं तु चतुविषयम् । वनस्पतिस्थावी वीजानस्पत्यस्तथैषिः ।

(च. सू. अ. १)

उद्दिज्जास्तु तृणलतावृक्षवनस्पतयः । (भेलसंहिता)

तत्र स्थावरेभ्यस्त्वकृपत्रपुण्पफलमूलकन्दनि-
र्यासस्वरसादयः प्रयोजनवन्तः, जड़मेभ्यश्चर्मनख-
रोमसूधिरादयः ॥३०॥

इनमें स्थावरों के छाल, पत्ते, फूल, जड़, कन्द, गोंद, स्वरसादिक प्रयोजन में आते हैं, और जंगमों के चर्म, नख, आल, रक्तादिक प्रयोजन में आते हैं ॥३०॥

वक्तव्य—रुधिरादयः—मज्जा, यकृत, पित्त इत्यादि । यकृदा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम् । (उत्तरस्थान अ. ४५) । इन जंगमावयवों का आभ्यन्तरीय प्रयोग करके रोगों की चिकित्सा करने का अंग पादचात्य वैद्यक में सांप्रत वहुत उप्रत दुआ है । उसे Organo-Therapy कहते हैं । इसमें यकृत, ल्लीहा, मज्जा, अग्न्याशय, थायराइड, प्याराथायराइड, जेननप्रनिधियाँ आदि शरीर के अनेक अवयव विविध रोगों में सफलता से प्रयुक्त हो रहे हैं ।

स्थावर और जंगमों से जो जो चीज़ काम में लाई जाती हैं, उनके कुछ अधिक नाम चरकसंहिता में दिये हैं—

मधुनि गोरसः पित्तं वसा मज्जासुगमिष्यम् ।

विष्ट्रुचर्चमेरीतोऽस्तिस्नायुश्वनवाः खुराः ।

जड़मेभ्यः प्रयुज्यन्ते केशलोमानि रोचनाः॥ (सू. अ. १)

मूलत्वक्षसारनिर्यासनालस्वरसपद्मवाः ।

क्षाराः क्षीरं फलं पुष्पं भस्मतैलानि कण्ठकाः ।

पत्राणि शुक्राः कन्दाश्च प्रोत्ताश्चैद्विदो गणः ॥(च.सू.अ.१)

पार्थिवाः सुवर्णरजतमसिणमुक्तामनःशिलामृतक-
पालादयः ॥३१॥

पार्थिव द्रव्यों में सुवर्ण, रौप्य, मणि, मुक्ता, मनःशिला, मिट्टी, ठिक्री आदि पदार्थ काम में लाये जाते हैं ॥३१॥

वक्तव्य—उपर्युक्त द्रव्यों के सिवाय शिलाजतु, सिकता, सुधा, हरिताल, लवण, गैरिक, रसांजनादि द्रव्यों का भी समावेश पार्थिव ओपधियों में होता है । पार्थिव द्रव्यों का समावेश ऊपर स्थावर विभाग में न करने के कारण यहाँ उनका स्वतन्त्र उल्लेख किया है । आहार की दृष्टि से यथापि यह गण अत्यन्त गौण होता है तथापि ओपधि की दृष्टि से यह एक अत्यन्त महत्व का गण है । चरक में भी ओपधि द्रव्यों के सुश्रूत के अनुसार तीन विभाग किये हैं—

तत्पुनिस्त्रिपथं प्रोक्त जाङ्गमैद्विदपार्थिवम् ॥(च. सू. अ. १)

कालकृताः प्रवातनिवातातपच्छायाज्योत्सातमः-
श्रीतोष्णवर्षाऽहोरात्रपक्षमासत्वयनादयः संवत्सर-
विशेषाः ॥३२॥ त एते स्वभावत एव दोषाणां सञ्चय-
प्रकोपप्रशमप्रतीकारहेतवः प्रयोजनवन्तश्च ॥३३॥

वायु चलना, वायु बंद होना, धूप, छाया, चाँदनी रात, अंधेरा, सरदी, गरमी, वर्षा, दिन, रात, पक्ष, महीना, कृतु, अयन और संवत्सरादि विशेष कालकृत (ओपधि) हैं ॥३२॥ (कारण) ये सब काल विशेष स्वभाव से ही (वात पित्त कफ) दोषों के संचय, प्रकोप, प्रशमन और प्रतीकार करते हैं (और चिकित्सा के) प्रयोजन में आते हैं ॥३३॥

वक्तव्य—इन कालकृत विभागों का ज्ञान स्वास्थ्यरक्षण तथा रोग चिकित्सा में आवश्यक होने के कारण इनका समावेश ओपधियों के साथ किया गया है । इनसे स्वास्थ्यरक्षण में, ओपधि आहरण करने में, ओपधियाँ तैयार करने में, द्रव्यों का गुण धर्म जानने में, ओपधि का प्रयोग किंस समय और कितने काल तक करना चाहिये इस विषय में, शस्त्रकर्म करने में बहुत ही सहायता मिलती है । कालकृत विभागों का विचार न करते हुए यदि चिकित्सा की जाय तो उसमें सफलता मिलना बहुत ही कठिन है । चरक में काल का वर्णन करके अन्त में लिखा है—

कालो हि भैषज्यप्रयोगपर्याप्तिमधिनिर्वर्तयति ॥(च०विमान.अ.८)

चिकित्सा में काल विभाग का निर्देश विधि और निषेध के स्वरूप का होता है । ऊपर जो काल के विभाग दिये हैं, उनके प्रयोजन के कुछ उदाहरण अन्यों में से नीचे दिये हैं । लाजोत्पलोशीरुचंदनानि दत्ता प्रवाते निशि वासवेच । निवातदेशो निविति कूत्वा । मदनफलानामातपरिशुष्काणाम् । छायाशुष्क विधाय वटी कार्या चणोपमा । वायवश्चन्द्रपादाश्च शीतदाहजरापहाः । अपेतलोष्टाष्टायैः संरोक्षश्च तमोगृहे । नैवातिरिते नात्युष्णे न प्रवाते न चाप्त्रिते । सिराणां व्यथने कार्यमोरोगे वा कदाचन ॥

न च आलेप रात्रौ प्रयुक्तित । प्रदेहसात्ये व्यायौ तु हितमाणेपन दिवा । पक्षाभ्यानातरसं पिवेत् । लानादिनानाविधिना जहाति ग्रामाद-

गेप निष्ठमेन शोऽग् । देवदमने लेखाण पित शरदि निहोव । वर्णु राम
देवाय प्राग्विकारसमुच्छवाद् । अतो वा पूर्वुपासीत पण्मासानुदेव बनन् ।

भवति चात्र स्तुका—

शारीराणां विकाराशेषमेव वर्णश्चतुर्विधिः ।

प्रकोपे प्रशमे चैव हेतुरुक्तिकृत्स्कैः ॥३४॥

शारीरिक व्याधियों के प्रकोप और प्रशम का यही स्थावरादि चार प्रकार का वर्ग (पूर्व) चिकित्सकों ने कारण वर्णन किया है ॥३४॥

यत्कथ्य—चतुर्विध वर्ग से स्थावर, जगम, पार्श्वित्र और कालहृत विभाग समझना चाहिये । ‘आहारावाराप्रविकाल-मेदाद्’ ऐसा चतुर्विध का अर्थ टीका में बहल्ह ने दिया है, वह योग्य नहीं है ।

आगन्तवस्तु ये रोगास्ते द्विधा निष्पत्ति हि ।

मनस्यन्ये शारीरेऽन्ये तेपां तु द्विविधा किया ॥३५॥

शरीरपतितानां तु शारीरवदुपकमः ।

मानसानां तु शब्दादिरिपो वर्गः सुखावहः ॥३६॥

आगन्तुक जो रोग है उनके दो अधिष्ठान हैं, कोई भन में और कोई शरीर में अधिष्ठित होते हैं, उनकी चिकित्सा भी दो प्रकार की है ॥३५॥ जो शरीर में होते हैं उनकी चिकित्सा शारीरिक रोगों के अनुसार होती है और जो भन में होते हैं उनकी चिकित्सा सुखकारक शब्दादि वर्ग से करना उचित होता है ॥३६॥

यत्कथ्य—यही शब्दादि वर्ग उपलक्षण समझ कर उस में मानसम्बन्धियों के सर्व उपकरणों का समावेश करना चाहिये । इससे शब्दादि वर्ग में यद्य सर्व रूप रस गम्भ तथा शान विशानादिक का समावेश होता है । सुखावह का अर्थ आरोग्यदायक ‘मुक्तसावकामारोग्यम्’ है । चाक में लिखा है—

मानसो शानविशानवैष्णवस्तुनिष्ठापिति । (सू. अ १)

मानस प्रति पैदवर्य विवर्यासानवेषणम् ।

तत्रिष्येत्वा विशानाप्रतिरोदिता च सर्वगः ॥ (सू. अ ११)

ये मानसिक रोग बहुधा आगन्तुक कारणों से उत्पन्न होने के कारण इनका समावेश आगन्तुक वर्ग में और इनका द्वये भाग नाम से होता है ।

ये भूतिविवर्यविष्णुतत्त्वादिवभवता ।

वामप्रवैष्णवाप्राप्य ते द्युलक्षणं वात् ॥ (अ सं दू. अ १)

आगन्तुकमुक्तवात् यामो निरापि ॥ (च सू. अ ११)

स्वाभाविक छोड़कर उपर चिकित्सा रोगों के जो सीन प्रदाह करने किये हैं, उनका अधिक विवार करने पर निदान की दृष्टि से शारीर और आगन्तुक तथा विभाग की दृष्टि से शारीर और मानस एवं उपकरणों में निदान की दृष्टि से नित और आगन्तुक दो विभाग उत्पन्न हो विभाग एवं विभाग की दृष्टि से शारीर और मानसिक दो विभाग उत्पन्न हो याये हैं । (प्राणग्रहणमूल रूपाण अ १-२०-१५ और चाक सू. अ १२, ५३ द्वारा)

एषमेतत् पुरुषो व्याधिरौपर्य वियाकाल इति चतुर्ष्यं समाप्तं व्याख्यातम् । तत्र पुरुषप्रहणात् तासम्यद्व्ययसमूहो भूतादिरुक्तसदृक्षमन्यज्ञपि

कल्पाश्च त्वद्मांसास्तिरात्मायुग्रमृतयः, व्याधि
प्रहणाद्वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैपम्यनिमित्ता
सर्व एव व्याधयो व्याख्याता, औपध्यप्रहणाद् द्रव्य
रसगुणवीर्यविधाकानामादेशः, कियाप्रहणाच्छुद्धा
दीनि स्नेहादीनि च कर्माणि व्याख्यातानि, काल
प्रहणात् सर्वकियाकालानामादेशः ॥३७॥

इस प्रकार यह पुरुष, व्याधि, औपध्य और कियाकाल क चतुर्ष्य है, जिसका संज्ञे से वर्णन किया है । इनमें पुरुष शब्द से पुरुषोत्तरिकारक पथ महार्भतिक शुक्रग्रोणितादि अग्रभव्यविभाग तथा व्याचा मास अस्थि निरा ज्ञातु आपि धातु समझे जाते हैं । व्याधि शब्द से वात पित कफ और रक्त के वैषम्य से उत्पन्न हुए सर्व रोग ग्रहण होते हैं । ओरपि शब्द से द्रव्यगुण रस वीर्य विधाक प्रभावादि का ग्रहण होता है । किया शब्द से द्वेदादिक अष्टविध शख्कर्म और शेषव व द्वेदन दूरी व वक्तव्यों का ग्रहण होता है । और काल शब्द से उपरोक्त सर्व कियाओं के लिये जो योग्य काल होते हैं, उनका ग्रहण होता है ।

वत्कथ्य—हस अस्थाय में पुरुष, व्याधि, ओपध्य और कियाकाल का संज्ञे में वर्णन किया गया है । अब आगे इस संहिता में इस चतुर्ष्य का जो विस्तार होगा, उसका कुछ दिग्धर्यन्त करने के लिये प्रत्येक शब्द का योद्धा विस्तार करके वर्तलाया गया है । इससे संहिता में दिन विश्वों का विचार होगा; उसकी कल्पना ही सकती है ।

भवति चात्र—

वीजं चिकित्सितस्यैतत् समाप्तेन प्रकृतिर्तम् ।

सर्विशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति ॥३८॥

तथा सर्विशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु सूत्रं
निदानशारीरचिकित्सितकल्पेष्यर्थवशात् संवि
भन्योत्तरे तन्त्रे शेषानर्थान् व्याख्यायस्याम ॥३९॥

यहीं सम्पूर्ण चिकित्सावाय का भीज संज्ञे से वर्णन किया है और एक सीं धीर अस्थायों में इमही (विश्वारूपक) व्याख्या होने वाली है ॥३९॥ ये एक सीं धीर अस्थाय सूत्र, निदान, शारीर, चिकित्सा और काल ऐसे पांच स्थानों में (स्थानों के विषिष्ट) विश्वों के अनुसार बाँटकर योग विश्वों का व्याख्यान उत्तरलक्ष्म में करते हैं ॥३९॥

वत्कथ्य—प्रधग्नाद्—प्रग्नेयक स्थान का जो विशिष्ट अर्थ है, उपरे अनुसार । यथा—भूतग्रार्थ सूत्रायान, शारीर विश्वा नाम शारीर, हेतुलक्षण निर्देशार्थ निदान, चिकित्सा निर्देशार्थ चिकित्सा और विभेदपत्र कल्पनार्थ कल्पनार्थ । ये प्रग्नेयक स्थान के अर्थ नीतीय अस्थाय में दिये हैं ।

भवति चात्र—स्वयम्भुवा प्रोत्तमिदं सनातनं

पठेद्विद्वय शाश्वपिनिप्रकाशितम् ।

स पुष्पेष्यर्थम् भूतिवृजितो भूमि

रसुक्षये शब्दमलेन्तां व्यजेत् ॥३९॥

११ शुभ्रसहित्य शब्दान्वे देवेततिर्तम्

प्रधग्नाद् ॥३९॥

ब्रह्मा जी से वर्णन किया हुआ और काशिराज धन्वन्तरि से (मूलुलोक में) प्रकाशित हुआ यह सनातन (आयुर्वेद शास्त्र) जो पढ़ा, वह पुण्यकर्म सुख सूखी पर राजाओं से संभानित होकर सृष्टि के पश्चात् इन्द्रलोक में प्राप्त होगा ॥४०॥

वक्तव्य—पठन शब्द से यहाँ पठन-पाठन तथा कर्माभास तीनों का वोध लेना चाहिये । आयुर्वेद का केवल पठन करने से ऐहिक या पारलौकिक सुख नहीं मिल सकता है । पठन करके द्विज गुरु साधु अनाधादि लोगों की चिकित्सा करने से पारलौकिक और सनाथ राजे और धनी लोगों की चिकित्सा करने से ऐहिक सुख मिलता है । चरक में लिखा है—

यद्यायुक्तेऽक्षमात्मनुच्यायति, वेदव्यनुविधीयते वा सोऽप्यस्य परो धर्मः ॥ (सु. अ. ३०)

इति भास्कररमणं गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुवेदरस्य-दीपिकायां सुकृतभाषादीकायां सूक्ष्मस्थाने प्रधमोऽचायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातः शिष्योपनयनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । योवाच भगवान् धन्वन्तरिः सुश्रुतात् ॥१॥

अब यहाँ से शिष्योपनयनीय नामक अध्याय की व्याख्या तेहें हैं जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुकृत के प्रति वर्णन करा ॥१॥

वक्तव्य—अध्ययनार्थमाचार्यसमीपं नीयतेऽनेनेत्युपनयनम् । आयुर्वेद पठनारम्भ में जो उपनयन होता है वह पुनरुपनयन । पहला उपनयन गृहोक्त विधि से वेद का पठन प्रारम्भ रने के समय होता है ।

गुरोव्रतानां वेदस्य यमस्य नियमस्य च ।

देवतानां समीपं वा येनासौ नीयते द्विः ।

तदुपानयनं प्रोक्तम् ॥

त्राह्णणक्त्रियवैश्यानामन्यतममन्यवयवयःशील-शौर्यशौचाचारविनयशक्तिवलमेधाधृतिस्मृतिमति-प्रतिपत्तिगुरुकं ततुजिह्वापृष्ठदन्ताग्रमृजुवक्त्रादिनासं प्रसन्नचित्तवाक्चेष्टं क्षेशसहं च भिपक्ष शिष्यसुपनयेत् ; अतो विपरीतगुणं नोपनयेत् ॥२॥

वक्तव्य—त्राह्णण क्त्रिय वैश्यों में से किसी को जो अच्छे वंश, योग्य वय, उत्तम शील, शौर्य, पवित्रता, आचार, नन्त्राता, उम्माह, वल, मेधा, धृति, स्मृति, मति और प्रतिपत्ति आदि गुणों से उक्त हो, तथा जिसके जिह्वा, हॉंड और दाँतों के अग्रभाग पतले हों, और सुख और नाक सीधे हीं तथा जिसके चित्त चाणी और आचरण सैद्धै प्रसन्न हों, जो क्षेष महन करने की शक्ति रखता हो, ऐसे शिष्य को भिपक्ष हस शास्त्र का उपदेश करे । इनसे विशद् गुणवाले शिष्य को कदम्पि इसका उपदेश न करे ॥२॥

वक्तव्य—अन्वय—उत्तम कुल । वय—वाल्य या तस्मात्वस्था । शौर्य—शल्वचिकित्सा के लिये इसकी विशेष

आवश्यकता होती है—शौर्यमायुक्तिया……वैधस्य शखकर्मणि ग्रन्थे । शौच—अन्तर्गात्र स्वच्छता । शक्ति—उत्साह । धूल—शारीरिक शक्ति । मेधा—धारणादुद्धि । धृति—नियमात्मिका दुद्धि—‘भूतिर्इ नियमात्मिका’ (चरक) । स्मृति—‘दृष्टुतानुभूतानां भरणात् स्मृतिगच्छते’ (चरक) । ‘अनुभूतविषयासंप्रमोपः स्मृतिः’ (योगसूत्र) । मति—समतादर्शक दुद्धि—‘संमु दुद्धिर्इ परवति’ (चरक) । प्रतिपत्ति—प्रागत्यस्य या प्रत्युत्पत्तामतित्व ।

जिह्वा, हॉंड इत्यादि पतले होने से शब्दोद्बारण में स्पष्टता होती है, अन्यथा उच्चार अत्यन्त अस्पष्ट होते हैं । दूसरे के लिये क्षेष सहन करने की प्रवृत्ति यदि विष्य में न हो तो उससे ‘नायार्थं नापि कार्मार्थमध्य भूतदर्थं प्रति’ हस आयुर्वेद के उत्तर ध्येयानुसार वर्तन होना असंभव होगा । उपर्युक्त गुण-विहीन विष्य को पढ़ाने से शास्त्र तथा गुरु की यदनामी होगी । अतः उनके लिये निषेधार्थक वचन फिर लिखा है ।

उपनयनीयस्तु त्राह्णणः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्त्रेषु प्रशस्तायां दिशि शुचौ समे देशे चतुर्हस्तं चतुरस्तं गोमयेन स्थारिडलमुपलिष्य, दर्भैः संस्तीर्य, पुष्पेलाजमकै रत्नैश्च देवताः पूजयित्वा विप्रान् भिपजञ्च, तत्रोष्टिख्याभ्युद्य च दक्षिणातो ब्रह्माणं स्यापयित्वाऽग्निसुपसमाधाय, खदिरपलाशदेवदारु-विल्वानां समिद्धिश्चतुर्णां वा जीरवृक्षाणां (न्यग्रोधो-दुम्बराश्वत्थमधूकानां) दधिमधुपृताक्तभिर्दर्वीहौ-मिकेन विधिना स्तुवेणाऽज्ञ्याहुतीर्जुहुयात्, सप्रण-वाभिर्महाव्याहृतिभिः, ततः प्रतिदैवतस्तृपीश्च स्वाहा-कारं कुर्यात्, शिष्यमपि कारयेत् ॥३॥

उपनयन करने वाला जो त्राह्णण है वह शुभ तिथि करण सुहृत्ते नक्त्रां में अच्छी (पूर्व या उत्तर) दिशा और पवित्र तथा समतल स्थान में चार हाथ लम्बा और चौड़ा चौकोर स्थंडिल बनाकर उसे गोवर से पोतकर उस पर दर्भ विछाकर पुष्प धान की लाजा और रत्नों से देवता त्राह्णण और वैद्यों का पूजन करके तदनन्तर स्थंडिल पर ऊर्ध्वमुख रेखाएँ शौच के और जल का प्रोक्ताण करके दक्षिण दिशा में विष्य की स्थापना और समीप अग्नि स्थापन करके खैर, ढाक, देवदार तथा विल्व की या वड, गूलर, पिष्पल और महुआ इन चार जीरी वृक्षों की दही, मधु और वृत्त से लिस समिधाओं से दार्ढी हीम विष्य के अनुसार लकड़ी की दर्ढी से धूत की आहुति देवे । और ओङ्कार-पूर्वक महाव्याहृतियों का उच्चार कर प्रत्येक देवता और ऋषि के नाम से स्वाहाकार करे और विष्य से भी करावे ॥३॥

वक्तव्य—सप्तग्रामभिर्महाव्याहृतिभिः—ॐ भूः स्वाहा, अः भुवः स्वाहा, अः स्वः स्वादा, अः सूर्युवः स्वः स्वाहा इति । सुव—लकड़ी की कड्ढी ।

त्राह्णणव्याहाराणां वर्णानामुपनयनं कर्तुर्मर्हति, राजन्यो द्वयस्य, वैश्यो द्वयवेति ॥४॥ शद्रमपि कुल-गुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जनमनुपनीतमध्यापयेद्वित्येके ॥५॥

त्राह्णण (त्राह्णण क्त्रिय और वैश्य) तीन वर्णों को, क्त्रिय (क्त्रिय और वैश्य) दो वर्णों को और वैश्य केवल वैश्यवर्ण को

(आयुर्वेद का) उपरेक्ष करे ॥३॥ शूद्र भी उत्तम कुल और गुणमपेक्ष हो तो उम्मीद वैदिक मन्त्र का भाग छोड़कर और उपनयन के बिना आयुर्वेद का उपरेक्ष करे, ऐसा कह आवायों का मत है ॥४॥

थक्टट्य—‘त च अथेनबो त्राहातावन्यवैरेदं’ इस प्रकार का विविक्षय चरक (स. अ. ३०) में है। परन्तु इससे शूद्रों के लिये निषेध स्तिर्द नहीं होता है। शूद्रों के लिये केवल घेदमन्त्र पठन का निषेध है ‘लोशद्वौ नारीयोनम्’। इसलिये मन्त्रवर्जित और बिना उपनयन के आयुर्वेद पठन का जो अधिकार वहीं एकीय मन से प्रदर्शित किया है वह शालविन्दू नहीं है और समाज के लिये अव्यन्त हितकर भी है। सामग्रत शल्यचिकित्सा पहले हीन वर्णों में हुस ही गई है और केवल नारीयों, नाई, माल इत्यादि वैत्रैयोत्तर शूद्रों में शेष है जो अभी तक देहांतों में पथरी और मौतियाविद् निकालना, तुंची आदि से रक्ष निकालना तथा फोड़े फुस्तियों चौराना इत्यादि कर्म किया करते हैं।

ततोऽप्येति विः परिणीयाभिसारिकं शिष्यं वृद्यात्-
कामकोषलोभमोहमानाद्विरेष्योपायेनुन्यानुता-
लस्यायशस्यानि हित्या, नीचनखरोमणा शुचिना
कपायथाससा सत्यवत्यश्वचर्योभिवादनतत्परेणाऽ-
धर्षयं भवितव्यं, मद्दुमतस्यानामनशयनासामपो-
जनाध्ययनपरेण भूत्या, मतियद्वितेषु वर्तितव्यम्;
अतोऽन्यथा ते घंतमानस्याधर्मो भवति, अफला च
विद्या, न च प्राकाशयं प्राप्नोति ॥६॥

तदनन्तर असि की हीन परिक्रमा करके अप्लिमाल शिष्य से कहे—काम, क्रोध, कौप, भोग, माल, अहोकार, देव, क्षीरता, वीक्षा, असत्य, आलस्य तथा घडनामी करने वाले कार्ये इन सब को छोड़कर बंद और बाल कटवा कर परिग्र कराय बद्ध पहन कर सन्देशन और शहसर्य धरण कर छानाम आदि में तप्पर अवश्य रहना चाहिये और देरी अनुमति के अनुमान कहीं जाना, संगोष्ठी, बैठना, भोजन करना और राना इन वानों में तप्पर होकर देरे लिये जो शिष्य और हितकर हों ऐसा बंतव रहना चाहिये। इसमें विवरीत बनीव रहने से तुम्हारा धर्म नष्ट होगा और विद्या निकाल होकर प्रकाशित (प्रसिद्ध) भी न होगी ॥७॥

थक्टट्य—एक में असि के सिवाय बाह्यग और शिष्य सारी बाले कहने के लिये बहा है। आयुर्वेद में प्रयोग वर्त्तवे द्वितीय बाल और तीव्र कटवाने के लिये बहा है—

ति एष्यु नमरमुक्तरटेन्ती वर्षेषु । (अ. स. स. अ. २)

मध्यवर्त—इदिक, शालिक और सानमिक या अष्टविष मैथुन पराहृन्तना। मैथुन के सिवाय मध्य मार्मादि भाग विवेषादि अनेक विषम वृद्धवर्ते के लिये पालन करने पड़ते हैं। दिटेर दिनार के द्विते मनुष्यनि अवश्य २ श्वास १५ से १९ तक रहे। अभिरातन-नुर को प्राप्तम करने की विषेष इडनि को अभियादन कहते हैं। अभिरातन में शमुच्चान, पादोगस्त्राद और इत्यामद्वारे प्राप्तम हत वानों का समांग

होता है (मन अध्यय ३, १२०-१२६)। इस सूत्र में शिष्य का गुह के प्रति जो कर्तव्य होता है, उसका वर्णन किया गया है।

अहं चा त्वयि सम्मद्यवर्तमाने यदि अन्यथादरी
स्यामेनोभाग् भवेयमफलविद्यश्च ॥७॥

तेरे श्योचित यत्तोंव वरने पर भी यदि मैं तुम्हें यथाशब्द विद्या न पहाँड़ ली मैं पाप का भागी होऊँगा और मेरी विद्या निरुद्ध हो जायगी ॥८॥

यत्कल्प—इस सूत्र में शिष्य के प्रति गुह का कर्तव्य वर्णन किया गया है। एनोमास-पापमाजन। यथोचित बर्तोव करने वाले शिष्य को यदि गुह विद्या का दान एक साल के भीतर न करेगा तो शिष्य के सर्वे पातकों का वह भाजन होगा—“सालत्वोरिणे सिष्ये गुहानंविरिद्धन्। इत्वे दुष्कृत तस शिष्यस बसते गुरोऽ” (क्रमसुराण)।

दिजगुरुवर्दिद्विभ्रप्रवजितोपनतसाध्वनायाभ्यु-
पगतानां चात्मयान्धधानामिव स्वमेपजैः प्रतिकर्तव्य-
मेवं साधु भवति; ध्यायशाकुनिकपतितपापकारिणां
च त प्रतिकर्तव्यम्; एवं विद्या प्रकाशते मित्रयशो-
धर्मार्थकामांश्च प्राप्नोति ॥८॥

ब्राह्मण, गुरु, दिदि, मित्र, सन्यासी, आधित, सत्युरु, अस-
हायांगी अम्बागत इन की चिकित्सा निज बाल्यवानों के तुल्य
अपने पाप की ओरपियों से बढ़ता उत्तम होता है। पन्डि और पन्डी
हिस्क, आधारभृष्ट, पापी जनों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।
पेतु करने से विद्या प्रकाशित होती है और मिथ, यथा, धर्म,
रक्ष, कामादि सभ ग्रास होते हैं ॥९॥

यत्कल्प—इस सूत्र में शिष्य को किस बांग के रोपी की
चिकित्सा करनी चाहिये और किस की नहीं करनी चाहिये
इसका दिग्दण्डन बुध उदाहरण देकर किया गया है। तीने
सोल १ और १० में आयुर्वेदायशन के लिये अनन्धाय काल
बलहोते गये हैं।

भवतश्चात्—
एष्योऽप्यमी तत्त्विपन्नेऽहनी द्वे
द्वुहोऽत्याऽप्येवमहर्दिसन्प्यम् ।
अकालयित्वान्त्स्वनिपत्तुयोरे
स्वतन्त्रप्रारूपितप्रव्ययासु ॥९॥
स्मशानयानायतनाद्वेषु
महोत्सवैत्पतिकर्त्येषु ।
नाप्येयमन्येषु च येषु विद्या
नार्थायते नारुचिनाय तित्यम् ॥१०॥

ति एष्यु मुकुर्विद्वान्या एवायाने तित्पेत्यनवनीयो नम
द्विनीपेत्यव्यादाः ॥११॥

इत्यायत की अस्ती कीर इसकी समाप्ति के दो रित
(कुरुदीपी और अमावास्या), इसी समाप्ति कुरुपर्वत में अस्ती,
पूर्वी और पर्वती, सूर्योदय और सूर्यास्त के समय
(सूर्यिकाल), अकाल दिनीकी अमरकान और देवराजन होता,
करने द्वारा परिवर्त, देव और रात्रि की वीड़ा के समय १५०
और जिस दिन स्वरात्र में गमत हो, पुरुष अदोत्तर और

उत्पात के दिन तथा जिन दिनों में प्राप्त अन्धाय करते हैं, उन दिनों में और अशुद्ध अवस्था में अध्ययन नहीं करना चाहिये ॥१०॥

चतुर्थः——गतिप्रदेशनि द्वे—कृष्ण और शुल्क पक्ष के दो अन्तिम दिन चतुर्दशी और असाधास्या तथा चतुर्दशी और पौर्णिमा । अकालविषुवस्तुनविलुप्तेष्ट—अकाल में विजली चमकना, मेघर्गजन होना । इसी में अकाल वृष्टि और अकाल मेघदर्शन का भी समावेश करना चाहिये चूंकि मनुस्मृति में ‘विषुवस्तुनितवर्णेषु’ ‘अनृतो चाभद्रतो’ ऐसा लिखा है । अकाल का अर्थ वृष्टि के लिये अकाल, यह काल मार्गीर्थी मास से कैव्री मास तक होता है । ये अकालिक अनन्धाय दिन में जिस समय विषुवस्तुनितादि प्राप्तम् होता है, तब से दूसरे दिन उसी समय तक होते हैं । ‘निमित्तकालादारभ्यापरेषुवावत्प एव कालावत्परंन्तमन्त्यायम्’ (कुल्लक्ष्मभ) । ‘सर्वतरास्त्रक्षितिप्रव्याप्तु’ स्व आत्मा, तंत्र परिजन, राष्ट्र देश, और क्षितिपराजा । अपने शरीर, परिजन, देश और राजा के संकट के भाग । उत्पात, अनिष्टसूचक निमित्त । ये उत्पात भौम, अरिक्ष और दिव्य तीन प्रकार के होते हैं । इन दो श्लोकों नाम्याय के जो दिन बतलाये हैं, हनके स्विवाय अधिक यात्र दिनों का ज्ञान करने के लिये मनुस्मृति अध्याय १०१-१२० तक श्लोक देखो ।

इति भास्करसंप्रेणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुवेंद्रहस्य-दीपिकायां सुश्रुतभापार्दीकायां सूक्ष्मस्थाने द्वितीयोऽध्यायः ॥१॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातोऽध्ययनसंप्रदानीयमध्यायं व्याख्या-
णः, यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः सुश्रुताय ॥१॥

अय अध्ययनसंप्रदानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते जैसे कि धन्वन्तरि भगवान् ने सुश्रुत के प्रति किया ॥१॥

चृत्तव्य——इस अध्याय में भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत जिस कम से बायुर्वेद का उपदेश दिया वह अनुक्रम वर्णन करता है । अध्ययनं शाराम् । सम्यक् प्रविभज्य दान सप्रदानम् ।

प्रागभिहतं सर्विंशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु । च सूक्ष्मस्थानमध्यायाः पठ्वत्वारिंशत्, पोडशा निदा-
नि, दश शारीराणि, चत्वारिंशाच्चिकित्सितानि,
ऐ कल्पाः, तदुत्तरं पठ्वप्तिः ॥२॥

पहले अध्याय में कहा गया है कि इस संहिता के एक सौ तीस अध्याय पांच स्थानों में विभक्त हैं । इन में से ४६ अध्याय न सूक्ष्मस्थान, १६ अध्याय का निदानस्थान, १० अध्याय का गरीस्थान, ४० अध्याय का चिकित्सास्थान, ८ अध्याय का व्याख्यान, इसके बाद उत्तरस्थान में ६६ अध्याय हैं ॥२॥

वेदोत्पत्तिः शिष्यन्यस्तथाऽध्ययनदानिकः ।
प्रभापणायहरणावृत्तुर्चर्याश्च यान्त्रिकः ॥३॥
शास्त्रावचारणं योग्या विशिखा ज्ञारकल्पनम् ।
अर्द्धिकर्मजलौकाल्यावध्यायौ रक्तवर्णनम् ॥४॥

दोपधातुमलाद्यानां विद्यानाद्याय एव च ।

कर्णीद्यधामपक्षपावालेपो वरयुपासनम् ॥५॥

दिताहितो वणप्रस्तो वणाल्लावश्च यः पृथक् ।

शृत्याकृत्यविधिव्याधिसमुद्दीय एव च ॥६॥

विनिश्चयः शास्त्रविधो प्रत्यक्षानिकस्तथा ।

शत्योद्धृतिर्वणक्षानं दूतस्मनिदर्शनम् ॥७॥

पञ्चनिद्रियं तथा छाया स्वभावाद्वैकृतं तथा ।

चारणो युक्तसेनीय आतुरकमिश्रकौ ॥८॥

भूमिभागो द्रव्यगणः संशुद्धौ शमने च यः ।

द्रव्यादीनां च विद्यानं विशेषो द्रव्यगोऽपरः ॥९॥

रसशानं वसनार्थमध्यायो रेचनाय च ।

द्रव्यद्रव्यविधिस्तद्वद्वपानविधिस्तथा ॥१०॥

सूचनात् सूचनाच्चैव सन्धानाद्यार्थसन्ततेः ।

पठ्वत्वारिंशाद्यायं सूक्ष्मस्थानं प्रचक्षते ॥११॥

(सूचनान के अध्यायों के क्रमानुसार नाम—) १ वेदो-

त्पत्ति, २ गिर्व्योपनयनीय, ३ अध्ययनसंप्रदानीय, ४ प्रभापणीय,

५ अग्रोपहरणीय, ६ फलुचर्या, ७ यन्त्रविधि, ८ शस्त्रावचारणीय,

९ योग्यासूक्ष्मीय, १० विशिखानुप्रवेशनीय, ११ क्षारपाकविधि,

१२ अद्विकर्मविधि, १३ जलोकावचारणीय, १४ शोणितर्वणीय,

१५ दोपधातुमलक्षयवृद्धि विज्ञानीय, १६ कण्ठव्यधावंशविधि, १७

आमपक्षपणीय, १८ वणालेपनवंशविधि, १९ वणितोपासनीय,

२० हिताहितीय, २१ ग्रन्थप्रभ, २२ वणावचिविज्ञानीय, २३

कृत्याकृत्यविधि, २४ व्याधिसमुद्दीय, २५ अष्टविधयस्कर्मार्थीय,

२६ प्रनष्टरात्यविज्ञानीय, २७ शल्यापनयनीय, २८ विपरीताविधि-परीतवणविज्ञानीय, २९ विपरीताविपरीतदूतशक्तुन् स्वमनिदर्शनीय,

३० पञ्चनिद्रियार्थ विप्रतिपत्ति, ३१ शायाविप्रतिपत्ति, ३२

स्वभावविप्रतिपत्ति, ३३ अवारणीय, ३४ युक्तसेनीय, ३५ आतु-
रीपक्रमणीय, ३६ भूमिविप्रविभागविज्ञानीय, ३७ मिश्रक, ३८

द्रव्यसंग्रहणीय, ३९ संग्रहनसंग्रहणीय, ४० द्रव्यरसगुणवीर्य-
विपाकविज्ञानीय, ४१ द्रव्यविशेषप विज्ञानीय, ४२ रसविशेषप विज्ञा-
नीय, ४३ वसनद्रव्यविकल्प विज्ञानीय, ४४ विरेचनद्रव्यविकल्प
विज्ञानीय, ४५ द्रव्यविधिविधि, और ४६ अनुपानविधि । आयुर्वेद
के विषय विस्तार का दिव्यर्थन (सूचना) करने से, संक्षेप में
(सूत्ररूप) वर्णन करने से तथा सर्व विषयों का ग्रन्थन (संधान)
करने से इन उत्तरालीस अध्यायोंको सूक्ष्मस्थान कहते हैं ॥१-११॥

वातव्याधिकर्मर्शासि साशमरित्व भगन्द्रः ।

कुष्ठमेहोदरा मूढो विद्धिः परिसर्पणम् ॥१२॥

ग्रन्थिवृद्धिशुद्धशुक्रभग्नाश्च मुखरोगिकम् ।

हेतुलक्षणनिर्देशान्विदानीति पोडशा ॥१३॥

(निदानस्थान के अध्यायों के अनुक्रम से नाम—) १

वातव्याधिनिदान, २ अर्योनिदान, ३ अक्षमरीनिदान, ४ भगन्द्र

निदान, ५ कुष्ठनिदान, ६ प्रमेहनिदान, ७ उदरनिदान, ८

मूढगर्भनिदान, ९ विद्धिनिदान, १० विसर्पनाडीसनरोग

निदान, ११ ग्रन्थपत्त्ववृद्धिदगलगण्डनिदान, १२ वृद्धयुपदेशक्षीपद

निदान, १३ क्षुद्रगर्भनिदान, १४ शुक्रदोपनिदान, १५ भग्ननिदान,

१६ ।

वर्णेत इस प्रकार कहेगा । अब यद्दै से आगे 'उत्तर' नाम ही उत्तरतन्त्र का वर्णन किया जायगा ॥२८॥

पौधिष्ठुत्य दृष्टं च खणात्तचमेतदुपद्रवान् ।
थौपद्रविक इत्येवं तस्यात्यत्यविश्विलच्यन्ते ॥२९॥

सन्ध्यो वर्त्मनि शुल्कं च कृष्णे सर्वज्ञ द्विष्टु ।
संविद्यात्तार्थमध्याया गदानां तु प्रति प्रति ॥३०॥

चिकित्साप्रविभासीयो वाताभित्यन्वद्वाराणः ।
पैतस्य नैष्मिकस्यापि रौधिरस्य नर्थेव च ॥३१॥

लेन्यभेदनिषेधो च छेदानां वर्त्मद्विष्टु ।
किञ्चकल्पो भिघातश्च कर्णेत्यास्तचिकित्सतम् ॥३२॥

शाणांत्थानां च विज्ञानं तद्वप्रतिषेधनम् ।
प्रतिश्यायनिषेधश्च शिरोगदविवेचनम् ॥३३॥

चिकित्सा तद्वानां च शालाक्यं तन्त्रमुच्यते ।

चूकि उपद्रवों का विचार करने के लिये यह तन्त्र रचा गया है, इसलिये (उपद्रवाधिकारी) इस तन्त्र के प्रारम्भिक अध्याय को 'अंगपद्रविक' कहते हैं ॥२९॥ सन्धि, वर्त्म, शुल्क, कला सर्वे और दृष्टि हनके रोगों का ज्ञान करने के लिये

एक अध्याय प्रत्येक के लिये है ॥३०॥ अध्यायों के नाम—

पद्रविक, २ सन्धिगतरोगविज्ञानीय, ३ वर्त्मगतरोगविज्ञानीय,

४ शुल्कगतरोगविज्ञानीय, ५ कृष्णगतरोगविज्ञानीय,

६ गंगगतरोगविज्ञानीय, ७ दृष्टिगतरोगविज्ञानीय, ८ चिकित्सित-

सामविज्ञानीय, ९ वाताभियन्द्रप्रतिषेध, १० पिनाभि-

प्रतिषेध, ११ श्लेषमधिव्यन्दप्रतिषेध, १२ रक्ताभियन्द-

प्रतिषेध, १३ लेन्यरोगप्रतिषेध, १४ भैश्यरोगप्रतिषेध, १५ छेद-

प्रतिषेध, १६ पद्मकोपप्रतिषेध, १७ रैषिगतरोगप्रतिषेध,

क्रियाकल्प, १९ तन्त्राभियातप्रतिषेध, २० कर्णगतरोग-

विज्ञानीय, २१ कण्ठगतरोगप्रतिषेध, २२ नासागतरोगविज्ञानीय,

नासागतरोगप्रतिषेध, २४ प्रतिश्यायप्रतिषेध, २५ गिररोग-

विज्ञानीय, २६ गिररोगप्रतिषेध । इस (छव्वीम अध्याय समूह) ।

शालाक्यतन्त्र कहते हैं ॥२९—३३॥

नवयहाकृतिज्ञानं स्कन्दस्य च निषेधनम् ॥३४॥

अपसारदाकुन्योश्च रेवत्याश्च षुनः पृथक् ।

पूतनायात्थाऽन्धाया मरिइडका शीतपूतना ॥३५॥

नैगमेपचिकित्सा च ग्रहोत्पत्तिः संयोगिनिजा ।

कौमारतन्त्रमिहेतत्त्वारीरेपु च कीर्तितम् ॥३६॥

२७ नवयहाकृतिज्ञानीय, २८ स्कन्दग्रहप्रतिषेध, २९

कृष्णप्रसारप्रतिषेध, ३० शकुनप्रतिषेध, ३१ रेवत्तप्रतिषेध,

३२ शूलाप्रतिषेध, ३३ अन्धप्रसारप्रतिषेध, ३४ गीतपूतना-

प्रतिषेध, ३५ सुखमण्डिकाप्रतिषेध, ३६ नैगमप्रतिषेध, ३७

प्रहोपत्ति, ३८ योनिश्चापवत्प्रतिषेध । यह (सत्ताईमें अध्याय

में ग्रहीत्सर्वे अध्याय तक १२ अध्याय) कौमारतन्त्र है और

शारीरस्थान में भी कहा गया है ॥३४-३६॥

वक्तव्य—आयुर्वेद के शल्य शालाक्यादि आठों अंगों

की ज्ञाना (प्रथम अध्याय) देखने से यह चिह्नित होता कि

प्रसूतितन्त्र जैसे महत्व के अंग का उल्लेख किसी भी अंग में

नहीं किया गया है । अब क्षमा यह है कि प्रसूतितन्त्र का

समावेश आयुर्वेद के निस अंग में दिया जाए । इन प्रथा-पर सहायात्रापात्राय इच्छित गणनाशर्तेन आपनी प्रलक्षणारीर वी प्रसूतावना (एष ३५) में लिख्ये हैं—“दद्यत्वावेगम् । कौमारतन्त्रे नाम तुमारतन्त्रपार्वीर्धीन्द्रोपमशीघ्रनाथं दुष्टतन्त्रव्यवह-मनुष्वाना च वृथीनामुपरामार्थम्” इनि सुशुत्सः । प्रसूतितन्त्रस्य गर्भाशुल्गारातिप्रोत्तमात्र तु नामनामायः । तथा हि वैषेष शारीर प्रवान्तर्मायः, शयनन्त्रे च मृद्गर्भिन्निलिङ्गादेः । एवं य सर्वाया कौमार-भूतात् प्रथेव प्रभुतन्त्रे भवन्त्यन् ॥”

परन्तु इन्हा प्रसाराणां के वायार पर प्रसूतितन्त्र का समावेश कौमारतन्त्रव्य में ही करना उचित है ।

१ ‘कौमारतन्त्रमिहेतत्त्वारीरेपु च कीर्तितम्’ इस क्षीरार्थ की दीक्षा में उल्लेखार्थी लिखते हैं—‘लितावेत्तु कौमारतन्त्रमयाइन्य-दण्डार्णीति एष आह—‘शारीरगुरु च कीर्तितम्’ रति । कि तत् रारीर-पूलग ? तपाया—रारः तु द्विः, गर्भांकान्तितित्यादि । द्वससे रजशुद्धि, गर्भांकान्तित्यादि त्वाविदि अध्याय कौमारभूत्य में समाविष्ट होते हैं ।

२ द्वारीतन्त्रमिहिता में हुमारतन्त्रकी चिन्ह च्याल्या दीगई है ।

गर्भोपक्रमविधान यत्तिर्जपकम तथा ।

वालाना रोगशामने विद्या बालचिकित्तिम् ॥

३ कौटिल्यार्थ अध्यायमें लिया है कि रानी के गर्भेयती होने पर कौमारभूत्य उसकी देवते रेख करता रहे और प्रसृति के समय पर यथाविधि निर्विप्र मसव करावे । ‘आपातत्त्वार्था कौमारभूत्यो गर्भगंगाणि प्रवन्नेन च वियतेत्’ (प्रथमाधिकरण अ. १७)

द्वारा आयुर्वेदिक कौमारभूत्य में योनिश्चापचिकित्सा (Gynecology), प्रसूतितन्त्र (Midwifery) और बालरोगचिकित्सा (Paediatrics) हैं का समावेश होता है । आयुर्वेदिक पाठ्यार्थ वैद्यक में ये तीन विभाग स्वतंत्र हैं ।

ज्वरातिसारशोपाणां ग्रुलमहद्रोगिणामपि ।

पाण्डूनां रक्तपित्तस्य भूर्च्छ्वायाः पानजाश्च ये ॥३७॥

तृष्णायाश्चर्ढिद्विक्षानां निषेधः श्वासकासयोः ।

स्वरमेदविकिल्सा च छुम्युदावर्तिनोः पृथक् ॥३८॥

विसूचिकाऽरोचकयोर्मूत्राद्यातविकृच्छ्वयोः ।

इति कायचिकित्सायाः शेषमत्र प्रकीर्तितम् ॥३९॥

३९ ज्वरप्रतिषेध, ४० अतिसारप्रतिषेध, ४१ शोप्रतिषेध,

४२ गुल्मप्रतिषेध, ४३ हृद्योगप्रतिषेध, ४४ पाण्डुरोगप्रतिषेध,

४५ रक्तपित्तप्रतिषेध, ४६ मूर्च्छाप्रतिषेध, ४७ पानत्वप्रतिषेध,

४८ तृष्णाप्रतिषेध, ४९ छर्दिप्रतिषेध, ५० हिलाप्रतिषेध, ५१ शास-प्रतिषेध, ५२ कासप्रतिषेध, ५३ स्वरमेदप्रतिषेध, ५४ स्वरभेदप्रतिषेध, ५५ कुमिरोग-प्रतिषेध, ५६ उद्वारतप्रतिषेध, ५७ विसूचिकाप्रतिषेध, ५८ मूत्राद्यातप्रतिषेध, ५९ मूत्रकृच्छ्रप्रतिषेध ।

हत्तना कायचिकित्सा का शेष भाग (उन्तालीसर्वे अध्याय से उनमध्ये अध्याय तक) यहां वर्णन किया गया है ॥३७-३९॥

अमानुयनिषेधश्च तथापस्मारिकोऽपरः ।

उन्मादप्रतिषेधश्च भूतविद्या निरुच्यते ॥४०॥

६० अमानुयोपसर्वग्रतिषेध, ६१ अपस्मारप्रतिषेध, ६२ उन्मादप्रतिषेध—इनको भूतविद्या कहते हैं ॥४०॥

वक्तव्य—इन अध्यायों में भूतविद्यान्तर्गत विषयों का संक्षेप से वर्णन किया गया है ।

रसमेदा. स्वस्थद्वृत्तिरुक्तयस्तान्त्रिकाध्य या ।

दोषमेदा इति हेया अध्यायास्तम्भभूपणा ॥४१॥

१३ रसमेदविकल्प, १४ स्वस्थद्वृत्त, १५ तन्त्रयुक्ति, १६ दोषमेदविकल्प । ऐसे में उत्तरतन्त्र के भूगणहृ (प्रकीर्णि) अन्याय हैं ॥४१॥

धृष्टद्वृत्तर द्वेतत् तन्त्रमाहुर्महर्यं ।

दधर्यस्तम्भाच्छेष्टमुत्तर चापि पश्चिमम् ॥४२॥

यह तन्त्र (सब तन्त्रों के) अन्त में होते हुए भी अनेक विषयों का सम्बन्ध करने के कारण सबसे छेष्ट है, और इसी धृष्टद्वृत्त का विचार द्वारा महर्यियों ने इसका नाम उत्तरतन्त्र रखा है ॥४२॥

धृष्टद्वृत्त—इस स्तोत्र में उत्तरतन्त्र की निरक्ति प्रतिपादन की गई है । उत्तर धृष्ट का वर्ण ये होता है—‘उत्तर्युर्णीच्छेष्टे खमुत्तर’ अमर । यह तन्त्र सबसे धृष्ट होने के कारण इसको उत्तरतन्त्र कहते हैं । धृष्टद्वृत्त का कारण यह है कि इस एक तन्त्र में शालाश्य, कीमार, भूतविद्या, कायचिकित्सा और तन्त्रभूषणाध्यायादि विविध अंगों का सम्बन्ध दिया गया है । उत्तरतन्त्र की दूसरी भी निरक्ति हो सकती है । परन्तु दूसरे जो अनुवाद किया है, उससे यह स्पष्ट नहीं दिखाई दती है । उत्तर चापि पश्चिमन्-विकल्पनाम् इति तन्त्रमुत्तरम् । सबसे फीछे वर्णन हुआ, इस से भी इस तन्त्र को उत्तरतन्त्र कह सकते हैं ।

शालाश्यतन्त्र दौमार चिकित्सा कायिकी च या ।

भूतविद्येति चत्वारि तन्त्रे दूचरससिते ॥४३॥

पात्रिकर चिवित्सासु रसायनविधिस्तथा ।

विषतन्त्र पुन कर्त्ता शस्त्रवहन समन्तत ॥४४॥

इत्याक्षमिद तन्त्रमादिदेवप्रकारितम् ।

विधिनाऽधीत्य युजाना भवन्ति प्राणेश्च मुखि ॥४५॥

शालाश्यतन्त्र, कीमारतन्त्र, कायचिकित्सा और भूतविद्या ये चार विषय उत्तरतन्त्र में हैं ॥४३॥ वार्णीकरण और रसायन विधि चिकित्सारथान में वर्णन किये हैं, कलशरथान में विर दान्त वर्णन किया है और शस्त्रवहन का जात सर्वं वर्णन किया है ॥४४॥ इस प्रकार भाद्रिद्व (भागवान् एवं लक्ष्मी) का प्रकारित किया हुआ एवं अष्टाहतन्त्र (मुखुर्लंहिता) है । जो एषाविधि इसका प्रकार अन्याय करता, वे शृण्ये पर (मुखों के) प्राण बचाने वाले होंगा ॥४५॥

धृष्टद्वृत्त—दृष्टद्वृत्त नामना—अतुर्वैर् एव अन्य अहू त्रिस प्रकार एक आप इत्यान में भवति द्वारा है, वैषा शस्त्रवहन कियी रथान में भवति द्वारा है । उत्तम वर्णन वर्णनतन्त्रों में किया गया है । भाद्रिद्व का वर्ण भगवान् धनवन्तरि—वार्ण दि धनवन्तरि रामद्व । इन स्तोत्रों में अतुर्वैर् के आटों अंगों का समावेश मुखुर्लंहिता में कैसा किया है, इसका वर्णन है । इसमें ‘रस्ता अमुर्लैरैर् अ॒ अ॑’ का अर्थ न्यू हो जाता है ।

पठद्वयद्वयमप्येयम्, भर्त्ताप्य च कर्माश्वद्वयमु पासितमन्त्रम्, उमप्यसोटि लिप्तग्रामाद्वयोभयनिः ॥४६॥

इसकी अवलम्बन धना कर्त्तव्य और उमप्य दिव्यांगों में भी अवश्य करता चाहिये । दीर्घीं वर्णने वाला यैष राजा

से समानित होता है ॥४६॥

भवन्ति चापि—

यस्तु केवलशालहातः कर्मस्वपरिनिष्ठित ।

स मुख्यत्वातुर प्राप्य प्राप्य भीररिधावहम् ॥४७॥

यस्तु कर्मसु निष्पातो धार्यांच्छालवयद्विष्ट्वत् ।

स सत्तु पूजा नामोति वध चार्दति राजत ॥४८॥

उभावेताप्यनिपुणावसमर्थी स्वर्कर्मणि ।

अर्धवेदभरावेतावेकरहारिविद्विजी ॥४९॥

इस पर स्तोत्र कहे हैं कि—जो वैद केवल शाल का जा वाला है और विद्यार्थी में निषुण नहीं है, वह रोगी के पाजाकर (चिकित्सा करने में) धरवा जाता है, जैसे कि भीषु प्रसामान में जाकर धरवा जाता है ॥४८॥ जो अपनी दृष्टा कारण वैद्यविद्याओं में निषुण है, परन्तु शाल से अनभिज्ञ है, उत्तम वैद्यों में सम्मान योग्य नहीं है और राजा की ओर प्राणदण्ड देने योग्य होता है ॥४९॥ पाद और कर्माश्वास में केवल एक ही का अन्याय किये हुए में दीर्घीं एक एक वर्त व दो वर्षी की भाँति अपने (चिकित्सा के) काम में असं और अयोग्य होते हैं (जैसे एक पक वाला पकी दहने के काम में असर्वमर्य होता है, जैसे वैद काल शाल या कर्माश्वास किया हुआ वैदिकिला का काम करने में असर्वमर्य होता है) ॥४९॥

धृष्टद्वृत्त—पृथ्वे—वैष द्व र्द्वैद्वा कर्म करने के काम उत्पत्त हुआ प्रागाल्पन् । अश्वानत्वैर्विद्विकित्सा करने वाले हैं

का दण्ड देने का विधान कौटिलीय अर्थात् विष्टों में मिलता है—‘विव्र प्रावद्विकित्सानाश्वायोऽश्वमालार्थ विष्टों पूर्वस्थामालन्

कर्मांशेन विष्टों लभ्यता । नवीरुद्धेषुपकरणे दण्डाल्प विष्टद्

(चुरुं विधिकल अस्त्राय ।)

धृष्टद्वृत्त—पृथ्वे—वैष द्व र्द्वैद्वा कर्म करने के काम उत्पत्त हुआ प्रागाल्पन् । अश्वानत्वैर्विद्विकित्सा करने वाले हैं

का दण्ड देने का विधान कौटिलीय अर्थात् विष्टों में मिलता है—‘विव्र प्रावद्विकित्सानाश्वायोऽश्वमालार्थ विष्टों पूर्वस्थामालन्

कर्मांशेन विष्टों लभ्यता । नवीरुद्धेषुपकरणे दण्डाल्प विष्टद्

(चुरुं विधिकल अस्त्राय ।)

योपच्योऽसुतप द्वास्तु शशाशनिविषोपमा ।

भवन्त्यस्त्रैरप्तास्त्वादेतान् विष्टव्येत् ॥५०॥

भूर्यैषों से भ्रुकु हुई असूत के समान (प्राणदण्ड औषधियों भी शृद्व वृद्व और विव के समान (प्राणदण्ड)) जाया करती है, इसलिये इनका परिवारा करे ॥५०॥

यत्तद्वृत्त—वैषपि औरपि धृष्ट छलाशालन वैषिक द्रव्यवाल्प है तथापि वैष चिकित्सापरोपयोगी शमलदण्डशाल सम्भक्ता चाहिये । अनेक प्रकार की आपत्तियों का द्रिष्ट वाले के लिये धृष्ट, अयनि और विव की द्रव्यमाली ही गई है ॥५१॥

से गरीते वैषपांशं अंग के मर्मापात की आपत्ति बताता है, वृद्व से आकस्मिक शृद्व की आपत्ति और विवकालानुकृती शालापत्ति की आपत्ति वृत्त लाए जाती है । वृद्व में भी वृद्व ही आपत्ति है—‘वैषादिव वृद्व शश वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यत्तद्वृत्त—वैषपि औरपि धृष्ट छलाशालन वैषिक द्रव्यवाल्प है तथापि वैष चिकित्सापरोपयोगी शमलदण्डशाल सम्भक्ता चाहिये । अनेक प्रकार की आपत्तियों का द्रिष्ट वाले के लिये धृष्ट, अयनि और विव की द्रव्यमाली ही गई है ॥५१॥

से गरीते वैषपांशं अंग के मर्मापात की आपत्ति बताता है, वृद्व से आकस्मिक शृद्व की आपत्ति और विवकालानुकृती शालापत्ति की आपत्ति वृत्त लाए जाती है । वृद्व में भी वृद्व ही आपत्ति है—‘वैषादिव वृद्व शश वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

इस धृष्ट में वैषपि से अनभिज्ञ वैषों के विषपि वृद्व है । अग्रे सुर्वी में इमामास से अनभिज्ञ वैषों के विषपि वृद्व है ।

वैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पैषवद्विविद्व विष्टव्येत् वृद्व ॥ (पृष्ठ ५० ।)

यैषादिव वृद्व वैषादिवनिर्देव । ल्पै

लेद्य, भेद आदि शास्त्रक्रमों में और स्वेह स्वेदपूर्वक पंचक्रमों में जो वैद्य अनिमित्त हैं, वे गुरु वैद्य राजा के दोष के कारण लोभ से जनता के ग्राणों का नाश कर देते हैं ॥५१॥

वृक्षब्द्य—वैद्य के निष्पत्र हो जाने के पश्चात् जनता में चिकित्सा प्रारंभ करने के कृद्वं कर्म और शास्त्र की दृष्टि से उसकी शीक जांच करना तथा चिकित्सक वैद्य से अज्ञानपूर्वक या ज्ञानपूर्वक असंगत चिकित्सा हो जाने पर उसको दण्ड देने का विधान करना राजा का या राजसंस्था का कर्तव्य है । चक्रदत्त अपनी दीक्षा में लिखते हैं—निष्पत्रन वैयेन प्रजापालके राशि आत्मा गुणतो दर्शनीयः । ततो राशि परीक्ष्य वैद्यः प्रजारक्षार्थमनुमन्तव्य एप धर्मः । अनिष्पत्रवैद्यगणश्चिकित्सां कुर्वाणो लोकापकारतया राशा शासनीयः । हस्त कर्तव्य धर्म का योग्य पालन न करना राजा का दोष समझना चाहिये । चरक में भी लिखा है कि हस्त प्रकार के अज्ञानी प्राणहारक वैद्यों का जनता में होना राजा का ही प्रमाद है—‘अतो विषयेण विपरीता रोगाणामभिसरा हन्ताः प्राणानां भिषक्षुष्टप्रतिष्ठनाः कण्ठकभूता लोकस्य प्रतिस्पक्त्यत्वमण्डी राशां प्रमादान्चरन्ति रास्त्राणि’ । (सू० २९)

यस्तुभयश्च मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने ।

आहवे कर्म निवोंहुं छिचकः स्यन्दनो यथा ॥५२॥

जैसे कि दों पहियों का रथ संग्राम में कार्य करने में समर्थ होता है, वैसे ही जो बुद्धिमान् वैद्य (शास्त्र और क्रिया) दोनों पहियों का पूर्ण जानने वाला है वह (आयुर्वेद का) प्रयोजन नेतृ करने में समर्थ होता है ॥५२॥

वृक्षब्द्य—अर्थसाधन—व्याधितस्य व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य क्षणं च । यहाँ मतिमान् शब्द सहेतुक प्रयुक्त हुआ है । मति का अर्थ सहज बुद्धि । अपनी सहज बुद्धि का उपयोग केमे विना चिकित्सा में सफलता नहीं मिल सकती है । यदि ग्रन्थ और कर्म रथ के दो चक्र होते हैं तो मति रथ का सारथि है, जिसके विना रथ का अस्तित्व वर्धते है । चरक में लिखा है—‘शास्त्र ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः । ताभ्यां भिषक द्युक्ताभ्यां चिकित्सापरारथति’ । (सू० ३० ९)

अथ वत्स ! तदेतदध्येयं यथा तथोपधारय मया ग्रोच्यमानम्—अर्थं शुचये कृतोत्तरासङ्गायाव्याकुलायोपस्थितयाध्ययनकाले शिष्याय यथाशक्ति गुरुरूपदिशेत् पदं पादं श्लोकं वा; ते च पदपादश्लोकों का भूयः क्षमेणानुसंधेयाः, एवमेकैकशो घटयेदात्मना चालुपठेत्; अद्युतमविलम्बितमविशक्तिमनुनान्तसिकं व्यक्ताक्षरमपीडितवर्णमन्त्यिष्ठुवौष्ठहस्तैरनभिनीतं सुसंस्कृतं नात्युच्चैर्नातिनीचैश्च स्वरैः पठेत् । न चान्तरेण कम्भिइडजेत् तयोरधीयान्योः ॥५३॥

इस वत्स सुश्रुत ! जिस विधि से यह (आयुर्वेद शास्त्र) पढ़ा चाहिए वह विधि मैं वर्णन कर रहा हूँ, तू श्रवण कर । पलिं, उत्तरीय वस्त्र पहने हुए एकचित्त ऐसे उपस्थित हुए विष्य की गुरु अन्धयन के समय यथाशक्ति पद, श्लोक का चरण या संर्णी श्लोक पढ़ावे । किंतु पढ़ाये हुए पदपादश्लोकों का क्रम से सूक्ष्म निष्पत्र करें; इस प्रकार एक एक (श्लोक को या

शिष्य को) पढ़ावे पश्चात् गुरु स्वयं पढ़े । न बहुत शीघ्रता से, न बहुत विलंब से, शंकारहित होकर, नासिकोच्चार बज्जे कर, स्पष्ट उच्चार करके, अक्षरों के ऊपर आचरणकरता से अधिक जोर न देकर, आंख, ध्वनि, हाँठ तथा हाथों करके किसी प्रकार का भाव प्रकट न कर, न बहुत ऊँचे स्वर से, न बहुत नीचे स्वर से पढ़े और पढ़ते समय गुरु और शिष्य दोनों के बीच में कोई न जावे ॥५३॥

वृक्षब्द्य—अथ—नित आह्विक कर्म से निवृत्त होकर । उत्तरासङ्ग—प्रावार या कमर के ऊपर ओढ़ने का बद्ध । अध्ययनकाल—अनध्याय बज्जे कर शेष दिनों में प्रातःकालादि समय । अनुसंधान—सूक्ष्म निष्पत्रण या अन्वेषण । अविशक्ति—गुरु के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भीति मन में न रखकर । न कथिद्व ब्रजेत—पढ़ाई के समय शिष्य और गुरु के बीच में कोई आने जाने से दोनों का ध्यान उसी की तरफ आकर्षित होता है, जिससे गुरु के विषयनिष्पत्रण में और शिष्य के विषय-ग्रहण करने में वाधा उत्पन्न होती है । इसलिये यह निषेध किया गया है । इस प्रकार अन्तरागमन होने पर शास्त्र के अनुसार अनध्याय करना पड़ता है । मनुस्मृति में लिखा है—

पूर्वांडुकमार्जरशर्तर्पनकुलाखुभिः ।

अन्तरागमने विद्यादन्ध्यायमहनिंशम् ॥ (अ. ४-१२६)

भवतश्चाव—

शुचिर्गुरुरुपरो दद्यस्तान्द्रनिष्ट्राविवर्जितः ।

पठन्तेन विधिना शिष्यः शास्त्रान्तमाप्नुयात् ॥५४॥

पवित्र, गुरुभक्त, (अपने कार्य में) दक्ष होकर निद्रा और आलस्य छोड़कर जो शिष्य उपर्युक्त विधि से इस शास्त्र का अन्धयन करेगा, वह इसमें परांगत हो जायगा ॥५४॥

वृक्षब्द्य—निद्रावर्जित, रपत्रि का पहला और अन्तिम याम (वाहासुर्हृत) में तथा दिन में निद्रा वर्जित करके ।

वाक्षसौष्ठुद्वेऽर्थचिन्नाने प्रागलभ्ये कर्मनैषुरुणे ।

तदभ्यासे च सिद्धौ च यतेताध्ययनान्तरगः ॥५५॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूक्ष्मानेऽध्ययनतंत्र-

दानीयो नाम हृतीयोऽध्यायः ॥३॥

और शास्त्रान्त तक पढ़ चुकने पर वाणी की शुक्रता के लिये, अर्थविज्ञान के लिये, धार्षर्थ तथा कर्म में नैषुप्य उत्पन्न करने के लिये, कर्मभ्यास और (आरब्ध कार्य में) सिद्धि प्राप्त करने के लिये सदैव यत्करना रहे ॥५५॥

इति भास्करामर्णा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुवेदरहस्य-दीपिकायां सुश्रुतमाप्तीकायां सूक्ष्मानें हृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातः प्रभावणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः यथो-चाच्च भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से प्रभावणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के प्रति किया ॥१॥

वृक्षब्द्य—प्रभावणीयमध्यायस्य प्रकारेणायामायुसधानरूपकं व्याख्यानम् । पहुँ द्युष शास्त्र का अनुसंधानरूपक जो व्याख्यान होता है, उसे प्रभावण कहते हैं ।

अधिगतमायद्ययनमप्रभापितमर्थतः खरस्य
चन्दनभार इच केऽपलं परिधिमकुरं भवति ॥३॥

भवति चाय—

यथा यरश्वन्दनभारद्वारी

भारस्य वैत्ता न तु चन्द्रस्य ।

एवं हि शास्त्राणि वहन्यर्धान्य

चार्यपु मृदा सरवहनि ॥३॥

भर्ती शास्त्र पृष्ठ हेने पर भी यहि अधि का तत्त्वज्ञान न हो तो गणेश के चन्द्र भार की भानि शास्त्र केवल (भार के समान) परिभ्रमणक होता है ॥२॥ जैसे चन्द्र का भार उठाने वाला शशांक बैवल भार को ही जानने वाला होता है और चन्द्र के शुणो को नहीं जानता है, वैसे ही जो बहुत शास्त्र पृष्ठ हेने पर भी उनके अधों का नहीं समझने हैं वे गणेश के कुत्य (चन्द्र के स्थान में शास्त्र का) भार उठाने वाले होते हैं ॥३॥

तसात् सविंशतमध्यायरत्नमनुपदपादशोकेम-
नुरर्णयितव्यमनुथोत्त्वं च, रसात् ? सहमा हि
द्रव्यरसगुलवीर्यविधाकृदोपव्यातुमलाद्यमर्मसिरा-
ज्ञायुसन्ध्यस्थियगम्भेसंभवद्रव्यसमूहविभागास्तथा
प्रनष्टदश्योद्धरणमनेविनिश्चयमन्नप्रियकल्पाः साध्य-
याप्यप्रत्याल्पेयत च विकारणमेवमाद्यशान्ते
सहव्ययो विरोधा ये विविच्यमाना विमलविष-
पुलुडंरपि शुद्धिमाकुर्लीकुर्यु. किं पुनरल्पुडः,
तसाद्यदश्यमनुपदपादशोकेमनुरर्णयितव्यमनुथो-
त्त्वं च || ३ ||

इस काण से एक सीं बीम अध्यारों को एक एक बद, धरण और शैक्षि को लेकर (गुरु को घृत) वंशत करना चाहिये और (गिर्या को घृत) धरण करना चाहिये। वंशांकि (स्त्रावरादि) दल, (मधुरादि) रम, (गुप्तादि) गुप्त, (भीतोलादि) वर्ष, (मधुरादि) तिराक, (वानादि) हंष, (स्त्रादि) धनु, (मधुरादि) मल, (वानादि) आग्य, मर्म, सिरा, घायु, संधि, अस्थि (शुक्रभोजिणादि) गर्भापत्तिनक उत्तरयम्भुतया भट्ट शब्द लकड़ी को निकालना, धन का निश्चय करना, भट्ट के भेद, रोमों के साध्य यापादि भेद इत्यादिक और अन्य हास्यरोम सूझ विशेष वार्ता होती है जिनका विचार करन पर निर्भर और यित्तुल दुष्कृतियों मनुष्यों की दुष्कृती भी स्पष्ट कुल हो जाती है। किंतु अस्त्रयुद्धि मनुष्य की सो बया गति है। इसलिये अवद्य-मेव एक एक बद, पाद और शैक्षि लेकर उसका घृत विचारण करना चाहिये तथा सुनना भी चाहिये॥५॥

अन्यशास्त्रोपपशानां चार्णनामिहोपनीतानाम-
र्थपशासेषां तदिधेभ्य एव व्याप्त्यानमनुधोतव्यं,
पसाद् ! नदेवस्मिन् शास्त्रे दास्यः सर्वशास्त्रा-
शास्त्रपठेधः एतम् ॥५॥

भवन्ति चाप—
एकं शास्त्रमधीयानो म विद्याच्छास्त्रनिष्ठयम् ।
तसादृष्टयः शास्त्रे विजानीयाच्छिकित्सकः ॥६

प्रयोगन के कारण को अन्य शास्त्रों के (धोरे) विषयः
शास्त्र में आवाय हैं, उनका व्याख्यान उन शास्त्रों के विद्वानों
ही सुनता चाहिये। क्यों? एक शास्त्र में (अन्य आवश्यक
मत शास्त्रों का समावेश करना असम्भव है)॥५॥ क्वेचलः
ही शास्त्र पद्धते काला मनुष्य इस शास्त्र के तत्त्वों की लिखितरूप
प्रहण नहीं कर सकता है, हमलिये चिकित्सक वैद्य को चाहिे
कि वह (अन्य आवश्यक) शास्त्रों का अस्याम करके आपुं
शास्त्र को पढ़ दे ॥६॥

यत्तद्य—प्रयोक शास्त्र में अन्य कहीं शास्त्रों के सिद्धान्त और तात्परों का वर्णन आता है। कोई भी धार्ष स्वयं पर्ण नहीं न प्रयोक शास्त्र में अन्य शास्त्रों के सिद्धान्तों का विस्तार विवरण दिया जा सकता है। परन्तु जलवायन समीक्षा शास्त्रः विद्यार्थी अपरिचित होता है, तबतक उससे उम्मेद शास्त्र के बाह्य आकलन नहीं हो सकता है। इसलिये विद्यार्थी व धार्यों के बहु दृष्टि शास्त्रों के सिद्धान्तों का ज्ञान उन शास्त्र के पाठ्यक्रम से करते हैं। असुर्वद का आकलन करने के लिये बेदान साध्य वैदेयिक उत्तरित्य व्याकरणीय शास्त्रों के मौजिल सिद्धान्त से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है। इनके सिद्धान्त साधारण (Chemistry), मौत्तिकविज्ञान (Physics), उद्धि जग्याल (Botany), जातुज्याल (Zoology), जीवियाल (Biology), जीवनसाधारण (Biochemistry), मानसभ्याल (Psychology), विवाहाल (Science of heredity), आ हारणाल (Diacteties) हृत्यादि अनेक शास्त्रों का खोड़ा परि व्य आवश्यक है। इनमें से पहले धार शास्त्र अत्यन्त आवश्यक होने के कारण प्राथाल्य वैदेयक के पाठ्यक्रम में समाविष्ट किये गये हैं। साप्रत असुर्वद के अध्ययन में प्राचीन सांख्य कैरिएरिक दृश्याल के सिद्धान्त साधानगाम्य, उद्दिक्षागम्य तथा प्राथाल्य वैदेयक के आवश्यक अर्गों का भी समावेश करना अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन काल में अन्य शास्त्रों का परिचय स्वयं आचार्यों से करने की आवश्यकता थी। आजकल प्रयोक शास्त्र के सुदूर प्रथ मिलते हैं, जिनका परिसीलन करने में अधिकांश काम हो जाता है और आचार्यों से पढ़ने की उत्तरी आवश्यक नहीं होती है।

शारखं गुरुमुखोद्दीर्घमादायोपास्य चासहृद् ।

य यर्म कुरते वैद्यः स वैद्योऽन्ये तु तस्माद् ॥७॥

गुरुसूत्र से निकले हुए शास्त्र की जो ग्रहण कर अनेक वार्ष उम्रकी उपासना करके कर्म करता है, वही वैद्य है। अन्य सभी चोर हैं॥३॥

यत्तद्य—आयुर्वेदशापि उपवेदैँ तथापि निझ कारणों से उसे शाक कहत है—तामूर शमित इनी शाकम्, आगुराम्य दानव चर्यावेद्यकरिता शाकम् तदा शाकम्, मणाम् ब्रह्म इनी वा शृणुम् । उत्तमना—प्रभाषणपद्धति तथा नदिप्रसामाप्तपद्धति द्वारा अर्थ तत्त्व का निप्रयोग करना : विषापद्धति तथा प्राणाप्ति द्वारा करने के कारण कुर्वय चांद्र छलाता है ।

औपर्यनवमौरथ्रं सौश्रुतं पौष्टिकलावतम् ।
शेषाणां शत्यतन्त्राणां सूलान्येतानि निर्दिशेत् ॥८॥
शति सुश्रुतसंहितायां सद्रस्याने प्रभाष्यन्तीयो
नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

औपर्यनव तन्त्र, औरअ तन्त्र, सौश्रुत तन्त्र और पौष्टिकलावत तन्त्र इन चार तन्त्रों को अन्य सर्व शत्यतन्त्र के ग्रन्थों में अधिन समझना चाहिये ॥८॥

चक्षव्य—उपर पांचवें सूत्र और छठे इत्योक में सामान्य आयुर्वेदात्ययन के लिये अन्य शास्त्रों की आवश्यकता दिल्लाकर इस इत्योक में शत्यविज्ञान पढ़ने के लिये अन्य महत्व के शत्यतन्त्र के ग्रन्थ बतलाए गये हैं । अर्थात् उपलब्ध सुश्रुतसंहिता का योग अस्यास करने के लिये उपर्युक्त चार तन्त्रों का परियोग जहर करना चाहिये । ये चारों तन्त्र आज अनुपलब्ध हैं । इस इत्योक से यह भी सिद्ध होता है कि पुराना सुश्रुततन्त्र उपलब्ध सुश्रुतसंहिता से स्वतंत्र है; अन्यथा सुश्रुततन्त्र का निर्देश करने की आवश्यकता नहीं थी ।

शति भास्तरशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामाशुब्देशत्य-
दीपिकायां सुश्रुतभाषार्थीकायां सद्रस्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातोऽग्रोपहरणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
पोचाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

यद्य यहाँ से अग्रोपहरणीय नामक अध्याय का वर्णन है, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया है ॥१॥

चक्षव्य—अग्रोपहरणीय—शस्त्रकर्म करने के पूर्व जिन ग्रन्थों को सुसज्ज रखकर काम करना पड़ता है उनके संबंध लेखा हुआ अध्याय । ‘कर्मणाम्भे उपहरण वेषा वन्त्रशासीनां ग्रोपहरणानि तान्यपिष्ठृत्य कृतोऽध्यायोऽग्रोपहरणीयः’ । (चक्र)

त्रिविधं कर्म—पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात्कर्मति;
शर्यार्थं प्रति इत्युपदेश्यामः ॥२॥

कर्म तीन प्रकार का होता है—पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात् । इनका उपदेश ग्रन्थेक व्याधि का वर्णन करते समय किया गया ॥२॥

चक्षव्य—यहाँ कर्म के जो तीन प्रकार बतलाये हैं, वे ग्रन्थ शत्यविकित्सा में ही होते हैं । इनमें से जो कर्म रोग निवारण करता है, उसे ‘प्रधानकर्म’ कहते हैं । प्रधान कर्म ने के पूर्व उसके संबंध में जो कुछ भी उपकारक कर्म करना चाहा है, उसे ‘पूर्वकर्म’ कहते हैं । प्रधानकर्म के पश्चात् उसकी तरफ करने के लिये या उससे होने वाले उपद्रवों का निवारण ने के लिये जो कर्म करना पड़ता है, उसे ‘पश्चात्कर्म’ कहते हैं । ‘प्रधानकर्मलानुशृतिकरं कर्म पश्चात्कर्म’ (हाराणचन्द्र) । ग्रन्थिलास्थान के पहले अध्याय में शण के साठ उपकरण वर्णन दिये हैं । हन में अपर्यण से विशेषता तक द्वादशकर्म पूर्वकर्म । गते हैं; अष्टविध शस्त्रकर्म प्रधानकर्म में आते हैं और शेष शात्कर्म में समाविष्ट होते हैं—लज्जनादिविरकात् पूर्वकर्म ग्रन्थस्य । पाठन रोपण यज्ञ प्रथान कर्म तत् स्तृतम् । वलवर्णामिकार्य तु पश्चात्

कर्म समाविष्ट ॥। परंतु इस प्रकार उपकरणों का पूर्वप्रदिसल्व निश्चित न समझकर प्रधानकर्मसारंक्ष समझना चाहिये । यथा लघ्न प्रधानकर्म के पूर्व होने से पूर्वलर्म और फीचे होने से पश्चात् कर्म हो जाता है । आयुनिक शस्त्रकर्म के संबंध में भी उपर्युक्त तीन विभाग दिये जाते हैं । लंबन, विरेचन, वस्ति इत्यादि सामान्य तथा शस्त्रकर्म के स्थान का विषेधन (Sterilization) इत्यादि विशेषकर्म पूर्वकर्म में आते हैं, और इसको ‘मिपरेशन आप दी पैरेंट’ (Preparation of the patient) कहते हैं । प्रधान कर्म में सुख्लग्गस्त्रियों का समाविष्ट होती है । उसे ‘मेन आपरेशन’ (Main operation) कहते हैं । पश्चात्कर्म में वणितोपचारादि उपाय तथा घणचिकित्सा आती है । इसे ‘आस्टर ट्रीटमेंट’ (After treatment) कहते हैं । तथापि प्रति—ये त्रिविधकर्म प्रयोक व्याधि के संबंध में भिन्न भिन्न होते हैं; अतः इनका वर्णन प्रयोक व्याधि वर्णन के समय किया जायगा, क्योंकि यहाँ उनका वर्णन करने से कोई लाभ नहीं है ।

अस्मिन् शास्त्रे शस्त्रकर्मप्राधान्याच्छ्रवकर्मेच तावत् पूर्वमुपदेश्यामस्तस्तस्मारांश्च ॥३॥

शत्यतन्त्र में शस्त्रकर्म की प्रधानता होने के कारण शस्त्रकर्म तथा उमर्का सामग्रियों का वर्णन प्रारम्भ में करेंगे ॥३॥

तत्त्व शस्त्रकर्माऽप्यविधिः; तत्यथा—छेद्यं, सेद्यं, लेख्यं, वेद्यम्, एत्यम्, आहार्यं, विस्ताव्यं, सीव्यमिति ।

वह शस्त्रकर्म आठ प्रकार का है—१ छेदन, २ भेदन, ३ लेखन, ४ वेधन, ५ पृष्ण, ६ आहरण, ७ विस्तावण, और ८ सीवन ॥४॥

चक्षव्य—अष्टविध—चरकसंहिता में दृढवल ने पृष्ण और शाहरण छोडवर शेष छेदन लेवन तथा । ग्रोष्टन सीवन चव पद्विष शस्त्रकर्म तत् ॥’ (चिकित्सास्थान) । वास्तव में पृष्ण और आहरण यन्त्रकर्म हैं, शस्त्रकर्म नहीं हैं । परन्तु अनेक वार छेदन भेदन करके पृष्ण आहरण करना पड़ता है । इसलिये सुश्रुत ने इनका समावेश शस्त्रकर्म में किया है—‘एषणाहरण शस्त्रकर्मणि केचिन्मन्यन्ते तथापि इत्वा भित्त्वाऽप्येषणाहरणे क्रियेते, अतोऽत्र शस्त्रकर्मणि निर्दिष्टे’ (डलहणटीका) । छेदन—काट के द्विधा करना यथा भगन्दर या शरीर से अलग करना यथा अर्श, चर्यकील इत्यादि (Excision) । भेदन—चीरना यथा फोड़ा विद्धि इत्यादि (Incision) । लेखन—चुरचना यथा मांसकन्द इत्यादि (Scraping, Scarification) । वेधन—अल्पमुख शस्त्र से छेद करना यथा सिरावेध, मूत्रवृद्धि जलोदर इत्यादि (Puncturing) । एषण—शलाजा द्वारा नाड़ी शाणादियों का अन्वेषण (Probing, Exploration) । आहरण—वाहर खर्च के निकालना (Extraction) । विस्तावण—रक्त लसिका पृष्ण इत्यादि को चुवाना (Drainage) । सीवन—सीना या टांके लगाना (Suturing, stitching) । वाम्भट ने हन आठ कर्मों के अतिरिक्त निष्ठा पौत्र कर्म अधिक वर्णन किये हैं । यथा—१ उत्पाटन, २ कुट्टन, ३ मन्थन, ४ ग्रहण, ५ दहन—उत्पाट्य पाठव सीनीपैलेयप्रच्छदमुकुन्दम् । द्वेष भेद्य व्याधों मन्थो श्री दाहश तत्क्रिया: ॥ उत्पाटन—हस्ती को अष्टाङ्गसंग्रह में उद्धरण करा है । बुद्धन—सुई की सहायता से त्वचा में छोटे छोटे छेद करना (Pricking) । मन्थन—मन्थ की लदायता

से मन्यन किया द्वारा क्षेत्र करना (Drilling)। 'निर्देशिति' वा दायी पाणिमन्यन दारिते। नार्दी दत्ताऽर्थिति भिषक् चूपदेव पवन वर्णी ॥ (सुकृत)। दहन—यन्त्र तथा पद्ध की सहायता से दहन कर्म होता है। यस्य द्वारा जो होता है, उसे औंगत्री में 'कॉटरी नाइफ' कहते हैं (Cautery Knife)। आमुनिक काल में इस पद्धति द्वारा ग्राहकम् करने की प्रभा पहुंच यह गई है। सुकृत में भी इमका निर्देश किया गया है—'असितेन शखेण छिक्कात' (वि. अ. २)।

अतोऽन्यतमं कर्म विकीर्पता दैवेन पूर्वमेवोपकृष्यत्वयनि—यशशालक्ष्मारामिश्रलक्ष्माश्रुजलौ-फालालूजाम्बौष्ठिपेत्सूत्रपञ्चपृष्ठमुघृष्टवयसा-पयस्त्वैलतर्पणकपायालेपनकल्पवेजनशीतोप्योदक-कटाद्यादीनि; परिकमिएथ खिर्धा: स्थिरा थल-यन्तः ॥५॥

उपर्युक्त आठ शब्दाङ्गमों में से किसी कर्म करने की इच्छा पाठे वैष्ण को पहुंचे ही तीर्ते लिखी सामानी अपने पास तैयार रखनी चाहिये। जैसे—यन्त्र, यन्त्र, लार, अस्ति, शालाम्भा, संतां, योंक, तीर्ता, जायवोह, रौ, वदा, सूत, पते, (मण्डित्यन के लिये) पट, ममु, धी, घर्वी, दूप, तेल, संतर्पण द्रव्य, काय, लेप फी ओषधियाँ, लुगाई, पंखा, ढंडा और गरम जल तथा पक्काई। (इसके सिद्धाय रोगी के डर) प्रेम करने पाठे, दियर विदा और बलवान् ऐसे परिचारक भी होने चाहिये ॥५॥

यत्कर्य—इस सूत्र का आवश्यक यह है कि शशकर्म के लिये जो जो भींते आपश्यक होंगी, वे सब पहुंचे इकट्ठा कर शशकर्म करने के साथ अपने समीप तैयार रखनी चाहिये। प्रत्येक शशकर्म में आपश्यक वस्तुरूप भिष भिष हो सकती है। उपर भव्यसाधारणतया आदों प्रकार के शशकर्मों में उपयोगी वस्तुओं की सूची यह गई है। जानकोड—जानकुल्लन्द्रुषुकाम्भ शशनिपातस्यान सुमकाशित करने के लिये रोगी को शूलिम्ब सुख रखने की प्रवृत्ति थी। इससे चिकित्सक को शशकर्म स्थान का निरिक्षण करने में भी सीकर्य मिलता था। यदि कारणय शशकर्म दो महर करना हो तो रोगी को पश्चिमिम्ब सुख रखना चाहिये। इसीलिये आयो सिराव्यय (हारीर अ. ८) और अर्याचिकित्सा (वि. अ. ६) में दिशा का निर्देश न कर केवल शूलिम्बुल लिखा है—'त्रै व्यवनिर वुष्ट श्लातिलम्बु' 'फल्के स्वावावा वा प्रसादित्युर्'। बन्धित्या—बन्धीन काल में सार्वदैहिक सशाहर औषधि (General Anaesthetic) मालाम न होने से शशकर्म के समय शशनिपातस्यान बेरदा के कारण रोगी के एक साथ सवारी की इन्स्ट्रुमेंट करने के लिये उसकी बलवान् परिचारकों से या बोही (धृत्याकांक) से कान्तवर थापने की आवश्यकता होती थी और वह प्रत्येक शशकर्म के समय किया जाता था। अन्यत्रिति व करने से शशकर्म के समय रोगी हिल जाने के बागम अप्य स्थान पर यद्य से पाप हो जाने की भाँति होती है। मर्य—'मर्यनि नय म संसिनिराकायस्तिविनिविताम्बेतु रसमान रस विशेष प्राप्तिमित्विति'। अनुलेप्त—ग्राहकान में ग्राह भीतर प्रवृत्त करने की दिशा भींते से कर की तरफ रोगी की भाँति होती चाहिये। इसमें पूर्य का आव बाहर आने के लिये सुप्रीता होता है। इसमें पूर्य का आव बाहर आने से पूर्य बाहर आने में भी रीढ़िक होती है। इसमें बन्धा देव करने से पूर्य बाहर आने में भी रीढ़िक होती है। इतारामप्रद अनुपोग का अर्पण 'प्रापायीण' करते हैं। बन्धुल्लान्द्रुषुकाम्भ वा—जब वास्तविक जारा लिखत होता है, तब एक लाल में शशकर्म के द्वारा

ततः प्रशास्तेषु तिथिकरणमुहूर्तंनक्षेत्रु व्यधः
तान्नपानरहीरार्द्धं विप्रान् भिषजश्वर्विपत्वा, कृ
वलिम्बलस्वस्तिवाचनं लघुभुक्यन्तं भ्रामुष्मान्
रसुपवेद्य यन्त्रियत्वा, प्रत्यव्युत्थो वैद्यो मर्मसिर
यायुसन्यस्तियथमनीः परिहरन्, अनुलोमं शर
निदध्यावाप्यदर्शनात्, स्फुरेवापहरेच्छ्रुमात् ८
महत्स्वपि च पाकेषु द्व्यहुलान्तरं द्व्यहुलान्तरं ९
शस्त्रप्रसुकम् ॥६॥

किरुभ तिथि, करण, सुर्वूर्त, नक्षत्र पर दृष्टी, अता अद्वापान तथा रत्नादि से अपि, ब्रह्मण और वैद्यों का पूज कराकर थलिदान, मंगलाचरण और स्वस्तिवाचन भी कर इलके भोजन किये हुए रोगी को शूलिम्बुल रित्ता कर वंधवा के वैद्य स्वयं पश्चिमाभिमुख होकर मर्म, सिरा, जाल संनिधि, अस्ति, धमनी आदि की बचाकर जहाँ तक पी दिलाई है वहाँ तक लोम की दिशा में शश प्रवेश करे और जल्दी से पृष्ठ वार शस्त्र निकाल ले; पाकस्थान यहाँ होने पर यां की लम्बाई दो या तीन अंगुल होनी चाहिये ॥६॥

घत्कर्य—युक्तल—शशकर्मजन्य मलानि निवारण करने के लिये तथा शशनित धाय से रेत का आव थोड़ा कर करने के लिये रोगी को भोजन शशकर्म के पहुंचे दिया जात या। विशेष विवरण के लिये अन्याय १० सूक्त १५ की दीक देखें। प्रत्यहुतु—ग्राहय। शशकर्म द्वारा होने के कारण शशनिपातस्यान सुमकाशित करने के लिये रोगी को शूलिम्ब सुख रखने की प्रवृत्ति थी। इससे चिकित्सक को शशकर्म स्थान का निरिक्षण करने में भी सीकर्य मिलता था। यदि कारणय शशकर्म दो महर करना हो तो रोगी को पश्चिमिम्ब सुख रखना चाहिये। इसीलिये आयो सिराव्यय (हारीर अ. ८) और अर्याचिकित्सा (वि. अ. ६) में दिशा का निर्देश न कर केवल शूलिम्बुल लिखा है—'त्रै व्यवनिर वुष्ट श्लातिलम्बु' 'फल्के स्वावावा वा प्रसादित्युर्'। बन्धित्या—बन्धीन काल में सार्वदैहिक सशाहर औषधि (General Anaesthetic) मालाम न होने से शशकर्म के समय शशनिपातस्यान बेरदा के कारण रोगी के एक साथ सवारी की इन्स्ट्रुमेंट दृष्टि वाली बलवान् परिचारकों से या बोही (धृत्याकांक) से कान्तवर थापने की आवश्यकता होती थी और वह प्रत्येक शशकर्म के समय किया जाता था। अन्यत्रिति व करने से शशकर्म के समय रोगी हिल जाने के बागम अप्य स्थान पर यद्य से पाप हो जाने की भाँति होती है। मर्य—'मर्यनि नय म संसिनिराकायस्तिविनिविताम्बेतु रसमान रस विशेष प्राप्तिमित्विति'। अनुलेप्त—ग्राहकान में ग्राह भीतर प्रवृत्त करने की दिशा भींते से कर की तरफ रोगी की भाँति होती चाहिये। इसमें पूर्य का आव बाहर आने से पूर्य बाहर आने में भी रीढ़िक होती है। इसमें बन्धा देव करने से पूर्य बाहर आने में भी रीढ़िक होती है। इतारामप्रद अनुपोग का अर्पण 'प्रापायीण' करते हैं। बन्धुल्लान्द्रुषुकाम्भ वा—जब वास्तविक जारा लिखत होता है, तब एक लाल में शशकर्म के द्वारा

करने से पूर्य निर्गम नहीं हो सकता है। इसलिये व्यण दो या तीन बड़गुल मोटा रखने की जरूरत होती है। कभी कभी इससे भी अधिक मोटा व्यण करना पड़ता है। व्यण की अम्बाई पाकस्थान के दिल्ली के अनुसार हीनी चाहिये और गहराई पूर्य दर्शन तक हीनी चाहिये। यहीं बड़गुल से बेवल लम्बाई का दोष होता है। जब पाकस्थान अत्यन्त विस्तृत होता है तब केवल द्वयबड़गुल परिमाण एक व्यण करने से काम नहीं होता, उस समय द्वयबड़गुल या त्रयबड़गुल परिमाण अनेक व्यण करने की आवश्यकता होती है। ये व्यण एक दूसरे से दो या तीन अंगुल की दूरी पर होने चाहिये। यह व्यावहारिक अनुभव अद्याहाहदय के निश्च श्लोक की टीका में अलग-दर्ज लिखते हैं—‘पाके तु सुमहत्यपि पाट्येद्यंगुलं सम्यग् द्यंगुलं यंगुलपरिमाणं त्रयं सम्यक् तुमुग्राऽपित्तम्। अंगुलद्यमथवांद्यगुलव्यमलारीष्ट्य उन्नरन्यं त्रयं कुर्यात्वासन्नम्।’ (दू. अ. २९) । ‘पाके तु सुमहत्यपि पाट्येत् अंगुलं यंगुलपरिमाणं त्रयं सम्यक् तुमुग्राऽपित्तम्। अंगुलद्यमथवांद्यगुलव्यमलारीष्ट्य उन्नरन्यं त्रयं कुर्यात्वासन्नम्।’ (वारुणदत्त) । संक्षेप में जब पाकस्थान छोटा हो तो शगद्वारा एक घेद करने से काम होता है, वयस्क मोटा हो तो द्वयबड़गुल परिमाण एक व्यण करने से काम होता है, और जब अत्यन्त विस्तृत हो तब दो या तीन बड़गुल के अन्तर पर कई व्यण करने की आवश्यकता होती है।

तत्रायतो विशालः समः सुविभक्तो निराश्रय इति वर्णगुणः ॥७॥

भवतश्चाच—

आयतश्च विशालश्च सुविभक्तो निराश्रयः ।

प्राप्तकालकृतश्चापि व्यणः कर्मणि शस्त्यते ॥८॥
(वर्णों के गुण)—आयत, विशाल, सम, सुविभक्त और निराश्रय ये व्यण के गुण होते हैं ॥८॥ यही आयत श्लोक से कहते हैं—(आवश्यकता के अनुसार) लम्बा तथा गहरा, (तीण शब्दहारा) अच्छे प्रकार से चीरा हुआ (अङ्गुली मर्दन से) निष्पूर्य किया हुआ तथा सम्यक् पक्षावस्था के समय किया हुआ व्यण शब्दकर्म में प्रशस्त माना जाता है ॥८॥

वक्तव्य—आयतश्च विशालश्च—शोथविस्तार के अनुसार विस्तृत। यदि व्यण छोटा किया जाय तो भीतर की छुद्दि शीघ्र और ठीक नहीं होती और कभी कभी कीमी छुद्दि होने के पूर्व व्यण मुख बंद भी हो जाता है और फिर कुछ समय के पश्चात् वहाँ पीय उत्पत्त होता है। सुविभक्तः—तीक्षणशब्द का प्रयोग न करने से प्रयत्नव्यण करने के लिये कई बार काटना पड़ता है। इससे त्वचा और मांस का अधिक नाश होता है। परिणाम यह होता है कि व्यण का संधान शीघ्र नहीं होता और भर जाने पर निशानी अधिक दिखाई देती है। निराश्रयः—अंगुलि मर्दन द्वारा जिसके भीतर पूर्य के लिये कोई आश्रय (Pockets) नहीं बचा हुआ है। प्राप्तकालकृतः—आमावस्था में चीरने से दोषों का उत्तरण पूरा नहीं होता और त्वचादिधातुओं का अधिक नाश होता है। पक्षावस्था के पश्चात् चीरने से दोष अन्य स्थान में प्रविष्ट होकर नाड़ी (Sinus) बनाते हैं। इस लिये ठीक पक्ष स्थिति में किया हुआ ।

२ व्यणकर्मणि प्राप्तत्वः ।

शौर्यमाद्युक्तिया शस्त्रतैष्यमस्वेदवैपथु ।

असंमोहश्च वैद्यत्य शशकर्मणि शस्त्रते ॥९॥

निर्भयत्वं शीघ्र किना करना, शश की तीक्ष्णता, पसीना न आना, दाय पाँच न कांपना और चित्त अचैत्य—ये नुण प्रसन्नजन्म करने के लिये वैद्य में दोने चाहिये ॥९॥

वक्तव्य—शौर्य—गानसिक निर्भयता जिससे शस्त्रकर्म करने के लिये एक प्रकार का उत्तमाहै वैद्य में होता है। शस्त्रतैष्य-शश की तीक्ष्णता यद्यपि वास्तव में शश का गुण है तथापि ग्रावीन काल में आजकल की भाँति तीक्ष्णादि गुणयुक्त उत्तम शश कंपनी के द्वारा बने बनाए न मिलने के कारण वैद्य को उत्तम शश की व्यावट पर स्वर्य व्यान देना पड़ता था—‘शशाप्येतानि मतिमान शुद्धरौत्यायसानि तु । वारयेत् करणमाप्तं कर्मकोविदम्’ ॥ (अ. ८) । इसलिये वैद्य के उत्तर शश का तीक्ष्ण गुण आरोपित किया गया है। असंगोंग—शशकिया में रक्तजाव सदैव न्यूताधिक मात्रा में होता है। हुठ लोग रक्त देसने से संमोहित या मूर्च्छित हो जाते हैं—‘स्त्रव्याहृष्टार्भिर्वति गृहोच्चास्तर्थं च दर्शनादस्तजः’ ॥ इसलिये वैद्य ऐसा होना चाहिये जो रक्त देस कर संमोहित नहीं होता है। प्रत्यक्ष गूच्छों उत्पत्त होने की जखरत नहीं है। खाली मन में घराहट होने से भी यस कर्म ठीक नहीं हो सकता है।

एकेन वा वरेणाऽशुध्यमाने नाऽन्तरा दुख्याऽव्याप्तरान् वरणान् कुर्यात् ॥१०॥

भवति चाच—

यतो यतो गौर्त्ते विद्यादुत्सङ्गो यत्र यज्ञ च ।

तत्र तत्र व्यणं कुर्याद्यथा दोषो न तिष्ठति ॥११॥

यदि एक व्यण से पाकस्थान की छुद्दि ठीक न हो जाय तो वैद्य अपनी छुद्दि से विचार कर पाकस्थान में कहरे और धाव करे ॥११॥ जहाँ जहाँ (पूर्य की) गति तथा उभार मालूम हो वहाँ वहाँ शश से व्यण कर देता चाहिये जिस से पूर्य भीतर न उभरने पाए ॥११॥

वक्तव्य—गति—दोष की गति या प्रसार। ‘यतो दोषगति विशार्त’ ऐसा भी पाठ है। दोष शब्द से वहाँ पूर्य समझना चाहिये ‘पूर्य एव दोषादेनोच्यते, कारणे कार्योपचारात्’ । (छलण) ।

तत्र भूगरेडशङ्कुललाटाक्षिपुट्टौष्टद्वत्वेष्टकक्षा-कुक्षिवृद्धेषेषु तिर्यक् छेद उत्तः ॥१२॥

(चन्द्रमण्डलवच्छेदान् पाणिपादेषु कारयेत् ।

अर्धचन्द्राकृतीश्चापि गुदे सेद्रे च भुद्धिमान् ॥१३॥

अन्यथा तु सिरास्त्रायुच्छेदनस्, अतिमात्रं लेदना, चिराद्यग्रासंरोदो, मांसकल्पदीप्रादुर्भाविष्येति ॥१४॥

दोनों शू, कपोल, कनपटी, मस्तक, आँखों के उत्तर का पपोटा, होठ, मसूड़े, बगल, छूँच और जंबा का जोह—इन स्थानों में तिरछा छेद होता है ॥१२॥ हाथों और पाँचों में चन्द्र-मंडल के समान गोल छेद करे और गुदा तथा लिंग में अर्धचन्द्राकृति छेद करे ॥१३॥ अन्यथा छेद करने से सिरास्त्रायुक्त जाती है, अधिक लेदना होती है, व्यण भरने के लिये अधिक

१ यतो दोषगति ।

दिन दग जाने हैं और मात्र की गाठ निवास आती है ॥१३॥

मूढगर्भेदिरागोऽश्मरीपागमन्द्रमुतारोगेष्यभुव्यात् त. कर्म कुर्वति ॥१५॥

मूढगर्भ, उदररोग, बबासीर, पथरी, भगन्द्र और मुख रोग में विना भोजन कराये शश्वर्कर्म करना चाहिये ॥१५॥

बक्कदय—शस्त्रर्भव बरने के पूर्व रोगी को भोजन देना सब से उत्तम मार्य है—‘प्राक शस्त्रर्भेष्ट भान्देन्तु भिरः’। परन्तु उदर, मूढगर्भ और मुख रोग में भोजन न करना प्रयत्न होता है। कारण यह है कि प्रत्यार्थतं निया से (Reflex action) दमन तथा हिण उलझ होकर किया में वाधा उत्पत्त होती है। अर्थ, अश्मरी, भगन्द्र में प्रत्यार्थतं से बमनादि उत्पत्त होने की विशेष सेभाना न होने से कारण हल्का भोजन करने में कोई आपत्ति नहीं होती है। अत इन रोगों की शस्त्रविद्या में रोगी को हल्का भोजन देने के लिये कहा है। विविलास्थान अगार ६-३-८ में इन रोगों का शस्त्रर्भव देखो। अष्टागतस्थान तथा अष्टागद्य भ्रम में वामपट ने अर्थ और भगन्द्र का निर्देश नहीं किया है और मुखुत में भी हन रोगों की शस्त्रविद्या करने के पूर्व रोगी को भोजन देने के लिये लिखा है। इस अधिकार पर हाराणच्छ चक्रतर्ती अपर्नीर्दीका में लिखते हैं—‘केनिदिनागोऽग्नदरावत्पदेन, तदुकु, विकिन्निं तुषी॑ शब्द कर्मण प्राक भोजनविश्वासेन्द्रपांचुतादिन वामपटेनापर्वतिलवाच’। परतु जब अर्थ और भगन्द्र की शस्त्रविद्या में भायन करने से कोई आपत्ति नहीं उत्पत्त होती है तब असमी की विद्या में भी भोजन करने से आपत्ति उत्पत्त होने की श्वावहारिक सभावता (शालप्रामाण्य के लियाय) नहीं लिखा है देती है। और इह दमन असमी विकिन्ना एं पाठ में ‘मुत्तवन’ ऐसा पाठ भी मिलता है। वामपट भमतपाठ ‘मुत्तवन’ ऐसा है। इसलिये मुखुतमहिता क बचनों का समन्वय करने के लिये ‘मुत्तवन’ का अर्थ विना भोजन किये था योंडा हल्का भोजन करके करना अधिक समग्र होगा। मूढगर्भ, बद्धुद्देवद, परिसामुद्र और मुखरोगों के विद्याय अन्य रोगों की शस्त्रविकित्या में रोगी की रिप्ति देख कर यदि योंडा भोजन देना उचित प्रतीत हो तो नव इह से उस में कोई आपत्ति नहीं आ सकती।

तत् दायमवचर्य शीताभिरद्विद्यातुरमाश्वास्य, सम्पत्तत् वरिशीउद्धुल्य, श्रेष्ठमिमूद्य(ज्य), प्रक्षालय कथायेण, प्रोत्तेनोदक्षमाद्य, तिलकलक मधुसर्पि. प्रगाढामांपद्ययुक्तां नातिलिङ्गदा नातिलक्तां वर्ति प्रणिदद्यात्, तत् कलेनाल्लग्न्य घनां व्य-
लिकां दत्ता, वस्त्रपद्मन वर्ध्यायात्, वेदनारक्षोम्भृष्टं पैर्धूपयेत्, रक्तोऽश्व मन्त्रे रक्तां कुर्वति ॥१६॥

तदन्तर (प्रण से) गृह का निकलकर रोगी का ठड़ पानी से रात्वन करे, तिर धार के बारीं और (बाहर तथा भीतर से) अंगुली हाता दानाकर (शोषण द्रव्यहृत) काष वल को कपड़े से सोख कर निलकल, मधु और शू में (सरोक) ओपरियों से बनी हुई म सूत लिदनी न बहुत स्त्री वसी मण में स्थापन करे, तिर व्रण से छारी ने ठांड कर जार मोटी गरी रखने

कपड़े की पट्टी से धोये हैं। अन्त में वेदनाहार और राष्ट्रमन्त्रों से (माँ की) रक्षा कर ॥१६॥

बक्कदय—शीताभिरद्विद्याम-ठें पानी का उप-पिलाने के लिये तथा मुख आदि पर हिक्काने के लिये होना ठें पानी का बाहारायनर उपर्योग करने से रोगी की व्यवरा तथा बेहोगी दूर हो जाती है। श्रमाभिषृष्ट-शहर की तरफ के आम पाय दगने से भीतर की मण पीप निकल आती। परंतु कमी कमी पाकस्थान में अतेक पूद्यमचय (Pus lobul Pus pockets) होते हैं, जिनका संघर्ष मण के साथ नहीं हो है। उस वदस्था में श्वास के भीतर अगुरी द्वारा इनकी तो करने द्वानी की दीराल तोड़कर इनका श्वास के साथ सरब कर पहाड़ है। इसलिये श्वास के भीतर भी अंगुली द्वारा अभिर्म करना जटी है। कायाप-शोधनकथाय। राइलिवोड्युमन कर्म रसूलीना । अवानाति वायावाजीर्वायामवधारिक ॥ (स० अ० २०) नातिरुक्त नातिलिंगा-दूरी अतिलिंग रखने से मण में आर्द्ध वहती है और अतिरुक्त वसी रखने से मण के किनारे वर्षी हो जाते हैं। यदादिलिंगद, डेंट, रौक्षान्दें । (स० अ० १८) चर्ति—इसको विनेशिका भी कहते हैं। वर्ण के भीतर चर्ति रखने से पीप का बाहर निकलना सुखम हो जाता है। चर्ति न रखने से भीतर का सवाद रूपतरा ति शेष होने के पहले ही वर्ण वे किनारे मिल जाने की समावना होती है। आग्रहल पाकास शस्त्रविकित्या में वारीक जाली (Gauze) गन्तु द्रव्य के घोर में भिंगोकर उत्तरी वसी यनाकर वर्ण में रसते हैं या रसद क जाली में छेद यनाकर (Draupadi tube) उसको रखते हैं। ऐसे पैसे व्रण का रोपण होता जाता है ऐसे वैसे वसी की लंबाई दिन प्रति दिन घटाती चाहिए और अन्त में वसी का उपर्योग ठोड़ देना चाहिये। यदि वर्ण गहरान हो तो पर्ती की आवश्यकता नहीं होती। इसलिये सप्तम में लिखा है—जवस्व मात्राएँ बड़े विनेशिका दापाद। वामपट ने वसी का वर्णन किया है—‘सूत्तिलिंग सोत्तम सप्तम वृषभगिन्दम्। व्रण विशोवेद्यीष्विलिङ्गान्। कवलिका-पटी वसीनों के पहले मण को ढाँकने के लिये कपड़े की जो गही वसाई जाती है उसे कवलिका कहते हैं। यह कवलिका गृद्ध, स्वच्छ और चिकने करने की घनाई जाती है ताकि प्रण पर किसी प्रकार की रुक्ष ह न प्राप्त हो। आजुनिक गृद्ध-विकिन्ना में कवलिका (Gauze), हैं या लिट (List) की होती है। आज की भारी प्राचीन काल में भी कवलिका तथा अन्य पदार्थ उपता तथा धूप द्वारा निर्बालू करने प्रयुक्त (Steele) होते थे। वामपट ने लिखा है—‘सूत्तिलिङ्गदा एव कवल वसिकित्या। शृणुता वृत्त लक्षण निर्विलीया व्रो हिता ॥’ (अ० हृदय ८० अ० २९)। वस्त्रपटेन वर्षीयां-पटी की गोड़ वर्ण के उपर नहीं आनी चाहिये—‘न च व्रग्मोपापि कुर्वद पवित्रा वाप्तकर च’॥ (स० अ० १७)। वेदनारक्षोम्भृष्ट-वेदनामानि स्त्रामानि, शस्त्रामानि राष्ट्रस्त्रामानि तै। वेदनाम-वेदनाहारक (Anodyne)।

ततो गुग्गुलवगुस्तरसंजरसवचागौरसर्पयद्यूर्लंग
शग्निम्बपवित्रिमित्रैराज्ययुक्तैर्धूपयेत्; आप्यरोपेण
चास्य ग्रामान् समालभेत ॥१७॥

फिर गुणुलु, अगर, राल, वच और नफेद सरमों के नूरि
या लवग और नीम की पत्ती शूत के साथ मिलाकर
ने धूपन करे । शेष धूत का घणिन के हड्डानादि मर्म भागों
मानिस करे ॥१७॥

चक्कव्य—हृन सूत में निर्झिट किये हुए द्रव्यों के धूप
रोगी का ब्रण, वर्णांपचार में प्रयुक्त कवलिजा, निर्क्षिका,
दि वस्तुऐं, रोरी का कमरा, विनरा, पहनने के कपड़े आदि
चीजें शुद्ध करनी चाहिए । धूपन से दुर्बलता नष्ट होती है,
वाहक कुमि-कांटाकादि हड्ड पातं ते या नष्ट हो जाते हैं
विकारी जीवाणु मर जाते हैं । अंग्रेजी में धूपन को
सिंगेशन (Fumigation) कहते हैं । आज इन कामों के
रे धूपन का उपयोग शोटा दोता है चूंकि धूपन से जीवाणु
थैत द्व्य से नहीं मर जाते हैं । अब: वणविशोधन के लिये
मैलिङ अम्ल, लुरीन जैसे तीव्र जन्मुम रासायनिक पदार्थों
वौल और पट्टी शुद्ध इत्यादि के विषांशन के लिये जलवायप
उपयोग करते हैं । परन्तु धूपन का उपयोग रोगी के कमरे
का कपड़ी की शुद्धि करने के लिये आज भी दोता है । धूपन
लिये हाल में फार्मेसिन, गंभर, लुरीन आदि तीव्र जन्मुम
गों का उपयोग किया जाता है ।

उद्कुम्भाचापो शृहीत्या प्रोक्षयन् रक्षाकर्म
र्यान् । तद्वद्यामः—

त्वानां प्रतिद्यातार्थं तथा रक्षोभयस्य च ।

वक्तर्म करिष्यामि ब्रह्मा तद्वुम्नन्यताम् ॥१८॥

गाः पिशाचा गन्धर्वाः पितरो यज्ञराज्ञसाः ॥

मिद्यवन्ति ये ये त्वां ब्रह्माद्या ज्ञन्तु तान् सदा ॥१९॥

थिव्यामन्तरिक्षे च ये चग्निं निशाचराः ।

शु वास्तुनिवासाद्य पान्तु त्वां ते नमस्कृताः ॥२०॥

त्वां मुनयो ब्राह्म्या दिव्या राजर्ययस्तथा ।

वैताश्वैव नद्यश्च सर्वाः सर्वे च सागराः ॥२१॥

श्री रक्तु ते जिह्वां प्राणान् वायुस्तथैव च ।

गोमो व्यानगपानं ते पर्जन्यः परिज्ञतु ॥२२॥

दनं विद्युतः पान्तु समानं स्तनविलवः ।

लमिन्द्रो ललपतिर्मनुर्मन्त्रे मर्ति तथा ॥२३॥

गमंस्ते पान्तु गन्धर्वाः सत्त्वमिन्द्रोऽभिरक्षतु ।

क्षां से वर्णणो राजा समुद्रो नाभिमण्डलम् ॥२४॥

शुः सूर्यो दिशः श्रोत्रे चन्द्रमाः पातु ते मनः ।

क्षत्रियो सदा रूपं छायां पान्तु निशास्तव ॥२५॥

तस्वाप्याययन्त्वापो रोमाण्योषधयस्तथा ।

गकामां सानि ते पातु देहं तव वसुन्धरा ॥२६॥

विवानः शिरः पातु विष्णुस्तव पराक्रमम् ।

तैरुपं पुरुषश्चो ब्रह्मा उत्सानं भुवो भुवौ ॥२७॥

ता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः ।

तास्त्वा सततं पान्तु दीर्घभायुरवामुहि ॥२८॥

वस्ति ते भगवान् ब्रह्मा स्वैस्ति देवाश्च कुर्वताम् ।

(स्वैस्ति ते चन्द्रसूर्यों च स्वस्ति नारदपर्वतो ।)

सस्त्वयन्त्रिष्वैव ब्राह्म्य खस्ति देवाः सहेन्द्रगाः ॥२९॥

पितामहकृता रक्षा सस्त्वायुर्वर्धतां तत्व ।

ईतयस्ते प्रशाम्यन्तु सदा भव गतव्यथः ॥३०॥

इति स्याहा ॥

पतैर्वेदात्मकैर्मन्त्रैः कृत्याव्याधिविनाशनैः ।

मर्यवं कृतरक्षस्त्वं दीर्घमायुरवामुहि ॥३१॥

कल्प में से (हाथ में) पानी लेकर (वर्णित के ऊपर)

प्रोक्षण करके (निज संत्रों से) रक्षाकर्म करे । रक्षाकर्म के

मंत्र—कृत्यार्थं तथा राजसों का निवारण करने के लिये मैं रक्षा-

कर्म कर रहा हूं, स्वयम्भु भगवान् इसमें सहायता करें ॥१८॥

नाग, पिशाच, गन्धर्व, पितर, यध, राक्षस जो जो तेरे समीप

होकर पीड़ा देते हैं, उनको ब्रह्मादिक देवता सदैव दूर करें ॥१९॥

पृथ्वी पर, आकाश में दिशाओं में और धर में जो राक्षस

विचरते हैं, वे तेरे नमस्कार से (संतुष्ट हुए) तेरी रक्षा करें ॥२०॥

वर्षार्पि, देवर्पि और राजर्पि तथा सब पर्वत, नदी और समुद्र

तेरी रक्षा करें ॥२१॥ अग्नि तेरी जिह्वा की रक्षा करे, वायु

प्राणों की, सोम व्यान वायु की और पर्जन्य अपान वायु की

रक्षा करे ॥२२॥ विजली उदान वायु की, मेघ समान वायु की,

इन्द्र वल की और मतु श्रीवा की सिराओं तथा बृद्धि की रक्षा

करें ॥२३॥ गन्धर्व कामों की, इन्द्र सत्य की, वरुण ग्रजा की,

समुद्र नाभिमण्डल की रक्षा करें ॥२४॥ सूर्य आँखों की, दिशा

कानों की, चन्द्रमा मन की, नक्षत्र रूप की और रात्रि छाया

की रक्षा करें ॥२५॥ जल तेरे रेत की बृद्धि करें, औपचिं

रोमावलि की रक्षा करें, आकाश तेरे शरीर के छिद्रों की रक्षा

करें और पृथ्वी तेरे देह की रक्षा करें ॥२६॥ वैश्यानर तेरे शिर

की, विष्णु पराक्रम की, पुरुषोत्तम पौरुष की, वृषा आत्मा की

और भ्रु दोनों भुक्टियों की रक्षा करें ॥२७॥ ये ही (उपर्युक्त)

देवता विशेष करके तेरे शरीर में नित्य वास करते हैं, वे सब

निरन्तर तेरी रक्षा करें और तू दीर्घयु हो ॥२८॥ भगवान् ब्रह्मा

तेरा कल्याण करें, सब देवता तेरा कल्याण करें, चन्द्र और

सूर्य तेरा कल्याण करें और नारद तथा पर्वत तेरा कल्याण

करें, अग्नि और वायु तेरा कल्याण करें, इन्द्र वस्तुति देवता

तेरा कल्याण करें ॥२९॥ स्वयम्भु भगवान् की की हुई रक्षा

तेरा कल्याण करे और तेरी आयु दीर्घ हो, तुम्हारे सब कष्ट

शांत हो जायें और तू सदा के लिये च्यथारहित हो ॥३०॥ इन

मन्त्रों को पढ़कर 'स्याह' शब्द उच्चारण करे । कृत्या और रोगों

को नाश करने वाले हन वेदात्मक मन्त्रों द्वारा सुक से रक्षा

किया हुआ तू दीर्घयुष्य को प्राप्त हो ॥३१॥

वक्तव्य—वृत्ता—कुपितमन्त्रिणोऽभिरक्षर्मजिता राक्षसी

'कृत्या' इत्युच्चते । अभिन्दु—पीड़ा देना । स्तनविलु—मेघ । सानि—

शरीर के कर्ण नासादि छिद्र या इन्द्रियाँ । पौरुष—शिशू । ईति—

‘अतिगृहिणावृद्धिरूपकाः शलभा खण्डः । स्वचक परचक च सैतैता ईतयः

स्तुताः’ ॥ सात ग्रन्थ की ईति (उपब्रह्म) होती हैं । परन्तु

यहाँ ईति से केवल सामान्य आपत्ति समझना चाहिये क्यों

१ श्रीन् २ सत्ति नास्त्रपर्वती ।

षष्ठोऽध्यायः ।

अथात त्रितुच्चर्यमध्यायं व्याख्यास्यामः, यथो-
भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

व यहां से ऋतुचर्या नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—दो महीने का जो काल होता है, उसे ऋतु है। एक वर्ष में छः ऋतु होते हैं। चर्य का अर्थ आचरण या है। मधुरादि षट् रसों का उल्कर्यापकर्य और वातादि दोयों चर्य प्रकाप प्रशागन हनके संबंध में ऋतुओं की चर्या कैसी है, इसका व्याख्यान हस्त अध्याय में किया हुआ है। अतः ने ऋतुचर्याध्याय कहते हैं।

कालो हि नाम भगवान् ल्वयस्त्वुरनादिमध्यनि-
॑२३ रसव्यापत्स्तपत्ती जीवितमरणे च मनुष्या-
गयत्ते । स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः,
लियति कालयति वा भूतानीति कालः ॥२॥

जिसे काल कहते हैं वह समस्त ऐर्थ्ययुक्त है, किसी से न हुआ नहीं है, आदि मध्य और अन्त रहित है। (द्रव्या-
॑१) रसों की व्यापत्ति और संपत्ति तथा प्राणियों का जीवन
मरण उस काल ही के आधीन है। वह सूक्ष्म कला भर भी
तिमात् होने के कारण) ठहरता नहीं है या (संहार
ग) सबे प्राणियों का संकलन या ग्रहण करता है, इसलिये
काल कहते हैं ॥२॥

वक्तव्य—मनुष्यान्—आयुर्वेद मनुष्याधिकारी शास्त्र होने
शारण मनुष्य शब्द का प्रयोग किया है। परंतु इससे समस्त
योगान् का वौध यहां लेना चाहिये। काल शब्द की निष्पत्ति
ग्राहक्य काराकारी लीयतो श्र लकारमादाय कालशब्दनिष्पत्तिः ।
ग शब्द का ककार और आकार तथा ली धातु का लकार
र काल शब्द बनता है। समस्त जीव-सृष्टि का संकलन करता
इसलिये काल कहते हैं—‘कलनात सर्वभूतानां स कालः परिकी-
॑१’। भगवत् में लिखा है—‘कालो वलीयान् वलिनां भगवानी-
॒२४ ऽव्ययः। प्रजाः कालयते ग्रीउन् पशुपाले यथा पशून्’। हारणचन्द्र
ज्ञामपि कलां लीयते’ ऐसा पाठ लेते हैं और व्याख्यान करते
कि—‘सूक्ष्मामपि कलां कालांशविरेषं लीयते लिष्यति कालस्त सर्व-
संपेगितावत्’। काल सर्वसूर्तसंयोगी (विसु) होने के कारण
इसका का भी ग्रहण करता है। इसलिये उसे काल कहते हैं।
ज्योतिः—संहरणादे राशीकरोति भूतानीति वा कालः, चु-
स्त्राभां भूतानि योजयतीति वा कालः, कालयति-संक्षिपतीति वा
उः, चृत्युसीमां नयतीति वा कालः। रसव्यापत्स्तपत्ती—रसयुक्त
यों की विपश्चता और संपत्तता ।

तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशे-
॑३५ शो निषेषकाष्ठाकलामुहूर्ताहोरात्रपद्मासर्त्यन-
ंवत्सरस्युगप्रविभागं करोति ॥३॥

भगवान् सूर्य अपनी गति विशेष से उस संवत्सरमङ्क काल
मुहूर्त, काष्ठा, भल्ग, मुहूर्त, अहोरात्र, चन्द्र, मास, क्रतु,
क्रदन, वर्ष और सुग—इस प्रकार विभाग करता है ॥३॥

वक्तव्य—संवत्सरात्मनः—संवत्सरः आत्मा स्वरूपं यस तस्मा-
मद्याकालस्य संवत्सरात्मपेण व्यवहारपथास्त्वयेत्यर्थः । (हारणचन्द्रः) ।
काल का निर्देश या खयाल हमेशा संवत्सर की दृष्टि से होने के
कारण यहां व्यावहारिक भाषा में ‘संवत्सरात्मनः’ लिखा है।
दल्हण लिखते हैं—भगवानादित्य इत्युपलक्षणं; तेन चंद्रोऽपि गृह्णते,
निशाकरणत्वादित्येत्यत्वत् । यहां सूर्य के साथ चंद्र का ग्रहण भी
करना चाहिये क्योंकि शुक्लपक्ष, शूष्मणक्ष चंद्र की गति के कारण
से ही हुआ करते हैं। गतिविशेषण—वास्तव में यह सूर्य की
गति नहीं है, पृथ्वी की है। पृथ्वी की एक गति अपने अक्ष के
चारों ओर होती है, जिससे दिन और रात्रि उत्पन्न होते हैं
और दूसरी गति सूर्य के चारों ओर परिक्रमा के स्वरूप की
होती है, जिससे क्रतु, अथन और वर्ष उत्पन्न होते हैं ।

- तत्र लघ्वद्वारोचारणमात्रोऽक्षिनिमेषः; पञ्चदशा-
॑४३ ऽक्षिनिमेषाः काष्ठा, विंशत्काष्ठा: कला, विंशति-
कलो मुहूर्तः कलादशभागश्च, विंशत्मुहूर्तमहोरात्रं,
पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः, स च द्विविधः शुलः
कृष्णश्च, तौ मासः ॥४॥

जितने समय में लघु अक्षर का उच्चारण हो, उसे अक्षि-
निमेष कहते हैं। पद्मह अक्षिनिमेष की एक काष्ठा, तीस काष्ठा की
एक कला, चौस और चूँड़ कला का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्त का
एक अहोरात्र, पद्मह अहोरात्र का एक पक्ष । पक्ष दो होते हैं—
एक शुक्लपक्ष और एक कृष्णपक्ष । दोनों मिलकर एक मास
होता है ॥४॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह (सूत्र० अ० ४) में जो काल-
प्रविभाग दिये हैं, उनमें थोड़ा अन्तर है। ‘ताः (कलः) सदशमागा
विंशतिनीदिका, नाडिकाद्यं मुहूर्तश्च ते हुल्यरात्रिदिवे राशिभागे चत्वारः
पदोनायामः । तैश्चुर्भिरहीरात्रिशः’ । २०-२४ कला—नाडिका, २ ना-
दिका—मुहूर्त, ३-३३ मुहूर्त—याम, ४ याम—अहोरात्र । यहां काल
के प्रविभागों का निषेष से अहोरात्र तक जो क्लस दिया है, वह
केवल आयुर्वेद ग्रन्थों के लिये प्रमाण मानना चाहिये। क्योंकि
मनुस्मृति (अ० १-६४), न्याययात्र (न्यायकन्दली), ज्योति-
पश्चात् (भास्कराचार्य-सिद्धान्तशिरोमणि-कालमानाच्याय),
कौटिलीय अर्थशास्त्र (अ० ४१) में जो क्लस दिया है, वह भिन्न है।
इस से यह स्पष्ट होता है कि ये प्रविभाग सूर्यगतिकृत नैस-
र्गिक नहीं हैं। इस शंका का निवारण दल्हणाचार्य अपनी टीका
में करते हैं—‘ननु, लघ्वक्षरोच्चारणादिना निषेषादयो विभज्यन्ते, तत्क्षये
भगवानादिलो गतिविशेषण निषेषादीनां विभागं करोतीत्युक्तम् ? नैष
दोषः, यतो ज्योतिषिका निषेषादिप्रविभागेन शङ्कुध्यायामागमोत्तमार्क-
गत्याऽपि प्रमाणयन्ति, सा तु न सर्वजनप्रसिद्धेते न निर्दिष्टा’। परन्तु
ज्योतिषपश्चात् के साथ भी यहां निर्दिष्ट किये हुए प्रविभाग
नहीं मिलते हैं। अतः यह शङ्का निवारण व्यर्थ है।

तत्र मायादयो द्वादश मासाः संवत्सरः, द्विमा-
त्सिकमृतुं छत्वा घडृत्वो भवन्ति; ते शिशिरवस्त्र-
श्रीष्मवर्षाद्यरद्येमत्ताः; तेषां तपस्तपस्यै शिशिरः,
मधुमाघवौ चत्वान्तः, शुचिशुक्रौ श्रीष्मः, नभोनभस्त्रौ
वर्षाः, इष्टोऽर्जी शरत्, सहस्रहस्त्रौ हेमन्त दृष्टि ॥५॥

इस कालविभाग में माध्यादि दक्षिण मास का सवन्नसर होता है। दो वर्ष महीने का एक पृष्ठ कठु कर्क छ फटु होते हैं। पे चिंगा, बसन्त, श्रीम, वर्षा, शरत और हेमन्त हैं। उनमें से माय और फाल्गुन, चिंगा, चैत्र और वैशाख, बसन्त, उपषु और आषाढ़, श्रीम, धावण और भाद्रपद, वर्षा, आश्विन और कार्त्तिक, शरद, और मार्गशीर्ष तथा पौष हेमन्त रक्तु होते हैं ॥५॥

त एने शीतोन्नामावर्षलघुणाथन्द्रदिव्ययो काल विभागकरत्वादयने द्वे भवतो दक्षिणमुच्चर च। तयोर्देविण धर्मशारप्रेमन्ता, तेषु भगवानाप्यायते सोमः; अम्ललवणमधुराश्च रसा वलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तर च सर्वप्राणिना वलमिवर्धते। उत्तर च शिशिरत्वसन्त्रीप्मा, तेषु भगवानाप्यायते ३५, तिरक्षयकदुराश्च रसा वलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तर च सर्वप्राणिना वलमप्यहीयते ॥६॥

सर्वी, गरमी और वर्षा इन्हीं से लक्षित होने वाले ये कठु चन्द्र तथा सूर्य के काल विभाग के कारण दो अयन में विभक्त होते हैं—दक्षिणायन और उत्तरायण। वर्षा, शरद, और हेमन्त तीनों का शक्तिशायन होता है। इन तीनों कठुओं में भगवान् चन्द्रमा वलवान् होता है, अम्ल लवण और मधुर रस (कम से) वलवान् होते हैं और उत्तरात्तर सर्व प्राणियों का वल यहता जाता है। चिंगा, बसन्त और श्रीम तीनों का उत्तरायण होता है और इन तीनों कठुओं में धगवान् सूर्य वलवान् होता है, तिन क्षय और कड़ रस (कम से) वलवान् होते हैं और उत्तरोत्तर सर्व प्राणियों का वल घटता जाता है ॥६॥

चतुर्दश—शुचि और शुक मास के नाम में थोड़ा मतभेद है। यह जिस अनुक्रम से महीने के नाम नियम हैं, उससे शुचि का अर्थ उपेषु महीना और शुक का अर्थ आषाढ़ महीना हाला चाहिये। परन्तु कुछ लाग, चरन्द्रसंहिता में एकदल और हाराणचन्द्र चकवर्ती शुचि का अर्थ आषाढ़ और शुक का अर्थ उपेषु करते हैं—‘प्रावृत् शुचिनभे देषो’। (सिद्धि स्थान अ० ६)। दक्षिणायन चिंगा भी कहलाता है। व्योमिक यह वयन शुचियों को जलाय और प्रशिर्यों का वल दता है—‘विमोक्ष वद्ध विस्वत्यम्’। (अष्टागाहदय शू अ० ३)। ‘विमोक्ष जनयनात्ययम् प्राणिना च बलमिति विमोक्ष’। (चकप्राणिदत्त)। दक्षिणायन में भगवान् सूर्य हीनशक्ति होता है। उस का आप्य प्रभाव भी दिन छाँ होने के कारण धाढ़ समय के लिये होता है। चैत्र वलवान् होता है और रात्रि लवी होने के कारण चढ़क का शक्तिल प्रभाव तक होता है। मेष शुष्टि करके शुचियों का तात्र हरण करते हैं और वायु भी विषय और शीत होता है। इन कारणों से दक्षिणायन में सीमन्त होता है। अम्ल, लवण और मधुर रस वलवान् होते हैं और प्राणियों का वल भी बढ़ता जाता है—‘विमोक्ष पुनर्वयना तात्परिका’। प्राणिनों द्वारा दक्षिणायन में वलवान् होता है और शुचियों गतिशुल्क होती है, जो अपनी एक प्रकार की गति से सापि और दिवयत और दूसरी मकार की गति से अपन और वर्ष उत्पन्न होती है। परन्तु व्यवहार में उल्लं दिल्ला होने के कारण शुचियों की गति सूर्य के ऊपर आरी पित हुई है ।

भवति चात्र—

शीतामृ त्रेदयत्युर्यो विवस्यान् शोपपत्यति ।
तातुमायपि रथित्य शुकु पालयति प्रजा ॥७॥

चन्द्रमा एविर्वी को आदि करता है और मूर्त्य द्युष्ट करता है दोनों का आश्रय लेकर वायु प्रजा का पालन करता है ॥७॥

बक्तव्य—प्रजा का पालन आहार से होता है और ऐसे प्रकार के व्यक्तियों के भावनार्थ इसों पर निर्भर होती है इन इसों की उत्तम अभिनियुक्ति के बल चन्द्र के छेदन से मूर्त्य के गोपण से नहीं हो सकती । उसके लिये वायु की आवश्यकता होती है । इसलिये चरक में लिखा है—
तावर्णायौ सोमश्च काल्पर्यभावमानं रसिरूपिताः कालन्तु स्वेष्टोपदेव वल-
पित्यव्यभूताः स्मुपदिव्यन्ते । (मू. अ. ६) । वायु वोगवाही के कारण चन्द्र तथा सूर्य दोनों को अपने छेदन और शग के कार्य में मदद करता है—‘योगवाहः पर वायुः न व्योगा-
यर्थपूर्व । दावक्तेजना युक्तः गीनशृङ् सोमवंभगात् ॥’ (च. चि.
३) । इसके सिवाय वायु में भी स्वतन्त्र कार्य होते हैं, जो वापलन की दृष्टि से अत्यन्त महत्व के हैं—‘निष्ठं सेवानाम्,
गं विसर्गः, उद्देशं चोदिदानं, पुष्पलग्नाना चाग्निनिर्वन्नम्,
जामिसंकारः, शम्याभिर्वन्नम्, अविष्टुतेषाण्णेण’ इत्यादि ।
(च. सू. अ. १२) । इससे यह स्पष्ट है कि वायु प्रजापालन सूर्य और चन्द्र की भाँति बड़ा भाग लेता है ।

अथ स्वल्पयने है युगपत् संवत्सरो भवनि.
तु पञ्च युगमिति संज्ञां लभन्ते: स एष निमेपा-
र्दिर्युगपर्यन्तः कालश्वकवत् परिवर्तमानः कालचक-
मुच्यत इत्यैके ॥८॥

और ये दोनों अयत (दक्षिणायन और उत्तरायण) सिल कर पक्ष वर्ष होता है । पांच वर्ष की युगसंज्ञा होती है । निमेप में ऐकर युग तक चक्र की भाँति परिवर्तन करने वाले इस काल को कोई छोग कालचक्र कहते हैं ॥८॥

बक्तव्य—युग—आहा युग का जो काल वतलाया गया है, वह पारिभाषिक यसकहना चाहिये—‘कालचक्रन् वर्षाणां पञ्चवर्षे । युगसंज्ञा च त्रैवर्षेष्वत्र संपरिकीर्तिता ॥’ कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी पांच वर्ष का ही युग माना है—‘पञ्चवस्त्रो युगमिति’ । (अ. ४१) ।

इह तु वर्षशरद्वेमन्तव्यसन्तव्यीष्मभावृपः पद्म-
तचो भवन्ति, दोपोपचयप्रकोपोपशमनिमित्तः; ते-
तु भाद्रपदायेन द्विमासिकेन व्याख्याताः तद्यथा—
भाद्रपदाव्ययुजौ वर्षाः, कार्त्तिकमार्गशीर्याः शरतः,
पौषमासी वैमन्तः, फालगुनचैत्रो वसन्तः, वैशाख-
येषु श्रीमः, आपाहश्चावरणो प्रावृदिति ॥९॥

यहाँ तो (वर्षविभाग में) वात पित्त कफ इन दोपों के संबंध प्रकोप और प्रशम निमित्त वर्षा, शरत, वैमन्त, वसन्त, श्रीम और प्रावृद् इस भाँति छः अतु होते हैं । वे भाद्रपद से प्रारम्भ कर दो दो मास लेने से बन जाते हैं । जैसे—भाद्रपद वैष्णव, वर्षा; कार्त्तिक मार्गशीर्य, शरत; पौष माघ, वैमन्त; फालगुन चैत्र, वसन्त; वैशाख येषु, श्रीम; आपाह श्रावण, प्रावृद् ॥९॥

बक्तव्य—इस सूत्र में संवत्सर के छः अतुओं की भिन्न स्वत्ता वतलाई है । सूत्र ५, ६ में प्राणियों का दृष्ट तथा ८

की दृष्टि से अतुओं का गति दिया था; यहाँ वातादि दोपों का संवत्सर प्रकोप प्राप्तन की दृष्टि से दिया है । भीरोंलिक दृष्टि से भी यह भिन्नतम हो सकता है । भारतवर्ष में गीतग्राहान और वर्षांग्राहान दो भूविभाग होते हैं । वर्षीग्राहान भाग में प्रावृद् विशिष्ट अतुक्रम और गीतग्राहान भाग में शरद् विशिष्ट अतुक्रम होता है । यथा—‘भूयो वर्षपि पञ्चयो गताया दृष्टिये जलम् । तेन प्रावृद्वर्षपञ्चयो क्षत्र नेत्रां प्रकालितौ ॥ गदाया उत्तरे कूर्मे दिव्यदंगुदम्भे । भूयः गीनमत्तरेषां देवमन्तशिशिरागृतु ॥’ (साइथप) । परंतु इन भीरोंलिक दृष्टि से इन अप्याय में प्रावृदादि क्रम का उद्देश्य नहीं दिया है । इसका उद्देश्य संगोष्ठीधन विपयक है । चक्रपाणि-
वत् चक्र की टीका (विग्रानस्यान अ. ४) में स्पष्ट लिखते हैं—‘पत्र च, अत्र ‘पंसाधनमपित्य’ इति वचनात् । यदि इवात्तोऽयं
मेवः स्यात्, तद्व तनये भेदकं मृशात्, न संशोधनम् । तेन काश्यपोक्त-
रेशमेवेन प्रावृदादिक्रमे न तावदिदाभिमतः’ ॥ अधिक विवरण के लिये सूत्र १२ की टीका देखो । कभी कभी क्षयमास तथा अधिक मास संवत्सर में आ जाता है । उस समय उपरोक्त महीनों के अनुसार टीक विभाग नहीं हो सकता । इसलिये शार्दूलवर में मूर्यसंक्रान्ति के अनुसार अतुक्रम वतलाया है—‘श्रीमो मेषपञ्चो भ्रतः, प्रावृद् मिधुनकर्त्तौ । मिधुन्यन्ये नृता वर्षा,
तुलाद्विक्रमो शरतः । भूर्युहौ च हेमन्तो, वसन्तः कुम्भमीनयोः’ ॥ (प्रथम चण्ड) । प्रावृद् और वर्षा का भेद—‘प्रावृदिति प्रथमः
प्रवृदः कालः । तस्यानुरूपो वर्षा’ । (चरक. वि. अ. ८) ।

तत्र, वर्षास्वोपधयस्त्वरूपयोऽवप्यवीर्या आपश्ची-
प्रसन्नाः त्रितिमलभायाः, ता उपेयुज्यमाना नभसि
मेघावतते जलप्रक्लिन्यायां भूमौ क्लिङ्गदेहानां प्राणिनां
श्रीतवात्तविष्ट्रिभ्वतादीनां चिद्वाहन्ते, चिद्वाहात् पित्त-
संचयमापादयन्ति; स संचयः शारदि प्रविरलमेघे
वियन्त्युपग्रुप्यन्ति पङ्कोऽकिरणप्रचिलायितः पैति-
कान् व्याधीन् जनयति ॥१०॥

उन अतुओं में से वर्षा में ओपधियाँ नवीन और अल्प-
शक्ति होती हैं, जल दूषित तथा भूमित्य सहे गले पदार्थों से
युक्त होता है । ये ही ओपधियाँ, जब कि आकाश मेघाच्छादित
और एविर्वी गली हो, उपयोग में लाने से क्लिङ्ग देहवाले
तथा शीत (प्रकुपित) वात के कारण मन्दाग्नि वाले मनुष्यों
में चिद्वाह उत्पन्न करती हैं और चिद्वाह के कारण पित्त संचित
करती हैं । फिर वही पित्त का सञ्चय शरद् क्षत्र में जब आकाश
निरञ्ज हो जातम् है, कीचड़ सूख जाती है, तब सूर्य किरणों से
पिंगला हुआ पित्त के रोग उत्पन्न करता है ॥१०॥

बक्तव्य—सूत्र नौ में दोपों की दृष्टि से जो भिन्न क्रम
वतलाया है उसके अनुसार मनुष्यों के शरीर में वातादि दोपों
का संचय, प्रकोप और प्रशमन निसरीतः कैसा हुआ करता है, उसका वर्णन सूत्र १०, ११, १२ में किया है । ओपधि—वर्षाक्षतु
प्रारंभ होने के बाद इकट्ठा की हुई वनस्पत्यादि औद्धिद द्रव्य ।
वर्षा क्षत्र के पहले इकट्ठा की हुई वनस्पत्यादि ओपधियाँ
हस्त स अभिप्रेत नहीं हैं, यद्यपि छलण अपनी टीका में इसका
भी समावेश करता है—‘ननु वर्षासु गोधूमादयः पुरातना एव भवन्ति,

कथमनिनवा इत्युच्चते ? नैप दोष , गोधूमवगकरास्वादयोज्ज्ञत दृश्मवल-
प्रवेशान्वदिग्नानमुपगता भनवा अति तथ्य इत्युच्चते ! परन्तु प्राप्त
तथा वर्षा कर्तु के आचरण में इनका सेवन करने के लिये
लिखा है—‘प्रदिविकारीधूमान् शारीराधायनवालया । इर्यन्येये निवले
न च भवेत् ।’ (सु. उ. ३४) । ‘अपिसरक्षणवता वयगोधूमालय ।
पुराणा वाक्यैर्मातैर्मात्मा ।’ (चरक सु. उ. ३) । इसलिये
पिछले साल के वयगोधूमादिक का समावेष तत्त्व ओपरिधियों
में करना यादविस्तृद होता है—‘शीतवतविट्ठभितामीना शीतेन
कुपितो वात शीतवात (शारीरिकोष), तेन मन्दीश्तामीनाम् ।
सर्दी के कारण शीतरस्य वात के प्रकोप से अपिसामान्य उत्पन्न
हुए लोगों में ढैडी हवा से भीतर का अपि मद होने के
स्थान में अधिक तीव्र होता है—‘शीते शीतानिलवर्तीमस्ती बलिना
बर्ती । पक्षा वसनि हेमन्ते मात्रादयवुग्रशम् ॥’ (चरक) । इसलिये
यहाँ वात का अर्थ शीतरस्य दोष करना चाहिये ।

ता पद्योपचयः कालपरिणामात् परिणतवीर्या
यलवत्यो हेमन्ते भयन्त्यापश्च प्रसन्ना. जिग्नधा अत्यर्थं
गुरुव्यर्थ, ता उपयुज्यमाना भन्द्विरणत्वाद्वानोः
सतुपापवनोपस्तमितदेवेहानां देहिनामविद्यधाः
ज्ञेहाद्वैत्याद्वैत्याद्वैत्यादुपलेपाश ऋग्यमसंचयमापाद-
यन्ति; स संचयो यसन्ते उर्करश्चिमप्रविलायित ईर्पत्त-
व्यदेहानां देहिनां स्तैष्मिकान् व्याधीन् जनयति ॥१॥

वे ही ओपरिधियों हेमन्त कर्तु में समय के परिणाम से पारि
पक्षीर्य, बलवात्, अर्थर्थ जिग्नध और भारी हो जाती हैं तथा
बल भी स्वप्न, जिग्नध और भारी हो जाता है । वे ही ओपरिधियों
उपयोग करने पर सूर्य के शक्तिरूप किंतु के कारण और
स्वर्य मनुष जिग्नध शीतल, गुरु और विकिनी होने के कारण हिम-
मुक ढैडी हवा से स्तम्भित होते वाले प्राणियों में कफ का संचय
करती हैं । फिर वही कफ का संचय यसन्त कर्तु में सूर्य की
किंतु से पिण्डा हुआ दिल्लि स्तम्भ देह वाले प्राणियों में
कफ की व्याधियों उत्पन्न करता है ॥१॥

यक्तव्यः आपथ मनाम्—अप ही प्रसदता चन्द्र सूर्य
की किंतु से, काल परिणाम से और अगस्ति के प्रभाव से
उत्पन्न होती है । ‘सिदा चौरुगुमतस निरि चंद्राशूलितऽद् ।
कृष्णेन एव निर्वरमालेन विरीकृतः ॥’ (चरक) । यहाँ ओपरिधियों
तथा जल का जिग्नध और गुरु चन्द्रता उत्पन्न होने के
कारण समाधना चाहिये । मनुष इस अन्य रसों से अधिक
जिग्नध तथा गुरु है—‘जिग्नानां गुरु चर । स्वादुर्जस्तम्भितः ॥’
(चरक) । जिग्नाना—स्वादुर्जस्तम्भितः ॥

ता पद्योपचयो निदाये नि.सारा रक्ता अति-
मात्रं लक्ष्यो भयन्त्यापश्च, ता उपयुज्यमानाः सूर्यम-
तापोपशोषितदेहानां देहिनां दैवताद्वैत्याद्वैत्यराधाय-
यायोः संचयमापादयन्ति, ग्रन्थं संचयः ग्रन्थव्यर्थ व्याधीर्थं
जलोपयुक्तायां भूमी त्रिपदेहानां प्राणिनां दीर्तियान-
व्यर्थितो यातिकान् व्याधीन् जनयति । एषमेव
दोषाणां संचयमकोपहेतुदकः ॥२॥

१ हेतु

वे ही ओपरिधियों ग्रीष्म कर्तु में निर्वेळ, सूर्य और हृ
षी जाती हैं तथा जल भी । वे उपयोग करने से सूर्य के प्र-
ताप से शोषित देहवाले मनुष्यों में (अपनी) स्त्रीला, ला-
और निष्ठेहता के कारण बायु का संचय करती हैं । फिर ।
बायु का संचय प्राप्त कर्तु में पृथिवी गीली हो जाने पर ।
देह वाले प्राणियों में शीत बायु और वर्षा से उत्सेवित हैं
बात के रोग उत्पन्न करता है । इस प्रकार यह वातादि दोषों
संचय और प्रकार का हेतु वर्षा किया गया है ॥२॥

यक्तव्यः—निष्मारा—अत्यवीर्य इसलिये निर्वेळ उ-
जलाशयहित । स्त्रा—घेहभागहित । वेशाला—पित्रिह-
रहित होने के कारण ।

तत्र वर्षादेहमन्तप्रीप्येषु संचितानां दोषा
शरद्वसन्तभावदस्तु च प्रकुपितानां निर्वरणं क
व्यम् ॥१३॥

जो दोष वर्षा, हेमन्त और ग्रीष्म में संचित होकर या
बसन्त और प्राप्त कर्तु में प्रकुपित हुए हैं, उनका स्त्रो
करना चाहिये ॥१३॥

यक्तव्यः—प्रकुपिताना—प्रोत्तेण कुपितानाम् । अतु स्त्र-
के कारण संचित दोषों का संचीधन उनका पृष्ठ प्रकोप होने
समय करना योग्य होता है । उस समय के पूर्व संचोधन क
से वे दोष किर कालस्वभाव के कारण संचित हो जाते ।
मिष्याहार विद्वान् अन्य कारणों से संचित दोषों का संचो-
धनवल्या में ही कलना स्वास्थ्यकर होता है । कर्योंकि प्रकोप
अन्य अवस्थाओं में वे बाहरपार हो जाते हैं और शरीर
बाहर निकालने में कठिनाई भी बहुत हो जाती है—
‘वय एव जेहेहरन् ॥’ (वामपट) ।

‘सबवेषद्वाता दोषा लभने नोषता नी । ते तृष्णाद्वा र्घा
मवनि बलवत्तरा ।’ (मुकुत) ।

ऐसे प्रकोप के समय दोष पक हो जाने के कारण उप-
निर्वरण सौंकर्य से और निषेषतया हो जाता है । फिर सं-
चोधन की भाँति नहीं रहती है और वह काल देसा होता है ।
संचोधन की आपसिर्या भी होने की संभावना यहुत क
होती है । इसलिये चाल में लिपता है—

तत्र सापात्तेन्द्रुतु भवनादीन प्रतिसिर्यीये, निष्पुतिरितो
सापात्तेन्द्रुताणा वि भन्दीनोलावदेवता तुत्वामाय भवन्तविक्ष-
शीरीरोपानाम्, हरे तुत्वरूपीयोपार्वतानादृत्वामाय भर्ति
विक्षवाक्य शारीरोपानाम् । (वि अ ८) ।

उपर्युक्त विवेचन से वात का निर्वरण भावण गाम में, पि-
का मार्गार्थी गाम में और कफ का चीत्र गाम में होने
चाहिये—‘मापदमेष्व भावनि न भवन्तवयमेव तुत । तुत्वामेष्वै
वापेद् दोषसंबवनम् ॥’ (वि अ ८) ।

बामपट में भी मार्गार्थी के शयन में लिपता लंगोखन वे
सिये कार्तिक का निर्देश किया है—‘बामने कर्तिकै वैष्ण-
वापात्तेन्द्रुताणा तुत्वामाय निर्वरण ॥’

उपर जो ऐसे अतु विमान लंगो दिये हैं, उनका ए-
काम बर्तन के लिये भीत्रं लक्ष्या रिपा है—

द्विविध ऋतुविभाग

रसभस्त्रमधिकृत्य		संशोधनसमधिकृत्य	
(अल्पबल)	वर्षा-कृतु	नभ-शावण	प्रावृद्द संशोधन
(अस्त्रास)	नभस्य-भाद्रपद	प्रावृद्द संशोधन	वात
पायन मी	(मध्यमबल)	हृष-आश्विन	वर्षा संचय
	शरद-ऋतु	ज्येष्ठ-कार्त्तिक	प्रकोप
	(लघुणरस)	सहस्रार्गशीर्ष	परद
	(श्रीष्टबल)	हृष-संशोधन	पित्त
	हृष-कृतु	सहस्र-पौष	
	(मधुररस)	हृष-माघ	हृष-कृतु संचय
	(श्रीष्टबल)	तप-भाद्र	प्रकोप
	शिशिरकृतु	तपस्य-कालुन	कफ
	(तिक्तरस)	मष्टु-चैत्र	क्षसन्त
	(मध्यबल)	माघव-वैशाख	संशोधन
राश्य या दान	वसन्तकृतु	शुक्ल-ज्येष्ठ	वात
	(कपायरस)	शुक्ल-आषाढ़	प्रावृद्द प्रकोप
	(अस्त्रबल)		
	श्रीप्रकृतु		
	(कटुकरस)		

अपर संशोधन के लिये जो विशेष काल बतलाया गया है, वह नात्यविक्षयिक व्याधियों के संबंध में समझना चाहिये। आत्म-ग्रंथ व्याधियों में तुरन्त संशोधन कृत्रिम उपायों का अवलंबन न करना चाहिये—‘आत्मविक्षयिक पुनः कर्मणि काममृतुं विकल्प्य ग्रन्थिमुणीपथनेन यथर्तुगुणविपरीतेन भेषजं संयोगप्रमाणिकल्पेनोपाय प्रमाणीर्थसंमूक्त्वा ततः प्रयोजयेत्’ ॥ (चरक) ।

तत्र पैत्तिकानां व्याधीनामुपशमो हेमन्ते, ग्रन्थिमिकाणां निदध्ये, वातिकानां शरदि, स्वभावत एव; त पते संचयप्रकोपोपशमा व्याख्याताः ॥ १४॥

पित्त व्याधियों की शान्ति हैमन्त कृतु में, श्लेष्म व्याधियों की श्रीष्म कृतु में और वात व्याधियों की शरद कृतु में काल के स्वाभाविक प्रभाव से आप से आप होती है ॥ १५॥

चक्रवृत्त—उपर सूत्र नौ, दश और न्यारह में दोपों के संचय प्रकोप के संबंध में जो विवरण किया है, वह प्रावृद्दविषिट (वर्षाप्रधान) ऋतुविभाग के अनुसार है। परन्तु यहाँ उपग्रह के लिये जो काल दिये हैं, वे शिशिरविषिट (शीतप्रधान) ऋतुविभाग के साथ मिलते हैं—‘चयप्रकोपोपशमा वायोर्ग्रीष्माद्युषिषु । वर्षाद्युषु तु पित्तस्य लेपणः शिशिरद्युषु’ ॥ (अ. हृदय. १४. १२) । चरक के सूत्रस्थान अध्याय १७ में भी ये ही काल दिये हैं। प्रावृद्द ऋतुविभाग के अनुसार प्रशमनकाल शार्दूलवर ने

१ एतदये—‘चयप्रकोपोपशमा दोपारा दि द्योरपि । सन्ध्या वायोरणा वत्स भविष्यद्वर्षमानयोः । ऋतुसन्ध्यै तु दोपारा चयादाः (बुधा) परिक्लपना (लिताः) । एवंप्रकारा व्याख्याता विधि वसन्तान्तः परम् । हास्तयेदल्पशोऽन्यस्त वर्तमानरुक्तं विषिय् । भविष्य-द्युक्तं चयि यतेताभासकरणात् । यावन्त हास्तेत्पूर्वं तावन्तं स भगेतरन् । स्यौ रोगास्त्वयाग्सेवान्यां सहस्राऽसात्यसंभवाः । वहिप्रणाश-दैवते स्थातां चासात्यसेवनात् । तस्मायोक्तमस्यस्येद्युत्सन्धौ विधि नः ॥ इति कविदधिकः पाठः ।

ऐसे लिखे हैं—‘प्रायेण प्रशमं याति स्वयमेव समीरणः । शरत्काले, वसन्ते च पित्तं, प्रावृद्दकृतौ कफः’ ॥ (प्रथम सूण. अ. २) ।

अपर द्विविध ऋतुविभाग का जो नक्षा दिया है उसके प्रावृद्द ऋतुविभाग पर ध्यान देकर यदि यहाँ (सूत्र १३ में) निर्दिष्ट किये हुए उपग्रह काल का विचार किया जाय तो यह मालूम होगा कि वातव्याधियों का अशमन वर्षाकृतु में होना चाहिये था। परन्तु यहाँ उपग्रह शरदकृतु में दिया है। उसका कारण यह है कि प्रावृद्द और वर्षाकृतु गुणों में करीब समान होने के कारण वात का प्रकोप वर्षा में भी दैसा ही रहता है और शरद कृतु में प्रशम ही जाता है। ‘अत्र वर्षाप्रावृद्दोत्तुल्य-स्वरूपीत्युपत्यासम्यक् वातकोर्पस्तिष्ठति, इत्युक्तं घनात्यये’ । (शाराण-चन्द्रः) । इससे यह स्पष्ट है कि भित्ति भिल ग्रन्थों में वातादि दोपों के संचय प्रकोप और प्रशमन के काल में भिजता दिखाई देती है। यदि देवल दोपों के संचय प्रकोप प्रशमन के कारण प्रावृद्दस्ति ऋतुक्लपन होता तो इस प्रकार सत्तभिजता उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं था। तथा पूल ही भूमिविभाग में दो प्रकार के ऋतुप्रविभाग होना नैसर्गिक दृष्टि से भी असंभव है। इसलिये इन भित्ति ऋतुक्लपों का कारण देशभिजता मानना अधिक सयुक्तिकृत है यद्यपि चक्रपाणिदत्त इसका दृष्टकार करते हैं। प्रत्येक ग्रन्थकार अपने प्रदेश के ऋतुविभाग के अनुसार वर्णन करता है। अतः यह भिजता दिखाई देती है—‘इदं ब्राह्मावधेयम् । द्विविधः खलिङ्ग दृश्यते प्राचाभृतविभागो वर्षप्रधानः शीतप्रधानथेति । तत्र पृष्ठत्वो वर्षा-शरद-हैमन्त-वसन्त-श्रीष्म-प्रावृद्दः इति वर्षप्रधानो विभागः । वर्षा-शरद-हैमन्त-शिशिर-वसन्त-श्रीष्मा इति शीतप्रधानः । ततो वायोराद्य व्याधान्यं उत्तुपेऽभिहितं द्वितीयस्य चरके’ । (सिद्धान्तनिदाने गणनाथसेनः) । काल्यप भी ऋतुविभागभेद का कारण देशभिजता ही मानता है।

तत्र, पूर्वाहो वसन्तस्य लिङ्गं, मध्याहो श्रीष्मस्य, अपराहो प्रावृद्दः, प्रदोषे वार्षिकं, शारदमर्धरात्रे, प्रत्युषसि हैमन्तसुपलक्ष्यते; एवमहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्णवर्षलक्षणं दोषोपचययन्वयोपशमै-जीनीयात् ॥ १५॥

दिन के प्रयम भाग में वसन्त कृतु का चिह्न होता है, मध्याहो में श्रीष्म का, तीसरे पहर प्रावृद्द का, सायंकाल वर्षा का, अर्धरात्र शरद का और पिछली रात हैमन्त का चिह्न होता है। इस प्रकार अहोरात्र भी वर्ष के समान शीत, उषा और वर्षा लक्षणों से दोपों के संचय, प्रकोप और शान्ति का होतु जानना चाहिए ॥ १५॥

चक्रवृत्त—दिन और वर्ष का तुलनात्मक नक्शा—

दिन	वर्ष	संचय प्रकोप प्रशमन
पूर्वाहो	वसन्त	कफप्रकोप
मध्याहो	श्रीष्म	कफशमन
अपराहो	प्रावृद्द	वातकोप
प्रदोषे	वर्षा	पित्तसंचय
अर्धरात्रे	शरद	वातकोप
प्रस्तुपसि	हैमन्त	पित्तकोप

३. २ प्रत्युषसि.

वातानी द्वारा दोनों का दैनिक संचय और प्रकारण भव्यतकलिक और अत्यपकारणिक होने के सबब में दिनचर्या पालन उसने से शास्त्र हो जाता है। परंतु अनुग्रह संचय और प्रकारण चट्ट-सूर्य के परिभ्रमण से, ओग्रियर्मिं के रूप वीर्य प्रभाव में तथा अधिक काल तक उसने से संबंधित के लिए वापर किया गया तर्ही होता है।

तत्, अव्याप्तेष्वृत्यव्याप्ता थोपथयो भय-
न्त्यापश्च; ता उपयुज्यमाना. प्राणाशुर्वलवीर्यैजस्कर्यो
भवन्ति ॥१६॥

इनमें से यथाकाल धीरोजावर्यायुग मस्तुओं में ओपरियाँ तथा जल भी ठीक रहते हैं और उपराग करने से वे प्राण, आयु वल, वीर्य और ऊज़ को बढ़ाती हैं ॥६॥

यत्काष्ठय—अन्यायम्—प्रसन्न या स्वाभाविक । भोगवि—
वनस्पत्यादि चतुर्विध आहार द्रव्य ।

तेषां पुनर्ज्यापदोऽहं प्रकारिता, शीतोष्णयात् य-
र्थाणि यत् विपरीतान्योषधीर्यापादयन्त्यपश्च ॥१७॥

उन त्रैओं की व्यापत्तियाँ सर्वजन सामान्य अर्थमें से उत्पन्न होती हैं। उच्च, शीत, वात और वर्षाओं का ऐपरील ओषधियों तथा जल को बिहाड़ देना है। १७।

यक्तद्यु—न्यापद—स्वामार्थिक कृत्युग्मी के अतियोग, विपरीत योग और विषयमणेग को क्रतु की व्यापत्ति कहते हैं। यथा—श्रीमद्भग्वत् में प्रचण्ड सूर्य का ताप, श्रीमद्भग्वत् में वर्णा का होना सदा श्रीमद्भग्वत् में कर्मी प्रचण्ड ताप कर्मी वर्णा होना और कर्मी जाहा पड़ना। इस प्रकार प्रयोग कर्तु की व्यापत्ति समझना चाहिए। अदृष्टान्तिरा। अदृष्टेन करिता। अदृष्ट—सर्वजन सामान्य अर्थम्। चरक में भी कृत्युग्मीण का यही कारण लिखा है—“कुओमेमो वायवीनो वैगुण्यमुपादेन” वायवी दीन यैद्युग्यमुपादेन तत्व मन्द्यमभ्यं, तन्मूल बाउसकर्म पूर्वकृतम्। तेषा तदात्मितिवर्णानामपर्वतवानामपकल्पेदेवानामवृत्तो व्यापत्तिनो (विमान अ ३)। और इधियों की व्यावाही कर्तु की व्यापत्तियों से उत्पत्त फैली है और कर्तु की व्यापत्तियों अर्थम् से उत्पत्त होती है।

तासामुपयोगाद्विविधरोगभादुर्भावो मरणो था
भवेदिति ॥१८॥

दून व्यापक औपचारिकों का तथा जल का उपयोग करने में अनेक प्रकार के दोष अथवा मरक भी उपलब्ध होता है ॥१॥

यत्कथ्य—मरु-जलपौद्विष्ठस्मरण, महामारी। ये रोग जल वायु साथ पश्चाद् व्यवहार में फैलते हैं। 'तन उष्णस्मरणे अनपश्च स्पर्शमध्यवर्तीवेचाद्' (चरक वि अ २) ॥ भैंदीर्घी में मरुक को (Pandemic या Epidemic disease) कह सकते हैं।

तथ, अव्यापद्धानामावधानामपा चापयागः॥५॥

उन दोनों के लिये मुकुर तथा प्रस्तुत छल और आवाधियों का उपयोग करना प्रशंसनीय है ॥१७॥

यत्कठद्य—एवं अनुप्रापाति के समय उपराहा हात बोल रोगी से बचने के लिये (Prophylaxis) तथा दूषक हुए रोगी की चिकित्सा के लिये द्वारा जल तथा औषधियों का उपयोग

यरना चाहिये। अध्यात्म की प्राप्ति उत्पन्न है से पूर्व इकठा की हुई तुरानी ओपणि। धरक में लिया है 'तमात् प्रायुष्यवात् प्राक् च भूमे वैर्णभादुद्वर्ष सोम्य'। मैरच यानं गहतस्त्रियमवलगि। शब्द देहउत्तिथ मेंै एवं पूर्वतुरा-

कदाचद्योपनिषद्यामुतुपुष्टात्माभशापरक्तं उ
धार्थमैरपव्यस्यन्ते ज्ञानपदः ; विषेषयितुप्पग्नये
वायुनोपनीतेनाकम्यते यो देशस्तत्र दोषप्रहृत्यहि
शेषेण कस्तश्वासवद्यथुप्रतिश्याययित्तोहन्त्वैर्यप
व्यन्ते, ग्रहनक्षत्रचरितैर्या, गृहदारश्यनासनयां
वाहनमणिरत्नोपकरणगहितलक्षणमित्तप्रादुर्भौ-
वैर्ये ॥२०॥

कभी कभी इत्यादि होने पर भी हृता, अभिशा
पिषाच, राधामार्दिकों के क्रोध तथा अर्थमें के कारण देश
देश नष्ट हो जाया करते हैं, जिनमें से दृष्टित या आंखों
पुण्य गति से दृष्टिन वायु का आकर्षण जिस दश पर होता
हवाई के निवासी सर लोग खाँसी, खास, बमन, जुकाम, शिर
दूल, उत्तरादि रोगों से पीड़ित हो जाते हैं, किंवा शनैश्चर सूर्यों
प्रह तथा अधिन्यादि नक्षत्रों के अनियंत्रित प्रभाव हैं भी (रो
उत्तर द्वारा होते हैं), किंवा गृह, र्षी, शब्द, आसन, वान, वाह
मणि, इत तथा अन्य (परंतु) उपहरणों की शराबी (दुष्टि
होने से तथा अनिष्टमूच्छ किंवा से भी रोग उत्पन्न होते हैं ॥२०॥

धूकरीय—इस सूख में विविध रोगों का उत्पात बहुत बढ़ने व्यापक के अतिरिक्त चार काहण वर्षीय हैं। विविध प्रकार के व्यापक रोगों के उत्पात ताकि 'मुख्यरोग'। कल्पस्यान में पाँच मुख्यरोग दिये हैं—‘वैकामनवैकाम्यमाहारभ्यासाणि’। अप्राप्तिवादिं और अंगूष्ठियों के मुख्यरोग से दृष्टित ऐसा ‘विविधप्रकार व्यापान’ का अर्थ होता है—‘मनेत उपचिवर्चदिभाषान मोद एव च’ (सुश्रुत)। इसलिये यहा निर्दिष्ट किये गये अन्य जानवरिक रोगों का कारण वैकामि औपचारिक से दूसरा होना चाहिये। अप्राप्तिवैज्ञानिक स्थोत्र से यह सिद्ध होता है कि अनेक जानवरिक और अधिमर्गिक रोगों का कारण भूमि भित्ति प्रकार का विष ही (Virus) होता है। अनेक रोगों का विष भी वायु द्वारा अप्रभाव करता है। मसूरिका, रोमा नेतृका, प्रतिश्वाय, तुम्पतिश्वाय (प्रन्लक्ष्मूल्लाजा), प्रतिश्वाय तुम्पुड्डा ज्वर (Cerebrospinal), रोहिणी (दिघीरिजा), न्यूनानिजा, काम इत्यादि रोगों का विष वायु द्वारा ही आकर्षण दिलाता है। इसलिये वहाँ विष ओपथि का विहेपन न करके बल्कि नाम करना प्रधान है। इससे दूसरा भी एक प्रधान वर्षीय निकलता है। नव्य विहान से निर्दि हुआ है कि प्रतिश्वाय ज्वर (Hay fever) याम गिर ग्राम इत्यादि रोग निर्विक और खेड़ों के मुख्यरोग (Pollen) संघर्ष से उत्पन्न होते हैं और ये रोग वायु के द्वारा फैलते हैं। गुलाबादि मुख्यरोग उपर्यों के पर से भी ये रोग ही सकते हैं। The most Common external irritant is the pollen of certain grasses (hence the name 'hay fever') and of other plants

The odours of roses and other sweet smelling plants have the same effect on certain persons. Various powders other than pollen such as ipé-acuanha and lycopodium, have been found to give rise to similar symptoms ? Burn Yeo . Hay fever and asthma are often manifestations of the same type of disease which also includescertain gastro intestinal disturbances; migraine. *Taylor's Practice of medicine. 1930 edition.*

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'विषोपधिपुण्डगन्देन वायुना' का अर्थ 'विष से दूषित तथा ओपधि पुण्डगन्ध से दूषित वायु द्वारा' करना अधिक प्रशस्त है । प्राचीन काल में भी आगन्तु ज्वरादि रोग नाना प्रकार के विष से उत्पन्न होते थे इसका ज्ञान यह—'विषक्षुसनिलस्पर्शीत् तथान्वैविषस्मदैः । अग्निकर्त्स्य चाप्याहु-ख्येऽकेमिपंगजन्' ॥ (चरक) । इस विष के अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण इसके स्वरूप का ज्ञान प्राचीन काल में न हो सका । सांप्रत सूक्ष्मदर्शक यंत्र का आविष्कार होने से भिन्न भिन्न रोगों के कारणभूत विष का निश्चित ज्ञान ही गया है । अधिकांश विष जीवाणु (Micro organisms) होते हैं, जो वायु खाद्य एवं स्वर्गादि द्वारा मनुष्य से मनुष्यों पर फैलते हैं और विविध रोग उत्पन्न करते हैं । सर्व जनपदोद्धृत्वसक रोग, वातादिप्रकृति नेरपेक्ष आक्रमण करनेवाले रोग, वायुद्वारा फैलने वाले रोग जीवाणुज्ञन्य होते हैं । इसलिये यहाँ विष का अर्थ विकारी जीवाणु ज्ञात या अज्ञात करना उत्तम है । अज्ञात लिखने का कारण यह है कि मसूरिकादि कई विस्फोटक ज्वरों के कारण जीवाणु अभी तक निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हुए हैं । उनको केवल विष (Virus) कहते हैं । डल्हण की टीका में कासथासादि रोगों का दूसरा पाठ दिया है, जिस में मसूरिकादि ज्वरों का प्रत्यक्ष नाम दिया है—'कासथासप्रतिश्यायगन्धाशनश्रमशिरो-रज्जरमस्तिसादिमिपुण्डतप्यन्ते' हिति । श्वास रोग का भी एक अज्ञात जीवाणु भाना गया है, जो वायु द्वारा आक्रमण करता है—In the great majority of asthma cases the poisonous substance is unknown. It appears to be airborne and in some cases it may be a mould' *Taylor's Practice of medicine 1930 edition.* दोपग्रह्यविशेषण—वातल, पित्तल, क्लेप्मल इत्यादि सात प्रकार की प्रकृति होती है और निज रोग वहूपा प्रकृति के बनुसार अधिक हुआ करते हैं—'तेपामिदं विशेषविशानं, वातलस्य वातनिमिताः, पित्तलस्य पित्तनिमिताः, क्लेप्मलस्य क्लेप्मनिमिता व्याधयः प्रयेण वल्वन्तक्ष भवन्ति' । (चरक. वि. अ. ६) । परन्तु आग- एक रोगों के संबंध में यह नियम नहीं है और जानपदिक रोग आगन्तुक रोगों में आते हैं और वे जिस देश पर आक्रमण करते हैं वहाँ के निवासी लोग प्रकृति निरपेक्ष व्याधित हो जाते हैं यह प्राचीन काल से ज्ञात है । इसलिये चरक में अस्त्रिय भगवान् आत्रेय जी को पूछते हैं—'अपितु खलु जनपदोद्धृत्वसन्न-मैकेन व्यापिना युगपदसमानप्रकृत्याहारदेहवल्सात्पवयसां मनुष्याणां भगवान्प्रवत्ति' । (विमान अ. ३)

तत्र, स्थानपरित्यागशान्तिकर्मप्रायश्चित्तसमूल-जपहोमोपहारेज्याज्ञलिनमस्कारतपोनियमदयादान-दीक्षाभ्युपगमदेवताव्राह्मणगुरुपर्भवितव्यम्; एवं साधु भवति ॥२१॥

उन रोगों के परिहार के लिये स्थानपरित्याग, शान्तिकर्म, प्रायश्चित्त, मंगल, जप, हवन, यज्ञलिन, पूजा, वद्वाजलिनमस्कार, तप, नियम, दया, दान, दीक्षाग्रहण, देवता और व्याघ्रणों की सेवा इत्यादि कामों में तत्पर होना चाहिये; इन्हों से आरोग्यता होती है ॥२१॥

वक्तव्य—स्थानपरित्याग—दूषित स्थान छोड़ कर दूसरे स्वास्थ्यकर स्थान का सेवन करना—'हितं जनपदानां च शिवाना-मुपसेवनन्' । (चरक) । शान्तिकर्म-वेदोक्त मन्त्रद्वारा अनिष्टप्राह-दिक की शान्ति करना । शान्तिकर्म का दूसरा भी एक अर्थ हो सकता है । जनपदोद्धृत्वसक रोग व्यापक ऋतुओं के कारण होते हैं । इसलिये ऋतुव्यापत्ति के अनुसार आचरण करके उसकी शान्ति करना । यथा वर्षा ऋतु में यदि शीत अधिक हो तो शिशिर ऋतुव्यापत्ति के अनुसार आचरण करके व्यापत्ति की शान्ति करना । इसी दृष्टि से अष्टांगसंग्रह में लिखा है—'हिमन्ता-दिषु कुर्वीत स्वं स्वं चाकालिकेचपि । विधिं तच्छीलनं यस्माच्छीतादि-द्वन्द्वकारितम् । ऋतुचर्यादिरीतोण्युद्दिदोपत्रिक्षिया' ॥ (सू.अ० ९) । 'यस्मिन्नेव मासे शीतादयस्तस्मिन्नेव सा चर्या सेव्या । शीतादिदोपत्रिकारा ऋतुचर्योक्ता नहु मासमात्रमात्रिल' । (हन्तुः) । इस व्यापत्ति के कारण जो दोष प्रकृपित होते हैं, उनकी भी शान्ति वमनादि पंचकर्म के द्वारा करना—'कर्म पंचविधं तेषां भेषजं परमुच्यते' (चरक) । संक्षेप में शान्तिकर्म से ऋतुव्यापत्ति के अनुसार भिन्न ऋतुव्यापत्ति की आवश्यकता के अनुसार सेवन समझना भी प्रशस्त है । प्रायश्चित्त—'प्रायो नाम तपः प्रोत्तं चित्तं निश्चय उच्यते । तपेनश्चित्यसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्' ॥ किंवा पूर्वकर्म शान्ति के लिये चाद्रायणादिक का करना । मंगल—प्रशस्त ओपधि तथा मणियों का धारण करना । जप—ऑकारपूर्वक ऋग्युस्तुसामैदं का आवर्तन करना किंवा विष्णुसहस्रनाम का जप करना—'विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपति विमुम् । स्तुवद्वामसत्सेषं ज्वरान् सर्वान्पोहत्ति' ॥ (चरक) । नियम—शास्त्रनियमों का पालन करना—'सदद्वत्तद्यातुवृत्तिश्च' ॥ (चरक) । उपहार-चलिनान् । दीक्षा-मन्त्रग्रहण । पर शब्द स्थानपरित्यागदि प्रत्येक शब्द के साथ जोड़ना चाहिये ।

उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त चरक में निज उपाय अधिक वत्तलाये हैं—कर्म पंचविधं (वमनादिपंचकर्म) तेषां भेषजं परमुच्यते । सेवनं ग्राहनव्ययं तथैव ब्रह्माचारणाम् ॥ सदृशा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम् । धर्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसंभते' ॥

अत ऊर्ध्वमव्यापनानामृतूनां लक्षणान्युप्देश्यामः ॥२२॥

अप यहाँ से उत्तम ऋतुओं के लक्षण वर्णन करते हैं ॥२२॥
वायुवीर्त्युत्तरः शीतो रजोधूमाङुला दिशः ।

छञ्चस्तुषारैः सविता हिमानद्वा जलाशयाः ॥२३॥

दर्पिता ध्वाङ्ग्रहज्ञाद्वामहिषोरभ्रुज्ञरा ।

त्रिष्माणियसुषुष्माणा विष्णुपत्तिः ॥२४॥ हिमसाहस्रायरहा

शरद ऋतु—इस ऋतु में सूर्य पितॄलवर्षी और उषा होता होता है; आकाश निर्मल और दर्दी कहीं शेतवर्ग मेघयुक्त होता है; अतिरिक्त हैसों सहित कमलों से शोभायमान होने हैं; नीची, ऊपरी और समभूमि कीचड़युक्त, सूर्यी और चौंटियों से भरी होती है और ऊरुंटक, सपर्ण, हुपहरिया, कांस, विज्जसार एवं घृतों से सुग्रीवित होती है ॥३६-३७॥

**वक्तव्य—वस्तुः पितॄलवर्षा । पक्षज्ञेत्सारि-निद्रापिण्डु प्रे-
सु यथात्पूर्वं पद्मादिकीर्णा भवति । इमाद्य वर्लीकासारिष्यः सूक्ष्मा-
पिणीलिकाः । (द्वल्हणः) । भूः पद्मार्णीणा निद्रस्थाने, शुक्रोन्तस्थाने,
सूक्ष्मस्थाने द्रुमार्णीणा भवति । वस्त्रीक उत्पन्न करने वाली सूक्ष्म
चौंटियों 'दुमा' कहलाती हैं ।**

**स्वगुणैरतियुक्तेषु विपरीतेषु वा पुनः ।
विषमेष्वपि वा दोषाः कुप्यन्त्यृतुषु देहिनाम् ॥३८॥**

ऋतुओं के स्वाभाविक गुणों का अतियोग, विपरीतयोग, विषमयोग हो जाने से मनुष्यों के शरीर में धातादि दोष कुपित हो जाते हैं ॥३८॥

**वक्तव्य—अति योग—ऋतुओं के गीत, वर्षा और उष्णता आभाविक गुण होते हैं । उनकी अधिकता होना अतियोग है । या—ग्रीष्म में अधिक गरमी होना, वर्षा में अधिक पानी रसना और देमन्त में अधिक शीत पट्टना । विपरीतयोग—
ऋतुओं के स्वाभाविक गुणों से उलटा गुण होना । यथा—हैसन्त गरमी, वर्षा में गीत और ग्रीष्म में वर्षा होना । विपरीतयोग में मिथ्यायोग भी कहते हैं—‘यथा न्वलक्षणविपरीतलक्षणस्तु काळः ग्रीष्मियायोगः’ (चरक) । विपरीतयोग का दूसरा अर्थ इह दीका में ऐसा दिया है—‘मन्दरीतातियुक्तेषु’ । चरक चनासुसार यह अर्थ करना प्रसन्न है । दूसरा कारण यह है कि एक योग के दो अर्थ करना ठीक नहीं है । विषमयोग—
उसके भी दो अर्थ दीका में दिये हैं । पहला अर्थ मिथ्यायोग का साथ मिलता है, अतः उस अर्थ की अव आवश्यकता नहीं है । दूसरा अर्थ एक्षुलयवचन से दिया है—‘वन्ये तु ऋतुसूर्योक्तिलिङ्गानमेकसिमन्तौ सर्वेषां लिङ्गानां भावोऽभावयेति वैपन्धगः’ । एक ऋतु में सर्व ऋतुओं के गुणों का प्रादुर्भाव होना पा अभाव होना, दृश्यको विषमयोग कहते हैं । इसमें सर्व ऋतुओं के गुणों का प्रादुर्भाव मिथ्यायोग में आ जाता है । अतः वाक्ती केवल अभाव ही रहा । यही विषमयोग का अर्थ है और इसे अयोग या हीनयोग कहते हैं । चरक, वाग्मट में काल के केवल तीन योग दिये हैं—‘कालार्थकर्मणां योगा हीन-मिथ्यतिमात्रकाः’ (वाग्मट) । ‘त्रीण्यायतनानीति, अर्थाना कर्मणः कालस्य चातियोगयोगमिथ्यायोगः’ (चरक) । उनके अनुसार भी विषमयोग का अर्थ अयोग या हीनयोग ही करना चाहिये । यथा—वर्षा ऋतु में पानी कम वरसना या नहीं चरसना हस्यादि । दोषाः कुप्यन्ति—दोषों का प्रकोप होकर मनुष्यों में नान प्रक्षार के रोग उत्पन्न होते हैं—‘मिथ्यातिहीन-लिङ्गाश्वर्णनां रोगहेतवः’ (चरक शा. अ. १) । इस प्रकार प्रत्येक ऋतु की तीन व्यापत्तियाँ होती हैं और सर्व ऋतुओं की अद्वारह व्यापत्तियाँ होती हैं ।**

**हृदेष्वसन्ते श्लेष्माणं पितॄं शरदि निर्हरेत् ।
वर्षासु शम्येद्वायुं प्राग्विकारसमुच्छ्रयात् ॥३९॥**

इनि बुद्धतसमितायां सूक्ष्मस्थाने ऋतुचर्चा
नाम पठोऽध्यायः ॥६॥

(दोषों से शरीर में) विकार उत्पन्न होने के पहले ही चरन्त ऋतु में कफ का निर्हण करना चाहिये, शरद ऋतु में पितॄ का हरण करना चाहिये और प्रावृद्ध ऋतु में वात की शान्ति करनी चाहिये ॥३९॥

वक्तव्य—वसन्ते चरन्ते ऋतु के दूसरे भावने में दैत्र मास में । शरदि—शरद ऋतु के दूसरे भावने में, मार्गशीर्ष मास में । वर्षासु—वर्षा शब्द से यहाँ ‘प्रभमः प्रवृष्टः कालः प्रावृद्ध’ समझना चाहिये । क्योंकि प्रावृद्ध के दूसरे भावने में श्रावण में वात का संशोधन करने के लिये कहा गया है—‘तत्र वर्षाहेमन्त-श्रीष्मेषु संचितानां दोषाणां शरद्वसन्तप्रावृद्धु चे प्रकुपिवाना निर्हण कर्त्याम्’ । (इस विषय का विशेष विवरण इस अध्याय में १२ वें सूत्र के वक्तव्य में देखें) इसलिये हाराणचन्द्र अपनी दीका में लिपते हैं—‘वर्षास्विति वर्षन्ति भेदा अवेति व्युत्पत्त्या वर्षास्वेदन वर्षाप्रायुपोरभिधानेऽपि प्रावृद्धेवात्राभिधीयते, तस्यमेव निर्हण-विषानात्’ ॥ विकारसमुच्छ्रय—काल स्वभाव के कारण प्रकुपित दोषों से उत्पन्न हुए रोग । इनको ऋतुज रोग या प्राकृत रोग भी कहते हैं—‘कालप्रकृतिमुहित्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः’ (चरक) । ऐमन्तिक दोपचयं वसन्ते प्रवाहयन् श्रेष्ठिकमप्रकाले । घनात्यये वापिक-माशु सम्यक् प्राप्तेति रोगानुत्तुजान्त जातु’ ॥ (चरक) ।

इति भास्करशरणां गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुवेदरप्रस्त्रीपिकायां
शुश्रुतभापादीकायां सूक्ष्मस्थाने ऋतुचर्चा नाम पठोऽध्यायः ॥६॥

सूक्ष्मोऽध्यायः ।

अथातो यन्त्रविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः यथो-
वाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से यन्त्रविधि अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

**यन्त्रशतमेकोच्चरम् । अब हस्तमेव प्रधानतमं
यन्त्राणामवगच्छ्रु, किं कारणं ? यस्माद्वस्तावृते
यन्त्राणामप्रवृत्तिरेव तदधीनत्वाद्यन्त्रकर्मणाम् ॥२॥**

यन्त्र एक सौ एक होते हैं । परन्तु सब से प्रधान हाथ ही समझो । क्योंकि यन्त्रकर्म हाथ ही के अधीन होने के कारण हाथ के विना यन्त्रों का उपयोग असंभव होता है ॥२॥

वक्तव्य—यन्त्र पारिभाषिक शब्द है । इस की अगले सूत्र में तथा उसकी दीका में सवित्तर व्याख्या की गई है । पक्षोत्तरं शतम्—यह शब्द प्रयोग यहाँ यन्त्रसंख्या की हृषता निश्चित करने के लिये प्रयुक्त नहीं किया गया है । प्राचीन काल में प्रत्येक शल्यचिकित्सक अपने शुद्धिगिरे से मिज्ज भिज्ज शस्त्र कर्मों के लिये मिज्ज भिज्ज आकार के और भिज्ज मिज्ज प्रसाण के काई यन्त्र निर्माण कर लेता था, जिनका ठिकाना नहीं—‘त्वं बुद्ध्याया च विकार्यं विविधानि यन्त्रशरणाणि तत्कर्माणि च उपकल्प-

२१। एक बड़े दूर से आपनी वाहन का रस्ता देखते हैं। (यह समझ में ले) इन्हें लकड़ी की एक छोटी असुंग वेद्यवाची समझका भाषित है। वास्ट ने एक भी एक से अधिक वज्र बर्तन किये हैं। इनका विवर प्राप्ति करार है वनों के साथ होता है। इनके प्रश्न का उत्तर हृषि की गाना धर्मी उपलब्ध में है तथा परि उसको सर्वप्रद्युम्न में भी भी भी घटाना माना है, वह दिष्टकृत होता है। आज उपलब्ध प्रकार के गुरु और मनव, ग्रन्थालय होते हुए भी उन्होंने दिष्टकृत ही बृंदी देखकर हाथ के बौद्धन पर हुमारा दर्शन करा दिया है। प्राप्ति काल में जब शत्रुघ्नियों की विजय आज एवं गुरुदेवों में बढ़ दृढ़ होता था, तब गुरुचिकित्सक द्वारा दिष्टकृत ही दोस्री के लिये भवित्वकाल की आगा करन का ध्यान था। इस इस्तेवागान से अपन्नवशता एवं वीरियां दिया जाता है जिसे मनुष्य के लाग व्याप्ति इसके लागत नहीं है, वह दिष्टकृत यथनाद्य पास हो जाए तुम भी दिष्टकृत होते ही दिये व्यवहार है।

नम, मनं दर्शनायाधशस्त्राहि शस्यानि; तेपामा-
एत्प्रोपयो वन्द्याहि ॥३॥

मत और दृष्टि को धीरा करने योग्य होते हैं, वे एस्ट्रो
कल्पनाएँ, और उनके भावरण करने के उपाय पन्थ बढ़ा-
वान हैं ०३०

पत्रदण्ड—‘मृत का स्वरूप पहले अस्तिय में शरीरोंपर
की स्वरूप दूसरे समय जैव विद्या द्वारा है। गार्हिक पत्र

retractor wound retractor, abdominal retractor अपार्टी), होन्डर (यथा Caustic holder, Needle holder, Tongue holder) इन कमी के लिये मृत्यु होते हैं। (U विसेन-शास्त्रान्धार की सीते तथा विषुद्धि के लिये भी इन मृत्यु होते हैं। यथा—मूत्रमार्ग विरोधक, तालूद्धन्त्र इपार्टी, आपुनिक घोंगों में दाम्पेटरस (यथा Uterine dilator, Vaginal dilator, Rectal dilator, Prepuce dilator इपार्टी), कैथेटर (Catheter), साउड (Sound) स्पून (Spoon), स्कोप (Scope) वियोपन के लिये मृत्यु होते हैं।

तानि पद्मशारणिः; तदधा—स्यस्तिक्यन्थाणि,
संदर्शयन्थाणि, ताल्यन्त्राणि, नारीयन्थाणि, शुल
कायन्थाणि, उपप्रवृत्तिं चेति ॥ ३ ॥

वे शब्द हम प्रकार के होते हैं। जैसे—सरलिक्षण, संरेख
पद्धति, सामान्यता, नार्थिपद्धति, ग्रामांकपद्धति आदि उपर्युक्त पद्धति।

यत्तद्य—आठार के अनुसार पथ्वी के पाँच प्राची
किये हैं। उपर्यन्त में अन्य सर्व उपर्याप्ति इक्षीर्य वस्त्रों का
सम्बद्ध हिस्पा है। ऐसेवी में स्तुलिपवस्त्रों को Cruciform
instruments संग्रहण्यां को Pitcher-like forceps
तापमात्रां को Scoop like instruments शारीरिक्यां
को Tubular instruments और यथाकालपत्रों को Probes
कहते हैं।

तत्र धनुर्यिदाति: स्वस्तिप्रयत्नशाहि, द्वे रंडंदं-
यन्त्रे, द्वे पटे तालप्रयन्त्रे, गिरितर्नाट्ज, अष्टार्यिदुक्ति
इलाशः । पञ्चायिदातिप्रयत्नशाहि ॥५॥

उन में से स्ट्रिहमन्त्र वर्णिय है, गोदगमन्त्र भी है, तान-
पत्र दो हैं, मारीपत्र एक है, शपाकपत्र छहोंग हैं और
उपत्र चारोंग हैं।

परायन—ग्रामपाल दे भैरवनाथ चार, बारिश्वर तीर्थग,
सुन्दरी गंगा की नदी गंगा गंगा गंगा गंगा गंगा गंगा गंगा गंगा

तानि ग्रायणो सौदानि भयनि, ताप्तिरूपमयि
त्वा चर्मेण दृष्टे ॥

एन्ड द्राय सॉर्टे के होते हैं, सॉर्टे के अभाव में इनके प्रमुख विकल्प लॉसीज़ और लॉसीज़ लॉसीज़ होते हैं।

यात्रा—मोंड दूर मे दृष्टि बढ़ावें विश्वामीति
यात्राये इत्या है तापि दूर मोंड से दृष्टि भूलिना (हिं)।
यात्राका अधिक दृष्टि है। यह मोंड द्विष्टा विश्वामीति
तद मोंड के द्विष्टाद्वयम्, तथा दृष्टि विश्वामीति हिंदूम्,
यह दृष्टि विश्वामीति तद विश्वामीति हिंदूम् अनुर्ध्वं।

तदा, शान्तिकारणी प्रयाप्तता गृहीतिलाम्। मुखे
मुंगरनि दग्धवाणी दासदः। इट्टुनिः, तत्त्वान्वयाद
स्वामीनिषेद्योऽप्यनुभवात्तदाप्यनिर्विजयं द्वारपैर्॥

इस दृष्टि के तुम बुद्धि वाला दृष्टि के दिलहू तरह
तरह अपनी के तुम के दृष्टि होने। इसके बाहरी सम्भव
दृष्टि के दृष्टि) दृष्टि के दृष्टि का दृष्टि, दृष्टि
के दृष्टि (दृष्टि के दृष्टि)

(पहले के यो हुए) अन्य गन्त्रों के अनुसार तथा प्रयोगन के अनुसार अन्य वनवाने चाहिए ॥३॥

४) चक्रव्य—मुग्ने दृश्यानि गन्त्राणा मुखानि, 'धर्मनि' स्वप्न-स्थानः । प्रयगः—यन्त्रसुतां जा सारथ्य प्राणियों के सुग्रे ने हृष्ट्वा नहीं होता है । शक्तिकाम—प्रथमि यर्दा व्याल्सुखात्प्रय सर्वे यन्त्रों के संबंध में लिखा है तथापि येवत् स्वस्तिक यन्त्रों के संबंध में यह होता है । इसलिये 'यन्त्राणा' के पहले 'स्वस्तिक' शब्द अध्यात्म यमतना चाहिए । अटंग संघ तथा दूसरे में बायंट ने यह स्वस्तिकता दूर की है—'तत् रूपिनिरूपनानि यद्यमिषुभुत्तरात्पिनिष्टामुग्नन्याकारात्पुगाभिगामानि' ॥ (अ. सं. च. अ. ३४) । उचितः—अपने अनुभवानुसार तथा चिकित्स्य उत्तर के वय तथा अवयव विभाग के परिमाण का विचार करके ।

समाहितानि यन्त्राणि नरक्षुद्धामुखानि च ।

सुद्धानि सुरुपाणि सुव्रह्माणि च यारयेत् ॥४॥

सब अन्य प्रमाणयद्, भज्वत्, सुंदर, सुग्रे तथा (कतिपय) सुरदरे सुरवाले और (कतिपय) रुदु सुरवाले वनवाने चाहिए ॥४॥

५) चक्रव्य—स्त्राति—प्रमाण के अनुसार विविध अंग ने हुए अथवा त्रुटील । स्वप्नस्थान—कार्यसिद्धता के अनुसार यन्त्रों के सुख (वाय भाग तथा आम्ब्यन्तर भाग) छु तथा सुरदरे रखने चाहिए । यथा—शत्र्यप्रहण तथा शाहरण के लिये खस्तुय यन्त्रों की ओर मार्गविग्रोधन (मूत्रोम्पर्का नार्दी-क्षयोपेटर) के लिये मृदुसुख यन्त्रों की अवस्थका होती है । सुब्रह्म-हन्त्रार्थ्य प्रदेश उत्तम होने के कारण विभक्तों विना परिश्रम पकड़ सकते हैं अथवा शत्रु, हृद्वा इत्यादि वाय घस्तु को जो अन्य भाली भाँति पकड़ सकते हैं । हसी गुण के संबंध में अगे 'अग्राहि विषमगाति' अन्त के दोष वत्तलाय गये हैं । उत्तम अन्य में सुग्रे के वत्तलाये हुए दोनों गुण होने चाहिए ।

तत्र स्वस्तिकयन्त्राणि—अष्टादशाहुलप्रमाणानि, सिंहव्याघ्रवृक्तरच्चृक्तद्वार्पिमार्जारस्त्रगालसुगैर्वारुक्क काककद्वक्तररच्चासभासशशधात्युलुकचिलिशयेनगृ-भक्तिव्युद्धरेगाजलिकर्णीवभजननन्दि(न्दी)सुखसु-खानि, मसूराकृतिभिः कीलैरवचद्वानि, सूलेऽङ्गुश-वद्वृत्तवारङ्गाणि, अस्थिविद्धशालयोद्वरणार्थमुप-दिश्यन्ते ॥५॥

६) उनमें स्वस्तिकयन्त्र वाठारह अंगुल प्रमाण के सिंह, व्याघ्र, भैंडिया, तरछु (चरत्र Hyena), रीछ, चित्रव्याघ्र (चीता Panther), मार्जर, गीदड़, मृगवारुक, काक, कळ (घगला Heron), ऊर (टिथिरी Osprey), चास (बहरी Blue joy), भास, शशधाती (वाज Hawk), उलुक (उलू Awi), चिंची (चील kite), झेन (Vulture) गृध्र (गीध Taleon), कौच (Catlew), भृङ्गराज, अजंति-कीर्ण, अचम्भजन, नन्दिसुख इनके मुखलमान मुखवाले, मसूर के समान कील से (दोनों खंड चीर में) जुड़े हुए और धार्य

(Handle) खंडुओं के समान बढ़ा दिये हुए होने चाहिए । नो यन्त्र हाथी के तथा अन्य गांहे अद्यत्य प्राण्य विज्ञाले होने चाहिए ॥५॥

बनात्य—इन भौथिक पशु-पक्षियों में से कठिनां यह प्राचीन काल से उपयोग है । यथा—ज़रुलिनी, दायबद्दल । मृगवारुक—मृगक विश्व में स्वभित्ता दिवाहृ देती है । दृण दृश्यका समावेश हिन्द पशुओं में वरता है । शारामृद्द भी दृश्यका अर्थ 'दरिमान्द्रुत्यानि' देते हैं । नवा ईक्षान (An inter prolation of Ancient Hindu Medicine पृष्ठ ४९२-४९४ और Surgical instruments of the Hindus पृष्ठ १०२) दृश्यका अर्थ देवल दृरिण (Deer) कहते हैं । अष्टांगोन्मध्य में स्वस्तिकयन्त्र के सर्वे पशु पक्षी हिन्द वन्दनामे गये हैं—'तत्र स्वलितल गणि कश्युपिण्डात्पुरात्पि-प्रियम्यालमुखानि' । दृश्यलिये मृगवारुक कीई हित पशु ही होगा, दृरिण नहीं ही सकता है । मसूराकृतिभिः कीटः—जित कील का मण्य भाग पतला और दोनों सिरे मसूरुदल सम्पर्क होते हैं—'मयदाकारपर्यन्तैः कठेददानिक्तिकैः' (वाग्मद) । कील जित स्थान में होता है, उसे बढ़ा प्रदेश दृष्ट होते हैं । यह कण्ठ अग्र के जितना समीप होगा, उतनी अन्य की पक्क (Gramsp. Fix) भज्वत् होगी । याल-धार्यप्रदेश अथवा अन्य का मूल भाग, जिस में अन्य को हाथ से पक्कहोते हैं (Handle) ।

इन स्वस्तिक यन्त्रों के दो विभाग किये गये हैं । प्रदस विभाग सिंहसुख से मृगवारुकसुख तक वह स्वतिक यन्त्रों का है और ये अन्य दृश्य या उपरितन शल्यों का आहरण करने के लिये प्रयुक्त होते हैं । दूसरा विभाग काकसुख से ज़म्मे-सुख तक पंद्रह स्वस्तिक यन्त्रों का होता है और इनका उत्तोर गृह या गहरे शल्यों का आहरण करने के लिये होता है : 'तिथा सिंहाप्रमुखंगमकरादिसुखानि इश्वरारंगेषु शलेषु प्रयोजः, इतेरु तु यथायोगं व्राकारातुरेन वक्षकापातुरादिसुखानि' (अ. संमह) । कारण यह है कि सिंहसुखादि अन्य सौंदर सुख होने के कारण भीतर प्रवेश नहीं कर सकते, परन्तु छद्मसुखादि पतले सुख के होने के कारण भीतर प्रवेश कर सकते हैं ।

आधुनिक अन्त संभार में भी हड़ी पकड़ने, घोड़क की गोली निकालने, दाँत निकालने, कर्ण नासागत शाल्य विकालने तथा अन्य कामों के लिये अनेक पशु-पक्षियों के सुखालुकारी स्वस्तिक अन्य प्रयुक्त होते हैं । परन्तु इनके नाम दीक्षित अन्तेश्वर के अनुसार और अधिकतर स्थानिक कार्य के अनुसार उल्लेख होते हैं । यथा—Ferguson's Forceps, Tarabouf's Forceps, Bedfords's Forceps इत्यादि जन्मेपक के अनुसार अन्य रखते हैं और Aural Forceps, Dental Forceps, Bone Forceps इत्यादि नाम स्थानिक कार्य के अनुसार हैं । तो भी कतिपय नाम प्राणियों के अंग—साध्यानुसार रखते रहते हैं । यथा—सिंहसुख Lion Forceps, शशधातीसुख Dental Hawk bill Forceps, मूषिकसुख Mouse teeth Forceps, मकरसुख Crocodile Forceps, यामुख Bulldog Volsalla etc । स्वस्तिक यन्त्रों का समावेश Forceps होते हैं ।

सनिग्रहोऽनिग्रहश्च संदर्शी पोडशाहुलौ भवत् ,
तौ त्वचांससिरामायुगतशाल्योदरणार्थमुपदिश्यते॥

सनिग्रह और अनिग्रह ऐसे सोलह अंगुल के दो सदय होते हैं और ये त्वचा मांस सिरा यानुगत शब्द निकालने के काम में आते हैं ॥१॥

वक्तव्य—सनिग्रह—कीलयुक्त । अनिग्रह—कीलहित । डलहण अपनी टीका में सनिग्रह का अर्थ सवारह (with handle) कहता है । परतु यह अर्थ अप्रशंसनीय है । प्रथम कारण यह है कि सनिग्रह का अर्थ सवारह करने से वह स्वल्हित यन्त्र बन जाता है । परतु स्वास्तिक यन्त्र ऊपर स्वतन्त्र विभाग में चर्पित हुए हैं । दूसरा कारण यह है कि अष्टांगसंग्रह में 'सनि दनयनो निनिवपनश्च षोडशाहुलौ सदर्शी द्वौ भवत्' ऐसा पाठ है और उसकी टीका में 'सनिवपन वीलदृ' ऐसा अर्थ दिया है । अष्टांगहठदय में भी कील का स्थान निर्देश किया है—'कीलदृविमुक्तां सदर्शी दोषाहुलौ' । इन सब बातों का विचार करने से सनिग्रह सदय ऐंग्रेजी V के आकार का या Dressing Forceps के आकार का और अनिग्रह सदय ऐंग्रेजी U के आकार का होना चाहिये । सनिग्रह का दूसरा अर्थ with a catch और अनिग्रह का without a catch ऐसा भी अर्थ आधुनिक यन्त्रसभार देखकर ही सकता है । परन्तु समय का विचार करने से इस अर्थ को स्वीकार करने में थोड़ी आवश्यकता होती है ।

इन दो संदर्भों के अतिरिक्त बास्तव में दो और सदय वर्षीय किये हैं । (?) 'बड़ाहुलौज्यो हरये गृहसाल्योपशामाम्' । सूक्ष्म-शब्द तथा उपराम पकड़ कर उखाड़ने के लिये एक अगुली परिमाण का एक संदर्शण होता है । हारीतसहिता में सूक्ष्म शब्दाहरण के लिये सदय का उपयोग बतलाया है—'अतिग्रह च शल च स्वरूपान समुद्रात्' । पश्मकोप में और लोंगों को तकलीफ देने वाले केंद्र सदय की सहायता से निकालने की पद्धति थी । 'उपशमामि तु लाकारसेन लक्षित्वा सर्वानेश्वरूल तनुशूल्येणामि वर्णेत रोपहात्मा देवते' । (अ संग्रह) । आधुनिक नेत्रविकासन में पश्मकोप (Trichiasis Distichiasis) के लिये यह एक चिकित्सा होती है और पश्म को निकालने की हस्त विधि का Epila-tion कहते हैं और सदय को Epilation Forceps कहते हैं ।

(२) मुरुंदीप्रस्त्रा—मुरुंदीग्रन्तिमन्त्राद्वयो देशित्यन्तं ॥२॥ रुचयन्त्राणा । गर्भीरद्वयात्तान्तमर्थं देशित्यन्तं ॥२॥ इसके मूल में एक थल्य और अंग्र में सूक्ष्म दांत होते हैं और रोमीरथण का मांस (Granulations) तथा अर्म (Pterygium) का शेष निकालने के लिये इसका उपयोग होता है ।

तालयन्त्रे—द्वादशाहुलौ मत्स्यतारुन्यदेशतालयितालयों, कर्णनासानांदीशयानामाद्वरणार्थम् ॥१॥

तालयन्त्र दो ही मकार के और बाराह अंगुल के होते हैं । वे मकारी के तालु के समान एक तालयुक्त और दो तालयुक्त होते हैं और कल, जासिका, मारी इनमें से यथा निकालने के काम में आते हैं ॥१॥

प्रत्यक्ष्य—त्रूप—इसमें अर्थ के संरूप में शुद्ध मरमि भासा दिया जाता है । परन्तु ताल का सारां अर्थ विस्तृत मरमि

प्रदेश है । कासे के घजाने के बाबा विशेष को ही ताल कहते हैं ताल—'वाधमाङ्गे च काम्हल' में दिनी । हस्तल की जो विशेष आकृति होती है, उसे भी ताल कहते हैं । संज्ञे में ताल क अर्थ विचित गर्त्युक्त प्रदेश है । मस्तलालुके समान मृदु । जिस घन्त में एक ही ताल होता है, उसे एकताल या कहते हैं और जिस में दो ताल होते हैं, उसे द्विताल कहते हैं शब्दाहरण के लिये प्रत्येक यन्त्र में कम से कम एक ताल और अधिक से अधिक दो ताल ही सकते हैं । हस्तिये तालयन्त्र दो से अधिक होने असंभव हैं और हस्त विचार से सूक्ष्म पौच में लिखा है 'देव एव तालयन्त्रे' । आधुनिक दृष्टि से तालयन्त्र की सूच (Scoop) का सकते हैं । स्पून (Spoon) भी तालयन्त्र में ही समाविष्ट होते हैं । एकताल (Single Scoop) और द्विताल (Double Scoop) होता है ।

नाडीयन्त्राणि—अप्यनेकप्रकाराणि, अनेकप्रयोज नानि, एकतोमुखान्तुभ्यतोमुखानि च, तानि स्रोतो गतशल्योदरणार्थम्, रोगदर्शनार्थम्, आचूपणार्थम्, क्रियासौकर्यार्थं चेति, तानि स्रोतोद्वारपरिणाहानि यथायोगदीर्थीर्थिं च । तत्र भग्नदरार्थीवण्णवस्तुतर वस्तिस्मूलवृद्धिदकोदरधूमनिरस्फ्रप्तकरणसन्निरस्फ्रद्युगुद—यन्त्राण्यलालूष्टक्यन्त्राणि चोपरिष्टादृश्याम् ॥१३॥

नाडीयन्त्र अनेक प्रकार के होते हैं और उनके कामों में आते हैं । उनमें से कई एक मुख वाले और कई दो मुख वाले होते हैं । (कतिपय) नाडीयन्त्र धोतीताल शब्द निकालने के काम में, (कतिपय) रोपी के रोग की परीक्षा करने के लिये, (कतिपय) चूपने के काम में और (कतिपय) थल कर्म के साथ विशेष में सुखमता उत्पाद करने के काम में आते हैं । इनकी माटाई नाडींवाँ के छिद्र में दीक प्रवेश करने वाले और लबाई आवश्यकता के अनुसार (न्यूनाधिक) होती है ॥१२॥

यक्तव्य—नाडीयन्त्र—नाडीवान्तुपुरिणि व वाणि नाडी यन्त्राणि । नालिका की भाँति भीर पौले और थल होते हैं, उन को नाडीयन्त्र कहते हैं । द्वयनेमुखानि—दिनांक एक मुख बद और एक मुख बहुत होता है । उच्यनेमुखानि—जिनके दोनों मुख बहुत होते हैं । अलालू, एक मुख नाडीयन्त्र का उत्पाद है । मूद्रादृदि, दक्षादृ, धूनलिका उभयसुख नाडीयन्त्र के उत्पाद हैं । दोगदर्शनार्थम्—शरीर के अध्यक्षरीय रोगों का निरीक्षण करने के लिये नाडीयन्त्रों का उपयोग होता है । यथा—योनि वर्णणयन्त्र, अणायन्त्र । आधुनिक यन्त्रयात्र में रोगदर्शन के लिये यो नाडीयन्त्र व्यवहृत होते हैं, उनको 'इसेक्यूलम्' (Speculum) कहते हैं । यथा—Vaginal, Speculum Rectal Speculum Ear Speculum Nasal Speculum इत्यादि । इनके मिलाये रोगदर्शन के लिये दूसरे प्रकार के नाडी यन्त्र होते हैं, जिन में प्रशाय का विशेष व्यवहार होता है । उनकी स्कोप (Scope) कहते हैं । यथा—Auro Scopo cysto Scope Recto Scopo इत्यादि । इनका भी सामान्य रोग दृष्टि नाडीयन्त्रों में ही करना चाहिये । आचूपणार्थम्—अप्यनेकप्रकाराणि वासा दिया जाता है । अनिग्रह वाल—निरेटुलिनि वा इयो का

मन्येन दारिते । नारीं दत्त्वाऽस्थिनि भिपक चूपयेत् पवनं बली' ॥ (सु. चि. अ. ४) । दुष्ट रक्त के लिये अलावू, सृङ्ग हत्यादिक का उपयोग होता है । दुष्टसन्ध्य—दूषित दूर्घ निकालने के लिये स्तनरोग की चिकित्सा में कहा है परन्तु वहां किसी विशेष यन्त्र का निर्देश नहीं किया है—‘धान्याः स्तनौ सततमेव च निर्दुहीत’ । संप्रति दूषित दूर्घ निकालने के लिये ब्रेस्ट पम्प (Breast pump) नामक नाडीयन्त्र का उपयोग होता है । इनके सिवाय छाती में जब जलसंचय (Pleurisy with effusion) होता है, तब जल निकालने के लिये पोटेन्स अस्पिरेटर (Potains Aspirator) नामक नाडीयन्त्र और पथरी फोड़ने के पश्चात् उसके कण निकालने के लिये (Eva cunctor) इवैक्युप्टर नाडीयन्त्र संप्रति व्यवहृत होते हैं । क्रियासौकर्यं च ग्रन्थक्रिया में सुगमता तथा क्षारादि ओपविधियों का उपयोग करने के काम में सहायता देने के लिये । यथा—एक छिद्र अर्थोन्त्र अर्थ के ऊपर क्षार या अम्ल प्रयोग करने में बहुत सहायता करता है । शलक्रिया में सौकर्यं उत्पत्त करने के लिये प्राचीन काल में नाडीयन्त्रों का बहुत उपयोग नहीं दिखाई देता है । आमुनिक शल्यचिकित्सा में हस काम के लिये बहुत नाडीयन्त्र व्यवहृत होते हैं । इनको डायरेक्टर (Director) कहते हैं । यथा—Probe director, Hernia director, Aithotomy director, Fistula director इत्यादि ।

तत्र भगन्दरादि—यहां भगन्दरादि वारह नाडीयन्त्रों के गाम निर्दिष्ट किये हैं । परन्तु इनमें से कई यन्त्र अनेक होने के कारण इनकी संख्या बीस होती है ।

नाम और वर्णन (डल्हण की टीकानुसार)	संख्या
१ भगन्दरयन्त्र—(१) एकच्छिद्र (२) द्विच्छिद्र	२
२ अर्थोन्यन्त्र—(१) ए कच्छिद्र (२) द्विच्छिद्र	२
३ व्यणयन्त्र—	१
४ वस्तियन्त्र—पद्धत्यदशद्वादशाङ्गुलभेदात्	४
५ उत्तरवस्ति—छी-पुरुषभेदात्	२
६ मूत्रवृद्धिसावणयन्त्र—	१
७ जलोदरवात्तावणयन्त्र—	१
८ धूमोत्तेवयन्त्र—(१) वैरेचनिक, (२) लैहिक, (३) प्रायोगिक	३
९ निस्तुद्वयकशयन्त्र—	१
१० सञ्चिरद्वयउदयन्त्र—	१
११ अलावूयन्त्र—	१
१२ श्वायन्त्र—	१
	२०

नाडीयन्त्राणि (हाराणचद्र की टीकानुसार)	व्रणधूपन—
१ अर्थोन्यन्त्र—छी और पुरुष भेद के कारण	२
२ वस्तियन्त्र—पद्धत्यदशद्वादशाङ्गुलप्रमाणभेदात्—	४
३ उत्तरवस्तियन्त्र—पुंसा द्वे, स्त्रीणां द्वे, कन्यानां चक्षम्—	५
४ दक्षोदरयन्त्र—	१
५ धूमयन्त्राणि—प्रायोगिक, लैहिक, वैरेचनिक, कासप्त,	५
६ निस्तुद्वयकशयन्त्र—	१
७ अलावूयन्त्र—	१
८ श्वायन्त्र—	१

भगन्दर और अर्थोन्यन्त्र (Rectal Speculum)—इनका वर्णन चिकित्सास्थान के अर्थ और भगन्दर चिकित्सा में किया है । व्रणवस्ति—इसका उपयोग व्यण या नाडीवृण का प्रक्षालन करने के लिये किया जाता था । यन्वर्वण—‘यन्वे नाडीवृणा-भ्यंगक्षालनाय पड़हुले । वस्तियन्त्राकृती मूले मुखेऽहगुपकलायख । अग्रतोऽकर्णिके मूले निवद्युत्चर्मणि’ ॥ (अ. हृदय) । सांप्रत व्यणप्रक्षालन के लिये सिरिंज (Syringe) तथा इरिगेटर (Irrigator) का उपयोग करते हैं ।

वस्तियन्त्र—इनका वर्णन चिकित्सा स्थान के नेत्रवस्ति प्रविभाग चिकित्सित अध्याय में किया है । वस्तिविधि के लिये अंग्रेजी में एनेमा (Enema) कहते हैं । एनेमा देने के लिये दो यन्त्र प्रयुक्त होते हैं । इनमें से वस्तियन्त्र का सादृश्य ‘रबड़ वाल एनेमा सिरिंज’ (Rubber Ball enema Syringe) के साथ होता है । दूसरा दीवाल के साथ टांगने का यन्त्र है । उसे ‘हरीगेटर’ कहते हैं ।

उत्तरवस्तियन्त्र—इस यन्त्र का वर्णन चिकित्सास्थान के अनुवासनोत्तर वस्ति चिकित्सित में किया है । उत्तरवस्तियन्त्र का सादृश्य आधुनिक रबड़ वाल झजायनल दूश (Rubber ball vaginal douche) के साथ होता है ।

मूत्रवृद्धिकोदरयन्त्राणि—मूत्रवृद्धि (Hydrocele) और जलोदर में (Ascites) पानी निकालने के लिये इनका उपयोग होता है । ग्रथम ब्रीहिमुख शब्द से छेद करके तत्पश्चात् उस छेद में यह यन्त्र प्रविष्ट किया जाता था । यह एक द्विमुख नलिका होती है जो सीसा, रांगा या पंख की थार्नाई जाती है । ‘तत्र लप्त्वादीनामन्यतमस्य नार्दी द्विद्वारां पक्षनार्दी वा संयोज्य दोपोदक-मवसिक्तेत्’ । सांप्रत मूत्रवृद्धि और जलोदर में पानी निकालने के लिये प्राचीन काल के नलिका की भाँति लोहे की नलिका होती है । उसे ‘क्यानूला’ (Cannula) कहते हैं ।

निरुद्धप्रक्षयन्त्र सत्रिल्दगुदयन्त्र—शिक्षर्मसेसंकोच (Phymosis) और गुदसंकोच (Stricture of the rectum or anus) में स्रोतविस्तार करने के लिये इनका उपयोग किया जाता था । ये यन्त्र लोह, स्वर्ण, लकड़ी या लाक्षा की द्विमुख नलिकायुक्त होते हैं । सर्व यन्त्र एक मोर्टाई के न होकर एक से उत्तरोत्तर दूसरे बढ़कर होते हैं । इनका उपयोग छोटे से प्रारंभ करके मोर्टे यन्त्र तक धीरे धीरे किया जाता है । ‘निरुद्धप्रक्षये नार्दी द्विमुर्दी कनकादिजाम्’ (चक्रदत्त) । ‘चिरुद्धप्रक्षये नार्दी लौहीमुखयोमुखीम् । दार्दी वा जुकुक्तां धृताभ्यतां प्रवेशयेत् । त्र्यहात् त्व्यहात् त्व्यहात् सम्यह नार्दी प्रवेशयेत् । स्रोतो विवर्धेत्’ (सुश्रुत) । आमुनिक शल्यचिकित्सा में भी सञ्चिरद्वय और निरुद्धप्रक्षय की चिकित्सा इसी प्रकार के नाडीयन्त्रों से की जाती है । परन्तु ये यन्त्र भीतर पोले नहीं होते हैं । सञ्चिरद्वय की चिकित्सा में प्रयुक्त नाडीयन्त्रों का नाम रेप्टल डायलेटर या बूजी (Rectal dilator or Bougie) है और निरुद्धप्रक्षय की चिकित्सा में प्रयुक्त यन्त्रों का नाम प्रेप्यूस या युरेथ्रल डायलेटर (Prepuce or Urethral dilator) हैं । आमुनिक शल्यचिकित्सा में गर्भाशय ग्रीवा संकोच में भी नाडीयन्त्रों (Uterine dilators) का उपयोग करके ग्रीवा की सृष्टि की जाती है । सामान्यतया छोटे से लेकर मोर्टे यन्त्र तक इनकी

संख्या बारह होती है और प्रयोक बन्द पर उसकी मोटाई और नंबर होता है।

धूमपत्र—इनका वर्णन चिकित्सास्थान के अंतिम अध्याय में किया गया है। इनका उपयोग धूमधून (Fumigation) और धूमपान (Inhalation) के लिये किया जाता है। धूमधून के लिये निष्पवचादि जीवाणुनाशक (Disinfectant) औरधियों का उपयोग होता था—ज्वों निष्पवचादि च धून सप्रयत्ने। (गोर्हव)। इस धूमधून में जीवाणुनाशक धूण-चिकित्सापदाति की स्पष्ट कल्पना (Antiseptic method of treatment) दिखाई देती है। आधुनिक शब्दचिकित्सा में धूमधून के लिये धूपनपदाति को अनीकार नहीं करते हैं। क्योंकि अर्थत् तीव्र जीवाणुविनाशक रासायनिक ओपरियों के घोल बन घोने के लिये प्रयुक्त होते हैं। परन्तु आज भी माचीन काल की भाँति राजव्यस्था, प्रतिवाय, धारा, कासादि व्यसन-संस्थान के रोगों के लिये आपापि धूमपान (Inhalation) का प्रयोग होता है और इस प्रयोग के लिये जो बन्द होते हैं वे भी पुरानी पद्धति के बन्द की भाँति होते हैं—‘व्यपनधूमादोर रियर सभाहिते रातों प्रक्षिप्त वर्ति मूलचिद्देशेण्येन शरावेण पिताय तस्मिन् दिने नेप्रमृत सयोज्य धूमसतेवत’ (मुखुत)। इनको इनहेलर्स (Inhalers) या रेस्पिरेटर्स (Respirators) कहते हैं।

अलादूक्षयन्त्राणि—ये बन्द दुष्टरक, विपूलित रक, क्षीण गत शब्दादि निकालने के लिये प्रयुक्त होते हैं। इनका कार्य धूरण द्वारा होता है और यह चूपण सुख से ही किया जाता है। यथा—‘कार्याच्छिदे वर्तमानं चीर फ्रेटमलादि वा। शुणेगापद्वर्दीमान्’ (मुखुत)। **श्वासन्त्र—**‘अद्युत्तुलास्त्र भवेच्छा चूपेऽङ्गादाशुलम्। अप्य सिद्धार्थकच्छिद्ध मुनद्व चतुर्काषण्टि’॥। **अलादूक्षयन्त्र—**‘स्वाददाद शाशुणेऽङ्गादुनहि लक्ष्मदाराणुन्। चतुर्स्वयुलुत्तात्प्री दीरोऽन्त-फ्लरक्षुदृ’॥ (अ. हृदय)। आधुनिक शब्दचिकित्सा में भी फोड़े-कुन्नियों में से दुष्टरकादि हुपित भाग निकाल देने के लिये अलादूक और श्वक की भाँति कपिंग ग्लासेट (Cupping glasses) का उपयोग द्वागा करता है। परन्तु मुखचूपण में सहारा हीने के कारण यह चूपण का कार्य रुक्क बाल (Suction balls) द्वारा किया जाता है। इन दो यन्त्रों के सिवाय बाम्बट ने चूपण के लिये शटीन्त्र का निरैप किया है—‘तद्रूप्ती वित्तु-गुल्मिल्योन्मने च स’। चर्क (गुल्मचिकित्सा) में इस घटी का उपयोग गुल्मचिकित्सा के लिये कहा है। अलादूक तथा घटी में चूपण मुखद्वारा नहीं होता है। कारण, यह बन्द एकमुल होते हैं। इनके भीतर प्रतीप लगाकर चूपण का कार्य किया जाता है। इस के विवरण के लिये सूखस्थान अ ३३, सूत्र ७ की दिप्पणी देखें।

उपर्युक्त अर्गेंमन्दरादि यन्त्रों के अतिरिक्त बाम्बट में निझ नाईयन्त्र अधिक मिलते हैं। (१) कण्ठाल्यावलीकिनी नाई (Throat Speculum)—‘दशाशुर्णेनाहन्त कण्ठ शल्यावलीकने। नाई पचमुखिद्वा चुरुक्कीस स्त्रों शाराण्य द्विकार्यस त्रिभिद्वा तदस्मान्त’॥ (२) श्वलनिर्यातिनी—‘पू-म-कृष्णवाया मूर्खे सूखी दासराजुला। चतुर्थुष्टिरा नाई श्वलनिर्यातिनी मत्त’॥ (३) अगुलियाक—यह बन्द हस्तिदृत या लकड़ी का होता था और रोपी का मुख खोलते समय दर्ती से अगुलि का रक्षण करने के लिये प्रयुक्त होता था—

‘अगुलियाक दान बाई वा चतुर्हालम्। दिनिर्द गोस्तनका तदवशिष्टौ मुखन्’॥ ऐप्रेती में अंगुलियाक को किंगर गा (Finger guard) कहते हैं। मामूली भलमूथ तथा पूर्वरक्षा दृष्टिपदार्थों से अंगुलियों की रक्षा करने के लिये आधुनिक शब्दचिकित्सा में अंगुलियाक की भाँति मुलायम गोस्तनाकार बड़ के पदार्थ प्रयुक्त होते हैं। उनको किंगर स्टाल (Finger stall) कहते हैं। (४) शामीयन्त्र—यह बन्द अर्थात् सए प्रयोग होता है परन्तु इसमें छिद्र नहीं रहता है। इस के उपयोग अर्थ पर दबाव द्वालने के लिये होता था। ‘रामास्त्राद्युच्छद दन्तमरी प्रीडनम्’। (५) प्राणादुरासोवन्त्र—नास रिप्त अंडेर अर्थ पर दबाव द्वालने के लिये इन नाईयन्त्र का उपयोग होता था। ‘प्राणादुरासोवन्त्रित्रा नदृष्ट गुच्छा’। प्रदेशीयप्रीडाहा स्वद्भवदत्तवत्॥ आधुनिक बन्द संभार में नेकल स्पेक्यूलम (Nasal Speculum) ऐसा है होता है। परन्तु उसमें पक्क (Handle) द्वारा परिणाह छोटा और भोटा करने का प्रयोग होता है। (६) शेनिवरेश्वर्यन्त्र—योनि के अस्थंतरीय प्रदेश का निरीक्षण करने के लिये इसके उपयोग होता था। यह नाईयन्त्र एक तरफ तुकीला और दूसरे तरफ चौड़ा होता है। इसकी दीवाल चांडीं में विभृत होती है और ये छण्ड एक तरफ बलय के साथ लगे हुए रहते हैं। प्रयोक लेन्ड के साथ एक शालाका (Lever rod) लगा हुई रहती है और इनके ऊपर दबाव द्वालने से मुकुल सहज चूपण का मुख विकसित होता है—‘शेनिवरेश्वरेश्वर्य में सुन्दर यण्णन की रोड़ है—‘व्यय यन्त्रस्य कल्पयता चतुर्दि लण्डाता तथा वार्षणि तथा मुद्रिकया द्वारा निरिति च पश्चमुकुलाकासुसा, अन्तरसुपिरा, पश्चमुलरिणादवती नाटी स्थान्। तततत्त्वमध्ये प्रत्येक छण्डमल्ल चतुर्ल शलाका भासुराद् सविदेश शलाकाना मध्यमगे तथा नीत्याद् वथा शलाकामूलीडेन दन्तस्य मुख विकसेत्’। पाञ्चाल्य वैद्यकीय परियामा में शेनिवरेश्वर दन्त की ‘इजायनल स्पेक्यूलम’ (Vaginal Speculum) कहते हैं। ये स्पेक्यूलम अर्थात् न्यन्त्र की भाँति वृत्त (यथा Feng-usson's Speculum), द्विभिन्न (यथा Cusco's Vaginal Speculum), और चार्टमिन्स (Allingham's Speculum) होते हैं। वाम्बटोल शोनिवरेश्वर यन्त्र आधुनिक चतुर्मित्त इजायनल स्पेक्यूलम के साथ यहुत कुछ सादाय रहता है।

श्वलाकायन्त्राणायपि नानाप्रकाराणि, नानाप्रयो-जनानि, यथायोगपरिणाहीर्याणि च; तेऽपां गर्व-पदसर्पक्षवायादपुहुषविद्यशमुखे द्वे द्वे, एषल्यवृह-नव्यालनाद्वारयार्थमुपदिश्येते; मस्तूरदलमात्रमुखे द्वे किंचिदानताये ज्ञोतोगतश्वल्योद्वरण्यार्थः पद कार्पा-सहृदीर्षीयाणि, प्रमार्जनकियासु, श्रीणि द्वर्व्यहृतीनि खलमुखानि, तारौपद्यप्रणिधानार्थः श्रीण्यन्यानि जाम्बववदनानि, श्रीण्यकुशवदनानि, पदेष्वास्त्रिक-मैस्त्रमित्रेतानि; नासादुर्द्वारण्यार्थमेकं कोलास्त्रिधल-

मात्रमुखं वल्लतीक्ष्णोष्टमः—अङ्गनार्थमेकं कलायपरि-
भरहृलमुखयनो मुकुलाद्यं; मूलमार्गविशेषधनार्थमेकं
मालतीपुष्पबृन्तमप्रमाणपरिमग्नुलमिति ॥१३॥

शलाका वद्य भी अंगेन प्रकार के होते हैं, अंगेन कामों में
आती हैं और प्रयोगन के अनुसार मोटे तथा लंबे होते हैं।
उनमें केंचरे के समान मुखयाली वो शलाकाएँ होती हैं, जो
पृथग के काम में आती हैं। दो सौंप के राश के समान मुख
बाली होती है, जो घृणन के काम में आती है। दो शलाकाएँ
घणमूल के समान मुखयाली होती हैं, जो चालन के काम में
आती है। और दो शलाकाएँ वडिग (अंकड़ा) के समान मुख
याली होती हैं, जो आहरण के काम में आती है। मनुर दाल
के समान मुखयाली किञ्चित् तीव्र यी और मुड़ी हुई दो
यालाकाएँ होती हैं, जो स्तोत्रोगत वद्य निकालने के काम में
आती हैं। ८) शलाकाएँ सूर्ख ने मिर लिपटी हुई होती हैं, जो
(मणादि) पौधने के काम में आती हैं। तीन शलाकाएँ निश्च
मुख बाली (देखने में) कलर्डी के समान होती हैं, जो क्षार
व्यापथ पहुँचने के काम में आती हैं। दूसरी तीन शलाकाएँ
बासुन फल के समान मुख याली और तीन अंगुश्च के समान
मुखयाली होती हैं। ये छहों शलाकाएँ असिकर्म में उपयोगी
होती हैं। देंटे वेर की आधी गुड़नी के समान मरम्बाली
किञ्चित् निश्च तथा तीक्ष्ण किनार की एक शलाका होती है, जो
गामस्थियत अवृद्धादिक का आहरण करने के काम में आती है।
वीच में मटर के समान गोल मोटी और दोनों ओर पुष्प
फलिका के समान पतली घेसी एक शलाका होती है, जो नेत्रों
में अञ्जन ढालने के काम में आती है। नालती पुष्पबृन्त
(हैंडल) अग्र के समान गोल मोटी एक शलाका होती है, जो
मूलमार्ग के विचारण के काम में आती है ॥१३॥

वच्चद्य—गण्डपदादि—यहाँ मुख वद्य का गण्डपदादि
प्रत्येक के साथ संवैध समझना चाहिये जिससे गण्डपदमुख,
सर्पकणामुख हृत्यादि वद्य बन जाते हैं। इन गण्डपदमुखादि
चारों शलाकाओं का एकान्दिकर्म यथासंख्य समझना चाहिये।
वामपद में भी इन शलाकाओं के ये ही विशेष कार्य वतलाएँ
गये हैं। वहाँ सर्पकणादि तीन शलाकाओं का निर्देश आकार
के अनुसार यंकुके नाम से किया है। यथा—‘शक्तुः पट’।
हारणचंद्र की सुश्रूतसंहिता में ‘गण्डपदशरुपसर्पकणविश्यमुखे
देहे’ ऐसा पाठ स्वीकृत किया है और टीका में लिखते हैं—
एषाणादिकर्मेण यथायोगमेव वोच्य न तु यथासंख्यम् । परन्तु गण्डपद-
मुखी शलाका से आहरण का कार्य और सर्पकणमुखी शलाका
से अन्वेषण का कार्य ठीक नहीं हो सकता है। अतः इन
शलाकाओं का कार्य यथासंख्य समझना ही अधिक प्राप्त है।

गण्डपदमुखी—गण्डपद कंचवा (Earthworm) को कहते
हैं। इस कृमि का मुख जैसा थोथा होता है, वैसा इस
शलाका का भी होता है। मुख स्थूल इस उद्देश्य से रक्खा जाता
है कि वण नादी हृत्यादिक का अन्वेषण करते समय शलाका
से किसी प्रकार की पीड़ा न होने पावे। अंग्रेजी में गण्डपद-
मुखी शलाका को ‘ब्लन्ट प्रोब’ (Blunt probe) कहते हैं।
इसकी मोटाई और लंबाई यथायोग समझना चाहिये।

**मर्मगलगुरी—सौंप के फण के समान चौड़ा और चपटा
मुख जिसका है।** एक शलाका की लंबाई सौलह अंगुल और
दूसरे की बारह अंगुल होती है—‘उन्होंने नौपा दोशादाक्षाऽग्नुलै।
गृनेडिप्पाक्षावनो’। (अ. हृदय)। वाधुनिक यन्त्रसंभार में
भिन्न भिन्न प्रकार के रिट्रैक्टर्स (Retractors) का सादृश्य
सर्पकणवलाका के साथ होता है।

शयुषागुरी—गरमुख वायामूल को कहते हैं। एक शयुष्मू-
शलाका दम अंगुल लम्बी और दूसरी बारह अंगुल लंबी होती
है—‘द्वी दशादाप्यादग्नुलै। चालने शयुषादास्यौ’। (अ. हृदय)।

विद्युषुरी—विडिग; मस्त्य पकड़ने का लोहे का आंकड़ा,
रास्मान वद्यमुखी शलाका। अंग्रेजी में विडिगमुखी शलाका
को हुक (Hook) कहते हैं।

एषणवृहनादि वद्यों के वर्ण आगे सूत्र १६ में चन्द्र कमी
का धर्णन करते समय दिये गये हैं।

गण्डवृहनादि—सुख नासा कर्ण इत्यादि खोतों के शब्द
निकालने के लिये इसका उपयोग होता है। एक शलाका
आठ अंगुल और दूसरी शलाका नव अंगुल होती है। ‘क्षोत्रभ्यः
शन्मार्गरिणी। गण्डवृहनादि देव सानामग्रन्थयांगुलै’। (अ० हृदय)।
कापोतकृष्णीपाणि—इनका उपयोग गुड, कर्ण और नासा गत
घण के पूयस्ताव पौधने के लिये तथा क्षारप्रयोग करने के
पश्चात् पौधने के लिये होता है—‘विग्नप्रणहेदक्षारप्रमाणन-
क्षियानु’। (अ० संग्रह)। इनमें से गुड के लिये दश और बारह
अंगुल की दो, नासा के लिये छ: और सात अंगुल की दो और
कान के लिये आठ और नव अंगुल की दो होती हैं। कापोत-
विद्युषीपाणि: शलाका: पट प्रगार्नेते। पायावासदादूरार्थे देव दशदादासांगुले।
देव पदसप्तांगुले प्राणे देव कणेष्टनवागुले ॥। (अ० हृदय)। अंग्रेजी में
इनको स्वाय प्रोब (Swab probes) कहते हैं।

वद्यमुख—‘वद्यमौपपमर्दनपात्रगिव मुखं वेषाम् तानि तथोक्तानि’
(हाराणचन्द्र)। इनकी लंबाई आठ अंगुल की होती है, निश्चता
और मोटाई कनिष्ठिका अनामिका मत्त्यमा अंगुली के नव
समान यथाकम होती है—‘क्षारविषेषप्रयोगिप्रणिपानाय च द्वयेत्तिस्त्रो-
द्वांगुला दर्याकाराः कनिष्ठिकानामिकामत्यमांयुलिनप्रयोगिणानिम्न-
मुखास्तायाऽलिङ्गस्थानाः’। (अ० संग्रह)। अंग्रेजी में इनको स्पून
(Spoon) कहते हैं। अंजलिसंस्थाना:—(Spoon shaped)।

असिकर्म—अंग्रेजी में इसको कोटरी (Cautery) कहते हैं।

नासार्तुदरणार्थग्—इस शलाका को अंग्रेजी में नेसल क्युरेटी
(Nasal curette) कह सकते हैं। वामपट में इस शलाका
का आकार वेर की गुड़नी के समान और कार्य नासागत
अंग्री तथा अंगुद का दहन वतलाया है—‘कीलस्थिदलतुल्यस्या-
नासाशौद्धुददाहकृत्’।

वद्यनार्थम्—अञ्जन के लिये जो शलाका होती है वह मूदु,
आठ अंगुल लंबी, वीच में किञ्चित् पतली, दोनों ओर मटर के
समान मोटी, परंतु सुकुल समान अग्रवाली होती है—‘वक्त्रयो-
सुकुलाकारा कलायपरिमण्टला। अथाइगुला तनुमैये सुकुला साधुनियहा’॥
(सु. उत्तरतन्त्र अ. १७)। लेखन, रोपण, भसादन के अनुसार
यह भिन्न भिन्न पदार्थ की बनाई जाती है—‘प्रशस्ता लेखने तात्री,
रोपणे काललोहजा। अद्यगुलीव सुवर्णोत्था रूप्यजा च प्रसादने ॥’
(चन्द्रतन्त्र)। मूलमार्गविशेषनार्थम्—मूलमार्ग च लेखन—

के लिये । चरकमहिता में दृष्टवल ने उत्तर यस्ति देने के पासे शुलाका से मूत्रमार्ग का अन्वेषण करने के लिये कहा है—“न यो मुखोपविष्ट्य इष्टं नेत्रे प्लानिने । शासयन्विष्ट्य गर्नि यद्यपिहिता बजेद् ॥ त्वं शेष्यमाणेन पुष्पनेत्रं प्रोत्तेनेत्रं ॥” (सिद्धिस्थान अ १) । अप्री में मूत्रमार्गधियोगक शुलाका को “युत्रेश्वल साउन्दर्या वृत्ती” (Urethral sound or Bousie) कह मर्ते हैं ।

मार्गभट ने उपरोक्त शलाकाओं के अतिरिक्त निम्न शलाकाओं का वर्धिक वर्णन किया है।

(१) गर्भाद्वय—यह शब्द मूदगम्भी का पिरोविद्यारण करने के पश्चात् आहरण करने के लिये प्रयुक्त होता था। इसकी स्वर्णाद अन्य शब्दों की भाँति दस से सोलह अंगुल होती है। ‘नेतोऽप्ये रहुनु तुम्ही गर्भाद्वयरिति स्मृतः । भट्टाचार्यवालेन मूदगम्भे रंद्रलिपिः ॥’ अंग्रेजी में गर्भ आहरण के इस वन्द्र को ब्लन्ट हुक पन्ड कोषेट (Blunt hook and crotchet) कहते हैं ।

(१) लाठेशुद्धि—इसका उपयोग अस्त्री हाथ के लिपें होता था। सुश्रुत में वर्णिये इसका स्वतंत्र बर्णन नहीं है तथा परिवर्तनी के शास्त्रकर्म में ‘अप्रवक्त’ नाम से इसका निर्देश किया गया है—‘यथा च न गिरेन न चूष्येन वा तथा प्रयेन चूर्जस्त्रयमप्रवक्तिस्थानं दि पुन परिवृद्धिमेति, तत्साकृ त सप्तस्त्रयमप्रवक्तिस्थानं’॥ अप्रवक्ता में अस्त्रीहाते शलाका को लिखीटीमी स्फूर्त (Lathotomy scoop) कहते हैं।

(३) वर्णोदीपनयन—वर्णोदीपनयनमध्यत्वप्राप्त लक्षणम् । हस्यन्द्र को 'हाइटर स्कूप' (Ear scoop) कह सकते हैं । कर्णोदीपिकिस्टो में शलाका द्वारा काग का मल निकालने के लिये मुश्तुत और चक्रद्रु में लिखा है—'कर्णोदीपिद्र दर्तनाम वीट हैमलादि वा । मृगेयापारदीमानथवापि शलाक्या' ॥ (सुनुर) ॥ 'कुदितिवा तु तेलेन स्त्रेन प्रविलाय्य च । शोभयेत् वर्णगृह्ण तु मिप्पासन्यक शलाक्या' ॥ (चक्रद्र)

(४) शय्यहसुखन्त्र—यह यन्त्र चार अंगुल लंबा होता है और इसका उपयोग दाँत निकालने के लिये किया जाता है। इसका उपयोग और आकार आधुनिक दृश्य एलिवेटर (Tooth elevator) के साथ मिलता है। 'शय्यहसुख दल प्रतीक चतुर्भुजम्'।

(५) अर्पेन्डुमी शलाका—इस शलाका का उपयोग वृक्षजाग्रत्य औरबृद्धि (Bubonocele) की चिकित्सा में दहन कर्म के लिये होता है। यथापि इस शलाका का स्पष्ट निर्देश यन्त्रविधि अवश्य में नहीं मिलता है तथा परि औरबृद्धिचिकित्सा में इसका नाम आया है—“द्रव ता बटकुण्डाम ता दीर्घेन्दुवलवता। सम्भदमार्गीर्थेतर्यै कौशलाता तु कैव्येत्” (सु. वि. अ १०)। इसका वर्णन अर्थात् हृदय में ऐसा किया है—“शलाकाभन्नत्र खींति। मध्योच्चुत्तदात् च मूले वार्षितुलविभागम्”। अष्टावर्गमध्ये में भी औरबृद्धिविधिकिसा में अर्पेन्डुमी शलाका का उपयोग इहन की के लिये बतलाया है। इसलिये निर्जयसागर भूमुखस्तं हिता की टिप्पणी में अर्पेन्डुमी के लिये द्रृप (Truss) जो झोपीनी प्रतिवर्ष दिया है, वह प्रयत्न नहीं हो सकता।

उपर्युक्ताण्यपि रज्जुयेणिकापृष्ठचर्मान्तर्वलकल
लिखिताद्युम्भुत्तपाणिप्रदत्तलाङ्ग लिखिताद्युम्भुत्त-

नरमुखगलायकटकशारस्त्रीयनप्रवाहृयहर्योयस्ता
न्त्वमयानि ज्ञापमिमेषजानि चेति ॥१४॥

उपर्यन्त भी (१) रघु, (२) वेणिका, (३) पट, (४) चंदे
 (५) गलवैष्णवल, (६) लगा, (७) वाम, (८) अशीलास्म (९)
 मुद्रा, (१०) पापिंगल वादातल, (११) अद्युति, (१२) विहा
 (१३) दन्त, (१४) नस, (१५) मुख, (१६) थाल, (१७) अब
 कटक, (१८) शाला, (१९) हीवन, (२०) प्रवाहण, (२१) हृं
 (२२) अयस्कान्त, (२३) तार, (२४) अस्ति, (२५) भेद
 (हस्त प्रकार पश्चीम होते हैं) ॥१॥

**यत्तद्य—उपर्यन्—यन्त्रमसीपर्वतान् हीनवन्तु उपभिन्नि
यज्ञेरिष्युपूर्वम् पि ।** जो काम-पठने पर कहै जगह यत्र का
युग्महरण का कार्य करते हैं अथवा यत्र की क्रियाओं से
सहायता करते हैं, ये सब उपर्यन्त कहलाते हैं । इसलिये उपर्युक्त
पूर्वम् उपर्यन्त्रों के सिवाय अनेक उपर्यन्त हो सकते हैं । वामप
में डालन, काल, पाक, भय ये चार उपर्यन्त अधिक दिये हैं ।

पान—दूसरका उपयोग तिरपनमान का बहुत कठन है। लाल बढ़करने के लिये होता था। चारक और मुश्तुक में आंश्र क उपयोग नहीं दिखाई देता है। अष्टांग संग्रह और छद्य में हृ का प्रथम उपयोग आया है—“मन्त्र मेसारीना शुक्कानवद् शूद्धयान् रशज्जेशनन्तर् मस्तमितिविपलात्पु बुजने”। (धार्मटार्म कीमुसीरी)। आयुर्विक शशधिकिया में भी शुक्कानव का उपयोग सोने के लिये (Suture material) तथा रक्तसंतन वे लिये (Ligature) होता है। इसे क्याट गट (Catgut) कहते हैं और यह बकरी के ही आंत से विशेष पद्धति द्वारा बनाया जाता है।

राजु—सूख या दोरी—क्षारयुक्त सूखी का उपयोग है इन तथा भेदन के लिये होता था। 'इत्यादुवैलभीहृणा नाडी मर्माक्षिणा च च'। क्षारयुक्त तो छिन्नाद्रुतं शलं तुद्विद्रुतं॥ (सुशुत्र)। 'मात्रिण रजनीर्घीरूपं स्तुषीक्षीरे उन् उन्। बन्धनात् शुद्धं रसं विनिःस्वरूपं गन्धर्म'॥ (चक्रदत्त)। इसके सिवाय सर्पविपचिकित्सा में भी दशस्थान के ऊपर धाधने के लिये राजु का उपयोग होता था—'सा तु रजादिमिर्चादा विपचिकित्सा मता'। (सुशुत्र)। वित्तिका का भी यही उपयोग होता था।

बह—यानस्थान में वाँधने के विविध आकार के बह। अंग्रेजी में इनको बैंडेज (Bandage) कहते हैं। इनका विचार यादों अंडारकर्के अवस्थाएँ में विस्तृत रूप से किया गया है।

बने—चर्म का उपयोग बनन के सिमें होता था। गुरुभैश
में चर्म का गोकावय प्रयुक्त होता था—‘उत्तरेण शुद्ध रिक्त स्नेह
प्रयुक्त प्रसेपयेत्। कर्वेद् गोकावय मज्जित्तेऽनेचर्मणः॥’ (सुषुन)।
अथवा, अस्मी, भगवन्द, सिरायथादि शशकम्भी में रोगी को
स्तंभर बधने के लिये चर्मपट का उपयोग होता था।
प्राचुनिक शखिकिञ्चा में भी अर्थभगवदादि गुरुसमीकर्त्ता
एकलिया के समय पाँच के निश्चल करने के लिये चर्मपटी
(Lathotomy straps) का उपयोग होता है। इनके
स्वाम रघुवेशिका की भाँति सर्पदग्ध में बधने के लिये भी
चर्मपट का उपयोग होता था—‘दशावोदरि नवीदावर्ष्टा चुद
दृश्यते। पोतचमन्त्रवस्त्राणा चुदनाम्यनमेत च’॥ (सुषुन)। गलीदर

में जल निकालने के पश्चात् उदरवंधन के लिये चर्चमपट का उपयोग होता था—‘निशुते च देषे गाढतरमाविकक्षोरेयचर्मणामन्य-प्रमेण परिवेष्टेदुर्त तथा नाधापयति वायुः’। (सुश्रुत)। भिज्ञ भिज्ञ वस्तियन्त्रों के लिये भी चर्चम का उपयोग होता था।

भन्तर्वल्ल—इनका उपयोग अस्थिभग्न की चिकित्सा में कुशा (Splints) बनवाने के लिये होता था—‘मध्योदुम्बाराश्वस्य-पलाशकुभत्वचः । वंशसर्ववानान् वा कुशार्थमुपसंहेरत्’॥ (सुश्रुत)।

वल—रज्जु, वैणिका और चर्चम का उपयोग जिन कामों के लिये होता था, उन कामों के लिये वल का भी उपयोग होता था।

बष्टीलाश्म—‘दीर्घवर्तुलपापाणः’। एक विशेष प्रकार का पथर। इसका उपयोग अस्थिगत शल्य निकालने के समय शल्य पर प्रहार करने के लिये तथा हस्ततल अस्थिभग्न की चिकित्सा में होता था—‘अस्थिदेशोरुंटितमधीलाश्ममुद्राणामन्यतमस्य प्रहोरेण विचाल्य यथामार्गेव’। (सुश्रुत)। ‘प्राग्नोमयमय पिण्डं धारयेन्मृमयं ततः । हस्ते जातवले चापि कुरुत् पापाणवारणम्’॥ (सुश्रुत)।

मुद्रा—इनका भी उपयोग अष्टीलाश्म की भाँति अस्थिशल्य निकालने के लिये होता था।

पाणिपादतलायुदि—हाथ सर्व यन्त्रों में प्रधान है, यह पहले ही वलाया जा चुका है। इसके सिवाय चिम्लापन के लिये, ग्रासशल्य में आधात करने के लिये, अस्थिभग्न और गंग में हड्डी ठीक करने के लिये हाथ प्रयुक्त होता था। अस्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुना वा शनैः शनैः । विमदयेद भिपक्ष गश्तलेनांगुष्ठेन वा’॥ (सुश्रुत)। ‘ग्रासशल्ये कण्ठासक्ते स्फ्न्ये सुष्टिनाभिन्नात्’ (सुश्रुत)। ‘कौपर तु तथा सन्धिमंगुष्ठेनानुमार्जयेत्’ (सुश्रुत)। ‘व्यातानने हनु खिलामंगुष्ठाभ्यां प्रयीच्य च । प्रदेशिनीभ्यां वैत्यम् चित्कोक्तमनं द्वितम्’॥ (चरक)। पांच का उपयोग अस्थिशल्य निकालते समय हड्डी पर दबाव देने के लिये होता था—‘अस्थिविवरप्रयिष्टमस्थिविदृष्ट वाऽवगृष्ण पादाभ्यां यन्त्रेणापहेत्’। (सु.)

जिहा—इनका उपयोग रोगी की परीक्षा के लिये होता है—‘सर्तेन्द्रियविशेषाः प्रमेहादिषु रसविशेषाः’। (सुश्रुत)। परंतु जिहा का उपयोग अप्रत्यक्ष चींटी आदि द्वारा करके अनुमान से रोग परीक्षा करनी चाहिये—‘रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैपयिकम-यनुमानादवगच्छेत्’। (चरक)। नेत्रगत शल्य भी जीभ से निकाला जाता है।

दन्त—हस्तिदन्त। इनका उपयोग अशोयन्त्र, अंगुलिकाणक इत्यादि यन्त्र बनवाने के लिये होता था। इसके सिवाय चंगस्थान में रोम उत्पन्न करने के लिये इस का उपयोग होता था। ‘हस्तिदन्तमसीं छत्वा मुख्य चैव रसांजनम् । रोमाण्य-तानि जायन्ते लेपात् पाणितेष्वपि’॥ (सुश्रुत)।

नख—इनका समावेश अनुशर्ण्यों में भी किया गया है। दृश्य शल्य आहरण के लिये नखों का उपयोग हमेशा होता है इसलिये इनका समावेश अनुशन्त्र में किया है। इसके सिवाय शब्दक्रिया के समय त्वचा के भिज्ञ भिज्ञ पर्त स्वतंत्र करने के लिये भी इनका उपयोग होता है।

मुख—मुख का उपयोग प्राचीन काल में मुख्यतया चूसने के लिये (Suction pump) होता था। आज कल जहाँ चूसने की आवश्यकता होती है, वहाँ रवड़ के चूपक गेंद (Suction Balls) प्रयुक्त होते हैं। वाल—घोड़े के तथा

मनुष्यों के केश। इनका उपयोग ब्रण सीने के लिये, चिर शल्य की चिकित्सा में, तथा कण्ठस्थ शल्य निकालने के लिये होता था। ‘सीव्यत् सुक्ष्मेण संहेन, सायवा वालेन वा पुनः’। (सुश्रुत)। ‘शिरोपहृते शल्ये बालवत्ति प्रवेशयेत्’। (सुश्रुत)। ‘अस्पिशल्य-मन्यद्वा तिर्यक्कण्ठासक्तमवेष्य केशोण्डुकं दृढैकस्त्रवदं द्रवभक्तोपहितं पाययेत्……शल्यैकरेसासकं शात्वा शाखासृतं सहसा त्वाक्षिपेत्’। (सुश्रुत)। आज भी सीवन द्रव्यों में (Suture material) घोड़े के केशों का समावेश होता है और कण्ठासक्त शल्य निकालने के लिए घोड़े के केशों का बनाया हुआ यन्त्र प्रयुक्त होता है। उसे (Probang) कहते हैं। इसके सिवाय प्राचीन काल में अपरा पातन के लिये केशवेष्टित अंगुलि द्वारा कण्ठप्रमार्जन करने की प्रथा थी—‘अवापराऽपत्त्वानाहास्मानौ द्वुरते, तस्मात् कण्ठमस्याः केशवेष्टित्याऽद्गुल्या प्रमुगेत्’। (सुश्रुत)। अथवाक्य और शाखा—इनका उपयोग अस्थिगत शल्य निकालने के लिये होता था—‘पञ्चाद्यामुसंसंतत्सायाश्वस्य वक्त्रकाटिकं वस्त्रीयात् । अथैनं करया ताड्येश्योत्तमवन् शिरोवेगेन शल्यमुद्रतः; दृढां वा वृक्षशालामवनम्य तस्यां पूर्ववद्वद्व्योद्देत्’। (सुश्रुत)। धीवनम्—भेषादिनिरसनम्। मुख से श्वेष्मा लाला इत्यादि थूकना। इससे मुख और गाले में उपश्चित हुआ शल्य बाहर निकाला जाता है। प्रवाहण—कूंथना, वात मूत्र मल और गर्भ का संग जिस समय होता है तब प्रवाहण से फ़ायदा होता है—‘वातमन्त्रपूरीपर्गम्भेसंगेषु प्रवाहणमुक्तम्। (सुश्रुत)। किंवा चमन विरेचन अशुप्रवर्तनादि द्वारा आमाशय, आन्त्र और आँखों का शल्य निकालना यह भी प्रवाहण का अर्थ हो सकता है। हर्ष—रोगी की चित्तवृत्ति प्रसन्न और हर्षित होने से शस्त्रक्रिया करने में सुभीता होता है तथा शस्त्रक्रिया हो जाने के पश्चात् ब्रण का रोपण जल्दी होकर रोगी भी जल्दी सुधरता है, इसलिये हर्ष का निर्देश किया है—‘हृष्वस्थितमनेक-कारणोत्तम शोकशल्य हर्षेण’। (सुश्रुत)। ‘सुहृदो विशिष्टन्तश्च विधार्भिणवेदनाः । आशासवन्तो वहुस्त्वत्तुकूलः प्रियेवदः ॥……सम्पदाथत्तुकूलभिः कथाभिः प्रीतमानसः । आशावान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं सुखमवान्तुयात्’॥ (सुश्रुत)। चागभट ने हर्ष के साथ भय का भी निर्देश किया है। डर के मारे शरीर की सारी पेशियाँ शिथिल हो जाती हैं जिससे श्वासक्रम करने में, शल्य निकालने में, दृटी दुई हड्डियाँ ठीक करने में सुभीता होता है। दात्व अस्पताल में जब रोगी श्वासक्रम के पहले बहुत शोर-गुल मचाता है तब उसको कभी भीति दिल्लाने के सिवाय दूसरा मार्ग ही नहीं होता है। कभी कभी उसको मारने की भी आवश्यकता होती है। इससे रोगी श्वासक्रम का हुँक सहन करने के लिये तैयार होता है। उन्माद, हिङ्गा रोग भीति से एकाएक दूर हो जाते हैं। इस कारण से लिखा है—‘भद्रहर्षै शरीरस्य सद्सा भावान्तरमुत्तायन्तो यन्त्रकार्यं कुलतः’। (चागभटार्थकौमुदी)। अयस्कान्त—इसे चुंबक कहते हैं। अंग्रेजी में इसे लोडस्टोन (Loadstone) कहते हैं। यह एक खनिज लोहे का भेद है और इसमें लोहे के आर्कियन करने की शक्ति होती है। इसलिये इसका उपयोग लोहशल्य निकालने के लिये होता था। ‘अनुलोममनवद्वद्वार्णमन्त्वप्रणमुखयस्कान्तेन’। (सुश्रुत)। आद्यनिक शस्त्रचिकित्सा में नेश्चित लोहशल्य (Iron filings) निकालने के लिये कृत्रिम अवस्थान्तर का उपयोग करते हैं।

इसका विपुल चुदक (Electro magnet) कहते हैं। भविष्यार—इनका समानवय अनुग्रहस्त्री में भी किया गया है। इनका विशेष विवरण एकादय और द्वादश अध्याय में किया गया है। ऐप्र—इसमें शब्दक्रिया भूमत्या विशेषिक्षा में उपयोगी आपधियों का समावय और शब्द का कार्य (यथा दारण आपधियाँ) करने वाली आपधियों का समावय हाता है। इनका वर्णन मिथक अध्याय (सूत्रस्थान अ ३७) में किया गया है।

एतति देहे सर्वेन्मिन् देहस्थापयते तथा ।

सधौ कोष्ठे धमन्या च यथायोग प्रयोजयेत् ॥१६॥

इन सब यत्त्रां और उपयत्त्रां का सर्व गरीर में गरीर के किसी विभाग में संविकार धमनियों में जहाँ जहाँ जिसस कार्य मिल हो वहाँ वहाँ उपका उपयाग वर ॥१५॥

यच्छक्तमाणि तु—निर्घटनपृथग्याधन यूहनव तेनचालनविवर्तनविवरणपीडनमागविशेषधनविकृष्ट गोहरणाभ्युद्योधमनविनमनम अनोन्मथनाचूपसैपण दारणर्जुकरणप्रकालनप्रधमनप्रमार्जनानि चतुर्विश्वाति ॥१६॥

यत्त्रों के कार्य मी (१) निर्घटन (२) पृथग (३) वधन (४) व्यूहन (५) वर्तन (६) चालन (७) विवर्तन (८) विवरण (९) पीडन (१०) मार्गविवेषन (११) विकृष्ट (१२) आहरण (१३) आन्द्रन (१४) उपमन (१५) विनमन (१६) भनन (१७) उपमध (१८) आचूपण (१९) एपण (२०) दारण (२१) कर्जकरण (२२) प्रकालन (२३) प्रधमन (२४) प्रमार्जन (इस प्रकार) चारींम होते हैं ॥१६॥

घच्छद्य—निर्घटन—मुद्रर पापाणांसि स आधान करना (Hammering)। इससे निर्हण अथ समझने की आपश्यकता नहीं है। आग विकृष्ट आहरण कर्म स्वतत्र दिये हैं। पृथग—नेत्रवनिह द्वारा गुद यानि वृण इत्यानि में आपधियों का भरना। वधन—रुग्मिका चर्मपटादि में वाधना (Bandaging)। व्यूहन—शब्द निरिक्षण या निकालने के लिये व्यूह के किनारों का स्वीचना (Retraction)। दृष्ट्यामतानुमार ऊर्ध्वरण दिल्लोतितसोऽरुणार्थम् । यह अर्थ अप्रश्न मालाम होता है। कारण व्यूहन के लिये सर्पकण्यलक्षण का उपयोग बतलाया गया है। हातरणकद्य के भागतुरुल 'भूष्मनु भूष्मनास्वर्तीन' सम्बन्धम् । यह अर्थ अस्मरीचिकित्सा की ही से योग है। कारण यह है कि बहाअ अस्मरीसम्बन्ध के लिये सर्पकण्या का उपयाग लिखा है—तमात् सम्लग्नवृत्तवायान्ति । गणनाय सन के अनुमार गर्भांशी भवित्वीकरण वर्तन—फूल हुए वर्ण को दूरी हुई हड्डी को तथा गरीर क अथ इत्यान्त हुए अवयव की व्यापरण स्थापना (Replacement)। इह के अनुमार—विहृतम् वर्तुकरणम् । चालन—एक स्थान से दूसरे स्थान छ जाना या शब्द का चलायन करना। हातरण द्रव के अनुसार गलती स्थान में अटके हुए शब्द को निकालना 'गलातवत्तदा निराल्पार्नामपलवनम् । विकृन—वैत्र से पकड़ के एंटकर शब्द को निकालना। विवरण—नारीवाणि धाव क मुह को सोन इत्या (D latation) । पीडन—यथागत पृथकावादि निकालन के लिये अंगुष्ठ तथा आपधियों द्वारा द्वाना। मार्गविवेषन—मस्त मूत्रा

दिक्क व अवराय में गलाका के उपयाग से मार्ग का खालना। विकृन—विशुष कर्मण् । पकड़ के बाहर सीच इना (Extremit on)। आहरण—ग्राम्यत शब्द का बाहर इ आना। आस्टन—सत्त्वचित अंग वा स्वीचना (Extens on)। उत्तमन—अध्यस्थित शब्द या हड्डी आदि का ऊपर करना (Elevation)। विनमन—उमरी हुई हड्डी आदि की नीच द्वाना (Depression)। भनन—शब्द का चमड़न करना (Crushing)। आपुनिक शब्दक्रियिका म अस्थरी का आहरण भनन करक ही हाता है। इस विधि का लियाई (L hotry) कहत है। उम्मन—शब्द ज्ञान करन क लिय गलाका द्वारा विज्ञान करना (Sound ng)। भावूपन—मुख या शह द्वारा वात दुष्ट रक्त स्थान आदि को चूसना (Suct on)। एपण—नाडि विशिक्षण के अन्तर मांग का अवश्य बरना (Probing or Exploration)। गरण—विविल्यादि दारण द्रवों का प्राप्त करक पक शोष का फोडना। दृष्ट्यामतानुमार—शरणार्दिप्रियकरणम् । कर्जकरण—सरल करना। प्रवालन—निम्ब प्रिकला आदि के काष से ब्रान्दि धाना। प्रधमन—नासा कण्ठदि में नारी की सहायता से ओपथि चूर्चू झूक देना (Insufflation)। प्रमार्जन—अंगुली वज्र थल इत्यादि स पोछ क साफ करना।

स्ववृद्ध्या चापि विभेदयच्चकर्माणि द्विदिमान् ।

असर्त्येयविकल्पत्वाच्छल्यानामिति निश्चय ॥१७॥

शब्द अस्त्य आकार क होते हैं। इस कारण स बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि वह अपने बुद्धिश्वर से (आवश्यकता के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार क) यत्र तथा उनके कर्म निर्माण कर ल। यही (यत्र और उनके कर्म यही सम्मान के संबंध में) निश्चय है ॥१७॥

घच्छद्य—थ वन्न—थ वन्न च कम च तानि यत्र तथा कर्म। इति निश्चय—दृष्ट अध्याय में यत्र और उनके कर्म का वर्णन तथा सत्या बतलाई गई है। वह केवल इनकी असहेयतानिश्चय है निश्चितिर्थक महीं समझना चाहिये। इन्हिने आषाङ्गसम्बद्ध में लिखा है—वन कर्मवशात्तेवामिवदावधारणवल्यम् ।

तथ अतिस्थूलम् असारम् अतिदीर्घ्यम् अतिस्थूलम् अप्राहि विप्रमार्हदि धन शिथिलम् अनुधात, मृदुकीड मृदुमुख मृदुपाशमिति डादश यथदोषा ॥१८॥

यत्त्रों में (निश्च) द्वारण वाय हात है—(१) अतिस्थूल (२) असार (३) अतिनिर्ध (४) अतिदीर्घ्य (५) अप्राहि (६) विप्रमार्ह (७) वक (८) शिथिल (९) अनुधात (१०) मृदुकीड (११) मृदुमुख (१२) मृदुपाश ॥१८॥

घच्छद्य—अर्दांगस्थूल में यत्त्रों के केवल आठ शेष अनलाये हैं—दीर्घस्थूलनुवक्षिप्तमास्यान्तिविलाप इति भट्ट वन्नाता। असार—द्वयका अर्थ दृष्ट्य के अनुसार अनुद साह में देना हुआ है—अनुदवाहान्प्रियटि। दृष्टा दूसरा अर्थ हल्का या तनु भी हाता है। करर वामपट के अनुसार जो आठ अन्तर्गत बतलाये हैं व और सुनुत क पहर आठ दोर मिल जात हैं। केवल असार के स्थान में यामा न तनु

शब्द का प्रयोग किया है। इसलिये असार और तनु दोनों शब्द पर्यायवाचक समझने में कोई आपत्ति नहीं है। वैसा भी असार का अर्थ तनु या दुर्वल होता है—वहनामयसाराणा यावयो हि दुर्जयः। इसके सिवाय दीर्घ, हस्त, स्थूल, तनु, क्वाहि, विषमप्राहि—इन युगमों में भी तनु शब्द ठीक बैठता है। हारणचन्द्र के अनुसार असार का अर्थ ‘कालेन लीपी दुरुपाशाने च’ है। परन्तु यह अर्थ थोड़ा अप्रशस्त प्रतीत होता है। क्योंकि यहाँ निर्दिष्ट किये हुए दोष नये यन्त्रों की वजावट के हैं अर्थात् नये यन्त्र निर्माण करते समय टालने के लिये निर्दिष्ट किये हैं। विषमप्राहि—यात्यवस्तु के एकदेश में पकड़ने वाला और दूसरे देश में न पकड़ने वाला—‘एकतो गृहणात्यन्तो नेति’ (इन्दुटीका)। वक्त—अनावश्यक स्थान में टेढ़ा किया हुआ। शिथिलता—जो दीला पकड़ता है। अत्युच्चत—जिस यन्त्र के कील कण्ठ या स्कन्ध प्रदेश में न होकर किञ्चित् ऊँचे मध्य प्रदेश के तरफ लगे हुए हैं। इससे लिवरेज (Leverage) कम होता है। जिससे यन्त्र समग्राहि होते हुए भी शब्द पकड़ते समय अधिक आयास पढ़ता है। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जिसके कील वाहर आये हुए हैं।

मृदुकील—मृदु का अर्थ वारीक या कमजोर। जिस यन्त्र के लिये खण्ड आपस में कमजोर कील से जुड़े हुए हैं। इन में से यथा चार और सातवां दोष सर्व प्रकार के यन्त्रों के लिये लागू होते हैं और वाकी स्वस्तिक यन्त्रों के लिये विशेषता लागू होते हैं। पृष्ठदोर्पैर्विनिर्मुक्तं, यज्ञमप्रादशाङ्कुलम्।

प्रशस्तं भिषजा द्वयं तद्वि कर्मसु योजयेत् ॥१९॥

इन ऊपर लिये हुए (द्वादश) दोषों से विरहित, अद्वारह अंगुल दीर्घ यन्त्र वैद्य को श्रेष्ठ समझना चाहिये ॥१९॥

वक्तव्य—अष्टादशांगुलम्—यह अंगुल प्रमाण विशेष करके अन्तिक यन्त्रों के संबंध में समझना चाहिये—‘तत्र स्वस्तिक-यन्त्राणि—अष्टादशांगुलप्रमाणानि’। कारण यह है कि शब्दाहरण में विशेष यन्त्रों का ही उपयोग अधिक होता है।

दृश्यं सिंहसुखाद्यैस्तु गृहं कङ्कमुखादिभिः।

निर्हरेत्तु शनैः शल्यं शा(शा)खयुक्तिव्यपेक्षया ॥२०॥

शल्य और युक्ति दोनों का उपयोग करके जो शल्य वाहर होता हो, उसे सिंहसुखादि यन्त्र से निकाले और जो गहरा होता हो, उसे कङ्कमुखादि यन्त्र से निकाले ॥२०॥

वक्तव्य—सिंहसुखादि—सिंहसुखादि पहले नव स्वस्तिक यन्त्र। कदम्बयादि—कदम्बयुख से लेकर अंतिम पंद्रह यन्त्र। योग्या—उपयोग, आलोचना या विमर्श। सिंहसुखादि यन्त्र स्थूल सुख होने के कारण उनका उपयोग प्रायः दृश्य शल्यों में होता है। कदम्बयुख तनुसुख होने के कारण उनका उपयोग भी तर होता हुए अदृश्य शल्यों में होता है।

निविदि वर्तते साध्यवगाहते च,

शल्यं निगृहोद्धरते च यस्मात्।

यन्त्रेष्वतः कङ्कमुखं प्रधानं

स्थानेषु सर्वेष्वधि(वि)कारि चैव ॥२१॥

श्विति सुशुस्तंहितायां स्वस्त्रान्ये यन्त्रविधि-

नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

कङ्कमुखयन्त्र (शब्दाहरण की दृष्टि से) सर्व यन्त्रों में प्रधान है। क्योंकि वह धाव में अच्छी तरह प्रविष्ट होता है, शब्द पकड़ कर र्हींच के बाहर शीघ्र निकल आता है तथा सर्व स्थानों में भी उसका उपयोग होता है ॥२१॥

इति भास्त्ररथमणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुवेदरहस्यदीपिकायां सुक्षुभापायीकायां यन्त्रविधिर्नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातः शस्त्रावचाररणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से शस्त्रावचारणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—शस्त्राणामवचारणसुप्रयोगो यस्तिन्द्रायेऽस्ति स शस्त्रावचारणीयः। जिस अध्याय में शस्त्रों को काम में लाने की विधि वर्णन की है, वह अध्याय शस्त्रावचारणीय कहलाता है।

विशितिः शस्त्राणि । तद्यथा—मण्डलाग्रकरपत्र-वृद्धिप्रबन्धशस्त्रमुद्द्रिकोत्पलपत्रकार्धधारसूचीकुश-पत्रांतीमुखशरारिमुखान्तर्मुखत्रिकूर्चककुठारिकावी-हिमुखारवेत्सपत्रकवडिशदन्तशब्दकेपण्य इति ॥२॥

वीस शब्द होते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) मण्डलाग्र, (२) करपत्र, (३) वृद्धिपत्र, (४) नखशस्त्र, (५) मुद्द्रिका, (६) उत्पलपत्र, (७) अर्धधार, (८) सूची, (९) कुशपत्र, (१०) आटीमुख, (११) शरारिमुख, (१२) अन्तर्मुख, (१३) त्रिकूर्चक, (१४) कुठारिका, (१५) वीहिमुख, (१६) आरा, (१७) वेत्सपत्रक, (१८) विंशिति, (१९) दत्तशंकु, (२०) एपणी ॥२॥

वक्तव्य—विशितिः—यह शब्द शस्त्रों का प्रकार निर्देशक है, कुल संख्या निर्देशक नहीं है। क्योंकि मण्डलाग्र, वृद्धिपत्र, सूची इत्यादि शब्द दो दो तीन तीन होते हैं। इन शस्त्रों के नाम बहुधा आकार के अनुसार रखते गये हैं—तेपां नामभिरवाकृतयः प्रयोगं व्याख्याताः ।

(१) मण्डलाग्र—जिसका अग्रभाग गोल होता है, उसे मण्डलाग्र कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—यद्यपि मण्डल वृत्तं छुरसंस्थानेव वा। (डल्हण)। दो मण्डलाग्रे ये प्रोत्ते एक वृत्तमुख तयोः। तीशांशारं दृढं कार्यमेतत्त्वं क्षुराकृति ॥ (भोज)। एक वृत्तमुख और दूसरा क्षुराकार। वाग्मट में इसका वर्णन ‘तज्जन्यन्तर्साकृति’ ऐसा किया गया है। इसके अनुसार मण्डलाग्र शंकाकृति होता है। इसका उपयोग अर्म, पौथकी, मिराजाल इत्यादि अनेक नेत्ररोगों की चिकित्सा में तथा गलशुणिङ्का, अधिजिह्वा में तथा मूढगर्भ की शख्चिकित्सा में होता है। इन विधियों को देखकर यह अनुमान होता है कि मण्डलाग्र शस्त्र कई प्रकार का छोटा तथा मोटा होना आवश्यक है। इसके स्वरूप के विषय में भी आधुनिक पण्डितों में मतभिन्नता पाई जाती है। यथा—Circular knife, Round head knife, Razorlike roundheaded knife, Decapitating sharp knife, इत्यादि LOVE BY Avinash/S

(३) दसद-‘बाटेरैप्रियत्वं दसद् द्रापीति वायपम्’ (हारा-
पाचान्)। यह दसप्र संवाहै में दसद्गुल (मुगुल), दसद्गुल
(वामपट), दसद्गुल (भोज) होता है—दसदग्नी कापत्र तु
मस्तक दसद्गुलम् । इन्हें दसद्गुल मन्त्रल सुलापवनम् ॥
(वामपट)। दारागुरुपर्यं दसद्गुल चविकसन्तरम् । दसप्र चित्तनीया
दिवाग्नैप्रियनन् ॥ (भोज)। इममा मुख्य उपर्योग अस्त्रियोदयन
है जिसे होता है । अधेनी में करपत्र की धोन सा (Bone
saw) कहते हैं ।

(३) यूटिपर—यूटिनामह ओपरेशन के आवाह का विषय गद्द का पत्र होता है, परं यूटिपर बहुत है। इसके दो भेद होते हैं। १ प्रदानाम, २ अभिनाम। इन में से जो प्रदानाम यूटिपर है, उसी की द्वारा कहते हैं—मनोवाक्य प्रयोग यूटिपर हुआ है। अत यह 'युटिपरिस्ती' (वि ग्र १) इवाच्यर्थात् धुमेशनवचन दुरुप्रभव है। (चक्र)। इन्हें अभिनाम की द्वारा भानता है—अन्योन्यन्यप्रयोग यूटिपर हुआ है। हालांकांड के अनुग्रह जिस गण का पत्र पवास चाहिए होता है, परं यूटिपर है—यूटिपर दिः यूटिपराम्भन मार्गि ऐसे व्यक्ति के पास स्थित तरु यूटिपरम्। इस की सीधाई सारा अगु—गाहु पाँच अंगुल तून और दो अंगुल छन-हाँसी है—सर्वांगुल तून बने गांठांगुल कल्प। यामट ने यूटिपर का बोलन ऐसा किया है—यूटिपर युत्पावर द्वयेतत्त्वान्। कल्पांगुले हाथ गर्वे च तत्त्वाण। तत्त्वा वृष्टन्। इन में प्रदानाम यूटिपर का यादव 'स्फारिस या विगेसिटा नाहूहा' (Spherical Dissecting knife) के साथ और अभिनाम—यूटिपर का कर्वेड विस्तुरी Curved Bistouri) के साथ होता है। इस यूटिपर का उपयोग विद्युती चिरने के लिये, घग्गे के बाप काटने के लिये, गुलारांग में व्यथा विश्राम लगाने के लिये तथा मेंसोन्डि (Elephantiasis of scrotum) में पाठन करने के लिये होता है।

गहरोग के सिवाय हसका उपयोग मूढगम्भीरण के लिये होता था—गङ्गामुक्तिशास्त्री तत् कर्म प्रशस्तने । विकल्पी नौ मूढे शस्त्राणेऽहं ॥ (वामट) । अप्रेती मैं हसको दिखानाहूँ (Finger kniffo) कह सकते हैं ।

(४) उत्तराध्र—इम शब्द के फल का आकार नील कागनद समान, तीन अंगुष्ठ सेवा और एक अंगुष्ठ चीड़ा होता है—
इनमें प्रथम दो हाथाधर सारादिस् । इनमें प्रथम इनमें प्रथम
पदकम् । तत्त्व अयुग्मायाम कामयुक्तिस्त्रृश् ॥ द्वितीय में इसमें
हान्जेट (Jancet) का सकने है ।

(९) भर्तीर—इस शब्द की कुन संवार्द्ध आठ अंगुष्ठ होती है। परं दो अंगुष्ठ होता है और उसी के आधे भाग में सीधापार होती है। अपेक्षा तु कथ्य इसमें लुकायन्। उररंगुनविल्ल
एवं तद घुरुल भरेत्॥ (मोत्र)। कुउ सोग इमहो व(व)क्रपार
भी कहते हैं। पामट ने इसको 'अपर्याप्त' कहा है। इसे
अनुयाय इसकी धारा आया से अधिक चल में होती है—
अविस्तारी धारा दार तद अपर्याप्तम्। कुउ सोग अर्पणार का अर्थ
जिमके फल में केवल एक तरफ धारा (Single edged) ही
पेमा कहते हैं। पह एक महार का नाईक (Aniso) है।

(c) छाई—सूची सीन प्रकार की होती है— 1 दो अंगुष्ठ सीढ़ी भींग गोप, 2 तीन अंगुष्ठ सीढ़ी भींग लिपारी, ३ एवं ४ दो समान देढ़ी आकार वाली। इनका एक अप्रभावित तीण भींग तृतीया अप्रभावित शूलग के लिये पाण्युक्त होता है। उपर्युक्त तीन प्रकार आकार के अनुसार बोलते हैं वे बल जाते हैं—गोप और बद। अप्रभावी में सूची को 'नीडल' (Needle) कहते हैं। याउनिह शतपरिचिना में सीखत के लिये सीत प्रकार की सूची व्यवहार होती है—(१) सरल (Straight) गृषी, (२) घटव्युत (Half curved) गृषी, (३) प्रवृत्त (Fully curved) गृषी। सूची का वर्गन आगे पर्यामें अध्याय में दिया गया है।

इतने प्रियाय शुभपूर्ण में पायायी गमनक एक वर्षोंपर शुभी का लिटरेचर वर्षय (Literature) हरार अंगौरो का लिम्बुन करने के दिये दिया है। अंगौरद्वारा ऐसलिए शुभे शुभे लिप्ये परे। न इव विद्वान्वर्तमानिष्ठा का समाज। शुभे शुभे अंगौरद्वारा लिप्ये द्वारा द्वारा॥ (थि. म १२)।

(२) कुपार-देवता के गमन इकाई एवं अंग संस्कृते
में अनुष्ठान होती है। अंगीकारी में इकाई गमन देवता का
एक ही विषयी (Page & Amala or Bistbury) के गमन
होते हैं।

है। एपगी के छुल सीन कार्य होते हैं—१ अन्वेषण, २ भेदन, ३ आनुलोमन। अन्वेषण के लिये गण्डपदाकारमुखी एपगी च्यवडूत होती है। इसका समारेण शलाका में किया गया है। भेदन या भेदनरूपक अन्वेषण के लिये तीक्ष्ममुखी एपगी चाहिये। इस तीक्ष्ममुखी पृष्ठगी का समावेष वहा शस्त्र में किया है। इसकी लवाइ जाठ अगुल होती है और पीढ़ी सूत के लिये पाया होता है—भेदनप्रैजरा शीमुख मृदनिश्चल। (वाम्बट)। इसका उद्देश अन्वेषणरूपक भेदन या भेदनरूपक अन्वेषण होता है। इसको अप्रेसी में 'शार्प प्रोब' (Sharp Probe) या 'नीडल शेपेड प्रोब' (Needle Shaped Probe) कह सकते हैं। एपगी का लीसरा कार्य आनुलोमन (Directing) होता है। इस काम के लिये जो एपगी उपयोग में आती है, उसे अप्रेसी में डायरेक्टर (Director) कहते हैं। भगवन्द्र की शशक्रिया में जो एपगी का निर्देश-एपगी दत्ता शब्द पातेत्—किया है, वहाँ आनुलोमक एपगी (Probe Director) समझना चाहिये। शशक्रिया के समय आनुलोमक एपगी का उपयोग करने से व्यणगति के अनुसार भेदन होता है तथा शरीर के अन्य अग पर शश का आवात होने का भय नहीं होता है। शश की भावि शूत का भी अनुलोमन करने के लिये पाश्चात्य शस्त्रों में कुछ आनुलोमक एपगी प्रयुक्त होती है—यथा हरिया दायरेक्टर (Hernia Director), अन्यूरिकम नीडल (Aneurysm Needle) इत्यादि। इन का भी समावेश हस्ती प्रकार के एपगी में करना चाहिये।

उपर्युक्त थोस शस्त्रों के सिवाय वाम्बट में निम्न शश अधिक वर्णन किये हैं—१ सर्पर्ख—यह शश नासाकर्णेश्वर अर्थ तथा अर्धुल छेदन के लिये होता है। इसका फल वर्धान्तुल होता है—सर्पर्ख वक्रमध्येत्तुल ब्रानकार्गोर्डुल्यन्दनार्थम्। (अ० सम्भृ)। २ लिङ्गानाशवनी शलाका—ग्रासिलाका द्विमुखी सुधे दुरुक्षकृति। सुश्रुत में भी उत्तरत-न्प्र में लिङ्गानाशवनी के समय एक प्रकार की शलाका वर्णन की है—व्याघ्र लायन मध्ये सूतेण परिवेण्टित। अगुप्तपर्वमिता वक्तव्योमकुलाकृति। ताम्रादी शाकौम्भी शलाका स्वादिनिदित्ता॥ (अ० १७)। अंग्रेजी में लिङ्गानाशवनी शलाका की 'क्याटाराकट नीडल' (Cataract Needle) कहते हैं। ३ कुचं—४ शूत—इनका वर्णन त्रिकूर्चक शश के साथ किया गया है। ५ कंती—इनका वर्णन त्रिकूर्चक शश का साथ किया गया है। ६ कंवेशनशूल—अष्टांग संप्रह में कंवेशनशूल नामक वेवल एक शश वर्णन किया है—कंवेशन अगुलायनमुकुलपिर षण शूपिकामुद्दलप्र॒। परन्तु अष्टांगहृदय में पतली कर्णपाली के लिये एक और मोटी कर्णपाली के लिये दूसरा शश वर्णन किया है—१ अन्वेषण कर्ण पालीना शूपिकामुकुलानर्थम्। (२) बहलायाश शशते। शूची शिखांग शुपिरा 'यदुल कर्णेश्वली'। सुश्रुत में शालक के कर्णेश्वन के समय तनुपाली के लिये शूची और कटिनपाली के लिये आरा का उपयोग करने के लिये लिखा है—प्रत्यक्त सूचा, बहलायाश। वाम्बट ने वर्णये एवं शस्त्रविवेष कंवेशन के लिये वर्णन किये हैं तथापि शालक के कर्णेश्वन के लिये सुश्रुत के ही अनुसार शूची और आरा का उपयोग करने के लिये लिखा है।

तत्र मण्डलाद्यकरपत्रे स्यातां छेदने लेखने च, वृद्धिपत्रनशास्त्रमुद्दिकोत्पलपत्रकार्धाराणि छेदने भेदने च, सूचीकुशपत्राटीसुपत्रशारारिसुक्षान्तर्मुख त्रिकूर्चकानि विश्वावने, कुठारिकादीहिमुखारावेत सपत्रकाणि ध्यथने सूची च, बडिंशं दन्तशङ्कुश्चाहरणे, एपण्येष्ये आनुलोम्ये च, सूच्यः सीमने, इत्य एविधे कर्मण्युपयोगः शशाणां व्याख्याताः ॥३॥

इन शस्त्रों में से मण्डलाप्र और करपत्र छेदन और लेख के काम में आते हैं, वृद्धिपत्र, नलशब्द, मुद्दिका, उत्पलपत्र और अर्थधार छेदन और भेदन के काम में आते हैं, सूची कुशपत्र, आटीमुख, शरापिसुल, अन्तर्मुख, त्रिकूर्चक विश्वावन के काम में आते हैं; कुठारिका, शीहिमुख, आरा, वेतसपत्र तथा सूची वेष्ठन के काम में आते हैं, बडिंश और दन्तशङ्कुशाहरण के काम में आते हैं, एपण्यी एपण और आनुलोमन के काम में आती है, सूची सीवत के काम में आती है, इन प्रकार आठों प्रकार के कामों में शस्त्रों का उपयोग किया जाता है ॥३॥

बृक्षद्य—इस सूत्र में भिन्न भिन्न शस्त्रों के कार्य वर्णन किये हैं। विश्वावन—हूस से यहाँ रक्तविश्वावन विशेष करने प्रव्याप्तन समझना चाहिये। मृदुत्रुद्धि पा जलोदर से जलविश्वावन का अर्थ यहाँ अभिव्रत नहीं है। विश्वावन का यह अर्थ करने के कारण ही त्रिकूर्चक का अर्थ ट्रोकार किया गया है। अटाह्न-समग्र में इन शस्त्रों का कार्य प्रस्ताव ही लिखा है—कुशपत्रदीनि पत्र प्रस्तावने। आहरण—बडिंश का समावेश यन्त्रवर्ग में भी किया है और वहाँ उम्मका कार्य आहरण बतलाया है। शशवर्ग का बडिंश त्रीशाप्र होने के कारण आहरण की अपेक्षा वेष्ठ पैंच प्रहण का कार्य इससे अधिक किया जाता है—बडिंश समाहित, विशेषावलवित। (सुश्रुत)। वाम्बट ने भी बडिंश का कार्य प्रहण ही लिखा है—प्रहणे शुषिकागिर्दिनिश्च सुनतानन्। (अ हू)। बडिंश प्रयोगे। (अ स)। इसलिये आहरण से निकालना (Extraction) तथा वेष्ठपैक पकड़ के रखना (Fixation) ये दो अर्थ समझना चाहिये। ऐसे आनुलोम्ये च—हृस्त्रा विश्वावन पीछे एपगी के, वर्णन में किया गया है। आनुलोमन का अर्थ दृष्टण के अनुसार विश्वावन होता है—आनुलोम्यन विश्वावनमेवेत्तम् नन्त ऋकुपत्र, कलात्, ऋकुलस्त्र शशकम्पर्त निर्दित्वात्। हाराणवन्द आनुलोम्य का अर्थ जैसा उत्तर बतलाया गया है, वैष्णव करते हैं—आनुलोम्ये तेषावेत देशमुक्ते देशमुक्ते, त एव देशपूर्वमारिणा शशेण वयाक्षमामूल छियने, वृहत्ति च 'एपगी' दत्ता शस्त्र पातेव्।

तेषामथ यथायोगं ग्रदेशसमासोपायः कर्मसु व्यक्षते—तत्र वृद्धिपत्रं शून्तफलसाधारणे भग्ने गृहीयादेवनान्येव सर्वाणि, वृद्धिपत्रं मण्डलाद्यं च किंचिवुचानेन पाणिना लेखने वहृशो ध्यवर्य, शून्तपत्रे विश्वावनानि, विशेषेण तु थालवृद्धसुकुमार-भीद्यनारीणां रादां राजुप्राणां च त्रिकूर्चवेत विश्वायेत्, तलमध्यादित्वृन्तमहूप्रदेशिनीश्वर्णी

वक्तव्य—कुण्ड-स्थलधारायुप, अरोमवाही । स्वत्वा—कर्णधार, दाँतयुक । तदि स्वत्वात्—‘आदर्शीत’ इत्यज्ञापात् ।

तब धारा मेदनानां भासूरी, लेखनानामर्धमामूर्ती, व्यथनानां विक्षावणानां च कैरिकी, छेदनानामर्धकैरिकीति ॥८॥

मेदन शर्कों की धारा मसूर के समान, लेखन शर्कों की अर्धमसूर के समान, व्यथन और विक्षावण के शर्कों की केष के समान और छेदन के शर्कों की अर्धकेष के समान धारा होनी चाहिये ॥८॥

वक्तव्य—मासूरी—मसूरदलसंग तन्त्री । ऐसी—वेश-प्रमाणा तन्त्री । अद्वाहसप्राह में छेदन शर्कों की धारा अर्ध-कैरिकी के शान में भासूरी करने के लिये लिखा है—धारा उनखेदनाना भासूरी ।

वटिंशं दन्तशुकुञ्ज्यानतोमे । तीक्ष्णकर्णकमथम्-यथपत्रमुख्येपरी (गण्डूपत्रकारसुखी च) ॥९॥

वटिंश और दन्तशुकु दोनों आगे मुड़े हुए होते हैं । तीक्ष्ण कंटक के समान मुखवाली, पव के प्रथम पत्र के समान मुख बाली और कंटुओं के आकार के समान मुखवाली (ऐसी तीन प्रकार की) पृष्ठी होती है ॥९॥

वक्तव्य—सारी—तीन प्रकार की पृष्ठी का वर्णन पीछे हो जुका है । कुठ लोग तीक्ष्णकर्णकमुख वटिंश का विशेषण और प्रथम यथपत्रमुख दन्तशुकु का विशेषण मानते हैं । उनका पाठ ऐसा है—वटिंश दन्तशुकुशनतये तीक्ष्णकर्णकमथमयपत्रमुख, एवंगण्डूपत्रकारसुखी । हाराणचन्द्रसमत पाठ भी ऐसा ही है ।

तेपां पायना त्रिविधा द्वारोदकतैलेषु । तब चारपायितं शरशल्यास्थियच्छेदनेषु, उदकपायितं भांसच्छेदनमेदनपातनेषु, तैलपायितं सिराव्यधन-आयुच्छेदनेषु ॥१०॥

शर्कों पर पानी चढ़ाने का काम तीन प्रकार से होता है—क्षार से, जल से और तैल से । उन में से क्षार द्वारा पानी चढ़ाये हुए शर्कों का उपयोग व्याशायत्री और अस्थि काटने के काम में करना चाहिये । जल द्वारा पानी चढ़ाये हुए शर्क मास छेदन, भेदन और पाठन के काम में लाने चाहिए और तैल द्वारा पानी चढ़ाये हुए शर्क स्त्रिवेष तथा शायुदेन के काम में लाने चाहिए ॥१०॥

वक्तव्य—पायना—शस्त्र तैयार करने के पश्चात् उसकी धारा कठिन करने के लिये सन्तास अवस्था में भिज्ञ भिज्ञ प्रकार के द्रवों में उत्सर्जना होनामा । भिज्ञ भिज्ञ द्रवों का धारा पर विशेष प्रभाव पहता है, तिससे वह अपना कार्य करने में अधिक समर्थ होती है—निहृताना रान्धाणी तलक्षणादवद्वयेष निवर्णिण पायना । सा च तदद्वयभावात् कर्मविरोत्कर्त्ती भवति । (हाराणचन्द्र) । पायन द्वयेष तैयारणे शिविनां पापा । (इन्दु) । ऐमेंट्री में पायना को टेम्परिंग (Tempering) कहते हैं । चन्द्र चक्रवर्णी (Ancient Hindu Medicine) पायना का अर्थ जीवाणुनाशन (Sterilization) समझते हैं । परन्तु क्षपर अहास्त्रेमं दीक्षाकार इन्दु तथा हाराणचन्द्र के अनुसार

१ ऐसी तीक्ष्णकर्णकमथमयपत्रमुख, एवंगण्डूपत्रकारसुखी

जो अर्थ दिया गया है, उससे तथा संदर्भ के अनुसार भी पाप का अर्थ जीवाणुनाशन करना अवश्यर्थ प्रतीत होता है ।

सेपां निशानार्थं शुचेष्टिला मापवर्णी, धारा संस्थापनार्थं शालमलीफलकमिति ॥११॥

उन शर्कों की धारा तीक्ष्ण करने के लिये उद्दृढ़ के रूप के चिक्की शिला होनी चाहिये और धारा की तीक्ष्णता काप रखने के लिये शालमली शूल का फलक होना चाहिये ॥११॥

वक्तव्य—निशानार्थं—धारा उत्तेजित या तीक्ष्ण करने के लिये । इसके लिये जो शिला होती है, उसे निशातनी (Wheel stone) कहते हैं । इस शिला पर कुण्डित शर्कों को वर्णणद्वारा तीक्ष्ण किया जाता है । तपश्चात् उस धारा को अधिक स्पष्ट और मृदु करने के लिये शालमलीफल का उपयोग होता है ।

इस प्रकार धारा को अधिक स्पष्ट और मृदु करना, इसका अर्थ धारासंस्थापन है । हसकी अमेजी में स्ट्रॉपिंग (Strapping) कहते हैं । धारासंस्थापन का कार्य केवल सीक्षण धारातुर शर्कों पर होता है । यदि धारा कुण्डित हो तो प्रथम निशातनी पर तीक्ष्ण करना चाहिये । सुखुम में इन शर्कों को रखने के लिये किसी कोण का वर्णन नहीं किया है । परन्तु धारभट ने इनके लिये एक ग्रस्तकोण का वर्णन किया है—स्वाम्बांगुल विस्तार शुपनो द्वारायुल । क्षीमपत्रोर्णेष्येषुकुम्भुकुम्भं ॥

विन्यतापाणि शुक्ष्म सान्तरोग्यास्यासाक । शलकापविदितास्वश शश बीज सुनचय ॥ शस्त्रकोण की ऐमेंट्री में सर्विकल हन्द्मेन्ट केस (Surgical Instrument Case) कहते हैं ।

भवति चाष्र—

यदा सुनिशितं शख्यं रोमच्छेदि सुसंस्थितम् ।

सुशृद्धीतं प्रमाणेन तदा कर्मसु योजयेत् ॥१२॥

(शस्त्रकर्म करने के दूर्व) निशातनी पर वर्णण से जब यस शाल काटने में उत्तम प्रकार से समर्थ हो जाता है, तब उसकी योग्य स्थान में पकड़ कर काम में लाना चाहिये ॥१२॥

वक्तव्य—यह स्लोक बेवल उन शर्कों के संरक्ष में लागू हो सकता है, जो ऐन और भेदन का कार्य करते हैं । परा—वृद्धिपत्र, मण्डलाप इत्यादि । रोमच्छेदि—रोमवाहि ऐसा भी पाठ है । धारभट में रोमवाहि शब्द प्रयुक्त किया है । इसका अर्थ लंबा के शाल मूदूने में समर्थ ऐसा है । यह शस्त्रधारा की अन्तिम मर्यादा है । इतनी तीक्ष्णता उत्पत्त होने के समय तक निशातनी पर यस वर्णण करना चाहिए । प्रमाणेन—प्रमाणेन द्वृग्युतिमिति । जो प्रमाण ऐसी है तो वामपथ द्वयाग्निश्चलनसातीयत कर्त्तु वशेषे । इस चौंते स्त्रै में वर्णन किया है, उसके अनुसार प्रहण करते । दलण प्रमाणेन का अर्थ तेसी निरालैक्षण्याद्वये है इस पायवे स्त्रै के अनुसार करता है । सुशृद्धीत का अर्थ उत्तर प्रमाणेन का जो अर्थ दिया है, वैसा करता है । अन्य होण द्वृग्युति का अर्थ उपमुक्त उत्तम सूल से तुकू करते हैं ।

अनुशास्त्राणि तु त्वशसारस्फटिककाचुरुविन्द-
जलोकाइक्षास्त्रास्यगोजीशफलिकाशाकपत्रकरी-
यालाहुलय इति ॥१३॥

वाँस, स्कटिक, काच, कुरुविद, जोंक, अस्ति, क्षार, नस, गोजी, शेफालिका, शाकपत्र, करीर, वाल और अंगुलियाँ ये अनुशस्त्र हैं ॥१३॥

चक्कव्य—अनुशस्त्राणि—स्वयं शब्दन न होते हुए भी जो एत्र का कार्य कर सकते हैं, वे अनुशस्त्र होते हैं—अशकाप्येव रसलक्ष्मी कुर्वन्तीयनुशस्त्राणि । (इन्दु) । अथवा शरसदृशानि—अनुशस्त्राणीति साहश्येऽन्यथीभावः, ततो अर्थापन्न, शरसदृशा-नीत्यर्थः । (हारणचन्द्र) । कुरुविन्द—एक अत्यन्त कठिन प्रकार का पापाण । इसे अंग्रेजी में कोरंडम (Corundum) कहते हैं । इसका दूसरा अर्थ लोहिताश्मरदभेद पश्चान्तरमणि या माणिक है । इसे अंग्रेजी में रग्बी (Rugby) कहते हैं । त्वक्सार—त्वचि सारोद्यसां त्वक्सारः, वंश या वाँस । इसका उपयोग त्वचा का छेदन भेदन में होता है । परंतु इसका विशेष उपयोग अस्थिभ्रम में कुशा (Splints) के लिये किया जाता है । गोजी-गोजिहा (Elephantopus Seaber) या शास्त्रोक्त सिहोरावृक्ष (Streblus Asper) । शेफालिका-निर्गुडी (Vitex Nigundis) या पारिजातक (Nyctanthos Abortifacientis) । हिन्दी में इसे हरसिंहार कहते हैं । शाक-सागवान का वृक्ष (Tectona Grandis) गोजी, शेफालिका और शाक नों के पत्रों का उपयोग होता है । जलौका, अस्ति और क्षार नका संपूर्ण वर्णन त्रयोदश, द्वादश और एकादश अध्याय में होता है । क्षार और अस्ति का समावेश अनुशन्त्र में भी होता है । इसका कारण यह है कि क्षार का बाल तथा गम्भतीय उपयोग करने से चर्मकील, तिलकालक, अस्मरी, किंवा हृत्यादि शब्दों का हरण होता है और अस्ति का उपयोग इन से कण्ठासक्त जाहुपादि शल्य का हरण होता है । अचू-प्रथा में समावेश करने का कारण यह है कि श्रेद्धभेदादि कर्म अस्ति और क्षार से किये जाते हैं—देवभेदलेख्यकरणात् । वाल—इसका उपयोग धंधन (Ligature) द्वारा काटने के लिये होता है । विशेष करके यह पद्धति अर्थ, चर्मकील, मशक हृत्यादि के संवंध में प्रयुक्त होती है । करीर—अंकुर । हारणचन्द्र करीर से तीक्ष्णकंटक युक्त मृदेशास्थ करीर वृक्ष के कट्टक समझता है—करीरो मरभूमिज़: कण्ठकिवृक्षविशेषः । तस्य कण्ठकामन ग्राम् । परंतु नीचे सुश्रुत के जो अवतरण दिये हैं, उनके अनुसार करीर का अर्थ उद्दिञ्ज के कोमल नाल या अंकुर समझना अधिक प्रयत्न है—एव्यषेषण्यलाभे तु वालांगुल्यहुकुरा हितः । यहाँ अंकुर शब्द करीर के स्थान में प्रयुक्त हुआ है । नाडीवानान् शाल्यगर्भानुन्मार्गुत्सक्षिनः शनैः । करीरवालांगुलिभिरपण्या वैष्णेद्विष्कृ ॥ नेत्रवर्त्मुत्तुराम्भासनान्दयोऽवकावसारोणिताः । चुन्तुगोपदकैः शङ्खैः करीरपेत्तु ताः ॥ चरक में भी उद्दिज्ज मृदुनाल की सहायता से उद्दिद्दमृदुभिन्नातः—एपण करने के लिये लिखा है ।

शिशूनां शस्त्रभीरुलाणां शस्त्राभावे च योजयेत् ।

त्वक्सारादिचतुर्वर्गं छेद्ये भेद्ये च बुद्धिमान् ॥१४॥

आहर्यच्छेद्यभेद्येषु नखं शक्येषु योजयेत् ।

विधिः प्रवद्यते पश्चात् ज्ञारवहिजलौकसाम् ॥१५॥

ये स्वर्मुखगता रोगा नेत्रवर्त्मगताश्च ये ।

गोजीशेफालिकाशाकपत्रैर्विस्तावयेत् तान् ।

एव्यषेषण्यलाभे तु वालांगुल्यहुकुरा हितः ॥१६॥

यालकों और शस्त्रों से ढरने वालों के लिये तथा जब यस न मिले, तब बुद्धिमान् वैष्ण त्वक्सार, काच, कुरुविन्द और स्कटिक—इन चार अनुशस्त्रों को छेदन और भेदन के काम में लाये ॥१४॥ आहरण, छेदन और भेदन के कामों में जहाँ हो सके वहाँ नाखून से काम कर ले । क्षार, अस्ति और जोंक हनके उपयोग की विधि इसके पश्चात् वर्णन की जायगी ॥१५॥ मुख में और नेत्रों की पलकों में उत्पल हुए रोगों का विचारण गोजी शेफालिका शाकपत्रों से करें । एप्यकर्म में एपणी न मिले तो वाल, अंगुलि और अंकुर (एपण के लिये) प्रगत होते हैं ॥१६॥

चक्कव्य—प्रारंभ के श्लोकार्थ में अनुशस्त्रों का उपयोग करने के तीन समय बतलाये हैं । तत्पश्चात् भिज भिज अनुशस्त्रों के कार्य वर्णन किये हैं । विचावयेत्—गोजीशेफालिकादि बृजों के कर्कशपत्रों द्वारा धर्यण करके रक्त आदि निकाला जाता था । मुखगत रोग—संरोध्योभयतः कार्य शिरधोपकुर्ये तथा । काकोदुम्बरिका-गोजीपैवैक्षावेदत्तरु ॥ नेत्रवर्त्मगत रोग—ततः प्रमृज्य प्लोतेन वर्त्म शस्त्रपदाक्षितम् । लिखेच्छेत्रेण पत्रैः (शेफालिकादीनां) वर्षा ॥ (सुश्रुत) । एप्यलाभे—चरक में दो प्रकार की एपणी वर्णन कर अंकुर मृदुनालादिक का उपयोग उत्तान घ्रणों के अन्येषण के लिये कहा है—द्विविभाषेणां विद्यान्मूर्तीञ्च कठिनामपि । उद्दिद्देश्युभिन्नां लैलोराणां वा शलाकया ॥ गभीरामांसगे देशे पार्थे लोहशलाकया । एव्यं विद्याद् वर्णं न्यालैवपरीतमतो भिषक् ॥ (चरक चि. अ. २५) । उपर्युक्त १४ अनुशस्त्रों के अतिरिक्त अदांगसंग्रह में निष्ठा अनुशस्त्र अधिक दिये हैं । (१) सूर्यकान्त—यह एक नैसर्गिक वस्तुकिमणि है, जो अपने ऊपर पढ़े हुए सूर्य-किरणों को पर्याय से इकट्ठा करता है और उसीसे उसके नीचे जिस स्थान पर सूर्य की किरणें इकट्ठा होती हैं वहाँ ज्वलन उत्पन्न होता है । इसी लिये इसको तपन-मणि, ज्वलनास्त्रा भी कहते हैं । शमप्रधानेषु तपोधनेषु गृहे हि दाहात्मकमस्ति तेजः । स्वर्णानुकूल अपि सूर्यकान्तात्सते ध्वन्यतेजोभिभवाइहन्ति ॥ (शाकुन्तल) । अंग्रेजी में इसको कानवजिंग ग्लास (Converging glass) कह सकते हैं । इसका उपयोग अस्ति कर्म में होता था—सूर्यकान्तपिप्पत्यजाशकुद्देदत्तशरशलाकाभिस्त्वरदाः । (२) समुद्रफेन—यद्यपि इसको समुद्र के पानी का धनीभूत फेन समझते हैं तथापि वास्तव में यह समुद्र में रहने वाले एक विशिष्ट प्राणी का कंकाल (Skeleton) है । यह बहुत कठिन परंतु भंगुर होता है । अंग्रेजी में इसकी 'कट्टल फिश बोन' (Cuttle fish bone) कहते हैं । इसका उपयोग लेखन कर्म के लिये होता था—क्षौमे प्लोति पत्रु फेन वाचशकं सौन्धन्वम् । कर्कशानि च पत्राणि लेखनानेषु प्रदापयेत् ॥ (३) शुष्क गोमय—सूखा गोयर ।

शस्त्राप्येतानि मतिमान् बुद्धशैक्षयायसानि तु ।

कारयेत् करणप्राप्तं कर्मारं कर्मकोचिदम् ॥१७॥

बुद्धिमान् वैष्ण हन शस्त्रों को बुद्ध फौलाद के बनवाए और बनवाने के काम में अनुभवी और कर्मकुशल लौहकार को नियुक्त करे ॥१७॥

चक्कव्य—ऐक्यायस—तीष्णायस, फौलाद (Steel) । करणप्राप्त—उपकरण बनवाने में कुशल । कर्मकोचिद—सौहृदार के शास्त्र में पारंगत । कारयेत्—कर्तुं प्रयोजयेत्, बनवाने के में नियुक्त करे ।

प्रयोगस्य वैद्यस्य सिद्धिर्भवति निष्पत्तः ।
तसात् परिचयं कुर्याद्युखाणां प्रेहेण सदा ॥१॥

इति मुकुलहिताया सूक्ष्माने शशवधारीयो
नमाष्टोऽध्याय ॥२॥

जो वैष (शस्त्रों का) उत्तम प्रकार से उपयोग (करना) जानता है, उसको (अपने व्यवसाय में) सर्वदा निर्दि प्राप्त होती है । इसलिये शृणुप्रहण का परिचय सदा करना चाहिये ॥१॥

यक्तव्य—प्रयोग—प्रहृष्ट योग । निर्दि-रीति की इटि से गारोग्य संपादन और वैष की इटि से यथ । परिचय—अभ्यास । इति भास्करशर्मणा गोविन्दानन्दने विरचित्यामानुवाचेऽस्तस्तीर्थियाः
मुकुलभाषादीकायां सूक्ष्माने शशवधारीयो नामाष्टोऽध्याय ॥३॥

नवमोऽध्यायः ।

अथातो योग्यासूक्तीयमध्यायं व्याख्यायाम्,
यथोदाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहां से योग्यासूक्तीय नामक अभ्याय का वर्णन करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यक्तव्य—योग्या—शूल्यचिकित्सा में पन्नास्त्र के जो विविष काम होते हैं, उनका प्रश्न्य एवं चय करने के लिये तथा उन में कौशल प्राप्त करने के लिये गोगी के शरीर पर उनका प्रयोग करने के पूर्व उन कमों के लिये योग्य वस्त्रों पर उन कमों का जो अभ्यास होता है उसे 'योग्या' कहते हैं । अंगेजी में शूल्यचिकित्सा के इन विभाग को 'ओपेरेटिव सर्जरी' (Operative Surgery) कहते हैं ।

अधिगतसर्वशास्त्रार्थमपि शिष्यं योग्यां कार्येत् ।
छेदादिपु छेदादिपु च कर्मपथमुपविदितेत् । सुखु-
भ्रुतोऽप्यहृतयोग्यं कर्मस्थयोग्यो भवति ॥२॥

सर्वैश्चास्त्र का आशय जानने वाले शिष्य को भी योग्य करानी चाहिये । स्नेहन घेदानादि कमों का तरीका बतलाना चाहिये । क्षेत्रिक बहुत शास्त्र पढ़ने पर भी कम्मियास के विना मनुष्य प्रश्न्य कर्म करने के लिये अयोग्य होता है ॥२॥

यक्तव्य—स्नेहादिपु—स्नेहन घेदान घमन विरेचन शिरो विरेचन आश्यानु भ्रुवासन उत्तरवनि, इन कमों में । घेदादिपु—
घेदानादि अष्टाविंशति शास्त्र कर्म तथा पट्टवथनादि अन्य सहायक कमों में । अयोग्य—अनिषुण ।

तप्र, पुष्पफलालाकूरालिन्द्रक व्रपुसै(सो)र्वास्क-
कार्मकप्रभृतिपु छेदयित्येवान् दर्शयेत्, उत्कर्तनप
रिकर्तनानि चोपदिदेश् ॥३॥

कोहला, सौकी तद्यज, ककडी, भीरा हाण्डि में काढने के संशय में जिनने कर्म हैं, दिलावे और ऊपर ऊपर नीचे काढने का उपदेश करें ॥३॥

यक्तव्य—लद्दा—उर्जेवनि । परितंग—अपदेश ।

द्विनिवासिनप्रसेवयन्प्रभृतिपृदक्षपद्मपूर्णेषु मेधयो-

१ श्वासान्तरिन २ उक्तनार्तनानि

ग्यां, सरोमिण चर्मएयातते लेख्यस्य, सृतपशुसिरा
सूर्यपलनालेपु च वेद्यस्य ॥४॥

जलमिश्र कीचदसे सुक द्वाति वस्ति प्रसेवक आदि में भेद किया का अभ्यास सिलाये, रोमयुक्त फैले हुए चर्म पर लेखन कर्म सिलावे, भरे हुए पशुओं की सिराओं में तथा कमलनारी में पेप करने का अभ्यास सिलावे ॥५॥

यक्तव्य—द्विनिवासित जलाधार कोष । प्रसेवक-
वर्मनिस्त भाण्ड ।

धुणोपहतकापुवेणुनलगालीशुष्कालावूमुखेष्वे
प्यस्य, पनसविम्बीविलवफलमञ्जसृतपशुदन्तेष्वा
हार्यस्य ॥६॥

कीदों से लाये हुए काष, वौस, कमलनाल, सूखे तुंबे के मुख में पृण किया सिलावे, कट्ठल, कुदूर, विलवफल के गुडे में तथा मूत पशुओं के दूरी में आहरण की किया सिलावे ॥७॥

यक्तव्य—उण—काष हामि या काष कीट ।

मधृच्छप्तेपलिसे शालमलीफलके विक्षाव्यस्य,
सूजमयनयखान्तयोर्मुदुच्चमान्तयोश्च सीव्यस्य ॥८॥

मोम लगे हुए संभल के फलक पर विश्वावन कर्म सिलावे, पठाने तथा मोडे दो बस्त्र के दुक्कों में और गुदु चर्म के दुक्कों में सीजन कर्म सिलावे ॥९॥

पुस्तमयपुरुषाङ्गप्रत्यज्ञविदेषेषु धन्धनयोग्याम् ।
मुदुचर्ममांसपेशीपृथूपलनालेपु च कर्णसन्धि
यन्धनयोग्याम् ॥७॥

कपडे आदि का पुतला बनाकर उमके अंग प्रत्ययों में, जहां निम भाति वृद्ध होते हैं, वहां उनका बोधने का अभ्यास करे, मूत्तमास तथा कगल की नाल में कान के संविनयों का अभ्यास कर ॥१॥

यक्तव्य—उण—पुतला बनाने की चीज—पुली दावादि
मध्या स्वावाहुतेश्वासाकारण वद्मुत्तु लुच्यते । (अरणदत्त) ।
पुतला बहुधा लकड़ी, वस्त्र, सुतिका इत्यादि से बनाया जाता है—कृषा वा दाढ़ा वा बेणायथ चर्मणा । लालते हुन वापि पुत्तु
मिलिभियेते । पुस्तमय आहुति को अंगेजी में हैमी (Dumoy) कहते हैं । प्राशास्त्र वैषक में प्रमुति के समय की गर्भ दी गति दिव्वलने के लिये तथा मूढ गर्भे के ऊपर शस्त्र कमों के अभ्यास करने के लिये पुस्तमय द्वी का उपयोग होता है । परन्तु इस के सिवाय अन्य सर्व शस्त्र कमों के अभ्यास मूत मनुष्य के शरीर पर और छचित् प्राणियों के शरीर पर होते हैं । प्राचीन काल में गृह शरीर का सर्प्य अपवित्र माना जाता था—शव तत्त्वादिन
पैव रुद्ध रनानेत शुद्धयति । (मनु) । इसलिये शस्त्रकर्म का अभ्यास अधिकतर वन्धनतीयों पर और छचित् मूत प्राणियों पर होता था । परन्तु सम्बर्ममायास की इटि से मनुष्य शरीर पर अभ्यास करना अधिक प्रयत्न है । इसलिये आज कल शस्त्र वर्मों का अभ्यास मूत मनुष्य शरीर पर ही विवारियों से कराया जाता है ।

मुदुतु मासस्थान्डेप्तसिहारयोग्याम्, उदकपूर्ण
घटपार्षद्व्याप्तेतरयलवूमुखादिपु च नेत्रप्रणिधान
यस्तिवलयस्तिपीडनयोग्यामिति ॥८॥

मृदु मांस के स्पर्शों पर क्षार और अम्ल किसा सिखावे । जल से भरे हुए घड़े के पार्श्वच्छेद में तथा तुंगे के लुक्स आदि में नेत्र का प्रवेश कराना, बालिका पीड़न कराना और धाव में अवस्थिति देना आदि कार्यों का अभ्यास करावे ॥८॥

वक्तव्य—नेत्र—यस्तिनलिका । नीयते प्राप्तो स्नेहकल्काधी-प्रणमिति नेत्रम् । (अल्लुण्डत्त) । नेत्रप्रणिधान—नेत्रप्रवेशन । वस्ति-वणवस्तिपीडनयोग्याम्—वस्तिपीडनं व्रणवस्तिपीडनं च, अनयोदोग्याम् ।

भवतश्चात्र—

एवमादिषु मध्यावी योग्याहेषु यथाविधि ।

द्रव्येषु योग्यां कुर्वाणो न प्रमुद्यति कर्मसु ॥९॥

इस प्रकार उपर्युक्त तथा अन्य योग्य द्रव्यों में विधिपूर्वक कर्माभ्यास करने पाला उत्तिमाद् वैद्य काम के समय नहीं घराता है ॥९॥

तसात् कौशलमन्विच्छन् शास्त्रज्ञाराग्निकर्मसु ।

यस्य यत्रेह साधर्म्यं तत्र योग्यां स्तमाचरेत् ॥१०॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने योग्यासूनीयो

नाम नवमोऽध्यायः ॥१॥

इसलिये शस्त्रकर्म, क्षारकर्म और अम्लिकर्म हन में कुशलता है तो जिस कर्म का जिस द्रव्य में साधर्म्य होता है, वहाँ उस क्रिया का स्वयं अभ्यास करके कार्य सीख ले ॥१०॥

वक्तव्य—यत्र यत्येह साधर्म्यम्—जिस कर्म के लिये जो योग्य हो । उपर विविध कर्मों के लिये जो अनेक द्रव्य उल्ये गये हैं, वे केवल उदाहरणमात्र हैं । इनके अतिरिक्त इन द्रव्य कर्म के लिये योग्य हो सकते हैं । उनके उपर कर्मों का अभ्यास करना चाहिये । परन्तु सब से उत्तम मृत मनुष्य रीत है । इसलिये उसी के उपर अभ्यास करना चाहिये । अब नीचीन काल की भाँति पुण्य-फलों पर अभ्यास करने की गवायकता नहीं है ।

तिभास्तरर्णणं गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुवेदरहस्यदीपिकायां द्युष्टभायादीकायां सूत्रस्थाने योग्यासूनीयो नाम नवमोऽध्यायः ॥१॥

दृढ़ामोऽध्यायः ।

अथातो विशिखानुप्रवेशनीयमध्यायं व्याख्या-स्थामः, यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से विशिखानुप्रवेशनीय नामक अध्याय का चालायान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया है ॥१॥

वक्तव्य—विशिखा—राजमार्गी या प्रशस्तमार्गी । यहाँ विशिखा से वैद्यक-व्यवसाय का कर्ममार्ग (Medical Professional Practice) अभिग्रहत है । इस कर्ममार्ग में प्रवेश योग्य कौन है, प्रवेश योग्य पुरुष को किस विधि से व्यवसाय करना चाहिये, इसका उपदेश (Ethics) जिस अध्याय में वर्णन किया है, वह विशिखानुप्रवेशनीय अध्याय है । हाराणचन्द्र विशिखा से रोगी के घर का मार्ग समझते हैं—प्रशस्तवर्त्मपरपर्याप्तिविशिखाशब्दोऽतुरावासवर्भमने प्रवर्तते, गमकतावत् ।

अधिगततत्त्वेषोपसिततत्त्वार्थेन दृष्टकर्मणा कृत-योन्येन शास्त्रं निगदता राजानुशासेन नीचनस्त्रोम्या शुचिना शुक्लवस्त्रपरिहितेन छत्रवता दरड-हस्तेन सोपानात्केनानुद्वतवेशेन सुमनसा कल्पाणा-भिव्याहरेणाकुहकेन वन्धुभूतेन भूतानां सुस्त्रहाय-वता वैद्येन विशिखाऽनुप्रवेष्टव्या ॥२॥

जिसने चिकित्सा शास्त्र पढ़कर उसका अभिग्राय भली भाँति समझ लिया है, चिकित्साकर्म देखकर फिर उसका खूब अभ्यास कर लिया है, जो शास्त्र को पढ़ा सकता है, जिसने (परीक्षा देकर) राजा से आज्ञा ले ली है, जो नात्सून बाल कटवा कर, साफ सफेद वस्त्र पहन कर, छाता छढ़ी एवं लेकर, अच्छा जूता पहन कर, मनोहर वेष धारण कर, शुद्ध मन से, कल्पणाकारी भाषण कर, निष्पक्ष वृत्ति से, सब जीवों को निज दंधु के समान मानकर, उनकी सहायता करता है, वह चिकित्सक वैद्यकव्यवसाय में प्रवेश करने योग्य है ॥२॥

वक्तव्य—राजानुशासेन—प्राचीन काल में जनता भेदिकित्सा प्रारंभ करने के पूर्व राजा की अनुज्ञा लेना वैद्यों के लिये आवश्यक था—राजाइया विना नैव जनैः कार्य चिकित्सितम् । (कुकुर्नीति. न. १-३०४) । और प्रजारक्षण के लिये वैद्यों की योग्य जांच करना राजा का धर्म था—ततो राजा परीक्ष्य वैद्यः प्रजारक्षार्थमनुमत्वन्य एष धर्मः । (चक्र.) । परंतु कार्य किस प्रकार होता था, इस का विशेष विवरण कहीं नहीं मिलता है । आज पाश्चात्य वैद्यक में वैद्यों (दाक्तरों) की परीक्षा करने का कार्य विद्यापीठ (University) द्वारा होता है और अनुज्ञा (License) का कार्य राजसंस्था की ओर से वैद्य-सभा (Medical Council) करती है । छत्रवता इत्यादि—छत्र दण्ड और पादत्राण वैद्य की शरीर रक्षा के लिये हैं । पादत्राण वैद्य का उपयोग करने से सर्प, वृश्चिक, मच्छर, पिस्तू, कण्टक आदि से शरीर की रक्षा होती है । वर्षानिलरजीधर्महिमादीनां निवारणम् । वर्षं चक्षुष्मौजयं शङ्करं दृष्टव्यरणम् ॥ सत्त्वोत्साहवलर्स्यैषैवैद्य-विवर्धनम् । अवस्थम्भकरं चापि भयं दण्डव्यरणम् ॥ (सुश्रूत) । कल्पणाभिव्याहोरेण—अभिव्याहार, भाषण । हित, मित और मधुर भाषण करने वाला । अकुहक—अवंचक या निक्षप्त । कुहक—‘शास्त्रहीनः परमविद्यासाकारो मायावी’ (डल्हण) । इस सूत्र में वैद्यक-व्यवसाय में श्रेय तथा सफलता प्राप्त करने के लिये आवश्यक वातों का वर्णन किया है । इसके तीन विभाग होते हैं । अथिगततत्वे राजानुशासेन तक पहला विभाग है । इसमें चिकित्सक की व्यवसायविधिय योग्यता बतलाई गई है । नीचनस्त्रोम्या से अनुद्वतवेशेन तक द्वितीय विभाग बताया है । इसमें वैद्यक-व्यवसाय के लिये सहायता वालोंवैद्य वर्णन किया है । सुमनसा से सहायता तक तृतीय विभाग होता है । इसमें चिकित्सक की मानसिक स्थिति वर्णन की है ।

ततो दृतनिमित्तशकुनमजलानुलोस्येनातुरगृह-मभिग्रह्य, उपविश्य, आतुरमभिपश्येत् स्पृशेत् पृच्छेत्, त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगाः प्रायशो वेदि-

१ राशायं निगदता. २ राशानु.

तव्या इत्येके; ततु न सम्यक्, पद्विष्यो हि रोगाणां विशानीयोपायः, तदथा—पञ्चमिः थोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति ॥३॥

सिर दृत, निमित्त, शुद्धन और महल की अनुष्ठाना देशकर रोगी के घर जाओ और बैठकर उसे अच्छी सह दें। हल से सर्पय करे और (व्याधि के विषय में) प्रभ करे। इन तीनों (दूर्वा, सर्वांन और प्रभ) उपायों द्वारा प्रायः सर्व व्याधियों को जानना चाहिये, ऐसा कहे आचार्यों का मत है। परंतु यह दीक नहीं है। क्षणिक रोग जानने के उपाय छः प्रकार के हैं। वे इस भाविति कि कर्ण आदिक पांचों इन्द्रियों से और प्रभ से ॥३॥

यत्तद्य—दृत—रोगी के यहाँ से बुलाने, खबर देने, पूछने आदि के लिये आया हुआ मनुष्य । निमित्त—उद्धुक्तमादि । शुद्धन—पञ्चियों के बावज्य इत्यादि । महल—स्वस्तिक पूर्णकुमादि । आनुष्ठान—अविपरीतता या प्रश्नातता । इन का धैर्य सूक्ष्मस्थान के विपरीताविपरीत स्वप्ननिर्दीर्घनीय अध्याय (२५) में किया गया है। इत्येके—दूर्वासर्वांनश्च परीक्षेताप रेगिणम् । (वामपट) । दूर्वासप्रश्नसर्वैः परीक्षा विविधा स्तुता । (दृढ़वल) । ततु न सम्यक्—दर्शनादि के क्षेत्र इन तीन उपायों द्वारा परीक्षा पूर्णतया नहीं हो सकती है। इसलिए इन तीन उपायों द्वारा रोगी की परीक्षा करना कल्पना है। रोगाणा विजानोपाय—रोगाणा विवेषण निष्ठित हान स्वस्थावशरण तत्त्वोपाय । रोगों का निष्ठित स्पृह से ज्ञान करने का उपाय । रोग का ज्ञान निदान, पूर्वस्पृह, रूप, उपाय और संप्राप्ति—इत्यं च प्रकार से होता है—तत्समान् व्यापीन विज्ञानतुराहन् सत्त्वदुद्देहादिर्विविधादनवृत्तेत् । तत्सोपलभिन्निदानवृत्तवल्लिप्ती—प्रश्नाप्रश्नातिरिक्ता ॥ (चरक वि. १) । निदान पूर्वस्पृही स्पृहाणु प्रश्नाप्रश्नातिरिक्ता । स्प्राप्तिरेति विज्ञान रोगाणा पञ्चाभ्यासन् ॥ (वामपट) । पञ्चमि शोत्रविनिः—ध्वन, नय, नासा, विद्धा और त्वचा हूता। चरक में भी पंचज्ञानेन्द्रियों का उपयोग रोगी की परीक्षा के लिये बतलाया है, परंतु उसमें विद्धापीक्षा का निषेध किया है—प्रश्नाप्रश्नातुराहन् वृत्ते रोगाणा सृष्टिरिन्द्रियै सर्व निष्ठियार्थानतुराहन् ॥ परीक्षेत, अन्यत्र सम्भानात् । (वि. अ. ४) । दृसका विवरण अगले सूत्र की टिप्पणी में किया जायगा ।

तत्र श्रोत्रेन्द्रियविक्षेया विशेषा रोगेषु मणाकाव्यविशानीयादिपु व्यवस्थन्ते—‘तत्र सफेनं रक्तमीर्य-अनिलः सरश्चाद्वा निर्गच्छति’ इत्येवमादयः, स्पर्शने-निद्रविक्षेयाः शीतोष्णांशुष्णकर्कशमृदुकठिनत्यादयः स्पर्शविशेषा ज्वरादिपु, चासुरिनिद्रविक्षेयाः शरीरोपचयापचयायुर्लक्षणवल्यर्थकारादयः, रसनेनिद्रविक्षेया प्रमेहादिपु रसविशेषाः, घोणेनिद्रविक्षेया अरिष्टादिपु व्याणानामणानां च गन्धविशेषाः, प्रश्नेन च विजानीयादेशं कालं जातिं सत्त्वस्थानात्क्षसमुत्पातिं बेदनासमुच्छ्वाय चल-मन्त्ररौप्ति पात्मूचुपुरीराणां प्रवृत्यमद्वृतीं काल-

प्रकर्पार्दीर्थ विशेषान् । आत्मसद्वरोपु विज्ञान-भ्युपायेषु तत्स्थानीयज्ञानीयात् ॥४॥

फेन्युक रक में गति उत्पत्त करता है इत्यादि रोगों में अद्वेन्द्रिय से समय ज्ञान उत्पत्त करता है इत्यादि रोगों में अद्वेन्द्रिय से जानने योग्य विरोपों का वर्णन आगे व्याणाकाविज्ञानीयात् अन्यार्थों में किया जायगा । नवर योग्यादि रोगों में वैष्णव, भैषज्य, सूक्ष्माना, कर्क्षयता, सदुता, कठिनता इत्यादि त्वचा के गुण स्पर्धीनिद्रिय से जानने योग्य होते हैं । शरीर की स्पृहाणा, हृशता, आयु के लक्षण, उत्साह और वर्षा के विषय विकास चासुरिनिद्रिय से जानने योग्य होते हैं । प्रमेहादि रोगों में मूर्त्याति के रस रसनेनिद्रिय से जानने योग्य होते हैं । अटिलिंगादि व्याप्ति से तथा अन्य स्थान से जो गंध आते हैं, वे ग्राहेनिद्रिय से जानने योग्य हैं । देश, काल, जाति, साम्य, रोगनिदान, वेदन की वृद्धि, बल, पाचकादि, वातसूक्ष्मामल की ग्रहीति या संप्रीय याप काल इत्यादि की विशेषता रोगी से प्रभ पूछ करने योग्य हैं; उत्पुरुष रोगविज्ञान के उपाय यदि स्व प्रश्नात्व करने योग्य हों तो उन उपायों (इन्द्रियों) के वर्ण लक्ष, नेत्र, नासा, विद्धा—इन अधिष्ठानों द्वारा इन्द्रियविक्षेयों का ज्ञान कर लेना चाहिये ॥४॥

यत्तद्य—भृत्युक्ता—ये लक्षण आगे आत्मोदेवमणीय अध्याय (अ. २५) में वर्णित किये हैं । वल—उत्साह । अटिलिंगा—रोग का स्वायुर्लक्षण लक्षण—नथा विनामित्याप्य पूर्वैर गरिष्ठन् । (चरक) । देश—भूमि । यह ज्ञाहस्त, आनन्द और साधा रूप भेद से तीन मपाकरकी है । तत्र भूमिरेत्या भूत्युरपरिचाहोतो तथा—वलिन्द्रिय भूमिदेशे जात संस्कृदो व्यापितो देति । (चरक) काल—उत्पादि भूत्युलक्षण काल, प्रातरादि काल, वाल्यादि काल, रोगार्दमकारि काल । काल उनुः स्वत्तरधातुरुपवस्था च । (चरक) । वाति—रोगों की स्प्राप्ति । सप्तशर्विनिरपतित्युक्त्यन्तर अथवै । (चरक) । साम्य—जिसका सेवन वरीके लिये सुखदायक होता है, वसे साम्य कहते हैं—यो रु. कल्पे यस सुखदायक निषेधन् । अग्रामजातामयद्वा तत्त्वात्यन्यमिति निरिषेष् । (सुक्षुत) । वेदनामसुच्छाय—व्याप्ति की असुखति । अन्तर्विपाचकामिति । यह सम, विद्यम, मन्द और नीदान भेद से चार प्रकार का होता है । कालप्रकार—व्यापे कालनाति यावन्त काल अपरिस्तप्त इति यावन् । व्याप्ति की प्रारंभ से काल-भूम्यादा । रसनेनिद्रविक्षेया—पर्याप्त यद्यां स्पृहाणु से लिखा नहीं है तथापि रोगी के वरीराहत रस का ज्ञान अनुमान से ही करना चाहिये । चरक में इस उपाय का स्पृह निर्वेष किया गया है—भृत्युक्तानात्—यह अनुमान भक्षिका, परिलिङ्क, यूका, काक इत्यादि के रसनेनिद्रिय द्वारा किया जाता है । इस का प्रलक्ष, ज्ञान करना उचित नहीं है—स त उत्पत्त्वात्तरारीराहतमिन्द्रियवैयक्तिमयनुमानादवगच्छेत् । न यस प्रक्रियेन भृण्युपर्याप्तेन । तत्साहात्युरपरिचाहेनैत्युत्पुरुषाद्यन्तं विद्यत् । यूक्यपर्याप्तेन नस्त्री रसीरैवरैव । मध्येष्वेष्वर्णेन रातीरामुरुदेव । शाहिनपितमन्देवे तु भासिलेहित अद्वितिति वेति । अकाक्षमहागाढः लिलेहिनमध्युक्तानो हितपित्यात्यनुमानव्यवन् । एवमन्यान्यात्युरुषीरामान रसानुभवीति । (विभास अ. ४) । किर इन्द्रिय स्वात्

द्वेषीय अच्छाय में भी लिखा है—‘रेसः प्रमुतिराना द्वे हस्तेभवः । स एयो चरसे काले विवारं भजते द्वयम् ॥ तगनेनानेन विद्याद्वितीतं गंतम् । मनुष्णी हि मनुष्णस्य कथं रसमवारः ॥ यही निषेध यहाँ अप्रत्यक्ष या ‘आत्मसद्वशेषु विशानाभ्यु’ इस शब्द प्रयोग से बतलाया गया है । आत्मसद्वशेषु—के लिये स्वयं अनुभव करने योग्य । सदृश—योग्य था न । आत्मसद्वशेषित्यादि—आत्मसद्वशेषु, आत्मनो ब्रुतेषु, विशानाभ्यु पर्याप्ति दर्शनसर्वानिषु सद्य तत्त्वानीयतेपां स्पर्शनेनिद्रियादीना निरैरपिष्ठानेजिदात्मकर्त्तानिकानेवर्जनीयात् तास्तानिनिद्रियविषेष-निषिग्यत्वे ॥ इन छ: उपायों में रसना का उपाय सर्वदा । करने योग्य नहीं होता है । इसलिये इसका स्पष्ट निषेध इन में किया है । इसके सिवाय अन्य उपाय भी जो सर्वदा भस्त्रय होते हैं रोगी अहूत होने पर, परदान्तरीन स्त्री । पर या दूर स्थान में होने पर परस्त्रय हो जाते हैं । यद्यि । के गुणांग के रोग हीं तो भी दर्शन तथा स्पर्शन के उपाय सरण (बहुधा नर्स के योग्य) ही जाते हैं, इत्यादि । इन आत्मसद्वश का अर्थ बातादि दोष सदृश करके इसकी प्रक्रिया इस प्रकार से करता है—आत्मसद्वशेषु दोपसद्वशेषु ग्राहाभ्युपायेषु पद्मिष्यु श्रोत्रत्वक्षूरसनामाप्रशेषु । तत्र वात-लिये विशानाभ्युपायेषु पद्मेनिद्रियप्रशेषु, व्रणे सशब्दफेनरत्तानिलादिन-तीनसं ब्रह्मेनिद्रियग्रामा, पारश्वरीक्षयादिक त्विनिद्रियग्रामान्, इत्यादि । इसेषु विशानाभ्युपायेषु व्रणादीनामोष्यं त्वग्निद्रियग्रामान्, नील-त्वं त्वं त्वं चक्षुरिनिद्रियग्रामम्, इत्यादि । श्लेषसद्वशेषु विशानाभ्युपायेषु वातपित्तेष्यसद्वशेषु कैर्ज-प्रयत् । पद्मेनिद्रियप्रशेषु विशानाभ्युपायेष्वात्मसद्वशेषु वातपित्तेष्यसद्वशेषु कैर्ज-प्रयत् । तत्त्वानीयैः तेषां सम्बद्धीनां स्थानानिन श्रोत्रादीनि, तेष्यस्त्रियैः उत्पर्यत्परस्तगान्यैः तत्त्वानीयैः । एतेनैतद्वुक्तम्—वातादिलिङ्गोरायुवेष्य उपाय उपाय उपयोगी हीं उनकी सहायता लेकर गार्हियों का ज्ञान दोप की परिभाषा में कर लेना चाहिये । इससे अनिर्दिष्ट रोगों का भी ज्ञान बुद्धिमान् धैर्य नी होता है । हाराणचन्द्र ‘आत्मसद्वशेषु’ पेसा पाठ लेकर व्यायाम करते हैं—‘नन्वात्मनो दीनेनिद्रियते का गतिरित्याह—आत्म-विषयत्वादि । उचितापरस्यार्थीत्य सदृशशब्दः ।’ सदृशं समे उचिते नीतेदीनी । तत्त्वात्मासद्वशेषु आत्मनोऽनुचितेषु असुन्तेषु दीनेनिवित्ति गत । विशानाभ्युपायेषु विशानोपायेष्विनिद्रियेषु सत्त्वित्वर्थः । तत्त्वानीयैः उपायासस्त्वैः पुरुजीनीयात् तास्तानिनिद्रियविशेषान्, विषयान् इत्यर्थः । ‘आत्मसद्वशेषु’ इति प्रामादिकः पाठः । इस का आशय कि जब उपाय हन्त्रियहीनत्व से था अन्य अन्य कारण लघुये करने के लिये उचित नहीं होते हैं तब रोगी के घर मरुयों से उन इन्द्रियविक्षेप विषयों का ज्ञान कर लेना चाहिये । उपर ‘आत्मसद्वशेषु’ पाठ के अनुसार जो अर्थ दिया है वह आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है । पाक्षात्यरोगविशानोपाय—आवश्यकता में रोगिपरीक्षा के भल्य पांच उपाय होते हैं ।

(१) प्रश्न (Interrogation)—यह रोगी की परीक्षा का प्रथम उपाय है। इसके दो विभाग होते हैं—सामान्य प्रश्न (General Interrogation) और विशेष प्रश्न (Special Interrogation)। सामान्य प्रश्न में रोगी का नाम, आयु, ज्ञावसाथ, विवाहित या अविवाहित, निवासस्थान, देश, घर्तवान रोग की अवस्था, कैसे आरम्भ हुआ, कैसे बढ़ता गया, क्या चिकित्सा की गई, उसका क्या परिणाम हुआ, रोगी के सामान्य स्वास्थ्य का वृत्तान्त, आहारसंबंधी, विशेष करके मादकद्रव्य सेवन संबंधी वातें, परिवार के स्वास्थ्य का परिचय इत्यादि वातें समाविष्ट होती हैं। विशेष प्रश्न में रुग्ण संस्थान या अङ्ग के संबंध में तथा यदि आवश्यक हो तो अन्य संस्थान या अङ्ग के संबंध में प्रश्न होते हैं। (२) दर्शन (Inspection)—इसमें आपादमस्तक रोगी के शरीर का निरीक्षण घोलते, ललते, सोते और घैडते समय किया जाता है। यदि आवश्यक हो तो रोगी को निर्वेष करके भी देखना चाहिये। परन्तु अधिक समय तक निर्वेष रखना अच्छा नहीं है। (३) स्पर्शन (Palpation)—दृश्य के पश्चात हाथ से परीक्षा करनी चाहिये। स्पर्शपरीक्षा प्रायः एक हाथ से और कभी कभी दोनों हाथों से की जाती है। स्पर्श करने के समय हाथ न बहुत ढण्डा न गरम होना चाहिये। स्पर्श बहुत कोमलता से करना चाहिये ताकि रोगी को कष्ट न हो। स्पर्श सम हाथ से करना चाहिये, अंगुलियों से ढबा ढबा कर नहीं। (४) अंगुलितापन (Percussion)—यह परीक्षाविधि आयुर्वेदीय वैद्य तथा विद्यार्थियों के लिये नई नहीं है। इस विधि का उद्देश आयुर्वेद के ग्रन्थों में छिपता है। यह विधि निम्न तत्त्व पर निभर है—ठोस या कठिन स्थान पर ताढ़न करने से प्रतिप्रभनि मंद या भदभद (Dull) होती है। रिक्त स्थान पर ताढ़न करने से प्रतिप्रभनि डिमिहिम, दोलवत (Tympanitio) होती है। जलगर्भ स्थान पर आधात करने से ध्वनि मंद होती है। परन्तु उसकी मन्दता ठोस स्थान से लुच धूसरी होती है। इस विधि से शरीर के भीतरी ठोस, जलगर्भ और रिक्त (चायुयुक्त) स्थान का ज्ञान होता है। इस विधि में स्पर्शन और ध्वनि का मिश्रण है। परन्तु अस्पास से हाथ की ज्ञानशक्ति इतनी घट जाती है कि विना ताढ़न शब्द के लुचने से ही हाथ को यह मालझम हो जाता है कि परीक्ष्य स्थान ठोल, जलगर्भ या रिक्त है। ताढ़न की विधि—इसके लिये दो लीजें आवश्यक हैं—एक वह जिससे ताढ़न किया जाता है और दूसरी जिस पर ताढ़न किया जाता है। प्रथम जब इस विधि का आविकार हुआ, तब रोगी के शरीर पर कोई भी लीज न रख कर ताढ़न किया जाता था। इसे प्रत्यक्ष ताढ़न (Direct Percussion') कहते हैं। इस विधि पद्धति से अब ताढ़न नहीं होता है। केवल फुफ्फुस-परीक्षा में अक्षक्षों के ऊपर इस प्रकार ताढ़न कभी कभी होता है। प्रायः वाम हृत्त की मध्य-मांगुलि को परीक्ष्य स्थान पर सपाट रखकर उस पर वक्षिण हृत्त की मध्यमांगुलि के सिरे से एथोडी की तरह प्रहार किया जाता है। प्रहार के समय केवल अंगुलि और हाथ हिलना चाहिये और प्रहार की शक्ति कलाई से आनी चाहिये। प्रत्येक स्थान में दो या तीन से अधिक प्रहार करने की आवश्यकता नहीं है। यह विधि उदर, छाती और हृदय की परीक्षा में

बहुत उपयोगी है। (५) अवन्मरीक्षा—(Auscultation)—यह परीक्षा प्रत्यक्ष कणि परीक्ष्य स्थान पर लगाकर भी की जा सकती है। परन्तु इसके लिये पूँछ विशेष प्रकार का नाड़ीयन्त्र अववहत होता है। उसे स्टेथास्कोप (Stethoscope) कहते हैं। यह स्टेथास्कोप एक नलिका का (Single) या दो नलिकाओं का (Binaural) होता है। इस नाड़ीयन्त्र का उपयोग कुम्हकुम और हृदय के रोगों में बहुत होता है। पाश्चात्य वैद्यक में रसनपरीक्षा के लिये किंचित् भी स्थान नहीं है। इस-परीक्षा की विशेष आवश्यकता भूत्ररीक्षा में होती है—से नेत्रिविहेया भ्रमेदारिस्विरेणा। परन्तु पाश्चात्य वैद्यक में रसायनिक पदार्थों का मिश्रण भूत्र में करके उनकी मधुरता जानने का साधन उपलब्ध है। इसके सिवाय प्रत्यक्ष रोगी के मूत्रादिक का स्वाद लेना भी हानिकारक और धृषित है। इसलिये चक्र में भी रसायनी परीक्षा का स्पष्ट निरेख किया है और रसायनिक परीक्षा न होने के कारण भूत्र का रस जानने के लिये परीक्षिकादि पर निर्भर होने के लिये लिखा है—भूत्र-परीक्षिकान्वय रसीरभूत्रमित्तलाम्। गधपरीक्षा—पाश्चात्य वैद्यक में मल भूत्र की परीक्षा में, अहिफेन विष, मदालय और मधुमेह की मृद्गी (Diabetic coma) में रोध द्वारा रोग की परीक्षा की जाती है। परन्तु इस परीक्षा के लिये कोई स्वास स्थान नहीं है। विकिसा में सफलता प्राप्त करने के लिये प्रथम रोगी की सम्पूर्ण और सम्पूर्ण परीक्षा करना अस्यन्त आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये पाश्चात्य वैद्यक में सेकड़ीं यन्त्र (पथा—स्पेश्यलम, स्कोप, एस्से इत्यादि) अवहत होते हैं। प्राचीन काल में इन घन्तों की कमी थी। अतः वैद्य को केवल अपनी इन्हियों की शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता था। इसलिये इन इन्हियों का महत्व अब भी में धृण किया है—मात्रस्वान्तरालाम थी नाविशनि रोगविवृत। दानुषिद्धिरीपन न स रोगान् चिविलसनि॥

भ्रयति चाप्त—

मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराल्प्यातास्तथैव च ।

तथा दुर्प्रसिद्धात्म मोहयेयुद्धिकित्सकम् ॥५॥
जिन रोगों की परीक्षा व्यथाग्राम नहीं की गई है, जिन के स्वरूप में वैष के सामने ठीक नहीं बताया गया है तथा जिनके द्वारा वैष ने ठीक विचार नहीं किया है, ऐसे रोग वैष को (विकिस के समय) मोहित कर देते हैं ॥५॥

एक दृश्य—मिथ्याद्वा—इस शब्द पर्याप्त है इन्द्रियों का शास्त्रार्थीक समझना चाहिये है। पूर्व ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जिन की ओर परीक्षा नहीं हुई है। इरिश प्रवाहाम्, प्रैटिनिवाजाना विकलप्। तत्पर्य—मिथ्याद्वा वाकात्मेनाविदाता। (हातावर्तं)। इस कोड का आधार मह दृष्टि के लिए कोई भी शारीरिक परीक्षा प्रयोगिक द्वारा यथागाम करनी चाहिये। रोगी को आर्द्धे दिवस बैठने के प्रभावों का उत्तर निष्करण हुआ हो सके, तो उत्ते दिवस हो, लक्षा तथा भूमिति छोड़कर हो दे। परि यस तथा ऐनियक परीक्षा द्वारा मिथ्या हुए सामग्री पर चिकित्सक को आहिये हो वह थोग्य विचार कर। यदि इस पद्धति द्वारा रोगी की चिकित्सा की जाता तो चिकित्सा में सोह उपकरण होने की कोई सम्भावना नहीं हो सकती है।

एवमभिसमीक्ष्य साध्यान् साधयेत्, याप्यात्
याप्येत्, असाध्याश्रोपक्रमेत्, परिसंवत्सरोऽयि
तांश्च विकारणं भाष्यशो वर्जयेत् ॥६॥

इस प्रकार (रोगी की) परीक्षा कर साध्य रोग से पीड़ित रोगियों को नीतरोग करे, याथ व्याधियों से पीड़ित रोगियों क जीवन किसी तरह से निवाह ले, असाध्य रोग से पीड़ित रोगियों की चिकित्सा न करे और एक शर्ये से अधिक पुरुषों रोग से पीड़ित रोगियों को छोड़ दे ॥६॥

यस्तद्य—असाध—मुख्यमात्र द्विलोपण करनेलेन साध्ये
यज्ञ—इसकी व्याख्या यहो अभ्यर्थ २२ में वर्णित की है।
चिकित्सा जिस रोग को रोक के रखती है और चिकित्सा दूर
होने पर जिससे रोगी शीघ्र मर जाता है, उसे याप्त रोग
कहते हैं। असाध—जो रोग चिकित्सा करने पर भी बढ़ता है, उसे
असाध कहते हैं—परोऽनाय त्रियस्वर्णा प्रायाहस्येऽनिवार्ता।
तत्मामुपेष्य रथात् ॥ (ब्र. स.) । असाध रोग की चिकित्सा करने
से अर्थ विवादिक का नाय होता है। इसलिये असाध रोग की
चिकित्सा नहीं करनी चाहिये—अर्थविवादेऽनिवार्ता गम
स्त्रावृष्टि। प्रायाहस्येऽनिवार्ता योऽनाय समुच्चरेद् ॥ (चरक)।
प्रायाद—प्राय लिखो का कारण यह है कि अधिक संत्यग में रोग
वर्धि से अधिक पुराने होने से प्रश्ना असाध्य हो जाते हैं। परं
रत्नगुलम, अद्वित हत्यादि रोग वर्धि से पुराने होने के प्रश्नादृढ़
साध्य हो सकते हैं—रत्नगुलम पुराण लक्षणात्मक लक्षणम्।
अद्वित की मरणदा तीन वर्ष की होती है—न मित्रालादित गाढ़
विवर्त वैग्रनन्त च । अत अपवादादों की छोड़ने के लिये प्राय
गाढ़ प्रस्तुक किया है ।

तत्र साय्या अपि व्याधयः प्रायेरैर्ण दुष्किंस्त्यतमा भयन्ति । तद्यथा—धोत्रियनृपतिर्ली-
यालबृद्धमीरुराजसेयककित्युद्युर्लवैघ्यविद्युग्मव्यापि-
गोपकदिग्दृष्टलण्ठकोधनानामनाम्बवेतामनाधनो च;
पर्व निरूप्य चिकित्सां कुर्यन् धर्मार्थामपरासि-
प्राप्तोति ॥७॥

इन मनुष्यों की साम्य व्यापियर्ह भी प्राय कष्टसाम्य ।
जाती है । जैसे—भैरविं, राजा, श्री, बाल, दृढ़, हरप्रीत, राज-
सेवक, शूतकार, दुर्वल, वैद्यनिमाली, रोग दिग्नाने याता-
रिदि, कंठस, कौपी, अक्षितेन्द्रिय और पृष्ठाकी । इस प्रका-
र एवं वारों को समझ कर जो चिकित्सा करता है वह वैष्ण धर्म-
संर्ख्य, काम और कृष्णी संपूर्णन करता है ॥३॥

यत्कल्प—मैत्रिय—जगन्नाथ कामोंहु हेष संस्कृति वर्त्ते
विद्यरा याति विश्व विभि भौविक उच्चो ॥ देवताभ्यन्त के लिं
प्राणादि निष्ठ नियमों का पालन करने के कारण व्यापि ॥
दृढ़ि हो जाती है ॥ औ—पारतन्त्र य, इत्या, वेगावरोप तथ
व्युष्य व्यापि का अभ्यक्षण के कारण । रामोद—परतन्त्र य वे
कारण । भिन्न—व्यसन के कारण । दुर्बल—सरीकी भ्रष्टिका
परिस्थि (Vitalitis) का होने के कारण । वैपरिषद—अभियाप
नीकी विषय ॥

लिये पैसा खर्च न करने के कारण उत्तम ओपधि ग्रहण नहीं सकते हैं । अनात्मवान्—मनमानी करने वाला, इस से व्य होने के कारण । अनाथ—एकाकी, परिचर्या करने के कोई न होने के कारण ।

भवति चात्र—

त्रीभिः सहस्रां संवासं परिहासं च वर्जयेत् ।

तं च ताभ्यो नादेयमन्नादन्यद्विष्वग्वरैः ॥१॥

द्विति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विशिखानुप्रवेशनीयो

नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

(जहाँ चिकित्सा करे, वहाँ की) स्त्रियों के पास बैठना, तचोत करना, हँसी करना इत्यादिक न करे तथा अज्ञ के वाय स्त्रियों की दी हुई कोई भी वस्तु ग्रहण न करे ॥१॥

वक्तव्य—भर्ता की अनुमति हो तो स्त्रियों द्वारा दिया आ धन तथा अन्य वस्तु ग्रहण करने में आपत्ति नहीं है—

च कदाचित् स्त्रीदत्तमामिपमादातव्यमननुशांतं भ्रात्यवाध्यज्ञेण ।
चरक. वि. अ. ८)

त्रिं भास्त्ररसरीणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुवेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतमापाटीकायां सूत्रस्थाने विशिखानुप्रवेशनीयो नाम

दशमोऽध्यायः ॥११॥

एकादशोऽध्यायः ।

**अथातः ज्ञारपाकविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥**

अब यहाँ से ज्ञारपाकविधि का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—ज्ञारपाकविधि—ज्ञारपाक और विधि । ज्ञारपाक—ज्ञार तैयार करने की पद्धति । ज्ञारविधि—ज्ञार का उपयोग करने की पद्धति । ज्ञार को अंग्रेजी में रासायनिक दृष्टि से अल्कली (Alkali) और कार्य की दृष्टि से कास्टिक (caustic) कहते हैं ।

शशानुशश्वेभ्यः ज्ञारः प्रधानतमः, छेद्यभेद्यलेख्यकरणाणां त्रिदोषप्रब्लवाद्विशेषक्रियावचाररणाच्च ॥२॥

छेद्य, भेद्य और लेखन कार्य, त्रिदोष का नाश तथा विशेष कार्य संपादन करने के कारण शस्त्रों तथा अनुशस्त्रों से ज्ञार अधिक प्रधान है ॥२॥

वक्तव्य—प्रधानतम—श्रेष्ठ । ज्ञार की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये यहाँ तीन कारण दिये हैं—१ छेद्यभेद्यलेख्यकरणात्—वास्तव में छेदन, भेदन और लेखन का कार्य करने से ज्ञार की श्रेष्ठता सिद्ध नहीं हो सकती । क्योंकि शस्त्र छेद्यभेद्यादि अष्टविधि कर्म कर सकते हैं । श्रेष्ठता इसलिये है कि छेदन, भेदन और लेखन का कार्य ज्ञार सें संकट स्थान में कर सकता है कि जहाँ शस्त्रों का प्रयोग करना कठिन होता है । इसके सिवाय शश का प्रयोग करने पर भी जहाँ सिद्ध नहीं मिल सकती है, वहाँ ज्ञार कलडायी होता है । ज्ञार का छेदन के

लिये उपयोग जाइवण में होता है—कृशदुर्लभीरुणां नाडी मर्मा-

श्रिता च था । ज्ञारस्त्रेण तां चिद्व्यान्त्रु शखेण दुद्धिमान् ॥ (सुश्रुत) । भेदन के लिये मर्मज व्रण शोथ में होता है—मर्मोपरि च जातेषु रोगेषु द्वारणम् । सुपिष्ठैर्दर्शणद्वैर्युक्तैः क्षारेण वा पुनः ॥ लेखन के लिये कठिनोत्सन्न मांस तथा कुष में उपयोगी होता है—येषु न शखे क्रमते स्पर्शेन्द्रियनाशनानि यानि स्युः । तेषु निपात्यः क्षारः । (चरक) । २ त्रिदोषप्रब्लवात्—नाना प्रकार की ओपधियों से ज्ञार बनाया जाता है । इसलिये वह त्रिदोषप्रब्लव होता है । ३ विशेषक्रियावचाराणांत्—विशेष क्रियावचारण इसलिये है कि त्रिदोषप्रब्लव और सौम्य होते हुए भी दहन पचन दारण कर्म कर सकता है, आप्नेय होते हुए भी रक्तपित्त अर्श में उपयोगी होता है और ज्ञार या क्षणन करते हुए भी पीने के काम में उपयोगी होता है । वार्भट ने ज्ञार का श्रेष्ठत्व दूस प्रकार लिखा है—सर्वशशानुशशाणां क्षारः श्रेष्ठ बहूनि यत् । छेद्यभेद्यादि-कर्मणि कुरुते विषमेष्वपि ॥ दुःखावचार्यशत्रेषु तेन सिद्धिमयात्सु च । अतिकृच्छ्रु रोगेषु यज्ञ पानेऽपि युज्यते ॥

तत्र ज्ञारणात् ज्ञाणनाद्वा ज्ञारः । नानौषधिसमवायात्रिदोषप्रब्लवः, शुक्लत्वात् सौम्यः; तस्य सौम्यस्यापि सतो दहनपचनदारणादिशक्तिरचिरुद्धा, स खल्वाद्यौषधिशुगुणभूयिष्ठत्वात् कटुक उष्णस्तीक्ष्णः प(पा)-चनो विलयनः शोधनो रोपणः शोपणः स्तम्भनो लेखनः कृस्याम्बकफकुष्ठिप्रसेदसासुपहन्ता पुंस्त्वस्य चातिसेवितः ॥३॥

(यह धातुओं का) ज्ञार या क्षणन करता है, इसलिये ज्ञार कहलाता है । नाना प्रकार के ओपधिसंयोग से बनता है, इसलिये त्रिदोषों का नाश करता है । श्रेष्ठ रंग का होने के कारण सौम्य होता है । (परंतु) सौम्य होते हुए भी इस की दहन पाचन दारणादि शक्ति अप्रतिहत होती है । (कारण यह है कि) ज्ञार वास्तव में अधिकसंख्य तीक्ष्ण ओपधियों से बनने से वह कटु, उष्ण, तीक्ष्ण, पाचन, विलयन, शोधन, रोपण, शोपण, स्तम्भन, लेखन होता है; कृमि, आम, कफ, कुष्ठ, विष और मेद का नाश करने वाला है और अधिक मात्रा में (अधिक काल तक) सेवन करने से पुरुषत्व का भी नाश करता है ॥३॥

वक्तव्य—ज्ञार—ज्ञार स्वन्दने, भरना । ज्ञार दोषों को फिरा देता है, इसलिये उसे ज्ञार कहते हैं—भित्ता भित्तावशयान ज्ञारः ज्ञारत्वात् ज्ञारयत्पः । (चरक) । ज्ञान—ज्ञान हिसायाम् । त्वचा मांसादि धातुओं का नाश या शातन करता है, इसलिये भी ज्ञार कहलाता है । त्रिदोषः—ज्ञार नाना प्रकार की ओपधियों से उत्पन्न होने के कारण उसमें पद्मस न्यूनाधिक मात्रा में उपस्थित होते हैं, इसलिये ज्ञार का वातापित्त कफ तीनों पर प्रभाव पड़ता है । ज्वर्लन होने के पश्चात् भस्म में परिवर्तन होने पर भी ओपधियों के मूल स्वभाव में पूर्णतया परिवर्तन नहीं होता है । उनके पूर्व गुणों के अनुसार भस्म के भी गुण दिखाई देते हैं । यथा—रक्तपित्त में जब ज्ञार का प्रयोग होता है, तब शीतल ओपधियों के ज्ञार व्यवहृत होते हैं—तक्षीदमिन्दीवरमत्सवारि...प्रतित यथः पित्तमस्क च योगः । (सुश्रुत) । उक्तस्य द्वया मधुकर्पिणीश शास्त्र चैवेतत्प्राप्तज्ञानम्

शृणालप्सोत्तरकेशराणां धूरा प्रयोज्या विविनैव तेन ॥ (चारक) ।

द्युष्टलाप—ओपथियों के प्रकृति गुणों के अतिरिक्त आमेय ज्ञान प्रियोग्य होने का दूसरा कारण उमस्का भेत रंग है । येत रंग कफ का—फेमा खेनी तुरु लिए—होता है, इसलिये क्षार में भी कफ का सौम्य गुण होता है । पाश्चात्य रसगाख में भी सिल्वर नायट्रेट (Silver Nitrate) नामक क्षार को येत होने के कारण सौम्य ज्ञान (Lunar Caustic) कहते हैं । अविरुद्ध-क्षार आप्त्रिय ओपथिय गुण भूषित होने के कारण सौम्य गुण उसकी दहनादि शक्ति का विरोप मर्ही कर सकता है—विरुद्ध गुणस्त्रियते भूयास्त्रियमवृत्तये ॥ पावन—बाह्य प्रयोग करने से दूषण्योग्य को पकाने वाला, पीने से अर्जीणि का नाश करने वाला । विलयन—गुल्म का विलयन करने वाला, दूषित रथान से दोष को फैलाकर उसका नाश करना विलयन कहते हैं ।

रोपन रोपण—तुष्ट धूप की तुष्टिकरने वाला तथा धाव को भर साने वाला । पर्युत रोपण के लिये क्षार का उपयोग नहीं होता है, न करना चाहिये । क्षार का रोपण गुण तुष्टि करने से अप्रलक्ष या परम्परा से समझना चाहिये । इसलिये कहीं रोपण का पाठ नहीं मिलता है । शीश—श्रेण के साथ को सुखाने वाला । स्तम्भन—धमगी सिराकोत्तरों का छिप्प-मुख संकुचित और पाचित करने रक्षाक बद्ध करने वाला, अप्रेजी में स्तम्भन को स्टिटिक (Styptic) कहते हैं । कृष्णाम हृत्यादि—उपहन्ता शब्द कृष्ण, आम, कफ, तुष्ट, विष और मेद तथा तुंसुल प्रयोके के साथ संबंधित करना चाहिये । हन रोपों का नाश क्षार बाह्याभ्यंतर प्रयोग से करता है । पुण्ड्रस्त—क्षार अधिक काल सेवन करने से पीठ धारुक का क्षय करता है ।

स द्विविध—प्रतिसाररणीयः, पानीयक्ष । तथ प्रतिसाररणीयः कुछ किटिभद्रुप्तप्लकिलरभरान्द-रायुदार्थोदुष्टव्यानार्दीचम्कीलितिलगालकन्यच्छव्य-क्रमशकवाह्यविद्रेधिकृमिविपादिपृष्ठप्रदिश्यते सप्तसु च सुखरोगोपृष्ठजिह्वाधिजिह्वोपुष्टशदन्तवैदेमेषु तिस्पु च रोहिणीषु, पतेवेवानुशश्रव्यप्रणिधानमुक्तम् । पानी यस्तु गरुदुमोदराभिसङ्गाजीर्णोरेचंशनाहशर्करा-श्मर्याभ्यन्तरविद्रेधिकृमिविपादिश्च पृष्ठयते ॥ ४॥

इस शार द्वारा प्रकार का छोला है—प्रतिसाररणीय और पानीय । इन में से प्रतिसाररणीय क्षार हुड़, किटिभ, दद्र-मण्डल, विलाम, भगन्द्र, अरुद, अर्ण, दुष्टव्याना, नाई, चम्कील, सिल्कालक, न्यच्छ, श्याम, मराक, वाय, विद्धि, हमि दंपा का विष—इन रोपों पर उपयोग में लाया जाता है तथा उपजिह्वा, अधिजिह्वा, उपकृष्ण, दन्तवैदेम और सीन रोहिणी रोप देने वाला मुख सोंतों में भी लाया जाता है । इन रोपों में क्षार का ही प्रयोग करने के लिये बहाग गया है । पानीय क्षार परियाण, गुण्डा, डूब, अप्रिस्ट, अर्णीय, अरोधक, आवाह, शर्करा, पर्याय, अम्बलनविद्रिपि, हमि, विष और ब्राह्मरी—इन रोपों में उपयोगी होता है ॥ ४॥

यस्तु—प्रतिसारीय—बाह्यप्रिमाजेन, जिसका सेवन मुख

द्वारा किया जाय । स द्विविधे नानाभयतरप्रिमाजेनमेदेत । (अ० संग्रह) ॥ उड़ किलास—ये कुछ के भेद हैं । दद्रमण्डल—दद्र का मण्डल (Ringworm) । सुषुप्त में मण्डल हुड़ वर्णन नहीं किया है, चारक में मण्डल महादुष्ट है । किलास—येत कुर (Leucoderma) । व्यचागत कुर को किलास कहते हैं—त्वग्न तु वदशावि किलास तदवीर्तिनद । भगन्द्र—बासूर (Fistula in -ano) । अर्ण—बासारी (Haemorrhoids) । नाई—एक-मुखी पूर्णवकाय (Sinus) । सिल्कालक, चम्कील (Varis), न्यच्छ, श्याम, मराक (Moles) ये त्वचा पर होने वाले कुद्र रोग हैं । कृमिलिप—कृमियों का नियंत्रण प्रकार का अस्त होता है । इसलिये यथा काटते ही दृश्यान पर क्षार लगाया जाय तो अस्त निर्विधि होकर दृश्य से उत्तम होने वाला दर्द तथा शोथ दूर हो जाता है । पेतु—इन सात मुख रोगों में अनु रायन्द-क्षार एव (दद्रहण) । लोपु हृत्यादि यात्रा का अर्थ होता है—चन्द्रके अनुसार ऐसा होता है—उपर्युक्त कुद्रादि सर्व रोगों में शत्रानुग्रहक का प्रयोग करने के वशाद् ज्ञान का प्रयोग करना चाहिये, ऐसा पूर्णचारों का मत है—पेतु कुद्रादित्वं चक्ररात् कठिनप्रेतु ताहेतु कठिनोत्प्रश्नमरातिरिपु चैत्यनुग्रामप्राणिपानन्तर क्षारप्रणिपाननुक्त पूर्णचारेति रोप । ग—अनेक द्रव्यों के संयोग से त्वचा धूआ कृत्रिम विष—नानाप्रायग्रामकविद्रेष्वप्रिमाजेनमात् । विषाणा लावक्षीयांया योगे पर इन स्तृण ॥ इत्रिम गत्तेषु तु किंते विषि योर्जे ॥ (अ० संग्रह) । गुल्म—उदरविमान में वायु से बना हुआ अर्बुद (Gastumor in the abdominal cavity) । इस्तोन्तरे प्रायि सुचारी यदि वाइचल । चयापचयावान् एत सुलुम इन वीर्यात् ॥ (सुकृत) । अग्निह—अग्नि सज्जो लीने विनिन्, प्राणी अल्पक विस्तुरितिविकार । अरोत्क—विष रोग में रोगी की अस्त सेवन करने में इव नहीं होती है, उसे अरोत्क (Anorexia) कहते हैं—प्रविष्ट तु मुख चाह जलीनं स्वरो तुषु । अरोत्क स विषेः ॥ बानाह—कृम के साथ वायु से पट पूलना—भायं रात्रा निति क्रोण भूयो विवद्विगुणानेन । प्रवर्तमान न यथावत्मेन विकरमानानुषु

(Gravel) +४६१ है—४११ +१ = २५५२ ८८

सा (अद्यमी) विषमूलितिवेन शक्तेत्यमितीयते । (सुकृत) ।

हृमि—आन्तरथ कृमि ।

अहितस्तु रत्तपित्तस्ति ज्वरितपित्तश्वट्यतिवाल-घृदत्तुर्येलधममदमूच्छार्तिमितपरीतेभ्योऽन्येऽप्यैयं-विषेभ्य । तं चेतरद्वायात्यहृत्या परिद्वाययेत् । तस्य विस्तरोऽन्यज्ञ ॥ ४॥

पानीयज्ञान का निरेष—रात्रित तथा ज्वरीदिन, विष-प्रहृति, वालक, शूद्र, दुर्योल, अम, मद, मूर्ढा (Syncope), तिमिर—इन रोपों में व्याप्त तथा इस प्रकार के रोपों से पूर्णित अम्बुद्धायों को पानीयज्ञा अहितकारक है । यह पानीयज्ञार प्रतिसारीय ज्ञान की भाँति ओरपि जलाकर तुषा लेने से बनता है । इस का विस्तार (विष) अन्त रथान में होता ॥ ४॥

वक्तव्य—भ्रम—जहर मालूम होना (Vertigo), जहरदल्ली भ्रम भूमि सक्रिय होना । भ्रमोग भ्रम ऐसे रूप विकार । भ्रमोग भ्रम ऐसे रूप विकार ॥ भ्रम—जलाय, दम, जहर इत्यादि पदार्थों के प्रभाव से उत्पन्न हुआ नामा (Involuntary) । विकार—इतिहास ईराय पटल में दौरा द्वारा होने वाला पैदा हुआ एकान्तर्य (Amurkari) । विकारम्—जलाय जैसे घृणायामय में हिंडुलालगामस्य वृक्षमाला एवं इत्यादिक इन्हीं में पार्श्वाधार ही विकार पैदान किया है ।

विभेदतत्त्विकिधो चृदुमेव्यस्तीत्याद्य । ते चिक्कीर्णुः
शरदि विरिसानुजं शुचिरप्तोऽय प्रसास्तेऽहनि प्रदा-
त्तेद्यजातमनुपत्तनं शत्यमद्ययमें भावान्मसित्तु-
ष्टकमनिधियस्यापरेत्युः पाटियित्वा गणदृशः प्रकृ-
त्यापाठ्य निर्याने देखो निर्विन्ति छन्द्या सुधाया-
क्षराद्य विद्विष्य तिळनालंसर्वादीपयेन् । अथोपशान्तेऽ-
मी तद्वस्तु पृथग्गृहीयाद्यसंशक्तोत्तम्य ॥६॥

विभिन्नार्थीय जार तीन प्रकार का होता है—हुड़, नाड़ और भौंझ । जो हम जार को बोलता होते, वह गरद गरद में उत्तम वित देखते हुए और उपोतित होते एवं उपर के ऊपर शरीर मूसि में उत्पन्न हुए, (मूल व्रति विप्र सूक्ष्म इत्यादि दे) उपनिषद्विषये मन्त्रम आयु के (परिर्णार्थी) महान् काण-
सुकर को अधिवासन कर द्योर्य इन उपरोक्त गरदों में । उसे विशेष रूपों द्वारा द्योर्य हुक्के बनाने और निर्यांत श्याम में इट्टा कर, उसमें चूना ढालकर तिल की सफ़ेदियों से उसे जला है । अथ (ओरिपि दी) विभिन्नाने ही जाने वह भस्म केला ददा के ओर चूना आला करते हैं ॥६॥

वक्तव्य—भ्रमेऽहनि—तिथि कर्त्ता सुहृत्वादि एवि मे-
द्यम तथा प्रवत्त वेवयर्था विवरित । भ्रमेऽद्यायां—अथ-
विद्विष्य विवरित तथा अन्यूरामेवुरादि गुणाद्युक । अनुपदान—
श्विभिरप्तायस्यरप्तन्तुमोऽप्तायप्तामात्तुपृष्ठान् । मध्यमत्तयत—न
चहुत नया न व्युत्तु पुराना । नया कुक्ष आव्यर्थि, पुराना कृष्ण
हीनवीर्य और मध्यमद्ययस्य कृष्ण परिपूर्णवीर्य होता है ।
अतिमुक्तो—पलाय सदग पर्वत पर होने वाला एक कृष्ण है ।
इसे धंटापालि या मोला कहते हैं । इसकं श्वेतपृष्ठ और
हुणाद्युक दो भेद हैं । इन में से श्वेतपृष्ठ की अपेक्षा कृष्ण-
पृष्ठ धेष्ट ऐसे के कारण उसको ग्राण करने के लिये कहा है—
गुप्तक: कालपुण्यु वद: शेतपृष्टान्मः । अथवात्य—मन्त्र वलिपूजा
द्वारा आयाहन करके । 'उत्तराल्लासमोऽशतादिनिधुर्शिरो' वहि
श्वता मदक्षिणे नाभ्यर्थनगविवासवेद् । (अ. संग्रह) । कृष्ण के
जपर रहने वाले भूतों का अपसारण करने के लिये अधिवासन
किया जाता है—निवसनीह भूतानि यान्यसिन तानिचिद हुमे ।
अपक्रामन्तदश्येऽपराये शो यायं द्वामः ॥ निर्विति छत्वा—राशीहृत्य ।
सुधायामेत्वा—सुधायामय, चूने के छोटे छोटे ढुकडे । 'शक्तं
श्वतरायामयविगोपः' ऐसा अर्थ हाराणचन्द्र की टीका में दिया है ।
परन्तु सुधा और शक्तरा दो भिन्न पदार्थ न समझ कर सुधा की
गकरा या पापाण समझना अधिक प्रगत है । वाम्बट में सुधा

१ तरोऽपेरेद्युः । २ नि चित्तं ।

मर्करा से श्याम में सुधास्त मृद जागा है—तजिन मुष्टकलम्बे
सुधायामेत्वा भू दौसेहर । (ब. द.) । तजिनाहै—'तजिनाहैर्विद्युत्तम
मांदेव्यस्तीर्णम्' । शुभम—नित व्रतोजन के लिये भित्ति भित्ति
पृष्ठद्वित विद्या जाता है । भगवत्तर्त्तु—भगवीभूता नुधायामाण,
जहे हुए पूने हे पथर । शर्वरा का शूसरा अर्थ यह है कि सुखक
पूज अलगे स्वरूप उनमें जो रस भस्म में चूता है, वह भस्म
संयोग से शर्वरा सद्य पर्याप्त हो जाता है—पुरालक्ष्मानामु-
रामः प्राप्तो हु दः । भगवना हो मनुः विद्युत्यमुत्तरात्पति ।
ती भगवान्मात्पतिः ॥

विभानेश्वर विभानेन कुन्दजपत्नाशाश्वकर्त्तुपाति-
भद्रपनिभीताप्ताग्रव्यवत्तिल्पवार्षस्तुशायामार्गापाटल्य-
त्तगामालयुपकर्त्तुप्रत्यक्षपृतीकेन्द्रवृषाहकोताश्वमा-
रक्षसत्तच्छ्रद्धादिमत्थगुद्याव्यतत्त्वव्यक्षोद्यातकीः समृ-
लस्तदप्रशास्या देह ॥७॥

इसी विधि ने कुछ, दाक, गाल, नित्य, बेहो, अमलताम,
लिंग, जाक, धोइर, लट्टिरा, पाटला, वरंग, अरस्सा, बेला,
सिंधा, सामरगंगो, दंपदाल, आस्तोना, कनेर, छातीन,
कर्त्ता, शुद्ध, चारों प्रकार की बोगातरी, इनके गूद, फल,
पत्र और धारा समेत भस्म कर दे ॥७॥

वक्तव्य—जनेश्वर विभानेन—हृष्णमुष्टक की भाँति
प्रगत द्वित देशादि शतों का विचार कर अधिवासन पूर्वक
निर्यांत श्याम में रायि करके जलाना चाहिये । समूलपत्त
द्वाम—इसका उद्गतादि प्रत्येक उक्त के साथ संयंप है ।
शशको—चक, हस्तका अर्थ पृक प्रकार का 'रस्तेकृष्ट' करता है ।
पारिमध्य—देवदार (दलहण), पारिजातक पांगरा (उद्य-
धन्दहत) । दलशक्त—हृष्णस्त्रेतुपृष्ठकुट्ट (दलहण, हाराण-
घंट), अंगुज कृष्ण (उद्यचंद्रहत) । नदासद्य कैशात्ती—शृद-
पत्त, अस्तराल, पीपुलाय, खेतपूजा—शति चतुर्विंशि । वाम्बट में
कालंगंवा और सद्युक्तालयव्य अधिक हैं ।

ततः द्वारद्रोणमुष्टकद्रोणैः पद्मभिरालोऽव्य सूत्रैर्वा
यथोक्तैरेकाविश्वतिकृत्यः परिस्त्राव्य, महति कटाहै
शनैर्दर्व्याऽव्यधृत्यन् विपचेत् । स यदा भवत्यच्छ्रु-
रक्षसत्तीदणः पिच्छुलश्च, तमादाय महति वर्षे परि-
च्छाव्येतरं विभज्य पुनरभ्यावधिप्रथयेत् । तत एव च
क्षारोदकात् कुडवमध्यर्थं चाऽपनयेत् ॥८॥

फिर दोषभर भस्म को छुने पानी में या यथोक्त मूत्र में
खूब मिलाकर दृष्टीम धार बच से छान ले । फिर यही कटाही
में टालकर दर्वी से धूरं धूरं हिलाते हुए विपचन करे । जब
वह स्वच्छ, लाल वर्ण, तांकण और चिरना हो जाय तब उनार
कर घने कपड़े से छानकर अविरहत किट्ट को अलग करके विसृत
द्वय को फिर अप्ति पर चढ़ाये । उस विसृत द्वय में से पृक या
देह कुडव द्वय निकाल (कर दूसरे पात्र में) रखे ॥८॥

वक्तव्य—क्षारद्रोण—दो भाग मुष्टक भस्म और एक
भाग कुडजादि भस्म मिलाकर पृक द्वय भस्म लेना । मूत्रैर्वा
यथोक्तैः—जहाँ कहीं गोमूत्रादि का उपयोग करने के लिये लिखा
हो, वहाँ उक्त मूत्र में क्षार का आलोड़न करना चाहिये । परंतु

क्षणन शक्ति कम है जाने पर उस क्षार में क्षारोदक छोड़ से उसकी शक्ति फिर बढ़ जाती है। हसका लिशेप विवरण में २१ लोक की टीका में देखो।

भावतश्चाच—

॥तीक्ष्णो न मृदुः शक्तिः शुद्धोऽथ पिच्छलः ।

विष्णुन्दी शिवः शीघ्रः क्षारो ह्यष्टगुणः स्मृतः ॥१२॥

क्षार के आठ गुण—जो न बहुत तीक्ष्ण हो, जो न बहुत मट्टू
जो श्वेत वर्ण हो, मुलायम हो, चिकना (Soapy) हो,
रेखायन से अधिक जो न फैलता हो, गुणकारी हो और
प्रभाव करने वाला हो, ये क्षार में आठ गण होते हैं ॥१२॥

वक्तव्य—अधिष्ठनी—स्पृशित स्थान से जो चरों ओर विक न फैलता हो किंवा जिसके लगाने से अधिक स्राव न ता हो—अनभिष्ठनी। (अ. सं) । शिव—सौम्य, गुणकारी, धिक पीड़ा न देने वाला—अल्पस्वर् । (अ. सं) । इन आठ रोपों के अतिरिक्त वामभट्ट में शिखरी और सुखनिर्वाप्य ये गुण अधिक वर्णन किये हैं ।

शतमार्दवश्वैत्यौष्ण्यतैदण्डपैच्छल्यस्पिताः ।

अन्द्रताऽपक्ता हीनद्वयता दोप उच्यते ॥१३॥

अतिमृद्दु, अतिशुक्ल, अतितीक्ष्ण, अतिपिच्छिल, अति-
प्रेलने वाला, बहुत गाढ़ा, कच्चा और हीन द्रव्यों से बना
दृश्य-ये क्षार के दोष हैं ॥१३॥

वक्तव्य—अतिमृदु, अतितीक्षण—जो क्षार एरण्ड नाल का दहन सौं अक्षर के उच्चारण मात्र काल तक करता है, वह योग्य तीक्ष्ण समझना चाहिये—यथेरण्डनालमेप दहति क्षारी वरो वास्तवात्। जो इससे कम समय में जलन करता है, वह अतितीक्षण समझना चाहिये और इससे भी अधिक समय में जो पुरण्डनाल का दहन करने में समर्थ नहीं होता है, वह क्षार अतिमृदु समझना चाहिये। हीनद्रव्य-खराद द्रव्यों का उपयोग करके करके बनाया हुआ या कम सात्रा में द्रव्यों का उपयोग करके बनाया हुआ। अतिश्वेत्य के स्थान में शैत्य ऐसा भी पाठ है। वास्तव में 'अतितृष्णु' वहुत पतला यह एक क्षार का अधिक दोष वर्णन किया है।

तत्र क्षारसाध्यव्याधिव्याधितमुपवेश्य निवा-
तातपे देशोऽसंतावेऽग्रोपहरणीयोक्तेन विधानेनो-
पसंभृतसंभारं, ततोऽस्य तमवकाशं निरीक्ष्यावधू-
प्यावलिलय प्रच्छयित्वा, शलाकया क्षारं प्रतिसा-
प्तेत्, दत्त्वा बाक्षशतमाचमुपेक्षेत् ॥१४॥

क्षार से साध्य होने योग्य रोग से पीड़ित रोगी को निर्वात,
निरात्प और विस्तीर्ण स्थान में विठाकर अश्रौपहरणीय (धवां
श्वाय) अध्यायोक्त विधान के अनुसार (क्षारकर्म के लिये
उपयोगी) सब सामग्री पास रखकर वैद्य रोगी के क्षारप्रयोज्य
स्थान का खूब निरीक्षण करे और उस स्थान पर धर्षण, लेखन
या प्रस्तुत करके शलाका से क्षार लगाकर सौ अक्षर के
बचारण मात्र काल तक देखत रहे ॥१४॥

वसावद्य—निवातातपे—हवा के झोकेभपाई मे लथा
संस्कृते संस्कृते

हम तो संसाक्षण परन्तु अन्वकार रहित और खुली हचायुक्त !

न हो अर्थात् विस्तीर्ण । अवलिख्य द्रव्यादि—चातुष्ट स्थान के लिये लेखन, पित्तदृष्ट स्थान के लिये धर्पण और कफदृष्ट स्थान के लिये प्रच्छान करके । यह कार्य दोषदृष्टि लक्षणों के अनुसार समझना चाहिये । वाक्शरतम्—मात्राशरतम् । लघु अक्षर उच्चारण के लिये जो समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं । इसको अक्षिनिमेप भी कहते हैं । उपेन्द्रेत—कांजिकादि से उस समय तक निर्वापण नहीं करना चाहिए । इसलिये उदासीन या अकर्मण्य होकर बैठना । निरीक्ष्य—दोषविज्ञान के लिये तथा क्षार प्रयोग्य स्थान का आकार मालूम करने के लिये उस स्थान का सूक्ष्म निरीक्षण करके ।

तस्मिन्निपतिते व्याधौ कुञ्जाता दग्धलक्षणम् ।

तनास्तुवर्गः शमनः सपिर्मधुकसंयुतः ॥१५॥

क्षार लगने से व्याधियुक्त स्थान में कालापन आ जाना
क्षारदग्ध का लक्षण है। फिर उस दग्ध स्थान पर घी और
मुलहठीयुक्त अस्त्रवर्ग पीड़ियामक होता है॥१५॥

बक्तव्य—पहले शोकार्ध में सम्यग् दग्ध का लक्षण दिया है। **कृष्णता**—सम्यग् दग्ध स्थान के कालेपन में जम्बूफल सदृश किञ्चित् नीलिमा होती है और इसके सिवाय दग्धस्थान किञ्चित् अवसरप्त ही जाता है—पक्षजन्मवसितं सदं सम्यग् दध्मम् । **मधुक-** **संयुतः**—वाग्भट में मधुक के स्थान में मधु उपयोग करने के लिये लिखा है—निर्वापेत् सर्पिमधुव्याम् । **अम्लवर्णः**—सौवीरक तुपोदक धान्यालादि । घृतमधुकयुक्त निर्वापण करने के पहले रुई से लिपटी हुई शलाका द्वारा परिसर्जित करना चाहिये और निर्वापण के पश्चात् शीत घृत का प्रत्येप दग्ध स्थान पर करना चाहिये । दग्ध भाग शीघ्र विशीर्ण होने के लिये दही उड्ढ जैसे अभिष्यन्दी पदार्थों का सेवन करना चाहिये । क्षारं प्रमार्ज-
नेनात् परमूज्यावारम्य च । सुदर्शप घृतमध्वत्तं तत्पयो मस्तुकाजिकैः ॥
निर्वापेततः साज्जैः स्वारुपीतैः प्रदेहयेत् । अभिष्यन्दीनि भोज्यानि
भोज्यानि क्षेत्रनाय च ॥ (अ. हृदय) ।

अथ चेत् स्थिरसूलत्वात् ज्ञारदनधं न शीर्यते ।

इदमालेपनं तत्र समग्रमवचारयेत् ॥१६॥

अस्लकाजिकवीजानि तिलान् मधुकमेव च

प्रपेष्य उपभागानि तेनैनमनुलेपयेत् ॥१७॥

तिलकल्कः समधुको घृताळ्को ब्रणरोपणः

यदि दृढ़ मूल होने के कारण क्षारदग्ध भाग विशीर्ण नहीं होता ही तो अगले श्लोक में दिया हुआ सर्व लेप वहाँ करना चाहिये ॥१६॥ धान्याम्बल का तलछट भाग तिल और मुलहठी समान भाग में पीसकर उसका क्षारदग्ध भाग पर लेप करे ॥१७॥ (इस ग्रकार लेप करने से क्षारदग्ध भाग विशीर्ण होने के पश्चात् जो घ्रण उत्पन्न होता है) उस घ्रण को भर लाने के लिये मुलहठी और दृढ़ युक्त तिल की लुगदी प्रयुक्त करे ।

वक्तव्य—स्थिरमूलतात्—क्षारदग्ध भाग अधिक भोटा
या ढू होने के कारण अस्थिलंबी भोजन करने के पश्चात् भी
घड़ि नहीं गल जाता है। अस्तुकांजिकीजम्—अस्तुकांजिकाथःस्थितं
द्वयम्। दग्ध ब्रण घोने के लिये तथा उसके रोपण के लिये
अष्टाङ्गसंस्कृत में निम्न लाइ और तैल छूट वर्णन किया है—
द्वयम्—MADE WITH LOVE BY AVA

प्रयामेव च कल्पकाये सिद्ध सर्पिलैल वा रोपणम् ॥ नागपुष्पनिष्ठाचन्दनतिर्पणीकामु वा ॥

रसेनाम्भलेन तीदेणेन धीर्योप्येन च योजितः ॥१८॥ आप्नेयेनाद्विना तुव्यः कथं ज्ञातः प्रशास्यति ।

एवं चेन्मन्यसे वत्स ! प्रोच्यमानं निवोध मे ॥१९॥ अस्त्वर्जन् रसान् ज्ञारे सर्वनीय विभावयेत् ।

कटुकस्तत्र भूयिष्ठो लवणोऽनुरसस्तथा ॥२०॥ अस्त्वेन सह संयुक्तः सर्तीदेहलवणो रसः ।

माधुर्यं भजते त्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति ।

माधुर्याच्छ्रुममाम्भोति यद्विरुद्धिवियाम्लुतः ॥२१॥

तीक्ष्ण और उल्ल वीर्य अम्लरस जो (स्वयं) अभिल्प है उससे दूसरे अस्त्रिके के तुल्य क्षारकी शानि खोकर हो जानी है । (सुखुत के इस प्रभ का भावान्वय धन्वन्तरि ने उत्तर दिया कि) हे पुत्र ! यदि तू यही समझता है तो मेरा व्याप्त्य सुन ले ॥१८, १९॥ क्षार में अन्तरत के अतिरिक्त शेर सर्वरस उत्पालित समान लो । इनमें कटुकरस प्रधान तथा अधिक और लवण अनुरस (अग्रधान) होता है ॥२०॥ सीक्षण लवणरस (ज्ञात) जब अम्लरस से मिलता है तब तीक्ष्ण भाव को छोड़कर मधुर भाव को प्राप्त हो जाता है और मधुर होताने से यानिको प्राप्त होताना है जैसे कि जल के छिटकने से अग्निकी धानित हो जाती है ॥२१॥

यत्कथ्य—आप्नेयेनाद्विना—अस्त्र और ज्ञात कार्य की इष्टि से दोनों भी वानेय हैं, यथापि दोनों का कार्य करने का तरीका भिन्न भिन्न होता है । औंग्रेजी में भी कार्य की इष्टि से दोनों को करोमिह्न (Corrosive) वर्ण में समाविष्ट करते हैं । कटुक स्त्रा भूयिष्ठ—पांचों में से क्षार में कटुक रस की अधिकता होती है । इलहण इम स्त्रीकार्य का अर्थ उलटा करते हैं—‘तत पचरसे क्षारे कटुकोऽनुरस, लवणत्वं भूयिष्ठ इति योज्वन् ।’ ज्ञात के पांचों रसों में लवण इस प्रधान और कटुक अनुरस है । परंतु इस प्रकार स्त्रीक का उलटा अर्थ करना निःकारणों से अप्रणत प्रतीत होता है । (१) इन अध्याय के सूत्र तीन में ज्ञात के जो । गुण कमी वर्णन किये हैं, वे आगे इसविशेष विज्ञानीय (४२ अध्याय) में वर्णन किये हुए कटुक रस के गुणकार्यों के साथ स्थापना दृष्टि, वर्णेश्वर, शत्रुघ्न, मिलते हैं । स. कटुक उल्ल सीक्षण पांचनो विलयन शीघ्रभो रोपण रैपण स्तम्भनो लेवन कृत्यमकारुद्विष्टमेद्यानुराइना पुस्तव्य चानितेवित ॥ (क्षारपाकविधि अध्याय) । कटुको दीपन पांचनो दीपन शीघ्रन स्तौरालय कारामिविकुड़कारुप्रशमन इन्द्रियामुद्दिना च ॥ (रम्बिगेविज्ञानीय) । (२) चरवसंहिता में भी ज्ञात में कटु

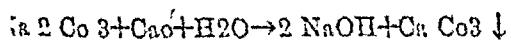
हि तनेकाम्भमधुरमनेकरम कटुकलवणभूयिष्ठम् ॥ (मू. अ २५) । (३) यदि स्त्रीकार्य लवणों को छोड़कर केवल यवक्षरादिक का स्वाद लिया जाय तो लिङ्ग पर कटुकरस अधिक प्रीत होता है । (४) अष्टाहसप्तर में भी क्षार का वर्णन ‘कटुकलवण भूयिष्ठ’ रेता ही किया गया है । इसलिये कटुकरस क्षार में प्रधान मानना प्रश्ना है । वज्र क्षार प्रशास्यति—उल्ल क्षार का

शीतसर्प्य अस्त्र के साथ सयोग होने से मधुरता उल्ल होकर ज्ञात की शानित हो जाती है—अस्त्रे हि शीत स्त्रोम शास्त्रेनाम सहित । यात्याशु स्ताडुता तस्माद्वैर्विवार्यपेत्राद् ॥ (वास्त्र) यास्त्रम् में यह एक रासायनिक निर्वायकरण (Neutralisation) की प्रक्रिया है । परंतु इसका आवक्लन होने के लिये स्त्रारपा विधि रासायनिक परिभाषा की इष्टि से समझना आवश्यक है । क्षाररस का रासायनिक इष्टि से विचार—आयुर्वेद में हारकने (Potential Cautery) के लिये जो ज्ञात (Castric) मधुर होते हैं, उनके लिये वनस्पतियों के भ्रम स्थापनस्तिके लिये और प्राणिय पदार्थ उपयोग में आते हैं । वनस्पतियों के भ्रम में अधिकांश संदिग्धम कार्यविनियोग, क्षारालसिंग्राम आसासाइड, स्पार्गेनेसिंग्राम आसासाइड, सिलिका इत्यादि रासायनिक द्रव्य होते हैं । वनस्पतियों का भ्रम पानी में मिलाकर, कपडे से छानकर और अग्नि से पकाकर ज्ञारोदाइक में प्रथम परिवर्तित किया जाता है । ज्ञार-निर्वायक की इस विधि को औंग्रेजी में लिस्टीलीफ्यूजन (Liquation) और क्षारोदाइक का लाय (Lye) कहते हैं । क्षारोदाइक बनाते समय सिलिका जैसे कुछ पदार्थ अग्रमुख होने के कारण एक दिये जाते हैं, सोडियम और पीडियासिंग्राम के लवण पानी में विदृश होते हैं और कुछ पदार्थ आपस में अद्वृद्वृद्ध (Double decomposition) होने के कारण नये घटनते हैं । ये नये पदार्थ संदिग्धम और पीडियासिंग्राम के हायड्रोक्साइड हैं परन्तु हनकी राय अस्त्र होती है । ये कैसे उत्पन्न होते हैं, इसका विचार आगे भ्रम्यम क्षार के बनावट में किया गया है ।

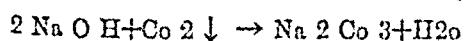
के लिये सुधा (Lime stone), पापाण (Marble), हीरा-पाक (Chalk), शश (Conch shell), शुभि (Oyster shell) इत्यादि चूने के पदार्थ अग्नि में जलाकर प्रयुक्त होते हैं । अग्नि में जलाने के पूर्व में सब पदार्थ क्षारालसिंग्राम कार्यविनियोग (Ca CO₃) होते हैं । जलाने से इनका परिवर्तन क्षारालसिंग्राम आसासाइड (Cao) और कार्बन डायोसासाइड (CO₂) में होता है । कार्बन डायोसासाइड बायुरुप होने के कारण हवा में चला जाता है । यह प्रक्रिया निःर समीकरण समर्पित होती है ।



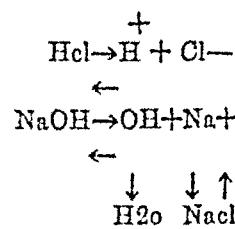
इसी समीकरण के अनुसार चूनों में जो क्षारालसिंग्राम होता है तथा चूत जलाते समय जो चूता दालते हैं, उसका परिवर्तन क्षारालसिंग्राम आसासाइड में होता है । इस प्रकार चूते के जलाकर चूताये हुए क्षारालसिंग्राम आसासाइड को पानी में पिया करके क्षारोदाइक में छोड़ (प्रतीकारा) देते हैं । इससे क्षारोदाइक में अधिकांश कार्यविनियोग हायड्रोक्साइड में परिवर्तित होकर क्षारालसिंग्राम आसासाइड का किर कार्यविनियोग होता है, जो अग्रमुख होने के कारण नीरे तारी में बिछा है । यह प्रक्रिया अधिग्रंथ समीकरण के अनुसार होती है ।



इस प्रकार मध्यम क्षार में हायड्रोक्साइड की राशि अधिक के कारण उसी क्षण में भी व्युत्ती है। तीक्ष्ण और मध्यम क्षार में हायड्रोक्साइड की राशि में कोई विशेष प्रक्रिया हो सकता है। यद्योंकि मध्यम क्षार को तीक्ष्ण करने के बनस्पतियों का ही चूर्ण अधिक प्रयुक्त होता है। इसलिये स्पष्टियों की कुछ तीक्ष्णता उभयमें वा लकी है। इस प्रकार ये हुए ज्ञार को लोहे के पानी में सुख दें। (अनुग्रह या प्रस.) करके कुछ दिन तक रखना चाहिये। अल्कली बनाने तथा रखने के लिये लोहे का पानी आधुनिक वैज्ञानिक दैसे भी उत्तम प्रमाणित हुआ है। सुख दें करके रखने से हायड्रोक्साइड के कार्बन दायोक्साइड का संबंध क्षार के विषय नहीं होता है। ज्ञार की शक्ति कायम रखने के लिये यह प्रकार सुख दें करके रखना आवश्यक है। कुम्ह का यह सुख रखने से हायड्रोक्साइड का परिवर्तन धीरे धीरे विनिट में होता है और क्षार की शक्ति कम हो जाती है।



क्षार तैयार होने के पश्चात् कुछ दिन तक (तांश व्याख्यिलतः प्रागादृच्छ भ्रुवीति । अ. स.) रखने से क्यालसिअम विनिट का अवज्ञेपण (Precipitation) उत्तम होकर क्षार की शक्ति अधिक से अधिक हो जाती है। स्तेनाम्लेन एप्लेन कार्य क्षारः प्रशान्ति—अम्ल और क्षार व्यापि उल्लंघीर्य गैर तीक्ष्ण होते हैं तथापि रासायनिक दृष्टि से वे अल्पत्त भेद प्रकार के पदार्थ होते हैं। ज्ञार वैसिक (Basic) पदार्थ, जिस में हायड्रोक्सिल नामक ऋणभाग (OH as a Negative Radical) होता है और अम्ल एसिड (Acid) पदार्थ है, जिस में हायड्रोजन नामक धनभाग (H as a Positive Radical) होता है। संयोग होने से दोनों के धन और ऋण भागों में अद्वल-व्यवहार होकर पानी तथा लवण (Salt) बन जाता है। ये दोनों पदार्थ क्षार और अम्ल से गुण धर्म में अल्पत्त भिन्न और व्युधा गीतीर्थी होते हैं। इस विधि को निर्विर्यकरण (Neutralization) कहते हैं। इस प्रकार ज्ञार के स्थान पर अम्ल दग्धाने से उसका वीर्य नष्ट होकर क्षण की शक्ति शान्त हो जाती है और दोनों के संयोग से पानी और लवण बन जाता है। निर्विर्यकरण के लिये अम्ल और क्षार समान राशि में होना आवश्यक है। यदि अम्ल की राशि कम हो तो क्षार का वीर्य पूर्णतया नष्ट नहीं होगा और उसकी क्षण की शक्ति जारी रहेगी। यदि अम्ल की राशि अधिक हो तो क्षार पूर्ण निर्विर्य होकर अम्ल अपना प्रभाव दिखला कर शरीर को हानि करेगा। इस आपत्ति को दूर करने के लिये आयुर्वेद में अल्पत्त सौम्य (Weak) स्वरूप के वानस्पतिक अम्ल क्षार धोने के लिये प्रयुक्त किये गये हैं, जो ज्ञार का निर्विर्यकरण भली भाँति करते हुए भी शरीर को किसी भी प्रकार से हानि नहीं पहुँचा सकते। निर्विर्यकरण के उदाहरण के लिये सोडियम हायड्रोक्साइड (NaOH) और हायड्रोक्लोरिक अम्ल (HCl) की प्रक्रिया आगे समीकरण से बतलाई गई है, जिन के संयोग से खाने का नामक (NaCl) और पानी बनता है।



पानीय क्षार—अय तक प्रतिसारणीय क्षार के संवंध में वर्णन किया है। पानीय क्षार के लिये उत्तीर्णी तीक्ष्णता की आवश्यकता नहीं होती है, जितनी कि वाल प्रयोग के लिये होती है। रासायनिक दृष्टि से वे कह सकते हैं कि पानीय क्षार में हायड्रोक्साइड की आवश्यकता नहीं होती है। इसलिये पीने के क्षार चूने के प्रयोग के सिवाय बनाये जाते हैं। बनस्पतियों से बनाये गये ज्ञार व्युधा सोडियम और पोट्यासिअम के कार्डीनेट होते हैं। जो खनिज होते हैं वे कार्डीनेट के सिवाय फ्लोराइड, नायट्रेट हृत्यादि हो सकते हैं। परन्तु पानीय क्षार में हायड्रोक्साइड की राशि नगण्य सी होती है। पानीय क्षार का उपयोग चूर्ण के स्वरूप में होता है। परन्तु प्रतिसारणीय का उपयोग हमेशा द्रवावस्था में ही किया जाता है। क्षारों का कार्य करने का तरीका—जादू-ज्ञार में जल का शोषण करने की (Dehydrating) अल्ब्यूमिन का घोल करने की (Albumin dissolving) और मेद का साधुन बनाने की (Saponification) शक्ति होती है। इस त्रिगुणात्मक शक्ति के कारण शरीर के जिन सेलों के साथ ज्ञार का संयोग होता है, वे जल अल्ब्यूमिन अदिक पोषक द्रव्य नष्ट होने के कारण मर जाते हैं। शरीर में जल अनुपयोगी (यथा—तिलकालक भयक), अधिवृद्ध (सौम्य अर्द्धद), विकृत (यथा—दुष्ट व्यण, नाडी, चम्मील, भगन्दर, अर्धा), और दुष्ट (दुष्ट अर्द्धद क्यान्सर, एपिथेली ओमा) सेल होते हैं, तब उनका नाश करने के लिये ज्ञार का उपयोग होता है। कृमिदंश विष में क्षार से लाभ होने का कारण यह है कि कृमिदंश व्युधा अम्ल स्वरूप के होते हैं और क्षार का प्रयोग करने से वे निर्विर्य हो जाते हैं। पाश्चात्य वैद्यक में लायकर पोट्याश (Koh), लायकर सोडा (NaOH), लायकर अमोनिया (NH₃), रजतननित्रित (Silver nitrate) और जसद हरिद (Zinc Chloride) ये द्रव्य ज्ञारकर्म के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं। आयुर्वेदिक पद्धति के अनुसार जो मध्यम क्षार बनाया जाता है, उसका रासायनिक संगठन पाश्चात्य वैद्यक में प्रयुक्त होने वाले 'वीएलापेस्ट' (Vienna Paste) के साथ वहुत कुछ मिलता है। इस पेस्ट में पोट्याश और चूना होता है। आभ्यन्तरीय—क्षार का सेवन करने से शरीर के पचनसंस्थान, रक्तसंस्थान और सूत्रसंस्थान पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। पचनसंस्थान—आमाशय पर क्षार की किया तीन प्रकार की होती है। (१) ज्ञार भोजन के पहले सेवन करने से आमाशयिक वृथियों (Gastric glands) से पाचक रस का साव कुछ समय तक रोके के रखते हैं। इससे भोजन के बाद पाचक रस अधिक मात्रा में और शक्ति में सुख होता है। (२) भोजन के पश्चात् सेवन करने से पाचक रस का अल्पाधिक निर्विर्य करते हैं। (३) ज्ञाराधिक ऐमल कला पर शामक (Sedative) प्रभाव डालते हैं।

इसलिये चार्ट का उपयोग असिमान्द, अरोचक, वमन, अर्जीय इत्यादि पेट के रोगों में होता है। और पर हनका कुछ विरेचक प्रभाव पड़ता है इसलिये आभान, आनाह, गुरुम् इत्यादि विकारों में उपयोग होता है। रत्नस्थान—पचन होने के पश्चात् रक्त में मिलकर ज्ञार रक्त की ज्ञारीय प्रतिक्रिया (Alkaline-reaction) बढ़ते हैं और वातरक, गटिया रोगों में लाभ करते हैं। मृतमसान—ज्ञार बहुधा कार्बनेट के रूप में उत्सर्गित होते हैं। उत्सर्ग के समय वृक्ष में डॉजेन्ट्रा उपचर कर मृत्र की राधि पड़ते हैं और मृत्र की ज्ञारीय बनते हैं। मृत्र ज्ञारीय होने के कारण बस्ति में युरिक एसिड (Uric acid) का अवक्षेपण नहीं हो सकता तथा अवक्षेपित युरिक एसिड का विद्रोण होता है। इसलिये ज्ञार मूलतः होते हैं और युरिक एसिड के पर्यायी और शर्करा में पापदा करते हैं। पाक्षात् वैष्णव में निज ज्ञार आमननीय उपयोग के लिए प्रयुक्त होते हैं। यथा—पोटायासित्रम सापेट्र, पोटायासित्रम एसिटेट, पोटायासित्रम नायट्रोट (योरा), सोडिअम वाय कार्बोनेट, पोटायासित्रम नायट्रोट (योरा), सोडिअम वाय कार्बोनेट, सोडिअम कार्बोनेट, लिथीअम सापेट्र, लिथीअम कार्बोनेट इत्यादि। आयुर्वेद में वयक्षार, टंकणज्ञार, रंग लवण तथा निज शूष्मों के ज्ञार पीने के लिये प्रयुक्त होते हैं—

निजपामार्गनदनीरलसारियुक्तोच्चा ।

मूलार्द्धक्षिद्वायात्मा वृक्षहारा प्रीतिं ॥ (रसार्णव)

तत्र सम्युद्धरथे विकारोपशमो लायवमनात्मा वश्च। हीनदग्धे तोदकण्डुजाड्यानि व्याधिवृद्धिश्च। अतिदग्धे दाहपाकरागन्दावायाङ्गमर्दहृमपिपासामूर्च्छाः स्युर्मरण्य वा ॥२२॥

(रोग का स्थान) जब ज्ञार से ढीक जल जाता है तब विकार की शक्ति ही जाती है, (शरीर में) हल्कापन आ जाता है और ज्ञाव बढ़ हो जाता है। यदि कम जला हो तो पीटा, झुजली, (शरीर में) भारीपन और व्याधि की एहिं होती है। अधिक जल गया हो तो जलन, पाप, सुर्ख, लाव, शरीर में पीड़ा, घकाव, प्यास, मूँहों और मृत्यु भी हो जाती है ॥२२॥

ज्ञारदग्धमण्यं तु यथादोपं यथाव्याधि चोप-
क्षमेत् ॥२३॥

ज्ञारदग्ध के प्रश्ना उपचर हुए वर्ण को वातादि दोष और व्याधि के अनुभाव उपचार करे ॥२३॥

वृक्षदग्ध—इनके प्रश्नालन और रोग के लिये जो सामान्य द्वाया तैर्यादि प्रयुक्त होते हैं, उनका विवरण आठांग-सप्त्रहे के अनुभाव स्तोलक स्तोलक की दीका में दिया गया है।

वृथ नीते ज्ञारस्त्वा । तथ्या—दुर्बलवालस्थ-
विरभीरसर्वाङ्गानोद्दरित्कपित्तिगर्भिण्यृतुमतीप्रवृ-
द्धन्यरिप्मेद्वोर्द्वंतक्षीणित्वरुणामूर्च्छोपदुक्तीवापवृ-
चोहृत्पफलयोनयः ॥२४॥

निष्ठलिलित मनुष्य द्वारकन्त के लिये योग नहीं होते हैं। जैसे—तुरेल, बालक, वृद्ध, दर्पोक, सर्व शरीर जिसका सूज गया हो, जलीदीरी, रक्षपित रोग से पीड़ित, गर्भिणी, रजस्वला

स्त्री, तीव्र ज्ञार से पीड़ित, भ्रोही, उद्ग्रात से पीड़ित, तृष्णा मूर्ढ्या रोगवारे, नपुरक तथा स्त्री जिसका गर्भांश्य उत्तर या नीषे हो गया है ॥२४॥

वृक्षदग्ध—ज्ञार के लिये अयोग्य हुछे रोगियों का निर्देश पीछे सूत्र ५ में किया है : इनके सिनाय वाग्मट में निज रोगी क्षार के लिये अयोग्य बतलाये गये हैं—अतिसारी, गिरोरोगी, पाण्डुरोगी, वमन और विरेचन सेवन किया हुआ रोगी। इनके सिनाय ज्ञारपाय मनुष्यों में भी अवश्य विरोप के कारण ज्ञार का उपयोग होते हैं। उत्सर्ग के समय वृक्ष में डॉजेन्ट्रा उपचर कर मृत्र की राधि पड़ते हैं और मृत्र की ज्ञारीय बनते हैं। मृत्र ज्ञारीय होने के कारण बस्ति में युरिक एसिड (Uric acid) का अवक्षेपण नहीं हो सकता तथा अवक्षेपित युरिक एसिड का विद्रोण होता है। इसलिये ज्ञार मूलतः होते हैं और युरिक एसिड के पर्यायी और शर्करा में पापदा करते हैं। पाक्षात् वैष्णव में निज ज्ञार आमननीय उपयोग के लिए प्रयुक्त होते हैं। यथा—पोटायासित्रम सापेट्र, पोटायासित्रम एसिटेट, पोटायासित्रम नायट्रोट (योरा), सोडिअम वाय कार्बोनेट, सोडिअम कार्बोनेट, लिथीअम सापेट्र, लिथीअम कार्बोनेट इत्यादि। आयुर्वेद में वयक्षार, टंकणज्ञार, रंग लवण तथा निज शूष्मों के ज्ञार पीने के लिये प्रयुक्त होते हैं—

तथा भर्मसिरालायुसनिधितदण्डासिथसेवनीधम
नीगलनभिनवान्तःशेफःशोतःस्वल्पमांसेषु च प्रदे
शेष्वद्धोष्य न दद्यादन्यन्त्र वर्त्मरोगात् ॥२५॥

तथा भर्म, मिरा, धायु, सधि, तलायासिथ, सेवनी, घमनी गला, नाभि, नालून, घिरन के भीतर, धोती में, जहां मार स्वल्प हो वहां और पलकों पे रोग छोड़ कर नेत्र रोती में ज्ञार का उपयोग नहीं करना चाहिये ॥२५॥

वृक्षदग्ध—मै-शरीर के प्राणतुल भाग (Vitalparts)। इनका वर्णन शरीरस्थान में होता है। तलायासिथ—नासाक्षी, कण्ठादी इत्यादिक में होने वाली कोमल हड्डी (Cartilage)। सेवनी—हड्डी या लच्छा के सयोग स्थान। अप्रेनी में सेवनी की 'सूचर या रेफी' (Suturo or Raphae) कहते हैं।

तत्र ज्ञारसाद्येव्यपि व्याधिषु शृणगात्रमस्थि-
शलिनमध्वेष्यिणं हृदयसनिधिरीडोपदृतं च ज्ञारे
न साधयति ॥२६॥

व्याधियां ज्ञार साध्य होने पर भी जिसके शरीर पर शोष हो, जिसके हड्डियों में पीटा हो, जिसको अवद्वेष हो गया हो, जिसके हृदय और सदियों में पीटा हो, उनमें ज्ञार गुण नहीं करता है ॥२६॥

वृक्षदग्ध—ज्ञार का उपयोग शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा अन्तर्में में तथा मेववर्षा प्रवाल युक्त दिनों में नहीं करना चाहिये। साधारण हक्का को प्रावृद्ध, शर्क और बसन क्षु में होते हैं, उनमें हुर्दिन छोड़कर ज्ञार कर्म करना चाहिये। तथा शीतांवर्षु दिनप्रवर्षेषु वहां पर चोकले । (अ सप्तम)

भयति ज्ञार—
विषामित्राशाशनिमृत्युयुक्त्वा:
ज्ञारे भयत्वस्थमतिप्रयुक्तः ।

स धीमता सम्यग्लुप्त्युक्तो
रोगान्निहन्यादचिरेण घोरान् ॥२७॥

इति सुक्षुतसंहितायां सूत्रस्थाने क्षारपाकविधि-

नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

अत्प्रतिवैद्य से (अयुक्त) उपयोग किया हुआ क्षार अग्निं, शस्त्र तथा वज्र के समान मृत्युकारक होता है और मान् वैद्य से ठीक ठीक उपयोग किया हुआ वही क्षार ही दास्त्रण रोगों को नाश कर देता है ॥२७॥

भास्तुर्सर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुवेदरहस्यदीपिकायां
त्रभाषटीकायां मृत्युस्थाने क्षारपाकविधिर्भैकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः ।

अथतोऽग्निकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः
ोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से अग्निकर्म विधि का व्याख्यान करते हैं, जैसे वात धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

क्षाराद्ग्निर्गरीयान् क्रियासु व्याख्यातः, तद्वानां रोगाणामपुनर्भावाद्वेषजशस्यान्नारैरसाध्यानां
त्साध्यत्वाच्च ॥२॥

दहन कर्मों में क्षार की अपेक्षा अग्नि श्रेष्ठ है। क्योंकि अग्नि दधि किये हुए रोगों की फिर उत्पत्ति नहीं होती और औपचार्य, ग्रंथा क्षार से जो रोग साध्य नहीं होते, वे अग्नि से साध्य नहीं हैं ॥२॥

वक्तव्य—क्रियासु—दहन कर्मों में। दहन कर्म के अतिक्रम की क्षार के साथ तुलना ही नहीं हो सकती है, न क्षार सिद्ध की जा सकती है। जिस कर्म में दहन के लिये स्वाधिक आग्रेय द्रव्यों का उपयोग होता है, उसे क्षार कर्म कहते हैं। जिस में कृत्रिम उत्पत्ता का उपयोग होता है, उसे दहन कर्म होता है। दहन कर्म को अंग्रेजी में कॉटरी (Cautery) कहते हैं। जिसमें औजार तस्त करने के लिये प्रत्यक्ष अग्नि का उपयोग होता है, उसे अग्निकर्म कहते हैं। इसे अंग्रेजी में अक्स्युअलॉटरी (Actual cautery) कहते हैं। इसके सिवाय ग्राम्य ग्रन्थाच्च में दो प्रकार के अग्निकर्म प्रचलित हैं—
(१) वियुद्धनकर्म (Galvano Cautery)—इसमें उत्पत्ता की प्रति वियुद्धवाह टारा की जाती है। इस प्रकार के दहनकर्म में उपयोग आज कल बहुत हो रहा है। (२) पाक्षेलिन का त्वरकर्म (Paquelin's thermo cautery)—इसमें प्रथम औजार को अग्निज्वाला पर उत्तस करके तत्पश्चात् कर्म करते समय उत्स पर डेफोलाइन (Benzoline) की भाप धौंकनी की सहायता से ढोङडते रहते हैं, जिससे वह औजार भाप के कारण उत्स रुक्त हो रहा है। अग्निकर्म की ऐतिहासिक अवधि की श्रेष्ठता के दो कारण पाश्चात्य ग्रन्थाच्च में माने गये हैं। पहला कारण यह है कि जहां जहां अग्नि का संयोग होता है, वहाँ के सर्व विकारी जीवाणु नष्ट होकर वह स्थान विशुद्ध

२८ चाना.

(Sterile) हो जाता है, जिससे आगे चलकर दग्धवन में पाक उत्पन्न होने की भीति बहुत ही कम होती है। आयुर्वेद में भी इस महत्वपूर्ण वात का ज्ञान था—अग्नितस्तेन शक्षेण छिन्नात् । (सु.) । अन्यथा अत्पशशस्त्रच्वेदने पाकभयं स्यात् । (डल्हण)। दूसरा कारण वह है कि अग्निदधि स्थान से रक्तस्ताव नहीं होता है। उत्पत्ता के कारण रक्तवाहिनियों का संकोच हो जाता है। इससे वण जल्दी भर जाता है। अग्नि के इस गुण का भी ज्ञान आयुर्वेद में मिलता है—दाहः संकोचेत् सिरः। इन दो गुणों के कारण अग्निदधि क्षारदधि की अपेक्षा अधिक साध्य होता है ॥२॥

अथेमानि दहनोपकरणानि । तद्यथा—पिप्पल्य-जाशकूद्दोदन्तशरशलाकाजाम्बवौष्ठेतरलौहाः क्षौद्र-गुड्सेहाश्च । तत्र, पिप्पल्यजाशकूद्दोदन्तशरशलाका-स्त्वगतानां, जाम्बवौष्ठेतरलौहाः मांसगतानां, क्षौद्र-गुड्सेहाः सिरास्तायुसन्ध्यस्थिगतानांम् ॥३॥

दहन के लिये निश्च उपकरण (काम में लाये जाते) हैं। जैसे—पिप्पली, बकरी के मैंगन, गाय वैल का दांत, शलाका, जाम्बवौष्ठ तथा अन्य सुवर्णादि धातु एवं मधु, गुड़, तैल, धूतादिक ज्वेह । उनमें से पिप्पली, बकरी का मैंगन, गाय का दांत, वाण और शलाका—ये त्वचा में दहन कर्म के लिये उपयोगी होते हैं। जाम्बवौष्ठ तथा अन्य लोह मांसगत रोगों के दहन में उपयोगी होते हैं। सिरा, ज्वायु, सन्धि और अस्थि के रोगों में मधु, गुड़ और तैलादि ज्वेह काम में आते हैं ॥३॥

वक्तव्य—दहनोपकरण—ये उपकरण अग्नि में तस्त करके काम में आते हैं। शर—वाण। इसका उपयोग अन्य विसर्प की चिकित्सा में दहन के लिये होता है—अथात् दाहः क्षारेण शैर्लै-हेन वा हितः। (चरक)। इतरलौहाः—शर, शलाका और जांबवौष्ठ के अतिरिक्त लोहों के बने हुए अन्य उपकरण, किंवा लोह से स्वर्णादि अन्य धातु के उपकरण भी हो सकते हैं—रक्षक्षि दहेत्पक्षम तस्मैरशलाकया । पक्षमरोगे मुनैनैवं कदाचिद्रोम-सभवः ॥ (चक्रदत्त)। अपानामार्गपिटिकां दहेत् स्वर्णशलाकया । अग्निप्रतिसंया पश्चात् कुर्याद्विद्विग्रन्तिक्रियाम् ॥ (योगरत्नाकर)। तस्मैवं विवर्यैलैंहर्देहद्विविषेपवित् । (चरक)। देहतात्रायोरूप्यकास्तैर्मास-दाहः ॥ (अष्टांगसंग्रह)। उपर्युक्त उपकरणों के अतिरिक्त वाग्मट में पिचुर्वर्तीं, सूर्यकान्त और मधूच्छिदि अधिक वर्णन किये हैं। सिरास्तायुसन्ध्यस्थिगतानाम—सिरा, ज्वायु, सन्धि और अस्थियों का प्रत्यक्ष दहन उनका ज्वेद होकर जब रक्तस्ताव अधिक होता है, उस समय स्वाच को रोकने के लिये क्रिया जाता है—सिरास्तायुसन्ध्यस्थित्वेद्वाणिताप्रदृष्टपुः—सिरादिदाहः । (अष्टांगसंग्रह)। सिरादि के अन्य रोगों में इनके ऊपर के मांस का दहन करने से कार्य होता है—मांसे दग्धे हि शाम्यन्ति सिरास्तायुस्थिमितिः ।

तत्राग्निकर्म सर्वतुपु कुर्यादन्यन्त शरह्रीष्माभ्याम्; तत्राप्यात्ययिकेऽग्निकर्मस्ताद्ये व्याधौ तत्पत्तनीकं चिरिं कृत्वा ॥४॥

शरद और ग्रीष्म ऋतुओं के सिवाय अन्य ऋतुओं में अग्निकर्म करना उचित है। शरद और ग्रीष्म में भी यदि अग्निकर्म

मेरा माल प्राणहारक रोग हो तो गरमी आदि का बचाव और परिहार करके अभिकर्म करना चाहिये ॥४॥

घट्टदृश्य—आवृत्ति—आयु व्याधाहारक । न भ्रमनीक विषि इत्या—कृतुपिपरीत आहार आचादानादिक विधि करके । यीने शीतलकारामुखो चोषणनिवारणम् । इत्या कुरांद किंवा प्राप्ति कियाकाल न हप्तेत् ॥

सर्वद्वयाधिक्षुतुपु च पित्तिलमद्धं भुक्तवतः कर्म कुर्यात्; अश्मरीमग्न्दरारोमुखरोगेष्वभुक्तवतः ॥५॥

सब व्याधियों में तथा सब अनुओ में पित्तिल अत्यं भोजन कराकर यीमी को अभिकर्म करें । परन्तु पथरी, भग्नदूर, वजासीर और मुख के रोगों में दिना भोजन कराये अभिकर्म करना चाहिये ॥५॥

घट्टदृश्य—पित्तिलमध्य—यीमीय, घलकारक और छेपाल अन्न को पित्तिल अथ कहते हैं—पित्तिली यीवनो इत्य सप्ताद्य ऐप्पले गुरु । अभिकर्म करने से शरीर में रौश्य उत्पत्त होकर बात का प्रकोप होता है । उसका निवारण करने के लिये पित्तिल अन्न का सेवन योगी से करवाना चाहिये । अश्मरी भग्नदूर इत्यादि—वहीं कहीं मूदगर्भासमी ऐसा धार निर्वता है । परन्तु मूदगर्भ में अभिकर्म की आवश्यकता नहीं होती है ।

तथा द्विधमस्तिकर्माहुरेके—त्वंददर्थं, मांस-दग्धं च, इह तु सिराक्षायुसन्ध्यस्थिधर्योपि न प्रतिपित्तोऽपि ॥६॥

कहीं आवाये अभिकर्म दो ही प्रकार का रहते हैं—त्वंददर्थ और मांसदग्ध । परन्तु एत्याद्य में अभिकर्म का सिरा, आयु, संधि और अधिक—हन में भी निरेष नहीं है ॥६॥

घट्टदृश्य—एके—वायरादि—ग निराकारामन्त्रमित्तमस्यति कथज्ञन । दायोकर्त्ता व वृद्धो वा भिन्नाऽप्निना ॥

तत्र, शान्तमादुम्भयो दुर्गन्धतो त्वक्संकोचश्च त्वददर्थे; फणोत्वर्णताऽप्यव्ययुपेदना दुष्कसंकुचितवलाता च मांसददर्थे, रुप्यायामत्यलाता ज्ञाय सप्तिरोधश्च सिराक्षायुददग्धे; रुक्षारुणता कर्कदा-स्थित्यमलाता च सन्ध्यस्थित्यदग्धे ॥७॥

त्वंददर्थ, में (चट्टदृश) गच्छ होता है, दुर्गन्ध आती है और त्वक्सा सिकुड़ आती है । लायन्ददर्थ में (त्वप् त्वान्) करोत्वर्ण, विनिल मूत्रन और वेदनायुक होता है और (दग्ध हुआ) धारा गूदा और भद्रुचित रहता है । यिना भीर आपुदग्ध में धन काला और उभरा हुआ होता है और (अपित्तादिक) धार वद होता है । जाता है । संधि और अभिदूर्ध में धन हारा, लाल, सुरादरा और किन्न होता है ॥७॥

घट्टदृश्य—एके—ननोऽप्त, विषम या सुरदरा । विषम वदन—इतिवलाका ।

तत्र यिरोतोगापिमन्थयोर्भृत्यग्निराज्ञमदेवेषु दहेत्, यमरोगेषाऽप्ताऽङ्गन्तर्पतिरुद्यामां दहि इत्या यमरोगापात्रं (दहेत्) ॥८॥

यिरोतोग तथा भविमन्थ नामक नेत्रोग में भीह, इत्यात् तथा लगड़ी में दांग देना चाहिये । संमरीग में भीहे वस्त्र हो

दृष्टिको दक्षकरपलकों “ की ॥ ६ ॥

घट्टदृश्य—अधिमध्य—उत्ताप्तया इत्यालर्थ नेत्रे ॥ शिमोर्ध्वं च त विद्यारथिमन्थ स्वक्षणं ॥ दहौं गृहस्कर के अधिमध्य को शैवंजी में अश्वयू आविठल (Acute orbital cellulitis) कहते हैं ॥

विषेषक एक्समोर्डिशिस (Trichiasis, Distichiasis) ॥ वैमरोग का अनिकर्म अभिप्रेत है । भाद्रलक्षणपतिलक्षण दहूण के अनुमान भीने कर्वे से ढाका हुआ, भाद्रलक्षण कर्व । अन्य दीकाकार के अनुमान ‘आलतक रंग से भूषण व वज्र से ढाका हुआ’ ऐसा अर्थ होता है । अलतक लान बनाया हुआ एक इच्छर्णी रंग होता है, जिसका उपरोग अप्राचीन काल से खिंचाये जाने पैर रक्तित करने के लिये करती थी—अलतरसराजाभावलक्षणलक्षितौ । अधारि त्वं वैष्णवीत्वमप्नमी ॥ (रामायण) । पश्मकोप की विकिसा इसे प्रकार का अभिकर्म सुखुम में नहीं वर्षण किया है अश्वर्द्धसंग्रह में लाक्षारस का उपयोग वैष्णव पल्लों के बालों अपर नियानी करने के लिये लिया है—उपरसमिति तु लाल्हामे ल्यविता सर्वोदयत्वं तनुश्च्योगान्वितेनैरेमणांद ॥१॥

त्वद्वाँससिराक्षायुसन्ध्यस्थिस्थितेऽन्तुप्रभरजि वायाखुच्छितकठिनसुसमादेसे यथो ग्रन्थयर्णोऽर्थुदमग्न्दरापक्षीस्तीपद्वर्चमंकीलतिलकालकामाद्वृद्धिसन्धि सिराच्छ्वेदनादिषु नार्दीशोर्यिंतातिप्रवृत्तिपु घासि कर्मे बुर्योत् ॥२॥

त्वचा, मौस, सिरा, आयु, संधि और अस्ति—इन स्थित हुए वातप्रकारों के कारण अत्यन्त वेदना, धोष, बड़ि तथा अचेतन मासांसुक्षण, प्रचियोग, अर्ध, अर्द्ध, भग्नदूर, अपाली (कण्ठमाला Scrofula), स्फीपद (स्फीपाप Elephantiasis), वर्मकील, निलकालक, आन्त्रवृद्धि (Uterus), मधियोग, सिरा देह तथा नाहीयण और रक्त का विद्यु धूमा (जो धूम नहीं) ।—इन अवस्थाओं में अभिकर्म करना चाहिये ॥२॥

तथा घलय विन्दु-विलेशा भ्रतिसारणानीति दद्य भविदोषाः ॥३॥

रोग में धान में घलय, विन्दु, विलेशा और भ्रतिसारण ऐसे (धार प्रकार के आकारे) दहानसमि के विद्यु होते हैं ॥३॥

घट्टदृश्य—वना—कृष्ण की भौति गोव । विन्दु—विन्दु ए आहार का ढोटा । तिस्यालाका एक व्यायाम में लूपे से विन्दु-पद्म दाना उपयोग होता है । विन्दा—जाता आहूनी की तेलार्दै तात्यालाका से निकालना—विन्दुगुडा रितिया वेता विन्दा (दृश्य) । भवित्वाण—तहुलाका, या अन्य धनु से राक्षाना इन्हें विद्या अष्टावर्ष्याप्त है में (१) अर्पण, (२) व्याप्ति, (३) और आहारद—ये तीन प्रकार अधिक वैतन कहते हैं । अहा पद का अर्थ दीपा में ‘प्राणांपैद’ रिता है । इन आहूनीं का उपयोग योग के रसायन के अनुमान करना चाहिये । इनकी की विद्यि अष्टावर्ष्याप्त में निम्न भ्राता से योगीन की है—

१ अद्यं दहूणादुर्ग इत्यालप्य युद्धाद्याप्तेषां व्रात ॥
२ दहात् वैष्णव हुआ देहो विन्दुगुडा विन्दी विन्दुगुडा विन्दुगुडा विन्दुगुडा ॥

भस्त्रनिलोधातैर्व्यजनेन चोर्खानिर्गच्छज्वालतयापादितापाप-
स्माप्तिवर्जीम्बवौष्ठादिभिर्योपिप्रदेशनशाद्वलर्याधेनन्द्रस्तिका-
प्तिवर्षतिरणविक्षेपेन सुउरुषुर्हितोपिताभिर्विभरक्षिता-
मयन देहात्मयगदाहल्जित्वतः । उच्चनसुपिप्रलतदत्तनाठी-
व्यगेषु तु देहामशुच्छिटमसुगुणं पूरयित्वा देव ॥

भवति चाच्र—

तेगस्य संस्थानमवेक्ष्य सम्यद्
नरस्य मर्माणि बलावलं च ।

व्याधिं तथतुं च समीक्ष्य सम्यक्

ततो व्यवस्येद् भिपग्निकर्म ॥११॥

ग के स्थान का (मोटाई की दृष्टि से) खूब निरीक्षण
मनुष्य के मर्म स्थान तथा बलावल का विचार कर और
व तथा त्रुत इन सब वातों को अच्छी प्रकार देखकर तत्प-
र्वा अग्निकर्म (निचित) करे ॥११॥

तत्र सम्यग्दग्धे मधुसुर्पिर्भ्यामध्यङ्गः ॥१२॥

व यथोक्त (लिंगानुसार) ठीक अग्नि से दग्ध हो जाय,
उसके ऊपर मधु और घृत का अवश्यक करना चाहिये ॥१२॥

वक्तव्य—मधुमपिर्भ्यामध्यङ्गः—अग्निकर्म के कारण जो
एक धृण उत्पन्न होता है, उस में रक्तपित्त का प्रसादन करने
में, वेदना की शान्ति करने के लिये और व्याणित भाग का
न जल्दी होने के लिये मधुघृत का प्रयोग होता है—क्षतो-
नियांसं शेथानां तथैव च । सधोवगेवायनेषु क्षौद्रसुर्पिर्भ्यीयते ॥
यं के पश्चात् यदिमधुशालिमूलदि का स्त्रिय शीत प्रलेप
के ऊपर करना चाहिये । सुदृढं धृतमध्वक्त स्त्रियांति:
येत् । (अध्यांगहृदय) ।

अथेमानश्चिन्ना परिहरेत्—पित्तप्रकृतिमन्तः-
एतं भिन्नकोष्ठमनुद्धुतशालं दुर्चलं वालं वृद्धं
रमनेकवणापीडितमस्वेद्यांश्चेति ॥१३॥

इन्हें मनुष्यों को अग्निकर्म करना उचित नहीं है । जैसे—
प्रकृति, रक्तपित्ती, अतिसारी, जिसके शरीर में से शाल्य
मिकाला गया हो, दुर्चल, वालक, वृद्ध, भीरु, अनेक वर्णों
मिडित तथा अस्वेद्य ॥१३॥

वक्तव्य—अन्तरोषेणित कुछ लोग हृसका अर्थ ‘जिसके शरीर
प्रकृति तथा दूषित रक्त हृकट्टा हुआ है’ ऐसा करते हैं । परन्तु
अर्थ ठीक नहीं है । ज्ञार के लिये जो अयोग्य हैं, वे अग्नि के
में अयोग्य होते हैं—न देहत् क्षारवारितान् । इस तर्च के
पास अन्तरोषेणित का अर्थ रक्तपित्ती करना अधिक
है । इसके सिवाय चरक में भी रक्तपित्ती का ही उल्लेख
है—वारदुर्वलवृद्धाना गर्भिण्या रक्तपित्तानाश् । नाभिकमोपदे-
विष्ट् । भिन्नकोष्ठम—इस का भी ‘शस्त्रादि से जिस का उदर
हो गया है’ ऐसा अर्थ कुछ लोग करते हैं । परन्तु इस प्रकार
में भी अग्निकर्म का निषेध नहीं है, वल्कि अग्निकर्म
के लिये कहा है—ज्वरामेदो वर्तिनिर्गता यस्य देहिनः । अग्नि-
वेत्तेजं विद्यात् । इसलिये ज्ञार के लिये अयोग्य लोगों की
वेत्तेज कर हृसका अर्थ ‘अतिसारी’ करना अधिक प्रसार्त है ।
प्राप्तुमेंही रक्तपित्ती क्षयांतः क्षामोड्जीर्णा चोदरातों विपर्तः ।

तोऽप्यव०

तृष्ण्ठर्णातों गर्भिणी पीतमयो भैते स्वेदा यथा मत्योऽतिसारी ॥ हनके
अतिरिक्त नेत्ररोग और कुष्ठ में भी अग्नि का उपयोग नहीं करना
चाहिये—नाभिकमोपदेष्व नेत्रकुष्ठतेषु च । (चरक) ।

अत उच्चमितरथादग्धलक्षणं वद्यामः । तत्र,
स्त्रियं रुक्षं चाऽश्रित्य द्रव्यमग्निर्दहति; अग्नि-
संतसो हि स्त्रेः सूक्ष्मसिरानुसारित्वात्वगादीननु-
प्रविश्यानु दहति; तसात् चोहदग्धेऽधिका रुजो
भवन्ति ॥१४॥

इसके आगे हम अन्य प्रकार से दग्ध के लक्षण कहते हैं ।
अग्नि स्त्रिय या रुक्ष पदार्थों का आश्रय करके (प्राणियों के
धातुओं को) जलाता है । अग्नि से तपाया हुआ स्त्रिय पदार्थ
सूक्ष्म नसों में गमन करते (के अपने स्वभाव) से त्वचा आदि
में प्रवेश कर तत्काल दग्ध कर देता है । इसलिए (घृत तैल आदि)
स्त्रें से जले हुए स्थान में अधिक पीड़ा होती है ॥१४॥

वक्तव्य—इतरथादग्ध—दैव के सिवाय या रोगचिकित्सा
के सिवाय अन्य प्रकार से जला हुआ, आकस्मिक । हृतरथा-
दग्ध को बागमट में प्रमाद दग्ध कहा है । स्त्रियं रुक्ष वा आ-
श्रित्य—तैल घृतादि स्त्रिय रुक्ष अथवा काष पापाणादि द्रव्यों
का आश्रय करके । अंग्रेजी में दग्ध के अनुसार दग्ध के दो भेद
करते हैं । जो दग्ध अग्निज्वाला या तस पापाण लोह इत्यादि
ठोस पदार्थों से होता है, उसे बर्न (Burn) कहते हैं । जो दग्ध
तस जल तैल इत्यादि द्रव पदार्थों या तस वायु रूप पदार्थों से
होता है, उसे स्काल्ड (Scald) कहते हैं । आयुर्वेदिक परिभाषा के
अनुसार ‘र्वन्त’ को ‘स्क्रद्ध’ और ‘स्काल्ड’ को ‘स्त्रियदग्ध’
कह सकते हैं ।

तत्र शुष्ठं दुर्दग्धं सम्यग्दग्धभतिदग्धं चेति
चतुर्विधमग्निदग्धम् । तत्र यद्विवर्णं ज्ञाप्यते ऽतिमात्रं
तत्र शुष्ठं; यत्रोच्चिप्रन्ति स्फोटास्तीवाश्चोपदाहराग-
पाकचेदनाश्चिराच्चोपशाम्यन्ति तहुर्दग्धं; सम्यग्दग्ध-
मनवगां तालफलवर्णं सुत्स्थितं पूर्वलक्षणयुक्तं
च; अतिदग्धे मांसवालस्थनं गात्रविश्लेषः सिराशा-
युसन्ध्यस्थिव्यापादनमतिमात्रं ज्वरदाहपिपासाश्च-
च्छ्राश्चोपद्रवा भवन्ति वरणश्चात्य चिरेण रोहति
सूक्ष्मश्च विवरणो भवति । तदेतच्चतुर्विधमग्निदग्ध-
लक्षणमात्वकर्मप्रसाधकं (नं) भवति ॥१५॥

अग्निदग्ध चुष्ट, दुर्दग्ध, सम्यग्दग्ध और अतिदग्ध ऐसे चार
प्रकार का होता है । उनमें से जिसमें त्वचा का वर्ण पलट जाय,
और भुलस-सा जाय, उसे ‘चुष्ट’ कहते हैं । जिस में दारण
फफोले पक जायें, चूसने की-सी पीड़ा हो, जलन हो, रंग लाल
हो, पक जाय और बहुत काल में जिसकी शान्ति हो, वह ‘दुर्दग्ध’
है । जिसमें घाव नीचों न हो, वर्ण ताडफल के समान हो, जिस
में न तोकरता न हो और जो पहले कहे हुए लक्षणों से उल्लं हो,
वह ‘सम्यग्दग्ध’ है । ‘अतिदग्ध’ में मांस (नीचे की तरफ) लट-
कता है । जला हुआ अवश्यव विकल हो जाता है । उसके सिरा,
सायु, सन्धि और अस्थियों का अतिशय नाश हो जाता है । ज्वर,

दाह, प्पास, मूर्दणी हल्यादि उपद्रव हो जाते हैं। यद्य पहुत दिन के पश्चात् भरता है और भरने पर भी शरीर के समान वर्ण नहीं होता है। ये चारों प्रवार के अग्निद्रव्य के लक्षण वैय को अपने कार्य में प्रसाधक होते हैं ॥१५॥

यत्कथ्य——**चुट-हसी** को ही वाग्भर्त में तुल्य बहा है। **चतुर्विषयमन्त्रित्वम्—**—ये आकृतिमक या प्रमाद द्रव्य के चार प्रकार हैं। चोप—‘आकृत्वन् इव वेदनाविशेष’। पूर्वलक्षणयुक्त च—तत्र रश्यमादुमर्वि हल्यादि सूख सात में वर्णन किये हुए हल्याणयुक्त। गावविषेष—द्रव्य हुए अवश्यक का घेंडल और विकलित हो जाता। आत्मकमेप्रणालह—दैवत्यत्वमन्तिरात्रि चिकित्सकमें चतुर्वी प्रसाधन साथक सहाय्यभूत भवति। **चतुर्विषय द्रव्य** के लक्षण मालूम होने से अग्निरक्षक होने में तथा द्रव्य की चिकित्सा करने में बहुत सहायता मिलती है। पाश्चात्य शालयवास्था में द्रव्य छ अवस्थाओं में विभक्त किया गया है। (१) प्रथमावस्था—इसमें लवचा लाल और विवर्ण हो जाती है। परतु लवचा का नाय नहीं होता है। आयुर्वेदिक चुटुष्ट और इस प्रथमावस्था में सादृश्य है। (२) द्वितीयावस्था——इसमें लवचा और ऊपरी पर्ति (Cuticle)। इनके बीच में लसिका का संचय होकर फक्कोले बन जाते हैं। हुदृश्य और द्वितीयावस्था में सादृश्य है। (३) तृतीयावस्था—हसमें लवचा का ऊपरी पर्ति तथा लवचा का (Cutis vera) भी कुउ भाग नष्ट होता है। परतु स्पष्टीकुर (Papillae), स्वेदमयि, रोमकूप तथा तेल की प्रथियों नष्ट नहीं होती हैं। इसका कुउ साराशय सम्पन्नद्वयावस्था के साथ हो सकता है। (४) चतुर्तीवस्था—इसमें सम्पूर्ण लवचा तथा उपलवचा (Subcutaneous tissue) का भी कुउ भाग नष्ट होता है। (५) पञ्चमावस्था—इसमें लवचा, उपलवचा तथा पेशियों का भी नाय होता है। पेशियों के साथ साथ सिरा ज्ञावुओं का भी नाय होता है। (६) पादवस्था—हसमें जला हुआ सम्पूर्ण अवश्यक मिराद्वायु सम्पर्कित के साथ नष्ट और विवर्णित (Disorganised) हो जाता है। अन्तिम सीन अवस्थाओं का समारोग अतिरिक्तावस्था में ही सकता है।

मवनिं चात्र—

अग्निना कोपित रन्तं भूर्णं जन्तोः प्रकुप्यति ।

ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याभ्युदीर्यते ॥१६॥

तुल्यवीर्ये उमे होते रसतो द्रव्यतस्तथा ।

तेनास्य वेदनास्तीतिः प्रगुत्या च विद्यते ॥१७॥

स्फोटा शीर्षं प्रजायन्ते त्वरस्त्वाणा च वर्धते ।

अग्नि में विद्युत हुआ मनुष्यों का रक्त अन्यत विगुणित हो जाता है। किर उम विगुणित रक्त में वित भी शीघ्र प्रकृति होता है ॥१६॥ इन दोनों पित्त तथा अग्निकापित रक्त के वर्ष, रस तथा द्रव्य की हड्डि से समान होने के कारण उम द्रव्य मनुष्य को सीब वेदना होती है, स्वभाव से ही दाह भी होता है, दारण कोणे पड़ जाते हैं, और जर तथा तृपा भी बढ़ जाती है ॥१७॥

यत्कथ्य——इन के सावेहिन ल्पणा और उनकी प्राप्ति—स्पानिक लक्षणों के मिलाय इन के मर्द शरीर पर भी भयानक परिणाम होते हैं। ये परिणाम सीन अवस्थाओं में विस्त किये जाते हैं। (१) राह की अवस्था—इस अवस्था में दाह की गदराई तथा विस्तार अधिक हो तो निर्धारित (Shock) उत्पन्न होता है।

इसमें रोगी सत्त्व और मूर्खित रहता है। कभी कभी हुदृश्य का अवरोध (Inhibition of the heart's action) हो गया भी हो जाती है। दाह भी गहराई की अपेक्षा विशेष अधिक भयानक होता है। सामान्यतया यह देखा गया है—शरीर के चर्म का तिहाई भाग जल जाने पर रोगी के बीची बहुत कम आया होता है। परतु शरीर का यदि दो तिहाई भाग पवल चुटुष्ट हो जाय तो भी दो दिन में रोगी की मृत्यु हो जाती है। (२) रोध की अवस्था—इम अवस्था में त्वर रक्त तथा शरीर के अन्य धातु जल जाने के कारण उपचार विष का संचार सर्व शरीर में होता है और उसी से जर, दा गृषा हल्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। यदि जलन का स्थान छाती, सिर, उदासादि मर्म रसानां पर हो तो न्युमोनियुक्तुमायरणयोग्य, मलिनावरणगोप्य, डट्रकलग्नोप्य हल्यारोग उत्पन्न होते हैं। इसी अवस्था में जीवाणुओं का संक्रम दद्धस्थान में होने का विदेष भार रहता है। (३) ऐणावल्स—यदि विकारी जीवाणुओं का मरण दद्धस्थान में न हुआ। तो भ्रण का रोपण होने लगता है। अन्यथा विसर्प, घुसन् तथा थृक यहुके विविध रोग उत्पन्न होते हैं।

द्रव्यस्योपसामार्थोप्य चिकित्सा संप्रवद्यते ॥१८॥

चुटुष्टस्याग्निमत्पतनं कार्यमुष्टं तथौपद्धम् ।

शरीरे स्विद्धयूर्धिष्ठे स्विद्ध भवति शोणितम् ॥१९॥

प्रहृत्या छुदकं शीतं स्कन्द्यत्पतिशोणितम् ।

तसात् सुखयति हृष्णं नतु शीतं कर्यन्ते ॥२०॥

चुटुष्ट द्रव्य भाग की अग्नि से तपाता चाहिये और वाह तथा आम्यतर भी गरम ओरधि करती चाहिये। (उपायाचा से) शरीर में कापी पसीना आ जाने के कारण रक्त का विलय हो जाता है ॥१८-१९॥ जल स्वभाव में ठंडा है और रक्त के ठिट्ठा देता है। इस कारण (चुटुष्ट द्रव्य में) गरम आराम के देता है, परन्तु शीत हरणिज आराम नहीं कर सकता ॥२०॥

यत्कथ्य——चुटुष्ट द्रव्य में शीतप्रयोग से द्रव्य स्थान के उल्पना बाहर नहीं जा सकती, तिस से उम स्थान पर शोर राग्नालूदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और रोगी की आराम नहीं मिलता। उपायाचार से रक्त का विलय होकर द्रव्य स्थान की उण्णता कम हो जाती है और रोगी की आराम मिलता है—तदने तरीे हिनौनोग्या निकामनि योगे वहि। वेदना वर्षीते तेत एवं विलयते। उम निकामवत् कुर्याद्याम भरता ज्ञ ॥(अष्टारोग्य)॥

शीतामुष्टां च दुर्दम्भे कियां कुर्याद्विषप्यचुनः ।

धृतालेपनसेकांस्तु शीतानेवास्य कारयेत् ॥२१॥

दुर्दम्भितिला—दुर्दम्भ में शीत और उम दोनों प्रकार की किया वैय के बरती चाहिये। परन्तु ओरधि शूल का लेप तथा शायादि से सेचन ढही अवस्था में ही बरना चाहिये ॥२१॥

यत्कथ्य——दुर्दम्भ में जो गहरा जला हुआ भाग होता है उस पर ढही किया और जो चुटुष्ट स्थाय बहुत गहरा नहीं है वहाँ पर उम किया करती चाहिये। अथवा यदि दाह अधिक हो तो शीत किया और जर तथा तृपा भी हो तो उम किया करती चाहिये। अथवा ग्रारेम में उम किया और पवार गीत विया बरती चाहिये।

गदग्धे तुगाहीरीष्टक्षचन्दनगैरिकैः ।
वृत्तैः सर्पिणा स्त्रिवैरालेपं कारयेद्ग्रिपक् ॥२७॥
यानूपौदकैश्चैनं पिष्टैर्मासैः प्रलेपयेत् ।
गविद्रधिवच्चैनं सन्ततोषमाणमाचरेत् ॥२८॥
सम्प्रदर्शनिकित्सा—सम्प्रदर्शन में वंशलोचन, अश्वत्थ की, रक्त चंदन, गेह, गुह्यी—इन्हें धृत में सिलाकर उसका करे ॥२८॥ अथवा (अश्वादिक) ग्राम्यपशु, (वराहमहिंक) आनूप पशु, (कच्छपादिक) जलचर प्राणी—इन का पीसकर लेप करे और यदि हमेशा दाह होता रहे तो पित्तधि के अनुसार उपचार करे ॥२९॥

तेदग्धे विशीर्णानि मांसान्युजूत्य रीतलाम् ।
यां कुर्याद्ग्रिपक् पश्चाच्छालितण्डुलकण्डनैः ॥२४॥
न्दुकीत्वक्षपांयैर्वा वृतमिश्रैः प्रलेपयेत् ।
एं गुह्यचीपत्रैर्वा छादयेदथवौदकैः ॥२५॥
यां च निखिलां कुर्याद्ग्रिपक् पित्तविसर्पवत् ।

अतिदर्श में (जलने के कारण) लटके हुए मांस को निकाल के ठंडे उपचार करे और शालि चावलों का चूर्ण या तिन्दुकी-कूचूरी धृत से मिलाकर लेप करे, (तत्पथात्) वण को गिलोय पत्तों से या कमल के पत्तों से आच्छादन करे ॥२४-२५॥ तिदर्श में वैद्य संपूर्ण किया पित्तविसर्प के समान करे ।

बक्तव्य—तिन्दुकीत्वक्षपायैः—तिन्दुकीत्वक्षर्चूर्णैः । तिन्दुकी-कूचूरीयं तिन्दुकीत्वक्षर्चूर्णम् । (इन्दु)। छुछ टीकाकार कशाय का र्थ कपाय वृक्ष यथा दट ऐसा करते हैं । ‘तिन्दुकीत्वक्षपालैः’ ऐसा लहणसंमत पाठ है ।

धृच्छिष्टं समधुकं रोधं सर्जरसं तथा ॥२६॥
गजिष्ठां चन्दनं सूर्वा पिष्टा सर्पिर्विपाचयेत् ।
सूर्वेपामिनदग्धानामेतद् रोपणमुत्तमम् ॥२७॥

मोम, सुखडी, लोध, राल, मंजीठ, चन्दन और सूर्वा—इन्हें रीस कर धृत पकावे । यह धृत संपूर्ण प्रकार के अग्निदर्श वर्णों में भर लाने के लिये वहुत उत्तम है ॥२६-२७॥

सूहदग्धे क्रियां रुक्षां विशेषणावचारयेत् ।

तैल धृतादि स्त्रियों पदार्थों से दग्ध की चिकित्सा रुक्षोपचार से करनी चाहिये ।

बक्तव्य—दग्ध की आघुनिक चिकित्सा—दग्ध की प्रारंभिक अवस्था में जब रोगी स्तूप्य और वेहोय होता है, उष्णोपचार से वहुत लाभ होता है । उसमें रोगी को गरम कमरे में रखना, गरम कपड़े से ढक्कर रखना, गरम उत्तेजक पेय पीने के लिये देना और यदि आवश्यक हो तो टंकणाम्ल (Boric acid) के सौन्दर्य गरम धोल में उसको रखना इत्यादि उपाय करना चाहिये । दग्धस्थान पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है । जब रोगी की स्तूप्यता नष्ट हो जाती है, तब दग्ध की चिकित्सा करनी चाहिये । दग्धस्थान की चिकित्सा के लिये कपाय रस (Tannic Acid) आज कल वहुत लाभकर प्रसाधित हुआ है । २-५% धोल में कवलिका भिंगी कर दग्धस्थान पर रक्ती जाती है । हरीतकी चूर्ण का धोल बना कर उसका उपयोग कर सकते हैं । केवल पासी स्वच्छ उत्तला हुआ प्रयोग में

लाना चाहिये । जब दग्ध से सड़ा गला मांस हट जाय तब ‘भृच्छिष्ट’ मरहम के तौर पर पराफीन का निज्ञ योग बना कर उसका उपयोग किया जाता है । इस से रोपण का कार्य शीघ्र होता है । भृदु पैराफीन ७%, ठोस ६%, जैतून का तेल ५%, युकालिप्टस तेल २%, बीटा नैथाल ३% । परंतु आज कल सब से उत्तम चिकित्सा ईनिक अम्ल द्वारा ही प्रसाधित हुई है । इससे वेदना नहीं होती, वार वार ब्रणोपचार बदलना नहीं पड़ता और दग्धस्थान के विष शरीर में नहीं फैलते ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धूमोपहतलक्षणम् ॥२८॥

श्वसिति क्षौति चात्यर्थमत्याधमति कासते ।

चतुर्पोः परिदाहश्च रागश्चौपजायते ॥२९॥

सधूमकं निश्वसिति ब्रेयमन्यञ्च वैत्ति च ।

तथैव च रसान् सर्वान् श्रुतिश्चास्योपहन्त्यते ॥३०॥

तृणादाहज्वरयुतः सीदत्यथ च मूर्छति ।

धूमोपहत इत्येवं, शृणु तस्य चिकित्सितम् ॥३१॥

अब यहां से धूंए से पीड़ित हुए मनुष्य के लक्षण कहते हैं ॥२८॥ श्वास में कठिनता होती है, छीकता है, पेट फूला रहता है, खांसता है आँखों में जलन तथा सुख्खी होती है ॥२९॥ प्रथास में धूंआ निकलता है, (धूंए के सिदाय) अन्य गंध नहीं समझता है, वैसा स्वाद का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, सुनाई नहीं देता है ॥३०॥ तृणा, दाह और ज्वर युक्त होकर दुर्बल तथा सूर्यनिष्ठ रहता है । इस प्रकार धूंए से पीड़ित मनुष्य के लक्षण होते हैं । अब उसकी चिकित्सा सुनो ॥३१॥

बक्तव्य—धूंए में अधिकांश कार्बन डायोक्साइड होता है । इसके सिवाय कार्बन मानोक्साइड, गंधक का धूंआ, अमोनिया, हायडोजन सलफाइड इत्यादि वायु तथा काजले कण धूंए में होते हैं । इनसे वायु भर जाने के कारण रक्तसूचि के लिये प्राणवायु नहीं मिलती है और रक्त की शुद्धि नहीं होती है । इस अवस्था को अंग्रेजी में असफिक्सीएशन (Asphyxiation) कहते हैं । धूंए में से कुछ वायु रक्त के साथ मिल कर उसको और भी दूषित कर देते हैं । इस दूषित रक्त का द्वारा प्रभाव मस्तिष्कगत धासकेन्द्र (Respiratory centre) पर होता है और वेहोश होकर रोगी की मृत्यु होती है । इसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं । (१) श्वासहृच्छ की अवस्था—इसमें दूषित रक्त का धासकेन्द्र पर कुछ उत्तेजक प्रभाव पड़ता है । (२) आत्मप्र की अवस्था—इसमें पहले से ही अधिक उत्तेजक प्रभाव पड़ता है, जिससे रोगी झूँठे लगता है । (३) अवसाद की अवस्था—इसमें दूषित रक्त से मस्तिष्कगत केन्द्रों का कार्यधात हो जाता है और रोगी की संन्यस्त होकर मृत्यु हो जाती है ।

सर्पिरिश्चुरसं द्राक्षां पयो वा शर्कराम्बु वा ।

मधुराम्लौ रसौ वाऽपि चमनाय प्रदापयेत् ॥३२॥

वमतः कोष्ठशुद्धिः स्याद्धुमगन्धश्च नश्यति ।

विधिनाऽनेन शास्यन्ति लदनक्षवधुज्वरः ॥३३॥

दाहमूर्च्छात्तुडाधामानश्वासकासाश्च दारुणाः ।

मधुरैर्लवणाम्लैश्च कद्गैः कवलग्रहैः ॥३४॥

सम्यग्गुहानीन्द्रियार्थन् मनसास्य प्रसीदति ।
शिरोविरेचनं चास्मै दद्याद्योगेन शाश्वतित ॥३५॥
दृष्टिगुच्छते चास्य शिरोग्रीवं च देहिनः ।
अविदाहे लघु क्रियमादारं चास्य कल्पयेत् ॥३६॥

एतत् हीर का रस, द्राक्षारस, दूध, घरवत या भयुराम्ल अन्य रस प्रयत्न के लिये पिलाये ॥३२॥ वर्मन से कोठे की शुद्धि होती है और भूम का गम्ध भी नष्ट होता है। इसी विधि से रोगी की यकान, ठीक, ज्वर, दाह, येहोरी, गृषा, अफारा, शास्त्रहृच्छ, सारसी इत्यादि दारण विकार नष्ट ही जाते हैं। भयुर, लवण, अम्ल और कटुक रस के हुक्के करने से ज्ञाननिद्र्य का ज्ञान ठीक हो जाता है और विष भी प्रसन्न होता है। शारब्र जानने वाला वैष्य फिर उसको योग्यमात्रा में शिरोविरेचन हेतु । इनसे रोगी की दृष्टि ठीक हो जाती है और सिर तथा गला भी साफ हो जाता है । और रोगी को आहार शीतल, हल्का और खिल्ह देना चाहिये ॥३३-३४॥

यत्कल्प्य—भूमोपल भी आयुर्विक विलिला-रोगी को भूम स्थान से उठा कर खुली हवा के स्थान में रखता चाहिये । गला और छानी पर लग कपड़े हीं तो उनको निकालना चाहिये या दीरे कर देना चाहिये । कृत्रिम प्रशस्त (Artificial respiration) करना चाहिये । इस की पद्धतिया आगे २७ वें वर्षाय में जलसूत की चिकित्सा की, टीका में धूपण की जाएंगी । उसके साथ साथ शुद्ध प्राणवायु भी हृत्यने के लिये मिल सके तो देना चाहिये । जीर्म एकड़ कर धीर्घीच में खींचना चाहिये । छाती और मुख पर ढें और गरम पानी का छिड़काव करना चाहिये । संघर्ष के लिये अमोनिया (Ammonia) जैसा तीव्र शिरोविरेचन देना चाहिये । छाती की फ्रेनिक नारी (Phrenic nerve) विली की सहायता से उत्तेजित करनी चाहिये । यदि रोगी की स्थिति दुसाज्य माल्टम हो तो सिरा वेष्कर ४०-५० सोले तक रखता खून निकाल कर उतना ही नमक का पानी सिरा द्वारा गरीर में ढालना चाहिये । सतकुबला जैसी हृदयोत्तेजक औषधि की सुई लगानी चाहिये और हाथ-पैरों को गरम सेक करना चाहिये । कृत्रिम प्रशस्त की क्रिया हृदय की गति बढ़ होने के पश्चात् दा दीन मिश्ट तक करते रहना चाहिये ।

उप्पचातातपैर्देश्ये शीतः कार्यो विधिः सदा ।
शीतवर्पनिलैर्देश्ये क्रियमध्युष्णं च दास्यते ॥३७॥
तथाऽतितेजसा दग्धे सिद्धिर्नैस्ति कथयन् ।
इन्द्रज्ञानिनदृदेश्येऽपि जीवितं प्रतिकारयेत् ॥
ओहम्ब्लहपरीयैके: प्रदेहैश्च तथा मिष्ट ॥३८॥

श्रति द्वामुलादिवावा सूक्ष्मतेनिकर्मविधि
भाग्म द्वादशोऽप्याप्य ॥३९॥

खु और भूम से पीड़ित हुए को शीतल क्रिया करनी चाहिये । हृदी हवा और वर्षा से पीड़ित हुए को खिल्ह और गरम चिकित्सा करनी चाहिये ॥३७॥ नया अति तेजसुक हृदयवास से दग्ध मुख्य की (चिकित्सा में) सिद्धि, नर्ही हो सकती ।

१ विदिनैकानिकी मता

परंतु वह भी यादि कुछ समय तक जीवित रहे तो वैष्य परिवेक और प्रोपे आदि से उसका प्रतिकार कर पेटा करे ॥३८॥

यत्कल्प्य—उच्चवातातपैर्देश्य रोग को अंग्रेजी “stroke”, सन् स्ट्रोक, हीट अपरेशकी या थर्मिक फीवर / stroke Sun stroke, Heat apoplexy, Thermic कहते हैं । यह रोग उण प्रदेशों में मीम्पकालिक दूर्धे के साथ से या अविदाहालिके अतितीव्र साप से होता है । जब तक वायुमण्डल का ताप १०० फा से न हो और वायु अत्यंत रक्तधृ और आर्द्ध (Homid) ताप तक वह रोग नहीं होता है । इस रोग के होने में अप्रिय, यकायट, मलाकरीय, अधिक और भारी कर्मों पद्धति, मध्यसेवन, विषम ऊरादि से उत्पन्न हुई हुक्के सिर और ग्रीवा पश्चाद्भाग पर दूर्धे की किंचन सीधी पृष्ठ (Exposure) इत्यादि कारण सहायक होते हैं । इन सहायता कारणों से तथा यादि उणता से मस्तिष्क सुपुरुषान उण नियामक केंद्र (Heat regulating mechanism) के कार्य विग्राह उत्पन्न होकर गरीर की उणता बढ़ने होती है । रक्तधृ ग्रक्समात्रा मूर्च्छित हो जाता है । परंतु कभी कभी प्रारंभ सिरदर्द, हृत्यास, ममन, बेचैनी आदि लक्षण होते हैं और तापम् रोगी मूर्च्छित हो जाता है । यास ईूर्पुरुक (Sterterous) नारी हुक्के दीण और शीघ्र हो जाती है । वृक्षा गृष्ण के उण होती है । शरीर की उणता १०८-११२ फैट तक बही और यदि शीघ्र ही चिकित्सा न की जाय तो कुछ धूंधी तक रोग सन्यन अवस्था में रह कर मर जाता है । शीत कार्य विधि सदा—रोगी को तकाल किसी ईंटे स्थान पर ले जाकर उसे कपड़े उतार कर नम्र करना चाहिये । तत्पश्चात् उसके निर्दर्शक की घैली रखनी चाहिये । शरीर पर चंडे के सोटे मोटे ढुके से रखना चाहिये या हिमगलाद्वै वस्त्र से शरीर लपेन चाहिये । इन उपायों से यदि शरीर की उणता कम न हो तो शीतवर्ग की घस्ति भी देनी चाहिये । जब शरीर की उणता १०२ फा तक उत्तर जाती है । तब शीतवर्षीयचार कम करना चाहिये शीतवर्षीयिलदृष्टि हृस अवस्था को अंग्रेजी में फ्रांस बाईंड (Frost bite) कहते हैं । शीतवर्षीय में शिरियर अति के समय हिम तुपारसुक जति शीत यातु चलने से हाय-पौर्णे में रक्तप्रवाह कम होने के कारण तथा नासा और धूंध लुप्त होने के कारण यह अवस्था उत्पन्न होती है । इस अवस्था में उक्त अवयवों की लक्षा ही अधिक भूमिति दिवालै हेता है परतु उसमें वेदना नहीं होती । इसमें एकाधिक रक्तप्रवाह शुल होने से तीव्र वेदना गुह होती है और योग्यतुकोष (Indol-auminatory gangrene) भी होता है । शिरियर—शीतवर्षीय भाग का रक्त वायरिनियों से जम जाता है, उसको प्रवाहित करना चाहिये । इसमें लिये दग्धप्रसाद पर धर्षण करके धीरे धीरे उणता उत्पन्न करना अधिक प्रशस्त है । यदि अकम्पाद दग्ध भाग उण क्रिया जाय तो रक्तप्रवाह एकाधिक शुल ही कर योग्यतुकोष उपत्त होने की संभावना होती है । पहले रोगी को ठंडे कमरे में रखकर धीरे धीरे कमरे की उणता

नी चाहिये । जब थोड़ी प्रतिक्रिया शुरू होती है, तब उसको पेय भी देना चाहिये । कृत्रिम उण्ठता का उपयोग दरअं पर गरम करने के लिये कभी भी नहीं करना चाहिये । मैं उमकी उन या अन्य गरम कपड़े मैं लपेट कर रखना चाहिये । अनितेजस दधे—आकाशविद्युत् से (Lightening) जाना । आकाशविद्युत् के तीव्राधात से भृत्यक्षघात (Euro paralytic) होकर तुरंत नृसु हो जाती है । यदि वात मध्यम या सौम्य हो तो शरीर जल जाने के अतिरिक्त तिनाय, अंगवध, दृष्टिमान्दा, अपस्मार, पागलपन इत्यादि कालीन परिणाम शरीर पर हुआ करते हैं । कृत्रिम ऊर्जा (Electricity) के भी स्वाभाविक विद्युत् जैसे ज्ञान होते हैं ।

ते भास्करार्णण गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुवेदरात्मजीपिकाया
सुशुभापार्दीवायामग्निर्विधिर्नाम द्रादशोऽध्यायः ॥१२॥

न्रयोदशोऽध्यायः ।

अथातो जलौकावचारस्त्रीयमध्यायं व्याख्यात्यामः
योवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से जोक लगाने की विधि नामक अध्याय का स्थान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—जलौका—जोक । अङ्ग्रेजी में जोक को लीच या लीच (Leech, Hirudu) कहते हैं । अवचारण—उपयोग विधि । जलौका के सिवाय इस अध्याय में शङ्ख और अलावू भी थोड़ा उपयोग वर्णन किया है ।

नृपाक्षवालस्थविरभीरुदुर्बलनारीसुकुमाराणा-
मनुग्रहार्थं परमसुकुमारोऽयं शोणितावसेचनोपा-
रोऽभिहितो जलौकस्तः ॥२॥

राजा, धनाध्य, वालक, वृद्ध, डरपोक, दुर्बल, सी तथा मन्य कोमलप्रकृति मनुष्यों के अनुग्रह (दयापूर्वक रोगनिवृत्ति) के लिये जोक से रक्त निकालने का उपाय सब से अधिक मृदु (मध्यहर) है ॥२॥

वक्तव्य—अनुग्रहार्थम्—उपकारार्थम् । परम सुकुमार—
व्याख्यादि द्वारा प्रच्छान सिरावेद करके रक्त निकालना असुकुमार विधि है, शङ्ख और अलावू द्वारा निकालना सुकुमार विधि है और जलौका द्वारा निकालना परम सुकुमार विधि होती है ।

तत्र वातपित्तकफ्दुप्रशोणितं यथासंख्यं शृङ्घ-
जलौकोलावुभिरवसेचयेत्, (स्त्रिग्नधशीतरुक्षत्वात्;)
शोणितसर्वैर्वृ ॥३॥

वात, पित्त और कफ से, विगड़े हुए रक्त को यथाक्रम शङ्ख, जलौका और तुंबा से निकाले । क्योंकि शङ्ख स्त्रिय, जलौका भी और तुंबा रुक्षा होता है । अथवा सब स्थानों में सब से कम ले सकते हैं ॥३॥

वक्तव्य—केवल वातादि दोषों के अनुसार, नहीं तो दूसित रक्त की स्थिति तथा व्यापक स्थान के अनुसार भी शङ्ख,

जलौका और अलावू का भिन्न भिन्न उपयोग हुआ करता है । अष्टाङ्गहृदय में लिखा है—प्रच्छानेकरेशसं ग्रथित जलजन्मग्निः । ऐच्छृष्टादिग्निः सुप्रसासन्यापिमिरावधैः । प्रच्छान पित्तिते ना स्वाद-वगादे जलौकसः । त्वक्सोऽलावुपटिश्च, स्त्रिव व्यापकेऽसुजि । मर्वणि सर्ववृ—यदि दोष वा स्वान के अनुरूप शृङ्घादि न मिल सके अथवा रोगी की दृष्टि से शृङ्घादि में से कोई उपाय विशेष प्रशस्त मालस्म हो तो दोषों का विचार न करके उसी के द्वारा रक्त निकालना चाहिये । यथा वालक, वृद्ध, स्त्रियां इत्यादि सुकुमारों के लिये दोषों का विचार न करके जोक का ही उपयोग करना अधिक योग्य होता है । ‘सर्वाणि सर्ववृ’ इत्से सूत्र दो और तीन में जो विरोध दिखाएँ देता है, उसका परिहार होता है ।

भवन्ति चात्र—

उप्सां समधुरस्निग्धं गवां शृङ्घं प्रकीर्तितम् ।

तस्माद्वातोपसृष्टे तु हितं तद्वसेचने ॥४॥

शीताधियासा मधुरा जलौका वारिसंभवा ।

तस्मात् पित्तोपसृष्टे तु हिता सा त्ववसेचने ॥५॥

अलापु कटुकं रुक्षं तीक्ष्णं च परिकीर्तितम् ।

तस्माच्छ्लेष्मोपसृष्टे तु हितं तद्वसेचने ॥६॥

गाय का सींग उप्सा, मधुर और स्त्रिय होता है । इसलिये वातदूषित रक्त सींग से निकालना अच्छा है ॥४॥ जोक जल में उत्पन्न हुई और शीत स्थान में रहनेवाली होती है । इसलिये पित्तदूषित रक्त जोक से निकालना अच्छा है ॥५॥ तुंबी कड़वी, सूखी और तीक्ष्ण होती है । इसलिये कफदूषित रक्त तुंबी से निकालना अच्छा है ॥६॥

तत्र प्रच्छिते तंनुवरखपटलसूत्रावनदेन शृङ्घेण
शोणितमवसेचयेदाचूपणात्, सान्तर्दीपयाऽलाव्या ॥

रक्त निकालने के स्थान पर (नशतर से) प्रच्छान लगा कर सींग के सुख में वारीक कपड़ा सूत्र से वांधकर उस सींग से (मुखद्वारा) चूस के रक्त निकाले । (तुंबी से निकालना हो तो) उसके भीतर जलती हुई वस्त्री रख के निकाले ॥७॥

चक्कवय—तनुवरखपटलसूत्रावनदेन—सींग के सुख पर कपड़ा चूपण के समय रोगी की त्वचा और सींग के किनारे के वीच से वायु का प्रवेश रोकने के लिये रक्खा जाता है । चूपण के लिये सींग के भीतर कुछ निर्वात स्थिति (Partial vacuum) होना आवश्यक है । यह स्थिति सुख द्वारा भीतर की वायु खींचने से उत्पन्न होती है । सान्तर्दीपयाऽलाव्या—सींग में दोनों ओर छेद होने के कारण चूसने के लिये सुख का उपयोग हो सकता है । परंतु अलावू केवल एकसुखी होता है । इसलिये वहाँ प्रदीप का उपयोग करके चूपण कार्य किया जाता है । वायुमंडल की वायु में एक पंचमांश ($\frac{1}{5}$) भाग प्राणवायु और चार पंचमांश ($\frac{4}{5}$) भाग नेट्रोजन होता है । प्राणवायु को ही शार्क्षधर में विष्णुपदमस्तृत कहा है और अङ्ग्रेजी में आक्सीजन (Oxygen) कहते हैं—नाभिस्थः प्राणवनः सृष्टा द्विक्षमलान्तरम् । कण्ठाद्विविनिर्याति पाणु विष्णुपदान्तरम् ॥ यह प्राणवायु जलन में

उपरोक्ती होती है और इसके सिवाय उल्लङ्घन नहीं हो सकता। तुम्ही के भीतर प्रदीप रखने से जो भ्राणशयु भीतर होही है, वह उल्लङ्घन कर्म में नष्ट हो जाती है और हठ निरोत स्थिति उत्पन्न होती है। वह प्राणशयु स्थान हो जाती है, तब भीतर का दीप भी आप से आप बुझ जाता है। दीप के स्थान में कहर का उपरोक्त भी फर सकते हैं। धटिका का उपरोक्त भी भीतर उल्लङ्घन करके ही होता है।

जलमासामायुरिति जलायुकाः, जलमासामोक इति जलीकसः ॥८॥

जलन्का इष्ट वी निरस्ति—जल है बायु यानि जीवन जिन का, इससे इनका नाम जलायुका है। या जल है ओक यानि स्थान जिनका, इस हेतु भी इन्हें जलीका कहते हैं ॥८॥

ता द्वादशः तासां सविषाः पद्, तावत्य एव निर्विषाः ॥९॥

जोकं बाहर प्रकार की होती है—उन में से उप्रकार की सविष और उप्रकार की निर्विष होती है ॥९॥

तत्र सविषाः—कृष्णा, कर्तुरा, अलगदर्ढ, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका, गोचन्दना चेति । तासु, अङ्गन चूर्णवर्णा पृथुशिरा कृष्णा; वर्मिमत्स्यवदायता छिन्नोधत्तुकुत्रि कुरुता; रोमदाम महापार्खा कृष्णमुखी अलगदर्ढ; इन्द्रायुधयद्युर्धराजिभित्तित्रिता इन्द्रलुधा; ईपदसितपर्तिका विचित्रपुष्पाकृतिविश्वा सामुद्रिका, गोवृषणवदधोभागे द्विधामूलाकृतिरुच्यमुखी गोचन्दनेति । ताभिदृष्टे पुरुषे दंशे श्वयुरुतिमात्रं कण्ठमूर्च्छ्वर्ज्यते दाशश्वर्दिमदः सदनमिति लिङ्गानि भवन्ति । तत्र महागदः पानालेपनस्त्वकर्मदिपूष्योन्यः । इन्द्रायुधाद्वद्यमसाध्यम् । इत्येताः सविषाः सविकितिसता व्याख्याताः ॥१०॥

विष्वुक जन्मका ये है—कृष्णा, कर्तुरा, अलगदर्ढ, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका और गोचन्दना । उनमें से कवल के चूर्ण समान कासी और वहे सिर वाली कृष्णा होती है। वर्मिमत्स्य की तरह संकी और कुड़ि पर दंशी धारियों वाली कर्तुरा होती है। क्षेमयुक्त, वही पांशुशाली और काले सुख वाली अलगदर्ढ होती है। इन्द्रायुधा के वर्ण के समान विचित्रविश्वा धारियों जिस पर हों, वह इन्द्रायुधा होती है। विचित्र काली तथा पीसी और कई रंग के विन्दुयुक्त पूर्ण के समान विचित्र सामुद्रिका होती है। धैर्य के अण्डकोण की भासि नीचे से दो फौंक भी जिसके हों और सुख छोड़ रहे, वह गोचन्दना होती है। इन विष्वुक जन्मोद्दातों से एक पुरुष में इश्वरायन पर योग तथा अव्यय शुभग्रन्थी होती है और ऊर्ध्व, दाह, बम्ब, गद, सूर्यो, यज्ञवल ये कलश होते हैं। इस विष की शाखिं बदन के लिये महागद नामक भोत्रिका वायरोग धान, लेप, वस्त्र इत्यादि क्षमा में बदना चाहिये। इन्द्रायुध जन्मीका का दीप अव्यय होता है। इस प्रकार विष्वुक जन्मीका उनकी विकिष्मा के साथ वर्णन की गई ॥१०॥

वक्तव्य—वर्मिनस्य—सर्वाकार मस्य । अन्ने रोदितः सातुः । महागद—कल्पस्थान में र्घृदेवतिविकिसित अव्ययोत विद्विरित्ये मुख इतिरे रक्त गोचन्द्री ल्वाश्वर्ष कर्म । यदुविहृत विचूणितानि श्रौ निर्यान्मुक्तुनि ॥ इस अगद का उपयोग पान, लेपन नस्य कर्म के विद्याय अम्बवन अभ्नन के लिए भी करना चाहिये ।

अथ निर्विषाः—कपिला, पिंगला, शासुरी मूषिका, पुण्डरीकमुखी, सावरिका चेति । तत्र भनः शिलाराजिताभ्यामिव पार्वतीभ्या पृष्ठे स्तिराग्यमुद्वरणं कपिला, किञ्चिद्दक्षा वृत्तकाया पिहाऽऽशुग्रा च पिहला, यकृतर्षा शीघ्रपायिनी दीर्घितीश्वरमुखी शकुमुखी; मूषिकांशुतिवर्णाऽनिष्टगन्धा च मूषिका सुद्वरण्या पुण्डरीकतुल्यवज्रा पुण्डरीकमुखी, स्तिराग्य पृष्ठप्रवर्णाऽऽशुद्धश्वाकुलप्रमाणा सावरिका, सा च प्रवर्थये, इत्येता अविषया व्याख्याताः ॥११॥

निर्विष जन्मका ये है—कपिला, पिंगला, शंखमुखी, मूषिका पुण्डरीकमुखी और सावरिका । उनमें से भन पिंगला के समान रक्त वाले निस के पलवाडे होते हैं और पीठ चिक्की मूर के रक्त समान होती है। वह कपिला है। रिचित् रक्तर्षा, गोल, पिंगलर्षी और शीघ्र चलने वाली पिंगला है । यकृत् दंसमान काले चंगे वाली, शीघ्र रक्त धीने वाली थंडे और तीजा सुख वाली शुकुमुखी होती है । मूषिका लांगूल के समान आहुति और वर्ण वाली, दुर्गायुक्त मूषिका होती है । मूर के रक्त समान हरिदिणी और कमल के समान विस्तीर्णी सुख वाली उच्छवीकमुखी होती है । चिक्की पृष्ठप्रक के समान वर्णाली अठारह बैंगुल लक्षी सावरिका होती है । यह सावरिका पृष्ठें द्वा रक्त निकालने के काम में आती है । इस प्रकार में निर्विष जन्मीकाँ वर्णन की है ॥११॥

वक्तव्य—दूतिवित्तिगां—पृष्ठस्त्रायालहनिर्गां । (हारा गच्छन्) । दूतिका लाग्नाऽप्तिस्त्रूपां चेति । (चक्र) । अटागमादृष्टे जन्मीका का निषु वर्णन अधिक मिलता है । जलीका अधिक

पांच वा ५ : ते अधिक

पुरुष से भेद होते हैं । पुरुष जोक का उपरोक्त चिक्कालीन और वृश्चक गोंदों में और छीं जोक का उपरोक्त अचिक्कालीन और अलगदीयुक्त गोंदों में बदना चाहिये—प्रारम्भ च दर प्रवर्णन् ददाश्वरुक्त रोगों में बदना चाहिये—प्रारम्भ च दर प्रवर्णन् ददाश्वरुक्त रोगों में बदना चाहिये । तत्र चूपुष्परददाश्वरुक्त नृ॒ दे॑ नृ॒ । गवाविश्वरा । नृ॒ दृ॒ दृ॒ दृ॒ दृ॒ दृ॒ दृ॒ दृ॒ । तत्र बदुरोगु विशेषितु च नृ॒ तु॒ पुरुषो दृ॒ दृ॒ दृ॒ । चिक्का विरसेतु ।

तासां पथनपाण्डवस्त्रपौतनार्दिनि देशाग्नि तं पु मदाशरीरा पथवत्य । शीघ्रपायिन्यो मदाशराना निर्विष पायद विशेषेण भवन्ति ॥१२॥

बदन, पाण्डव, सदा और जीवन जन्मीका के देश होते हैं । इन दीपों (वैज्ञानादों) में जो जलीकाँ मिलती हैं, वह मात्रा

डी, बलवान्, शीघ्र रक्त चूसने वाली और अधिक रक्त पीने तथा विशेषता से निर्विष होती हैं ॥१२॥

चक्षव्य—यवन—तुरुप्क देश, उर्कस्थान । पाण्ड्य—स प्रान्त में चौल देश के नैऋत्य का एक प्रदेश । सत्य—हा तीर समीपस्थि सत्यपर्वत । पौतन—मधुरा प्रदेश । जा—जलौका साधारणतया आधा से पौन तोला रक्त—२ डाम) प्रत्येक समय चूसती है । जो अधिक से अधिक प्रत्येक समय चूसती है और अनेक बार चूसने के लिये र होती है ।

तत्र, सविपमत्स्यकीटदुर्भृतसूत्रपुरीपकोथजाताः
त्रुपेष्वम्भःसु च सविपाःः पद्मोत्पलनलिनकुमुद-
गम्धिककुवलयपुण्डरीकशैवलकोथजाता विमले-
म्भःसु च निर्विपाः ॥१३॥

भवति चात्र—

त्रैपु विचरन्त्येताः सलिलाढ्यसुगन्धिषु ।

१ च संकीर्णचारिण्यो न च पङ्केशयाः सुखाः ॥१४॥

जलौका में से जो विषेले मत्स्य, कीड़े, मैंदक के सहे गले मूत्र में तथा खराव पानी में उत्पन्न होती हैं, वह विषयुक्त ही है । जो पद्म, उत्पल, नलिन, कुमुद, सौगन्धिक, कुवलय, डीरक, शैवल—इनके कोथ से तथा निर्मल जल में उत्पन्न ही हैं, वह निर्विष होती है । ये निर्विष और सुखकारक तौकाएँ जहाँ निर्मल जल और सुगन्धित पदार्थों की भरमार ही हैं ऐसे क्षेत्रों में विचरती हैं, विषेले पदार्थों का सेवन नहीं ही तथा कीचड़ में नास नहीं करती ॥१४॥

चक्षव्य—बागभट में मूत्रपुरीप कोथ के सिवाय मत्स्याक के शक्तोथ से भी विषयुक्त जलौका की उत्पत्ति वर्णन है—तत्र दुष्टामुर्पर्मण्डुकमत्स्यादिशवकोथमूत्रपुरीपजाः । पद्म—किञ्चित् श्वेतकमल । उत्पल—किञ्चित् नीलकमल । नलिन—किञ्चित् नीलकमल । कुमुद—रक्तकमल । सौगन्धिक—नन्दोदयविकासी मूर्धन्धी कमल । कुवलय—रक्तकमल । न च संकीर्णचारिण्यः—न पादिविलद्वाहारमुजः शैवलाशनत्वात् ॥

तासां ऋणमार्द्वचर्मणा, अन्यैर्वा प्रयोगैर्गृह्णी-
यत् ॥१५॥

हन जोकों को गरिए चमड़े से या अन्य उपायों से पकड़े ॥१५॥

चक्षव्य—ग्रहण—इनका ग्रहण शरद् क्रतु में करना मात्र है । अन्यैर्वा प्रयोगैः—सद्योहत जन्मुमांसपेशी—नवनीतश्च-
शीरवभ्यत्तज्ञात्यवयवैर्वा । (डलहण) ।

अथैनां नवे महति घटे सरस्तडागोदकपङ्कमा-
वाप्य निदध्यात्; भक्ष्यार्थं चासामुपहरेच्छैवलं
चल्लूरमौदकांश्च कदांश्चूर्णीकृत्य; शय्यार्थं त्रणमौद-
कानि च पत्राणि: त्र्यहात्यहाच्चाभ्योऽन्यजलं भव्यं
च दद्यात्; सप्तरात्रात् सप्तरात्राच्च घटमन्यं संक्रा-
मयेत् ॥१६॥

फिर इनको नवीन वडे घडे में सरोवर तालाव का जल और कीचड़ भरकर उसमें रख ले । सोने के लिये शैवाल, सुखा मांस और जलकंद चूरा करके दे । सोने के लिये रुग्न और

(कमलादि) जलज थोपधियों के पत्ते रखले । प्रत्येक दूसरे या तीसरे दिन जल और खाद्य नवीन डालता रहे और प्रत्येक सातवें दिन इनको नवीन घडे में बदलता रहे ॥१६॥

चक्षव्य—मलमूत्र लालादिक के कोथ से जोकों की रक्ता करने के लिये उनको नये नये घडों में पांच या सात दिन के पश्चात् रखना चाहिये—अन्यत्राद्यन्त्र ताः स्थाप्य घटे मृत्त्वांबु-
गर्भिणी । लालादिकोथनाशार्थ सविपाः सुस्तदन्वयात् ॥

भवति चात्र—

स्थूलमध्या: परिक्षिप्तः पृथग्यो मन्दविचेष्टितः ।

अग्राहिण्योऽलयपायिन्यः सविपाश्च न पूजिताः ॥१७॥

जो जोकं बीच में भोटी, देखने में भरी, अधिक लंबी, मंद चलने वाली, न चिमटने वाली, अल्प रक्त पीने वाली और विष युक्त होनी हैं, वह (रक्त निकालने के काम में) अप्रशस्त है ॥१७॥

चक्षव्य—परिक्षिप्तः—असनोद्दर्शना, किंवा ग्लान श्रान्त या क्षान्त ।

अथ जलौकोवसेकसाध्यव्याधितमुपवेश्य सं-
चेश्य चा, चिरुक्त्य चास्य तमवकाशं मृद्गोमयचूर्णीर्य-
द्यरुजः स्यात् । गृहीताश्च ताः सर्वपरजनीकलकोदक-
प्रदिवधगात्रीः सलिलसरकमंद्ये सुहृत्स्थिता विगत-
क्लमा ज्ञात्वा तामी रोगं ग्राहयेत् । ऋक्षणशुक्लाद्र्घपि-
चुप्रोतावच्छुद्धां कृत्वा मुखमपावृणुयात्; अगृहन्त्यै
क्षीरचिन्दुं शोणितविन्दुं वा द्याच्छुलपदानि वा
कुर्वीत; यद्येवमपि न गृहीयात्तदाऽन्यां ग्राहयेत् ॥१८॥

जलौका लगाने की विधि—जलौकाओं से रक्त निकालने योग्य रोगी को विठाकर या लिटाकर उसका रक्त निकालने का स्थान यदि ब्रणयुक्त न हो तो मिट्टी और गोदर के चूर्ण से रखवा करे । फिर पकड़ी और पाली हुई जोकों सरस और हलदी के कल्क से प्रदिवध करके जलयुक्त पानी में थोड़े समय तक रख छोड़े । उनकी ग्लानि दूर हुई जानकर रोग के स्थान पर लगावे । (लगाते समय) जलौका का शरीर वारीक सफेद गीले कपड़े से लपेटना और सुख खुला रखना चाहिये; (रोग के स्थान पर) नहीं लगे तो वहाँ दूध या रक्त का बूँद छोड़ दे अथवा नशतर से थोड़ा लेखन करे । यदि ऐसा करने पर भी नहीं लगे तो उसे छोड़कर दूसरी लगावे ॥१८॥

चक्षव्य—गृहीताश्च ताः—जहाँ तक हो सके, नहीं कोरी अव्यवहृत जलौका का उपयोग करना प्रशस्त होता है । क्योंकि दूषित (Septic) स्थान पर प्रयुक्त हुई जलौका पुनः उपयोग के समय अन्य स्थान पर दोप का संक्रमण कर सकती है । सलिलसरक—जलपात्र । रोग ग्राहयेत्—रोग के स्थान पर लगावे । रोग से रोगाधिष्ठान अभिग्रेत है । जिस समय रोगाधिष्ठान के एक विशेष विन्दु पर जोकं लगाना है, उस समय उस स्थान पर पहले छेदयुक्त कागज ऐसा रख दे कि कागज का छेद अभीप्सित स्थान पर आ जाय । तब जोकं की उस स्थान पर छोड़कर लगावे । जब ग्लानि गर्भायामय स्थान

१ एतदेव 'मुद्रकलकसुतेन सलिलेन प्रक्षाल्य' इति कन्चिदपिकः पाठः, २ ०सरकमच्चे चारिष्य ।

युद्ध इत्यादि संकट स्थान में जोंक लगाने की आवश्यकता होती है तब उसका भीतर प्रवेश रोहने के लिये उसे काच की नलिका द्वारा लगाना चाहिये, जिस नलिका के पृष्ठ द्वारा से जोंक का केंद्रल भाग प्रवेश कर सकता है।

यदा च निविशते तेऽध्यखुरवदानन् कृत्योन्नम्य च
स्कन्धं तदा जानीयाद् गृह्णतीति; गृह्णती चार्द्वला-
यच्छप्त्रां धारयेत् सेचयेत्च ॥१॥

जब धोटे के सुर के समान अपना मृद्गकर, स्कन्दभेद करके (त्वचा में) प्रवेश करते जाने के कि जोंक लग गई और जब लग गई तब उस पर गीला कपड़ा रख दे और जल टपका दिया करे ॥१॥

दंशो तोदकण्डुप्रादुर्भावैर्जनीयाच्छुद्धमियमादत्त
सन्ति. शहप्राप्तानामाक्षेत्र शश नोरिग्रामधेन न

जान ले
कि अब जांक शुद्ध रक्त चूसती । फिर शुद्ध रक्त चूसने वाली
को छुटा ले । यदि रक्त के लालच से बह नहीं छोड़ सो उसके
मुख पर सेथब नमक का चूटा छिपक दे ॥२०॥

वर्तावद—शुद्धामरमादित है—यह माना जाता है कि जोंक अपने विशेष प्रभाव से शुद्ध और दुष्ट रक्त के सिद्धांश से पहले केवल दुष्ट रक्त का ही प्राप्त किया जाती है—नैतकदुष्ट शुद्धासाजलीका दुष्टीयनितम् । आदर्शे प्रथम हत क्षीर क्षीरेदाकादिव ॥ (आषांगदृढ़दय) । दशावृष्टुप्रामाणीं—जय तक जोंक चिपटी रहती है, तब तक किंचित् वेदना और कण्ठ सौंदैव होती रहती है । इसलिये जब विशेष अधिक रूप से वेदना और कण्ठ होने लगेगी, तब समझना चाहिये कि अब शुद्ध रक्त का घोषण हो रहा है । अपनेवे-जोंक को स्थित करके कभी भी दंशस्थानं से नहीं छुटाना चाहिये । हरिदार्ढूया लवणचूर्ण छिकने से दृढ़ जाती है । रोगितामन-रोगितलायत । आयुर्विक गुणात्म से भी जलीका के शरीर में गंभीर कांस्तिक्षय का अस्तिक्षय सिद्ध नहीं होता है । इसलिये 'रोगितामनेव' का अर्थ 'रोगितलोक्यात्' ऐसा करन उचित है । आषांगसंप्रथ में भी ऐसा ही पाठ है—
स्त्रीलोक दृष्ट्यावदात् और लक्ष्मीलोक्यात् ।

अथ पतितां तण्डुलकण्डनप्रदिग्धगमीं तैलल-
वणाभ्यक्तमुखीं यामहृष्टाहृष्टाहृष्टालिभ्यां गृहीतपुच्छां
दक्षिणहस्ताहृष्टाहृष्टालिभ्यां शर्नः शर्नैरुलुममु-
मार्जयेदामुखात् चामयेत् तावधावत् सम्यग्वान्त-
लिङ्गानीति । सम्यग्वान्ता सलिलसरकम्बस्ता
भोक्तुकामा मती चरेत् । या सीदती न चेष्टते सा
दुर्योन्ता, तां पुनः सम्यग्वामयेत् । दुर्योन्तया
व्याधिरसाध्य इन्द्रमदो (रक्तमदो) नाम भवति ।

अथ सुयान्तां पूर्ववत् सन्दिदध्यात् ॥२१॥

जोंक हृषि जाने के पश्चात् उसका शरीर चाकल के कड़न
में और मुख तेल और एवन से मले । ऐसे बाँध हाथ की
अंगुली और डिग्गडे से हृषि पकड़ कर 'हादिने हाथ के बाँधे
हैं' की तरफ आई तो वह उसे बोला - यिन्हें

और मुख से अच्छी तरह धमन के चिह्न आने लगे तब तक (इसी प्रकार निचोड़ कर) रत का धमन कराये। साथ धमित की हुई जोंक जलपात्र में छोड़ने पर राने के लिये इधर उधर घटती है। जो ताली में हुआत सी बैठ कर इधर उधर घटती नहीं, उसे दुर्योग समझे और ऐसे (अच्छी तरह निचोड़ कर) धमित कर। सरोवरक जोंक को 'इन्द्रमद' नामक रोग हो जाता है। उत्तम प्रकार से धमित की हुई जोंक को पहुँचे की भाँति (जल में घड़े में) रत है॥२३॥

* धक्काद्य—दक्षमर—यह एक जलीजाओं का रोग है, जो वार वार रक्त निकालने के लिये प्रयोग करने से तथा प्रत्येक समय दुष्ट रक्त का योग्य वस्तु न कराने से हो जाता है। धामभट में हृस रोग का नाम रक्तमर्द दिया है—ता अप्रसंबलवमन्तरं प्रत्यत च निशानाम् । सीरन्ती सलिल प्राप्य रक्तमर्द इति त्वयेऽम्॥

करना चाहिये—सहत्र त्र त्र हा मुन्न पाहेदेत। (अष्टांगसंग्रह)।
यदि विकारी भीवाणुओं से दृष्टि स्थान में इनका उप किया गया हो तो दूसरे समय इनका उपयोग रक्त निकाके लिये न बरना अधिक प्रयोग है। अन्यथा पूर्ण रोग संकरण दूसरे रोगी पर होने की सभावना होती है।

शोणितस्य च योगापोगनवेद्य शतधीतपृष्ठ
भ्यहस्ततिपुंधारणं वा; जलौकोवणान् मधुनाऽ
धयेत्, शीताभिरद्विश्च परिपेचयोद्धीत वा, कफः
मधुरद्विश्चीतश्च प्रदेहे, प्रदिष्टादिति ॥२३॥

रक्षावाल का योग तथा अयोग देखकर, उसके अनुसार शत्रुघ्नी उन या उससे सहृदय हुई का उपयोग करे या जल्दी बांधों पर मधु से धरण करे या ठंडा पानी छिड़के या मां को बांध दे या उन पर कपाय, मधुर, खिर और शीत पदा

का दृष्ट वर्ते ॥२२॥

द्वारकाद्य—योगावेगान्—सम्प्रयोग और 'हीनमिथ्या'
योग। सम्प्रयोग में रसव्वाव की राशि रोलीका बल, रसदुष्टि
तीव्रता तथा स्थानभिन्नता के अनुसार न्यूताप्रिक, हुं
फेरती है—बलदोषमाणाद्वय विशुद्धता कपिलरूप न। सर्व ज्ञानपेत्तन
राशय प्रसीदत था ॥ (चक्र) । सम्प्रयोग में व्याणी पर शतधी
पूर्ण प्रयोग करना चाहिये और एनप्रयोग में शरिर लाभण
लिये मग्न तथा हरिद्रा और गुड से व्याणी का धैर्य करन
चाहिये—भनुदोष ज्ञानदेहान् हरिद्रामास्तिके ॥ (वामपट)
जलोका व्याणी पर निर्द्युषी या नीति की पर्णी का सेक करने
में भी रक्त का लाभण होता है । अनियोग—ज्ञानीका के प्रयोग
मनियोग होने की संभावना बहुत होती है । कारण यह
कि जोक के सिस में कई छोटी छोटी मध्यिय होती हैं, जिनक
रस व्याणी में पहुँचता है । इस रस में हरिदिन (Haridin)
नामक पूर्ण द्रव्य होता है । हृष्य द्रव्य में यह गुण है कि या
दूष रक्त के साथ मिल जाता है तो रक्त गीव नहीं जाता । या
दूषोंके रक्त वृक्षीय हो से यह द्रव्य दृष्ट लाला के साथ दैर्घ्य
में उत्तर्वास होता है । यह द्रव्य दृष्ट लाला में रक्त

चूसा हुआ रक्त उसके मुख में जम जाता और निगलने दिक्षित होता । जब जोंक लगाना से इटा दी जाती है, तब वह न उपचय के घण्टाधान पर भौजूद दैने के कारण रक्त का बहाव अधिक थंड नहीं होता । उस अवस्था में बहाव थंड करने के लिये तथा रक्त जमाने में भद्र करने के लिये शीतल सूख्य का रेंपेक तथा घण्टाधान का उपयोग करना पदता है—शीतल-भूर्ज-रेंपेन थंडन च अल्लैष्टोतुप्रस्तु रक्तश्लिष्टयन् । (उल्लृ) । न उपायों के विवाय अंगुलिपीठन, कॉलोडिओन (Collodion) और सोह परहिरिदि (Iron perchloride) से बाहर हैं या प्रयोग, क्लिकरी और क्षार का (यथा (Silver nitrate) प्रयोग अग्नितस्थलाका का प्रयोग और टांका लगाना उसे रक्त का प्रवाह थंड होता है । विध्यामृग-इसमें शैपरक्त सादन के लिये एकाय मधुरान्दि द्रव्यों का ऐप करना चाहिये—ऐतरकं नौलिङ्गोनितोपसादनाय कपायमधुरशिरिः लष्णैः पैदैः प्रदिलात् । (वाटांगमंत्राः) ।

भवति चाप्र—

ज्ञेयाणि ग्रहणं जातीः पोपर्णं सावचारणम् ।
जलौकसां च यो वेत्ति तत्साध्यान् स अयेद्वदान् ॥२३॥

इति शुश्रावंतितायां गुरुभाने जलौकावचारणीयो
नाम व्योदरोऽध्यायः ॥१३॥

जलौकाओं के रहने के देश, पकड़ने की विधि, उनकी जाति, पोपण तथा उनको लगाने की विधि जो वैद्य जानता है, वह शी जलौकाओं द्वारा साध्य रोगों को जीतता है ॥२३॥

चक्कव्य—जाति—जलौका जलवासी और स्थलवासी (Aquatic and Terres trial) दो प्रकार की होती हैं । रक्तावसेक के लिये केवल जलसंभन जलौका का ही उपयोग होता है । इसी लिये इस अव्याय के प्रारंभ में लिखा है—शीतलिपासा मधुरा जड़ोंका वासिनिगमा । इसके सिवाय सविध और निर्विध ऐसे भी दो भेद हैं । अवचारणम्—हरीं तक जोंक लगाने की विधिवर्णन की गई है । इस विधि में जिन उपयुक्त चातों का विचार नहीं हुआ है, उनका कुछ दिग्दर्शन यहाँ किया जायगा । (१) दंगस्थान पर स्वेद करने से रक्तावसेचन में सौकर्य प्राप्त होता है । इसलिये जहाँ आवश्यक हो, वहाँ जोंक लगाने के पहले उस स्थान को गरम पानी से धोना या उपनाट स्वेद (Poultice) करना प्रयत्न है । (२) जोंक लगाने के लिये सब से उत्तम काल संवेद होता है । संध्या या रात्रि के समय उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये । क्योंकि जोंक लगाने के पश्चात् रक्त का जो प्रवाह होता है, उसका खाल रात्रि के समय नहीं हो सकता । (३) वालकों में युवा मुन्द्रों की अपेक्षा अधिक रक्तावस्थ होने की प्रवृत्ति होती है । इसलिये वहीं सावधानता से ऐसे स्थान पर जोंक लगानी चाहिये कि जहाँ दबाव से रक्तप्रवाह बंद कर सकते हैं । यथा—हड्डी के ऊपर का भाग । तथा रात्रि के समय भी जोंक नहीं लगानी चाहिये । (४) जलौकाओं का प्रयोग सिरा, नेत्रपलक, स्तन, शिशन, वृषण—इन मृदु स्थानों में नहीं करना चाहिये । क्योंकि तिरा से भयानक रक्तावस्थ होने की भीति होती है और अन्य स्थानों में भी उत्पन्न होता है । (५) वाल्यावस्था में प्रत्येक दो साल आयु के लिये

एक जोंक पर्याप्त होती है । युवावस्था में साधारणतया छः जोंक और अधिक से अधिक दस तक जोंक लगा सकते हैं । (६) जिस समय आवश्यक संख्या में जोंक नहीं मिल सकती, उस समय निज्ञ उपाय को अंगीकार करके थोड़ी जोंकों से अधिक जोंकों का कार्य हो सकता है । जोंक लगाने के बाद जब वह रक्त से करीब परिर्षण हो जाती है, उस समय उसकी धैर्य के पास सूची द्वारा ऐद, करना । इससे पुक तरफ जोंक रक्त सूक्ष्मी रहती है और दूसरी तरफ रक्त का प्रवाह होता रहता है । दूसरे उपाय से जोंक रक्त से परिर्षण होने के पश्चात् दृष्टाने की तथा उसको निचोड़ कर फिर लगाने की आवश्यकता नहीं होती । वत्साध्यगद—जलौका योग्यनिवारक (Anti phlogistic) और रक्तसंचयहारक होती है, जो स्थानीय रक्तहरण करके ये कार्य किया करती है । जलौक ग्रंथियां, आवरक कला (Serous membrane), ल्पचा, अस्थि—इनके योग्य में यहुत लाभ करती है । इसलिये फुफ्फुसगोथ (Pneumonia), फुफ्फुसावरणगोथ (Pleurisy), इन्हाई (Myocarditis), इद्रावारणगोथ (Pericarditis), कर्णमूलंग्रियोथ (Parotitis), कर्णग्रोथ, यकृच्छोथ, मस्तिष्कग्रोथ, मस्तिष्कावरणग्रोथ (Meningitis), संधिग्रोथ, गलान्तर्मन्यग्रोथ (Tonsillitis), विद्रधि, मीच, आघात से रक्त जम जाना—इन रोगों में इसका उपयोग किया जाता है । इनके सिवाय दुःसाध्य वमन कौटी प्रदेश पर जोंक लगाने से कभी कभी धंद हो जाता है । शिरःशूल कनपटी पर जोंक लगाने से धंद होता है । अतिसार तथा अर्धी में गुदा के पास जोंक लगाने से कुंपन तथा वेदना कम हो जाती है । छाती तथा उदर के शूल में शूल के स्थान पर जोंक लगाने से आराम मिलता है । नेत्राभिप्त्यद, श्वेत-मण्डलग्रोथ (Scleritis), इटियवनिकाशोथ (Iritis) इत्यादि नेत्र के रोगों में कनपटी पर अपांग (Outer canthus) के समीप जोंक लगाने से लाभ होता है । अद्यांग-हृदय के निम्न (प्रक्षिप्त) श्लोक में जलौकासाध्य रोगों के नाम दिये हैं—गुल्मार्णविद्पिण्डुष्वावतरत्तलामयान् । नेत्ररञ्जिपती-सर्पनां शमयन्ति जलौकसः ॥

इति भास्त्रवरशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रूताभाषीटीयां सूत्रस्थाने जलौकावचारणीयो नाम
व्योदरोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथातः शोणितवर्णनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से शोणितवर्णनीय अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

तत्र पात्रभौतिकस्य चंतुर्विधस्य पद्मस्स्य द्विविधवीर्यस्याप्तिविधवीर्यस्य वाऽनेकगुणस्योपसुक्तस्याहारस्य सम्यक्षपरिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते ॥२॥

पञ्चभूतात्मक, चतुर्विध, पद्मस्सात्मक, द्विविध या अटिविध

वीर्यांमक और ग्रेनेकुण्डात्मक दथाविधि भोजन किये हुए आहार का योग्य परिमाप होने में जो प्रसादस्वस्त्र अवलम्बन सूक्ष्म सार बनता है, वह रस कहलाता है ॥२॥

वक्तव्य——ग्रन्थमौलिक—पृथिव्यादि पत्रभूत द्रव्ययुक्त—पश्चभूतात्मक देव आहार पाचमौलिक ॥ चतुर्विध—येय, लेट्ट, भक्षण और भोज्य । पठर—माहुरादि पद्धत रस । दिविपर्वीर्य—शीत और उष्ण वर्ती । अटिविशीर्य—शीत, उष्ण, दिवाय, स्ख, विशद, पित्तिल, शुद्ध और तीर्तीश वर्ती । ग्रन्थ गुण—शीतादि दीप्त गुण—गुणमन्द-हिमित्यशशसानद्युक्तिरिता । गुण सम्पूर्णविशद विसर्ति सवि पर्याय ॥ (अष्टाङ्गहृदय) । उपचुक्त्य—आहारविधिविधान के अनुसार भोजन किये हुए । तेजीभूत—शुक्र या घृत की भाँति प्रसादाद्य । तत्र आहारप्रसादाद्य रस । (चक्र) । परम्यूक्तम्—पराविधि सेवन किये हुए भोज्य पदार्थों का शोणन तथा सामीकरण के लिये दो बातों की अवलम्बन आवश्यकता होती है । एहीली बात यह है कि उन पदार्थों का अवलम्बन सूक्ष्म कथाओं में भीतिक विधटन होना चाहिये । यह कार्य दोनों से चर्चेण, पाचक रसों का जलांश तथा आय्र के आकुचन से होना है । जो पदार्थ हमस प्रकार महीन नहीं पनते हैं, वे पोषणयोग्य होते हुए भी गौणित नहीं ही सकते और अन्य लाभ्य पदार्थों के साथ गुदद्वार से बाहर लिकल जाते हैं । इसका कारण यह है कि इन खाद्य पदार्थों की शरीरपोषण के लिये आन्त्र की स्लैमिक कला में से हीकर रस्त में पहुँचना पड़ता है । इसलिये जो पदार्थ उस कला में से प्रवृत्त करने योग्य सूक्ष्म नहीं होते हैं, उनका भोजन में होना या न होना बाबर है । सम्यक्षरितात्मक—दूसरी बात यह है कि इन खाद्य पदार्थों की सम्यक परिणति या पचन होना आवश्यक होता है । यह पचन लाला, जाठर रस, पित्त, आन्त्र रस, अन्नदाय रस—इनकी किया से होता है । पचनकिया द्वारा गूल राशा पदार्थों का रासायनिक विलेपण होकर नये छोटे बगुचाले धौरिक बनते हैं, जो आन्त्र की स्लैमिक कला में से हीकर रस्त में पहुँचते हैं । इस प्रकार की विलेपण किया के बिना शरीरस्ती इमारत नहीं बन सकती है । इसका कारण यह है कि जो पदार्थ हम सेवन करते हैं, उनसे अवलम्बन प्रसाद के पदार्थ शरीर में होते हैं । जब तक खाद्य पदार्थों की छोटे अणुपारे यांत्रिहों में परिणति नहीं होती, तब तक शरीर के पदार्थ इनसे नहीं बन सकते । यदि एक उत्तरने मरान से नया मकान बनाना चाहें तो प्रथम एहे मकान का परिवर्तन होते, शूना, मिट्टी इत्यादि यांत्रिहों में करना चाहिये । तत्पश्चात् उन में से नये मकान के लिये योग्य मासों का उत्तरोग करके नया मकान बनाकर खान्ना बल्युओं को एक देना चाहिये । शरीर में ही खाद्य पदार्थों की परिणति होने के प्राप्ति वे स्लैमिक कला में से रस्त में पहुँचते हैं । ऐसे इन परिणति पदार्थों से शरीर के सेन अपने विशिष्ट प्रसाद के पदार्थ बना देते हैं । परिणति के समय जो शरीर के निये अयोग्य होते हैं, वे भास्त्रय में शरीर के बाहर उत्पन्न होते हैं । तम—शरीरपोषण योग्य खाद्य पदार्थों का पापक रस्त द्वारा विशेषित करा । रस का हृदय में दृग्देश के मार्ग—खाद्य पदार्थों में मार्ग जारीय (Pro'cius), मेंदानीय (Pat) और शर्करानीय (Cobolyl ducates) पदार्थ अधिकार्य होते हैं । इनके विशद

जल और सनिज पदार्थ भी होते हैं । इनमें से मेदजातीय पदार्थों के रस का गोण क्षुद्र आन्द्रश्य रस्माकुर्तो (Villi) द्वारा होकर वह रस भ्रम रसप्राणा (Cisterna chyl) में पहुँचता है । वहाँ से सुख्य रसकुर्ता में से होकर अक्षरात्मा सिरा में (Subclavian vein) रस्त के साथ मिलता है और उत्तर महासिरा के द्वारा हृदय में पहुँच जाता है । मास और शर्कराजातीय पदार्थों का रस प्रतिशरिणी सिरा के सूक्ष्म शर्मातों (Portal tributaries) में से होकर रस्त के साथ यहूत में पहुँचता है । वहाँ हृदय रस के ऊपर यहूत रस का दुष्कर्त्यार्थी होने वां पथात् वह रस अधरा महासिरा (Inferior vena cava) द्वारा हृदय में मिलता है । रसनिज पदार्थ और जल सिरा तथा लक्षिका पाहिनियों द्वारा हृदय में आते हैं । इस प्रकार आहार का रस दो भिन्न मार्गों द्वारा हृदय में पहुँचता है ।

तस्य च हृदयं स्थानं स हृदयाश्चतुर्विशति-
धमनीरन्तुप्रविश्योर्ध्यगा दश दश चाधोगामिन्यथ
तद्वश्य तिर्यग्गाः कृत्यं शरीरमहरहस्तर्पयति धर्घयति
धार्यति यापयति चाहप्तेतुकेन कर्मणा ॥३॥

उस रस का स्थान हृदय है । वह रस हृदय से चौंबीं धमनियों में, जो दश ऊपर की, दश नीचे की ओर चार तिर्यक गई हैं, प्रोग कर दिसी शास्त्र कर्म के प्रभाव से तारे परीर को दिन प्रतिदिन तूष करता है, बढ़ाता है, भारण करता है, यापन करता है और सनीव रसता है ॥३॥

यत्कथ्य—स्थान—रस निन्तर धमनीर्णील है—अहरहर्षांच्छ-
तीत्यतो रस । यह एक स्थान से चलकर शरीर भर में धूम धामकर उन बहुती लौट आता है, एक जगह नहीं ढूँढता । परिभ्रमण का प्राप्तभ शरीर के एक विशिष्ट स्थान से होता है और उसी स्थान पर रस किर लौटकर अता है । परिभ्रमण के लिये शक्ति भी उसी स्थान से मिलती है । इसलिये स्थान का अर्थ परिभ्रमण, प्रारम्भ का स्थान तथा परिभ्रमण के लिये शक्तिदाता है स्थान करना चाहिये । चतुर्विशिष्टयनी—हृदय से लिकलने वाली चौंबीं धमनियों का विवरण शरीरस्थान के धमनीव्याकरण अध्याय में किया गया है । प्रथमशारीर की दृष्टि से हृदय से बेल पक्ष महाप्रमनी (Aorta) लिकलती है, विसर्ते सर्व शरीर के लिये छोटी मोटी बींबीं दृत्तीम शारारायें निकलती हैं । भृष्टेतु केन वर्णा—प्राक्तनवर्णणा । पूर्वकर्मप्रभाव के अनुमार रस शरीरपोषण का कार्य विद्या करता है । जब एवंस्मै नष्ट हो जाता है, तब रस से शरीर का भारण नहीं होता और शरु हो जाती है । मरण माणिनों इत्यायु पुण्योपवशयात् । (शास्त्र) ।

तस्य शरीरमनुसरतोऽनुमानाद्रतिप्रपलदशयि-
तद्वया द्वयवृद्धियैर्दृतैः । तस्मिन् सर्वशरीरायपद्यो-
पद्यात्मुक्तायप्यानुसारिणि रसे जिशासा-किमये
सौम्यस्तंजजस ? इति । अत्रोच्यते—स रातु द्वयात्
शरीर स्नेतन्जीयनतर्पणंधारणाद्रिभिर्विशेषैः सौम्य
द्वयवगम्यते ॥४॥

(मारे) शरीर में परिभ्रमण करने वाले उन रस की गति (शरीर की) धृति, दृष्टि और विदृति के द्वारा गनुमान से

जाननी चाहिये । उस समस्त शरीर के अंग प्रत्यंग, दोप, धातु, मल और आशयों में पहुँचने वाले रस के संबंध में यह जिज्ञासा होती है कि यह रस सौम्य है या आम्य ? इसमें वह कहा जा सकता है कि रस द्रव, ऋग्मणशील, त्विग्ध, जीवनीय, तृष्णिकारक और धारक इत्यादि विशेष गुणों से सौम्य ही प्रतीत होता है ॥४॥

वक्तव्य—शरीर के भीतर अल्पतं सूक्ष्म रस की गति का ज्ञान दर्शनेन्द्रिय से नहीं होता । अतः रसगति की सत्यता सिद्ध करने के लिये दूसरा प्रमाण अनुसारन पेश किया है । क्षवृद्धिवैकृतैः—शरीर या शरीर के एक भाग का क्षय होने से रसगति का हीनयोग, शरीर की वृद्धि होने से सम्यग्योग और संपूर्ण शरीर में या एक भाग में विकृति होने से गति का अद्योग या मिथ्यायोग समझना चाहिये । क्षिप्यमाणः खैवैगुण्याद्रसो सज्जति यत्र सः । तस्मिन् विकारं दुले से वर्षेभित्वा तोयदः ॥ यदि रस गतिमान् नहीं होता तो अनाहार से शरीर का क्षय नहीं होता । यथाविधि आहार करने से शरीर की वृद्धि नहीं होती और रस की गति कुठित होने पर विकार होने की आवश्यकता नहीं थी । जब त्यक्त, वृद्धि और विकृति शरीर में प्रवृक्ष है, तब इनका कारणस्वरूप रस भी अनुसारन से गतिमान् है । मल—मूत्र, शक्त्, स्वेदः । आशय—ये पुरुषों में सात और स्त्रियों में आठ होते हैं—वाताशयः, पिताशयः, श्यामाशयः, रक्ताशयः, आमाशयः, पक्षाशयोः, मूत्राशयः, स्त्रीणां गर्भाशयोऽप्य इति । धातु—रसासङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाग्रुक्षाणि धातवः ।

स खल्वाप्यो रसो यकृत्मुहीहानौ प्राप्य शग-
मुपैति ॥५॥

भैवतश्चात्र—

रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम् ।

अव्याप्त्वाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते ॥६॥

वह जलरूप रस यकृत् और स्रीहा में प्राप्त होकर लाल हो जाता है ॥५॥ मनुष्यों के शरीर में रहने वाले विगुद्ध तेज से लाल हुआ यही प्रसादरूप अन्नरस रक्त कहलाता है ॥६॥

बक्टरीय—उपर्युक्त वर्णन के अनुसार रस और रक्त का संबंध निम्न समीकरण से प्रदर्शित किया जा सकता है—
आप्यरस+रंजकद्रव्य=रक्त। अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा रक्त की परीक्षा करने पर रक्त के दो भाग दिखाई देते हैं। (१) तरल भाग, इसको रक्तरस (Plasma) कहते हैं। यह एक हल्के पीले रंग का रस होता है। इसमें शरीरपोषक पदार्थ, त्याज्य पदार्थ, आक्सीजन, कार्बन डायोक्साइड, स्वनिज पदार्थ, शरीररक्त के पदार्थ मिले हुए रहते हैं। (२) रक्तकण—ये कण तीन प्रकार के होते हैं—लाल कण, थेट कण और सूक्ष्म कण (Platelets)। इनमें लाल कणों की संख्या थेट कणों से बहुत अधिक होती है और इन ही के कारण रक्त का वर्ण लाल होता है। अलग अलग कणों का रंग पीला सा होता है। परंतु जब बहुत से कण इकट्ठे हुए देखे जाते हैं, तब रंग लाल दिखाई देता है। ये कण आकार में गोल चपटे त्रिभुजाल्प होते हैं। इनकी मोटाई त्रिभुजाल्प इन्च होती है। एक घन सहजांश मीटर

प्रगति रखते कर्यों के लिये उपयोगी कुछ द्रव्य भी यहाँ दर्शाता है। (It (liver) may stimulate the marrow to provide mature red cells or it may provide a constituent which is essential for the maturation

परन्तु इस परिवर्तन का मुख्य स्थान अस्थियों की रक्तमज्जा है। प्रस्त्रेन—प्रकृतिस्थेन। शरीरसेन तैगसा—यदृतदृष्टिहा (मौर मज्जा) में होने वाले रक्तक पित्त से।

रसादेव स्थिया रक्तं रज संदां प्रवर्तते ।

तद्वर्षाद्वादशादृध्वं यति पञ्चाशतः क्षयम् ॥६॥

आर्तवं शोखित त्वाश्रेयम्, अद्वीपोमीयत्वाद्भैस्य ॥

खियों के रजसज्जक आर्तिव रक्त की प्रवृत्ति ही ही रस से होती है और वह आर्तिव वामह वर्ष की आयु के पश्चात् प्रकट होकर पचास वर्ष की आयु के पश्चात् वद ही जाता है ॥५॥ परन्तु अर्तिवयीणित आदीश्य है। क्योंकि गर्भ अस्ति और सोम के सयोग से बनता है ॥५॥

वक्तव्य—जब सह रत्नभूमि-इरी को आरंभ कहते हैं। आरंभ समय स्थापित है जो क्षी जब जवान होने स्थगी है तब उसके गर्भायण से प्रतिमास बढ़ने लगता है। आरंभ का पहली बार निकलना रजोदर्शन बहलाता है। रजोदर्शन इस बात का चिह्न है कि क्षी अब जवान होने लगी है। उस समय से क्षी के शरीर पर यौवनायस्था के चिह्न अधिक हार्दिकर होने लगते हैं और भीतर वीक्षकोष (Ovary) से प्रकाशित बाहर आने लगते हैं। रजोदर्शन का काल साधारणतया १२-१४ वर्ष की आयु तक होता है। परंतु इस काल में जल्दायु और सम्मता के अनुसार एक होता है। शीतप्रधान प्रेरणों में उषणप्रधान प्रेरणों की अपेक्षा रजोदर्शन देर में होता है। सामाजिक अवस्था, रहन सहन का दण, विज्ञान इत्यादि बातों में जो लड़कियाँ अप्रसर होती हैं, उनमें रजोदर्शन यीथी होता है। खंचल और

नाशुक-प्रहृति लड़कियों का भी रजादर्शी थीं होता है। जिन्हे पार्टीक विधिम बम करना पटता है, पॉलिक और उसेंक भोजन खूब मिलता है, यहाँ की गन्दी कस्ती में रहना पटता है, उन लड़कियों की विपरीत प्रकार की लड़कियों की अपेक्षा रजो दूरी जन्मी हुआ करता है। निकल और रोगावस्था में रजोदूरी देर में होता है। प्रथम रजोदूरी से ४५-५० दर्जे की आयु तक छी प्रतिमास रजस्वला होती रहती है। सगार्भावस्था में और प्रसव के पश्चात कई महीनों तक दिल्ली रजस्वला नहीं हुआ करती। ४५-५० दर्जे की शीघ्र में मार्तिव निकलना स्वामाविक तौर से बद हो जाता है। प्रतिमास आर्तिव निकलने से पहले गर्भायण की स्फीमिक कला में एक अधिक उपचित हो जाता है। इस के कारण गर्भायण की कला मोटी, शुद्ध और रिलिपिली हो जाती है। किंतु उस कला में से एक बाहर निकल जाता है। यह दिल्ली काले रंग का और क्षारीय होता है। उसमें स्फीमिक कला के ढाँके, गम्भीर ग्रंथियाँ का साथ और स्टिक के स्पष्ट शृंखला दृश्य होते हैं। प्रतिमास साथ सीन से धोख दिन तक और उमड़ा धूमियाँ तीन बार बाटूक तक

होता है—मासेनोरनिति काले भवनीभूत तदर्तवम् । इष्टप्राण विग्रह च वसुयोनिमुख नमेव ॥ (सुकृत) । माताजिप्तिद्वाहातिवर रात्रानुवर्ण च । नैवानिवृहलालवर्णत्वं शुद्धमस्त्रिरो ॥ (चत्क) । रत्नादेव—रजस्य और शुक्र दोनों गर्भेत्याश्रक होते हैं, दोनों एक महीने के बाद उत्पत्त होते हैं—एव मासेन रम शुक्रीभवति सौणा चर्तवन् । परतु शुक्रजैसे स्वरूपादि परम्परा में मना से उत्पत्त होता है, वैसा आर्तव नहीं होता । वह सीधा रस से ही उत्पत्त होता है । इनसिये 'रसादेव' लिखा है । हु—यद्यपि आर्तवयागित धातुगोपित की भाँति सीम्य रस से ही उत्पत्त होता है तथापि वह रस की भाँति न सीम्य है, न धनुषोद्याति की भाँति अनुग्राहित होता है । यह भेद प्रदर्शित करने के लिये 'तु' शब्द का प्रयोग किया है । अप्रयोग—राम सीम्य शुक्रकीट और आप्ने स्त्रीविज के स्थोग से उत्पत्त होता है—'सीम्य शुक्रमार्त्तवमप्रयोग' । (शा अ ३) । आर्तवयागित का गर्भोत्पत्ति भैं प्रवृक्ष संबन्ध नहीं है । परतु स्त्रीविज परिपक्व होने से इसका अवश्य संबन्ध होता है । क्वांकिभासिक स्वाव अधिकतर उस समय होता है, जब कि परिपक्व बींकीय (Ovary) के बाहर निकल आता है । अत आप्ने बींज के साथ संबन्ध रखने के कारण आर्तवयागित भी आप्ने होता है । यह भी आर्तव का शुक्र जो सीम्य है, उससे दसरा भेद है ।

पाञ्चभीतिकं त्वपरे जीवरक्तमाहुराचार्योः ॥१॥

विस्त्रिता द्वयता यगः स्पन्दनं लघुता तथा ।

भास्यादीनां यसा हेते इत्यन्ते चाव शोषिते ॥१०॥

कई आचार्य जीवरत को पश्चमीभूतात्मक मानते हैं ॥१॥
इस रूप में भूम्यादि पाँचों तत्त्वों के गुण दिशाएँ होते हैं। पथा-
आमगण भूमि का, पठलापन जल का, सुरक्षी तेज का, स्वनद
धर्या का और हल्कापन आकाश का गुण है ॥२॥

यसका अर्थ जीवनपोषक योगित या
का अर्थ

रसाद्रक ततो मांसं मांसान्मेद्. प्रजायते ।

मेदसोऽस्थि ततो मज्जा भज्जद् शृंका तु जायते ॥११॥

तत्रैषा (सर्व)धातूनामप्रपानरसं प्रीणयिता ॥

रसज्जि पुरुषं विद्याद्वरुं रक्षेत्प्रयत्नातः ।

अशास्त्रपालनार्थं मतिमानावारायाप्यतन्दित् ॥१३॥
रस से रस यतता है, रस से मांस, मांस से मेंद, मेंद से
अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र यतता है ॥१४॥ इह
सब धातुओं का संरण अशास्त्रमज्जित रस ही भरने वाला है ॥१५॥
मतुविषयरीति को राह छी, सां और आत्मरात का वालन साक्षात्यता
वालन सां और वालन साक्षी लाखिए ॥१६॥

युक्तिय—यारहवें भोक में आहारसम से गरीब के अन्यान्य पानुओं का पोषण किए ब्रह्म से होता है। इसका वर्णन किया है। हम चिरपि तीर्थमें सीतिं यथा आयुर्वेद में प्रच-

लित हैं—१ क्षीरदग्धिन्याय, २ केदारीकुल्यान्याय, ३ खलेकपोतन्याय। (१) क्षीरदग्धिन्याय—इस न्याय के अनुसार जो शरीर के पोषण का क्रम मानते हैं, उनका यह कहना है कि यथा वर्ष्णी दूध से दही बनता है, दही से मक्कलन बनता है, मक्कलन से धी बनता है और धी से पृथग्मण बनता है तथा संगृही आहार-रस से स्फट, रक्त से मांस इत्यादि धातु एक के पश्चात् एक क्रम से उत्पन्न होते हैं। इसलिये इमको 'क्रमपरिणाम पक्ष' भी कहते हैं। यह क्रम निम्नपद्धति से चलता है। प्रत्येक धातु के मल, स्थूल और आणु ऐसे तीन परिणाम हुआ करते हैं। भोजन किये हुए अदा का मल यिटा और मूत्र होता है और सार भाग रस होता है। इस को पोषक रस भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसको काइल (Chyle) कह सकते हैं। इन रस का पचन होने से मल कफ उत्पन्न होता है, स्थूल भाग रस होता है और अणु भाग रक्त बनता है। स्थूल भाग में जो रस बनता है, उसको पोष्य रस भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसको प्लाज्मा (Plasma) कह सकते हैं। पोषक रस से नवीनोत्पन्न रक्त का पचन होने के पश्चात् मल पित्त होता है, स्थूल भाग रक्त बनता है और आणु भाग मांस होता है। इस नवीनोत्पन्न मज्जा (Marrow) कह सकते हैं। पोषक रस से नवीनोत्पन्न रक्त का पचन होने से द्वितीय रक्त मिलता है, स्थूल भाग में द्वितीय रक्त का पचन होता है। इस अस्थि का पचन होने से केश लोम श्मशु श्वसन में द्वितीय रक्त होता है। इस अस्थि का पचन होने से अंगों की कीचड़ और लवचा का स्नेह मलस्त्रूप निकलता है, स्थूल भाग मज्जा है और अणु भाग शुक्र होता है। इस शुक्र का पचन होने पर भी मल नहीं मिलता है, स्थूल भाग शुक्र होता है और स्नेह भाग ओज होता है। जटांगहृदय में ओज को शुक्र का मल माना गया है—कफः, पित्त, मलः खेतु, प्रखेत्रो, नसरोम च । स्नेहादिक्षित्वनिवासमोजे धातुर्ना क्रमशो मलाः ॥ सुपत्तमरण के लिये ऊपर वर्णन किया हुआ अर्थ श्लोकों से कहा जाता है—स्थूलस्त्रूपमः । सर्वे भिन्नते धातुविधिः । स्वः स्थूलोऽसः पः स्थूलस्त्रूपमः याति तन्मलः ॥ स्वासिभिः पञ्चमानेतु मलः पद्मु रसाद्यु । न शुक्रे पञ्चमानेतुपि हेमनीवाक्षये मलः ॥ (डलहन) । (२) केदारीकुल्यान्याय—इस न्याय वाले लोगों का यह कहना है कि जैसे वर्गीयों का जल की नालियों करके था, वेत का नहरों करके प्रथम समीपवर्ती भाग तत्पश्चात् दूरवर्ती भाग एक ही जल द्वारा सींचा जाता है, वैसे आहाररस बाहिनियों द्वारा शरीर में परिद्वारण करते समय प्रथम रक्त समान अंश से रक्त का पोषण करता है, मांस समान अंश से मांस का पोषण करता है। इस प्रकार समान अंश से समान धातुओं का पोषण उत्तरोत्तर करता रहता है। इस न्याय के अनुसार आहाररस ही सर्व धातुओं का पोषण करता है। (३) खलेकपोतन्याय—इस न्याय वाले लोगों का यह कहना है कि जैसे धात्य कटने के स्थान (खलिहान) में इकट्ठा हुए कृतृत भिज्ञ भिज्ञ मार्गों से अपने अपने स्थानों में शीघ्र चा देरी से स्थान की दूरता या समीपता के अनुसार पहुँचते हैं, वैसे आहाररस

भिज्ञ भिज्ञ द्वारा शरीर के भिज्ञ भिज्ञ धातुओं का पोषण जल्दी या शीघ्र किया करता है।

इन तीनों का विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि तीनों में धातुपोषणक्रम के संबंध में एकदायता है, मतभेद फैल पोषक धातु के संबंध में है। पहले पक्ष में पूर्व धातु उत्तर धातु का पोषक होता है और दूसरे तथा तीसरे पक्ष में रस धातु अन्य धातुओं का पोषक है। द्वितीय पक्ष में रस एक ही मार्ग से सर्व धातुओं का पोषण करता है और तृतीय पक्ष में भिज्ञ भिज्ञ मार्गों से पोषण करता है। इन में से क्रमपरिणाम पक्ष चरक्तसंमत है। इस पक्ष का विशेष विवरण यहाँचिकित्सितान्याय में 'रसाद्वक ततो मांसम्' इत्यादि से प्रारंभ कर पद्धत ह श्लोकों में किया गया है। इसके सिवाय 'धातवो द्वि धात्वादाराः प्रकृतिमुत्तुवत्त्वे' (सु. अ. २८)। 'त्रोत्सा न यथास्वेन धातुः पुर्यित धातुना' (च. वि. अ. ८) इत्यादि पोषक वाक्य भी मिलते हैं। द्वितीय पक्ष सुश्रुतसंमत है—'तैत्रीणा सर्वधातुनामन्त्रपानरसः प्रीणितिः'। 'स खलु श्रीणि श्रीणि कलासहस्राणि' इत्यादि। तृतीय पक्ष वृद्ध्य पदार्थों के कार्य विवरण के लिये होता है, अन्यथा उसकी कोई खास आवश्यकता नहीं है। हन तीनों के अतिरिक्त अरुणदत्त की सर्वोगसुन्दरी में 'एककालधातुपोषणपक्ष' का उल्लेख किया है। इस पक्ष की धातुपोषण की कल्पना पाश्चात्य धातुपोषण उपस्थिति के साथ मिलती है। पाश्चात्य धातुपोषण की कल्पना—हम जो अन्न सेवन करते हैं, उसमें शरीरधातुपोषण के लिये उपयोगी सर्व पदार्थ उपस्थित रहते हैं। इनका जठराभिस्थि से पचन होने के पश्चात् जो सारा उत्पन्न होता है, उसका शोषण आन्तर से होकर वह सिरा तथा लिंगिका वाहिनियों द्वारा हृदय में पहुँचता है। वहां से वह हृदयसंकोच के साथ सर्व शरीर पर एक ही समय में फैलता है। जिस धातु के पास यह रस पहुँचता है, वह धातु अपने पोषण योग्य अंश का ग्रहण करके वर्धित होता है। इस प्रकार एक ही समय में शरीर के सर्वधातु अन्न रस से वर्धित होते हैं। इस प्रकार जो पोषक भाग रस का नष्ट होता जाता है, उसकी पूर्ति प्रतिदिन अन्नसेवन से की जाती है। इसलिये पाश्चात्य कल्पना एक काल धातुपोषण के पक्ष में है, क्रमपरिणाम पक्ष में नहीं है। अष्टांगसंग्रह में यही कल्पना एकीय मत से वर्णन की है—'एवमवरस एव साक्षात् सर्वधातुन् केनन्दिदेव कालमेदेन पुण्याति । न पुणर्षत्वो धात्वन्तरतां स्वरूपोपमनेन प्रतिपथनं इति । शरीरके धातु—पाश्चात्य शारीरिकार्ये विज्ञान के अनुसार मनुष्यशरीर की वनावट एक मकान की वनावट सदृश्य है। जैसे मकान अनेक छोटी छोटी छोटी अत्यन्त सूक्ष्म ईंटों से ही बनता है। इन शरीर के ईंटों को सेल (Cell) कहते हैं। आयुर्वेद में भी यही कल्पना है और सेल के लिये आयुर्वेद में शरीर परमाणु शब्द का प्रयोग किया गया है—शरीरवयवात्सु परमाणुमेदेनापरिस्त्वयेषा भवन्त्यतिवहुतादतिसौक्ष्यादतीन्द्रियत्वाच्च । (चरक. शा. ७)। प्राचीन काल में ये शरीर परमाणु अतीन्द्रिय थे। परन्तु आज सूक्ष्मदर्शक अन्तर्वा से ये सर्वदृश्य ही गये हैं। आकार के अनुसार इन सेलों के दस पंद्रह प्रकार किये गये हैं। एक प्रकार के सेलों के संसुचय को जो बहुधा एक विशेष कार्य करता है, धातु (Tissue) कहते हैं। आयुर्वेद

में शरीर के धातु सात माने गये हैं। पाश्चात्य शारीर में प्रबल धातु धातु मानते हैं। शरीर के हर एक अग्र में बहुधा सभी धातु थोड़े थोड़े पाये जाते हैं। (१) मान धातु—आयुर्वेदिक मान धातु और यह धातु पृष्ठ है। जिस धातु में आवश्यकता के अनुसार सिंहुड कर छोटा और पिछ लवा होने का गुण होता है, उसे मास धातु कहते हैं। इसी धातु से शरीर की सब गतियाँ होती हैं। ऑप्रेजी में इसके मस्तिष्कुल टिशू (Muscular tissue) कहते हैं। (२) आण्डादक धातु—इसी धातु से हमारे शरीर की बाह्य त्वचा, श्लैमिक त्वचा तथा आशयों के बाह्य और आम्बन्तर आवरण बने हुए हैं। यह धातु शरीर के भीतरी अग्रों को ढाँकने वाला होता है। इसलिये इसको आण्डादक धातु कहते हैं। इसी से हमारे शरीर की रक्षा भी होती है। ऑप्रेजी में इसको एपिथेलियल टिशू (Epithelial tissue) कहते हैं। (३) स्पोन्जक धातु—यह धातु शरीर के भिन्न भिन्न अग्रों का संयोग और यथा किया बहना है। इसलिये इसको स्थानक धातु कहते हैं। ऑप्रेजी में इसे (Connective tissue) कहते हैं। इसके कई उपधातु होते हैं। यथा—रक्त, दन्तकबच (Dentine) अस्थि, तस्ऱ्णास्थि, लसिका धातु (Lymphoid tissue), मेद, स्थितिस्थापक धातु (Elastic tissue) सातव धातु (Fibrous tissue) इत्यादि। आयुर्वेदिक पाँच धातुओं का समावय इसी वर्ग में होता है। वात धातु—मस्तिष्क,

से संबद्ध तथा सूखाएँ दे जाने का काम होता है। यह कार्य और दूर विही धातु से नहीं होता। आयुर्वेद में शारीरिकटथा इस धातु का उल्लेख नहीं है। शारीरिक विज्ञानटथा वात के कार्य इस धातु के कार्य से मिलते हैं। सर्वत्रज्ञान-सम्बन्धितज्ञान। अशपापान के पचन से जो रस बनता है, वह पापक रस है। उसे औंडेझी में काहल (Chyle) कह सकते हैं। दूसरा रस जो सर्व गर्भर में परिव्रमण करता है, वह प्रथम धातु है। इस धातु वा पापक अशपापान रस से होता है। इस को रक्तरस या प्लाज्मा (Plasma) बहते हैं। इस रक्तरस से अन्य रक्तादि धातुओं का पापण होता है, जिस से इसकी प्राणशक्ति घटिदिन घटती जाती है। इस घटती की पूर्ण प्रतिदिन येतन किये हुए अशपापान के रस से हुआ करती है। इसलिये मतों थे रक्तादि सप्तधातुओं का पोषण आहाररस में ही होता है। पापाशय नवन शारीरिकव्य विज्ञान के अनुयाय भी वह कथना ठीक है। चरक में लिया है—गुणनि शावर रणगुणनि विज्ञान।

तत्र 'रम' गती धातु, यद्यपि विद्यते रमः ॥३६॥

स एनु श्रीणि श्रीणि कलासमृद्धाणि पञ्चदश च
कला एवैष स्मिन् धातारनिष्ठते; एव मासेन रसं
द्वयीभूति गीता चार्यवप्म ॥५॥

भवति चाव—
अद्यादशसहस्राणि सहूदा ह्यस्मिन् समुच्चये ।
कलानां नवतिः प्रोक्ता स्वतन्त्रपरतत्वयोः ॥१६॥
स शदार्दिच्छिर्जलसन्तानपद्मसुना विशेषेणातुधा-
वत्येवं शरीर केवलम् ॥१७॥

रस यतिवाचक धातु है। (अन्नपान का सार) दिनदिन खलता रहता है, इसलिये 'रस' महलाता है ॥१॥ वह रस एक एक धातु में ३०१५८ कला तक उत्तरा है और इस तरह एक महीने में रस (मुख्यमें) शुक्र में परिणत होता है और शिवों में आर्तवं में परिणत होता है ॥२॥ इस (रस से वीर्य बनने के) समुच्छय में इस तन्त्र तथा अन्य तन्त्रों के अनुसार भी १८९० कला समग्र लगता है ॥३॥ वह रस शब्द, तेज तथा विल के विस्तार की भाँति समस्त गर्भर में अत्यन्त सूक्ष्मरूप से विद्युत करता है ॥४॥

आम्रपाला । यदि विना अपवाद के आहाररम से पूर्ण मर्हने में शुक्र बनता तो वार्षिकरण और धियों का मेषन करता नव्य है । इसलिये बन्दाया गया है कि वे और धियाँ अपने प्रभाव और वीर्य से शुक्रोत्पत्ति का कार्य शीघ्र करती हैं । यह एवं चल वार्षिकरण और धियों के सशय में ही नहीं समझना चाहिये । अन्य आशयिणी भी अपना कार्य अपने विशेष प्रभाव से दृष्टुधा पूर्ण दिन में किया करती है—प्राव व वरेत्यहेरावत् कर्मन्ददि नेत्यम् । (वास्मट) ।

यथाहि पुष्पमुखलस्यो गग्नो न शस्यमिदा-
स्तीति वहूमयो नैवा(नैव च)स्तीति, अथवाऽ(च)
स्ति, सतां भावानामभिव्यक्तिरिति कृ(श)त्वा, फेवल
सौक्ष्यान्नभिव्यज्यते, स एव पुष्पे विद्युतपत्ररेखारे
कालान्तरेणाभिन्न्यर्कि गच्छति, एवं वाल्यानामपि
बयपरिणामान्वयुक्तमादुर्माणे भवति, रोमराज्या
दयश्च विशेषाः, नारीणां रजसि चोपचीयमाने
दानैः द्वाने. स्तनगर्भादययोन्यभिविडिर्भवति ॥१५॥

जैसे कृष्ण की कथा कली में यह नहीं कहा जा सकता है कि
इस में गध है या नहीं है। परन्तु गध है (यही कहना ठीक है)
ब्रह्मोक्त वस्तु हीने वारे पदार्थों का प्रादुर्भाव हुआ ही करता
है। ऐसे बल अवलत् सूक्ष्म हीने के कारण यह व्यक्त नहीं होता है।
हुड़ काल न्यतिन हो जाने के पश्चात् जब यथा कली खिलती है,
तब गंभीरी भी प्रकट हो जाता है। ऐसे ही वालकों की अवस्था
दर्शने पर शुक्र तथा रोमराज्यादि विशेष प्रकट हो जाने हैं।
जिसीं में भी आर्द्धं प्रादुर्भाव होने पर भीरे भीरे लग, गमांगम,
योनि आदि की बुद्धि होती है॥१॥

यत्तदिय—विहेठा—जी और पुराण दोनों जब योग्यतावाचक
में पृष्ठचते लगते हैं, तब उनके शरीर पर उप अवस्था के नियन्त्रण
विहेप विद्यु दिनाहै देते हैं। पुराणों में दारी और सूर्य नियन्त्रण
कहानी है, कहता था और गुड़ा भाग पर बाल जमने लगते हैं स्वरपन्त्र की
वृद्धि होती है और स्वर भी घटल जाता है खिरों में भी योग्यतावाचक वृद्धि के लियावध भग्य लगते हैं और मानसिक दशा में भी परिवर्तन
होकर लगा इत्यादि भाग उपचाहोते हैं। युक्त और रज शरीर के
लिए भज्ञों में उपचाहोते हैं, वे योग्यतावाचक के प्रारम्भ में
संतु और कार्यशम हो जाते हैं। वे अड्ड युक्त और रज के
अनियन्त्रण पर यमी बन्दू बनते हैं, जो रज के साथ मिलकर
शरीर के पिण्डिय झड़ों में पौर्षी हैं और उनको प्रभाव लया
पुष्ट बनाती है। उमी के कारण योग्यतावाचक के विहेप भी
उपचाहोते हैं। उप बन्दू को अन्त सार (Internal Secre-
tion) कहते हैं।

स एवायरसो षुद्धानां (जरा)परिपक्वशरीरन्य्
वर्मीलुग्ने भयति ॥२७॥

वही जग्ह का रथ शूद्रावधा में मनुष्यों का शरीर परिष्ठ
ही जाने के कारण पुष्टिशरक नहीं होता है ॥२०॥

यत्तद्य—दूरावधा में एक प्रसारण गेल पुराने हो जाने के कारण अवधारण का बहाना पड़ता और उमंचना के कारण बढ़ते ही बढ़ते ही तथा इत्यादिनी

3 man is as old as his arteries ! इस कार्य से पैदा होने वाली अद्भुत शरीर की पुष्टि तभी कर सकता ।

त एते शरीरधारणादातय इत्युच्यन्ते । तेर्पं कृ
बृद्धी शोणितनिमित्ते, तस्मात् दधिफृत्य वश्याम् ॥

ये शरीर को धारण करते हैं, इस कारण सं धातु छल
हैं । इनका दाय और बुद्धि रक्ष के अपील है । इन्हिं प्रेरण
संवेद में (अथ) कहेंगे ॥१॥

बक-य—ऐ—रसादि सत पदार्थ । धनु—ही—
शब्द का वैंगिक अर्थ बतानाया गया है । आयुर्वेद में
और उपचातु दो शब्द होते हैं । रसादि सत भात है और इस
शब्द लवा वसा इत्यादि सत उपचातु होते हैं—रसद् एवं
त्वेऽस्तमत्रज्ञ कहटा निरा । मासाद्यम् त्वच एव च म
लायुषमन्त्य ॥ अथवा दिनात्मका मन्त्र क्रान्ता ओर वसा
भायुमध्येऽनन्दनन्ते तन्माते उपचातु ॥ दीनों भी शरीर का यह
करते हैं । परन्तु धातु धारण के साथ साथ पोषण भी करते
उपचातु नहीं करते हैं । यिद्याम अपनी धारणा में निः—
—धायुग्रप्रदौर्ध्वार्धारणोपेषणनिमित्तात् । तेन मे शरीर चरका
धातु पुण्यनिरसाद्यम् एव मुखवन्या धायुग्रद्वाच्या न लान्दर्द
ते वे शरीर चरकपेत्र ननु विचु-पुण्यनि । उक्त वि लोकेन्द्रि
सन्तुरु न्यन्यत्वे गतिविजिता । धायुग्रद्वाच्यन्ते एव
उपचातु ॥ ‘धारणा धातु’ इस शोगार्थ के अनुसार औंप्रेर्व

प्रीत धृदि के लिये दोनों क्रियाओं की आवश्यकता है । स्था में संक्षेपण विशेषण की अपेक्षा अधिक होता है, शरीर की धृदि होती है । मध्यमावस्था में दोनों होते हैं, जिससे शरीर न घटता है न बढ़ता है । धृदि-में संक्षेपण से विशेषण अधिक होता है, जिससे शरीर जाता है । इन क्रियाओं से शरीर में कई व्याज्य पदार्थ पढ़ होते हैं, जिनका शरीर के बाहर निकलना अत्यावह है । इनमें से एक कार्बन डायोक्साईड है । इसका फुफ्फुस के द्वारा होता है । विन शक्ति के ये क्रियाएँ हो सकती हैं । यह शक्ति पदार्थों के 'आक्सिडेशन' (oxidation) से उत्पन्न होती है । आक्सिडेशन के लिये सज्जन या प्राणवायु की आवश्यकता होती है । यह प्राण-शरीर में चायुमंडल से फुफ्फुसों द्वारा पूँचती है । आक्सिडेशन से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसका कुछ भाग उपयुक्त करने में व्यय हो जाता है और शेष भाग उण्ठाता के में रहता है । चायुमंडल से प्राणवायु लेकर शरीर के अंगों पूँचना और अंगों में बना हुआ कार्बन डायोक्साईड र वायु चायुमंडल में छोड़ देना, यह कार्य शोषित के अपनी ही सकता । शोषित की रचना पीछे सूत्र पांच दीका में बतलाई गई है । उससे यह भालूम होगा कि रक्त सुर्खी लाल कणों के कारण होती है और लाल कण भीतरी गोल्डेविन के कारण लाल दिखाई देते हैं । यह कणरंजन व चायुमंडल से आक्सिजन का ग्रहण फुफ्फुस में करता है र उसी समय ग्रहण करने के पहले कार्बन डायोक्साईड छोड़ देता है । शरीर के अंगों में इसके विस्तृत क्रिया होती है । उस समय आक्सिजन को छोड़ कर कार्बन डायोक्साईड । ग्रहण करता है । इस प्रकार यह कार्य शरीर में जारी रहा है । इस द्रव्य की कमी हो जाने से शरीर के भीतर उपर्युक्त कार्य नहीं हो सकते, जिससे धातुओं की धृदि नहीं होती और उनका क्षय प्रारंभ होता है । इसलिये जिवा है कि—
या क्षयवृद्धी शोषितनिमित्ते ।

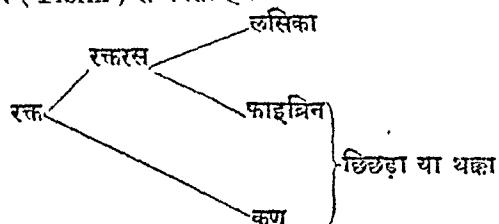
तत्र, फैनिलमरुणं कृप्यां पर्वपं तत्तु शीघ्रगमस्कन्दि व वातोन दुष्टं; नीलं पीतं हरितं श्यावं विश्वमनिष्टं पिपिलिकामाचिकाणामस्कन्दि च पित्तदुष्टं; गैरिको-दक्षपर्तीकांशं, स्लिगधं शीतलं वहलं पिच्छिलं चिर-धावि मांसपेशीप्रभं च रेषेष्मदुष्टं; सर्वलक्ष्यासंयुक्तं काञ्जिकामं विशेषतो दुर्गन्धि च स्तनिपातदुष्टं; पित्तवद्रक्तेनातिकृप्यां च;) द्विदोषलिङ्गं संस्तुप्रम् । (जीवशोणितमन्यत्र वक्ष्यामः) ॥२२॥

चायु से दृष्टित हुआ रक्त भागदार, किञ्चित् लाल रंग का, ज्वाला, स्वता, पतला, जलदी वहने वाला और न जमने वाला होता है । पित्त से विगड़ा हुआ रक्त नीला, पीला, हरा, काला, भौंसंधी, चौंटी और मक्कियों के लिये अप्रिय तथा न जमने वाला होता है । कफ से विगड़ा हुआ रक्त गेरु के जल के समान, चिकना, रंडा, गाढ़ा, चिपचिपा, मंदगति से वहने वाला और मांसपेशी के समान दीखने वाला होता है । द्विदोषों से विगड़ा

१ प्रकाश ।

हुआ रक्त (उपर्युक्त) सर्व लक्षणयुक्त, कांजी के समान, विशेष कर दुर्गन्धयुक्त होता है । रक्त दोष से विगड़ा हुआ रक्त पित्त से विगड़े हुए रक्त के समान परंतु अधिक काला होता है । जिस में दो दोषों के लक्षण होते हैं, वह दो दोषों से विगड़ा हुआ समझना चाहिये । जीवशोणित का वर्णन दूसरे स्थान में करेंगे ॥२२॥

वक्तव्य—अस्कन्दि—स्थानवरहित । स्वस्यावस्था में रक्त शरीर के भीतर अपने आप नहीं जमता, परंतु शरीर से बाहर निकलने के पश्चात् शीघ्र जम जाता है । जब रक्त की यह जमने की शक्ति नष्ट हो जाती है, तब उसको अस्कन्दि कहते हैं । जमने के समय रक्त में विशेष रासायनिक परिवर्तन होकर उसके दो भाग हो जाते हैं । एक भाग रक्त रस या लसिका (Serum) है, जो तरल और किञ्चित् पीले रंग का होता है । दूसरा भाग थक्का या छिछड़ा है, जो गाढ़ा होता है और रक्तकण तथा फाइब्रिन (Fibrin) से बनता है ।



रक्त जमने के लिये आवश्यक पदार्थ—रक्त जमने के लिये खटिक के लवण (Calcium Salts), फाइब्रिन और थ्रोंबिन (Thrombin) नामक तीन पदार्थों की जरूरत होती है । इन में से खटिक रक्त में उपस्थित होता है । फाइब्रिनोजेन (Fibrinogen) नामक दूसरा पदार्थ भी रक्त में होता है, जिस का परिवर्तन थ्रोंबिन की सहायता से फाइब्रिन में होता है । थ्रोंबिन रक्त में नहीं होता । रक्त शरीर से बाहर निकलने के पश्चात् थेटकण और सूक्ष्मकणों (Blood platelet) के विनाश से एक विशेष पदार्थ उत्पन्न होता है । उसके और खटिक क्षार के संयोग से थ्रोंबिन उत्पन्न होता है । यह थ्रोंबिन फाइब्रिनोजेन पर कार्य कर फाइब्रिन बनाता है । यह द्रव्य अनधुल होने के कारण रक्त से बाहर निकल आता है । यही रक्त के जमने का कारण है । शरीर में जब हन पदार्थों की कमी होती है, तब रक्त जमने में देर होती है । शरीर के भीतर रक्त नहीं जमता । इसका कारण यह माना गया है कि यहाँ में एन्टीथ्रोंबिन (Anti thrombin) नामक पदार्थ वनता है, जिस की रक्त में उपस्थिति होने से जमने की क्रिया नहीं हो सकती । चिरावाची—इसका एक अर्थ ऊपर दिया है । इसका अर्थ यह भी हो सकता है—देर तक वहने वाला । सामान्यतया वचा में सूईं से छेद करके जो रक्त का साव होता है, वह ढाई मिनट में बंद होता है । इसको रक्तस्वरण काल (Bleeding time) कहते हैं । परंतु कई रोगों में (Purpura, Scurvy, Haemophilia) यह स्वरण काल आधे धैर्य तक या इस से भी अधिक हो जाता है । अस्कन्दन और चिरस्वरण बहुधा दोनों वरावर होते हैं । जीवशोणित—शरीरेन्द्रियसत्त्वात्म-संयोगश्वरक्त (डल्हण) । चिकित्सास्थान के वमन विरेचन व्यापचिकित्सित अध्याय में उसके लक्षण और पहचान बतलाई गई विवरण । जीवशोणित का वर्णन दूसरे स्थान में करेंगे ॥२२॥

१ प्रकाश । जीवशोणित वस्त्र रखने वाली जीवशोणित वर्णन ।

इन्द्रगोपकप्रतीकाशमसंदृतमविवर्णं च प्रकृ-
तिस्थं जानीयात् ॥२३॥

जो धीरबहूती के समान लाल रंग का हो, न बहुत पतला
न बहुत गाढ़ा हो, किंचित् विविध वर्ण का हो, उत्ते स्वाभाविक
शुद्ध रक्त समझना चाहिये ॥२३॥

यक्तदृष्ट्य—अन्यदेव—नात्यच न लिपनम् । (इत्यग) ।

अविवर्णम्—अविहृतवर्णम् (हाराशचन्द्र) । ईदिविवर्णम्, एवेन
पदालतकृजाफलवर्णमिलुकृम् । (छलग) । तपर्वेनेत्रांगोपम
पदालतकृतनिमद् । शुक्राफलवर्णं च तिशुद्ध विदि रोगिनम् । (धरक) ।

शुद्ध रक्त का रंग लाल होने का कारण यह है कि रक्तकणों में
जो रक्तक द्रव्य होता है, उसका प्राणवातु के साथ संयोग
(Oxyhaemoglobin) होने से उसका रंग अधिक लाल
हो जाता है । यद्य इस रंग का संयोग कार्डिन डायोस्काइड के
साथ (Hb CO) होता है तब रक्त का रंग काला हो जाता
है । इस प्रकार का रक्त वेवल सिराओं में होता है और शुद्ध
रक्त घमनियों में होता है । शुद्ध रक्त न बहुत पतला, न बहुत
गाढ़ा होता है । इसका गुरुत्व १०५५ के लगभग है । इसका
अर्थ यह है कि जिन्हें जल का भार १००० सोला होता उतने
रक्त का भार १०५५ तोला होगा । यह अपारदर्शक, स्वाद में
कुछ नमकीन, प्रतिक्रिया में क्षारीय (Alkaline reaction)
और एक विशेष प्रकार के गंभ से सुक होता है ।

विश्वाव्याणयन्यथ व्यापामः । अथाविश्वाव्याः—
सर्वोऽप्तोफः, क्षीएस्य चाम्लभोजननिमित्तः, पाण्डु-
रोगर्यसोदिशिरोपिगर्भिर्यानां च व्यव्यथयः ॥२४॥

रक्त निकालने योग्य (रोगियों का) निर्देश अन्य स्थान में
किया जायगा । निझ प्रकार के शोथ में रक्त नहीं निकलवाना
चाहिये—तीव्र दीर्घी में अम्ल भीजन से उपचार हुआ सर्वोग
शोथ, पाहुरीग, अर्द्ध, उदर, राजवस्त्रग रोग के शोथ तथा
गर्भिणी के शोथ ॥२४॥

यक्तदृष्ट्य—अन्यद—सुखस्थान के अधिविध शास्त्रमाँस्याय में ।

तत्र शशविश्वाव्याणं द्विविधं—प्रचुंडानं, सिरा-
व्यधने च ॥२५॥

एक से रक्त निकालना दो प्रकार का है—एक प्रकार और
दूसरा सिरावेष ॥२५॥

तत्र, क्रम्यसंकीर्णं सूदमं सममनवगाङ्गमनुच्चा-
नमनुषु च शास्त्रं पातयेन्मर्मसिराव्यायुसन्धीनो-
मनुपघाति ॥२६॥

(इन में से प्रथम के लिये) शस्त्र ऐसे वीर्य घलावे कि
प्रथम द सरल, पक दूसरे से अडगा, वारीक, सामान्तर, न बहुत
गम्भीर न बहुत उत्ताप हो तथा स्पानिक मर्म सिरा धारु और
सन्धियों को हानि न पहुँचे ॥२६॥

यक्तदृष्ट्य—वारामध ने प्रथम की विधि ऐसी वर्णन की
है—गात्र इच्छोपरि इड रक्ता पैठन वा समद् । कालुगम्यविवर्णाणि
त्वान् प्रस्तावनावोरेष् ॥ अभेदरागविद्यौ पैदेस्त्रिगमिति । न
गात्रव्यतिरीक्षिते परे प्रस्तावोरेष् ॥

१ प्रस्ताव २ नोटन, ३ नो चानुप्

तत्र, दुर्दिने दुर्धिदे इतिवातयोरस्विन्द्रे भुक्त-
स्कन्दत्वाच्छ्रुतेणितं न श्ववत्यल्पं वा श्ववति ॥२७
मद्मूद्यांश्चभातीनां वातविष्मूद्यसंगिनाम् ।

निद्राभिमूतभीतानां शृणां नाशृद् प्रवर्तते ॥
दुर्दिन में, अथोपाय शश व्याप्ति से, शीत तथा वात व्याप्ति
द्विना स्वेद द्विलापे, विना भांजन किये हुए (अवस्थाओं
(रक्त) जम जाने से शोणित नहीं निकलता या कम निक
है ॥२७॥ मद, मूर्छां तथा परिश्रम से धूपित मतुओं
अथोपाय तथा मलमूत्र की रक्षावट थाले मुन्हों का, नीं
व्याप्ति तथा भवयुक्त मतुओं का रक्षित ठीक नहीं निकलता ॥

यक्तदृष्ट्य—दुर्दिने—वातवर्ष्युलेप्तिन, येषाच्छ्रुतेऽङ्गि । क
विष तथा मध्य से उपग्रह हुआ विवार ।
तुषुरं शोशितमनिहियमाणं कर्णशोफरगदा
पाकवेदना जनयेत् ॥२९॥

वह हुए श्व जो (उपर्युक्त कारणों से श्वर्कर्म
पश्चात् भी) नहीं निकला है शुजली, शुजन, मुर्छी,
पाक और वेदना उल्लङ्घ करता है ॥२९॥

अत्युच्छेऽतिस्थितेऽतिविद्येऽतैरिष्यावितमति
प्रवर्तते; तद्विप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्यमधिमन्
तिमिरप्रादुर्भावं धातुक्षयमावेषकं पत्तावात्मेका
विकारं दृष्ट्यादाहो हिकां कासं श्वासं पाण्डुरो
मरणं चापादयति ॥३०॥

अधिक गरमी से, अधिक धरीना निकलने से, अधि-
वेदन करने से तथा मूर्छी वैष्य के निकालने से रक्त आवश्यक
से अधिक निकल जाता है । वह अधिक निकला हुआ ए
पिरःशूल, अन्धायन, अधिमन्य, तिमिर, धातुक्षय, आवेष
पत्तावात्, पकांगवात्, तृष्णा, दाह, हिकी, कास, श्वास
पाण्डुरोग (हृत्यादि रोग उल्लङ्घ करता है) और (अधिक
मृदुकांक भी होता है ॥३०॥)

यक्तदृष्ट्य—अधिक रक्त का श्वाव होने से शरीर पर तीव्र
परिणाम दिखाई देते हैं । पहला शरीर से जलाश नष्ट होता है ।
उमसकी पूर्णि करने के लिये मृत्तिं उपचार होती है । दूसरा

पूर्णुकांक भी होता है ॥३०॥

— अंतीम अधिक श्वाव हो जाने वे
पूर्णुकांक भी होता है ॥३०॥

५ की कमी होने से अंग्य (Amblyopia) उत्पन्न होता प्राक्षेपक (Convulsions) वहुधा मृत्यु के पहले हुआ है और अन्त में संन्यास (Syncope) से मृत्यु भी होती है । यदि रक्त का साच घुटा अधिक न हो तो पाण्डु धातुक्षय इत्यादि चिकिती रोग उत्पन्न होते हैं । रक्तस्ताव लंगा का जो नाश होता है, उसकी पूर्ति थोड़े ही समय में होती है । परन्तु कणों का जो नाश होता है, उसकी पूर्ति नहीं होती । अष्टाङ्गसंग्रह में उपर्युक्त उपद्रवों के अतिरिक्त उपद्रव अधिक वर्णन किये गये हैं । यथा—मूर्छा, संज्ञाप, अग्न, वाचिर्य, मन्यासंभापतानक, हनुओंग । यदि सब उपद्रव मस्तिष्क में रक्त जी की कमी होने से उत्पन्न हैं । क्षीणरक्तन्य हि वायुर्मण्डुपसंगृह्य मूर्छादीन् करोति वा । (अष्टाङ्गसंग्रह) ।

भवन्ति चाच्र—

मात्र शीते नात्युप्तो नास्तिव्ये नातितापिते ।

गामूं प्रतिपीतस्य शोणितं सोक्षयेद्विपक्त् ॥३१॥
इस कारण से न शीतकाल में, न अधिक शरीर में, न ऐक स्वेद दिलाकर और (धूप में) न बहुत तपाकर रक्त निकाला जाहिये और यवागू मात्रा से पिला कर रक्त निकाले ॥३१॥
म्यगत्वा यदा रक्तं स्वयमेवावतिष्ठते ।
इतदविजानीयात् सम्यविस्तावितं च तत् ॥३२॥

(विध से) रक्त का सम्यक प्रवर्तन करने के पश्चात् जब रक्त प ही आप बंद हो जाय तब विस्तावण की क्रिया शुद्ध और गायत्रा ठीक हो गई ऐसा समझना चाहिये ॥३२॥

बक्तव्य—इस श्लोक में योग्यविस्तावण का स्थानिक रूप वर्णन किया है । शुद्ध तदा विजानीयात्—इसका दूसरा अर्थ हो सकता है—जब रक्त आप ही आप बंद हो जाता तब शरीर के भीतरी रक्त की शुद्धि हो गई ऐसा मझना चाहिये ।

ग्रधं वेदनाशान्तिवर्याद्वेगपरिज्ञयः ।

सम्यविस्ताविते लिङ्गं प्रसादो मनस्तथा ॥३३॥

शरीर में हल्कापन, पीढ़ी की शान्ति, रोग के वेग का क्षय और मन की प्रसन्नता वे ठीक ठीक रक्त निकलने के लक्षण हैं ॥३३॥

वग्दोपा ग्रन्थयः शोफा रोगाः शोणिद्वाच्य ये ।

ज्ञमोक्षणशीलानां न भवन्ति कदाचन ॥३४॥

समय समय पर रक्त का विस्तावण कराने वाले मनुष्यों वृच्चा के रोग, अंथियों के रोग, रक्त के रोग कदापि भी ही हुथा करते हैं ॥३४॥

बक्तव्य—त्वंदोप—अष्टादश शुद्ध शीतपित्त उद्दीप कोठ गीलिका व्यंग न्यन्त तिलकालकादि । अंथि—अपची, कण्टमाला, गालांड इत्यादि अंथियों के विकार । शोफ—मिन्न भिन्न प्रकार के स्थानिक शोथ श्लीपद इत्यादि रोग । शोणितजरोगः—गुणगोदीकरणगत्य पृतिवाणास्यगनित्यता । गुल्मोपकृशीरासीरपत्तपित्तमील्याः ॥ विद्रवी रसमेहश्व प्रदरो वातशोणितम् । वैवर्यमयिनाशश्व प्रिपासा उरगानात् ॥ सन्तापश्वातिदीर्वल्यमरुचिः शिरसश्व रुक् । विद्युत्वात्रपानस्य तिक्तास्त्रोद्विरुद्धुः ॥ नौधपत्रचरता त्रुःः संगोही लव-

पास्यता । स्वेदः शरीरदोर्गन्ध मदः कन्धः स्वरक्षयः ॥ तन्द्रानिद्रातियोगश्व तमसश्वातिर्गत्यन् । कण्टमालदायः ॥ विकाराः सर्व ऐते विनेयाः शोणिताश्रायाः ॥ शीतोष्णास्तिरुक्ष्यस्थायैरुपकान्ताश्व ये गदाः । सम्यक् साध्या न सिद्यन्ति रक्तजान् तान् विभावयेत् ॥ (चरक) ।

अथ स्वल्पवर्गतमाने रक्ते पलाशीतशिवकुष्ठ-तगरपाठाभद्रदाशविडङ्गचित्रकन्त्रिकटुकागारधूमहरिं-द्राक्कुरुनकतमालफलैर्यथालामं त्रिसिथ्यतुभिः समस्तैर्वा चूर्णांश्चतुर्लवणातैलप्रगाढैरणमुखमवर्धपयेदेवं सम्यक् प्रवर्तते ॥३५॥

यदि रक्त ठीक न निकले तो एलायची, कपूर, कूट, तगर, पाठा, देवदार, विडग, चित्रक, निकटु, घर का धूंगां, इलदी, आक की कोंपल, करंज के फल इनमें जो मिले तीन, चार या सब को पीसकर तेल और लवण में मिलाकर व्रश के सुख पर मले । इससे ठीक ठीक रक्त निकल जावेगा ॥३५॥

बक्तव्य—शीतशिव—संन्धव (हाराणचन्द्र), कर्कूर (उल्लण) । अष्टांगहृदय में एलादि चूर्णों का लेप प्रयोग पर करने के लिये लिखा है—असम्यग्ले सवति वेदव्योपनिशानैः । सागरधूमलवर्णतर्लंदिष्याच्छिरामुदन् ॥ अष्टांगसंग्रह में, सम्यग् विस्तावण के लिये उपर्युक्त स्थानिक उपाय के अतिरिक्त पृष्ठपीड़न करने के लिये लिखा है—पृष्ठमये चातुरं पीडयेत् । एवं साधु वहति ॥

अथातिप्रवृत्ते रोग्मधुकप्रियदुङ्गैरिकसंज्ञरसस्ताव्याजनशालमलीपुष्पशङ्कुरुक्तिमाययवगोधूमचूर्णैः शनैः शनैर्वणमुखमदचूर्णर्यादुङ्ग्यत्रेणावपीडयेत्, सालसर्जार्जुनारिमेदेमेयशृङ्गधवधन्वन्त्वग्निभिर्वा चूर्णिताभिः लौमेण वा धमापितेन समुद्रफेनलाक्षाचूर्णैर्वा यथोक्तैर्वणवन्धनद्रव्यैर्गाढं चधीयात्, शीताच्छ्रादनभोजनागारैः शीतैः परिपेकप्रदेहैश्चोपाच्चरेत्, ज्ञारेणाश्विना वा दहेद्यथोक्तं व्येधनादनन्तरं वा तामेवातिप्रवृत्तां सिरां विध्येत् ॥३६॥

जब रक्त निकलना बंद न होता हो तो लोध, मुलहडी, प्रियंगु, पतंग, गेरू, राल, रसोत, शालमलीपुष्प, शंख, सीप, उड्ड, जी और गेहूँ—इनका चूर्ण धीरे धीरे व्रश के सुख पर दुरुका कर अंगुली के अंग्रे से दबा दे । अथवा साल, राल का वृक्ष, अर्जुन, विटदविर, मेपस्ट्रंगी, धव और धामन—इनकी छाल को पीस कर (वणमुख का अवचूर्णन करे) अथवा रेखामी व्रश जलाकर उसकी राख से (अवचूर्णन करे) अथवा समुद्रफेन या लाख हमके चूर्ण से (अवचूर्णन करे) तत्पश्चात् यथोक्त व्रश बांधने के द्रव्यों से कसकर बांध दे । शीतल वस्तुओं से आस्थादन करना, ठंडा भोजन करना, शीत स्थान में रहना, शीतकाथादि से छिड़कना, शीतल लेप करना इत्यादि शीत उपचार करे । अथवा ज्ञार या अग्नि से यथाविधि दहन करे । अथवा जिस सिरा का रक्त बंद न हो, उसको यथोक्त पहले वेदस्थान के बाद दूसरे स्थान में वेघ करे ॥३६॥

यक्तव्य—यद्दीरुत्प्रवाह घट करने के लिये जो स्थानिक उपाय बतलाये गये हैं, वे ये हैं—१ शीतप्रयोग, २ उत्प्रयोगेय, ३ दहन, ४ योणिटास्यापक (Styptics) द्रव्यों का प्रयोग, ५ अवरीडन, ६ बथन। इन उपायों के अतिरिक्त पात्रात्मकात्मकिस्ता में निझ उपायों का भी अवलम्बन होता है।

७ रक्तात्मक के स्थान को ढैचा करना—इस का उपयोग हाथ पैर के संक्षेप में लिये हुए स्थान में हृदय से रक्त कम पहुँचता है, जिससे रक्त का वाय कम हो जाता है।

८ धमनीसंरक्षण (Artery Forceps)—यह एक सर्वमुख और निप्रभ (Catch) युक्त स्वस्तिक बन्ध होता है। इससे सिरा या धमनी पकड़ कर रक्त का वाय बंद किया जाता है। योही देर तक इस प्रकार पकड़ के रखने से बुधा अप से आप वाय घट हो जाता है। धमनी स्थान में जहाँ अन्य उपायों को अवलंबन करना होता है, धमनी संरक्षण से रक्तवाहिनी पकड़ कर मण्डवन द्रव्यों के साथ वैसा ही एक दिन तक रक्त आता है। इससे बुधा रक्तात्मक घट हो जाता है। इस विधि को अप्रेसी में कोर्सर्स प्रेशर (Force pressure) कहते हैं।

(९) पीडन (Torsion)—इसका उपयोग छोटी छोटी वाहिनियों के संक्षेप में होता है। धमनी संरक्षण से पकड़ कर दो तीन मर्तवा वाहिनी का पीडन किया जाता है। (१०) टाँका लगाना (Ligation)—टाँका लगाने के लिये चिकित्सक द्रव्यों का उपयोग किया जा सकता है। बुधा अंत से छाना है गई तर्त का (Cat gut) उपयोग अधिक होता है। पहले संरक्षण से रक्तवाहिनी पकड़ कर तापात्मक तरंत से वाहिनी कस के बाही जाती है। इस विधि का उपयोग असुर्वेद में होता था यद्यपि यद्दीरुत्प्रवाह उक्त विधि गाया है। अन्दे गोरीनी गुजरात तातूर रवान रक्तच्छदानन्तर इन्सुलिनरिंगन्यनाशिरु गुजराते हैं। रक्त सर्वनीतीकृत सरोन मिर मिशक। बहुत साधारितिगांठ ब्रग बल्सम वेटयेत्। अथवा दनन्तरितिविदि—यहले वेधथान के समीप दूसरा देख करने से रक्तवाहिनी का व्यवहार हो जाता है, जिससे दोनों स्थान संकुचित होकर रक्त का वाय घट हो सकता है। परन्तु यह कोई विशेष उपयोगी पद्धति नहीं है।

कांकोल्यादिकार्यं या दार्करामधुमधुरं पाययेत्;
एषाद्विषोद्धशामादिपराणाणां या गोदिरं, कार्त्त-
पूर्वसौः सुस्तिन्दृथाज्ञीयात्; उपद्रवार्थं यथास्व-
मुपर्यरेत् ॥३॥

कांकोली आदि शौष्ठीयों का हाथ गोदिरा और मधु से मधुर करने लियारे। अथवा हाथ या ताप्र इतिं, मेंा, नरोण, भैसा और सूक्त इनका रक्त लियारे। धीर, मुद्रादि घृत और मांसरम इनका विधि पदार्थों के साथ भोजन करारे और (रक्तात्मक कारण जो अन्य) उपक्रम उपलब्ध हुए हैं, उनका प्रयोगिति उपचार करे ॥३॥

यत्प्रत्य—इस गृह में रक्त घट करने के लिये तथा रक्त की कमी की घृत बढ़ाने के लिये आशुनीव उपचार लियें हैं। कर्मेन्पति—यह गृह आगे उपग्रहांप्रवृद्धीय अग्नात में बनाया है। हांगूसौ—प्रित्यशृणि के संगी में लिया लिल्लु रक्त की अति प्रवृत्ति में धीर भोजन देना

चाहिये। सेव्य प्रवृत्ति के रोगी में किंवा लैप्पदुष्ट रक्त अति प्रवृत्ति में यूप का भोजन देना चाहिये। धात प्रवृत्ति रोगी में किंवा बातदुष्ट रक्त की अति प्रवृत्ति में सासरस भोजन देना चाहिये। (इत्यह)। अन्य लोग दीर जडारामि धीर भोजन, मध्यम जडारामि में यूप भोजन और मन्द जडारा में मांसरस भोजन देना चाहिये, ऐसा मानते हैं।

अधिक रक्तात्मक से उत्पत्त हुए विकारों में यहाँ रक्त की प्रयोग सेवन के लिये बतलाया है, यह बहुत ही उद्देश है। असुर्वेद का यह एक मूलभूत सिद्धांत है कि समा द्रव्य से समान द्रव्य की वृद्धि होती है और इसलिये रक्त की अवस्था में रक्त का आप्यायन करने के लिये रक्त के सेवन जितनी शीघ्रता से यह कार्य कर सकता है, उतन शीघ्रता में दूसरा द्रव्य नहीं कर सकता—इसमें सूक्ष्मतुगुण सामान्योगपूर्वित्येवाभ्यास। तसम्भासमावयवो मासिन भूत रक्तमेय शरीरसंतुल्य। तथा लौहित लौहितेनव। ऐसे मेस्ता वना बसवा। अस्ति तत्पराद्वना। मज्जा मज्जा। द्रुक शुद्धा। तथे लक्षणमें॥ (चरक० शा० ६)। पात्रात्मक में रक्त तुकारी हीमोलोदित के कहे थीर थीर के लिये प्रयुक्त होते हैं। इसके सिवाय मनुष्यों के रक्त का उपयोग प्रत्यक्ष द्वारा रोगी के शरीर में किया जाता है। इस विधि के द्राम्फूलन (Transfusion) कहते हैं। इसमें एक स्वस्य मनुष्य की धमनी से कुद्र रक्त लेकर उसका अन्त लोप रोगी के शरीर में लितादारा किया जाता है। रक्त का अन्त लोप करने के पूर्व दाता मनुष्य के रक्त की परीक्षा करके, यदि वह रक्त अविलम्ब (Compatible) मालूम हो, प्रयोग करना चाहिये। इस रक्त के प्रयोग से बुधुत लाभ होता है। यदि योग समय पर रक्त के अन्त लोप का प्रयोग किया जाय तो सहसा रोगी की मृत्यु होने की संभावना नहीं होती। रक्त का रोबग करने से रक्तात्मक घट होने में भी मन्द मिलती है। क्योंकि रक्त में एकन्दन सहायता पदार्थ होते हैं। सोनम रक्त के स्थान में पोषे दी लसिका (Serum) मुख्यरात्रा या इन्सुलिनद्वारा रक्त का वाय रोकने के लिये दी जाती है। दात्रात्मक वायात्मकुपरेत्—रक्तात्मक घट देने के पश्चात् जो उपचार उत्पत्त होते हैं, वे मस्तिष्क में रक्त की कमी के कारण होते हैं। इसलिये रोगी को किसीहे एक लिंगारूप द्वारा भाग और करके रक्तात्मक वायाही किये जाते हैं। यदि रोगी मूर्खित होते तबके हाथ और दौंगे संस्कृत पृथि वाय के वायके रक्तात्मक वायाही ताकि यासांत्री में रक्त म आ रोग और मस्तिष्क में संस्कृत रक्त लान जाय। जब तक तक स्थानिक रक्त का स्वयं लिल्लु घट नहीं बुझा है, तब तक उक्त उपाय और उत्तेजक ओपरेशनीय वाय महारूपक फूटे, कस्तूरी इथादि इनका उपयोग नहीं करना चाहिये। अस्त्वया हृदय का उत्तेजन होने से इन्सानका लिय प्रारंभ होते हैं, उनकी लिंगिया आगे बतलाये हुए नियमी के अनुसार पर्याप्त और शैदिनिकरूपक वायापोदारि द्वारा रक्त चाहिये।

धातुकुशयात् छुते रक्ते मन्दः हांगायतेऽग्नलः।
पयनाय परं कोरं याति तसामृतं प्रयत्नतः ॥४॥

नातिशीतैर्लघुभिः स्त्रिघैः शोणितवर्धनैः ।

दम्लैरनम्लैर्वी भोजनैः समुपाचरेत् ॥३९॥
रक्त का अधिक स्नाव होने के पश्चात् रक्त की कमी के पाचकास्त्रि मंद होती है और स्नाव का भी परम कोप होता है। इसलिये बड़े प्रयत्न से रोगी को न बहुत ठंडा, ग, स्त्रिघै, रक्तवर्धक, किंचित् स्तार्दं युक्त या खटाई भोजन देवे ॥३८-३९॥

वक्तव्य—रक्त निकले हुए रोगी की स्थिति ऐसी होती अग्नि की मन्दता, वात का प्रकोप और रक्त की कमी। स्थिति का विचार करके उसको वातशान्ति के लिये शीय और स्त्रिघै स्नाव पदार्थ, अग्निमन्दता के लिये ग और दीपनीय पदार्थ और रक्त की कमी के लिये अनुकारी नातिशीत तथा उष्ण भयुरु पदार्थ देने चाहिये—
उष्णीतं लघु दीपनीय रक्तेऽपनीते हितमन्दनम् । तदा शरीर वस्त्रियासाग्निशेषोपादिति रक्षितव्यः ॥ (वाग्मट) । शोणित—विशेष कर रक्त बढ़ाने वाले। इसको अंग्रेजी में 'हीम्यास या हीम्याटिनिक्स' (Haematics, Haematines) ते हैं। शोणितवर्धन द्रव्यों में सब से उत्तम लोह है, क्योंकि त का रस्जक द्रव्य लोह युक्त होता है। इसलिये रोगी को ह के भिन्न भिन्न योग तथा लोह युक्त स्नाव पदार्थ, यथा—ग, टोमाटो, आलू, बादाम हृत्यादि देने चाहिये। दूसरा इति वर्धक द्रव्य संखिया या सोमल (Arsenic) है। ज कल वाजार में कणरंजक द्रव्यानुकारी कहे पेटेट ओपथियों लिती हैं। यथा—हीमोलोविन सायरप, हीमोविन सायरप, मोजेन सायरप इत्यादि। इनका भी शोणितवर्धन के लिये तम उपयोग प्रमाणित हुआ है।

चतुर्विधं यदेतद्वि रुधिरस्य निवारणम् ।

संधानं स्कन्दनं चैव पाचनं दहनं तथा ॥४०॥

वर्णं कपायः संधते रक्तं स्कन्दयते हिमम् ।

तथा संपाच्येद्द्वास्य दाहः संकोचयेत् सिराः ॥४१॥

(अधिक प्रवृत्त हुए) रक्त को बंद करने के चार उपाय हैं—
(१) संधान, (२) स्कन्दन, (३) पाचन, (४) दहन ॥४०॥ कपाय—रस व्रण को जोड़ देता है, शीत पदार्थ रक्त को जमा देते हैं, रस पका देता है और दाह सिराओं को सिकोड़ देता है ॥४१॥

चक्तव्य—सधान—शस्त्र द्वारा स्वचा धमनी सिरा इत्यादि में जो छेद होता है, उसका संयोजन या धाव के किनारों से मिलाना। स्कन्दन—रक्त का जमना या गाढ़ा बनना। पाचन—सूदा करना, पृथ उत्पन्न करना यह इस का अर्थ नहीं कपाय—कपायरसद्रव्य यथा न्यग्रोथ, औदुंबर, हरीतकी, लोध इत्यादि। शरीर से जो रक्त का स्नाव होता है, वह धमनी, सिरा या स्रोतस्य द्वारा होता है। जब स्नाव प्रारंभ होता है, तब प्रकृति अपनी तरफ से स्नाव को बंद करने की क्षमित्य किया करती है। स्नाव बंद होने में दो मुख्य कार्य होते हैं। रक्त वाहिनियों के बाहर अते ही गाढ़ा होने लगता है और उसका थक्का वाहिनी के भीतर तथा उसके बाहर जम जाता है, जिससे रक्त बाहर आने में कठिनाई हो जाती है। दूसरा कार्य वाहिनियों के दीवाल में होता है। दीवाल

संकुचित होकर वाहिनी का मुख छोटा हो जाता है। इससे रक्त जमने में मदद मिलती है तथा रक्तप्रवाह का वेग कम हो जाता है। बहुधा मामूली रक्तस्नाव उपर्युक्त विधि के अनुसार आप ही आप बंद हो जाया करता है। परंतु जिस समय वह आप ही आप बंद नहीं होता, उस समय उपर्युक्त उपायों द्वारा नैसर्गिक विधि में सदद करने की आवश्यकता होती है। इनमें से कपाय रस द्रव्य रक्तगत तथा प्रणस्त्रवगत अल्यूमिन इत्यादि प्रोटीनों को जमाकर रक्त स्नाव का निवारण करने में मदद करता है। शीत रक्त वाहिनियों की दीवाल संकोच कर रक्तस्नाव का निवारण करने में मदद करता है और दाह अल्यूमिन इत्यादि प्रोटीनों को जमाकर तथा वाहिनियों को सिकोड़ कर दोनों प्रकार से रक्तस्नाव का निवारण करने में मदद करता है।

अस्फल्न्दमाने सधिरे संधानानि प्रयोजयेत् ।

संधाने भ्रश्यमाने तु पाचनैः समुपाचरेत् ॥४२॥

कल्पेरेतैस्त्रिभिर्वैद्यः प्रयतेत यथाविधि ।

असिद्धिमत्सु चैतेषु दाहः परम इत्यते ॥४३॥

जब रक्त शीतल उपचार से बंद न हो जाय तो (कपाय रस द्रव्य से) संधान किया करनी चाहिये और जब संधान भी अट हो जावे तब (भस्म से) पाचन किया करे ॥४२॥ इन तीन विधियों से ही वैद्य जहाँ तक हो सके (रक्तस्नाव निवारण करने का) प्रयत्न करे और जब इनसे कार्यसिद्धि न हो तब रक्तस्नाव बंद करने में अचूक ऐसे दाह का उपयोग करना चाहिये ॥४३॥

चक्तव्य—दाहः परम इत्यते—सच्चुच रक्तस्नाव बंद करने के लिये दाह अत्यंत जोरदार उपाय है। यदि सिरा धमनी जैसे विशिष्ट स्थान से रक्त का स्वरण होता हो तो तस्शलाका का उपयोग करना चाहिये और यदि तमाम व्रण से रक्त चूता हो अर्थात् केसिकाओं से रक्त का स्वाव होता हो तो उष्ण जल का उपयोग करना चाहिये। इसके लिये जल की उष्णता १३०-१६० फै० तक होना आवश्यक है।

शेषदोषे यतो रक्ते न व्याधिरतिर्वत्ते ।

स्वावशेषे ततः स्थेयं न तु कुर्यादतिक्षम् ॥४४॥

यदि कुछ दूषित रक्त शेष रह जाय तो व्याधि बढ़ नहीं सकती। इसलिये कुछ दूषित रक्त शेष छोड़ कर ही रोक देना चाहिये परंतु रक्तस्नाव का अतियोग करना योग्य नहीं ॥४४॥

चक्तव्य—दूषित रक्त का जो शेष शरीर में रहता है, उसका निहरण यथामात्रा सींग से हो सकता है या उसका प्रसादन शीतोपचारादिसे से सरल हो सकता है। परंतु रक्तस्नाव का अतियोग करने से दाह्यण रोग उत्पन्न होते हैं—अतिलुत्तै हि मृत्युः स्याद् दारणा वा चलामया: । (वाग्मट) । रक्त सशेषदोषे तु कुर्यादपि विक्षणः । न चातिप्रदृष्ट कुर्याद्वैप संशमनैर्जयेत् ॥ (सु० शा०) । हेरेच्छादिभिः शेषं प्रसादमधवा नयेत् । शीतोपचार-पित्ताक्रियाशुद्धिविशेषाणैः । दुष्टं रक्तमनुद्रितमेवेष प्रसादयेत् ॥ (अ० हृदय) । शरीर से अधिक से अधिक रक्त निकालने का प्रमाण आयुर्वेद में एक प्रस्थ यानि साड़े तेरह पल दिया है—

१ सशेषदोषे रुधिरे ।

पर प्रमाणानिष्टानि प्रस रीगितमीक्षणे । (सुषुत) । तथा शोणित-
मीक्षणे । सांख्यवेदास्त्रल प्रस्थमाकुर्यनीपि ॥ आयुनिक प्रयोगों
द्वारा भी पह प्रमाणित हुया है कि अधिक से अधिक ६०० सी०
सी (कीव ५५ तोल) रक्त निकाल सकते हैं । मह रायि प्राचीन साडे तोह एट के बराबर आती है ।

देहस्य रुधिर मूलं यथिरेण्य धार्यते ।

तस्याद्येन संरक्ष्य रक्तं जीव इति स्थितिः ॥४५॥

रक्त ही शरीर का मूल है और रक्त से ही शरीर का
धारण होता है । इसलिये यद्य करके रक्त की रक्ता करती
चाहिये । वास्तव में रक्त ही जीव है, यह स्थिति है ॥४५॥

सुतरस्तस्य सेकाद्यैः श्रीतैः प्रकुपितेऽनिले ।

शोफं सतोदं कोण्ठेन सर्पिण्या परियेचयेत् ॥४६॥

इन सुकृत्यान्विताद्यां चरत्वाने शोणितवर्णनीयो नाम-

चुरुद्दोष्याय ॥४६॥

रक्त निकाले हुए मनुष्य के व्यास्तान पर यदि शीतल
उपचार से वायु प्रकृष्टिं होकर शोष और धीढ़ा करे तो गरम
पूर्त से उस स्थान पर सेवन करना चाहिये ॥४६॥

इति भागवतराणं गोविन्दामगेन विरचितामाकुर्यादेवद्वयवीक्षिकार्या
मुक्रनभाषणीयावो शोणितवर्णनीयो नाम चुरुद्दोष्याय ॥४७॥

पञ्चदशोऽध्यायः ।

व्याथाते दोषधातुमलज्ञयवृद्धिविद्वानीयमध्यायं
द्यायायास्त्रामः । यथोद्याच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब इसके अनन्तर दोष, धातु तथा मल इनके बाय और
वृद्धि का विहान विस में हो ऐसे अध्याय के व्यास्तान करते
हैं जैसे हि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

दोषधातुमलमूलं हि शरीरं, तस्मादेतेषां लक्षणं
मुच्यमानमुपधारय ॥२॥

दोष, धातु और मल शरीर के मूल हैं । इस कारण इनके
लक्षण, जो यहाँ वर्णित किये जाते हैं, (एकाप्र होकर)
अध्ययन करो ॥२॥

यत्कथ्य—दोष—‘वायु वित्त कर्त्तव्ये त्रयो दोषा समाप्तः ।

वायु—‘रक्ताद्यामयेषौप्रियमामाकुर्यात् चातुः । तत् द्रव्या ॥

मल—मला चूरुकृद्वेदादोषोऽपि च ॥ (वामपट) । मूलम्—

जैसे कि वृक्ष की वृद्धि और जल उसके मूल की अविकृत और
विहृत अवस्थाओं पर निर्भर होती है वैसे ही शरीर की वृद्धि

और जल वातादि दोष, रक्तादि धातु और मूलादि मल इनके
अविकृत और विहृत अवस्थाओं पर निर्भर होती है । इसलिये
यहाँ वातादि को मूल की उपमा भी गई है । वैषषक में मनुष्य
शरीर की मूलज्ञा वृक्ष के साथ इसेहा दीर्घी है—अर्जुनमूल रात्र-
वृक्ष पुरुष विदु । मूलमहारितलमाद दोगानी शीघ्रतर जेव (वामपट) ।

तत्र, प्रस्पन्दनोद्दृष्ट्वानपूरणविषेचक्यात्प्राणलहस्यों
वायुः पञ्चाधा प्रयिमक्तः शरीर धारयति ॥३॥

उनमें से प्रस्पन्दन, उद्दृष्टि, पूरण, विषेचक और प्राण
इत् (पांच) क्षणों से दुसरा वायु पांच प्रकार से विभक्त
होकर शरीर को धारण करता है ॥३॥

यत्कथ्य—लक्षण दो प्रकार के होते हैं—स्वस्त्रवर्णन-
मूक और कार्यपूर्णात्मक । इस व्यायाम में कमानुदेव वा
वृद्धि का ही वर्णन होने के कारण वैषय कार्यात्मक लक्षण
का विवार किया गया है । वाताद्येवी विषेच विवरण निशा-
श्चान के प्रथम अध्याय में होता है । पञ्चा प्रविमक्—(१) व्या-
(२) उदान, (३) प्राण, (४) समान, (५) और अपान
प्रस्पन्दन—शरीर के चलन वलनादि कर्म । यह स्थान वायु का
कर्म है । उदान—धास प्रशास देवा भाषणादि इत्यर्थायों के
धारण । यह उदान वायु का कर्म है । पूरण—आहार से उड़ा
पूरण करना । यह प्राण वायु का कर्म है । विष—स्व मू-
पुरीय की विभक्त करना । यह समान वायु का कर्म है ।
धारण—शुक्र मूल मलादि का अग्रेकाल में धारण करना और
देवाकाल में उत्पन्न करना । यह अपान वायु का कर्म है ।

रागर्थेत्तेजोमेधोप्यकृष्णित्वं पञ्चाधा प्रविमक-
मशिकर्मणाऽनुग्रहं फरोति ॥४॥

रागहृष्ट, परित्तकृत, तेज कृष्ट, मेधाहृष्ट, झीर उम्भहृष्टः
ऐसा पित्त पांच प्रकार से विभक्त होकर अग्नि का कार्य करते
शरीर को अनुगृहीत करता है ॥४॥

यत्कथ्य—रागहृष्ट—रक्त का परिवर्तन रक्त में करनेवाल
इसको ‘रजक’ पित्त कहते हैं । पक्षिकृत—आहार का पचन
करने वाला । इसको ‘पाचक’ पित्त कहते हैं । तेज इति—उदि
उत्तर बनने वाला—देवो इतिरित्व स्वतन्त्र । इसको ‘आलोचक’
पित्त कहते हैं । मेधाहृष्ट—मुद्रिकृत । इसको ‘साधक’ पित्त कहते
हैं । उम्भकृत—शरीर का उम्भ रखने वाला । इसको ‘आग्रजक’
पित्त कहते हैं । पवाना प्रविमक—रजक, पाचक, आलोचक,
साधक और आजक मेद से पांच प्रकार का । पांचों प्रकार के
पित्त का धैर्य आगे एकीसर्वे अध्याय में किया गया है ।
अग्निकर्मणाऽनुग्रह करोति—जैसे शरीर के बाहर अग्नि दहन पक-
नादि कर्म करता है, वैसे पित्त शरीर के भीतर अग्नि की भाँति
दहन पक्षनादि कार्य करके शरीर पर उपकार करता है । इसका
विषेच विवरण एकीसर्वे अध्याय के अड्डें शूल में किया गया है ।

सन्धिसंस्कृतप्रस्तेवनरोपायपूरणवलस्थैर्यंकृत्वे
प्या पञ्चाधा प्रविमक उदककर्मणाऽनुग्रहं फरोति ॥५॥

सन्धिसंस्कृतप्रस्तेवनकरक, द्विष्टकारक, रोपक, रुक, रुड
और स्थैर्यकारक ऐसा कल पांच प्रकार से विभक्त होकर जल
की भाँति शरीर को अनुगृहीत करता है ॥५॥

यत्कथ्य—सन्धिसंस्कृतप्रस्तेवन—जीहों में रोगन करना—सोरा-
न्धके यथा हाते चक चाप सापु प्रवर्तते । सप्त वर्णों संस्थित
केषणा तथा । इसको ‘देवधारक’ कल कहते हैं । स्नेहसंकृत—भोज्य
पदार्थों का स्नेहन या स्नेहन करने वाला । इसको ‘स्नेहक’ कल
कहते हैं । रोपक—रोपण करने वाला । पूरणहृष्ट—अतिरूप
करने वाला । इसको ‘तर्पक’ कल कहते हैं । बलसंकृत—दहन
तथा विक्ष प्रस्तिकी विस्तरता करने वाला । इसको ‘अवसरक’
कल कहते हैं । उदककर्मणाऽनुग्रह करोति—उदक तिस प्रकार
शीतलता और उष्टि का कार्य करता है, वैसे कल भी उदक की
भाँति शरीर के भीतर गैरि और उष्टि का कार्य करता है ।

पित्र, कक यद्यपि एक एक ही होते हैं तथापि स्थान-
ग्रा और कार्यभिज्ञता के अनुसार भिन्न भिन्न नाम से
जाते हैं । जैसे कि एक मनुष्य भिन्न भिन्न स्थान में
भिन्न कार्य करने के कारण रसोईदार, चपरासी,
दार इत्यादि भिन्न भिन्न नामों से कहा जा सकता है ।
। दोपा: प्रत्येक पश्चिमि प्रकारौर्मियन्ते विशिष्टस्थानाश्रयेण क्रिया-
...यथैकोऽपि देवदत्ती यां यां क्रिया करोति तदनुरूपमेवानेक
त्वावकादिनाम लभते (इन्दु) ।

रस्तः: प्रीणयति रस्तपुष्टिं च करोति, रस्तं वर्षा-
दां मांसपुष्टिं जीवयति च, मांसं शरीरपुष्टिं
सञ्च, मेदः स्तेहस्तेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्थां च,
स्थै देहधारणं गज्जः पुष्टि च, मज्जा प्रीति खेदं
। शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थां च करोति, शुक्रं धैर्यं
बनं प्रीतिं देहवलं हृष्टं वीजार्थं च ॥६॥

रस शरीर का तर्पण और रस की पुष्टि करता है । रस-
र वर्षा का प्रसाद्धन, मांस की पुष्टि और प्राणी का धारण
ता है । मांस शरीर और मेद को पुष्ट बनाता है । मेद
शरीर में) खिघता, स्वेद, दृढता और हड्डियों की पुष्टि
ता है । अस्थियां शरीर को धारण करती हैं और मज्जा की
ै करती हैं । मज्जा भ्रसनाता, खिघता, बल, शुक्र की पुष्टि
र वस्त्रियों (के भीतरी पोले स्थान) का भरण करती हैं ।
क (कामोद्वेग के समय पुरुषों में) धैर्यच्छुति, (खियों पर)
ति, शरीर में बल, (मैथुन के समय) हृष्ट और (सन्तानो-
ति में) वीज का प्रयोजन करता है ॥६॥

बक्तव्य—सून्नगत रसरक्त कार्यों का बहुत कुछ विवरण
छोड़ अज्ञाय में हो चुका है । मेदश्च—पुष्टिमिति शेषः । देह-
रण—अस्थियों से शरीर का ढाँचा बनता है, उसकी शक्ति
कर्त्ता रहती है, द्याव पृथगे पर उसकी आकृति में फर्क नहीं
तो तथा शरीर का भार संभाला जाता है । अभ्यंतरगतैः
रियमा तितिन्ति भूखः । अस्सिसारैस्तथा देह विष्वने देहिनां भूखम् ॥
(शुक्र, शरीर) । देहवल—ब्रह्मचर्य-न्रत का पालन कर वीर्य-
च्छिय बनने से शरीर में एक विशेष प्रकार का बल उत्पन्न
होता है—ब्रह्मचर्यगतिष्ठायां वीर्यलाभः । (पातंजलयोगसन्न) ।
वीर्यार्थं च—‘वीजप्रयोजने करोति’ इति तात्पर्यः । जैसे कि ब्रह्म ज्ञेयादि
विं उपस्थिति में वीज अंकुरोत्पत्ति का कार्य करता है, वैसे ही
खियों में ऋतु ज्ञेयादि की अनुशूलता में वीर्य गर्भोत्पत्ति का
कार्य करता है । शुक्र क्या है—शुक्र एक दूधिया रंग का गाढ़ा
सत्त्वार कारीय प्रतिक्रिया युक्त द्रव है; जो शुक्रांश्चियों, शुक्र-
ग्राण्डी, शुक्राय, अष्टीलांश्चिय और रिश्वामूलांश्चियों के रसों
के मिश्रण से बनता है । यदि ताजे शुक्र की सूक्ष्मदर्शक यन्त्र
द्वारा परीक्षा की जाय तो उसमें वही युरती से दूधर उधर
फिरते हुए असंख्य सूक्ष्म जीव दिसाई देंगे । वीज प्रयोजन का
कार्य करने के लिये शुक्र का यही आवश्यक भाग है । इनको
शुक्राणु (Spermatozoon) दहने हैं । मैथुन के पश्चात् एक
समय में जितना शुक्र निकलता है, उसमें इनकी संख्या नो
में जीव करोड़ के लगभग होती है । शुक्राणु की लंबाई

द०३० से द०५० इंच तक होती है । उसका अगला सिरा
मोटा और अण्डाकार होता है, पिछला भाग पतला होता है
और पूछ नोकीली होती है । बलवान् शुक्राणु बड़ी तेजी से
फिरते हैं और निर्देल शुक्राणु सुस्ती से फिरते हैं । मैथुन के
पश्चात् जो शुक्राणु सब से प्रवल होता है, वही भीतर वीजीयज
(Ova) तक पहुँचता है । इससे गर्भोत्पत्ति होती है । गर्भाधान
के लिये एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है । शुक्र में
शुक्राणु कभी कम होते हैं, कभी ज्यादा होते हैं और कभी
होते ही नहीं । शुक्राणु अनुपस्थित होने से (Azospernia),
बहुत सुस्त होने के (Oligo spermia) या
निश्चल होने से (Necro spermia) शुक्र वीजप्रयोजक
नहीं होता अर्थात् पुरुष सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकते ।

पुरीप्रमुखस्तम्भं वाच्यविधारणं च, वस्तिपूरण-
विकृद्धस्तम्भं, स्वेदः क्लेदत्वक्सौकुमार्यकृत् ॥७॥

मल शरीर को भीतर से सहारा देता है और वायु तथा
अस्त्रि को धारण करता है । मूत्र वस्ति का पूरण करता है और
शरीर के त्याज्य जलांश को बाहर निकाल देता है । स्वेद व्याचा
को आदि तथा कोसल बनाता है ॥७॥

बक्तव्य—उपस्तंग—अवधं या शरीर को सहारा देना ।
राजयक्षमा में सल की हृस शक्ति के उपलक्ष्य में लिखा है—
सर्वप्रातुक्षयार्तस्य बलं तत्य हि विवलम् । विकृद्धत्वं—क्लेदविहीन
करने वाला । अन्तेनविनिर्वाहणेन मूत्रम् (अ० संग्रह) । स्वेदः—
क्लेदत्वक्लेदरोमधारणैः स्वेदः । (अ० संग्रह) ।

रसरलदण्डमार्तिवं गर्भकृच्च, गर्भो गर्भलक्षणं,
स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वजननं जीवनं चेति । तत्र
विधिवत्परिरक्षणं कुर्वीत ॥८॥

खियों का आर्तव रस के समान लक्षण्युक्त और गर्भ-
स्थितिकारक होता है । गर्भ गर्भलक्षण उत्पत्ति करने वाला
होता है । स्तनगत दुग्ध स्तन की पुष्टता करने वाला तथा
(सन्तानों का) जीवन होता है । इन (प्रज्ञतिस्थ वातादि दोप,
रसादि धातु, मलादि मल और सन्तानदि उपधारुओं) की रक्षा
यथाविधि करनी चाहिये ॥८॥

बक्तव्य—गर्भकृ—आर्तव के वास्तविक क्या क्या
प्रयोजन हैं इस विषय में आज भी निश्चिति से नहीं कहा जा
सकता । परंतु इसमें संदेह नहीं कि प्रत्यक्षतया न होने पर भी
अप्रत्यक्षतया वह जलर ‘गर्भकृत्’ है । पहले तो यह है कि
आर्तव का वीजीयज (Ova) के परिपक्ष होने से बहुत कुछ
संबंध मालूम होता है । क्योंकि आर्तव अपिकर उस समय
होता है, जब कि पलवीज वीजप्रयिति (Ovary) से वीजवाहि-
नियों (Fallopian tubes) में आता है । आर्तव से पहले
बहुधा वीज परिपक्ष नहीं होते हैं तथा उसके पश्चात् वीजप्रयिति
लिङ्गद्वय कर दीज निकलना चंद्र हो जाता है । दूसरा यह है कि
आर्नयोत्पत्ति के कारण गर्भांश की अंतिमक दला गर्भ
चिपत्ते योग्य बन जाती है । तीसरा यह है कि आर्तव के ही
कारण उसके पश्चात् दूसरा वाह दिन तक सीधी की गर्भवती होने
की अस्थि संभावना होती है । इसलिये दूसरा वाल को ‘शुक्र-

१ रसलुर्दि श्रीणुन रसपुष्टि, २ अस्थीनि, ३ धैर्यच्छवन्.

१ जीवन्तु, २ तेजः

काल' कहते हैं—वह सम्भविक शीणा रात्रि पोटा सूता । (मनुस्मृति) १ चौथा यह है कि गर्भसाराहा होने के पीछे आर्तव वद हो जाता है । गर्भस्वाग—गर्भाशय में गर्भसिणि होने से माता में जो रक्षण हुआ करते हैं, वे—स्तनों कृष्ण मुक्ता रेमरास्युदगमलता । अहिंसामणि चाप्यस्या सतीत्यन्ते विशेष ॥ अकामदर्शयति गन्धादुद्विजे शुभाद् । प्रसेक सदन चापि गर्भिणा लिङ्गुच्छने ॥ (सुधूत शा. अ ३) । आपीनत्वन नम्—दुष्यावश्या में सत्तों की उपि दुष्यावश्यिणों की वृद्धि, दुष्यावश्यिणों की दुष्यावश्यता तथा ननगान मेद की वृद्धि हूँ कारणों से होती है । गवन्तं वातानाम् ॥ इन शेष । दूष पीते वाले बच्चों के लिये माता के दूष का महात्र वापातात्य से आयुर्वेद में वर्णन किया है—मातुं द पित्रं लन्तं तत्तरं देवदृपम् । (वाम्पट) । महिनैभूतवत्ता, पुष्टिरमारोप्यवर चति । (चरक) । आधुनिक वैज्ञानिक होने से भी यह मिह दुष्य हुआ है कि दूष पीते वाले बच्चों की गरीरुद्विदि, व्यास्था तथा जीवन के लिये माता के दूष से यह कर सकार भर में दूसरी कोई चीज नहीं है ।

अत ऊर्ध्वमेयां द्वीपलक्षणं वद्यामः; तत्र, धात-
क्षये मन्दचेष्टाऽह्यपवास्त्वमप्यर्थो मूढसंक्षता च,
पित्तक्षये मन्दोभास्त्रिता निष्प्रभत्वं(ता) च, लेप-
क्षये रुक्षताऽन्तर्दीद्व औमाशयेतरस्तेपाशयशृन्यता
सन्धिरौशिल्यं तृष्णा दीर्घलयं प्रजागरण च । तत्र
स्वयंनियर्थनान्येय प्रतीकारः ॥१॥

अब यहाँ से इनके क्षीणावश्या के लक्षण वर्णन करते हैं । यातक्षय (की अस्पता) में गरीरिक कर्त्तव्य में मन्दता, स्वल्प दोलना, अल्प हर्ष और वृद्धि की मन्दता उत्पन्न होती है । पित्तक्षय (की अस्पता) में गरीर की उल्लता कम होती है, जड़ताप्ति मद हो जाती है तथा गरीर की कालिं घट जाती है । कफशय में गरीर में स्वस्त्रा तथा भीतर जलन पैदा होती है, आमागरण के अतिरिक्त अन्य शैयापाग्रय भी शून्य हो जाते हैं, संधियों में शैयिल्य, शूण्या, दुर्विलता तथा जागरण भी होता है । इन (यातादि दोषों) के साथ की विकिर्णा स्वयंनियर्थक दोषों के उपयोग से होती है ॥१॥

यत्कल्य—आमागरणरेपातावृद्याना—आमाशय देख्या
का प्रयान आग्रय है । यहाँ जब देख्या क्षीण हो जाता है तब
उर्, कष्ट, विर और संधिर्य ये देख्या के अन्य आग्रय भी
शून्य हो जाते हैं । शूण्यान्—यातादि दोष यज्ञ जीवने हो जाते हैं
तब उनके स्वाभाविक गुण और कर्म इन की हानि हो जाती है किंवा इनके विद्युत गुणकों की वृद्धि हो जाती है । यह सामान्य साधा का लक्षण है । उत्तर यों आग्रय वर्णन किये हैं, वे वैष्ण दिग्मर्त्तापार्थ हैं । क्षीणा दद्वि इति निराम् । क्षीणा प्राप्तादा
निर्दिदांशः विगच्चिद् च । (चरक) । भवत्त्वं वर्तन्ते—वात की
योनि वातु विन की योनि अग्नि और कफ की योनि उत्तर है ।
अस्ति॑ वृद्यनिष्पत्ति॒ से भवत्त्वं वर्तन्ते॑ तथा वर्ता॒
सम्भवता॒ काहिये॑ । उत्तर पुन रात्र॑ वातानु॒ व्यात्यनु॒भवते॑
वृद्यवातानिर्वृद्यवक्त्र॑ वृद्यवृद्यनिष्पत्ति॒ । कर्वन्ते॑ सदम पात॑ वृद्यवृ-
त्यना॒ तेवर् । वातान्ते॑ वृद्यवृद्यवृद्यवृद्यनिष्पत्ति॒ । विवृद्य

मन्दवग्नकुरुत्वरोग्नीश्वानाम् । केषमुद्ये लिंगवृद्यवृद्यनिष्पत्ति॒
लाना द्रव्याग्राम् । (चरक) ।

रसद्यये हृतीडा कम्पः शृन्यता तृष्णा च, शोणित-
क्षये त्वरपारप्यमन्ददीतप्रार्थना तिराशैयिलं
कोदरशीवाशुक्रता रौक्षयोदौ गतात्रां सदृ-
धमनीशैयिल्य च, मेदक्षये मीहाहिमवृद्धिः सन्धि-
शृन्यता रीक्ष्यं मेदुरमांसप्रार्थना च, अस्थित्वये॑
स्थियस्तं दन्तनरमभद्रो रौक्ष्यं च, मज्जत्यये॑ तृष्णा
त्रिता पर्वमेदोऽस्थिनिस्तोदेऽस्थियस्त्यता च, शुक्र-
क्षये मेदवृद्यवृद्यवृद्यवृद्यता च । तत्रापि स्वयोनि
वर्धनद्वयोपयोगः प्रतीकारः ॥१०॥

रस की क्षीणता में हृदय में पीड़ा, कप (Palpitation)
और शृन्यता (A Sense of gono notes) तथा तृष्णा होती है
रक की क्षीणता में लक्षा में सुरदारापन, अस्त तथा पी-
पदार्थ सेवन करने की इच्छा और सिराओं में शिथिलता होती
है । मांस की क्षीणता में कृदि, कपोल, होठ, गिरन, जंघा
वज्ज्वल, काँपा, पित्तली, उदर, गला इनमें शुक्रता, स्वापन
और दृढ़, शरीर में धकान और धमनियों में शिथिलता होती
है । मेद की क्षीणता में हीड़ा की वृद्धि, सन्धियों में शृन्यता,
सूक्तता और द्विध्य मास राने की इच्छा होती है । अस्थियों
की क्षीणता में अस्थियों में हृदै, नल और दन की रसार्वी तथा
सूक्तता उत्पन्न होती है । मध्या की क्षीणता में वीर्य की अस्पता,
अस्थियों और संधियों में पीड़ा और अस्थियों में पोलापन
होता है । शुक्र की क्षीणता में शिभ वैर्य वृद्धि में वेदना,
मैत्रुदि के नियंत्र दैर्घ्य, देर से वीर्यपात व्यीर उम्मे दुष रक्त
मिला हुआ अपर्याप्ति होता है । इन रसादि की क्षीणता में भी
जियर्ही क्षीणता हो, उगकी वृद्धि करने वाले द्रव्यों का उपयोग
करना ही चिकित्सा है ॥१०॥

यत्कल्य—हृतीडा इत्यादि—हृता गर्वय पीड़ा, कंप
और शृन्यता के साथ होता है । रस का स्वान हृदय—तृष्णा तु
हृदय स्वनम्—होने के कारण पीड़ा, कप और शृन्यता हृदय के
पिकार समझना चाहिए । अस्तर्त्वात्तदर्दनम्—हृदयत्व के
कारण पातु शृन्यप्रति होकर रक्तवद धमनी में प्रवर्य करने
शुक्रमांस से वीर्य के साथ रक का भी व्यावर करता है—
धमनि पीपातादिरेतत्वि॑ वैयुनामालानाम्य न शुरु प्रदति॑ ।
अविनियोगीतरेतत्वम् । तथाय वातुम् वैयुनामालै॑ वैयुनि॑
प्रतिरूपै॑ वैयुनिहै॑ ताम्य रोगिनि॑ वैयुनामालै॑ । हृदयवृद्यवृद्य
पुन तुक्ष्यवृद्य रोगिनि॑ वैयुनिहै॑ वैयुनामालै॑ । (चरक निराम) ।
तृष्णान्ते—हृदयत्व के शुक्रोग्नि होने के कारण हृदयत्व में
शूला में वेदना होती है । हृदय में एक इतार के सामान्य
नलाकार धमियों हैं, विनमें वीर्य का महार का भाव व्यावि-
शुक्राण् (Prostatae testis) वृद्य होते हैं । इस महार के
धरण के विनाय वीर्य में शुक्रवदानी का तुक्ष्य रक, शुक्राण्य
का तुक्ष्य रक, अंगुलाधिपि (Prostatae gland) का तुक्ष्य रक

तथा शिवमूलप्रभियों का बुछ रस मिल जाता है । धीर्घ इस प्रकार कर्ण रसों का सिद्धण है । बुछ लोगों की यह कल्पना है कि आयुर्वेद के अनुमान शुक्र सर्वशरीरलापी है और उसके लिये भरीर में कोई निधित्व द्यान नहीं । परंतु यह कल्पना इसलिये है । जोग ग्रन्थज्ञ शारीर की दृष्टि ने शुक्रोत्पत्ति और स्थिति में जो जो अवयव भाग लेते हैं, उनका स्थान निर्देश आयुर्वेद में मिलता है—‘शुक्रवर्द्धे तपोमूर्च्छ वृण्डौ’ । ‘शुक्ररसान् रीतासां शृण्णौ मूलम्’ । ‘शुक्रवर्त्त्वेऽन्नमरणं हृष्णं वा’ । ‘शुक्रशब्दं गर्भनाशस्य इत्या करोति वासुः पद्मोद्विष्टव्यम्’ । ‘शुक्रारात्मारुदिवद्युमेन संकारायां हुल्लैच्छिक्षणं’ । ‘शुक्रं प्रत्यवसे न्यानादुन्नामं भजनेऽनिःशः’ । ‘भरणं प्राप्युषात्र शुक्राणां नामते ज्वरः । ऐपातः स्वधधात् गोक्षः शुक्रस्य तु विग्रहतः’ ॥ ‘कौप्य गतिक्षयोऽनामं मेषः धन्त्यर्थम् । शुक्रस्थानं गते विग्रहं प्राप्युक्तानि तर्थेव च’ ॥ ‘दोपाः पृथक् समग्ना ता प्राप्य रेतो-वदः; स्तिरः । शुक्रं सूक्ष्मपृथक् वासु नद्यव्याभिं विनाशयः’ ॥ ‘अनवा विश्वकृता तु तेषां शुक्राणाः स्तिरः । एर्पात् रुद्रव्यागायान्ति भजनेऽच्छायानां भवेत्’ ॥ ‘तत् ऋपुक्षसंयोगे चेष्टास्तन्याभाऊत् । शुक्रं प्रत्यवसे स्वानाऽङ्गलमार्द्धं पटान्द्रिव’ ॥ ‘दृश्युगुणं दक्षिणे पार्श्वं वस्तिद्वारात्म्य चाप्यः । नूक्त्रोत्तरायाऽनुकूलं पुनर्ग्रस्य प्रवर्तते’ ॥ इससे यह स्पष्ट है कि ‘शुक्रस्य सर्वशरीरानवनेन शुक्राभ्यानाऽन्नभावादिति’ इत्यादि जो विकार कियते हैं और वैश्व मानते हैं, वह प्रत्यक्षितरोधी और शास्त्रविरोधी कल्पना है । इसमें संदेह नहीं कि आयुर्वेद में कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जिनके कारण उपर्युक्त कल्पना प्रस्तु हुई है । यथा—विग्रहत्वपि देषुपु यथा शुक्र न दृश्यते । तर्ह-देशत्रित्वाय शुक्रलक्षणुच्यते ॥ (सुश्रुत निदान अ. १०) । रस इक्षौ यथा दक्षि सर्पिलोनं तिष्ठ यथा । सर्वनाशुगतं देहं शुक्रतस्पर्णे तथा ॥ यथा पयसि सर्पिलोनं शुक्रेषुर्सं यथा । शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विषाद् निष्पवतः । (सुश्रुत, शरीर अ. ४) । वाल्यावस्था और वृद्धाच्छया में शुक्र की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये वाल और वृद्ध मनुष्य के थव का विच्छेदन करने पर भी शुक्र का मिलना कठिन है । युवावस्था में भी यथापि शुक्र बनता है तथापि उस की रायि उड़ तोले से अधिक नहीं होती । मृत्यु के पश्चात् विच्छेदन से इस का ज्ञान होना कठिन है । इसलिये शब्दविच्छेदन से शुक्र का दर्शन न होना उसके स्थानाभाव का निर्देश समझना ठीक नहीं है । परीरव्यापित्व के लिये दूसरा जो प्रमाण धृत और गुह का दिया है, उससे यह मानना उचित होगा कि शुक्र की उत्पत्ति जिस द्रव्य से होती है वह, यानि शुक्र का पूर्वगामी द्रव्य, सर्वशरीरलापी है । जैसे कि गुड़ का पूर्वगामी द्रव्य हक्कुल्यापी है या धृत का ‘पूर्वगामी द्रव्य हुग्यन्यापी है । पूर्वगामी द्रव्य का अर्थ अन्नरस का ‘शुक्रमान दृश्य’ जिस से शुक्र की उत्पत्ति होती है । महाभाषोपाध्याय विवराज गणनाथसेन सर्वव्यापी शुक्र से ‘शुक्रसार’ (Internal secretion of the testicles) मानते हैं, जिसके प्रभाव से एंस्ट्रव्यंजक डाढ़ी मैले इत्यादि वाह्य चिह्न तथा शरीर की वृद्धि हुआ करती है । ‘यथा पयसि सर्पि’ रित्याख्यातान् तु सर्वशरीर-पं स्थानतं शुक्रसारं लक्ष्यति—यस्मात् एंस्ट्रव्यंजकामशुपौरुषात्तिविषयोः संभवन्ति । तदेवं शुक्रेषुविष्ये सिद्धे शक्षमतं शुक्रमभिप्रलय ‘यथा पयसि सर्पि’ रित्यादि प्राच्यां वचनं व्यास्त्वयेत् ॥ परंतु आयुर्वेद में सर्वव्यापी शुक्र से ही स्थूल शुक्र की उत्पत्ति मानी गई है—

तदेव चेष्ट्युवर्त्त्वश्चनात् स्वरादपि । राष्ट्रसंश्वरणात् स्पर्शात् संहर्षात् प्रवर्तते ॥ एषेष्टेऽहाकिं शुक्रं प्रक्षतमनसस्थापि रात्तित् संप्रवर्तते ॥ शुक्रसार से स्थूल शुक्र की उत्पत्ति नहीं होती । इसलिये सर्वव्यापी शुक्र से शुक्रसार की अपेक्षा शुक्र का पूर्वगामी द्रव्य सामना धर्मिक प्रयत्न है । स्वोनिवर्धनद्रव्योपयोगः—समानगुण तथा समानगुणभूयिष्ट द्रव्यों का उपयोग । इसके विवाय धातुवृद्धिकर कर्म भी करना चाहिये । यथा—मांस गांसेन, लौहितं शैशवेनैव, रेतो नेत्रसा, वसा वसया, अस्ति तरणास्थाना, मज्जा मज्जा, शुक्र शुक्रेषु ॥ सरानगुणभूयिष्ट का उदाहरण—शुक्रक्षये धीरसर्पोरपवोगो मधुरलिंगसमात्यातानां नामरेणां द्रव्याणाम् । (चरक) ।

पुरीपञ्चये हृदयपार्वर्षीदा सद्यान्वस्य च वायो-स्वर्व्यगमनं कुक्षों संचरणं च, सूवक्षये वस्तितोदोऽल्पसूब्रता च; अत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्याणि प्रतीकारः । स्वेदक्षये स्तव्यरोमकृपता त्वक्षशोपः स्पर्शवैगुण्यं स्वेदनाशश्च; तत्राभ्यङ्कः स्वेदोपयोगञ्च ॥१॥

मल की जीणता में हृदय और पार्श्व में पीड़ा, शब्दव्युक्त वायु का उर्जगमन और उदर में वायु का संचार होता है । मूत्र के जय में वस्तिस्थान में पीड़ा और मूत्र की कमी होती है । इनमें भी हृदयके उत्पत्तिर्वर्धक द्रव्यों का उपयोग ही उपाय है । स्वेद की क्षीणता में रोमकृप वंद ही जाते हैं, त्वचा शुक्र होती है, स्पर्शज्ञान यथोचित नहीं होता और पसीना आनंद वंद ही जाता है । इसमें तैल का उत्तरन करना और स्वेद का उपयोग करना चाहिये ॥१॥

घक्तव्य—मूत्रक्षय के अन्य लक्षण—मूत्रकृद्वं मूत्र-वैवर्ष्यमेव च । पिपासा वापते चास्य मुखं च परिशुष्यति ॥ (चरक) । साध्यरोमकृपता—त्वचा में जो प्रकार की अंगियां रहती हैं, तैल-अंगियां (Sebaceous glands) और स्वेदग्रंथियां । इन अंगियों से एक चिकना पदार्थ त्वचा पर निकल आता है, जिसके कारण त्वचा चिकनी, चमकदार और कोमल बन जाती है । इन अंगियों से जो नलियां निकलती हैं, वे बालों की जड़ों में पहुँचती हैं । स्वेदक्षय में रोमकृप वंद ही जाने के कारण इन अंगियों का चिकना त्वचा त्वचा पर नहीं पहुँचता जिससे त्वचा शुक्र हो जाती है और उसी में छोटे छोटे दरार भी उत्पन्न होते हैं—स्वेदे रोमच्युतिः स्ताप्तरोमता स्फुटनं त्वचः । (वाग्भट) । स्वेनिवर्धन—पुरीप और मूत्र वडाने वाले द्रव्यों का उपयोग—पुरीपश्ये कुलामापुकुपामाण्टाऽजमध्ययवशाकथान्याल्लानाम् । मूत्रक्षये पुनरिष्टस्वारणीमाण्डवमधुराम्लवल्वोपेदिनाम् । (चरक) । मूत्रक्षयदर्शक सामान्य लक्षण—मलानामतिसूक्ष्माणां दुर्लक्ष्यं लक्षयेत् क्षयम् । स्वमलायनसंरोपतोदश्यत्वलवायैः ॥ (वाग्भट) । स्वेदक्षय-चिकित्सा—अभ्यद्व्यायामयस्मनिवातशरणस्वेदैः । (अ. संघ्रह) ।

आर्तचक्षये यथोचितकालाद्वर्शनमल्पताच्च योनि-वेदना च; तत्र संशोधनमायेयानां च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः । स्तन्यक्षये स्तनयोम्लीनता स्तन्या-संभवोऽल्पता च; तत्र स्लेपमवर्धनद्रव्योपयोगः । गर्भक्षये गर्भस्पन्दनमनुव्रतकुक्षिता च तत्र ग्रास-

यम्निरालया दीरगस्तप्रयोगो मेष्याप्रयोग-
श्वेति ॥१२॥

आर्तिक धर्म में योगी समाज पर रवोदर्शीन न होना अवश्यक राजनीति कम होता और योगीनि में पीड़ा होना ये लक्षण होते हैं। इसके लिये योगीनि दूरुप उत्तरा पदार्थों वा उपयोग करना प्रागल्प है। सभ्यता वे धर्म में भागी वर प्रियुद्ध होनी है, कृप की उन्नति धर्म हो जाती है इसी दूरुप अव्यय परिमाण में आता है। इसमें लिये कफरपर्क दूर्घट्टी का उपयोग प्रागल्प है। गर्भ के जन्म में गर्भ वा न भरना या कम भरना, कृप कीनी न होना ये लक्षण होते हैं। इसमें लिये योगीनि विनि देने योग्य वाली हो ना क्षीर यमिनी का योग्य वरना और बेष्य अन्न का प्रयोग वरना द्वितीय है। १२॥

धर्मदृश्य—मरण—विरेशन अंत वस्ति । अप्रेसद्वय—
तिलमासादि, द्रव्य—तत्र मत्स्यबुद्धभूमिमाप्नुया हिता । अपे-
मृत्युधिष्ठित दृष्टि शुक्र च भासते ॥ सेप्पर्डन्देशोपदेश—
लन्ध्य रथ से उपरा होता है—इत्यतिवेष्टनवर्धक द्रव्यों का
उपयोग कहा है—एवमस्तो एव्वत् पराहरनितिः । इत्यदीर्घ-
सन्तो प्राप्य लन्ध्यत्वमिति वै ॥ यथा ग्रामान्तर्गत शाक धात्व्य-
मीम, द्रव्य भासुराम्बुद्ध स्वरूप भूयिषु भास्त्र, दुष्प्रयाण तुष्टियाः
कलद्विकादि शीर भोजपिण्डी और धूम न वरना इत्यादि ।
गर्भसंदून—अग्रसंदून से स्पन्दनाभाव, ईपूरुषसंदून या चिराण-
मसंदून ये तीन अर्थ समझता चाहिये । ग्राहरतिकालावा—
आठवें महीने की गर्भिणी । आठ महीने तक क्षमता का निषेध
होता है—लक्ष्मी । तथा रक्तरूपी शुद्धि वासिन्या ममतोऽमाता । (अ-
हृदय) । सेप्पातीर्थीयो—गोप यदाव हित मेव्य तदेवाव्र मेघाव्र
क्षीर्यविद्युत्यादिमित्येत् । (हाराणाचद) । शीर सर्पि इत्यादि
द्विष्ट जीवनीय और वृहसीय द्रव्यों का उपयोग । इन पदार्थों
के सिवाय घरक और वाघमट में अर्णवों का उपयोग इसी वे-
निये सिद्धा है—गर्भसंदूनामेत्र । (सरक) । तथा पर्यन्त रसानामाम
गर्भांश च गर्भांशिव । वामगर्भस्तेन चाशीयात् । तानेत च तत्र
भूषान् भक्षेत् । (अ सप्तम) । इस कल्पना के अनुसार
‘मेघादीप्योग’ ऐसा भी घाठ कहीं होता है । इन दोष धातु-
और भली का हाय निज कारणों से होता है—शृणु पुणेरपामति
सरोवरातिनिरामयनवेगविभारणानाम्या नपनमाप्यादामानशानतिमैपुनै
भवति । (डक्कुण ईका) ।

अत ऊर्ध्वमिति॒द्वादशानं दोषप्रथातुमलानां लक्षणं
वद्यामः । धृदिं पुणेरेषां स्वयोनिवर्धनात्पुणेष-
नाद्वृत्वति ॥३॥

अब यहाँ मेरे अतिवृद्ध दोष, पातु और मल इनक लक्षण कहते हैं। इनकी वृद्धि अपनी उत्पत्तिकारक आडार विहार के अनिसेवन से होती है॥३॥

तत्र, वातवृद्धी यान्तपाद्यन्पं कार्यं कार्यं ग्राव-
स्फुरणमुप्तकामिता निश्चानाशोऽल्पवलत्वं गाढवर्ष
स्वर्वच, पित्तवृद्धी पीतावभासता संतापः शीत-
कामित्वमल्पनिद्राता मूर्च्छा वलहानिरिन्द्रियदैर्घ्यं

पीतविषमूद्धनेत्रत्वं च, श्रेयावृद्धो दीपलयं गैत्यं स्थैर्यं
गौरघमवादस्तन्द्रा निद्रा सर्वं यस्थिविषेषपथः ॥४॥

इनमें से बात की शृंखि में भाषण की कठिनता, हृष्टता, कागजपत, धोर्णों का सुराण, उषा आहारविहार में इत्यादि विद्वानाम्, दश की अल्पता और मल का कदाचन होता है। पिता की शृंखि में दत्तवा का पीलापन, संताप, धीन आहारविहार की अभिलाषा, निद्रा की कमी, सूर्योदय का भाव, शृंखियों की दुर्देहता, मल सूत्र और नैया का पीलापन में दक्षण होते हैं। कान की शृंखि में खेताना, गीतन्त्रिता, स्थिरता, गुला, (ग्राहीरिक और सामानसिद्ध) गति, तटा, निद्रा, संषिफ्ट और अस्तियों में निपिलता में दक्षण होते हैं ॥४॥

धर्म—हृदि—उपचय या प्रकोप। अरनिश्चन्—यात्र
और वित्त की धृदि में निदा का नाग होता है। क्योंकि वातावरिक
से सनोग्रामण अधिक होता है और वित्तविक्षय से दिमाग में
जलन मालबम होती है। निदा सेप्टमोवरा है। हमसिये
स्फेदा की धृदि में निदा अधिक हुआ बरती है और सेप्ट
विरद्व वित्त और वात की धृदि में घट जाती है—‘ऐपेक्षा
ऐपेक्षुद्वा च’। ‘निदा सेप्टमोवरा।’ ऐपेक्षुद्वे उत्तम कला
दुरप्राप्तेतु च। इतिहेतु स्वर्णम्भो निदा विर देविशन्॥ (अ, संप्रह)।
मृद्धां—तम और वित्तविक्षय के कारण उत्पत्त होती है—
मृद्धां रित्वम आया। तद्वा—द्विवाय वस्त्रातिं त्वं वृश्चन्त हृष्टः।
निदात्सिये वरेत्वा तत्त्व तन्त्रा विनिश्चित्। निदा और तन्त्रा में
फक्त यह है कि प्रयोगित होने के पश्चात निदा में मुख्य
उत्साहयुक्त होता है और तंद्रा में उत्साह रहित रहता है।

रसोऽतिवृद्धो हृदयोत्तेदं प्रसेरं चापादयात्;
— इति शिरोमाणे एव गुणं स्मितमाणहौ-

च ; अस्त्यग्रस्थीन्यधिदन्तांश्च; मज्जा सवोऽनन्त्र-
स्मैरयं च शाकं शकाशमरीमित्रादभीयं च ॥१७॥

इस की अतिवृद्धि होने से जी मिलाना और मुँह से पांपी निकलता था ये लकड़ी होते हैं। अतिवृद्ध रक्त शरीर और नेत्रों में मुख्य और सिराओं की पूर्ण करता है। अतिवृद्ध मास कटि, कपोल, हैड, पिछा, जांब, भुजा और ऊंचा हृतमें स्थूलता और शरीर की भारी करता है। अतिवृद्ध में शरीर में खिड़ता, दूदर और पांपी की वृद्धि, खांसी और खाम करता है तथा लकड़ी में दुर्गंध पैदा करता है। अतिवृद्ध अस्थियों की अन्यसंगीक वृद्धि करता है और (दाँतों की स्थाबन्धिक संख्या से) अधिक दौड़ उत्पन्न करता है। अतिवृद्ध मज्जा सर्व शरीर और नेत्रों में मुख्ला बरती है। अतिवृद्ध शुक्र शुक्रास्त्री और शुक्र का अधिक स्वल्पन करता है॥५॥

यस्तदृप्ति—प्रसेक—मुख्यस्थान । उदरारुद्धि—भद्र का स्थान
उदर होने के कारण उद्र को बहिर्भूती है—मेदी हिं सर्वभूताना
मुद्रलस्थि । दौर्यग्रम—मेदी पाण्डेश स्वभावात् स्वेच्छालय
(चरक) । अवस्थि—अधिकास्थि अवस्थि स्वामतिविक
आकार से अधिक मोटी होना (Hyper trophy) । दिवा

क संख्या में उत्पन्न होना । परंतु द्वितीय कार्यं बहुधा गिरन नहीं हुआ करता है । तीसरा अर्थ अस्थियों में अर्दुद (ony tumour) उत्पन्न होना ।

पुरीषमाटोपं कुक्षो शूलं च ; सूत्रं सूत्रवृद्धिं सुहु-
दुः प्रवृत्तिं वस्तितोदमाधमानं च ; स्वेदस्त्वचो
गत्यं कण्डूं च ॥१६॥

पुरीष की वृद्धि अफारा और कुक्षि में शूल उत्पन्न करती मूत्र की वृद्धि मूत्र का प्रसुर निर्भम, बार बार मूत्र करने की तिं, बस्ति विसाग में पीड़ा और आधमान करती है । स्वेद वृद्धि लचा में दौर्गम्य और खुजली उत्पन्न करती है ॥१६॥

वक्तव्य—आटोप—आटोप शब्द के कई अर्थ होते हैं—
) उदर में चायु का संचलन, (२) उदर में गुड़गुड़ शब्द
ग (Borborygma), (३) ईषत् सशब्दमाधमानम् ।
क) आधमान—सादोपमत्युग्रजमाधमानादरं भ्यशम् । आधमान-
ते ते विद्याद्वेदं वातनिरोधजम् ॥ (सुश्रुत) । पेट में वात का
रोध होकर फूलना (Tympanitis) । मूत्रवृद्धि—पेशाव
समय मूत्र का निकलना । अथवा मूत्र का वेग धारण करने
मूत्रवृद्धि (Hydrocele) का होना ।

आर्तवमङ्गमर्दमतिप्रवृत्तिं दौर्वर्लयं च ; स्तन्यं
रनयोरापीनत्यं सुहुसुहुः प्रवृत्तिं तोदं च ; गर्भो
उराभिवृद्धिं स्वेदं च ॥१७॥

आर्तव की वृद्धि अंगमर्द, अधिक मासिक स्नाव की ग्रवृत्ति
और दौर्वर्लय उत्पन्न करती है । दुर्घ की वृद्धि स्तनों की स्थूलता,
र बार दुर्घ का स्नाव होने की ग्रवृत्ति और स्तनों में (तनाव
ो सी) पीड़ा उत्पन्न करती है । गर्भ की वृद्धि उदर की वृद्धि
था स्वेद उत्पन्न करती है ॥१७॥

तेषां यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयादविरुद्धैः
क्रेयाचिशेषैः प्रकुर्वीत ॥१८॥

इन अतिवृद्ध दोष धातुमलों का संशोधन तथा संशमन
प्रत्येक के लिये यथाविहित विशिष्ट क्रियाओं द्वारा इस प्रकार
ने जिससे कि उनका क्षय स्वाभाविक अवश्या से अधिक न
ती जाय ॥१८॥

वक्तव्य—क्षण—संशमन । अतिवृद्ध धातुओं का तथा
ल्लान् रोगी का संशोधन और मध्यम वृद्ध धातुओं का और
द्वितीय रोगी का संशमन करना या संशोधन और संशमन का
युक्ति से उपयोग करना । क्षयादविरुद्धैः—‘अविरुद्धरिति वृद्धस्य तथा
क्षणं कर्तव्यं यथाऽन्यदोपस्य धातोर्वा वृद्धिः क्षयो वा न भवतीति
प्रतः । (चक्रः) । क्षयमपेक्ष्य नाधिकैर्णाडि॒च च न्यूनैरित्य॑ः ।
यूग्मे शक्तिनित्यो भवत्यपिक्षात्यर्थं वर्षयित्वाऽर्जुर्यमापादयतीति
उत्तम्यकं क्षयादित्यादि । (हाराणचन्द्र) ।

पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद्वृद्धयेद्विं परं परम् ।

तस्मादितिप्रवृद्धानां धातूनां हासनं हितम् ॥१९॥

प्रत्येक पूर्व धातु अत्यन्त बढ़ने से (परिणाम क्रमपक्ष की
दृष्टि से) अपने समीपवर्ती उत्तर धातु को बढ़ा देता है । इस
लिये अत्यत बढ़े हुए धातुओं को धटान हितक होता है ॥१९॥

वक्तव्य—क्षणपरिणामपक्ष के अनुसार रस से रक्त
रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा

और मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है अर्थात् धातु धात्वाहार
होते हैं । इनमें से जब एक की वृद्धि कारणवश हो जाती है तब
उससे उत्तर धातु की वृद्धि होती है । उसकी वृद्धि होने के
कारण उससे उत्तर धातु की वृद्धि होती है । इस प्रकार एक
धातु की अतिवृद्धि होने से शुक्र तक वृद्धि की परंपरा जारी
होती है । इसलिये इस वृद्धिपरंपरा यानि विकारपरंपरा को
रोकने के लिये अतिवृद्ध धातु का क्षय स्वाभाविक मर्यादा तक
करना हितकर होता है । जैसे वृद्धि के संबंध में है, वैसे ही क्षय के
संबंध में भी समझना चाहिये—पूर्वो वृद्धः परं कुर्याद्वृद्धः क्षणीश्च
तद्विषम् । (अ. हृदय) । इसलिये कारणवश क्षीण हुए धातु की
भी वृद्धि करना स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकर है—क्षपयेद् वृद्धये-
चापि दोषात्तुमलान् भिषक् । तावद्यावदरोगः स्थानोरो रोगसमानितः ॥
डल्हण के अनुसार इस श्लोक का यह भी अर्थ होता है कि
एक धातु वृद्ध होने से न केवल उसके उत्तर धातु की वृद्धि
होती है बल्कि इसके पूर्व धातु की भी वृद्धि होती है । वैसे भी
क्षय के संबंध में समझना चाहिये—पूर्वः पूर्व इत्याद्युपलक्षणम् ।
तेन परोऽपि वृद्धः पूर्व वर्षयति, तथा परोऽपि क्षीणः पूर्व क्षपयति,
तथा पूर्वः क्षीणः पूर्व क्षपयति ॥

बललक्षणं बलक्षयलक्षणं चात उर्ध्वमुपदे-
क्ष्यामः । तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं
तेजस्तत्र खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते, स्वरासु-
सिद्धान्तात् ॥२०॥

अब यहाँ से बल के लक्षण तथा बलक्षय के लक्षण कहते
हैं । रस से लेकर शुक्रपर्यन्त जो धातु है, उनके उल्काद्वारमधूत
अंश को ओज कहते हैं और उसे ही हम अपने शास्त्र के
सिद्धान्त के अनुसार बल भी कहते हैं ॥२०॥

वक्तव्य—बास्तव में ओज और बल में भेद है परंतु
चिकित्सा की दृष्टि से दोनों एक हो सकते हैं । ओज कारण है,
बल कार्य है । ओज रूप रस वर्णायुक्त द्रव्य है । बल इस द्रव्य का
कर्म है । शरीर में बल कई कारणों से उत्पन्न होता है परंतु
सब से अधिक बल ओजोजनम् होता है । क्योंकि ओजःक्षय से
जितना बल का नाश होता है, उतना अन्य किसी कारण से
नहीं हुआ करता । इसलिये ओज और बल का अभेद माना
गया है । यसाद्रासादोजो भवति स रसः सर्वधातुस्यगतत्वात् तत्त-
ज्ञातुवन्मन्यत शति सर्वधातूनां सेह थोजः । क्षीर धृतमित तदेव
बलमिति तत्कार्यादरणयोरभेदोपन्नाराग् अभेदकथनं च चिकित्स-
कार्यम् । (भावप्रकाश) ।

तत्र बलेन स्थिरोपचित्तमांसता सर्वचेष्टाप्रस्वप्रति-
धातः स्वरव्येष्टप्रसादो चाहानामाम्यन्तराणां च
करणानामाम्यकार्यप्रतिपत्तिर्भवति ॥२१॥

उस बल ही से मांस की स्थिरता और पुष्टि होती है, सर्व
प्रकार के कार्य करने के लिये अमोघशक्ति उत्पन्न होती है, स्वर
और वर्ण में प्रसन्नता आती है और बाल तथा आमंत्र
द्विन्द्रियों की अपने कार्य करने के लिये ग्रवृत्ति होती है ॥२१॥

वक्तव्य—स्थिरोपचित्तमांसता—यह एक उपलक्षण सम-
झना चाहिये । ओज से धृति के सर्व धातुओं की चिकित्सा
द्विन्द्रियों द्वारा उपलक्षण होती है । योजानामाम्यन्तराणां द्रष्टव्यमुद्योगलक्षणः । सम-

पत्र—मनवितरकित्वं । बाह्यरक्ता—इर्द्धेन्द्रिय—बाह्यरक्तिरदायकूल
स्थान क्लोनिश्चाप्यात् । अभ्यन्तर वर्जन—हुद्दीद्वय—हुद्दीद्वयाति
चम्पु भेदवास्त्रशमनलग्नं पानि । हन के अतिरिक्त उमयामक
मन का भी यहाँ समारोह करना चाहिए । अभ्यार्थनिपति—
स्पृष्टियाँ कार्य करने की प्रतीति । क्लोनिश्चां में घाषी का कर्म वचन
हम का कर्म प्रदण और धारणा, पाद का कर्म गमन, शुद्ध तथा
गिर्भ का कर्म मळ और सूत्र का लाग है । गिर्भ का कर्म रति
सेवन भी है । पट्टी गमनकर्त्ता । पशुपत्ती वित्तार्थ इसी
प्रश्नापाठे । निदा वर्तित्वायाच ॥ (चरक) । वरनान
तिरसेव्यमन्तराय परानाम् । (मरा का) । बुद्धिद्वयों का कर्म
शुद्ध स्पर्य स्पृह रस गन्ध प्रदृश है । मन का कार्य संक्षय-
विष्ट्यकामक होता है । ये कार्य शरीर स्वास्थ की इहि से
जैग हान चाहिए वैष्ण वर्ण करना इसका अर्थ प्रतिपत्ति ।

भवान्ति चाप—

औज सीमाभक जिग्धं प्रुह श्रीत स्थिरं सरम् ।

विविक्त मृदु मृत्यु ध प्राणायतनमृतम् ॥२॥

देह साययवम्नेन व्याप्तो भवति देहिनाम् ।

तदभायाच शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम् ॥२३॥

ओंत्र सौम्य, द्विष्ठ, खेत, गीताल, शरीरस्पैकारक, प्रसरण-
विनियोग द्वारा निवारण की जाती है।

वाल, निम्न, कामल, भिरुच आदि प्राणों का धेष्ठ व्यापार
में सृजन सर्वांग एवं मन्त्रेश अधिक इस घोट से ज्ञान ग्रहण है

और हमारे अभाव में मनुष्यों के गहीर विचारिंश हो जाते हैं ॥२३॥

धर्मदृश्य—ओं इति विषय के संरक्षण में शारीरिक कार्य से

बहुत गलभिष्टता दियाई देती है। आगुनिक पंडितों का भी ऐसे विषय में ज्ञान अवधि नहीं है। एक व्यापी विषय

इसके संबंध में एकमात्र नहीं हुआ है। इस प्रायोगिक और सर्वोच्च भाषिता का उत्तर करने पर पूर्ण ओंकार के संबंध में

भिज भिज आयुर्वेदिक घंटों में जा कुछ वर्षेन मिलता है, उस

का पहाड़ संपर्क अनुपयुक्त नहीं होगा। यसके में ओवर का

क्षमता—इदि शिक्षी प्रश्नाम् राज्यादि इति विभूषणम्। अतः उत्तरं संस्कृतं
प्रश्नाम् विभूषणम्। अतो प्रश्नामेष्टी विषया विभिन्नो द्वयः ।

१०८ विश्वामित्र । अप्युपाया परमा संवदेन इति ।
प्रसार रहिष्यो ॥ एविदां वाचम् ॥ प्रथमे वादो इति

ରୁଦ୍ରାକ୍ଷଙ୍କ ପାଇଁଲାଗୁ, ଏହିମେ ତୁମ ଆଶାରେ ଥିଲୁମେ । (୩)

४१) । देवीजागरुकिं विनिष्ठा संविरह । युत महाविजये अपरिहर्त्री एवं विश्वासी विमुक्तयोग्य ।

१०८ विष्णुवाचोऽस्मद्ब्रह्म इति ॥ द्वयवाचोऽस्मद्ब्रह्म इति ॥

दृष्टिकोण समान। अस्ति विद्युतोऽप्या विद्युतं प्रविष्टम् । (४३०) ।

תְּמִימָנָה : (בְּרֵבָד) וְלֹא־מִתְּמִימָנָה : (בְּרֵבָד)

ପାଇଁ କୁଣ୍ଡଳାରୀଙ୍କାରୀ : (୧୫) କୁଣ୍ଡଳ ହାତ ଦିଲ୍ଲି
ଦିଲ୍ଲି ହାତ : କୁଣ୍ଡଳ ନିମିଶ ହାତ ଦିଲ୍ଲି ହାତ

३४८ देव इन्द्र विष्णुः ॥ (वि २४) । अद्यत्तमेव एव शुभं

प्रैर चाहे व्यक्तिगत अवस्था का दर्शन दिला गया है—

१०८ अनुवाद विजय कुमार शर्मा

१०८ विष्णु विजय का अवतार विष्णु विजय का अवतार

The following figure shows the configuration of a typical system of three nodes. Some nodes have

Digitized by srujanika@gmail.com

प्रापदिश्यते । (चरक) । पाश्चात्य शारीरकार्य विज्ञान के प्रनुरोध से ओज का स्वरूप और कार्य देखकर कई पण्डितों ने ओज के कई अर्थ अपने प्रामाणिक मतानुसार दिये हैं । यथा— जीवनीय द्रव्य (Vitamin), अल्ब्यूमिन (Albumin), ग्लैकोजन एक प्रकार की शर्करा (Glycogen), वृष्णिसार पुरुषों में (Internal secretion of the testicles) चिह्नों में वीजकोपसार (Internal Secretion of the ovary), अष्टीलासार (Prostatic secretion) इत्यादि । इसमें संदेह नहीं कि उपर्युक्त कल्पनाओं में स्वतंत्र जरूर है परन्तु ओज की संपूर्ण कल्पना किसी एक शब्द से दिग्दर्शित नहीं होती है । पाश्चात्यशारीरशास्त्र के अनुसार ओज के लिये एक प्रतिशब्द, जो उसके संपूर्ण अंगों का निर्देशक हो, देना कम से कम आज की स्थिति में अशक्य है ।

अभिघातात्म्यात्कोपाच्छ्रोकाच्छ्रयानाच्छ्रमात्क्षुधः ।

ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःस्त्रतम् ।

तेजः समीरितं तस्माद्विसंस्यति देहिनः ॥२४॥

आघात, धातुक्षय, क्रोध, शोक, चिंता, परिश्रम और अनशन इनसे ओज का क्षय होता है । हृदय से प्रेरित हुआ ओज (जब) धातुवाही स्रोतसों से निःस्त्रत होता है तब मनुष्यों को अपने स्वाभाविक कर्मों से वंचित करता है ॥२४॥

चक्कदय—क्षय—धातुओं का क्षय । ध्यान—चिंता । क्षुधा—अनशन । धातुग्रहणनिःस्त्रतम्—धातुवाहक स्रोतसों से निर्गत—धातुवो गृह्णन्त एमिरिति धातुग्रहणनि वक्ष्यमाणानि स्रोतांश्च तेभ्यो नि.स्त्रतम् । तस्मात्—हृदयात् । विशसयनि—अपने पीपक कर्मों से वंचित करता है—संवेभ्य एव कर्मस्यो वहिकरोति ।

तस्य विस्त्रंसो व्यापत् क्षय इति लिङ्गानि व्यापत्त्यस्य भवन्ति ; सन्निधविस्त्रेपो गात्राणां सदनं दोषच्यवनं क्रियाऽसत्त्विरोधश्च विस्त्रंसे, स्तवधगुरु-गावता चातशोफो वर्णसेदो ग्लानित्तन्द्रा । निद्रा च व्यापद्य, सूच्छी मांसक्षयो मोहः प्रलापो मरणमिति च क्षये ॥२५॥

यिहादे हुए ओज के विस्त्रंस, व्यापत् और क्षय ऐसे तीन चिह्न (अवस्थाएँ) होते हैं । इनमें से विस्त्रंस में संधियों का दीलापन, अंगों का, थक जाना, (वातादि) दोषों का अपने ध्यान से भ्रष्ट होना और (गरीरीक गान्धमिक और वाचिक) क्रियाओं का ठीक न होना (ये लक्षण होते हैं) । विषद् में गरीर में मूल्धना और भारीपन, वानिक शोथ, चर्चा का घटन जाना, ग्लैनि, तन्द्रा और निद्रा (ने लक्षण होते हैं) । क्षय में मूच्छी स्नानि, धातुओं का क्षय, मोह, प्रलाप और मृत्यु (ये लक्षण होते हैं) ॥२५॥

भवन्ति चात्र—

त्रयो दोषा वलस्योक्ता व्यापद्विसंसनज्जयाः ।

विश्लेषसादौ गात्राणां दोषविसंसनं श्रमः ।

व्यापत्युयं क्रियाणां च वलविच्चंसलक्षणम् ॥२६॥

शुखव्यं स्तवधताऽहेषु ग्लानिवर्यस्य सेवनम् ।

तन्द्रा निद्रा वातशोफो वलव्यापदि लक्षणम् ॥२७॥

सूच्छी मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽश्वानमेव च ।

पूर्वोक्तानि च लिङ्गानि मरणे च वलक्षये ॥२८॥

ओज के तीन दोष होते हैं—(१) व्यापद्, (२) विस्त्रंस, (३) क्षय । इनमें से विस्त्रंस में शारीर के अंगों का दीलापन और थकान, दोषों का स्थानभ्रष्ट होना, थक जाना और कार्यों में प्रचुरता न होना ये लक्षण होते हैं ॥२६॥ व्यापद में शारीर के अंगों में स्थवता और भारीपन, ग्लैनि, वर्ण का अन्यथा-भाव, तन्द्रा, निद्रा, वातिक शोथ ये लक्षण होते हैं ॥२७॥ ओज के क्षय में मूच्छी, धातुओं का क्षय, वेचैनी, प्रलाप, अश्वान, तथा (व्यापद व विस्त्रंस के) पूर्वोक्त लक्षण और मृत्यु ये लक्षण होते हैं ॥२८॥

तत्र विस्त्रंसे व्यापदे च क्रियाविशेषैरविरुद्धैर्वल-माप्याययेत् ; इतरं तु मूढसंक्षं वर्जयेत् ॥२९॥

इनमें से विस्त्रंस और व्यापद् की अवस्था में ओजोनुकूल विशेष क्रियाओं द्वारा बल को बढ़ाना उचित है । ज्यावस्था के नष्टसंज्ञ मनुष्य को छोड़ देना चाहिए ॥२९॥

चक्कदय—क्रियाविशेषै—जीवनीय स्वादपेयादि द्वारा—जीवनीयौपथश्वीरसायास्त्र मेपज्ञ । (वाग्भट) । अविश्व—ओजोनुकूल । मूढसं—बलक्षय की अवस्था में जब रोगी मूढ़-संज्ञ हो जाता है, तब असाध्य समझ कर उस की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ।

दोषधातुमलक्षीणो वलक्षीणोऽपि वा नरः ।

स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्धपानं प्रकांक्ति ॥३०॥

यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः ।

तस्य तस्य स लासे तु तं तं क्षयमपोहति ॥३१॥

यस्य धातुक्षयाद्वायुः संज्ञां कर्म च नाशयेत् ।

प्रक्षीणं च वले यस्य नासौ शक्यत्विकित्सितुम् ॥३२॥

दोषक्षीण, धातुक्षीण, मलक्षीण वा ओजःक्षीण मनुष्य स्वयोनिवर्धक जो अन्न पान होता है, उसकी असिलापा क्रिया करता है ॥३०॥ क्षीण मनुष्य जिस जिस आहार की अभिलापा करता है उसी उसी के लाभ से उसी उसी क्षय का नाश होता है ॥३१॥ धातुओं का क्षय हो जाने से वायु जिसकी संज्ञा और कर्मों का नाश करता है तथा जो अल्पत दुर्बल हो गया है उसकी चिकित्सा (में यग मिलना) अशक्य है ॥३२॥

वलक्षय—स्वयोनिवर्धन—जिस जिस धातु या दोष की शरीर में क्षीणता होती है, उसी के बढ़ाने काले आहारादि पर मनुष्यों का प्रायः मन हुआ करता है । धातुक्षयात्—ओजःक्षय या अन्न धातुओं का क्षय । धातुओं का क्षय वातप्रकोप का कारण है—वायोर्धुक्यात् कोणो गर्गन्यावग्नेन च । (चरक) । रक्तं कर्म च स्वायानम्, कर्म व्यापानः, प्रक्षीणमरम एव मूर्च्छा । (नक्षत्रः) । किस के क्षय में मनुष्य किस की अभिलापा क्रिया करता है, उस विषय के कुछ शोषक डलण्णाचार्य ने अपनी टीड़ा में दिये हैं, मे उपर्युक्त होने के कारण नीचे द्विये हैं—वायोर्धुक्यात् रक्तं च ल्यु भेजनम् । कायागुण्डितिक च यो-दीप्तिरित्यन्ति ॥ ३३॥ क्रियापुन्नयस्ति क्रियास्तिरिति तथा । मनु-

शुक्लान्तिकापि रितीर्णेष्टोपा ददि ॥ मांस महिषवारदध्यात् गु
गुणिच । स्वेतकीर्णोऽभिभृति हीरमप्सरीनि च ॥ इष्ट माम
मन्त्र मधु सर्पिणीवृत्तम् । अद्यमृतं वयात् च स्वेतकीर्णोऽभिभृतान्ति
श्रवादान्तिपुरुषानि स्वेतलवाणिनि च । रसनिदानि मामानि रस
हीरोऽभिभृतिं ॥ अक्षरानि दिवितिश्वानि तथा घाडवाणिनि च
शूलकव्यादमासनि मासशीर्णोऽभिभृतान्ति ॥ भैरविदानि मामानि
प्राण्यामूर्तीवाणिनि च । सक्षात्ताणि विशेषेण देव हीरोऽभिभृतान्ति
रपान उपिदानं सालीनि मामानीशानिकाङ्क्षानि ॥ अभिभृतान्त्यामा
मात्रास्त्रियामृतम् ॥ श्वादस्त्वेतुत द्रव्यं मञ्जीर्णोऽभिभृतान्ति
मधुकृष्णान्ति हृष्टसरसोत्तमा ॥ प्राण्यामूर्तीवाणिनि च शु
हीरोऽभिभृतान्ति ॥ यदविनि वयवाणिनि शाकानि विधिपानि च
मायूर शाश्वते च वचं शीर्णोऽभिभृतान्ति ॥ धेविनिमृतं हीर सु
दरेवृत्तम् ॥ स्वेतकीर्णोऽभिभृतिं ग्रन्थोऽवाणिनि च ॥ अस्यग्म मई
मन्त्र विवाहवात्मनम् । गुरुवारलौ नैव स्वेतकीर्णोऽभिभृतान्ति
क्रृष्णलव्वाकामान्ति विद्यानि गुणिच । कल्याकुन्तुपानानि २
वास्तुवानैवद्ये ॥ शूगाकाविवाहाचा रस्त्वं वास्तुति सहस्रान्ति
वसामृतप्रकरात्तीन् भेदेत् गर्भपरिक्षेपे ॥ सुग्रावाल्यकामान्ति गोक्षर
रस्ती तिया । अस्य ददि हृष्टानि क्षेपे स्त्रावस्य वाचष्टानि ॥

४८ निर्मिति मेव स्वैर्लय वादर्थं च । तद्ध श्वेषम्
लाहारसेविनोऽध्याशनशीलस्याग्रायामिनो दिवास्य
प्रारम्भस्य धारा पश्चात्प्रस्तो मधुरतरक्ष्य शरीरमनुवाम
श्राति औहान्मेदो जनयति । तद्वितीस्थौत्यमापाद्यति ।

भीकुमायो-मदस सवाक्ष यास्वर्ममय, ४५५मदृ-
निरुद्गमांगन्याशालपश्यवायो भवति, आतुरमार्गं
त्वादेप शेषा धातयो नान्यायन्ते ज्यर्थमतोऽप
प्राणो भगति, प्रगेहपिडकात्वरभगन्दरविद्विभिवान
विश्वासामन्यतम् प्राण्य पञ्चत्वमुपर्याति, सर्वे
एव धार्य रोग वलवन्तो भवन्त्यातुरमार्गत्यात्
शोतसाम्, शतसन्त्योत्पसिहेतु परिद्विरेत ॥३३॥

शरीर की व्युत्ता और हृदय सर की के कारण होती है। हामें से काहाक पर्याप्त सेवन करने पाएं, भोजन के द्वारा इन पर्याप्त विना विर मानव करने पाएं, परिव्रक्ष में फलन खाएं, जिस में मांस पार्ट शमनुष्ठि का (अस्ट्रीट नहीं पाना है)। इस अपार और अस्ट्रीट मधुर अवधरण शरीर में परिवासण करता हृदय जिसे विवर द्वारा है कि दायर में दूर दूर करता है और यह मर गए बोंबी लूट लाता है। उस अविलम्ब शमनुष्ठि में धुधपात्र, लूट, धूपा, निरा, रोंग, गोरते से दुर्घटना, धूप या धात्र वा इक जाता, भोजन वा चाटा, गराम (इन) में से इन्हें एक देते हैं। में यही अवधरण द्वारा दों गों गों शायद करा वा मंड़ा जा जाती है। इन तथा में दूर वापर (जुहा दा) गों गों निकल होंगे तो वे कमिक होते हों इनका वापर। अपर लालूरी के द्वारा इक जाता है वे जाऊ अप्पिं वाहों हैं। हमें वह अपार लूटने होंगा है। इन्हें दूर वापर, लालूर, निरा वा गों गों वापर होंगा ये से विवर इन तोंगियों को दूर रख लाए जाएं होंगे हाथों जाता है। में यह दूर दूर दूर होंगा तो जाता है।

निरुद्ध होने के कारण प्राय सभी रोग बहवान् हो जाते हैं। इसलिए मंदीपति के कारणों का परिहार करना चाहिए॥४३॥

ब्रह्माद्य—यथार्थ—‘मंदीयै मुख्यते मुख्यते लक्षणं मुख्यं’ भाग—धारवद्वि से अपक रस। कथन—अकास्मात् भासादृष्टि रोध—पासरोधे दि योजनानां त काँध व्रथन न तेत्। दूसरा विदा में शुद्ध आदान करना—त्वत् वर्णे तुषुरत् गद्यदत्त—अव्यक्त और अपरिसूचित वाक्य थोड़ा। निगमाद्य सम्बन्ध—इनका अतियोत्त यानि अधिकता होती है। शुद्धपत्ति थोड़ा भी परिश्रम करने से होता है और आदान लेने से कम कर बढ़ होता है। विद्यिरामभासात्य वयन् भास प्रवर्तते। निष्ठानां शानि च स शुद्ध दति सदित्। भेद दोषोऽही उपराति चरकसहित में इस मकार लिखा है—अस्त्रशुल्य तात्रातुयो लासो लोपयो त्रृक्ष्यन्यायाना दीर्घ्यं दीर्घ्यं वेदात्याप त्रुटिमात्र विदानियान् क्षम्भवन्यायो दोषा। तदनिम्नोच्च अव्यायाम इतिललवर्तीया न द्वृत्त्वरमात्राद्वृत्त्वरमात्रा। तस्य शतिमात्रेदेवितो भेद शोरवर्द्धे न तर्पे रथवृत्। तत्प्राप्तायुषो हास। वैष्णवात् सौम्यार्थं तु त्वचं मेही ज्वोपरोप। शुक्रावत्कानेस्यातुमार्गत्वस्य कृकृष्णवर्णं दीर्घ्येवत्सम्भवाद्वानाम्। दीर्घ्यं भेदेदेवात्येदेस सम्भवत् चेदत् त्वाच। मद्मन श्वासामार्गित्यदिवाद्वृत्त्वाद्वृत्त्वाद्वासामहावाय चेदा वाप। तीक्ष्णात्मिकाऽप्यमृतोद्यातुलाय त्रुटिवात्र त्रित्यात्र विस्तिप्पात्र देवि। मद्रातुमार्गेवदायुषं वृष्टिकीरो। चरन् भूमुख्यायप्रिमाद्य रोपरदवपि। तत्सामालीनीप्रत्ययादाहर चातुर्क्षेत्री। अन्य चातुर्क्षे की अपक्षा देवता भेदपूर्वक का कारण अष्टावर्गेष्ठ में लिप्ता है—गोष एव विक्षेप्य स्त्रं भृत्यात्मताने रो। सौंक्षम्यवृत्तिवाऽप्य भेदे भेद प्रत्यक्षे। तत्पैदेवत्यामीद्युत्वत्काल रसात्पुण्ये। तुम्हें वायादित्ये प्राचिन चीजोंतराम्। आमाम तथा उससे मेरीदृष्टि का कारण अष्टावर्गेष्ठ में लिप्ता है—उर्वान्तुष्टिवृत्तेभ्योऽप्यत्ते रस। आम एव शूरीक्षित भृत्यामीद्युत्वत्काल ॥

उपर्युक्त विश्वासवाचनम् भूयाय सुनुगमो मूलविकलान्तोह
रजोरसाज्ञानम् भुयाय सुनुगमो रूपकरणमाकोहालकामी
नान् विश्वासण्डेवनायानां द्रव्याणां विधिपत्रदुष्योगे
द्रव्याणामो हेगनवस्तुसुप्तेषोगदेति ॥३४॥

परतु यदि सृष्टता उपर्युक्ता ही जाप से विश्वासागु, गुरुउ
गोपाल, लिलाल, साहभाग, संतो, भगु, जी, द्वैता, एतत्पूर्व,
संपादा, वशीक इत्यादि विश्वास कीर उत्तरीय व दक्षये
विश्वास उपर्युक्त वर्ता तथा व्याधाम भीर लेगान-निः ॥

यत्तद्य—सर्वाद्यत्तद्य (कृ)। तित्तद्य इति
ये दृष्टे त्रै—त्रै तित्तद्य लाभ (लाभ)। तित्ता
तित्तद्य लाभ, तित्ता या सब बहुत लाभ। तित्ता—तित्तद्य
इत्त ये ये तित्त दूरी गोपन बहुत लाभ—तित्त
तित्त ये तित्त दूरी गोपन बहुत लाभ। तेजल (शर्वल)
तित्तद्य—तित्तद्य लाभ की लाभ वित्त—तित्तद्य
तित्त दूरी गोपन बहुत लाभ। उद्दृष्टि—तित्तद्य लाभ
तित्त दूरी गोपन बहुत लाभ। तित्त दूरी गोपन बहुत लाभ
तित्त दूरी गोपन बहुत लाभ।

जगरं व्यवायं न न्यायामें चित्तनानि न । स्यौल्यमित्तन् परिक्लेशणिप्रयोगे । न्यायामनियो जीर्णशी यग्नोभूमभोजनः । क्षेत्रोऽपैः स्वैल्ये मुक्त्वा विमुक्त्यते ॥

तत्र पुनर्वातिलाहारसेविनोऽतिव्यायामव्यवायात् नभयशोकध्यन्तरात्रिजागरणपिपासाक्षुन्कपाया शनप्रभृतिभिरुपश्चोपितो रसधातुः शरीरम् कामज्ञलपत्वान्न प्रीणाति, तसादतिकार्यं तिः; सोऽतिकृशः श्रुतिपिपासाशीतोप्यवातवर्षपादानेष्वसहिष्युर्वातरोगप्रायोऽल्पप्राणश्च किंतु भवति, श्वासकासशोपद्युहोद्दराश्चिसादगुल्मपित्तानामन्यतमासाद्य मरणमुपयाति, सर्वं । चास्य रोगा वल्वन्तो भवन्त्यल्पप्राणत्वात्; उत्तस्योत्पत्तिहेतुं परिहरेत् ॥३५॥

योर स्त्री आहार सेवन करने वाले का रसधातु अति शाम, अतिमधुन, अध्ययन, भीति, शोक, चिना, जागरण, और शुधा (का रोकना), कर्सेला रस सेवन, अल्प भोजन जा हस्तादि से शुष्क होकर शरीर में परिभ्रमण करने पर भी यहोने के कारण (धानुओं की) नृसि नहीं करता जिससे यह कृप्य हो जाता है । वह अतिकृश मनुष्य शुधा, कृपा, ति, उण, वायु, वर्षा और भार उठाने में असमर्थ होकर शुधा वात व्याधियों से पीड़ित रहता है और सब क्रियाओं मिल हो जाता है । श्वास, कास, राजव्यक्षमा, झीला की दि, अग्निमांथ, गुल्म, रक्तपित्त इनमें से किसी से ग्रसित होकर (वह कृश मनुष्य) मर जाता है । अत्यंत दुर्बलता के गरण उसके सर्व रोग वल्वान् हो जाते हैं । इसलिये शरीर कृश मनुष्यवाले कारणों का परिहार करना चाहिये ॥३५॥

उत्पन्ने तु पयसाश्वगन्धाविदारिगन्धाशतावरी-वलतिवलानागवलानां मधुराणामन्यासां चौपधी-नामुपयोगः, क्षीरदधिघृतमांसशालिप्रयिक्यवगो-धूमानां च, दिवास्मव्याचर्याव्यायामवृंहणवस्त्युप-योगच्छेति ॥३६॥

यदि कृशता उत्पन्न हो जाय तो क्षीरकाकोली, अश्वगन्धा, शालिपर्णी, शतावरी, वला, अतिवला, नागवला तथा अन्य मधुर ओपथियों का उपयोग, दूध, दही, घृत, मांस, शालि, शृष्टि, वय, गोधूम इनका भोजन, दिन में सोना, व्याहर्चर्य, चायाम न करना तथा वृंहण वस्ति का उपयोग करना चाहिये ॥३६॥

वक्तव्य—पयसा—क्षीरकाकोली । विदारीगन्धा—शालिपर्णी । चरकसंहिता में कृश के सद्यःक्षीण और चिरक्षीण ऐसे दो भेद किये गये हैं और उनके अनुसार चिकित्सा करने के लिये कहा है—तेषां संतरणं तज्ज्ञः पुनरास्थात्मौपथम् । यतदाचे समर्थ स्याद्भासे वा तदिष्यते ॥ सद्यःक्षीणे हि सद्ये वै तपेणोपनीयते । तेषां संतरणं भ्यासात्त्विकीणस्तु पुष्यति ॥ देहादिवैप्रभैपञ्चमावाकालाद्यतिना । कार्यमत्तरमाणेन भेदज्ञ चिरदुर्बले ॥ हिता मांससरसात्त्वसे पर्यांसि च धृतानि च । खानानि वस्त्रयोऽन्यज्ञातपैणात्पर्णाश्च ये ॥

याम्यानूर्धीदका रसाः ॥ सिंधमुद्दर्तनं खानं गंभमात्यनिषेवणम् । शुक्लवस्त्री यथाकाल दोषाणगवर्तेनन् ॥ रसोवनानां वृष्याणां योगानामुपसेवनम् । एत्वातिकार्थमादत्र नृणामुपचयं परम् ॥ अचिन्तनाच्च कार्याणां शुवे संतप्तेन न । स्वप्रसंगाच्च नरो वराहः श्व पुष्यति ॥

यः पुनर्स्मयसाधारणान्यासेवेत तस्यावरसः शरीरमनुकामन् स्मान् धातृनुपचिरोति, समधातुत्वान्मध्यशरीरो भवति सर्वक्रियासु समर्थः श्रुतिपिपासाशीतोप्यवर्षातपस्त्वाहो वल्वांश्च, स सत्तमनुपालयितव्य इति ॥३७॥

और जो दोनों प्रकार के साधारण पदार्थों को सेवन करता है उसके अन्न का रस शरीर में परिभ्रमण करके धातुओं की वृद्धि साम्यावस्था में करता है और धातु रास होने से उसका शरीर भी मध्यम रहता है, सब कार्यों में समर्थ होता है, शुधा वृषा शीत उण, वर्षा धूप इत्यादि सह सक्ता है और वल्वांश् होता है । इस साम्यावस्था की सदा (स्वस्यानुवृत्तिकर याहार विहार से) रक्षा करनी चाहिये ॥३७॥

वक्तव्य—उभयसाधारण—नातिद्विषयरूपद्रव्य तथा नाति द्विग्रहताजनक कर्म । अनुपालयितव्यः—‘स्वस्यानुवर्तनेन’ इति शेषः ॥ रक्षणं नैव मध्यस्य कुर्वति सततं भिषक् ॥ (सुश्रुतः सूत्रः अ. ३५) ।

भवन्ति चात्र—

अत्यन्तगर्हितावेतौ सदा स्थूलकृशौ नरौ ।

ओष्ठो मध्यशरीरस्तु कृशः स्थूलात्तु पूजितः ॥३८॥

ये अतिस्थूल और अतिकृश दोनों प्रकार के मनुष्य अति निन्दित होते हैं । मध्यम शरीर का मनुष्य श्रोष्ट होता है और कृश मनुष्य स्थूल मनुष्य से (कुछ) अच्छा होता है ॥३८॥

वक्तव्य—अत्यंतगर्हितौ—स्थूल तथा कृश मनुष्य सदैव व्याधियों से पीड़ित होते हैं, हस्तिलिये इनको गर्हित कहा गया है—सततव्याधितावेतावतिस्थूलकृशौ नरौ । सततं चौपचर्यों हि कर्ष-ण्वृंहणरपि । (चरक) । कृशः स्थूलात्तु पूजितः—चिकित्सा की दृष्टि से कृश मनुष्य स्थूल की अपेक्षा वेष्टत होता है । सर्व प्रकार के रोगों की चिकित्सा वृंहणात्मक और लंघनात्मक ऐसी दो ही प्रकार की हो सकती है—उपक्रमस्य हि द्विलाद् द्विवैषेषकमो भवतः । वृंहणों लंघनशेति तत्पर्यायावृद्धातौ ॥ कृश और स्थूल दोनों ऐसे मनुष्य होते हैं कि उनको साम्यावस्था में पहुँचाने की आवश्यकता वृंहण और लंघन की सहायता से होती है । यदि दोनों तुल्यप्रतिकार रोगों से पीड़ित हों तो कृश की अपेक्षा स्थूल में विरुद्धोपकम होने के कारण चिकित्सा कठिन होती है । विरुद्धोपकम हस्तिलिये होता है कि यदि वृंहण का उपयोग क्रिया जाय तो वात और अग्नि की शान्ति होगी/परंतु मेद की वृद्धि होगी । यदि संघन का उपयोग क्रिया जाय तो मेद की शान्ति होगी परंतु वात और अग्नि का ग्रकोप और भी वह जायगा । कृश में इस प्रकार का विरुद्धोपकम नहीं होता इस लिये ‘कृशः स्थूलात्तु पूजितः । चरक और वामभट में स्पष्ट लिखा है—सौत्यकार्ये वरं कार्यं समोपकरणौ हितौ । यथुमी व्याधिरागच्छेत्

स्थूलस्य सेवनम् । वृषाद्यन नात्मतिमेहोऽस्तित्वनि ॥ सुरुदिग्य सौहित्यं पूर्णस्येन च न रथनि । प्रिमा स्वप्नालन विपरीत निर्वर्तने । (अट्टागंगसंग्रह) ।

दोषः प्रशुपितो धातूर् शापयस्यामतेजसा ।
इदः स्वतेजसा चिद्रुद्धस्यामतमियोदकम् ॥३९॥

कुपित हुआ दोष अपनी शक्ति में धातुओं का ज्यय कर देता है जैसे कि मर्दस अमि अपने तेज से श्वासित भल का ज्यय कर देता है ॥३९॥

यत्कथ्य—दोष—जात पित्त कफः । धातुर्—रसादि सप्त धातुः, स्वान्तरादि उपर्यातु और मलादि मल—दोषा दुष्टा रसेभास्तु दृश्यस्युभये मनवन् । अत्यनेकम्—अपने शोशक, पाचक और मार्गावरोधक प्रभाव से । उत्ता—स्थापित । उत्ता—धातुपातुओं की घृदि तथा साम्यावस्था का हास्प ।

यैलक्ष्याद्याच्छरीराणामस्यायित्यात्तर्थैव च ।
दोषधातुमलानां तु परिमाणं न विद्यते ॥४०॥

(मनुष्यों के) शरीरों में विमर्शता तथा अस्थिता होने से दोष, पातु और मल इनका (निश्चित) परिमाण नहीं हो सकता ॥४०॥

यत्कथ्य—बैलक्ष्याद—सर्व मनुष्यों के शरीर वातादि प्रकृति की दृष्टि से, रक्तादि सार की दृष्टि से, संहठन की दृष्टि से, कैचाई मोटाई के प्रमण की दृष्टि से, वय की दृष्टि से और भार सहनादि शक्ति की दृष्टि से समान न होने के कारण । अत्यावित्वात्—‘रीढ़िये’ ही शरीरम् । प्राणियों के शरीरों का प्रतिक्षय ज्यय होता रहता है । यह शरीर दोष धातु और मलों से ही बना है—दोषान्तरुमलूल वि शरीरम् । अर्थात् यह शरीर का ज्यय दोष धातु मलों का ही समकान चाहिये । जब तक मनुष्य सर्वत्र रहता है तब तक इस ज्यय की पूर्ण आहार दृष्टों से की जाती है । कभी ज्यय अधिक होता है, कभी पूर्ति अधिक होती है । इस प्रकार यह क्षयहृषि का कार्य सर्वदा जारी होने के कारण ‘अस्थाविकात्’ लिखा है । इसके अतिरिक्त शरीर में वय तथा कृतु की अवस्था के अनुसार भी दोरों का अस्थायित्व होता है, जिसके कारण धातु और मलों का भी अस्थायित्व हो जाता है—‘दोरोद्दोराश्रित्युक्तान तेऽस्थायित्वादिता’ कहात । चरणकेषमधारा वायोर्ध्वमित्रियुक्ति ॥ वर्णादियुक्ति तु चित्तस्य फेमन, शिरिरातिः ॥ (वाम्भट) । परिमाणम्—सर्वतो मनवन् । शरीरस्य कुल रथम् । चर्क्कसंहिता के शरीरस्थान के सप्तम अस्थाय में वयापि दोष धातु और मलों का—‘दोरोद्दोराश्रित्वादिता’ फरिमाय दिया है तथापि इस परिमाण में भी वय तथा शरीर की स्थूलता और इत्यातो के अनुसार एक होता है वह स्थृप्त लिखा है—तत्त्वं प्रमाणमित्रेयम् । तच इदिक्षालोगी तत्त्वमेव । ते सर्वे एव धातुनो मलास्या प्रसादाश्वाश्य रत मलाम्भी पुच्छन ल्वनानमतुर्वत्तने वयावक रहीरम् । (च सू. २८) । इसलिये वर्कोक परिमाण प्रायिक समझना चाहिये । अप्रवहारिक हृषि से उक्त परिमाण से कोई लाभ नहीं है । क्योंकि—

एषां समत्वं वयापि भिषण्मित्रवधार्यते ।
न तत् स्थास्यादते शक्यं वक्तुमन्येन हेतुना ॥४१॥

वैष प्राप्ति इनकी समता मानते हैं तथापि स्वास्थ्य के अतिरिक्त साम्यावस्था के संबंध में अन्य उपाय से १ कठिन है ॥४१॥

यत्कथ्य—वयापि वैष सोमा रोगस्तु दृष्टैस्य दीप्त मणेगता’, ‘विद्यारो भातुरैस्य साम्य प्रहृतिलक्ष्मी’, ‘धूपराना सम’ हृषादि साम्यावस्था की याते हैं इसेहा किया का तथापि साम्यावस्था का यादा चिह्न या कार्य जो स्वास्थ्य के अतिरिक्त दोष समता की सिद्धि करने के लिये उनके क्षोंगे नाप या बैंड नहीं होता, यह इस शोक का तथा अशोक का भी मतलब है । अगले शोक में असमता का इक्षेषा होता है, उसका उपाय मर्दियन्त किया है ।

शोपदीनां स्वसमतामनुमानेन लक्ष्येत् ।

अप्रसदेन्द्रियं यीदय पुरुषं कुशलो भिषण् ॥४२॥
अप्रसद इतिर्य पाले मनुष्य को देखकर कुशल वैष दोष और शावादि की असमता अनुमान से जान रहा है ॥४२॥

यत्कथ्य—अप्रसदेन्द्रिय—अप्रसदेन्द्रियमना ।

स्वस्यस्य रदणं कुर्यादस्यस्य तु तुदिमान् ।

क्षपयेद्वृद्धेयापि दोषधातुमलान् भिषण् ॥४३॥

तावयादयदरोगः स्यांदेतत्साम्यस्य लक्षणम् ॥४३॥

तुदिमान् पैष दृश्य मनुष्य की (समता की) रक्तः पर्तुं रोगायुक्त हो जाव तो जब तक वह पूरा पूरा स्वास्थ्य न तब तक बृद्ध दोष आदि को घटाता रहे और क्षीण रहा आदि को बढ़ाता रहे ॥४३॥

यत्कथ्य—यिकिला से घटाने वाले का कार्य दोषोः ।
समता उत्पद होने के समय तक करना आवश्यक है । ये भीतीरी समता रोगी की प्रसंस्करा देखकर अनुमान से जान पहली है ।

समदोषः समाप्तिश्च समधातुमलकियः ।

प्रसंस्करमेन्द्रियमनाः स्वस्य इत्यमित्यीयते ॥४४॥

इति मुकुमादानाया दृश्यस्याने दोषातुमलस्यवृद्धिविदानीये भाग वृद्धरोड्यम् ॥४४॥

जिसके वातादि दोष सम होते हैं, जबरात्रि सम होती है, धातु और मलों का कार्य वयोवित होता रहता है और (इन कारणों से) जिसका आत्मा, मन तथा इंद्रिया प्रसंस्कर होती है वह मनुष्य स्वास्थ्य कहलाता है ॥४४॥

यत्कथ्य—स्वास्थ्य की इतनी सुंदर, समर्पक तथा वायां तथ्यनिर्देश व्याल्या अन्यत्र वैयक्तीय वाक्य में मिलनी अवश्य है ।

इति भाल्करामेणा योनिन्द्रियमेन विचित्रायामाद्युवैद्यहस्यदीपिकाः
द्वाकुभासादीकाया दोषातुमलस्यवृद्धिविदानीयो नाम
वृद्धरोड्यम् ॥४५॥

षोडशोऽध्यायः ।

**अथातः कर्णव्यध्यवन्धविधिमध्यायं द्व्याख्या-
पः । यथोचाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥**

प्रथ यहाँ से कर्णव्यध्यवन्धविधि नामक अध्याय का
यान करेंगे जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

रक्षाभूपणनिमित्तं वालस्य कर्णे विद्येते । तौ

मासि सप्तमे वा शुक्रपक्षे प्रशस्तेषु तिथि-
एमुहूर्तनक्षत्रेषु कृतमङ्गलस्यस्तिवाचनं धात्र्यक्षे
परंधराक्षे वा कुमारमुपवेश्य वालकीडनकैः
भूम्याभिसान्त्वयन् भिषणवामहस्तेनाकृष्य कर्णे
कृते छिद्र आदित्यकरावभासिते शनैः शनैर्दक्षिण-
तेनर्जु विध्येत्, प्रतनुकं सूच्या, वहलमारया;
दक्षिणं कुमारस्य, वामं कुमार्याः; ततः
वृद्धिं प्रवेशयेत् ॥२॥

रक्षा और भूषण के लिये वालक के दोनों कान वेधन
ने चाहिए । छठे या सातवें महीने के शुक्र पक्ष में शुभ
थे, करण, नक्षत्र, मुहूर्त में मंगलाचारपूर्वक स्वस्तिवाचन
के धात्री या कुमारधर की गोद में वालक को विठा कर
लीजे आदि से बहला कर पुच्छकर कर वैद्य अपने बाइं हाथ
कान को सींच कर जहाँ सूर्य की किरणें चमकें वहाँ दैवकृत
द में धीरे धीरे वेधन करे । कान को मल हो तो सुई से
र कहा भोटा हो तो आरा से वेधन करे । पुत्र का प्रथम
हिना और कन्या का बायाँ कान वेधन करना प्रशस्त है ।
म के पश्चात् रुई का डोरा हाल दे ॥२॥

वक्तव्य—रक्षाभूपणनिमित्तम्—स्कन्दादि वालग्रहों से
उप करने के लिये तथा शरीर भूपूर्णार्थ अलंकार धारण करने
लिये—कर्णवेधे कृते वाले न ग्रहेभिरभूयते । भूयते हु सुख
सात कार्यस्तत कर्णवेद्यधः ॥ पछ मासे सप्तमे वा—जन्म से छठे
। सातवें महीने में । आठवें महीने में भी वेधन करने के लिये
भूम्भ तथा धर्मशास्त्र में लिखा है—पद्मसामासेषु नीरुजस्य
प्रेष्टहनि । (अ. संग्रह) । मासि पछे सप्तमे वायप्यमे मासि सत्वरे ।
प्रेष्प्रसंसन्ति पुष्ट्यातु श्रीविवृद्धये ॥ (धर्मशास्त्र) । डल्हण
। अनुसार कर्णवेधन के लिये छठा या सातवाँ महीना जन्म
र न लेकर भाद्रपद से लेना चाहिये । इसके अनुसार माघ
ग काल्युन महीना आता है । नायं जन्मकालादर्थं किन्तु सवत्सरा-
मादिपदाः पछो मासो माघः सप्तमः फाल्युनतयोर्मध्यं एकस्तिविति ।
(डल्हण टीका) । माघ फाल्युन सुश्रुत के अनुसार शिशिर
कृष्ण होता है—तेषां तपत्तपस्यौ शिशिरः । वामभट में भी कर्णवेधन
के लिये शीतकाल प्रशस्त माना है—कर्णे हिमागमे विद्येत् । इस
प्रकार कुछ दूरान्वय करके शीतकाल कर्णवेधन के लिये अधिक
प्रशस्त मानने का एक व्याचहारिक कारण यह मालूम होता है
कि शीतकाल में वालक का स्वास्थ्य उत्तम हुआ करता है और
वृष्टि में पाक होने की भीति व्युत्त कम हुआ करती है और

१ 'कुमारधराक्ष' इति क्षचित् । २ ततो वर्ति प्रवेश्य सम्बन्धिदमा-
न्तेन परिचयेत् ।

वृण्ण का रोपण भी शीघ्रता से हुआ करता है । आज भी
अनव्यायिक (ऐच्छिक) शास्कर्म के लिये रोगी तथा डाक्टर
शीतकाल ही अधिक पसंद किया करते हैं । हस्ति दृष्टि से
प्राचीन काल में भी कर्णवेधन अनव्यायिक शस्कर्म होने के
कारण उसके लिये शीतकाल अधिक पसंद किया होता ।
बुमारधर—वालक की देसभाल करने वाला मनुष्य—अभियुक्तः
सदाचारो नातिस्थूले न लोकुपः । बुमारधरः कर्णव्यस्त्रात्रायो वालचित्त-
वित् ॥ (अ. संग्रह) । कर्ण—कर्णपाली या लौर (Lobule) ।
दैवकृते छिद्रे—कर्णपाली का मध्य भाग जो सूर्य की किरणों की
तरफ देखने से अत्यंत पतला और सिरादि वर्जित हो, उसमें ।
दैवकृत कहने का मतलब इतना ही मालूम होता है कि वेष्ण
के लिये कर्णपाली मध्यभाग निसर्गतया अत्यंत योग्य होता है ।
मध्यतः कर्णपीठस्य किञ्चिद् गण्टाशय प्रतिं । जरायुमात्रप्रच्छेष्टे रवि-
रक्ष्यवभासिते । विद्येदैवकृते छिद्रे । (अ. संग्रह) । पिचुवर्ति—
रुई का सूत्र । छेद में प्रवेश करने के लिये, रखने के लिये
तथा निकालने के लिये सुकरता होती है, इसलिये सूत्र का
उपयोग किया जाता है ।

शोणितव्यहुत्वेन वेदनया चान्यदेशविद्धमिति
जानीयात्, निस्पद्वचतया तदेशविद्धमिति ॥३॥

रक्त अधिक निकलने से तथा वेदना होने से अन्य ल्यान
में वेध हुआ ऐसा समझना चाहिये और उक्त उपद्रव न होने तो
दैवकृत छिद्र में वेध हुआ ऐसा समझना चाहिये ॥३॥

वक्तव्य—रक्तस्वाव तथा वेदना सिरा, धमनी और
वातनाडी में (Nerve) वेध होने से होती है ।

तत्रादेन यद्यच्छ्या विद्धासु सिरासु, कालिका-
मर्मरिकालोहितिकासूपद्रवा भवन्ति । तत्व,
कालिकायां ज्वरो दाहः श्वयथुर्वेदना च भवति;
मर्मरिकायां वेदना ज्वरो ग्रन्थयश्च; लोहितिकायां
मन्यास्तम्भापतानकशिरोत्रहकर्णशूलानि भवन्ति ।
तेषु यथास्वं प्रतिकुर्वीत ॥४॥

अज्ञ वैद्य अपने मन के अनुसार (दैवकृत छिद्र छोड़कर)
ज्वर कालिका, मर्मरिका और लोहितिका नामक सिराओं में
वेध करता है तब उपद्रव उत्पन्न होते हैं । इनमें से कालिका में
वेध होने से ज्वर, दाह, शोथ और वेदना होती है । मर्मरिका
में वेध होने से वेदना, ज्वर और गाँठें हो जाती हैं । लोहितिका
में वेध होने से मन्यास्तंभ, अपतानक, शिरोग्रह, कर्णशूल हो
जाता है । इनमें रोग के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ॥४॥

वक्तव्य—अयोग्य कर्णवेधन होने से जो उपद्रव उत्पन्न
होते हैं, उनके तीन विभाग होते हैं । (१) रक्तस्वाव—रक्त-
वाहिनी का वेध होने से यह उपद्रव होता है । रक्तवाहिनीयं
कृष्णवर्णं या सिरा और लोहितवर्णं या धमनी दो प्रकार की
होती हैं । कालिका को कृष्णवर्ण होने के कारण सिरा (Vein)
और लोहितिका को लोहितवर्ण होने के कारण धमनी (Artery)
कह सकते हैं । (२) वेदना—यह उपद्रव नाडी (Nerve) का वेध होने से होता है । यह नाडी श्वेतवर्णं या
वर्णहीनं होती है । मर्मरिका को नाडी (Nerve) कह सकते
हैं । (३) ज्वर इत्यादि अन्य उपद्रव—ये उपद्रव व्याघ्र में विकारी

जीवाणु (Pathogenic microbes) प्रविष्ट होने से उत्पन्न होते हैं। रक्तदाहिनी किंवा नार्दी का वेच होने से ज्वर शोष इत्यादि उपचार नहीं हो सकते। अपनानक—इसको धूमलग्न भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसको टेटनम (Tetanus) कहते हैं। इस रोग के जीवाणु का नाम 'बैक्टीरियम टेटानी' (Bacillus Tetani) है। कर्णधारन के पश्चात् यह राग आज कल भी कभी कभी दिया जाता है। मन्द्यासाम गिरोप्रद उर्मी के ही नन्या ममकन थाहिये। इसका विशेष विवरण निदानस्थान के पहले बद्धाय में होता है। बद्धस प्रतिकृति—प्रत्येक उपचार का प्रतिकार दा प्रकार से होता है। (१) पश्चात्प्रतिकार (Curative treatment)—रोग उत्पन्न होने के पश्चात् उसके अनुयाय उसकी चिकित्सा करना पश्चात्प्रतिकार है। जब आवश्यक हो तब पश्चात्प्रतिकार करना चाहिये। (२) पूर्व प्रतिकार—प्रशालनादि वस्त्र दूरदर्शन वर्ण। इस न्याय से पूर्वप्रतिकार पश्चात्प्रतिकार से अधिक प्राप्त है। पूर्वप्रति कार को (Preventive treatment) 'प्रिवेंटिव ट्रीटमेंट' कहते हैं। कर्णपाली का सूख्यप्रकाश में सूदम निरीक्षण करके सिरादि घर्जित वर अत्यत पन्ने भाग में धेनादर (बाँकेन अदि) द्रव्य का उत्पाय कर थादि धेन किया जाय तो रक्त खाव तथा वस्त्र नहीं हो सकती। धेन करने के पूर्व थादि कर्णपाली तथा सूक्ष्मी अदि उपकरणों का रूप्य विशेषण (Sterilization) किया जाय तथा धेन के पश्चात् पाली की सफाई की तरफ ध्यान दिया जाय तो लीसेर प्रकार के जीवाणुबन्ध रोग उत्पन्न नहीं हो सकते। इसलिये इन शर्तों पर पूर्ण ध्यान देकर कर्णधारन करना प्रयत्न है।

क्षिणिजिहामशस्तसूचीव्यथाद्वाहतरवर्तित्वादेप
समुद्यायाद्वास्तसूचीव्यथाद्वा यन सरभ्मो वेदना वा
भवति तम वर्तिमुपहृत्याद्यु मधुकेरण्डमूलमस्ति
ष्ट्रायवतिलकस्ते मैर्भुघृतमग्राहैरपेत् तवयावत्
सुख्य इति, सुख्य वैन पुनर्विध्येत्, विधान तु
पूर्वोक्तमेव ॥५॥

सुरदी, घक और निकम्मी सूर्ज के वेष से, मोटे सूर का उपयोग करने से, बातादि दोषों के कोप से, अयोध्य वेष हीने से यदि शोष और बदना हा ता दोरा निकालकर थीर्थ मुलहड़ी, परुण्डमूल, मजीठ, घव, तिल इन्हें पीसकर मसू और धूत में भिलाहर तब तक (प्रतिदिन) रेप कर द अथ तक वह छिन्न न भरा हा । जब भर आय तब पूर्वांक विधान के अनुसार फिर कृष्णपाती का वेष करे ॥५॥

चक्रवर्य—डिला—माटी तथा सुरदरी ! सर्व—राम
और शाथ का प्रादुर्भाव ।

तत्र सम्यग्विद्धमामतैलेन परियेचयेत्यद्यात्
प्रद्युम्बवर्ति स्पृहलत्तराद्यात् परियेक च तमेव ॥६॥

याथ वध होने पर तिल के अपक सैल से परिषेक करे।
प्रथेक तीव्र दिन (क्यांच्छद में) योहा माटा सूख बढ़लता

यद्य व्यपगतदोयोपद्रवे कर्णे धर्मनार्थं लघुवर्ध
नक्तम् ॥५॥

अंग जय सब दोष और उपद्रव नष्ट हो जायें तथा
प्राणे के सिये सारे सौंदर्य वैराग्यकी का उपयोग करो ॥४॥

दस्तव्य—पर्यनक—कान में ढालने के लिए सौं
समय शुद्धीकरण—अग्रभार्पितव्य पर्याप्ती। कल्पनासम्बन्ध

भथदा मीमन दिपठिला भरुत्तुष्टाकूलि कुवारि । (द-हण) ।
पथ विद्यर्थित अर्गेश्विज्ञाने त दिधा उणास ।

दोपतो याऽभिधाताद्वा सन्ध्यान तस्य मे शृणु ॥५
वाच वस्त्र लक्ष्मा (र्षीयन वाचक) अपाप हमि ॥

बातादि दोषज्ञ व्यविधियों से अधिक आधार से (कर्मकारी) दो मार्गों में कट जाता है। (इसलिये) उसकी जीवना सुख से अवगत कर ॥८॥

तथा समासेन पञ्चदशकर्णवन्धुहृतय । तथा
—नेमिसन्धानक उत्पलभेद्यको वहुरक भासहिमे
गण्डकर्ण आद्यार्थो निर्विधिमो व्यायांजिम कपाट
सन्धिको ईर्धकपटसन्धिक सविसी हीनकर्णे
वहुकीर्णो यष्टिकर्ण फाकोष्टुक इति ॥१॥

संघेप से कर्मसंधान के (मुख्य मुद्दे) पंद्रह प्रकार हैं। वे ऐसे हैं—१ निर्माणात्मक, २ उत्पादनात्मक, ३ वास्तविक आसगिम, ४ गणदर्क्षी ५ आहारी, ६ निर्वैधिम, ७ व्यापो जिम, ८ कार्यात्मकिक, ९ अधिकारात्मकिक, १० संस्थिति, ११ निर्वाची १२ वाहीकर्ता, १४ योद्धिकर्ता, और १५ कार्कोटक॥१॥

तत्पु, पृथुलायतसमाभयपाटनामसन्धानक
वृत्तायतसमोभयपालिरुपलभेदकः; हस्तवृत्तसमो
भयपालिर्यूरक, अभ्यन्तरदीर्घकपालिरासङ्गिमः
वाहृदीर्घकपालिर्गण्डकर्णे, अपालिरभयतोऽप्या
हार्यं, पीडोपमपालिरभयत त्रीणुपुत्रिकाभितो
निवेदितः; स्थूलायुसमविषमपालिर्व्ययेज्ञिमः
अभ्यन्तरदीर्घकपालिरितराल्पपालि कपाटसन्धि
क, वाहृदीर्घकपालिरितराल्पपालिर्धकपाटसन्धि
क । तत्र इश्वैते कर्णवन्धविकल्पा साध्या, तेषा
वनामभिरेवाहृतय श्रायेण द्यारत्याता ॥१०॥

उनमें से पालिके दोनों भाग माटे फैले हुए और समान ही त्रिभिर्विशयानक बध (प्रयोग में लाना चाहिये)। गोल लीड हुई समान दोनों पाली हीं तो उत्पलेनेवक बध का प्रयोग करना चाहिये। छाटी गाल समान दोनों पाली हीं तो लकड़ीक बध का प्रयोग करना चाहिये। जब भीतर की ओर कर्षणपाली का भाग दीर्घ हो तो आसनिम बध का प्रयोग करना चाहिये। जब बाहर की ओर का कर्षणपाली का भाग दीर्घ हो तो गण्डबधी बध का प्रयोग करना चाहिये। जब दोनों ओर पालि का भाग न हो तो आहार्य बध का प्रयोग करना चाहिये। जब दोनों पाली मूल से छिल हो जाती हीं तब युक्तिका शेष भाग का आश्रय करके निर्विम बध का प्रयोग करना चाहिये। जब पाली का एक भाग स्थूल और मोटा होया तरीका भाग अणु और छोटा हो तब व्याधिनिम बध का प्रयोग करना चाहिये। एक अधिकारी लाली का भाग दीर्घ और बाहर

गग अल्प हो तो कपाटसंधिक वंध का प्रयोग करना चाहिये । जब पाली का बाहर का भाग दीर्घ और भीतर का हो तब अर्धकपाटसंधिक वंध का प्रयोग करना चाहिये । संधान के दश भेद साध्य हैं और इनकी आकृतियाँ नाम ही से वर्णित हुई हैं ॥१०॥

वक्तव्य—इसमें से पहले तीन वंधों में पाली के दोनों समसमान होते हैं । अन्तिम तीन वंधों में विषम होते चौथे और पाँचवें वंधों में एक भाग नहीं के बराबर होता है और छठे तथा सातवें वंधों में दोनों भाग नहीं के बराबर हैं । नेमि—चकधारा । बल्लूरक—शुक्र मांस । आसंगिम—ज्ञात्र आसंगिम । इस वंध में आभ्यन्तरपाली का संधान पालीमूल के पास किया जाता है । गण्डकाण—इस वंध में ल से मांस का भाग निकाल कर वाल्पाली के साथ जोड़ा जाता है अर्थात् कपोल से मांस निकालते समय उसका एक वंध कपोल के साथ रक्तप्रचार के लिये रखना चाहिये । ऐसमें दोनों ओर से मांस निकाल कर पाली बनाई जाती है । पाठोपमपाली—जब पाली के दोनों भाग मूल से हो जाते हैं तब पाठोपम कहते हैं । व्यायोजिम—लेखन विषमता दूर करके जब संधान किया जाता है तब व्योजिम कहते हैं—‘वैषम्य लिखिता वर्धने योजयते’ इति व्यायोजिम । पुनिका—कर्णपाली के ऊपर कर्णकुहर के दोनों तरफ जो उभार होते हैं, उनको पुनिका कहते हैं । अंग्रेजी में इन दोनों और अंटी ट्रेगस (Tragus and Anti tragus) कहते हैं ।

संक्षिप्ताद्यः पञ्चासाध्याः । तत्र शुक्रशकुलिसम्पालिरितराल्पपालिः संक्षिप्तः अनधिष्ठानलिः पर्यन्तयोः क्षीणमांसो हीनकर्णः; तनुविपमापालिर्वृहीकर्णः; ग्रथितमांसस्तव्यसिरासंततत्त्वमपालिर्यष्टिकर्णः; निर्मांससंक्षिप्ताग्रालपशेषितलिः काकौष्ठक इति । चद्ग्रन्धिपि तु शोफदाहरागकपिदकासावयुक्ता न सिद्धिसुप्रयान्ति ॥११॥

संक्षिप्तादि पाँच वंध असाध्य हैं । उनमें से जब कर्ण की लेति शुक्र हो, पाली का एक भाग नष्ट हो और दूसरा भी अस्त्र हो तब संक्षिप्त वंध का प्रयोग करना चाहिये । पाली के दोनों भाग नष्ट हो गये हों और पाली के दोनों एक गाल पर मांस घटुत कम हो तब हीनकर्ण वंध का प्रयोग जा चाहिये । जब पाली के दोनों भाग पतले, अल्प और अस हों तब चलीकरण वंध का प्रयोग करना चाहिये । जब दोनों के मांस में ग्रथियाँ हों, सिराओं की कुटिलता तथा उत्ता हो और पाली छोटी हो तब यष्टिकरण वंध का प्रयोग जा चाहिये । जब पाली मांसरहित हो, उसके अग्र अव्यंत व्य हों और उसमें रक्त की कमी प्रतीत हो तब काकौष्ठक वंध ग्रयोग करना चाहिये । वंधन करने पर भी यदि सूजन, और खुर्चि, पक जाना, कुन्सियाँ होना, और (रक्त का या व्य) खाल होना इत्यादि उपद्रव हों तो संधान ठीक नहीं होता है ॥१२॥

वक्तव्य—कर्णशकुलि—यह कान का वह भाग है, जिसमें छिद्र करकर ग्रियाँ वालियाँ पहनती हैं । साधारण योलचाल में इस को ही कान कहते हैं । इसका आकार तीप जैसा होता है । इसमें कर्ण उभार और दबाव होते हैं । इसके नीचे वाला मृदु और अवलंबनस्य जो भाग होता है, उसे पाली कहते हैं । पाली मृदु होने का कारण यह है कि उसमें तरणास्थि नहीं होती, केवल तांत्र्य (Fibrous) धातु और थोटी चरवी होती है । कर्णशकुलि के ग्रेष भाग में तरणास्थि होती है, जिससे वह भाग किंचित् कड़ा होता है । अंग्रेजी में कर्णशकुलि को ‘पिना’ या ‘अर्रीकुला’ (Pinna, Auricule) कहते हैं । वनेप्रधि—यदि गोफादि उपद्रव उत्पन्न हों तो साथ वंध भी असाध्य हो जाते हैं ।

भवन्ति चात्र—

यस्य पालिद्वयमपि कर्णस्य न भवेदित् ।

कर्णपीठं समे मध्ये तस्य विद्धुः विवर्धयेत् ॥१२॥

जिसके कान की दोनों पाली न हों उसका कर्णपीठ ठीक बीच में बेधन करके वर्धन करना चाहिये ॥१२॥

वक्तव्य—इस श्लोक में निर्वेधिम वंध का सन्धानसूत्र वर्णन किया है । निर्वेधिम में अन्य स्थान में वेध किया जाता है, इसलिये निर्वेधिम कहते हैं । कर्णपीठ—कर्णशकुलि में जहां से पाली का प्रारंभ होता है, वह स्थान । यह स्थान वाल्पुनिका (Anti tragus) का समीपवर्ती भाग होता है ।

वाल्पुनिका दीर्घीयां दीर्घीयां सन्धिराख्यन्तरो भवेत् ।

आभ्यन्तरायां दीर्घीयां वाद्यसन्धिरुदाहृतः ॥१३॥

यदि बाहर की तरफ की पाली बड़ी हो तो भीतर को संधान करना चाहिये और यदि भीतर की तरफ की पाली बड़ी हो तो बाहर की तरफ संधान करना होता है ॥१३॥

वक्तव्य—इस श्लोक में अर्धकपाटसंधिक और कपाटसंधिक वंधों का संधानसूत्र वर्णन किया है । वाय—गण्डदूरवर्ती । आभ्यन्तर—गण्डसन्धिरूप ।

एकैव तु भवेत् पालिः स्थूला पृथ्वी स्थिरा च या । तां द्विधा पाटियत्वा तु छित्त्वा चोपरि सन्धयेत् ॥१४॥

यदि एक ही ओर पाली मोटी चौड़ी और स्थिर हो तो उसे (ऊपर की तरफ) बीच से चीर कर (वह चीरा हुआ भाग) दूसरी तरफ जोड़ देना चाहिये ॥१४॥

वक्तव्य—इस श्लोक में आसंगिम और गण्डकर्ण वन्ध का सन्धानसूत्र वर्णन किया है ।

गण्डादुत्पाट्य मांसेन सानुवन्धेन जीवता ।

कर्णपालीमपालेस्तु कुर्याच्चिलिख्य शास्त्रवित् ॥१५॥

शास्त्र जानने वाला (कर्मकुराल) वैद्य यदि पाली न हो तो कपोल-प्रदेश से जीता तथा थोड़ा संबंध रख मांस निकाल कर (पाली संधान करने के स्थान पर थोड़ा) लेखन करके उससे पाली बना दे ॥१५॥

वक्तव्य—इस श्लोक में आहार्य वंध का संधान सूत्र वर्णन किया है । सानुवन्धेन—कपोल-प्रदेश के साथ कल संबंध रखता है । इस प्रकार से चिकाके LOVE BY Avinash/Sh

^१ शुक्रशकुल्यादिः संक्षिप्तो दृश्यः संक्षिप्तः

सचार होकर उमड़ी जीवितावस्था आवश्यक काल तक स्थायी हो सकती है। जीवन—रक्ष यक नथा स्पाग्निभि भावना यक ।

अतोऽन्यतमं वन्धं चिरीपुर्योपहृण्णीयोक्ता-
पसंभृतसंसारं विशेषतश्चात्रोपहरेत् सुरामण्डं
क्षीरमुदकं धान्याम्लं कपालचूर्णं चेति । ततोऽ-
इनां पुरुषं वा प्रथितकेशान्तं लघु भुक्त्यन्तमासैः
सुपरिगृहीतं च छत्या वन्धमुपधार्य छेदमेद्यलेख्य-
व्यधनैरुपपौरुष्यपाप्य- कर्णशोणितमवैह्ये दुष्टम-
दुष्टं चेति; तत्र बातदुष्टे धान्याम्लोपोदमाभ्यां
पित्तदुष्टे शीतोदक्षपयोभ्यां लेपदुष्टे सुरामण्डो-
प्णोदकाभ्यां प्रकाल्य कणीं, पुनरयलित्यातु ब्रह्मतमही-
नमविपर्यं च कर्णसंनिधं सज्जिवेद्य, स्थितरकं सन्द-
ध्यात् । ततो मधुवृतेनाभ्यज्य पिचुम्लोतयोरन्यत-
रेणावश्यं स्वेषणवशगाद्भनतिशिथिलं च घट्टा
कपालचूर्णेनावर्कार्याचारित्युपसदिशेद्विग्रहीयोक्तेन
च विधानेनोपचरेत् ॥५६॥

इनमें से कोई वर्ष करने की इच्छा हो तो अप्रोफार्सियम अप्पायोक सामग्री भवान में बुधवार को, (इसके अतिरिक्त) विशेष करके सुरामण्ड, दूध, पानी, कानी और टिक्कों का चूंच इहें भी याम सख ले। तदननत पुराण हो या ली हो, उसके बाल गुप्तवाकर, हस्तका भीनन कराकर, आसजनों में उसे ठीक पकड़वाकर थोक्य थप का निर्णय कर और देन, भेदन, ऐरन तथा दयधन कियाओं में से थोक्य क्रिया को अग्रिकार बर कान के रक्क को देख कि वह शुद्ध है या किमी दोष से दूषित है। यदि बान में दूषित हो तो कानी और गरम जल में, पित्त से दूषित हो तो दो पानी और दूध में, कफ से दूषित हो तो सुरामण्ड और गरम जल में दोनों कानों की धो कर फिर उसे अवश्यकत्व करके कर्णीसपिकों को इस प्रकार दयापित करे कि वह न ढौंचा न ढोंठा और न टेढ़ा रहे और रक्तस्राव व वर करके (सूचीसूचादि से) उसका संबान करे। तदननतर मधु और तेल लगा कर हर्व या करटा ऊपर रसाकर शूष्म से न घृत करा न बहुत हीन वाष्प हे और टिक्की का चूंच उस पर बुराका बर आहार विहार का दपदेय करे और द्वितीयीयोक विधान के अनुसार बान की चिकित्सा करे॥१॥

धन्तरात्र—मुरागड—मध्य का उपरितन स्वयं भाग।
कारबूँ—नवीन मिही के बरतन के दृष्टिकोण का चूर्ण। बन्ध-
मुरागड—गाली का निश्चिक काके हिम वंश का प्रथम कलारा
चाडिमे इसका नियम कर। सदिरेत—मुरागड स्पै से स्वापित
होते।

मध्यति खात्र—

विद्यहृन् दिपास्यम् व्याधाममतिभोजनम् ।

स्यवायमस्तिसंतापे वाह्यम् च विषर्जयेत् ॥१७॥

कान का रगड़ना, दिन का सोना, परिषम, अति भेद
झेधुन, अप्ति के पास बैठना और अति बोलना हनका ल
नरना चाहिये ॥१३॥

न चाग्नुद्वरकमतिश्वृत्तरक्तं क्षीणरक्तं वा-
द्रव्यात् । स हि वातुदुष्टे रक्ते रूढोऽपि परिपु-
त्तान्, पित्तदुष्टे दाहपकरागादेनावान्, स्तेनजु-
स्तग्न्धः कण्ठमान्, अतिप्रवृत्तरक्ते श्यावशोफवान्
क्षीणोऽप्यमांसो न वज्जिमपैति ॥१६॥

(कथ के समय पाली से) यदि अशुद्ध रक्त निकलता। बहुत रक्त निकलता हो या रक्त विलकूल ही न निकलता। तो उसे संधित नहीं करना चाहिए। कर्णोंकि वातदूषित से शुद्ध हो पर भी परिपोष हो जाता है। वित्तदूषित रक्त से रापां और बेदना होती है, कफदूषित रक्त से मुन हो जाता और खाज हो जाती है, अति रक्त घबने से काला और शोषण होता है, और गग, शिल्कूल, न, एटो, मै. उस पर मास न उत्ता न उसकी ठीक भूखि होती है॥८॥

वक्तव्य—परिपुर्व—सच्चाका पद जाना या सिद्धि
(दि २५) अव्याप्तेत् ।

हृषीकेश भित्र करने । कर्णोरो भवेष पत्न्या मूल धरिपेटन ॥ ८
आमतैलेन त्रिरात्रं परिपेचयेत् ।

परिवर्तयेत् । स यदा सुखो निरपद्रवः
भवति तदैनं शानैश्चानैरमिवर्धयेत् । १०८
संरस्मदाह्याकरणग्वेदानावानः पुनश्चिद्यते वा ॥११

तीर्थ दिन तक कच्चे तेल का परिसेक करे और तीर्थर में हाँ का फोया भी एलट दे । जब वह ठीक उड जाव, उम कुउ भी उपद्रव न रहे और ल्वचा के रग में रंग मिल जाव त उसके छिद्र को पीरं पीरं बढ़ावे । इसके विपरीत करने से हाँ दाह, पाक, सुखी तथा पीड़ा हो जाती है अपना खिड़क ताटा है ॥११॥

बयास्याप्रदुषस्याभिर्धनार्थमध्यङ्कः । तत्व
— गोधाप्रतुशविकिरानूपैदकवसामज्ञानौ पर
स्मरिष्टैले गीरसर्पेण च यथालामं संभूत्यार्थाद्वै
श्लातिबलानन्तापामार्गं श्वगन्धाविद्विरिग्नापौ
शुक्राजलशुक्रमधुरवर्णपर्यस्याप्रतियापं तैलं ॥
पाविष्ट्या सखुगुरुं निदध्यात् ॥२०॥

जब हुद्दे कीलाली बहाने के लिये वह भव्यता है। शोपा, प्रशुद, विप्तिक, आरूप, और इकर्वां के प्रतिको चर्ची, भजा तथा दृष्टि, एवं और सेवन सत्तों का तेज़ है तो जिनमें मिल सके हृष्टा कर उनको जाग, मन्त्राद, अतिवाल, अनन्ता, अपार्माणि, अचानका, धारित्वी, और छुट्टा, अध्यूक, औरिकालोगी और भुजुर्यां जी द्वारा दिये गए सभी पकावे या नकारी घोषणियों को तिष्ठौल के साथ लगाए और सुरक्षित रखते हैं ॥३०॥

परमात्मा—प्रदुर्भवितात्मैरेतः । शुरु—करोते परमात्मा
संज्ञायादि पाठी । रिक्तिर—कावयितारामी पाठी । लिपि

रुद्धेति, प्रश्नम् प्राप्तुः भूताः । (घरक) । भानू—पराह महि—
१ वैक—रोडित मस्तुगानि । २ अन्यह—जातीयलिला, शैषाल,
तस्मै कीट दिवेष । मध्या, यसा, घृत और गर्वेषनेत इनमें
दि कल्प छाँडवर रुद्धुर्यु कृष्ण के साथ पकाना पड़तिंग ।
३—अर्कादि अंगभितों के साथ चलुःसोर का एक वर्षभंग
दूसरा अम्यग लिलीत के माध्य ठोना है ।

देतोन्मर्दितं पर्णे स्वेतेनैतेन योजयेत् ।

४ उपद्रवः सम्यग्वलवांश्च विवर्जते ॥२१॥
संद और गालिस किये हुए बान पर एग तेल द्वा डप-
करे । इससे उपद्रव रहित क्षाग बढ़वान् और पक्षिग हो-
ते हैं ॥२१॥

अवगत्वायष्टथास्तिलैऽद्योदर्तनं द्वितम् ।

(कान पर अव्यंग छरने के पश्चात्) पौ, वायान्धा,
इंडी और तिलैर्पान कर उसका उवठन करना द्वितीय
है ।

गर्वयः वगन्धाभ्यां पयस्यैररुद्रजीवनैः ॥२२॥

५ विपकं सद्वीरमभ्यहात् पालिवर्वनम् ।

गतावरी, वस्त्रगन्धा, धीगकालीनी, एण्ड और जीवनीय
गीधियों के साथ ॥२२॥ दूधयुक्त तेल पकाये और उमसी
डेग करने से कर्णपाली की वृद्धि होती है ।

तु कर्णे न वर्धन्ते स्वेदस्तेतोपपादिताः ॥२३॥

६ गमपाहदेशे तु फुर्यात् प्रच्छानमेव तु ।

७ अच्छेदं न कुर्वीत व्योपदः स्युस्ततो भूताः ॥२४॥

तो कान स्वेदन और रोग करने पर भी नहीं बढ़ते हैं,
कें अपांग प्रदेश में प्रच्छान करना चाहिये । वायाप्रदेश में
उन न करें क्योंकि उससे निश्चितरूप से विकार हो-
ते हैं ॥२३-२४॥

वक्तव्य—अपांगप्रदेश—इर्ष्णपुत्रिका के किंचित् नीचे ।
अन—छोटा मा छिद्र—प्रशन व्यथे । वायाप्रदेश—कण्ठुदर
बाहरी पाली में होद ।

८ भावां तु यः कर्णे सद्वसेवाभिवर्धयेत् ।

९ अकोशी समाधामातः क्षिप्रमेव विमुच्यते ॥२५॥

पाली का संधान होते ही यदि पाली को बढ़ाया जाय तो
ली अपक होने से सूज कर फिर शीघ्र ही कट जाती है ॥२५॥

१० तरोमा सुवर्तमा च गिल्पुसन्निधः समः स्थिरः ।

११ इल्लोऽवेदनो यथ तं कर्णे वर्धयेच्छुनेः ॥२६॥

जब रोग उत्पत्त हो जायें, छिद्र ढीक हो, सन्धि मिल गई
, पाली सम और इह हो, वर्ण का रोपण वूर्ण हो गया हो
ते कुछ भी पीड़ा न हो तो कर्णे द्वे धीर्देशीर द्वाया
गिल्पे ॥२६॥

वक्तव्य—सुवर्तमा—शोभनच्छिदः ।

१२ गमिता: कर्णवन्धास्तु विशेषाः फुशलैरिह ।

१३ गो यथा सुविशिष्टः स्यात्तं तथा विषियोजयेत् ॥२७॥

१ विभिन्नाङ्गेन योगिताः । २ तेपामाङ्गक्षेत्रे दि कार्यान्धार-
वित् । ३ व्यापयः स्यः । ४ सुनिविष्टः ।

कर्णपातिसंप्राप्त दे अस्त्रात्य देख होते हैं । जहां जो ईक
हो, वहां तु यन्न देख उसी की योगता हो ॥२७॥

कर्णपात्यामयान्तर्गां युनवद्यामि तु शुभ्रत । ।

कर्णपात्यां प्रमुपिता वातपित्तकालयः ॥२८॥

द्विधा वाऽप्यथ संस्तुष्टः कुर्वन्ति विविधा द्वजः ।

विस्फोटः स्वच्छता शोफः पाल्यां दोषे तु वातिके ॥२९॥

दात्यविस्फोटजगनं शोफः पाकश्च पैत्तिके ।

कर्णः सश्वयथुः ल्लम्बो गुरुत्वं च अफात्मके ॥३०॥

हे शुभ्रत ! मनुष्यों के नर्णीपाली के रोग किरहम कहते

हैं । नर्णीपाली में बाग, पित्त और कफ एक-एक दौ-शौ और

तीसीं मिलकर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं । उनमें

से फोड़ा, स्वर्गांश्लव और शोध बान दोष से होते हैं ॥२८-२९॥

दाह, फोड़ा, शोध और पाक ने पित्त से होते हैं । कण्ठ,
शोध, कठारण और भारीपन ये कफ से उत्पन्न होते हैं ॥३०॥

यथाद्रोगे च संशोध्य कुर्यात्तेयां चिकित्सितम् ।

स्वेदाभ्युपरीपेक्षः प्रलेपाग्निविमोक्षरैः ॥३१॥

मृद्धीं कियां तु द्वयीयैर्थास्त्वं भोजनैस्तथा ।

य एवं देखि दोषाशां चिकित्सां कर्तुमर्हति ॥३२॥

दोष के अनुसार उसका संगीधन करके होदन, अस्वसं,

परिनेक, प्रलेप और रसामोक्षय से चिकित्सा करे ॥३१॥

तथा तु धूग्रां और योग्याचित न्याय द्रव्यों से उसका संशमन

करे । ऐसा जो जानता है, वही योग्यों की चिकित्सा कर
सकता है ॥३२॥

यत ऊच्चं नामलिङ्गवैद्ये पाल्यामुपद्रवान् ।

१४ उत्पाटक्योत्पुटकः इयादः करण्डुयुतो भृशम् ॥३३॥

थवस्त्वः सकराद्गुको व्रन्थिको जम्बुलस्तथा ।

तावी च दाहवांश्चैव शृण्वेयां क्रमशः क्रियाम् ॥३४॥

अब यहाँ से पाली के उपद्रवों का वर्णन उनके अन्वय

नामों से करते हैं । उत्पाटक, रुपुटक, इयाद, करण्डुयुत ॥३३॥

अवसंथ, सकराद्गुक, ग्रंथिक, जम्बुल, तावी और दाहवान् (ये

दोष पाली के उपद्रव हैं) । यद्यक से हगकी चिकित्सा

सुनो ॥३४॥

बक्तव्य—नामलिङ्गः—नामभिरात्यातानि लिगानि नाम-

लिंगानि ते । नाम से ही जिनके लक्षण मालूम होते हैं ।

उत्पाटक—जिसमें भीतर पाक होने के कारण धूने की सी

पीड़ा होती है । उत्पाटक—जिसमें मांसवृद्धि अधिक होकर

जपर पस्ती आ जाती है । इयाद—जिसमें वर्ण काला नीला हो

जाता है । अवसंथ—जिसमें भीतर मंथन की जांति पीड़ा होती

है । जम्बुल—जिसमें जम्बुफलसंस्थ वर्ण हो जाता है । करण्डु-

युत, दाहवान्, तावी हनके अर्थ सरल हैं । इन सब उपद्रवों में

पाली में शोध जलर रहता है और इसके स्तिवाय जो चिरोज

लक्षण होते हैं, उनके अनुसार नाम रखें गये हैं ।

अपामार्गः लर्जरसः पाटलालकुच्चत्वचौ ।

१५ उत्पाटके प्रलेपः स्पार्शैलसेभिञ्च पाल्येत् ॥३५॥

उत्पाटक में जपानार्ण, राल, पाटला और लकुच की लवचा

का प्रलेप करे या इनको तैल में पकाकर (लगावे) ॥३५॥

शम्पाकदिग्ग्रीपूर्तीकान् गोथामेदोऽय तद्वसाम् । ~
वाराहं गन्यमेषेयं पितृं सर्पिश्च संस्तुजेत् ॥३६॥
लेपमुन्पुटके दद्यात्तेलमेभिष्य साधितम् ।

उपुक उपद्रव में अमलनाय, मैत्रन, करज, गोथा की
चरवी और दमा, सूक्र गी और हरिण इनका पित्त तथा घृत
एकत्र करके लेप करे या इनमें तेल साधन करके लगाएं ॥३६॥

गीरीं सुगन्ध्यों सद्यामामनन्तां तरडुलीयकम् ॥३७॥

इयामे प्रलेपन दद्यात्तेलमेभिष्य साधितम् ।

इयाम उपद्रव में इली, सुगन्धा, कृष्णमारिवा और
बौलाई इनका लेप करे या इनमें तेल पकाकर लगाएं ॥३८॥

पाठां रसाजनं हौद्रं तथा न्यादुष्यकाङ्किकम् ॥३९॥

दद्यालेपं सरुण्डके तेलमेभिष्य माधितम् ।

वर्णभूतस्य देयं स्यादिदं तैलं पिजानता ॥३९॥

मधुकक्षीरकाकोलीमीवकार्यैर्विपाचितम् ।

गोथावराहसर्पाणां यसा· स्युः इत्यृद्धणे ॥३९॥

सकृदूक उपद्रव में पाठा, रसोत, मधु और उण कार्वी
इनका लेप करे या इनमें तेल पकाकर लगाएं । यदि व्यथा हुआ
हो तो चिदानंदैय मुलही, क्षीरकाकारी औरकादि ओषधियों
से पकाया हुआ तेल लगाएं और जहाँ (पाठी की गुच्छा
में) दूषण की प्रगतता हो वहाँ गोथा, सूक्र और सर्प की
धना का अन्तर्गत करे ॥३८-४०॥

प्रलेपनमिदं दद्याद्यसिद्ध्यावमन्यके ।

प्रपौलहरीकं मधुकं समझां धरमेय च ॥४१॥

तैलमेभिष्य संयोगं—

अदमन्तक उपद्रव में प्रश्नान्त करके कमल, मुलही,
हलालु और घव इनका प्रेषण करे या इनमें तेल पकाकर¹
लगाएं ।

—शृणु कण्ठमतः क्रियाम् ।

सहदेवा विष्येद्वा अजाहीर सर्सैन्यतम् ।

पत्तैरालेपनं दद्यात्तेलमेभिष्य साधितम् ॥४२॥

कण्ठमूर् (गण्डाक) उपद्रव में महेदवा, विशेद्वा (बला
के हो खेड़), बर्द्धी का दूष और सैन्य इनका लेप करे या
इनमें तेल पकाकर लगाएं ॥४२॥

प्रनिधिके शुटिवां पूर्वं चारायेदयपाण्य तु ।

ततः सैन्यवच्यूर्णं तु पृष्ठा लेप प्रदायेत् ॥४३॥

संप्रिक में प्रयत्न मर्मी का ऊर वा इन निकाने दिय
रीष्यत भाव दा (हर्मी दा) लेप करे ॥४३॥

लिंगिण्या तत्व्यन पृष्ठा घृण्गर्णीभ्य जम्बुदेः ।

सीरिण ग्रनितार्थीन् शुद्ध शरोपयन्तः ॥४४॥

जम्बून में नेत्रन से इन निकान कर मैथ का चूने में
वर दूष में शुद्ध वर और शुद्ध वरने पर (ग्रनितार्थी के
जम्बुदार) उत्तरा दोषय के ॥४४॥

मधुपर्णी मधुरः य मधुकः मधुना मद् ।

लेप शायिति दात्यसौरमेभिष्य साधितम् ॥४५॥

सावी उपद्रव में गिलोग, महुआ, मुलही इनको पीय न
मधुमह लेप करे या इनमें तेल पका कर लगाएं ॥४५॥

एञ्चवल्लैः समधुक्कः पिण्डैस्तेष्य घृतान्वितैः ।

जीयकायैः ससर्पिकैर्द्यूमानं प्रलेपयेत् ॥४६॥

दाह में पचवक्कनों की पीस कर मधु और घृत सहित ऐ
करे अथवा जीवकादि ओषधियों को पीस कर उसका घृत
लेप करे ॥४६॥

यत्कृद्य—पचवल्लै—न्यजीवोदुमराश्वमूलमूलवल्लै
सौरीरेत्व मिलिते पचवल्लैमूलच्येन ॥ जीवकृदि—जीवनीयगण-
जीवकर्कम्बै मेदा महेदवा कार्येती क्षीरकार्येती मुलमूल-
जीवनीय मधुकनिति जीवनीयायनि । (चरक) ।

विशेषपितायास्त्वय नासिकाया

वद्ययामि सन्धानविधि यथावत् ।

नासाप्रभार्ण पृथिवीद्युद्धाणां

एषं शृहीन्या त्वयलस्मित्य तस्य ॥४७॥

तेन प्रभाणेन हि गणेष्वार्थ्या-

दुरुत्य यद्यं त्वय नासिकाग्रम् ।

विलिष्य चान्तु प्रतिसंदीप्ति

तत् साशुद्धन्यैर्भिष्यग्रमतः ॥४८॥

सुसंदितं सम्यगतो यथाव-

शाढीद्युयेनामिसमीक्ष्य वद्वा ।

प्रोद्धम्य चैनामवर्धुर्येतु

पन्हायष्टीमधुकाद्यनेत्य ॥४९॥

संद्याय सम्यक् पिचुना सितेन

तैलेन सिञ्चेदत्सहत्तिलानाम् ।

घृतं च यायः स नरः सुजाये

सिञ्चयो विरेच्य च यथोपदेशम् ॥५०॥

रुदं च सन्धानमुपागतं स्यात्

तदर्थेण तु पुनर्निहन्तेत् ।

दीनां पुनर्यर्थयितुं यतेत

समां च कुर्यादितिवृद्धमासाम् ॥५१॥

छिन्न नामिका की भयान करने की पद्धति अब एषाविधि
कर्णन करते हैं : नामिका के (छिन्न अंत के) समान नामिका
इन का वसा नेकर उसने बराबर करेंगे (या छापा) तो उन्हें
मधुक रसां त्वयमीमां काट कर (वन्धना हाता) चित्र छिपे
हृष्ण नामिकाय का विनेशन करने (करेंग प्रेषण से नामिका
हाता) ल्लमोत्त का भाग दर विनेशन नामिकाय के
साथ (सूर्य गुणादि) वृत्तन छुम्बी की साधारणा ने तैया
साधारण दाता गंगामया दीन और हृष्ण दृष्टि दाता दीन
(नामाग्रन्थादि) हैं। नामिकायी से नामिका दीन तैया करने
दोनों का शोड़ ईंट की व्यापारिक नामिका की भयनि रेख
वर वाये हैं और उस पर रामग्रन्थ, शुल्काई और संतो
हृष्ण दृष्टि दाता दीन दृष्टि दाता दीन हैं ॥५१॥ रेखी की हृष्ण
नामिका दीन दृष्टि दाता दीन हैं । रेखी की हृष्ण

जाये और जब घृत जीर्ण हो जाय तब उस स्थिरध द्वारा रोगी को देश के अनुसार विरेचन दे ॥५०॥ जब द्रव का रोपण होकर इ भी ठीक हो जाय तब (कपोत के साथ संयंध रखने वाले) वा के हिस्से को काट दे । फिर नासा यदि छोटी या बड़ी गई हो तो उसे बढ़ाने का या वराचर करने का यत करे ॥५१॥

चक्रव्य—नासाप्राणम्—नासिका के विशेषित अंग की रेमिटि का । अवलंबि—मूल त्वचा के साथ संयंध रखने वाला । चलन रक्तप्रचार के लिये रक्तसा जाता है । इससे ठीक धान होने के समय तक छिस त्वचा का पोपण होता रहता और संधान किया में भी सहायता मिलती है । यह चलन बहुधा ऐसे स्थान में रक्तसा जाता है जहाँ धमनी होती है । इसी कारण से पानि संधान में भी लिखा है—
एडाक्याट्री मासेन सानुवेन लीवता ॥ गण्डपार्श्वत—कपोल या त्लात प्रदेश से । इन स्थानों से नासासंधान के लिये त्वचा ने में दो लाभ होते हैं । प्रथम तो यह है कि दोनों स्थानों की त्वचा में समता होने से संधित नासिका स्तामाविक दिखाई दी है । दूसरा लाभ यह है कि अनुयंध रखने के लिये सुभीता होता है । नासासंधान के लिए एक इटालियन जरीह (Tagliscozzi) ने वाहु से त्वचा लेने का नया प्रयोग किया था । परंतु इसमें अनुयंध रखने के लिये रोगी का हाथ सिर पर थांध रखने की ज़रूरत पड़ती थी, जिससे रोगी को बहुत तकलीफ होती थी । इसलिये सुश्रूत की विधि आज भी उत्तम प्रमाणित हुई है । सानुवन्यैः—सूई और टाँके लगा के ठीक धंधन करना चाहिये । परंतु हनकी निशाणी स्थानी न होने के लिये दो चार दिन के बाद टाँके निकाल देने चाहिये । पुनर्निष्टोत्तम—अनुयंध को प्रायः दस से चौदह दिन में तोड़ सकते हैं परंतु यदि नासिका की फिर कुछ भरम्भत करने की आवश्यकता प्रतीत होती हो तो अनुयंध को उसके पश्चात काटना हितकर होता है । चामट में इस शल्कर्म का कुछ अधिक स्ट्रीकरण किया है—अथ कुर्यादिःस्यस्य च्छिन्नां शुद्धस्य नासिकाम् । छिन्नानासासमं पत्रं तत्तुल्यं च कपोलतः । त्वद्मासं नासिकात्तेन रक्षं स्तरनुतां नयेत् ॥ सीब्बेद गण्डं ततः स्वया सेविन्या पिन्युक्तया । नासाच्छ्रेदे च लिखितं परिवर्त्योपरि त्वचम् ॥ कपोलबन्धं संध्यात् सीब्बेन्नासां च यज्ञतः । नाडीभ्युमुक्तिपेदन्तःसुखोच्छ्वास-भृत्ये ॥ यदि नासा का सद्यश्चेद हुआ हो तो छिन्नां का ठीक न्याय करके सीता चाहिये—निवेशित यथान्यासं सवदिष्टेऽध्ययं विधिः ॥ (अष्टांगसंग्रह उत्तर. २२) ।

नाडीयोगं वित्तौष्ठल्य नासासंधानविद्विधिम् ।

य एवसेव जानीयात् स राजः कर्तुर्मर्हति ॥५२॥

शति सुश्रूतसंहितायां स्त्रवस्थाने कर्णव्यधवन्धविधिर्नाम

पोड़ोलोऽन्यायः ॥१६॥

(छिद्द) होठ के संधान की विधि नाड़ियों के बिना नासा-संधान की तरह होती है । जो इस ग्रन्थ (कर्म नासा और श्रीष्ट की विधि) जानता है, वह वैद्य राजचिकित्सा करने के लिये योग्य है ॥५२॥

चक्रव्य—सुश्रूतसंहिता के इस अध्याय में कर्णपाली, नासा तथा होठ के कट जाने पर शरीर के अन्य स्थान से चर्म लेकर उसी के द्वारा इसे इस अंगों को फिर से लगावे के जौ

अपूर्व और कुशल शल्कर्म वर्णन किये हैं उनका ज्ञान पाश्चात्य देशों में होने के पश्चात् वहाँ शल्यचिकित्सा के संधानीय कर्म के (Plastic Surgery) अंग में उत्तमता हुई है (The plastic Surgery of the 19th century was stimulated by the example of Indian methods. Dr. Neuberger's History of Medicine)। नासा संधानकर्म (Rhino plastic operation) सुश्रूत में ऐसी उत्तमता से वर्णित किया गया है कि पाश्चात्य शल्यशास्त्र में उसी का ही अनुकरण होता है और उस विधि का नाम भी भारतीय पद्धति (Indian method) रक्तसा गया है—They have already borrowed from them the operation of Rhino plasty. Weber's History of Medicine. इटालियन, फ्रेंच हस्तादि अन्य नहीं पद्धतियाँ कुछ काल तक प्रचलित थीं परंतु उनके दोष अनुभव होने पर त्याग की गई हैं और आज एकमात्र भारतीय पद्धति न्यूताधिक फर्क करके प्रचलित है । पाश्चात्य देशों में त्वचा की भाँति हड्डी नाड़ी का भी संधान कर्म अब किया जाता है ।

इति भास्कराण्ड्रिकार्या गोविंदामगेन विरचितायामायुवेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभास्त्रीकार्या कर्णव्यधवन्धविधिर्नाम पोड़ोलोऽन्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः ।

अथात आमपैकैरणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से आमपैकैरणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

चक्रव्य—आम—आमशब्द से यहाँ आम और पच्यमान दोनों अवस्थाओं का वोध होता है । आमपैकैरणीयन्—आमश्व पच्यमानश पक्ष पत्तेपायेण विज्ञानं तद्विद्यते यस्मिन् तम् । आम, अर्धपक्व, और पक्षशोफ का विज्ञान जिस में वर्णन किया है ।

शोफसमुत्थाना ग्रन्थिविद्रूप्यलजीप्रभृतयः प्राये व्याधयोऽमिहितां अनेकाकृतयः, तैर्विलक्षणः पृथुर्ग्रथितः समो विपमो वा त्वडमांसस्थायी दोष-संधातः शारीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते ॥२॥

छोटे मोटे आकार के उत्सेधयुक्त अंथि, विद्रूपि, अलजी इत्यादि प्रायः जो रोग होते हैं उन रोगों के लक्षणों से पृथक् लक्षणयुक्त (किंचित्) फैला हुआ, गाँठदार, सम या विषम आकार का, त्वचा और मांस में स्थित वातादि दोषों का संधात जो शरीर के एक हिस्से में उत्पन्न होता है उसे शोफ कहते हैं ॥२॥

चक्रव्य—शोफसमुत्थाना—शोफः समुत्थान आकार एवा-मिति अर्थात् उत्सेधयुक्त । अलजी—प्रमेहपिण्डका, नेत्र-संधिरोग या श्लक्षदोपरोग । तैर्विलक्षणः—तैर्यो ग्रन्थादिभ्यो व्याधिभ्यः पृथक् । त्वडमांसस्थायी—त्वचा मांसादि अर्द्धविधि व्रण-बल्तु के स्थान में स्थित । एकदेशोत्थित—आयुर्वेद में सर्वांगोद्देश, अर्धांगाण्डी, दोष र दात्र दात्राद्यन्तर या एकदेशोत्थितशोफ देजे कीपे

के सीन प्रकार मानते हैं—आगन्तुकेतिविचो निजश सर्वोर्धेगादा वयवाभिलापत् । (चरक) : अर्धींग और सर्वोंग शोष का निराकरण करने के लिये एकदेशोपित शब्द का प्रयोग किया गया है। सर्वोंग या अर्धींग योंग हृदय, धूप, घृण, इत्यादि प्रधान शोषों के विकार से उत्पन्न होता है और उस में सूजन के अतिरिक्त इन्द्रियविकृति के लक्षण भी होते हैं। एकदेशोपित शोष में शान्तिक लक्षणों का ही प्राप्तान्वय होता है, सर्वोदीहिक लक्षण शोष होते हैं। एकदेशोपित शोष को औंड्रींगी में 'हृकुमेटी इटीमा' (Inflammatory oedema) या ऐवल 'हृकुमेशम' कह सकते हैं ।

स पद्विधो धातपित्तकफल्होरितसद्विपाता गन्तुनिमित्तः । तस्य दोषरूपव्यञ्जनैर्लक्षणानि व्याख्यास्यामः ॥३॥

वह शोष बाननिमित्त, पित्तनिमित्त, कफनिमित्त, शोषित निमित्त, स्थिष्ठाननिमित्त और आगन्तुनिमित्त देसा छ प्रकार का होता है। उस शोष के दोष रूप की प्रकटता करके लक्षणों को वर्णन करते हैं ॥३॥

यत्कथ्य—दोषरूपव्यञ्जने—उपादक दोषों का स्वरूप जिस प्रकार अभिव्यक्त हो जाय, उस प्रकार से स्पष्ट करके। मण्डीक का आमुनिक निशन—नवीन कल्पना के अनुमान व्याख्याशोष के निम्न कारण माने गये हैं। (१) विकारी जीवाणु, (२) द्वाव, घोट, भोट, मोच, आधात इत्यादि । (३) अधि या तस पदार्थों से जल जाना। (४) रामायनिक पदार्थ। यथा—तीव्र अख, ज्वार, बनस्पति और प्राणिग्रन्थि। (५) विषुव, भवाह। इन में से विकारी जीवाणु शोषोपाय के प्रधान कारण होते हैं। ये सर्व कारण आयुर्वेद के अनुमान आगन्तुकीमें आते हैं—मुखनि खल्वागानो नवदेशनपतनाभिवाराभिशाराभिकामि धातवधवर्षीदनगन्तुक्षेत्राभासाभिन्नोपतर्सादीनि । (चरक) :

तत्र, वातशोफोऽरुणः कृष्णो वा पुरुषो मृदु-रनवस्थितास्तोदाद्यव्याश्र वेदनाविदेशा भवन्ति; पित्तशोफः पीतो मृदुः सरसो वा शीशामुसार्यो पादव्यव्याव वेदनाविदेशोप भवन्ति, कफशोफः पाण्डुः शुक्रो वा कठिनः शीतः द्विग्धो मन्द्वलुसारी कज्ज्वलाद्यव्याश्र वेदनाविदेशोप भवन्ति, सर्वशोफः वेदनः सद्विपातजः; पित्तवच्छोपितजोऽरुणिहृष्णशः; पित्तरक्तलक्षण आगन्तुलोद्दितावभासम्भवः ॥४॥

इन में वात का शोष किंचित्, काल या काला, शुरदरा, मृदु होता है और उस की वेदना कभी बहसी है, कभी घटसी है। पित्त का शोष पीला, स्तु, रक्तलुक और शीश वज्जने वाला होता है और उस में जलन की सी वेदना विशेषता अधिक होती है। कफ का शोष हल्का पीला या संकेत, कठिन, शीत, स्लिंग, मन्दता से बड़े वाला होता है और उस में लाग आदि की वेदना अधिक होती है। जिस में सर्व प्रकार के दर्द और सर्व प्रकार की वेदनाएँ हों, वह संधिपात शोष है। अधिक के शोष में पित्त के लक्षण होते हैं और शोष विदेशोप कामा होता है। जिस में पित्तोप और रक्तोप के लक्षण होते हैं और सुरक्षी असंक्षी है, वह आगन्तुकोप है ॥४॥

वत्कथ्य—मृदुगोप दे प्राप्त स्थाननिरेत्र चर मुख्य लक्षण होते हैं, जिन में उर्ध्वेत्र सब सक्षणों का समावेश होता है—(१) शोष या सूजन—किसी स्थान में जब 'हृष्ण' भेदन उत्पन्न होता है तब प्राप्त सूजन हुआ ही करती है इस साहचर्य का परिणाम यह हुआ है कि भीतरी 'हृष्ण मैशन' के लिये आहारोय शब्द रुक्ष हो गया है। यह शोषों की कारणों से होता है—रक्ताधिक्य और रक्त रक्त रस का निकल कर वही के धातुओं में जमा होता पाले स्थान में शोष होने से सूजन शीघ्र बढ़ने वाली और मृदु भी होती है। कठिन स्थान में शोष होने से सूजन बहु कम, मन्दता से मध्ये वाली और कठिन भी होती है। कभी कभी शोष के स्थान से दूरी पर सूजन दिखाई देती है यथा हस्ततल और पादतन के शोष में कैलाई और टन्ने पर सूजन होती है और कानपुटी के शोष में अर्हता पर सूजन आ जाती है। कारण यह है कि शोष के स्थान पर आपरण कहा होने से उस का प्रभाव समीपवर्ती मृदु अर्गों पर दिखाई देता है। (२) लोहितवर्णता—इसका भी मुख्य कारण रक्ताधिक्य है। प्रारम्भिक अवस्था में जब रक्तप्राप्ति की अधिकता होती है और रक्त में प्राणवायु की रापि भी अधिक होती है तब शोषयुक्त स्थान का दर्श लाल सुर्ख होता है जो झुंगुलि के दबाते पर पीला और झुंगुलि इटाने से पौर्वीत लाल सुर्ख हो जाता है। दूसरी अवस्था में जब रक्तप्राप्ति में देहों से तथा हटाने से परिवर्तन इन्हें शीघ्र नहीं होते। (३) इम्प्याता—इसका भी कारण रक्ताधिक्य है। शोषयुक्त स्थान अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक गरम प्रतीत होता है। इसका प्रत्यय करने के लिये मध्यम शोष स्थान पर कुछ समय तक हाथ को रखना चाहिये। नवत्रात्र, दूसरे किमी स्थान पर रखना चाहिये। एन्टो गोवर्धन का तापकम रक्त के तापकम से अधिक नहीं होता। वायात्ववा की उण्ठाता भीतरी उच्चाता से होता कम रुक्षी है। जिस स्थान में शोष उत्पन्न होता है, वही रक्त का परिवर्तन उत्तम होने के कारण उसकी उच्चाता रक्त के बराबर ही जाती है। (४) वेदना—ज्वारपुल, रक्तर, और चाप्तीताप, रक्तरात, चूर्चा, जाते हैं तथा स्त्रियों के नर्तों (Nerve terminals) पर दबाव पड़ता है और उनका शोष हो जाता है, जिस से वेदना प्रतीत होती है। यदि स्थान पोता हो तो वेदना कम होती है, यदि कठिन हो तो वेदना अधिक होती है। शोष की वेदना की यह विशेषता है कि आमंत्रित या चाह दबाव बड़ने से वेदना की तृष्णी होती है। यदि इसमें शोष हो तो तो हाथ नीचे लटका देने से आमंत्रित रक्तमार बढ़ता है और वेदना की तृष्णी होती है। यदि शोषस्थान पर झुंगुलि या अन्य पदार्थ से दबाव तो भी वेदना की तृष्णी होती है और इसी कारण से दीमी रस्ये सहन नहीं कर सकता। इस अवस्था को स्वर्णना लैंड्रिंगुला या पीकानामता (Tenderness) कहते हैं। (५) इस स्थानों के अतिरिक्त स्वर्णरुग्णहि यह एक

वाँ लक्षण भी शोथ का माना जाता है। वेदना की वृद्धि से तथा स्थानिक शरीर परमाणुओं (cells) के कार्य में तथा उत्पन्न होने से यह पाँचवाँ लक्षण उत्पन्न होता है। त्रुक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शोथ के सर्व लक्षण अधिक्य के कारण उत्पन्न होते हैं। शोथ के समय रक्तवाहि गति प्रसूत हो जाती है। उन में से रक्त का प्रयाह वृद्धा और उस के साथ साथ लसिका का रपन्डन छोड़कर पाँहोंगे वह जमा होती है। शरीर की इटि से ये परिवर्तन आवश्यक नहिं हैं। कारण, रक्त शरीरक्षा का प्रधान साधन रक्त ही के द्वारा शोथ के स्थान में शरीरपरमाणुओं के ए खाय द्रव्य, विपनाशक घट्टुएँ, रक्तक और बन्धक सेन चाए जाते हैं। रक्त की कमी से इन आवश्यक पदार्थों की कमी हो जाती है।

**स यदा वाह्याभ्यन्तरैः क्रियाविशेषैर्ग संभास्तिः
शमयितुं क्रियाविपर्ययाद्व्युत्वाद्वा दोपाणां तदा
कासिमुखो भवति । तस्यामस्य पञ्चमाभ्यन्तर्य
कस्य च लक्षणमुच्यमानमुपधारय ॥५॥**

विपरीत क्रिया होने से या दोषों की शक्ति अधिक होने जब शोथ (लेपनादि) वाह्य और (काथपानादि) आम्यंतर त्वाओं से शान्त नहीं होता तब पक्कने लगता है। उस य के आम, अधिक और पक्क अवस्था के लक्षण जो हैं जाएँगे उन्हें श्रवण करो और समझो ॥५॥

बक्तव्य—पहले ही कहा जा चुका है कि शोथ प्रायः इकारी जीवाणु शरीर में पहुँचने के कारण उत्पन्न होता है। जीवाणु प्रवेशस्थान के सेलों को मारकर तथा साथ लेकर अपनी संख्या अतिरीक्षता से बढ़ाते हैं और वहाते समय अपैली वस्तुएँ भी बनाते हैं जो स्थानिक सेलों को हानि हुँचती हैं। शरीर के सेल इन जीवाणुओं के साथ अपनी रक्त से अन्य शरीरक्षक सेलों की सहायता लेकर मुकाबला जरूर है और यही शोथ है। संक्षेप में शोथ जीवाणुओं के त्रितीय शरीरसेलों के द्वारा एक एक सफण है। ग्रारम्भिक अवस्था में आलेप, परिपेक, सेल, अम्बंग, उपनाह इत्यादि अनिक (शाक) और छायादि (आम्यंतर) उपायों द्वारा योग का परिद्वारा धातुओं का नाश न होते हुए भी ही सकता है। परन्तु यज दोषों की (अर्थात् पर्याय से जीवाणुओं की) प्रति अधिक होती है या योग्य उपचार योन्य समय में नहीं होते तब दोष शरीर के कुछ अंश का नाश करते हैं और शोथ के स्थान में उसी से पीप बनने लगता है। शोथ की मारनिक अवस्था को 'आमावस्था' कहते हैं। यज रक्त शरीर परमाणुओं का नाश होता है, पूर्य की वृद्धि होती है और पूर्य फैलता रहता है तब तक उस स्थिति को 'पञ्चमानावस्था' कहते हैं। यज पूर्योत्पत्ति दंद हो जाती है, गनीर के धातुओं का नाश होती है दंद द्वारा जाता है, पूर्य के चारों ओर रोइण्डातु (Granulation tissue) की विस्त्रित बन कर उसका प्रसार रक्त जाता है और पूर्य परिमित स्थान में घटता है जाता है तब उस स्थिति को 'पञ्चमावस्था' कहते हैं। यहूदी का ही इलाज नाम 'विद्रुषि' है। विद्रुषि के चारों ओर-

मिति है वह स्त्रवाहिनियों का जाल, थेतकण और स्थानिक धातुओं के सेलों से बनती है। शोथ जब पाकाभिमुख होता है तब स्थानिक लक्षणों के अतिरिक्त शारीरिक लक्षण भी, पाये जाते हैं। ये लक्षण जीवाणुजन्य स्थानिक विप शरीर में व्यास होने से उत्पन्न होते हैं।

**तत्र, मन्दोप्तमता त्वक्संवर्णता शीतशोफता स्थैर्ये
मन्दवेदनात्तलपशोफता चामलक्षणमुद्दिष्टम् ॥६॥**

इन में से (शोथ का स्थान) किंचित् उण होना, त्वचा द्वा वर्षी अन्य त्वचा के समान होना (त्वचा के वर्षी में परिवर्तन न होना), शोथ में ठंडापन और काठिन्य होना, पीटा अधिक न होना और सूजन थोड़ी होना ये आमावस्था के लक्षण होते हैं ॥६॥

**सूचिभिरिच निस्तुद्यते दश्यत इव पिपीलिका-
भिस्ताभिश्च संसर्प्यत इव छिद्रात् इव शालोण मिद्यत
इव शक्तिभिस्ताडयत इव दरडेन पीडयत इव
पारिना घट्यत इव चाकुल्या, दहते पच्यत इव
चाशिक्षाराग्याम्, ओष्ठोपरीदाहाश्च भवन्ति,
वृथिक्षिद्ध इव च स्थानासनशयनेषु न शान्ति-
मुपैति, आध्यातवस्तिरिचाततश्च शोफो भवति,
त्वच्वैवर्यं शोफाभिवृद्धिर्ज्वरदाहपिपासा भक्ता-
रुचिश्च पच्यमानलिङ्गम् ॥७॥**

जैसे सुहृदों से वेदा जाता है, चीटियों से काटा जाता है, चीटियाँ चलती हुई मालूम होती हैं, राख से चीरा जाता है, भाले से ध्वला जाता है, ढण्डे से पीटा जाता है, हाथों से दबाया जाता है, बंगुलियों से मला जाता है, असि से जलाया जाता है, ज्ञार से पकाया जाता है, स्थानिक पार्वी में तथा आसमंतात् जलन होती है, विच्छू के दंश के समान पीडित होकर खड़े दैठे लेटे किसी प्रकार चैन नहीं पड़ता है, कूली ससक की भाँति तना हुआ शोथ होता है, त्वचा का दर्ज बदल जाता है, शोथ खूब वृद्ध होता है, ज्वर दाह व्यास और भोजन में दरचि होती है, ये लक्षण पच्यमान अवस्था में होते हैं ॥७॥

बक्तव्य—निचुद्यते—भृश व्यथते । निःश्वेऽज्ञ भृशाये । शक्ति—धर्छी या भाला । गोप—एक्कदेशिक लाल । चोप—पर्याप्ति-स्थाप्ति-संतापवद्व्यथा । परिद्वाह—परि समंतात् दाह । पच्यमान अवस्था में पूर्य की वृद्धि होती है और वृद्धि के साथ लाश उस का दबाव चारों ओर के धातुओं पर विशेष व्यरुते बातगाणियों पर होने से विविध प्रकार की पीड़ा, जैसे कि जपर वृष्णन की गर्हि है, होती है। यदि पूर्य ऐसे सृदृ त्वान में बनता हो कि जहाँ उसको फैलने के लिये अधिक स्थान आलानी से मिल सके तो अधिक तीव्र स्वरूप की पीड़ा नहीं होती। परन्तु यदि कड़े स्थान में स्थित हो तो थोड़े पूर्य से भी वृद्धिलंब्य की जैसी असदा वेदना हुआ करती है।

विकारी जीवाणुओं के कारण यज पाक घनता है तब ज्वर संवृद्ध होता है। ज्वर, जूँड़ी खुलार की भाँति, शीत के साथ

प्रारंभ होता है और पसीना निकल कर उत्तर आता है । ज्वर के साथ साथ अरथि, भूय न लगता, कोषदद्ता, जिहा सूखी और मैली, भूय गाड़ा और गहरे रंग का हल्लादि उसके अनुरूपिक लकड़ाय भी हुआ करते हैं । पाकशान से नियर रक्त में पटुच का मस्तिष्क के उल्लाजनक केंद्रों (Thermogenic centres) को उत्सेजित करके ज्वर उत्पन्न करता है । ज्वर पाक जीवाणु के अतिरिक्त अन्य प्रकार से बनता है तब ज्वर हल्ला होता है या नई होता ।

वेदनोपशान्तिः पाण्डुताऽल्पशोफता वली-
प्रादुम्यस्वस्वपरिपुठनं निष्ठदर्शनमहुल्याऽवपीडिते
प्रस्तुदमनं, वस्ताविवोदकसंचरणं पूर्यस्य प्रीपी-
दयत्येकमन्तमन्ते वाऽवपीडिते, मुहुर्मुहुस्तोदः
कर्त्तृद्रुत्प्रभता व्याधेष्पद्वशान्तिर्मकाभिकाइज्ञा
च पक्षलिङ्गम् ॥१॥

वेदनाओं की शान्ति, खचा का वर्ण फीका होना, शोय का हल्का होना, खचा पर झुर्मियाँ पड़ना और दरार होना, अगुलि से दबाने पर गड़ा पड़ना और फिर अगुलि हटाने पर दसका भर जाना, एक तरफ (अगुलि से) दबाने पर भासक में भेरे हुए पानी की तरह पूरे के सचार से हुसार हरक फीटन (मालाम) होना, थार बार (बीच बीच में) वेदना होना, लाज, सूजन के उभार का कम होना, उपद्रवों की शान्ति, भोजन में हृचि ये दक्षण पकावस्था के हैं ॥१॥

यत्कथ्य—पाण्डुता—खचा पांचुरुर वर्ण होता । यह निर्जीव खचा का लक्षण है । त्वकपरिटनम्—खचा के छिल्के के निकलना या उस में ब्रण पैदा होना । यह भी खचा निर्जीव होने का लक्षण है । जब शोय पक हो जाता है, तब भीतरी पूर्य बाह्य खचा की ओर धीरे धीरे बढ़कर उस को निर्जीव करता है और कुछ समय के पश्चात् अल्पत निर्जीव श्यान को काढ कर बाहर निकल आता है । शोयस्थान में पूर्य की उत्पत्ति बहु हो जाने पर भीतर का तनाव कम हो जाता है जिस से सूजन इलकी (अल्पोफता) हो जाती है, खचा सिकुद्दने लगती है (कमीशुद्दमार्ग) और शोय का उभार भी (अनुशत्तता व्याघ्र) कम हो जाता है । निम्नरूपनमल्पयाऽवपीडिते प्रस्तुदमनम्—यारीर में द्रव के कारण जो सूजन उत्पन्न होती है, वह यदि चिरकालीन न हो तो अंगुली से दबाने पर द्रव जाती है । कारण यह है कि द्रवाव के श्यान का द्रव इत्तर उत्पर हट जाता है । परन्तु इंगली हटाते ही फिर द्रव उसी स्थान में लौट आता है और शोय वहले जैसा हो जाता है । अंगेनी में इसको 'पिटिंग बान प्रेयर' (Pitting on Pressure) कहते हैं । यह द्रवगर्भ शोय का एक प्राचान लक्षण है, जो घन-शीघ्र (Solid Oedema or Myxoedema) में या चिरकालीन शोय (यथा श्वीरद का शोय) में छिपते मिलता है । इसी हल्लादि—अन्यथा—मनो (पक्षस्थिर्यापांकों) जनीविते (सति) बल्लाबुद्दक क्षेत्रान्मिति पूर्यस्थाने सचरण अकमनम् (अपर पार्श्व) प्रीपीदयति (आकलनीन वेगेन) । पूर्य स्थान को युक्त तरफ दबाय देने से वह

द्रव पूर्य ही के नहिये दूसरी तरफ मतीत होता है । इस की अहीरा या 'तंत्रंगसंपरणमनीति' बहते हैं । अप्रीती में इस को 'फ्लूट्युएशन टेस्ट' (Fluctuation test) कहते हैं । शरीर के किसी परिमित श्यान में जब स्वतंत्र द्रव (Free fluid) यांत्रित हो जाता है, तब यह प्रतीति मिट सकती है । यथा—जनोइर, भूरज शूदि, दूपविदधि, गंधि (cyst) हल्लादि । यदि द्रव खचा के समीप हो तो यह प्रतीति बहुत स्पष्ट होती है । परतु यदि गहराई पर हो या अहुत ही तनाव के साथ मरा हो सो प्रतीति मिलने में कठिनता होती है । तो भी यदि साक्षात् होकर परीक्षा की जाय तो भीतरी द्रव का पता चल जाता है ।

कफजेषु तु रोगेषु गम्भीरगतित्वाद्विभावात्जेषु
या केषुचिदसमस्तं पक्षलक्षणं दृष्टा पक्षमपकमिति
मन्यमानो मिपहमोद्दमुपैति । यत्र हि त्वरस्यर्थंता
शीतशोफता स्थैल्यमल्पस्वजत्ताऽश्मवय्य घनता, न
तत्र मोहंसुपेयादिति ॥२॥

कक्षन्य रोगों में शोय गहराई पर रित्य होने से या अभियातजन्य कहे रोगों में पक्षावस्था के समर्प्त लक्षण न देखत्वा शोय पक होते हुए भी पक न समझ कर बैद्य (विकिला में) चूक जाता है । (हसलिये) जहाँ खचा के वर्ण की समता, शोय में ढंडापन, मोटापन, वेदना की अल्पता, पर्यार की भाँति कदापन (ये अपकावस्था के लक्षण) होते हैं वहाँ (अन्य हल्काणों का निरीक्षण करके पक्षावस्था का निदान करने में) नहीं चूकता चाहिए ॥२॥

यत्कथ्य—हसी अवस्था को बाग्मट में 'रक पाक'

कहा है—रकपाकमिति ब्यातृत प्राची मुक्तस्यम् ॥ गम्भीरगतित्वाद्विभावात्जेषु
गहराई पर रित्य होने का कारण । कभी कभी पाक गहराई पर रित्य होने से उसके लक्षणों को देखकर निदान करना कठिन होता है । परन्तु आज कल सूक्ष्मरूपक्यन्ति द्वारा रोगी में रक की परीक्षा करने से निदान में अहुत सहायता मिलती है । रक में लाल कणों की भाँति खेतक्या भी होने हैं । इनकी संख्या औसत प्रति धन सहायता मीठर रक में ३००० से १०००० तक होती है । पूर्योन्पति के समय तथा मुख्येनिया विर्सप्रहल्लादि रोगों में इन की संख्या प्रति धन सहायता मीठर रक में ५०००० तक अधिक होती है । यदि रकपरीक्षा करने से इन की संख्या २०००० या इस से भी अधिक मिले और अन्य खेतक्या कृष्णिजनक रोगों के लक्षण न हों तो पाक का निदान कर सकते हैं ।

भव्यन्ति चाप्र—

आमं विषध्यमानं च सम्यक् पकं च यो गिषक् ।
जानीयात् स भवेद्वैष्ट् शेषास्तस्करवृत्तयः ॥१०॥

जो शोय की आम, पच्यमान और पक अवस्थाओं को दीक्ष जानता है वही दैरा हो सकता है, वाकी सब तस्कर-वृत्ति होते हैं ॥१०॥

वाताद्वते नास्ति रुजा न पाकः
पित्ताद्वते नास्ति कफाच्च पूयः ।
तस्मात् समस्तौः परिपाककाले
पचन्ति शोफांस्त्रय एव दोषाः ॥११॥
कालान्तरेणाभ्युदितं तु पित्तं
कृत्वा वशे वातकफौ प्रसहा ।
पचत्यतः शोणितमेव पाको
मतोऽपरेषां विदुपां द्वितीयः ॥१२॥

वायु के विना पीड़ा नहीं होती, पित्त के विना पकने का विना नहीं होता, कफ के विना पूय नहीं होता । इसलिये रेपाक के समय में तीनों दोष शोथ को पका देते हैं ॥११॥ लालन्तर में प्रवृद्ध हुआ पित्त अपने बल से वात और कफ न को विद्युत्त कर रक्त को पका देता है और यहीं पाक होता, ऐसा कई वैद्यों का (पाक के संबंध में) दूसरा भत्त है ॥१२॥

वृक्षत्वय—इन श्लोकों में आयुर्वेदिक कल्पना के अनुसार पूय के सम्बंध में दो भूत प्रदर्शित किये हैं—पूर्वदर्शने कफात् यः, अत्र दर्शने शोणितात् पूय इति विशेषः । (मधुकोगव्याल्या) । इक मतानुसार कफ से पूय बनता है और दूसरे मतानुसार त्ति से पूय बनता है । इस में संदेह नहीं कि शोथ के स्थान में पाकविधि से जो तरल पदार्थ उत्पन्न होता है, वही 'पूय' है । अंग्रेजी में पूय को 'पस' (Pus) और पाकविधि को (Suppuration) सम्पुरेशन कहते हैं । यदि पूय का परीक्षण रासायनिक और सूक्ष्मदर्शक दृष्टि से किया जाय तो पूय क्या है, इस का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है । शोथ का स्थान एक दृष्टि से रणभूमि है, जहाँ शरीर के शत्रु और गरीर के रक्तकों में घनघोर युद्ध होता है । दोनों अवयत सूक्ष्म अतपृष्ठ अप्रत्यक्ष होने के कारण उनके युद्ध का चिकित्पत दृष्टि के सामने नहीं होता । परन्तु सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता से यह अप्रत्यक्ष दृश्य अब प्रत्यक्ष हो गया है । वास्तव में सारे रोगोत्पादक जीवाणु शरीर के शत्रु हैं, परन्तु पाकविधि में केवल पूयजनक (Pyogenic) जीवाणुओं का सम्बंध आता है । पूय के उत्पन्न करने में निम्न जीवाणु भाग लेते हैं—स्ट्रैफिलो कोकस, स्ट्रैप्टोकोकस, न्युमोकोकस, वैसीलस पायो-सायनीअस, भेनिगोकोकस, गोनोकोकस, वैसीलसकोलाई, वैसीलस टायकोसस (आंत्रिकजर्जर का जीवाणु), वैसीलस ल्युक्यरस्कुलोसिस (राजवश्मा का जीवाणु) और अविटिनो-माइसीस (मेरा, जीवाणुविज्ञान पृष्ठ ३९ देखो) । इन में से ईफिलोकोकस, स्ट्रैप्टो कोकस और न्युमोकोकस पूयस्थान में हमेशा पाये जाते हैं । ये जीवाणु जब किसी स्थान में प्रविष्ट हो जाते हैं तो प्रथम वहाँ शोथ उत्पन्न करते हैं । अब उस स्थान में पहले की अपेक्षा रक्त अधिक आता है और अधिक शीघ्रता से अमण भी करता है । इसी रक्त द्वारा शोथ के स्थान में शरीररक्त के सैन्य पहुँचता है । शरीररक्त के लिये सब से महत्व के सेल रक्तगत शेतकण होते हैं । वे वहाँ अधिक संख्या में पहुँच जाते हैं । ये शेतकण जीवाणुओं का

भक्षण करते हैं । अतः इनको भक्षक सेल (Phagocytes) भी कहते हैं । भक्षण किये हुए जीवाणु इनके गरीर में सूक्ष्मदर्शक द्वारा दिसाई देते हैं । जहाँ जीवाणु होते हैं, वहाँ इनकी दौड़ मच जाती है और दोनों में उस स्थान पर युद्ध छन जाता है । यदि जीवाणु निर्विल और कम संख्या में हों तो गरीर के सेलों का नाम भी होते हुए भी शोथ का परिहार हो जाता है और पूय नहीं बनता । इस स्थिति को शमन (Resolution) कहते हैं । यदि जीवाणु अधिक संख्या में थ्रौर अधिक शक्ति-भान्न हों तो इस युद्ध में असंख्य स्थानिक धातुओं के सेल, शेतकण तथा जीवाणु भी मृत हो जाते हैं । तब शत्रुओं पर विजय मिलता है और शोथ का परिहार होता है । इस स्थिति को पूयमन (Suppuration) कहते हैं । पूय क्या है—उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होगा कि पूय मृत सेलों से ही बना है । उस में जिस स्थान में शोथ होता है उस के मृत सेल, मृत पूयजनक जीवाणु और मृत शेतकण होते हैं । इन के सिवाय कुछ लाल कण और जीवित जीवाणु तथा शेतकण भी होते हैं । पूय का गाढ़ा भाग इन्हीं चीजों से बनता है । पूय का तरल भाग रक्त रस से बनता है और लसिका की तरह अल्ड्यूमिन, जीवाणुविधि हत्यादि पदार्थयुक्त होता है । पूय में करीब ९०% जलांश होता है । उसकी गुस्ता १०३० और प्रतिक्रिया ज्ञारीय होती है । उस से एक प्रकार की गंध आती है । यदि वैसीलस कोलाई से पूय बन गया हो तो उसमें भल के समान दुर्गंध आती है । इस का रंग चहुधा हल्का पीला होता है परन्तु यदि वैसीलस पायोसीनिअस से पूय उत्पन्न हुआ हो तो उस का रंग नीला हरा होता है । पूजनक जीवाणुओं के विशेष विवरण के लिये अंगकार का 'संक्षिप्त-जीवाणु विज्ञान' देखो । कभी कभी जीवाणुओं के सिवा भी पूय बनता है । इस प्रकार का पूय यजूत्विद्विधि, जिन्हों के दीज-वाहिनी का विद्रधि (Evosalpinx) और रासायनिक द्रव्य से उत्पन्न हुए शोथ में मिलता है । इस से यह स्पष्ट है कि पूय अधिकांश रक्त से ही बनता है । जिस पूय में जीवाणु नहीं होते उस को जीवाणुरहित पूय (Sterilepus) कहते हैं ।

तत्र, आमच्छेदे मांससिरास्त्राच्चस्थिसन्धिव्यापादनमतिमात्रं शोणितातिप्रवृत्तिर्वेदनाप्रादुर्भावोऽवदरणमनेकोपद्रवदर्शनं ज्ञतविद्रिधिर्वा भवति । स यदा भयमोहाभ्यां पक्कमप्यपक्कमिति मन्यमान-श्विरमुपेक्षते व्याधिं वैद्यस्तदा गम्भीरातुगतो द्वारमलभमानः पूयः स्वमाश्रयमवदी(दा)योत्सङ्गं महान्तमवकाशं कृत्वा नाडीं जनयित्वा कृच्छ्रसाद्यो भवत्यसाध्यो वेति ॥१३॥

आम (या अपक) अवस्था में शोथ चीरने से मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और संविधियों का अधिक नाश, रक्त का अधिक लाल, वेदना की उत्पन्नि, विदारण, अनेक उपद्रव अथवा क्षतविद्रधि ये उत्पन्न होते हैं । और यदि भय या अज्ञान से पक शोथ की अपक समझ कर वैद्य बहुत समय तक उस को

आलेपविस्तावणशोधनैस्तु
सस्यकृ प्रयुक्तैर्यदि नोपशास्येत् ।
पञ्चेत शीघ्रं संमलपयूलः

स पिरिडतश्चोपरि चोशतः स्यात् ॥१७॥

आलेप, रक्त स्वरण, संघोधन इत्यादि उपाय योग्य (समय और विधि द्वारा) प्रयुक्त करने से (यहुधा शोफ का प्रशम और जाता है, वह पक्ता नहीं परन्तु) यदि प्रशम न हो जाय तो भी शोफ सब अंगों में समान और शीघ्रता से पक्ता है, बहुत फैलता नहीं और दोषों को इकट्ठा करके ऊपर ने उठ आता है ॥१७॥

वक्तव्य—एक होने के पूर्व शोध के परिहार को प्राप्ति (Resolution) कहते हैं ।

कांस समासाद्य यथैव वहि-

र्वते(च्छी)रितः संदहति प्रसह्य ।

तथैव पूयोऽप्यविनिःस्तो हि

मांसं सिरः खायु च खादतीह ॥२०॥

खायु से प्रेरित हुआ अस्ति जैसे तृणसमूह में प्राप्त होकर इस को घड़े जोर से (हठात) जला देता है वैसे ही (दोषों से प्रेरित तथा नक्षत्र से) बाहर न निकाला हुआ पूय मांस, सेरा और लायु (आदि में प्राप्त होकर उन को) खा डालता (नाश कर देता) है ॥२०॥

आदौ विम्लापनं कुर्याद् द्वितीयमवसेचनम् ।

तृतीयमुपनाहं तु चतुर्थीं पाटनक्रियाम् ॥२१॥

पञ्चमं शोधनं कुर्यात् पष्ठं रोपणमित्यते ।

एते क्रमा वणस्योक्ताः सप्तमं वैकृतापंहम् ॥२२॥

इति सुश्रुतसंहितायां सदस्याने आपकैपैयो

नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

प्रथम विम्लापन, द्वितीय दोपावसेचन, तृतीय उपनाह, चतुर्थी पाटनक्रिया, पंचम शोधन, पष्ठ रोपण (और सप्तम विकृति का दूरीकरण ये ब्रणशोध के सात उपक्रम कहे गये हैं) ॥२१-२२॥

वक्तव्य—द्विकिसा स्थान के प्रथम अध्याय में ब्रणशोध के जो साठ उपक्रम निर्दिष्ट किये गये हैं, उन का संक्षेप यहाँ अंतिम उपयोगी सात प्रधान उपक्रमों में किया गया है । इन सात उपक्रमों में सब का समावेश हो जाता है । विम्लापन—स्वेदन करने के पश्चात् अंगुलियों से शोधस्थान पर मर्दन करना—अन्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुना वा शैः शैः शैः । विमर्दयेद् गिपकं प्रावस्तलेनाशुपकेन वा ॥ इस में अपतर्पण से विम्लापन तक छः उपक्रमों का समावेश होता है । अवसेचन—दोषों को निकालना । इस में विवादन, स्नेह, वर्मन और विरेचन इन चारों का समावेश होता है । उपनाह—शोध का प्रशम या पाचन करने के लिये तीसी आदि उष्ण वीर्य द्रव्यों को पीस कर और गरम करके कपड़े से धोना । अंग्रेजी में इसे बुल्टीस (Poultice) कहते हैं । इस में उपनाह और पाचन दोनों का समावेश होता है । पाटनक्रिया—इस में छेदन से सीवन तक नीं उपक्रमों का समावेश होता है । शीधन और रोपण—

इन में संधान से ग्राधूपन तक तेरह उपक्रमों का समावेश होता है । कैठुतापत्त्य—वृणस्थानीय तथा सार्वदेहीय दिक्कारों का निराकरण करना । इस में उत्सादन से रक्षाविधान तक शेष छव्वीस उपक्रमों का समावेश होता है । वृणस्थ—वृणशोफस्य । इति भास्तरसार्मणा गौविन्दात्मजेन विरचितायामायुवेदरस्यदीपिकायां शुद्धतभाषार्थीकायामामपकृष्णीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः ।

अथातो वणालेपनवन्धविधिमध्यायं व्याख्या-स्थामः । यथोवाच्च भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से व्याख्यालेपनवन्धविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

आलेप आद्य उपक्रमः, एष सर्वशेषोफानां सामान्यः प्रधानतसम्ब्र, तं च प्रतिरोगं वच्यामः; ततो वन्धः प्रधानम्, तेन शुद्धिर्वणरोपणमस्थिसन्धिस्थैर्यं च ॥२॥

आलेप प्रथम उपचार है । यह सर्व (भक्तार के) शोफ के लिए सामान्य और प्रधान है । इसका वर्णन प्रत्येक रोग के वर्णन के समय करेंगे । तत्पश्चात् वंध प्रधान है । उस से व्यक्त का शोधन तथा रोपण होता है और अस्थियों तथा संधियों में स्थिरता हो जाती है ॥२॥

वक्तव्य—आथ—ओपिधि द्रव्यों से करने वाले उपचारों में प्रथम । सामान्य—छः प्रकारों के शोफों में उपयोगी । प्रथानतम—श्रीघ्र पीड़ा हरण करने के कारण ।

तत्र प्रतिलोममालिम्पेन्नानुलोमम् । प्रतिलोमे हि सद्यगौषधमवतिष्ठेऽनुप्रविशति रोमझूपान् स्वेदचाहिभिष्य सिरामुखैर्वर्ण्य प्राप्तोति ॥३॥

लेप प्रतिलोम करना चाहिए, अनुलोम नहीं । क्योंकि प्रतिलोम करने से ओपिधि ठीक ठीक रूप जाती है, रोमझूपों में प्रवेश करती है और स्वेदवाही सिराद्वारा के मुखों में प्रवेश करके अपने गुण को भी करती है ॥३॥

वक्तव्य—प्रतिलोम—यालों का जो लूप होता है, उसकी विरुद्ध दिशा में ।

न च शुद्ध्यमाणमुपेक्षेत, अन्यज पीडितव्यात्;
शुज्जो ह्यार्थको रुक्षरक्ष ॥४॥

पीड़न के अतिरिक्त सूखे लेप को नहीं रहने देना चाहिये । सूखा लेप निरर्थक और पीड़नकर होता है ॥४॥

वक्तव्य—अन्यज पीडितव्यात्—ब्रणशोध में जब पीड़न द्वारा भीतर के पूर्य को बाहर निकालने की आवश्यकता होती है तब लेप को सूखा रखना चाहिये । क्योंकि पीड़न का कार्य आद्रोवस्था में नहीं हो सकता—पूर्यगर्मानणुदारान् ब्रणान् मर्मेगतानपि । यथोक्तः पीड़नद्रव्यः समतात् परिपीडेत् ॥ शुद्ध्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीड़नं प्रति । न चाभिमुखमालिम्पेत्या दोषः प्रसिद्धते ॥ इस के अतिरिक्त जब अन्य अर्थप्राप्ति करना हो तब लेप सूखा हो

जाने पर निकाल देना चाहिये । अर्थात्—उद्दिष्ट वर्ष न करने वाला । आलेप के दग्धविष वर्ष ही होते हैं—प्रतिशत समय दालेप । तथा—१ लैंडिस, २ निवारण, ३ प्रमादन, ४ ग्रन्थमन, ५ बिलयन, ६ पाचन, ७ पीड़न, ८ रेखन, ९ रोगा, १० सर्वकारणय । (अ सप्तम) । शुक्रावस्था में पीड़न के अतिरिक्त शेष वर्ष सिद्ध नहीं होते । रक्तश्वन्—अरप्रकरण ऐसा भी पाठ है । परन्तु शुक्र लेप से मरा उपचार होने का कोई विवेप करता नहीं है । पीड़ामात्र हमें होती है और उस का प्रत्येक को अनुभव होता है । पीड़ा के अतिरिक्त अष्टाग्रामप्रदृश में निम्न दोष बतलाए गये हैं—शुक्र हि दाहोपराग्रस्यावल शूलनि वर्षयनि । (उत्तरस्यान् ३०) ।

**स विविधः—प्रलेपः, प्रदेह, आलेपथ । तेषो-
मन्तरम्—प्रलेपः शीतस्तनुरविशोषी विशोषी च;
प्रदेहस्तृणः शीतो वा यहलोऽयुरुरविशोषी च;
मध्यमोऽत्रालेपः ॥१॥**

यह लेप तीन प्रकार का है—१ प्रलेप, २ प्रदेह, और ३ आलेप । इन में यह भेद है । 'प्रलेप' यह है जो छड़ा और पतला प्रयुक्त होता है और जो (छेद की) सुखाने वाला या न सुखाने वाला है । 'प्रदेह' यह है जो गरम या छड़ा, मीठा या पतला प्रयुक्त होता है और जो क्षेत्रोपक नहीं है । 'आलेप' यह है जो सब बारी में मध्यम होता है ॥५॥

**तत्र, रक्तपित्तप्रसादहृदलेपः; प्रदेहो वात-
स्त्रेप्यप्रशमनः; संधानः; शोधनो रोपणः; शोफवेदना-
पहच्छ; तस्येपयोगः चत्रवत्तेषु, यस्तु चतेषूप-
युज्वते स भूयः कक्ष इति संदां लभते निरुद्धा-
लेपनसंहः; तेनाश्वायसविरोधो मृदुता पूतिमांसाप-
कर्पेणमनन्तर्दोपता वृणुरुद्धिष्य भवति ॥६॥**

इन में प्रलेप रक्तपित्तस्त्रेप्य योग को शान्त करने वाला है । प्रदेह वातस्त्रेप्यप्रश्व योग को शान्त करने वाला, संधानीय, शोधन, रोपण और सूजन तथा पीड़ा का नाश करने वाला होता है । उस का उपयोग वृणुक शोध या वृण्णहित शोध दोनों में होता है । जो वात पर उपयोग किया जाता है, वह फिर 'कक्ष' कहलाता है । उस 'निरुद्धालेपन' भी कहते हैं । इस से वात का निरोध होता है, स्थान मृदु हो जाता है, सेरे गडे मास का अपर्करण होता है, भीतर निर्दोषता और वर्ण की शुद्धि होती है ॥६॥

यत्कथ्य—निरुद्धालेपनम्—वात का निरोध करने के कारण उसे 'निरुद्धालेपन' कहते हैं । लुगारी (कक्ष) के स्वरूप में प्रयुक्त होता है, इसलिये 'कक्ष' भी कहते हैं । यहाँ प्रदेह और प्रलेप के जो गुणार्थम् वर्णन किये हैं उससे बिलकुल विलक्षण गुणार्थम् अष्टाग्रामप्रदृश में लिखे हैं । यह शीतलस्त्रुत्युर्मुद्दृश प्रयुज्ये स प्रदेहो रक्तपित्तवां प्रसादहृद । प्रेषणसूल शीतो वा बहुत्वा तथा वातस्त्रेप्यप्रशमन ॥ (उत्तरस्यान् अ ३०) ।

१ प्रलेपदेहोन्तर, २ बहुत्वी वृश्चिरोगी, ३ निरोधालेपनम्

अविद्यग्नेषु शोफेषु द्वितमालेपनं भवेत् ।

यथास्वं दोपशमनं दाहकद्वयजापहम् ॥७॥

त्वक्प्रसादनमेवाग्रयं मांसरक्तप्रसादनम् ॥८॥

दाहप्रशमनं थेषु तोदकरूद्धिविनाशनम् ॥९॥

मर्मदेशेषु ये रोगा युद्योग्यपि तथा चृष्णम् ।

संशोधनाय तेषां हि कुर्यादलेपनं भिषम् ॥१०॥

पदभागं पैत्तिके स्नेहं चतुर्भागं तु यातिके ।

अष्टमार्थं तु कफजे स्नेहमात्रां प्रदापयेत् ॥११॥

गोक की अविद्यग्नेष्यावस्था में आलेपन ही हित है । आलेपन दोपातुमार उनकी शान्ति करता है, दाह करूद और पीड़ को दूर करता है ॥१॥ त्वचा की प्रसन्नता के लिए सर्वोः है, रक्त और मांस को भी प्रसन्न करता है, दाह की शान्ति करने के लिए थेषु है और पीड़ा तथा कण्ठ को नाश करता है ॥२॥ मूर्म स्थानों पर तथा युद्ध प्रयोगों में जो रोग इंजाते हैं उन के संग्रहन के लिए वैद्य आलेपन का ही उपयोग करें ॥३॥ पित्त के रोगों में छड़ा भाग, बायु के रोगों में चौथा भाग और कफ के रोगों में आठवां भाग येह ही भाव (आलेपन के द्वारा में) ढालनी चाहिए ॥४॥

**यत्कथ्य—अविद्य—जो पाकाभिमुख नहीं है । ऐग—
सर्दी के अनुसार योग समझना चाहिये । युद्धविजयनें विद्य तथा उसके समीकरणीय प्रदेह में ।**

तेस्य प्रमाणामाद्रीमाहियत्वर्मस्तेष्यधुमपिद्विनिति ॥१॥

आलेपन (की मोटाई) का प्रमाण भेदसा के गोले घमेरी की मोटाई के समान बतलाते हैं ॥१॥

न चालेपं रात्रौ प्रयुक्तीत, या भूद्धेत्यपिद्वि-
तोप्यास्तद्विनिर्गमाद्विकाप्रयृत्ति(द्वि)रिति ॥२॥

आलेपन की शीतलता से रुक्षी हुई उम्राता बाहर न बिलगने से योग की वृद्धि न हो जाय इसलिये रात्रि में आलेप करना योग नहीं है ॥२॥

यत्कथ्य—तैत्यपिद्विनिता—तैत्यपिद्विनिता— 'शोफाव' इन रोग । तैत्य का सम्बन्ध कुछ दीक्षाकार रात्रि के साथ करते हैं—प्रतिशिंखेन शरीरोपण क्रारिंशनम् (हनु) । रात्रि के समय आलेप ज करने का दूसरा भी पूर्व काशन संबंध में दिया है—पुष्करवनम् पठति । तथा पिद्विनो शाया रोमकृपेनाहृते । लेपादि नैव निर्याति रात्रौ नालेपेत । सप्रह में रात्रि का निरोध प्रदेह के समय में दिया है । चक्र के अनुसार अन्य प्रकार के जो रोग होते हैं, उनका प्रयोग रात्रि के समय करने में आवश्यक नहीं है । इस में सदैन हरी के लेप की परिमाणा में बहुत भविष्यता मिलती है, जिस का ग्रन्थय सम्प्रह तथा डल्हणा-चार्य की दीक्षा से मालम होता है ।

प्रदेहसाध्ये व्याधी तु द्वितमालेपनं दिवा ।

पित्तरक्ताभिमातोत्त्वे सविये च विशेषतः ॥१३॥

न च पर्युपितं लेपं कदाचिदिवव्यारयेत् ।

उपर्युपरि लेपं तु न कदाचित् प्रदापयेत् ॥१४॥

१ तेस्य प्रमाण महिषाद्रैचमोक्षयोरेष्याद्वल इति.

प्राणं देदनां दाहं घनत्वाज्जनयेत् स हि ।

“ च तेनैव लेपेन प्रदेहं दापयेत् पुनः ।

प्रदेहसाध्य व्याधियों में, विशेष करके रक्त, पित्त, अभिन-
त और विष जन्य व्याधियों में दिन में ही लेप करना
मस्त है ॥१३॥ बास्ति लेप कदापि उपयोग नहीं करना
हिये तथा (सूखे हुए) लेप के ऊपर दूसरा लेप भी नहीं
जा चाहिये ॥१४॥ व्योक्ति कठा हो जाने से वह गरसी,
हा और दाह को पैदा करता है । एक समय सूखे हुए
लेप को गीला करके फिर प्रयुक्त नहीं करना चाहिये व्योक्ति
क हो जाने से निर्वर्यि वह लेप प्रयुक्त करने पर भी
धिय हो जाता है ॥१५॥

चक्रवर्य—न च पूर्वित लेपम्—लेप के उपयोग के संदर्भ
यहाँ जो धातृ पतलाइ राहि है वे तीनों प्रकार के आलेप
विषय में समझनी चाहिएँ। प्राकाश्वर्य वैद्यक में आलेप की
पर्याप्ती कल्पना प्रदर्शित करने के लिये एक ठीक प्रतिशब्द
रही है किन्तु पेस्ट (Paste), पिग्मेंट या पेंट (Pigment
or Paint), और प्लास्टर (Plaster) हन्दका उपयोग लेप
के तौर पर स्थानिक शोफनिवारण के लिये होता है।

अत ऊर्ध्वं द्वणाबन्धनद्वयारेयुपदेश्यामः; तद्य-
१-क्षौभकार्पासाविकदुक्षलकौशेयपञ्चोर्णवीनपद्म-
मान्तर्वस्तकलालाद्वाशकललताविदलरज्जुतूलफल-
न्तानिकालौहानीति; तेषां व्याधिं कालं चावेद्यो-
योगः; प्रकरणातथैषामादेशः ॥१६॥

अब यहाँ से व्याधिघन द्रव्यों का उपदेश करते हैं । (व्रण-
धन में ये पदार्थ उपयोगी होते हैं) —क्षीम, कार्पास, आविक,
शैल, कौशिय, पत्रोण, चीनपट्ट, चर्म, अन्तर्वल्कल, अलावृ-
क्षिल, लता, विदल, रज्जु, तूलफलसंतानिका और लोंहादि-
गतु के उपयोगी पदार्थ । व्याधि और समय को देखकर
निका उपयोग करे । हनका चिशेष द्विवरण भिन्न सिला प्रक-
रणों में दिया जायगा ॥१६॥

बक्सावय—सौम—अतसी या सन के सूत्रों से बनाया हुआ वस्त्र।
हेखा वस्त्र (Flax)। कार्पास रुई से बनाया हुआ वस्त्र।
शाकिक—वकरी के रोप से बनाया हुआ वस्त्र, जन (Wool)।
डूबल—अत्यंत महीन रेशम का वस्त्र। **कौशेय**—रेशम। पत्रोर्ण—
अनेक प्रकार की बनस्पतियों के पत्तों से बनाया हुआ वस्त्र।
खूबपट—चीन देश में बनाया हुआ वस्त्र। **बन्तवल्कल**—वृक्षों
भीतर की नरम छाल। **विदल**—बाँस की खपची। **तूलपल-**
निमि—द्विगुण चुरुरुण रुहं का वस्त्र। **लौहानि**—सुवर्ण,
रीव, ताप्र हत्यादि धातुओं के तार, पत्र घग्गरह। **प्रकरणतः**—
भिन्न भिन्न विषयों के अध्यायों में। **यथा**—सर्पदंश के प्रकरण
में रजु का उपयोग—ता तु रज्जवादिर्भिरदा विषप्रतिकरी मता।
प्रस्तियमंग के प्रकरण में अन्तर्दृष्टियों का उपयोग—मध्यकू
दुम्बाइवत्यपलाशकुम्भत्वचः। वंशसर्जवदानां च कुरार्थमुपसहरेत्।
गात्रामात्र सद्योविषण के ग्रहणये में चर्म का उपयोग—चर्मण
गोप्याद्याः। तदेव ते विषयाः।

तत्र कोशदामन्धस्तिकानुवेहितम् (प्र) तोली
मण्डलस्यगिकायमयं अद्वार्चानविवन्धवितानगोफरा।
पञ्चाङ्गी चैति चनुर्देश वन्धविशेषाः । तेषां नाम-
भिरेवाकृतयः प्राणेण व्याख्याताः ॥१७॥

‘धंधों के भेद—’ कांग. २ द्राम, ३ स्वस्तिक, अनुवेलित,
५ मुत्तोली. ६ मण्डल. ७ स्थगिका. ८ यमक. ९ खट्टा, १०
चीत, ११ चिरंध, १२ चितान, १३ गांगण और १४ पंचांगी
ये चौदह प्रकार के धंध हैं। नाम हाँ से इनकी रचना अधि-
कांश स्पष्ट हो जाती है ॥५॥

बस्ताव्य—वामभट में 'उर्सग' नामक एक अधिक रंग राणी किया है। वंश को अंग्रेजी में 'बैंडेज' (Bandage) कहते हैं।

तत्र कोशमङ्गुष्ठाङ्गुलिपर्वसु विदध्यात्, दाम
संवाधेऽङ्गे. सन्धिरूच्चकभूस्तलातरतलकर्णेषु
स्थस्तिकम्. अनुवेल्लितं तु शास्त्रासु, शीवामेहयोः
प्रतोलीं, चुनेऽङ्गे मण्डलम्, अङ्गुष्ठाङ्गुलिसेष्ट्रायेषु
स्थगिकां. यमलब्रह्मयोर्यमकं, हङ्गुशङ्गुगरणेषु स्थाम्,
अपाङ्गयोश्चीनं, पृष्ठोदरोरःसु विदन्धं, मूर्धनि
वितानं, चिबुकनालौष्ट्रांसवस्तिषु गोफणां, जन्मणा
ऊर्ध्वं पञ्चाङ्गीमिति; यो वा यस्मिन् शरीरप्रदेशे
सुनिविष्टो भवति त तस्मिन् विदध्यात् ॥१८॥

उन में से अङ्गूठे शौर अंगुली के पोरवों में कोशवंध लगावे । पृष्ठन युक्त अंग में दाम धंध लगावे । संस्थि, कूच्चर्मस, श्रुकुटा और स्तानों के बीच का भाग, हस्ततल, पादतल और कान इन स्थानों में स्वस्तिक धंध लगावे । घाराहाओं में अनुवेहित धंध लगावे । गर्दन और लिंग पर प्रतोलीवंध लगावे । गांलस्थान में मंडलवंध लगावे । बैंगड़ा, अंगुलि और लिंग इनके नोक पर स्थगिकावंध लगावे । दो समीप-वर्ती घरणों पर यमक धंध लगावे । ढोड़ी, कनपटी और कपोल इन पर खट्टावंध लगावे । अपांग प्रदेशों में चीनीवंध लगावे । पीठ, उटर और जक्षःस्थल पर विवेदधंध लगावे । सिर पर चितानवंध लगावे । ढोड़ी की नोक, नासिका, होठ, कंदा और घस्तिप्रदेश इन स्थानों में गोफकावंध लगावे । जनु के ऊपर पंचांगीवंध लगावे । अथवा जो धंध शरीर के जिस अंग में ठीक हो उसे ही वहाँ लगावे ॥१६॥

बक्तव्य—शाल्पतन्त्र में बन्धनकर्म (Bandaging) एक आवश्यक अंग है। प्रत्येक शायकिया करने के पश्चात् प्रतिदिन व्यायोपचार करने के पश्चात्, आधात्, चोट, मांच, रक्तजाग, औस्थिर्यंग, संधिजिल्लेप हृत्यादि अनेक घटनाएँ हो जाने के पश्चात् विकृत अंग बंधद्वारा दोषनाप हटाते हैं। शरीर के भिज्ज भिज्ज अंगों की रुचना विष विष होने के कारण एक ग्रकार का बंध सब स्थानों में उच्चयोगी नहीं हो सकता। हसलिये भिज्ज भिज्ज स्थानों के अद्वासन भिज्ज भिज्ज प्रकार के बंध लगाने पड़ते हैं। यंत्र प्रायः छप्टे ग्रा छुक लंबा पटा होता है। भिज्ज भिज्ज स्थानों के लिये भिज्ज भिज्ज लंबाई

गीरी के भित्ति अंगों के अनुरूप दध सुचाह रूप से बाधने के लिये अव्याप्त की जार्थना आवश्यकता होती है। केवल भित्ति प्रकार के बंध बाधने की विधि पहले से या मुखोद्धृत करने से बध लगाना नहीं आ सकता। प्राचीन काल में बध लगाने का अव्याप्त उत्तमय पुलर्यै (Dumy) के अंगों पर (शत्रुघ्नात अ ५) किया जाता था। परन्तु इससे उत्तम उपाय अपने सहाय्यार्थी मिशनों पर बध लगाना है। तीन विद्यार्थी मिलकर यह कार्य उत्तम स्वप से कर सकते हैं। एक विद्यार्थी पुस्तक से बध लगाने की विधि पढ़े और दूसरा विद्यार्थी उप विधि के अनुसार तीसरे के अग पर उसको लगाने का अव्याप्त करे। इस प्रकार पारी पारी से करने पर सब को अव्याप्त हो जाता है। पाण्डास्य शत्रुघ्नात्र में जो रूप प्रयुक्त है, वे प्राय इन अंगों के तीर पर होते हैं। अत उनके आधार पर इन अंगों का स्वरूप निश्चित करना प्राप्त है। यथापि तीव्र बध पेसे हैं कि उनकी आड़ति का थोथ नाम से नहीं ही सकता। यथा—विवर दाम, यमक और याम-टोल उत्तम। (३-२) धीरा और स्पिगिक वर्ष—कौशिपथ तरवार के भ्यान सदृश होता है। अंगों में इसको 'धीर बैंडेज' (Sheath Bandage) कह सकते हैं। स्पिगिकवैध भी कोशवृक्ष के समान होता है परन्तु इसकी हंसवाई हुँक कम होती है, इसलिए उसका स्वतत्र निर्देश किया है। स्पिगिक का अर्थ—पान की छव्वी—स्पिगिक व्यगिका लम्बानु ताम्बूलाकृष्ण। (हन्तु)। इस ताम्बूलकरक के ढक्कण की भाँति यह बध होता है। इसको अंगों में 'स्टंप बैंडेज' (Stump Bandage) कह सकते हैं। (३) स्वलिङ्गवैध—यह स्वलिङ्गकारारथ है—स्वलिङ्गाकृति स्वलिङ्ग वृद्धू दक्षिणादेशों वाला याति पुन परिवृत्त्यात् दक्षिणात्मक वायन्। (हन्तु)। व्यावहारिक दृष्टि से हरका स्वरूप हिंदी के चार (४) या चारोंकी में आठ (८) अंक के समान होता है। अंगों में 'क्लासर्वेज' और 'हैंपकार्बेज' (Crosis or spica Bandage) स्वस्तिकवैध के ही प्रकार हैं। (४) दामवैध—इस बध से कोई विनोद आकार निर्णन नहीं हो सकता। पीड़ायुक्त अंग में पीड़ा नियारण करने के लिये इसका उपयोग होता है। यह माला के आकार का एक कपड़े का तंग पह मालूम होता है। इसका कोई यास प्रतीक पाश्वारण कर्त्ता में नहीं दिखाई देता। पीड़ाहरणार्थ यह बधके बाया जाता है। (५) भुजोनिरव—यहा निस तरह घृत पर ऊपर छढ़ती है, उप तरह यह बध गीरी पर नीचे से ऊपर लटेटा जाता है। इसलिये इसको अनुभेदित करने हैं। इसका रातदय प्रैंगवी मैरेल बैंडेज (Spiral Bandage) के माय होता है। (६-७) मुनालिप, मन्त्रवैध—हन्ती काँडे विनोद आड़ति नहीं मालूम होती है। इनके लिये प्रयोग उत्तरा धीरा हो, जिनाना यथन का भ्यान धीरा हो और स्पैन्ड टीक लग जाए उत्तर दूसरा लगाया जा। इनके लिये कोई ठीक भ्रान्ति पाश्वारणकर्त्ता में नहीं दिखाई देता। (८) दम—वर्ष—यह भी कोई विनोद आकार का बध नहीं है। केवल एक केरा दो तरफों से लिये लगाया जाता है, इसलिये स्वरूप बहाता है। इसका भी कोई भ्रान्ति पाश्वारणकर्त्ता

में गहरी है। (९) स्ट्रावर्प—यह घार पट्टों का बन संघ है—सदा चतुर्वाहुपट्टक (इन्दु)। इसको अपेक्षी में फेलड बदेज (Four tailed Bandage) कहते हैं और इसका उपयोग दसी बदेज के स्थान पर होता है। (१०) चीनवर्प—इससे भी कोई विशेष आकार निर्दित होता। एक छोटे बख पट्ट से यह वथ स्थाया जाता रखता क्वलिरीर्ण आवरण पट्टिका चीनवर्प। (इन्दु)। इसका आधुनिक नेत्रवथ (Bandage for the eye) के साथ है। (११) विषवर्प—यह वथ अनेक छोटे मात्रे वथ बनाया जाता है—विषवे विषवे बच्व न व व वद् तीर्ति इसके नाम और लगाने के स्थान से आधुनिक मिन्ड बदेज' (Many tailed Bandage) के साथ अधिक सादृश्य होता है। (१२) विलनवर्प—गुणिमात्र सरह यह वथ सिर पर फैलाया हुआ लेपेटा जाता है। सादृश्य आधुनिक 'किफलाइन बदेज (Caphefeline Band) के साथ होता है। (१३) गोक्कावर्प—पश्चिमिवारणार्थ कंकने के लिये जो एक साधनविशेष होता है उस आकार संघ—गोक्का इव गोक्का कुरीलाना। पश्चिमाणव मध्यावाणवारपन्। (इन्दु)। आकृति की इष्टि से इसका आधुनिक स्लिंग बदेज (Sling Bandage) के साथ होता है। गुदभ्रम में भी इस वथ का उपयोग होता है। इस कार्य की इष्टि से टी बदेज (T Bandage) के साथ। सादृश्य है। परन्तु टी बदेज के लिये 'कौपीवर्तं' अधिक योग्य है। (१४) वचारीवर्प—हम कंव में गौच होते हैं—यदिन पृष्ठे चलाते बालव, एक चौंक पट्टिया। (इन्दु)। इस वथ का कोई हीक प्रतीक आधुनिक वंशों में नहीं दिखता। (१५) उत्सर्गवर्प—बालमट में यह एक अधिक नेनेश्विक लिया है और खंडों की सल्या पचदग बाल है। इसका उपयोग याहु में करने के लिये कहा है परन्तु इसका आकृति होने से स्पष्ट नहीं होती—ज्ञानविविद विद्वानों कल्पारितवानम्। (इन्दु)। यह कंव एक मात्रा आर्म लिङ्गा देवेज ही (Arm slung Bandage) काल्पना होता है।

मुख्य मुख्य वथ बापने की आधुनिक पद्धतिश—वथ की विभिन्न वर्ष—इसके लिये हूँ ईच चौड़ी पट्टी वर्षास है। माल्वा वर्ष के उत्तर पक्के रिंर की एक वा दो वार इस प्रकार लंपेटना चाहिये कि उम्र वार दो या तीन ईच का भाग के बाहर लिकला रहे। पश्चात वटी हाथ के ऊपर से अंग सिरं सक लेकर वटी से ऊपर की ओर अनुरोदित करें तिंति अग्निके गूल तक लंपेटना चाहिये। निर वटी से उपर होम्पर कलाई तक से जाना चाहिये और अन्न वार दो दो लंपेट बाला है पर एगाकर वटी के पक्के रिंर वथ वर्ष देना चाहिये। मनुषिक वथ—सरविद्यों के निर्देश वर्ष उपरुष है। जिन स्थान पर वंड वापिया हो वहाँ से पट्टी बांगना प्रारंभ करता चाहिये। प्रथम एक लंपेट लगा कर पआए पट्टी को झंग के एक ग्रेटे से उपर होगी तूप दूसरी ओर ने जाना चाहिये। निर वटी की झंग से वंडे से हाउर संधि के ऊपर हों तूप।

ओर उस स्थान तक के जाना चाहिये जहाँ से पहले पटी मने का प्रारंभ हुआ था । इस प्रकार अधिक लपेटों द्वारा ये को पूरा ढक देना चाहिये । अनुवेदितवय—यह शास्त्राओं संधि स्थान छोड़ कर अन्य स्थानों के लिये बहुत उपयोगी । जिस स्थान पर वंध लगाना है उसके नीचे की ओर से धना प्रारंभ करना चाहिये । प्रथम दो लपेट एक ही स्थान लगा कर फिर पहुँच ऊपर की ओर इस प्रकार ऐ जाना हिए कि प्रत्येक लपेट पूर्व लपेट के बीच परीभी भाग को ढक ।

ऊपर की ओर अंग कुछ अधिक मोटा होने के कारण पेट अंग पर ठीक नहीं ढैंते । उनको ठीक करने के लिये पेटों की मोड़ देना पड़ता है । उन मोटों को लगाते समय आंख में कुछ कठिनता अवश्य होती है । परंतु निष्ठ नियमों पर नान रखते हुए थोटा अस्यास करने से यह कार्य सुकर जाता है । (१) जहाँ तक हो सके मोड़ अंग के बाहर की ओर दिये जायें तथा अस्थि के उभार पर न हों । (२) मोड़ न समय पटी को ढीली करने के पश्चात् उस हाथ को, जिससे ही पकड़ी हुई है, इस प्रकार घुमाना चाहिए कि यदि पहले श्येली अंग की ओर शी तो अब वह बाहर की ओर हो जाय और एष्टभाग अङ्ग की ओर हो जाय । इससे पटी स्वयं अपने ही ऊपर सुड़ जायगी । उसका ऊपर का किनारा नीचे हीगा और नीचे का किनारा ऊपर चला जायगा । जिस स्थान पर मोड़ देना है, वहाँ दूसरे हाथ की अंगुलि रखने से यही कार्य होता है । (३) मोड़ देने के समय हाथ अंग से कुछ जैंच रक्ता जाय तथा पटी अधिक ढीली भी न रखी जाय । इस प्रकार मोड़ लगाने के पश्चात् पटी को फिर कस कर लपेट रखाना चाहिये । जहाँ मोड़ की आवश्यकता हो, वहाँ मोड़ लगा कर यह वंध दूसरे सिरे तक लगा दिया जाता है । खणिकावय—यह वंध ऊर्ध्व शास्त्रा या अधशःशास्त्रा के किसी अंग का देहन (Amputation) करने के पश्चात् प्रयुक्त होता है । पहले को हुए स्थान से पांच या छः इंच ऊपर वाएँ हाथ के अङ्गूठे और अंगुलियों के बीच में अंग को पकड़ कर वहाँ ही दो या तीन लपेट लगा दिये जाते हैं । तदनंतर पटी को आगे अङ्गूठे से दबा कर उस को उलट कर ढूँढ़ पर से पीछे की ओर लिया जाता है । वहाँ अंगुलियों से दबा कर फिर पहले लपेट के बाहर के भाग को ढकते हुए आगे की ओर लिया जाता है । तीसरा लपेट पहले लपेट के भीतर की ओर रहता है । इस प्रकार लपेटों को लगा कर ढूँढ़ पूरा ढक दिया जाता और प्रत्येक लपेट आगे की ओर अङ्गूठे से और पीछे की ओर अंगुलियों से दबा दिया जाता है । अन्त में ढूँढ़ को ढकदें तो लपेटों की स्थिर करने के लिये अंग के चारों ओर कुछ गोल लपेट लगा दिये जाते हैं । अथवा ढूँढ़ के प्रत्येक लपेट के बात् एक गोल लपेट भी लगा सकते हैं, जिस से वह लपेट न होने पावे और हाथ को भी तकलीफ कम हो । अव्याप्त—इस का उपयोग अधोहन्त्रस्थिरमेंग से होता है । इस के लिये एक गज लंबा और तीन इंच चौड़ा कपड़े का ढका चाहिये । इस का मध्य किनारे से एक इंच छोड़ कर चार इंच नक चीरा जाता है तथा दोनों सिरे भी मध्यच्छेद के दोनों ओर दो दो इंच स्थान छोड़ कर चीरे जाते हैं । इस से यह

पटा मध्यच्छिद्र और चतुरंग युक्त हो जाता है । अब मध्यच्छिद्र में टोड़ी की नोक इस प्रकार से रखे कि पटी का संग भाग नीचे के होठ नीचे और चौड़ा भाग हनु के नीचे आ जाए । तदनंतर तंगभाग के साथ सीधा सम्बन्ध रखने वाले दो सिरे गुह्य पर और चौड़े भाग के साथ सम्बन्ध रखने वाले दो सिरे माथे पर बांधना चाहिये । अन्त में माथे की गाँठ का सम्बन्ध पिछली गांठ के साथ किया जाता है, जिस से वह अपने स्थान से न सरक जाय । चीनवय—इस का उपयोग पीढ़ित नेत्र के ऊपर माथे पर पटी के एक मिने को रख कर वहाँ से दूसरे नेत्र की तरफ माथे पर ही पटी ले आओ और गिर के चारों ओर घुमाते हुए पीढ़ित नेत्र के दूसरी ओर के कर्ण के ऊपर तक पहुँचने के पश्चात् नीचे उतरना आरंभ करो । जब पटी दूसरी ओर के कान के पास पहुँच जाय तो कान के नीचे से निकाल कर नेत्र के ऊपर से माथे पर लिपटे हुए पटी पर पिन की सहायता से कस देना चाहिये । विवेषय—यह वंध उदर और उरप्रदेश में लगाने के लिये उत्तम है । जब वस्त्र बार बार बदलना होता है तब इस के प्रयोग में सुभीता रहता है । यह वंध कई पटियों से बनाया जाता है । पटियाँ दो इंच चौड़ी होनी चाहिये कि वह उदर या बक्ष के चारों ओर ढेह बार लपेटी जा सके । उद्देश्य यह है कि वंध लगाते समय एक ओर की पटियाँ दूसरी ओर की पटियों को अच्छी तरह से ढक ले । इन में से एक पटी दूसरी पटियों से एक फुट तक अधिक लम्बी रहनी चाहिये । यह पटियाँ एक दूसरे के ऊपर इस प्रकार रखकी जाती हैं कि ऊपर बाली पटी नीचे बाली पटी के ऊपरी किनारे को अच्छी तरह से ढक दे । पटियाँ रखने का प्रारंभ सब से लम्बी पटी से होता है । इसके पश्चात् इन पटियों का दीवान का भाग एक चौकोर कपड़े के ढुकड़े के साथ सी दिया जाता है । इस का प्रयोग उदर के लिये होता है । लम्बी पटी नीचे की ओर होती है । वंध लगाने का प्रारंभ ऊपर से होता है और अंत में लंबी पटी उस के चारों ओर लपेटी जाती है जिस से वंध ऊपर की तरफ न सरक जाय । जब वंध छाती के ऊपर लगाने के लिये बनाया जाता है, तब लंबी पटी के स्थान में ऊपर की ओर बीच के कपड़े के साथ दो इंच की दूरी पर दो लंबी पटियाँ सी देनी चाहिये । यह वंध नीचे से ऊपर की तरफ लगाया जाता है और अन्त में लंबी पटियाँ कंधों पर से होकर फिर आगे की ओर ला कर वंध के साथ पिन के द्वारा लगाई जाती है जिस से वंध नीचे न सरक जाय । वितानवय—यह वंध फैट की तरह सिर को ढक लेता है । इस के लिये दो पटियों की आवश्यकता होती है—एक दो इंच चौड़ी और दूसरी तीन इंच चौड़ी । इन दोनों के सिरोंको आपस में भी दिया जाता है । परंतु दो पटियों के दो स्वतंत्र बेलन बनाये जाते हैं । छोटी पटी का बेलन दाहिने हाथ में और बड़ी पटी का बेलन बायें हाथ में लेकर बैद्य रोगी के पीछे खड़ा होता है जो कुर्सी या तिपाई पर बिठा दिया जाता है । तदनंतर दोनों पटियों का सिया हुआ भाग रोगी के माथे पर जितना भी नीचा, यानि भुक्तियों पर, हो सके उतना नीचा रख कर दोनों बेलनों का किन्तु किंवा जे

कार्नों के ऊपर लेकर पीछे गुही के नीचे मिलाया जाता है। ददा मिलने के पश्चात् दोनों की दिशा किर बदल जाती है। चौड़ी पट्टी सिर के चारों ओर पहले पट्टी की भाँति घूमती जाती है और छोटी पट्टी पीछे से आगे आंग आगे से पीछे होती हुई सिर को ढक लेती है। यह कार्य निम्न प्रकार किया जाता है। प्रथम बार गुही पर मिलने के पश्चात् बड़ी पट्टी छोटी पट्टी के ऊपर से उस को दाढ़की हुई दाहिनी ओर को चर्ची जाती है और छोटी पट्टी गुही पर ही मोड़ कर दिशे के ऊपर विलकुल बीच में से मापें की ओर नासामूल तक चर्ची जाती है। यह करते समय बेलनों को हाथों में अदला-बदल करने की आवश्यकता होती है। मापें पर दाहिनी ओर से आने वाली बड़ी पट्टी छोटी पट्टी के ऊपर से होती हुई सीधी बाई ओर को चर्ची जाती है और छोटी पट्टी मोड़ कर आगे से पीछे की ओर सिर के दक्षिणार्ध में बीच के लपेट के किनारे को कुछ ढक्की हुई, जहा से प्रारम्भ हुआ था उपरके पास चर्ची जाती है। यहाँ किर बड़ी पट्टी छोटी पट्टी के ऊपर से दाहिनी ओर चर्ची जाती है और छोटी पट्टी मोड़ कर आगे की ओर सिर के बामार्ध में पहले लपट के किनारे को कुछ ढक्की हुई मापें पर चर्ची जाती है। इस प्रकार अधिक लपेट लगाकर सारा सिर ढका जाता है। लपेट लगाते समय यह भ्यान में रखना चाहिये कि पीछे से आगे की ओर का लपेट सिर के बामार्ध में और आगे से पीछे की ओर का लपेट सिर के दक्षिणार्ध में हो। पूरा सिर ढक जाने के पश्चात् जब दोनों पट्टियों पीछे गुही पर मिलती हैं, तब चौड़ी पट्टी अपने पूर्वक्रम के अनुसार दाहिनी ओर से मापें पर कली जाती है आर छोटी पट्टी भी बड़ी पट्टी के नीचे से होतर बाई ओर से लिपटी हुई मापें पर विलद दिया में जली जाती है और अन्न में पिन लगाकर दोनों को मापें पर रिधर कर दिया जाना है। यह बथ बांधने के लिये कुछ कठिन होता है तथा रोगी को मापें में कुछ बैठी और गर्मी पहुँचाता है। इसलिये इसका प्रयोग कम होता है। औरीन बथ—यह बथ कीरीन मरण वा ऐमेडी के (२) अवार जैसा होता है। इसलिये इसको कीरीन बथ वा 'टी एंड ट्रॉ' कहते हैं। इसका लिये उपयोग गुद और बृक्षण प्रयोग के सिद्ध होता है। यह बथ की पट्टियों का बना होता है। दोनों पट्टियों प्रायः चार हजार चौड़ी रखती जाती है। उनमें से एक पट्टी को दूसरी पट्टी के बीच में हाथाई की ओर की दिया जाता है। बथ बांधने भगव्य बाई पट्टी के बदल में बाँधी जाती है और दूसरी पट्टी दूसरी की तरह निर्णयों के बीच से होती हुई अण्डकोण के ऊपर से मापने की भी बहुत लहसुनी पट्टी में बाँधी जाती है। कभी कभी इसका पिरा ही भागों में बींध कर दी गई रिधर विशेष के दोनों तरफ लोपे जाते हैं। अण्डकोण को बाहर रखना होता ही पट्टी के बीच में दो ढक्के उसमें से अण्डकोण को बाहर लिकाल रखते हैं। दो दो पट्टियों का बनाया हुआ बथ न मिले तो एक संतुष्टी पट्टी से भी यह बथ लगाया जा सकता है। इसे कमर में पट्टी बांध कर उसकी गाँठ सामने पेंच के समीक्षा लानी चाहिये। वहाँ से पट्टी निर्णयों के बीच में होनी वहाँ द्वारा किया जाता है।

से आगे पहुँच पर लेकर दूसरी तरफ बाथ देना। चाहिये। ए बथ—यह बथ किमी चौकोर बथ या स्माल से बनाया जाता है। पहले बस्त को क्षेत्रेवा (Diagonal) में मोर त्रिकोणाकार बना लेना चाहिये। किर इम्बियो को बार लपेट कर आवश्यकता के अनुगार चौड़ी पट्टी की तरह दोनों सिरों की अपशा व भाग में अधिक चौड़ी होती है। इस पट्टी के दोनों सिरों के पीछे दोनों कंधों पर से लेकर बाथ दिये जाते हैं और ही जो लटकन बनती है, उसी में अग्रवाहु या हाथ रखना चाहिये। यह सारी बाहु और अग्रवाहु का सुरक्षित रखना होता है, तब बस्त को केवल त्रिकोणाकार ही बना लेते हैं। इसके दोनों सिरों को दोनों कंधों पर से लेकर गर्डेन के द्वारा अप्राप्त देना चाहिये कि इम्बियो का तल हाथ दिया में और अग्रवाहु की दिशा में हो। अन्न में तीन सिरों को कोहनी के ऊपर से लेकर पहले दो सिरों के समिलाया जाता है या कोहनी के कुछ ऊपर ही पिन द्वारा ज दिया जाता है। इस बथ को लगाते समय इन्होंने भाग रखना चाहिये कि हाथ और अग्रवाहु के सामने से आनेवाल पट्टी का सिरा उसी ओर के कम्बे पर होकर ग्रीवा के बीच लगाय। जब बथ पट्टी की तरह बनाकर बैदल हाथ लटकाने के लिये प्रयुक्त होता है तब हाथ के सामने से आवाला सिरा दूसरी ओर के कम्बे पर होकर ग्रीवा के बीच लगायिये। उसमें बथ—यह बथ बाहु अग्रवाहु और हाथ अग्रवाहु के समीप योग्यतित स्थान पर कुछ काल सक रिधर करने। लिये भुजु़ लेना होता है। प्रथम बाहु और अग्रवाहु दूसरी पट्टी पर ही रख कर उनके ऊपर से छाती के बाहों और एक गोल लटे लगा दिया जाता है। इसके पश्चात् कूर्पाम के समीप दोनों से पट्टी दूसरे ओर से कम्बे पर लगाई जाती है। यहाँ से एक पर होकर पट्टी कूर्पर के समीप आकर पहले लपेट को कुछ ढक्की हुई छाती के बाहों और घूमती है। किर कूर्पर के दोनों से दूसरी ओर के कम्बे पर लगाई जाती है। इस प्रकार एक लपेट छाती के बाहों और बाहु और अग्रवाहु पर से प्रदेश समय कुछ ऊपर की तरफ बुता हुआ घूमता है और दूसरा कूर्पर के नीचे से प्रयोग समय हाथ के तरफ कुछ बहता हुआ दूसरी ओर के कम्बे के ऊपर लगा जाता है। इसका बाहु और अग्रवाहु इस प्रकार से ढका जाता है। अन्न में वही के पिन का पिन द्वारा रिधर कर दिया जाता है। अब तक सुधुताला चौदह बथ और बाग्नोल उसेनाल शरीर पर लोधन की प्रतियों पाप्राप्त ग्रावित रीतियों में अनुगार चौला की गई है। इन पन्द्रह कंधों के अन्तिम और भी कही प्रकार के बंध ग्रावित हैं, जिनके नाम प्राप्त रिधर के अनुगार रखते रहते हैं। यद्या-नन्तर का बथ, यह बथ, गुल का बंध, बैलाम्परिप्र इत्यादि। त्रिदिमाल, रैल दर्पुरुष बंध अधिने की रीतियों के अनुगार शरीर के प्रदेश अग पर कुछ कंधे के बंध लगा जाता है। इन अन्तिम कंधों का बंधन वही करने वाले होंगे जो आपश्वकना नहीं है। त्रिलाला पाप्र इनके लिये ग्राविताम (Dau laguda) के अपेक्षी उपाध देते हैं।

त्रिवृद्दिकं ग्रन्थो में इन विविध दर्शनों की वांछने की गई होती भी स्पष्ट और निगदरूप से पर्याप्त नहीं मिलती । तो ऐसे विविध कैप्र प्राचीन काल में किस प्रकार योग्य है, इसका निधाय करना बहुत फठिन हो गया है । परंतु उत्तरदेव कहा जा सकता है कि वंश वांछने की जो विधियाँ वालाहूं गई हैं वे एक आप वंश विधि होएकर प्राप्त: समय तय की हैं, उत्तरानी गईं । इसको साध्य ही साध्य यह भी देख कहा जा सकता है कि आयुर्वेद में वंशविन्यास में उत्तरति ही तुल्यी थी ।

यज्ञाणमूर्खमधर्तिर्यज्ञ ॥१९॥

वंशों की गाँठ (घन के) उत्तर की ओर नीचे या पूर्व घर्षी गई चाहिये ॥१९॥

वक्तव्य—द्रवणाग्न के ठीक ऊपर गाँठ वांछने में एक वापा पूर्खता है । इसलिये मध्यस्थान, छोड़ कर दूसरे । पर गाँठ वांछना उचित है । आज्ञदल वंश विधि करने लिये 'सेफ्टी रिप' (Safety Pin) का उपयोग है । इसमें बहुत सुविधा होती है और किसी प्रकार की नहीं हो सकती । फैबल यिन समाने समय नीचे के का अवाल दररुप लगाना चाहिये ।

तत्र धनां फलिकां दत्या वामहस्तपरित्तेपमृ-
त्ताविद्यमसंकुचितं सृदु पद्मं निवेद्य वधीयात् ।

च वणस्योपस्ति कुर्याद्यन्तिमावावकरं च ॥२०॥

मण पर गाढ़ी कवलिङ्ग दररुने के पश्चात् याएँ हाथ में ग दुवा पट (दाहिने हाथ से) सीधा, यिन मोटे के और भी भाँति फैलाकर लपेट दे और पट की गाँठ, धण में पीढ़ा के कारण चिल्कुल मध्यस्थान के ऊपर न धाँथि ॥२०॥

वक्तव्य—इस सूत्र में धंष वांछने की विधि संकेप में नि की गई है । वंश वांछने के पूर्व वस्त्रपट का एक बेलन (oller) यना लेना चाहिये । यह कार्य हाथों से या बन्ध द्वारा भी हो सकता है । बेलन सारत और एक सा लिपिया पा होना चाहिये । इससे धूरी पर वंश साधा (कर्त्तु), ना मोटे के (अनाविक्त), और टीक फैलाकर (असंकुचित) धने में बहुत ही सुविधा होती है । वाम और दक्षिण लपरिक्षेप फैबल सांपेचा है । दोनों में भी परिक्षेप की विवरकता होती है । यदि रोटी के बाएँ धाँग पर वंश वांछना । तो प्रारंभ में वंश का बेलन दैये के दाहिने हाथ में और गा वाएँ हाथ में होना चाहिये । यदि रोटी के दाहिने ग पर वंशना हो तो वंश का बेलन दैये के बाएँ हाथ में और दाहिने हाथ में होना चाहिये । प्रत्यक्ष लपेटते समय उन को वाम हस्त से दक्षिण हस्त में और दक्षिण हस्त से गम हस्त में बदलना पड़ता है । वंश सदा अंग के सामने भी और भीतर से बाहर आना चाहिये और अंग के पीछे की ओर बाहर से भीतर की जाना चाहिये । अर्थात् वंश का बेलन अंग के भीतर की ओर से प्रारंभ होकर अंग के ऊपर होता हुआ बाहर की ओर और बाहर से अंग के पीछे होता हुआ भीतर की ओर उसके अन्त तक इस प्रकार जाता रहता है । इस सारे प्रयोग में बेलन अंग के संपर्क में रहना चाहिये । अंत में पटी के पहले सिरे के साथ अन्तिम सिरा इस प्रकार

से बाधे दे कि उसकी गाँठ सीधी मध्यस्थान के ऊपर न आ जाय, न उस गाँठ से प्रगत्यस्थान की किसी प्रकार की पीटा हो लें । सेफ्टी रिप लगाना हो तो पहला सिरा दूल्हा रखने ही कोई आवश्यकता नहीं होती । अंतिम सिरे को धोजा दोहरा करके पिंग लगा सकते हैं ।

त च विवेशिकौपद्येऽतिक्रियाद्येऽतिक्रियो विवरो
या कुर्वति; यसाद्यतिक्रोहात् लेदो, रौद्राच्येदो,
तुर्व्यासाद्यथगुवत्मावर्षर्यमिति ॥२१॥

(वंश में प्रविष्ट होने वाली) दर्ता और वंश पर लगाने का कान्ध अतिस्थित अविलक्ष या विषम प्रविष्ट न करे । दर्ताकि अतिस्थितपता से प्रण में आद्रिता होती है, अतिस्थिता से वंश फट जाना है और विषम राने वे धारासारी में रनह पैदा होती है ॥२१॥

वक्तव्य—विषम—तुर्व्यस्त । तिंशिता—गत्वार्वती । इसका विशेष विवरण पौधवे अभ्याद में किया गया है । औपक—ओपधिकल्प । सेप्ट में बन्ध और वर्ता के तीन अधिक दोष वर्णन किये हैं—न च तिंशितामीप्य गतिनिवापस्थामति-प्रगतिगतमध्येष्टु दुर्व्यस्त वा दवात् । 'गतिनिवापस्थामतिः । नादेया गम्यः । अपश्वेत्वाद गगवत्वांपर्याप्य ।' (सूत्रस्थान, अ. ३७) ।

तत्र व्रणायतनविशेषाद्वन्धविशेषपरित्रयिधो भ-
वति—गाढः, समः, शिथिल इति ॥२२॥

धनों के स्थान (दोप और काल) के अनुसार वंशन तीन प्रकार का होता है—गाढ़, सम और गिथिल ॥२२॥

पीडयश्वस्त्रो गाढः सोच्छ्वासः शिथिलः स्मृतः ।

नैव गाढो न शिथिलः समो वन्धः ग्रकीर्तिः ॥२३॥

जो कसने पर भी व्रणस्थान में पीढ़ा मालग्न न हो वह गाढ़ (करड़) वंश है, जो कुठ साधकाश यानि ढीला हो वह शिथिल वंश है और जो न गाढ़ न शिथिल हो वह समवंश होता है ॥२४॥

वक्तव्य—पीडयश्वरजः—पीडयश्वगाडमानोऽपि यो रुजं न वरोति । सोच्छ्वासः—असम्यक् पीडितवेन सान्तवतः क्षीयो नाति-संलग्नः ।

तत्र स्फकुचिक्षावद्वाशोरशिरःसु गाढः, शास्यावदनर्कण्ठकरण्ठमेद्वासुपृष्ठाश्वर्वेदरोरःसु स-
मः, अद्व्योः सन्धिष्ठु च शिथिल इति ॥२५॥

(स्थान के अनुसार वंशविशेष—) उनमें से नितंय, कुत्ति, वाहुमूल, जंघामूल, जांघ और सिर हनमें कड़ा धंष लगावे । शास्या, मुख, कान, कण्ठ, लिंग, वृष्ण, पीठ, पार्षद, उदर और छाती हन में सम वंश लगावे । नैवों और संधियों पर शिथिल वंश लगावे ॥२५॥

तत्र पैत्तिकं गाढस्थाने समं वधीयात्, समस्थाने
शिथिलं, शिथिलस्थाने नैव; एवं शोशितदुष्टं च;
शैषिमकं शिथिलस्थाने समं, समस्थाने गाढं, गाढ-
स्थाने वाहृतरसः एवं वातदुष्टं च ॥२५॥

(दोनों के अनुमार वय विशेष—) इनमें से पैतिक वय को गादवय के स्थान में ममवय लगावे, सम के स्थान में गिरिधिल वय लगावे और निरिधिल के स्थान में वय न लगावे (या अतिरिधिल लगावे) । इसी प्रकार रक्तदुष वय का भी वयन करना चाहिए । कफ के व्रण वो गिरिधिल वय के स्थान में सम वय से वाधे । सम के स्थान में गाडे वय से वाधे और गाडे वय के स्थान में अतिमात्र वय से वाधे । इसी प्रकार बातदुष वय का भी वयन करना चाहिए ॥२५॥

तत्र पैतिकं शारदि ग्रीष्मे छिरहो वधीयान्,
रक्तोपदुष्टमप्येव; शैलिंगं हेमन्तवसन्तयोस्त्यहात्,
वातोपदुष्टमप्येवम् । यत्प्रभूत्वा वन्धविपर्ययं च
कुर्यात् ॥२६॥

(काल के अनुमार वयन—) पैतिक वय को शरद और धीम ऋतुओं में दिन में दो बार वय पलटकर वाधे । इसी प्रकार रक्तदुष वय का भी वयन करना चाहिए । शैलिंग व्रण को हेमन्त और वसन्त ऋतुओं में तीमोर दिन वय वाधे । इसी प्रकार बातदुष वय का भी वयन करना चाहिए । इस प्रकार (स्थान, दोष और काल का) विचार करके वैद्य वयन निधि में विवरण (या कुछ फर्क भी) कर सकता है ॥२६॥

तत्र समशिरिधिलस्यानेपु गाढं वदेव विकेशिकौ-
पद्धनैरर्थक्यं शोफवेद्वानाप्रादुर्भावद्य, गादसम-
स्यानेपु शिरिधिलं वदेव विकेशिकौपथपतनं पट्टसंचा-
राद्वृणवर्तमायद्वर्णरूपमिति; गादशिरिधिलस्यानेपु स्तमं
यद्देव च गुणाभाव इति ॥२७॥

सम और शिरिधिल वय के स्थान पर गादवय वाधने से वर्ति और अंगधि वर्ष्य हो जाती है और वयनस्थान में सूजन और पीटा पैदा होती है । गाढ और सम वय के स्थान में गिरिधिल वय लगाने से वर्ति और ओचिपि गिर जाती है और पट्टी साक जाने से व्याप पर रगड़ होती है । गाढ और शिरिधिल (वय के) स्थान पर सम वय लगाने से (कुछ भी) गुण नहीं होता ॥२७॥

अविपरीतवयन्ये वेदनोपशान्तिरस्तुप्रसादो
मांदंयं च ॥२८॥

योग्य वय का प्रयोग करने से पीटा की शास्ति, रक्त का प्रसादन और वयनस्थान में भूतुरा उत्पन्न होती है ॥२८॥

अवश्यमानो दंशमाशकरुणकाष्ठोपलपांशुशीत-
यानातप्रभृतिभिर्विदेवपरिभद्रयते व्यापो विविध
वेदनोपदुष्टव्य दुष्टासुपैत्यालेपनादीनि चास्य
पिशोपमुपयान्ति ॥२९॥

वयन न करने से यग्य मक्षिका मध्यर (आदि के काटने से), शूल, उक्ती, पापर के कषा, धूल पड़ने से तथा चंडा वातु और गरमी से पीड़ित हो जाता है । उम में अनेक प्रकार की पीटा उत्पन्न होकर तुष होती है जाता है और उसमें लेप आदि आवधिरी शूल जाती है ॥२९॥

चूर्णितं मध्यितं भग्नं विनिश्चयमतिपातितम् ।

महित्यक्षायुसिराच्छिक्षमातु यन्येन रोद्धति ॥३०॥

सुखमेयं व्रणी शेते सुखं गच्छति तिष्ठति ।

सुखं दाय्यासनस्यस्य क्षिप्रं संरोद्धति व्रण ॥३१॥

यदि शरीर का कोई अग चूर्णित, मधित, टूटा है विचुन और स्थानचुन हो गया हो या हड्डी, वातु, टूट मढ़ हो तो वय से अच्छे हो जाते हैं ॥३१॥ वय लगा व्रणी मधुत्य शान्ति से सोता है, आराम से चल किर स है और घैड सकता है । जो सुख से सो चैड सकता है, वा वणी भी बीमावच्छा हो जाता है ॥३१॥

अद्यन्द्या पित्तरक्तमिद्यातविपनिमित्ता यदि
शोफदाहपाकरागतोद्वेदनाभिभूताः ज्ञाराग्निदण-
पाकात् प्रकुर्यात्प्रशीणिमांसाश्च भवन्ति ॥३२॥

जब व्याप पित्तज्ञन्य, रक्तज्ञन्य, आधातज्ञन्य, विप्रज्ञन्य जब व्याप में सूजन, जलन, पाक, सुरक्षी और तोदादि हो हैं, जब अग्नि और ज्वार से व्याप उत्पन्न हुआ हो और पठने काष्ठ भैरवी नालू एवं कट कर भरता हो तब यह लगना चाहिए ॥३२॥

कृष्णिनामग्निदण्ड्यानां पिङ्का मधुमेहिनाम् ।

कृष्णिकाष्ठोन्दुरुचिये पिपुलुष्टवणात्य ये ॥३३॥

मांसपाके न वध्यन्ते गुदपाके च दारणे ।

कृष्णियों के मैण, अग्निदण्ड्यवण, मधुमेहियों की पिङ्का के मैण, मूपकविर से उत्पन्न हुए कर्णिकातुक व्याप तथा व्यापितुक व्रण का यदि माम का पाक हो गया हो तो वह वैष्णवी नहीं करते व्याप हो जाती है ॥३३॥

स्त्रिवृद्ध्या चापि विभजेत्कृत्याकृत्यांश्च तुदिमान् ॥३४॥

देशो दोषं च विशाय व्यणं च व्यणकोविद् ।

वीनूद्य परिसेव्याय ततो वन्धविशिवेशायेत् ॥३५॥

व्याप जानने वाला तुदिमान् वैय शरीरगत व्याप का स्थान (वातादि) दोष और (शीतादि) तुदु इन पर व्याप देवा व्याप का जानने करके वह व्याप है या अव्याप है इसका विभाषण अपनी तुदि के अनुमार कर व्यापान् वैष्णव का उपर्याप्ति करे ॥३५-३६॥

ज्वर्यं तिर्यग्थस्तात्य यन्त्रणा विविधा स्मृता ।

यथा च वध्यते वन्धस्तथा धद्याम्यशेषत् ॥३६॥

घनां कवलिक्कं दत्या मूढु चैवापि पद्धकम् ।

विकेशिकामौपर्यं च भातिक्षिराप्यं समादरेत् ॥३७॥

प्रकेद्यव्यतिक्षिराप्यं च तथा रुद्धा विखोति च ।

तुदिक्षेहा गोपयति तुर्न्यता यत्मं पर्यंति ॥३८॥

विषमं च व्यणं कुर्यात् स्तम्भयेत् शाययेत्पाता ।

यग्नायां विद्यत्वा तु योगं देवाः प्रयोगयेत् ॥३९॥

प्रय की मधित करने की भीषणी हो और तिर्यकी भीषणी में प्रकाश से बोही जाती है । वय जिन प्रकार वय योगा है वह प्रकार की व्याप रुद्ध रुद्ध या व्याप करते हैं ॥३९॥ (व्याप में व्यापी वा व्याप औरपि लगा है, तदनेतर) गाती करकी

१ प्रविना प्रवीनोपात्याः ।

र लाल भट्टीन कष्टं के पट्टे से दोष हैं । विंतेनिरा
ओरपि वृथिक सोह युक्त प्राणीमें नहीं जानी शाहिने
अति दिनी (पर्याय में) आईता कर्ता है, अनि हठा
की तुलना पहुँचाती है, यमेचिन द्वेषयुक्त ददा का
करती है और अयोग्य दिनि में रमी हुई धण मार्ग में
पैदा करती है ॥३६॥ यह को विद्यम जानी है तभा याद
रीह देती है या अतिक जाव पंडा करती है । (हमनिरे)
जी योग्य परीक्षा द्वर (वन्द, दर्शनिल इत्यादि का)
म करता जाहिने ॥३७॥

उजे रक्तजे याऽपि सहृदेव परिद्विपेत् ।
नक्त् कासजे याऽपि यानजे च विच्चागः ॥४०॥

न प्रतिपीड्याध ज्ञायेद्वच्छेभतः ।
मौद्य चन्द्रान् गृहान्तान् स्तन्धीम्य विनिवेशयेत् ॥४१॥

पैदिन और रक्तजे वर्णों का दोष ही याद यादव
क्रोह और रक्तजे तथा नामज दणों का दोष कर, याद ऐदिन
चतुर वैषा निवाले ॥४०॥ यदा नींगे की दयालर रोमग्नि
अनुसार इन्द्रानल से पीड़न दरहन पूर्ण दा यादया फरना
हिन्दे । मर्य प्रकार के क्षण इन प्रकार नींगे कि उमरं भिं
री जोड़ याहर ने न दियाई (गुस) दें ॥४१॥

६५ वृक्षव्य—कल्पेण परिद्विपु—इन्द्रज्ञ और हाराणवंद के
सुनार इम्का वृथ 'एक याद पट्टे से केन करना जाहिने'
मा है—फलत्वों पैदिन देखेतीनि ।

ओषुसाम्येष सन्धाने यथोहिष्टो विधिः स्वृतः ।
मुख्योभेद्यमियुक्तन तथा चास्तिथु जानता ॥४२॥

उत्तिष्ठनो निपण्णस्य शयनं याऽविगच्छतः ।
गच्छतो विविध्यर्यानन्नस्य दुष्यनि स व्युः ॥४३॥

वै चै स्वुमोम्भस्ये स्या वै त्वग्नात्म तथा व्युः ।
सन्ध्यस्तिथकोषुप्रासाद्य रिताम्भायुगतास्तथा ॥४४॥

नथाऽव्यग्राहगम्भीरः स्वर्वतो विषमस्थिताः ।
नैते साधयितुं शक्या उत्ते वन्धाद्वन्ति हि ॥४५॥

३७ उन्नतनहितायां मृश्यनि ब्राणेष्वनवनविधि-
नामाद्योऽध्यायः ॥४६॥

उन्नाही और अपने कर्म में निपुणा वैष्ण ओषुसंग्रान कर्म में
वैष्ण व्रस्थि के (भग्न तर्दा विशेष की चिकित्सा) कर्म में अपनी
वैदिन में विचार कर उपर्युक्त विधि को अनुसार वैष्ण लगावे
॥४६॥ इम्से उत्ते हुए, वैत्ते हुए, सोते हुए, वाहनों पर
वैदी करते हुए अवस्थाओं में उम्मका व्यग्र दृष्टिन नहीं होता
परिदृष्टि । जो सांस, व्याया सम्बन्ध, अस्थि, कोष, सिरा, स्नायु
द्वाम, व्यग्र हैं तथा जो स्वप्रकार से विषम, गाहे, और गंभीर
व्यग्र होते हैं वे यथोक्त वैष्ण के विना टीक करने अशक्य हैं
॥४६-४७॥

३८ उत्ति भाग्नरेतिना गोविदात्मजेन विनिवायामायुक्तवस्थदीपिकाया
मुक्तुमापादीकायां ब्राणां पञ्चवन्धविधिर्नामाष्टशोऽध्यायः ॥४८॥

! ब्राणा वै स्वुमोम्भस्या नित्वंजातारत्था ब्राणाः ।

एकोनविंश्टोऽध्यायः ।

वथानो व्रणिनोपाम्भर्नामव्यायं व्यायाम्भासः ।
वथ्योवाच्य भग्नवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अथ पाठे मे गणितोपाम्भर्नाय नामक अभ्याय का व्यायाम्भास
दर्शते हैं, ते विभ भग्नवान् धन्वन्तरि ने दिला ॥१॥

वृक्षव्य—ज्ञितोपाम्भर्नाय—गणित ता उपाम्भास गानि
आहार, वाग्गर, इधूपा इम्बा विचार जिसमें जिस हुआ
है वह जाना ।

गणितस्य प्रथमसेवागामन्विच्छेत्; तमगामे
प्रशस्तवास्तुनि युद्धे शुचावानपन्विते ।

नियाते न च रोगः स्युः शारीरगमन्वानस्ताः ॥२॥

मये मे पाठे गणित के जिसे नियाम न्याय की तज्जीवी
करनी जाहिने । यह नियाम राशन प्रगत्याम्भु आदि ते युक्त
होना जाहिने ॥२॥ प्रगत्य प्रदेश में निर्मित, वृक्ष, कटी भूमि
और प्रवान से यजित भलानीं में नियाम करने से शारीर,
शागन्तुक और मानसिक रोग दूर्घट नहीं होते ॥३॥

वृक्षव्य—प्रशस्तवास्तुनिकम्—प्रशस्तवास्तु तथा स्वा-
स्य की दृष्टि ने अन्य आदश्यक सुविधाओं और मामग्रियों
में सुमित्रित । वास्तु—प्रदेश जिस पर नियामगृह निर्माण
होता है । वास्तु की प्रशस्तता चरक में निमन्त्रकार से वर्णित
की है—भग्नतम्भियाकर्ता रापां देवे प्रशस्तम्भसम्भायां भूमी । उण-
वनि प्रशस्ते भग्नियों का गृहस्त्रिक रुपांगृहितो वा । वास्तुरास्य में
भूमि की प्रशस्तता दूस त्रकार वर्णित की है—विलो निमध
गिर्जुणी पिण्डिनः नामपूर्णकः । मलकारध पृथुदैरास्त्वा या समाधमा ॥
निष्काशल निरपला द्विगमीतानिर्तिना । अस्तिवज्ज्ञा न सुपिरा तन-
नाद्वालेनु ॥ भग्नस्त्रियामृद्य इत्येषापि पृथमितैः । पृथुक्कर्कौश
दाननिलोद्योरपि ॥ शंतोभियुक्ता या भर्मार्पेस्तु तुष्परपि । मा शुभा
संवर्णनीना सर्वमात्मरी परा ॥ मनसंशुद्धयो वत्र स्तोषी जायते भुवि ।
नग्यां वायं गृः मैरिनि गर्भादिमम्भतम् ॥ आदिकम—इसमें
प्रगत्यामा, उड्ता, रस्यना, अतमस्तना, प्रवातता, निर्वातता,
शापदद्विषि मूर्यिकपतागमस्त्रर भन्निका विरहितावस्था, महानस
स्तान मूर्यवद्यस्थान युक्तता, तथा अन्य सामग्रियों से सुम-
जता अभिग्रह होती है । प्रशस्तवास्तुनि शृः—दृस श्लोक में
स्वास्थ्य की दृष्टि गे पृक लेसे सुन्द्र तत्त्व का उल्लेख संक्षेप से
किया है कि इम्सका विस्तृत विवरण करना अत्याधिक है । जिस
वास्तु पर मकान होना है, उसका हितकर या अहितकर
प्रभाव मकान में रहने वालों के स्वास्थ्य पर पड़ता है । यदि
वास्तु प्रशस्त हो तो स्वास्थ्य चिरंतन होता है, यदि अप्रशस्त
हो तो स्वास्थ्य विगड़ जाना है और शारीरिक, आगन्तुक
और मानस विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं । इसलिए
भूमि की प्रशस्तता का भली भाँति विचार कर लेना उचित है ।
मकान बनाने के लिए वह स्थान प्रारस्त है, जहाँ की भूमि
करीली, वालुका युक्त, खड़िया युक्त, आनाहट या कु स्लेट
(Granito, Cley-slate) से बनी हुई, सुविध, शुष्क और
शुद्ध हो, जहाँ जल एकत्र न हो सके, जहाँ वासु और सूक्ष्म-

प्रकाश के मर्ग में विस्तीर्ण प्रकाश का अवशेष न हो। ऐसी उच्चम भूमि प्राप्त कर कुकने पर भकान ऐसा बनावे कि वह पूर्णभूमिसुख पा उत्तराभूमिसुख (प्राणाभूमिद्वारा वा) हो। उस में सील न हो, तुद वायु का प्रवैश अच्छी तरह से हो (प्रवात)। कमरे गर्वियों में ढेर और यीत काल में गरम (कनुपुर्व) रहें। प्रकाश सप्त कमरों में भली भाँति (अतामक) पहुँचे। भकान के द्वराजों और दूर काली कंठे हों ताकि घर में घूमते समय विस्तीर्ण प्रकाश की कठिनाई (तुरप्रविचार) न हो। उस के धारों और तुला स्थान हो तथा उस से अधिक ऊंचाई का कोई भी भकान उस के मर्मीप (भनुपत्वक) न हो, इतना विस्तृत (प्रशान) हो कि भकान में रहने वाले प्रयोक व्यक्ति के पीछे ३०—१०० वर्ग कुट शब्दनयोग्य स्थान (भष्टस्तायत चतुर्हृलविस्तृत) मिल सके और इतना तुला और ऊंचा हो कि भकान में खूली खाँई, और गरमी हन से किसी प्रकाश की दिक्षित (भूमापत्रजमा मनविगमनीय) न हो। निवास—स्वास्थ्य का भूल तुद वायु और सूर्यप्रकाश है। तुद वायु जीवन के लिये अस्थन आवश्यक है। तुद वायु से दृष्टि रक्त की शुद्धि होती है और तुद रक्त शरीर का धारण और पोषण कर सकता है। यदि तुद वायु न मिले तो स्वास्थ्य की हानि होती है। पाश्चात्य शाश्वतों ने प्रयोग के द्वारा यह अनुमान किया है कि प्रत्येक स्वास्थ्य को प्रति धृटा औसत ३००० धन कुट तुद वायु मिलनी चाहिए। स्थानस्था में इस से भी अधिक वायु की आवश्यकता होती है। अधोत् रोगी को अधिक विस्तृत और कुले स्थान में रहना चाहिए। उस की शुद्धा दो दिनकियों के बीच शीराव की ओर रखनी चाहिये जहाँ वाहर से आने वाली वायु उस के शरीर पर सीधी न लग सके। ऐसी हटि से 'निवास' शब्द का अर्थ करना चाहिए। तुमारामार का वर्णन करते समय चरक में 'निवास मवातैनदेता' ऐसा पिलकुल सप्त शब्द प्रयोग किया है। शूर्यप्रकाश—सूर्य अपने धारों और किरणों का परिषेषण किया करता है। इन किरणों से अनाज को उगाने, बाजे एवं पकने के लिये शक्ति मिलती है। समुद्र का पानी भाव के रूप में परिवर्तित हो कर फिर वर्षा के रूप में नदा जीवन देने के लिए भूमि पर शिरता है। वायु मण्डल में लहरें उठानी हैं जिस से वायुमण्डल की शुद्धि होती है, विकारा जीवाणुओं का नाश होता है। इन प्रकाश धीर उच्चता मिलती है तथा हमारे स्वास्थ्य की शुद्धि होती है। सतोग में सूर्य स्थावर और जगम सृष्टि का आत्मा है—नदयुग्मातुद्युग्माते हि रत रवि । सूर्य आत्मा अग्नात्मयुग्मः । अरोग्य भास्त्रारिद्धेऽः ॥

सूर्य का प्रकाश हमें रंगविहीन मालूम पड़ता है। परत वास्तविक वह कही प्रकाश के रंगों के मेल से बना हुआ है। वरसान ते दिनों में जब सूर्य की किरणें वादों की गत जल के छोटे छोटे बिन्दुओं द्वारा प्रतिविधित होनी और ठिकानी जाती हैं, तब ये रंग हमें दिखाई देते हैं और इस में परगत रागविनायम का इस इन्द्रियुपक कहते हैं। किरणें कही प्रकाश की होती हैं। वैद्यीय इसे इस के भीतर युग्म विमान कर सकते हैं—

(१) उच्चताप्रक किरण (Heat rays)—इस में उच्चक (Ultra rays) और रक्त या लाल (Red) किरण समाविष्ट होती हैं। उच्चक किरण वर्ष और रक्त किरण रक्त होती

हैं। इन का मुख्य कार्य उच्चता देने का है और हर्दी के प्रभ से आतपद्मच्छां, आतपन्नर (Sun stroke, Heat stroke, Heat fever) इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं। (२) प्रकाशद किरण (Luminous rays)—इस में नारंगी (Orange yellow) और हरी (Green) ऐसी तीन प्रकाश किरणें समाविष्ट होती हैं। इन का मुख्य कार्य प्रकाश देने हैं। इन से पकाचीधी, सिरदर्द, रत्तीनी इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं। ये सब किरणें रक्त होती हैं। (३) रामायनिक रिं (Chemical rays)—इस में बासमारी (Blue), नीं (Indigo), पाटल या धैगती (Violet) और अतिपात (Ultra violet) ऐसी पार प्रकाश की किरणें समाविष्ट होती हैं। इन में से पहली तीन प्रकाश दी किरणें रक्त और अंग पाटल अदृश्य हैं। इन किरणों का विशेषता अतिपात किरणों का मुख्य कार्य रासायनिक किया करने का है। इन अतिपात से आतपन्न खगदाद (Solar dermatitis), त्वा का रंगन (Pigmentation) तथा कफगती इत्यादि विक उत्पन्न होते हैं। पाश्चात्य देश में किरणचिकित्सा का प्रयोग बहुत हो रहा है। इस चिकित्साप्रदृति के भीतर मुख्य विभाग हैं। (१) संरात्मचिकित्सा (Heliotherapy)—इस प्रथ्यक्ष सूर्यप्रकाश का उपयोग करते हैं। (२) रामरिया चिकित्सा (Chromo therapy)—इसमें भिन्न भिन्न रंगों की बोतलों में पानी भर कर सूर्यप्रकाश में दिन भर दिया जाता है। पश्चात् वह प्रानी रोगी की पिलाया जात है। (३) अतिपातलकिरणचिकित्सा (Ultra-violet Therapy)—रंग की किरणों में से चिकित्सोपयोगी भाग अतिपातल किरण है विद्युत की सहायता से ये किरणों कृत्रिम सीर पर उत्पन्न करते इनसे अनेक रोगों की चिकित्सा की जाती है। भातपत्र-जिन-उर्ध्वक विवेचन से यह स्पष्ट हुआ है कि स्वास्थ्यवृद्धि विलये सूर्यप्रकाश एक आवश्यक चीज़ है। परंतु रोगी पा स्वर के गरीब पर सूर्य की सीधी कीरणें (Direct rays) अविक काल तक पहने से स्वास्थ्य की हानि होती है। इसलिए रोगी का स्थान ऐसा होना चाहिये कि वहाँ रोगी के गर्वन स्थान पर सीधा सूर्यप्रकाश न आने पाये, परंतु उस स्थान के अन्य हिस्से में संपर्क इसमें को सूर्य प्रकाश आता रहे। यादें, जर्ही, चियाग, दूध, प्रज्ञान, (Dose, light), काली हो। 'निवास' का अर्थ यौमा 'निवास मवातैनदेता' है वैसा 'आतप वर्णीते' का अर्थ 'आतपन्निये आतपक्षेदेते' ऐसा किया 'आतपक्षेदेते' बना बना चाहिये।

तस्मिन् श्रायनमसंवाधं सास्तीर्णं मनोहं ग्राम्यं विरक्तं सशक्तं कुर्वति ॥४॥

चक्रव्य—असंवधं—गच्छा ऊची, नीची, सक्त, खटमल
दि वाधाओं से रहित । स्वास्तीर्ण—यथायोग्य लंबी चौड़ी
ओढ़ने विछौने संकिया इत्यादि साफ सामग्रियों सहित ।

एषाचारः—हृष्ट पैर पलारना, कर्कटं बदलना इत्यादि
विल पैर विसी प्रकार की कलिनाई न होते हुए कर
ते हैं । रोगी के ओढ़ने विछौने आदि सर्व वस्त्र मृदु, स्वच्छ,
मूर्खवेद पिरहित, प्रतिविन साफ धोये हुए, सूखे, सूर्य-
य और गुम्बुलुसर्पियादि धूपन द्रव्यों से धूपित, तथा
सिंत होने चाहिये । शयनास्तरणप्रावरणानि मृदुलघृष्णिचि-
भीन्स्युः । सेवमलजन्मपन्ति मूर्खपुरीषोपस्थानि च वज्ञानि स्युः ।
ति संभेद्येषो तात्प्रव च सुप्रक्षलितोपथानानि सुधृष्णिनि
द्वशुक्षाणुपयोगं गच्छेत्युः । धूपनानि पुनर्वस्तां शयनास्तरण-
रणानां च यवसंपत्तात्त्वीहित्युम्बुलुवचानोरकवयःस्थागीलोभी
ज्ञापलंकपाशोकरोहिणीसर्पिनीमाकानि घृतसंप्रयुक्तानि स्युः ।
स्वरुप । यह धारक के वस्त्रों के संदर्भ में जो लिखा है, वह
पी के वस्त्रों के संदर्भ में भी लागू होता है ।

**तस्मिन् सुहृद्धिरञ्जूशूलैः प्रियं वदैरूपास्यमानो
येष्प्राप्तीत ॥६॥**

**सुहृदो विक्षिपन्त्याद्यु कथाभिर्वैदेनाः ।
आव्यासालयन्तो बहुशस्त्वनुकूलाः प्रियं च दा ॥७॥**

ऐसे स्थान में अपने मतानुवर्ती और प्रियवचन कहने वाले
में से सेवा लेते हुए हृष्टकाल तक रहे ॥६॥ अपने अनुकूल
और अधुरभाषी मित्र कहानियों से और वारवार तसली की
ताँत कथन कर शय की पीड़ा को दूर करते हैं ॥७॥

न च दिवा निद्रावशागः स्यात् ॥८॥

दिवाख्यामाद्येषो कण्ठूर्गाच्चाणां गौरवं तथा ।

श्वयसुर्वेदना रागः स्वावस्थैव भृशं भवेत् ॥९॥

शयी मनुष्य दिन में नर्ही सोवे ॥८॥ दिन में सोने से अंगों
में भारीपन, और व्याप्त्यान में कण्ठ, शोथ, पीड़ा, सुरक्षी
और अतिकाव होता है ॥९॥

**उत्थानसंवेशानपरिवर्तनच्छुक्मणो चैर्मार्पणाद्या-
सात्यच्येष्टस्वप्रगमतो ब्रणं संरक्षेत् ॥१०॥**

स्थानासनं चछुक्मणं दिवाख्यमं तथैव च ।

व्रणितो न निषेदेत शक्तिमानपि मानवः ॥११॥

उत्थानाद्यासनं स्थानं शय्या चातिनिषेदिता ।

प्राशुयान्मारुतादेषो रुजस्तसाद्विवर्जयेत् ॥१२॥

उठने, घैठने, कर्कट बदलने, टालने, लंघे स्वर में योलने,
विछौने इत्यादि अपनी (शारीरिक) क्रियाओं में सावधान होकर
शय की रक्षा करे ॥१०॥ सामर्थ्य होने पर भी धृषी मनुष्य घैठने,
फिरने, सवारी पर उठने, अधिक बोलने इत्यादि को वर्जय करे ॥११॥ उठना, घैठना, पैदे रहना, सोना इनका अतियोग करने
से बात का प्रकोप होकर व्याप्त्यान में पीड़ा होती है । अतः
इन का सेवन वर्जय करे ॥१२॥

गम्यानां च लीणां संदर्शनसंभाषणसंपर्श-

HindiGyaan Digital Repository https://dsc.gg/dharma

**स्त्रीदर्शनादिभिः शुक्रं कदाचिच्चलितं भवेत् ।
आम्यधर्मकृतान्दोषान् सोऽसंसर्गेऽप्यवासुयात् ॥१३॥**

मैथुन करने योग्य लियों के दर्शन, उन से बातें करना
तथा स्वर्ग भरना हृष्ट चेष्टाओं को दूर ही से त्याग करे ॥१३॥
क्योंकि लियों के दर्शनादि चेष्टाओं से चलायमान हुआ वीर्य
कदाचित् स्वलित ही जाय तो मैथुन के बिना भी मैथुन करने
के दोषों को बर्णी मनुष्य प्राप्त हो जाता है ॥१४॥

**चक्रव्य—गच्छा—जिन का समागम करने में पातक
नहीं, ऐसी स्वपती, वेश्या, वेटी प्रभृति लियाँ । आम्यधर्मकृतान्
दोषान्—वास्तव में श्वी के साथ केवल समागम करने में
शारीरिकदृष्ट्या कोई दोष नहीं हो सकता । परन्तु मैथुनात्
में वीर्य का जो नाश होता है, उसका शरीर पर विशेष करके
स्थानावस्था में हानिकारक प्रभाव पड़ता है । यह वीर्यनाश
मैथुन के कारण होने से वीर्यनाश का दोष मैथुन पर आरोपित
किया है । इन्हानादि द्वारा व्याणी मनुष्य के वीर्य का नाश होने
से प्रत्यक्ष मैथुन से उम्रकी जो हानि होने की संभावना हो
सकती है, वह मैथुन न करने पर भी होती है ।**

**नवधान्यमापत्तिलकलायकुलतथनिष्पावहरितक-
शाकाम्ललवणकदुक्षुडपिष्ठविक्षुरुक्षरामाका-
जाविकानूपैदकमांसवसाशीतोदक्कशरापायसद्धि-
दुर्गथतकप्रभृतीन् परिहरेत् ॥१५॥**

**तक्रान्तो नवधान्यादिर्योऽयं वर्णं उदाहृतः ।
दोषसंजननो द्वेषं विशेयः पूर्ववर्धनः ॥१६॥**

नवीन धान्य, उड्ड, तिल, मटर, कुलधी, चौले, हरितक,
अम्ल लवण कदुक रस, गुड और पिठी के पदर्थ, शुष्क मांस,
सूखे शाक, बकरी भेड़ी आनुप और जलचर प्राणियों का
मांस और चरबी, ढंडा पानी, खिचड़ी, खीर, दही, दूध,
छाछ इत्यादि को व्याणी मनुष्य त्याग करे ॥१५॥ नवीन धान्य
से तक्र तक (खाद्य द्रव्यों का) जो यह वर्ण वर्णन किया है, वह
व्याप्त्यान की दुष्टि करने वाला और पूय को बढ़ाने वाला
जानना चाहिये ॥१६॥

**चक्रव्य—नवधान्य—प्रत्यग्र या एक वर्ष से कम पुराना
शुक्र और शमीधान्य । माप इत्यादि—मापादि धान्य पुराना
होने पर भी वर्जय बतलाने के लिये पृथक उल्लेख किया है ।
कलाय—वेसारी ढाल या सटर चौराह । उत्तिक—कुठेरशियु-
सुससुम्बुद्धिभूत्याणाः । मूल्कं तुकिका चैति वर्णं एरितकं विदुः ॥
आनुप—हाथी भेसा इत्यादि फूलचरदर्ग तथा इंस सारस
चक्रवाक इत्यादि शुबर्वर्ग शूनके प्राणी । औदक—यंस
इत्यादि कोशस्थ, कच्छप आदि पादिन और मच्छ वर्ण के
प्राणी । उत्तरा—तिल, चावल और उड्ड दी खिचड़ी ।
प्रभृति—यच्चान्यदपि विट्ठभि विदादि गुरु शीतलम् इन सब
वस्तुओं का समावेश प्रभृतियादि से समझना चाहिए । दोषसं-
ननः—मण्य स्थान की दुष्टि करने वाला ।**

भद्रपथं मेरेयारिषासवयीभुषुराविकारान् परिहरेत् ॥१७॥

मध्यमस्तं तथा रुक्मि तीव्रमुष्णं च यीर्यतः ।

आमुरारि च तन् पीतं शिंगं व्यापादयेहराम् ॥१८॥

जो मनु पीते काने हैं वे भी मेरेय, अरिष, वासन, शीष, मुरा तथा इन से थने हुए पदार्थों को खाग करें ॥१७॥ क्षीरकि मध्य अम्ब, घृता, तीव्र, उद्यारीर्य और शीघ्रभारी होने से सेवन करने पर दूषण को तक्षाल दूरित कर दात्ता है ॥१८॥

यत्कठय—भैरव—भैरव खण्डीमुषुपुद्धार्यम्भावितम् ।
म च नुनानवाऽभीमधुडेवानादरम् ॥ जिना—अमवस्य मुरावाथ दूषणकव भान्ने । स्पान न दूषनीया—भैरवमुनवस्तकम् ॥ अम बाग्नि—दूषकौशुभुमा मिद मल स अन्नन । अरिष कामनिद स्वाद् ॥ हुमु—दैष रीतग्राम भीमुषुमधुरै । मिद परम सौभु मरनमुदरै ॥ मुरा—परिहात्तुभुमामुन्नत्रां मुरा लगु ॥ मध्यम—मध्य पीते वाते तथा न पीते वाते दोनों मर्यो का सेवन न करें । अमनिदारि—जो मध्य तीव्र रुदादि गुणयुक्त होता है ऐवल उसी का सेवन वर्जन समझना चाहिए । अन्य मधुर सीम्य गुण युक्त द्रावारसांत्रव मध्य सेवन करने में कोई निरेप नहीं है, ऐसा कुछ असार्थों का भत है—मन्ने है मुरु-प्राप्त नानिनीश्वरानकर्मन् । तु तु ललुरेय च मर्दीकु लुत्तनम् ॥

यातातपरजोधुमावद्यायातिसेवनातिभोजनानि-प्रभोजनानश्व्रवाणदृश्येन्नर्यामिर्पमधयकोधयोक्त्यानवाग्निजागरत्तेविपमादानदायनोपयासवाव्यायामस्थानच्छृंकमण्डीतयानविरस्ताद्यवशनार्जीर्णमद्विकाद्या वाधाः परिहरेत् ॥१९॥

मणिनः संप्रतस्य कारस्यैवमादिभिः ।
क्षीणशोणितमांसस्य भुक्तं सम्यहन् जीर्यति ॥२०॥

अर्जीर्णात् पवनादीनां विश्रमो वलवान् भवेत् ।

ततः शोफरजाकावदाहपाकानवामुष्यात् ॥२१॥

बायु, धूप, धूलि, भुज्ञा, ओष इनका अति सेवन, अनि भोजन, अनिष्ट पदार्थों का सेवन धैर्य और अवण, दूसरे का उल्लंष्ट सहन न करना, मलमर, भय, घोष, विता, रात में जागना, अधिक कम्फ या अकाल भोजन तथा निद्रा, अवशन, ईंचे स्वर से बोलना, एक स्पान में इलाचल न करते हुए अधिक समय तक ठहरना, भूमता, शीत और ढीरी लातु का सेवन, विलुप्त भोजन, अवशन, अर्जीर्ण, मधिका मध्यर इलादि वादार्थों से शरीर मनुष्य बचा रहे ॥१९॥ इन वातानिदि कारणों से प्रभाव हो जाने के कारण (पहले से ही) इन और मांस जीर्ण हुए शरीर मनुष्य का सेवन किशा हुआ भोजन ईंकी हीक नहीं पचता ॥२०॥ अज का पचन ईंक न होने से वातानि दुष्ट होकर शीर में संचार करते हैं, जिस से व्रश में गूदन, वेदना, साव, जलन और पाक होता है ॥२१॥

यत्कठय—अनिष्ट—इस का संघर्ष भोजन, अरण और दूसरे के मारप है । धूमी—दूसरे का उर्ध्व सहन न करना । विप्रभानश्वरन—विप्रमाणन और विप्रमव्याप्त—बहु लोकहन्ता वा विषेव विप्रमाणनम् । विप्रमव्याप्त—आवश्वना से अधिक

या कम समय तक रोता, अकाल रोता, निमोद्वात स्थान ८ सोता इत्यादि । काग्न्य-दूष—चिङ्गाना या ईंचे स्वर से बुद्धीलना । स्थान—गरीर वा एक स्थिति में किर्मा प्रकार के हल्लय न करते हुए अधिक काल नक ठहरना । विष्वावरन—विष्वावरन और अवशन । विट्टदागन का योग्य हिताहि अवशन में किया हुआ है, उस के मनुष्यार विलुप्त पदार्थों के सेवन । अवरन—मुन्नलेपि भोजनम् । मधिका—मधिका अंसे विकरी जीवालुओं का संग्रह । होता है तथा रोता को परागानी भी होती है । इसलिये उनका परिहार करन चाहिए—जिनका ग्रामगाय निविदन ददा हैन । शुद्धुरुप्ति तेतु वायपे भूरद्धा । तीका लगा वित्तिः इत्तत्त्ववद वर्तने । विम्ब—बातानिदि के दोनों की हुई या श्वासात्तर गमन ।

सदा नीचनरात्रोग्ना शुचिना शुक्लायाससा शान्तिभद्रलदेवतामालाहगुरुपरेण भवितव्यमिति ।
तत् कस्य हेतोः ? हिंसाविहाराणि हि महावीर्याणि रद्धांसि पशुपतितुयेकुमारालुचराणि मांसशोषित प्रियत्वात् द्वात्तजनिमित्तं विष्णुमुपसर्पेन्ति सत्कारार्थं जिधांसुति वा कदाचित् ॥२२॥

भवति व्याघ्र—
तेषां सत्कारकामानां प्रयतेतान्तरामना ।

धूपबल्युपहारांश्य भक्ष्यांश्वीयोपहारयेत् ॥२३॥

वर्षी के सदा नालून और बाल कटवाने चाहिए । पवित्र और साक वस्त्र पहने हुए रहना चाहिए । शान्तिकर्म, मगाना-चरण, देवता वादायण और गुरु शूल की भक्ति में तत्त्वरहना चाहिए । इस का क्षय हेतु है ? हिंसार्थ विहार करने वाले परामर्शी राजस तथा दूद, कुपर और कार्त्तिकय के अनुचर मास और स्थिर प्रिय होने से जलम का निमित्त करने वर्षी के समोप अपना सक्कार करने के लिए कम्फा करते हैं ॥२३॥ अपने सक्कार की इच्छा करने वाले उन राजमादि के निमित्त (सक्कार करने के लिए) अन्त-क्रम से प्रवर्तन करना चाहिए तथा उन को धूप, धूलि, उपहार और भक्ष्य भोजनादि प्रदान करना चाहिए ॥२३॥

चक्षुक्षय—हिंसाविहाराणि—हिंसर्थ जिन का विहार यानि वेषा होती है । शुचिना—अचुद होने पर ही राशमां का आवश्यन होता है । इसलिये नालून बाल वस्त्र अदि स्वरूप रखने चाहिए । अशुचि विवर्यां रक्ष वा विद्युत्तम् । हिंसाविहाराणि स्तकारार्थमशपि वा । रुद्धांति—आठों प्रकार के प्रह—देवताया शुद्धुराश्वर तेता वर्जनवेद्या रिषये भुज्ञा । रुद्धांति वा नृपि विषावशानितोऽर्जुन्देव देवगो अहाल्य । क्षमजनिमित्तन—सत्तसेवनार्थ । विष्णुवर्जिता पूजा । उत्तर—पशु-युक्ता पूजा ।

ते तु समर्पिता आत्मवन्ते न हिंस्यु । तस्मात् सत्तामनन्दितो जनपरिवृतो नित्यं दीपोदकशाल्य-स्वामीमुपष्पलाजायलद्वृक्ते वेशमनि सम्पन्नमङ्गल मनोऽनुकूलाः कथा शृण्यवासीति ॥२४॥

दायुकूलाभिः कथाभिः प्रीतमानसः ।
वान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं सुखमवाम्यात् ॥२५॥
 स से नुस हुए राक्षसादि नीच नवरोमादि वोग्य आचरण वाले व्रणी मनुष्य को वाधा नहीं करते । इसलिए , जल, शब्द, माला, रज्जु, पुष्प, धान की लाजा इन से सुसज्जित स्थान में सावधानी से अपने सिंत्रों सहित ऊकूल मंगल और मनोनुकूल कथाएँ सुनते रहना चाहिए । संपत्ति आदि की अनुकूल वातां से प्रसन्नचित्त होकर व्याधि से छूटने की आशा करता हुआ व्रणी मनुष्य शीघ्र ख को प्राप्त करता है ॥२५॥

ऋग्यजुः सामार्थ्यवेदाभिहितैरपैश्चाशीर्चिधानैः
व्यायाम भिपजश्च सन्ध्ययो रक्षां कुर्यात् ॥२६॥

ऋक्, यजुः, साम और अर्थवेदोक्त तथा अन्य आशीर्विधानात्मक मन्त्रों के द्वारा उपाध्याय तथा वैद्य रोगी क्षा करे ॥२६॥

र्पपारिष्टपञ्चास्यां सर्पिणा लघणेन च ।

रुद्धः कारयेद्गूपं दशरात्रमतन्द्रितः ॥२७॥
 राहु, नीम की पत्ती, धृत और लवण इन की धूनी दिन में गर दस दिन तक सावधानी से (विला नामा) देना हुए ॥२७॥

वक्तव्य—द्विरहः—सायं प्रातः । धूपन के संबंध में कुछ इरण पांचवें अध्याय में किया गया है । निवपत्र सर्पणादिक गंध द्रव्यों के धूम से व्रण वस्त्र गृहादि शुद्ध करने की जो पता आयुर्वेद में स्थान स्थान पर मिलती है, वह आयुनिक शास्त्र जीवाणुविनाशक वण्चिकित्सापद्धति (Antiseptic method of treatment) की जननी हीं समझनी हिये । क्योंकि आयुनिक जीवाणुनाशक चिकित्सा की भाँति चीन काल में रोगी का व्रण, व्रण वन्धन द्रव्य, शर्यादि वस्त्र और मकान इनका धूपन किया जाता था । न केवल व्रण ऐत शयनाधार्पि जणर्णांश्चापगमार्थं नीलमक्षिकादिपरिहारार्थं च । (डल्हण) । वरेन निम्बवचारं च धूपनं संप्रशस्यते । (शार्ङ्गधर) । विवर्हिवलाकार्थीनि सर्पाशंदनं च धृतयुक्तम् । धूमो गृहशयनासन-शादियु सम्यते विपन्नुत् ॥ धृतयुक्ते न ततुंड भुजगपतिशिरःशिरोपुष्पं । धूमादः स्मृतोद्यं सर्वविपद्धः दद्वयुक्तम् ॥ जनुसेव्यपत्रणगुडु-शितककुम्भपुष्पसर्जरसाः । शेता धूमा उरगाखुकीद्वलकूमिहणः ३ः ॥ (चरक) । इसमें धूपन के दुर्गंधनाशक (Deodorant) और विषनाशक (Antiseptic) दो गुण भी स्पष्ट रूप से दर्शित किये हैं । प्राचीन काल में जिस को विष कहते थे, वह गास्त्र में विकारी जीवाणुओं का एक वर्ग है । ये जीवाणु भ्रात्र सूक्ष्मदर्शक की सहायता से प्रवल्पन हो जाने के कारण उनके स्वतंत्र नाम रखने गये हैं । परन्तु जो जीवाणु अभी तक अदृश्य अर्थात् सूक्ष्मदर्शकातीन हैं (Ultramicroscopic) वे भ्रात्र भी विष (Virus) नामक सामान्य वश्व. से निर्दिष्ट किये जाते हैं ।

छावामतिच्छत्रां लाङ्ग(ङ्ग)लीं जटिलां वस्त्रचारिणीं
लक्ष्मीं शुद्धामतिगुहां वचामतिविषां शतवीर्यां सह-
सर्वीर्यां सिद्धार्थकांश्च शिरसा धारयेत् ॥२८॥

छत्रा, अतिच्छत्रा, लांगली, जटिला, व्रह्मचारिणी, लक्ष्मी, शुद्धा, अतिगुहा, वचा, अतिविषा, शतवीर्या, सहस्रवीर्या और सिद्धार्थक इन को सिर पर धारण करे ॥२८॥

वक्तव्य—यहाँ जो शिरोवार्य ओपधियों के नाम दिये हैं, उन में से अधिकसंख्य ओपधियों के संबंध में मतभेद है । छत्रातिच्छत्रा—द्रोशपुष्पिद्वय । (डल्हण) । सुश्रुत के अनुसार सोमससवीर्या दो महोपधियाँ—छत्रातिच्छत्रक विद्याद रक्षोद्धै कन्दसंभवे । जरामृद्युनिवारिणी शेतकापोतिसंस्थिते ॥ अरुणादत्त के अनुसार छत्रा—शतपुष्पा और शतिच्छत्रा—विपाणिका । लांगली—कपिकच्छुः (डल्हण), विष लांगली (हाराणचंद्र) । जटिला—जटामांसी । व्रह्मचारिणी—सुण्डितिका (डल्हण), व्रह्मयदी (हाराणचंद्र), व्राही (उदयचन्द्र तथा अन्य टीकाकार) । लक्ष्मी—शमी, लक्षणे-त्यन्ये, विषुकानोत्यपरे । (डल्हण) । ऋद्धि (उदयचन्द्र), तुलसी (अन्यटीकाकार) । शुहतिगुहा—शालिपर्णीपुष्पिष्ठप्यां ॥ शतवीर्या—शतावरी, नीलदूर्वेत्यन्ये (डल्हण), श्वेतदूर्वा (हाराणचंद्र), सहस्रवीर्या—श्वेतदूर्वा (डल्हण), दूर्वा (हाराणचंद्र) । सिद्धार्थक—सर्पप, सरसों ।

द्वयज्येत वालव्यज्ञैर्नैर्बर्णं न च विघद्वयेत् ।

न तु देन्न च कण्ठ्येच्छयानः परिपालयेत् ॥२९॥

वालों की चौरी से ब्रण पर पंखा करे । उसे न दबावे, न दुखावे, न खुजावे । किन्तु लेटे लेटे उसकी रक्षा करे ॥२९॥

अनेन विधिला युक्तमादावेच निशाचराः ।

बनं केशरिणाऽऽकान्तं वर्जयन्ति सूगा इव ॥३०॥

इस विधि के अनुसार जो वर्णी रहता है, पहले से ही निशाचर उसको त्याग देते हैं (यानि पास नहीं आते) जैसे कि सिंहयुक्त बन को सूग त्याग देते हैं ॥३०॥

जीर्णशाल्योदनं स्त्रियमल्पमुष्पां द्रवोत्तरम् ।

भुज्ञानो जाङ्गलैर्मासैः शीघ्रं व्रणमपोहति ॥३१॥

तराङ्गुलीयकजीवन्तीसुनिपरिणकवास्तुकैः ।

वालमूलकवातार्कपटोलैः कारवेल्लकैः ॥३२॥

सदाडिमैः सामलकैर्वृतभृष्टैः ससैन्धवैः ।

अन्यैरेवंगुरुर्वार्द्धाऽपि सुद्रादीनां रसेन वा ॥३३॥

शक्तन् विलेपीं कुल्माणं जलं चापि शृतं पिवेत् ।

पुराने चावलों का धृतयुक्त, थोड़ा गरम, पतला भात जांगल प्राणियों के मांस के साथ सेवन करने से व्रणी का व्रण शीघ्र अच्छा होता है ॥३१॥ अथवा चौलाड़, जीवन्ती, चौपतिया शाक, दृश्या, कोमल सूली, वैगन, परवल, करेल ये शाक अनार और अंडलों के रससंहित सेंधवयुक्त धृत में मुने हुए अथवा ऐसे गुण वाले अन्य पदार्थ अथवा मूँग आदि का रस इनके साथ (पुराने चावल का भात) सेवन करे ॥३२-३३॥ सक्तु, विलेपी और कुल्माण भी सेवन किया जाए तथा उवाला हुआ जल पीये ।

वक्तव्य—कुमाप—यवोदन किंवा 'वस्त्रविषमयः उत्स्पिता'ः

यव व्रण के स्त्रिये हिनकर हैं । इसस्त्रिये यवों से व्रणाय

प्राप्त ऐसा इसका अर्थ करना चाहिए । द्रोषुपुष्पः नित्यम् ॥

दिवा न निद्रावशगो निवातगृहगोचरः ।
वर्णो धैवतये तिष्ठन् शीघ्रं वरणमपोहति ॥३४॥
वर्णं श्रवयथुरायासात् स च रागश्च जागरात् ।
तौ च रक्षच दिवात्सायात्ताश्च मृत्युध्यं मृत्युनात् ॥३५॥
पर्वं वृत्तसमाचारे वर्णी सम्पद्यते सुखी ।
आयुधं दीर्घमाप्नोति धन्वन्तरिविचो गथा ॥३६॥

१८। मृत्युनिविकाया उत्तमाने वर्णितायमर्हा न
नामैरोनविरोज्याय ॥१८॥

किन मैं न सोना हुआ, निर्वात स्थान में वैष्ण की आज्ञा-
नुमार रहने वाला प्रथमी वीर्य वर्ण से आराम का भ्रास होता
है ॥३४॥ परिषम करने से बाज में सूजन, जागरण करने से
सूजन और सुरुली, दिन मैं सोने से सूजन सुरुली और पीड़ा,
और मैत्रुन रहने से सूजन सुरुली पीड़ा और मृत्यु भी हो
जाती है ॥३५॥ ऐसा आचार रहने वाला प्रथमी धन्वन्तरि
भगवान् के वचनानुसार सुखी होता है और वीर्यांयु को प्राप्त
होता है ॥३६॥

इति भास्त्रसमाचारो गोविदायमेवेन विवितायामायुवेऽहम्यसीपिवाया
कुकुलामार्हीकाया वर्णितोपासनीयो नामैरोनविरोज्याय ॥१९॥

विंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो दितादितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

वै वह हीं से दितादितीय अध्याय का व्याख्यान करते हैं,
जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यक्षबद्य—परीर के लिये पर्याप्त और अपर्यक्त पदार्थों
का विचार विस्तरे किए हुए हैं वह दितादितीय ।

यद्यायोः पर्यं तत् पितस्यापर्यमित्यनेन हेतुना
न किंचिद्व्यमेकान्तेन हितमहितं याऽस्तीति
येत्यिदाचार्यां सुप्तते । ततु न सम्यक् । इह स्वलु
यस्ताद्यविद्यि समाधयः संयोगतद्यक्तान्तहितान्ये
कान्तहितानि दितादितानि च भवन्ति ॥२॥

जो पर्याप्त यातु के लिये पर्याप्त है, वह पितृ के विषे
अपर्यक्त होता है । इस कारण से कोई भी वैष्ण वर्णकाल
और सर्वायस्या में न हितहारी हो सकता है, न अहितहारी
हो सकता है, ऐसे कई आचार्य बहते हैं । परंतु वह शीर नहीं
है । स्वप्नोंके इमारे मतानुसार तीर्त्ये इस अपनी प्रकृति से
भयान संकोच से (निर्जीव भ्रष्ट के) होते हैं—१। निर्जीव
हितकर, २ निर्जीव अहितकर, और ३ (व्यवरता के भुजुगार)
हितकर तथा अहितकर ॥२॥

यत्तदृष्ट—पूर्वेन इतिर्गीत्य—तिग्र धृष्य का विवार
वा विवितकर कार्ये धृष्य किनी के द्वारा निर्माण होता केरल
भरने ही गुणों के बुजुगार तीर्त्यास और तार्यार्यायों में भुजा
बरता है, वह धृष्य एकान्तहित या एकान्तादित कहते हैं ।
इ—वायवतरि के मतानुसार अग्रोर्ग्रुप्तान्त्र में । तथा
इ—अपने द्वार्हित वायि जानि और तथा के ग्राप उपाय

हुए गुणा में—तब नहुतिक्षणे व्यभावा म । न पुनराग्नीपद
णा भ्यामिद्वा गुरुर्निगुरुण । व्यवाद मुखो मापा बाहो माहिपन्ना ॥ (धरक
तथा असि की उत्तरा, तैल धूतादिक की स्तिष्ठना में ।
स्वाभाविक गुणों के उदाहरण हैं । स्वाभाविक गुण धु
निष्प्रतिविष्य होते हैं—स्वभावा निष्प्रतिविष्य । (धरक)
स्वागतश्च—स्वयोग तथा रसेकार, राधि, देष, काल, वे १
धृष्योग से यहाँ अभिनेत हैं । देहातुप्रथमेवामारपद्म परस्परगुणविद्वानि कानिचिद का
नित स्वागता मम् । रात्प्रारुद्धि देशाकामाकृतिभासपरि
(धरक) । सत्यां—दो या अधिक द्वयों का मेल । पा
यहाँ द्रवप्रकृति के अतिरिक्त कार्यकारक मेल अभिनेत है—
मवैग्री द्वयोंकृता वा द्रव्याणा मैतीभाव । सविरेवमारपद्मे
कुननेवकाश द्रव्याभमन्ते । तथा । मुख्यरिहेऽप्यस्तत्प्रयत्ना
संयोग । (धरक) । किन्तु इस प्रकार का एकान्तहितकर ॥
एकान्तहितकर धृष्य मिलना असंभव है । इस अस्याय
केवल उन द्वयों का विचार किया है जो व्यस्यावस्था ।
स्वास्यदत्तश्च के लिये सेवन किये जाते हैं । इस इटि से विचा
रने पर एकान्तहित यह धृष्य है, जो स्वास्य का पालन करत
है और एकान्त अहित वह धृष्य है, जो स्वास्य को दियाइता है

तथ, एकान्तहितानि जातिसात्म्यात् सलिल
धूतदुग्धौदनगमभूतीनि; एकान्तहितानि तु दहनपच-
नमारणादित्पु प्रवृत्तान्यिक्षात्तरविषादीनि, संयोगा
दपराणि विष्टुल्यानि भवन्ति; हितादितानि तु
यद्यायोः पर्यं तत्पिनस्यापर्यमिति ॥३॥

उनमें से जल, पूर, दूष, भास इत्यादि धृष्य जग्म रो री
साम्य होने के कारण एकान्तहित होते हैं । दूषन, रघन,
मारण इत्यादि कार्यों में प्रयुक्त अग्नि, क्षार, दिव इत्यादि धृष्य
तथा मर्यादा से विष्टुल्य होने वाले अन्य धृष्य एकान्त अभिनेत
कर होते हैं । तितहित धृष्य वे हैं जैसे जो वातु को पर्याप्त
ते परिन क विषे भरप्यकर हैं ॥३॥

यन्—य—जातिसात्म्यात्—जग्म से ही गरीर के विषे
मृत्यारुद्ध होने के कारण । ननि—जन्म । जात्य—जात्य नम
नम्य एव तिस्तनामन्तरुद्धारो । (धरक) । दितादितानि—हिता-
दित धृष्य वे हैं, जो गोतृन करने पर गरीर के पृष्ठ अग वर पितृ
कर भीर दूसरे अग पर भहितकर परिनाम एक ही समझ में
दिया करते हैं ।

अतः सर्वप्राणिनामयमाहारायं यर्गं उपर्देष्यते;
तथाया—रसायालिप्यष्टिकाकुमुकुमुद्वक्याकुमु-
पीतकप्रसोदेकाकालवान्मुपुराकर्दमवान्मुकुनाहत
एकान्तहित कान्तमनीपारकोद्रव्योदात्तरविषादीनोप्य-
येण्येवाद्यः, एकान्तरात्तरक्षेत्रलायतितिविष्टुल्यनार्तिर्यति
नार्तीनां मारानि, मुद्यपनगुद्मगुद्मानामगर-
मामरवान्मुद्मरेण्यादीनामतीनां, चिरियामु-
१ द्रव्याभमन्ते, २ धृष्याभमन्ते ।

सुनिष्परणकजीवन्तीतप्तुलीयकमण्डकपर्ग्यः, गव्यं
वृत्तं, सैन्धवदाडिमामलकमिन्येष वर्गः सर्वप्राणिनां
सामान्यतः पथ्यतमः ॥४॥

अतः सब प्राणियों के आहार के लिये (पथ्यक) आहार वर्ग का उपदेश करते हैं । जैसे रक्त शालि, पश्टिक, कंगुक, सुकून्नक, पाण्डुक, पीतक, प्रमोदक, कालक, असन, पुष्पक, वर्द्धक, शुक्रनाहत, सुगन्धक, कलम, नीवार, कोद्रव, उद्दालक, श्यामाक, मेरू, वेणुयवादि (धान्यविशेष); पुण, हरिण, कुरंग, बृगसालका, श्वदंष्ट्रा, कराल, कक्कर, कपोत, लाला, तीतर, कपिजल, वर्तीर, वर्तिक इत्यादि प्राणियों का मांस; भैंग, चन्मैंग, कुष्ठक, मटर, मसूर, भंगली, चना, होणु, गरहर, सतीन; चिह्नी, वासुक, सुनिष्पणक, जीवन्ती, तप्तुलीयक. मण्डूकपर्णी, गौ का धूत, सैन्धव, दाडिम, आंबला (इन आहार्य द्रव्यों का) यह वर्ग सब प्राणियों के लिये पथ्यतम ग्रायः होता है ॥४॥

बक्षठ्य—प्राणिनाम्—मनुष्यों का । यहाँ निर्दिष्ट किये हुए द्रव्यों का वर्णन ४६ वें अध्याय में किया गया है । इन में रक्त शालि से कलम तक शूद्र धान्य है; नीवार, कोद्रव, उद्दालक, श्यामाक और वेणुयव तृक्षान्य हैं; पुण से कराल तक जांगल सुग हैं; कक्कर और लाल से वर्तिक तक चिकिर हैं; कपोत प्रतुदवर्ग का है; सुकून्न से सतीन तक चंदल हैं; चिलती से मण्डूकपर्णी शाक है । इन द्रव्यों में से निम्न द्रव्य अपने वर्ग में पथ्यतम हैं— ऐतिहासिक: इत्याध्यानाना पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमः, मुद्रा: शर्मीध्यान्याम्, मैनव लवणानाम्, जीवन्ती शक शाकानाम्, ऐयं प्रगमांसानाम्, लावः पक्षिणाम्, गव्य नरपि: मर्मिष्पणम् । (चर्क) ।

नथा ब्रह्मचर्यनिवातशायनोप्लोदकस्ताननिशास्त्रमध्यायामाश्चकान्ततः पथ्यतमाः ॥५॥

नथा ब्रह्मचर्य ऐसे स्थान में सोना जहाँ शुद्ध वायु पर्याप्त होता हुई भी यरीर पर सीधी न लग सके, गरम पानी से स्नान करना, रात्रि में निद्रा लेना. व्यायाम करना ये भी सर्वकाल अत्यन्त हितकर होते हैं ।

घस्तठ्य—ब्राह्मण्य—स्मरण कीर्तन केलि: प्रेक्षण गुणभाषणम् । सकल्पोदयवसायश्च क्रिमानिर्वृत्तिरेव च ॥ एतन्मेशुनमाटग्र प्रवदन्ति मनीषिणः । विषीत ब्रह्मचर्यम् ॥ धर्म्य यशम्यमायुष्यं लोकद्वयसायनम् । अनुमोदमेहं नप्तुर्यमेकान्तनिर्मलम् । (वामभट) । निरासात्म—रात्रि की निद्रा नेतर्सिक होती है । विशेष करके रात्रि के मध्य दो प्रहर की निद्रा आवश्यक होती है—रात्रि-छुभावप्रभवा भता या तां भूतात्री प्रवदन्ति निद्राम् । (चरक) । अहोरात्रे विषज्ञों सद्यो मानुषैविक । रात्रि: स्वामय भूतानां नेत्रैषं विषेणामहः । (मनु) । प्रदोषपूर्वमौ यामी वेदास्यासेन तो न नयेत् । भरद्वय शयानो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते । (दत्तस्मृति) । व्यायाम—आयामो विविधोऽनानां व्यायाम इति सञ्जितः । (धनुर्वेद) । गरीरायासजनन कर्म व्यायामसंवितम् । (सुश्रुत) ।

एकान्तहितान्येकान्ताहितानि च प्राणुपदिग्रानि,
हिताहितानि तु यद्यायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्य-
मिति ॥६॥

एकान्त हितकर और एकान्त अहितकर पहले कह चुके हैं । हिताहित तो वे हैं जैसे जो व्यायु के लिये पथ्यकर है वह पित्त के लिये अपथ्यकर है ॥६॥

संयोगतस्त्वपराणि विषतुल्यानि भवन्ति । तद्यथा—वहीफलकदककरीरामलफलव्रशाकुलतथ-पिण्याकदधितैलविरोहिपिण्यशुष्कद्वाकाजाविकमांस-मद्यजास्त्वद्वच्चिलिच्चिमस्यगोभावराहांश्च वैकाध्य-मशीयाल् पयसा ॥७॥

दूसरे कुछ पदार्थ अन्य पदार्थों के साथ मिलकर विष के समान हो जाते हैं । जैसे—(कृष्मांडादि) वन्ती के फल, उदक, वंशांकुर, निम्बादि अम्ल फल, लवण, कुर्यादी, खलि, दही, तेल, अंकुरित धान्य, पिण्डी, सूखे शाक, वकरा और भेद का मांस, भय, जामुन फल, चिलिचिम मस्य, गोधा और गूदकर का मांस इन पदार्थों की दृग के साथ एक स्मय में नहीं खाना चाहिये ॥७॥

दत्तठ्य—विषतुल्यानि भवन्ति—दो हितकर पदार्थों का संयोग तब विषतुल्य हो सकता है, जब दोनों के संयोग से एक तीव्र पश्चार्थ वन जाय और जो शरीर के लिये अहितकर हो । ऐसे पदार्थों को संयोगविरुद्ध (Chemically incompatible) पदार्थ कहते हैं ।

रोगं सात्यं च देशं च कालं देहं च बुद्धिमान् । अदेक्ष्याद्यादिकान् भावान् रोगवृत्तेः प्रयोजयेत् ॥८॥

रोगी के (रोगवृत्तेः) रोग, सात्य, देश, काल, शरीर, जठरामि इत्यादि भावों को देखकर बुद्धिमान् वैद्य (विषद्व पदार्थ भी) प्रयुक्त करे ॥८॥

अवस्थान्तरवद्याहुल्याद्वोगादीनां व्यवस्थितम् ।

द्रव्यं नेच्छलिति भिषज इच्छिन्ति स्वस्थरक्षणे ॥९॥

(उपर्युक्त) रोगादिकों की अनेक अवस्थाओं की विविधता होने से बुद्धिमान् वैद्य किसी भी पदार्थ की एकान्तहित या एकान्ताहित नहीं समझते परंतु स्वस्थावस्था की रक्षा में (प्रत्येक पदार्थ की एकान्तहितता अथवा एकान्ताहितता) मानते हैं ।

दस्त्रठ्य—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि रुग्णावस्था के लिये कोई भी द्रव्य केवल अपनी प्रकृति से एकान्तहित या एकान्ताहित नहीं हो सकता । उसका कार्य वैद्य की योजना पर निर्भर होता है । यथा—तीव्रतम सर्पविष भी योग्य भास्त्रा में और रोगी के लक्षणों का सूक्ष्म विचार करदेने पर अगृत समान कार्य करता है और असृत समान दूध ढीक योजना न करने पर विषतुल्य हो जाता है । इसी दृष्टि से लिखा है—योगादपि विष तीण्डुमूत्रम भेषज भवेत् । भेषज वापि दुर्युक्त तीक्ष्ण संपत्ते विषम् । (चरक) । जगत्येवमनौपथम् । न किञ्चिद्विद्वते द्रव्य वशसाज्ञानार्थयोग्योः । (वामभट) । नास्ति मूलमनौपथम् । योजकस्त्र दुर्लभः । (सुभापित) । परंतु स्वस्थावस्था में प्रत्येक द्रव्य अपनी प्रकृति के अनुसार एकान्तहित या एकान्ताहित कार्य शरीर पर करता है । यहाँ किसी योजक की कोई आवश्यकता नहीं होती । अर्थात् स्वस्थावस्था के लिये द्रव्यों के हितकर और अहितकर विभाग मानना जरूरी है । अर्थात् इस अध्याय में जो एकान्तहित, एकान्ताहित, संयोगविरुद्ध, मानविरुद्ध इत्यादि प्रकार वृत्तालय हैं; वे स्वस्थावस्था में मार्गीदर्शक होने के लिये हैं । रुग्णावस्था में इन अहितकर प्रदूषणों की भूमिका अत्यधिक है ।

लिये अपने शुद्धिवस्त के आधार पर कर सकता है। ये अहितकर प्रकार वैच के लिये तथा रोगी के लिये वाष्प नहीं हो सकते।

छयोरम्भ्यतारादने घटन्ति विपदुभ्योः।

दुग्धस्यैकान्तहिततां विपमेकान्ततोऽहितम् ॥१०॥

एवं गुकरसेष्वेषु द्रव्येषु सलिलादिषु ।

एकान्तहिततां विद्धि चरत्स सुश्रुत नान्यथा ॥११॥

यथा स्वस्थ मनुष्य के लिये विष और दूध इन में मे दूध एकान्त हितकर और विष एकान्त अहितकर वैच कहते हैं ॥१०॥ इम प्रकार वस सुकृत । स्वास्थ्यानुकृतिकर रसयुक्त जलादि द्रव्यों में एकान्तहितकरकता समझो (और) विपरीत रसयुक्त द्रव्यों में भव समझो ॥११॥

वस्त्रदृढः—अन्यन्—स्वस्थ । गुकरसेषु—दुग्धवत् प्रथम-सलिलस्यतुमुत्तिरमयुक्तेषु । (हाराण्यचद्र) । नान्यथा—विपरीत रसयुक्त विषादि में ।

अतोऽन्यान्यपि संयोगादितानि वक्ष्यामः— गवविरुद्धधार्यैर्वसामधुपयोगुडमार्पैर्वा ग्राम्यानुपौदेकपिशितादीनि नाभ्यवहरेत्, न पयोमधुभ्यां रोहिणीशकं जातुकशाकं वाऽश्रीयात्, वलाकं वारुणीकुलमायाभ्यां, काकमार्ची पिण्ठलीमरिचाभ्यां; नाडीमझशाककुकुटदधीनि च नैकव्यं; मधु चोष्णोदकातुपानं; पिसेन चामर्मांसानि; सुराहशरापायसांश्च नैकव्यं; मौवीरकेण सह तिलशङ्कुलीं; मत्स्यैः सहेश्चुपिकारान्; गुडेन काकमार्ची, मधुना मूलकं, गुडेन वारादं मधुना च सह विरस्तं; तीरेण मूलकमाघजाम्बवयविच्छूकरगोधाय, सर्वाश्च मत्स्यान् पयसा विशेषेण चिलिचिमं; कदलीफलं तालफलेन पयसा दध्ना तकेण च; लकुचफलं पयसा दध्ना मापसूपेन च, प्राक् पयसः पयसोऽन्ते च ॥१२॥

अथ चीरं भीं चीरं चक्षुवेशं च अहितकर होते हैं, वर्ण कहते हैं । नवतुकुरित धान्य तथा वसा, मधु, दूध, गुड, उड़ इनके साथ प्राप्य, आनुप और अंडाक जीवों का मांग नहीं खाना चाहिये । तोहिणी शाक या जातुक शाक दूध और गहड़ के साथ नहीं खाना चाहिये । बलाका का मास मदिरा और टपके हुए धान्य के साथ नहीं खाना चाहिये । काकमार्ची की रिपारी और मिरिष के साथ नहीं खाना चाहिये । नाटी का गांक, मुरगा और दही एक समय नहीं खाना चाहिये । मधु गरम जल के साथ नहीं खाना चाहिये । रिति के साथ मास सेवन नहीं करना चाहिये । मग, रिपारी और भीर एक समय नहीं खाना चाहिये । गीरीर के साथ निष्ठा वृक्षाली नहीं खानी चाहिये ।

१. 'गुडेन दृष्ट्वा', मधुना मूलक, व राव दरिश मूलक च ।
'गुडेन काकमार्ची, मेघा दृष्ट्वा वाराद च'

मछली के साथ ईख के पदार्थ नहीं खाने चाहिये । गुड के साथ काकमार्ची नहीं खानी चाहिये । मधु के साथ मूली नहीं खानी चाहिये । गुड और मधु के साथ शूकर का मास विलद है । दूध के साथ मूली, आम, जामुन, खरगोश मूकर और गोधा का मास नहीं सेवन करना चाहिये । दूध के साथ प्रकार की मछली विशेष कर्त्तव्यित्वम तत्त्व विलद है । तालफल, दूध, दही और उड़ के साथ फेला विलद है । लकुचफल, दूध, दही और उड़ के थेप के साथ नहीं खाना चाहिये तथा दूध के पहले या पीछे भी सेवन नहीं करना चाहिये ॥१२॥

चक्षुदृढः—मधु चीजोंदातुपानम्—मधु वैचल उण जड़ के नहीं वरन् प्रयेक उण पदार्थ के विलद है—लकुचफल मूलाहंतमवा सजिवान्वयात् । (धरक) । नानापुष्पकराणां संसारात्मक मधु । तच्छृश्वलौ कुर्मार्च मैदैरूपैदिविष्वेते । (हारीत) । उच्चमुआहंतमुणे च चुकू चोलीनिहित तथा । (बाम्पट) । सीतीक—काँती का एक प्रकार—वैलु निमुणे पैठे मौवीर सतीत भरो । (शारीरप) । सर्वांश्च मत्स्यान् पयसा—दूध के साथ मत्स्य न सेवन करने का कारण चरक (सूक्ष्मरात् अ. २६) में लिखा है—न मत्स्यान् पयसा सदाचारदैरुभय तेष्वप्युरुष विषाकं महाभिर्विदि शीतोष्णतावादिविलोपी विलदवीक्षणाच्छेष्प्रपूर्णव भाविष्यत्विनिवान्मार्गोपरोपय च ॥ विशेषेण विर्विषय—एक प्रकार का भूमिचर मत्स्य है—न उन शब्दी सर्व लोहिणारिलोहिणकारां ब्रायो भूमी चरनि । (धरक) । विशेष विष दूध के साथ सेवन न बरने का कारण—न हि महाभिर्विदिवान् शृङ्खलशृण्वयमेवान् (शोणितवान् विर्विष्य) व्याघ्रानुप्रवान् यति । आमविषमुत्तिरूपति च । (धरक) । प्राक् पयस एवमेवं वा 'लकुचफल नाशीदात्' इनि शेष ।

अतः कर्मविरुद्धान् धृश्यामः—कपोतान् सर्वं तैलसृष्ट्याद्याद्यात् । कपिअलमयूरलावतिनिरिगोपा शैवण्डदोर्वर्यशिसिद्धा परगण्डतैलसिद्धा या नागाद् । कांस्यमाजने दशरात्रपर्युपर्यतं सर्विः; मधु चोष्णैरुद्धये या । मत्स्यपरिषयने शृङ्खवेरपरिषयने या सिद्धा वाकमार्ची; तिलकलसिद्धासुपोदिकामाणः; नारि क्षेत्रेन धराद्यवापीरभृष्टेण यलाकां; भासमङ्गारायहं नारीयादिति ॥१३॥

अथ यहीं से कर्मविलद द्रव्यों को कहते हैं । मरमों से तील में भून पारागती की नहीं खाना चाहिये । कलिग्रन्थ मोर, लाव, सीतार और गोधा इहें प्रणट और लकुचियों रे पकाकर भूमी खाना चाहिये । कास्य के पात्र में दृश दिन का रक्षा दृश्ना दृशा एवं सेवन नहीं करना चाहिये । गरम परापरीं से साथ या गरम बत्तु में मधु सेवन नहीं करना चाहिये । तियं पात्र में मछली या बदरी पकाया गया हो उम पात्र में पैठी काकमार्ची सेवन नहीं करनी चाहिये । लिटकच में विलद दिक्षा दृश्ना पैठी का शाक नहीं खाना चाहिये । दूध और गोधी से भूमी दृश्ना

। वारियर के साथ नहीं सहनी चाहिए । लोगलाला और पर भुगा हुआ भास्य कर सोल सेतु नहीं परसा है ॥१३॥

दत्तय— नम—सौरार—सूर्यो हि शुणाराजानमुच्चे ।
गुणाध तोयाक्षिनिर्गतेनामधनोऽस्मात् नामनभवनाभिनिः
संभाजनाभिनिः पीडने । (चर्य) । नामान्यतया
त से भर्ता के लिये छिन्नत् गुणों की बृद्धि की जाती
है तो अस्त्रार दनात्ये गये हैं, उन से नारि के लिये
बतर गुणों की दृष्टि होती है । रजः ग अस्त्रार रिद्वा
जै चाहिए । परिष्वन परिष्वनोदिति परिष्वन, स्वासी ।
दून्यम—नद्युम्भेन विद्वांगतेषु पक्ष नदगारस्त्रम् ।

अतो मानविक्षान् वृक्ष्यादः— मध्यम्बुद्धी मधु-
पीढी मानवस्तुत्ये तार्क्षीयात्; द्वेषो मधुमेहो
खेहो वा; विशेषाद्वान्तरीक्षोदकालुपानो ॥१४॥
यहाँ से जो मानविक्षु हैं उन्हें कहते हैं । मधु और अल
। मधु और शुत सम प्रमाण में मिलाकर नहीं मासा
होते । दो खेत पदार्थ, मधु और अल कोड़े खेत पदार्थ तथा
और अल कोड़े खेत सम प्रमाण में मिलाकर नहीं राना
होते । विशेष करके मधु और अल के लिये तथा आंतरीक्ष जल
सेवन नहीं करना चाहिए ॥१५॥

घच्छय—गानविनिः— दो पदार्थों का संयोग तथा विशेष
तण में धातक होता है, तब उसको मानविक्षु कहते हैं ।
॥—परिष्वन वना मगा रेतो दृश्यतर्तिभिः । (चर्क) ।

अत उच्चे रसद्वन्द्वानि रसतो वीर्यनो विपाक-
स्थ विरुद्धानि वृक्ष्यादः— तत्र मधुराज्ञौ रसवीर्य-
रेखौ मधुरलवणी च, मधुरकट्टौ च सर्वतः,
धुरतिकौ रसविपाकाभ्यां मधुरकपायौ च,
मधुरलवणौ रसतः, अम्लकट्टौ रसविपाकाभ्याम्,
श्वस्त्रितिचायम्लकपायौ च सर्वतः, लवणकट्टौ कौ
लसविपाकाभ्यां, लवणतिकौ लवणकपायौ च
सर्वतः, कट्टौ रसवीर्यस्यां कट्टकपायौ च,
तिककपायौ रसतः ॥१५॥

यद्य यहाँ से रस, वीर्य और विपाक की दृष्टि में दो दो विरुद्ध
रसों का वर्णन करते हैं । उनमें से मधुर और अम्ल तथा मधुर
और लवण रस और वीर्य में परस्पर विरुद्ध हैं । मधुर और कट्ट
रस सब वातों में परस्पर विरुद्ध हैं । मधुर और तिक रस तथा
मधुर और कपाय रस रस और विपाक में परस्पर विरुद्ध हैं । अम्ल
और कट्ट रस रस और विपाक में विरुद्ध हैं । अम्ल और तिक
तथा अम्ल और कपाय रस सब वातों में परस्पर विरुद्ध हैं ।
लवण और कट्ट रस और विपाक में विरुद्ध हैं । लवण और
तिक तथा लवण और कपाय सब वातों में विरुद्ध हैं । कट्ट और
तिक तथा कट्ट और कपाय रस और वीर्य में विरुद्ध हैं, तिक
और कपाय (कट्ट) रस में विरुद्ध हैं ॥१५॥

घच्छय—गर्वतः— रसवीर्यविपाकनः । यहाँ के रसद्वन्द्व
प्रकारण का ज्ञान निष्ठा तालिका के उपयोग से सुलभ होगा ।
रस, वीर्य और विपाक का जो विरोध है उसे कार्यविरोध

(Physiological incompatibility) कहते हैं । और पृक्ष
प्रकार का विरोध है, उसे व्यवस्था निरोध (Physical incompati-
bility) द्वारा है । जैसे उण और ठेक पदार्थ, एक साथ नहाना ।

रस	विपाक	वीर्य
मधुर	मधुर	शीतवीर्य
अम्ल	मधुर	उष्णवीर्य
लवण	मधुर	उष्णवीर्य
तिक	कट्ट	शीतवीर्य
कट्ट	कट्ट	उष्णवीर्य
जपाय	कट्ट	शीतवीर्य

तत्त्वमयोगयुक्तांश्च भावानतिरुद्धानतिरुद्धान-
वत्युप्यानतिरुद्धानतिरुद्धानतिरुद्धानतिरुद्धानतिरुद्धान-
तिरुद्धानतिरुद्धानतिरुद्धानतिरुद्धानतिरुद्धानतिरुद्धानतिरुद्धान ॥१६॥

अति गृह्ण, अति हिंस्य, अति डप्या, अति ग्रीत प्रत्यादि
विशेष और अति विशेष योग युक्त पदार्थों को आहार से
दर्जित कर ॥१६॥

भवन्ति चात्र—

विरुद्धान्येवमादीनि वीर्यतो यानि कानि च ।

तान्येकान्ताद्वितान्येव द्रेष्यं विद्याद्विताद्वितम् ॥१७॥

रस वीर्य विपाक से विरुद्ध यो उपर्युक्त तथा गन्त पदार्थ
होते हैं, वे पृक्षान्ताद्विति भमान्ते चातिये और शेष सर्व कभी
हितकर कभी अटिनिवर जानने चाहिये ।

घच्छय—गर्वतः— रस विपाक और ग्रभाव इनका भी
वीर्य गहरा वीर्य से ही समझता चाहिये । क्योंकि जिस से
कार्य होता है वह वीर्य है और द्रव्य रसवीर्य विपाक और
ग्रभाव इनके द्वारा अपना कार्य करते हैं—ये कुर्वन्ति
तार्दीर्घम् । किनिदसेन उगने कर्म वीर्येण चापरम् । द्रव्य उणेन पांकेन
ग्रभावेन न किनन । (चर्क) । यानि कानि च—स्वभाव संस्कारादि यहाँ निर्दिष्ट किये हुए विरोधों के अतिरिक्त अन्य विरोधी
पदार्थ । चर्क में संपूर्ण विरोध विमन प्रकार से बतलाये हैं—
यद्यचापि देशकालादिसात्मासात्मानिलादिभिः । सरकारो वीर्यतश्च
कोष्ठावस्थान्तर्मैरपि ॥ परिणारेपत्रारामां पाकात् सयोगतोऽपि च ।
विरुद्ध तत्त्व न हित हामपदिभिश्च यत् ॥ (सूत्र. अ. २६) ।

व्याधिमिन्द्रियदीर्घलयं भरत्यं च्याधिगच्छति ।

विरुद्धरसवीर्याणि भुजानोऽनात्मवाश्चरः ॥१८॥

जो जिजालोलुप सनुप्य रस वीर्यादि से विरुद्ध पदार्थों
का सेवन करता है, वह (भिज्ज भिज्ज) रोग, इन्द्रियों की
दुर्बलता तथा स्त्रुत्य को प्राप्त हो जाता है ॥१८॥

घच्छय—थनात्मवान्— अजितेद्विद्य यहाँ जिजालोलुप ।
व्याधिं—अनेक प्रकार देव रोग—पाण्ड्यान्त्यवीर्यसर्पदकोदराणां विरको-
टकोमात्राभगनर्गाणाम् । मूर्च्छीमटाऽभानगलामयानां पाण्ड्यामयस्यामविप-
स्य चैव ॥ विलासकुप्रधाणीगदानां शोपाल्पितजरीपीनसानाम् ।
सन्तानदोपस्य तथैव भूत्यार्विरुद्धमन्त्र प्रवदन्ति हेतुम् ॥ (चर्क, सूत्र
स्थान. अ. २६) ।

यन्त्रिच्छिह्नोपमुत्क्षेत्रं भुक्तं कायात्र निर्वरेत् ।

रसादिष्यथार्थं वा तद्विकाराय कल्पते ॥१९॥

दिस से संकेत से दोरों का प्रकोप होता है परन्तु उनका शरीर के बाहर उस्सी नहीं होता तथा जो रसायनिक को दूरपेत करता है वह शरीर में रोग संसाधित करता है ॥१३॥

यत्कठ्य—य॒ कि॒चि॑—**ओषधिभितिरिक् आहार सपा** विहार—२४ लिंगिरोपमातुर्य न निर्देति कथन । आहारान् नमन्दा तत्त्वंमहिति रूपम् ॥ रसायनि अवयवार्थम्—रसायनादि रूपम् । इस श्लोक में विषद्व की सामान्य व्यालाया तथा विषद्व मध्यन में रोग उत्पन्न होने का हेतु वर्णन किया है । सपाह में लिखा है—उद्देश्य दोषापां दृढ़ दृष्ट्य यत् तु समाप्त । विषद्व नदि पातुना प्रतीक्षीकतया रितम् ॥ (सूक्ष्यस्थान, अ. १) ।

विषद्वादानजान् गोगान् प्रतिहन्ति विरेचनम् ।
यमने शमन वाऽपि पूर्वं या द्विनसेवनम् ॥२०॥

विषद्व पदार्थों का संकेत करने में उपचार हुए रोगों का प्रतिकार विरचन, यमन और शमन द्वारा अवयव (ठनके सेवन के) पूर्व ही हिनकर ओषधियों के सेवन द्वारा होता है ॥२०॥

यत्कठ्य—चरक में भी यह श्लोक मिलता है परन्तु यहाँ गद्योक्त अर्थ के उपसहार के लिये लिखा गया है । उसके पूर्व निम्न गथ है—एण च यतु परसो च वैरोगिनिमित्ताना व्याधितात्तिन भावा प्रतिकारा महति । यथा यमने विरचन च तद्रिरेतिना च द्व्यागां सरसमानर्घमुपवायानवाकिरेत्य दृष्ट्य पूर्वमिमि मध्याव शरीरसेति ॥ इस में वैरोगिकिमित्त व्याधियों की दो प्रकार की चिकित्सा यत्नलाई गई है—(१) आगतन्याधि चिकित्सा (Curative treatment) (२) शर्त अनागत व्याधि चिकित्सा (Prophylactic treatment) । पहली चिकित्सा यमन, विरेचन तथा विषद्व पदार्थों के विषद्व गुणी द्रव्यों का उपयोग इनके द्वारा करना चाहिये । दूसरी प्रतिवेष्टक चिकित्सा विषद्व पदार्थों का ही धोई मात्रा में शरीर पर अभिमस्तकर करके करनी चाहिये । यामट में ऐसा ही वर्णन किया है—शम च तद्रिरेतिन । इन्हें बढ़ा वा पूर्व शरीरस्थानि महति ॥ तथा वै—इस के अर्थ में कुछ मतविभाव हो सकती है । यथा—रसायनन्तरी (चक्रायित्र) । वैरोगिकि कुपिद्यापतिवक्तुर्दृष्ट्यै । (अरण्यादस) । मुख्यलाहादिविगामि रागादर पूर्वमें सेवन । तदुत्त न सजन इमरावि विष पदार्थेन्द्रिय वद् ॥ (स्वद्वा) । ऊपर दिया हुआ अर्थ इन से भिन्न है, परन्तु एक विशिष्ट उद्देश्य से वह किया गया है, जिस का आगे विवेत विवरण होता है । परन्तु यह अर्थ भी प्राचीन काल में कुछ दीक्षाकार करते थे । संप्रद वी दीक्षा में इन्हुं लिखते हैं—मधुरकेण तु व्याधिविषा दृष्ट्य पूर्वमिस्तकर शरीरय इत्यस्य वत्तम्य व्याधुप्रस्तौत्तिविलिप्तिवद्यन्तरस्तवायाहृत्य तथातिरिति न विषद्वमानि परावृद्ध विषद्वेद्य दूर्लभस्तरो व्याधुप्रतिनिधित्वानुरिति न तथात्यहारप्रायनथा दीर्घोद्विप्रिय पद्मो व उद्गामन सोऽप्यामानिति एव ॥ दृपुरुष चरक के शाप में वैरोगिकियत्वात् रोगों की सामान्य चिकित्सापद्धति वर्णन की गई है, जिस का उपयोग आयुर्वेद याक्षात् यथाक में आव्र प्राप्त हो रहा है, गत अर्थयानार्थी में अनेक विकारी जीवाणुवस्त्र रोगों की चिकित्सा, व्याधिमिमित्तक तथा व्याधिप्रतिरोपद, सीराम तथा दैसीन (Serum or Vaccine) द्वारा युक्त हुई भी ऊपर उपलब्ध भी होता है । इस

पद्धति का आयिक्कार 'फाल चेहरिंग' और 'सर आस्पोराइटाइट' भासक यांगड़ों ने किया । सीराम का उपयोग प्राप्त जीवाणुओं से दोष उत्पन्न होने के पश्चात् उसकी चिकित्सा के सिये होता है । सीरामचिकित्सा का तत्त्व यह है कि संसर (लसिका) द्वारा मनुष्यों के शरीर में जीवाणुविदोषी व विषविरोधी प्रब्ध प्रविष्ट करके प्रविष्ट हुए जीवाणु या उनके विष का प्रयोग करना और रोगी को आगम देना । बैर्मली अतिसार (Bacillary dysentery), मस्तिस्कसुनाम्ब (Cerebrospinal fever), घनुराम्ब और रोधिणी (Diphtheria) इन रोगों में सीराम का उपयोग बहुत फायदेमंद प्रमाणित हुआ है । बैर्मली चिकित्सा का तत्त्व यह है कि जीवाणु या उनके विष अव्यांत चिरंपां द्रव्य शरीर में प्रविष्ट कर उनका शरीर पर सम्बार करके गर्भार उड़ी विरोधी द्रव्यों के लिये क्षम बनाया जाता है जिससे भविष्य में शरीर उन विरोधी पदार्थ का गर्भार में प्रवेश होने पर भी भली भौति प्रतिकार कर सकता है अतः रोग में पीड़ित नहीं होता । इस कारण से बैर्मली चिकित्सा उपयोग प्राप्त रोगप्रतिरोध के लिये किया जाता है और इत्रिक ज्वर, विसूचिका, अतियात्र इत्यादि रोगों में बहुत फायदेमंद प्रमाणित हुआ है । आयु वेद में वैक्षीनी और मांसरम का उपयोग नहीं दिया है दो । परतु जिम तत्त्व पर यह व्याधिप्रद याक्षात् वैद्यक या ज्वर प्रयुक्त हो रहे हैं वह तत्त्व आयुर्वेद में स्वतः स्वप से लिखा है । भविष्य में होने वाले रोगों के चिकित्साद्वय लिखना असम्भव है तथापि आयुर्वेद में चिकित्सा के देश सामान्य नियम का लायें हैं कि जिनके अनुसार नये नये रोगों की चिकित्सा नहीं आपाधियों द्वारा करना आयुर्वेदसंमत हो सकता है । चिकित्सा जीवाणु या उनके विष इमरावे शरीर के हिये विरोधी यानि स्वभावत प्रयत्नीक स्वरूप के हैं । अतः उनका सम्बन्ध या आयुर्वेद के अनुसार 'स्वभावविद्युत' पदार्थों में होता है । इन पदार्थों के सेवन से या शरीर प्रदेश से उत्पन्न हुए रोगों की चिकित्सा विद्यवाची पदार्थों से होती है—तद्रिरेतिन च द्रव्याणि सरसमानर्घमुपवेग । इद च न प्रवक्ष्यते वा अभीन्न मृदु विषयेषोपचरन्त लभ्यकृत्वा लभ्यवाप्ति । (चरक) । मूलिकै देवेनी कालविद्यविषयेन, तच्च प्रायावारिति बोध्यते तेन विषविदात्प विषेन्वचरणेन्त प्रवक्ष्यते चावद्युर्धर्ता वसनि । (चक्रायित्र) । वीरम से जो आश जीवाणुकृत्वे रोगों की चिकित्सा हो रही है, यह इसी तरह पर है । यदि विषद्व पदार्थों के सेवन से या शरीर प्रदेश से भविष्य में होने वाले रोगों का प्रतिवेष्टक हो तो आयुर्वेद के अनुसार उन विषद्व पदार्थों का शरीर पर अभियस्तकर (पैरेट वा पूर्व शरीरस्थानित्वहनि) करता चाहिये । दैशीन में जो आश अनेक रोगों का प्रतिवेष्टक हो तो विषद्विका रोग उद्गारणाय आवालों द्वारा विषुक्ता जीवाणु (अपार्ट विषविदारी) कहा जाता है । यदि किसी उपलब्ध में इस रोग का मात्र कैलेने के कारण इसके थकने हैं इसका हो जे विषुक्ता जीवाणुओं का ही शरीर पर अभियस्तकर (पैरेट का शरीर में प्रवेश करने) किया जाता है, तिससे रोग नहीं हो सकता । उपर्युक्त विषेनन से यह होते हैं कि 'मीरम' ही

त विदित्या शासुर्देहंता और प्रथम फलदाता है। ऐसी जीवों को चाहिए कि इनकी भी अंगीलार करने वाला ना अथवा का उत्तम नहै। ऐसी जीवों की स्तिथि जो निषेप ग्रंथ में किये गये अधिकार का 'संभिस जीवाणुचित्तान' हैं।

स्वतोऽप्यत्मत्वा याऽपि दीप्तिस्त्रूप्यस्य च ।

अथवायामवलिनां विशुद्धं चित्तशं भवेत् ॥२६॥
जिसकी गतिप्राप्त नहै, अत्मत्वा नहै तो, शरीर रित्यम्, गमदुष्ण और ब्लडात्म हों पर्ने भवुष्य में अथवा (विश्वर्धे के) ग्रन्थात् से भीत्र अल्पता ने विश्व विश्वर्ध निष्पल राता है ॥२६॥

बत्तक्षय—प्रथम—उभयामनात्म—ग्रन्थ नाम तथा द्विनोपनेत्यामत्मकोंमें । (परक) । अन्ततया—तिन्द्रपद्मर्थ की प्रश्नोदी जीने ने। दीप्तिस्त्रूप्यपात्मत्वा भावविद्या—त्रिमा-मातृश्रावणाशासी प्राप्तिः । (चरक) । निष्पलायामवलिनाम—त्वंसोदी या स्त्रियमरीरी, अथामरील और ब्लडात्म—वाम ड्रेसों जित्य फिल्डनिवि भोजनम् । दिव्यप्रसिद्धिय या निष्पल विश्वने ॥ चित्तशं भवेत्—निष्पल होता है अर्थात् शरीर में कुछ विकार नहीं दर सकता। इस लोक में विश्व विश्वर्ध वेकार ने के निये जीव अवस्थाएँ देखनाहैं, यह जीवाणुओं के बारे में दीक्ष द्वारा जीनी हैं। यह लोक चमकन्तिहा (सूद्र, २६) में सी मिलता है।

४ वानशुशानू वद्यायः—

पूर्वः लमधुरः त्रिग्दो लवणात्यैव मास्तः ।

शुर्विद्वाहजननो रजपित्तामिवर्धनः ॥२७॥

चातलां विपञ्चुष्टानां विगिनः श्लेष्मलात्य ये ।

तेपसेच विदेषेण सदा रोगविवर्धनः ॥२८॥

चातलानां प्रशस्तात्य श्रान्तानां कफशोपिणाम् ।

तेपामेव विदेषेण प्रणक्षेदविवर्धनः ॥२९॥

अब वायु के गुणों का वर्णन करते हैं। पूर्व दिग्गा का पवन मधुर है, चिकना है, नस्तीन है, भारी है, दाढ़ करता है, रक्त जिन को बढ़ाता है ॥२७॥ वणयुक्त विष से पीटित, शोथयुक्त और कफ प्रश्नति भवुष्यों के रोग बढ़ाने वाला है ॥२८॥ चातल प्रश्नति, संको हुए और कफ से पीटित भवुष्यों के लिये हितकर है। परंतु पूर्व विष से पीटित हो तो आद्रिना का दृढ़ाने वाला रहता है ॥२९॥

सूधुरथाविद्वानी च कपायालुरसो लघुः ।

त्रिक्षियो यास्तः श्रेष्ठश्वस्कुष्यो वलवर्धनः ॥२५॥

कपिच्छयामनो न च वातप्रकोपणः ।

त्रिदिग्ग का पवन मधुर है, चिकना नहीं करता है, कुछ सीखता है; द्विका है, श्वेष है, नेत्रों की हितकारी है, बल को बढ़ाने वाला है, रक्तपित्त को नमन करने वाला है और वात को भी प्रश्नित नहीं करता।

^१ पतदेव—'व्यायामशीली वज्वान शिलुष्ठ त्रिग्नोऽश्विमांश्यमि ग्रन्थानभ । आप्नेति दोगात्र विश्वज्ञातानभ्यासातो वाऽत्मतया च ज्ञातुः ॥३०॥ इति त्रिविद्यिकः पाठः।

त्रिशब्दो लव्यपश्यः वरः त्रोद्ववलापहः ॥२६॥
पश्यिमो सारुतस्तीच्या: कफमेदोविश्वोपणः ।

स्वयः प्राणक्षयकरः शोपणस्तु शरीरिणाम् ॥२७॥

पश्यिग का पवन विश्वद है, स्वया है, कठोर है, रसमता है, स्त्रियता और बल का नाथ करने वाला है, तीक्ष्ण है, कफ और मेद की गुम्बां वाला है, नकाल प्राण का नाम करने वाला और शरीर की सुराने वाला है ॥२६-२७॥

उत्तरो मास्तः त्रिग्नधो भृद्गुर्भुर ग्रद्व च ।

कपायालुरसः श्रीतो दोपाणां चाप्रक्षोपणः ॥२८॥

तस्मात् प्रश्नतिस्थानां त्रिद्वन्दो वलवर्धनः ।

श्रीराज्यविद्वात्मानां विशेषेण तु पूजितः ॥२९॥

इति ग्रन्थात्मिकायां ग्रन्थाने इतिहितीयो

नाम विशेषाऽध्यायः ॥२८॥

द्वार का पवन स्त्रिय है, मधुर है, मधुर है, कुछ सीखता है, शीमल है, दोगों का प्रकोप करने वाला नहीं है ॥२८॥ इस लिये स्वयं सनुष्यों का छेदक और बल बढ़ाने वाला है और क्षीण, क्षय तथा विष में पीटित रोगियों के लिये विशेषतया नितकर होता है ॥२९॥

इति भाष्यविद्यायां ग्रन्थाने विश्वितायामयुवेदरस्त्रीपिकायां ग्रन्थागापातीयायां विशेषितीयो नाम विशेषाऽध्यायः ॥२९॥

एकविंशतितसोऽध्यायः ।

अथातो व्रणप्रश्नमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब याम्से दो व्यष्टिप्रश्न नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

बत्तक्षय—वर्णप्रश्न—व्याप्त यानि ग्रन्थोत्पादक वातादि दोप, उनके संवर्ग में प्रश्न यानि निरूपण या चर्चा जिस अध्याय में की गई है, वह अध्याय । प्रश्न—अविज्ञात प्रश्नचन ।

चातपित्तश्लेष्माण पत्र देहसंभवहेत्ववः । तैरेता-व्यापत्तैरधोमध्योर्ध्वसञ्जितिः शरीरमिदं धार्य-ते ऽतारसिव रथूराणिस्तिस्त्रभिरस्तथ त्रिस्त्रूलाम्-हुरेके । त एव च व्यापत्ताः प्रलयहेतवः । तदेभिरेष शोणितव्यतुर्थः संभवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं शरीरं भवति ॥२॥

बात, पित्त और कफ ये ही शरीर उत्पत्ति के कारण हैं। (शरीर में ही) नींदे, मध्य में, और ऊपर यथाक्रम स्थिर होने वाले इन विकारहित बात, पित्त और कफ से शरीर का धारण होता है। जैसे कि तीन संभां से सकान का धारण होता है। इसलिये कई आर्चार्य इस देह को त्रिस्त्रूला कहते हैं। वे ही जब निङ्गड़ जाते हैं, तब शरीर के नाथ का कारण होते हैं। उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के समय में भी बात, पित्त और कफ तथा चौमा रक्त इन से विश्वित शरीर में होता है ॥२॥

वस्त्रदेय——रेहमनदेवत—शरीर की उत्तरि यथा प्रश्नक और शोषित से होती है तथा प्रश्नक का शरीर से बाहर निकलना, गर्भाशय में पहुँचना, छींचीज के साथ मिलना, तदनतर गर्भ की खृद होना इत्यादि कर्म चातादि दोपां पर निर्भर होते हैं। इतना ही नहीं, चातादि दोपां प्रश्नक प्रोगित में भी होते हैं—शुक्रार्त्सर्वेन्मात्रो विषयो विष्णुम् । तैश विष्णुम् भृत्यो दीनमध्योत्तमा पूर्वम् ॥ (वामभट)। तत्र स्त्रीपुमध्या स्वयं तेज शीरादायुष्मार्थायति, तत्त्वेऽनेति मनिगामाद्युत्तु च्युत योनिमधिप्रदेते सम्मुख्यते चात्विन, तत्राप्ती यामध्येयाद् सुख्यमानो गर्भाशयमनुप्रवर्षते । शीरापात्रिनिर्भिन्न-प्रस्त्रयमानाना महाभृताना स्वतान् धन सत्त्वायत । (सुधुत)। भ्रोणप्रथ्योर्विभिन्निवृत्ते—चात का स्थान नाभि के नीचे, पित्त का स्थान नाभि और हृदय के धीय में, और कफ का स्थान हृदय के ऊपर होना है—ते व्याप्तिनोद्दिपि इत्याभ्योरोगमध्येभ्यंसंश्लेषय । (वामभट)। तिष्ण—तीन स्वर्णों के ऊपर तिस का धारण हुआ है, ऐसा—प्रभूमूलमध्यं शाल विश्वृतं पद्मिवनम् । तेजाप्रापि तिन विडान यों के वर स देवदिवि ॥ शोणितवृत्तं—चातस्व में शरीरदृश्यं कंपल तीन ही दोपां हैं। परन्तु प्रश्नस्थान की दुष्टि, दोपां पूर्वभवन, रोष्य इत्यादि कार्य रक्त ही के द्वारा चातादि दोपां करते हैं और रक्त के ही साथ रक्तविहिनियों में से सर्व शरीर में फैलते हैं। अत धातुओं की अपेक्षा रक्त का प्राधान्य बतलाने के लिये रक्त का निर्देश वहाँ शब्दतत्र में स्वतन्त्र किया गया है। परन्तु शोणितदुष्टि इत्यादिदृश्यवरू, चातादि दोपां की दुष्टि ही समझना चाहिये—रसदिस्तेषु दीप्तु व्याधय समझनि य । तज्ज्ञित्युपचारण तानामुरुद्वाह वा ॥ (सप्तह) ।

भवति चात—

नर्तं देह, कफादस्ति न रित्ताद्व च मास्तान् ।
शोणितादपि वा नित्यं देह एत्स्तु धार्यते ॥३॥

त कफ के विना देह है, न पित्त के विना है और न धात दे विना है तथा शोणित के विना भी देह नहीं होता। परन्तु इन्हीं के द्वारा शरीर धारण किया जाता है ॥३॥

तत्र 'वा' गतिगन्धनयोरिति धातु 'तप' सन्तापे, 'स्त्रिप' आलिङ्गने, पतेपां कृद्धिहृति, प्रस्त्रयेर्वातः पित्तं श्वेष्येति च रूपाणि भवन्ति ॥४॥

इन में 'वा—यतिगन्धनयोरिति' वा 'तप'—आलिङ्गने' इन धातुओं से कृद्धिविहित प्रस्त्रयों द्वारा धात, पित्त और श्वेष्या ये रूप बनते हैं ॥४॥

वस्त्रदेय—इन सूत्र में धात, पित्त और कफ इनकी निरुक्त बतलाई गई है, तिस से इन का मुख्य कार्य स्पृह ही जाता है। बल—गतिगन्धनयोरिति वा आलिङ्गनद्वारा दिय द्विद्वयों लेपलवे वात हीन स्पृह । पित्त—लापार्थस लप्तातोरिति प्रस्त्रये लकड़ास्तेले वर्णविषये तत्प च ते इने पित्तमिनि रूपम् । कफ—आलिङ्गनप्रथम फिरथातोरिति निरुपये गुणे च हैं

१ नर्तं देह इत्यन् पूर्वम् 'ननो गदीतासार्थसं समद्देशो' इनि विशिष्टम् पात्

शेषेनि स्पृह । इस से शरीर में शाम प्रथाय, सिक कर्म, रम रक्तादि धातुओं की गति, युक्त कार्य वात के होते हैं—मनों विवेद बनेते । महासौत में तथा शरीर के अन्य धातुओं में वचन उपात्ता उपत फरना पित्त का कार्य है—तिसेवेय नैराण्याज्ञयते । (चरक)। शरीर के विविध अंगों में उपत करके शरीर को स्थिर बना कर का कार्य है।

दोपस्थानान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्याम्—तथ स्थातः शोणितुदसंथयः तदुर्यर्थो नामेः पक्ष पक्षामाशयमध्यं पित्तस्य, आमाशय, स्त्रेपाणः

यहाँ से आंगे दोपां के स्थानों को कहते हैं। संक्षेप से यातु धोणि धौंर गुद हठ में रहता है। धौंरि गुद हठके ऊपर नाभि के नीचे पक्षाशय है। पक्षाशय आमाशय के मध्य में पित्त का स्थान है। और आकफ का स्थान है ॥५॥

दूसरदय——दायधानानि—शरीर में वात पित्त और मूल तथा स्पृह और प्रमात्रहृष्ट तथा मलहृष्ट इन भिन्न अवस्थाओं में मिलते हैं—शीरापात्र तुनादिविषय मन्त्रात्मा प्रसादगृहात्म । (चरक)। वात, पित्त और मूलमावस्था में अथवा प्रसादावस्था में वर्षणीतीर्थार्था सर्वशारीरकर होते हैं—ते व्यापिन । (वामभट)। स्त्रीरौ रातु वातपित्तमेणाम । (चरक)। परन्तु यहाँ जड़ां ये विष से, स्थूल स्पृह से, मल स्पृह से या किया विनेपत्ते से उप होते हैं, उन स्थानों की वात, पित्त, और कफ के स्थान । वीपसीरोधीय मानते हैं । सायानं—प्रत्येक दोपां के गर्भी कही स्थान होते हैं । उनमें से सब से प्रधान स्थान निर्देश करने के लिये समालेन शद्व का उपयोग किया शरीर का मुख्य आधार आहार होने के कारण यह उप के प्रयोग और उत्सर्जन की दृष्टि से ही दोपां के प्रधान स्थानों उत्तेज वहाँ किया गया है । शोणितुदसः—जूटि । मलाशय जिसका स्थान है । वायु का प्रधान कार्य विषेष व बाहर फेंकना है । यह कार्य सब से अधिके महात्मेन अन्तिम फिस्से में होता है, जड़ां पक्ष बन्धुरुं अपर्यत् वा ऊपर पाकियारूप होने के प्रश्नात् वही हुई स्थान्य वा आती है। इसलिये इम हिस्से को पक्षाशय भी कहते अप्रेणी भी पक्षाशय को 'लॉर्ज इन्टेस्टिन्यू' (Laroge Int. Line) या यनि स्थूलान्त्र कहते हैं । चरक में वात का अस्थान पक्षाशय ही कहा है—जवापि पक्षाशय विषेण स्थानम् । करण यह है कि मलोमर्ग्ये के समय स्थूल-न्द्रन्त्र में उत्त सारण (Pentastomias) की किया प्रारम्भ मल बाहर केका जाता है । इस किया में कटिभिमान बाननाडियाँ भी सहायता करती हैं । इसलिये 'पेन्टिन' मध्य 'ऐमा उद्देश यहाँ किया गया है । पक्षाशयस्थूलान्त्र और आमाशय से मध्य का स्थान पित्त का इस से सुदान्त्र (Small Intestine) अविभेद है । लग और जाठर रस के अतिरिक्त वाकी सर्व पाचक रस कुद्रान्त्र होते हैं । पित्त और अम्बाशय रस (Pancreatio Juice)

आन्द्र के प्रारंभिक हिस्से में ही आते हैं । तीसरा अंत्र रस (uccus Intericus) प्रायः आन्द्र भर होता है । ये तीन चैमिलकर अच्छ पाचन का कार्य पूरा करते हैं । इसलिये आन्द्र पित्त का प्रधान स्थान माना गया है । चरक में पित्त स्थान आमाशय लिखा है—अत्राप्युमाशयो विशेषेण स्थानम् । परन्तु चरक जितने स्थान को आमाशय कहते उसमें सुश्रुत का बताया हुआ संपूर्ण पित्त का स्थान मानिए हो जाता है । नाभिस्तनान्तर जन्तोरामाशय इति स्मृतः । रेत सादित लीढ़ पीत चाव विष्वद्यते ॥ आमाशयष्टेष्मणः—लेप्मा स्थान आमाशय है । आमाना मुक्तद्रव्याणामाशय आमाशयः । इस में मुक्त व्रियों का पचन आधा ही होता है, यानि इस में अधिपक्त मुक्त द्रव्य होते हैं, वह आमाशय है । चरक कफ का प्रधान स्थान 'उरः' बताया है—अत्राप्युरो विशेषेण भस्थानम् । वारमट में भी कफ का प्रधान स्थान उरः ही ताया है—कफस्य सुनरामुरः ।

अतः परं पञ्चधा विभज्यन्ते । तत्र वातस्य गतव्याधौ वद्यामः; पित्तस्य यहूर्द्धीहनौ हृदयं द्विष्टस्त्वक् पूर्वोक्तं च; श्लेष्मणस्तूरःशिरःकरठसन्धय इति पूर्वोक्तं च; एतानि खलु दोपाणां स्थानान्य-प्राप्ननाम् ॥६॥

अब फिर इन के पाँच पाँच स्थान प्रकट किये जाते हैं । वायु के स्थान वातव्याधियों में वर्णन करेंगे । पित्त के स्थान यहूर्द्धीहना, हृदय, द्विष्ट, त्वचा और पूर्वोक्त शुद्धान्त्र हैं । कफ के स्थान छाती, शिर, कण्ठ, संधि और पूर्वोक्त आमाशय हैं । दोपों की अविकृतावस्था में ये उन के स्थान होते हैं ॥६॥

चक्षुव्य—यहाँ दोपों के जो पाँच भेद होते हैं, उनके अनुसार पाँच पाँच स्थान वर्णन किये हैं । चरक में इस दृष्टि से दोपों का वर्णन न होने के कारण और भी कुछ अविक स्थान चाहये हैं—खेनो रसो लसिका रविरमामाशयश्च पित्तस्थानानि । ये शिरो शीवा पर्वण्यामाशयो मेदश्च शेषमणः स्थानानि । वर्तिः पुरीपाधान कटिः सुविधनी पाठावस्थीनि च वातस्थानानि । (सुन्द. अ. २०) ।

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा ।

धारयन्ति जगत्तद्वे कफपित्तानिलास्तथा ॥७॥

जैसे चंद्रमा, सूर्य और वायु विसर्ग, आदान और विक्षेप इन कर्मों द्वारा जगत् को धारण करते हैं वैसे ही कफ, पित्त और वायु विसर्ग, आदान और विक्षेप इन कर्मों द्वारा शरीर में धारण करते हैं ॥७॥

चक्षुव्य—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि वायु, जगत् के चंद्रमा, सूर्य और वायु और शरीरगत कफ, पित्त और वायु इनका स्वरूप भी एक है तथा विवायें भी एक हैं । सुश्रुत निया चरक में इनकी अभेदता और भी वर्णन की है—तत्र योगेत्वैत्यात्मा, पित्तमांश्यं, शेषा सौम्यं इति । सोम यव शरीर लेप्मा नर्तिः । अद्विवेश शरीर पित्तान्तर्नतः ॥ चरक का तो यह भी कहना है कि वायु जगत् के चंद्रमा, सूर्य और वायु शरीरगत वात, पित्त और कफ तथा बल के कारण हैं—तावेतावर्यायू सोमध कालस्त-गणनार्पिण्युर्हातः कालतुरसदीपेष्वलनिर्वृत्तिप्रत्ययभूताः समुपदि-

श्यन्ते ॥ विसर्ग—विसर्जति जनयत्याप्यमर्शन्ति विसर्गः । चंद्रमा अपनी असृत तुल्य किरणों द्वारा वायु जगत् को स्तिरध और शीतल रखता है । कफ भी शरीर को अपने प्रभाव से स्तिरध और शीत रखता है । आदान—आदाति क्षपयति पृथिव्याः सौम्याशमादानम् । सूर्य अपनी किरणों से पृथिवी का जलांश ग्रहण करता है । पित्त शरीर में अच्छ रस का ग्रहण करता है । पंक्त्वा तस्यान्नरसस्याहरणमादानम् । विक्षेप—शीतोष्णवर्षादीनां यथायोग प्रेरणम् । वायु जगत् में वायु शीत, उपरा, मेघादि का प्रेरण यथा आवश्यक करके जगत् की रक्षा करता है । वायु शरीर में मलमूत्र का विक्षेप तथा पित्तादिक रसों का स्नावण करके रक्षा करता है । सोम का वायु जगत् में कार्य—सोमः शिशिराभिरापूर्यन् जगदायायवति शश्वत् । (चरक) । शरीर में कार्य—सधिसंश्लेषणस्तेहनरोपणपूर्णवलस्थैर्यकृच्छेष्मा पन्था प्रविभक्त उद्कर्मणाऽनुग्रह करोति ॥ सूर्य का जगत् में कार्य—रविभारिराददानो जगतः रमेहम् । (चरक) । सहस्रगुणमुत्तर्ष्मादते हि रस रक्षितः ॥ शरीर में पित्त का कार्य—रागपक्ष्योजस्तेजोमेधोमकृत् पित्त पचया प्रविभक्तमनिकर्मणाऽनुग्रह करोति ॥ वायु का वायु जगत् में कार्य—धारण, ज्वलनो ज्वालन, सृष्टिश्च मेघानाम्, अपां विसर्गः, प्रवर्तनं लोतसा, पुष्पफलाना चामिनिर्वतनम्, उद्देवनं चौद्विदानाम् । (चरक) । शरीर में कार्य—समीरणोऽज्ञेः, दोपस्थैरोपणः, जैसा वहिमलानाम् । विष्मयपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसहारकः । (चरक) ।

तत्र जिज्ञास्य किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽस्मिः ? आहोस्त्वत् पित्तमेवाद्विरितिः ? अत्रोच्यते—न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽस्मिरुपलभ्यते, आग्रेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिप्रवर्तमानेऽस्मिरुपुष्पचारः क्रियते उत्तरश्चिरितिः द्वीणे द्विभिरुणे तत्समान-द्रव्योपयोगदत्तिवृद्धे शीतक्रियोपयोगाद्वग्भास्त्वपद्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽस्मिरितिः ॥८॥

अब यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि पित्त से अद्विवेद धूपथक है अथवा क्या पित्त ही शारीरिक अस्मि है । इस विषय में यह कहा जा सकता है कि वास्तव में पित्त से अन्य और शारीरिक अस्मि कोई प्रतीत नहीं होती है । क्योंकि आग्रेयभाव के कारण पित्त से दाह पाक आदि कार्य वर्तमान होने पर अस्मि के समान ही उपचार किया जाता है; अतएव पित्त अन्तराद्वितीय है । तथा अस्मि गुण तुल्य पित्त के क्षणी होने में अप्रिसमान (उण्णा) द्रव्यों का उपयोग करने से, पित्त के बढ़ने में शीतल उपचार करने से और शास्त्राधार से इस दृष्टि देखते हैं कि पित्त के अतिरिक्त और अस्मि नहीं है ॥८॥

वक्ष्यद्वय—आयुर्वेद भेद अनेक समय पित्त और अस्मि द्वय का अभेदस्य से उल्लेख होता है—समानेनावधूतोऽस्मिलिदव्यः पवनेन तु । काले भुक्त सम मम्यकृ पचत्वायुविवृद्धये । (चरक) । जाठो भगवानप्रिरीश्वरोऽस्त्वय पाचकः । सौम्याद्रसानाददानो विकेन्तु नैव शक्यते ॥ (सुश्रुत) । सूक्ष्मिः समानेन पचत्वायाशयस्थितम् । औद्योऽस्मिर्यथा वायुः स्थालिस्य तोयतुलम् ॥ (वारमट) । इसलिये पित्त या अस्मि आदान कर्म करता है इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित देखते हैं कि उसका उत्तर आमास, प्रत्यक्ष और अनुसाम इस्तेष्व द्वारा नियमित है । तत्र—आदान कर्म में । उपदार—प्रपहृत् ॥

गागन—ममलन आयुर्वेदिकात्र । प्रत्यक्षमात्र—दृढ़न पश्चात्तु दृष्टि से पित का आदोदय प्रवृत्ति होता है । अनुग्रह मम न—सामान्य वृद्धिकरणम् । हाथ उद्दिष्टेलु । इस नियम के अनुसार दृष्टि पित में डब्बा दब्बों का उपयोग और एक विश में शीतल दब्बों का उपयोग पित का दौर अप्रिणा और अभेद अनुग्रह से सिद्ध करता है । अतः प्रमाण—‘कम्बा देवैष्य दि । ऐसेज्ञा प स पीमन् न व व पिणि ।’ ‘पूर्वभूमि’ च—तिरवर्तितारकम् । तथा प्रथम निर्दिष्ट किंतु हुए परक, सुतुल, वापमट दे क्षेक दे सब आगम प्रमाणम् हैं । इस प्रकार वयसि व्यवहार में दोरों का अभेद है तथापि वास्तव में पित और अप्रि एक घम्तु नहीं है, उनमें भेद है—जोभावध्यमद्वा रक्तेणा सिरगत । पित च केवल पवनि पठित तत्त्व चाहते ॥ नीच्य तित्वाहि ॥ १२५—१२६ पितादात्मकारावै पितमुख्यम् । भाषावदन्यमल तत्त्वादित्वान् लम् । द्रव स्तिथमपाच च वित विहृत्वाद्यव्ययः ॥

तथाद्वृद्धेतुर्केन विशेषणं पक्षोमादायप्रमाणस्य पितं चतुर्विधमधापानं पवति, विवेचयति च दोप-रसमूलपुरीयोणि; तप्तस्थमेव चात्मकशक्तया शेषाणां पितुस्थानानां दारीरस्य चाङ्गिकमण्डुनुग्रहे करोति, तस्मिन् पिते पात्तकोऽग्निरिति संक्षा, यतु यद्यत्तीष्ठोः पितं तस्मिन् रक्तकोऽग्निरिति संक्षा, स रसस्य रागादुक्तः; यद्यु पितं छृद्यसंस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संक्षा, सोऽग्निशाधितमनोरथ साधनशुद्धुकः; यद्यद्यां पितं तस्मिन्द्वालोचकोऽग्नि रिति संक्षा, स रूपग्रहणाधिकृणः, यतु त्वचि पितं तस्मिन् आजकोऽग्निरिति संक्षा, सोऽग्न्य-परिपेकावगाद्वालेपनादीनां क्रियाद्व्याणां पक्षा छायानां च प्रकाशकः ॥१॥

पक्षाद्य और आमादाय के मध्य में स्थित हुआ वह विश ईश्वरीय देखा से विशेष प्रकार की परिपाठी द्वारा चारा प्रकार है वास्तवान की पक्षाता है और आदार प्रतानालवस और यम्भुरु मूल पुरीय इनको पृथक् पृथक् करता है और वही स्थित हुआ व्यय चार प्रियस्थानों तथा समस्त शरीर की अपनी शक्ति से और उल्लादादि कर्म से अनुगृहीत करता है । इसी पित की सक्षा पाचकाप्ति है । जो यजून, और ईडा में हहता है, उस पित की तीजा ‘ज्वर अप्रि’ है । वह रस को रक्त बनाता है । जो पित हृदय में स्थित होता है, उसकी वज्रा ‘मापकस्ति’ है । वह पित वाहित मनोरथ का साधन बरते थाना होता है । जो पित दृष्टि में हहता है, उसकी संक्षा ‘आलेचक अप्रि’ है । यह रूपग्रहण करने का अधिकारी है । जो पित स्वचा में हहता है, उसकी भजा ‘वाचक अप्रि’ है । वह संदेन, संचन, अवगाहन, लेपादि क्रियाओं में प्रयुक्त दब्बों को पक्षाता है और कान्ति का प्रकाशक है ॥१॥

यस्तद्य—‘त्वर्त्वेष्म—‘अग्निर्दीप्तीग्नादित्वम्’ । (चरक) । विशपति—सार और व्याय भाग को पृथक् करता है । रात्रीन्

शूभ्रुरियाँ—आदार प्रमादाद्य सार तथा मलस्त्र पूर्व विष्टा । दोष का अर्थ मलस्त्रहृष्ट वात पित वक्ष देमा र्हं सहना है—तत्र कदाग्राम्याम्यो सम विट्ठ च मलस्त्रभिनि विट्ठ देमस्त्रपुरीप्रवानपित्तमेना । (चरक) । पक्षेभी पित का यह प्रकार सुन्ने हैं । इस में अद्यवदन से तियों औ शरीर रस उपयोगी होते हैं, ये सर्वे सदाचार होते हैं । उरों का (Digestive juice) मुख्य स्थान शुद्धान्तर और व भी उगड़ा प्रथम मांग होता है । इसको आयुर्वेद में या और अप्री में ‘इद्यूलिनम्’ (Diuodenum) कहते हैं—पिलेश नाम का काष परिर्हन्निः । एकाम्रायमध्यस्थ शही मांग निः । परंतु शुद्धान्त्र के अतिरिक्त मुख में लाला और बड़ा बाटर रस (Gastric juice) अत्र पवन में मदर बरते हैं ।

द्रव मनुष्य वा शरारस्ता में १०५ लवण वस्तुएँ हैं, पवन इन रसों द्वारा हुआ करता है । एतुर्विष का प्राचीकरणाने वालुनार अर्थ करप दिया हुआ है । नवीन वस्तु के अनुसार चतुर्विष का अर्थ निष्ठ चार प्रकार में खाए जाए है । १ मासिनारीय (Protein), २ मेडजारीय (Fats) यांतिचारीय (Carbohydrates), और ४ सलिन वा (Salts) । प्रथम का कार्बो विशिष्ट होता है और सर्व आपमें मिल जर द्वार्विष स्थाय दब्बों का पाचन पूर्ण है । तप्तशार तार भाग का योग्य स्ट्रियक कला से ही व्याप्त भाग आन्द्र में ही पृथक् हो जाता है । इस प्रक गोलण और पृथक्द्वारा है लिये स्थाय दब्बों का विषेषण है उन छोड़े अग्नु वर्गिक दबनावा आपश्वक है । वर्षीक लाय म ग्नीन होने पर भी जो ऐसे स्थों विषत नहीं हो सकते, त इन शर्हीर के धातु वस्तु सकते हैं । पाचक रसों की मिहासे से उन द्वे व्यनिज पदार्थों के अतिरिक्त सर्व पदार्थों का विशेषण होता है प्रोटीनों का परिवर्तन सीरम अन्त्युमेन, सीरम स्लोलुकिं फाइब्रिनोजन इत्यादि अणु यांतिर्कों में होता है । वर मिल्यरीन (Glycerine) और विविध अम्ल के स्थेन । यहती है । अम्लादाय रस की किया से चारीके विलिप्ती और अम्ल पृथक् पृथक् हो जाते हैं । तप्तशार अम्ल क संयोग ज्ञार के साथ होकर साबुन बनता है । अब ये सांक और मिल्यरीन शोषित होते हैं । शालिनारीय पदार्थों के परिवर्तन फलांकिरा और दाक्षारण्करा (Fructose & Glucose) में होकर उन का योग्य होता है । लक्षि पदार्थों द्वा वाचक विश नहीं होती है । वे जो तो के ल्वों शोषित हो जाते हैं । इन चतुर्विष पदार्थों में कुछ और्जे पवने यों दोहोती हैं । कुछ पवों योग्य होने पर भी अप्रि की मदन ने कामा था चर्वण से महान न होने के कारण वष वज्ज आपी यानि उन का कुछ भाग अपरद्या ही रह जाया करता है । पक्षे हुए नाग, का पूर्ण योग्य नहीं होता । ये सर्व तीन विषों के स्वं भेद शरीर से बाहर निकल जाया करती हैं । इन के स्विवाय विषा में सदन वं कारण उत्तर तुरं तुरं पदार्थ, लेपक प्रकार के जीवाणु, आन्द्र की स्ट्रियक कला की सराव हुई सेरें और दापक रसों के उड़ भाग (जैसे

त) होते हैं। मूल की उत्पत्ति आँत में जहरी होती। मूल-ति के विषय में विशेष विवरण निदानस्थान के अक्षयरी प्रित्या में किया जायगा। अक्षयचल का छुक अधिक १४ वें अध्याय के ५२४ वें श्लोक के वर्तन्त्य में किया गया। रंजोऽग्निः—अज्ञास का रंजन करने के कारण इस। रंजक पिता या रंजक अग्नि कहते हैं। इस का स्थान अवृत्तर और भीड़ है और आधुनिक खोज से अस्थिमज्जा है। वामभट इसका रथान आसायश लिखा है—आमाशयाश्रयं पित्तं रंजकं रंजनात्। इस विषय का विशेष विवरण १४ वें अध्याय में या गया है। साधकोऽग्निः—इस का स्थान हृदय है। परन्तु ये के रक्त, संचालन के कार्य से इस का कोई संबंध नहीं। वह कार्य हृदयस्थ व्यान वायु का है। ग्राचीन कल्पना के उपार हृदय, रक्तसंचालन तथा सुख, दुःख, बुद्धि और मन। स्थान माना गया है—हृदये चित्तसवित् (योगसूत्र)। हैनो हृदय देहे सुखदुःखप्रकाशम्। तत्सोक्तं विकामं च स्वतः पीतः पुनः उनः॥ (नारीश्वानम्)। आधुनिक वैज्ञानिक खोज सुख हुक्कादि कार्य मस्तिष्क में होते हैं, ऐसा सिद्ध हुआ। इस दृष्टि से छुक लोग हृदय का अर्थ मस्तिष्क भी कहते हैं। साधकपित्त बुद्धि मेघा अभिमानादि सानसिन्द कार्य ग्रन्थन करता है। इसलिये इसे 'साधक पित्त' कहते हैं—पित्ताऽभिमानायैरभिप्रेतार्थापनात्। साधकं हृदत्त पित्तन् (विभट)। अर्थात् साधक पित्त, का कार्य आनन्दिक है और इस से मस्तिष्क के विदिध कार्य हुआ करते हैं। लोकाभिमि—इस का स्थान दृष्टि है और इस का कार्य प्रग्रहण का है। नेत्रोत्तरल में जो विविध आग होते हैं, उन में प्रियतरीय दृष्टिपटल में रूपग्रहण का कार्य होता है। इस गो अंग्रेजी में रेटिना (Retina) कहते हैं। ग्रन्थ की या वस्तु की किरणेण नेत्र के भीतर कृष्णमंडल (Cornea), जोजल (Aqueous humour), दृष्टिमंडल (Pupil), गंध (Lens) और मेदोजल (Vitreous humour) में। होकर दृष्टिपटल पर पड़ती हैं और वहाँ वस्तु का उलटा प्रियतरीय होता है। यह बंटल नाडीसूत्रों से और विशेष प्रकार सेलों से बनता है और इन सूत्रों का और सेलों का सीधा सम्बन्ध द्विताडी के साथ होता है, जो मस्तिष्क में मिलती है। इस दृष्टिपटल का रंग सेलों के भीतर विशेष ग्रन्थ का रहने के कारण नीललोहित होता है। ग्रन्थ की किरणेण दृष्टिपटल पर पड़ने से वहाँ एक विशेष रासायनिक प्रक्रिया होती है। इस क्रिया से पटल की प्रतिक्रिया अम्ल होती है और उस के रंग में भी फर्क हो जाता है, जिस का ग्रन्थ द्वारा मस्तिष्क को पहुँचता है, और इस रंग रूपादिक शैवण करते हैं। आलोचक पित्त दृष्टिपटलगत प्रक्रिया के साथ सम्बन्ध रखता है। ग्राजकाग्निः—इस का स्थान व्यचा और व्यचा का ग्राजन करने से इस द्वारा ग्राजक पित्त कहते हैं—तत्त्वत्वे ग्राजकं ग्राजनात् व्यचः। (वामभट)। इस पित्त से व्यचा के विविध कार्य व्यवस्थित रूप से होते हैं। यथा—विद उत्पत्त करना, तैलग्रंथियों से तैल उत्पन्न, वर्के व्यचा की मृद्दु, अक्षत और चमकीली करना, उत्पत्ता का नियमन करना इत्यादि—मानामात्रत्वमूलम्। (चरक)। संक्षेप में

पित्त के कार्य चरण भैं लिखे हैं—दर्शनं पक्षिरुपा च क्षत्रुप्या देहमादेवम्। प्रभा प्रसादो मेपा च पित्तकर्मविकारजम्। (सूत्रस्थान अ. १८)। अग्निकर्णा अनुग्रहं करोति—शरीर के अन्य स्थानों को अपनी शक्ति से अग्निकर्म द्वारा यानि सार और किन्तु भाग को पृथक कर के अनुग्रहीत करता है। पात्रकामि के बाल आन्न में ही जहरी, शरीर के ग्रत्येक परमाणु में कार्य करता है और इसी कार्य पर शरीरधातुओं की बृद्धि या वृद्धि निर्भर होती है—स्वस्थानस्थस्य कायादोरंशा धातुपु सत्रितः। तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षेपोद्वचः॥ (वामभट)। समसिद्धेवातारो द्विविधाश पुनः पुनः। यथास्वमधिमिः पाक यान्ति किट्टप्रसादवत्॥ (चरक)। शरीर में जो अग्नि होती है, उसे 'धात्वमिं' कहते हैं और सात धातुओं की लाल अग्नि है। छायाना च प्रकाशकः—वर्षा और प्रभा के आक्रित जो शरीर की कान्ति होती है, उसे छाया कहते हैं—छाया वर्णप्रभाशया। (चरक)। इस प्रकार की कान्ति का उत्पादक ग्राजक पित्त है।

पित्तं तीक्ष्णं द्रुद्यं पूति नीलं पीतं तथैव च ।

उषणं कुरुरसं चैव विद्यर्थं चारुलभेद्य च ॥१०॥

पित्त ताक्षण, पतला हुरीष्युक, नीला, पीला, द्रुण और अदुरस हैं। विद्यर्थ होने पर पह अम्ल भी हो जाता है॥ १०॥

वस्त्रद्वय—एस श्लोक में प्राकृत और वैष्णव अवलोक्त द्वितीय लक्षण लिखे हैं। महामहोपाध्याय लक्षित गणनाथ सेन के अनुसार ये लक्षण द्वेष्वल पित्त की विद्युत्स्थाने के हैं—विद्युत्स्वरूपं च वथा—पित्त तीक्ष्णमित्यादि। निर्दूषित यानि निराम पित्त के लक्षण—आताम पीतमस्युणं रसे कठुकमसिरप्रम्। पकं विरोध विशेष रसचिपक्तिवलप्रब्रह्म॥ साम यानि दूषित पित्त के लक्षण—दुरीध लरितं श्याव पित्तमस्त्रं स्थिरं युगं। अस्तिकाकण्ठहालकरं साम विनिर्दिः॥ (दृन्दसाधव)। यहाँ जो पित्त के लक्षण वर्णन किये हैं, उन में अम्लता विद्यर्थ पित्त का लक्षण वलतावा है। परन्तु चरक में अल्लता प्राकृत पित्त का लक्षण दिया है—सलेह-मुण्ड तीक्ष्णं च द्रवमम्ल सरं कटु। इस मतभिन्नता का परिष्याम विपाक की मतभिन्नता में हो गया है। इसका वर्णन आगे ४० वें अध्याय में विपाक में किया जायगा।

अत उर्ध्वं स्त्रेष्मस्थानान्यनुव्याख्याल्यात्यामः ।
तत्र आभाशयः पित्ताशायस्योपरिष्ठात्तप्रत्यनीक्त्वा-
द्वृद्यगतित्वारेजसश्चन्द्र इव आदित्यस्य; स
चतुर्विद्यस्याहारस्याधारः; स च तत्रैद्वैकर्गुण्यैत्यहस्तः
प्रकृतिं ग्रिह्णासंघातः ऊखजरञ्च भवति ॥११॥

यहाँ आगे वक्ष के स्थान वर्णन करते हैं। श्लेष्म स्थानों में आभाशय (क्ल) अस्तिविरोधी और अग्नि उर्ध्वगतिल होने के कारण पित्ताशय के ऊपर स्थित है, जैसे कि चंद्रमा सूर्य के ऊपर होता है। यह आभाशय चतुर्विद्य स्थाय द्रव्यों का आधार है। वहाँ यह आहार (क्ल के) जलसंदर्भी गुणों से द्रवस्य पतला और महीन होकर सुखपूर्वक पचने वोद्य हो जाता है॥ ११॥

वक्तव्य— नव—पांचों सेम्प स्थानों में। प्रत्यनीकन्वत्—कफ कार्य की दृष्टि से पित्त का विरोधी होता है। कर्जन तिलान्—उच्चज्वला स्वभाव के कारण। उरिषाइ—उपर होता है। अरिडमि शैती रोग। चद इव आदित्यस्य—साक्षिणः या आलंकारिक दृष्टि से इसका उपयोग समझना चाहिये। अन्यथा प्रत्यन्त विरोध होता है। पित्त अन्ति के समान और कफ चन्द्र के समान कार्य की दृष्टि से होता है। सूर्य के प्रभाव से गृहिणी तास होती है। यदि गृहिणी पर एवल सूर्य का ही कार्य होता रहेगा तो वह अतिरिक्त होकर मुत्तस जायगी। इसलिये सूर्य के ऊपर यानि सूर्यविरोधी चट रखता है, जो अपने शीतल प्रभाव से गृहिणी का ताप घान्त करता है। वैसे ही शरीर के तेजस्पि तित्त से रक्त करने के लिये उस के ऊपर कह रखता है, जो अपने शीतल प्रभाव से शरीर का ताप घान्त करता है। आधार—आमायण में सेवन किया हुआ भोजन सामान्यतया चार घण्टे तक छहरता है। और उस की समाई सापारणता १३ देह सेर तक होती है। यदि आमायण में आहार का आधार न मिलता तो बारबार और धीरी मात्रा में भोजन सचन करने की आवश्यकता पड़ती। प्रकृति भिन्नभाव सुलग्नता भवति—भोजन सब से पहले सुख में जाता है। वहाँ चर्चिता से वह पीसा (मिलसवात किया) जाता है और लालामिथ्यन से गीला (प्रकृति) हो जाता है। ये दोनों विद्यायैं अलपचत की दृष्टि से अस्तित्व आवश्यक हैं। यहाँ से अद्ध कण्ठ और अद्धमारी में से होकर आमायण में पहुंचता है। आमायण गतियुक्त होता है। वह सिकुद्धता है और फैलता है, जिस से भोजन पर दबाव पड़ता है और वह खूब मथकर मरीन (मिलसवात) हो जाता है। इस के साथ साथ भोजन में आमायणिक रस मिल कर वह पतला (प्रकृति) हो जाता है। जब तक भोजन मरीन और पतला नहीं होता, तब तक आमायण में गतियाँ होती रहती हैं और खूब मरीन होने के पश्चात् श्रद्धांशु का द्वारा सुख जाता है और अश्रस्त मरीन में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार भोजन का खुल भाग आमायण के यामायण (जो आया हुआ अस का गांडार का काम करता है) लेकर उस का संघर्ष द्वारा रम बनने के पश्चात् मरीनी में प्रवेश होता है। जब तक भोजन भिन्नसंघान और विशेष प्रकृति नहीं होता तब तक आमायण अत्र को आन्वय में नहीं जाने देता। परन्तु कठिन परायी को पीसिता यह आमायण ऐसे कोमल भ्रग का काम नहीं है। इसलिये भोजन सूर्य चक्र कर जाना चाहिये। इस प्रकार दो भोजन आमायण में पतला और मरीन होता है, तब पर अन्यरात्रि पायदृश रातों का कार्य भली भीति होकर रक्ष का पर्याय और शोण सुख से (गुप्तर) होता है।

मायुरात् पित्तिद्वयात् प्रेतु दिव्यात् शेष्य च।

आमायणे संमध्यति नेत्रेष्मा मधुरशीतिलः ॥१२॥

(आहार की) मधुरता, विचित्रता तथा भाँडाता के द्वारा आमायण में कफ भी शीतल और मधुर रूपों द्वारा होता है ॥१२॥

एतत्र प्रश्न एष स्थानयाः शेषाणां शेष्मध्यानानां दारीस्य घोटकर्मणाऽनुप्राप्त करोति; उर रस्य लि-

कसन्धारणमात्मवीयेणान्नरससहितेन हृदया रसनं करोति; जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वान्दिन और्मध्यत्वात् सम्यग्रसंशाने घर्तते; शिरः ज्ञेहसंतर्पणाधिकृतत्वात् ॥१२॥

करोति; स्तन्धिस्थस्थस्तु शेष्मा सर्वसन्धिसंस्लेष्मा सर्वसन्ध्युग्राहं करोति ॥१३॥

आमायण में ही स्थित हुआ वह कफ कफ के स्थानों को सथा समस्त शरीर को अपने प्रभाव से उड़के होना अनुशृणीत करता है। वज्रास्थल में स्थित हुआ अपने पराक्रम से त्रिकस्थान को धारण करता है, और रम के साथ मिलकर, हृदय को अपने कार्य में सामर्थ्य है। जिह्वा के मूलस्थान कण्ठ में स्थित हुआ वह मौसीन्याना से जिह्वा इन्द्रिय को सब प्रकार के रसों के ज्ञान प्रवृत्त करता है। शिर में स्थित हुआ कफ तेलादि सर्वोन्नतिकारी होने के कारण अपने प्रभाव से ज्ञानेन्द्रियों अपने कार्य में सामर्थ्य देता है। संधिगत सेप्यास संधियों का शेषण करने के कारण मर्वसंधियों का अवरता है ॥१३॥

यक्तव्य— पचविध कह के नाम—आमायणन इन अज्ञ का क्षेत्रन करने के कारण 'क्षेत्रक कफ' कहते हैं—जो मीरप्रसादपौद्दनात्। उर रस कफ को 'अवलेशक' कहते हैं। कफस्थानों का अवलेशन करने का कार्य पायरेट के भवतु उर रस कफ का है—हृषप्रसादा च गोलाणा याकुटोदेवज्वलनवन्। कण्ठक लेपा। कण्ठस्थ शेष्मा को 'शेषपक' कहते हैं रसोन्नेनाद्। गोलक रसवासाधारा। शिर रस कफ को शुर्वेति का तर्पण करने के कारण 'तर्पक' कहते हैं—तिरसोन्नेन पैण्यात्। तर्पक। संधिगत सेप्यास को 'सेप्यपक' कहते हैं—जीव सेपान्नेन्द्रिय समिधु शिति । (अ दृद्य)। प्रिक—रितो वृद्धश्याम स्थानात्। (दृद्य)। दृद्या के अनुसार यक और इनु नि का अर्थ कहते हैं। प्रिक का दृसरा धीरमामान्य अर्थे दृद्य वा अधोभाग—गिरिमासो दृष्टिरात्रेष्व मन्त्रिलिपिं तिर्त्य मूलठलस्थ—जिह्वाया भूम वय तथादिं कण्ठ तिर्त्येनि तिर्त्य वर्णन्ते ॥ उद्दर्पिणी—जग के गुणों से । आतुर्देह में व बदल जान तत्र के लिये प्रसुक होना है और इस दृष्टि से की मुरुप्ति निम्न पदानि रो भी की जाती है—कल (अ) वर्णनि दीन कफ ॥

स्तुष्यां वेतों गुरुः छिपाः पित्तिद्वयः शीत एव च।

मधुरस्थयिद्वयः स्यादिद्वयो लयाः स्मृतः ॥१४॥

कफ वेतारणी, भारी, चित्तना, लम्बदार और शीतल है, तथा प्राहृतवायाम में मधुर और विहतवायाम में समर्थ हो जाता है ॥१४॥

शोणितस्थ स्थानं यह मधुरादानी, तथा प्राग्निर्भिति तम्; तत्रस्थमेय शेषाणां शोणितस्थानानामगुप्त करोति ॥१५॥

इस का इयान पहले भी दीक्षा है। यह पर्याय (शोणित वर्णाय अन्याय में) कह गये हैं। वहाँ से ही इस वर्णायि-

अन्य स्थानों को अपने कार्य करने में सहायता देता ॥

तत्त्वय——रक्तोत्पत्ति कं संवंधं में प्रियोप विवरणा पीछे स्थाय में हो चुका है । उससे यह स्पष्ट है कि शरीर में उत्पत्ति मज्जा में होती है । परंतु गृह्ण और सूक्ष्मा में एक दर्द बनता है, जिसके अनुग्रह सं मज्जा रक्त की उत्पत्ति धी होती है ।

प्रणशीतं मधुरं स्तिर्घं रक्तं च वर्णतः ।
ऐते गुरु विलं स्याद्विदाहथास्य पित्तवत् ॥१६॥

क न गरम न ठंडा, मधुर, चिक्कना, लाल रंग का, भारी गमगंधी होता है तथा पित्त की भाँति (जिस द्रव्य से ससा विदाह होता है वैमा) रक्त का भी (उसी वस्तु से ही) विदाह हो जाता है ॥१६॥

एतानि खलु दोपस्थानानि: एषु संचीयन्ते । १: प्राक् संचयहेतुरुक्तः । तत्र संचितानां खलु एषां स्तब्धपूर्णकोप्तुता पीतावभासता मन्दोष्मता शिनां गौरवमालस्यं चयकारणविद्येष्येति हनि भवन्ति । तत्र प्रथमः कियाकालः ॥१७॥

ऐ (वातादिक) दोषों के स्थान हैं । इन्हीं स्थानों में का संचय होता है । संचय का करण पहले ही वर्णन दुक्का है । इन स्थानों में संचित दोषों के ये लक्षण होते हैं— में भारीपन और पूर्णता, पीला वृद्धिकाल होना या त्वचा वर्ण कुछ पीला होना, शरीर में कुछ हरारत मालूम होना, का भारीपन, आलस्य बढ़ना और संचय के कारणों से उत्पन्न होना । इसी संचय के समय (दोषों की) चिकित्सा ने का प्रथम काल होता है ॥१७॥

चक्षवय——दोपस्थानानि—वातादि दोष सर्वगरीरव्यापी हुए भी उपर्युक्त स्थानों में अधिक होते हैं अर्थात् इनकी दोषों भी हन्हीं स्थानों में प्रथम होती है । सचयहेतु—अतु-पूर्णता में अतुपरिवर्तन के अनुसार इनकी वृद्धि किस गर से हुआ करती है, इसका वर्णन ही चुका है । उसके उत्पादन वात, पित्त और कफ का संचय अनुक्रम से ग्रीष्म, गर्व और विशिष्ट ऋतु में होता है । इसके सिवाय संचय के रूप अप्ताङ्गहृदय में लिखे हैं—उणेन युक्ता रुक्षाद्यावायाः । शीतेन युक्ता स्तिर्घायाः । कुर्वते शेषण्यथयन् । गीतेन तास्तीक्षणावश्यं पित्तम् कुर्वते । सचय—अपने ही स्थान में दोष वृद्धि को संचय कहते हैं—त्वस्थानवृद्धिदोषाणां चय इत्यभिपूर्वः । चयो वृद्धिः स्वाम्नेव । (वाग्मट) । लिंगानि—स्तब्ध-पूर्णकोष्टुता इत्यादि—संचयावस्था के विशेष लक्षण हैं । सामान्य लक्षण चयकारण विद्येष्य हैं । वाग्मट में इस लक्षण के साथ विपरीतगुणेच्छा' ऐसा दूसरा भी एक सामान्य लक्षण दिया, और दोनों मिलकर दोषसंचय का निर्दर्शन करते हैं । एक द्रव्य से निश्चयपूर्वक दोष का संचय प्रदर्शित नहीं होता है—देव व्यभिचाररीतान् प्रदेषो वृद्धिवृपुषु विपरीतगुणेच्छा चेति द्रव्यमपि मौल्यम् । तेन यदा तुल्यकाल पुरुषस्य, वातसमानशेषेषु तदवृद्धिवृप्ते प्रदेषो जुपते वातगुणप्रतिपञ्चेषु तत्क्षणादेहुपु चाभिलापस्तदा संम्यक्

निश्चीयते वातस्योपचितिरिति द्रव्यमणेतदुक्तम् । (अग्नादत्) । जैसे वात के संचय में रुक्षादि वातसामान्य यानि संचयकामक पदार्थों से द्वेष उत्पन्न होना और स्त्रियादि वातविपरीत पदार्थों की अभिलापा उत्पन्न होना । ये दोनों प्रकार के लक्षण जब होते हैं, तब वात का संचय समझना चाहिये । क्योंकि प्रकृतिवशात् या सास्यवशात् एक प्रकार का लक्षण दिखाएँ दं सकता है । स्तब्धपूर्णकोष्टा—स्तब्धकोष्टा और पूर्णकोष्टा । मन्दोष्मता—गर्वीर की उणता स्वाभाविक उणता से कुछ बढ़ना या भीतर से कुछ गरम मालूम होना । ऊपरा पित्तालने नानि—अर्थात् पित्त का मंचय हो जाने पर शरीर की उणता कम होने के बजाय धोड़ी बढ़नी ही चाहिये । इसलिये शरीर ठंडा होना, अस्त्र मन्द होना इत्यादिक जो मन्दोष्मता के अर्थ दिये हैं, वे अतुचित प्रतीत होते हैं । इन लक्षणों में 'स्तब्धकोष्टा' और 'पूर्णकोष्टा' वातसंचय के लक्षण, तथा 'पीतावभासता' और 'मन्दोष्मता' पित्त संचय के लक्षण, तथा 'अंगातां गौरवम्' 'आलेस्यं' ये कफसंचय के लक्षण समझने चाहिये । क्योंकि 'दोपप्रग्राहितेविषये निवत्तं वृद्धिलक्षणम् (चरक)' यह वृद्धि का लक्षण है । चयकारण विद्येष्य (और विपरीतगुणेच्छा) ये वातादिक दोषों का संचय वत् लाने वाले सामान्य लक्षण हैं । प्रथमक्रियाकाल—संचय विप्रमावस्था की प्रारम्भिक स्थिति है । दोषों की समता उत्तर करने के लिये जो चिकित्सा करती चाहिये, उसका आरंभ संचय काल में ही करने से दोषों का प्रग्राहन शीघ्र हो जाता है । रोगी को भी विशेष विकल्प नहीं होती और शरीर के धातुओं की भी ज्ञाति नहीं होती । संचय के अनन्तर आने वाली अवस्थाओं में दोष वलवत्तर हो जाते हैं । इसलिये चिकित्सा में संबंध प्रकार की कठिनाई हो जाती है । अतः संचयावस्था में ही दोषों की चिकित्सा प्रारंभ करना चिकित्सा के लिये सर्वोत्तम काल होता है । प्रथम का अर्थ उत्तम तथा प्रधान भी है और यही अर्थ व्यावहारिक दृष्टि से यहाँ अधिक प्रगस्त है—संचयेऽपहना दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः । ते तत्तराम् गतिपु भवन्ति वलवत्तरः ॥ (वाग्मट) । अणुष्टि प्रथम भूत्वा रोगः पश्चात् विवर्तते । न जानमूले मुण्डाति वलमान्युशु दुर्मतिः ॥ तस्मात् प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तर्णेषु वा । भैपञ्जः प्रतिकुर्वीत य इन्द्रेण् सुतमात्मनः ॥ (चरक) ।

अत ऊर्ध्वे प्रकोपणानि वद्यामः । तत्र वलवद्विग्रहातिव्यायामव्यवायायाध्ययनप्रपतनप्रधावनप्रपीडनाभिग्रातलहृनप्रवन्तररणरात्रिजागरणभारहररणगजतुरगरथपदातिचर्याकटुकपायतिक्तरुक्लघुशीतवीर्ये शुष्कशाकवल्लुरवरकोहालक्कोरदूषप्रसामाकनीवारमुद्धमसूग्रादकीहेरेणुकलायनिष्पावानशनविप्रमाशनाध्यशनवात्मुत्रपुरीपशुकच्छर्दिज्जवयूद्धारवाप्वेगविदातादिभिर्विषेषैर्वीयुः प्रकोपमापद्यते ॥१८॥

यहाँ से आगे (दोषों के) प्रकोपको (अर्थात् जिन आहर विहारों से दोषों का प्रकोप होता है उन) का वर्णन करें । अधिक वलवत्त्र से लडना, अति व्यायाम, अति मैथुन, अति अध्ययन, गिर पड़ना, दौड़ना, सोच होना, चौट लगाना, कूदना, कूदते कूदते चलना, तैरना, रात्रि में जागना, बोका

उडाना, हाथी घोटे रथ पर या पैदल अति स्त्रिया, कटु कराय तिक रुक्ष लघु और गीतवीर्यं पदार्थों का सेवन, शूषे शाक, सूक्ष्मा मास, वटक, दहारक, कोण्डूर, शपामाक, नीबावर, हींग, मसूर, अरहर, हंसु मटर, नियाव इन का सेवन, उपवास, विनायाएन अन्यथा, अयोध्याशु मूत्र मल दीर्घ छार्दि धीक दक्षार अमु इन के विर्गों को राक्तना इत्यादि विद्येय आहार विहार से बायु प्रकृतित होता है ॥१॥

स शीताभ्यप्रवत्तेषु घर्मान्ते च विशेषतः ।

प्रत्यूपस्परपरहे तु जीर्णेऽन्ते च प्रकृत्यति ॥१०॥

वह बायु शीत काल में, वाटल के समय में, अति पवन रखने के समय में, विशेष कर वर्षा क्रतु में, प्रभाव समय में, अपराह्न काल में और अच का एर्ध पवन होने के समय में प्रकृतित होता है ॥१०॥

कोषदारोकभयायासोपयासविदग्धमिथुनोपगमन-
कुद्मलवणतीहरोप्यलघुविद्वितिलतैलपिण्याक-
कुलरथसर्पपातसीद्विरिक्षशक्तिगोधामत्स्याजायिक-
मांसदधितकूर्चिकामस्तुसौवीरकसुरायिकाराम-
फलकद्वप्रसृतिमिः पित्तं प्रकोपमापयते ॥२०॥

कोय, शोक, मय, परिक्षम, उपवास, जले हुए पदार्थ, मैयुन, घूमना, कटु, अम्ल, स्वस्य, दीण, गरम, लघु, दाह उत्पन्न करने वाले, तिडी का तेल, सलि, कुलधी, शरसों, अतसी, इरित शाक, गोया, मऊंगी, दक्षरा और भेट का भास, दहु, मट्ठा, छुचिका, मासु, सौरीक, मय के अनेक प्रकार, रुद्ध फल, कटुर हस्तादि से पित्त प्रकृतित होता है ॥२०॥

यस्तदृढः—विद्यादि—विद्यादि द्वयुत्तरामन्त्र कुर्वन्ता दर्शन् । इदि दद च बनयेत् पार्क गच्छति तविदार । कुर्विका—दीर्घ या सत्र के साथ पकाया हुआ दूध—दूध तेज वा रुद्र पाकाद् दूधमूलपन्द्रवद्याग दीर्घ कुर्वित्वन्ते । (हेमादि) । जो तक से बनाई जाती है, वह तक कुर्विका और जो दीर्घ से बनाई जाती है, वह दक्षिण्यिका । मनु—दीर्घ के ऊपर का पानी—द्वारा गम्भूर बहिति । शटू—स्नेहतुरुग गाढ़—सौरीकामदयालयम शाकिक शटू रिदि । अबे तु लंगोमग हक चतुर्माण गनम् । मलेह दक्षिण त्रयम्भुर्व तु कटुम् ॥

तदुप्त्वैरुप्याकाले च भेदान्ते च विशेषतः ।

माप्यादेवार्थात्रे च जीर्णत्वम् च कुर्वति ॥२१॥

वह पित्त दृण पदार्थों से, दण काल में, विशेषतया शरद अन्त में, मस्ताह और अर्पात्र के समय तथा भोजन का रखने के समय प्रकृतित होता है ॥२१॥

दिवावप्रायायायामालहृष्मधुराम्भलवणतीतिथि-
म्यगुरुपिच्छिद्वामिष्यन्दिवायनकायकवैरपेत्कट-
मापमहामारपोपूर्म तिल पिट्ठ विरतिदधिपुण्यह-
दारायापत्तेषु पूर्णिकायान्पौरीदक्षमांसवत्ताविसमृद्धाल-
क्षसेहक्षम्बुद्धाटकमधुर-पाती-पल्लसमदानाम्यशरम्-
प्रकृतिमिः क्रेपा प्रकोपमापयते ॥२२॥

दिन में सोना, शारीरिक परिक्रमा न करना, आत्म भ्रम, वस्त्र, वस्त्र, लवक्ष, शीत, स्तिर्य, एवने में भ्रमी, लम्ब अभियन्त्री पदार्थों का सेवन, हायनन्, यद, नैव इक उद्द, महामाय, गैहू, तिल और चिडी के पदार्थ, दहोहृ तिल, चावल और उद्द की खिचडी, शीत, ईव के पदा आमूर और औंड़क प्राणियों का मास, वसा, कमलना करते, सिंगाड़, भुजर फल, बहीफून, समरत और बद्ध इत्यादि से कफ प्रकृतित होता है ॥२२॥

वक्तव्य—अभियन्त्रि—दोषात्मनलोकानविद्युत्तर्म-
ञ्जनम् । (द्वल्ग) । ऐच्छिलाद्वैरवद् द्रव्य रुद्र स्तर
निरा । जो वज्रीव दस्तवदभिन्ननि यथा दधि ॥ (शार्दूल)
नैवेष—‘वैरक’ इत्यायावै, स च याव्यविरेण । (इत्व) ।
नियन्त्रेणीय यानिधान्य । इत्व—समानी (द्वल्ग), शान
विशेष । मधुरवहील्ल—मधुर फल यथा ताळ तारिकेन्
शीर वर्षीकन अलाकु फुमोद्ध प्रभृति । मध्यान—दिन भी
अहित मिला हुआ भोजन । अध्यान—यहते का किंवा द्वि
मोजन विना पथे और भोजन करना ।

स शीतैः शीताश्ले च यसन्ते च विशेषतः ।

पूर्वाद्ये च प्रदोषे च भुक्तमात्रे प्रकृत्यति ॥२३॥

वह कफ शीतल पदार्थों से, शीतकाल में, विशेष कर वस्त्र
करने में, शूर्वाद्य और प्रदोष के समय तथा भोजन करते हैं
प्रकृतित हो जाता है ॥२३॥

वक्तव्य—रूपस्ते—देमन्त अतु में । दूर्दै—दूर्दै-
वस्तन्त्र लिङ्गम् । इसलिये दूर्दै में कल का प्रकार होता
है । वातादि दोरों का प्रकोपकाल अतु, दिन रात्रि और
भोजन वा समय में व्यान में रखने वे लिये वास्तव के दिन
सूक्ष्म बहुत उपयोगी हैं—वयवस्थप्रयास बायोप्रायान्ति तु ।
वर्षात्तितु तु वित्तव्य फेण लिंगिति । वयोर्देवायुविद्युत्तर्म-
देवनाम्यदिग्दिव्याद्विषये ॥२४॥

पित्तप्रकोपयैर्देव चामीहणं द्वयविग्नगुरुभिर-
द्वारैर्दिवास्मवेशानलातपथमाभियाताजीर्णिविद्वा
द्वयशनादिभिर्विशेषप्रसूक्ष्म प्रकोपमापयते ॥२५॥

दिन जाहर विद्यार्द्दों से वित्त दक्षुप्रिति होता है । तापा
रोगन, पायाकाद्व, तिराय, गरिए दृष्टार्थों का सेवन, दिन
में सोना, शोक, अप्ति और एर्ध वा ताप, चोट लगान,
अर्पांग, रिश्वायन, अप्यान इत्यादि दारों से एक
प्रकृतित हो जाता है ॥२५॥

यस्ताद्रकः विना द्वोपेन द्वायित् प्रकृत्यति ।

तसात्ताद्य यथादोर्द्दों काले विद्यायप्रोपये ॥२६॥

कृक रक वातादि दोरों के विना दीर्घ प्रकृति भी होता
है, इसपिये उस के कोर का काना दोरों के अनुग्राम गम्भीरा
प्राप्तिये ॥२६॥

तेषां द्वोपायन् कोष्ठनोदसंयर्गामिः कापिपामा-
परिदादाम्भेष्यरुद्धयोग्येद्याध तापान्ते । तद तिरीय
कियावालः ॥२६॥

हृष्ट दोषों के प्रकोप से पेट में व्यथा और चायु का संचार, इकार, प्लास्ट, दाह, अप्रदूष और जी सच्चानामा ये निष्ठ हैं । यह कोष का भाव चिकित्सा का दूसरा काल है ॥२६॥

चतुर्थ—प्रकोप—संचय और प्रकोप दोनों अवस्थाएँ, तो की वृद्धि के भेद हैं—वृद्धि देखा नवयमि प्रोपेन (प्राप्तसंग्रह) । चय वृद्धि की प्रारंभिक अवस्था है, जिसमें में का केवल संचय होता है और प्रकोप दूसरी अवस्था

जिसमें दोषों का विलयन नोकर व्यानांतर करने स्थिति उत्पन्न होती है—जबो श्रिः रवान्मर्यप्य कोपस्तनामान् । (वामभट) । देहतिला वृद्धिश्च । विलयनम्ना व्रिः नेपः । (द्वाषण) । व्याप्तस्था में रोग के दोहर ग्राम लक्षण ही विसांदृ देते । परन्तु प्रत्येपावस्था में चालादि दोषों के ऐसे व्याप्त लक्षण और रोग का प्रारंभ होता है—लिगाना निरवेपामस्वार्ग रोगनभवः । (वामभट) । यह प्रकोप का समय चिकित्सा करने के लिये दूसरा काल है अर्थात् वृद्धि चयावस्था दोषों का प्रशसन नहीं किया गया हो तो प्रकाशवत्या में रामा चाहिये ।

अत ऊर्ध्वं प्रसरं वद्यामः—तेषामेभिरातङ्क-वेशोपैः प्रकुपितानां पर्युदितकिण्डोदकपिष्ठसमवाय खोद्विक्कानां प्रसरो भवति । तेषां वायुर्गतिमत्त्वात् प्रसरणहेतुः सलाप्यवैतन्ये । स हि रजोभूयिष्ठः, रजश्च प्रवर्तकं सर्वभावानाम् । यथा—महानुक्त-संचयोऽतिवृद्धः सेतुमवदार्यपरेणोदकेन व्यामिश्रः सर्वतः प्रधावति, एवं दोषाः कदाचिदेकश्चो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वाऽनेकधा प्रसरन्ति । तद्यथा—वातः, पित्तं, श्लेष्मा, शोणितं, वातपित्ते, वातश्लेष्माणौ, पित्तश्लेष्माणौ, वातशोणिते, पित्तशोणिते, श्लेष्मशोणिते, वातपित्तशोणितानि, वातश्लेष्मशोणितानि, पित्तश्लेष्मशोणितानि, वातपित्तकफाः, वातपित्तकफशोणितानि; इत्येवं पञ्चदशधा प्रसरन्ति ॥२७॥

यहाँ से आगे दोषों का प्रवर वर्णन करते हैं । जैसे—सुरावीज, जल और पिण्ड मिलके रात भर रहने से उनमें उकान पैदा होता है (ओर वे पात्र के बाहर निकल आते हैं) वैसे (घलवडिहावि) विशेष कारणों से प्रकुपित दोषों में (कुछ काल के बाद) उद्भव उत्पन्न होकर प्रसर होता है । यद्यपि दोष अवैतन्य हैं तथापि वायु गतिमान् होने से हृनके प्रसरण का कारण होता है । रजोगुण सर्वभावों का प्रवर्तक है और वायु रजोगुणप्रवान है । जैसे जल का भारी संचय और अधिक बढ़ने से सेतु को तोड़कर दूमरे जलों से मिलकर सर्वव्र फैलता है, हमी भाँति दोष भी (वहूत बढ़ने से अपने स्थान की मर्यादा का उल्लंघन कर) कभी अकेले, कभी दो मिलकर, कभी तीनों मिलकर, कभी रक्त को भी साथ लेकर अनेक प्रकार से प्रसरित होते हैं । जैसे—१ वात, २ पित्त, ३ कफ, ४ शोणित, ५ वातपित्त, ६ वातकफ, ७ पित्तकफ, ८ वातगोणित, ९ पित्तशोणित,

१० कफशोणित, ११ वातपित्तशोणित, १२ वातकफशोणित, १३ पित्तकफशोणित, १४ वातपित्तकफ, १५ वातपित्तकफशोणित । इस भाँति पन्द्रह प्रकार से प्रसरित होते हैं ॥२७॥

चतुर्थ—आतः—इसका मूल अर्थ भीति, रोग या हृत्त वायन है—‘आतः त्रिवृजीवसे’ । परंतु यहाँ हुसमय जीवन यानि रोग का कारण समस्ता चाहिये—‘कर्मीकारणोभेदात्’ । पैरुपित्तशोणितकपिष्ठसमवाय इव—किंवद्बीज में भुरावीज या रमीर कहते हैं । भंगेजी में द्रुमको गोन्ड (Gom) कहते हैं । यह पूर्व नवसप्तिधर्मीयों का (Bacca) जीवाणु है । यह एक नेल का रना हुआ पौर आकार में गोल, दीर्घवृत्त या लंगा होता है । इनका एक प्रश्नार जिसका साक्षात्तरोमाउंडस (Saccharomyces) कहते हैं, पित्तस्व प्रार्थीयों में और शर्करा में असिंयंग (Fermentation) उत्पन्न करके भिल भित्त प्रश्नार के सम बनाता है । अतः इस प्रकार के किंवद्बीज उपग्रेन भृत्या दी उत्पत्ति करने में बहुत किंवद्बीज जाना है । कुछ सुरावीज व्यव्याय में रोग उत्पन्न करते हैं । इनका नीस ड्रास्टोमाइकोसीस (Blastomyces) है । कवित ये कैन्सर साकोंमा जैसे हुए अर्दुदों में भी यादे जाते हैं । इसलिये युछ शावज्ज इनको हुए अर्दुदों का कारण भी मानते हैं । जैसे सुरावीज पित्त और जल मिलकर एक पात्र में कुछ काल तक रखने से आपसे आप अपने ही स्वभाव से पात्र के बाहर आने लगते हैं, वैसे दोष प्रकुपित अवस्था में अपने स्थान में कुछ काल तक रहने के पश्चात् स्थान के बाहर अपने आप फैलने लगते हैं । वायुर्गतिमत्त्वात्—वायु गतिमान् है और अन्य दोष पंगु है । हसलिये उनका स्थानांतर वायु के द्विना कभी नहीं ही सकता—स्वातन्त्र्याविभावाच्च सर्वभावात्यैव च । अर्चित्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगममूरहारः ॥ (सुश्रुत) । विभूत्यादाशुकारित्वाद्विलित्यादन्य-कोपनात् । रातन्यावहुरोगत्वादोपाणा प्रबलोऽनिलः ॥ (वामभट) । पित्त पुः कफः पुः पात्रो मलापात्रः । वायुना वात्र नीकन्ते तत्र वर्पन्ति मैवत्र ॥ (शार्ङ्गधर) । वातपित्तकफा देहे सर्वसोतोऽनुसारिणः । वायुरेव हि सूधमताद् द्वयोत्त्राप्युद्दीरणः ॥ (चरक) । रजोभूयिष्ठः—रजोगुणप्रवान—तिर्यगो द्विगुणत्वैव रजोवहुल पव च । (सुश्रुत) । रजश्च प्रवर्तकम्—सत्त्व, रज और तम—हृष्ट तीन गुणों में प्रवर्तन का कार्य केवल रजोगुण करता है—सत्त्व लुप्तप्रकाशकमिष्टुपमैभक्त चल न रजः । गुरुरणकमेव तमः प्रदीपवच्छार्थीती वृत्तिः ॥ प्रीत्यपीति-विपादात्मकाः प्रकाश-प्रवृत्ति-नियमार्थाः । अन्योन्याभिमित्वाश्रयजननमि-शुनवृत्यश्च गुणा ॥ (सांख्यकारिका) । जो रागात्मक विद्धि तृष्णामगमसुद्वच्म । तज्जिवाति फौलेत्य कर्मसोगेन देहिनम् ॥ (गीता) । अष्टांगसंग्रह में भी लिखा है—सत्त्ववहुलग्र आकाश, रजोवहुली वायुः । तेपामप्रतिधातञ्चलत्वं कर्माङ्गानि ॥

क्षत्स्वेऽर्थेऽव्यये वाऽपि यज्ञाङ्गे छुपितो भृशम् ।

दोषो विकारं नभसि मेघवत्तज्ज वर्पति ॥२८॥

नात्यर्थं कुपितश्चापि लीनो भागेषु तिष्ठति ।

निष्पत्यनीकः कालेन हेतुभासाद्य कुप्यति ॥२९॥

जिस भाँति आकाश में जहाँ बादल होता है वहाँ ही वर्षी होती है, उसी भाँति शरीरांग के संसूची, आपे अथवा एक हिस्से में जहाँ अलंत कुपित दोष फैलते हैं, वहाँ ही

विकार करते हैं ॥२८॥ परन्तु सो द्वौप अन्धत कुपित नहीं हैं,
उनकी यदि विकिपान ही जाय तो शरीर के घोत में थे
उनकी मारके रित होते हैं और कालान्तर में अपने प्रकारक
कारण को प्राप्त करके फिर उपित ही जाते हैं ॥२९॥

यत्कठव्य—मन—गिर, मध्य, पातु और जपा । दान—
नग कुपितो दोरो वशये 'प्रमाणि' इन देव । सीन—अधिक कुपित
न हुआ दोष मर्यादा हीनगणक दोष दोरो पादन में समर्पि-
नहीं होता । तथा चिकित्सा के विना वह दोष मम भी नहीं
हो सकता है । ऐसी अवश्या में (जिम्पनिंग) यह दोष कुपित
परन्तु रोग उपचार करने में जर्मर्मधुआ शरीर पे पूरा आपे
जोतास में दबकी मारके (सीन) रिपत होता है और भविष्य
काल में सहायक कारण मिलने से पूर्णतया प्रकृपित होकर
विकार उपचार कर सकता है । अधीयूँ इस समय अल्प हेतु में
भी एसे प्रकृपित होकर प्रकार विकार उपचार कर सकता है ।
वामपद्म में लिपा है—ग्रन्थादि विजयन भयो देवप्रतिष्ठित ।
ते वालादिवाहस्त्रा कृष्णम्याक्षेष्वि ॥

तद्रघायोः: पितृस्थानगतस्य पितृष्वाम् प्रतीकारं, पितृस्य च कफस्थानगतस्य कफयत्, कफस्य च पातस्थानगतस्य पातयत्; परं किपुर्भिरागः ॥३०॥

उनमें से यित के व्यापार में पहुँच हुए वायु की चिकित्सा पित की भांति करती थाहिये। कल के व्यापार में पहुँच हुए यित की चिकित्सा कल की भांति करती थाहिये। वायु के व्यापार में प्राप्त हुए कल की चिकित्सा वायु की भांति करती थाहिये। इस प्रकार से (अन्य व्यापार में प्राप्त हुए) दोनों की चिकित्सा होती है प्राप्त।

८५ यसुरितालीं धारार्था ए यागोद्दिव्यादेवता
देवी, शोरयोरात्मिकाद्यापवति विष्णव, भग्ने
षष्ठादिवासाहमारात्मिका शोषणो विष्णवि
प्रसिद्ध, तत् तत्त्वां विष्णवात् ॥१५॥

इस प्रकार प्रकृष्टिन और कैलने दोने (दोनों में) विम
प्रमत्त और बाकारा यात्रु के लक्षण हैं; गरती, घूसने की
वीटा, दाह और धूम की सी दफ्तर खिले के लक्षण हैं; ५
अरचि, अपरिकाह, थकापत और प्रथमन के कह के लक्षण
यह खिलिक्का का तीसरा समय है ॥३॥

धर्मवर्द्ध—दिवांगमनम्—भपाणा स्वाभाविक मार्गे एं
कर अन्य सारों में प्रयोग करना। आदेश—पेट में बैद्यता
साप बुटाहु गद्य हीला—माटोंगा बुटाहुतात्र देखी न
मनवा। अंग्रेजी में इसको 'बोर्डोरियम' (Bordorym)
कहते हैं। मना प्राची और मना की अवस्थाओं में देखे।
जुना—सचर की अवस्था में दाढ़ थोक घृण के समान हो
ए। प्रकोप की अवस्था में उपर्या से उत्कर्षनिरुद्धि त
थार्कुरी हुए पतले घृण के समान होते हैं। प्रसर की अवस्था
में उक्तान हुए घृण (जिस में से केन बुटाहु और लीटै हृ
उपर डर रही है) के समान होते हैं। इन तीनों अवस्थाओं
चिकित्सा हेतु विधित होती है।

धातुक्षये स्थानसंख्येण वद्यामः । एवे प्रकृषिता
तांस्तान् शारीरप्रदेशानागम्य सांस्तान् व्याधीन
ज्ञनयन्ति । ते यदोदरसत्तिवेशु खुर्वन्ति तदा गुरुम्
वेदेष्ट्युदराग्निराहानाहपिग्निकातिसात्प्रभृतीन्
ज्ञनयन्ति; वस्त्रगता प्रमेहाद्यमीमूर्याघाग्नमूष्ठ-
दोप्रभृतीन्, गृहणगता गृदी । मेदगता निर्द्ध-
यकशोपदशवद्यक्षोपमधृतीन्, गुहणगता भगान्दरादी-
प्रभृतीन्; उत्तरज्ञानगतस्तुर्थेजान्, त्वद्धांम
हेषितस्थाः शुद्धोगता उपासने विमोच-
नेदेशता ग्रन्थयपचर्युद्गालगण्डालजीप्रभृतीन्,
परिष्ठगता विद्यर्थ्यनुशासीप्रभृतीन्, पाण्डगता;
कीर्त्यपानशोलिनयात्पट्टक्षप्रभृतीन्, सर्वांहयगता
प्रगर्भार्होगेग्रभृतीन्, तंयासेवमनिविद्यार्थ
प्रस्तुपादुर्माणः, ते प्रतिरोदं यद्यामः । तत्र
प्रांत्यगतेष शतर्थः द्वियाद्वादः ॥३३॥

स्थित होने से ग्रंथि, अपची, अर्द्धुद, गलगण्ड, अल्जी आदि रोग उत्पन्न करते हैं । अस्थि में स्थित होने से विद्रिधि, इयी इत्यादि रोग उत्पन्न करते हैं । पाद में स्थित होने लीपद, वातरक्क, वातकण्टक इत्यादि रोग उत्पन्न करते हैं । गंगा में फैलने से ज्वर सर्वोगरोग इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं प्रकार (उदरादि भिन्न शिळ स्थानों में) । निविष्ट हुए में से (जुल्मादि व्याधियों का) पूर्वरूप (भंश्रय की अवस्था) । उत्पन्न होता है । उसका वर्णन प्रत्येक व्याधि के समय गे । रोगों के पूर्वरूप के समय चौथा चिकित्सा काल ता है ॥२२॥

घक्कव्य—स्थानसंश्य—कुपित दोषों का प्रसार शरीर में सर्वनी द्वारा होता है और जहाँ कुछ वैगुण्य होता है, वहाँ प स्थित होकर रोग उत्पन्न करते हैं, यह स्थानसंश्य है—तेरोगमिति कुदा रोगाभिष्ठानगमितीः । स्थानीयोः प्रपाणशु दोषा वैरु दुर्वर्ते ॥ (वाग्मट) । व्यानेन रसपातुर्हि विक्षिपेचितकर्मणा । पृष्ठ सर्वेऽन्नं देहे विक्षिप्ते सदा ॥ क्षिप्यमाणसु वैगुण्याद्रक्षः ज्वति यद्य सः । तत्त्वम् विकारं तुर्गते वै वर्षमिव तोयदः । दोषाणामपि वै स्वादेकं दशप्रक्रोणगम् ॥ (चरक) । कुपितानां हि दोषाणां शरीरं रिपवाताम् । यद्र संगः स्वैरुण्याद्वयाधितत्रोपजायतं ॥ (सुधृत) । दिः—वातपित्तकफशीणिमेशीमूत्रान्वनिभित्ताः सप्त वृद्धयः ॥ तेलद्वयकश—यह एक शिख की प्रायः स्वाभाविक निवृत्ति होती है; जिसमें शिख के ऊपर के चर्म का छिद्र इतना छोटा ही जाता है कि उस छेद में से मणि या हार नहीं आ सकता । इसको प्रयोगी में 'फावसोसिस्त' (Phimosis) कहते हैं । ऊर्ध्वजान्—र्षीणा, नासा, अक्षि, जिर इनके रोगों को । धुक्करोग—यह रोग वा एक समुदाय है जिसमें अजगल्हिकादि चौबालीस प्रकीर्ण और मोटे रोगों का समावेश (निदान अ. १३) किया गया है । अपची—कण्ठमाला । इसको अंग्रेजी में स्कोप्स्यूला (Scrofulula) कहते हैं । अनुशीली—सुदूरोगान्तर्गत एक रोग । शीपद—कीलपाव (Elephantiasis) । वातशोणित—वात रक्क, नक्करस (Gout) । पूर्वरूपम्—व्याधि उत्पन्न होने के पूर्व होने वाले व्याधि के सूचक दोषज या अदोषज, सामान्य या विशेष जो लक्षण दिव्यार्थ देते हैं, उनको पूर्वरूप कहते हैं । पूर्वरूप नाम प्रायुषतिलक्षणं व्यागेः । (चरक) । इस सूत्र के व्याल्यान में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—उत्पत्तेः प्राक् प्रायुषतिति, एन उत्पत्तेः पूर्वं यद् भविष्यत्व्याभैर्लक्षणं तत्पूर्वरूपमित्यर्थः । प्रायः यह पूर्वरूप कुपितदोष विगिष्टस्थान में संश्लिष्ट होने के ही समय उत्पन्न होते हैं—स्थानसंश्यागः कुदा भविष्याधिप्रवोधकम् । दोषः कुबैन्ति यहिंगं पूर्वरूपं तदुच्यते ॥ अंग्रेजी में पूर्वरूप को प्रोड्रोमा या प्रीमोनिटरी सिम्प्टन (Prodrome Premonitory Symptom) कहते हैं । क्रियाकाल—इस अवस्था में दोष स्थानाधित होने के कारण चिकित्सा प्रकृष्टि दोष तथा स्थान (दूष) दोनों की भी करनी चाहिये ।

अत ऊर्ध्वं व्याधेदर्शनं वद्यायामः—शोफार्दुदग्रन्थि-विद्रिधिविसर्पम् भृतीनां प्रव्यक्तलक्षणात् उवराती-सारप्रभृतीनां च । तत्र पञ्चमः क्रियाकालः ॥ ३३॥

अब इसके आगे व्याधियों का वर्णन कहते हैं । शोफ, अर्द्धुद, ग्रंथि, विद्रिधि, विसर्प इत्यादि तथा ज्वर, अतिसार

आदि रोगों के लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकट होना (यही व्याधि दर्शन या व्यक्ति है) । यही अवस्थावस्था चिकित्सा का पांचवां काल है ॥३३॥

घक्कव्य—व्याधेदर्शनम्—जिस अवस्था में प्रत्येक व्याधि के व्यास खास लक्षण उत्पन्न होकर व्याधि की जाति निश्चित ही जाती है, उस अवस्था को व्याधिदर्शनकाल या व्यक्तिकाल कहते हैं । यथा—ज्वर का संताप, अतिसार का मलातिसरण, उदर का पेट फुलना, कामला का त्वचा पीली होना, विसूचिका का उदर में तीव्र बेदना होना इत्यादि । इस अवस्था में व्याधि की चिकित्सा करनी चाहिये ।

थत ऊर्ध्वमेतेषामवदीर्णानां व्रणभावमापनानां पष्ठः क्रियाकालः; उवरातिसारप्रभृतीनां च दीर्घ-कालानुवन्धः । तत्राप्रतिक्रियमाणेऽसाध्यतामुप-यान्ति ॥३४॥

इससे आगे जब ये शोथादि विद्रीण होकर यण भाव को प्राप्त होते हैं, तब छठा चिकित्सा का काल होता है । ज्वर, अतिसार आदि रोगों में बहुत काल व्यतीत होने पर छठा क्रिया काल होता है । इस समय प्रतिकार न करने से वे रोग असाध्य हो जाते हैं ॥३४॥

घक्कव्य—इस सूत्र में चिकित्सा की दृष्टि से अन्तिम अवस्था का वर्णन किया है । इसको भेदावस्था कहते हैं । कारण यह है कि इस अवस्था में शोथयुक्त रोगों में प्रधानतया दोष त्वचा का भेद करके बाहर निकल आते हैं और व्याप्त उत्पन्न होते हैं । उवरातिक सर्वोग रोग, जहाँ इस प्रकार का भेद होना असंभव है, दीर्घकालानुवन्धी ही जाते हैं । परन्तु यह दीर्घकालानुवन्ध प्रत्येक रोग में असंभव है । अतः सर्वांगरोगों के संवेद में यह समझना अधिक प्रशस्त है कि जैसे व्यक्तावस्था में व्याधि की जाति का स्पष्ट बोध होता है वैसे भेदावस्था में लक्षणों के अनुसार वातिक, पैत्तिक, सान्निपातिक इत्यादि भेद स्पष्ट हो जाते हैं । मूलप्रयत्न से इस प्रकार का अर्थ नहीं होता है । परन्तु कायचिकित्सा में भी संचयादिक अवस्थाओं का उपयोग करने की दृष्टि से भेदावस्था का उपर्युक्त अर्थ करना अयोग्य नहीं है । इस भेदावस्था में यदि प्रतिक्रिया न हो तो रोग दीर्घकालानुवन्धी (Chronic) या असाध्य हो जाते हैं ।

भवन्ति चात्र—

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्यायम् ।

द्वयकिं भेदं च यो वैत्ति दोषाणां स भवेद्विष्प्रक ॥ ३५॥

दोषों के संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्य, द्वयकि और भेद इन अवस्थाओं को जो जानता है, वही (वास्तव में) वैद्य सकता है ॥३५॥

घक्कव्य—संचयादि छः अवस्थाएँ विकृतिनिर्दर्शक हैं । क्योंकि 'विकारो धातुवैपम्य' है और वैपम्य संचयावस्था से ही प्रारंभ होता है । परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इन अवस्थाओं के दो विभाग होते हैं । पहले विभाग को 'अप्रकट काल' कह सकते हैं जिसमें संचय, प्रकोप और प्रसर का समावेश होता है । इस काल में यद्यपि मनुष्यरीके भीतर रोगोत्पत्ति छा-

कार्य पारी रहता है तथा पि उमर याद लक्षण कविता या नहीं दिसाई देते। दूसर मिमांसा को 'प्रकट काल' कह सकते हैं जिसमें रोग व लाग प्रकट हो जाते हैं और लंबिक इटि रोग मुक्त रागार्थित संग्रह जाता है। इस काल में स्थान मध्य, व्याध और भद्र का समावग होता है। यात्रकोरिक इटि से यो का दृष्ट है कि प्रभग जीन अवस्थाओं में र ए उपो घुम का बीज जमीन में ही और अवस्थात होता है।

परतु भे सब अर्थ यहाँ अप्रसुत है। कारण वह है कि इन्हें एक से श्रिक नाव प्रदृष्टित हो जाने पर उन में प्रभीर अप्रधान का निर्णय कराने के लिये यह लोक लिया आयत कुछ दोष वह हा सकता है, तो अपन हक्कोंपरिषद से भावों से प्रकट हुआ है। अप्रधान दाव वह है, जो उ आगिक भावों से प्रकट हुआ है। जब हम प्रकार प्रधान। अप्रधान का निर्णय हो जाता है, तब निम्न प्रकार से चिकिकारनी चाहिये—

ससर्गे यो गरीयान् स्यादुपकम्य स ये भवेत् ।
एषदोषविरोधेन सम्प्रिपते तर्थं च ॥

मरणी म जो दोष प्रथान ह। उसका प्रतिकार क्या।
का प्रश्नोपर जिस मे अधिक न ह। इस प्रकार से करना पाहि
मन्त्रिपाल मे भी वैष्णा ही करे॥३८॥

धर्मदृष्टि—जो ऐसी विदेशी वाले—मुख्य दोष घट जाने
अप्रधान दूसरा या तीसरा द्वितीय जिसमें अधिक उच्चारण
नाय। तो कुपिलन्धा जैविक व्यवहार तकियाँ नैराहारात्रि विश्वास
द्वेषन्धर न बुझती। (इन्हुं)। इस श्वास में संघर्षात्मकीय
की चिकित्सा का त्रयम् वर्णन किया है। परंतु इस विषय में पि
मतभद्र प्रथमित है। (१) उत्तरुक फलाक एवं द्वितीयार अंडि
दलवान् दोष की प्रथम चिकित्सा करना। याक में भी अतिम
की चिकित्सा में इस मत का उल्लेख किया है—वर तो
बोतेवृत् या भवेत् श्वलत्तम् ॥ (२) कफ में पित्त और पित्त
वात अधिक दलवान् स्थानावात होता है। इसलिये प्रथम प
पश्चात् पित्त और अन्न भ कफ की चिकित्सा करनी चाहिये
वातस्थानु भवेत् तिं तित्तित्यातु भवेत् वातम्। (चारक)
(३) कई आराध्य प्रथम कफ, पश्चात् पित्त और अन्न में का
इस प्रकार चिकित्सा करनी चाहिये, ऐसा मानते हैं। वर
पीठ और चक्षुरात् ये यथिग्राहत्वात्परचिकित्सा हृषी मानाया
जाती है—उत्तराननुपूर्णा वा निरिण्यम्भर वर्षेत्। (चारक)
तित्तित्यात् उत्तर पूर्व युद्धामादापदम्। पश्चात्प्रेषणी भवेत्
प्रायेतिप्रकारी ॥ (चारदण)। ऐसी विदेशी वाले कुछ दूसरा
विवरण। (कृष्णदामापद)। (४) युद्धुन का मा यद है ति
वात और अतिमार में प्रथम पित्त पश्चात् कफ और अन्न।
वात हय प्रथम से पित्तिया करनी चाहिये। तित्तित्यात् तित्तित्यात्
वातु स्थानावातु। दुर्विश्वास तकि उत्तरु रित्याः ॥ प्रथमी
वात तो पूर्व निर्माणवात्। इस तो विदेशी वाले कुछ दूसरा

(मुझे)। (५) कई ग्रामीणों का पह मन है कि जल की अतिरिक्त मध्य प्राप्ति करने वाले विस अंतर जल में वह हम बता रहे हैं कि विद्युत वाली चाहिए। इसकी दृष्टि का अद्वितीय आवायगती नहरी का ही होता है। अद्वितीयता; हम यह दृष्टि का उपर्युक्त विवरण है—(६) पर यह उपर्युक्त विवरण सही न नहीं दिया जाता। (७) विवरण का विवरण नहीं दिया जाता। विवरण का विवरण नहीं दिया जाता। विवरण का विवरण नहीं दिया जाता।

पुत्र ॥ वासुदेव कपोतेऽवश्य यात्क्षेत्रसु ततः क्षये । ज्वरावित्तारयो-
दिव दोगजं क्रमः ॥ (५) दक्षपितानिलगत्ये क्रमादाहुस्तथोर्यपि ।
दामाशरवीत्तेशारः भूयिष्ठं तत्सुमुद्रः ॥ (सूत्र. अ. २१) ।
मैं संग्रहकार लिखते हैं कि ध्रुवे की भाँति क्रम के अनुसार
की चिकित्सा न कर । रोगी को अच्छी तरह से दखलकर
ती प्रकृति के अनुसार उपर्युक्त क्रमों में से जो योग्य प्रतीत
इस क्रम का उपयोग करना चाहिये, जिससे व्याधि का
उप हो जाय—विद्याय कर्मनिः स्यैः स्वेदोपदेशः यथावलम् ।
वैयाजंस्तराय तन्नीं कुरुवित्तु करमः ॥ प्रयोगः शम्बुरसापि व्याघ्रमन्मानु-
वेत् । नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शम्बुरो न वापेत् ॥

प्रिणोति यस्मात् रुद्धेऽपि प्रणवस्तु न नव्यति ।
प्रादेह्यधारणात्तस्माद्वर्णं दृष्ट्युच्यते वृष्टैः ॥३९॥

इनि सुकृतसिद्धियाः सत्रयत्ने ग्रामप्रभीयो

नामैकविंशोऽन्यायः ॥२१॥

वह भर जाने पर भी अपने स्थान को आच्छादन करता
और उसका चिह्न यावजीव नाश नहीं होता । इसलिये
मैं से वह व्याप कहलाता है ॥३९॥

चक्षव्य—इस श्लोक में विदीर्णी हुए शरीर एकदेशो-
त दोषसंबंधात को व्याप करते हैं उसके निशकों के
तुसार दो कारण दिये हैं । तीसरा कारण चिकित्सास्थान
प्रथम अध्याय में दिया है—ज्ञान गच्छन्वर्णेन, ग्रन्थयतीति व्यापः ।
वस्तु—व्याप होने के स्थान—तटमःसिरासायस्तिस्पि-
ष्टमर्माणीतयो व्रणवस्तुनि । किंवा व्यापवस्तु का अर्थ व्यापचिह्न
। व्याकिणा भी हो सकता है । व्यापवस्तु को अंग्रेजी में
सेक्याट्रिक्स या 'स्कार' (Cicatrix or Scar) कहते हैं ।
ग—आगमन्तु या निज कारणों से स्थानिक शरीरपरमाणुओं
ग नाश होकर त्वचा या श्लैफ्मिक त्वचा के पृष्ठ पर जो खुला
या घाव बन जाता है, उसको व्याप कहते हैं । अंग्रेजी में
या को 'अलसर' (Ulcer) कहते हैं । ऊपर व्याप की जो
तीन विशेषताएँ बतलाए हैं, उनकी यथार्थता मालूम होने के
लिये नष्ट हुए शरीरपरमाणुओं की पूर्वी कैसी होती है, उसका
वैयरण नीचे किया जाता है । यदि नष्ट हुए शरीरपरमाणुओं
न स्थान में उसी जाति के परमाणु फिर बन जाएंगे तो व्याप
का पूर्ण रोपण हो जाने के पश्चात् उसका लांबन यावजीव
देखाई देने का कोई कारण नहीं है । परंतु रोपण के समय
प्रसा नहीं होता । मनुष्य का शरीर अनन्त परमाणुओं का
बना हुआ है । ये परमाणु थानि सेल (Cell) अनेक जाति
के होते हैं । एक जाति के सेलों का संघात 'शारु' (Tissue)
कहलाता है । प्रत्येक जाति के सेलों में अपनी ही जाति के
सेल उत्थापन करने की यानि पुनर्जनन (Regeneration) की
प्रक्रिया एक दी नहीं होती । यथा—धारीदार मांस (Striped
Muscle), अस्थि, कण्डरा (Tendon), चातनाली (Nerves)
और कातिपयं ग्रन्थियाँ इनके सेलों में पुनर्जनन
की शक्ति होती है । त्वचा और उपत्वचा (Subcutaneous
tissue) के सेलों में अत्य होती है और सुखुमा के सेलों में
नहीं होती । व्याप, प्रायः वाह्यत्वा में होता है परंतु त्वचा
के सेलों में पुनर्जनन की शक्ति न होने के कारण नष्ट हुए सेलों
के स्थान पर जो व्यवस्था बनती है वह अन्य प्रकार के

से उत्पन्न होती है । इसका परिणाम यह होता है कि धाव
का रथान श्रणसूक्ष्मसन्निभ तंतुनिर्मित (Fibrous) धातु से
आच्छादित होता (वृणोति) है । नवीनायस्य मैं इस
धातु में रक्ताहिनियाँ होती हैं परंतु धीरे धीरे तंत्रों का
दातुन्त्र होकर रक्ताहिनियाँ नष्ट हो जाती हैं, जिससे यह
धातु चारों ओर की त्वचा की अपेक्षा धृत्यर्थं (व्याविचृत्येन)
हो जाता है । इस धातु में रसायनियाँ, नाट्रियों के अम,
रोमकूप, स्वेदांशियाँ, नैलमंगिताँ भी नहीं होतीं । यदि धृणोष
का मीलन ठीक हुआ हो तो वह धातु व्यक्त ही धोड़ी बनती है,
जो साफ़ने में जलदी नहीं जाती । परंतु यदि अधिक
स्थान का नाश हुआ हो तो व्यक्त हुआ सब सामग्रेवल इसी
धातु से आच्छादित होता है और व्याप की चिह्न यावजीव
नष्ट नहीं होता ।

धृति भास्त्ररसर्माणा गोविन्दात्मनेन गिरचित्यामानुर्वेशस्यर्वपिक्त्यां
सुश्रुतभाष्यादीकार्यां गणप्रकीयो नामैकविंशोऽन्यायः ॥२१॥

द्वार्विंशतितसोऽध्यायः ।

अथातो व्यापास्यायवित्तानीयस्यायं दशाख्या-
स्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अय यहाँ से व्यापासादविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान
करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

त्वज्ञांससिरास्यावस्थिसन्धिकोष्ठसर्वार्थीत्यष्टौ
व्यापवस्तुनि । अत्र स्वर्वद्रव्यस्तिविदेवाः ॥२॥

त्वचा, मांस, सिरा, लायु, वस्त्रि, सन्धि, कोठ और
मर्म ये व्याप के आठ अधिकान हैं । इन्हीं में भव ग्रदार के
द्वय स्थित होते हैं ॥२॥

चक्षव्य—कोष्ठ—स्थानाभामाक्षिपकानां मूत्रस्य रुधिरस्य च ।
हुण्डुकः फुफुस्थ कोष्ठ इत्यभियते ॥ ज्ञानवस्तु—व्रणोपादान-
भूतवस्तु, व्याप के अधिकान । चरक में संधि के स्थान में मेद-
दिया है—त्वक्सिरामांसीदोऽस्थिस्त्रायुमर्मन्तराश्रयः । (चिकि-
त्सा अ. २५) ।

त्वच, आच्छैकवस्तुलाभिजेशी त्वरयेदी व्यापः सूप-
चरः, शोषाः स्वायमद्वलीद्यमाणा दुरुपचाराः ॥३॥

उनमें से आरम्भ के एक ही वस्तु (त्वचा) में प्राप्त होने
वाले और त्वचा ही को बेश्वर करने वाले व्याप सुखदाय
(सूपचर) होते हैं और शेष (सांसादिसंजिविष्ट) तथा स्वलं
कट जाने वाले व्याप दुःसाध्य होते हैं ॥३॥

चक्षव्य—व्यापवदीर्यमाणा—चैद्य के आलेपमादि उष-
चार के विना पके हुए और पाप के विना स्वर्यं फौटे हुए ।

तनायतश्चुरक्षो दृच्छैयेपुटक इति व्यापास्यात्ति-
स्यामः, शेषास्तु विक्षिनाहृतयो दुरुपक्षमा
भवन्ति ॥४॥

उनमें से दीधि, चतुर्पलोग, गोल और शिक्काल ये (सुख-
साध्य) व्याप के आकार हैं । इनके अतिरिक्त विकृत आकार हैं
व्याप दुःसाध्य होते हैं ॥४॥

सर्व पद्य वणः क्षिप्रं संरोद्दन्त्यमवतां
सुभिपग्निशेषपकान्ताः, अनामवतामवैशेषोपकान्ताः
प्रदुष्यन्ति, प्रवृद्धत्वाच्य दोषाणाम् ॥५॥

यथोक पथ्यकर आहार-विहार करने वालों (आववता) के और उत्तम वैद्यों से चिकित्सा किये हुए सभी मण शीघ्र ही भर जाते हैं । अपथ्यकर आहार विहार सेवन करने वालों के तथा कृष्णों से चिकित्सा किये हुए मण दोषों का वृद्धि हो जाने से दूखित हो जाते हैं ॥५॥

यत्कथ्य—सुनिष्ठ—जिसको प्रयोगाव, वणदृष्टण और वणोपचार का उत्तम ज्ञान है । प्रदुष्यन्ति—दूखित हो जाते हैं । दूखित का अर्थ नवीन करना के अनुसार 'मेटिक' (Septic) यानि पौर्णांशुदक जीवाणुदूषित करना अधिक प्रगल्प है । जो ग्राण सेप्टिक नहीं होता, वह जलदी भर जाता है । यह अनुभवमिहूँ है । इन जीवाणुओं का प्रवेश हांते से अगले सूत्र में वर्णित किये हुए प्रयोग सभी रक्तण उत्पन्न होते हैं । इनका प्रवेश न होने से प्रयोग वण अपने नियत ममय में तथा अपने स्वाभाविक मम में शीघ्र ही भर जाता है । इस क्रम का वर्णन आगे २३ वें अध्याय वे १९ के ख्लोक की दिव्यशी में किया गया है । यदि मण की दुष्टि न हो तो वह प्रथम अवस्था से दृश्यी भौं दूसरी से तीर्परी में अपने स्वाभाविक क्रम से बलकर भर जाता है ।

तत्रातिसंबृतोऽतिविद्युतोऽतिकटिनोऽतिमुदुर्क्त्सदोऽवस्थोऽतिशीतोऽत्युषणः— छृष्णरक्तपीत-शुक्रादीनां वर्णानामन्यतमवणों भैरवः पूर्तिपृथ्यमांस-स्त्रियाणामुप्रभृतिमिः पूर्णः पूर्णिपूर्णास्त्रामुनमार्घुं-त्सङ्घमनाशदर्शनगम्भोऽत्यर्थं वेदनावान् दाहपार-रागकण्डूशोफिपिद्सोपलुतोऽत्यर्थं दुष्टशोणिता-स्त्रावी वीर्धकालातुवन्धी चेति दुष्टवणलिङ्गानि । तस्य दोषोच्छायेण पदस्थं विमउय यथास्वं प्रतीकारे प्रयत्नेत ॥६॥

अति ऊंटा मुख, अति चीडा मुख, अति कठिन, अति मुदु, उत्तम माम, मासीर्वैर, अति ठड़ा, अति गरम, काला दाल पीडा संज्ञेद इनमें से पूर्व रग का, अतिशित लक्षण मुख, हुर्गम सुख पूर्व, माम, सिरा, आयु आदि से इर्ष, हुर्गम सुख पूर्व वहता हुआ, ऊर्जमुख, ऊर्जागामी, देखते में और गध में खाराव, अतिरेदनायुर, जलन, पाक, सुरुली, वर्णुरायं, पिङ्का इनसे स्वयम, अर्थत् दुष्ट रक्त का लाव करने वाला और चिरकालीन ये हुए मण के लक्षण हैं । दोषाभिक्ष्य के अनुसार छ भेद करके उमसकी यथोचित चिकित्सा करने का प्रयत्न करना चाहिये ॥६॥

यत्कथ्य—उमस—मास अधिक बढ़ते वे कारण उभरा हुआ । उमसन—मास का नाश होने के कारण भीरन इया हुआ । उमसी—उमसा हुआ, कौटुम्बावार । भैरव—अनश्चास्त्रिलिपि । दोषोच्छायेण—दोषवरपेन । वर्तम—अवित्तरक्तमिश्रानुप्रोत्सैन ।

अत ऊर्ध्वं सर्वद्वावान् यद्यामः—तत्र शृणु छिशासु या त्वंशु स्फोटेषु भिन्नेषु विद्वितेषु च मलिलप्रकाशो भवत्याद्यावः किंचिद्विद्विषः पीतां भास्त्रशः; मांसवतः सर्पिग्रामाः सान्द्रः विष्विलशः; सिरां रक्तातिप्रवृत्तिः पक्षासु च तोयवाढीमित्रिव तोयाम मर्त्यं पूर्यस्य, आद्यावश्वात्र तनुविष्विलः पिण्डिलोऽवलम्बी श्यायोऽवश्यायप्रतिमशः स्नायुगत निर्गुहो घनः सिंधाणकप्रतिमः सरक्तशः अस्थिग तोऽस्थय्यमिहते स्फुटिते भिन्ने दोषावदारिते च दोषभक्षित्यत्वादस्थित्य निःसार्व शुक्रिधीतमिवाभाति आस्थावश्वाय मज्जमिथः सरुधिरः स्थिरशः संधिगतः पीड्यमानो न प्रवर्तते, आङ्गुञ्जनप्रसारणो च मनविनमनप्रधावनोऽकास्मनप्रव्याहरणैश्च घवति आद्यावश्वाय पिण्डिलोऽवलम्बी सफेनपूर्यस्थिरो रोम्यथितशः; कोषुगतोऽस्यहम्ब्रपुरीष्यव्यरुद्धत्वाद्योल्यते ॥७॥

इसके आगे सर्व प्रकार के घाव का वैर्णन करते हैं, जिसी या छिली हुई लवचा में ने तथा इय या यन से फट हुए फुस्सी में से कुछ पानी सा लाव तथा कुछ हुर्गम सुखी में से कुछ पानी सा लाव जिकलता है । मासीगत व्रण से निरलने वाल घाव घृत के समान, गाढ़ा, मंकद और लम्दादार होता है । सिरामत मण से यदि ताल्काल भिन्न कही हो तो वह बहुत मारक का घाव होता है । पक्ष हो जाने पर जैसे पानी की निहिता में जल बहता है वैसे दूष का लाव होता है । वह लाव एवा, खडित, लम्दादार, गाढ़ा, काला और के ममान होता है । आयुगत मण का घाव चिकना, गाढ़ा, नासिका से विके हुए और सेप्टा के ममान और रक्तमुख होता है । ही ही घाव घावात्मक घाव होता है । अत उमस का घाव व्यवहारित हो जाता है ॥८॥

यत्कथ्य—भिन्नु विद्वितु वा—वैष विरुद्धे देखत रिद रित् । विद्वित—नातिकालु विद्वित वीत घन कक्ष । शुक्रिधी—मूर्खमयसारिग्रामा वृन्दिनो भवत्यन, शुक्रुक्तिर्द्वयं । (कक्ष) । नातिकाल—बार बार जेते लायना । भवत्यन द्वय में भूमि द्वय और जल इनका लाव होता है । कौटुम्बन घन से रक्त, शूर्ण मल, दूष और जल इनका लाव होता है । मर्त्यगत घन का घाव व्यवहारित हो जाता है । अत उमस का घाव नहीं कहा जाता है ॥९॥

यत्कथ्य—भिन्नु विद्वितु वा—वैष विरुद्धे देखत रिद रित् । विद्वित—नातिकालु विद्वित वीत घन कक्ष । शुक्रिधी—मूर्खमयसारिग्रामा वृन्दिनो भवत्यन, शुक्रुक्तिर्द्वयं । (कक्ष) । नातिकाल—बार बार जेते लायना । भवत्यन द्वय में भूमि द्वय और रक्तमिश्रानुप्रोत्सैन ।

१ नेमग्रिग्रहानुप्रोत्सैन । २ दोषोच्छायेण ।

देक्षसंशिभव्यानि मालुनाद्वयन्ति: पित्ताद्वोमेद-
गोमूत्रभस्तुर्गुणप्रयोदकमाध्यीकैतैलस्त्रिभव्यानि;
पित्तवद्वक्ताद्विविष्टत्वं च: दाफ्नाद्वयनीतकासीम-
मज्जपिप्रतिलनारिकेलोदकपराहवसात्त्रिभव्यानि;
सञ्चिपाताद्वापि केलोदकैर्बारुकाकरसकारित्तग्रस्तादारु-
कोदकप्रियदुरुफलयकुन्मुद्दह्यद्यसर्वगच्छानीति ॥८॥

पूर्वोक्त जो वर्णों के आठ स्थान कहे हैं । उनमें से मर्म के अतिरिक्त जो शेष सात स्थान हैं उनमें यथाक्रम नात के कारण (त्वचा से) पर्षप, (मांस से) काले रंग का, (राशु से) द्रथिमस्तु के समान, (मिरा से) कृत्र द्वे समान, (अस्ति रे) क्षारोदक के समान, (भूषि से) मान्मधावन के समान और (कोष से) पुलाकोदक के समान स्थाव होते हैं । पित्त के कारण पित्त के समान ही स्थाव होते हैं । परन्तु उनमें कच्चे मांस के समान दुर्गंध अधिक होती है । कफ के कारण मम्पन, कामीम, मज्जा, पिण्डी, तिल, नारियल जल के समान और शूकर की चस्ती के समान यथाक्रम जे स्थाव होते हैं । नवनिपात के कारण नारिकेलोदक, ककड़ा का जल, कांडी का सच्च जल, अस्तकोदक, प्रियंगुफल, घृतरस और मुद्राद्युप इनके समान यथाक्रम स्थाव होते हैं ॥९॥

वक्तव्य—पुलाकोदकमन्त्रिम—पेयामदग । पुलाक एक प्रकार का तुच्छ धात्य होता है । गोमेदक—किंचित् लाल या पीला मणि । कपायोटक—कपायरसयुक्त द्रव्यों का काथ निवा केवल काथ । माध्वीक—मध्यामव । आरु—एक प्रकार का वृत्र है ।

श्लोकों चात्र भवतः—

प्रकाशयादसाध्यस्तु पुलाकोदकसञ्चिभः ।
जारोदकनिभः स्तावो वर्ज्य रक्ताशयाम्ब्रवन् ॥९॥
आमाशयात् कलायास्मोनिभश्च त्रिकसन्धिजः ।
स्तावनेतान् पर्मीद्वयाद्वै ततः कर्माचरेद्विपक्ष ॥१०॥

प्रकाशय से पुलाकोदक के समान स्थाव असाध्य होता है । रक्ताशय ने जार के पानी के समान स्थाव वर्जित है । आमाशय नथा त्रिकम्बिति से मटर के यूप तुल्य स्थाव असाध्य होता है । (इसलिये) प्रथम इन स्तावों की पर्सीका करके पश्चात वैया इनका उपचार करें ॥९—१०॥

अत ऊर्ज्ये सर्ववरावेदना वक्ष्यामः—
तोदनभेदनातद्वेदनाच्छेदनायमनमन्थनविद्वेष्टप्रयच्छुम्-
च्छुमायननिर्दहनावधखनस्फोटनविदारणोपाटन-
कम्पनविविधशूलविशेष्येष्टप्रयच्छिकिरणपूरणस्तस्तान-
समाप्तुश्वलाहुशिकाः संभवति, अनिमित्तविविध-
वेदनाप्रादुर्भावो वा मुहुर्सुहुर्यत्रागच्छन्ति वेदना-
विशेषास्त्रं वातिकमिति विद्यात्; ओपचोपपरित्राह-
धूमायनानि यज्ञ गात्रमहाग्रवर्कीर्णिति

यत्र चोप्माभिवृद्धिः ज्ञते ज्ञारावसिकवद्य वेदना-
विशेषास्त्रं पैतिकमिति विद्यात्; पित्तवद्वक्तसमुत्थं
जानीयात्; कण्ठगुरुस्त्वं सुसत्त्वसुपदेहोऽव्यवेदनत्वं
स्तस्मः शैत्यं च यत्र तं शैत्यपिकमिति विद्यात्; यद्य
सर्वासां वेदनानामुत्पीत्तिस्तं सान्निपातिकमिति
विद्यात् ॥१॥

उसके आगे सर्वप्रकार के वर्णों का वेदना को कहते हैं । जहाँ नोदन (गूचीविधन की पीड़ा), भेदन (त्वचविदारण की पीड़ा), ताढ़न (डंडे से मारने की पीड़ा), छेदन (काटने की पीड़ा), आयमन (मंकुचित अग की रौचने से होने वाली पीड़ा), मन्थन (पाणेमध्य ने वण के भीतर मानो मन्थन हो रहा है ऐसी पीड़ा), विजेपण, तुम्जुमायन (सरसों का लेप करने से होने वाली तुम्जुमायन) (Tingling), जलन, अवर्भजन (टुकडे टुकडे मे होना), स्कॉटन (पथर से जैसा कृटा जाता हो), विशारण (नव से चीरने की पीड़ा), उत्पाटन (ऊपर खौचने की सी पीड़ा), कंपन (हिलने की पीड़ा), नाना प्रकार के शूल, विशेषण (शलग शलग करना), विकिरण (व्रणस्थान जैसे अनेक स्थानों में फेंका जा रहा है), पूरण (भरण), स्तम्भन (त्रंग का मिकुड जाना), स्वग (त्वचा सुख हो जाना), आकुचन (अकड़ाव), अङ्कुषिका (अंकुर के आधान मे होने वाली विशेष प्रकार की पीड़ा)—ये पीड़ाए हों और विना कारण नाना प्रकार की वेदना उत्पन्न हों और जहाँ वार वार विशेष प्रकार की व्यथा का दौरा आता हो, वह वातदृष्टित व्यग है, ऐसा मानो । जहाँ जलन, चूसने के समान पीड़ा, मर्व गरीब का दाह, धमायन (वण से खुआँ मा निकलता हो ऐसा मालूम होना), शरीर पर अग्नि पहुँचे ने शरीर जलता हुआ मालूम होना, बहुत गरमी बढ़ना, धाव पर क्षार डालने की सी पीड़ा इत्यादि वेदना विशेष हो, वह पित्तदृष्टित व्यग समझना चाहिये । रक्तदृष्टित व्यग को पित्त-दृष्टित के समान जानना चाहिये । कण्ठ, भारीपन, सुश्वता, शरीर लिस ना रहना, अल्पपीडा, स्तनवता, ढंडापन, ये जहाँ हों, वह कफदृष्टित जानना चाहिये । जहाँ सर्व प्रकार की पीड़ा की उत्पत्ति हो, वह सान्निपातिक व्यग जानना चाहिये ॥१॥

अत ऊर्ज्ये व्रणवर्णान् वक्ष्यामः—भस्मकपोता-स्थिरवर्णः परयोऽरुणः कृष्ण इति मालुतजस्य; नीलः पीतो हरितः श्यावः कृष्णो रक्तः कपिलः पिङ्गल इति रक्तपित्तसमुत्थयोः; श्वेतः विग्धः पाँडुरिति श्लेष्मजस्यः सर्ववर्णोपेतः सान्निपातिक इति ॥१२॥

इसके आगे वर्णों के वर्णों का वर्णन करते हैं । वातदुष व्यग का वर्ण भस्म के समान, कपोत के समान, अस्ति के समान, खुगदरा, किंचित् लाल और काला होता है । पित्त-दृष्टित और रक्तदृष्टित व्यग का वर्ण नीला, पीला, हरा, शास्मानी, काला, लाल, कपिल और पिंगल होता है । कफदृष्ट व्यग का वर्ण स्फेट, चिकना और फीका होता है । सर्व दीपों से दृष्टित गरु का वर्ण मर्व प्रकार के वर्णों से मिलित होता है ॥१२॥

भूति चान्—

न केवलं यथोपूको वेदनायर्णसंग्रहः ।
सर्वदोक्षिरारेषु यथवद्वयेऽङ्गिष्ठः ॥१३॥
इति द्वितीयम् । सूक्तम् नैव यत्प्रतिम् नैवोः

यद्युपी जो पर्वत और वर्षा का सम्राह वर्णन किया गया है, वह वेदव्याख्या के ही लिये नहीं कहा है। वर्षा की भाँति सर्वत्र योग दुर्ल दिक्कारी के लिये भी यदनार और वर्षा समन्वय चाहिये (और उसके अनुमार दोनों का ज्ञान कर लेना चाहिये)॥५४॥

१८६ दरार्दाना लिंगदासमेत विचित्र वनामुक्ते हमदासिंदा
स्त्रीलक्षणप्रीता काश्मीरिहरी नम
हंविरचित्तोदय ३४३।

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ।

अधानः शूत्याहृत्यपिधिमध्यायं व्याख्यास्थापः ।
यथोनाच भगवान् धन्वन्तरी ॥१॥

अब यहाँ मे हृष्पाहृच्चविधि नामक अस्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

धनाद्य— इन्हें विभिन्न रूपों में समाज
नदीमें हृष्ट करते हैं। इनका विधि याति प्रकार है। साम्य
सुखमाप्त और हृष्टमाप्त दो प्रकार के हैं और अमाप्त याप्त
और प्रयाप्त याप्त दो प्रकार का होता है। सभी याप्त हृष्ट विधि ने दुरुदृष्टि। दुरुदृष्टि वृद्धमालय एवं वृद्धमालुक्तम् ॥
(सहज)। यिन अस्तर में साक्षात् वृद्धियं माणा का
पर्दन किया है, वह हृष्टमाप्तविधि अस्तपाप है।

तत्र, यद्य.स्थानां दृढानां प्रागुपर्वतां सराप्यनां च
सुचिरित्या दग्धा एवमिन द्या एुपे यर्वतहुरु
चतुष्यं तम्य मुगामाधीनियतमा । तत्र, यद्य.स्थानां
प्रत्यभिन्नादात्र व्रता गोत्रिनि, दृढानां
स्थिरचुमांस्याच्छ्रव्यमवचार्यमाणा सिराक्षाश्चा
द्विदिवेणात्र प्राप्तोति; प्राप्तातां पैदामिहानादार-
यश्वरात्रिभिन्न गतिरप्यने, सत्यपां शर्वःपि
किल्यादिगेहैं द्यग्धा भयति; तस्मादेतां सुरा-
सम्भवीयतमा ॥३॥

त एव विपरीतगुणा वृद्धराशाल्पप्रार्थमीर्यु
द्वष्टव्योः ॥३॥

धेर ही धण वृद्ध, हग, निर्विद और कान्हार मतुरों
उपर्युक्त गुण प्रिसीत (कल्पनालय) होते हैं।

वर्तन्य—नरा, दृ, वनवान् और मालिक मनुष्यों
में जो गुण उनके कल्पनाएँ हैं, उपरे विवरित गुण दृ, ईर,
निर्दि और भीम मनुष्यों से होने के कारण उनके प्रयत्न
मात्र या अभ्यास हो जाते हैं। मनुष्य दो भौतिक रूप से
गुणों ने अनुसार यथोच्च वा नामाख्यात्व दर्शन किया।
इसमें आगे स्थान के अनुसार गायामात्र्यन्वय बनें रहते हैं।
स्फुकपायप्रज्ञनवल्लाटाग्रामडोप्पुष्टिकर्णफलशोरो-

दरजातुमुख्यभ्यन्तरसंस्था: सुगरोपीया यता १०%
निनद, गुद, लिंग, माध्य, व्यापार, होङ, इट, कान, अंडा
कोर, डर, स्ट्राईफ़ और सुगर के भौतिक के द्वारा सुधर में कह
जाता है। यहाँ देखें हैं ॥५॥

अधिदन्तगामापात्रथोपनाभिजडरसेवनीतिनद
पारंकुदिपद्मवज्ञासनमनिधमागगता सर्वेत
पूर्वचानिलमहिनोऽन्नं नश्वर्य दुधिरित्या
गमोदयाद्योर्खमागनियादिलो, गोमात्मेष्वराद्यम
जटानिधनंतिताद्य, भगवन्मति पात्रमुंतं सेर्वा
द्वैराम्भिर्यथितम् ॥०॥

स्वीकृत हो, बायिरा, घरारा, करा, तांबि प्राप्त, सेवी
निष्ठा पाप्त, अस्ति दौड़िया लाड मंदि । निष्ठा हूँ आ आप्ति
है दूष, चिर गे धारा, विर, तां भर दुषु निष्ठा आप्ति
मिलि । इ इ इ इ इ इ इ हो वे धार दुष्याल होइ ।
या धर्म फिरा लाही भैये की भेर और धुल भरा की
भेर हो, चर्द देखज, उ अप्तिकर्त्तव्याल, तां भी लेविं
है दूष भी दुष्याल होइ । देव अप्तिकर्त्तव्याल
उ अप्तिकर्त्तव्याल भी है धार होइ ॥

—प्राचीन—वर्तमान—प्रतिक्रिया भूमि, जहाँ जीव है।
—प्राचीन—वर्तमान—प्रतिक्रिया भूमि, जहाँ जीव है।

परोभयतोभागवणमुखेषु पूर्यरकनिर्वाहिणः;
(क्षीणमांसानां च) सर्वतोगतयव्याणुमुखा मांस-
मुद्दुवदन्तः; सशब्दवातवाहिनश्च शिरःकण्ठस्थाः;
क्षीणमांसानां च पूर्यरकनिर्वाहिणोऽरोचकविपाक-
कासभ्यासोपद्रवयुक्ताः; भिन्ने चा शिरःकण्ठे यथ
मस्तुलुहर्दर्शनं अद्विष्टिलङ्घप्रादुर्भावः कासभ्यासौ
चा यस्येति ॥१॥

इसके बागे असाध्य वर्णों का वर्णन करते हैं । मांसपिंड
के समान ढैंचे हुए, बहुत बहने वाले, जिनके भीतर पीप और
पीपा बहुत हो, घोटी के भगीष्ठ के समान (गुर के समान)
ढैंचे किनारे वाले । कोई अधिक कहे, गीरे के सींग के समान
कोमल मांस प्रोटो हुक । कोई दुष्ट रक या पतला लसदार
व्याव बहने वाले और बीच में ढैंचे हुए । जिनके किनारे नीचे
और भीतर पीपे हुए । जिनके ऊपर शशसूक्ष की भाँति छापु
तन्तु का जाल फैला हुआ हो और जो देखने में भयानक हो ।

वसा, मेद, मज्जा, मस्तिष्क के तुल्य व्याव वाले दोषेत्यित व्यण ।
पीला, काला, मलमूत्र और वायु इनका व्याव होने वाले कोष्ठ-
गत व्यण । मुख, हुद तथा वर्ण से पूर्य और रक का व्याव होने
वाले भी कोष्ठगत व्यण । कृष्ण भूत्यों के सब तरफ फैलने वाले,
छोटे मुख के और मांस के प्रोटो हुक व्यण । शब्द के साथ
वायु निकलने वाले पिर और कण्ठ के व्यण । हुण दुर्योग, अस्त्र-
व्याहारिक, काल और व्याव उद्यवर्ती से विद्युत वर्णी के रूप और
रक बहने वाले व्यण । लोपारी फट जाने पर जहाँ मस्तिष्क
दीखने लगा जाय, विद्यों के लक्षण उत्पन्न हो जाएं अथवा
साँसी और व्यास हो ऐसे व्यण असाध्य समझने चाहिये ॥१॥

यत्कठ्य—मांसाननद—योदे के शुद्धीके समान ढैंचे
(elevated edges) ; घोटी की धोनि के होठ के समान ढैंचे—दड़निविनित् । (इडण) । इस प्रकार के व्यण बुद्धा-
साकोंमा, कैन्सर इत्यादि दुष्ट अर्द्धों में दिसाई होते हैं । अवशो-
श्चरित्यर्पन्ता—जिनके किनारे निश्च और पोले (Under-
mined edges) हो गये हैं । दोषमुख्या—नित्र, आगमन्तु जो
भर्ही हैं । उम्मनोमांगवणमुखेतु—युद, मुख से तथा वर्ण से
पूर्णदि बहने वाले । शस्तकम्—नैत्र सिद्धान्ति वीर्यर्पन्ता-
तीसारकुणिनाम् । पिण्डादाननिदानाम् । (वाग्मट) ।

भ्रद्यनि चात्र—

वसा मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गं च यः ठायेत् ।
आगन्तुस्तु व्यणः सिद्धेद्य सिद्धेहोपसंभवः ॥१२॥
अम्मोरहिते देशे सिरासन्त्यस्थियर्जिते ।
विकारो योऽनुपर्येति तदसाध्यस्य लक्षणम् ॥१३॥

वसा, मेद, मज्जा और मस्तिष्क इनका व्याव जिसी व्यण
से होता है, वह यदि अग्रस्तुक करतों से उग्रम हुआ हो तो
सिद्ध हो सकता है । परन्तु यदि वानादिक दोषों से डड़ा हुआ
हो तो (विकिञ्चन से) निद नहीं होता ॥१२॥ सर्वे से तूर
सिरा, सन्धि और अधिक वर्जित स्थान में बुझा व्यण (जर
विकिञ्चन करने पर भी घात्यों में) फैलता है तब यह
असाध्यता का लक्षण समझना चाहिये ॥१३॥

कमेणोपचयं प्राप्य धातुनुगतः शतैः ।
न शक्य उन्मूलयितु बृद्धो वृक्ष इवामयः ॥१॥
स हितरत्वान्महत्वात् धात्वनुकमणेन च ।
निहस्त्योपधर्मीर्याणि मन्त्रान् दुष्टप्रदो यथा ॥१॥

जैसे बृक्ष बड़ा होने पर नहीं उत्तर सकता, वैते वैरि
यकर सर्वधात्यों में फैला हुआ रोग वारी से निर्मूल
हो सकता ॥१॥ वह विकार स्थिर होने से, वह जाने से
घात्यों पर आक्रमण करने से ओषधियों की कार्य करने
पक्ति को विकल कर देता है जैसे दुष्टप्रद मंत्र के प्रभाव
निष्कल करता है ॥१॥

अतो यो विपरीतः स्थात् सुखसाध्यः स उच्यते ।
मवद्मूलः शुष्पको यद्यदुत्पाटने सुखः ॥
इसलिये उपरोक्त गुणों के विपरीत गुणयुक्त रोग मुख्य
कहलाता है, जैसे कि जमीन में योदा ही गाहा हुआ वै
योदा सुख से उत्तम आता है ॥१॥

यत्कठ्य—विपरीत—नया, अस्थिर, अस्थ और घाट
में न फैला हुआ—त्रहसात्तज सुखे देहे तत्त्वसात्तुवद् । यीं
अभिनव कले शुखसाध्य सूक्ष्मो ब्रह्म ॥ (चरक) । तुकु—ज
बाल कृत्तु । चरक में भी लिहता है—जुर्गि प्रसन्न भूता ।
पश्चाद्विरपेति । स जातमूले मुण्णाति बलमात्युक्त हुते ॥ यथा यह
बलेन छियते तत्त्वसात्त । स एवत्प्रियदूरलु छिनेप्रियवल ॥

विभिन्नेवैत्ताकान्तः श्यावौष्टुः पिङ्की समः ।
अवेदनो निराक्षावो व्यणः शुद्ध इहोव्यते ॥१॥
कपोतवर्ष्यप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः ।
स्थिरार्थिपिटिकावन्तो रोहीति तमादिरेत् ॥१॥
रुद्धयत्मानमग्निधमशूनमरुजं व्यष्टम् ।
त्वक्सवर्णं समतेलं सम्यग्मूळं विनिर्दिशेत् ॥१॥

जो व्यण तीनों दोषों से निर्मूल है, जिसके किनारे व
(श्याव) रस के हैं, जो सूक्ष्म मांसाकूर तुक्त हो गया है, जिस
तल सम है, जिसमें बैद्यन और श्वाव अत्यल्प होता है, व
युद्ध कहलाता है ॥१॥ जिस व्यण का वर्ण कपोत के समा-
पांडुभूत होता है, जिसमें आर्द्धा नहीं होती, जो यिनि
और सूक्ष्म शूद्ध व्याव से तुक्त होता है, वह भर रहा है ऐसे
समझना धाहिये ॥१॥ जिसका सुंह भरकर साफ हो गय
हो, जिसमें मांस की गाँड़ें न हों, जिसमें सूजन और पीड़
हो, जिसका रंग चारों ओर की त्वचा के रंग से नियं
जाय, जो सापां हो, उम्मनो ठीक ठीक भरा हुआ व्यण समझन
चाहिये ॥१॥

यत्कठ्य—स्व गोथ उत्तम होने के पश्चात् विर्विन्दे
ने समय से पूर्णतया रुद्ध होने के समय तक तीन अवस्थाओं
में विभक्त किया जाता है । अर्थात् प्रयोक्त व्यण की तीन
अवस्थाएँ होती हैं । प्रथम अवस्था को तुक्त अवस्था या तुक्त
व्यण की अवस्था बहते हैं । इस अवस्था का वर्णन वाईत्ये
अध्याय के छोटे शूद्ध में 'तत्त्विमृग' इत्यादि से किया गया

माधवनिदान में इसी अवस्था का संक्षेप में वर्णन किया पूर्ति: पूयातिदुयासूक्तानुसंगी चिरस्थितिः । दुयो ब्रोडिति-दे: शुद्धिलगविपर्ययः ॥ अंगेजी में इस अवस्था को 'अल्प-प्रापर या एक्स्टेनशन स्टेज' (Stage of ulceration per or extension) कहते हैं । इस अवस्था में दोषों ग्रावल्य होता है, धातुओं का नाश होता है, वर्ण में पूर्य इत्यादि उपस्थित होते हैं, दुर्गंधयुक्त श्वाय होता है, वर्णांष और शोथयुक्त होते हैं, वर्ण के चारों ओर का भाग भी और शोथयुक्त होता है और उसका तल निचले धातुओं चिपका हुआ रहता है । हितीय अवस्था में वर्ण शुद्ध है । उसका लक्षण ऊपर १७ वें श्लोक में वर्णित किया है । ऐसिकित्सास्थान के पहले अध्याय में भी उसका लक्षण है—जिहातलामो चृदुः लिख्यः फल्गो विगतवेशः गुन्यवरिधितो ल्लावधेति द्रुदी व्रण इति । चरक में इसका लक्षण ऐसा ग है—नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिश्वावी न चातिरक्त । न सक्तो न चोतंगी शुद्धो रोप्यः परं ब्रणः ॥ इस शुद्धावस्था को जी में 'स्टेज आफ ट्रान्सीशन' (Stage of transition) तोहते हैं । इस अवस्था में दोषों का प्रावल्य नष्ट होता है और अनिक धातुओं का नाश बंद होकर व्रण के रौपण की तैयारी ने लगती है । इसलिये इसमें पूर्तिमासादि वस्तुओं (Sloughs) का निकलना तथा दुर्गंधयुक्त पूर्य और दुष्ट रक्त का क्लूलनी बंद होकर थोड़ा लाल रंग का पानी निकलता है, ए की सुर्वी कम होकर वह गुलाबी रंग का होता है और इच्छ तथा स्वस्थ दिखाई देता है । उसके तल से, छोटे हैं मांसांकुर या पिटकाएँ (Granulations) उतारे गती हैं, जो उत्तरोत्तर आकार और संस्पर्श में बहुती जाती है । हितीय अवस्था में वर्ण का रोहण प्रारंभ होता है । इस अवस्था का वर्णन श्लोक १८ में किया गया है । इस अवस्था जो 'स्टेज आफ रीपेशर' (Stage of repair) कहते हैं । इसमें रोहणाधातु (Granulation tissue) अधिक बनती है और सारे तल पर छा जाती है । पृष्ठभाग सृदुः, किंचित् निष्ठमध्य, लाल और वेदना से रहित होता है । दूसे से रक्त निकलता है, परन्तु शीघ्र नहीं निकलता । वर्ण के चारों ओर का भाग शोथ रहित हो जाता है, किनारे कपोतवर्ण यानि भैत, नील और रुक्तवर्ण के तथा स्वस्थ दिखाई देते हैं । ये तीन अवस्थाएँ वृद्धा स्वतन्त्र होती हैं और प्रत्येक वर्ण क्रम से इन तीन अवस्थाओं में से होता हुआ रुद्ध हो जाता है । परन्तु वर्ण यदि वृद्ध होत विस्तृत हो तो पुक ही समय वर्ण के भिन्न भिन्न स्थानों में तीनों अवस्थाओं का दरीन हो सकता है । रुद्धावस्था में वर्ण के नये उत्पन्न हुए रोहण धातु का परिवर्तन तल से तंतुजालक धातु (Fibrocicatricial tissue) में होकर उस पर एक अत्यंत पतला त्वचा का पत्ते (त्वक्सर्वण) बन जाता है । यही वर्ण वर्तु है । इसका वर्णन २१ वें अध्याय के ३१ वें श्लोक के वक्तव्य में पीछे किया गया है । वर्णों की परीक्षा करते समय निष्ठ वार्तों को ध्यानपूर्वक देखना चाहिये । १ अधोभाग या तल (Base), २ पृष्ठभाग (Surface), ३ लाल, ४ वर्णांष (Edges), ५ वर्णान्त (Margins), ६ वर्ण के चारों ओर की धातु, ७ वर्ण के स्थान ।

दोषप्रकोपाद् व्यायामादभिघातादजीर्णतः ।
हर्षात् क्रोधाद्व्याद्वाऽपि व्रणो रुद्धोऽपि दीर्घते ॥२०॥
इति सुश्रुतमेहितायां सूत्रस्थाने रुत्याकृत्यविभिन्नाम
व्रयोविशेषोऽध्यायः ॥२१॥

(वातादि) दोषों के प्रकोप से, परिश्रम से, चोट लग जाने से, अंगीर्ण से, हर्ष से, क्रोध से, अथवा भय से अच्छा हुआ वर्ण फिर फट जाया करता है ॥२०॥

वक्तव्य—वर्ण वस्त्रा हो जाने पर भी कुछ काल तक इन वार्तों से परेहज रखना चाहिये । इसी लिये पीछे दठे अध्याय में लिखा है—स्टेडप्लार्जीर्णन्यायामन्यवायादीन् विवर्जयेत् । हर्ष दोषं भयं चापि यावरत्यैर्योऽप्संभवात् ।

इति भास्तुरसर्मणा गीविन्दात्मजेन विरचितायामायुवेदरहस्यदीपिकाया
सुश्रुतभाषादीकायां रुत्याकृत्यविभिन्नाम व्रयोविशेषोऽध्यायः ॥२२॥

चतुर्विशतितमोऽध्यायः ।

वथातो व्याधिसमुद्देशीयमध्यायं व्याख्या-स्थामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अय वहीं से व्याधिसमुद्देशीय अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

दस्त्राद्य—व्याधिसमुद्देशीय—व्याधीना समासेन संक्षेपेणिष्टः कथनम्, तदपिष्टत्य कृतोऽध्यायः । समासकथनमुद्देशः । (तन्त्रयुक्ति अध्याय) । जिसमें समस्त व्याधियों का संक्षेप से कथन किया गया है, वह अध्याय ।

द्विविधास्तु व्याधयः—शस्यसाध्याः, स्नेहादि-क्रियासाध्याश्च । तत्र शस्यसाध्येषु स्नेहादिक्रिया न प्रतिविध्यते; स्नेहादिक्रियासाध्येषु शब्दकर्म न क्रियते ॥२॥

व्याधियां दो प्रकार की हैं—शस्यसाध्य और स्नेहादिक्रियासाध्य । उनमें से शस्यसाध्य व्याधियों में स्नेहादि क्रियाएँ निषिद्ध नहीं होतीं, (पंतु) स्नेहादि क्रियासाध्य व्याधियों में शब्दकर्म नहीं किया जा सकता ॥२॥

वक्तव्य—शस्यसाध्य—शस्यानुभास्त्र प्रणिधानसाध्य—शस्यप्रणिधानं पुनर्लेनमेदनव्यधनदारणलेनवात्प्राटनप्रच्छन्तीसीवनै-पणक्षारज्ञलैकतश्चेति । (चरक) । स्नेहादिक्रियासाध्य—अन्तः-परिमार्जन यद्हिःपरिमार्जनसाध्य—तत्रान्तःपरिमार्जन यदन्तः शरीर-मनुभविश्वैष्यमाहरजातव्याधीन् प्रमाणिः; यत्पुनर्वद्हिःपर्पर्णामशित्याभ्यन्-स्वेदप्रदेहपरियोगमर्दनाद्यरामयन्, प्रमाणिः तद्हिःपरिमार्जनम् । (चरक) । न प्रतिविध्यते—शस्यसाध्य रोगों में स्नेहादि क्रियाएँ कदापि भी विलुप्त नहीं हो सकतीं, बल्कि उपकारक होती हैं । कई बार ऐसा भी होता है कि केवल स्नेहादि क्रियाओं द्वारा शस्यसाध्य रोग आम हो जाते हैं । यथा—विद्विष और शोध स्वेद से बैठ जाते हैं या विना चीरा लगाये फूट जाते हैं; आन्त्रपुल्क्षोथ बाह्य स्वेद और उष्ण वस्त्र से ठीक हो जाता है; वर्णान्तवक्षारादि के सेवन से पथरी फूट जाती है; विरेचन से उद्रस्थ जल नष्ट होता है; सूर्य के सेवन से अर्ध

ऐड जाता है, अट्रोपिन (Atropine) की सुई लगाने से विषापित आन्त्राइडि (Strangulated hernia) पाराहित होकर दबाने पर उद्र के भीतर समा जाती है। सजेव में स्नेहादि क्रियाएँ कहीं शब्द का कार्य करती हैं, कहीं शब्द क्रिया में सहायता करती हैं, परन्तु किसी भी अवस्था में नियन्त्र नहीं होती। राशरक्त न किये—स्नेहादिक्रियासाध्य रोगों में शब्द कर्म न उनका कार्य कर सकता है, न उनकी सहायता दे सकता है, इसलिये इन रोगों के लिये शस्त्रकर्म बेकार है।

अस्मिन् पुनः शाले सर्वतत्त्वसामान्यात् सर्वेषां व्याधीनां यथास्थूलमवरोधं क्रियते । प्रागमिहितं 'तदुःखसंयोग व्याधय' इति । तद्युक्तं विविधम्—आप्तारिमक्रम्, आधिमौतिक्रम्, आधिदैविकमिति ॥३॥

इस सुश्रुतनन्त्र में सर्वतत्त्व समानता होने से सभी व्याधियों का स्थूल रूप से समाह किया जाता है। यहले ही कह चुके हैं कि 'मनुष्य की जिनकासेवा दुःख देता है ये रोग हैं'। वह दुर्लभ आप्तारिम, आधिमौतिक और आधिदैविक करके तीन प्रकार का होता है ॥३॥

चतुर्थ—सामान्य—साकल्य या समाहि । सुश्रुताहिता व्याधाशब्द का प्रयोग होने पर भी उसमें आयुर्वेद के विकिष्यादि आठों भयों का साकल्य से (सर्वतत्त्वसामान्यात्) विवार क्रिया गया है। इसलिये व्याधियों का समाह इसमें होना उचित तथा आवश्यक भी है। व्याधकूल—विशेष विलास न करके स्थूल इति से । प्रागमिहितम्—प्रथम अथवाय के २१वें सूत्र में (पृष्ठ आठ देखी) । आप्तारिम—आत्मन्यष्टि भयाश्वम्, तत् ग्रवाण्यादिक्रम । आप्तारिम से समनवक्त आप्तारुपक एवं महाभूताल्यक विकिष्याधार परीत यहाँ अभिप्रेत है—वैतानाशतु (आराम) एवेक सूत्र उपलक्षण । (एक) । एवंग्रहाभूताल्यरितिसमाप्त पुरुष । (सुश्रुत) । ऐसे पुरुष में उत्पत्त हुए विकार, अपौरुष वायोग्राहि के सिवाय केवल परीतात विरोपों से और मात्रासिक उत्तर और तन इनमें उत्पत्त हुए विकार । अधिमौतिक—भूतेपिष्टकृश्येष्वप्तवर्ती तद् । मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीखु इत्यादि भूतों के कारण उत्पत्त हुए विकार । आधिदैविक—देवेष्वधिकृत्य व्याधर्त्ते तद् । देवता, गंधर्व, यज्ञ, राजस इत्यादि के कारण उत्पत्त हुए विकार ।

ततु सप्तविधे व्याधावुपनिषत्ति । ते पुनः सप्तविधा व्याधय, तद्यथा—आदिवलप्रवृत्ता, जन्मपलप्रवृत्ता, दोषपलप्रवृत्ता, संघातपलप्रवृत्ता, कालपलप्रवृत्ता, दैषपलप्रवृत्ता, स्वभावपलप्रवृत्ता इति ॥४॥

वह दुर्लभ तीन प्रकार की व्याधियों के रूप में आकर पहता है। वह सात प्रकार की व्याधियाँ इस प्रकार होती हैं—१ आदिवलप्रवृत्त, २ जन्मपलप्रवृत्त, ३ दोषपलप्रवृत्त, ४ संघातपलप्रवृत्त, ५ कालपलप्रवृत्त, ६ दैषपलप्रवृत्त, और ७ स्वभावपलप्रवृत्त ॥४॥

तत्रादिवलप्रवृत्ता ये शुक्रयोगितदोषान्व कुष्ठार्थःप्रभृतयः; तेऽपि द्विविधा—मातृज पितृजात्म । जन्मपलप्रवृत्ता ये मातृप्रवृत्तात् प जात्यन्धवधिरमूकमिनिवायामनप्रभृतयो तेऽपि द्विविधा रसकृता, दौहृदपचारहतात् दोषपलप्रवृत्ता य आत्मसमुन्यन्ना मिथ्यादाराच कृतात्म, तेऽपि द्विविधा—आमाशयसमुत्थ पकाशयसमुत्थात् । पुनश्च द्विविधा—शारी मानसात्म । त एते आध्यात्मिका ॥५॥

कुष्ठ अर्थ प्रस्तुत जी व्याधियाँ छुकगौणित दोरों से ड होती हैं आदिवलप्रवृत्त (कहलाती) हैं। किर भी दो प की होती है—माता के रजोदोष से हुई और पिता के दोष से हुई। पहुँच, जन्मांश, बहरा, गूणा, हकला व्याधियों की व्याधियाँ माता के मिथ्यादारात्मार से ड होती हैं वह जन्मपलप्रवृत्त (कहलाती) हैं। किर भी प्रकार की होती हैं, रसकृत और दौहृदावमाननामनित। व्याधियों के उपद्रव स्वस्प में तथा मिथ्यादारात्मार से व्याधियाँ उत्पत्त होती हैं वह दोषपलप्रवृत्त (कहलाती) वह दो प्रकार की हैं, आमाशय से उत्पत्त हुई और पका से उत्पत्त हुई। किर भी दो प्रकार की होती हैं, यारी और मानसिक। अब तक वर्णन की हुई यह (आदिवलपल जन्मपलप्रवृत्त और दोषपलप्रवृत्त) व्याधियाँ आधारी (यारी की) हैं ॥५॥

यत्कथ—आदिवलप्रवृत्त—सप्तविधों की उत्पत्ति का अ कारण जो उपर्युक्त के धीर्य का जीवाणु (Spermatozoa) और सी का बीज (Ova) उनके दोरों के बल से उत्पत्त ! व्याधियाँ इन व्याधियों को अपेक्षी में 'हीरीटेटरी' (Heterotitary) कहते हैं। इस विभाग में उन व्याधियों का समान होता है जो लीलुरप का सयोग होने के पूर्व उसमें उपर्युक्त दोरों से उत्पत्त होती है। माता के बीज में उसके त उनके पूर्वजों के गुणदोष उपस्थित रहते हैं। पिता के द में उसके तथा उसके पूर्वजों के गुणदोष उपस्थित रहते हैं। इस बीज का वर्णन वक्षयागिन्द्र घारु (शारीर सूत्र २३) की दीका में इस प्रकार करते हैं—मनुष्येष्व प्रयत्नाद्वाग्नामाग्नुतापालक स्वमद्वा प्रत्ययमसुरायस्पुत्रनकर्त् वीन निर्देष्य होने से उससे उत्पत्त होने कासी संतति निर्देष्य होती है। इसलिये स्वाध्य संतति निर्माण करने इन्द्राजालने धारों की विवाहवद हीने के पूर्व अपने महस्ता व तथा उसके कृत के स्वस्प का विपार करना परामर्श है। अस्तमं प्रार्थित काल से भारतवर्ष में हम प्रिय का विष होना था, और आज वैज्ञानिक अन्वेषण होने पर भी प्रार्थित प्रश्नाली गारुद ग्रन्थालिङ्ग दुही है। इस वात निश्चय निर्दृष्टि प्राचीनी और अवौकील उदराणी से इह होता है—पूर्वान्धवधिकों स्वास्थ्याद्वारा अनुभूति होती है। अर्थात् व्याधियों की व्याधियाँ उत्पत्त होती हैं। अर्थात् व्याधियों की व्याधियाँ उत्पत्त होती हैं। इन्द्रियों न मनसात्मीयेष्वनकर्त् तप्तविधार्ण भवतुत्तम् ॥

रौप्रैव उगुण्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः । यत्नात् परीक्षितः पुंस्त्वे युवा शीमान् जनप्रियः ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति) । अथ खलु पुमानेक-
प्रियोनिहृदेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह शारीर १) । A man or
woman who intends marrying is now more than justified in carefully examining the, personal and
medical histories of the families of his or her intended mate (*Preventive Medicine and Hygiene*
by Rosenau) परंतु निर्दोषं वृजयुक्तं द्वा व्यक्तिगों का मिलना
परम कठिन है, इसलिये कम से कम यह देखना चाहिये कि
दोनों में दोनों की समानता न हो । संतति में संचार करने
वाले रोगों से पीड़ित माता-पिता के सब सन्तान सम्बोधी
होते हैं । ऐसे समदोषी श्वी-पुरुष के संयोग से होने वाली सब
संतति में उक्त दोषों का उल्कर्प होता है, यह शास्त्र और प्रयोग
से सिद्ध हुआ है । इसलिये अत्यंत प्राचीन काल से सगोन्न
और सपिण्ड (Cosanguineous) विवाह शास्त्रविलङ्घ
माने गये हैं—असपिण्डा च या मातुरमोत्रा च या पितुः । सा
प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ (मनुस्मृति) । इस प्रकार
माता-पिता के शुक्ररोगिण दोषों के कारण संतति में प्रवैश
करने वाले व्याधियों को आदिवलप्रवृत्त, संचारी (याज्ञवल्क्य),
वैल्ज (चरक), कुलोद्वध और सहज (वारभट), प्रकृति-
प्रभव (भेल) इत्यादि नाम दिये गये हैं । इस आदिवल-
प्रवृत्त रोगों के नाम अब बतलाते हैं—कुर्षाणःप्रभृतयः—कुष्ठ और
अर्थ के अतिरिक्त आयुर्वेद में राजयक्षमा, मधुमेह, श्विन्न और
अपस्मार आदिवलप्रवृत्त माने गये हैं, और इसके अनुसार
स्मृति में भी विवाह के लिये इन रोगों से पीड़ित कुल निविद्ध
हैं—दौतानि कुलानि परिवर्जयेत् । हीनक्रिय निष्पुरुणं निश्छदो रोग-
रार्थस्तम् । क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्चिकित्सिकुलानि च ॥ (मनुस्मृति) ।
कुष्ठ—पाश्चात्य वैज्ञानिक इन आदिवलप्रवृत्त रोगों के संबंध
में बहुत कुछ अन्वेषण करके इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि कोई
भी जीवाणुजन्य रोग आदिवलप्रवृत्त नहीं होता । कुष्ठ
जीवाणुजन्य रोग है । इसके जीवाणु का विचार कुष्ठनिदान
में किया गया है । अर्थात् कुष्ठ आदिवलप्रवृत्त नहीं हो सकता
है । अन्वेषण से यह सिद्ध हुआ है कि कुष्ठित मातां-पिता के
घनिष्ठ सम्बन्ध से यह रोग उन की सन्तान में संचार करता
है । यदि जन्म के पश्चात् शीघ्र उनको माता-पिता से पृथक्
करके दूसरे किसी के पास रख दिया जाय तो वे उत्तर काल
में कुष्ठ से पीड़ित नहीं होते । It is now generally
recognised that hereditary transmission of the
disease has not been proved to occur, and,
although it is a remote possibility in rare cases,
it is of no practical importance. Moreover, in
India hundreds of children who have been
separated from their parents at birth have
remained healthy to the second generation, so
that we may safely discard the paralysing theory
of hereditary transmission (*Tropical medicine*
by Rogers and Megaw)

राजयक्षमा रोग भी जीवाणुजन्य है, और पाश्चात्य
वैज्ञानिक उसको कुष्ठ की भाँति आदिवलप्रवृत्त न
समझकर राजयक्षमी माता-पिता के घनिष्ठ सम्बन्ध
से होने वाला रोग मानते हैं । यथापि राजयक्षमा
और कुष्ठ रोग आदिवलप्रवृत्त कहने का शास्त्रीय रिवाज
पाश्चात्य वैद्यक में नहीं है तथापि ये रोग खानदानी होते हैं
और कुष्ठी तथा राजयक्षमी माता-पिता की संतति में कुष्ठ और
राजयक्षमा के लिये औरतों की अपेक्षा एक विशेष प्रकार की
सहजानुकूलता (An inherited predisposition to the
disease or diathesis) हुआ करती है । यह पाश्चात्य
वैज्ञानिकों को भी मानना पढ़ता है । यह सहजानुकूलता कैसे
होती है, इसके सम्बन्ध में उनको अभी तक निश्चित परिशान
नहीं है—

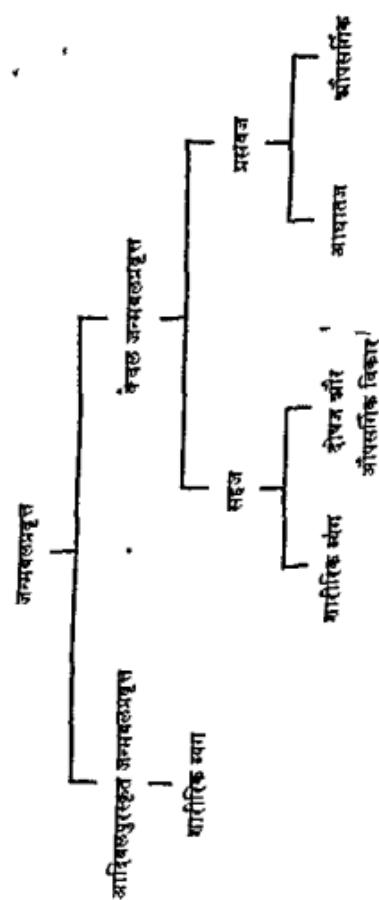
While the disease itself may not be transmitted, a tendency to a disease, Known as a diathesis, may be transmitted through successive generations. The reason that tuberculosis runs in a family is twofold. (1) An inherited predisposition to the disease, and (2) increased chances of infection. Just what the tendency or predisposition is, is not well understood. (*Preventive Medicine and Hygiene by Rosenau.*) अर्थ—
पाश्चात्य वैज्ञानिक अर्थ को आदिवलप्रवृत्त नहीं मानते ।
परंतु यह उनका कथन असत्य है, क्योंकि अर्थ में जिस प्रकार
की सिराविकृति (जिसको Varix or Varicosity कहते हैं) होती है, उस प्रकार की सिराविकृति उत्पन्न होने के लिये
सिराओं की आदिवलप्रवृत्त रचना विशेषता और प्राचीर-
दीर्घवैल ही प्रधान कारण होता है—

Piles consist in a varicose condition of the veins surrounding the anus and lower inch or two of the rectum. Varix is due, in the first place, to some inherited weakness of the venous wall or irregularity in the arrangement of the valves, though possibly this produces no effect until some exciting cause comes into action and throws strain on the circulation. The facts that varix sometimes appears quite early in life and without adequate cause and often involves the same vein in different members of the family, confirm this statement (Inherited weakness of the venous walls). *Manual of Surgery by Rose and carless.*

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि अर्थ के सम्बन्ध में आयुर्वेद
का कथन विलक्षुल सत्य है । श्विन्, अपस्मार और मधुमेह
पाश्चात्य अन्वेषण के अनुसार भी आदिवलप्रवृत्त सिद्ध हुए
हैं । इन रोगों के अतिरिक्त निम्न रोगों में भी आदिवलप्रवृत्ति
होती है । यथा—कैन्सर, मेदोद्वेद, हीमोफायलिआ (Haemophilia रक्तपिण्ड का एक प्रकार), दधिसूक्ष्मा, ग्राहक-

अस्थिम्बारता (Frigilitas ossium), अपीड़िमेंद्रक, छातन (Eczema) शीतपिण्ड व्यास, तृणपुष्पाल्य ज्वर (Hay fever), नासाक्षात्, हटिंगटन्स कोरिआ (Huntington's chorea), मस्तिष्कदर्दविद्युत, उन्माद के कई प्रकार, अपतन्त्रक (Hysteria), अदूरदृष्टि रगान्धता, मोतियाविन्द, रक्तभा राधिक्य (High blood pressure) अक्ष-व्यायी व्याधियों के दोष के कारण उत्पन्न होने वाली स्थूलता, कृयता और मेदोदृष्टि, जामाशयिक घथा हृत्यादि अनेक रोग तथा कठा होंठ फटा तालु, अगुलियों का जुड़ा रहना, अगुलियों का अधिक या कम होना, पैरों का मुड़ा हुआ और देढ़ा होना हृत्यादि शारीरिक घथा । हन रोगों में से कुछ रोग प्रत्येक पीढ़ी की सतति में होते हैं । घथा—भोतियाविन्द । कुछ रोग एक दो पीढ़ी के बाद दिखाई देते हैं । घथा—बानरक । इस घवस्या को अटेविजम (Atavaam) कहते हैं । कुछ रोग केवल पुरुषों में ही होते हैं और उनकी कल्पा की पुरुष सतति में किंवित्साई देते हैं । परतु रोगी पुरुष के कल्पाएवं स्वर्य उस रोग से पीढ़ित नहीं होते । इस प्रकार के रोगों को लिंग सदृश (Sex limited) रोग कहते हैं । घथा—हीमोक्राप्टिलिपा, रंगान्धता हृत्यादि । चरक में अदिवलप्रवृत्त रोगों की उपस्थि के संबंध में लिखा है—यस घस्यावयवस्य तीजे तीजगां उपतामे भवति तस्म तस्यावयवस्य विकृतिस्पत्तयते ॥ (शारीर अ ३) । अन्मवलप्रवृत्त—नार्मवकान्ति के समय उत्पन्न हुई व्याधियाँ । यह व्याधिया दो प्रकार की होती हैं । (१) अस्वाभाविक वृद्धि—इसकी विकृताकार या घथा और शैयेजी में मालकार्मेन्द्रन या देहूलपर्मेटल पूर (Malformations or Developmental error) कहते हैं, और अस्वाभाविक वृद्धियुक्त गर्भ को विकृताकृति या वियोनिगर्भ और अप्रेशी में माल्टर (Monster) कहते हैं—वियोनिविकृताकारा जायने विष्टैमेल । (अटांगदृद्य) । संर्वेष्यकृष्णाङ्गविकृताकृत्यश्च ये । गर्भास्त्वेने त्रिपादीव देया पापकृता शूष्मा । (सुख्त) । ये विकृताकार कुछ आदिवलप्रवृत्त और कुछ केवल अन्मवलप्रवृत्त होकर कई प्रकार के होते हैं । घथा—आंगों की अधिकता (जैसे अगुलियों की स्थूला घीर से अधिक होना, शरीर की अस्थियक स्थूलता, जुटे गर्भ हृत्यादि), अंगों की कम कृदि होना (जैसे—कठा होंठ, फटा तालु, गुद्वार न हाना, शैयेजी की कमी हृत्यादि), अंगों का विपर्यास (जैसे हृदय और हींदा दक्षिणार्थ में और बहुत् वामार्थ में हृत्यादि), गर्भज घातुओं का शेष रहना हृत्यादि । (२) माता के उत्पर्णी से उत्पन्न हुए औपर्यांत्रिक रोग—घथा—आंग्रिक ज्वर, मसूरिका हृत्यादि । अन्नीपरस्परिक रोग—घथा तीव्र कालाला, पाण्डुरोग, सीम विष हृत्यादि । अथ तक बींगन किये सब रोगों को कान्गोनिटल (Congenital) कहते हैं । अन्मवलप्रवृत्त व्याधियों में जन्म अर्थात् प्रस्वप्त के समय आयात या उत्पर्णी से उत्पन्न हुई व्याधियों का भी समावेश हो सकता है । घथा—उत्पर्यांत्रिक (Cephal haematoma) अर्दित, नवाजात नेत्राभिम्बस्त्र हृत्यादि । इनको अंग्री में नेट्रल या पाइर्सुरीझ (Natal or Parturial) कहते हैं ।

अन्मवलप्रवृत्त व्याधियों का सर्वाकरण—



रम्मन—इस तथा विशेष प्रकार का अल्प निरन्तर संबन्ध करने से होने वाले विकार—मधुरनित्या ग्रेडिंग शूकवतिलूप वा, लवण्यनित्या शीतवस्त्रीपिण्ड श्वासित्यरीणिं वा, आम्लनित्या रक्त पिण्ड लवण्यत्रीणिं वा, कडुकनित्या दुर्बलमल्पद्वाकमनप्रव वा, तिक्कनित्या श्विण्यमल्पनुपचित वा, कणानित्या द्ववामानानिम्नुप वनित्य वा, मधुनित्या पिण्डानुमल्पस्यूनिमनविष्टवित्येत वा, शोशाद्वेषे विषा शार्करीणमदरणिं शनीवैहिण वा, यथव वस्य वस्य व्याधेनित्यन मुक्त तत्त्व सेमानात् चैती त्रिविमितिविकारद्वालमन्त्र जनति ॥ (चरक, शारीर अ ८) । दीर्घप्रचारकृत—गर्भ के भीती जीवन का असर होने से माता के मन में जी विषय काम नाएँ और ध्वनी उत्पन्न होती हैं, उनका विचार होने से उत्पन्न हुई व्याधियाँ । अर्थात् दीर्घप्रचारकृत में अद्विविक्त तथा अन्य प्रकार के मामलिक अधिकत के कारण उत्पन्न होने वाली सब व्याधियों समाविष्ट होती हैं । आयुर्वेद में इस विषय के संबंध में निम्न विचार प्रकट किये गये हैं—सदित्रा धौतु वान वान सोमूमिद्युति गर्भिणी । गर्भावास्त्रालालू भिग्नाद्युत्प दापयेत् ॥ सा आसादृहा पुन जनयेत् सुगुणानित्य ॥ अन्मदृहा गर्भ स्त्रेतामनि वा भद्रम् ॥ ऐसु वेष्टिद्रियेत् दीर्घे

निता । प्रजायेत सुतस्यार्तिस्तर्सिस्तर्सिस्तर्सिन्द्रिये ॥ (सुश्रुत) । अः प्रियहितैर्भव्यं भूत्यैश्च गर्भपृष्ठ । क्षीपशोकमयोदेवगवशद्विषया—। स्पृजेत् । मातृजै शस्य दृश्यं मातृश्च हृत्येन तत् । स बद्ध तेन या नेष्ट श्रद्धाविधारणम् ॥ देयमप्यहितं तस्मै हितोपहितमस्तकम् । विषाधात्रभैर्स्य विकृतिश्चनुतिरेव वा ॥ (अष्टांगहृदय) । दीहद् । का एक प्रकार है और यदि माता श्रद्धालु हो तो श्रद्धा विधात करने से उसके मन पर जो आधात होता है उससे स्य वालक में शारीरिक या मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं, यह उपर्युक्त उद्धरणों का संक्षिप्त तात्पर्य है । आयुनिक मान को भी मानना पड़ता है कि गर्भेवती स्त्री की भली मनःस्थिति का भला दुरा परिणाम गर्भ के शरीर और पर होता है—An impression upon the mother, any kind, acts upon the child. Children are in happy or miserable, according to the ape of their mothers during Pregnancy, just they are born healthy or diseased. The most extraordinary peculiarities are inflicted on children by some temporary condition of the other. There is abundant proof that this may tend to the body as well as mind. (Esoteric Anthropology by Dr. Nicholas) । माता की मनःथिति के कारण गर्भ में शारीरिक विकृति हो सकती है, इस धारण के पुष्ट्यर्थ नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं । ये उदाहरण 'लान्सेट' नामक प्रसिद्ध अंग्रेजी वैद्यक मासिक पत्र के धारापर सिविल सर्जन डॉ. सरकार ने मन्द्रास के अंटिसेटिक इम्फ मासिक पत्र में प्रसिद्ध किये थे । (१) एक गर्भेवती स्त्री एक खरगोश पाला था । एक दिन विद्युति ने उसपर हमला र उसके पैर को काट लिया । वह बहुत दिनों तक उस धारणी मरहस पट्टी करती थी । प्रसूत होने पर देखा तो उसके लालक के दोनों पैर विकृत थे । एक पैर में दो अंगुलियाँ, दूसरे तीन अंगुलियाँ भी और दोनों में एकी भी नहीं । (२) एक केसान ने एक सूअर पाला था । वह सूअर धीमार होने से केसान ने उसके कान के पास फस्त खोलकर खून निकाला । केसान की स्त्री गर्भेवती थी । उसने यह शर्कर्कर्म देखा । प्रसूत होने पर देखा तो उसके बच्चे में कान की पाली अरण्यी । (३) एक गर्भेवती स्त्री पर एक कुत्ते ने हमला किया । वह स्त्री किसी तरह से बच गई, परंतु कुत्ते ने उसकी पीठ और जांध को घसीट लिया । उस दिन से वह स्त्री सोचती थी कि उसके गर्भ में जरूर कुछ विकृति होगी । प्रसूत होने पर देखा तो बच्चे की पीठ और जांध पर कुत्ते के रंग का धब्बा और बाल हैं । इत्यादि । इससे यह स्पष्ट होगा कि श्रद्धाविधात या अन्य मानसिक आधात के कारण गर्भविकृति की आयुर्वेद की कल्पना असंभवनीय नहीं है । आत्मकामुक्षमाः—रोग के उपमध्य स्वरूप में उत्पन्न हुआ । इसको अप्राप्तान, अनुबंध या अस्तन्त्र व्याधि कहते हैं । प्रधान रोग का जो कारण होता है, वही कारण अप्रधान का भी होता है । अर्थात् उपमध्य रूप रोग का भी कारण त्रिदोष ही होते हैं । 'निदानार्थकरो रोगो रोगस्यामुपलभ्यते' । इसकी टीका में 'चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—

व्याधिना व्याधन्ते क्रियमाणेऽपि मूलभूतज्ञापिजनकं एव हेतुव्याधिजनेऽपि व्याधौ । (चरकनिदान अ. ८) । दीपबलप्रवृत्ता—वातादि शारीर दोषों के कारण तथा रज और तम इन मानसिक दोषों के कारण उत्पन्न हुए विकार—वायुः पित्त कफश्चेति शारीरो दोपसम्बन्धः । मानसः पुनरुद्दियो रजश्च तम एव च ॥ (चरक) ।

संघातवलप्रवृत्ताय आगन्तवो दुर्चलस्य घलवद्विग्रहात्; तेऽपि द्विविधाः—शस्त्रकृता, व्यालकृतास्थ । एते आधिभौतिकाः ॥६॥

जो आगन्तुक रोग दुर्घट को यथावान के साथ लड़ते (आदि) से होते हैं, वे संघातवलप्रवृत्त (कहलाते) हैं । वे भी दो प्रकार के हैं—शस्त्रकृत और व्यालकृत । ये (दोनों प्रकार के रोग) वायिनीतिक हैं ॥६॥

चक्रव्यु—संघातवलप्रवृत्त—आधात, प्रदार, पीदन इत्यादि के दल से उत्पन्न हुए रोग । अंग्रेजी में संघातवलप्रवृत्त को (Due to mechanical cause) कह सकते हैं । संघातगल—(Mechanical Cause) । आगन्तवो दुर्वलस्य वलवद्विग्रहात्—आगन्तुक रोग अनेक कारणों से होते हैं—ये भूतविपाच्यस्मि-संप्रशारादिसंभवाः । नृगामागन्तवो रोगाः । (चरक सूत्र. अ. ८) । इनमें से केवल संप्रशारादि संभव रोग । शस्त्रकृता—मनुष्यहृत लाठी, तीर, तरवार, पथर इत्यादि शख्सों द्वारा हुए । व्यालकृता—ज्याघ्रिसिंहादि फूर पछ, उन्मत्त शाथी, सर्प इत्यादि पशुओं के दांत, नख, श्रंग इत्यादि से उत्पन्न हुए रोग । इनमें पतनप्रपीडनादि का भी समावेश करना चाहिये ।

कालबलप्रवृत्ताय ये श्रीतोष्णवातवर्पाप्रभृति-निमित्ताः; तेऽपि द्विविधाः—व्यापञ्चर्तुकृताय अव्यापश्चर्तुकृतास्थ । दैवबलप्रवृत्ताय ये दैवद्रोहादिभिश्चक्षो अथर्वणकृताउपसर्गजास्थ; तेऽपि द्विविधाः—विद्युदशनिकृताः, पिशाचादिकृतास्थ; पुनस्त्रिविधिः—संसर्गजा, आकस्मिकास्थ । स्वभावबलप्रवृत्ताः क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः; तेऽपि द्विविधाः—कालकृता, अकालकृतास्थ; तज्र परिद्रश्यकृताः कालकृताः, अपरिद्रश्यकृता अकालकृताः । एते आधिदैविकाः । अत्र सर्वब्याध्यवरोधः ॥७॥

जो सर्दी, गरमी, धायु, धर्षा इत्यादि कारणों से होते हैं वे कालबलप्रवृत्त (कहलाते) हैं । वे भी दो प्रकार के हैं—विकृत अस्तुओं के कारण उत्पन्न हुए और प्राकृत अस्तुओं के कारण उत्पन्न हुए । देव, गुरु, विश्व इत्यादि का अभिद्रोह करने के कारण उनके असिराशप से उत्पन्न हुए, अथर्ववेद (के मारणात्मक मन्त्रों के प्रयोग) से उत्पन्न हुए और उपर्याज जी रोग होते हैं वे दैवबलप्रवृत्त (कहलाते) हैं । वे भी प्रकार के हैं—विद्युत् और उल्कापात से हुए तथा पिशाचादि से हुए । किंव भी दो प्रकार के होते हैं—संसर्गज और आकस्मिक । क्षुधा, लूप, वार्षिक्य, मृत्यु, निद्रा इत्यादि स्वभावबलप्रवृत्त होते हैं । वे भी दो प्रकार हैं—कालकृत और अकालकृत । इनमें से शारीर की योग्य रक्ता करने पर (योग्य समय

प्रश्नक पोषक पदार्थों की कमी हल्लादि का समावेश होता । यद्यपि उपर्युक्त सात प्रकारों में इसका प्रत्यक्ष उल्लेख ही है, तथापि ये सब मिथ्याहार के उदाहरण हैं । इसलिये पका समावेश 'द्रव्यवलग्नवृत्त' में होता है । (४) मनुष्यो-जीवी जीव (Parasites)—इनमें जात और अज्ञान वाणु, कृमि (Worms) और कीटों का समावेश होता । जीवाणु अत्यंत मूळम होते हैं, और उनका दृश्यन सूक्ष्म-शिक्षक के स्थिवाच नहीं होता । कुछ जीवाणु सूक्ष्मशिक्षक के तरे परे हैं । आयुर्वेद के महर्षि इन जीवाणुओं के तथा उनकी गोत्याद्वक गत्ति के माथ पृणी परिचित थे, परन्तु प्राचीन ल्पना के अनुमार मंक्रामक रोगों की उत्पत्ति में द्रव्यिक गत्ति ग्रथान कारण मानते थे । यह फक्त परिभाषा का है, वस्तुस्थिति का नहीं है । सन् १९१७-१८ में एन्फ्रूण्ड्जा की जो संसारव्यापी महामारी आई थी, उसके कारणों का गत्योपतनक उत्तर आज का विज्ञान भी नहीं दे सकता । इसी अवश्या में यदि कोई श्रद्धालु मनुष्य उम महामारी को द्रव्यवलग्नवृत्त मानते तो उनमें कोई ग्रैवज्ञानिक वात नहीं है । अतः इस कारण को द्रव्यवलग्नवृत्त में समावेश करना चाहिये । उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि सुश्रुत में रोगों के कारणों का जो सप्तविध (वास्तविक पठ्ठिध) वर्गीकरण दिया है वह बहुत उत्तम और व्यापक है तथा पाश्चात्य वर्गीकरण के साथ मिलता है । नीचे दोनों का तुलनात्मक नकाशा दिया जाता है ।

रोगों का वर्गीकरण

प्राच्य		प्रतीच्य	
१ आदिवलग्नवृत्त		१ Hereditay	
२ जन्मवलग्नवृत्त		२ Congenital	
३ दोषवलग्नवृत्त		३ Chemical	
४ संवातवलग्नवृत्त	क्रम में	४ Mechanical	
५ कालवलग्नवृत्त		५ Physical	
६ द्रव्यवलग्नवृत्त		६ Parasitic	

आदिगंसेग्रह में भी सुश्रुत के अनुसार रोगों के सात प्रकार किये हैं—मपविधा खलु रोगा भवन्ति । मह-र्गभ-जात-पीडा-काल-प्रभाव-स्वभावजाः । इनके अर्थ सुश्रुतकमानुसार हैं ।

सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं, तत्त्वं तत्त्वं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यन्ते, एवमेव कृत्वं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते । दोषधातुमलसंसर्गदायतनविशेषान्नि-मित्ततश्वैषां विकेलपः । दोषदूषितेष्वत्यर्थं धातुषु

विकल्पा भवन्ति ।

संज्ञा कियते रसज्जोऽयं, शोणितज्जोऽयं, मांसज्जोऽयं, मेदोज्जोऽयं, अस्थिज्जोऽयं, मज्जज्जोऽयं, शुक्रज्जोऽयं व्याधिरिति ॥८॥

(रोगों में) उन (वात, पित्त और कफ) के लक्षण होने के कारण, (उन लक्षणों के अनुमार चिकित्सा करने से रोगशान्ति स्प) फल प्रत्यक्ष होने के कारण, तथा शायाधार के कारण समस्त व्याधियों का मूल वात, पित्त और कफ ही (प्रतीत होता) है । जैसे कि विश्व के स्प में प्रकट हुए मात्रा के संपूर्ण विकारसमूह से सत्त्वगुण, रजगुण और तमोगुण पृथक नहीं होते, वैसे ही विविध रूप में प्रकट हुए समस्त विकारसमूह को न छोड़कर वात, पित्त और कफ होते हैं । दोपों, धातुओं और मलों के संयोग से, स्थानभेद में तथा निमित्तभेद से हृन (रोगों) के अनेक प्रकार होते हैं । दोपों से अल्पत दूषित हुए धातुओं की ही संज्ञा की जाती है कि यह व्याधि रसज है, रक्तज है, मांसज है, मेदोज है, अस्थिज है, मज्जज है और शुक्रज है ॥८॥

वक्तव्य—मूल—आदिकारण । रोगों के लिये विदोपेय का आदिकारणात्प्रत्यक्षादि चतुर्विध प्रमाणाण द्वारा यहाँ सिद्ध किया है । १ अनुमान—तद्दिग्गत्वात् । जिसमें वातादि दोपों के लक्षण न हों तथा जिसमें वातादि दोपों के लक्षणों के अतिरिक्त अन्य लक्षण हों ऐसा कोई भी रोग नहीं दिखाई देता; इसलिये कार्य कारण न्याय से यह कहा जा सकता है कि समस्त रोगों का आदि कारण विदोप है—कारणात्मविधायित्वात् कार्याणां तत्स्वभावता । इसी सिद्धान्त पर आगे ३५५० अध्याय में अज्ञात रोगों की चिकित्सा दोपानुसार करने के लिये लिखा है—अनुक्रमपि दोपाणां लिंब्वाधिमुपाचेरत् ॥ २ प्रत्यक्ष—दोपों के अनुसार लक्षण प्रकट होते हैं । उनको देखकर कार्य कारण भाव से विजृत दोपों का निर्णय करके जब चिकित्सा की जाती है तब रोग की शान्ति हो जाती है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है । आयुर्वेद के निदान पंचक में से उपर्याप्त द्व्यस प्रत्यक्ष प्रमाण के ऊपर अधिष्ठित है ।

यथा—स्नेहोण्मदनाभ्यावृयः प्रणश्येत् स वातिकः । (चरक, सूत्र, अ. १८) । ३ आगम—देव, ज्योतिष, उपनिषद्, योगशास्त्र और आयुर्वेद के विविध अंगों में भी रोगों का कारण विदोप ही माना गया है । यथा—विनो अश्विना दिव्यानि मेषजा त्रिः पार्विवानि त्रिं दत्तमद्वयः । ओमान शयोमभक्त्य दृष्टवे विधातु शम वहत शुभस्तीतः ॥ (ऋवेद) । विधातु वातपित्तश्लेष्मधातुव्यशमन-विषय सुख वहतम् । (सायणाचार्य भाष्य) । वैद्यां दौत्सुख्यवृहुर्द्विजप्रशसायाप्त्योद्युक्तिद्व्यसुर्विवरेसरमहीसौभाग्यसौख्याप्त्यः । हायोपासनकौशल मतिचयो धर्मक्रियासिद्धयः पापाणं श्रमवन्मान-मशुचः पीटा च धातुव्यात् ॥ (वराहमिहिर) । हृदयेभ्योन्तराम्बिरस्त्वयाते, पित्तपित्तस्याने, वायुवायुस्याने, हृदय प्राजापत्याकमात् । पित्तप्रस्पं कफस्यादकर । (गर्भोपनिषद्) । नाभिक्ते संयम कृत्वा काय-व्यूह विजानीयोद् । वातपित्तश्लेष्माणस्यो दोपः । धातुवः सप्त त्वचो-हितमांसस्त्वाच्चस्त्रिमज्जातुकाणि । पूर्वं पूर्वेषां वातमित्येष विनायाः । ('नाभिक्ते कायन्यूहज्जानम्' इस पर का व्यासभाष्य) । ४ उपमान—'यथा हि कृत्वं विकारजातम्' हृत्यादि । विकारजातम्—(१) प्रकृति से उपक्ष हुए सहदादि तेइस विकार—मूलप्रकृति-रविकृतिरहस्यः प्रकृतिरहस्यः त्वयित्वा भवति ।

ने विकल्प पुरुष : (सार्वकारिका) । (२) रोगसमूह—विकारी भावुदैपयम् । रोगसु दोषैपयम् ॥ विश्वसेण—(१) संरूप जगत् के स्वरूप में । (२) नानाकिधरुपेण । न अतिरिच्यन्ते—न पृथक् भवन्ति । अध्यतिरिच्य अपरिच्यज्ञय । सर्वो—सर्वोग । विकल्प—भेद । आयनन—स्थान । निमित्त—शाहाकारण—येनाहारविहारेण रोगाणामुद्भवो भवेत् । क्षयो वृद्धिश्च दोषाणां निदान हि तदुच्यते ॥ (चक्रसेन) । तेषां विकल्प भवन्ति—दोषादिः के कारण इन दोषों के असाध्य भेद होते हैं । जैसे—दोषों के कारण सर्वविधिसर्पे, धातुओं के कारण सर्वविधि कुछ, भल के कारण आनाह या अतिसार, स्थान के कारण हृदोग, मुखरोग, नेत्र रोग और निमित्त के कारण युत्पाद्य रोग, कोमउर, शोकातिसार, भयातिसार, कृमिज गिरिरोग, विषमदात्यय क्रोध च्वर हृत्यादि—त एवरप्रसिद्धेया भियमाना भवन्ति हि । लक्षणवैस्तु स्थानस्थानस्थानानभिः ॥ (चरक) । म एव कुपितो दोष समुद्यत्वान्विरोद्धे । यानान्तरामधेय विकारान् कुले बहून् ॥ (वायमट) । रसजोड़प्रिणि—यद्यपि रसज गम्द से रोग की उत्पत्ति रस से मालदूष होती है, तथापि वास्तव में वह रसस्थित दोष से होती है । अव्याहार में जिस धातु में दोष का अवश्यकन होता है उसका नाम पूर्तदर्शक की भाँति रोग के लिये दिया जाता है, परंतु धातु मलों की रोगाहृत्यकल कल्पना औराचारिक है । रोगकृत्य दोषों के अतिरिक्त और कहीं नहीं हो सकता—स्मादि-रोगु दोषेव अवाप समन्वित है । तज्जानित्युपचोरेण तानाहृत्यकल वद ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

तत्र, अद्याध्यादारोवकायिपाकाहृमर्द्यन्तरहृत्यास-
दृत्सिगौरेयहृत्याप्तुरोगमागांपेतोधकाश्येयैरस्याह-
सादाकालविलिपतिरुदृश्नप्रभृतयो रसदोषजा
विकारा ॥१॥

(रसज विकार)—उनमें अब्दोष, अरुचि, अजीणि, वदन में धीका, च्वर, हृषात, तृष्णि, भारीपन, हृदोग, पाण्डुरोग, स्नोतेवरोग, कृषात, मुख की रुचि में फक्क होना, घकान, योग्य काल के पहले शरीर पर झुरियां पड़ना और बाल सफेद होना हृत्यादि रसस्थ दोष के विकार हैं ॥१॥

यक्तदय—ज्ञानाभावाचेचक—ध्रुवाद्या मुखविहस्यादारस्या
भृत्यहरण भक्तवेद रसस्थनिष्ठा बहुते तु कुक्षविहै नाम
वहरत्तिभि भेद । (चक्रायिदत्त) । इहाम—मितली (Nausea) ।
तुक्ति—सैदैव येत भरा सा भालम होना—उद्ग्राहुदावपि भक्त
कोक्ता न जायने । (सुभूत) । (Sense of Satiety) ।
मागोपेतु—अन्न, मल, मूत्र हृत्यादि खोतसी के कार्य में
इकावट उपल्प होना ।

कुक्षविसर्पेष्ठिकामशकनीलिकातिलकालकन्य-
प्तुर्दयेष्ठुरुमासीहियदधिगुल्मयातरोयेणिताशोऽ-
हृत्याहृमर्द्यहृदरक्तपित्तस्प्रभृतयो रसदोषजा । हृद-
स्तुलमेद्योक्ताथ ॥१॥

(रसज विकार)—(मल प्रकार के) कुठ, विसर्प, विस्तोट मण्ड, भीसिका, तिलकालक, व्यथा, च्वर, इत्यत्तुल, धीका (की वृद्धि), विद्युषि, (रस) गुलम, बालरक, अर्ण, अवृद्ध, अम्लमर, रसप्रदर, रसस्ति हृत्यादि विकार तथा गुरुराक, मुखराक, और लिंगाराक रसस्थ दोष से होते हैं ॥१॥

अधिमांसार्वुदरशोऽधिजिङ्गोपजिङ्गोपकुशगल
शुरुरिद्विकालजीमांससंघातौषुप्रकोपागलगाङ्गपृष्ठ-
मालाप्रभृतयो मांसदोषजाः ॥१॥

(मांसज विकार)—अधिमांस, अर्डूद, अर्ण, अपिविहा-
उपजिङ्गा, उपकुश, गलद्वुषिका, अलजी, मांसस्थात, वै-
प्रकोप, गलगण्ड, गण्डमाला हृत्यादि मांसस्थ दोषज
विकार हैं ॥१॥

प्रनियद्विग्निगलगण्डार्वुदमेदोजौषुप्रकोपमुमु-
तिस्थौल्यातिस्थेदप्रभृतयो मेदोदोषजा ॥२॥

(मेदोद विकार)—मेदोजानिय, मेदोवृद्धि, गलगण्ड, अर्डू-
मेदोज ओषधकोष, मधुमेह, अतिस्थौल्य, अतिस्वेद इत्य-
मेदोजस्थित दोषों के विकार हैं ॥२॥

यक्तदय—मधुमेह मधुमेह धन्द से यहां सर्व प्रयोगीं
भी प्राप्त हो सकता है । क्षयोंकि सर्व प्रयोगों में मेदोदुहि प्रया
होती है—वहांके मेदोजात दूषियोगा । (चरक) । मधुमे-
ह धन्द का प्रयोग भी कभी कभी सर्वप्रयोगों के लिये हो सक-
है—मधुमेहाद तर्ह सर्वप्रयोग मधुमेहरियोगे च वर्दी, वथा इत्य-
सर्वतृण दृग्विरोधे च वर्तते । (चक्रायिदत्त) ।

अध्यस्थ्यधिदन्तस्थितोदयलकुनक्षप्रभृतयोऽ-
स्थिदोषजाः ॥३॥

(अस्पिविकार)—अध्यस्थि, अधिदन्त, अस्पितोद, अस्पि-
शूल, कुनक्ष इत्यादि अस्थिगत दोषों के विकार हैं ॥३॥

यक्तदय—अध्यस्थि—अस्थिय का अर्डूद । इसको (Eos-
tosia) या (osteoma) कहते हैं । अधिदन्त—दाँत का अर्डूद । इसको ओटोंटोमो (Odontome) कहते हैं । वे दोनों
विकार अस्थि की अतिवृद्धि के निर्दर्शक हैं ।

तमोदर्शीनमूर्छ्याद्धमर्पयस्थूलमूलादर्जन्मनेत्रानि
स्थन्दप्रभृतयो मञ्जदोषजाः ॥४॥

(मञ्जज विकार)—अधेरी अना, बेहोरी (चालर अना)
अम, अंगुलियों के पर्वत पर बढ़े वह वस्तु होना, नेत्रानियन्त्र
हृत्यादि मजास्थित दोषों के विकार हैं ॥४॥

यक्तदय—प्रग—प्रग के उपर आहट होने के समान
स्त्रैव आभास होना । पर्वतस्थूलादर्जन्म—पर्वत स्थूलतन्म
रूपा अम—भृणा स्थूलमूलानां पर्वतानां च दर्शनम् । (चरक) ।
स्थूलमूलानाम्—गोरोपरिणामानाम् । (सिंवदालसेन) ।

हृत्याप्रर्वशुक्रादमर्दीयुक्तमेहुक्तदोषादयम
तदोषजाः ॥५॥

(हुक्त विकार)—पण्डता, अप्रहरण, तुक्कामरी, तुक्कनेत्र
और (अम्य) तुक्कदोष ये हुक्तस्थित दोषों से होते हैं ॥५॥

“ यक्तदय—डैम—डीम (Sperm या ovum) का अभास
होना । हैम्य धी और उपर दोषों में भी होता है । इसके
चरक में ‘नानारिच्यण्ड’ (एता अ० ३) कहा है । इसकी धीम
में वाक्यायित्व सिद्धते हैं—‘यो त्वामित्रेद देवो दुक्ते दुक्ते—
‘भृत्युल्लेद रण्ड’ (एता अ० ३) । धीमी में इसकी धी-

३ (Sterility) कहते हैं। इसमें ज्वजोन्द्राय ही सकता पैथुन भी होता है परन्तु संतान नहीं होती। अप्रहर्ष—अशिशनता या लिंगैथिल्य। इसको इम्पोटेन्स (Impotence) कहते हैं। शुक्रदोषादयध—चरक में शुक्रस्थित दोषों नेम विकार अधिक वर्णन किये हैं—रोगि वा छीबमलयातुर्य वा प्रजायते। न चार्य जायते गर्भः पतति प्रस्तवत्यपि। शुक्र दुष्ट साप्तस्य मदारं वापते नरम्॥ (सू. अ. २८) ।

त्वंदोषाः सङ्गोऽतिप्रवृत्तिरयथाप्रवृत्तिर्वा ग्रायतनदोषाः ॥१६॥

(मलज विकार—) त्वचा के विकार, (मलों का) सत्सर्गीना, अत्यधिक होना या न्यूनाधिक होना ये मलस्थानगतियों के विकार हैं ॥१६॥

चक्कव्य—मलों में दोषों का अवस्थान होने से तीन गत के विकार होते हैं। १ अप्रवृत्ति—जैसे, मलावरोध या नाह, मूदावरोध या मूद्रावरोध और स्वेदावरोध। २ अतिप्रवृत्ति—जैसे, अतिसार या प्रवाहिका, यहुमूद्रमेह या उदक और स्वेदाधिक्य। ३ अयथाप्रवृत्ति—अस्वाभाविक वर्ण गंध से युक्त मलों की प्रवृत्ति। जैसे—‘पक्जाभ्ववसंकाश यक्षुर्दृष्टिमं तु’ हत्यादि माधवनिदान में अतिसारोक्त वर्णन किये। मल का उत्सर्ग होना, वर्णादिभेद के प्रमेह और दुर्गंध का पसीना आना। चरक लिखा है—मलानाश्चित्य कुपिता शोषप्रदृष्टणम्। दोषा मलानां कुर्वन्ति सङ्गोल्तसर्गामतीव च ॥ (त्र. अ. २७)। प्रदृष्टणम्—प्रदृष्टण तु प्रदुष्वर्णादियुक्तेन इतर्वर्णाण्युपचातः। (चक्षपाणिदत्त)। त्वंदोषाः—त्वक्सुखुटन, गौद्य, त्वग्दैर्यन्ध हत्यादि त्वचा के छुद्रोग। इन रोगों समावेश मलज रोगों में करने का कारण स्वेद है। क्योंकि चा की सुस्थिति स्वेद की घोग्य प्रवृत्ति पर निर्भर होती है—इन्द्रत्वक्त्वौकुमार्यकृत्। (सु. सू. अ. १५) ।

इन्द्रियाणामप्रवृत्तिरयथाप्रवृत्तिर्वेन्द्रियायतन-दोषाः; इत्येष समाप्त उक्तः; विस्तरं निमित्तानि एषां प्रतिरोगं वक्ष्यामः ॥१७॥

(इन्द्रियायतन विकार—) इन्द्रियों की अपने कार्यों में इति न होना, या ठीक ठीक प्रवृत्ति न होना इन्द्रियस्थानगतियों के विकार हैं (धातुगत विकारों का) यह संक्षिप्त धन किया गया है। इनका विस्तार और (आहारविहादि उत्पादक) निमित्त आगे (निदान, चिकित्सा और तत्तन्त्र में) प्रत्येक विकार के (वर्णन) के समय कहेंगे ॥१७॥

चक्कव्य—अप्रवृत्तिरयथाप्रवृत्तिर्वा—विनाश अथवा वैकल्य—प्रियाणि समाश्रित प्रकृत्यन्ति यदा मलाः। उपवातोपतापभ्यां ज्यन्तीन्द्रियाणि ते ॥ (चरक)। इन धातुज विकारों में अंगमर्द, शुद्ध, गलगण्ड हत्यादि विकार अनेक धातुओं में निर्दिष्ट किये गये हैं। इसका कारण यह है कि ये विकार अनेक धातुओं दोषों का अवस्थान होने से ही सकते हैं।

अब रसज, रक्त विकार कैसे उत्पन्न होते हैं उनकी संप्राप्ति गिन कर रहे हैं—

भवति चाव—

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् ।

यत्र सङ्गः स्वैर्वैगुण्याद्व्याधिस्त्रोपजायते ॥१८॥

शरीर में संचार करने वाले कुपित दोषों का स्तोत्रैवैगुण्य के कारण जहाँ अवस्थान होता है वहाँ व्याधि उत्पन्न होती है ॥१८॥

चक्कव्य—परिधावताम्—स्वान वायु की प्रेरणा से रस की भाँति समस्त शरीर में परिभ्रमण करने वाले दोषों का। अष्टांगहृदय में लिखा है—व्यानेन रसथातुर्हि विषेषेचित्कर्मणा। युगपर सर्वतोऽजस्तं देहे विक्षियते सदा ॥ क्षिप्यमाणः स्वैर्वैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः । तस्मिन् विकारं कुरुते ये वर्षभिव तोषदः । दोषाणामपि चैव स्यादेकदेशप्रकोपणम् ॥ (शा. अ. ३) । इसकी टीका में अस्त्रादत्त लिखते हैं—एवमनेन न्यायेन दोषाणामपि वातादीनां व्यानेन विक्षिप्यमाणानमेकदेशप्रकोपणं विकारकरणं स्यात्। संगः—संयोग या अवस्थिति। यत्र—धातु मल इन्द्रियों में से जिसमें।

भूयोऽत्र जिंशास्यं, किं वातादीनां ज्वरादीनां च नित्यः संश्लेषः परिच्छेदो वा ? इति; यदि नित्यः संश्लेषः स्यात्तर्हि नित्यातुराः सर्व एव प्राणिनः स्युः अथौप्यन्यथा वातादीनां ज्वरादीनां चान्यत्र वर्तमानानामन्यत्र लिङ्गं न भवतीति सृत्वा यदुच्यते वातादयो ज्वरादीनां मूलानीति तत्र ॥१९॥

फिर अब यहाँ यह भी जानता चाहिये कि वातादि दोषों का और ज्वरादि रोगों का नित्यसंबंध है या पृथक्त्व है? यदि नित्य संबंध ही तो समस्त प्राणिमात्र सदा रोगी ही होते। यदि वातादि का और ज्वरादि का अन्यथा संबंध (परिच्छेद) हो तो ‘एक स्थान में होने वालों का चिह्न दूसरे स्थान में नहीं मिल सकता’ इस न्याय से वातादि दोष ज्वरादि के मूलकारण हैं यह कथन नहीं (हो सकता) ॥१९॥

चक्कव्य—अत्र—रोगोत्पत्ति के संबंध में। नित्यः सक्षेपः—समवायी सम्बन्ध, जैसे सूर्य और आतप, चंद्र और ज्योत्स्ना तथा अग्नि और उष्णता का होता है। परिच्छेद—विशेष या पृथक्त्व, जो पट और तन्तुवाय, घट और कुम्भकार तथा कुण्डल और स्वर्णकार का होता है। अथ—पक्षान्तरोपन्यासार्थ अथ का प्रयोग किया है। अन्यथा—‘सम्बन्धः स्यात्तर्हि’ इति शेषः। यदि परिच्छेद हो तो। ‘अथापि वातादीनां ज्वरादीनामन्यथा सम्बन्धः स्यात्तर्हि’ इत्यन्यथः। इति कृत्वा—इति न्यायात् । तत्र—तत्र ‘उपपत्तेः’ इति शेषः। वातादि दोषों को समस्त व्याधियों का मूलकारण मानने पर इनका आपस में सम्बन्ध किस प्रकार होता है? नित्य अग्रथक्त्व होता है या नित्य पृथक्त्व होता है?। यदि नित्य अग्रथक्त्व हो तो समस्त प्राणियों पर सदा रोगमत्त होने की आपत्ति आ जाती है। यदि नित्य पृथक्त्व हो तो वातादि दोषों को रोगों का कारण मानने में ही आपत्ति आ जाती है। इस प्रकार का पूर्वपक्ष इस सूत्र में किया गया है।

१ स्वैर्वैगुण्यात् २ भूयोऽत्र जिंशास्यते ३ अथवा.

अथोच्यते दोपान् प्रत्यारयाय ज्वरादयो न
भवन्ति; अथ च न नित्यं संबन्धः; यथादि
विशुद्धाताशनिवर्याण्यकाशं प्रत्यारयाय न भवन्ति,
सत्यप्रायाशेषं कदाचिद्भवन्ति, अथ च निमित्तत-
स्तत एवोत्पत्तिरितिः तरङ्गुद्धदायध्योदकविशेषा
एव, वानादीनां ज्वरादीनां च नायेवं संश्लेष्यो
न परिच्छेदं शाख्यतिकः, अथ च निमित्तत
एवोत्पत्तिरिति ॥२०॥

इस पर कहा जाता है कि दोपों में छोडकर ज्वरादि नहीं
होते, न इनका नित्य सम्बन्ध है। जैसे कि विवरी, वातु,
वद्र और वर्या आकाश को छोडकर (अन्यत्र) नहीं होते,
आकाश के सहा वर्तमान होने पर भी कभी नहीं होते,
किन्तु निमित्त हीने पर वहाँ ही उत्पन्न होते हैं, जैसे कि लहरी,
छल्कुले इत्यादि जल के विशेष (जल को छोडकर अन्यत्र
नहीं होते, निमित्त मिलने पर जल की से उत्पन्न होते हैं,)
वैसे ही वातादि दोपों और ज्वरादि रोगों का न नित्य सम्बन्ध
है न नित्य उपकरण है, किन्तु निमित्तों के कारण वातादि दोपों
से ही उत्पन्न होते हैं ॥२०॥

वक्तव्य—पूर्व सूत्र में जो पूर्वपक्ष किया गया था इसका
समाधान इस सूत्र में किया गया है। इसका तान्त्र्य यह
है कि तरातादि उद्दक विशेष जैसे उद्दक के अतिरिक्त नहीं होते,
उद्दक ही से उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होने के लिये वात-
प्रविश्यादि निमित्तों की आवश्यकता होती है, वैसे ही ज्वरादि
रोग विशेषों के अतिरिक्त नहीं होते, विशेषों से ही उत्पन्न
होते हैं और उत्पन्न होने के लिये मिथ्याहाराचारादि निमित्तों
की आवश्यकता होती है। अशोतु ज्वरादि रोग वारीर में सर्वदा
न होने के कारण वातादि दोपों और ज्वरादि रोगों का निय
संबन्ध नहीं हो सकता, तथा वातादि दोपों के लक्षणों के
अतिरिक्त कोई भी रोग न होने के कारण इसका नित्य उपकरण
भी नहीं हो सकता। सर्वेष में आहाराचारकालादि रोगों का
निमित्त कारण या वाया निदान है और वातादि दोष तथा
रसरक्तादि धूतु रोगों का समवाची कारण या अत्यन्तर्नीय
निदान होता है। निमित्त कारण को ही निदान कहते हैं—
यैनाहरविहरणं दोपागमुद्दो भवेत् । क्षीणो वृद्धिं दोपाणा
निदान हि तदुच्चेष ॥ (वद्धसेन)। इस व्याधियसुदोषीय
अथवा में व्याच्युत्पत्ति की जो सुन्दर, स्वल, और
गणेशार्थी परपरा वर्णन की है वह पाक्षाय विज्ञान की
कमीटी पर भी प्रस्तु नहीं हो सकती। सुखावोष के लिये
उत्तर परेपरा का कम सहेज में नींवं दिया जाता है—
१ वाया निदान या निमित्त कारण। जैसे—भासालयेन्द्रियार्थं
स्वयं प्रज्ञापरावृ और परियाम—२ दोषवैषयम्, जैसे एक
दो या तीनों दोपों का प्रकोप—३ दूष्युद्दि, जैसे एक या
अनेक धातुओं लक्ष पृक या अनेक धोगों में उन दोपों के
वैषयम के कारण स्वरात्रि उत्पन्न होता—४ स्फूर्त्यक्ष, जब
धातुओं और धोगों की स्वरात्रि, धूर्त्यतया का अधिक, होती
है, तब उनके धुगों और धोगों की हानि या अधिकता होती
है। यह ही रूप होते हैं (५)पापिः स्फूर्त्यतया प्रकट होने पर

उनके समुदाय विशेष को व्यापि कहते हैं—जनु हो शो शो
शोयने, न न स्फूर्त्यतेकं व्यापित्यलभ्ये, यो विकारं
व्यादय एव जर, वायादेताग्रहाव्येव रात्रवस्ता । उच्च—तेऽ-
नयाकिष्ठोऽप्यस्यमूर्द्धनाविरोज्ञ ज्वरादिक्षु व्यापि ।
व्यादय । रिका भरव्यादय एव प्रयेकर्णा रुपाणि तस्मैवायो व्यापि
यत मधुदायिभ्योऽन्य एव समुदाय, व्यथ—व्यादितत्वं वर्णने
(धीकण्डित मधुकायव्यादय) ।

भवति व्याद—
विकारपरिमाणं च संरक्षया वैयां पृथक् पृथक् ।
विस्तरेणोत्तरे तन्त्रे सर्वाधारय वश्यते ॥
रति मुकुमादिवायाम् सूत्रस्थाने व्यापित्युर्वर्णं
नाम चतुर्विनिवेदित्यावाय ॥२१॥

विकारों की पूर्ण साम्या, उनके भेदों की पृथक् एव
समर्था व्यौर सर्वे उत्तरव विस्ताररूपैक उत्तरतन्त्र में वर्ण
किये जायेंगे ॥२१॥

वक्तव्य—विकारपरिमाण—हीव तनुराक्षलया—व्यौर
मु निय वच्छ विशित्व च । (उत्तरतन्त्र म ६६) । ५
पृथक्—अवयवसम्याया । व्यथ—पदार्थो, वन्तोप्रस्त्रं अट्ट
कुषाणि हृत्यादि । वाया—उत्तरव । उत्तर गान्वे—सूत्रस्थान
आगे निदानस्थान में तथा उत्तर स्थान में ।

सुश्रुतसंहिता में जितने रोग वर्णन किये हैं, स्थानानुस
संख्यासहित उनके स्थोकवद् नम छहव्याधाये ने उत्तरव
के ६६ वे अध्याय में ‘व्यापीना तु सहस्र वच्छ विशित्व च
हस्तकी दीका में दिये हैं ।

इनी भास्तुरात्मगा गोविन्दास्त्रेन विशित्वायामुद्देश्यादिका
मुकुमादीकाव॑ व्यापित्युर्वर्णीयो साम
व्युत्प्रविशित्वाऽन्यावाय ॥२२॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातोऽप्यविधशस्त्रकर्मयमध्यायं व्याकृ-
स्याम् । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अथ रुद्धी से अष्टविंशतिकर्मयी नामक अध्याय का
व्याख्यान करते हैं जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

छेद्याभगवन्दरा व्रन्दिनः स्तैर्यिकस्तिलकालकः ।
व्रणवत्मार्दुवान्यर्शार्थमकीलोऽस्थिमांसगम् ॥२॥

दलयं जतुमणिमांससंघातो गलशुरुदिका ।
म्यायुमांससिराकोथो वल्मीकं शतपोनकः ॥३॥

अधुपष्ठोपदशाश्च मांसकन्दियमांसकः ।

भगवद्, सैमिक प्रथि, तिलकालक, नाडीवाय, व्याकृति
अर्द्ध, चम्कील, अस्ति और मांसगत धूप, जनुमणि (धुम-
रोग), मासस्थान (मुखरोग), गलशुरुदिका, धातु भात
और सिराओं का सहा हुआ भाग, वल्मीक (क्षुद्ररोग),
वायपोनक (भगवदोदय) अधुप (मुखरोग), उपर्यु
मांसकर्मी और अधिमांस (मुखरोग) पूर्विकार उत्तर करने
योग्य है ॥२-३॥

ग विद्वधयोऽन्यत्र सर्वजाद्ग्रन्थयस्त्रयः ॥४॥
दितो ये विसर्पाश्च वृद्धयः सविदारिकाः ।
हपिंडकाशोफस्तनरोगावमन्थकाः ॥५॥
भीकानुशंगीनाड्यो वृन्दौ पुष्करिकालजी ।
यशः क्षुद्ररोगाश्च पुष्पुटौ तालुदन्तजौ ॥६॥
रेडकेरी मिलायुश्च पूर्वं ये च प्रपाकिणः ।
स्तेत्स्तथाऽझमरीहेतोमेंदोजा ये च केचकू ॥७॥
सान्निपातिक के अतिरिक्त अन्य सब विद्वधि, वातज पित्तज कफज ग्रंथि, वातज पित्तज और श्लेष्मज विसर्प, वृद्धिरोग, रिका (क्षुद्ररोग), प्रमेहपिंडका, व्रशोथ, स्तनविद्वधि, रथक (चूकरोग), उम्भीका (शूकरोग), अनुशाशी (द्रोग), नाडीवण, दोनों प्रकार के वृन्दरोग (कण्ठरोग), रिका और अलजी (शूकरोग), प्रायः सर्वं क्षुद्रं रोग, पुष्पुट और दन्तपुष्पुट, तुषिंडकेरी (तालुरोग), मिलायु अठरोग), (मुखरोगों में) अन्य पक्के वाले रोग, अस्मरी इत्या के लिये बस्ति और कई मेदोरोग ये भेदन करने ये विकार हैं ॥४-७॥

ठेयाश्चतस्त्रो रोहिण्यः किलासमुपजिह्विका ।
मेदोजो दन्तवैदर्भो ग्रन्थिर्वर्त्माधिजिह्विका ॥८॥
अशासि मण्डलं मांसकन्दी मांसोच्चित्स्तथा ।

वातज पित्तज कफज और सन्निपातज रोहिणी (कण्ठरोग), लास (श्वेतकुष्ठ), उपजिह्विका (Ranula), मेदोज दन्त-र्भि, ग्रन्थि, वर्त्मरोग, अधिजिह्विका (Epiglottitis), वातार, मंडल (कुष्ठेश), मांसकन्द, मांसोच्चित (दुष्टमांसाभिहि) ये विकार लेखन करने योग्य हैं ।

वैद्याः सिरा वहुचिधा मूत्रवृद्धिर्दकोदरम् ॥९॥

वहुत प्रकार की सिराएँ, मूत्रवृद्धि (Hydrocele) और लोदर ये रोग वेधन करने योग्य हैं ॥९॥

एप्पा नाड्यः सशल्याश्च व्रणा उन्मार्गिण्यश्च ये ।

नाडीवण, गल्याश्च व्रणा और तिर्यग्गति युक्त व्रणा गलका द्वारा एप्पण करने योग्य हैं ।

आहार्याः शर्करास्तिस्त्रो दन्तकर्णमलोऽझमरी ॥१०॥
शल्यानि मूढगर्भाश्च वर्चश्च निचितं गुदे ।

तीनों प्रकार की गर्काराँ, दंतशर्करा (Tarter), पादशर्करा, मूढगर्भरा (Gravel), दाँत और कान का मैल, अस्मरी, सब प्रकार के गल्य (Foreign body), मूढगर्भ, और गुदा में जमा हुआ कटा मल ये आहरण करने योग्य हैं ॥१०॥

स्नानां विद्वधयः पञ्च भवेयुः सर्वजाहते ॥११॥

कुष्ठानि वायुः सरुजः शोफो यश्चैकदेशाजः ।

पात्यामयाः शृणिपदानि विपञ्चुएं च शोणितम् ॥१२॥

अर्दुदानि विसर्पाश्च ग्रन्थयश्चादितस्तु ये ।

व्रयल्यश्चोपदंशः स्तनरोगा विदारिका ॥१३॥

सुपिरो गलशालुकं कण्ठकाः कृमिदन्तकः ।

दन्तवैष्टः सोपकृशः श्रीतादो दन्तपुष्पुटः ॥१४॥
पित्तासृक्कफजाश्चैष्वाः क्षुद्ररोगाश्च भूयज्ञाः ।

सन्निपातज विद्वधि के सिवा पाँचों विद्वधि, कुष्ठ, श्लयुक्त वायु, एक स्थान में उत्पन्न हुआ शोथ, कर्णपाली के रोग, श्लीपद (Elephantiasis), विपयुक्त रक्त, अर्दुद, विसर्प, प्रारंभिक तीन ग्रन्थि और तीन उपदंश, स्तनरोग, विदारिका (क्षुद्ररोग), सौपिर (दन्तरोग), कण्ठक (पादरोग), गल-शालुक, कृमिदन्तक, दन्तवैष्ट, उपकुण, श्रीताद, दन्तपुष्पुट, पित्त रक्त और कफ जन्य ओष्ठ रोग और वहुत से क्षुद्ररोग रक्त-स्वरण करने योग्य होते हैं ॥११-१४॥

चक्कव्य—कुछ विकार अनेक शाश्वकर्मों के लिये योग्य बतलाये गये हैं । इसका कारण यह है कि विकार की स्थिति तथा रोगी की स्थिति के अनुसार अनेक शाश्वकर्मों का प्रयोग उस विकार की चिकित्सा के लिये करना पड़ता है—कमेण कथिंडेकन दायरां कथित्विभिस्तथा । विकार: साध्यते कथित्वतुभिरपि कर्मसि ॥ (सु.) ।

सीञ्चा मेदःसमुत्थाश्च भिन्नाः सुलिखिता गदाः ॥१५॥
सद्योवरणाश्च ये चैव चलैसन्धिव्यपाश्रिताः ।

मेदोभव रोग जिनका भेदन और लेखन ठीक किया गया है, ताजे धाव (जो धूलि आदि से दूषित हों) और चलाय-मान संविधयों के आश्रित जो धाव हों वे सीधन करने योग्य हैं ।

चक्कव्य—अष्टांगहृदय में निन्न व्रण मीवन करने योग्य बतलाये हैं—सब: सदोवणान सीब्येदिव्यातानभिताजान् । मेदोजान लिखितान् ग्रन्थीन् हस्ता: पालिश कर्णयोः ॥ शिरोक्षिक्षानासो-षुगण्टकार्णेस्त्राहुपु । शीवाललटमुष्करिष्टेमेद्रपायूदरादिपु । गंभीरपु प्रेशेषु मांसलेखनलेषु च ॥ (मृत्रस्थान अ. २९) ।

न क्षाराच्चिविष्येषुर्युषा न च मारुतवाहिनः ॥१६॥
नान्तलोहितशल्याश्च तेषु सम्यग्विश्वोधनम् ।

ज्ञार, अस्ति और विष से उत्पन्न हुए, पवनवाही तथा जिनके भीतर रक्त तथा शल्य हों ऐसे व्रणों का सीधन नहीं करना चाहिये । इनके बारे में (प्रथम) शोधन करना आवश्यक है ।

चक्कव्य—न तु वक्षणकशादावल्यमांसत्त्वे व्रणान् । वायुनिर्वाहिणः शल्याभन् क्षारविषान्निजान् ॥ (अष्टांगहृदय) । मास्तवाहिनः—वायुजुनक जीवाणुओं का प्रवेश होने से व्रण में वायु उत्पन्न होती है और वाहर निकला करती है । ये जीवाणु वातभी (Anaerobes) हैं और इनमें वैसीलस वेलची और चित्रियों सेचिक (B. Welchii and Vibrio Septic) प्रवान हैं ।

पांचुरोमनवातदीनि चलमस्थि भवेच्च यत् ॥१७॥
अहतानि यतोऽमृनि पाचयेयुर्भूशं व्रणम् ।

सूजश्च विविधा: कुर्युस्तस्मादेतान् विशोधयेत् ॥१८॥

धूलि, वाल, नाथन इत्यादि वस्तु तथा हड्डी के चलाय-मान टकड़े यदि व्रण से न निकाले जायें तो व्रण को वहुत पका देते हैं तथा नाना प्रकार की पीड़ा करते हैं । इनसिये धूलि आदि से व्रण का विग्रहन करना चाहिये ॥१७-१८॥

यक्षय—यथा को सब से पहले सीने के पूर्व पैदेतया शुद्ध करने की आवश्यकता होती है। उमरे भीतर खुल आदि जो कुछ हो उमरको निकाल देना चाहिये। हड्डी के छोटे पांचे दुकड़ी को जो हड्डी से एक हो गये हैं, निकाल देना चाहिये। बड़े बड़े दुकड़े जो हड्डी के साथ खुँड़े हुए हैं जहाँ तक हो सके नहीं निकालना चाहिये। कर्णोंकि आवश्यकता से अधिक भाग निकालने से वह हड्डी कमज़ोर हो जाती है। व्यथा तथा मांस को फटकर इनस्ट्रमेंट्स हो गया हो उस यथास्थान रखापिण वरके प्रणगोपक घोल से शुद्ध करने के पश्चात् सीना चाहिये। यदि व्यथा और मांस बहुत ही खराब हो गया हो कि जिसके स्तर स्तर होने की आगा नहीं हो सकती तो उमरको काटकर निकाल देना ही उचित है। सींधेश्चारिध्मुखस्त्रुत्यरोमापानीय तु। प्रत्यं यस्त्र विनियोग सन्विद्यते॥ (अद्यांगदृश्य) ।

ततो यां समुद्धम्य स्थापयित्वा यथास्थितम् ।
स्वीवदेत् सूदमेण सूत्रेण धस्केनाइमन्तकस्य वा ॥१९॥
शुणज्ञौमृस्त्राभ्यां ज्ञाया यालेन वा पुनः ।
भूर्यांशुद्धचीतानैवी—

फिर व्यथा को किंचित् ऊँचाकर यथास्थान स्थापन करके महीन सूत्र, अस्त्रात्मक बल्कल, सनसूत्र, क्षीमसूत्र (रेशम), स्नायुनान, (धोटे के) बाल, मूँह अथवा गिलोय के तन्तु इनमें से एक छारा सी हो।

द्वितीय—जन—द्वयोष्ठ । यथास्थिता—दोनों तरफ के व्यांग के किनारों का ठीक भीलन करके। भ्रम नक—‘अच्छी बात हो रही है’। (इलेक्ट्रा)। अन्ये कीविडारसंसूक्ष्माम पव्व ल्लाविटोप्यमनकमाल्यक्षेत्रे ॥ नानु—जागाकर उपचानिवेशे येन भ्रम्य नहाने। अंग्रेजी में इसको टेंडन (Tendon) कह सकते हैं। अधुनिक शल्ययोग में भीने के लिये ‘कारास’ नामक प्राणी के व्यायु का उपयोग किया जाता है। तान—तन्तु। अधुनिक काल में सीने और टकि लगाने के लिये

प्रयोग किया जाता है। प्रयोग करने से ऐसे इन चक्षुओं का पूर्ण विद्योगन करना चाहिये अन्यथा व्यथा दूरित होने की समावाना होती है।

—सीव्येद्वेष्टिकं शनैः ॥२०॥

सीव्येद्वेष्टिकां वाऽपि सीव्येद्वा तुश्वसेवनीम् ।
करुप्रनियमयो वाऽपि—यथायोगमध्यापि वा ॥२१॥

(दर्पुर्खि बस्तुओं से) धीरे धीरे वेहिनक, गोलगिका, तुड़सेवनी अथवा ज्वरप्रथि इनमें से एक प्रकार का सीनवन स्थान के अनुमार जैमा योग्य हो जैमा लगा दे ॥२०-२१॥

यक्षय—यहाँ सीनवन के चार प्रकार आकार के अनुसार वर्णन किये गये हैं—(१) वेहिनक, (२) गोलगिका, (३) तुड़सेवनी, और (४) ज्वरप्रथि। वेहिनक—तुड़े के स्थान पर छोटे हुए बेल की आहति पृक ही ओर से देखने पर जैमी

विल्याई देती है, जैसी आहति इस सीनवन की विल्याई से इसका साइट्रय आनुनिक ‘ग्लोवरसेर कंटीसुत्रम् (Glover's continuous Suture) के साथ होता है। यथा के एक ओर से दूसरे ओर एक ही सूत्र से अविच्छेद लगाये जाते हैं। इस सीनवन का उपयोग ताने (Aseptic) प्रणयों के संरचने में ही होता है। (२) गोलगी इसका सीनवन गोलगी के समान होता है। इसका न आनुनिक ‘ब्लैन्केट सूत्र’ (Blanket Suture) के होता है। इसमें भी वेलिनक की भाँति एक ही सूत्र से रेंज दांके लगाये जाते हैं परन्तु इच्छा विल्य होती है। व्यथा चिमटी से व्यथ के ओष्ठों को पकड़कर सुई हो जाए तो वह व्यथा चिमटी से व्यथ के ओष्ठों को निकाल कर यहाँ ही पहला लगाता है। तपश्चान् सुई को सूत्र के साथ लिंग बरीचे कर पूर्ववद् अपनी ओर से दूसरी ओर सुई को लिंग है। परन्तु इस समय सुई सहायक के द्वारा पकड़े हुए ए उच्चर से निकल जाती है, जिससे एक प्रकार का फटाफन है। इस प्रकार सारा व्यथ का मारा सी दिया जाता है। इस उपयोग अधिक विस्तृत मण को बंद करने के लिये होता (३) तुश्वसेवनी—धीरे हुए व्यथ के किनारों को मिलाने के एक करने वाला त्रिम प्रकार से सुई और सूत्र द्वारा करता है उसी प्रकार के टांके वहाँ लगाये जाते हैं। सीनवन भी अविच्छेद है। इसका साइट्रय ‘हाल्टेड सुटीसुलर स्टिच’ (Halsted's Subcuticular suture) नाम है। इससे व्यथ के ओष्ठ पैदेतया मिल जाते हैं, जिसका वस्तु नहीं के बदावर हो जाती है। (४) करुप्रथि सविच्छेद सीनवन है। इसके टांके पृक दूसरे से पूर्व हैं। अंग्रेजी में इस प्रकार के सीनवन को ‘इन्टर्मिटेट्ड सुट्र’ (Interrupted Suture) कहते हैं। इसमें चिमटी है के किनारों को पकड़कर दोनों में से सुई के सूत्र प्रविष्ट किया जाता है। पश्चात् सुई को सूत्र से पूर्व गाँठ बाँध दी जाती है। गाँठ बाँध उकड़े पर ग्राहि के स दोनों ओर आया इच्छ के लगभग सूत्र छोड़कर वे च काट दिया जाता है। इस प्रकार उचित अन्तर पर एक एक ओर से दूसरी ओर टकि लगाये जाते हैं। अतुर्विदि का उपयोग बाया लवचा के सीनवन में अविच्छेद होता है। अव्यषीष्ट विषम होने के कारण किनारों के मिलने से अवित्तनाव होता है, वहाँ करुप्रथिसीनवन अविच्छ उपयोगी है। तथा यदि व्यथ में पूर्य उत्तेज हो जाय तो इस प्रकार सीनवन में प्रकार टकि को काटकर पूर्य को निकालने सुगमता होती है और समस्त व्यथा का सीनवन दीला नहीं होता। देश-उपमांस से सन्धी च सूची वृत्ता वृहुलद्वयम्। आयता व्यहुला व्यस्ता मांसले वाऽपि पृष्ठिता वृधुवंका हिता मर्मफलकोशोद्वैपरि। इत्येतास्तिविधा, सूचीस्तीहणामा सुसमादिता॥२१॥ कारयैन्मालतीपुष्पवृन्ताप्रपरिमण्डलाः।

धोडे मांस वाले भेंग में तथा संधियों में दो अंगुल और गोलमुख सुई चाहिये, अधिक मांस वाले भेंग में भी

अंगुल लंबी और तिधारी सुई होनी चाहिये तथा मर्मस्थान, वृषण कोष और उदर इन में धनु के समान वक्त सुई होनी चाहिये । इस प्रकार मालती पुष्प के वृत्ताग्र के समान मोटी गोल, सुनिष्पत्त (साक, मुलायम और मजबूत) और तीक्ष्ण अग्रवाली तीन भाँति की सुई बनवानी चाहिये ॥२२-२३ ॥

वक्तव्य—आपुनिक पाशात्य शल्यशास्त्र में भी तीन प्रकार की सुई प्रयोग होती हैं—सीधी, धनुर्वक्ता और वक्तमुखा । इनका वर्णन पीछे शासाध्याय (आठवें) में किया गया है ।

नातिदूरे निकृष्टे वा सूचीं कर्मणि प्रतयेत् ।

दूराद्गुजो व्रणैष्टस्य सञ्जिकृष्टेऽवलुञ्चनम् ॥२४॥

सीवन करते समय टाँके किनारे से अत्यंत दूर दूर या अत्यंत निकट निकट लगाने चाहिये । वर्णोक्ति अति दूर टाँके लगाने से (तनाव के कारण) वण के किनारों में पीड़ा होती है और अति समीप लगाने से किनारा टूट जाने की संभावना होती है ॥२४॥

अथ द्वौमपिच्छलं सुस्युतं प्रतिसारयेत् ।

प्रियदण्डवज्ञनयष्ट्याद्वरोधचूर्णः समन्वतः ॥२५॥

शल्यकीफलचूर्णेण्वा द्वौमध्यामेन वा पुनः ।

ततो व्रणं यथायोगं वन्द्वाऽऽचारिकमादिशेत् ॥२६॥

भली भाँति सीवन करने के पश्चात् वण को रेशमी वस्त्र तथा रुई के फोहे से ढक्कर उस पर प्रियंगु, सौवीरांजन, सुलहटी, सोश इनका चूर्ण अथवा शाल के फल का चूर्ण अथवा अलसी के वस्त्र की राख दुरका दे । फिर वण को ठीक बांधकर (वृणितोपासनीय अध्यायोक्त) आचरण का उपदेश करे ॥२५-२६॥

एतदष्टविधं कर्म समासेन प्रकीर्तितम् ।

चिकित्सितेषु कात्स्न्येन विस्तरस्तस्य वक्ष्यते ॥२७॥

यह आठ प्रकार का शल्यकर्म संक्षेप यहाँ कहा है । पूर्णता से इसका विस्तार (विविध रोगों की) चिकित्सा में किया जायगा ॥२७॥

हीनातिरिक्तं तिर्यक् च गात्रच्छेदनमात्मनः ।

एतार्थतस्मोऽष्टविधे कर्मणि दयापदः स्मृताः ॥२८॥

आठों प्रकार के शल्यकर्मों में ये चार व्यापत्तियाँ (हो सकती) हैं—१ हीनच्छेद (आवश्यकता से कम काटना), २ अतिच्छेद (आवश्यकता से अधिक अंग को काटना), ३ तिर्यक्छेद, और ४ आत्मगात्रच्छेद (अपने ही शरीर में शल्य से धाव करना) ॥२८॥

अज्ञानलोभाहितवाक्ययोग-

भयप्रमोहैरपैश्च भावैः ।

यदा प्रयुक्तित मिष्पक कुशलं

तदा संशेषान् कुरुते विकारान् ॥२९॥

अज्ञान से, लोम से, अहितकर वाक्य के योग से, भय से, मोह से तथा अन्य भावों से यदि वैद्य शल्य का प्रयोग अल्प करे तो वह विकारों को संशेष करता है ॥२९॥

१ एता हि तिथो ०. २ स गेपान् ।

वक्तव्य—अहितवाक्य—इष्ट मित्रों से प्रेम के कारण जो अयोग्य सलाह दी जाती है, वह रोगी की दृष्टि से अहितकर है । इसलिये उसे अहितवाक्य कहा गया है । प्रमोह—कर्म के समय शानी मनुष्य का भी चित्तविभ्रम होना । कु—ईपदोऽयं कुशम्: क्रियाविशेषणम् । (हाराणचंद्र) । सशेषान्—उपर्युक्त कारणों से यदि वैद्य शल्यपद आयत विशाल न करके अल्प करे तो दोषों का ठीक ठीक उत्सर्ग नहीं होता और विकार सशेष हो जाते हैं ।

तं क्षारशङ्खाश्चिभिरौपधैश्च
भूयोऽभियुज्ञानमयुक्तियुक्तम् ।

जिजीविषुर्दूरत एव वैद्यं
विवर्जयेदुग्रविषाहितुल्यम् ॥३०॥

ऐसा अयुक्ति से (शख्वादि का) अभियोग करने वाला वैद्य यदि फिर क्षार, शस्त्र, अस्त्र और ओपिधियों का उपयोग करना चाहे तो जीवन की हच्छा करने वाला रोगी उसे तीव्र विष या सर्प के समान परित्याग करे ॥३०॥

तदेव युक्तं त्वति मर्मसन्धीन्

हिंस्यात् सिराः स्यायुमश्यास्थित्य चैव ।

मूर्खप्रयुक्तं पुरुषं ज्ञेन

प्राणैर्वियुक्त्यादथवा कथंचित् ॥३१॥

मूर्ख वैद्य से अधिक (आवश्यकता से अधिक गहरा, लंबा, टेढ़ा या अस्थान में) प्रयुक्त किया हुआ शल्य मर्म, संधि, सिरा, ज्ञायु, अस्थि इनको छेदन कर देता है अथवा कभी ज्ञान भर में पुरुष के प्राणों का नाग कर देता है ॥३१॥

भ्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो

विचेष्टनं संलयनोष्टाते च ।

स्वस्ताङ्गता मूर्च्छन्मूर्धवात्

स्तीव्रा रुजो वातकृताश्च तास्ताः ॥३२॥

मांसोदकाभं स्थिरं च गच्छेत्

सर्वेन्द्रियार्थोपरमस्तथैव

दशार्थसंख्येष्वपि हि ज्ञतेषु

सामान्यतो मर्मसु लिङ्गमुक्तम् ॥३३॥

पंच (प्रकार के) मर्म स्थान में वैद्य होने से सामान्यतया भ्रम, प्रलाप, शक्तिपात, मोह, शरीर की चेष्टा बंद होना, ग्लानि, उण्णता, अंगों की थकान, मूर्च्छा, श्वास, वातजन्य नाना प्रकार की पीड़ा, मांस धोवन के समान रक्त का निकलना और सर्व द्रविद्रियों का कार्य बंद होना ये लक्षण होते हैं ॥३२-३३॥

वक्तव्य—भ्रम—चक्र या अन्यथा ज्ञान । प्रलाप—असंबद्ध भाषण करना । विचेष्टन—विगतकायपरिस्तन्दनम् अथवा विस्तुतेष्टन करचरणादित्तेष्टादिकम् । सलयन—सुपुष्पवस्थस्येव चित्तस्याकर्मण्यता अर्थात् ग्लानिः । माधवनिदान में 'ग्लानिर्योग्यता च' ऐसा पाठ है । ऊर्धवात्—श्वास, ऊर्धवात् रोग यहाँ अभिप्रेत नहीं है । सर्वेन्द्रियार्थोपरमः—अपने विषयों का अहण करने की

३ सलयनीयता च ।

गक्षि का नाम। इर पंक्तिः—माम, मिरा, धायु, अस्थि और सप्ति हन पाँच मर्मों में।

सुरेन्द्रगोपप्रतिमं प्रभूतं
इर क्ववेदं शततश्च धायु ।

करोति रोगान् विप्रिधान् यथोक्तान्-

शिद्धमातु मित्रास्तथा सिरामु ॥३५॥
कौन्ज्य शरीरायवयवसादः

कियाम्बदाकिस्तुमुला रजाश्च ।

चिराङ्ग्लो रोहति यस्य चापि

त ध्यायुविद्धं मनुजं व्यवस्थेत् ॥३५॥

शोफातिवृद्धिरत्तुमुला रजाश्च
बलदाय पर्वत्सु भेदशोफौ ।

घटेषु सन्धिष्ठवलाचलेषु

स्यात् सन्धिकर्मोपरतिथ्य लिङ्गम् ॥३६॥

घोरा रजो यस्य निरादिनेषु

सर्वाख्यस्थामु न दान्तिरस्ति ।

दृष्ट्युङ्गसादौ श्वययुद्धं दैः ।

तमस्थिविद्धं मनुजं व्यवस्थेत् ॥३७॥

सिराओं के छेदन तथा भेदन होने में हृदयोग के समान (लाल रंग का) इर धाव से बहुत निकलता है और धायु (प्रकृष्टिहोर) अनेक प्रकार के रोग कर देता है ॥३७॥

शरीर के धार में बक्ता, न्यूनता, स्वर्कार्य करने की शक्ति न होना, तीव्र पीड़ा और धाव का देर से भर आना ये लक्षण जिसमें होते हैं, उस पुरुष के ध्यायु का वेद्य हुआ है ऐसा समझना चाहिये ॥३८॥ अतिरिक्त धाय, दारणा पीड़ा, बलदाय, जोहों में झोटन की पीड़ा और गींग तथा विद्धि सप्ति की कार्य हानि में लक्षण बल या अचल संपत्ति के छेदन में होते हैं ॥३९॥

जिसको रात दिन तीव्र पीड़ा हो, किनी भी अवसरा में चैतन न पढ़, तृप्ता और अंगों का यकान हो और (ज्ञान के स्थान में) गोयतथा पीड़ा हो उस मनुष्य का अस्थि कट गया ऐसा समझना चाहिये ॥३९॥

यत्कठव्य—इन स्तोंको में मर्महित मिरा, ध्यायु, सप्ति और अस्थि इनके वेद्य के लक्षण वर्णन किये हैं । ध्यायु—इर का अधिक धाव होने से धायु प्रकृष्टि होता है—भानुशयाद् सुने रेके मन्त्र सनातेऽनेतः प्रवनश्च परनेत्र यत्ति ॥ माधविनिदान में इसलिये इस स्तों का पाठ ऐसा है 'इर स्वेन्द्रूष्वत्वय धायु । वयोक्तान् शास्त्रितर्वनीयाप्यायोक्त्रामृश्यथा—तत्तिष्ठतु रिये भिन्नप्राप्त्यमात्माहैराप्तिर्करीति' ॥ कौवृद्ध—जिस अग में स्नायु वेद्य हुआ है उसीकी बक्ता । मर्द—विद्धारायवन् पीड़ा विशेष । मरिष्यवलाचयेत्—सिंह तथा हिलने वाले सप्तियों में—साधामु हन्तों बक्ता च वेदावनश्च सर्व । गोप्त्यु नप्त्य नवे विजेवा दि रिप्ता दुष्टे ॥ (सुखुन) । अचल (Immovable), चल (Moveable) । कियालवर्गि—उत्तेष्य, अवनेष्य, आ कुचल, प्रसरण इत्यादि किया करने की शक्ति न होना । कोपपति—कर्म हानि (Loss of Function) ।

यथास्तमेनानि विमापयेयु
• लिङ्गानि मर्मस्मिताडितेषु ।

स्पर्शं न जानाति विपाण्डुवर्णं

यो मांसमर्मण्यमिताडित, म्यान् ॥३८॥
मर्म स्थाना ए अभिप्रात में उपरोक्त लक्षण स्थान अनुमार जानने चाहिये । जो मास मर्म में तात्त्वित हुआ वह मनुष्य स्तरे नहीं आनता है तथा वर्ण में कोऽका रंग जाता है ॥३८॥

यत्कठव्य—उपर चार स्तोंको में व्रस से सिरा, ध्यायि और अस्थि इनके वेद्य के जो लक्षण वर्णन किये हैं इसी लक्षण (यथास्तमेनानि) सिरामर्म, ध्यायुमर्म, सप्तिमर्म और अस्थिमर्म इनमें अभिप्रात होने से क्रमगत हानि है । पहले स्तोंकार्प का तात्पर्य है । दूसरे स्तोंकार्प में अनुकूल मर्म मर्म के वेद्य से होने वाले लक्षण दिये गये हैं । माधविनि में 'विमापयेष' ऐसा पाठ है और उसके अनुमार अग्रवाल पादिक सामान्य तथा मनुष्य गोप्त्यमात्मा विशेष लक्षण मर्म वेद्य में समझना चाहिये—नवारोद्यम भिन्नतम् । यहनि वर्ण द्रष्टव्य । गेत न कर्वल भगवत्प्राप्तादीनि पूर्वेनानि विन्वन्वर्तीदीनि द्विन्वन्वायपि वयवाक बोल्द्यानीतीवर्य । (इच्छण) ।

आत्मानमेतार्थं जयन्वन्यकारी

शलेषं यो द्रन्ति द्वि पर्मं कुर्वन् ।

तमात्मवानात्महनं कुर्वद्य

विवर्यज्येश्वर्युभीप्समान ॥३९॥

जो हीनकर्म करने वाला वैद्य शस्त्रकर्म करता हुआ वह को शश से छेदन करता है उस आम्याती नूपूर्व वैद्य की संवीकृत होने की इच्छा करने वाला दुदिमात् रंगी, दूर से परिलक्षण करे ॥३९॥

यत्कठव्य—जयन्वकारी—स्वगात्रत्वेदन जैमा हीन वैद्य छाने वाला ।

तिर्यक्षप्रणिषेद्वेते शशं दोपा पूर्वमुदाहता ।

तसात् परिद्रव्यन् दोपान् कुर्याच्छुलिनिपातनम् ॥४०॥

तिर्यक्ष शशपद करन से जो दोप उपश्च होते हैं, वे पर्वे (पाँचवें अध्याय में 'भन्यपातुतिरासायुविपातनम् अतिमात्र वेदन इत्यादि से') वर्णन हो चुके हैं । इसलिये उक्त दोपों के (मिरान्वातुक्तेन, अतिमात्रवेदना, मांसकैनीप्रादुर्मांस) परिवर्ता जिस प्रकार से हो, उस प्रकार शाश्वत्कर्म करना चाहिये ॥४०॥

मातरं पितरं पुगान् चान्ध्यगानपि चातुर् ।

अप्येतानभिशक्तेत वैद्य विभ्यासमेति च ॥४१॥

विसृजत्यात्मनाऽऽत्मान न चैन परिश्याहते ।

तसात् पुगवद्वेनं पालयेदातुर् विषयक् ॥४२॥

रोगी मनुष्य माना, पिता, पुत्र और बांधवों से भी वैद्य करता है परन्तु वैद्य से पूरा पूरा विकास रहता है ॥४२॥ और अपनी सुखी से अपने शरीर को वैद्य के हाथों में सौंदर्देता है परन्तु उस पर गक्का नहीं करता । इसलिये वैद्य को भी चाहिये कि वह उत्तर की तरह से रोगी की रक्ता और देह माल करे ॥४२॥

वक्तव्य—विसृजति—अर्पण करता है । आत्मना—
चयेव । आत्मानम्—अपने शरीर को ।

धर्मार्थी कीर्तिमित्यर्थं सतां ग्रहणमुत्तमम् ।

ग्रहणात् स्वर्गवासं च हितमारभ्य कर्मणा ॥४३॥

हितकर यानि दोषरहित कर्म करने वाले वैद्य को धर्म,
अर्थ, कीर्ति, सज्जनों में आदर (ग्रहण) और स्वर्गवास प्राप्त
होता है ॥४३॥

कर्मणा कश्चिद्देवेन द्वाख्यां कश्चिद्विभिरुत्था ।

विकारः साध्यते कश्चिद्वितुमिरपि कर्मभिः ॥४४॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूक्ष्मस्थानेऽप्यविधशशक्तमयो

नाम पञ्चविंशतिमोऽध्यायः ॥२५॥

कोई विकार एक कर्म करके, कोई दो कर्म करके, कोई
तीन कर्म करके और कोई चार कर्म करके साध्य होता
है ॥४४॥

वक्तव्य—कर्म—विशेष अर्थ अष्टविध ग्रन्थकर्म, सामान्य
अर्थ चिकित्सा कर्म यथा वसन विरेचनादिक अन्तःपरिमार्जन
कर्म, लेह, स्वेद, अन्यंग इत्यादि यहि:परिमार्जन कर्म और
अष्टविध शस्त्रकर्म । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि विकार
साध्य करने के लिये चिकित्सा कर्मों की कोई हृत्ता नहीं हो
सकती । रोग, रोगी हृनके बलावल के अनुसार जितने उपायों
को अंगीकार करना वैद्य को उचित मालूम हो, उन्हें उपायों
को अंगीकार करके विकार साध्य कर लेना चाहिये ।

शनि भास्करशरणां गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुरेदरहस्यटिपिकायां

सुश्रुतभाषाटीकायामष्टविधशशक्तमयो नाम

पञ्चविंशतिमोऽध्यायः ॥२५॥

षड्विंशतिमोऽध्यायः ।

अथातः प्रनष्ठशल्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्या-
स्याः । यथोचाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

यथ यहाँ से प्रनष्ठशल्यविज्ञानीय नामक अध्याय का
व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—प्रनष्ठशल्यविज्ञानीय—शरीर के भीतर प्रविष्ट
होने के कारण अष्ट हुए शल्य की उपस्थिति जानने का विज्ञान
जिसमें वर्णन किया है, ऐसा अध्याय ।

‘शल’ ‘श्वल’ आशुगमने धातुः; तस्य शल्यमिति
रूपम् । तद्विद्यिधं शारीरमागन्तुकं च ॥२॥

‘शल’ ‘श्वल’ ये श्रीघ्रगमनार्थक धातु होते हैं । इनसे यद्य
प्रत्यय होने से शल्य रूप सिद्ध होता है । वह दो प्रकार का
है—१ शारीरिक, और २ आगन्तुक ।

वक्तव्य—शन्य—‘शलत्वात् गच्छति वेनान्तःशारीरमनु-
पवित्रतिः’ इति शल्यम् । इसके सिवाय और दो अर्थ शल्य के
होते हैं—‘शल’ हिसायां धातुत्तस्य शल्यमिति रूपम् । ‘शल’ हृनायां
प्रातुत्तस्य वा शल्यमिति रूपम् ।

१ जीतिप्रीत्यर्थः, कीर्तिमत्यर्थः २ ‘शल’ हिसायां धातुत्तस्य शल्य-
मिति रूपम्, ‘शल’ हृनायाम् ।

सर्वशरीराधकरं शल्यं, तदिहोपदिद्यत
इत्थेतः शल्यशास्त्रम् ॥३॥

समस्त शरीर में जो पीड़ा करता है, वह शल्य है । उसी
का ग्रन्थिकार यहाँ कहा जाता है । हृस्तिलये वह शल्यशास्त्र
कहलाता है ॥३॥

वक्तव्य—सर्वशरीर—समनस्क शरीर—वैदेन्द्रियार्थश्रियः
शरीरम् । (न्यायसूत्र) । तदिहोपदिद्यते—तत् (शल्यम्) हृष्ट
(असुष्यां सहितायाम्) उपदिद्यते ‘प्रतिक्षारार्थम्’ हृष्ट श्रेष्ठः ।

तत्र शारीरं रोमनखादि धातुयोऽक्षमला दोषाद्य
दुष्टाः; आगन्तुकपि शारीरशल्यव्यतिरेकेण यावन्तो
भावा दुःखसुखाद्यनिति ॥४॥

उनमें से दुष्ट वाल, नाखून इत्यादि (धातुओं के भल),
दुष्ट (रसादिक) धातु, (मूद्रादिक) अज के भल और दुष्ट
(वातादिक) दोष शारीरिक शल्य कहलाते हैं । और शारीरिक
शल्य से व्यतिरिक्त जितने भाव दुःख उत्पन्न करते हैं, वे सब
आगन्तुक शल्य कहलाते हैं ॥४॥

वक्तव्य—दुष्टः—शरीर धारण करने वाले सब धातु
जब मलस्वरूप होते हैं, तब शल्य बन जाते हैं । हृस्तिलये दुष्ट का
सम्बन्ध रोम नखादि से दोष तक समझना चाहिये । शारीरिक
शल्य क्षायचिकित्सा की परिभाषा में मलस्वरूप धातु कहलाता
है—शरीरधातवः पुनर्दिविधाः संघेण—मलभूताः प्रसादभूताश्च । तत्र
मलभूतासे ये शरीरस्य वाधकाराः स्वृत्यथा—शरीरच्छेदपूर्वदेहाः
पृथग्जन्मानो वहिर्मुखः परिषक्ताश्च धातवः प्रकृषिताश्च वातपित्तेष्वामाः,
ये नान्येऽपि केवित शरीर तिष्ठन्ते भावाः शरीरस्योपवातायोपयन्ते
सर्वास्तान् भलान् संचक्षम्ह । (चरक) । भावाः—तृणा, काष्ठ,
पापाण, लोह, लोट्ट हृस्तादि पदार्थः । अंगेजी में आगन्तुक शल्य
को ‘फॉरिन बॉडी’ (Foreign body) कह सकते हैं ।

अधिकारो हि लोहेषु द्वृक्षत्तर्हणश्चास्थिमयेषु,
तत्रापि विशेषतो लोहेष्वेदं, विशसनार्थोपपन्नत्वा-
द्वोहस्य, लोहानामपि दुर्वारत्वादण्मुखत्वाद्वृ-
प्रयोजनकरत्वाच्च शर एवाधिकृतः ॥५॥

शल्यत्वं का अधिकार लोह, वांस, वृक्ष, तृण, सींग, अस्त्र
इनके पदार्थों में ही होता है । परन्तु उनमें भी हिंसार्थप्रयुक्त
होने के कारण लोह के पदार्थों में ही विशेष करके होता है ।
लोह के पदार्थों में भी दुर्निवारक, सूक्ष्म मुख और दूर से ही
प्रयुक्त होने पर भी कार्यकारी होने के कारण याण ही (विशेष
करके शल्यपद के लिये) अधिकारी है ॥५॥

वक्तव्य—सूत्र तीन और चार में शल्य की जो व्यापक
व्याख्या की गई है, उसके अनुसार ‘शल्य अनेत होते हैं, जिनका
प्रतिकार की दृष्टि से इस अध्याय में वर्णन करना असंभव है ।
हृस्तिलये शल्य कहने योग्य पदार्थों का प्रथम निर्देश करके
तत्प्रश्नात् लोहे के शर का ही विचार इस अध्याय में क्यों किया
गया है, इसके कारण बतलाये हैं । अल्यंत्र प्राचीन काल से
सुकृत के समय तक युद्ध के हिते वाराणों का ही उपयोग अस्थिक
दुःख करता था । ये वाण अत्यंत कठिन, तीक्ष्ण मुख चाले होते हैं

? लोहेष्वेदं २ ‘निर्मित्ताम्’ ‘निर्मित्ताम्’

पे और दूर से ही अल्पत देग के साथ आते हुए कबच आदि का प्रतिवन्ध तोड़कर शरीर के भीतर (दुर्वासत, दूरप्रयोजनकर्त्तव्य) प्रविष्ट होकर अल्पत पीढ़ी देते थे । शल्य शब्द की विशेष निहासि (शृणु २) जालों की शरीर के भीतर प्रवेश करने की किया की दृष्टि से की गई है और सामान्य निरसि पीढ़ी या हिसा करने की किया की दृष्टि से की गई है । शल्यविज्ञान और चिकित्सा का उद्दय प्रथम इन जालों के लिये ही हुआ है । इसलिये समस्त शास्त्रविकित्सा को शल्यविज्ञान या शल्यतंत्र कहते हैं । लाइ—प्रथम और द्वितीय लोहशब्द सुवर्णादिक पचलोह पर है । तृतीय और चूर्चुर्य सोहशब्द आयस्टर (Iron) है । विश्वनामेवप्रत्यावात्—हिसार्थोपयोगिवावात् । दुर्वासताद्—निष्पत्तिर्थेनान्तर्यात्मविवित्वात् । इत्यप्योजनकर्त्तव्याद्—दूरादपि हिसार्थार्थप्रत्याकृत्वावात् । गर एवाधिकृत—शल्यतेन अस्तित्र आये । हति शेषः ।

**स द्विविधः कर्णीं, शुक्रश्च; प्रायेण विविध-
शृक्षप्रपुष्पफलतुल्यकृतयो व्याख्याता व्यालमूरा-
पद्धिवक्तसदशाश्वा॥६॥**

यह पर दो प्रकार का होता है—१ कर्णयुक्त, और २ कर्णरक्षित । ये वाश बहुत अनेक प्रकार के कुक्कों के पत्तों के और पूर्णों के आकार के सदृश तथा सर्व सूख पक्षिकों के सुख के आकार के सदृश होते हैं ॥६॥

यत्तद्वय—कर्णीं क्षम्यता—जियके पिण्डारी में बुछ लगा हुआ है, यह कर्णीं और जो बिल्कुल सीधा है, यह स्वयं कहलाता है । इन जालों के सुख (शरीर में प्रदेश करने वाली सिरा) विविध आकार के होते हैं । इसलिये उनका सेषेष से और सामान्य रूप से बर्णन किया गया है ‘विविधत्वा’ इत्यादि । यथा कुछ पीपल के पत्तों के समान चाँड़ी और चट्टी नोक वाले, कुछ कनेर के पत्तों के समान लंबी और चट्टी नोक वाले, कुछ एकाकूल के समान गोल नोक वाले । कुछ एकाकूल के समान तिथारी नोक वाले भी कुछ सिंह, व्याघ्र, हरिण, काक, कहु इत्यादि प्राणियों के सुख के समान नोक वाले होते हैं ।

**सर्वशल्यानां तु महानामणानां या पञ्चविधो
गतिविशेष ऊर्ध्वमधो ऊर्ध्वानीस्तिर्थयुग्मुरिति ॥७॥**

ऐसे बहुत साथ जालों की दाँच महार एवं गतिविशेष होती है—१ छार को, २ नींगे को, ३, तिर्यक ४ तिर्यक, और ५ मराल ॥७॥

यत्तद्वय—नींगे से आने वाले गर की गति शर में जार की गयी होती है । उपर से आने वाले की नींगे की ओर होती है, तार्थ से आने वाले की नींगे होती है, भ्रमप्रदेश से आने वाले की भ्रम होती है और कभी कभी शरीर की ओर आने वाली जाल होती है । यथा—पाँच में भ्रम शरीर की गति शरीर के भीतर होती है । यथा—पाँच में आकार गोली में सरथ प्रवेश करना इत्यादि । इस गति जो गतिविशेष होती है ।

तानि वेगश्वात् प्रतिघाताद्वा त्वग्नादिषु शस्त्राद्यविष्टन्ते, धमनीस्त्रोतोऽस्त्रिविवरपेण्या
तिषु या शरीरप्रदेशेषु ॥८॥

ये शल्य वेग का ज्ञाय होने से या प्रतिघात से लगा अथवा के अधिकारों में तथा धमनी, खोन और अविर्यों विवरों में तथा मासलदादि शरीर के प्रदेशों में यि होते हैं ॥८॥

यत्तद्वय—वेगश्वात्—वेग की गति कम होने वाला की गति अधिक दूर से आने के कारण कम हो जाती अथवा समीक्षा होने पर भी धमनाकरण दहुत न करते कम रहती है । प्रतिघाताद्वा—अस्त्री जैसे कठिन गताण में लड़ जैसे सूख परन्तु भोट पश्चिम के प्रतिघात से । लालड़ गताण के आठ अधिकार—लालग्निविवरानुकूलस्वरूपीन लालड़ जैसे मर्म व तान्यटी (वासमट) । परमनीतोऽस्त्रिविवर—लालग्नि विवर, खोनोविवर और अस्त्रिविवर । शरीरप्रदेशु शरीरप्रदेशु शरीरप्रदेशु शरीरप्रदेशु । हति शेषः ।

तत्र शश्वलज्जणमुच्यमानमुपभारय । तत्र
द्विविध—सामान्यं, वैशेषिकं च । इषावं रिष्ट्वा
चितं शोफवेदनावन्तं मुदुर्मुदुः शोषिताक्षात्विं
शुद्धुद्वयदुमतं मुदुमांसे च वर्णं जानीत्वा
सशस्योऽयमिति । सामान्यमेतत्तुष्टयमुक्तम् ॥९॥

बहीं (स्थित होने पर) शल्य के लक्षण जैसे जो जाते हैं भ्रग करो । ये लक्षण दो मकार के होते हैं—१ सामान्य और २ विशेष । यदि यथा श्यामवर्ण हो, रिक्ता योग है वेदनायुक्त हो, वारवार छप्पर निकलता हो, इस्तुते तुल्य ऊंचा उड़ा हो, कोमल मोस मुक्त हो तो समझता है यह शल्यतुल्य है और यही शल्ययुक्त यथा का समान लक्षण है ॥९॥

यत्तद्वय—सामान्य से यात्रा की सरलता गति होती है और विशेष से गलत का अधिकान मालाम होता है ।

वैशेषिकं तु—त्वग्नाते विवरणे, शोफो भयल्लार
वठिनश्च । मांसगते शोफाभियृदिः शास्त्रमार्गुर
संरोहः पीडनासदिद्युता चोपाक्षी च, वेशवार
स्थेऽप्येतदेव चोपशोफवर्जः, सिरागते मिरापालं
सिरायुक्तं सिरायोक्तव्यः, द्यायुगते द्यायुगानो वेशं
संरक्षयोग्रा रक्तं च, ग्रोतोगते ग्रोतसो भ्यर्म
गुणदानि ॥१०॥

(स्थान के अनुगम) विशेष लक्षण में—१ लक्षण से अस्त्र हो गा लक्षण का कर्ण वस्त्र जाता है तथा है विश्वल भर्त छड़ा होता है । मांसगत स्थव होता है वृद्धि, शल्य के माने का त भ्रमता, रिगोनाशमान (Phlegm), दाढ़ और पाक ये लक्षण होते हैं । यदि ये हैं तो चूंच भर्त गोल के भ्रमिति, मांसगत स्थव के अस्त्र होते हैं । यिता में लक्षण होते हैं (लक्षण जाने से) यिता का घृतता, यिता में दंतना तथा (Phleb Ls) होता है । यात्रा में गति होती है जो घासुद्धे

च (और उसी के कारण ऊपर को होना), तीव्र शोथ (दास्त्र वेदना होती है) स्रोत में शल्य हो तो स्रोत के रोकी हानि हो जाती है ॥१०॥

धमनीस्थे सपेनं रक्तमीरयज्ञनिलः सशब्दो गच्छत्यज्ञमर्दः पिपासा हृष्टासश्च; अस्थिगते विधवेदनाप्रादुर्भावः शोफश्च; अस्थिविवरगते-थपूर्णताऽस्थितोदः संहर्षे चलवांश्च; सन्धिरेऽस्थिवच्चेष्टोपरमश्च; कोष्ठगत आटोपानाहो त्रपुरीप्राहारदर्शनं च व्रणमुखात्; मर्मगते मूर्खिद्वच्चेष्टते । सूक्ष्मगतिपु शल्येष्वेतान्येव चणान्यस्पष्टानि भवन्ति ॥११॥

धमनीगत शल्य हो तो भागयुक्त रक्त को बाहर निकालता प्रा वायु शब्द के साथ निकलता है तथा अंगमर्द, तृप्ता और क्राइ होती है । अस्थि में शल्य हो तो विविध प्रकार की डां और सूजन उत्पन्न होती है । अस्थि के छिद्र में शल्य हो । उसका भर जाना, अस्थियों में पीड़ा और व्याकुल हो जा यै लक्षण होते हैं । संधि में शल्य हो तो अस्थिगत शल्य लक्षण होते हैं । तथा संधिवेष्टा बंद हो जाती है । कोष्ठ में श्ल हो तो आटोप, आनाह तथा व्रण के मुख से मूत्र, पुरीप और आहार का दर्शन होता है । मर्मगत शल्य हो तो मर्मवेध रो भाँति चेष्टा करने लगता है । सूक्ष्म शल्य में ये ही लक्षण स्पष्टता से होते हैं ॥११॥

चक्कव्य—धमनीस्थे—धमनी में रक्त के साथ वायु भी होता है, ऐसी प्राचीन काल में कल्पना थी—देहिनां हृदय देहे खिदःखप्रकाशकम् । तत्संकोचं विकास च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः ॥ कोचने विहीर्याति वायुरुत्तरिकासतः । ततो नाड्यश्वलन्त्यस्त्रभरायाः पुरुणं ततः ॥ (उमामोहश्वरसंवादे नाडीज्ञानम्) । अस्थिविवर—प्रस्थियों के बीच की नाली (Medullary Cavity) । प्रस्थिपूर्णता—अस्थि के विवर का रक्त लसिकादि से भर जाना । हृष्टः—आकुलवस्त्रम् (इन्दु), अत्यन्त व्याकुल होना वेदना के कारण । चेणोपरमः—प्रसारण, आकुच्चन, उत्क्षेपण अवक्षेपणादि क्रियाओं का बंद हो जाना । आटोप—उदर में वात के कारण गुदगुड़ शब्द होना । आनाह—मलावोध—सूक्ष्मपुरीपाहारदर्शनम्—वस्ति में शल्य प्रविष्ट होने से मूत्रदर्शन, स्थूलान्य में प्रविष्ट होने से मल का दर्शन और आमाशय में प्रविष्ट होने से आहार का दर्शन हो सकता है—कोष्ठश्ल शल्ये व्रणमुखात् स्थान-प्रेषण यथासंभवं मूत्रादिर्दशनादि भवति । (इन्दु) । यहाँ कोष्ठ से केवल उदर विभाग (Abdomen) अभिग्रेत है यद्यपि उसमें वक्तव्यभाग का भी समांवय किया जाता है—स्थानान्यामादिप्रकानां मूत्रस्य रुधिस्य च । हुदुणकः कुफकुनश्च कोष्ठ इत्यभिवीते ॥ मर्मविवरत्—मर्म का वेध होने से जो लक्षण होते हैं, वैसे लक्षण रोगी में दिखाई देते हैं—मर्मवेध के सामान्य लक्षण संयह में ये दिये हैं—सामान्यलक्षणं पुनर्मर्मणां पीटिते रुदोत्पत्तिरूपमं च स्पन्दनम् । सामान्येव च—देहप्रसुतिरूपा संयोगः शीतकामिता । सेवो मूर्द्या वस्तिः शास्त्रमर्मविद्वस्य लक्षणम् । स्थान के अनुसार विशेष लक्षण । शारीरस्थान के छठे अध्याय में वर्णन किये हैं । परंतु मर्मवेध में विशेष लक्षणों की अपेक्षा

सामान्य लक्षण अधिक महत्व के हैं । यह जो मर्मवेध का लक्षण समूह होता है, उसे अंगेजी में शोक (Shock) कहते हैं । मर्म के ऊपर भारी चोट लग जाने से अथवा शल्य प्रविष्ट होने से तीव्र पीड़ा होती है जिससे मर्मित्पक का कार्य थोड़े समय के लिये विरत हो जाता है और इस कारण शरीर की सारी शक्तियाँ और कार्य अत्यंत मन्द हो जाते हैं और रक्त का भार (Blood pressure) भी कम हो जाता है । सूक्ष्मगतिपु शल्येषु—सूक्ष्मगतियुक्त शल्यों में अर्थात् सूक्ष्म आकार के शल्यों में—सूक्ष्मशल्येषु । (इन्दु) ।

महान्त्यवपानि वा शुद्धदेहानामनुलोमसञ्चितिं द्वानि रोहन्ति विशेषतः कण्ठस्रोतःसिरात्वक्षेपद्यस्थिविवरेषु; दोपप्रकोपव्यायामाभिघातजीर्णेभ्यः प्रचलितानि पुनर्वाधन्ते ॥१२॥

वातादि से अदूरपित देह वालों के अनुलोम रूप से प्रविष्ट हुए छोटे या बड़े शल्ययुक्त व्याप, विशेष करके कण्ठ, सिरा, त्वचा, पेशी और अस्थिविवर इन स्थानों के व्याप भर जाते हैं । परंतु दोपप्रकोप से, व्यायाम से तथा अभिघात से प्रचलित होने पर फिर पीड़ा करने लगते हैं ॥१२॥

चक्कव्य—इस सूत्र में शरीर के भीतर शल्य होने पर भी व्याप भर जाने से शल्य प्रनष्ट यानि अदृश्य होने का कारण तथा अदृष्ट होने पर शल्य को निकालने की क्यों आवश्यकता है, उसका कारण बतलाया है । महान्त्यवपानि वा रोहन्ति—महान्ति, अल्पानि वा शल्यानि रुद्धवृणानि भवन्ति । अनुलोमसञ्चितिविषयानि—स्वल्पवाधं सञ्चितिविषयानि । अनुलोम का अर्थ कभी कभी अनुकूल होता है—अनुलोमसुखो वायुरुत्सारयतीव माम् । (रामायण) ।

तत्र, त्वक्प्रनष्टे लिङ्गधस्तिव्यायां मृन्मापयवगोधूमगोमयमृद्वितायां त्वचि यत्र संरस्मो वेदनाचा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्, स्त्यानघृतमृच्छन्दन-कल्कैर्वा प्रदिग्धायां शल्योपमणाऽऽशु विसरति घृतमुपचुप्यति वा लेपो यत्र तत्र शल्यं विजानीयात्; मांसप्रनष्टे लेहस्वेदादिभिः क्रियाविशेषैरविरुद्धरात्रुत्रुमुपपादयेत्, कर्णितस्य तु शिथिलीभूतमनवद्वं श्रुभ्यमाणं यत्र संरस्मे वेदनां च जनयति तत्र शल्यं विजानीयात्; कोष्ठास्थिसन्धिपेशीविवरेष्ववस्थितमेवेष्व परीक्षेत ॥१३॥

उनमें से त्वचा में यदि शल्य गुस्से हो तो स्नेहन स्वेदन करने पर यज्जिका, उड्ढ, जौ, गेहूँ, गोवर इनका चूर्ण त्वचा पर मर्दन करने से जहाँ सुखी, शीघ्र और पीड़ा हो वहाँ शल्य की उपस्थिति जाननी चाहिये । (दूसरी परीक्षा यह है कि) जमे हुए घृत का लेप या मृत्तिका और चन्दन के कल्क का लेप करने पर जहाँ शल्य की जम्मा से घृत पतला होकर भरने लगता है अथवा चंदन का लेप शीघ्र सूखने लगता है, वहाँ शल्य की उपस्थिति जाननी चाहिये । यदि मांस में शल्य गुस्से

हो तो थेहन स्वेदनादि अनुग्रह विकाश विशेषे द्वारा रोगी को उपचार करे और कृष्ण हुए रोगी का दीला, अपने श्वास से विमुक्त और ज्ञानित किया हुआ शब्द जड़ी सुर्खी, शीघ्र पैदेना उत्पन्न करता है यहाँ ही (उसका श्वास) जानना चाहिये। दोष, अस्ति, भवि, पैदी और विवर में स्थित हुआ शब्द हीसी प्रकार देखना चाहिये॥१३॥

यत्कठद्य—मृग्नायवक्षगोत्रस्मृगोत्रस्मृदिनायाम्—इस प्रथम वर्ग मृग्नोत्रवक्षगोत्रस्मृदिनायाम्। विमरणि—द्रव होकर वहाँ से पैलने लगता है। विविरणे—बमन विरचनादि साधापनायामक विरोप कियाओं द्वारा—मासप्रनव सनुद्याम कर्णान् श्वास गतम्। (वाप्तम)। धूम्यायाम्—जाननरोहण, व्यायाम, प्रतरण, आकुचन, प्रसारण, भईन इत्यादि कियाओं द्वारा ज्ञोभित किया हुआ।

सिराधमनीक्षोत ज्ञायुप्रनष्टे खण्डचक्रसंयुक्ते
याने व्याधितमारोप्यागु विपमेऽव्यनि यापायम
संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शब्दं जानीयात्,
अस्थिप्रनष्टे ज्ञोहस्वेदोपपद्मान्यस्थीनि वन्धनपीडना-
भ्यां भृशामुपाच्चरेयम् संरम्भो वेदना वा भवति तत्र
शब्दं जानीयात्। सन्धिप्रनष्टे ज्ञोहस्वेदोपपद्मान्
सन्धीन् प्रसरणाकुञ्जनवग्निपीडनैभृशामुपाच्चरेत्,
यथं संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शब्दं विजानी-
यात्; भर्मप्रनष्टे त्वनन्यभावान्मर्मणासुक्तु परीक्षयं
भवति॥१४॥

सिरा, घमनी, ज्ञीत और ज्ञायु इनमें शब्द गुह हो तो दूटे पहिये की गाई में रोगी को बिठा कर विपम मारो मैं शीघ्र चलाये। (उसके कटकों से) जहाँ सुर्खी, शीघ्र अथवा पैदेना होती है, वहाँ शब्द जानना चाहिये। अस्ति में शब्द नह हुआ हो तो स्नेह और स्वेद युक्त अस्थियों को ध्यान और मर्दन द्वारा श्व. उपचार करे। जहाँ सुर्खी, शीघ्र अथवा वेदना हो, वहाँ शब्द जानना चाहिये। संखियों में नष्ट हुआ हो तो स्नेह स्वेद युक्त संखियों को प्रसारण, आकुचन, धैथन और पीड़न द्वारा श्व. उपचार करे। जहाँ सुर्खी शीघ्र अथवा वेदना हो वहाँ शब्द जानना चाहिये। सिरा, मास इत्यादि पक्षुओं से मर्म पृथक् न होने के कारण यदि उन (मर्मों) में शब्द नह हुआ हो तो उपर्युक्त (त्वादिस्तित शब्द) परीक्षा विधि द्वारा मर्म स्थित शब्द की भी परीक्षा होती है॥१४॥

यत्कठद्य—अनन्तभावान्मर्मणाम्—‘मर्मणि नाम मौनमिति-स्वावरिष्यस्तिप्रियतात्’। अर्थात् मास आदि से मर्म पृथक् नहीं हो सकते हैं हस्तिये।

सामान्यलक्षणमपि च हस्तिस्तक्षयाध्यपृष्ठपर्वत
मूर्मारोहणाध्यनुर्व्यायामद्रुतयाननियुक्ताव्यगमनलक्ष्यन्-
प्रसरणस्वयनव्यायामैर्जूमोद्वारकास्तक्षयपुष्टीवनहसन
प्राणायामैर्योत्स्मृपुरीपशुक्रोत्सर्वं यथं संरम्भो
वेदना वा भवति तत्र शब्दं जानीयात्॥१५॥

१ उल्लेख वा द्रव तीशवलत्र शब्दं विजानीयात्।

ओर (गुप्तग्रन्थ का) सामान्य लक्षण (यह है कि हाथी के छपे, छोड़ी की भीड़, पहाड़, दूर्घ इन पर चलना, एकर्पण का स्वायाम करना, शीघ्र चलने वाली गाड़ी में बैठन कुदीर लड़ना, मार्ग चलना, दूर्घते दूर्घते चलना, तैरना, दूर्घ लड़ना, न्यायाम हत्यादि से तभा जीभाई, दकार, ज्वाला, दूर्घ धूमना, हैलना, प्राणायाम इनसे तथा अपेक्षोत्तम, मृश, मा और शुक्ल इनके उत्तरमें से जहाँ सुर्खी शीघ्र अथवा देह होती है वहाँ शब्द जानना चाहिये॥१५॥

यत्कठद्य—अर्टागद्याद्य में प्रतश्याद्य का सामान्य लक्षण स्वेप में ऐसा दिया है—सामान्येन तत्त्वं तु षेषिन विद्या सर्वः। और शब्द के आकार का मनुषान वज्ञा होति से करने के लिये कहा है—तृतीय पृथु चतुर्थोन विद्या तथा सामान्य। अदृश्यत्वंस्त्रशन विभावेष्य॥

भवन्ति चाप्र—

यस्मिंस्तोदाद्यो देशे सुस्ता गुरुतापि च।
घंटिते धृशो यश छूते तु द्यतेऽपि च॥१६॥
आतुरक्षापि यं देशमनीहृणं परिरक्षति।
संघातामानो वायुशस्त्रं शश्यं विनिर्दिशेत्॥१७॥

शरीर के जिया अवयव में पीड़ा (राग शीघ्र इत्यादि), सुस्ता (सर्वज्ञान की कमी) तथा भारीपन मालूम होता है, वहाँ पैद्य से ज्वाव होता हो और बहुत पीड़ा होती है॥१६॥ तथा आतुर जिस द्वायाम की देहने द्वै द्वय द्वायाम (सराव मान) हत्यादि से यात्रार रक्षा करता हो, वहाँ शब्द जानना चाहिये॥१७॥

अलंपायाधमशत्र च नीरुजं निरुपद्वयम्।

प्रसर्वं सूदुपर्यन्तं निराघद्मनुभत्तम्॥१८॥

पद्यप्या सर्वतो द्वावा यथामार्गं चिकित्सकः।

प्रसाराद्यकुञ्जनाशनं नि शल्यमिति निर्दिशेत्॥१९॥

जिसमें भोड़ी वाया हो, सूजन न हो, पीड़ा न हो, कोई उपद्रव न हो, जो (देखने से) प्रसर्व हो, जिसके किंतु गृदु हों, जो निराघद्म हो, ढंका भी न हो॥१८॥ ऐसे वज्ञ के वैद्य प्रथमार्गं सर्व प्रकार से एषायी हुआ देखकर और प्रसार्य तथा आकुचन करके फिर निश्चित रूप से नि शल्य ऐसा कहे॥१९॥

अस्थयात्मकं भज्यते तु शल्यमन्तःश्च शीर्यते।

प्रापो निर्मुखते शार्द्धमायसे चेति निष्प्रयः॥२०॥

अस्थिरूप शल्य शरीर के भीतर छण्डा फूटता है तथा कण्या फूटता है और सींग का शल्य प्राप्य वक्त ही जाता है, वह निष्प्रय है॥२०॥

वार्द्धैषयतार्यानि निर्धियन्ते तु नो यदि।

एवमिति रक्तं मांसं च क्षिप्रमेतानि देविनाम्॥२१॥

इस, मास और गुण इनके (परीक्षा के भीतर सुने हुए) एवं यदि नहीं निकाले जायें तो शीघ्र ही रक्त और मांस को पका देते हैं॥२१॥

उनके राजतं तात्रं रैतिंकं चपुर्सीसकम् ।
चेरस्थानाद्विलीयन्ते पित्ततेजःप्रतापनात् ॥२२॥
वमावशोता मृदयो ये चान्देऽपीदशा मत्ताः ।
इच्छिभृताः शरीरेऽस्मिन्नेकत्वं यान्ति धातुभिः ॥२३॥
सुवर्णा, चांदी, ताँदा, पित्तल, रांगा और भीसा इनके
व्य शरीर में अधिक काल तक रह जाने पर पित्त के तेज में
उ होकर चिलीन हो जाते हैं (यानि साध्य हो जाते हैं)
२॥ स्वभाव से गीतल मृदु जो ऐसे ही और भी शब्द होनं
वे भी (पित्त के तेज से) पित्तल कर धातुओं के साथ
हता को प्राप्त हो जाते हैं ॥२३॥

विषाणुदन्तकेशस्थिवेणुदारुपलानि तु ।
शत्यानि न विशीर्णत्वे शरीरे मृन्मयानि च ॥२४॥

सींग, दंत, कंग, अस्थि, चांम, लकड़ी, पत्थर और मिट्टी
नके शब्द शरीर में (अधिक काल अवस्थित होने पर भी)
पर्याण नहीं होते (यानि कण्ठः इति भित्ति होकर साक्ष्य
हीं होते) ॥२४॥

बक्कव्य—गरीर के भीतर प्रविष्ट हुए शब्द की चतुर्विध
पर्ति होती है—(१) यदि शब्द असाध्य परन्तु शुद्ध (Sterile)
तो तो धातुओं में वैमा ही चिरकाल तक रह सकता है ।
पित्तल उसके ऊपर तांत्र धातु का क्लोस घन जाता है ।
(२) यदि शब्द असाध्य परन्तु दूषित हो तो पाक होकर
बचा कूटन से पूर्ण के साथ वाहर निकल आता है । (३) यदि
शब्द साध्य और शुद्ध हो तो पित्त तेज से पाचन और शोषण
होकर शरीर के धातुओं के साथ एकता प्राप्त करता है । (४)
यदि शब्द साध्य परन्तु दूषित हो तो पाक होकर पूर्ण के साथ
वाहर निकल आता है या रक्त के द्वारा शरीर में ही प्रोत्तित
होकर दृष्ट त्वचादि दृष्टिय मार्ग से मल के रूप में वाहर
फेंका जाता है ।

द्विविधं पञ्चगतिमंत् त्वगादिवस्तुयु ।
विशिष्यते वैति यैः शब्दं स रादः कर्तुमर्हति ॥२५॥

इति सुकृतसहितायां सदस्याने प्रनष्टशब्दविजानीयो

नाम पदविशतिमोऽध्यायः ॥२६॥

जो वैद्य शब्द के दो (कर्णी और श्लक्षण) प्रकार, उनकी
(अज्ञाधीभेद से) पाँच गतियां तथा त्वगादि अधिकारों में
(स्पृष्ट या गुस्स स्थिति में) स्थित हुए उनके लक्षण जानता है,
वही राजा की चिकित्सा करने योग्य है ॥२५॥

रति भास्करामणा गीविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्दरहस्यदीपिकाया
सुकृतभापातीकायां प्रनष्टशब्दविजानीयो नाम
पदविशतिमोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातः शब्दापन्नयनीयमध्यायं त्वाख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

१ कृष्णायालपुरीसकम्, २ पञ्चगतिक, ३ यो वेत्यविचितं.

जब यहाँ से शब्दापन्नयनीय नामक अध्याय का व्याख्यान
करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

शब्दं द्विविधमववद्धमनवद्धं च ॥२॥

पन्न दो प्रकार का होता है—(१) अवद्ध (विशेष रूप
से संसक गड़ा हुआ), (२) अननवद्ध (विशिलत्प से स्थित
हुआ) ॥२॥

तत्र भमामेनानववद्धशब्दोऽरणार्थं पञ्चदश
हैनून् वक्ष्यामः । तद्यथा—स्वभावः, पाचनं, मेदनं,
दारण, पीडनं, प्रमार्जनं, निर्मापनं, घमनं, विरेचनं,
प्रज्ञालनं, प्रतिर्मर्शः, प्रवाहणम्, आचूपणम्, अय-
स्कान्तो, हर्षयेति ॥३॥

उनमें से अनवद्ध शब्द निकालने के लिये संक्षेप
में पंक्त उपय वर्णन करते हैं । वे ये हैं—१ स्वभाव,
२ पाचन, ३ भेदन, ४ दारण, ५ पीडन, ६ प्रमार्जन, ७ निर्मापन,
८ घमन, ९ चिरचन, १० प्रज्ञालन, ११ प्रतिर्मर्श, १२ प्रवाहण,
१३ आचूपण, १४ अयस्कान्त, १५ हर्ष ॥३॥

वक्तव्य—तेरु—माधव या उपाय । स्वभाव—शरीर के
स्वभाविक देश । पाचन—अतर्मी कुष अगुह प्रभृति तथा
'शणमूलक' प्रभृति द्रव्यों द्वारा शब्दयुक्त स्थान का पाल
करना । भेदन—पक्षम्पान को शब्द से चीरना । दारण—पके
हुए स्थान को चिरचिलादि मिश्रकोक द्रव्यों द्वारा फोड़ना ।
पीडन—पके तथा फूटे हुए स्थानस्थित शब्द जो हाथ के
द्वायाव से या प्रालम्बादि पिच्छिल द्रव्यों के शुष्क हुए लेप के
द्वायाव से निकालना । प्रमार्जन—वरादि से पौछना ।
निर्मापन—प्रधमन नस्य का एक प्रकार है । इसमें नसा के
भीतर नलिका द्वारा नस्य चूंची छोटा जाता है । इस चूंच का
प्रयोग दीने से जो दूँक या वेगिशेष आता है, वह निर्मापन
है । प्रतिर्मर्श—अंगुलि से धर्षण । प्रवाहण—कुन्थन । आचूपण—
सुख, सींग या अन्य घन के द्वारा चूसना । अयस्कान्त—लोह
आर्कपैन करने की जिसमें स्वभाविक शक्ति होती है, ऐसा
सनिज (Load stone) पदार्थ ।

तत्राशुक्ष्मवृद्धारकासमूत्पुरीपालिलैः त्वभाव-
वलप्रचृत्यन्नयनादिभ्यः पतति; मांसाद्वगादं शल्वम-
विद्युत्यामां पाद्यथित्वा प्रकोपा(था)त्वस्य पूर्यादोहित-
वेगाद्यौरचाद्वा पतति । पक्षमाग्निरस्यामां लेदयेद्वर-
येद्वा । भिन्नमनिरस्यामां पीडनीयैः पीडनेत्
पाणिभिर्वा । अष्टून्यक्षशस्यानि परिषेचनाध्यापनै-
पोलवल्पापाणिभिः प्रसर्जयेत् । याहारदेष्वप्लेष्य-
हीनाखुशाल्यानि श्वसनोत्कासनप्रधमदैर्मिद्येत् ।
अप्तशस्यानि घमनाङुलिप्रतिर्मर्शप्रभृतिभिः । विरेच-
नैः पक्षाशयगतानि । व्रणोपायशयगतानि प्रस्ता-
लनैः । वातसूत्रपुरीपर्यग्मसद्गेषु प्रवाहणमुक्तम् ।
माधवोदकसविषरुधिरुद्गुप्तस्येष्वाद्युष्मगुलास्येष
विषर्णैर्वा । अनुलोममनवच्छमर्कर्षमवलयप्रसुत्त-
मयस्कान्तेन । एष्वस्थितमनेककाररसोत्पत्तं शोक-
शब्दं हर्षयेति ॥४॥

उनमें अशु, छोंक, डकार, खासी, मूत्र, विषु, बायु इस्तमाल के स्वभाववलप्रयुक्त घोंगों से नियनादि (इन घोंगों के अधिकान से शब्द निकल आता है)। भास में गहराई पर स्थित हुआ शब्द यदि न पकता हो तो उसे पकाये। पकने से बह पूर्ण और रसिर इनके नेंगे के साथ या अपने ही भासीरन निकल जाता है। पकने पर भी जो नई फूटता है, उसे (शश द्वारा) भंडन करेया (उण ओरपिंथ के ऐप से) विद्यरप्ति करें। फूटने पर भी उसमें से शब्द न निकलें ताकि पीड़ित द्रव्य के ऐप में या हाथ से दबा दें और शब्द निकालें। नेपाली इडियों के सूक्ष्म शब्दों की परिपेचन, आभासापन, बाल कपड़ा और हाथ इनसे पौंछ कर निकालें। अग्राहारोप, लेम्प और (बाहर निकले हुए शब्द के बचे हुए) सूक्ष्म सूक्ष्म दुखों भास लेने, खासन और प्रभासापन से निकालें। खायें हुए अब का शब्द वसन (द्रव्य का उपयोग) करके या (गल में) अंगुली से धर्यें करके निकालें। पकायायत शब्द विरेचन से निकालें। वण के भीतरी शब्द जल द्वारा प्रवालन करके निकालें। अधोवात, मूत्र, मल और गर्भ हवके अद्वय जाने में (जो शब्द उत्पन्न होता है, उसको निकालें के लिये) प्रवाहण कर्म कहा है। बायु, जल, दूधिन रक्त तथा स्नानात् वृद्ध (रूपशब्द की) मुख या सींग के द्वारा चूस कर निकालें। अनुलोभ, गियिल, कर्णादीन (क्षेत्र) और घोंडे मुख के धन में स्थित हुआ (गर) लोहवृत्तक से निकालें। अनेक कारणों से हृदय में उत्पन्न हुआ योंकरूपी शब्द हर्व उत्पन्न करके दूर करें ॥४॥

धरणीय—अक्षांश—इन्फिलेशन शाल । आधारपान—वायु से भरना। ओग्वी में इसको 'इन्फ्लेशन' (Inflation) कहते हैं। इसका विशेष उपयोग कैण्डल्य निकालने के लिये होता है। इसकी सीढ़ी पदवियाँ हैं। (१) वैल्सल्वा की पदवि (Valsalva's method)—इसमें हात तथा नासा बंद करके निखासन की क्रिया जोर से की जाती है, त्रिपसे श्रुतिसुरुंगा (Eustachian tube) में से वायु मन्दरक्षण में चर्नी जाती है। (२) पोलिट अर की पदवि (Politzer's method)—हूपमें रबड़ की फेली (Rubber bag) से एक नासिका में वायु भरी जाती है जिस समय दूसरी नासिका तथा मुख बढ़ होता है। (३) श्रुतिसुरुंगनाईकेट (Eustachian catheter) द्वारा सीढ़ी हवा मुख से श्रुतिसुरुंगा में प्रविष्ट ही जाती है। आधारपान का दूसरा अर्थ मुख से छूना भी होता है। हृष्टदा उरपीणा व्यवहार में हीमोग नेत्रागत शाल निकालने के लिये होता है। आहारोंपर्याप्तीनालापन—माथा दर्दों के कारण, घूँघू और नासा तथा मुख से निकलने वा गिरे हुए मोंज शस्त्र से दूसरा भाग यह एक अर्थ है। दूसरा अर्थ ऐपाइटिम वायाध द्रव्यों के ही कठटनामायन घूमन वा—आगमेण अण्ट्स्ट्रामर्किन ऐपाइटिम वायाधीन तन्त्रजालीनि वा अहार क्षेत्रीनालापन—यह वि। वह ऐपाइटिम विटेना हैमैनानो वा—अस्ट्रेनालापितिमालालापन—यह वि। (हातालचंद)। अक्षांश वि। अर के साथ आमतौर पर अक्षांशिका (Ovovia agus) में चिल दूजा लाय। एक रूपांतरि—प्राहसी (Doodenuu) में देखा गया तब महायेत का जो भाग है, उसमें लिय

हुआ शल्य । ब्रगदोष शवदग्नानि—ब्रण का दोष जो पूरे उस आशय में स्थित हुए अर्थात् मण मीतर स्थित हुए शब्द प्रवाहण—विशेष और लगाकर कुंपना (Straining) । मतोऽस्ते—अस्थिगत वायु और क्षयगत जल—निष्टेष्टमि वायो पालिम्पेन दारिने । नार्ती दस्ताइशनि शिख चूपे प्राप्त वटी ॥ (सुकुन) । फोड़न्मृष्टौ इनेन मतिवा तैन्तरिणि छिंदेवरमुख कर्ण हस्यादा चूच्येत वा ॥ (अष्टागद्दय) । विश-
श्यग वन्न्र तथा आवश्यकता के अनुसार धूपण के लिये दूसरी नार्तीयन्त्र । अनुलोम—कुरुमिन—अथवानेन निष्टेष्ट विष्टार दृश्यन्तम् । (वामट) । शोषण्य होते—यहाँ थोक भी हृप द्वीनों उपलब्ध समझ कर देक से सामान्यतया मात्रम् शल्य और हृप से मानसमरणाहरण उपाय समझना योग्य है ॥

भवति चाप्त—

इतिलेन जलेनैनं भूच्छेन्तमवसेचयेत् ।
संरक्षेदस्य मर्माणि महाराज्वासयेत् तम् ॥५

सप्त छेटे या थडे शर्यों के निकालने के द्वी ही अपार होते हैं—१ अनुग्रह और २ प्रतिलोम । उनमें से जो एक अवाचीन ही, उसे प्रतिलोम बरके लिखते हैं । जो शल्य पारापूर्ण हो, उसे अनुग्रह पद्धते “निकाले । जो शल्य उत्पृष्ठ और नीलग भारा सुर्य हो, उसमें (निकालने के लिये दृश्यी और एहत बरके) इधर उधर छिलावे । परतु हुक्मि (Sudha), घज, काँख, वेषण और पंचाकान्तरीय स्थान (Intercostal spaces) इनमें प्रविष्ट हुए नीलग शराम्य शर्यों की भी जो हाथ से निवल संक उन्हें उमी मार्ग में (प्रतिरोध) हाथ से निकालने का थान करे । जो हाथ से निकालना मार्ग हो, उसे (पहां) शर्य से चुनेद कर (दधार) पथ में पकड़ कर निकाला ॥ ५ ॥

(गान्धी निकालने माया) मूर्दित हुए गान्धी बुला आकु
पर ढैंडा पांडा का (योटा पांडा) लिपत फों, (उत्तर करने
माया) उद्योग मार्गी की रसा करे तथा (मार्गी गणराज्य
के प्रारम्भ से अस्ति तक) उसे याकार (इत्यामह वचन
में) लकड़ी रसा करे तथा

यज्ञाद्य—पर्वती—तिथि त्रिद में से पाँच महीने के भीतर प्रविष्ट होता है, उन्हीं त्रिद में से पाँच माहों तक (प्रसारमासी)

१ अपेक्षितमानि ॥ २ दाता—अनुभवात् वि
त्तीरक्षणात् । अपेक्षितमानिर्दृश्यमाने दाता विभिन्न
दातात् । ३ इत्येवं पात्रज्ञाने परिसर्व वैतापादो
एव विषय देखता ।

उना अथवा शल्य की शरीरप्रवेश दिशा के विरुद्ध दिशा कालना । अनुलोम—प्रवेशमार्ग में न निकाल कर दूसरी शया मार्ग करके निकालना अथवा शरीर में जिस दिशा व्य प्रविष्ट हुआ उसी दिशा में आगे बढ़ाकर निकालना । तीन—नातिदूर प्रविष्ट अथवा जिस शल्य का अग्रभाग के सज्जभाग तक गहरा नहीं पहुँचा है । ‘अर्वन्तमवस्थ-इति अर्वाचीनम् । पराचीन—दूर प्रविष्ट अथवा जिस का अग्रभाग दूसरी ओर के पृष्ठभाग के समीप पहुँचा ‘परा बहुलज्जाच्छ्रिति’ इति पराचीनम् । शल्य निकालने के उत्तम विधि वह कहीं जा सकती है, जिसमें निकालते य शरीर के धातुओं का नाश विलकुल न हो या अत्यल्प तथा शल्य का बाहर आने का मार्ग भी अत्यल्प हो । इसी से नातिदूर स्थित शल्य प्रतिलोम निकालना और रुस्तिं शल्य दूसरी ओर थोड़ा छेद करके निकालना ही वेक प्रशस्त होता है । पराचीन शल्य प्रवेशमार्ग से ही निकालने में पूर्व व्यायमार्ग होने पर भी शल्य के सुख का उल्ल हिस्सा स्थूल तथा नोकीला होने के कारण बहुत डेनाई होती है, व्यायमार्ग के चारों ओर के धातु में वह लिमाग अटक जाने से उस धातु का नाश होता है और इसके संघर्ष से पीड़ा भी बहुत होती है । उत्तुष्टिं—इसके विधि होते हैं—(१) पृष्ठ भाग के ऊपर सुँह दिखाता हुआ य—दृश्यमानसुखम् (इन्द्रु) । वायि बुद्धुदवदुक्तम् । (अस्त्वदत्त) । (२) कंटकयुक्तसुख—उद्दतकंटकाचित्तसुखम् । (हाराणचंद्र) । दनीयसुखम्—इसके भी दो अर्थ किये गये हैं—(१) देवनाई—स्वेतम् । (चक्र) । (२) धारासुखम् । (हाराणचंद्र) । छित्ता—ल्य की मोटाई के अनुसार आयत और विशाल दूसरा छेद रेके—शल्यदैर्घ्यपरिणाहसर्वकृतोपतापशकाजिहासार्थमिदं वेदनं तावत्ययो कौत्स्यं यावत्यंशे इत्तेऽसुखं शल्यं पराचीनं भवति । (हाराणचंद्र) । इस प्रकार यथापि दो प्रकार के अर्थ उत्तुष्टिं और दृश्यमय सुख के होते हैं तथापि ‘उत्तुष्टिं छित्ता निर्धारयेद्दीनीय-सुखम्’ इस सूत्र के अर्थ में विशेष फर्क नहीं होता । पहले नेत्रानुसार इस सूत्र का अर्थ यह है कि जो शल्य शरीर में प्रविष्ट होकर दूसरी ओर सुँह दिखाता है वह शल्य अनुलोम वेक से निकालने के लिये उस स्थान का छेदन करके सुखर लियादिक से इधर उधर हिलाना चाहिये । हाराणचंद्र के अनुसार इसका अर्थ यह है कि जो शल्य कंटकाचित और धारासुख है, वह अर्वाचीन होने पर दूसरी ओर छेदन करके दृश्यम विधि से निकाले । विश्वस्य शल्य—यन्त्रं प्रवेश निरोक्त्यवा शल्य निर्गम निरोक्तं प्रदेश शश्य से छेदित करके ।

—अष्टांगहृदय में यन्त्रों के द्वारा शल्यों के आहरण का एक निष्ठ प्रकार से किया गया है—इत्यं सिंहाहिमकरवर्मिक-प्रकाराननेः । अदृश्यवृणतस्थानाद् व्याहृते शक्यते यतः ॥ कंकंभूगाह-प्रकाराचावायसाननैः । संदंशाभ्यां त्वाग्दित्यं तालाभ्यां शुपिरं हरेत् । शुपिरस्य तु नलैः शेषं शेषैर्यथायथम् ॥ जो शल्य विशलयं एमि स्थानों में प्रविष्ट हुए हैं तथा जो शीफ वेदनादि से विरहते हैं ऐसे शल्य निकालने की जरूरत नहीं है—नैवाहरेद्विस्तं न एव वा निष्पद्वम् । (अष्टांगहृदय) । नैवाहरेत्...शोफ-दिनापाकविरहितम् । (अष्टांगसंग्रह) ।

ततः शल्यमुद्भूत्य निर्लोहितं व्रणं कृत्वा स्वेदार्हमग्निधृतप्रधृतिभिः संस्वेद्य विद्या प्रदिद्य सर्पिर्मधुभ्यां वस्त्राऽऽचारिकमुपदिशेत् ॥७॥

(उपर्युक्त विधि के अनुसार हाथ से अथवा शस्त्र द्वारा छेदन करके यंत्र से) तदनंतर शल्य निकाल कर व्रण के रक्त को साफ करके स्वेदन योग्य व्रण को अग्नि धृत आदि से स्वेद करके, अग्निदाह योग्य व्रण को दाह करके पश्चात् मधुयुक्त धृत से लेप करे और व्रण का धृत व्रण करके (वणितोपासनी-योक्त पथ्यादि) आचार का उपदेश करे ॥७॥

वक्तव्य—निर्लोहितम्—शल्य प्रविष्ट होने के समय तथा शल्य निकालते समय व्रण से निकले हुए रक्त को पोछकर । स्वेदार्ह—छेदनयोग्यव्रण—अग्निकृत्या व्रणा ये तु तेष्वयिमवन्नारथेत् । स्वेदयेत् स्वतुपिण्डीभिः स्वेदक्त्यान् समन्ततः ॥ (भोज) ।

सिराक्षायुविलक्ष्मीशलाकादिभिर्विमोच्यापनयेत्; श्वयथुयस्तवारङ्गं समवपीड्य श्वयस्युं; दुर्वलवारङ्गं कुशादिभिर्वन्धु ॥८॥

सिराक्षायु से उलझे हुए शल्य को सलाई आदि से छुड़ा कर निकाले । शोथ में ग्रसित हुए वाण को शोथ को दबाकर निकाले । यदि यथामार्ग न निकल सके तो उस मर्मपीडिकर (अपवाध्यमान) शल्य को अन्यस्थान में थोड़ा छेदन करके निकाले ॥८॥

हृदयमभितो वर्तमानं शल्यं शीतजलादिभिरुद्वेजितस्यापहरेयशामांगेः; दुरुपहरमन्यतोऽपवाध्यमानं पाटियित्वोद्धरेत् ॥९॥

हृदयसमीपवर्ती भाग में स्थित हुआ शल्य उद्दिप्त हुए मनुष्य को ढंडे पानी से आश्वासित करके प्रतिलोमविधि से निकाले । यदि यथामार्ग न निकल सके तो उस मर्मपीडिकर (अपवाध्यमान) शल्य को अन्यस्थान में थोड़ा छेदन करके निकाले ॥९॥

अस्थिविवरप्रविष्टमस्थिविद्यं वा ऽवगृह्ण्य पादाभ्यां यन्त्रेणापहरेत्, अशक्यमेवं वा बलवद्धिः सुपरिगृहीतस्य यन्त्रेण ग्राहयित्वा शल्यवारङ्गं प्रविष्टुभूज्य धनुर्गुणैर्योद्देश्यकतश्चात्य पञ्चाङ्गामुपसंयतस्यापवस्य वक्त्रकविके वशीयात्, अथैन कशाया ताडेष्यथो-शामयन् शिरो वेगेन शल्यमुद्धरेति; द्वहां वा वृक्ष-शाखामवनस्य तस्यां पूर्ववद्वद्धोद्धरेत् ॥१०॥

अस्थि के छिद्र में प्रविष्ट हुए अथवा अस्थि में संसर्क हुए शल्य को यन्त्र से (मजबूत पकड़कर और शल्यस्थित भाग पर) दोनों पाँवों की रोक लगाकर र्खीच ले । यदि ऐसे नहीं र्खीच सके तो बलवान् भनुओं से पकड़े हुए मनुष्य को शल्यवारंग यन्त्र से पकड़ कर टेहा करे और उसे एक तरफ से धनुप की ढोरी से बांध दे और दूसरी ओर पंचांगी धंधे में बद्ध किये हुए धोड़े के सुख चूहे में बांधे और उसकी ऐसी रीति से चाढ़क मारे कि वह घिर को भटके से ढंचा

१ धनुर्गुणैर्योद्देश्यकतोऽश्ववक्त्रविके. २ उमुरति, नामिताया पञ्चाङ्गां वक्त्रशाखायां वा पूर्ववद्वद्धोद्धरेत्.

करता हुआ भव्य को निकाले । अध्या धूर्वपत् (धनुष की दोरी थांधे हुए शल्य वारंग को धोडे के बयास) धृति थी मज़बूत थाता को नवाकर थांध दे (और फिर थाला को झटके से छोड़ कर) शल्य निकाले ॥१०॥

यक्षदृश्य—पादाभ्युगवृष्टा—शल्य के द्वारा तत्र दोनों पाँव रस शैलयुक्त पंग को रिपर करके ! भविमुख्य—यक्ष करते ! धनुष की द्वारी मग्नांश थाथने के लिये शर का वारंग देहा किया जाता है । एवंती—योदे को निश्चल वरने का एक विशेष क्षम होता है, जिसमें धूंडे के धारों पाँव पाँव मुख करके आध दिये जाते हैं—मुखनय्य सुरु शीभने जल्ला बद्धत्व । कथ सुमनवत्तस्य । एवंती । वचनामगानं चतुर्णा पदानी मुखनमाहिनान् समाहर पवारी बन्धितेऽग । (आशगद्वत्) । कुह ईकाकार तथा हाराश्चच्छकवर्ती 'दचार्यामुम्भयतरस्य' का मन्वंघ मनुव्य के साथ करके वंचारी ऐ सारसुक वृक्ष ऐसा करते हैं—उक्तज्ञानुभूमूल फलमकम्य शातिन । एक प्रिलित चैत्र वचागमिति सतिनम् ॥ (राजनिधटु) । पचासीशब्देन चेद शृगुभ्योपदेशे देवमहत्वाज्ञातमारत्वेन प्राप्तिवित्तिं निश्चायते । जात एव हि सरे पुष्पकलागमात् पवार्यानि पूर्वने । (हाराश्चद्र) । दूसर अर्थ की अपेक्षा पहला अर्थ अधिक उचित है ।

अदेशो तु गिरात मधुलालाद्यम् भुद्रराणामन्यतमस्य
प्रद्वारेण विचाल्य यथामार्गमेव यन्त्रेण ॥११॥

कुस्यादि अच्छेदनीय प्रदेश में स्थित कुप, उत्तरिण्डि शत्र्यु
को अटीला, पश्चर या मुद्र इनमें से किसी के प्रहरों द्वारा
हिलाकर प्रवृश्यमार्ग से ही निकाले ॥१॥

(यन्त्रेण) विमृद्धिकर्णनि कर्णवन्त्यनामाधकर
देशोत्तुहिडतानि पुरस्तादेय ॥१२॥

समादिरहित शतर्कम् योग्यं प्रदेषा मे स्थित हुए उचुष्टिन
कथाशृङ् शतपञ्च सं कर्णं को रोकुचिन करके अनुलोम विपि
ये निकालें। १२।

यद्युत्तम्य—अनवापकदेश—ममादि वाधा विरहित प्रदेश
विष्णुतिकर्णानि—‘हृष्टा’ इति शेष । कर्णो को संकुचित करके
परस्तात्—‘आकर्षयेत्’ इति शेष ।

जातुपे कण्ठासके कण्ठे नाई प्रवेशयमितसां
च शालाकां तथा इवगृहा शीतमिरद्वि: परिपिच्य
स्थिराभूतामुद्दरेत्। भजातुपे जातुमधुच्छिष्टलिपत्या
शालाकाया पूर्वकल्पनेत्यैके ॥६३॥

कण्ठ में लाल का शल्य यदि रौप्य जाय तो कण्ठ में पूँजी नहिं आ और (उसमें से) तपाईं हुई सलाह को प्रवेष कर और दसरे शल्य को पकड़ ले। तिर उमधर टैंगे पानी से सूची कर सिर दृष्ट शल्य को निकालें। लाल के सिवा और किसी वस्तु का शल्य हो तो दायर और भोग लगी हुई गलाका से पूँजी करवाएं और अनुसार निकालें, दंसा कही पक्का का मत है॥१॥

यन्त्रद्वय—नारी प्रोडेक्टर—यह कण्ठशास्यवालोंकिनी भाड़ी-
यन्त्र (Ovoplagogoscope) है, जिसे कण्ठशास्य छात्र का
भ्रष्टोक्ता बताने में सुनिश्ची होता है तथा तापशास्यका से कण्ठ
की रक्षा होती है। समाजकान्या—साक्षा के साथ लैपटाका
का सिंचन होती ही वह उसमें गह जाती है और यिन दौरी करने

से लाक्षा उसमें चिरक जाती है। पूर्वजनता—पूर्वज, गंड़ नहीं प्रदेश करे। उसमें से सत्यलाका को मोम या शाल कर गए मैं प्रदेश करे। जब उसमें शल्य चिमट जाप दो पानी से शलाका ढंडी करे, तिसें शलाका पर लाज कड़े होंगे तो चिरका हुआ शल्य खींच ले। जगुत—ग्रा काल में घालकों के लिये लाल के मनाये हुए खिलौने जाते थे। इसलिये छाजाशल्य का यहाँ बहुत दिया गया आज एक इसका प्रचार नहीं है—जगुत योग्य चिमटवन चुदृढ़। अधीशाल्य गवा शर्दियमन्यमध्या कलम॥ (अधीशगम्)

बस्थिताल्यमन्यद्वा तिर्यक्षण्टासकमवेश्यके
एहुकं हृषीकस्त्रयर्द्धं द्रवभलोपहितं पापयेत्कर्त्त
पूर्णकोष्ठं च धामयेत्, यमतात्र शश्यैकदेशम्
शत्या स्त्रं सदसा त्वाहिपेत्; मृदुना
दन्तधावनकूर्चकेनापहरेत् प्रणुदेशाऽन्तः। ५
करणाय च मधुसर्पिणी लेहुं प्रयच्छेत्रिफलाचूर्णं
मधुरार्कराविमिथम् ॥१४॥

अस्यि का दुकड़ा या अर्थ कोई वस्तु निरौदी कर में हुई देवकर यालों से वर्ती हुई रोद इस शूल के एक मिर याध कर पताए भात के साथ निगलवा दे और भात उत्तम भर दे । फिर भरपेट उस मनुष्य को बगत करावे । वह के समय यालों की गोद शृण्य के एक आथ हिस्से में ऐसी जानकर शीघ्रता से शूल को र्हीचले (जिसके साथ वहाहर निकल आवेगा) । अथवा दूरीन के शुद्ध दूर्प (अटकाकर) निकाले दा भीनर को धोकेले ह । यदि इस तरह हो जाय तो उसे मधु और एत मिलाकर अध्वा त्रिप्ति शूलमधु और शर्करा में मिलाकर चढाने के लिये प्रयोग हो ॥४॥

यत्तद्वय—भृत्यशतम्—भीजन के समय भोज्य पदा
व से मालकी या अन्य प्रणिकी हड्डी का ढक्का। कोण्ठपुरें
योंद्यमुग्धदक्षिण इति वेणोद्यकम् । उद्युक्ससाधा है।
वनाया हुआ गोला। उंडुक—हुँदू और दृष्टि के सर्व
धान का जीवन का एक भाग (Coocum) है—उद्युक
प्रयत्न से मल मध्यपर करा। गोले में अटके हुए अधिकार्य
नेकालों के लिये प्राप्ताय शत्रुचिदिरा में जात्र भी अं
बालों का बना हुआ प्रोबंग (Probang) नामक
योग होता है। यह एक माझीजन शत्रुका दृष्टि है, कि
परमं रसि में शत्रुजा के खारे और घोड़े के छाक भी
जी मानि लाये हुए होते हैं। गोले में दूल्हे समय पदा
व भाग शत्रुका की तरह यद रहता है, जो शत्रु के पाप
प्रेषे भृत्य दिया जाता है। तप्तशत्रु यत्र को बाहर रह
जाता है। उस समय भीतर के बाल चाहों और फैटार
जीवी में सी (वेणोद्युक) बन जाती है, जिसमें वहाँ परसि
जा शत्रु ऐसा जाता है अथवा बाहर लौप्तो के समय वा
जी रोड़े के भागे आगे जिस्तलता हुआ जाना जाता है।

उद्धारूलोदरमयाक्षिरसमयवीक्षेदुनीयता
प्रेषा भयारथ्यो पा निष्ठनेवासपात् ॥५॥

गिरफ्तरी के बाद जिसके लिए वह आवश्यक है, उसमें भवित्व की प्रतीक्षा करना चाहिए।

या फरफे रहे । उसका पीठन को, मिलाने, बमन फरा दे
वसा राय के द्वे मैं सुख तक दूधाया रखे ॥१३॥

दृक्काल्पन्न—इस सूक्ष्म में जल में दूधने के कारण पानी में हुए मनुष्य की चिह्निसां पर्याण की है। कुछ लोग (डॉ. श्वेतन्न) इस सूक्ष्म का संबंध फँटागतगत्य निरिय विधि साथ सम्बन्ध है। परंतु पह संवेद वयोग्य मालाम होता है। इण, वश्यदत्त और इन्दु इत्यादि प्राचीन ईशान्कार इस त्रै में जलसूत या जलनिमित्त की ऐ चिकित्सा पर्याण की है, ऐसा समझते हैं। अनाधूरित—सिर नींद फ़रपे। वयेन—हाती और उद्दर पर पीड़न को। पुनर्माण—रोगी के नींद पाँच टप्पने के पास पकड़कर जाँर सिर नीचा फ़रपे उसे गारो और घुमाव अथवा चाक पे उपर उसे लिटाऊ चाक तो घुमाव—उद्दरपूर्णस्य चकापापरेपनेऽत्यनिमारः फार्य इति। अल्पदत्त)। भगवान्—इसमें रोगी को रखने का फौर्ण विशेष उद्देश कही भी लिखा नहीं है। परंतु यह अनुभव से लेदू ही गया है कि भेट का पानी निकालने के तथा रोगी होश औ आने के पश्चात् रोगी की चाल श्रीत से रक्ता के लिये तथा नीती दण्डाका का नाम बंद करने के लिये उपायचार की प्राप्तशक्ता होती है और चाही कार्य भस्मरण में रखने से देता होगा। आज भी साधु लोग नीत से रक्ता करने के लिये भस्म का गरीब पर उपयोग करते हैं। वेणुग जलनिमित्त में आधुनिक रिद्ध चिकित्सा निज प्रकार से होती है—जल से किनार पर निकालते ही उसके कपड़े विशेष करके छाती और गले के पास जा हों उसके चाहिये और यदि आवश्यक हो तो चाहे के उत्तरना चाहिये। तत्पश्चात् उसको भूमि पर अधो-भुख लिटाकर कृत्रिम श्वास किया (Artificial respiration) जरनी चाहिये। यह किया आधा घंटे से धूर्णों तक करनी पड़ती है। इस किया के साथ रोगी का सुख साफ करना चाहिये, उसको सूखा करना चाहिये, उसके पास गरम पानी की बोतलें रखनी चाहिये, गरीब पर घरेण झरना चाहिये, सैंधने के लिये असोनिया जैसी तांद्र गंध युक्त वायु नाक के पास रखनी चाहिये और सतुचला (Strychnine) जैसे हृदयोत्तेजक और श्वासपन्नोत्तेजक ओप्युल की सुई लगानी चाहिये। पुनर्माण (Resuscitation) होने पे पश्चात् रोगी की पीठ पर सुलाकर उसके गीले कपड़े पूर्ण निकाल देने चाहिये और उसको गरम कपड़ों में लपेट कर गरम विस्तर पर लिटा देना चाहिये। होश पर आने के पश्चात् उसको गरम पेय मध्य दृश्यादि पीने के लिये देना चाहिये। यदि फिर श्वास प्रश्वास की किया घंटे हो जाय तो लाबोर्डे (LaBorde's method) की कृत्रिम श्वसन की पद्धति का प्रयोग करना चाहिये। होश में आने के पश्चात् रोगी के न्युमोनिया (श्वासनक ज्वर), दैर्घ्यल्य दृश्यादि विकारों से भरने की संभावना होती है; इसलिये उसको पश्याचार से रखना आवश्यक है। अधोंगसंग्रह में जलनिमित्त मनुष्य के लिये निज उपद्रव बतलाये गये हैं—अन्या युग्मार्गामिभिरुद्धि राधामानकासाथासपीनसेन्द्रियोपवातजरादयः शेषविकारा भूत्युक्त। तत्र यथात्वं कर्ते प्रतिकृत्यादि। कृत्रिम प्रश्वसन की कई विधियां प्रचलित हैं जो धूमोपहत, जलनिमित्त, पाशवद्ध, दृश्यादि प्राणाचरोध-जनक (Asphyxia) बनेक अदस्याओं में पुनर्नायिन फ़ेले लिये

प्रयोग होती है। शेफर की विधि (Schafer's method) — यह विधि सब से उत्तम और आसान है। इसमें रोगी को भूमि पर उसका सुना दीखे और किसे लिटा दिया जाता है और उसके बद्यप्रदेश का निचला हिस्सा एक छोटे तकिया पर रखता जाता है। तत्पश्चात् कार्यकर्ता रोगी की पीठ पर दोनों ओर जमीन में घुटने टेक कर सवार होता है परन्तु यह रोगी के गरीब पर गर्ता धैठता। तदनंतर यह अपने दोनों हाथों को रोगी के पीठ के नीचे के दोनों ओर की अन्तिम पसलियों पर रखता हुआ आगे को झुककर अपने गरीब के भार की धीरे धीरे हाथों पर ढालकर रोगी की छाती को लूप दबाता है जिससे फुफ्फुस संकुचित हो जाता है। तत्पश्चात् वह अपने गरीब को पिर पीछे की ओर पूर्वस्थिति में लौटा लाता है जिससे छाती पर का दबाव घट जाता है और फुफ्फुस का विकास होता है। इस प्रकार कुद्रिम पद्धति से छाती का संकोच और चिकास कराने से भीतर से वायु बाहर को जाती है और बाहर से वायु भीनर को जाती है। इस प्रकार छाती का संकोच और विस्तार प्रति मिनिट बाहर से पंद्रह दफा करता चाहिए। इस शेफर की विधि से फुफ्फुस में अधिक से अधिक वायु की रागि प्रविष्ट होती है तथा इससे फुफ्फुस विद्रीर्थ होने की भी भर्ती नहीं होती। चीच चीच में रोगी को पीठ पर उलटा करके उसके बूद्यप्रदेश पर दबाव देने से इदर्श को भी उत्तेजता मिलती है। सिल्वेस्टर की विधि— (Silvester's Method)—प्रथम रोगी के सुख से जितना पानी निकल जाता है उतना निकल जाने के पश्चात् उसको भूमि पर पीठ पर लिटा दिया जाता है। उसका छाती का निचला हिस्सा एक छोटे तकिया पर रखता जाता है और उसकी जिहा को आगे की ओर सूबे से, संदर्भ से या अन्य प्रकार से रोका जाता है। तत्पश्चात् कार्यकर्ता सिरहाने की ओर जमीन में घुटने टेक कर कुहनी से रोगी के दोनों बाहुओं को पकड़कर धीरे धीरे रोगी के सिर के ऊपर की ओर ले जाता है और वहाँ दो सेकण्ट तक ठहरता है। इससे छाती चौड़ी होती है, फुफ्फुस फैलते हैं और वायु बाहर से भीतर प्रवेश करती है। तत्पश्चात् बाहुओं को वहाँ से नीचा करके छाती के दोनों ओर रखकर अपने पूरे घल से बाबता है जिससे छाती दब जाती है, फुफ्फुस का संकोच होता है और भीतर प्रविष्ट हुए वायु बाहर की ओर निकल आती है। यह किया प्रति मिनिट १५ घार करनी चाहिए। सिल्वेस्टर की विधि जल-निमज्जित की चिकित्सा के लिये विशेष उपयोगी नहीं होती। लबोर्ड की विधि (Laborde's method) — इस विधि भी रोगी की जिहा को लगाल की सहायता से पकड़कर गति मिनिट पंद्रह घार आगे की ओर पूर्णतया खींच लिया जाता है। इस किया से मस्तिष्कगत व्यसनकेंद्र (Respiratory centro) उत्तेजित हो जाता है। इस विधि का उपयोग स्वसंत्र या अन्य विधियों के साथ हो सकता है।

प्रासशल्ये तु करणासके निःशङ्कमनवसुद्धं
स्फूर्धे मुष्टिलाभिहन्यात् छोहं मध्यं पानीयं ता
पाययेत् ॥१६॥

प्रास यदि गर्व में अश्वक जाप तो निश्चक होकर, सहसा रोगी के कोषे पर युष्मि में प्रहार करे अथवा सेह, भय या पानी पिलार्व ॥१६॥

बत्तद्वय—मामशल्व—अथ शल्वमिन आमशल्वम्, प्रास स्फी शल्व निरूक—सुषिप्रहार का आगे यथा परिद्याम होगा, इसकी शहा मत में न करके । अनवुद्दर्म—रोगी को सुषिप्रहार करने की सूचना न देते हुए अथोन्त एकाएक ।

बाहुरज्जुलतापैश्चैः करुणीडनादायुः प्रकुपितः
खेष्माण कोपयित्वा सोनो निरलंद्रि लालास्वावं
फेनागमन सक्षानाश चापाद्यति, तमभ्यज्य
सस्वेद्य शिरोविरेचनं तस्मै नीदण दद्याद्वच च
यताम्ब्रं विद्यध्यादिति ॥१७॥

हाथ, ढीरी या लता इनका पाश में कण्ठ छुट जाने के कारण वायु प्रकुपित होकर कक्ष को प्रकुपित बरती है और मार्ग को रोक देती है तथा मुख से लाला का स्वाव, फाक का निकलना और खेष्मी ये दृश्य उत्पन्न करती है । उसे अभ्यग भराकर स्वेद दिलाकर तीरण शिरोविरेचन देवे और वायुनगक रस प्रदान करो ॥१७॥

बत्तद्वय—बाहुरज्जुलतापाश—बाहुपाश, रज्जुपाश और लतापाश । बाहुपाश से जो कण्ठ पीड़न किया जाता है, उसे अपेक्षी में ‘थ्रोट्टिंग’ (Throttling) कहते हैं । रज्जु या लता का पाश लगाकर जो बांध का पीड़न होता है या किया जाता है, उसे स्ट्रिंगुलेशन (Stringulation) कहते हैं । जो रज्जु या लता का पाश लगाकर मनुष्य स्वयं टींग लेता है या उसे टींग देते हैं तो उसको ‘हैंगिंग’ (Hanging) कहते हैं । तीनों अवस्थाओं में कण्ठ का पीड़न होने के कारण छुट वायु का भीतर जाने का मर्ग घट हो जाता है तथा अनुदृ वायु भाहर नहीं जा सकती—नाभिश्च प्राणप्रवन स्थूल हृदयमन्तरम् । शृण्डाहिविनियोगं पातु विष्वदृष्ट्यतम् ॥

पीड़ावा चावरीमूलुः पुनरायाति वग्न । ब्रीणद्यु वैदेनरिति जीवत्वं
उत्तरान्तम् ॥ (धार्मापर) । प्राण वायु का अभाव और अनुदृ वायु की शरीर में उत्पन्नित इन कारणों से सक्षानाशादि दृष्टण उत्पन्न होते हैं । इस अवस्था की चिकित्सा में भी कृप्रिम शहत गोले के पाँच की निकाल देना, रोगी को सुख स्थान में रखना और यदि शव्य हो तो शुद्ध प्राणाम्बुद्ध (Puro Oxygeन) ही मृत्युने के लिये देना ये ध्यान उपाय है । उत्तुक गोलों के अनिरिच्च बाह्यत ने विमन कर्णे के शल्य पर्याप्त किये हैं—तीन वर्षों पर्याप्त नादों गैरें भवेत्यपाप च भवति इनमें चापप्रित वेशन । तत्र सूक्ष्मजेन्द्रियानुना मृत्युनुप्रेत मदेन वा सुराणोऽपूर्वम् । नाशपूर्ण वर्णं हृष्णान्तिवेन नैतीनुना पूर्वम् । एषवत्तत वा तृना हृष्णान्तवाक्तव्या वा पूर्वम् ॥ (अष्टीगमप्रह)

भवन्ति चात्र—

शल्वाद्यतिविशेषोपाथ स्थानान्यानेत्रय युद्धिमात् ।
तथा यथापृथक्य च सम्यक शल्वमधादेत् ॥१८॥

कर्णयन्ति तु शल्वानि तु याहार्याणि यनि च ।
आददीति भिपक्ष तसात्तानि युक्त्या समाहित ।
पतैरुपायैः शल्वं तु वैव निर्यात्येते यदि ।
मत्या निषुण्या वैद्यो यद्ययोगेश्च निहीत्
शोयपाकौ रुजश्चोद्राः कुर्याच्छल्वमिन्दृतम् ।
वैकल्यं मरणं चाऽपि तसाधल्वाद्विनिहीते ॥

शति सुकृतसंहितायां दशस्याने शल्वप्रयत्नयनीयो
नाम सप्तविंशतितेऽध्याय ॥१९॥

गोलों की आकृति के विविध भेद, शल्वप्रयत्न के स्व (शल्व सथा स्थान धूनकी भिक्षता के अनुसार) आइल लिये थेनों की भी भिक्षता इनका विचार करके तुदिं वैव शल्व को निकाले ॥१९॥ जो कर्णयुक्त शल्व निकाले थहुत पीढ़ी होती है, उहें वैव सावधानी करके तुक्ति निकाले ॥२०॥ यदि इन दरायों से शल्व नहीं निकले तो । अपनी प्रवृत्ति तुदिं के अनुसार (अनुकूल) यत्रा तथा उन को अग्रीकार करके जैसे बने बैसे उसे निकालो ॥२१॥ निकाल हुआ शल्व शोध, पाल, दारणी पीढ़ा, विकल्पा इ मृत्यु भी करता है । इमसिये (सर्व प्रकार का) यत करके यों (अवदयमेव) निकाले ॥२१॥

यन्तद्वय—यन्त्रप्रत्यक्षम्—इत्य मिष्मुलयेतु गृह कल्प दिवि । निरेतु जाने शल्व शल्वयुक्तिवेश्वदा ॥ (सुखुत) । न इतर करायाप कोपेत्वरुपुत । इत्य सिद्धादिमकरविदिकर्त्तव्यानने अनुदृ व्याप्त्यन्तर्यामाद् व्याहुति राप्यने यत । कल्पमूलहुतरसरायीव राप्यने ॥ सेव्याभ्या लगादित्य तालाभ्या सुविर हेत् । तुदिं तु नन्के तेष शेषेविषयावदम् ॥ (अष्टागद्वय) । यन्त्रोपाथ—य तथा योग यानि उपाय इनके द्वारा । यीसें खोक का ताल यह है कि उपर इस अध्याय में प्रयोग प्रकार का यो निकालने के लिये जो घटनों और उपायों की परिपाठी वैद्य की है, उससे यदि कार्य न हो तो अपनी तुदिं के बल से अ अनुकूल यन्त्री तथा उपायों की सौज करके उनसे शल्व निव लता चाहिये जैसे कि चिकित्सा के संबंध में धरकरंहिता कहा गया है—न चैकालने निर्दि तत्राभिनिवेदुपु । तद वशं वैदेन तर्तु तुदिमता भवेत् ॥ यत्क्रिविर्दृप—प्रयोग शल्व द से निकालना चाहिये । पन्तु इस नियम के दो अपवाद वायम में विद्यते हैं—जैवाहेदित्यल्वा न वा निष्पदम् । विश्वस्य ममो में स्थित हुए शल्व तथा उस उपाय रहित शल्व ना निकालना चाहिये । विश्वल्वास मर्म से शल्व निकालने पर शृं होती है—शल्वयुक्तवृद्धो वावन्दर्वयुक्तिविहारीवीकृती । उद्दी गे तु रुप्ये मर्मस्थानाभिनो वालुतिकामनि, नाशाद् नश्यतो तीव्री उद्गमयो यित्वे । (सुखुत) ।

तति भाल्करेण्या गोविकामप्रदेन विरपितायामुद्देश्यमिहिता ।
शुभ्रमासादीकामा शत्यप्रदेनदीवी नाम
गतिविदिमेव॒ध्याय ॥२३॥

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः ।

विषयातो विपरीताविषयरीतव्याख्याविदानीयमध्यायं
स्थास्यामः । यथोद्याच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से विपरीताविषयरीत व्याख्यानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने ॥ १ ॥

घक्तव्य—विपरीताविषयरीतव्याख्यानीय—शब्द, संर्ग, संप, इनकी दृष्टि से विपरीत यानि विजृत और अविपरीत यानि जल घण्टों का विशेष ज्ञान जिसमें वर्णन किया है, ऐसा ग्राम ।

त्वाम्निन्द्रियीनां पुष्पधूमामृदा यथा ।

व्यापयन्ति भविष्यत्वं तथा रिष्टानि पञ्चताम् ॥२॥

होने वाले फल, अस्ति और जल की वृष्टि की यथाक्रम से । पुष्प, धूम और मेघ सूचित करते हैं, वैसे ही दृष्टि होने नी मृत्यु की सूचना देते हैं ॥२॥

घक्तव्य—दृष्टि—आयुष्य का ज्ञानसूचक लिंग । इसी ही अरिष्टि भी कहते हैं—रोगियों मरणं यमावद्यंभावि लक्षणे । अत्यन्तरिष्ट र्याद्विष्ट नापि तदुद्यने ॥ (भावप्रकाश) । ये दृष्टि दो शूर के होते हैं । (?) पुरुषमनाधित यानि जिनका संवंध रोगी साथ नहीं होता । यथा—दूताधिकार, पथि चोपातिक, आमुर्त और भावावस्था इत्यादि । (२) पुरुषसंभ्रय यानि जिनका पथि रोगी के साथ होता है । इसलिये इस प्रकार के दृष्टि गे अष्टांगसंग्रह में 'आयुग्रथ्यरिष्ट' कहा है । इस पुरुषसंभ्रय रेष के कई आचार्य दो भेद करते हैं—(१) स्थायिरिष्ट या रेष । (२) अस्थायिरिष्ट या रिष्टाभामः । वेचित्रु तदविषेषाणुः ग्राम्यस्थायिरिषेतः । (अष्टांगहृदय) । हन्तमें शरीर के प्राकृतिक भावों में शारीरिक और मानसिक दोष असाध्य होने के कारण अक्षमात् और निर्मिति जो विषयासि उत्पन्न होते हैं, पे स्थायिरिष्ट कहलाते हैं—म्वसानायामुराणां वा पुण्याणां देहान्तरानिलाप्यामौपविषयमीतानां सकलशरीरव्याप्तिनो दोष । धनापना इव वर्धमायुपः यथ मृत्यन्तोऽकरमात् खवायविषयासु जनयन्ति । तत्समाप्तो रिष्टग्राम्यादुः । (अष्टांगसंग्रह) । विषयापयमनिकान्ताः केवल देहमाप्तुनः । चिठ्ठ कुर्वन्त व्यष्टिपातदरिष्टं निगलते ॥ क्षेत्रेन हि प्रार्थीत्वन्ति अरिष्टानि, अनिमित्तनश्चरिष्टादुभूविः । (चरक) । रूपेन्द्रियव्यवहाराया प्रतिच्छाया विद्यादिषु । अन्योऽपि न भावेषु प्राकृतेष्वनिमित्तानः ॥ विषेतिर्थं समाप्तेन दृष्टि तदन्ति लक्षयेत् ॥ (अष्टांगहृदय) । ये स्थायिरिष्ट निवित्त रूप से मृत्यु की सूचना देते हैं तथा इनका इत्यादि अस्ति व्यवहर, अज्ञात और अदृष्ट होता है । इसलिये ये 'विषयरिष्ट' या 'अनिमित्तरिष्ट' भी कहलाते हैं । हन्तका दर्शन होने पर मृत्यु का निवारण कदाचित् दैविक शक्ति से हो सकता है, अन्यथा असंभव है । इसी लिये आगे लिखा है—त्रापैस्तत् विलम्बैः । रसायनतपोजयत्वपैर्वा निवारणे ॥ (सुश्रुत) । कदाचिद् देवयोगेन दृष्टिरेषापि लोकति । (योगरत्नाकर) । अस्थायिरिष्ट ज्ञातनिमित्त और दोषों के वाहूत्य से उत्पन्न होते हैं । यदि चिकित्सा न की जाय तो मृत्यु होती है । यदि निमित्त का परिवर्त करके दोषों की उचित चिकित्सा की जाय तो रिष्टों का

नाग होकर मृत्यु का निवारण होता है । इसलिये इनको 'अनियत रिष्ट' भी कहते हैं—दोषाणामपि वायुस्थाद्विग्रासः सुमुक्तेन । तदेष्याणां यमे शाम्येत् । (अष्टांगसंग्रह) । ये रिष्टाभास ज्ञातनिमित्त और प्रतिक्रियाद्वाग होने के कारण इनका विचार रिष्ट विभाग में नहीं किया जाता है । रिष्ट विभाग में फेयल उन लक्षणों का निर्देश किया जाता है, जिनका निमित्त अज्ञात है, जिनकी चिकित्सा असंभव है तथा जिनका दर्शन रोगी की मृत्यु सूचित करता है । चरकसंहिता ऐ इन्द्रियस्थान में इसी दृष्टि से लक्षणों का समावेश किया गया है—निमित्तामुल्पा (विष्टिः) । तु निमित्तार्थनुकारिणी । यामनिमित्तां निमित्तामुल्पाः प्रमाणान्तरेन्द्रियं विषजो गृह्यशायुपः धयनिमित्तां प्रेतविनामुल्पां यामायुपोऽन्तरेन्द्रियं यानार्थुपदिशन्ति भीतः । यां चाभिगृह्य पुरुषसंभ्रयाग्नि गुणपत्तां लक्षणातुदेवद्यागः । (हत्युदेशः) । ये रिष्ट रोगी की मृत्यु के पूर्व उत्पन्न होने पर भी उनका ज्ञान कभी कभी कर्यों नहीं होता है, इसके कारण वर्णन करते हैं—

तानि सौध्यात् प्रमादाद्वा तथैवाग्नु व्यतिक्रमात् ।

गृहन्ते नोद्रतान्यष्टमुर्मूर्पैर्न त्वसंभवात् ॥३॥

वे अरिष्ट उत्पन्न होने पर भी सूक्ष्म होने से, (धैर्य के) अज्ञान से, शीघ्र पलट जाने से मृत्यु वैद्यों से ग्रहण नहीं होने । इसलिये नहीं कि मरने वाले के गरीर में इनकी उत्पत्ति नहीं हुई ॥३॥

घक्तव्य—अशुश्वतिकामात्—अरिष्टों का शीघ्र नाग होने ने या रोगी की शीघ्र मृत्यु होने से । मृत्यौः—'शरीरि' द्वितीयः । मृत्यु के पूर्व अरिष्ट का दर्शन निरपवाद होता है । ऊपर रिष्ट और मृत्यु का संबंध बतलाने के लिए जो पुष्प और फल का इष्टान्त दिया है, उसमें कभी ल्वभिचार हो सकता है परंतु रिष्ट और मृत्यु के संबंध में कदापि नहीं होता है—अप्येवं तु भवेत् पुष्पं फेनेनाननुवन्धि यत् । फल चापि भवेत् किञ्चित् यम्य पुष्पं न पूर्वजम् ॥ नलरिष्टस्य जानस्य नाशाऽरिष्ट मरणादृते । मरणं नापि तदारित यत्तारिष्टपुरःसः ॥ (चरक) ।

धूवं तु मरणं रिष्टे ब्राह्मणैस्तत् किलमलैः ।

रसायनतपोजप्यतत्परैवो निवार्यते ॥४॥

रिष्ट उत्पन्न होने पर मृत्यु निवित्त है (तथापि) ऐसा कहा जाता है कि निर्मल ब्राह्मणों से अथवा रसायन, तप और जप हन्तमें तत्पर ऐसे ब्राह्मणों से मृत्यु का निवारण हो सकता है ॥४॥

घक्तव्य—किल—यह शब्द यहाँ आगम, वार्ता या ऐतिहास इस अर्थ से प्रयुक्त हुआ है और उसका अर्थ 'ऐसा कहा जाता है, ऐसा शास्त्र में प्रतिपादित किया है' इत्यादि होता है । वार्तानंभाव्ययोः किल । (अमर) । किलश्वदोद्वागमार्थं सच्चति, एव किल आगमे प्रतिपादितमित्यर्थः । (डलहण) । अमलैः—मलरिष्टित । मल का अर्थ मानस दोष । रागहेपादि मानस दोषों से निर्मुक्त । रसायनपरा:—यज्ञराज्याधिविच्छिंसि भेषज तत्सायनशः । इस प्रकार स्वभावव्याधिनिकारक औषोधिचिंतक । आग्रेय महर्षि के मतानुसार रिष्ट और मरण का अव्यभिचार होता है परंतु महर्षि सुश्रूत आगम प्रामाण्य मानते हुए दोनों में ल्वभिचार होने की संभावना पर विश्वास करते हैं ।

नक्षत्रपीडा चुप्ता यथा पोलं विपच्यते ।

तथैर्यारिष्टपकं च मुवते यद्यो जना ॥५॥

जैसे—(विशिष्ट) नदत्र (पर स्थित हुए ग्रहों की) पीडा विशिष्ट काल पर फनी है ऐसे अरिष्ट का फन भी विशिष्ट काल पर होता है, ऐसा बहुत लोगों का मत है ॥५॥

यत्कथ्य—नक्षत्रपीडा—नक्षत्रविशेषवद्यावस्थान जन्यापीडा ।

कालाद्—कालविशेषमात्रिन्—द्वाराया नदत्रे सर्वं समाप्तं च गणेशर । एकादशे गुरु चतुर्वेद मासमेह न जीवति ॥ अशुभे लग्नमपाप्तं प्रषादम निशाकर । शनैश्चरस्तु चुप्तो द्विमासे शूद्रदुष्टवृत्ति ॥

असिद्धिमासुयात्मोके प्रतिकुर्वन् गतायुप ।

अतोऽरिष्टनियत्वेन लक्ष्येत् शुद्धालो भिपक् ॥६॥

जिसकी आयु शीण हो गई है, उस मनुष्य की विकित्या उत्तरने से समाप्त में असिद्धि को प्राप्त हो जाता है । इससिद्धं कुरुल वैष्य विशेष ध्यान देकर अरिष्टों का निरीश्य करो ॥६॥

यत्कथ्य—असिद्धि—धर्मार्थ कामादि की हानि—स्वार्थ विशेषरोहणनिषुप्तप्रज्ञात्यागमप्रदृशम् । प्राणयुतियन वैष्य ध्यानाख्य समुच्चेदत् ॥ (चतुर्क) ।

गन्धवर्णरसादीनां विशेषाणां स्वभाव्यतः ।

वैद्युतं यत् तदव्यष्टे वरणिः पक्षलद्वाणम् ॥७॥

गन्धवर्ण रसादिक (प्रयोग वश के दोष के अनुपात) जो विशेष भाव होते हैं, उनमें विहृत होने से मरणी मनुष्य की मरणोन्मुखता समझनी चाहिये ॥७॥

यत्कथ्य—आदि—स्वर्ण शब्द का भी समावेश आदि से होता है : ख्वभावन—दोषों के स्वभाव के अनुपार । पक्षलद्वाणम्—विनायोनमुखता ।

कट्टस्तीक्ष्णश्च विश्वश्च गन्धस्तु पवनादिभि ।

लोहग्रन्थिस्तु रक्तेन व्यामिश्रः साधिपातिकः ॥८॥

लाजातसीतैलसमा किञ्चिद्विज्ञाश्च लान्धतः ।

शेयः प्रहृतिगन्धः स्तुरोऽन्यद्वन्धवैष्टुतम् ॥९॥

वात से कट्टींगंध, वित्त से तीक्ष्णंगंध, कफ से ज्वामंग, रक्त में लोहंगंध और सलिपात से मिथंगंध आती है ॥९॥ (वात वित्त से) लाजा गंध, (वात कफ से) अतसी तैलंगंध और (वित्त कफ से) निलंतैलंगंध आती है । ये तीनों द्विज किञ्चित् आमगंधी होते हैं । ये गंध (दोषों के) स्वाभाविक गंध समझने चाहिये और इनसे विपरीत विहृत गंध समझना चाहिये ॥९॥

मदागुर्वार्जयसुमनं पद्मचन्दनचम्पकं ।

संगन्धा दिव्यगन्धाश्च मुमुर्षुणां द्वाणां स्मृता ॥१०॥

श्ववाजिमूर्धिकव्याहात् तपृतिवद्यूरमतुर्णैः ।

संगन्धा पहुंगन्धाक्षं भूमिगन्धाश्च गर्दिता ॥११॥

(गवचिकृति)—मरणोन्मुख मनुष्य के वश मध्य, अगुण, शूत, जाति (सुमन), कमल, चत्वार, धरण इनके समान गंध बुक्त (सर्वाध) और अलीकिक गधवृक्त (दिव्यगंध) होते हैं ॥१०॥ कुचा, छांडा, पहा, कौआ (आहात), एवंकुत्तु शुक्क

मास, घटमल इनके समान गंधयुक्त वश, कीचड़ के समान गंधयुक्त मण तथा भूमि के समान गंधयुक्त वश भी समझने चाहिये ॥११॥

दृढ़न्ते वाऽपि दृढ़न्ते भिपक् तान् परिवर्जयेत् ॥१॥

छत्पास्तु ये तनुक्षावा यातजा मर्मतापिन ।

स्वल्पामपि न कुर्वन्ति रजं तान् परिवर्जयेत् ॥१॥

जो वित्त वश ईमद् हृष्ण (भास), बंगर और कट्टींग तुम्बवर्ण होते हुए भी दाह और चोंप उत्तर नहीं होते उनको वैच्य त्याग ह ॥१२॥ जो कफत वश कृष्णयुक्त, विष चेतवर्ण, चिर्घ द्वारा हुए भी पीडा और दाह उत्तर नहीं है, उनको वैच्य त्याग ह ॥१३॥ जो वातन वश हृष्णवर्ण अब व्याधयुक्त, मर्म पर होते हुए पीडी भी पीडा नहीं करते उनके त्यागना चाहिये ॥१४॥

यत्कथ्य—इन स्तोकों में वातादि दोषयुक्त वशों की वर्णविकृति वर्णन की गई है । इसविकृति स्वार्थेय होने के कारण उसका वर्णन नहीं किया गया है । कट्टींग—मुक्तवर्णीय पीलियों, उसारे रेवन्द, रेवाचिनी, Gamboge tree Garcinia mohella । हुठ लोग कट्टींग से पार्वतीय मुक्तिका मुर्दारसंग भी मानते हैं । तान—ऐसे विशीर्णागच्छुक वशों से पीडित रोगियों को ।

द्वेष्डन्ति धुम्पुरायन्ते ज्वलन्तीय च ये व्याधा ।

त्वद्वान्सस्याश्च पवनं सशब्दं विशूजन्ति ये ॥१५॥

(त्वद्विकृति)—जो वश खट्टलद, सुर्पुर इत्यति जैवि करते हैं, जो जलनुकूल प्रतीत होते हैं और त्वचा, मांस में दौने पर भी शब्द के साथ वायु को छोड़ते हैं (उन्हें गर्भन समझना चाहिये) ॥१५॥

यत्कथ्य—पवन विशूजन्ति—हृसकं लिपे पीठे २५ वै अभ्याय के १६ वै स्तोक का वक्तव्य देखो ।

ये च मर्मस्वसंभूता भूमत्यवर्थवेदान् ।

दृढ़न्ते चान्मरत्यर्थं चहिः शीताश्च ये व्याधा ॥१६॥

दृढ़न्ते विद्वित्यर्थं भवन्त्यन्तर्थं शीतला ।

(स्वर्णविकृति)—जो वश मर्मस्वान पर न होते हुए भी अत्यन्त पीडा करते हैं, भीनर से अलैन गरम और बाहर से ढै होते हैं तथा जो वश बाहर से गरम और भीतर से ढै होते हैं (उन्हें असाध समझना चाहिये) ॥१६॥

शक्तिव्यक्तरथा कुन्तद्याजिवाराणगोव्यापा ॥१७॥

येतु चाप्यवमास्तेरन् प्रासादाकृत्यस्तथा ।

चूर्णविकृतीर्ण इय ये भानित या न च चूर्णिता ॥१८॥

(स्वप्नविकृति)—शक्ति (आकुपविशेष), ज्वला, भाला, पोटा, हापी, गी, हृष्पम इनकी आहृति तथा राजमहल की आहृति वित्तमें अभासित होती है और जो चूर्ण न छोड़ते हैं

र भी रुद्धि से अवकीर्णि हुए दिनाहं देते हैं (वे प्रण असाध्य होते हैं) ॥१७-१८॥

ग्रहमांसद्यश्वासकासारोचकपीडिताः ।

प्रवृद्धपूयरुद्धिर व्रणा येषां च मर्मसु ॥१९॥

जो घणा प्रवृद्धश्व (Lowered vitality) मांसवाय, ग्रास, कास, अरोचक इन (उपद्रवों) से युक्त होते हैं, जिनमें यह और दूष रुक्त काली होता है तथा विकला अवश्यान भर्मी होता है, वे घण (असाध्य होते हैं) ॥१९॥

किशासिः स्वस्यगारुद्धान सिस्त्यन्ति च ये द्वयाः ।

वर्जयेत्तान् ग्रिघ्क्ष प्राप्तः संरक्षज्ञानात्तो यथाः ॥२०॥

इति तुषुक्तंहितायां महत्याने विपरीताविपरीताग्रविशारीयो

नामाणविशतितमोऽध्यायः ॥२०॥

जो घण (प्रारंभ से ही), योरु डाकारों से विदिस्या होने पर अच्छे नहीं होते, उनको तुषुक्तान् देख अपने यम की रक्षा करने के लिये लाग दे ॥२०॥

वक्तव्य—इस अध्याय में शब्द, स्वर्ण, सूप और गंध हन चार भावों का रिटर्वर्णन किया है । इनके सिवाय गुरुक बरेप रिणों का संप्रग्र करने के लिये यह श्लोक लिखा गया है । यह धरीरगत धातुओं की प्राणशक्ति नष्ट हो जाती है, और योग ज्ञापविर्यों द्वारा विकिस्ता करने पर भी यह नहीं विलता । इस विषय का विशेष विवरण आगे ३२ में अध्याय के छठे श्लोक के वर्तन्य में किया गया है ।

इति आस्तरामणा गोविन्दालग्नेन विरचितायाग्रामुवेदरस्यादीपिकायां
तुषुक्तभाषावीकायां विपरीताविपरीताग्रविशारीयो
नामाणविशतितमोऽध्यायः ॥२०॥

एकोलन्तिंश्वासात्मोऽध्यायः ।

अथातो विपरीताविपरीतस्मनिर्दर्शनीयमध्यायं व्यास्यामः । यथोचाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥
प्रव यहां से विपरीताविपरीत स्मनिर्दर्शनीय नामक य का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि या ॥१॥

तदर्शनसंभागा वेष्यश्चेष्टिमेव च ।

क्लं वेला तिथिश्वैव निमित्तं शकुनोऽनिलः ॥२॥

शो वैद्यस्य वादेहमन्तसां च विचेष्टिम् ।

पथ्यन्त्यातुरगतं शुभं वा यदि वाऽशुभम् ॥३॥

दूत का दर्शन, संभापण, वेप और चेष्टा, नक्त्र, (मध्यादेश) वेला, (चतुर्व्यादि) तिथि, निमित्त, शकुन, वायु, का देवा, शारीरिक मानसिक और वाचिक चेष्टा ये रोनी शुभ या अशुभ की सूचना देते हैं ॥२-३॥

ग्रथण्डाथ्रमवर्णानां सपत्नाः कर्मस्तिष्ठये ।

त एव विपरीताः स्वृद्धूताः कर्मविषत्ययै ॥४॥

नपुंसकं खी वहवो नैककर्त्तर्या असूयकाः ।

गद्योप्तरथप्राप्ताः प्राप्ता वा स्युः परम्पराः ॥५॥

तैवं य चार्षित्वाऽप्तिः क्षम्भिर्विष्टिः ॥५॥

(अय तृतीर्यन के सम्बन्ध में कहते हैं—) (वेदवाद चेत्क कापालिक एव्यादि) नालिक मत, (शास्त्रार्थादिक) आश्रम, (प्राणाणादि) वर्ष इनमें से जिस मत, आश्रम या वर्ष का रामी हो जसी मत, आश्रम या वर्ष का दूत होने से विदिस्ता में स्वाक्षरता होती है और इससे विपरीत यत, आश्रम या वर्ष का दूत होने से विदिस्ता में अग्रव द्वितीय होता है ॥४॥ नपुंसक, खी, जनेक दूत एव समय याये हुए, अनेक शर्मी के लिये त्रागे हुए, निन्दक, गर्भों प्रांग ढार्टों के बाधन में जाये हुए, (पक के धीछे एव) परंपरा से प्राप्त हुए ॥५॥ जो दूत वैष्ट के पास आते हैं, उन्हों गहित समाजना चाहिये ।

दृक्तव्य—पाठेन—पणवतिगेटगियो वादविगेयः । (अल्प-दत्त) । कर्मविपत्ति-चिकित्सान्तकल्पः । प्राप्ता वा युः परम्परा—वैष्ट को जलदी बुलाने के लिये एव के धीछे एव इस क्रम से आये हुए ।

पाशद्राङ्गुधधराः पाण्डुरेत्वासासः ॥६॥

आद्वीर्जीर्णापसद्वैकमलिनोऽनुस्तवासासः ।

न्यूनाधिकाङ्गा उद्विजा विहृता दीद्रल्पिणः ॥७॥

(डव दूतों के वेष के सम्बन्ध में लिखते हैं—) पाण, छेदा, ग्रह धारण करने वाले, शेत रंग के वत्तिरिक्त हत्तर रंग के वस धारण करने वाले, गीले पुराने अपसव्य गंदे फटे हुए घटा धारण करने वाले, (शरीर का एकाध) अवरव न्यून होने वाले, (अंगुल्यादि एकाध) वायव अधिक होने वाले, उद्विग्नचित्त, (लंगड़ा कुञ्ज आदि) विहृतवारीरी, भयानक रूप वाले (दूत भी गहित समझने चाहिये) ॥६-७॥

लक्षनिषुरवैदाश्वान्यमाद्युल्याभिधायिनः ।

(दूतसंभागा के सम्बन्ध में लिखते हैं—) रुक्ष, कठोर और अमांगलिक शब्द बोलने वाले दूत भी (गहित समझने चाहिये) ।

छिन्दन्तस्त्रृणाकाष्ठानि स्पृशन्तो नासिकां स्तनम् ॥८॥

वसान्तानामिकाकेशनवरोमदशास्पृशः ।

स्नोतोवरोधह्राङ्गुर्धोर्मुक्तिपाण्यः ॥९॥

कपालोपलभस्मास्थितुपाङ्गारकराश्च ये ।

विलिखन्तो महीं किंचिन्मुञ्चन्तो लोष्टभेदिनः ॥१०॥

तैलकर्दमदिग्धाङ्गा रक्तसंगुलेपनाः ।

फलं पकमसारं वा गृहीत्वाऽन्यच तद्विधर् ॥११॥

नखैनेलान्तरं वाऽपि करेण चरणं तथा ।

उपानचर्महस्ता वा विहृतव्याधिपीडिताः ॥१२॥

वामाचारा रुदन्तश्च श्वासिनो विहृतेश्चरणः ।

याम्यां दिशं प्राञ्जलयो विष्मैकपदे स्थिताः ॥१३॥

वैयं य उपलर्पन्ति दूतास्ते चापि गहिताः ।

(अय दूतचेष्टिके सम्बन्ध में लिखते हैं—) तृष्ण और काष्ठ इनको तोड़ने वाले, नाक, रसन, वक्ष के सिरे, बनायिका अंगुलि, सिर के वाल, नख, शरीर के वाल, दांत गूँजने वाले, कर्णच्छिद्र (स्नोत), संधेश (अरोध), हृदय,

कर्णील, रित, छाती और कुति हनके ऊपर हाथ रखने वाले ॥१३॥ दिस्री, पथर, भस्म, ईड़ी, भूमी, अंगार इनमें से कोई बस्तु हाथ में लेने वाले, (अपने नालून से) जमीन को रारांचते वाले, (हाथ में) जो उत्तर हो उसको छोड़ देने वाले, मिट्टी के फैले को फोड़ने वाले ॥१०॥ तेल या कीचड़ शरीर पर माले हुए, लाल रग की माला या तिलक धारण करने वाले, एका हुआ फल, नियमार फल या अन्य कोई क्षुद्र बस्तु हाथ में लिये हुए ॥११॥ नालून से नालून और हाथ से पांव रगाहते हुए, हाथ में जूता लिये हुए, (गलाकुडादि) शरीर चिक्कन करने वाले रोगों से पीछित हुए ॥१२॥ अथवा आचार करने वाले, रोते हुए, हाँफते हुए, विटन नेत्र वाले, दक्षिण दिशा को अंजलि किये हुए, देहे या एक पैर से स्फेद हुए ॥१३॥ इस प्रकार के जो दूत वैष्य के पास आते हैं, उन्हें गर्हित समझना चाहिये ।

दक्षिणाभिमुखं देशे त्वशुचौ वा हुताशनम् ॥१४॥
ज्यलयन्तं पचन्तं या फूरफर्मणि चोद्यतम् ।
नम्नं भूमौ शयानं या वेगतस्मेंपु याऽग्नुचिम् ॥१५॥
प्रकीर्णेकेशमभ्यक्तं स्विद्यं विहृथमेव या ।

वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ॥१६॥

(अब वैष्य के शारीरिक भावनिक वेष्टा के सम्बन्ध में लिखते हैं—) दक्षिणाभिमुख, अशुद्ध स्थान में घेड़ा हुआ, अग्नि ॥१४॥ जलाना हुआ या कोई बस्तु पकाता हुआ, (पशुवधादि) बुरकर्म में उदात हुआ, नंगा, भूमि पर लेटा हुआ, (मलम्यादि) भेगोसर्ग से अशुद्ध हुआ ॥१५॥ बाल बिल्ला हुआ, तेल का अधर्म दिया हुआ, स्वेदित और विद्धुल हुआ ऐसे वैष्ट के पास जो दूत जाते हैं, उन दूरों को भी गर्हित समझना चाहिये ॥१६॥

वैद्यस्य पैद्ये दैवे या कार्यं वोत्पातदर्शने ।

भग्वान्हे चार्धरात्रे वा सन्ध्ययोः कृतिकासु च ॥१७॥

आद्रांशेषामध्यमूलपूर्वासु भरणीयु च ।

न्युश्यां वा नयम्यां वा पश्यां सन्ध्यदिनेषु च ॥१८॥

वैद्य य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ।

(अब बेला, नक्षत्र और तिथि हनके सम्बन्ध में लिखते हैं—) ज्यवैष्ट (श्रावादि) वित्कार्य, (हवनादि) वैद्यकार्य करना हो, (उक्काशत भूमिक्षयादि) उत्पात रथ्यन के समय, मण्डाद्वा, अधेरात्र, प्रभात और सायकाल के सधिकाल हन समय में (जो दूत आते हैं, उन्हें गर्हित समझना चाहिये)। कृतिका ॥१७॥ आद्रांश, आसेषा, मध्या, मूल, शूर्ण, (शूर्णास्तुरी, पूर्वावाहा, पूर्वाभाद्रपरा), भरणी हन नक्षत्रों में (जो दूत आते हैं, उन्हें गर्हित समझना चाहिये)। चतुर्भुजी, नवमी अथवा वही और (पौर्णिमा, अमावस्या, प्रतिपद इत्यादि) सप्त दिनों में ॥१८॥ जो दूत वैष्य के पास आते हैं, उन्हें भी गर्हित समझना चाहिये ।

स्विद्याभित्ताः भग्वान्हे ज्यलनस्य भग्नीपतः ॥१९॥

गर्हिताः पित्तरोगेषु दूता वैद्यसुपागताः ।

त पै फरोगेषु कर्मसिद्धिकराः स्मृता ॥२०॥

पतेन शेषं व्याख्यातं दुम्बा संविभजेत् तद् ।
रक्तपित्तातिसारेषु प्रमेहेषु तथैव च ।
प्रशस्तो जलरोधेषु दूतवेद्यसमाप्तम् ।
विशारीवं विभरनं तु शेषं दुर्योत परिष्ठित ॥

परीने से तर हुए, तस, मण्डाद्वा के समय, तथा वैद्य समीप से ॥१९॥ जो दूत वैष्य के पास आते हैं, उन्हें विरोगों में निदित समझना चाहिये । परंतु कक्ष के दोनों ही दूत चिकित्सा की सिद्धि सूचित दर्शते हैं ॥२०॥ इस से अनुक पातों का धारणान समझकर अन्न स्थान अपनी मुद्रि से दुम्बाभूम का विचार जानना चाहिये । पित्त, अतिग्राह तथा प्रमेह रोगों में ॥२१॥ यही पाती । हुआ हो, ऐसे स्थान में वैष्य और दूत का समागम थेड़ है । इससे अनुक पातों मुद्रिमान वैष्य जान है ॥२२॥

यत्कर्त्य—पैनेन गेष व्याख्यातम्—तद्यत—होतकी समीपस्थमनितीतलभ्य प्रमुखति फेमानवेद्यम् । विहाने शुम । (अद्यागत्सम्भ्र) । जलारोगे पश्यास्तुसित्तावाचाराद्य विशिष्टे देश काले यातो हो द्वौटद्युम् । विहाने शुम । (अद्य दस) । जलरोधेषु—जहाँ जल का प्रवाह रोकने के लिये । बनाया गया है, ऐसे स्थान में । किंवा आगे वरकमहिता जो क्षीक दिया है, उसके अनुग्राह प्रेष बरस कर वड़ के समय में । ऐसा भी अर्थ हो सकता है । अद्यागत्सम्भ्र वेवल प्रथम अर्थ ही दिया है—तथा देनुभावे द्वौटद्युमितां द्युम्बुद्ध सेतुरेषु तु शुम गेष कुन्देष—यथा उदावर्त, मूर्ख इत्यादि अवरीयक रोगों में जल प्रवाह शुक्ष स्थानों में अप मेष बरसते समय में दूत का आगा गुम्बाकर होगा । दूतवैष्य समागम के संवेष में रोगों की शृणि से जो शुम्ब स्थान और काल बतलाये गये हैं, उनका सामान्य प्रश्न के लिये चरकहिता में निम्न सुन्दर स्तोक दिया है—विहाने समाप्तयुक्ते देशे कालेजवा भिक । दूतम्यात द्युम् नद्युर् पारेद ।

शुक्लवासा शुचिर्गारीः द्यामो या ग्रियदर्शनः ।
स्वस्यां जातौ सगोद्रो या दूतः कार्यकरः स्मृतः ॥५॥
गोयानेनानातस्तुषु पाकाभ्यां शुभचेतिष्ठतः ।
स्मृतिमान् विधिकालङ्घः स्वतन्त्रः प्रतिपत्तिमान् ॥६॥
अलंकृतो मङ्गलवान् दूतः कार्यकरः स्मृतः ।
स्वस्थं प्राङ्गुल्यमासीनं सम्भै देशे शुचौ शुचिम् ॥७॥
उपसर्पन्ति यो वैद्यं स च कार्यकरः स्मृतः ।

जो दूत शुक्ल उज्ज्वल वस्त्र पहना हुआ, विचार, गौरक सांकेता, देखने में मनोहर और रोगी की अपनी जाति अप गोत्र का ही वह कार्यसिद्धि करने वाला होता है ॥१३॥ (या अन्य शुम पशु फी) गाही से आया हुआ, लंगूल, पैदल आया हुआ, शुम चेष्टा करने वाला, जिम्बी शुम उत्तम है रेता, शास्त्रविधि और काल (के अनुग्राह के वैनेन बरना चाहिये इन) को जानने वाला, स्वतन्त्र, प्रश्न शुद्धिका ॥१४॥ अलालून, मण्डाकारक ऐसा दूत कार्यसिद्धि ।

होता है । जब वैद्य स्वरथ, पूर्वांभिसुमंग, सम और पवित्र देव में शुद्ध होकर धैठा हुआ हो ॥२६॥ ऐसे समय उसके पास जो दृढ़ जाता है, वह कार्यसिद्धिकर होता है ।

वक्तव्य—चरकसंहिता में ग्रासत दृढ़ के निम्न लक्षण दिये हैं—खानारं हृष्टमन्तं यशस्यं शुश्रवामसम् । अमुण्डगजं दृढं गतिविशक्तियात्मगम् ॥ अतुष्टुत्यानस्यामपांश्यस्तदेषु न । दृढं प्रशस्तमन्तं निर्दिशदानं भिषक ॥ अय इसके आगे शुभशुभ शुक्ल वर्णन करते हैं—

मांसोदकुम्भातपत्रविप्रवारणगोवृप्यः ॥२६॥

शुलुचरणाश्च पूज्यन्ते प्रस्थाने दर्शनं गताः ।

खी पुविरिहि सचत्सा गौर्वर्धमाना स्वलंकृता ॥२७॥

कन्या मत्स्या: फलं चामं स्वस्तिकं मोदका दधि ।

हिरण्याक्षतपात्रं च रक्षानि सुमनो नृपः ॥२८॥

अप्रशान्तोऽन्नो वार्जी हंसस्थापः शिखी तथा ।

मांस, जलपूर्ण घड़ा, छव, वाहण, हाथी, गो, शुप्तम् ॥२६॥ और जेत वस्तु हनका प्रस्थान के समय दर्शन शुभ होता है । अपने वालक के सहित दी, अपने घट्ठे के सहित गो, यौवनावस्था में पहुँची हुई अलंकार युक्त ॥२७॥ कुमारिका, मत्स्य, कप्ते फल, स्वस्तिक, मोदक, दही, सुवर्ण, अदातपूर्णी पात्र, रत्न, पुष्प, राजा ॥२८॥ जलती हुई अमि, घोड़ा, हंस, चापकी तथा मयूर (इनका भी प्रस्थान के समय दर्शन शुभ होता है) ।

वक्तव्य—मांस—स्थीमांस । उक्तुम्—जलपूर्णकुंभ—जलानां पूर्णकुमानाम् (चरक) । वर्धमाना—जिनके शरीर पर योवन मिलने लगा है—कल्यानां वर्धमानानाम् (चरक) । इसके निम्न (थे भी किये गये हैं—(१) शरनव (डलहण) (२) अंकारोपिन जारं कुमारीं वा वर्धमानमाहः । (३) अलंकारविशेष । (इन्दु) । शुक्रवारीः कार्पातास्तिक्रमस्त्रशारादिन्यतिरिक्ताः सुमनोदयक्षतमैक्षिकादयः पदार्थाः । (डलहण) । स्वस्तिकं—(स्वस्ति शुभाय गत तत) स्वस्तिकच्छिद्धि, तण्डुल पिट । मुच्चादामविशेषः, अन्ये स्वस्तिकं स्वस्तिकाकारं दूर्वायकलमण्डितं ध्वलं दर्पणसक्तं मृष्मयं गोमयकृतं वा मङ्गल्यमवतारण्यकार्यं कुर्वते मांगलिक-कृतघियः । (डलहण) । अक्षता—लाजा (डलहण) । यवाः, असुणितान्तपूड़ा इत्यन्ये, धान्यमेवाखंडितमक्षतशब्दवाच्यमित्यपरे (अस्त्रादत्त) ।

ग्रहदुन्दुभिजीमूतशङ्खवेषुरथस्वनाः ॥२९॥

सिहगोद्वृप्यनादाश्च हेपितं गजवृहितम् ।

शस्तं हंसस्तं नृणां कौशिकं चैव वामतः ॥३०॥

प्रस्थाने यायिनः श्रेष्ठा वाचश्च हृदयङ्गमाः ।

पञ्चपुण्पफलोपेतान् सक्षीरान्नीरुजो दुमान् ॥३१॥

आश्रिता वा नभोवेशमध्वजतोरणवेदिकाः ।

दिक्षु शान्तासु वक्तारो मधुरं पृष्ठतोऽनुगा: ॥३२॥

वामा वा दक्षिणा वाऽपि शकुनाः कर्मसिद्धये ।

वेदध्वनि, नगरा, मेव, शङ्ख, वंशी, रथ इनकी ज्ञनि

१ वर्धमानमलंकृता. २ सुमना.

॥२९॥ तथा सिंह, गो, वैल का शब्द घोटे का हिनसना, हाथी की आवाज, एंस का शब्द और वर्धी को उल्लू का शब्द इनसे मनुष्यों के प्रस्थान में शुभ समझना चाहिये ॥३०॥ तथा राजभवन में जाने वाले लोग और थोड़े तथा हृदयंगम वाणी भी प्रस्थान के समय शुभ होती है । पत्र, पुष्प, फल शुक्ल रसदार नीरोग वृक्षों पर ॥३१॥ धैठ हुए, अक्षिका में उड़ते हुए, गृह, पत्ता, नोरण, वेदिका हन पर स्थित हुए, शंत दिव्याश्रों में मधुर आवाज करने वाले, धीरे से आने वाले पक्षी कार्यसिद्धसूचक होते हैं ।

शुष्केऽशनिहतेऽपव्ये वल्लीनदे सकण्टके ॥३२॥

वृक्षेऽथवाऽश्मभस्तास्थिविद्युपाद्यरपांशुषु ।

चैत्यवल्मीकविषमस्थिता दीप्तवरस्वराः ॥३३॥

पुरतो दिक्षु दीप्तासु वक्तारो नार्थसाधकाः ।

सूखे हुए, विजली के मारे हुए, पत्र रहित, वैल से जकड़े हुए, कंटक युक्त ॥३४॥ दृढ़ पर अथवा पथर, भस्म, अस्थि, विहा, हुए, कोयला, धूलि, चैत्य, वल्मीक, विपन्न स्थान इन पर धैठ हुए, उग्र करका शब्द करते हुए ॥३५॥ तथा (तीव्र आतप के कारण) दिशाएँ जब प्रदीप हों उस समय संसुख घोलने वाले पक्षी वर्धसाधक नहीं होत ।

पुजामानः खगा वामाः खीसंशा दक्षिणाः शुभाः ॥३५॥

दक्षिणाद्वामगमनं प्रशस्तं श्वशृगालयोः ।

पामं नकुलचापाणां नोभयं शशसर्पयोः ॥३६॥

भासकौशिकयोश्चैव न प्रशस्तं किलोभयम् ।

दर्शनं च रुतं चापि न गोधाकृकलासयोः ॥३७॥

बुङ्हिंगी पक्षी वर्धी को ओर स्त्रीलिंगी पक्षी दाहिने को शुभदायक होते हैं ॥३८॥ कुत्ते और गीध का दाहिने से वर्धी को जाना शुभ होता है । नकुल और चाप पक्षी इनका (दक्षिण की अपेक्षा) वामगमन (अधिक) प्रशस्त होता है । रसगोश और सर्प हनका दोनों तरफ की भी गमन प्रशस्त नहीं है ॥३९॥ भास पक्षी और उल्लू हनका भी दोनों तरफ की गमन प्रशस्त नहीं है और गोधा तथा गिरगिट हनका दृश्यन और शब्द शुभ नहीं है ॥३०॥

दृतेरनिष्टुल्यानामशास्तं दर्शनं नृणाम् ।

कुलत्थितिलकार्यास्तुपपापाणभस्मनाम् ॥३१॥

पात्रं नेष्टं तथाऽङ्गारतैलकर्दमपूरितम् ।

प्रसंश्वेतरमद्यानां पूर्णं वा रक्तसर्पयैः ॥३२॥

शवकाष्ठपलाशानां शुष्काणां पथि सङ्गमाः ।

नेष्वन्ते पतितान्तश्वदीनान्धरिपवस्तथा ॥३३॥

मृदुः शीतोऽनुकुलश्च सुगन्धिश्वानिलः शुभः ।

खरोणोऽनिष्टगन्धश्च प्रतिलोमश्च गर्हितः ॥३४॥

अनिष्ट दृढ़ों के समान अन्य (अनिष्ट) मनुष्यों के दर्शन (भी) अशुभ होते हैं । कुलथी, तिल, कपास (के पदार्थ), हुप, पथर, भस्म तथा ॥३५॥ कोयला, तैल और कीचड़ हनसे भरा पात्र शुभ नहीं है अथवा ग्रसना के अतिरिक्त अन्य सब

प्रकार के मर्यादे से या लाल सरसों से भरा हुआ पात्र शुभ मर्ही है ॥३१॥ गव (जलाने के लिये) सूरी लकड़ी और पत्ती (लिये हुए मनुष्य), तथा हुरापारी, चाण्डाल, दीन, अंथ और घटु हगड़ा मर्ही में संगम होना भी अनिष्ट है ॥३२॥ कोमल, शीतल, अनुकूल तथा सुगंधित वायु शुभ होती है और तीक्ष्ण, गरम, दुर्गंधित तथा विस्फूल दिशा की वायु अशुभ होती है ॥३३॥

ग्रन्थर्वुदिष्टु सदा छेदशब्दस्तु पूजिनः ।
विद्रभ्युदण्डमेषु मेदशम्भृत्यैव च ॥४२॥
रक्तपित्तातिसारेषु रक्तशब्दः प्रशस्यते ।
एवं व्याधिविशेषेण निमित्तमुपधारयेत् ॥४३॥
तथैवाकुष्ठद्वाकष्टमाकन्दरुदित्यनाः ।

छर्यां घातपुरीपाणां शब्दो वै गर्द्मोद्रूयोः ॥४४॥

अधिः, अर्दुद, आदि रोगों में सर्वेषां ऐंदवाचक शब्द शुभ होता है । विद्रधि, उदर शुल्प हन्में भेद अर्धवाचक शब्द शुभ होता है ॥४२॥ रक्त पित्त, अतिसार हन्में अवैरिथाचक शब्द शुभ होता है । इस प्रकार विशिष्ट व्याधियों में (विशिष्ट शुभ सूचक) निमित्त समझना चाहिये ॥४३॥ ऐसे ही आकोय (जोर से चिल्हनाएँ), हा कष्ट (हाथ हाथ करके दुख के बन्द), आकन्द (जोर से रोना), रोने के शब्द तथा बमन, अपन घायु और पुरीय का शब्द तथा गोरे का और डैंट का शब्द (ये वैद्य के चिकित्सार्थ जाने के समय शुभ नहीं हैं) ॥४४॥

धक्काद्य—इन स्थोंकों में व्याधि के अनुसार विशेष तथा सामान्य शास्त्रिक शुभाशुभ निमित्त वर्णन किये हैं । इससे यह मालग्रह होता है कि जिस रोग में चिकित्साकुरुत शब्द सुनाई हेते हैं उसके लिये उन्हें शुभ समझना चाहिये और इससे विपरीत को अशुभ समझना चाहिये । अटारगंसमह में निम्न शब्दान्वयनिमित्त अधिक वर्णन किये हैं—अशुभरुदारिषु प्रवृत्तन शब्द । सर्वैत्र च त्रिवर्षात्रवर्षमन्त्रवाचलवृक्षवृक्षमिवाद्य । रुद्रा अन्वयविवलस्त्राद्य ऐडा । क्षतदत्यनिलांकेशापहारचेद्येष्वशाहस्रादा पतिवेषादिवाद्य चिकित्साप्रतिवेषाद्य । इन्दु अपनी दीका में निम्न निमित्त वर्णन करते हैं—यथा पाण्डुगां शवरथ । काले रथ । शासे छित्र ।

प्रतिविम्बं तथा भेदं शुतं स्खलितमादतम् ।
दीर्घनस्त्रं च वैद्यस्य यागायां न प्रशस्यते ॥४५॥
प्रवेशेऽप्येतदुद्देशादवेद्यं च तथाऽनुरुरे ।
प्रतिद्वारं गृहे याऽस्य पुनरेतत्र गण्यते ॥४६॥
केशमसास्थिकाप्राप्तमतुष्वकार्योत्करणकाः ।
खद्वोर्ध्वपादा मद्यापो वसा दैलं तिलास्तुणम् ॥४७॥
नपुंसकव्यज्ञभग्ननग्नमुण्डातिताम्यरा: ।
प्रस्थाने या प्रवेशे या नेत्यन्ते दर्शनं गता: ॥४८॥
(चिकित्सार्थ) याचा करते समय वैद्य को (किसी ने जाने के लिये) मना करना, शरीर में कई भ्रम होना (या कोई चीज़ मध्य होना), छींक भाना, हाथ पैर से कोई चीज़ निर जाना, बायात होना, बिमनस्कृता होना हाथादि शुभ नहीं है ॥४९॥

संक्षेप से रोगी के घर में (प्रथम) प्रेरण करते मनव : प्रकार (के शुभाशुभ) लक्षणों को देखना चाहिये । प्रेरण करने के पश्चात् प्रयोक दरवाने पर इनका विजर की आवश्यकता नहीं है ॥५०॥ वैद्य, भस्म, डर्शि पथर, तुप, कठाम (के पदार्थ), कंठ, ऊर, पाँव वै स्त्रिया, मध्यारी, चारी, तैल, तिल, घास दूध ॥५१॥ ए एकाप अवदय चंग होने वाला, एकाप अवद दूध नींगा, सिर उंडा हुआ, काले वैष धारण किया हुआ । दूर्घन वैष को घर से प्रस्थान करते समय तथा रोगी के में प्रवेश करते समय शुभ नहीं है ॥५२॥

भारदानां संकरस्यानां स्थानात् संचरणं तथा निखातोत्पादनं भक्तः पतनं निर्गमस्थाप्ता वैषासनावसादो वा रोगी वा स्वादपोमुष्य । वैष्यं संभापमाणोऽहं कुड्यमात्तरणानि या प्रेमूजयाद्वा भुवीयाद्वा करौ पृष्ठं शिरस्याद्वा हस्तं चाकृष्य वैष्यस्य न्यसेच्छुरसि चोरसि । यो वैष्यमुन्मुखः एच्छेदुन्मार्दि स्वाक्षमातुरः । न स सिद्ध्यति वैष्यो वा गृहे वस्य न पूर्वते । भवने पूज्यते वैष्यो वा उपरि वस्य वैष्यः स सिद्ध्यति । शुभं शुभेषु दूतादिव्यशुभं हायुमेषु च । आतुरस्य धुवं तस्माद् दूतादीन् लक्षयेत्प्रियः ।

(रोगी के घर में) इकड़े घेरे हुए पांचों का दिवाना, इकों खोदना, कोई बस्तु उत्तराधना, दूटना या निर पता (भागलिक) पदार्थों का घर से बाहर जाना (ये भी नहीं हैं) ॥५३॥ वैद्य के आसन का दूटना अथवा रोगी को मुख किये हुए सोना, वैद्य से बातचीत करते रहने की भित्ति, विजीना ॥५४॥ हाथ, पीठ, निर इन हो रोगी का ए या हिलना और वैद्य का हाथ संचिकर अपने दिल या ए पर रहना ॥५५॥ (ये भी निमित्त शुभ नहीं हैं) जो तो उपर को मुख करके वैद्य से प्रश्न करता है अथवा अपने एको मारु करता है तथा जिसके घर वैद्य का दूटना होना वह रोगी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता ॥५६॥ वैद्य घर में वैष का दूटन होता है, वह रोगी सिद्धि को प्राप्त होता है । दूत आदि शुभ होने से शुभ और अशुभ होने से अशुभ करना ॥५७॥ रोगी के लिये आवश्यक होता है । एकत्रिते दूतादिक्षे का परीक्षण करो ।

धक्काद्य—अर्जेनारा—अर्जेना पात्र वेष्य (दूट) । वैद्य रमाली गवाहनि एनुभेद (हातापचन्त्र) । देवदान—संकीर्णेन भग्नव्यवेति सक्तो भग्नात्पर, तत्प्राप्ति वै वैद्य संचरण पतनरूप, चरकेऽपि उक्तम्—भागुरुप रुदे वै वैद्य वा पतनिन वा । भविष्यापमवतारी दुर्भेद तत्र भीनिन् ॥ (दूट चन्द्र) : निम्नम्—इषि पृष्ठ लाग्राणुगादिकं संगत वर्णको । यह से छाह जाना—प्रेरेषे चागुरुपरूप एवं उक्तमात्प्रवृत्त (महाराहे इ) । प्रेरेषे पूर्णपूर्णप्रियीकालानिरद । दूटकृत लाग्रेवताना निर्विनिन् ॥ (परक) ।

स्वभानतः प्रवक्ष्यामि सरणाय शुभाय च ॥५४॥
सुहृदो यांश्च पद्यन्ति ध्याधितो वा स्वयं तथा ।
अब हृसके वाद मरणसूचक या शुभसूचक स्वप्नों को
जीवन करते हैं ॥५४॥ जिन्हें रोगी के मित्र तथा रोगी
स्वयं देखे ।

धर्मवृत्त्य—निद्रितावस्था में ही स्वप्न उत्पन्न हो सकते हैं । जब हृनिद्र्य तथा सन हृन्त होते वाले विषयों से पूर्ण निवृत्त हो जाते हैं, तब निद्रा उत्पन्न होती है । निद्रा में मन निरनिद्र्य प्रदेश में अवस्थित होता है—यदा हु भननि हृन्ते कर्मात्मानः कृमान्विताः । विषयेभ्यो निर्वर्तते तदा स्वप्निति मानवः ॥
(चरक) । परन्तु जब केवल हृनिद्र्यों की विषयों से निवृत्ति होती है और मन भृनिद्र्य होता है, तर तथा मन कार्य पर होने के कारण मनुष्य निद्रितावस्था में नाना प्रकार के स्वप्न देखा करते हैं—सर्वेन्द्रियव्युपरतो मनोऽनुपत्त यदा । विषयेभ्यस्तदा त्वं नानाल्पन्प्रपञ्चति ॥ (अष्टांगसंग्रह) । नातिप्रसुप्तः पुरुषः सफलानफलानपि । इन्द्रियेन मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकथा ॥ (चरक) । मन दोषशूर्ण होने से स्वप्न दिवाई देते हैं । ये स्वप्न सात प्रकार के होते हैं—मनोवडानां पृण्ठाद्वौपैत्रितवैलिमिः । लोतसां दारणान् स्वभाग काले पश्यति दारणे ॥ इष्टं शतानुभूतं च प्रायितं कल्पितं तथा । भाविकं दोषं चैव स्वमं सप्तविषये विदुः ॥
(चरक) । हन सात प्रकार के स्वप्नों का विवरण अरुणदत्त अपनी टीका में कहते हैं—(१) यशश्विषा जायदवस्थायां किंविद् वस्तुजातं हृष्टा तदानीं सुसावस्थायां तादृशं वस्तुजातं संविचित्स्पतयाऽऽनुभूयते स 'इष्ट' उच्यते ॥ (२) यश शब्दगाव्रेण वस्तुजातं श्रोत्रेन्द्रियेण शृणुते तदिदानीं सुसावस्थायां तादृशसंवित्स्पतयाऽऽनुभूयते स 'श्रुत' उच्यते ॥ (३) यस्तु जायदवस्थायां यथायथमिन्द्रियैत्यनुभूयते वस्थायां तादृशतःत्वंवित्स्पतयाऽऽनुभूयते सोऽनुभूत् उच्यते ॥

यदिन इष्टे श्रुतेन्द्रियैत्यनुभूयते वा यथूर्व जायदवस्थायां वस्तुजातं जायदवस्थीते तैव च सुसावस्थायामन्तःसंवित्स्पतयाऽऽनुभूयते प्रायितं उच्यते ॥ (५) यस्तु पर्भिः प्रत्यक्षानुमानादिभिन्ने इष्टे पे श्रुते नायनुमो हृष्टुनानुभूत्वाभावोदेव न च प्रायितोऽपि तु ले मनसा यथेच्छुप्रयेद्य यत्किञ्चनरूपाभिः कल्पनाभिः कल्पितो ददवस्थायां वस्तुजातान्तःसवित्ताप्राप्त्वाऽऽदस्तदार्नीं सुसावस्थायां गनुभूयते स 'कल्पितः' ॥ (६) यश हृष्टुशुतादिभ्यः स्वप्नेभ्योऽन्यो अक्षणः स्वप्ने यथा हृष्टुते सुसावस्थायामुत्तरालं तैव स्वप्नदर्शिना ए तन्मुखावगतदर्शैपि प्रत्यक्षतो हृष्टये स 'शाविकः' ॥ (७) जिः स स्वप्नो यो वातजः पितजः काङ्क्षो वा यथायथे दोषाणामनुरूपान्तःसंवित्तावनुभूयते स 'दोषजः' उच्यते ॥ इनमें से पहले पांच इर के स्वप्न, यथाप्रकृति दोषज स्वप्न (जैसे पित्तप्रकृति पित्तानुकूल स्वप्न), दिवास्प्ल, विस्मृद्दस्प्ल, अतिदीर्घस्प्ल, तिलुद्वस्प्ल ये निकल होते हैं—तेवाद्यानि निष्पलः वच यथास्प्रतिनिर्दिवा । विस्मृतो दीर्घस्प्लति । (अष्टांगगृहदय) । यहाँ भी ऐसे 'यथास्प्ल प्रकृतिस्वप्नो विस्मृतो विहृतस्था । विन्ताकूली दिवाद्यो वन्त्यफल्दार्तु ते ॥' ऐसा लिखा है । रात्रि के पहले प्रहर में सा हुआ स्वप्न अलपकल होता है परन्तु स्वप्न देखने के पश्चात् दि पुनर्निद्रा न सिले तो वह स्वप्न सहाफल करने वाला होता । अशुभ स्वप्न देखने के पश्चात् यदि उसी स्वप्न दूसरा शुभ

पूर्वक स्वप्न देखा जाय तो पहले का अशुभ फल नष्ट होकर

शुभ ही फल सिलता है—इष्टः प्रथमरात्रे यः स्वप्नः सोऽप्तप्लो नवेत् । न स्वप्नेः पुनर्दृष्टा म स्वप्नः स्वाम्याहाफलः ॥ अकल्याणमपि समें दृष्टा तैव यः पुनः । पश्येत् सौम्यं शुभाकारं तत्य विद्यात् शुभे फलम् ॥ (चरक) । हन नियमों के अनुसार शुभाशुभ स्वप्नों की निष्पलता, अलपकलता अथवा सहाफलता समझनी चाहिये ।

स्वेहाभ्यक्तशरीरस्तु करभव्यालगद्भैः ॥५५॥

वराहैर्भविष्वैर्भैऽपि यो यायाद्विक्षिणामुखः ।

रक्ताद्वरग्धर्या कृष्णा हृसन्ती सुलम्बूर्धजा ॥५६॥

यं चैव लर्यति वक्ष्वा ल्ली चृत्यन्ती द्विक्षिणामुखम् ।

अन्तावसायिभिर्यो वाऽऽकृप्यते द्विक्षिणामुखम् ॥५७॥

परिव्यजेरन् यं वाऽपि प्रेताः प्रवजितात्तथा ।

मुँहुराद्यायते यस्तु श्वापदैर्विकृताननैः ॥५८॥

पिवेन्मधुं च तैलं च यो वा पङ्केऽवसीदति ।

पङ्कप्रदिग्धगाढ्वी वा प्रनृत्येत् प्रहसेत्तथा ॥५९॥

निरस्वरक्ष्य यो रक्तां धारयेच्छरसि स्वजम् ।

यस्य वंशो नलो वास्यो वा तालो वोरसि जायते ॥६०॥

रं वा भल्ल्यो अस्तेयो वा जननीं प्रविशेष्वरः ।

पर्वताग्रात् पतेयो वा श्वभे वा तस्माऽऽवृत्ते ॥६१॥

हियते स्वोतसायो वा यो वा मौरज्जमवामुयात् ।

परजीयेत् वध्येत् काकाद्यैर्भैऽपि भूयते ॥६२॥

पतनं तारकादीनां प्रणाशं दीपचक्षुपोः ।

यः पश्येद्वत्तानां च (वा) ग्रकम्पमवनेत्तथा ॥६३॥

यस्य छर्दिदिवैरेको वा दग्धनाः प्रपतन्ति वा ।

शालमलीं किंशुकं यूपं वल्मीकं पारिमद्रकम् ॥६४॥

पुण्याद्यं कोविदारं वा चित्तां वा योऽधिरोहति ।

कार्पासतैलपिरयाकलोहानि लक्षणं तिलान् ॥६५॥

लसेताश्वीत् वा पक्षमध्ये यथ्य पिवेत् सुराम् ।

स्वस्थः त लभते व्याधिं व्याधितो मृत्युमृच्छति ॥६६॥

(तैलादिक) स्नेह से शरीर अभ्यंग करके जो ऊँट, हिंन्न पर्णु, गधा ॥५५॥ अथवा सूकर, महिय हनके साथ (या हन पर सवार) हीकर दक्षिणभिसुख गमन करता है । लाल वृक्ष परिधान की हुई, कृष्णार्णी, हैंसती हुई, मुक्तकेशा ॥५६॥ ऐसी ली जिसको वांचकर दक्षिण दिशा की ओर वृत्य करती हुई र्खीच्छती है । अथवा जो मनुष्य अन्तर्जलों से दक्षिण दिशा की ओर र्खीच्छा जा रहा है ॥५७॥ मृत मनुष्य अथवा संन्यासी जिसको आलिंगन करते हैं, अथवा जिसको वार वार (व्याधादिक) भयानक सुख वाले शापद दृश्यते हैं ॥५८॥ जो मधु और तैल पीता है, कीचड़ में फैस जाता है, शरीर पर कीचड़ मल कर नाचता है, तथा हैंसता है ॥५९॥ जो नंगा होकर शिर पर लाल रंग की माला धारण करता है, अथवा जिसकी छाती पर धाँस, नल अथवा तालबूज आदि उगता है ॥६०॥ जिसको मत्स्य भज्यण करता है, जो माता के उद्धर से श्रेष्ठ करता है, जो पर्वत के शिल्दर से गिरता है अथवा

दैविते गति में गिर जाता है ॥११॥ नहीं आदि प्रोत्संहार में भी वह जाता है, जिसमें सिर का मुट्ठन होता है, जिसका परायन शीता है, जो बैद होता है, या जो दक्ष प्रादि पश्चिमीं से परायन होता है ॥१२॥ जो (धृष्टि सूर्य आदि) सारिग्नामीं का पता, दीप और नेत्रों का नाश अथवा देवग्नामीं का नाश लक्ष्य भूक्तम् देखता है ॥१३॥ जो उन्नें को बसन्त पिंडपत्र से पीछित होता है, जिसने दौलत गिर जाने हैं, जो गमयत्, परायन, पूर्ण (यज्ञानाम), परमीर, चीम पा धृत ॥१४॥ हृता हुवा क्षधार अध्यवा चिना हृत पर धृता है । जिसने रई, रै, धृति, नीढ़, नमर और तिन ॥१५॥ हृतों प्रदायि गिलो हैं, अथवा जो प्रवाहा खाता है और सुग दा पान करता है । (हृत उपरोक्त घटनामीं को यदि मनुष्य स्थान में देते) यदि वह स्थान हो तो रीती होता है, और रीती हो तो स्थान को प्राप्त होता है ॥१६॥

**वस्त्रय—अन्यतरामायिमि—चाप्ताल रे भी दुष्ट संकर-
धी जाति—तिवार्दी तु चाच्छान्तुप्रमात्रवासानिमित्तम्। इत्यन-
गेवर मैथी बालामायिमित्तम्॥ (मनुस्मृति) मैथीपू—
मुहिष्ठिरलवस्तु। दुष्ट—दुष्ट अध्यात्मद्विर कृत का धनाया हुआ
यजपत्रादैश्वर्ण स्वरूप ।**

यथास्वं प्रगृहितिस्यप्तो विस्मृतो विद्वास्तु न था ।

चिन्माहतो दिवा दृष्टो भवन्त्याकलद्रास्तु ते ॥३५

जपनी भ्रह्मि के अनुभाव दरमा हुआ स्वम, निरपरा स्मरण नहीं होता थो ऐसा स्वम, जो हमें स्वम से लबाया गया है ऐसा स्वम, चिन्नाजन्म स्वम, दिन में दरमा हुआ स्वम ये सब निष्पत्त होने हैं ॥१३॥

यत्कर्त्तव्य—पश्चात् प्रतिवेदनम्—**जैसे** पात्रहृति का आकाश समाप्त है—**विष्णि** न ग-**गति** सभ्यता है । पित्रप्रहृति का अत्रि, विशुद्ध उक्ताकादि देवताना—**सप्त मन् बृन्दावनं** च परिभासा रूपके दीर्घ दृश्यता है द्वुनारात्रिवृत्तहृति । कामप्रहृति का हम पञ्चवाक्यादि द्वारा देवताना, जनानामनाम करता—**हुम् मन् वैष्णवं** इमचर्वाकाशं मरादेवति च (निराशयानं गणाशान्) ॥ विद्वान्—**द्वैरपे** विशिष्ट शुभ रूप से जिसका प्रभाव है यानि पराशूल हो गया है—अक्षयानगमपि रूपम् दृष्ट्वा तत्त्वं य बुन । वदेह जीव शुभावाद् नन् विद्याच्छुभम् परम् ॥ (धर्म) । चिन्ताहृत यद्वद् दीर्घ, शुभ, अवशुभत, प्रार्थित और कल्पित पांचों प्रभार के लिए विशिष्ट है—

अरकान स्वर्गा का ब्रह्म रूपा जाता है ।
 उत्तरिलाला शुगा मरण कविसरये तु शोपिणाम् ।
 उन्नामे राज्यसे भ्रेत्तरप्यमारे प्रश्नतनम् ॥६८॥
 मेहतिसारिलां तोयपाल येदस्य कुषिणाम् ।
 गुल्मेषु स्थापयेत्पति कोष्ठ, मूर्खि शिरोक्षजि ॥६९॥
 शशुदीपदाणं दर्यामध्या भासपिणान्यो ।
 द्वारिदं भोजन धार्ति दस्य न्याया पाराद्योगिण् ॥७०॥
 द्वापिती पितेद्यन्त शोलिन स विनदयनि ।

जहार से तो वालों की कुनौं दें मिश्रता, ददरीय वालों की बानर से मिश्रता, उम्माद, रेण में तथा अपमार में राधारा-

और ब्रेत्ता से मिश्रना ॥६८॥ प्रमह और अतिवार में जड़
कुटुंब रोग में हीर पीना, गुन्म रोग में कोष पर धूर लिये
में तिर पर कुटुंबी उच्चलि ॥६९॥ बजन रोग में शा-
भतान, खाय धीर लियाया रोग में मार्गी प्रवाम, पाँडु रोग
पीला भोजन गयना ॥७०॥ और रक्तपिण्डी जो रक्ष पान
दे नाश हो जाते हैं।

धर्माद्य—इन शब्दों में विशिष्ट रूपों के लिये वि-
प्रकार वे अनुग्रह सम्बन्धित हिन्दे हैं। लालवीरति—वज्रा-
दीनामुखिति—ज्ञाना वज्रमिती दश दण्डा ही वज्रने। लभ्यनु-
मनय गृही विहन गमनरम। (प्राक)। **हारितम्**—हिरिद्वामो
ल्प्याद्। (हड्डाम)। प्रसारान्—नाच गान इत्यादि में मिलन
गयन शब्दों सम्बन्ध। (प्राक)।

स्वप्राप्तेन विद्यान् दद्मा प्राप्तस्थाय यदोग्नान् ॥
 दद्मान्माप्तस्तिलाङ्गोद विप्रेभ्यः काञ्जनं तथा ।
 अपेक्षापि शुभान् मद्यान् गायत्री विपर्दा तथा ॥
 दद्मा तु प्रथमे यासे स्वप्याद् ध्या गापुनः शुभम् ।
 अपेक्षाऽन्यतमं देव्य मलवारी समाहितः ॥
 न चाचादीत कस्मैचिद् दद्मा स्वप्रमश्योभनम् ।
 देवयात्यन्ते द्यैषं पसेद्विप्रियं तथा ।

विप्रांशु पृथ्येसित्यं दुःस्वप्नात् प्रविमुच्यते ॥
(अनुभ स्वर्णो का परिहार) हस प्रकार हे अनुभ स्वर्णो को देशरात्र प्रवद्यतीति तुर्य प्रात काट उड़कर ॥३
उड़कर, लौह तथा सुर्वण्ड इनका दावा बाढ़ाद्वार्णो की ।
बैरी मंगलाचारक मन्त्रों को तथा विद्या गायत्री को जपे ॥५
रात्रि ते पढ़े प्रहर मे (अनुभ स्वर्ण) इनपे पर कुमचित्
करते किर मी जारे अधिवा सामाधान होतर और बाधार्थ्यवाप
कर अन्य दृष्टि दंवता का जप करो ॥५१ । अनुभ स्वर्ण देख
दलका कथन किसी को भी न करे । नीन रात्रि देखा के मनि
में वाप करे और निय बाढ़ाद्वार्णों का पूजन करता रहे । हस
हु यम से अनुभ फल से मनुष्य मुक होता है ॥५२ ।
यत ऊर्ध्वे प्रवक्ष्यामि भशस्तं स्वप्रदर्शनम् ।
देवान् द्विजान् गोदृप्यमान् जीवतः सुहृदो नृपान् ॥५३
सुमिद्धमर्ज्जि सौर्धृष्ट निर्मलानि जलानि च ।
पद्यन् कल्याणलभाय व्याप्तिरपगमाय च ॥५४
मान मन्स्यान् द्युमातः श्रेता वारांसि च कलानि च ।
लभन्ते धनलाभाय व्याप्तिरपगमाय च ॥५५
महाप्रासादमफलवृक्षारणपूर्वताम् ।
धारोहेद् द्रव्यलाभाय व्याप्तिरपगमाय च ॥५६
नर्दीनशसुमाद्य भुमितान् कलुरोदशान् ।
तरेत् कल्याणलभाय व्याप्तिरपगमाय च ॥५७
उरगो या जलर्की वा भ्रमरो वाऽपि य दशेत् ।
वारोग्य विनिर्देशस्य धनलाभ च युद्धिमान् ॥५८
रुद्रकूपान् शम्भव इन्द्रान् पुरुदेव्यापिनो नरः ।

ल दीर्घायुरिति द्वयस्तस्यै कर्म समाचरेत् ॥८६॥
दनि सुकृतसहितायां सूक्ष्मस्याने विपरीताविपरीतसमनिर्देशीनोपायाः
नामैकोनविरशत्तमोऽयाः ॥८७॥

अब हस्तके आगे शुभदायक स्वमोक्ष का वर्णन करते हैं। जो मनुष्य स्वम में देवता, हृज (यात्मा, द्वितिय और दैत्य), गौ, घैल, अपने सजीव मित्र, राजा ॥८५॥ अउपतित अग्नि, सातु लोग, निर्मल जल इनको देखे, उमर्हो च्याधि का नाश होकर कल्याण की प्राप्ति होती है ॥८६॥ सांस, मर्त्स्य, वैत माला, तथा उज्ज्वल वस्त्र, कल ये स्वम में प्राप्त हों तो धन का लाभ होता है और च्याधि का नाश होता है ॥८७॥ नहीं राजमहल, फल युक्त वृक्ष, हाथी, पर्वत हृन पर जो स्वम में चढ़ता है; वह द्रव्य साम को भ्रात होकर व्याधि से छूटता है ॥८८॥ क्षुध तथा कलुपोदक नहीं, नद तथा समुद्र हृनको जो स्वम में तैर कर पार ही जाता है; वह कल्याण की प्राप्ति कर रोग से सुख होता है ॥८९॥ सर्प, जांक या भ्रात जिसको स्वम में दंश करे, उसको त्रुद्विसान् वैय रोग का नाश और द्रव्य का लाभ बतलाने ॥९०॥ हृन प्रकार के शुभ स्वमों को जो रोगी देखे, वह दीर्घायु समर्थ कर उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥९१॥ दति मात्सकरशमाणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहर्षदीपिकायां
सूक्ष्मसाधारीकायां विपरीताविपरीतस्वमनिर्देशीनोपायाः ॥९२॥

त्रिंशतमोऽध्यायः ।

अथातः पञ्चेन्द्रियार्थचिप्रतिपत्तिमध्यायं व्यास्त्वस्यामः । यथोचाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से पञ्चेन्द्रियार्थचिप्रतिपत्ति नामक अध्याय का चारख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

चक्रवद्य—पञ्चेन्द्रियार्थचिप्रतिपत्तिः—पञ्चेन्द्रियाणि ‘चक्षुः, शैवं, प्राणं, रसनं, रपर्णनमिति’ । तेषामर्थाः शब्दस्पर्शस्त्वरसान्वयाः । तेषामर्थानां विप्रतिपत्तिः हीनानायित्येगेन रिषायस्यो विपरीतावदोऽपि । इन शानेन्द्रियों के साथ मन का भी ग्रहण होता है । व्यांकि मन के विना इन्द्रिय अर्थग्रहण करने में असर्वथ होते हैं—मनःपुरुषाणि चेन्द्रियाण्यर्थसंप्रहासार्थानि भवन्ति । नदर्थात्मसंपदायत्तेषै चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम् । (चरक) ।

शरीरशीलयोर्यस्य प्रकृतेचिह्नतिर्भवेत् ।

तत्त्वप्रिष्ठं समासेन व्यासतस्तु नियोगं च ॥२॥

मनुष्य के शरीर, शील और प्रकृति हृनमें (अक्षमात्) विपरीत भाव उत्पन्न होना यही संक्षेप से अरिष्ठ (का लक्षण) है । विस्तार से अब सुन के सुनो ॥२॥

चत्तरवद्य—इस श्लोक में पुरुषसंघ्रय रिषि का संक्षिप्त लक्षण वर्णन किया है । इस विषय का चिशेप विदरण पीछे २८ वें अध्याय के दूसरे श्लोक के चत्तरवद्य में किया गया है । शरीर— अथेन्द्रियादिसमुदायात्मकपात्मभौतिकत्वेतनाधिकानभूतप्राणिकायः । शील—पैसर्विक स्वभाव । प्रकृति—प्रकृति वातादि दोष, सम्वादि गुण और जात्यादिक भेद से सात प्रकार की होती है—सप्त प्रकृतयो दोषः पृथक् संसारेण साम्येन च भवन्ति । दोषवच्च उपर्युपि सत्त्वादिभिः

सप्त प्रकृतयो भवन्ति । तथा पुनः तास प्रकृतयो वानिकुलदेशमालवयोवल-प्रत्यात्मसंश्रयाः । हृनले हि पुरुषाणां जात्यादितिगतात्मे ते भासविशेषाः । (अष्टांगसंग्रह) । दोष तथा गुण हृनके अनुसार प्रकृति का वर्णन आगे शारीरस्याम के चौर्णे अध्याय में किया गया है । जात्यादि प्रकृति चरक में फैलत हैः ग्रन्थार की वर्णन की है । यथा—द्वित्रिय जाति में शीर्ष, निचित, हूल में शूरता, किसी दण में शूरता, हिमकाल में वलाधिक्य, शीदनावरथा में घलाधिक्य, कोई पुरुष जन्म से ही शूरप्रकृति (प्रत्यात्म-ग्रिवन्त) होता है । विष्णु—श्वरीर, शील और प्रकृति हृनमें विर्मिनिःश्व और अक्षमात् विपरीत भाव उत्पन्न होता । हृससे वरकोक्त ‘निमित्ताशूरपा विकृति’ अभिप्रेत है, जिसका वर्णन ऐसा किया गया है—यानिनितां निमित्तमायुपः प्रमाणानामस्येच्यन्ति विष्णु भूत्यायुपः क्षयनितिः प्रेत्तिष्मातुरुपां यामायुपोऽन्तर्मत्स्य शानार्थमुपदिशन्ति भीता । मां चाधिकृत्य त्रुप्रसंश्रयाणि मुमूर्षीतं लक्षण-स्मृपेदेश्याः । अर्थात् यह रिष्टल्पा विकृति है, तासान्य विकृति नहीं है । यदि हृसके पश्चात् विकृति का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए प्रथग आत्मरमाण विस्तृत ग्रन्थप्रतिपत्ति का वर्णन करते हैं—

शृणुते चिचिधान् शब्दान् श्रौत्यान् विकृतिः ।

समुद्रपुरुतेधानायसंपत्तौ च निःस्वनान् ॥३॥

तत्त्वं रजनामावगृदुति मन्यते चान्यशब्दवृत् ।

भ्रम्यारायस्वद्वांश्चापि विपरीतान् शृणुते च ॥४॥

द्विष्टच्छद्येषु रसते छुष्टच्छद्येषु छुष्टयति ।

न शृणुते च योऽक्षमात्तं द्युवन्ति वातायुवृद् ॥५॥

जो नाना प्रकार के (सिद्ध किन्नर गंधवौं के) द्रव्य शब्द तथा समुद्र, वरद और भैरव हस्तके शब्द विदरान न होने पर भी (अवपत्ती) लगता है ॥३॥ वथवा यद्य (विधमान होने पर भी) जिसको सुगाइ न हो या और प्रकार का शब्द सुनाइ दे । तथा जो शामदासी प्राणियों के शब्दों को वन्य प्राणियों के शब्दों की भाँति सुगता है और वन्य प्राणियों के शब्दों की आम्य प्राणियों के शब्दों के भे सुनगता है ॥४॥ जो शब्द के शब्दों से समात हो और मित्र के शब्दों से कुछ होता है वथवा जिसकी अवण्यात्मिक अक्षमात् (सदा के लिये) वर होती है, उसे विद्वान् लोग गतायु कहते हैं ॥५॥

चत्तरवद्य—द्विष्टच्छद्येषु—सदै शिद्वौं के वदनों पर अविश्वास और शून्याओं के वदनों पर विश्वास करने की प्रवृत्ति जब मनुष्य में उत्पन्न होती है तब उसका चिनादकाल धड़ा दूर नहीं है, ऐसा समझना चाहिये—परात्मकाले हि गतायुपो नरा हित न गृहणति मुहुर्मितीरितम् । (रागायाम) ।

यस्तूष्ट्याविष्य धूतात्मि शीतसुर्पं च शीतवृत् ।

संजातदीतपिडको वद्य दाहेव पीडयते ॥६॥

उपगात्रोऽतिराजं च यः शीतेन ग्रदेष्यते ।

श्वरात्मस्मिजात्मति योऽज्ञच्छेदमथापि या ॥७॥

(सर्वविप्रतिपत्ति—) जो धीत्तल एवार्थ की उपा समझता है और उपा को धीत्तल समझता है, जिसके शरीर उपगात्र में धीत्तल पिडदग (प्रसामिडग) होते पर यह जो दाह ले धीत्तिल होता

यो चा मयूरकण्ठाभे विघूमं वह्निमीक्षते ।
आतुरस्य भवेन्मृत्युः स्वस्थो द्याधिमवामुयात् ॥२१॥
इति सुकृतसंहिताया स्वस्थाने पञ्चनिर्दिव्यार्थविप्रतिपत्ति-

नाम विशेषमोऽध्यायः ॥३०॥

जिसे चांदनी, दर्पण, धूप (उल्ल) और जल में अपनी छाया (या प्रतिविंश्टि) नहीं दिखाई देती अथवा एक अंग हीन, विकृत अथवा अन्य प्राणियों की जैसी दिखाई देती है ॥२०॥ (जैसे) कुत्ता, कौआ, कंक, गीध, ग्रेत, बद्ध, रानस, पिण्डाच, उरग, नाग अथवा भूत इनकी जैसी विकृत छाया दीखती है ॥२१॥ जो धूमहीन अस्त्रि को मयूरकंठ की भाँति (नीलवर्ण) देखता है, वह मनुष्य रोगी ही तो मृत होगा और खस्थ ही तो रोगी होगा ॥२२॥

चक्कव्य—यहाँ छायांशब्द प्रतिच्छाया (Shadow or Image) अर्थ से उपयुक्त हुआ है—प्रतिप्रमाणस्थाना जलादर्शतपादिषु । छाया या सा प्रतिच्छाया ॥ (चरक) ।

। भास्त्ररशमेण गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुकृतभासारीकार्यां पञ्चनिर्दिव्यार्थविप्रतिपत्तिनाम
विशेषमोऽध्यायः ॥३०॥

एकांशिदात्मोऽध्यायः ।

अथातश्छायाचिप्रतिपत्तिमध्यायं द्याख्यास्यामः ।
योचाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से छायाविप्रतिपत्ति नामक अध्याय का व्याख्यान तैर है, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

चक्कव्य—इन्द्रियविज्ञान या रिटिविज्ञान में वर्ण, छाया, भा और प्रतिच्छाया ये चार शब्द हमेशा प्रयुक्त होते हैं । वर्ण से प्रतिच्छाया का वर्णन पिछले अध्याय के अन्त में ज्ञा गया है । वर्ण—शरीर का स्वाभाविक रंग (Colour) । हर्वर्ण चार या पाँच प्रकार का होता है—कृष्णः कृष्णश्यामः, गमादातः, अवदातश्चेति प्रकृतिवर्णः शरीरस्य वर्णति । (चरक) । व गौरः, रुद्रः, गौरश्यामः, कृष्णश्यामः इति टेहप्रकृतिवर्णः, आटांगसंग्रह) । ये प्रायः शरीर के स्वाभाविक वर्ण होते हैं । इनके अतिरिक्त जो वैकारिक वर्ण बतलायें हैं, वे भी चित्त प्राकृत हो सकते हैं । छाया—इसकी शरीर की कांति Complexion) कह सकते हैं—छाया वर्णप्रभावया । (चरक) । हर्वर्ण प्रकार की होती है—सारीनां पच पचनानां छाया विविधशृणाः । नाभसी निर्मला नीला सुरनेहा सप्तमेव च ॥ रुक्षा श्यावा—इस तु बायवी सा हतप्रभा । विशुद्धरक्ता त्वायेषी दीपाया वर्णनप्रेया ॥ शुद्धैवर्द्यविमला सुखिन्दा चाम्भसी गता । अत्रा लिङ्गाधा धना श्यामा श्येता च परिवर्यो ॥ प्रभा—शरीर का जो तेज (Lustre) होता है, वह प्रभा है । प्रभा और वर्ण दोनों के संयोग से शरीर की जो विशेषता होती है, वह छाया है । प्रभा सात प्रकार की है—सातैर्ज्ञी प्रभा मर्वा मा तु मासविश सूता । रक्ता पीता मिळा श्यावा दरिगा पाण्डुराऽस्तिना ॥ तमां याः स्तुर्विकात्मियः दिग्भाश्रमितुर्यायाः । ताः शुभा लक्ष्मलिनाः मधिसाश्राम्युभोदयाः ॥ (चरक) । द्युया और प्रभा में भेद—छाया वर्ण पर अपना प्रभाव डालनी है यानि वर्ण की नरार्थी को प्रच्छय करती है, प्रभा वर्ण को

अधिक प्रकाशित करती है । छाया नजदीक से दिखाई देती है, प्रभा दूर से ही दिखाई देती है । छाया पंचमहाभूतात्मिका है और प्रभा तेजःप्रभवा है—तेजोविशेषाः । छाया वर्णमाकामत्यासना च लक्ष्यते पञ्चभूतात्मिका च । प्रभा तु वर्ण प्रकाशयति विप्रकृतालक्ष्यते । तेजःप्रभवैव च । (आटांगसंग्रह) । वर्णमाकामनिच्छाया प्रभा वर्णप्रकाशनी । आसना लक्ष्यते छाया विकृष्टाभाः प्रकाशने ॥ (चरक) ।

श्यावा लोहितिका नीला पीतिका वाऽपि मानवम् ।

अभिद्रवन्ति यं छायाः स परासुरसंशयम् ॥२॥

जिस मनुष्य पर काली, लाल, नीली अथवा पीली छाया आकस्मण करती है, उसको निश्चय से गतप्राण ही समझना चाहिये ॥२॥

चक्कव्य—प्रत्येक व्यक्ति प्रभा और छाया से युक्त होता है और जब उसकी मृत्यु समीप आती है तब प्रभा और छाया में भी अनुभूत्युक्त परिवर्तन होते हैं और वह श्याव आदि देव जाती है—वर्णेन प्रभया तथा । छाया विवर्तते वस्त्र स्वस्योऽपि ग्रेत एव सः ॥ नाड्डायी नाऽप्रभः कश्चिद्विषेषाद्यिहयन्ति हि । नृणां शुभाशुभोत्पत्ति काले छायाः प्रभाशयाः ॥ (चरक) ।

हीरपक्षमते यस्य प्रभाधृतिस्मृतिश्रियः ।

अक्साद्यं भजन्ते वा स परासुरसंशयम् ॥३॥

जिस मनुष्य की लज्जा अक्समात् नष्ट होती है अथवा प्रभा, धृति, स्मृति और शोभा अक्समात् बढ़ती है, उसको निश्चय से गतप्राण समझना चाहिये ॥३॥

चक्कव्य—प्रभा—दीसि किंवा तेज । इसका ऊपर वर्णन हो चुका है । धृति—निश्चयात्मिका द्रुद्धि—धृतिर्हि नियमात्मिका (चरक) । स्मृति—अनुभूतिविषयासंप्रमोर्णः स्मृतिः । (योगसूत्र) । आत्मगमनसोः स्वेषागविशेषात् स्वकाराच स्मृतिः । (वेशेषिकदर्शन) ।

यस्याधरौष्टः पतितः क्षिप्तश्वोऽर्चं तथोत्तरः ।

उभौ वा जास्ववाभासौ दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥४॥

आरक्षा दशना यस्य श्यावा वा स्युः पतन्ति वा ।

खज्जनप्रतिमा वाऽपि तं गतायुष्मादिशेत् ॥५॥

कृष्णा स्तव्याऽवलिसा वा जिह्वा शूना च यस्य वै ।

कर्कशा वा भवेद्यस्य सोऽन्निराद्विजात्यसून् ॥६॥

कुटिला स्फुटिता वाऽपि शुष्का वा यस्य नासिका ।

अवस्फूर्जति मध्ना वा न स जीवति मानवः ॥७॥

संक्षिप्त विषमे स्तव्ये रक्ते व्यस्ते च लोचने ।

स्यातां वा प्रस्तुते यस्य स गतायुष्मरो ध्ववम् ॥८॥

जिसका नीचे का होठ लटकता है, ऊपर का होठ ऊपर को चढ़ता है अथवा दोनों होठ जामुन के मध्य (नीलवर्ण) हो जाते हैं, उस मनुष्य का जीना दुर्लभ है ॥८॥ जिसके दाँत लाल या काले होते हैं, अथवा गिर जाते हैं अथवा संजन की भाँति (नीलवर्ण) होते हैं, उसको गतायु उसमझना चाहिये ॥९॥ जिसकी जिह्वा काली, नींबित (गतिरीन), लेप युक्त, गोथ युक्त और कंपेण होती है, वह यीव ही प्राणों का त्याग करना है ॥१०॥ जिसकी नासिका देही होती है, फट जाती है, सूक्ष्मी होती है ।

MADDESWITTAHARSHI BY अश्विनीशश्वि/Shashi

होती है, यह मनुष्य नहीं जीता है ॥५॥ तिगडे दोओं नेप्र संहुमिता, पिपल, नीमित, टाढ़, नीबंद दो लटके हुए होते हैं या इन्हें है, उस मनुष्य की निश्चय से गतप्राय समझा आहिष् ॥६॥

यत्कथ्य—उच्चरात्रान्ते—उच्चरात्रात्य भीम्पर्यग । इस प्रकार की नीलिमा को क्षेत्रीयी में सायनीमिति (Cyanosis) कहते हैं । यह अवस्था दृष्टेण नींबू मुख्य रोग में रक्त की शुद्धि ठीक न होने के कारण उत्पन्न होती है और विग्रह करके होती पर तथा नारात्, नामिका, दर्पालि इन स्थानों पर दिखाई देती है । इसका यर्थ ईप्सीलनोहित (Faun's purple) से परम्परागत मतद्य होता है । वर्षा की तीव्रता यिहति द्वी गमीत्वा निर्गमक होती है । उसके में भी वैकारिक लर्दे में इस घटना का दर्पण रिया है—मन्य नीलाङ्गवेड़ी एवं वायवद्विषी । मुनुरुर्ति न दियन्ते भीरो मानुषम् ॥ सतत—
मृदग के ऊपर हायाने की कल्पी स्थानी—मदननिर्विरेण
मृदुमुरुचित्प्रस्तरा स्त्रेनमुम्बन् । य सततनि वदुर्मृदृक्तस्त्र ।
(दृष्ट्य) । दूसरा अर्थ स्त्रीरीट पश्ची । यह प्रतोदर्वर्य का है । इसने काठमट्ट धर्य का । विद्वा—विद्वा की स्थिति उत्तर रोग, न्यर तथा अन्य गमीर रोगों में बुद्धा स्त्राव द्वारा जाती है । अन्वित—लालाक्षात् कम होने के कारण विद्वा सूक्ष्म जाने से उस पर मैल का एक पत्ते यन जाता है । अप्रेक्षी में इस प्रकार की विद्वा को ‘कोलेट वा फ्लूर्स्ट टांग’ (Coated, Plastered tongue) कहते हैं । कर्त्ता—सुरुदी । विद्वा के ऊपर के उष्ट्रमाण की रक्षण देखने से उसमें तीन प्रकार के दृष्टे या बुजुर दिखाई देते हैं । इनमें जो नीकीले अड्डुर (Conical and filiform papillae) होते हैं, वे सारे एट-भाग पर समान्तर पसिली में फैले हुए होते हैं । जब विद्वा मैली, दुष्क और हन उमरे हुए अड्डों से युक्त हो जाती है, तब उसका सर्पण छक्क्य होता है । इसमें अप्रेक्षी में ‘फौंड ट्रैंग’ (Furred tongue) कहते हैं । विद्वा की यह स्थिति सन्त्यास अंतर्वस्य हुष्टमासांड (Cancer), राजवद्यमा की व्यन्तिमाय-स्था, तीव्रपाण्डुरोग तथा अन्य गमीर रोगों की निर्दर्शक होती है ।

केशा—सीमन्तिनो यस्य संहिते विनते भ्रूवै ।

हुनन्ति चाक्षिपदमाणि सोऽचिरायाति शृत्ये ॥७॥
नाद्वरत्यप्तमास्यस्यं ग धारयति यः शिरः ।
प्रकायदर्थिमूढात्मो सद्यः प्राणान् जहाति सः ॥८॥
बलवान् दुर्खलो वाऽपि संमोहं योऽधिगच्छति ।
उत्थायमानो धृशस्तं पंक्तं भिपादिरोद् ॥९॥
उत्सानः सर्वशः शेते पादौ विकुरते च य ।
विप्रसारणशीलो वा न स तीव्रति मानयः ॥१०॥
शीतपादकरोच्छासरित्तोच्छासम्य यो भयेन् ।
काकोच्छासम्ये यो मर्यस्तं धीरः परिवर्येत् ॥११॥
निद्रा न दियते यस्य यौ वा जागर्ति सर्वेदा ।
मुद्रेदा' घृकामध्य प्रत्याख्येयः स जानता ॥१२॥

३८८ परिवर्त्येत्, ३ छित्रप्रबन्ध

उत्तरारौषुं च यो लिहादुक्तारांश्च करोति यः ।
मेनेपां भाष्टते सार्थं प्रेतरूपं तमादिशेष ॥
खेभ्यः सरोमाकृपेभ्यो यस्य रक्तं प्रवर्तते ।
पुरुषस्याविशार्नेस्य सद्यो नष्टान् स जीवितम् ॥

दिमके वेग सामन्त युक्त ही जाते हैं, भीहै पिक्की । ऊंचा नीचे की होती है और पलक के शाल गिर जाते हैं, मनुष्य शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होता है ॥१॥ यो मुख में ढाले हुए अस को नहीं निगात सकता, अपने तिर की धारण नहीं कर सकता और लो मूढ़ होकर एक ही तरफ दृष्टि धाँप कर रखते हैं, वह गीर्घी ही प्राणों का त्वाग करता है ॥१॥०॥ अल्पान् । अपवा दुर्बुल ही जो उठते समय प्राय (युग्म) मूर्च्छा होता है, उसे वैष पक (गृहु के समीप पहुँचा हुआ) सम्म ॥१॥१॥ जो सर्वदा पीढ़ पर सीता है, अपने पांवों की संकुचि और प्रमाणित बरता है सद्या सदा के लिये ऐलाये हुए रखते हैं, यह मनुष्य नहीं जीता ॥१॥२॥ जिसके हाथ पैर औं उच्छ्वास ठंडे होते हैं, शास्प्रधारस की किया दूरी हुई होती अथवा जो काक की भाँति मुख लोल के शास होता है, उसके उत्किसाद् वैष त्वाग करे ॥१॥३॥ जिसकी निद्रा करी खुलते नहीं या जो सर्वदा जागत रहता है तथा बोलने के समय जं मूर्च्छित होता है, वह रोगी दुर्दिसाद् वैष से त्वाग करने योग है ॥१॥४॥ जो ऊपर के होठ की चुम्लता है, दक्का देता है औं अप्रेक्षी से भारय करता है, उसका प्रेतरूप ही समझता जाहिरे ॥१॥५॥ (आग्नेयुक) विष से पीटित न होने पर भी जिसके रोम दूरों से तपा (शरीर के अन्य) दूरों से रक बहता है, वह गीर्घी ही प्राणों की छोड़ता है ॥१॥६॥

चक्षुव्य—उच्चप्रयान—रोगी चित्तं र र से जब उत्तर देता है, तब उसके मस्तिष्क में अकरम् ॥ न की कमी (Cerebral anaemia) हो जाती है, जिससे उसे रस्मोद (Giddiness, Fainting) उत्पन्न होता है । ग्लॅक्ट में उठने पर रक की कमी उत्तर होने का मध्यान काण दृष्ट्य का दौर्विन्य है । यह दौर्विन्य प्रत्येक चिकित्साली रोग में दिखाय करके जरों में उत्तर दुर्बुल करता है औं अंत इससे मामूली ॥ झर ही हुआ करता है । इत्यलिये वागों जराचिकित्सा म ॥ १३॥—ज्ञेर अप्रेक्षी भवति स्वरूपद्वयोर्विते । निषण भोजे ॥१४॥ नीचारों च कारोये ॥ परतु हुठे रोगों में और विषेप करके दृष्ट्य के रोगों में यह दौर्विन्य अधिक होता है । जिससे उठने र बार बार चक्षर आया करता है । यह उसके अन्याना का स्थान होने के कारण उसका अतिरिक्त एक रिय ही समझना चाहिये । शीताद-करोच्छुपम—जिसके हाथ, पैर और उच्छ्वास भी शीत होता है । उच्छ्वास का अर्थ उच्छ्वसित (Expirited air) यानि युक्त्युप से बाहर आई हुई हवा । मनुष्य अपने भीतर जो हवा होता है, वह जिन्हीं भी ईंटी क्षेत्रों न हो याहर जाते समय मनुष्यपरीक की दण्डना के बायर गरम हुआ करती है औं शरीर शरीर दृष्ट्य रहना संवीकवस्ता का एक मूल्य लक्षण है । कमजोरी के कारण हाथ पैर नासाम भादि दृष्ट्य से दूरवर्ती

१ लिहादुक्तारांश्च

और वाल्व बायु के लिये अनावृत (Exposed) स्थान ठहं हुआ करते हैं परंतु केवल हृनका ठंडापन मृत्युमूर्चक नहीं ही सकता । जब हाथ पैर के साथ साथ फुफ्फुस से बाहर निकली हुई हवा भी ठंडी होती है तब यह समझना चाहिये कि हृदय-प्रश्वासीपरती फुफ्फुस जैसे सहर्तर के स्तनुगुस्स स्थान भी ठंडे होने लगे हैं और यह जरूर मुमर्झ का लकड़ा है । छिवेच्चाराः—जिस की शास प्रश्वास की क्रिया वीच वीच में खंडित यानि कुछ काल तक बंद रहती है । इस प्रकार की स्थिति को अंग्रेजी में ‘पीस्ट्रिओडिक ब्रीटिंग’ (Periodic breathing) कहते हैं । जन्म से मृत्यु तक जाग्रतावस्था में अनैच्छिक छिज शास हर्मिज नहीं होता । बाल्य तथा दृढ़दावस्था में कच्चिन् निहार में होता है । स्त्रियावस्था में यह अवस्था जरूर रित्यसूचक होती है । आधुनिक खोज से इस अवस्था के दो प्रकार मालूम हुए हैं—

(१) चेन स्टोक्स रसिरेशन (Cheyne-stokes respiration)—इस प्रकार के छिज शास की खोज ‘चेन’ और ‘स्टोक्स’ नामक दो वैज्ञानिकों ने की है । हसलिये उनके ही नाम से यह मण्डूर है । हसलिये तथा मृत्यु काल तक शास प्रश्वास की क्रिया बंद होती है (Apnoea) । तत्प्रश्वात् धीरे धीरे शास प्रश्वास की गति और गंभीरता बढ़ने लगती है । फिर धीरे धीरे घटने लगती है और कुछ काल तक शास प्रश्वास बंद हो जाता है । हस तरह से यह चक जारी रहता है । यह अवस्था हृद्रोग, मूत्रविषयावस्था (Uraemia), मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis) और सूर्योत्पदम्भावस्था (Sun stroke) इन रोगों में दिखाई देती है और जरूर अमृतमूर्चक होती है तथा मृत्यु के पूर्व कुछ धंटों तक होती है । (२) बायोट्स रेरिपरेशन (Biot's respiration)—इसमें भी कुछ काल तक शासप्रश्वास बंद होता है । तत्प्रश्वात् स्वाभाविक अवस्था के अनुसार शास प्रश्वास प्रारंभ होता है, फिर कुछ काल तक बंद होता है । हस तरह यह शासप्रश्वास का कार्यचक्र जारी रहता है । इसमें फर्क यह है कि पहले प्रकार की भाँति जब शासकर्म प्रारंभ होता है तब शास की गंभीरता और ग्रीष्मता में बढ़ा बढ़ी नहीं होती है । यह अवस्था मस्तिष्कावरण शोथ में दिखाई देती है । सेम्भः—कर्ण, नासिका गुद आदि शरीर के रंगों से—मार्गो पुनररथ द्वावृच्च चाधश तत्... कर्वं प्रथमानं कर्णान्सिकानेत्रास्येत्:... अथः प्रथमानं मूत्रपुरीपार्माण्ड्या प्रथ्यवते । तौ मार्गो प्रथमानं तर्वेभ्य एव योजेत्यभ्यः सेम्भः प्रथ्यवते शरीरस्य । (चरक) । इस स्त्रोक में वर्णन किया हुआ रित्यसूचित रोग में मिलता है—यदा तु मर्यच्छ्वेभ्यो रोमद्वेभ्य एव च । वर्तने तामलंखेभ्यां गति तम्याहुतित्तेजेन् ॥ (चरक) । यह अवस्था निश्च ओपसर्मिक रोगों में दिखाई देती है—मसूरिका, टैफस ज्वर (Typhus), मस्तिष्क मूत्रमूल ज्वर (Cerebrospinal fever), रुग पर्पूरा (Purpura) ।

याताष्टीला तु हृदये यस्योर्ध्वमृत्यायिनी ।

सजाऽन्मित्वेषकरी स परामुरसंदायम् ॥१७॥

अनन्योपद्रवकृतः शोफः पादसुसुत्थितः ।

मुख्यं हन्ति नारीं त मञ्जरो गण्डो द्रव्यम् ॥१८॥

अतिसारं इवरो हिक्का छर्दिः शून्याण्डमेहूता ।

श्वासिनः कासिनो वापि यस्य तं दीयामादिशेत् ॥१९॥

स्वेदो दाहश वलवान् द्विक्षा श्वासश्च मालवद् ।

वलवन्तमपि प्राणेदियुञ्जन्ति न संशयः ॥२०॥

बायु की गाँड़ जिसके हृत्य में ऊपर को चढ़कर अन्न से सिंद्रेप उत्पन्न करे, उसको निसंशय यत्प्राण्य समझे ॥१७॥ स्वतन्त्र रूप से पुरुष के पाँच में उत्पन्न हुआ शोथ (जब ऊपर को फैलता है तब) उसका नाश करता है, खी के मुख में उत्पन्न हुआ शोथ (जब नीचे को फैलता है तब) उसका नाश करता है और गुल प्रदेश में उत्पन्न हुआ शोथ खी और पुरुष दोनों का भी नाश करता है ॥१८॥ आस या कास से पीड़ित मुख्य को जब अतिसार, ज्वर, हिक्की, वसन और वृषण तथा शिश का शोथ ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं, तब उसको क्षीण समझना चाहिये ॥१९॥ अतिशय स्वेद, दाह, हिक्का और शास ये वलवान् मुख्य को भी प्राणों से विद्युत कर देते हैं ॥२०॥

वक्तव्य—अनन्योपद्रवकृतः—इसके दो अर्थ होते हैं ।

(१) जो अन्य विकारों से उत्पन्न नहीं हुआ यानि जो शोथ-जनक निदान से स्वतन्त्र उत्पन्न हुआ है । (२) जो शोथ के सिवा अन्य रोग के उपद्रवों से नहीं उत्पन्न हुआ है यानि जो शोथ के ही उपद्रवों से उत्पन्न हुआ है—अनन्योपद्रव करोति इति अनन्योपद्रवश्चिदानन्द, नान्योपद्रवश्चन्योपद्रवकृत्, ततः स्वनिशानात्, ‘जातः’ इति शेषः । तेन शोथजनकनिदानोवोत्पन्न वर्त्यः । अथवा, अनन्योपद्रवकृत इति अन्यस्य उपद्रवा अनन्योपद्रवात्सद्विपीता अनन्योपद्रवाः । एतेनायम्र्थः—शोथरैव ये उपद्रवान्तः कृतः । ते च—‘शासः पिपासा दौर्विक्य ज्वरश्चर्दिरर्दिचकः । हिक्कातिसारकासाश शोथिनं क्षणयन्ति हि’ ॥ (मधुकोगव्यास्या) । पादसुसुत्थितः—पाद में उत्पन्न हुआ और ऊपर को फैलता हुआ । मुखजः—मुख में उत्पन्न हुआ और नीचे को फैलता हुआ । शुग्जो—त्रिति प्रदेश में उत्पन्न हुआ—पादप्रदृशः श्वरक्षुर्जूर्णां यः प्राण्युवान्मुख्यम् । स्त्रीणां वक्त्रात्पी याति वलितज्ज्वर न सिद्धनि ॥ जड़बंगामी नरं पद्मव्यापोगामी मुखात् स्विवग्म । उभयं वन्निसाजातः शोधो हन्ति न संशयः ।

श्यावा जिह्वा भवेद्यस्य सद्यं व्याक्ति निमज्जति ।

मुख्यं च जायते पूर्ति यस्य तं परिवर्जयेत् ॥२१॥

वक्त्रमापूर्यते उथृभिः स्विद्यतश्चरणावृभौ ।

चक्षुश्चाकुलतां याति यमराण्डं गमिष्यतः ॥२२॥

जिसकी जिह्वा काली होती है, वायनेत्र गड़ जाता है, मुँह में ददूब आने लगती है, उसका परित्याग करे ॥२३॥ यमलोक में जाने वाले का सुख और सुओं से भरता है, दोनों पाँचों पर पसीना आ जाता है और नेत्र चक्षुल हो जाते हैं ॥२४॥

अतिमात्रं लघूनि स्युर्गात्राणि शुरुकाणि च ।

यस्याक्षसात् स विशेषो गन्ता वैवस्त्रात्लयम् ॥२५॥

पद्ममत्स्यवसात्तेलघृत्सगन्धांश्च ये नरः ।

मृष्टगन्धांश्च ये वान्ति गत्तारस्ते यमालयम् ॥२६॥

जिसका शरीर एकालक अनिश्चय हल्का या भारी होता है, उसको दृष्टिकोण में बाने बाला समझना चाहिये ॥२३॥ जिनके शरीर से कीचड़, मल्य, चरवी, तैल, इत्य इनकी गप व्याप्ती है या अन्य सुगंध (मुद्रांश) आती है, वे मनुष्य एकालक में जाने चाहे होते हैं ॥२४॥

यूका ललाटमायान्ति याँ नाशन्ति वायसाः ।

येषां वाऽरि रतिनांमिन यातारस्ने यमालयम् ॥२५॥

ज्वरातिमारशोफः स्वृप्तेस्पात्योन्यायवासादिनः ।

प्रदीप्तिमांसस्य नासौ शक्यविकिसितुम् ॥२६॥

हीयेस्य यस्य भृत्युप्पो हृदयैष्टितैत्था ।

न शाम्यतोऽप्तपानैष्ट तस्य मृत्युरपरिष्ठितः ॥२७॥

प्रवाहिका विरःशूलं कोष्टशूलं च दाहयम् ।

पिपासा वलहानिश्च तस्य मृत्युरपरिष्ठितः ॥२८॥

जिसके ऊपरे हलाट में आजानी है, काक जिमकी बलि

नहीं खाते तथा जिनको कहीं भी खेन नहीं पहना है, वे यम-

लोक में जाने चाहे होते हैं ॥२५॥ जिस बल्किन और मास-

क्षीण मनुष्य में ज्वर, अतिमार और गोय ये एक दूसरे के

उपर्युक्त स्वरूप में उत्पत्त होते हैं, उसकी चिकित्सा करना

असंभव है ॥२६॥ जिस हीर मनुष्य की खुशा तथा तृण

हृषि, मिष्ठ और हितकर खाद्य तथा पौय द्रव्यों से गान्त नहीं

होती, उसकी मृत्यु समीप होती है ॥२७॥ जो मनुष्य प्रवाहिका,

दाहय पितृशूल तथा कोष्टशूल और यास से पीड़ित है,

और जिसकी शक्ति हीय हो गई है, उसकी मृत्यु समीप

होती है ॥२८॥

यत्कल्प—स्वृप्तेन्यायवासादिनः—परासारोपदिविषयः । एक

दूसरे के उपर्युक्त स्वरूप में उत्पत्त होते हैं—ज्वरातिमारी रोकने

मनुष्यों द्वारा द्वये । द्वये । द्वये विरोद्धवान नारदान्याय करने । (चरक) ।

विषमोरोपवारिरो कर्मभिष्य पुराणातः ।

अनिश्चयाच जन्मतां जीवितं निधनं द्वजेत् ॥२९॥

जिसमें चावर से, द्वयोपादिति कर्मों से तथा प्राणियों की

अनिष्टता से मनुष्यों का जीवन नष्ट होता है ॥२९॥

यत्कल्प—इस शूल में मृत्यु के कारण और अप्रब्ल-

क्षयता रित की उत्पत्ति के कारण बल्लायं गये हैं । ये कारण

नीत हैं—१ विमोरोद्धर, २ दूर्वकर्म, ३ और ४ द्वयामार । विमो-

रोद्धर—प्रद्वेषेन्द्रीन् भासानेत्वं तृष्ण उत्पत्ता । (द्वयामार) । मो-

द्वयामार, द्वयितिरो विमोरोद्धर । (इडग) । मिहायाग्रादिक

हिस पशु, द्वृग्भान्त चण्डालप्रदग्नोऽनुवातुरग्रामाणी, मही-

स्त्रीरोद्धरादिक विविष विग्रहुत बन्ध इत्येत गरीर की रक्षा न

करना, मुट्ठातु, ज्वर और भृषि के सेवन, वृत्त पूर्ण प्राप्त, विषमवल्लीक दुष्ट याजी हुआर मंदिरिण नाव इयादि ने ऊर

आरोद्य बरना; पूर्ण मर्दी समुद्रादिति पञ्चल इयाहृप भार्ति

में होता; नाव प्रकार के साइर रक्षा करना; देश कामातु-

मार आद्वारिहारादिक मेवन न करना, व्यायाम व्यायादि

कर्म अपनी जन्म के बाहर करना; अविष्यायं गयों की रोकना

और विषायं गयों की नर्दी रोकना; रोग उपास होने पर योग्य

समाप्त पर योग्य चिकित्सा न करना हृष्टारि, मर्द द्वकार के

... का समावेश विमोरोद्धर में होता है । तीसरा मे-

मृदुधा लोगों की मृत्यु इन विषयों का परिहार न करने हैं होती है । पूर्वकं—१२४ ज्वरातिमारिंद्र कर्म या उप्य । उप्य के त्वय हो जाने से मृत्यु एकालक हो जाती है । इस कर्मेन मूल के कारण बृहदा अपरिहार्य तथा अप्रतिपेक्षिय उप्या करते हैं । भृकूम्य से मृत्यु, निद्रा में रप्तेषु होने से मृत्यु, वृत्त के नीचे पैदाते समय वृत्त या उसके फल गिर जाने से मृत्यु समुद्र या नदी में तूकान के कारण नाव उलट जाने से मृत्यु रेल गाड़ियों की रटर से मृत्यु, ये सब कर्मेन मृत्यु के उदाहरण हैं । अनिवातान्—शरीर विनामी होने के कारण युग्मातुरुप योग्य आरुमर्मादा के अन्त में जो मृत्यु होती है, वह स्वामादिव या कालमृत्यु है । अल्पवस्त्र सोगों की मृत्यु इस प्रकार होती है । अद्यागहृप में ये ही मृत्यु के तीन कारण भित्र प्रधार से वृद्धिं किये हैं—मत्त व्रित्तिनां दृष्टमात्रु पुष्पोन्यवसाय । त्रीप्रत्यक्षात् । त्रीप्रत्यक्षात् दृष्ट विशालादिग्राहिणान् ॥ इस विविष का अधिक विवरण मृत्युसंनीय (३४ वें) अल्पाय के पांचवें सोक के वक्तव्य में दिया गया है ।

मेत्रा भूताः पिशाचात्थ रक्षांसि विविधानि च ।

मरणाभिसुखं नित्यमुपसर्पन्ति भानवम् ॥३०॥

तानि भेषजवीर्याणि प्रतिप्रन्ति जिघांस्या ।

तस्मान्मोद्यः कियाः सर्वो भवस्त्वेव गतायुपाम् ॥३१॥

री मृत्युसंदिग्धायां वृत्तानेऽव्यविभित्ति-

नर्मैकविशतानोऽध्यायः ॥३१॥

जिसकी मृत्यु होने वाली है, उस मनुष्य के समीप प्रेत,

भूत, पिशाच तथा विविष राज्यम आते हैं ॥३१॥ वे (उस

मनुष्य को) मारने की हृत्या से ओपियों की कार्य करने

की शक्ति को नाग कर देते हैं । इसलिये तातु मृत्यु के लिये (किये हुए) समस्त उपाय विकल्प हो जाय करते हैं ॥३१॥

अनुभासारामार्गा नैविनिलोकेन विविषायाम्—१२५ रहस्यादिकाया

मृत्युसंनीयकर्ता दृष्टाविविषतिनैविकृतिनोऽध्यायः ॥३१॥

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातः स्वभावविप्रतिपत्तिमध्यायं द्व्याल्य-

स्यामः । यथोद्धार भगवान् धन्यन्तरिः ॥३२॥

अथ यहीं से स्वभावविप्रतिपत्ति भानव का

प्राप्तवान करते हैं, जैसे कि भानवान् धन्यन्तरि ने दिया ॥३२॥

स्वभावमस्त्रियानां शरीरेकेदेशानामन्यभावित्यं

मरणाय । तथाया—शुक्रानां शुष्ण्यर्थं, शृण्णानां

शुक्राना, रक्षानामन्यवर्णं, स्थिराणं शुदृशं,

स्त्रीर्थाणं स्थिरता, चलानामचलत्वम्, व्यचलानां

चलता, पृथग्नां संक्षिप्तार्थं, संक्षिप्तानां पृथग्ना,

दीर्घाणां द्व्याल्यं, द्व्यासानां दीर्घता, अपत्वंनप्तिर्थं,

पतनवर्थमित्यं, पतनवर्थमित्यामपतनधर्मित्यम्, अक-

साय शीर्योप्यर्थर्थापर्यौद्यप्रस्तुम्भवैर्योव्यसादिनं

चान्द्रानाम् ॥३२॥

स्वाभाविक विशेषों से प्रसिद्ध शारीरिक अवयवों का अन्यथाभाव होना मृत्यु के लिये होता है । यथा—(नेत्र का शुक्र मंडल, दाँत आदि) शुक्र पदार्थों का कोला पहना, (केशादि) काले पदार्थों का शेत होना, (हॉट जीभ आदि) रक्तरण पदार्थों का चर्ण बदल जाना, (अस्थि आदि) कठिन पदार्थों का मृदु होना, (त्वचा मास आदि) मृदु पदार्थों का कठिन होना, (संधि जिहा आदि) चल पदार्थों का जकड़ जाना, (अस्थि आदि) स्थिर पदार्थों का चलायमान होना, (छाती ललाट आदि) चौड़े पदार्थों का संकीर्च होना, (दृष्टि-मण्डल Pupil आदि) संकुचित पदार्थों का चौड़ा होना, (जीवा आदि) लंबे पदार्थों का छोटा होना, (ग्रीवा आदि) छोटे पदार्थों का लंबा होना, (नख केंद्र आदि) न गिरने वाले पदार्थों का गिरना, (मूत्र पुरीष आदि) पतन-धर्मी पदार्थों का रुक्ष जाना और एकाएक (विना कारण) शरीर के अंगों का ढंडा होना, गरम होना, चिकना होना, रुक्ष होना, जकड़ जाना, चर्ण बदल जाना और शक्ति नाश होना ॥२॥

स्वेभ्यः स्थानेभ्यः: शरीरैकदेशानामवस्थास्तो-त्तिक्ष्मश्वान्ताविक्षिपतितिविमुक्तनिर्गतान्तर्गतशुरु-लघुत्वानि, प्रवालवर्णव्यज्ञप्रादुर्भावो वा ऽप्यकसाम्, सिरालाङ्गं च दर्शनं ललाटे, नासावंशे वा पिण्ड-कोत्पत्तिः, ललाटे प्रभातकाले स्वेदः, नेत्रोगाद्विना वा ऽशुप्रवृत्तिः, गोमयचूरूप्रकाशस्य वा रजसो दर्शनमुत्तमाङ्गे निलयनं वा कपोत-कङ्ककाकप्रभृतीनां, मूत्रपुरीप्रवृद्धिरसुज्ञानानां, तप्तग्नाशो भुज्ञानानां वा स्तनमूलहृदयोरःसुच श्लोतपत्तयः, मध्ये शून्त्वमन्तेषु परिम्लायित्वं विपर्ययो वा, तथाऽर्थाङ्गे द्वयथुः, शोपोऽङ्ग-पक्षयोर्वा, नप्रहीनविकलविकृतस्वरता वा, विवर्ण-पुष्पप्रादुर्भावो वा दन्तमुखनयशरीरेषु ॥३॥

शरीर के अंगों का (शू, पलक, हॉट आदि) अपने अपने स्थान से नीचे अथवा ऊपर को होना, (नेत्रादि में) चंचलत्व होना, टेहा होना, (गिर ग्रीवा आदि) धारण करने की शक्ति नष्ट होना, (संधियों का) ढीला पड़ जाना, (जिहा नेत्र आदि) बाहर को निकल आना या भीतर को धूंस जाना, (वाहु, सक्ति आदि अंगों का) भारी हो जाना या हल्का हो जाना, प्रवाल के रंग का व्यंग (एक प्रकार शुद्धिरोग) अकस्मात् उत्पन्न होना, ललाट भ्रेत्र पर सिराओं का दर्शन होना, नासिका के ऊपर फुँसियों उत्पन्न होना, प्रभात काल में ललाट पर पसीना आना, रोग के विना अँखों से अश्रु का प्रवाह होना, सिर पर गोबर चूर्ण जैसी धूलि दिखाई देना, कपोत, काक, कङ्क प्रभृति पक्षियों का सिर पर ढैठना, न भोजन करने वालों के मूत्र और विषा की वृद्धि होना, भोजन करने वालों के मूत्र और विषा का त्रय होना, स्तनमूल, हृदय और छाती इनमें शूल उत्पन्न होना, शरीर के मध्य भाग में शोथ और (हस्तपदादि)

अन्त ग्रदेश में पतलापन अथवा मध्यभाग में पतलापन और अन्तगाम में शोथ उत्पन्न होना । तथा शरीर के अधे धूंग पर शोथ उत्पन्न होना । शरीर के पीकाथ अवयव में अथवा आपे अंग में शुक्रता उत्पन्न होना । स्वर नष्ट, हीन, विकल, या विकृत हो जाना । अथवा दाँत, मुख, नासून या शरीर के अन्य अंगों पर विकृत वर्ण के फूल (चिह्न) उत्पन्न होना (ये मरणसूचक चिह्न हैं) ॥३॥

यस्य वा ऽप्यु कफपुरीप्रत्यांसि निमज्जन्ति, यस्य वा दृष्टिमण्डले भिन्नविश्वतानि रूपाण्यालोक्यन्ते, सोहाभ्यक्तकेशाङ्ग इव यो भाति, यश्च दुर्वलो भक्तद्वेषात्साराश्यां पीड्यते, कासमानश्च तृप्णाभिभूतः, क्षीणश्चर्छर्दिभक्तद्वेष्युक्तः, सफेन-पूयस्त्वधिरोद्घामी हतस्वरः श्लाभिपञ्चश्च मनुष्यः, शूनकरचरणवदनः क्षीणोऽन्नद्वेषी स्वस्तपिरिडकां-सपाणिपादो ज्वरकासाभिभूतः, यस्तु पूर्वाहे भुक्तमपराहे छर्दयत्यविद्यमतिसार्यते वा त्वर-कासाभिभूतः स श्वासान्वित्यते ॥४॥

जिसका कफ, विषा और वीर्य पानी में फूव जाता है । जिसके दृष्टिमण्डल में छिन्नभिन्न विकृतरूप दिखाई देते हैं । केश और शरीर सेह से अभ्यक्त किया हुआ जो प्रतीत होता है । जो दुर्वल मनुष्य अन्नद्वेष और अतिसार से पीड़ित होता है । जो खांसी से पीड़ित होकर वृणा से भी पीड़ित होता है । जो क्षीण होकर वसन तथा अन्नद्वेष से पीड़ित होता है । जो खांसी से पीड़ित है, जिसको अन्नद्वेष हुआ है, जिसकी पिण्डली, कंधा, हाथ और पांच शिथिल हो गये हैं और जो ज्वर और खांसी से पीड़ित है । जो पूर्वाहे में सेवन किया हुआ अन्न अपराह्न में वसन करता है अथवा जिसकी अर्धपक अन्न के ही द्रक्ष होते हैं और जो ज्वर तथा खांसी से पीड़ित है, वह श्वास का रोगी (तथा ऊपर वर्णन किये हुए लक्षणों वाला मुरुज्ज) मर जाता है ॥४॥

वस्तवद्विलपन् यश्च भूमौ पतति स्वस्तमुष्कः, स्तव्यमेद्वा भग्नश्रीवः प्रनष्टमेहनश्च मनुष्यः, प्राचिव-गुण्यमाणहृदय आर्द्धशरीरः, यश्च लोष्टं लोष्टेनाभि-हन्ति काष्ठं काष्ठेन, तृणानि वा छिन्ति, अधरोष्टं दशति, उत्तरोष्टं वा लेहि, आलुञ्चति वा करणै केशांश्च, देवद्विजगुरुसुहृद्यांश्च देष्टि, यस्य वक्तासुवक्त्रगा यदा गर्हितस्थानगताः पीडयन्ति जन्मक्षेत्रं वा यस्योत्काशनिभ्यामभिहन्त्यते होरा वा, गृहदारशयनासनयानवाहनमणिरत्नोपकरणगर्हित-लक्षणनिमित्तप्रादुर्भावो वेति ॥५॥

वक्त्री के वृच्च की भाँति जो भूमि पर चिलाप करता हुआ पड़ता है अथवा जिसका अण्डकोप त्वक्स हुआ, ग्रीष्म स्तंभित हुआ, ग्रीवा भूमि हुई और मूत्र नष्ट हो गया है, ऐसा मुरुज्ज

जिम्मका शरीर गीला होने पर प्रगम हृदयप्रदेश दुष्प कहीता है। जो देले से देले को, काढ़ से काढ़ को मारता है। जो कृष को तोड़ता है। यो नीचे के हाथ को रातता है या ऊपर व दोठ को चूसता है। अथवा काना और बाली दो नीछा है। देवा, धारणा, गुरु मित्र तथा वैद्यों का दूप उत्तरा है। यह और वन्दुदग गह मह जिम्मके निति स्थान में प्राप्त होता जन्मनाशक की पीड़ा करते हैं अथवा जिम्मका जन्मलक्ष उत्ता और अश्यनी इनमें देखित होता है। (ये सब मनुष्य मर जाते हैं) अथवा जिम्मके पर, धी, नवव, आया या उत्ता मरण, एवं तथा अन्य उपहारण इनमें गर्भात्सरा रूप (अनुभवसी) निमित्तों का प्राप्तुर्भव होता है (यह मनुष्य भी मर जाता है)॥५॥

बक्षठय—वसन्त—जल में याकिको से मारे जा पाये की भाँति । प्रसन्नमेन—त्रिप्यमें सूर्यादारा । (१११८ वला of urine) ही गया है । प्राचिन-प्रथम-गण्डव्य—दैवय शतानुलिप्तम् पूर्व शुष्पृष्टे भूरम् । अश्रु भवत्प्रभु शेषीर्वद्य न जावति । (चरक) । वद्रातुविग्रह—ये मङ्गों के गति विद्येष हैं—वद्रातु बका कुटिला मन्दा मन्दनरा मधा । तथा शीद्वला शीमा घडल-मधधा गति । (सूर्यसिद्धान्त) । रात्रिनक स्थग्ने से प्रविनिष्ठ य गन्तुप्रहृष्ट द्वे बका । तनीषपि पुनर्व्याकृता रात्र्यामेंमन्दुपासा अनुरका । (इन्द्र) । गाहित्यथान—विनिदित्यस्थान । गाहित्यस्थानमनुप्रवर्ततरशिखणम् । अनुपचयथ रात्र्य स्वज्ञमनुप्रवर्तता प्रवर्तमादिद्वच्चुर्यवचमनमप्यनवम द्वाग्रात्रय । (इन्द्र) । दोया—जन्मराति, जन्मनश्चाप्त ।

भाषण चाह-

चिकित्स्यमानः सम्यक् च विकारे योऽभिवर्धते ।
प्रदीपीशब्दलमांसस्य लक्षणं तद्रूपायुषम् ॥६॥
नियर्तते महाव्याधिः सहसा यस्य देहिनः ।
न चाकारकलं यस्य उद्यते स विनाशयति ॥७॥

जब हीणधर्मास रेती का विश्वर यथार्थ विविद्वासा
करने पर भी बड़ता जाना है तब यह लक्षण उभर्की आशु का
नाशदर्शक समकक्ष आविष्ट है ॥१॥ त्रिमूर्ति महाव्याधि गीति
(अथात् अकारण) निवृत्त होनी है तभा त्रिमूर्ति गतिर मे
भीजार का फल प्रकट नहीं होता, वह मुख्य मर जाता है ॥२॥

यक्षम्—चिकित्सा में प्रयुक्त हुई ओपरेशनों का शीर्षीर पर कार्य होने के लिए गरीबरत धारुभा नथा इन्द्रियों में प्राणशक्ति या प्रतिक्रियाशक्ति उपस्थित होने की अन्यत आवश्यकता होती है। परन्तु कोई धारुओं नथा इन्द्रियों द्वारा प्रयुक्त ओपरेशनों का प्रदर्शन, एवं उत्पन्न होने के पश्चात् उनका कार्य शीर्षीर पर प्रकट हुआ करता है। ओपरेशनों किनी ही शुणकारी क्षी न हो क्वल अपने अल पर धारुभा के सहयोग के बिना कार्य करने में असमर्थ होती है। गरीबरत धारुओं की हृष्ट प्रतिक्रियाशक्ति की भित्ति के कारण ही भित्ति भित्ति रोगियों में एक ही ओपरेशन का भित्ति भित्ति परिणाम दिखाई देता है। रक्षावस्था में गरीबर के धारु नथा इन्द्रियों रोगियों के बलाक्षण वे अनुभाव दृष्टिं होते हैं जिनसे ओपरेशनों का कार्य होता है। भी

माणिक्य पूर्णतया नष्ट नहीं होनी तथ न क्ष ओपरिधियाँ अवना
कार्ये करने मे आग्रिमकार समक्ष होती है। प्राणगुणि पूर्णतया
नष्ट होने के पश्चात् उत्तमोत्तम ओपरिधियाँ भी कार्ये करने मे
निपलन होती है यथांत्रं प्रतिक्रियादमता का पूर्णतया रोग
दी असाध्यता का निर्दृश्य का अस्तित्वाद्य नमकलन चाहिए ।
इनी हटि गे छठे श्लोक मे लिखा है कि उत्तमोत्तम ओपरिधियों
द्वारा यथांत्र विकिसा द्वारे पर भी यदि रोग बढ़ता जाता
हो तो वह समझना चाहिये कि रोगविवाधित्य के कारण
शरीरतात् धारुओं की प्राणगुणि पूर्णतया नष्ट हो चुकी है जिस
से विद्या भ स रक्षता मिलना असंभव हो गया है । ओपरि-
धियों के मैत्रज्ञ मे जो तत्त्व उपर वर्णन किया है वही तत्त्व
आहार के संरक्ष मे लागू होता है । ओपरिधियाँ तेथा आहार
तत्त्व शरीर के लिये फायदेमन्द हो सकते हैं कि जब शरीर मे
उसे फायदा डाने की मिल उपस्थित हो, अन्यथा वे
निपलन हैं । चाहे भी प्राणविधि और आहार मैत्रज्ञ मे लिखा
है—विशेष नवद्वा निद विधिवचनपारितेऽप । न विच्छालीप
वय नास्ति तत्प विकिनिम् ॥ आहारामुखुत्वालै भिन्ना यूक्त-
शिराम् ॥ य कथ तत्प ग्रामान् दुर्भ अम्ब जीविनम् ॥ (हन्दिय-
स्थान, अध्याय १३) ।

पत्तान्यरिएहुपाणि सम्यग् बुध्येत यो भिरु ।
साध्यासाध्यपरीक्षायां से गः संमतो भवेत् ॥८५॥
इति सुषुप्तलिताया गन्धर्वानि ख्यातिप्रियानि ताम
द्विर्विजयमात्रात् ॥८६॥

जो यैद्य (अड्डाइन्स) अभ्यास के प्रारंभ से लेकर हस अभ्यास के अन्त तक वर्णित किये दुप) इन अटिए लक्षणों वो भर्ती भाँति जानता है, वह (रोगी की) साधारणाभ्यास (Prolongation) बतलाने की परिक्षा में राजमत्रत (डीर्ण) होता है।

इति भास्करर्मा शूद्रिन्द्रामेन विरुद्धितायामायुवेदरहस्यदीपिकाया
मुश्रम लाप्तीकाया स्वभावितप्रतिरिनामि द्वार्चिंशतमाङ्ग-याय ॥३॥

त्रयस्तिंशतमोऽव्यायः ।

अथातोऽवारदीयमध्यर्थं व्याख्यात्याम् ।
योगेन्द्रियं भावान् पञ्चतत्त्वे ॥१॥

अब यहाँ से आज्ञाहीय नामक अध्यात्म का स्थारांगन
संपूर्ण हो चुका है।

धन्दम् — अवारण्य — उपद्रवों से युक्त होने के वारण्
जिनी किम्बा (परामर्श) नहीं होनी, ऐसे रोगों के सम्बन्ध
में एक विशेष अवारण्य।

तात्पुरता द्वारा प्रव्याप्ति ।

उपदेवता द्युमो विद्यवता पात्रवत्ताम् ।
रसायनादिना वस्तु । तात्र शृण्वेकमना मम ॥२॥
जो व्याधिया उपदेवा से मुकुर होत्वा रसायन के विना
यापात्र हो जाती है, उनको हे वस्तु मुकुर ! एकप्रथिता
होने वाले हैं वस्तु को ॥२॥

वक्तव्य—उपद्रव—सूलरोग उत्पन्न होने के पश्चात् उत्पन्न हुआ रोग—उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तराकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात्पश्चाज्ञायत इति उपद्रवसंहाः । (व्वरक) । यः पूर्वोत्पन्नं व्याधि जघन्यकालजातो व्याधिपसचज्ञति स तन्मूल एवो-फद्वर्सेभाः । (सुश्रूषा) । अंगेजी दैदूक में जिनको काँड़िलैयलन् और सीक्षली (Complication and Sequelae) कहते हैं, वे सब उपद्रव में समाविष्ट होते हैं । रसायन—रसायन तथा जप आदि उपाय—धूबं तु भरणं स्त्रे ब्राह्मणस्तत् किञ्चामैः । रसायन-नपोज्यत्परत्तिविवर्णते ॥

वातव्याधिः प्रमेहश्च कुष्ठवर्णो शृग्भूतरम् ।

अश्मरी शूद्धगर्भश्च तथैवोदरसाधमम् ॥३॥

अंगावेते प्रकृत्येव दुर्धिकित्स्या यहागदः ।

वातव्याधि, प्रमेह, कुष्ठ, अर्द्ध, अश्म, अग्नन्दर, अक्षरी, शूद्धगर्भ और आठवां उदररोग ॥३॥ ये आठ महारोग स्वभाव से ही चिकित्सा के लिये कठिन होते हैं ।

प्राणमांसक्षयश्वासत्तुष्णाशोषवस्त्रीज्ज्वरैः ॥४॥

शूद्धर्त्तिसारहिक्षाभिः पुलश्चैतैरुपद्वृत्ताः ।

वर्जनीया विशेषेण भिपज्जा सिद्धिमिच्छता ॥५॥

किर जब ये रोग प्राणक्षय (वलक्षय), मांसक्षय, श्वास, शृणा, श्रीय (शरीर के सर्वधातुओं का नक्षय), वमन, ज्वर, मूर्च्छा, अतिसार, हिला इन उपद्रवों से युक्त हो जाते हैं तब सिद्धि की हच्छा करने वाले वैद्यों से विशेषतया त्वाग करने चाहिये होते हैं ॥४-५॥

शूनं सुस्पत्वचं भशं कम्पाध्याननिपीडितम् ।

नरं रुजात्विमन्तं च वातव्याधिर्विनाशयेत् ॥६॥

वातव्याधि—शोध, स्पर्शाक्षत्व, अस्थिमंग, कंप, आध्यान और वेदना तथा दुःख से फीडित मनुष्य को वातव्याधि नाश करती है ॥६॥

यथोक्तोपद्रवाविष्टप्रस्तुतमेव च ।

पिङ्कापीडितं गाढं प्रमेहो हन्ति मालदम् ॥७॥

प्रमेह—जो यथोक्त उपद्रवों से फीडित है, जो (प्रतिद्रिन) मूत्र की अधिक रार्थि त्वाग करता है, जो (शराविकादि) पिङ्काओं से अनिश्चय फीडित हो गया है, उमड़ा प्रमेह नाग करता है ॥७॥

वक्तव्य—योज्जीपद्रव—अविषाकोऽस्तिवर्द्धदिनिक्रा कासः स-

प्रिनसः । उपद्रवाः प्रजायने मेहानां वाक्षजन्मनाम् ॥ वस्तिमेहनयोत्तोदो मुक्तावद्रण ज्वरः । दाहस्तृणाम्लको मूर्च्छा विद्मेदः पित्तन्मनाम् ॥ यानिकानामुदावत्काशद्याहलोलाः । श्वलमुनिद्रना शोषः कासः शस्थ नायते ॥ (अष्टांगहृदय) । पिङ्का—याराविका, सर्प-पिका, कल्पिका, जालिनी, विलता, पुनिशी, मसूरिका, अलजी, विद्रिका, विदधिका ये दस पिङ्काएँ ।

प्रमिन्नं प्रस्तुताद्दं च रक्तनैवं हतसरम् ।

पञ्चकर्मशुणातीतं कुष्ठं हन्तीह कुष्ठिनम् ॥८॥

१ आठवां महान्तम् व्याप्तयो दुस्ताः कदा २ वैर्तरमद्वैः

३ रजात्मन्त्यः

कुष्ठ—जिसका शरीर कुष्ठ गला है, अंग मिलने लगा है, वैश लाक तो नय हैं, आदाज विगड़ गई है और जो पंचकर्म शुणातीत हो गया है, उस छुप्पी का कुष्ठ रोग नाश करता है ॥८॥

वक्तव्य—पञ्चकर्मशुणातीतम्—हृसके लिए अर्थ होते हैं ।

हृनमें ग्रथय अर्थ अधिक सयुक्तिकृत और शुष्कतरतावालुसार है— (१) 'पञ्चमधात्तसिस्तिं कुष्ठं, तत्स्युर्षस्त्वं कर्मणि गुणाश्च नासामंगाद् यस्तैत्तीराम, अतीतगुणप्राप्तम्' इत्यर्थः । पञ्चम धातु जो अस्थित उसमें विश्वत हुए हुट दें जो नासाशंशादिगुण इनसे सी अधिक शुष्कों से युक्त जो सहृदय है उसको कुष्ठ गारता है, यह हृसका अर्थ है । ये निम्न अधिक गुण हैं—नासामंगोडकिरागश्च क्षते च द्विमितवदः । भवेत् स्वरोपकातश्च धृस्यमजस्तमाग्रिते । कौण्ठं गति-क्षयोज्जानां समेदः क्षतर्पणम् ॥ संक्षेप में अस्थि नजा और शुक्रगत हुट के लक्षणों से पीडित समुद्ध को कुष्ठ भारता है । निदावस्थान में लिखा है—मेदोगतं भवेषाप्यगमस्यभत उत्तरम् । चिकित्सास्थान में लिखा है—पञ्चम नैव चोकमेत् । हृसी प्रकार की शादरचना चिकित्सास्थान में भी मिलती है—चतुर्थ-कर्मगुणप्राप्त याव्यमात्मवतः संविधानवतश्च ॥ (२) डल्हण के अनु-सार अस्थिगत कुष्ठ की जो संगोधन, संरामन, अस्थंग गुग्गुल शिलाजतु प्रभृति चिकित्सा है, उससे भी जिस रोगी की आराम नहीं मिलता है । (३) वसन, विरेचन, वास्थापन, पिरोविरेचन और शोणिताद्यसेचन ये जी पंचकर्म हृनसे भी जिस रोगी को आराम नहीं मिलता है ।

तृष्णारोचकशुलूर्तमस्तिप्रस्तुतशोणितम् ।

शोफातीसारसंयुक्तमश्वोच्याधिर्विनाशयेत् ॥९॥

अर्थ—जो तृष्णा, अस्थि, और शूल हृनसे पीडित है, जिससे रक्त का साव बहुत् होता है तथा जो शीथ और अतिसार से भी युक्त है, उस मनुष्य को अर्थव्याधि नाप करती है ॥९॥

वालसुद्धपुरीशारिणि क्षिमयः शुक्लसेव च ।

भगन्दरात् प्रस्तुतवित्य तं परिचर्जयेत् ॥१०॥

भगन्दर—वालु, मूत्र, विटा, हृसि और वीर्य जिसके भगन्दर में से निकलते हैं, उसे त्वाग कर देना चाहिये ॥१०॥

वक्तव्य—भगन्दर का अन्तर्सुख जब गुदस्क्रोत्तनी पेणी (Sphincter Ani) के ऊपर होता है तब उसमें से विटा और वालु निकलती है, जब भगन्दर का संबंध यस्ति के साथ होता है तब मूत्र निकल सकता है और जब वीर्य-ग्रय के साथ होता है तब शूल निकल सकता है । कृमयः—कृमियुक्त पृथ् ।

प्रशस्तनाधिवृपणं रक्षसूत्रं हृनन्दितम् ।

अश्मरी च्छपत्याशु सिक्ततारकरान्विता ॥११॥

अश्मरी—जिसकी नाभि और वृपण पर शोथ उत्पन्न हुआ है, जिसका भूत यंद हो गया है और जिसके गरीर में शूल हो रहा है, ऐसे मनुष्य को अश्मरी शीघ्र ही नाश कर देती है । धक्करायुक्त सिक्तामेह भी उपर्युक्त लक्षणयुक्त रोगी का नाप करता है ॥११॥

वक्तव्य—पर्वता—मा (अश्मरी) मिक्कूत्तिविन शक्तेभ्य-निर्भये ।

गर्भकोपपरमसन्नो मध्यहो योनिसंयुतिः ।

हृत्यात् त्रियं शूदगमे यथोक्ताश्वात्युपद्रवायाः ॥१२॥

शूदगमे—गर्भमृद् हृते के समय गर्भरोप का परामर्श, महाहृदय, मोनिमवरय अथवा यथोक्त उपद्रव थी का नाम करते हैं ॥१२॥

यत्कठ्य—गर्भकेवरम्—गर्भांशुद्रव दग्धार्थमायग कियाहृतना । गर्भांशुद्रव की अचल संकीर्तिनामस्या (Uterus inertia) । गठ्य—गर्भांशुद्रव संकीर्ति के कारण उपर्युक्त हुआ शूद् । योनिमृद्य—गर्भांशुद्रव का अधिक काल सह संकीर्ति की स्थिति में जवस्थान (Tonic Spasm of the uterus or Tonus of Uteri) । योनेल शूद्युपद्रव—विद्यु-देवद्रवयेरप्रोक्तेनिप्राप्त शूद्युपद्रवमाय । (मुधुन, निशन, अ. c.) ।

पार्वत्यमहान्नियद्वेषयोक्तानीसारर्पीडितम् ।

विरिक्तं पूर्णमाणं च यज्ञयेदुद्वारद्वितम् ॥१३॥

उद्र—विवर्ण पार्विमाण में (Sides) एटे हृष्ट वैमी पीढ़ा होती है, जिसको अब से द्वेष उपर्युक्त हुआ है, जो शोष (विषेष करने सर्वगत्याय) और अतिवार से पीड़ित है और (सैद्ध) विरिक्त करने पर भी ड्रिपाचा उद्र (जल से) भरा हुआ होता है (अथवा भींहिमुख्यवंश से पानी का विरेचन करने पर भी जिमका उद्र किर शीघ्र भर जाता है) ऐसे उद्वरोपी को लापा करे ॥१३॥

यस्ताम्यति विसंशब्द शेते निपतितोऽपि या ।

शीतादितोऽन्तरुप्याद्य ज्वरेण च्छ्रियते नरः ॥१४॥

यो हृष्टोमा रक्ताद्यो हृदि संप्राप्तशूलयान् ।

नित्यं वक्षेण चोच्छृश्याच्च ज्वरे हृनित मानवम् ॥१५॥

हिङ्काश्वासपिपासात् शूदं विभ्रान्तलोचनम् ।

सन्ततोच्छृसिनं शीणं मर्त ज्वरयति ज्वरः ॥१६॥

आविलाद्यं प्रताम्यन्ते निद्रापुचोक्तीति च ।

क्षीणशोणितमाणं च नर्त नाशयति ज्वरः ॥१७॥

ज्वर—जो (बार बार) शूद्यिन या वेदोग होतर सोना है या पड़ा रहता है तथा जिसको बाधाना से शीत और भीनर से दाढ़ की अनुभूति होती है, ऐसा मनुष्य ज्वर से मरता है ॥१४॥ जिसके शरीर पर रोगिते खोट होते हैं, जिसके नेत्र लाल होते हैं, जिसके हृदयमध्ये में महान् शूल होता है और जो सर्वेषां मूल से खाम की किया करता है, ऐसे मनुष्य को ज्वर नाश करता है ॥१५॥ जो हिङ्का, शास और विद्यासा से अर्थत पीड़ित है, जिसका मन मांसयुक्त हो गया है, नेत्र विद्यान्त हो गये हैं और जो सर्वेदा ज्वर से होकरा है, ऐसे शीणं मनुष्य को ज्वर नाश करता है ॥१६॥ जिसके नेत्र अशु से भरे हुए हैं, जो अचल मोह और निद्रा से युक्त होता है तथा जिसका रक्त और मांस शीण हो गया है, ऐसे मनुष्य को ज्वर नाश करता है ॥१७॥

श्वसशूलपिपासात् शीणं ज्वरनिर्पीडितम् ।

विशेषेण नरं शूद्यमतीसारो विनाशयेत् ॥१८॥

१ इन्द्रः चित्र मूद्याभां, २ विमिर्णैऽविन.

वतिसार—पाप, शूल और विद्यासा से अस्वत्तं पीड़ित उद्यु, ज्वरयुक्त मनुष्य को निरोप करके उद्र को अविस नाम करता है ॥१८॥

शुद्युदामश्वेष्टारमूर्ध्यामनिर्पीडितम् ।

शुद्येष्ट्र यहु मेहन्तं यद्यमा हन्तीह यानवम् ॥१९॥ रात्रयस्मा—जिसके नेत्र खेत हो गये हैं, जिसके अप्त द्वेष उपर्युक्त हुआ है, जो उत्तीर्णाम से पीड़ित है और अप्त कप से मूल का व्याग करता है, उस मनुष्य को रात्रयस्मा नाम दराता है ॥१९॥

श्वासशूलपिपासासान्नियद्वेष्यप्रनियमद्वृतः ।

मध्यन्ति दुर्बलत्वं च शुस्तिनो मृत्युमेघ्यतः ॥२०॥

शुप्त—शास, शूल, विद्यासा, अच्छेष, कलमात् शूल द्वा उप होता (प्रणियमृदाना) और दुर्बलता ऐसे उत्तम मृत्यु की प्राप्त होने का शुल्क रोगी के होते हैं ॥२०॥

आध्यात्म यद्यनिष्ठन्दे छर्दिद्विकातुडनियतम् ।

हजार्याससमाविष्टं विद्यधिर्नाशयेन्नरम् ॥२१॥

अन्तर्सिद्धि—जो (विद्यधियुक्त) मनुष्य आप्तान, मृत का बंद होता, छर्दि, हिङ्का, तृण, वेदना, शास इनसे पीड़ित होता है, उसे विद्यधि नष्ट करता है ॥२१॥

पाण्डुद्रवनान्तस्यो यथा पाण्डुनेत्रव्य भानवः ।

पाण्डुसंधानदर्शी च पाण्डुरोगी विनाशयति ॥२२॥

हिंग मनुष्य के दून, नालून और नेत्र खेत हो गये हैं तथा जिसको सब पार्वियं (संकाल) खेत ही दीखते हैं, ऐसा पाण्डु रोगी मनुष्य मर जाता है ॥२२॥

लोहितं छर्दयेष्यस्तु यदुरोगी लोहितेत्तुः ।

रक्तानें च दिशां द्रष्टा रक्तपिती विनाशयति ॥२३॥

जो बार बार रक्त वा बमत करता है, जिसके नेत्र लाल होते हैं तथा जिसको मध्य दिशाएं लाल ही दीखती हैं, ऐसा रक्तपिति का रोगी नष्ट होता है ॥२३॥

अवौद्युक्तसन्तुष्टयो वा हीणमांसवलो नरः ।

जागरिष्युरसम्भेद्यमुन्मादेन विनाशयति ॥२४॥

जो (उन्माद से पीड़ित) हीणमांस, शीणद्वय मनुष्य अप्तान सुख नींव की वा ऊपर की रक्षा ही तथा नित्यर जागता है, वह उन्माद से निसन्देह नष्ट होता है ॥२४॥

यदुरोगप्रसरन्ते तु प्रक्षीणं चलितस्युम् ।

नेत्राभ्यां च विकुर्याणमपसारो विनाशयेत् ॥२५॥

इनि दुष्टुपहितयो द्युम्भानेजालीयो वाम

श्रविष्टुपमेऽध्याय ॥२५॥

जो बारबार अप्तमात् के वेग से पीड़ित होता है, जो शीण है, जिसकी भुट्टिबन्दायमान होती है और जो नेत्रों की भुट्टी तरह से करता है, उस (अप्तसामुद्युक्त मनुष्य) को अप्तसामार रोग नाश करता है ॥२५॥

इति भ्रश्यम् गैविन्द्रलेन विनाशितामायुदेदहस्तीकिया

सुक्ष्माप्तिव्यवर्त्य नाम वर्त्यतामेऽप्यत्य वाइ३॥

चतुर्खिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो युक्तसेनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

यथोचाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से युक्तसेनीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—युक्तसेनीयः—युक्ता सप्तामार्थं नियुक्ता सेना यस्य स युक्तसेनी राजा । तमधिकृत्य कृतोऽध्यायः ॥ संप्राप्त के लिये सैन्यं प्रयाण करने वाले राजा के संबंध का अध्याय ।

युक्तसेनस्य वृपतेः परानभिजिगीषतः ।

मिषजा रक्षणं कार्यं यथा तदुपदेक्ष्यते ॥२॥

विजिगीषुः सहामात्येर्यात्रायुक्तः प्रयत्नतः ।

रक्षितव्यो विशेषेण विपादेव नराधिपः ॥३॥

शत्रुओं को जीतने की इच्छा करने वाले सैन्य राजा की रक्षा वैद्य को किस प्रकार करनी चाहिये, उसका उपदेश (अब) किया जाता है ॥२॥ विजय की इच्छा से (सेनापति तथा अन्य) कामदारों सहित जब राजा प्रयाण करता है तब (सर्व प्रकार की आगान्तुक मृत्यु के कारणों से) विशेषतया विष से भरसक प्रयत्न करके उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥३॥

पन्थनसुदकं छायां भक्तं यवसमिन्धनम् ।

दूषयन्त्यरयस्तद्वा जानीयाच्छोधयेत् तथा ॥४॥

तस्य लिङ्गं चिकित्सा च कल्पस्थाने प्रबक्ष्यते ।

(दुष्क के समय राजा जब शत्रु के प्रदेश में प्रवेश करता है तब) शत्रु मीर्ग को, (मारी में होने वाले जलाशयों के) जल को, वृक्षों की छाया (से युक्त स्थान को, जहाँ राजा के सैन्य की छावनी हो सकती है), छाया द्रव्यों को, (अश-गजादि के) चारं क्षे और लकड़ी को विष से दूषित कर दिया करते हैं । वैद्य (लकड़ों से) उनकी दुष्टि जाने और उनका विशेषधन करे ॥४॥ उन (की दुष्टि) के लकड़ण और चिकित्सा कल्पस्थान में वर्णन की जाएगी ।

एकोत्तरं मृत्युशतमध्यर्थणः प्रचक्षते ।

तत्रैकः कालसंब्रैस्तु शेषा आगान्तवः सृष्टाः ॥५॥^३

अर्थवेदवैत्ता एक सौ एक मृत्यु मानते हैं । उनमें एक कालसंब्रैक और वार्की आगान्तु मृत्यु होती है ॥५॥

वक्तव्य—एकोत्तर शतम्—मरुष्य के जीवन में उसके जीवन का नाश होने के कई प्रसंग आते हैं । उनकी इयत्ता करना असंभव है । इखलिये शत का अर्थ इयत्तादर्शक न करके असंख्यतावाचक करना उचित है । तथापि इन मृत्यु-कारक प्रसंगों की न्यूनाधिकता मरुष्य की रहन सहन (निजी कारण) तथा वास्तु जगत् के साथ संबंध (आगान्तु करण) के ऊपर निर्भर होती है । कालमृत्यु के बल एक होती है, और उसकी मर्यादा द्वय के अनुसार बदलती (पीछे पूछ ४ पर अत्यायुक्त कालक्षय देखो) है । कलियुग में कर्गी एक सौ

वीस (शार्ङ्गधर १-६-२०), कभी एक सौ सोलह (जैमिनि उपनिषद् शाहाण्ड ४-२-१) और प्रायः सौ साल की उसकी मर्यादा मानी जाती है । परन्तु इसमें भी कुछ फर्क व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार होता है । चरकसंहिता में कालमृत्यु और अकालमृत्यु का अतिसुन्दर याथातथ्यदर्शक वर्णन किया है, जिसे भी कालमृत्यु एक और अकालमृत्यु अनेक कैसे होती हैं, इसका वोध ही जाता है—शूतामग्निवेश ! यथा यानसमायुक्तोऽशः प्रकृत्यैवाक्षुणैरुपेतः सर्वगुणोपत्त्वो वायुमानो यथा-कालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत्, तथास्तुः शरीरोपातं वलवत् प्रकृत्या यथावदुपर्यमध्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छति । स मृत्युः काले ॥ यथा च स एवाक्षोऽतिभारायिधितत्वाद्विमपथादपथादक्षकं ग्राहयावहकदोषादणिपोक्षात् पर्यसनादतुपांगच्चान्तरा व्यसनमायते तथायुरत्ययथावलमारंभादयथामन्यम्यव्यहारादित्मैथुना-दुर्दीर्घेवगिधारणादियायेवारणादिप्रमशरीरन्यासादस्त्वेष्याद्वृत्त-विषपायग्न्युपतापाद्विभातादाहरप्रतीकारविर्जनाच्चान्तराद्विसनमवाप्यते । स मृत्युकुलाते । तथा डरादीनप्यतंकालिम्यथोपचरितान-कालमृत्यून् पश्याम इति ॥ (विमानस्थान, अ. ३.) । हस वर्णन से यह स्पष्ट होगा कि मरुष्यों का आयुष्य प्रायः स्वाभाविक मृत्यु से नहीं परंतु अपमृत्यु से ही समाप्त होता है । पाक्षात्य वैद्यक में भी कालमृत्यु और अकालमृत्यु के सम्बन्ध में यही कल्पना प्रचलित है । हेलिबर्टन शारीरकार्यविज्ञान नामक अपनी पुस्तक में (Halliburton's Physiology) लिखते हैं कि 'युवावस्था पूर्ण हो जाने के पश्चात् वृद्धावस्था के चिह्न दीखने लगते हैं, आँखों की रोशनी कम होती है, केर सफेद होते हैं, तरुणत्वं कठिन होती है, पेशीयां हुर्वल होती हैं, पाचनशक्ति क्षीण होती है और शरीर की क्रियाएँ सर्वप्रकार से दिन प्रतिदिन विकल होती जाती हैं । हस प्रकार शरीर का कार्य जारी रहने से अन्त में शरीर की परिस्थाप्ति स्वाभाविक मृत्यु से होती है, जिसमें शरीरकार्य क्षीण होते होते बंद हो जाते हैं । परंतु वृद्धावस्था से मृत्यु होना परम दुर्लभ है । मृत्यु के सामान्य कारण प्रायः आगान्तुक होते हैं, जिन कारणों में रोगों का भी समावेश हम करते हैं' । 'As the prime of life is past, signs of old age begin to appear, the eyes become feeble, the hair becomes grey, the cartilages calcify, the muscles become weaker, digestion gets feebler, and metabolism in every way more and more imperfect. If this continues, life is ultimately terminated by natural death, in which the functions get weaker and weaker and finally cease. Death from old age is, however comparatively rare; the common cause of death is accident, in which term we include disease.' पाक्षात्य वैद्यक में भी चरक के अनुसार रोगों का समावेश अकालमृत्यु वे कारणों में किया गया है, यह चिन्त्य है । इखलिये वैद्यक मरुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपमृत्यु के कारणों का परिहार करके स्वाभाविक आयुर्मर्यादा के अन्त तक जीर्णे का प्रयत्न करे । इसका सामान्य उपाय चरकसंहिता में लिखा है—'हादिवेश ! भूतानामायर्यक्तिस्तुते ।'

^१ नृपतुरुक्तसेनस्य. ^२ कालमृत्युः. ^३ एतदथ—'विषवाताद्विर्यदीर्घीयो वर्तादिस्तुतः । निर्वात्यते क्षणदृढीयो तथैवागान्तुमृत्युमेः ।'

श्विता कानिदविकः पाठः..

न स्थिने हास्य बलाचलम् ॥ तदेवारयोर्विकिर्णविषय च मुख्यम् च । निकलत्वायुपो द्वृत्वरीत्यम् चेत्ता ॥ अब राजा के भवन्नम् में इन आगमन्तक कारणों का परिदृश्य कैसे बताना चाहिए, इसने लिये लिखते हैं—

दोषागमन्तुजमृत्युभ्यो रसमध्यविशारदी ।

रक्षेतां नृपतिं नित्यं यंदादृ वैद्यपुरोहिती ॥६॥

(वातादि) दोषों और (अभिवाय अविग्रह विष आदि) आगमन्तक कारणों में जो प्रणयसु होती है, उनसे रसविधारद वैद्य, और मन्त्रविधारद पुरोहित यज्ञपूर्वक नित्य राजा की रक्षा करें ॥६॥

यत्कथ्य—राविशारद—रस, वीर्य, विपाक और, प्रभावयुक्त विविध औत्रियों तथा रसायनों द्वारा यातादि दोषवस्त्र्य रोगों की युक्तिव्याप्रथम चिकित्सा करने में विचारश्य । मन्त्रविधारद—मन्त्रोच्चिमिय मगलवस्तुप्राप्त होम नियम प्रायश्चित्तोपवास स्वत्वयन्त्रम् प्रणिपात गमनादि द्वारा दैवत्यवाक्यप चिकित्सा करने में विचारश्य । राविशारद के स्वत्वयन्त्र में वैद्यों का कर्तव्य इस प्रकार वौलीय वर्यायाम में वर्त्यन दिया है—तस्माद्दस जागलीविति निनक्षासाक्षसु । विषमैवजागारादास्यविनिशुक्मौर्य गृहीता । पाकवोपवासभ्यामत्वम् च प्रतिसाव राजे प्रपञ्चे या पान पानीय चौपैत्रेण व्याख्यातम् ॥ (अध्याय २३) ।

ग्रहा वेदाङ्गमध्यासमयुक्तेवदभाष्यत ।

पुरोहितमते तसाद्वर्तेत भिपगतमयान् ॥७॥

ग्रहा वी ने वेदाङ्गस्य अष्टांग आत्मर्वद कर्ण दिया है, इसलिये त्रिविमान् वैद्य पुरोहित के मतानुसार दर्ताव रक्षे ॥७॥

यत्कथ्य—इम छोड़ का तापर्य पह है कि आत्मर्वद की उत्पत्ति देव में होने के कारण पारों बैद्यों, विशेष करके समर्पण अपर्यं वैद्य का वेता जो द्वृत्वरीत्य उसके मार्त्तिर्वागिल में अध्यया दैविक उपर्यों को असीचित बरके युक्तिव्याप्रथम चिकित्सा बताना पैद ने लिये अधिक भेदकर और निर्दिकर होता है ।

संकरः सर्वयर्णां प्रश्नोयो धर्मकर्मणाम् ।

प्रजानामपि चोचित्तिर्वृपन्यसनहेतुतः ॥८॥

राजा का नाय होने से (प्राङ्गणादि) सर्व वर्णों का सङ्कर, घटों कमों का नाय और (भ्यापार, वैष्णवत्य एव यजुषापाद नाये व्यक्तिमारों का नाय होने के कारण) प्रजा का भी क्षय हो जाता है ॥८॥

यत्कथ्य—स्वर—पारों वर्णों का नाय होता चिर्णिमगा होता । यह संकर अनुग्रहीम प्रसिद्धोम प्रियाद और वर्षविहित कमों का नाय बताने से होता है—अभिवोण वर्णानामेवा देवते न च । स्वर्णम् च तप्तमेव जयने वर्णोन्तरा ॥ (मनुष्यत्वम्) । अभिवोण—अप्यापर, युद्धस्य, याताप्रथम और सन्वास इन चार भागों के पर्मस्त्रम् । अप्यन—त्रोगस्य या युद्धस्य संदृढः । राजा दुर्बल या रोगी होने से दक्षायाम द्वारा प्रजा का सङ्कर बताने में व्यक्तिमय देवता है, जिससे वैद्य द्वृत्वरीत्याद में लिया है—प्रजानामयान् चिर्णिमगा दृष्ट्वाद् । सुकृतिमारों ने इस दक्ष भवत्वेर्वदीय देवता ।

* दृष्ट्वेर्वदीय दक्ष भवत्वेर्वदीय ।

अप्रधीनो हि मात्स्तन्यावयुद्धावयात । बनीयानवल हि द्रष्टवे दण्डमो । तैन युत अभवतीनि । चतुर्वर्णविदो लेण्ठों राजा दण्डेन पालि तरमर्मवामितो वर्ते देवु वर्मसु ॥ (अध्याय ४) ।

पुरुषाणां तृपाणां च देवलं तुल्यमूर्तिता ।

आद्या त्यागः त्याग धेदं विक्रमधाप्यमात्युपः ॥९॥

तस्मादेवमित्यामीक्षणं वादानं कर्मभिः शुभैः ।

चिन्तपेन्द्रनुपतिवैस्तेयांसीच्छन्दुष्विच्छलः ॥१०॥

साधारण मनुष्यों और राजाओं की शरीर की आकृति ही देवल समता होती है । परंतु जाह्नवा, त्याग, त्याग, सर्व के समय की धीरता और प्राकाम ये सब दैविक (साधारण मनुष्यों के इन गुणों से अधिक तथा प्रागाचाराती) होते हैं ॥९॥ इसलिये सुख फी इच्छा बरने वाला चतुर वैष्ण राजा व देवता समक्ष कर निरन्तर सुभवाचिक, कायिक और मानसि कमों से उसके (स्वास्थ्य की) विता करे ॥१०॥

यत्कथ्य—भगवत्—राजा चन्द्रसूर्यदिक देवताओं देवता से उपर्याहे होने के राजदा भगुत्यस्पृह होने पर भी देवता स्वरूप होता है, तथा उसके आशादिक गुण भी दैविक ही हैं—राजर्वमय सर्वत्यं राजनगसून् भ्रम । इन्द्रदिव्यमार्पणं मैथ्र वस्त्रलक्ष च । चन्द्रदिवेशोवैष्ण वात्रा निर्दृश्य शारीर ॥ वस्त्र देष्ट सुरेन्द्राणां ग्रामाभ्यो निर्मिते तृष्ण । तस्मादेवमित्येष्व सर्वमूर्ति तेजसा । वालीविनावगताभ्यो मनुष्य इन्द्र भूषित । महती देवा देवा नरस्त्रेण निर्भृत ॥ (मनुस्मृति, श ७) ।

स्कन्धावारे च महति राजेहोदादनन्तरम् ।

भवेत्समिदितो नित्यं सर्वोपकरणान्वितः ॥११॥

तत्रस्यमेन द्वजवद्याशः स्यातिसमुच्छित्तम् ।

उपसर्पन्त्यमोहेन विशद्यत्यमयादितः ॥१२॥

स्वातन्त्र्युशलोऽन्येषु द्वारायांप्यवहिष्ठतः ।

वैद्यो च्यज्ञ इद्यापाति नैपतदिद्यपूर्जितः ॥१३॥

एवत्र की वही दावनी में राजनिवास पे अस्त्वा समीप अपनी राज साधारणाभ्यों में साध पैद को सुसंजित रहना चाहिए ॥११॥ वहाँ च्यज्ञ की भाँति यथा लीर रूपति से विषयात पेसे वैद्य के राजविष विष, राज और रोगों से पीडित मनुष्य निर्जित ग्र रो पैदैच्यते हैं ॥१२॥ ग्रने (पैदक) यात्र में प्रीति ही तथा (पैदवंप्रयोगी) अन्य ग्राह्यों से भी जो अपरिचित नहीं, देवा पैद राजाओं तथा रोगों से समानित होतर च्यज्ञ की ताद (सकंत्रे दैरे दैर मे) विष्यात होता है ॥१३॥

यत्कथ्य—स्वर—राज वैष्ण भैषजवार । दुर्दार्दुम् युक्तानां नामा उत्तिरोगा । दद्वर्ददीषार्दानी दावैष्प (Camp) रे लक्ष्मावार की रप्ता के लिये कीटिलीय अर्यगादा का 'स्वर्णादार निर्देश' भाग १२९ परा अध्याय देखो । सर्वे वर्णान्वित—य चार तारीन्यष्ट माल लंघना दृष्ट्वादि साधन मार्गीं तथा । कीटिलीय अर्यगादा भी ग्रनीति की सेवा मुष्टुपा दरों ने लिये, दैरे पैद, उत्तेवना देने ने लिये चिन्ताओं भी भी देवा (लूप्रेस) लि 'है—। अर्यगा

* इन्द्रे दैर, दैव, दृष्ट्वादिष्टृग्नि ।

शस्त्रक्वागदरेत्वल्लत्ता: रिपश्चादपनरपिण्डः पुण्याग्न्युपर्णीयः
शृष्टिस्तेषुः ॥ (अज्ञाय १३१) । पापात्य दोषो में सुख के
समय नरेश की बोजना १९ वें शताब्दी में उत्तराधि में ग्रामीण
हुई है । व्यज्ञपथः रुपनिक्षुच्छित्तम्—इस पद में ग्रामीणकाल
में भी भौंडे का कितना सहाय था, हमारी जनना होती ।

वैद्यो व्याघ्र्युपस्तुष्ट्य लोगं परिचारकः ।

एते पादाच्छिकित्सायाः कर्मसाधन्त्वेनवः ॥१३॥

शुणवद्विलिमिः पर्वैश्चातुर्धीं शुणवान् शिष्कृ ।

व्याघ्रिमल्पेत कालेन राहान्तसपि साध्येत् ॥१४॥

(चिकित्सापादच्छुष्ट्य—) १ वैद्य, २ शोगी, ३ अंतर्ध वैद्य
४ परिचारक ये चिकित्सा के (चार) पाद में और धातुनाम्य
(आरोग्य) रूप कर्मसिद्धि के हेतु हैं ॥१३॥ (रेती, धोका
और परिचारक) हजन तीन (चिकित्सित) गुणों में हुन
पादों ही सहायता से चर्चुर्प वाद् शुणी बैग थोड़े ही समय में
दालगन्नाभिं को भी अद्वा कर देता है ॥१४॥

वैद्यहीनाशानः पादा शुणवन्तोऽध्यपार्ण्याः ।

उद्धार्होदृश्यात्प्रयो यथाऽध्यर्थ्यु विगाऽव्यर्थे ॥१५॥

वैद्यस्तु शुणवानेकस्तारयेदातुरान् सदा ।

शुवं प्रतितरैर्हीनं क्षणेभार इवाप्स्तिः ॥१६॥

(वैद्य ही महत्ता —) जैसे कि यह में (यद्येवंविद्)
अध्यर्थु (उपाध्याय) के विना उद्धारा (नामवित्), होला
(क्रमेवित्) और ब्रह्मा ये तीनों निर्धक हो जाते हैं वैमेहीं
(रोगी, औषध और परिचारक ये) तीनों पाद् शयोग शुणसुक्त
होने पर भी वैद्य के विना निर्धक हो जाते हैं ॥१५॥ जैसे कि
जलमें फैसी हुई धोका का तारण (कुराल) कर्णशार अन्य मलादों
की सहायता के विना करता है, जैसे ही (शयोग) शुणसुक्त
अकेला वैद्य (रोगरूप जलार्थित में फैसे हुए) रोगिमों का
तारण करता है ॥१६॥

वक्तव्य—उपर्युक्त पादच्छुष्ट्य की सहायता से जैगों
का जो प्रतिकार दिया जाता है, उसे 'चिकित्सा' कहते हैं—
चरुणीं सिपगादीनां शस्ताना भातुवैद्यने । प्रवृत्तिर्विशुभावार्थं
चिकित्सेत्वभिर्यते ॥ (चरक) । चिकित्सा में सफलता प्राप्त
होने के लिए पादच्छुष्ट्य शुणवान् होना आवश्यक है—
भिप्रब्याघ्र्युपस्तात् रोगी पादन्तुष्ट्यम् । शुणवत् वर्णं देय विकार-
व्युपशान्तते ॥ (चरक) । तथापि इनमें भी वैद्य का महत्व
सब से अधिक है, यह कल्पना इन शोंकों से अनेक दृष्टान्तों से
प्रदर्शित की गई है । चरक में भी लिखा है—विगाना शानिता
योजा प्रधान गिरगत्र तु । पक्षो हि कारण पवर्त्यना पोत्रेभ्यनामलः ॥
विजेतुविजये भृमिश्वृः प्रहरणानि च । आतुरायाम्तया इटो पादः
पारणसितः ॥ मृष्टदृचक्षमृतायाः कुम्भकाराद्वते वधा । न वरनि गुणं
वैद्याद्वते पादवर्त्य तथा ॥ (सूक्ष्मस्थान अ. ९) ।

तत्त्वाधिगतशालार्थो दृष्टकर्मी लयसंकृती ।

लघुहस्तः शूचिः शूरः लज्जोपस्कर्षैपाजः ॥१७॥

प्रत्युत्पश्चमतिर्धीमान् व्यवस्तारी विशारदः ।

सत्यधर्मेष्ठो यश्च स्त्रियः पाद उड्यते ॥१८॥

१ तीर्थीधिगतशासार्वः ।

(वैद्यगुण—) यां प्रारम्भी के तत्त्व में पारंगत हो, जिसने
चिकित्सा के कार्य देने हुए हों, रवयं कर्म किए हुए हों,
जिसका मात्र लगता हो, जो (अन्तर्वात) स्वच्छ रहता हो,
जो ग्रामी, राज महाराज की नाधतनामधी तज रहता हो
॥१७॥ जो समयमूद्रक हो, बुद्धिमान् हो, उत्तमाद्युक्त
(Energetic) हो, चिदालग हो और सत्य तथा धर्म पर हो,
ऐसा (मनुष्य वालों में) 'मिष्टक्षपाद' कहा जाता है ॥१८॥

शाशुभान् सत्त्वद्यान् लाप्तद्वयात्मधानपि ।
धारित्वको वैद्यवास्त्रयस्यो व्याधितः पाद उच्यते ॥२०॥

(रोगिमुग्न—) शाशुभान्, सत्त्वद्यान्, साध्य, श्रीमान्,
आत्मवान् (मनसंगमी), आमित्क (ईश्वर गुरु देवताओं
पर शहर नहीं वाला) नारूं देंग के बाज़ी में व्याधित करने
वाला ऐसा (मनुष्य) 'व्याधितपाद' कहा जाता है ॥२०॥

श्रवस्तदेवासंभृतं प्रशस्तेऽद्विनि चोहृतम् ।

युसाधावं प्रलहृतान्तं गवध्वर्षरसान्वितम् ॥२१॥

दोषध्वयग्नलिकरसविज्ञारि विषयदे ।

सर्वीश्य दत्तं काले च रेत्रजं पाद उच्यते ॥२२॥

(आरम्भिमुग्न—) उच्चद भूमि में उत्पदा हुआ, शुभ दिन
में उद्धारा हुआ, नामय मात्रा में दिया हुआ, मर: प्रसवकर,
गंध वर्गी और रस तं सुखः ॥२१॥ दोपनाशक, ग्लानि न करने
वाला, (दंते में तुक्र) विषयन होने पर भी विकार न करने
वाला, (रोगी की) परीक्षा करके योग्य समय पर दिया
हुआ (द्रवा चिकित्सा का) 'भेषजपाद' कहलाता है ॥२२॥

वक्तव्य—प्रशस्तेऽदेशमृत—३७ वें अध्याय के २ सूत्र
में वर्णित भूमि में उत्पद हुआ । दोपन—दातादि दोषों और
सरादि भातुओं की हुष्टि दूर करने वाला । समीक्ष—२५ वें
अध्याय के दूसरे भूमि में वर्णित विषयों के अनुसार परीक्षा
दरके ।

स्त्रियोऽुगुण्युवेलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे ।

वैद्यवास्त्रयस्त्रयान्तः पादः परिचरः स्तूपाः ॥२३॥

शनि सुशुत्सविनाया युक्त्याने मुक्तसेनीया

नाम चतुर्विशेषत्तमोऽध्यायः ॥३४॥

(परिचारकगुण—) प्रेम करने वाला, चिन्दा न करने
वाला, गलवान्, रोगी की रक्षा में (तन मन से) लगा
हुआ, वैद्य की आज्ञानुसार कार्य करने वाला और अविश्रान्त
ध्रम करने वाला (मनुष्य) 'परिचारकपाद' कहलाता
है ॥२३॥

वक्तव्य—अजुगुणः—रोगी का स्वभाव या रोग कितना
ही वृणाजतक वयों न हो, रोगी को एक शब्द से भी दूसरे
न करने वाला । वलवान्—इसका विवरण पीछे २२वें पृष्ठे
पर ५ वें सूत्र की दीक्षा में किया गया है । युक्तो व्याधितरक्षणे—
रोगी की 'वृूपरसादिकरण' संवाहन स्वापनादि' परिचर्या
(Nursing) में किया गया, यह भी इस पद का अर्थ ही सकता
है । क्वोऽहि रोगी की रक्षा करने के लिये उत्तम परिचर्या बहुत
ही आवश्यक होती है । चरद में इसलिये 'उपचारज्ञता' युक्ता
परिचारक के युगों में पहले निर्दिष्ट किया है—उपचारज्ञता
इत्थामुग्राग्न भर्ति । शीन चेति चतुर्ळोऽयं युगः परिचरे नन् ॥

(सू. अ. ९)। पाश्चात्य देशों में परिचयार्थ के लिये पुस्तकों की अपेक्षा परिचारिकाओं (Nurseries) का प्रचार अधिक है।

का अपेक्षा पारपालकांग (लापाहू) का मध्यांतर अपेक्षा १०
वर्षोंके उनमें उपरोक्तों की अपेक्षा परिवर्थनों के लिये आवश्यक
गुणों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। घरक तथा
के बजुमार उत्तरुन् प्रयोक वाद पे के बड़े घार गुण होते हैं और
अंत इस मध्यांतर चिकित्सा पोंडिश्युल होती है—बरग लापाहून्

२५३ दद्वयुक्तिश्च । चतुर्थं द पापासकं अप्यन्त नाम इति ना च एव
इति भास्त्रगमणं गोविन्दस्त्वेन तिवित्वायामयुक्तोऽहम्ब्रीषिष्ठाया
मुख्यभृतीय द । कृतमेनीयो नाम चतुर्थं रूपोऽसु २५४ ॥

पञ्चविंशत्तमोऽध्यायः ।

धधात आतुरोपक्षमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरि ॥१॥

अब यहाँ से आनुरोपक्रमणीय नामक अस्त्राय का
उत्पादन करते हैं जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥३॥

बृहत्-य—भारुरेकमणी—चिकित्सा प्रारंभ करने से समय होती के विषय में जिन बातों का ज्ञान आवश्यक होना चाहिए, उनके सवध में लिखा हुआ अभ्यास ।

आतुरसुपक्षमामानेन मिष्टजाऽऽपुरादावेव परी-
क्षितव्यः सत्यायुपि व्याध्यूलशिपयोदेहवलसत्य-
सात्म्यग्रवृत्तिमेषपन्देशान् परीक्षेत ॥२॥

(आयुषीज्ञामदाप—) रोगी की चिकित्सा प्रारंभ करने वाले देय को प्रथम (रोगी की) आयु की परीक्षा करनी चाहिए । यदि आयु (रोप) ही तो स्थानि, खत्तु, अस्ति, दय, दैह, बल, सत्त्व, साम्य, प्रहृति, भेषज और देय इन (सब बार्ताओं) की परीक्षा करे ॥१॥

यत्कथ्य—मनुष्य अलायु, मध्यमायु या दीर्घायु है। इस विषय की परीक्षा मनुष्य के शरीर के सामान्यतया, शरीर का प्रभाव (अगुहियों के हिताप से), वातादिक प्रकृति और चिकित्सा के समय अविद्युत्यन् इन चार उपर्योग से होती है—प्राणमात्रामुख्यमेन्द्रियमनुभवेत्तदीना विहृतिलक्षणी स्फलतानेतत्त्विति । देहप्रतिकृतिमध्यमिकृत चेतिकृतामुप प्रमा प्राणमात्रामुख्यमेन्द्रियमनुभवेत्तदीना विहृतिलक्षणी स्फलतानेतत्त्विति ॥ (चरक) । इनमें से अरिष्टों का विचार पूर्ण हो जाता है । देहस्थलं और शरीराभासं इन दोनों का विचार नीचे किया है । चरक और वाम्पट के मनुष्यर यहाँ आयु परीक्षा की हैसे से देहप्रति का महत्व यथापि नहीं बतलाया है, तथापि शारीरत्वान में प्रवृत्तियों का वर्णन करते समय कम से कम प्रित्यकृति के सर्वथ में लिया है—प्रयत्नमुश्व भवनि । प्रहृति के अनुपार आयुसोन ऐसा हाता है—प्रेषणा आयुप्राप्तव्य भवनि । विलाप अव्याहुतो भवनि । बन्धन अव्याहुतो भवनि ॥ (चरक) । इसलिये दीर्घी की प्रकृति का विचार

होता है—जौधे मंगल मन्त्रो इवाऽपि विविधा विद्या । यस्मां
युग्माण्य निष्पत्ति न निष्पत्ति गत्वा युक्ति ॥ (पोगरायाकर) ॥

तत्र स्वन्धललाटे

पिस्तीण्यधूस्तनान्तरोरेस्कं हस्यजहामेद्रीघीयं गम्भीरं
सत्यस्वरानाभिमुख्यैवद्दस्तनमुपचितमहारोमशक्तेण
पथान्मस्तिष्ठं स्नातमुलितं मूर्धानुपूर्व्या विद्युत्प-
माणशरीरं पथाश विशुष्यमाणददयं पुरपं जानी-
याहीर्घायुः रात्ययमिति । तमेकान्तेनोपकमेत् ।
एभिलृचारैविपरीतैरल्पययुः; मिथ्येमध्येमायुरिति ॥३॥

(जायु लक्षण—) उनमें विसर्जन हाथ, पौर्ण, पार्श्व, पीठ, स्तनामा, दाँत, चेहरा, कंधा और हालाट (स्थानाविक आकार से अधिक) देख हों, अंगुलियों के पौर्ण, शास, नेत्र और भुजा (स्थानाविक हैंदाह से अधिक) हों, विसर्जनी भुजुड़ी, स्तनमध्यभाग तथा छाती विसर्जन हो, जिसकी लंबाई, लिंग और गर्डन छोटी हो, निषका सत्त्व (स्वभाव), स्वर और नाभि गंभीर हो, विसर्जन का भाग न बहुत ऊँचा न घटुत कहा हो, जिसके कान भारती विसर्जनी और सोमयुग्म हों, जिसकी खोरपी का पित्तला भाग (गुडी Occipital region) अधिक उदात हो, घान कर अनुरोध बरने के पश्चात् मस्तक से जिसका शरीर सूखते होता हो और हृदयप्रदेश का भाग मध्य से पौर्ण सूखता हो, हृत लक्षणों से युक्त मनुष्य को निश्चय से नीराशय समझना चाहिये और उसकी चिकित्सा निश्चिन्त मन में करनी चाहिये। इनमें विपरीत लक्षणों से अलगाव और मिश्र लक्षणों में सम्बन्धना चाहिये ॥३॥

भवन्ति चाप्र—

गृदसन्धिसिराक्षायुः संदत्ताङ्गः स्थिरेन्द्रियः ।

उत्तरोत्तरसुक्षेप्त्रो यः स दीर्घायुरुच्यते ॥४॥

गर्भात्प्रभूत्यरोगो यः शनैः समुपचीयते ।

(दीर्घायु लक्षण) (शीरीर मांसल होने के कारण) जिसमें सभि, सिरा और छायु गृह होते हैं, जिसका शीरीर हड़ है, जिसकी इन्द्रियां खिल हैं, जिसका शीरीर पैरों से उत्तेकर चिर तक उत्तरोत्तर अदिकाधिक सुरुचि है, वह मनुष्य दीर्घायु बढ़लगता है। ॥४॥ सततें में साता के बदर में जब्ते होने के दिन ने जो नीरोसी है, तथा नियरा शीरीर, जल दीरीय विश्वान इवर्ही धीरे धीरे (घोटुरूप) बुद्धि होती है। डंगे दीर्घायु समझना चाहिये। ॥५॥

वरकदय—गूढ़प्रभासितावस्था—शरीर मासक होने के कारण जिसमें सत्ताहि भाग उपर को नहीं दिखाई देते। इस मनुष्य में मैं ये ठंडा बाहर दिखाई देते हैं—इसलिए मिराज उड़ानीही। (संग्रह) : उत्तरोत्तरस्त्रेत्र—इसका अर्थ हल्ला हो अनुसार उत्तर चिंया है। वही अर्थ संदर्भ की है जिसमें अधिक घोषणा है। हृसगा अर्थ चक्र के अनुसार ऐसा है।

जिसके लानदान में एक से एक अधिक दीर्घायु पूर्वज हो गये हैं—उत्तरोत्तरीदीर्घायुःपुरुषकुलजातः; तेव्रं प्रभवस्थानमिह कुल-पुरुषाः ॥ कल्पना सुन्दर और नवीन है । ज्ञान—अध्यात्म इतन । विज्ञान—भौतिक ज्ञानों का ज्ञान—शरैः समुपचीयोते—शरीर की दृष्टि और ज्ञान विज्ञान की सोम्यता अस्पृष्ट में अधिक होना अल्पायु का लक्षण है—व्यंजनादिशुभा विद्या मेंदोमेषादयो यशः । अल्पे वयसि यस्तैतत्र स जीवेत् कदाचन ॥ इसल्भा अनुभव ल्यवहार में अनेक बार मिलता है ।

मध्यमस्यायुषो ज्ञानमत ऊर्ध्वं निवोध मे ।
अधस्तादक्षयोर्यस्य लेखाः स्युर्वृक्षमायताः ॥६॥
द्वे वा तिलोऽधिका वाऽपि पादौ करणैऽच मांसलौ ।
नासाग्रमूर्ध्वं च भवेदूर्ध्वं लेखाश्च पृष्ठतः ॥७॥
यस्य स्युत्स्तस्य परममायुर्भवति लसतिः ।

(मध्यमायुलक्षण—) इसके पश्चात् मध्यमायु का ज्ञान मुक्त से समान हो । जिसके आंखों के नीचे दो, तीन या अधिक लंबी और स्पष्ट रेखाएँ दिखाई देती हैं, जिसके कान और पांच मांसल होते हैं, नासाग्र ऊपर की ओर उठा हुआ होता है और पीठ पर कर्व्वमुख रेखाएँ होती हैं ॥६-७॥ उसकी अधिक से अधिक आर्यमर्यादा सत्तर वर्ष की होती है ।

जग्न्यस्यायुषो ज्ञानमत ऊर्ध्वं निवोध मे ॥८॥
हस्तानि यस्य पर्वाणि लुमहच्चापि मेहनम् ।
तथोरस्यवलीढानि न च स्यात्पृष्ठमायतम् ॥९॥
ऊर्ध्वं च श्रवणौ स्थानानासाचोच्चा शरीरिणः ।
हस्तो जल्पतो वाऽपि दन्तमांसं प्रदशयते ।
प्रेक्षते यश्च विभ्रान्तं स जीवेत्पञ्चविंशतिम् ॥१०॥

(अल्पायुलक्षण—) इसके पश्चात् कनिष्ठ प्रकार की आयु का ज्ञान (लक्षण) मुक्त से श्रवण कर ॥८॥ (आगे प्रदर्शित किये हुए प्रमाण की दृष्टि से) जिसके पीर्वे छोटे और चिक्की दीर्घ हो, तथा जिसकी छाती की पसलियाँ दीर्घ हुई और पृष्ठ संक्षिप्त हो ॥९॥ जिसके कान अपने स्थान से कुछ ऊचे और नासा भी कुछ ऊपर चढ़ी हुई हो, हँसने या ढोलने के समय जिसके दाँतों का गांसि दिखाई देता हो और जो आंखों को फेरता हुआ दीखता ही, वह पच्चीस वर्ष की आयु तक जीता है ॥१०॥

चक्रवर्ष—अवलीढानि—यह वर्ष का विशेषण है । वर्ष संघियों के बीच का भाग । छाती की दृष्टि से पसलियाँ पर्वत होती हैं । अचलीढ का अर्थ भक्षित और पश्चाय से निज्ञ या दीर्घ हुई । स्वस्य छाती साधारणतया अण्डाकार या दीर्घवृक्ष होती है । इसका पार्विक परिभाषा आगे पीढ़े के परिभाषा की अपेक्षा अधिक होता है । जो बाल्यावस्था में अस्थिवक्षता (Rickets) आदि हड्डी के रोगों से बीमार होते हैं, उसकी छाती विकृत हो जाती है । कुछ लोगों में जन्म से ही छाती का आकार अस्त्रभाविक होता है । छाती के अस्त्राक्षाविक आकारों में पंखवर् (Alar), चपटी (Flat), कदुर की भाँति (Pigeon), कुमड़ी (Ricketty), बेलनाकार (Barrel-shaped) इत्यादि आकार प्रधान हैं । विफूत छाती वाले

मनुजों में थक्का होने की अधिक संभावना होती है, जिससे कारण उनकी आयु अल्प हो जाया करती है ।

अथ पुनरायुषो विशालार्थमङ्गमस्यक्षयमायसारम्—
नुपदेश्यामः । तत्राङ्गान्यन्तराधिसक्षयिवामुशि-
रांसि, तदव्ययवाः प्रत्यज्ञानीति । तत्र, स्वैरङ्गुलैः
पादाङ्गुल्यप्रदेशिन्यौ छ्वाङ्गुलायते; प्रदेशिन्यास्तु धर्ष-
मानामिकाकनिष्ठिका यथोत्तरं शक्तिमायगहीनाः;
चतुरङ्गुलायते पञ्चाङ्गुलविस्तृते प्रपदपादतले: पञ्च-
चतुरङ्गुलायतविस्तृता पार्षिणः; चतुर्दशाङ्गुलायतः
पादः; चतुर्दशाङ्गुलपरिणाहानि पादशुलफज्ञाजाङ्गु-
मध्यानि; अष्टादशाङ्गुला जड्बा, जानूपरिष्ठाच्च
द्वार्चिशदङ्गुलभेदं पञ्चाशात्; जड्बायामसमावृत्त ॥११॥

(शरीर प्रमाण—) अब आयुष के ज्ञान के लिये मंग और प्रत्यंग के प्रमाण तथा सार हनका उपदेश करते हैं । उनमें शरीर का मध्यमाय (अंतराधि), (दो) सक्षिथ, (दो) वाहु और शिर ये (छः) अंग हैं और उनके अवयव प्रत्यंग कहलाते हैं । उनमें अपने अंगुलों से पांच के अङ्गुहे और प्रदेशिनी की संवाही (नासून छोड़कर) दो दो अंगुल की होती है । प्रदेशिनी से मध्यमा, मध्यमा से अनामिका और अनामिका से कनिष्ठिका कल्प से पांचवाँ भाग कम होती जाती है । प्रपद और पादतल चार अंगुल लम्बे और पांच अंगुल चौहो होते हैं । पार्षिणा (पड़ी) पांच अंगुल लंबी और चार अंगुल चौही होती है । पांच चौदह अंगुल लंबा होता है । पादमध्य, गुलमध्य, जंक्षामध्य तथा जानुमध्य चौदह अंगुल परिणाह के होते हैं । जंक्षा अठारह अंगुल लंबी होती है । जानुसंधि से ऊपर (कफिलन्धि तल) का भाग वक्तीस अंगुल लंबा होता है और हस प्रकार (जंक्षा, जानु और ऊपर का भाग मिलकर) लंबाई पचास अंगुल एटो ए है । जंक्षा के समान ऊरु (अठारह अंगुल) लंबे होते हैं ॥१२॥

चतुर्वय—अंग प्रत्यंग प्रमाण का नाप द्वारा नियमित होते हैं—१ आयाम—दैर्घ्य, लम्बाई (Length) । २ विस्तार—च्यास, चौडाई (Breadth या greatest diameter) । ३ परिणाह—परिमुखिता, घेरा, (Circumference) । परिणाह के सम्बन्ध में चक्रदत्त की निज्ञ दिष्पणी ज्ञान में रखनी चाहिए—परिणाहपरिमाण च यदुच्यते तन्मध्यस्थानस्य, तेनाश्वरपरिणाहमनेषु चंचादिषु मध्यस्थान-मेतज्जोयम् ॥ शिर—समीक्ष शिर या शिरोत्रीक । वयोत्तरं पंक्तम भागहीनाः—अनामिकांडिगुल्यः क्रमेण द्रथंगुलस्य पंक्तमामोन दीनाः । (इन्दु) । मध्यमिका हूँ अंगुल लंबी, अनामिका हूँ गौदे कनिष्ठिका हूँ लंबी होगी । पाद—पाद के तीन विभाग होते हैं—१ प्रपद—अंगुलनन्तरं पादमध्यम् । (इन्दु) । Part of the foot anterior to the arch । २ फाइल—पादमध्यम, Arch of the foot । ३ पार्षिणी—चुम्पिका भाग पड़ी । मूल पाद की लंबाई चौदह अंगुल हस प्रकार होती है—४ अंगुल प्रदेशिनी, ४ प्रपद, ४ पादतल, और ४ पार्षिणी ।

छ्वाङ्गुलायते छ्वाङ्गुलच्छुद्वद्यन्तलास्तु पुद्दपागफलू-
सूलस्यन्तलास्तु; छ्वाङ्गुलायते मेष्टिष्ठानाम् ।

नासाकर्णललाटप्रीयेच्छायदृष्ट्यन्तराणि, द्वादशाङ्गुलानि भगविस्तारमेहननाभिष्ठव्यप्रीवास्तनान्तर मुख्यामामणिवन्धप्रकोष्ठस्थील्यानि, इन्द्र्यस्तिपरि णाहांसपीठकूपरेण्टरान्तरायाम योदशाङ्गुल, चतुर्विश्व स्याङ्गुले हस्त, द्वात्रिशद्वृुलपरिमाणी मुजौ, द्वात्रिशत्परिणाहावूरु, मणिवन्धकूर्षरान्तरं पोदशाङ्गुलं, तल पद्मचतुर्कुलायामविस्तारम्। बहुष्मूलमदेशिनी अथणाप्राङ्गान्तरमध्यमाङ्गुल्यौ पञ्चाङ्गुले, अर्धे पञ्चाङ्गुले प्रदेशिन्यनामिके; सार्थक्याङ्गुलौ कनिष्ठा जुष्टौ ॥१२॥

हृष्ण (अण्डगोलक), शोटी, दाँत, (प्रयेक) नासा पुट का वाहमाण, कर्णगूल और आँखों का भयमाण ये दो दो अंगुल के होते हैं । शिख (उच्चामरहित, उच्चाय युक्त पद्मगूल), व्यात्सुल (एकतया सुला ऊंगा सुल), नासावंयं, कर्ण, ललाट, श्रीवा और इमिंडल के बीच का अन्तर ये सब चार चार अंगुल होते हैं । योनिविसार, शिख और नामि का अन्तर, नामि और हृष्ण का अन्तर, हृष्ण से श्रीवा मूल तक का अन्तर, दोनों स्तनों के बीच का अन्तर, चिटुक से ललाट के अन्त तक मूल का दैर्घ्य तथा मणिवन्ध और प्रकोष्ठ का परिणाम ये सब चारह चारह अंगुल के होते हैं । जंघामध्य ('ज्वाममेह इन्द्रकलिनी') का परिणाम, कंधा और कोहनी के बीच का अन्तर ये सोलह अंगुल के होते हैं । कोहनी से मध्यमांगुल के अप्रत तक बीचीम अंगुल का हाथ होता है । दोनों मुख बीचीस अंगुल के होते हैं । दोनों ऊरु प्रयेक वर्तीस अंगुल परिणाम (पेरा) की होती है । मणिवन्ध से कोहनी तक की लम्बाई सोलह अंगुल की होती है । हयेली चार अंगुल चौरी और छ अंगुल लम्बी होती है । अगुड के मूल से तर्जनी का अन्तर, कान से नेत्र के बाह्यकोण का अन्तर तथा मध्यमांगुल की लम्बाई प्रयेक पाँच पाँच अंगुल की होती है । प्रदेशिनी और अनामिका साँझे चार अंगुल की तथा चौंगाड़ और कनिष्ठिका साँझे तीन अंगुल की होती है ॥१२॥

चतुर्विश्वतिविस्तारपरिणाम सुखमीय त्रिमाणा झुलविस्तारा नासापुटमयोऽः नयनत्रिभागपरि णाहा तारका; नवमस्तारकाशो इष्टि, केशान्त मस्तकान्तरमेकादशाङ्गुल, मस्तकाद्वयदुक्षेशान्तो दशाङ्गुल, कर्णावद्वन्तर चतुर्विश्वाङ्गुल, पुरुषोर प्रमाणविस्तीर्णाखीओणि, अष्टादशाङ्गुलविस्तारामुरु; तत्प्रमाणा पुरुषस्य कटी सर्विशमहुलशत पुरुषा याम इति ॥१३॥

चार अंगुल विस्तार का मूल और बीम अंगुल परिणाम की श्रीवा होती है । नासापुट का विस्तार १३ अंगुल का होता है । नेत्र का तिहाई कृष्णमंडल होता है । हृष्मांडल का नवमस्तार इमिंडल होता है । (शक्तप्रेय स्थित) केव

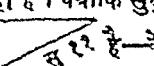
मर्यादा से शिवेमध्यमाण ग्यारह अंगुल होता है । मस्तक मध्यमाण से श्रीवाप्रक्षिममाण का वेशान्त दशांगुल होता है । पिछली तरफ से (अवद्यशंदेश से) दोनों काँचों के बीच का अन्तर चौदह अंगुल होता है । पुरुष के छाती के अमान विस्तार की दिलों की ओर होती है । (दिलों का) वक्षमाण अठारह अंगुल के विस्तार का होता है । और पुरुषों की कठी भी अठारह अंगुल के प्रमाण की (श्रीवक्ष के प्रमाण के समान) होती है । (इस प्रकार) पुरुष की संवाई एक सी बीम अंगुल की होती है ॥१३॥

एकदय—तारका—हृष्मांडल । इसको कोर्निआ (Cornes) कहते हैं—नेत्रायामविमान तु हृष्मांडलमुख्यते । (उत्तरतन्त्र, अ०१) । इष्टि—पुतली, इसको पूर्विल (Pupil) कहते हैं । हृष्मांडल आँख के पैदे (Iris) का छेद है । उत्तरतन्त्र में हस्तका परिमाण तु दिया है—हृष्मांडल समानिक्षित शहि हृष्मिविरामदा ॥ इस मतभिन्नता का कारण हृष्मांडल की परिवर्तनशीलता मात्रम् पहता है । जिसमें हृष्मांडल है, वह आँख का पद्मा मासकतन्त्रांशों से बना है । इनमें कुछ तनु चक्रवृद्ध चतुर्लाकार लोंगे हैं और कुछ पहिये के अंगों के समान लोंगे रहते हैं । चक्रकार तन्त्रांशों के संकेत से पुतली छोटी और अराकार तन्त्रांशों के संकेत से मोटी हो जाती है । हृष्मांडल के परिमाण का परिवर्तन इस वस्तु की दृता, समीपता तथा प्रकाश की तीव्रातीशता के अनुसार सदैव बदलता रहता है । इक्ष्यावाचीय के अनुसार स्वरूप हृष्मांडल समान्य मनुष्यों के लिये और नवकाशी इृष्मांडल महापुरुष और पृणांतुर्यों के लिये है—यदेवं तदि अतुरोपकमीये नवमलाकारी इृष्टि इति क्रमसुक्तान् ७ सल्वम्, महायुधाण्ण पूर्णियुक्ता भिन्नविषयप्रभावानिमिति न देव ॥ अवदु—गुरी (Nape of the neck) । संविशमग्युष्यत पुरुषायाम—चरक में पुरुष की लंबाई चौरासी अंगुल वर्ष्यन की है—केवल पुन शरीरमध्ये पर्वाणि चतुरीति । तदायामविसारम् समुद्धते । (विमान, अ०) । ग्रहोत्तराम तथा अर्दांगहृष्मय में भी पुरुषायाम का यही परिमाण दिया है—सर्वे पुन शरीरमध्यानि चतुरीति । त्व त्व इतत्रय सार्वे चतु नान तात्पुरोः । अवदुहर में नाप के लिये चौरासी अंगुल का ही पुरुष का परिमाण होता है—चतुर चौरासी अंगुल चारीमी रजुमान तात्पीरन च । (कौटिलीय अर्थशास्त्र, अ० १) । इससे एक सी बीम अंगुल का सुक्ष्म चरकादि के चौरासी अंगुल के पुरुष से बिल्कुल भिन्न है, ऐसा आमान होता है । परन्तु यदि केवल आयाम (Length या Height) के आवश्यक सुक्ष्माक प्रलयमार्णों की तुलना चरकोक उन प्रलयमार्णों के साथ की जाय तो (नीचे काढ़क देखो) यह विरोधाभास दूर हो जाता है ।

प्रत्येक मानवतुलना

प्रत्येक नाम	सुक्ष्म	चरक
परिणि	५	५
जंघा	१८	१८
जातु	५	५
कठ	१८	१८
मेहनाम्यन्तर (वस्तिपिरि)	१२	१०

नाभिहृदयान्तर	१२	१२
हृदयग्रीवान्तर	१२	१२
ग्रीवा	४	४
आनन या मुख	१२	१२
स्त्रि	११	६
प्रत्यंगायाम योग	१०८	१००

इनमें केवल स्त्रि के मान में फर्क मात्रम् पड़ता है, परन्तु वह भी वास्तविक नहीं है। क्योंकि सुश्रुत का नाप देश है और चरक का सीधा  है—केशान्तरमस्तकान्तरम्—कादर्शानुलम्। (सुश्रुत) । पठ्युलेत्सेवं शिरः । (चरक) । भूमिति की दृष्टि से सुश्रुतोक्त पुकादर्शांगुल चरकोक्त पठ्युल इसी ही जाते हैं। चकपाणिदत्त सुश्रुत की भानुमती दीका में पुरुष का आयाम १२० अंगुलि सही समझते हैं और चरक-सुश्रुत-विरोध का परिहार सुश्रुतोक्त अंगुलिमान अल्प मानकर करते हैं—सुश्रुतेन समं वीड्यं मानविरोधः सोऽन्तागुलिमानभेदाच्छम-वित्त्व्यः । तत्र हि सर्विशाम्पुरिष्ठां पुरुषमानमुक्तम् । तेन तत्रागुलिमानमेवालं देव्यम् । (चरकटीका) । परन्तु ऊपर कोष्टकस्थ नीलों के प्रत्यंगायाम की हुलना करने से चक्र का कद्यन अर्थार्थ है, इनमें कोई संदेह नहीं होगा। क्योंकि परिमाण अल्प नीले पर सुश्रुत का प्रत्येक प्रत्यंग मान चरक के मान से अधिक होता आवश्यक है। ऊपर कोष्टक देखने से यह स्पष्ट होगा के प्रत्यंग मान जोड़ने से पुरुषायाम चौरासी अंगुल से अधिक होता है। यह अधिकता प्रत्यंगासीमाप्राप्त दोहरा नाप जाने से उत्पन्न होती है, वास्तविक नहीं है। यदि प्रत्यंगों के मान का स्थाल न रखकर केवल पुरुषायामनापाजायतो वह चौरासी अंगुल ही होता—अत्र च प्रत्यक्यावोत्सेपेन चतुरशीलंसुलादधिकं यच्छीरीं भवति तदवयवानामवयवान्तरैर्दैर्घ्यानुप्रविष्टानो ग्रहणात्, तेन प्रत्यक्यवद्वैर्यमानेन न चतुरशीलंगुलं गणनीयं किन्तु समुद्दितमेव शरीरम् । (चकपाणिदत्त, चरकटीका) । अब प्रश्न यह उठता है कि जब चरक और सुश्रुत के पुरुषायाम में अभेद है तब सुश्रुत के एक सौ वीस अंगुल का क्या अर्थ है? इसके उत्तर में ढल्हणाचार्य लिखते हैं कि पादाग्र पर खड़े हुए और ऊपर हाथ उठाये हुए पुरुष का पादाग्र से लेकर हस्ताग्र तक का यह आयाम है—विशाया अगुहैः सह शतं सर्विशमनुलशतं पुरुषायामः पादाग्रवस्थितस्योर्ध्ववाहोः पुरुषस्य दैर्घ्यम् ॥ यह विरोधपरिहार यथार्थ है, क्योंकि पादाग्र पर खड़े होने से करीब दस अंगुल आयाम वह सकता है और हाथ ऊपर उठाने से छव्वीस अंगुल के लगभग फिर वढ़ता है। इस तरह छव्वीस अंगुल चौरासी में मिलाने से पुरुष का आयाम एक सौ वीस अंगुल हो जाता है।

भवन्ति चात्र—

पञ्चविंशो ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे ।

समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिष्ठक् ॥ १४ ॥

पुरुष (अपनी आयु की) पञ्चीय वर्ष की अवस्था में और श्री सोलह वर्ष की अवस्था में परिपूर्ण वीर्य होते हैं, ऐसा कुशल वैद्य समेत ॥ १४ ॥

वक्तव्य—समत्वागतवीर्यौ—जिनका वीर्य थानि शक्ति या रसरक्तादि सम्बद्ध समत्व को परिपूर्णता को प्राप्त हुए हैं।

ऊपर दीर्घायु श्री पुरुष के अंग प्रत्यंग के जो प्रमाण दिये हैं, पै इस परिपूर्ण धातु की अवस्था की प्राप्त हुए लोगों के लिये लागू होते हैं। इसके पहले शरीर धातु अपरिपक्व होते हैं। श्री और पुरुष जब यौवनावस्था में पद्धतेप करते हैं तब छियों में आर्तव और स्त्रीयीज (Ova) और पुरुषों में धीर्य घनना आरंभ होता है। इसका साधारण काल छियों में बारह वर्ष का श्री और पुरुषों में सोलह वर्ष का होता है। इस अवस्था में श्री और पुरुषों की दीजप्रयियों में ऐसी वस्तु बनती है, जो इस के साथ शरीर के विविध अंग प्रत्यंगों में पहुँचकर उनको प्रवल और पुष्ट बनाती है। इस कार्य के लिये कुछ घर्षों का काल आवश्यक होता है। इसके पहले यदि सन्तानोत्पत्ति का कार्य किया जाय तो श्री और पुरुष दोनों अपरिपूर्ण धातु होने के कारण उनकी संतति निर्यत होती है और स्वयं उनके शरीर की वृद्धि भी कभी पूर्ण नहीं हो सकती है—Several years after puberty neither the male nor the female has arrived at sufficient maturity to produce healthy offspring. There is no doubt the first activity of the generative function should be expended in energising the individual rather than in propagation of the species, *Esoteric Anthropology*. अन्य प्राणियों के सम्बन्ध में जो अनुभव हैं, वह मनुष्यों के सम्बन्ध में भी है और इसी अनुभव के आधार पर आगे शरीर के १० वें अध्याय में लिखा है—अन्योदरवर्धीयामाप्ताः पंचविशतिम् । यथाप्ते पुमान् गर्भ कुक्षिः स विषयते ॥

देहः स्वैरकुलैरेष यथावदनुकीर्तिः ।

युक्तः प्रमाणेनानेन पुमान् वा यदि वाऽङ्गना ॥ १५ ॥

दीर्घमायुरवासोति वित्तं च महद्वच्छति ।

मध्यमं मध्यमैरायुर्वित्तं हीनैस्तथाऽवरम् ॥ १६ ॥

अपने अपने अंगुलों से देह (का प्रमाण) सम्पूर्णतया वर्णन किया गया है। जो पुरुष आयदा श्री शरीर के इस योग्य प्रमाण से युक्त होती है ॥ १५ ॥ वह दीर्घ आयु को और संपत्ति को (अथवा शरीर में संपत्ति को) प्राप्त होती है, मध्यम प्रमाणों से युक्त मध्यमायु और मध्यम राशि में धन को प्राप्त होती है और हीन प्रमाणों से युक्त अल्पायु और अल्पवित्त को प्राप्त होती है ॥ १६ ॥

वक्तव्य—चरक में सम, अधिक और हीन ये तीन शरीर के प्रमाण वर्णन किये हैं। सुश्रुत में जिसको युक्तप्रमाण कहा है, उसको चरक में समप्रमाण कहा है—तदायामविस्तार-समं सममुच्चते । तत्रायुर्बल्मोजः सुखमैर्यथं वित्तमिदाश्वापे भावा भवन्त्यायतः प्रमाणवति शरीर । विषयेवस्ततो शीनेऽधिके वा ॥ यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि आजकल शरीर नापने के लिये जो 'इंच' (Inch) का नाप प्रयोग होता है, वह व्यक्ति निरपेक्ष है। इसलिये इंच की दृष्टि से जिनका शरीर समप्रमाण है, ऐसे व्यक्ति देखने में भी सम होते हैं। परन्तु यहाँ वर्णन किया हुआ अंगुलि का नाप व्यक्तिसापेक्ष यानि प्रत्येक व्यक्ति में बदलने वाला होने के कारण जिसका शरीर समप्रमाण है ऐसे दो व्यक्तियों में से एक व्यक्ति

छोटा और नाटा तथा दूसरा मोटा और छोटा हो सकता है। पुल की पूर्ण डेंचाई एक सी बीस अंगुलि जो ऊपर वर्षन की है, वह पादाप्र से हाथ ऊपर उठाये हुए पुल की है। वैसी छोटाई के बल जीरकी अगुल की होती है—केवल उन गरीबण्युदि-पर्णि चतुररीतिस्त्रयामविकारम समुच्चयो ॥ (चरक) ।

थथ सारान् विद्यामः—स्मृतिभक्तिप्रशाशीर्य-शौचोपेतं कल्याणमिनिवेशं सत्त्वसारं विद्यात्; ज्ञिग्यसंहृष्टश्वेतास्थिदन्तनस्य बहुलकामप्रज्ञ शुकेण; अहशमुत्तमथलं ज्ञिग्यथाम्भीरस्तरं सौमाग्नोपपत्तं मद्हानैर्घं च मज्जा; मद्हाशिरःस्कन्धं दद्दन्तहृष्ट-स्थिनवामस्थिमिः; ज्ञिग्नमूद्रसेवस्वरं वृहच्छरीर-मायासासहित्युं मेदसा; अच्छद्रगाथं गूढास्थि-सन्धिं मांसोपचितं च मांसेन, ज्ञिग्यताभ्रनस्तनयन-तालुज्जिह्वाषयिषादतलं रकेन, सुमसस्त्रमुदुत्प्रभो-माणि त्वक्सारं विद्यादिति । परां पूर्वे पूर्वे प्रधान-मायुःसौमाग्नोपरिति ॥७॥

(सार) यद्य सार का वर्णन करते हैं । जो स्फुटि, भक्ति, दुर्दृशी और पारिश्रम हृष्ट गुणों से सुक तथा शुभ कार्यों में वर्णित होता है, वह मनुष्य 'सावधार' समझना चाहिये । विश्व, वन और वेत अस्थि देत और नस्लुक, इदं काम वासना युक्त और अधिक सातान् युक्त मनुष्य 'युक्त सार' का होता है । इष्टातादिति, उत्तम वन युक्त, खिण्य और गंभीर स्वर युक्त, सीमास्ययुक्त और महोन्नेत्र मनुष्य 'मसिसार' का होता है । जिसका रित और उंचा बड़ा है, जिसके दाँत, हातु, ग्रस्ति और नालून भवत्तु हैं, ऐसा मनुष्य 'असिसार' का होता है । विश्वके मृग, स्वेद और स्वर में विद्यता होती है, शरीर बड़ा होता है और वरिष्ठम सहने का क्षमत्यं नहीं है, वह मनुष्य 'मेदसार' का है । जिसके शरीर पर कई भी निमित्त नहीं होती, जिसके अस्थि और संधि (सांस से) पूर्णतया युक्त होते हैं, तथा जिसका शरीर मासिल होता है, वह मनुष्य 'मसिसार' का होता है । जिसके नस, नेत्र, तांत्र, जिह्वा, हौंड, हैंड, शैवी और पौर्ण के लद्दुरे खिण्य ताक्षरवर्ण होते हैं, वह 'रंतयाद' का मनुष्य होता है । जिसकी त्वचा और रोम सुन्यम और कोमप होते हैं, वह मनुष्य 'त्वक्सार' का समझना चाहिये । इनमें से पहले यहाँ सार आयु और सीमाओं की हटि से प्रशंस होते हैं ॥१०॥

यत्तद्वय—सार— 'निरुद्धनयो चायुस्यो' (चक्रगायि) । सत्त्वसार—सत्त्वगुद्धविभित्ति मनुष्य । सत्त्वतुष्टो मन, लद विद्येष वहोनेन प्रवर भवन्नमवर्द भेति । तत्र प्रवरम्भालो सोरूपदिति । ते निर्दण्मनुष्मित्तु महीचक्षि मीदास्यमा इन्यन्ते सत्त्वगुद्धीत्येष्य । (चरक) । युक्त पूर्व प्रान्त—इनमें त्वक्सार से ज्वराद, इष्टातार से मोसमार, मोसमार से मेदमार, मेनार से असिसार, असिसार से मज्जासार, मज्जासार से शुक्कसार और शुक्कमार से सत्त्वसार मनुष्य आयु सीमाओं की हटि से अधिकापिक इष्टातार समझना चाहिये । जो सर्वसारों से युक्त

होते हैं, वे निझ गुणों से परिष्यं होते हैं—तत्र सर्वे सारेष्वतु पुला भवत्यनिवला, परमौरवयुक्ता कैशसदा सर्वान्मोक्षात्मि जटत्वया कल्याणमिनिवेशिन मन्दवस्तो मन्दविकारा प्राय स्तुत्यग्निवीलीणपर्याप्तिर्विनश्च भ्रातो भवति ॥ (चरक) ।

विशेषतोऽङ्गप्रत्यक्षप्रमाणाद्यथ सारातः ।

पर्णिव्यायुः सुनिपुणो मियक् सिद्ध्यति कर्मेत्यु ॥११॥
विशेष करके अंतर्गत्या के प्रमाण से तथा (धाराविदि के) सार से आयु की परीक्षा करके कृयल वैष्य विकिसा विदि प्राप्त करता है ॥१८॥

दक्षव्य— विशेष—दूत, पर्य धौत्यादिक, छावा शरीर स्वभावविप्रतिपत्ति इत्यादि रिषिकार में वर्णन किये हुए लक्षणों के अनुसार आर्युमर्यादा की सामान्य परीक्षा होती है । विषेष परीक्षा आग प्रसंगे प्रामाण और सार से होती है । चारकसंहिता में सार परीक्षा का महत्व बहु विशाल के लिये भी वर्णन किया है—सुराम्यदृष्टुलग्नान्विषेषान्विषेष दिव्यते । इसने एकलरीया इत्याक्षेत्रे कल्पन्त तत्र विशेषिका भावस्त्रवत् विद्वित्यात् सारत परीक्षेत ॥

व्याधिविशेषास्तु प्राप्तमिहिताः सर्वे पर्यैते विद्यधाः—स्ताध्या, याप्या, प्रत्यास्वेयाद्य । तत्रैतान् भूयस्थिधा परीक्षेत—किमसावौपसर्गिकः; प्राक्षेवलोऽन्यलक्षण्य इति ॥१९॥

(व्याधि के तीन प्रकार) व्याधियों के विशेष पहले ही (अध्याय १, सूत्र २३) वर्णन हो चुके हैं । वे सर्व विशेष तीन (में से एक) प्रकार के होते हैं—१. साप्त, २. याप्य, और ३. असाप्त । इन व्याधियों की फिर आतुरोपकमया के समय (तत्र) तीन प्रकार से परीक्षा करे कि यह व्याधि (१) औपसर्गिक है, या (२) प्राक्षेवल है, या (३) अन्य उत्तरण है ॥१९॥

यत्कव्य— विशेष—भेद । यथा धारीरादिक चतुर्विध और आतुरिक्लभगुद्धादिस्त्रविषय । साप्त, याप्य और प्रत्यास्वेय—इनका निर्देश तथा याप्य व्याधि का लक्षण कृत्याकृत्यविषय नामक तेहस्वै अस्त्वा में वर्णन हो चुका है । साप्त और प्रत्यास्वेय का इत्याचक्षसंहिता में ऐसा दिया है—दैर युक्तस्पानि रूपाक्षलानि शब्द च । न च तुम्यगुणो दृष्टो न दौरं प्राप्तिर्विषयै । न च ब्रह्मगुद्धालो दैरो दुष्करम । गरिरेका नवस्त च दैरस्तो पद्मो न च ॥ दीपदेवं नकुलालो दैरं सौरीपत्रशुभं । चतुर्यादेशरतिध दुर्लभस्त्र लक्षणम् ॥ मुख्यास्त्र मुखोदेय कैनोलेन सर्थो ॥ प्रत्यास्वेय विदेवकरम् ॥ किवद्यत्यविकल्पं मौर्यानुगायिं ॥ औतुक्षारानिमयोऽकर्त्तिवदनाशत् । दुर्लभं सुग्रन्थ व्याधि तारे द्वये च ॥ परोऽसाप्त विशा सर्वा प्रसादेयोऽनिवार्ते ॥

तत्र, औपसर्गिको यः पूर्योपर्यं व्याधि अपन्य-कालजातो व्याधिप्रसूजाति स तन्मूलभूतकं एषो-पद्मसंत्रं; प्राक्षेवलो यः प्रामोयोतपतो व्याधिरप्यै-स्वैरोऽनुपदेयव्य । अन्यलक्षणों यो भविष्यद्व्याधिः-व्यापकः; स पूर्यरूपसंहः ॥२०॥

(तीनों के लक्षण—) उनमें जो पहले उत्पत्ति हुई व्याधि के उत्तर काल में उत्पत्ति होता है, उसी व्याधि के साथ मिलता है, तथा पहले व्याधि के मूल में ही जिसका मूल है, वह अंगसर्गिक या उपद्रव संज्ञक व्याधि है । प्राक्षेवल व्याधि वह है, जो पहले ही उत्पत्ति होकर पूर्वस्पृष्ट संज्ञक व्याधि नहीं है, तथा उपद्रव संज्ञक व्याधि नहीं है । अन्य लक्षण व्याधि वह है, जो भविष्य में होने वाली व्याधि की सूचना देता है । वही पूर्वस्पृष्ट भी कहलाता है ॥२०॥

वक्तव्य— औपसर्गिक—इस प्रकार के व्याधि को 'अनुबंध' 'अप्रधान' या 'परतन्त्र' भी कहते हैं । अंग्रेजी में इसको सेकॉन्डरी (Secondary) कहते हैं । चरक में इसका लक्षण ऐसा दिया है—उपत्वत्तु खलु रोगात्मकाली रोगाश्रो रोग एव ध्यूलोऽनुर्वा रोगात्मकाज्ञायत इति उपद्रवसंशः ॥ तन्मूलमूलकः—पूर्वोत्पत्ति व्याधि के जो असाल्येन्द्रियार्थादि वायर कारण स्थाय चातादि आभ्यंतर कारण, उन कारणों से ही उत्पत्ति हुआ । उपद्रव की व्याख्या कई स्थानों में इस वर्धे की दृष्टि से की गई है—'रोगात्मकात्रोपायकोपज्ञोऽन्यो रोग उपद्रव' । रोगात्मक-प्रथम प्रकोपादुपज्ञायते । योऽन्यो विकारः स कुपूर्वपद्रव इदेदितः ॥ भावप्रकाश ।) चक्रपाणिदत्त भी उपरोक्त चरकसंहिता के 'रोगाश्रय' शब्द की टीका में लिखते हैं—'रोगोत्पादकदोषप्रकोप-अन्यतया रोगेण समतुल्यकारणः ॥ 'तन्मूल' ऐसा भी पाठ है । यह गठ व्यावहारिक दृष्टि से योग्य है और इसी दृष्टि से चरक-संहिता के निदानस्थान में लिखा है—'निदानार्थकरो रोगो रोग-धायुपलभ्यते । कृदिवदि रोगो रोगस्य हेतुभूता प्रशास्यति । न प्रशास्यति चायन्यो हेतुर्य कुरुतेऽपि च ॥ परंतु वहाँ भी चक्रपाणिदत्त अपनी टीका में लिखते हैं—'रोगजनेऽपि रोगे मूलभूता-सात्म्येन्द्रियार्थादिकारणव्ययमेव कारणं भवतीति । न च चतुर्भुक्तारणाभिरिति प्रसोगो वाच्यः ॥ प्राक्षेवलः—'हसी को 'प्रधान', 'स्वतन्त्र', 'अनुबन्ध' ऐसा भी कहते हैं । अंग्रेजी में इसको 'प्रायमरी' (Primary) कहते हैं । अपूर्वस्पृष्टउपद्रवच—इसका वर्धे 'पूर्वस्पृष्ट और उपद्रव रहित तिलकालकन्त्वादिक व्याधि' ऐसा किया गया है, परंतु वह योग्य नहीं है । क्योंकि इससे उपद्रव और पूर्वस्पृष्ट अनेक व्याधियों का समावेश यहाँ निर्दिष्ट किये हुए किसी भी वर्ग में नहीं होता । इसके सिवाय प्राक्षेवल व्याधियों से ही उपद्रव रोग उत्पत्ति होते हैं, ऐसा चरक में स्पष्ट लिखा है—ते पूर्वे कवला रोगः पद्मनाडेत्वर्थकारिणः ॥ इससिये शाय और व्यवहार इनका विरोध न रखते हुए इस शब्द-समूह का अर्थ निम्न प्रकार से करना अधिक समुक्तिक है । जो जन्म से ही (प्रागेव) अपूर्वस्पृष्ट (पूर्वस्पृष्टेतर, जो पूर्वस्पृष्ट वर्ग का व्याधि नहीं है, ऐसा) और अनुपद्रव (उपद्रवेतर, जो उपद्रव वर्ग का व्याधि नहीं है) ऐसा व्याधि प्राक्षेवल होता है । अन्यलक्षण—शरीर के भीतर रोग पूर्ण प्रगत्यम होने के पहले उसकी उत्पत्ति सूचक लक्षण युक्त रोग । इसको 'अंग्रेजी में 'प्रोड्रोम' या 'प्रीमानिटी स्टेज' (Prodrome or Premonitory Stage) कहते हैं । यह वास्तव में रोग न होकर रोग की पूर्वावस्था है । पांश्चात्य वैद्यक में व्याधि के केवल दो ही भेद किये जाते हैं—(१) प्राक्षेवल और (२) औपसर्गिक । यहाँ यथापि अन्यलक्षण व्याधि का तीसरा भेद

कहा गया है तथापि साधारणतया आयुर्वेद में भी अन्यलक्षण व्याधि का भावस्थ पूर्वस्पृष्ट से अधिक नहीं होता ।

तत्र, सोपद्रवमन्योन्याविरोधेनोपक्रमेत, घल-वन्तमुपद्रवं वा; प्राक्षेवलं यथास्वं प्रतिकुर्वीत; अन्यलक्षणे त्वादिव्यायौ प्रयतेत ॥२१॥

(तीनों की चिकित्सा विधि—) उनमें उपद्रवयुक्त व्याधि की चिकित्सा दोनों का (मूल व्याधि और उपद्रव) विरोध जिस प्रकार से न हो, उस प्रकार से करनी चाहिये । अथवा बलवान् उपद्रव की चिकित्सा (प्रथम) करनी चाहिये । प्राक्षेवल व्याधि में उसी की विशेष चिकित्सा करे । अन्यलक्षण व्याधि में व्याधि की प्रथमावस्था की चिकित्सा करे ॥२१॥

वक्तव्य— अन्योन्याविरोधेन—उपद्रवयुक्त व्याधि की चिकित्सा उपद्रव के बलावल के ग्रनुमार की जाती है । परंतु चिकित्सा में कदापि भी उपक्रम विरोध नहीं होना चाहिये । यदि उपद्रव वृद्धि हो तो सुख्यतय चिकित्सा मूल व्याधि की उपद्रव से विरोध न करते हुए करनी चाहिये । इसी दृष्टि से चरक में लिखा है—तत्य प्रायः प्रथानप्रशमे प्रशमो भवति । परंतु जब उपद्रव बलवान् होता है और दुर्देल शरीर को बहुत पीड़ा देता है तप सुख्यतय भीर प्रथम उसी की चिकित्सा मूल रोग से विरोध न करते हुए करनी चाहिये । लिंग वा बलवन्तमुपद्रवं प्रशमान-विरोधेन । (अष्टांगसंग्रह) । कभी कभी प्रधान रोग का उपशम होने पर भी उपद्रव शांत नहीं होता, तब पश्चात् उपद्रव की ही स्वतंत्र चिकित्सा करनी चाहिये—तेषामनुपशास्यतो वा पश्चातानुप-क्रमेत । (अष्टांगसंग्रह) । आदिव्याधिः—व्यापेरादिः प्रथमावस्था इति आदिव्याधिः । व्याधि की प्रथमावस्था । इस अवस्था में भविष्यद् व्याधि के अनुसार चिकित्सा करने से रोगी को आराम मिलता है या रोग रुक जाता है—जबस्य पूर्वस्पृष्ट वर्तमानेषु वृद्धिमान् । पाययते धृत ख्यञ्च ततः स लभते सुखम् ॥ विभिन्नात्मजेषु पैतिकेषु विरचनम् । मृदु प्रच्छर्दनं तदृत कफजेषु विभीयते । (सुश्रुत) । पूर्वस्पृष्ट विकाराणां द्वाष्ट्रा प्रादुर्भविष्यताम् । या किमा क्रियते सा च वेदनां हन्त्यनागताम् ॥ (चरक) । पांश्चात्य वैद्यक में भी प्रधान, अप्रधान और पूर्वस्पृष्ट दून रोगों की चिकित्सा करने की यही पद्धति होती है ।

भवति चात्र—

नास्ति रोगो विना दोपैर्यस्मात्साद्विचक्षणः ।

अनुक्तमपि दोपाणां लिङ्गवृद्धिमुपात्तरेत् ॥२२॥

(अनुक्त रोग चिकित्सा—) चूंकि दोयों के विना रोग नहीं होता । इसलिये अज्ञात रोग की चिकित्सा दोयों के लक्षणों के अनुसार चतुर्वर्षी संबुद्धि करनी चाहिये ।

वक्तव्य— अनुक्त—रोग अज्ञात दो प्रकार से हो सकता है—(१) ज्ञात रोग जिसका निदान (Diagnosis) हुआ नहीं । ऐसे उदाहरण व्यवहार में बहुत हुआ करते हैं । (२) वैद्यक में अनिर्दिष्ट नामधेय व्याधि या विलक्षण नहीं ज्ञाधि, जिसका लिंग कर्ही भी मिलता नहीं । ऐसे उदाहरण यहुत थोड़े होते हैं । परंतु इस प्रकार की संभावना की कल्पना प्राचीन आयुर्वेद के ग्रंथों में स्पष्ट वर्णन की है । त एवापरिसंख्येया निदानम् भवति विना रोगात्मकात्मनां विनापात् ।

गुडाहट, कुन्थन इत्यादि विकार उत्पन्न करके अज्ञ का परिपाक कर देती है, वह विषम अभिन्न है। जो मात्रा से अधिक सेवन किये हुए अज्ञ को शीघ्र पचाती है, वह तीक्ष्ण अभिन्न है। वही अधिक बड़े जाने से 'अत्यभिन्न' कहलाती है। वह बारबार अधिक मात्रा में सेवन किये हुए अज्ञ को भी अत्यंत शीघ्रता से पचाती है, और पाककार्य हो जाने के पश्चात् गला, ताल, हौंठ इनमें शुष्कता, दाह और संताप उत्पन्न करती है। जो यथाविधि सेवन किये हुए अत्य भोजन को भी खेट और शिर में भारीपन, खांसी, श्वास, हल्लास, घमन और अंगों में थकान इत्यादि विकार उत्पन्न करके बहुत देर में पचाती है, वह मन्द अभिन्न होती है ॥२८॥

वक्तव्य—आन्त्रजन—आन्त्र में वायु संचित होने के कारण खेट में गुडगुड़ शब्द होना (Borborygmus)। आशु—साधारण समय से थोड़े समय में। अष्टांगसंग्रह में तीक्ष्णादि अभिन्न से अज्ञ पचन के काल ऐसे दिये हैं—यामैश्च-तुभिद्दीर्घ्यां च भोज्यमेष्ययोः समे । पाकोऽस्मै युक्तोद्वार्कं च तीक्ष्णे मन्दे पुनश्चिरात् । आयुनिक वैज्ञानिक खोज से भी प्राकृतिक अवस्था में अज्ञ पचन के लिये तीन से चार याम का ही अमय प्रमाणित हुआ है। अत्यभिन्न—इसी की ही 'भस्मकाम्नि' तन्त्रान्तर में कहते हैं—वर्धमानो भवेतीक्ष्णे भस्मकार्यो मद्धानलः । (कृन्दमाधव)। भुक्त क्षणाद्वास्म करोति यस्मात्स्माद्यं भस्मकसंज्ञोऽ-भूत् ॥ (योगरक्षाकर)। अभिन्नपैदानः—तीक्ष्णाभिन्नियुक्त मनुष्य जब कहुतिकक्षाय रसों का तथा रक्त पदार्थों का सेवन करता है तब अभिन्न निरोधक कफ क्षीण हो जाता है और योग-वाही अभिन्नोपक वायु (दाहक्षत्तेजसा युक्तः) वर्धित होती है। इससे तीक्ष्णाभिन्न का परिवर्तन भस्मकाम्नि में होता है—कद्वादिरस्त्वात्सुजानं नराणां क्षीणे कफे मारुतपितृद्वौ । अतिप्रवृद्धः पवनान्वितोऽभिन्नः क्षणाद्वासं शोषयति प्रसाथ ॥ (योगरक्षाकर)। नरे क्षीणकोषे पितं कुपित मास्तानुगम् । स्तोषमाण पावकल्साने वलम्पेः प्रयच्छति ॥ तथालवधवले देहे विरुद्धे सानिलोऽनलः । परिभूय पचत्यन्ते तेक्ष्यादाशु मुहुर्द्विः ॥ (चरक)। पाकान्ते इत्यादि—अज्ञ का पचन होने के पश्चात् वह अभिन्न धातुओं का पचन करने लगता है, जिससे गलतालुरोपदाहादि लक्षण उत्पन्न होते हैं—आदारमधिः पचति दोषानाहारवर्जितः । धातून् क्षीणेषु दोषेषु न जीवेद् धातुसुक्षये ॥ (यिंदवास)। पक्त्वात् सततं धातूरूपिणित्रीन् पचत्यन्ति । चरक। भस्मक रोग एक प्रकार की वातविकृति (Neurosis) के कारण ही सकता है। भस्मक रोग को बुलिमिया (Bulimia) या पॉलीफेगिया (Polyphagia) कहते हैं। भस्मकाम्नि आमाशयिक रस की अधिकता (Hyperchlorhydria), मधुमेह और हिस्टीरिआ तथा कृचित् आन्त्रस्थ कुमि इनके कारण होते हैं।

विषमो वातजान् रोगांस्तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान् । करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसंभवान् ॥२९॥
(जठराभिन्न मेद जन्य विकार—) विषमाम्नि वातजन्य रोगों को, तीक्ष्णाभिन्न पित्तजन्य रोगों को, और मन्दाभिन्न कफजन्य रोगों को उत्पन्न करती है ॥२९॥

तत्र, समे परिरक्षणे कुर्वीतः विषमे द्विग्धाम्ल-लवणैः क्रियाविशेषैः प्रतिकुर्वीतः तीक्ष्णे मधुर-

स्त्रिग्धशीतैर्विरेकैश्च; पवसेवात्यन्नौ, विशेषेण माहि-पैश्च त्तीरदधिसर्पिभिः; मन्दे कटुतिक्कपायैर्वमनैश्च ॥३०॥

हनमें से सम अभिन्न की रक्ता करनी चाहिये। विषम अभिन्न हो तो द्विग्ध (द्रव्यों) से, अम्ल, लवण (रसों से) तथा (वातनायक अन्य आहार विहारादि) क्रियाविशेषों से उसका प्रतिकार करे। अभिन्न तीक्ष्ण हो तो मधुर, द्विग्ध, शीत (खाधपेयों से) तथा विवेचन से उसका प्रतिकार करे। इसी प्रकार विशेष करके खेस के दूध, दही और धूत से अत्यभिन्न का प्रतिकार करे मन्द अभिन्न में कटु, तिक्क और कपाय द्रव्यों से तथा घमन से प्रतिकार करे ॥३०॥

जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः ।

सौदम्याद्रसानाददानो विवेकुं नैव शक्यते ॥३१॥

अज्ञ का परिपाक करने वाला, रसों का ग्रहण करने वाला, महावीर्यवान्, शरीर का मालिक जो जठराभिन्न उसका विशेष विवेचन करना, सूक्ष्म होने के कारण असंभव है ॥३१॥

वक्तव्य—ईश्वरः—आयुरादिक प्रदान करने के कारण शरीर का जो ईश होता है—आयुर्वेण वलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचर्योः प्रभा । वोजस्तेऽश्रयः प्राणशोक्ता देहाभिहेतुकाः ॥ शान्तेऽस्मै वियते युक्ते विरं जीवत्यनामयः । रोगी स्यादिकृते मूलमणित्तस्मान्विस्तृच्यते ॥ (चरक) ।

प्राणापानसमानैस्तु सर्वतः पवनैस्त्रिभिः ।

धम्यायते पाच्यते चापि स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थितैः ॥३२॥

अपने अपने स्थानों में व्यवस्थित (प्रकृतिस्थ) प्राण, अपान और समान वायुओं से यह जठराभिन्न प्रज्वलित होती है, तथा उसका परिपालन होता है ॥३२॥

वक्तव्य—जठराभिन्न यथापि शरीर का ईश्वर है, तथापि अपना ईश्वर नहीं है । वह प्राण, अपान और व्यान वायु के अधीन होती है। प्राणवायु अज्ञ का ग्रहण करके, अपानवायु मलमूत्रादिक का उत्सर्ग योग्यकाल पर करके और समानवायु साथ करके जठराभिन्न का परिपालन और प्रज्वलन करती है। अर्थात् इनमें विकृति उत्पन्न होने से जठराभिन्न में भी विकृति उत्पन्न हो जाती है। आयुनिक शरीरकार्य विज्ञान (Physiology) की दृष्टि से जठराभिन्न के कार्ये को समस्त शरीर का पचन व्यापार (Mechanism of digestion) कह सकते हैं। यह पचन का व्यापार अधिकांश वात के अधीन (Nervous control) है, यह भी सिद्ध हुआ है। वातसंस्थान की विकृति के कारण पचन व्यापार में भी कई विगाड़ (Neurosis) उत्पन्न होते हैं।

व्यस्तु त्रिविधं—वाल्यं, मध्यं, वृद्धमिति ।
तत्रोनषोऽशवर्धा वाला: । तेऽपि त्रिविधाः—
क्षीरपाः, त्तीरान्नादा, अन्नादा इति । तेषु संवत्सर-
परा: त्तीरपाः, द्विसंवत्सरपरा: त्तीरान्नादा:,
परतोऽन्नादा इति ॥३३॥

कलियुग में आयुष्य की अधिकाधिक मर्यादा एक सौ धीस वर्ष की होती है—समाः परिद्विष्मा मनुजकरिणां पच च निशा । झूरैन्स आदि आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार भी मनुष्य एक सौ पचीस वर्ष की होती है । परन्तु हस्ते अधिक आयुष्मान् लोगों के कई उदाहरण प्राचीन और अर्धाचीन काल में मिलते हैं ।

तत्रोत्तरोत्तरासु वयोवस्थासूत्तरोत्तरा भेषज-
मात्राविशेषा भवन्ति, ऋते च परिहाणेः; तत्राद्या-
पेत्तया प्रतिकुर्वीत ॥३६॥

(वय के अनुसार ओपधिमात्रा) वृद्धावस्था के अतिरिक्त उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वयोवस्थाओं में श्रीपद्मसाणविशेष भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है । वृद्धावस्था में वाल्यावस्थोपयोगी भेषजमात्रा से (रोगों का) प्रतिकार करना चाहिये ॥३६॥

वक्तव्य—उत्तरोत्तरा भेषजमात्रा—कम से बड़ा या हुआ औपयोग का प्रमाण । यह कम वृद्धि निम्न प्रकार से होती है— वाल्यस्य प्रथमे मासि देया भेषजरक्तिका । अवलेहीकृतैकैव क्षीरकौद्रितिताधृतैः ॥१॥ वर्धयेत्तावेकैकां यावद्वयति वत्सरः । मापैर्वृद्धिस्तद्वृच्छं स्यावायत-पोटशेवसरः ॥२॥ ततः खिरा भवेत्तावद्यावदर्पणं सप्ततिः ॥३॥ (शार्ङ्गभर) । विडगफलमात्रं तु जातमात्रस्य भेषजम् । एतेनैव प्रमाणेन मासि मासि प्रवर्णेण्य ॥४॥ कोलास्थिमात्रं क्षीरादेः दद्याद्वैप्रज्योक्तिः । क्षीरादेदं कोल-उद्देशदे दुध्वरोपमम् ॥ (विश्वामित्र) । आद्य जो वाल्यावस्था, उसकी दृष्टि से । सत्तर वर्ष के पश्चात् शनैः शनैः औपयित्र प्रमाण कम करना चाहिये—ततो वाल्कवन्मात्रा हासनीया शनैः शनैः । (शार्ङ्गभर) । वाल्य और वृद्ध अवस्थाओं का कई वातों में साम्य होता है । हस्तिये लिखा है ‘आद्य-पेत्तया’ । श्रीग्रेजी में भी कहते हैं कि Old age is second childhood । पाश्चात्यवैद्यक में धीस तर्प से साठ वर्ष की आयु के लिये जो मात्रा होती है, उसे पूर्णमात्रा (Adult dose) कहते हैं । एक वर्ष से बारह वर्ष तक यंग या कौलिंग के नियमानुसार मात्रा का प्रमाण होता है । यंग (Young's rule) का नियम—रोगी की आयु में बारह मिलाकर उससे आयु को भाग देने पर जो फल मिलेगा, उतना पूर्ण मात्रा का अंश रोगी को देना चाहिये । जैसे—

$$1 \text{ वर्ष के बालक के लिये } \frac{1}{1+12} = \frac{1}{13} \text{ पूर्ण मात्रा का अंश}$$

$$4 \text{ " } " \text{ " } \frac{4}{4+12} = \frac{1}{4} \text{ " } "$$

$$6 \text{ " } " \text{ " } \frac{6}{6+12} = \frac{1}{3} \text{ " } "$$

कौलिंग का नियम (Cowling's rule)—रोगी की आयु में एक मिलाकर उस संख्या को चौंबीस से भाग देकर जो फल मिलेगा, उतना पूर्ण मात्रा का अंश रोगी को देना चाहिये ।

$$\text{थथ}-1 \text{ वर्ष के बाल के लिये } \frac{1+1}{24} = \frac{1}{12} \text{ पूर्ण मात्रा का अंश}$$

$$4 \text{ " } " \text{ " } \frac{4+1}{24} = \frac{5}{24} \text{ " } "$$

$$7 \text{ " } " \text{ " } \frac{7+1}{24} = \frac{1}{3} \text{ " } "$$

बारह से सोलह वर्ष तक इसे तु और सोलह से धीस वर्ष तक तु से तु तक पूर्णमात्रा का अंग दिया जाता है । आयुर्वेदिक ओपधियों के लिये भी हस्त उपर्युक्त नियम का उपयोग करना उचित है, क्योंकि माप वृद्धि का नियम सर्वत्र लागू नहीं हो सकता ।

भवन्ति चात्र—

वाले विवर्धते श्लेषा मध्यमे पित्तमेव तु ।

भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वृद्धं तद्वीक्ष्य योजयेत् ॥३७॥
अश्निक्तारविरेकस्तु वालवृद्धौ विवर्जयेत् ।

तत्साध्येषु विकारेषु मृद्धीं कुर्यात् क्रियां शनैः ॥३८॥

वाल्यावस्था में कफ बढ़ता है, मध्यमावस्था में पित्त बढ़ता है और वृद्धावस्था में वायु बढ़ती है । हस्तिये हस्तको देवकर औपधादि की योजना करनी चाहिये ॥३७॥ अश्निकर्म, जारकर्म तथा विरेचनकर्म तो बालक और वृद्धों को नहीं कराने चाहिये । यदि अस्ति, जार और विरेचन से ही रोग साध्य हो तो मृदु (ओपधियों द्वारा) क्रिया करनी चाहिये ॥३८॥

वक्तव्य—मृद्धीं क्रियाम्—अजाशक्तुदादि मृदु द्रव्य संश्रय अस्ति, मृदु जार तथा चतुरंगुलादि मृदु विरेचन से की हुई क्रिया ।

देहः स्थूलः, कृशो, मध्य, इति प्राणुषदिष्टः ॥३९॥

कर्शयेद् वृहयेच्चापि सदा स्थूलकृशौ नरौ ।

रक्तण्यं चैव मध्यस्य कुर्वीत सततं भिषक् ॥४०॥

देह स्थूल, कृश और मध्य (तीन प्रकार का) पहले (दीप्यधातु मल तथा वृद्धि विज्ञानीय नामक पन्द्रहवें अध्याय में) वर्णन हो चुका है ॥३९॥ उसमें वैद्य स्थूलशरीर मनुष्य का सदा कर्शन करे, कृशशरीर मनुष्य का सदा वृण्ण करे और मध्यमशरीर मनुष्य की सदा रक्ता करे ॥४०॥

वलभिद्वित्तुरुणं; दौर्बल्यं च स्वभावदोषजरा-दिभिरवेच्चितव्यम् । यसाद्वलवृतः सर्वक्रियाप्रवृत्ति-स्तस्माद्वलमेव प्रधानमधिकरणानाम् ॥४१॥

कैचित् कृशाः प्राणवन्तः स्थूलाश्वाल्पवला नराः ।

तस्मात् स्थिरत्वव्यायामैर्वलं वैद्यः प्रतर्कयेत् ॥४२॥

(वलविचार—) वल के गुणों का विचार (पहले ही पन्द्रहवें अध्याय में) हो चुका है । दौर्बल्य का विचार स्वभाव, वातादि दोष तथा वार्धक्य आदि दृष्टि से करना चाहिये । चैकिंचित्सा की सर्वक्रियाओं की प्रवृत्ति (प्रयोग Applicability) वलवान् रोगी के सम्बन्ध में ही (सप्तल) हो सकती है । हस्तिये चिकित्सोपयोगी सर्वक्रियाओं के आधारों में वल ही प्रधान है ॥४१॥ कुछ कृश भी वलवान् होते हैं और कुछ मोटे भी दुर्बल होते हैं । हस्तिये (शरीर की) इटता तथा व्यायाम (की शक्ति) इनके द्वारा वल का अनुभव वैद्य को करना चाहिये ॥४२॥

वक्तव्य—स्वभावदोषजरादिः—कुक्रोप्यितजन्य यानि अनुवंशज हैं या वातादि दोषजन्य हैं या वयोनुरूप है, हस्तिये प्रीत्या कर्त्ती लिये वैद्य स्वभावदोषजरादिः—कुक्रोप्यितजन्य यानि

(वय—) वयोवस्था तीन प्रकार की होती है—१ बाल्यवस्था, २ मध्यमावस्था, और ३ वृद्धावस्था । उनमें पोंडर्य वर्षे नक याल हैं । वे भी तीन प्रकार के होते हैं—१ दूध पीने वाले, २ दूध और अम्ल सेवन करने वाले, और ३ अम्ल सेवन करने वाले । इनमें एक वर्षे की अवस्था तक दूध पीने वाले, दो वर्षे की अवस्था तक (दूसरे और तीसरे वर्ष में) दूध और अम्ल दोनों का बाहार करने वाले, और इससे उपरान्त अम्ल खाने वाले ॥३३॥

यत्कल्पय—चरकसंहिता में वय की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है—**बाल्यमानविवेषोऽक्षिणी** ही शरीरावस्था वयोऽग्निमित्तये । यही वय के तीन विभागों की जो वर्षमर्यादा वर्द्धन की है, वह स्थूलरूप से ही समझनी चाहिये । कलंकि कर्दे कारणों से उपर्युक्त वर्षमर्यादा में परिवर्तन होता है । अत व्यवहार की इष्टि से वर्षमर्यादा की अपेक्षा इनके विविष्ट लक्षणों के अनुसार ही वास्तविक अवस्थाओं की नियिति करना अधिक योग्य होता है—**त्रिवृद्यो वयाश्वलून त्रिविष्ट्** । आसन काल उत्तराधीनवर्गमनीयिनो मनुष्या । तेवा विकलिने श्रकृत्याविलविशेषे रासुयो लक्षणतद ग्रनामामुपलभ्य वयस्त्रिलिंगमेत् ॥ (चरक) । **बाल्यम्—**चरकसंहिता में व्याख्यावस्था की वर्षमर्यादा तीस वर्षे की बतलाई है और उसके दो विभाग छिये हैं—**सोलह वर्षे** वर्षे की अवस्था तक अपरिषक धातु का काल—तेवा वालमपरिषकभातु भग्नात्यज्ञन शुक्रामास्त्रेणशम्भव्यमूर्यवलभ् शेषात्प्रायामागोदशार्थं, विवर्गामनपातुगुण पुन ग्रावेनावलिनमलमात्रिवृद्धैर्युपदिष्टम् ॥ शीरण इत्यादि—**यहाँ दूध और अम्ल सेवन की इष्टि से व्याख्या वस्था** के जो तीन विभाग छिये हैं, उनमें वालक-पोषण के संदर्भ में यहाँ भारी व्याप्ति है । अम्ल से यहाँ उस प्रकार का अस्थ अभियोग है, जिसको वर्षण करने की आवश्यकता होती है । वर्षण के सिये दाँतों की झर्नत होती है । पहले वर्ष के गिर्जु के बेवल छ दाँत होते हैं, जो काटने के काम में आने वाले (कटन-इक्सार-Incisor) होते हैं । इससिये पहले वर्ष में गिर्जु का आहार अधिकार्य मात्रा और गर्भ के दूध का ही होना चाहिये । इसके सियाय अस्थप्राणनियिति के पश्चात् दाँत निकलना आरंभ होने के पश्चात् जो प्राय ६-७ महीने की आयु से प्रारंभ होते हैं—गिर्जु को चूट्य, पेय, लेदा, खाद्य इत्यर्थी मात्रा में दें सकते हैं । परत इन दाँतों की राशि अवृद्ध होनी चाहिये और इस इष्टि से पहले वर्ष के वालक को शीरण कहा है—**अपरेन्द्रु भृत्या** । पहले वर्ष में भृत्योन्तर्मात्रि शाय ग्रन्थ, जिनके सिये वर्षण की आवश्यकता है, वालक को देना स्वास्थ्यविधातकर है । कलंकि वालक इन दाँतों को बैसा ही निगल लेता है । द्वितीय और तृतीय वर्ष में गिर्जु के वाली स्थ दृष्टि निकल आते हैं । इससिये इस दो वर्ष की वस्था में धीरे धीरे अम्ल की मात्रा तथा भृत्योन्तर्मात्रि प्रकार वडाकर हीसेरे वर्ष के अन्ना से उसकी पूर्ण व्यापाहारी बना सकते हैं । परंतु अपरेन्द्रुन के साथ तापा भृत्योन्तर्मात्रि तापा वर्ष के अन्ना वर्ष के अन्ना से उसकी पूर्ण व्यापाहारी बना सकते हैं । इनमें अपरेन्द्रुन के साथ तापा भृत्योन्तर्मात्रि तापा वर्ष के अन्ना वर्ष के अन्ना से उसकी पूर्ण व्यापाहारी बना सकते हैं । इनमें अपरेन्द्रुन के साथ तापा भृत्योन्तर्मात्रि तापा वर्ष के अन्ना वर्ष के अन्ना से उसकी पूर्ण व्यापाहारी बना सकते हैं ।

हो सकता है । राबटे हृदीसन लिखते हैं—“दसवें महीने पश्चात् गिर्जु को दूध के अतिरिक्त रोटी कठौरह का कुछ भा वस्थाने के लिये देना चाहिए और तीसरा वर्ष ज्ञतम होने पश्चात् उम्रको युवा मनुष्य की तरह सर्व प्रकार का अस्थ देना चाहिये” । From about the tenth month onward something to chew should be given occasionally such as a rusk or a crust or a piece of sponge cake or stale bread and butter After the third year child should be fed much like a grown up person Lectures on diseases of children ॥ इससे या स्वरूप है कि सुखुत का भल आधुनिक मत के साथ विलुप्त मिलता है ।

पौड़िशसंस्तोरन्तरे भव्यं वयः । तस्य विकस्ये त्रुदिर्यायीयनं संपूर्णता द्वानिरिति । तथ, आविशाते वृद्धिः, आविशातो यौवनम्, आवत्यारिण्यतः सर्वं धात्रियन्दिद्यवल्यर्थार्थसंपूर्णता, अत ऊर्ध्वमीपतपर्ति द्वाणियवृत् संस्तिरिति ॥३४॥

(मध्यमायु—) सोलह वर्ष की अवस्था से लेकर भन्नर वर्ष की अवस्थापर्यंत मध्य वय होता है । उसके वृद्धि, यौवन, सर्पणीता और हातने ये भेद हैं । इनमें धीरे वर्ष की अवस्था तक (शरीर के बंग प्रत्येकों की) वृद्धि, तीस वर्ष की अवस्था तक यौवन, चालीस वर्ष की अवस्था तक सर्वं पातु इन्द्रिय, वय और धीर्य इनकी सर्पणीता और इसके उपरान्त संतर वर्ष की आयु तक सोहोडी योही हातनि (ज्ञति) होने लगती है ॥३४॥

बाल्यवय—चरकसंहिता में मध्यमय सात वर्ष की अवस्था तक लिखा है—मध्य पुन विशेषशामापार्विक्षिर्युपदिष्टम् । वृद्धि—शरीर की वृद्धि चरक में तीस वर्ष की अवस्था तक लिती है—विवर्गामनपातुगुणात्रिवृद्धैर्युपदिष्टम् । आधुनिक कल्पना के अनुसार शरीर की वृद्धि एक्सीवर्षं वयवस्था तक होती होती है । यहाँ वृद्धि का विशेष सम्बन्ध अस्थियों के साथ है । मासादि अन्य धातुओं की वृद्धि पश्चीमों साल के बाद भी हो सकती है ।

सप्ततेरस्वर्थं द्वीयामाणधात्रियन्दिद्यवल्यर्थोर्त्साह-महन्यहनि धर्लीपलितरालित्युपुष्ट यासत्वासम्भृ-निभिरपदवैरभिर्मूल्यमान सर्वकियास्तसमर्थं जीर्णांगारमियाभिर्युपमवसीदन्तं धूर्माचक्षते ॥३५॥

(एकावयसा—) सात वर्ष के उपरान्त जिसके मध्य घातु, इन्द्रिय, वय, धीर्य और वालमाह दिन दिव क्षीण हो रहा है, (लक्षा में कुर्तीर्य वह रही है, वाल सफेद या नट ही रहे हैं, लाली, शाय ग्राहि उपरान्तों से जो पीड़ित है, सब कायों में आर्गार्ह हो रहा है और मंस वरम्पे पर पुराने मकान की भर्ती लोंगि रहा है, ऐसे मनुष्य को यूद छड़ते हैं ॥३५॥

यत्कल्पय—एक में एकावयसा की मयोद्धा सात वर्ष से धीरे वर्ष तक लिखी है—अत एव बायुप्राप्तव ग्रन्थं गीर्णुप्यते वृत्तान्तम् (चरक) । मारतीय वालालों के गतानुसार

५ जाने से बलवान् नहीं होते ॥५१॥ देश के अनुसार त गुण आहार विहार निद्रादि वातों में व्यवहार करने के लिये देश के गुण होने पर भी देशजन्य रोग होने का नहीं होता ॥५२॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में जलवायुचिकित्सा (Climatic Adjustment) का तत्त्व वर्णन किया है । वा—(१) यथा । जलचर जीव बलयुक्त होने पर भी जमीन पर बलहीन जाते हैं, उस प्रकार—नक्ष: स्वस्थानमासाध गेन्ड्रमपि कर्त्तति । एव प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते ॥ (२) ‘रथलजा वा जलाः’ इस प्रकार भी अर्थ हो सकता है । त्वदेशे—अनुगुण-। यथा—आनूपोपचितः कक्षः । अन्यसिमन्—विरुद्धगुणदेशे । यथा—गलदेशे कुपितः कक्षः । छहणाचार्य तथा चक्रपाणिदत्त प्रथम कार्य रोगसंबंधी और द्वितीय श्लोकार्य दोपसंबंधी भानते—तुल्यगुणेशजातस्य रोगस्य विपरीतगुणे देशे सुचिकित्स्यतां यत्वाह—न तथेत्यादि । जलजा इति आनुदेशजाताः शीपदादयः । इल्लग्या । न केवल व्याधय एव पर विरुद्धदेशगता दुर्बल भवन्ति ननु दोषा अपि विरुद्धदेशप्रसिद्धिपिता न वलवन्त इत्याह—स्वदेशे यादि । (चक्र) । परन्तु इस प्रकार दोष और व्याधि या रोग थक्क करने की कोई आवश्यकता नहीं है । चिकित्सा की एष से दोनों एक ही होते हैं—दोष रोगशब्द लभते । (चरक) । अत्युदूषपौष्पम्य दोपसायमरोगता । (अष्टांगहृदय) । वास्तव में दोनों श्लोकार्थ में एक कल्पना है, और उस कल्पना को दुष्कृत्य करने के लिये ‘जलजा वा स्थलाहताः’ करके इत्यन्त दिया है । अर्थात् इस श्लोक का विस्तृत अर्थ इस प्रकार है—तुल्यगुण देश में संचित हुए दोष यानि रोग जितने बलवान् यानि दुरुपक्षम होते हैं, उतने स्वप्रतिकूलगुण देश में कुपित होने पर बलवान् नहीं होते । जैसे कि जलचर प्राणी जल में जितने बलवान् होते हैं, उतने जमीन पर नहीं होते । इसी तत्त्व के आधार पर देशवैपरीत्य सुखसाध्यता का एक लक्षण होता है—न च कालगुणस्तुल्ये न देशो दुरुपक्षः । (चरक) । देशप्रकृतिसात्मन्त्यर्थुपिरीतोऽचिरोत्थितः । (सुश्रुत) । अतुल्यदृष्ट्यदेश-रुपकृतिः पादसंपदि । (अष्टांगहृदय) । उचिते—देशगुण विपरीत गुण युक्त आहार विहारादि वातों में । इस व्यवहार को देशसात्म्य कहते हैं—देशानामामयानां च विपरीतगुणे गुणैः । सात्म्यमिळन्ति सात्म्यज्ञेष्ठितं ताथमेव च । (चरक) । तदेशस्य गुणे सति—प्रयेक देश के विशेष गुण होने पर भी । जैसे—जांगल देश के रौप्य औप्य इत्यादि गुण, आनूप देश के स्थिरता, शैत्य इत्यादि गुण । गुणशब्द से देश के समस्त धर्मों का भी ग्रहण होता है । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि किसी भी देश के उष्ण कैसे ही तीव्र क्यों न हों, यदि उनकी तीव्रता का विचार कर उतने प्रमाण में देशगुणविपरीत आहारविहार को मनुष्य अंगीकार करे तो उसको देशजन्य रोग से पीड़ित होने का कोई भी दर नहीं हो सकता ।

देशप्रकृतिसात्मन्त्यर्थुपिरीतोऽचिरोत्थितः ।

संपत्तौ भिषगादीनां यलसत्त्वायुषां तथा ॥५३॥

१ केवलः समदेहाम्भः सुखसाध्यतमो गदः ।

अतोऽन्यथात्वसाध्यः स्यात् कृच्छ्रो व्यामिश्रलक्षणः ॥

१० सात्म्ये तु, १० सात्म्यर्लविप०

(साध्यासाध्यविचार—) देश, प्रकृति, सात्म्य और ऋतु के विपरीत, नवीन, वैद्य आदि सामग्री से समृद्ध, बलसत्त्व और आयु से समृद्ध ॥५३॥ निरुद्धव, समदेह और समज्ञराजि युक्त रोगी का रोग अत्यन्त सुखसाध्य होता है । हन लक्षणों से विपरीत लक्षण युक्त असाध्य होता है और मिश्रलक्षण युक्त कृच्छ्रसाध्य होता है ॥५४॥

वक्तव्य—देशविपरीत—जांगल देश में कफरोगोत्पत्ति । प्रकृतिविपरीत—पित्तप्रकृति के रोगी में कफरोगोत्पत्ति । सात्म्यविपरीत—कदुसात्म्य मनुष्य में कफरोगोत्पत्ति । ऋतुविपरीत—शरद ऋतु में वातरोगोत्पत्ति । इनके सिवाय दूष्य वैपरीत्य भी सुखसाध्य का ही लक्षण है । यथा श्लेष्मा से रक्त की दुष्टि । कुछ रोगों में तुल्य दूष्यादिक सुखसाध्य का लक्षण होता है—ज्वरे तुल्यतुदोषतं प्रमेहे तुल्यदूष्यता । अचिरोत्थित—नवीन । रक्तगुलम पुराना सुखसाध्य होता है—रक्तगुले पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् । वलसत्त्वायुषाम्—‘संपत्तौ’ इति संबद्धते । वलसंपत्तियुक्त—सर्वौषधज्ञम् । सत्त्वसंपत्तियुक्त—पीड़ा सहन करने वाला । आयु की संपत्तियुक्त—यस्यायुस्तस्य सिध्यन्ति न सिध्यन्ति गतायुषि । समदेह—सममांसप्रमाणस्तु समसंहननो नरः । दृढेन्द्रियत्वाद् व्याधीनां न वलेनाभिभूयते ॥ भुत्तिपासातपसहः शीतव्यायामसहः । समपत्ता समजरः सममांसचयो भतः ॥ (चरक) । इन लक्षणों के सिवा चरकमतानुसार जो सुखसाध्य के लक्षण हैं, वे १९ वें सूत्र के वक्तव्य में दिये गये हैं । इन दोनों के अतिरिक्त वाग्मट में अर्मगत्व, युवावस्था और सूर्यादि ग्रहों की अनुकूल राशिस्थिति ये सुखसाध्य के अधिक लक्षण दिये हैं ।

क्रियायास्तु गुणालाभे क्रियामन्यां प्रयोजयेत् ।

पूर्वस्यां शान्तवेगायां न क्रियासंकरो हितः ॥५५॥

(क्रियासंकरनिषेध—) एक क्रिया के प्रयोग से यदि गुण की प्राप्ति प्रतीत न हो तो उस क्रिया का वेग शान्त हो जाने पर दूसरी क्रिया प्रारंभ करनी चाहिये । परन्तु दोनों क्रियाओं का प्रयोग एक समय करना हितकर नहीं है ॥५५॥

वक्तव्य—शान्तवेगायाम—पूर्व क्रिया का शरीर पर जो परिणाम होता है, वह नष्ट हो जाने पर दूसरी ओपथि प्रारंभ करनी चाहिये । क्योंकि पहिली ओपथि की क्रिया दूसरी ओपथि की क्रिया में वाधा उत्पन्न कर सकती है । क्रियासंकर—एक ही काल में दोनों का प्रयोग ।

गुणालाभेऽपि सपदि यदि सैव क्रिया हिता ।

कर्तव्यैव तदा व्याधिः कृच्छ्रसाध्यतमो यदि ॥५६॥

(इस प्रकार अन्य क्रिया प्रारंभ करने पर) रोग अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य होने के कारण यदि तुरन्त गुण की प्राप्ति प्रतीत न हो तो वही क्रिया, यदि (उस प्रकार के रोगों में) लाभकर हुआ करती हो तो, (कुछ दिनों के लिये) जारी रखनी चाहिये ॥५६॥

वक्तव्य—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि ओपथि के परिवर्तन में कभी कभी जो उत्तावली की जाती है, वह कम से कम कृच्छ्रसाध्य और चिरकारी रोगों में करनी उचित नहीं । कारण यह है कि इन रोगों में ओपथि का शरीर पर परिणाम

परिचये हि सहस्राद् भूम्योभवन्स्व क्षम द्वारुर्भिद्यन्मत्तिं एव
मन्त्रम् । (चक्र) ।

सत्ये तु व्यसनाभ्युदयकियादिश्यानेष्विहृव-
करम् ॥४३॥

सत्यवाद् सहृदे सर्वे संस्तम्भ्यात्मानमात्मना ।

राजसः स्तम्भ्यानाऽभ्यैः सहृदे नैव तामसः ॥४४॥

(सत्यविचार—) सत्यगुण विरति के, उक्तर्णे के तथा (धैर्य भेदनादि विकिसोंपादी विविध) कियाज्ञों के समय पर (मन को) अव्याकुल रखना है ॥४३॥ सत्यगुणमुक्त मनुष्य स्वयं अपने मन को दृढ़ करके (शारीरिक और मानसिक) सर्वे दुःख को सह सकता है, रजोगुणमुक्त मनुष्य दूसरों से सहारा मिलने पर दुःख को सह सकता है वीर तमोगुण युक्त मनुष्य (कियी भाँति भी) नहीं सह सकता है ॥४४॥

यत्तद्वय—सत्त्व—अधिकरणकाल । अविकल्प—दुःख के समय मन को अनुद्विप्त स्वने बाला, सुख के समय इर्ष रहित करने बाला और शारीरिक रीढ़ा के समय स्वानि रहित रखने बाला ।

सात्यानि तु देशकालजात्युतुरोगद्यायामोदक-
दिवास्वप्रमृतीनि प्रहृतिविद्वद्यान्यपि यान्य-
वायकराहि भवन्ति ॥४५॥

यो रसः कल्पते पथ्य मुख्यायैवे नियेवितः ।
स्यायामजातमन्यद्वा तत् सात्यमिति निर्दिश्येत् ॥४६॥

(सात्यम्—) देण, काढ, जाति, क्षु, रोग, व्यायाम, दृढ़, दिवास्वप्न इत्यादि जो प्रहृति विद्वद् होने पर भी रीढ़ाकर नहीं होते, उन्हें सात्यम् कहते हैं ॥४५॥ जो सेवन किया हुआ रस, व्यायाम या कल्प एवं प्रथम विस्ते मुख के लिये कारण होता है, वह उपर्युक्त लिये साथम् कहालाता है ॥४६॥

यत्तद्वय—सत्त्वम्—तत् ब्रह्मना मरवि ही तत्त्वम् । सत्त्वे नम हन् देशस्तुत्युते । सत्त्व नम तद्, ब्रह्म त्वंतेऽन्ते-
तेऽन्तमनुत्तरे । (चक्र) । यह सत्त्वम् देशकालादि भेद से कहै प्रकार का होता है । विवित्यत्व—जन्म से ही सेवन करने के कारण सुखकर । यथा—‘ब्रह्मस्त्वत् तत्त्वस्तुत्युतेऽन्तम-
तीनि’ । करुणत्वम्—दत्ततत्र मे स्वप्नहृत् अन्याय में जो खत्तुचरों पर्यन्त की गई है, वह खत्तुसाम्य है । देशन्यत्व—
देशनमन्यन् च विरित्युप एव । सत्यमित्यन्ति सत्यत्वये
दिति चतुर्वेद च ॥ (चक्र) । योगसत्त्व—जन्मतो द्वुष्ट्विविरीति
विविरीत्येवरित्येविक्षिप्तस्तुत्युतेरोद्वित्युत्युत्य
तद् ॥ (अठागांसेप्राप्त) । अद्वयन्यत्व—शारीरिक मानसिक
और वाचिक सुखकर जैते । उद्देश्यत्व—साधेव द्वयों का
साध्यम् । दिवास्वप्नसाम्य दिव में सेवन भी रात्रि में आग रथ इनका साध्य—निदा लभ्यते हैं उपर्युक्त च दृढ़ का दिव । च दृढ़ सेवन दीर्घ ब्रह्मना रन्ति बनते ॥ (मुख्य) । यद्विविद्य—
सेव एवं प्रथम का ही प्रहृतिविद्य बाणि एकान्तादित्वक होता ।

वदा—विदा सेवन करने वाले की जीव बाणादिक सत्यविद्
१ अदेशकरम्, २ अस्त्रमवद्, ३ द्वयात्मवद् । ४ द्वयदेविमेवित्

प्रहृति उससे विद्य होता । यथा—वातिक प्रहृति के स्वसाहार इत्यादि । मे सद प्रकार के विद्य पदार्थ अस्यात् सात्यम् ही बाते हैं ।

प्रहृति भेषजं चोपरिद्याद्यामः ॥४७॥

प्रहृति और भेषज आगे बर्यन कहेंगे ॥४७॥

महत्व—प्रहृति यारीरसात् के चौथे अध्याय में भेषज भूमिप्रिविमागादि स्वध्यान के अन्तिम अस्यात् बर्यन किया गया है ।

देशस्त्वानूपो जाह्नवः साधारण इति । त यद्विकनिष्ठोद्वितनदीर्घवद्याद्वानो मृदुशीतानिलो च महापर्वतवृक्षो मृदुसुक्तमारोपवितशरीरमुत्प्रायः कफवातरोगभूमिप्रियुष्मानुपः ॥४८॥

(सूनिमेद—) आनन्, ऊंगल और साधारण तीन भूमि का देण होता है । उनमें से जहाँ पानी बहुत हो, भूमि भी नीरी और ढींकी हो, बहुत नदी नाले हीं, बहुत वर्ष । कोमल और शीतल पवन चलता हो, बहुत और बड़े । एवं तथा वृक्ष हीं, जहाँ के अधिकस्त्रय सोग सद्, सुख और पुष शरीर बाले हीं और जहाँ कफ तथा बात के इंधिक हीं, उसे आनन् देण कहते हैं ॥४९॥

आकाशसमः प्रविरलास्पकट्टकिवृक्षप्रायोऽद्य वर्षमध्यवर्षोद्यानोदकशाय उच्छवारुषावातः प्रवि-
रलास्पर्यैः रिप्रक्षशरीरमनुभ्यप्रायो शातपिण्डे
रोगभूमिप्रियुष्मानुपः जाह्नवः; उभयदेशलक्षणः साधारण इति ॥५०॥

आकाश के समान (जो दूंबाई और नीराई रहित सम हो, जहाँ के दृश्य अत्यन्त विरल होंटे और फैटक्टुक हीं, जो वर्ष बहुत दोही होती हो, जहाँ भरने वाले इव आदि में पान योहा हो, जहाँ उम्ब और ढोकुल होता बहुत जलती है जहाँ छोटे होंटे पहाड़ क्षिति होते हीं, जहाँ अधिकसूक्ष्म अनुभव हो और हृष्य शरीर बाले हीं हों तथा जहाँ वार और वित रोग अधिक होते हैं, वह देण को आंगन देण कहते हैं । जहाँ दोनों के लक्षण पाये जाते हीं, वह साधारण देण कहता है ॥५१॥

भवन्ति चात्र—

समां साधारणे यसाच्छ्वीतवर्योपमादताः ।
द्वोपाणां समता जन्मोस्तस्त्वाधारणो मतः ॥५०॥

(साधारणभूमि—) द्वृकि साधारण देण में शीत, धूर्म, गरमी और बायु सम होते हैं, तथा सेवनों के द्वारा साधारणता में होते हैं, इससिये वह देण साधारण कहता है ॥५०॥

न तथा बलवन्तः स्वुज्जेलजा या स्वलाहृताः ।

स्वदेशो निवित्तादोपा अन्यसिन्द्रकोपमादताः ॥५१॥
उचिते यथामानस्य नातित देशहतं भयम् ।

आद्वारस्यमवेषादौ तदेशस्य गुणे सति ॥५२॥

स्वेष में संक्षिप्त हृष्य दोष अन्य देण में कुपिन होने पर उतने ब्रह्माद् नहीं होते, जैसे कि अन्धवर और अमीन

जाने से बलवान् नहीं होते ॥५१॥ देश के अनुसार तु गुण आहार विहार निद्रादि वातों में व्यवहार करने के लिये देश के गुण होने पर भी देशजन्य रोग होने का नहीं होता ॥५२॥

बक्तव्य—हन श्लोकों में जलवायुचिकित्सा (Climatic Treatment) का तत्त्व वर्णित किया है । वा—(१) यथा । जलचर जीव बलयुक्त होने पर भी जमीन पर बलहीन जाते हैं, उस प्रकार—नकः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्त्ति । व पञ्चुतः स्यानाञ्छुनापि परिमूरते ॥ (२) ‘स्थलजा वा जलाः’ इस प्रकार भी अर्थ हो सकता है । स्वदेशे—अनुगुण-। यथा—आनपौष्टिकः कफः । अन्यस्मिन्—विरुद्धगुणदेशे । यथा—स्वदेशे कुपितः कफः । डलहणाचार्य तथा चक्रपाणिदत्त प्रथम कार्ध रोगसंबंधी और द्वितीय श्लोकार्ध दोपसंबंधी मानते—तुल्यगुणदेशजातस्य रोगस्य विपरीतगुणे देशे सुचिकित्सात्त्वाह—न तथेत्यादि । जलजा इति आनुप्रदेशजाताः शीषदादयः । त्वया । न केवल व्याधय एव परं विरुद्धदेशगता दुर्वला भवन्ति नु दोषा अपि विरुद्धदेशप्रामिकिप्राप्ता न बलवन्त इत्याह—स्वदेशे गदि । (चक्र) । परन्तु इस प्रकार दोष और व्याधि या रोग शक्ति करने की कोई आवश्यकता नहीं है । चिकित्सा की ऐसे दोनों एक ही होते हैं—दोषा रोगशब्द लभन्ते । (चरक) । अतु दोषवैषम्यं दोपसाम्यमरोगता । (अष्टांगहृदय) । वास्तव में नैनों श्लोकार्ध में एक कल्पना है, और उस कल्पना को त्रुट्टिष्य करने के लिये ‘जलजा वा स्थलाहृताः’ करके दृष्टान्त देया है । अर्थात् इस श्लोक का विस्तृत अर्थ इस प्रकार है—तुल्यगुण देश में संचित हुए दोष यानि रोग जितने बलवान् गानि दुरुपक्षम होते हैं, उतने स्वप्रतिकूलगुण देश में कुपित गिते पर बलवान् नहीं होते । जैसे कि जलचर प्राणी जल में जितने बलवान् होते हैं, उतने जमीन पर नहीं होते । इसी तत्त्व के आधार पर देशवैपरीत्य सुखसाध्यता का एक लक्षण होता है—न च कालगुणस्तुल्यो न देशो दुरुपक्षमः । (चरक) । देशप्रकृतिसात्म्यतुविपरीतोऽचिरोत्थितः । (सुश्रुत) । अतुल्यदृष्ट्यदेशतुविप्रकृतिः पादसंपदि । (अष्टांगहृदय) । उचिते—देशगुण विपरीत गुण सुकृ आहार विहारादि वातों में । इस व्यवहार को देशसाम्य कहते हैं—देशानामामयानां च विपरीतगुणं गुणः । सात्यमिच्छिन्ति सात्यक्षेत्रिष्ठिं चाधमेव च । (चरक) । तदेशस्य गुणे सति—प्रत्येक देश के विशेष गुण होने पर भी । जैसे—जांगल देश के रौप्य और प्रयोग हृत्यादि गुण, आनूप देश के खिंचवता, शैत्य हृत्यादि गुण । गुणाशब्द से देश के समस्त धर्मों का भी ग्रहण होता है । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि किसी भी देश के उपर्युक्ते ही तीव्र कर्यों न हों, यदि उनकी तीव्रता का विचार कर उतने प्रमाण में देशगुणविपरीत आहारविहार को मनुष्य अंगीकार करे तो उसको देशजन्य रोग से पीड़ित होने का कोई भी ढर नहीं हो सकता ।

देशप्रकृतिसात्म्यतु विपरीतोऽचिरोत्थितः ।
संपत्तौ भिषगादीनां यलसत्त्वायुषां तथा ॥५३॥
कैवलः समदेहाभ्यः सुखसाध्यतमो गदः ।
धतोऽन्यथा त्वसाध्यः स्यात् कुच्छो व्यामिथलक्षणः ॥

(साध्यासाध्यविचार—) देश, प्रकृति, साम्य और क्रतु के विपरीत, नवीन, वैद्य आदि सामग्री से समृद्ध, बलसत्त्व और आयु से समृद्ध ॥५३॥ निरुद्रव, समदेह और समजठरात्रि युक्त रोगी का रोग अत्यन्त सुखसाध्य होता है । हन लक्षणों से विपरीत लक्षण युक्त असाध्य होता है और मिश्रलक्षण युक्त कुच्छसाध्य होता है ॥५४॥

बक्तव्य—देशविपरीत—जांगल देश में कफरोगोत्पत्ति । प्रकृतिविपरीत—पित्तप्रकृति के रोगी में कफरोगोत्पत्ति । सात्यविपरीत—कदुसात्य मनुष्य में कफरोगोत्पत्ति । क्रतुविपरीत—शरद क्रतु में वातरोगोत्पत्ति । हनके सिवाय दूष्य वैपरीत्य भी सुखसाध्य का ही लक्षण है । यथा शेषमा से रक की हुई । कुछ रोगों में तुल्य दूष्यादिक सुखसाध्य का लक्षण होता है—जरे तुल्यरुदोपत्वं प्रमेहे तुल्यदृष्ट्यता । अचिरोत्थित—नवीन । रक्षुगुलम पुराना सुखसाध्य होता है—रक्षुल्लेपुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् । वलसत्त्वायुषाम्—‘संपत्तौ’ इति संवन्धते । वलसंपत्तियुक्त—सर्वौषधक्षम । सत्त्वसंपत्तियुक्त—रीढ़ा सहन करने वाला । आयु की संपत्तियुक्त—यस्यायुस्तस्य सिद्धन्ति न सिद्धन्ति गतायुपि । समदेह—सममांसप्रमाणस्तु समसंहननो नरः । दृहेन्द्रियताद् व्याधीनां न वलेनाभिभूयते ॥ श्रुतिपासातपसहः शीतव्याधामसंसहः । समपक्ता समजः सममांसचयो मतः ॥ (चरक) । हन लक्षणों के सिवा चरकमतानुसार जो सुखसाध्य के लक्षण हैं, वे १९ वें सूत्र के बक्तव्य में दिये गये हैं । इन दोनों के अतिरिक्त वाग्भट में असर्मगत्व, युवावस्था और सूर्यादि ग्रहों की अनुकूल राशिस्थिति ये सुखसाध्य के अधिक लक्षण दिये हैं ।

क्रियायास्तु गुणालाभे क्रियामन्यां प्रयोजयेत् ।

पूर्वस्यां शान्तवेगायां न क्रियासंकरो हितः ॥५५॥

(क्रियासंकरनिषेध—) एक क्रिया के प्रयोग से यदि गुण की प्राप्ति प्रतीत न हो तो उस क्रिया का वेग शान्त हो जाने पर दूसरी क्रिया प्रारंभ करनी चाहिये । परन्तु दोनों क्रियाओं का प्रयोग एक समय करना हितकर नहीं है ॥५५॥

बक्तव्य—शान्तवेगायाम्—पूर्व क्रिया का शरीर पर जो परिणाम होता है, वह नष्ट हो जाने पर दूसरी ओषधि प्रारंभ करनी चाहिये । क्योंकि पहली ओषधि की क्रिया दूसरी ओषधि की क्रिया में वाधा उत्पन्न कर सकती है । क्रियासंकर—एक ही काल में दोनों का प्रयोग ।

गुणालाभेऽपि सपदि यदि सैव क्रिया हिता ।

कर्तव्यैच तदा व्याधिः कुच्छसाध्यतमो यदि ॥५६॥

(इस प्रकार अन्य क्रिया प्रारंभ करने पर) रोग अत्यंत कुच्छसाध्य होने के कारण यदि तुरन्त गुण की प्राप्ति प्रतीत न हो तो वही क्रिया, यदि (उस प्रकार के रोगों में) लाभकर हुआ करती हो तो, (कुछ दिनों के लिये) जारी रखनी चाहिये ॥५६॥

बक्तव्य—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि ओषधि के परिवर्तन में कभी कभी जो उतावली की जाती है, वह कम से कम कुच्छसाध्य और चिकित्सारी रोगों में करनी उचित नहीं ।

होने के लिये समय की आवश्यकता होती है। अत रोग का निदान करके पोष्य और हितकर ओपथि का प्रयोग तुरन्त लाभकारी न हो तो भी सात दिन तक कम से कम इसका अनुभव देखना आवश्यक है—देखियि फल न दूरते सापि समावृत्त प्रतिकर्त्त्वा । (दृह्णा) । तदृन्तर दूसरी किंवा कर सकते हैं ।

य पद्मेनं विधिमेकरुपं
विभूति कालादिवेशं धीमान् ।
स मृत्युपाशान् जगतो गदौधान् ।
हिन्ति भैरवज्यपरश्यथेन ॥१७॥
इति सुकृतसंहिता देवस्याने आत्मोपकर्मणीयो
नाम पञ्चविंशतिमोऽध्यायः ॥१८॥

जो बुद्धिमात् वैष्य भ्रष्टु, अपि हृष्टादि का विचार करके इस प्रकार की सुख विधि को चिकित्सा के समय यथारात्र अवहार में लाता है, वह सूखु के पाशस्वरूप जगत् के रोगसमूह को आपर्वण पुठार से देइन करता है ॥१७॥

वक्तव्य—एकरूप—सुख्य । दिमन्ति—कार्यकाले यथावद् अवहरनि । कालविहेन—अवचन्द्रादिविवेकेन । गदौध—विकारासमूह । परश्व—परशु या हुठार—भार लिना रामपरश वस्त्र समावयत्वलब्धवत्तारान् । (सुखंग) ।

इति भास्करार्थाणा गेविनदावेतेन विचित्राकामालुर्वेदहस्तवदीपिकाया द्वाषुष्टमासादीकामातुरोपकर्मणीयो नाम पञ्चविंशतिमोऽध्यायः ॥१८॥

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो भित्तिकमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथो-
धात्र भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से विषयक नामक अथाय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—निभक—विम्लापनादि शर्णों के आठ उपकर्मों का भित्ति व्याख्यान करने के कारण, अथवा वृण और शोक होनों के भित्ति योगों का व्याख्यान करने के कारण भित्ति कहते हैं ।

मातुलुहासिमन्थौ च भद्रदाम महीपथम् ।

अहिञ्चा वैय राजा च प्रलेपो धातशोफजित् ॥२॥

दूर्यो च नलमूलं च मधुकं चन्दनं तथा ।

शीतलाश्च गृणः सर्वे प्रलेपः पित्तशोफहृत् ॥३॥

आगन्तुजे रसज्जे च दोषं पथं विधिः स्मृतः ।

विधिविषयो विषये पित्तमोऽपि दित्तस्तथा ॥४॥

अप्रगन्धाऽध्यगन्धा च काला सरलया सह ।

पर्कैपिकाऽजर्जट्टी च प्रलेपः त्वेष्मशोफहृत् ॥५॥

एवे पाण्डुद्वयो लोधे पथ्या रिहेदीतकानि च ।

अनन्ता धेति सपोऽप्य साप्तिकशोफहृत् ॥६॥

विदोरा, अरणी, देवदार, शुष्ठी, अहिङ्का (कण्ठकपाल दृश), राजा इनका लेप वातशोष का हरण करता है ॥२॥ दूर्या, नरसल की जड़, मुलहटी, रक्त चन्दन शीतल गम की ओपथियाँ इनका लेप पित्तजन्य शोष का हरण करता है ॥३॥ आगन्तुज वशशोष और रक्त वशशोष में भी यह (पित्त के समान) विधि करनी चाहिये । और विषयम् योथ में विवानायक विधि तथा पित्तम् विधि हितकर होती है ॥४॥ बन की अजवायन, असगार, मैजिडा, अस्त्र त्रिवृत्, थेर त्रिवृत्, अजर्जटी (कर्कट शीती किंवा मेघशीती) इनका लेप करजन्य योग को हरण करता है ॥५॥ इन तीन वारों के (वातस्त्र, वित्तम् और कफम्) द्वारा तथा सोना, हरदे, मैतकल, अग्नतमूल (सालसा) इनका लेप साप्तिकशोष दूर करता है ॥६॥

वक्तव्य—चन्दन—रक्त चन्दन—कशादेशों प्राये सुख्ये रक्तचन्दनम् । (शार्वेय) । शीतलाश्च—कालादिविदि, उत्तलादि और न्ययोधादि गण ।

जिग्नाम्ललवणो धाते कोष्णः, शीतः पयोयुतः । पित्ते, चौषुः कपे क्षारमूलाद्यस्तप्तशान्तये ॥७॥

बात के शोष में छेद, अम्ल और लवण युक्त तथा फिलिद उण लेप करना चाहिये, पित्त के शोष में दूध में किया हुआ लेप करना चाहिये और कफ के शोष में गरम तथा क्षारकुड़ी और मूत्रघुड़ी लेप करना चाहिये । इससे इनकी शान्ति हो जाती है ॥७॥

शणमूलकशिर्प्रणां फलानि तिलसर्पणः । संकेतः किण्वमतसी दृष्ट्याण्युष्णानि पाचनम् ॥८॥

गण के शीज, मूली के शीज, सहजन के शीज, तिल, सरसी, सुगु, सुराबीज, सीसी तथा अन्य उच्च पद्धार्य इनका लेप शोष का पाचन करता है ॥८॥

वक्तव्य—मनु—वृत्तपुल्लाजादिशुरौ सत्तु प्रीतिर्दि ॥९॥ उच्च दृश—कुटु अगुरु प्रभृति । पाचन—इन द्रव्यों का उपयोग उपनाद (Poultice) के स्वरूप में करने से शोष जलदी पक जाता है ।

चिरविल्योऽग्निको दन्ती चित्रको हयमारकः । कपोताग्नप्रकृष्टाणां पुरीशाणि च दारयम् ।

चारद्रव्याणि वा याने शारो या दारणे परम् ॥१०॥ (दारण) — बहा करज, भाताक, दन्ती, चित्रक, क्लेन तथा कपोती शीष और कफ हनकी विद्वा वातशोष का दारण करता है । अथवा (मुष्कड्डुत्र पलायादि) शार द्रव्य च शार ये भी विद्वाय उन्हें में पाच समर्थ हैं ॥१०॥

द्रव्याणां पित्तिदलानां तु त्यस्तमूलानि प्रीतिनम् । यप्तोद्युम्पमागाणां चूर्णानि च समाप्ततः ॥११॥

पित्तिदलाणी की छाल या जड़ तथा यज, गेहूं और उड़ इनका शूल्य ये सहोप में (शर्णों के) पीड़न करने वाले होते हैं ॥११॥

वक्तव्य—पित्तिदल दृश—शाललि, सेप्तातक, बदर, नामकना इत्यादि द्रव्य । प्रीतिनम्—वातशोष दूरने के वाताद् १ रुद्रः ।

र्गत पूय को बाहर निकालने के लिये इन द्रव्यों को पीसकर के अतिरिक्त सर्व शोथ स्थान पर लेप किया जाता है । लेप ने के पश्चात् जो स्विचाव उत्पन्न होता है, उससे पीप बाहर छल आती है—पूर्यगर्भानुद्वारान् ब्रणान् मर्मगतानपि । यथोक्तैः नदन्वैः समन्तात् परिपीडयेत् ॥ शुभ्यमाणमुपेतत प्रदेहं पीडनं प्रति । वाभिसुद्वामाल्नेतथा दोषः प्रसिद्ध्यते ॥ (चिकित्सा अ. १) ।

एङ्गिन्यङ्कोठसुमनःकरवीरसुवर्चलाः ।
शोधनानि कषायाणि वर्गश्चारघवधादिकः ॥१॥

(शोधन कपाय—) शंखिनी (यवतिका), अंकोठ, लती, कनेर, सूर्यमुखी और आरघ्वधादि वर्ग के द्रव्य इनके गाय ब्रणशोधक होते हैं ॥१॥

वक्तव्य—त्रिशों का शोधन आठ प्रकार से किया जाता —१ कपाय, २ वर्ति, ३ कल्क, ४ घृत, ५ तैल, ६ रसक्रिया, अवचूर्णन, और ८ धूपन । प्रथम शंखिन्यादि द्रव्यों का कपाय वन (Lotion) के स्वरूप में ब्रण धोने के लिये प्रयुक्त होता । धोने के पश्चात् सूत्रवर्ति पर निष्ठ द्रव्यों का लेप करके वह तिं ब्रण के भीतर डाली जाती है ।

अजगन्धाऽजश्वुद्धी च गवाची लाङ्गलाह्या ।

पूतीकश्चित्रकः पाठा विडङ्गलाहरेणवः ॥१२॥
कदुचिकं यवक्षारो लवणानि मनःशिला ।

कासीसं त्रिवृता दन्ती हरितालं सुराष्ट्रजा ॥१३॥
संशोधनीनां वर्तीनां द्रव्याण्येतानि निर्दिशेत् ।

अजगन्धा, कर्कटश्वी, इन्द्रवास्ती, लांगली, बड़ा करंज, चित्रक, पाठा, विडङ्ग, बड़ी इलायची, रेणुका ॥१२॥ त्रिकदु (सोंठ, मिरच, पिपली), यवक्षार, सैन्धवादि पंच लवण, मनशिल, हरा तुतिया, त्रिवृत, दंती, हरिताल और फिटकरी ॥१३॥ संशोधन वर्तीयों (को ऊपर लगाने) के लिये ये द्रव्य उपयुक्त होते हैं ।

एतैरेवौषधैः कुर्यात्कल्कानपि च शोधनान् ॥१४॥

कासीसकदुरोहिण्योर्जातीकन्दहरिदियोः ।

पूर्वोद्दिष्टेषु चाङ्गेषु कुर्यात्तैलघृतानि वै ॥१५॥

इन (अजगन्धादि) द्रव्यों से ही शोधनकल्क करने चाहिये ॥१४॥ कासीस, कदुकी, चमेली की जड़ और हल्दी इनके काथ और कल्क में तैल अथवा घृत पकाकर तैयार करना चाहिये ॥१५॥

वक्तव्य—पूर्वोद्दिष्टेषु चांगेषु—संशोधन के लिये पूर्वोक्त निर्दिश कल्क और काथ में—यत्राधिकरणेनोक्तिं प्यात् स्नेह-विवैषै । तैवै कल्कनिर्याविधेने स्नेहवादिना ॥ कल्काचतुर्गुणः लेहः स्नेहात् कायथश्चतुर्गुणः ॥-

अर्कोत्तमां सुनुहीक्षीरं पिष्ठा क्षारोत्तमानपि ।

जातीमूलं हरिदेवे कासीसं कदुरोहिणीम् ॥१६॥

पूर्वोद्दिष्टानि चान्यानि कुर्यात् संशोधनं घृतम् ।

आक की जड़, त्रिफला (उच्चमा), सेहुन्ड का धूध, (मुक्क, पलाश, कुटज, अश्वकर्णादि) क्षारध्रेष्ठ द्रव्य, जातिमूल, हल्दी और दारु हल्दी, कासीस, कदुकी ॥१६॥ और

१ सुधार्षीर् ।

पूर्वोक्त शोधनवर्तिनिर्दिष्ट द्रव्यों को पीसकर उनमें संशोधन घृत साधित करे ।

मयूरको राजवृद्धो निम्बः कोशातकी तिलः ॥१७॥
चृहती करटकारी च हरितालं मनःशिला ।
शोधनानि च योज्यानि तैले द्रव्याणि शोधने ॥१८॥

अपामर्ग, अमलतास, निम्ब, कोशातकी, तिल ॥१७॥ बड़ी कट्टी, छोटी कट्टी, हरिताल, मनशिल और अन्य (शोधनवर्तिनिर्दिष्ट) शोधन द्रव्य इनका उपयोग शोधन द्रव्य के लिए करना चाहिये ॥१८॥

कासीसे सैन्धवे किष्वे वचायां रजनीद्वये ।

शोधनाङ्गेषु चान्येषु चूर्णं कुर्वात् शोधनम् ॥१९॥

कासीस, सैन्धव, सुराधीज, वच, हल्दी, दारु हल्दी तथा अन्य शोधन द्रव्य लेकर उनसे शोधन चूर्ण बनावे ॥१९॥

वक्तव्य—कासीसे सैन्धवे इत्यादि—ये सब सप्तमी के प्रयोग घटकतानिर्दिशनार्थ प्रयुक्त हुए हैं ।

सालसारादिसारेषु पटोलत्रिफलासु च ।

रसक्रिया विधातव्या शोधनी शोधनेषु च ॥२०॥

(रसक्रिया—) सालसारादि गण के द्रव्य, पटोल, त्रिफला तथा अन्य शोधक द्रव्य इनसे ब्रण शोधन के लिये रसक्रिया करनी चाहिये ॥२०॥

वक्तव्य—रसक्रिया—अष्टगुण या पोडशगुण पानी डाल कर उसका अष्टमांश या पोडशांश काथ बनाया जाता है । तत्पश्चात् फिर उस काथ को काकनी या चाशनी की भाँति अन्धे से गाढ़ा बनाया जाता है । शोधनेषु—शोधनाङ्गेषु ।

श्रीविष्टके सर्जरसे सरले देवदारुणि ॥

सारेष्वपि च कुर्वात् मतिमान् व्रणधूपनम् ॥२१॥

(धूपन द्रव्य—) श्रीविष्टक (गुग्गुल-सरलनिर्यासि या तार्पिन), राल, सरल वृक्षत्वचा, देवदार और सालसारादि द्रव्य इनके धूर्णे से त्रुद्धिमान् वैद्य ब्रण का धूपन करे ॥२१॥

कषायाणमनुष्णानां त्रुक्षाणां त्वक्षु साधितम् ।

श्रृतं शीतं कपायं वा रोपणार्थेषु शस्यते ॥२२॥

सोमामृताश्वगन्धासु काकोल्यादौ गणे तथा ।

शीरिग्रोहेष्वपि च वर्तीयो रोपणाः स्मृताः ॥२३॥

(रोपण द्रव्य—) अनुष्णा वीर्य और कसैले वृक्षों की छाल से साधित काथ या शीत कपाय ब्रण रोपण के लिये प्रशस्त होता है ॥२२॥ सोम बनस्पति (Sarcostemma Bievistam), गिलोय, असगंध, काकोल्यादि गण के द्रव्य तथा शीरी वृक्षों के अंकुर इनके कल्क से लिसत्वर्ति ब्रण का रोपण करने वाली होती है ॥२३॥

वक्तव्य—कपायाणमनुष्णानाम्—न्ययोध, औंडुवर, हृत्यादि अनुष्णा और दयाय वर्ग के वृक्षों की छाल से । शीत-कपाय—द्रव्यादापोथिताव तीव्रे तत्पुनर्निशि संस्थितात् । कपायो योद्भिन्निर्याति स शीतः समुदाहतः ॥ शीरिष्टाः—अश्वयोद्भुवरुष्वक्षवपिल-संजिताः । पञ्चाने शीरिणो वृक्षाः समाख्याता विनक्षणैः ॥ (अरण्णदत्त) ।

समझा सोमसरला सोमबलकः सचन्दनः ।

काकोल्यादिश्च कल्कः स्यात् प्रशस्तो व्रणरोपणे ॥२४॥

होने के लिये समय की आवश्यकता होती है। अतः रोग का निदान करके योग्य और हितकर ओपरिक का प्रयोग चन्दन लाभकारी न हो तो भी सात दिन तक कम से कम इसका अनुभव देखना आवश्यक है—यस्तापि फल न दृश्यते साप्ति सत्तराव प्रणिकर्त्त्वा । (डटहण)। तदनन्तर दूसरी किया कर सकते हैं।

य एवमेन विधिमेकरूपं
विभूतिं कालादिव्यशेन धीमान् ।
स मृत्युपाशान् जगतो गदौधान् ।
द्विमत्ति भैपञ्चयपरथ्यथेन ॥१७॥
इति द्वृक्षुष्टाहितायां द्वृक्षुष्टाने आतुरोपकर्मणीयो
नाम पञ्चत्रिंशतोऽध्याय ॥१८॥

जो मुद्रिमान् वैद्य अस्तु, अपि हृष्णादि का विचार करके इस प्रकार की मुख्य विधि को विकल्पस के समय पदाराज्ञ व्यवहार में हाता है, वह सूखु के पायासवृक्ष जगत् के दोगम्भु को श्रीपथरूप कुठार से छेदन करता है ॥१७॥

यक्तव्य—एकत्र—सुख्य । विभूति—कार्याङ्को यथावद् व्यवहृति । कालादिव्यशेन—कर्तव्यव्यादिविवेकेन । गदौध—विकारसमूह । परथ्य—परसु या कुठार—पार्ति शिंश रामपरथ भृत्य समावयव्युत्पत्तप्रताराम् । (सूखुर्वं) ।

हिति भास्तुरामेणा गेविद्वाप्तेन विभिन्नायामात्मुद्वेष्टिरथस्तीकियाया सुक्षुभाग्नीक्यामात्मुद्वेष्टिकर्मणीयो नाम पञ्चत्रिंशतोऽध्याय ॥१९॥

पट्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

व्यथातो मिथ्यकमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथो-
च्च भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से मिथ्यक नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यक्तव्य—मिथ्यक—विमलापानादि घोणों के बाठ उपकर्मों का मिथ्य व्याख्यान करने के कारण, अथवा छण और शोफ दोनों के मिथ्य घोणों का व्याख्यान करने के कारण मिथ्यक कहते हैं।

मातुलुक्षिमन्थो च भद्रदारु महीपथम् ।

अहिद्वा चैव राजा च भ्लेषो वातशोफजित् ॥२॥

दूर्वा च नलमूलं च मधुकं चन्दनं तथा ।

शीतलाद्य गण्यः सर्वे भ्लेषोः पित्तशोफहृत् ॥३॥

आगन्तुजे रक्तजे च होय एव विधिः सूक्ष्मः ।

विधिपिण्डो विपत्ते पित्तशोफहृति हिततथा ॥४॥

अजगन्धाऽध्वरगन्धा च काला सरलया सदा ।

एकैपिकाऽजश्वी च भ्लेषोः नेष्पशोफहृत् ॥५॥

एते यांगुलयो लोधं परथा पिरेत्तीतकानि च ।

अनन्ता चेति लप्ते प्रये साम्रिपातिकणोफहृत् ॥६॥

विजोरा, अरणी, देवदारु, शुण्डी, अहिद्वा (कण्ठका वृक्ष), राजा इनका ऐप वातशोफ का हरण करता है ॥ द्वारा, नरसल की जड़, मुलदी, रक्त चन्दन और शीतल ग की ओपरिकी इनका ऐप पित्तजन्य शोष का हरण करता ॥७॥ आगन्तुज व्यशोप और रक्त व्यशोप में भी य (पित्त के समान) विधि करनी चाहिये । और विषज्ञ शोष में विषनायक विधि तथा पित्तज्ञ विधि हितकर होती ॥८॥ बन की अजवायन, असंधि, मंजिष्ठा, मस्त्य त्रिपूर, विशृंग, अजश्वी (कर्कट घोणी किंवा मेषघोणी) इनका है कफजन्य शोष को हरण करता है ॥९॥ इन तीन सांतों (वातम, पित्तम और कफम) द्रव्य तथा सोष, हरदे, मैनक अनन्तमूल (सालमा) इनका ऐप साम्रिपातिक शोष द करता है ॥१०॥

यक्तव्य—चन्दन—रक्त चन्दन—काशायलेयोः प्रायो द्वृक्ष रसक्वचनम् । (शारीर्धा) । शीतलाम—कालोद्वादि, दसलाम और न्यग्रोधादि गण ।

क्षिरधामललवरणो याते कोण्णः, शीतः पयोयुतः । पित्ते, चोषणः कफे द्वारमुत्राद्वयस्तत्रशान्तये ॥

याते के शोष में छेद, अस्त्र और लवण दुक्ष तथा किंवि उणा ऐप करना चाहिये, पित्त के शोष में दृष्टि में किंवा हुड़ ऐप करना चाहिये और कफ के शोष में गरम तथा जारायू-और मूर्चबहुल ऐप करना चाहिये । इससे इनकी शान्ति ह जाती है ॥१॥

शारुमूलकशिश्रूणां फलानि तिलसर्पणः । संत्वतः किण्वयमतसी द्रव्याणुयुष्णानि पाचनम् ॥

शण के थीज, सूक्ष्मी के थीज, सहजन के थीज, तिल, सरसी सत्तु, सुरावीज, सीसी तथा अन्य उणा पदार्थ इनका ऐप भ शोष का पाचन करता है ॥१॥

यक्तव्य—मत्स्तु—पवतणुलाजादिर्जूनैः सत्तु प्रीतितः । उण द्रव्य—कुठु अगुरु प्रसूति । पाचन—हृन द्रव्यों का उपयोग डपलाह (Poultice) के स्वरूप में करने से शोष जल्दी पढ़ जाता है ।

विरविस्त्वोऽस्त्रिको दन्ती वित्रको ह्रयमारकः । कपोतगृधकङ्गाणो पुरीपणि च दारणम् ॥१॥

क्षारद्रव्याणि वा यानि हारो वा दारणं परम् ॥२॥

(दारण—) बदा करज, भहातक, दस्ती, विश्रक, कोर तथा करोत मीथ और कफ इनकी विद्वा व्यशोप का दारण करती है । अथवा (मुक्कहुट्ट लागादि) ज्वार श्रेष्ठ या जार मे भी विद्वरण छते में गरम समर्थ हैं ॥१॥

द्रव्याणां पिच्छिलानां तु त्वद्वृक्षलानि प्रीतिनम् ।

१. निर्दीकरणम् । २. निर्दीकरणम् । ३. निर्दीकरणम् । ४. निर्दीकरणम् । ५. निर्दीकरणम् । ६. निर्दीकरणम् । ७. निर्दीकरणम् । ८. निर्दीकरणम् । ९. निर्दीकरणम् । १०. निर्दीकरणम् ।

यक्तव्य—पिच्छिल द्रव्य—शालमि, सेम्पानक, बदर, नागवला इत्यादि द्रव्य । प्रीतिनम्—व्यशोप द्रव्यों के प्राप्ताद् १ रक्त ।

अन्तर्गत पूर्य को वाहर निकालने के लिये इन द्रव्यों को पीसकर मुख के अतिरिक्त सर्व शोथ स्थान पर लेप किया जाता है। लेप प्रयोग से के पश्चात् जो खिचाव उत्पन्न होता है, उससे पीप वाहर निकल आती है—पूर्यगर्मानणुद्वारान् व्रणान् मर्मगतानपि। यथोक्ते: पीडनद्रव्यैः समन्तात् परिणिषेत् ॥ शृण्यमाणमुपेतेत् प्रदेहं पीडनं प्रति। न चाभिसुमुदालिपेत्या दोषे: प्रसिद्ध्ये ॥ (चिकित्सा अ. १) ।

शङ्खिन्यङ्कोठसुमनःकरवीरसुवर्चलाः ।

शोधनानि कथायाणि वर्गश्चारघ्वधादिकः ॥११॥

(शोधन कपाय—) शंखिनी (यवतिका), अंकोठ, मालती, कनेर, सूर्यमुसी और आरघ्वधादि वर्ग के द्रव्य इनके कपाय व्रणशोधक होते हैं ॥११॥

वक्तव्य—व्रणों का शोधन आठ प्रकार से किया जाता है—१ कपाय, २ वर्ति, ३ कल्क, ४ धूत, ५ तैल, ६ रसक्रिया, ७ अवचूर्णन, और ८ धूपन। प्रथम शंखिन्यादि द्रव्यों का कपाय धावन (Lotion) के स्वरूप में व्रण धोने के लिये प्रयुक्त होता है। धोने के पश्चात् सूत्रवर्ति पर निष्ठ द्रव्यों का लेप करके वह वर्ति व्रण के भीतर डाली जाती है ।

अजगन्धाऽजश्टुङ्गी च गच्छादी लाङ्गलाह्या ।

पूर्तीकश्चित्रकः पाठा चिङ्गज्ञैलाहरेणवः ॥१२॥

कटुविकं यवक्षारो लवणानि मनःशिला ।

कासीसं त्रिवृता वर्ती हरितालं सुरापूजा ॥१३॥

संशोधनीनां वर्तीनां द्रव्याण्येतानि निर्दिशेत् ।

अजगन्धा, कर्कटश्चंगी, इन्द्रवत्ताल्पी, सांगली, वडा करंज, बेत्रक, पाठा, चिङ्गज्ञ, वडी हलायची, रेणुका ॥१२॥ त्रिकटु सौंठ, मिरच, पिपली), यवक्षार, सैन्धवादि पंच लवण, मिशिल, हरा तुतिया, त्रिवृत, दंती, हरिताल और फिटकरी ॥१३॥ संशोधन वर्तीयों (को ऊपर लगाने) के लिये ये द्रव्य प्रयुक्त होते हैं ।

पत्तैरेचौप्रधैः कुर्यात्कलकानपि च शोधनान् ॥१४॥

कासीसकटुरोहिण्योर्जातीकन्दहरिद्रयोः ।

पूर्वोद्दिष्टेषु वाङ्गेषु कुर्यात्तेलघृतानि चै ॥१५॥

इन (अजगन्धादि) द्रव्यों से ही शोधनकल्क करने चाहिये ॥१४॥ कासीस, कटुकी, चमेली की जड और हलदी इनके काथ और कल्क में तैल अथवा धूत पकाकर तैयार करना चाहिये ॥१५॥

वक्तव्य—पूर्वोद्दिष्टेषु चांगौ—संशोधन के लिये पूर्वोक्त निर्दिश कल्क और काथ में—यवाधिकरणेतोक्तिर्गणे स्थात् स्नेह-सिंधि । त्रैव कल्कनिर्यूहविधेन स्नेहवादिना ॥ कल्काचतुर्गुणः स्नेहः स्नेहात् काथश्चतुर्गुणः ॥-

अर्कोत्तमां स्तुदीक्षीरं पिष्टा चारोत्तमानपि ।

जातीमूलं हरिद्रिद्वे कासीसं कटुरोहिणीम् ॥१६॥

पूर्वोद्दिष्टानि चाभ्यानि कुर्यात् संशोधनं धृतम् ।

आक की जड़, चिफला (उत्तमा), सेहुन्ड का दूध, (सुकक, पलाश, कुटज, अधकणादि) क्षारश्रेष्ठ द्रव्य, जाति-मूल, हलदी और दाढ़ हलदी, कासीस, कटुकी ॥१६॥ और

पूर्वोक्त शोधनवर्तिनिर्दिश द्रव्यों को पीसकर उनमें संशोधन धृत साधित करे ।

मयूरको राजवृक्षो निम्बः कोशातकी तिलः ॥१७॥

बृहती करटकारी च हरितालं मनःशिला ।

शोधनानि च योज्यानि तैले द्रव्याणि शोधने ॥१८॥

अपामार्ग, अमलतास, निम्ब, कोपातकी, तिल ॥१७॥ वडी कटी, छोटी कटी, हरिताल, मनशिल और अन्य (शोधनवर्तिनिर्दिश) शोधन द्रव्य इनका उपयोग शोधन द्रव्य के लिए करना चाहिये ॥१८॥

कासीसे सैन्धवे किएवे वचायां रजनीद्वये ।

शोधनादेषु चान्येषु चूर्णं कुर्वात शोधनम् ॥१९॥

कासीस, सैन्धव, सुरावीज, वच, हलदी, दाढ़ हलदी तथा अन्य शोधन द्रव्य ऐकर उनसे शोधन चूर्ण बनावे ॥१९॥

वक्तव्य—कासीसे दैन्यवे हत्यादि—ये सब ससमी के प्रयोग घटकतानिर्दीशनार्थ प्रयुक्त हुए हैं ।

सालसारादिसारेषु पटोलत्रिफलासु च ।

रसक्रिया विधातव्या शोधनी शोधनेषु च ॥२०॥

(रसक्रिया—) सालसारादि गण के द्रव्य, पटोल, त्रिफला तथा अन्य शोधन द्रव्य इनसे व्रण शोधन के लिये रसक्रिया करनी चाहिये ॥२०॥

वक्तव्य—रसक्रिया—अष्टगुण या पोडशगुण पानी डाल कर उसका अष्टमांश या पोडशांश काथ बनाया जाता है। तत्पश्चात् फिर उस काथ को काकवी या चाशनी की भाँति अभिसे गाढ़ा बनाया जाता है। शोधनेषु—शोधनादेषु ।

श्रीवैष्टके सर्जरसे सरले देवदारुणि ॥

सारेष्वपि च कुर्वात मतिमान् व्रणाधूपनम् ॥२१॥

(धूपन द्रव्य—) श्रीवैष्टक (गुग्गुल-सरलनिर्यास या तार्पिन), राल, सरल वृक्षत्वचा, देवदार और सालसारादि द्रव्य इनके धूपें से त्रुदिमान् वैद्य व्रण का धूपन करे ॥२१॥

कथायाणमनुष्णानां वृक्षाणां त्वश्चु साधितम् ।

शृतं शीतं कपायं वा रोपणार्थेषु शस्यते ॥२२॥

सोमामृताश्वगन्धासु काकोल्यादौ गणे तथा ।

क्षीरिप्ररोहेष्वपि च वर्तयो रोपणाः स्मृताः ॥२३॥

(रोपण द्रव्य—) अनुष्ण वीर्य और कसैले वृक्षों की छाल से साधित काथ या शीत कपाय व्रण रोपण के लिये प्रयुक्त होता है ॥२२॥ सोम वनस्पति (Sarcostemma Brevis-tigia), गिलोय, असरंध, काकोल्यादि गण के द्रव्य तथा क्षीरी वृक्षों के अंकुर इनके कल्क से लितवर्ति व्रण का रोपण करने वाली होती है ॥२३॥

वक्तव्य—कथायाणमनुष्णानाम—ग्रीष्मोध, औदुंवर, धूक इत्यादि—अनुष्ण और वनाय वर्ग के वृक्षों की छाल से । शीत-कपाय—द्रव्याद्वयेत्यितात् तेवे तत्पुर्निशि सत्यितात् । कपायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहतः ॥ क्षीरिवृक्षाः—अश्वत्येदुम्बरपुष्पवटपिल-संजिताः । पञ्चैते क्षीरिणी वृक्षाः समाल्याता विचक्षणैः ॥ (अस्त्वादत्त) ।

समङ्गा सोमसरला सोमवल्कः सचन्दनः ।

क्षीरिवृक्षाः समाल्याता विचक्षणैः ॥ (अस्त्वादत्त) ।

लज्जालु, सोमलता, सरल, खेतसदि (सोमलक—*Acacia Polycantha*), रक्तचन्दन और काकोल्यादि गण के द्रव्य इनका लक (लुगारी) गण का रोपण करने में प्रयत्न संहिता है ॥२४॥

पृथक्षूपण्योत्तमगुमा च हस्ति मालती सिता ।

काकोल्यादिव्य योज्यः स्थाद्विषज्ञा रोपणे घृते ॥२५॥

पृथक्षूपण्योत्तमगुमा लक (लुगारी) और दाढ़ लकी, जाती, मिश्री और काकोल्यादि गण के द्रव्य रोपण घृत बनाने के लिये वैष्ण द्वारा प्रयोग करने चाहिये ॥२५॥

कालानुसारायांगुरुणी हस्ति देवदारु च ।

प्रियहृदयव्य रोधं च तेले योज्यानि रोपणे ॥२६॥

तगर, अगुरु, हरिदा और दाढ़हरिदा, देवदारु और प्रियहृदय तथा सोय इनका उपयोग रोपणतील अनाने के लिये करना चाहिये ॥२६॥

कंक्षुका विफला रोध कासीसं ध्वणाण्ड्या ।

ध्याभ्यकर्णयोस्त्वच रोपणे चूर्णमिष्यते ॥२७॥

प्रियहृका सर्जरसः पुष्पकासीसंसेव च ।

त्वच्युर्णे धयं चैव रोपणायं प्रशस्यते ॥२८॥

कहुधान्य, दिक्षला, लोष, कासीय, गोरसमुदी, घव, राल घृत की छाल इनका चूर्ण रोपण करने वाला है ॥२९॥ (अथाय) विधेय, राल, पुष्प कासीय और घव घृत की छाल इनका चूर्ण मग रोपण के लिये प्रयत्न से है ॥२९॥

यत्कट्टय—उम्मलसीध—किंशु वीत, या खेत या उप्प वर्ष का कासीम—दिवीपे उम्मलसीधमधिनि च निन च तत् । (खमाला) । कासीस बुक्तुकीय बुक्तुकीयमिष्यति । देव विधिविनीत तु उम्मलसीधुम्मले ॥ (आवृत्तेप्रकाश) ।

स्वयु न्यग्रोधवर्णस्य प्रियलायास्तपैय च ।

रसकियां रोपणायं प्रियधीत ध्याक्रमम् ॥२९॥

स्वग्रोधादिर्णे के द्रव्यों की छाल और दिक्षला इनसे वयोग विधि (द्विवक्षीपीत विधि) के अनुसार वर्णोपय के लिये रसकिया करनी चाहिये ॥२९॥

भग्नामार्गोद्धयगच्छा च तालपत्री तुष्पर्चला ।

उत्तमादने प्रशस्यन्ते काकोल्यादिव्य यो गणः ॥३०॥ (सरगादनद्रव्य) मरामार्ग, अर्धांश, मुण्डी, बाही (अप्पा गृहीतने) तथा काकोल्यादिव्य (इनका देव) मारगर्वन च विधे (व्रद्य मे) प्रयत्न होता है ॥३०॥

वार्मीर्गं देवघर्वं विषयं तुष्परिन्दो गम शिना ।

कुमुदाटाण्डवपालनि तुष्परोमुकुलानि च ॥३१॥

एवं विरिहररेत्रे यातुचूर्णानि यानि च ।

मनोपूराधमांसेषु प्रशस्यनान्यप्यमादने ॥३२॥

(इनका द्रव्य) कांसी, देवघर्व, मुरार्गी, एकाग्र, अर्धांश, मुण्डी के भेदे वा कर्ष, विनिवित्ता ॥३२॥ विधि और कर्तव्य का अन तथा (हरिदारिदि) अन चानुजीव के १ विद्युता.

चूर्ण मे द्रव्य (गण के अतिवृद्धमासीन्द्रुतों का) अदमा करने के लिये प्रयत्न होते हैं ॥३२॥

समस्तं वर्गमध्ये वा यथालाभमध्यापि धा ।

प्रयुज्जीत भिपक्ष ग्राजो यथेहिष्टेषु कर्मसु ॥३३॥

इनि सुकृतमहितायां सूक्ष्माने विश्वाऽत्यायो नाम वृत्तिरात्मोऽत्याय ॥३३॥

बुद्धिमान वैष्ण (विमलापानादि) कार्यों मे विरिदि कि हुए सर्वां या आपे या उनमें से जो मिल सके उन द्रव्य का उपयोग योग्यता विधि से करो ॥३३॥

इनि भास्तुतामेवा योविन्दामवेन विरुद्धायामात्मुद्वेशस्त्रीपिक्ष्या सुकृतमार्गादिकाया मिक्षाऽत्यायो नाम वृत्तिरात्मोऽत्याय ॥३३॥

सप्तविंशत्तमोऽत्यायः ।

अथातो भूमिप्रविमागारीयमध्यायं व्याख्या-स्थाम । यथोदयाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अव एहसे भूमिप्रविमाग नामक अथाय का व्याख्यान करते हैं, कैसे भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यस्तद्य—भूमि की परीक्षा दो दृष्टि से की जाती है । पहली परीक्षा शीत, उष्ण, वर्षा आदि महामूर्तों के कार्यों के अनुसार होती है और दूसरी परीक्षा रंचमहामूर्तों के गुणों के अनुसार होती है । इस परीक्षा से ओपीष्यानि के गुणधर्म, इनकी तीव्रतायांत तथा प्रयत्नाप्रयत्नता जानने में तथा दोगिपरिज्ञान में सहायता होती है । इसलिये विकिसा में इसका उपयोग होता है । चरक मे लिखा है—तत् भूमिरेशा भातुरत्तिरात्मोऽत्मो लक्ष्मीपरिज्ञानोऽत्मो ।

भ्यश्वर्द्धरादमिष्यप्रयत्नमध्यमीक्षमशानायातननेष्टता-यतनसिकताभिरुपदातामनूपरामभूष्मरामद्वूरोदकां जिग्यां प्रयोद्दृष्टर्ती भूदीर्घस्थिरां समां एष्यां गोरी स्तो— या भूमिमोरधायं परीक्षेत ॥२॥

जो लिख, कंक, लक्ष्मी, लक्ष्मीता, लक्ष्मीक, लक्ष्मीन, लक्ष्मीन, देववाचन और वालू इत्यादि से उपत्यक न हो, जिपदी भित्ति लारुकु न हो, जो (नदी आदि समीर होने के कारण) कटने वाली न हो, जिसमें पानी बहुत गहरा न हो, जो विष्ट हो, जिसमें (धाम दूस आदि हमेणा) दगड़े हो, जो शुद्ध विष और समानव हो, जो काने सरोद वा लक वर्ष की हो, ऐसी भूमि दीर्घ महूल के सिंवे निरी, क्षय करे (नेत्र करके रंगी भूमि पर्यन्त कर) ॥२॥

तस्यो जातायपि इमिष्यप्रदायानापयपनद्वद्वत्-तोपसराधारमीर्गुपदामेकरम् सुष्टुं पृथ्यगाढ-मूलमुदीच्यां दीर्घप्रमादीतेर्यैपथभूमिपरीक्षा-पिरोपः शामान्यः ॥३॥

ग्रामाम्बुद्धमिनिरीक्षा—दररोह (ग्राम) भूमि मे रसप है और चूर्ण भी जो लड्डु मे न जाते हो, जिस पर लिख न है भूमिरिहरितीर्णय १०मेवाद्यता, १०मेव भूमि०

गिर गया हो, जो शख्स से न कटी हो, जो धूप से न मुरझा गई हो, जो बायु से न सूख गई हो, जो वाग से न जल गई हो, जो जल से न गल गई हो, जो अन्य वापति से न वैष्णवहुई हो, मार्ग में होने से जिसको उपसर्ग न पहुँचा हो, जो उत्तम रससुक्त और पुष्ट हो, ऐसी ओपधि को उत्तराभिमुख होकर ग्रहण करे । यह ओपधि और भूमि परीक्षा का सामान्य भेद वर्णन किया है ॥३॥

विशेषतस्तु तत्र अश्वमवती स्थिरा गुर्वीं श्यामा कृष्णा वा स्थूलवृक्षशस्यप्राया स्वगुणभूयिष्ठा; स्तिर्घा शीतलाऽऽस्त्रोदका क्षिण्डधशस्यतृणकोमल-वृक्षप्राया शुक्लाऽऽस्त्रगुणभूयिष्ठा; नानावर्णा लघ्वशमवती प्रविरलालपपाणहुवृक्षप्ररोहाऽऽस्त्रिगुणभूयिष्ठा; रुक्षा भस्मरासभवर्णा तनुरुक्षाकोटरालपरस-वृक्षप्राया अनिलगुणभूयिष्ठा; मृद्दी समा श्वभवत्यव्यक्तरसजला सर्वतोऽसारवृक्षा मद्वापर्वतवृक्षप्राया श्यामा चाकाशगुणभूयिष्ठा ॥४॥

विशेष भूमि परीक्षा—विशेष कर जो परथर वाली, स्थिर, भर्त्री, सांबली या काली तथा मोटे मोटे वृक्ष और धातु युक्त होती है, वह भूमि अपने (पृथ्वी के) गुण वाली होती है । जो स्त्रिय, शीतल, निकट जल वाली, स्तिर्घ गुण विशिष्ट धान्य और तृण युक्त, कोमल वृक्ष युक्त और खेतवर्ण होती है, वह भूमि जलतत्त्वप्रधान होती है । जो भार्ति भार्ति के रंग युक्त, छोटे छोटे परथर युक्त, कहर्ह कहर्ह छोटे छोटे खेतवर्ण वृक्ष और तृणकुर युक्त होती है, वह भूमि अस्तित्वप्रधान है । जो रुक्ष, भस्म या गर्वे के रंग वाली, जहाँ के अधिकांश वृक्ष पतले, रुखे, गद्धरयुक्त, थोड़े रस वाले होते हैं, वह भूमि बायुगुणप्रधान होती है । जो सृदु, समतल, विलयुक्त होती है, जहाँ रस और जल (अल्प होने के कारण) प्रकट नहीं होता है, जहाँ सर्वेन्द्र सारहीन वडे वडे वृक्ष होते हैं तथा जहाँ वडे वडे पहाड़ होते हैं और जो श्याम वर्ण होती है, वह भूमि आकाशगुणप्रधान होती है ॥४॥

अत्र केचिदाहुराचार्याः—प्रावृद्धपर्शिरद्वेमन्त-वसन्तत्रीप्मेषु यथासंख्यं मूलपत्रत्वकद्दीरसार-फलान्याददीतेति; तत्तु न सम्यक्, सौम्याग्रेयत्वाच्चगतः । सौम्यान्यौपधानि सौम्येष्वृत्प्रवाददी-प्रयाण्याग्रेयेषु, एवमव्यापश्चगुणानि भवन्ति । सौम्यान्यौपधानि सौम्येष्वृत्पुरुषीतानि सौम्यगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातान्यतिमधुरक्षिण्डधशीतानि जायन्ते । पतेन शेषं व्याख्यातम् ॥५॥

इस विषय में कई आचार्य ऐसे कहते हैं कि (सब ओपधियों की) जड़ प्रावृद्ध कर्तु में, पत्ती वर्षा कर्तु में, छाल गर्द कर्तु में, दूध हेमन्त कर्तु में, सार (काषान्तर्मृत परिणत अंश) वसन्त कर्तु में और फल श्रीम कर्तु में ग्रहण करने चाहिये । परंतु यह सत ठीक नहीं है, क्योंकि जगत् सौम्य और

आप्नोव (दो प्रकार का ही) होता है । इसलिये सौम्य (शीतवीर्य) ओपधियों को सौम्य कर्तुओं में और आप्नोव (उष्णवीर्य) ओपधियों को आप्नोव कर्तुओं में ग्रहण करना चाहिये । इस प्रकार (ग्रहण की हुई) ओपधियाँ निर्दोष गुणों से युक्त होती हैं । सौम्यगुणभूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई सौम्य कर्तु में ग्रहण की हुई सौम्य ओपधियाँ अत्यंत मधुर, स्त्रिय और शीतल होती हैं । ऐसे ही आप्नोव ओपधियों के संयंघ में समझना चाहिये ॥५॥

तत्र पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातानि विरेचनद्रव्याराददीत, अद्याकाशमारुतगुणभूयिष्ठायां वचनद्रव्याणि, उभयगुणभूयिष्ठायामुभयतो-भागानि, आकाशगुणभूयिष्ठायां संशमनानि, एवं वलवत्तराणि भवन्ति ॥६॥

विरेचन की ओपधियाँ पृथिवी और जलगुण भूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई ग्रहण करनी चाहिये । वचन की ओपधियाँ अमि, आकाश और धातुगुण भूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई ग्रहण करनी चाहिये । धामक और विरेचन (दोनों गुणों से युक्त) ओपधियाँ दोनों प्रकार की सिंश्र भूमि में उत्पन्न हुई लेनी चाहिये । संशमन ओपधियाँ आकाशगुणभूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई ग्रहण करनी चाहिये । इस प्रकार (गुणों के अनुसार विशिष्ट प्रकार की भूमि से ग्रहण की हुई) ओपधियाँ (वापने गुणों में) वलवत्तर हुआ करती हैं ॥६॥

वक्तव्य—इस विषय का अधिक विवरण आगे एकतालीसिंह अध्याय के ८, ९, १० सूत्र में किया गया है ।

सर्वाग्रेव चाभिनवान्यन्यत्र मधुघृतगुड-पिपलीविड्हेभ्यः ॥७॥ भवति चात्र—

विड्हं पिपली क्षौद्रं सर्पिंश्चाप्यनवं हितम् । शेषमन्यत्वभिनवं गृहीयाद्वयवर्जितम् ॥८॥

सर्वाग्रेव सक्षीराणि वीर्यवन्ति, तेषामसम्पत्तावनिकान्तसंवत्सराराददीतेति ॥९॥

मधु, धूत, गुड, पिपली और वायविडंग इनके अतिरिक्त समस्त ओपधियाँ नवीन प्रयुक्त करनी चाहिये ॥७॥ यहाँ श्लोक है—विडंग, पिपली, शहद, धूत ये पुराने ही हित होते हैं । शेष सब ओपधियाँ नवीन और दोपरहित लेनी चाहिये ॥८॥ सर्व सरस ओपधियाँ वीर्यवान् होती हैं । उनके न मिलने पर एक वर्ष के भीतर की ग्रहण करनी चाहिये ॥९॥

वक्तव्य—अभिनव—नहीं ताजी आर्द्ध या कम से कम एक वर्ष के भीतर की सूखी । निःश्र ओपधियाँ सदैव आद्राविल्ला में प्रयोग करनी चाहिये—उड़नी कुटजो वासा कूम्भाण्ड च शतावरी । अशवगन्धा सहचरी शतपुष्या प्रसारणी । प्रयोक्तव्या सदैवाद्र ॥ (शार्ङ्गधर) । वासानिमपीलेकेतकनलाकूम्भाण्डकल्दीवरी, वर्षा भूकूटजाश कन्दसहितः सा पूतिगन्धसृष्टाः । ऐसी नागवलाकृण्टकपुरो क्षत्रामृता सर्वदा सार्दा एव तु न कविचिद्विगुणिताः कायेषु योज्या तुषेः ॥ (भावप्रकाश) । अन्यत्र—विडंगादि द्रव्यों के अतिरिक्त विडंगादि द्रव्य एक वर्ष से अधिक पुराने ग्रहण करने चाहिये । इन विडंगादि द्रव्यों में धान्यक का भी समावेश होता है—नवान्येव त्रिलोकानि नवान्ये

पद्धिलक्षणम् । तिना विद्यावृष्णाभ्या शुद्धाभ्याभ्यमाक्षिणैः । (शार्हधर) मुख्यं शंकरपाथ गुडस्यापि विशेषतः । पक्षवस्त्रे वृत्ते पुराणत स्मृत तुपैः ॥ (भावप्रकाश) जैसे अन्य द्रव्य साधारणशतया नवीन व्यवहृत होते हैं तथा शृणादि द्रव्य साधारणतया पुराने व्यवहृत होते हैं । परतु अवश्या विशेषों में ये नवीन भी व्यवहृत होते हैं । यथा शृणूल के लिये नवीन मधु—शृणीव मधु नव नानिकेपाइर सरय् । (मुख्यतः) पूर्ण निष्ठ रोगों में नवीन व्यवहृत होता है—वैज्ञेयप्रस्त्रेमालाज्य भजने तरपेण अस्ते । बलये पाण्डुरोगे कामलानेत्ररोगोः ॥ (भावप्रकाश) अननिवासन-मवस्तुसारण—एक लंब का समय भूल स्वरूप की ओपरिधियों के लिये है । जब ओपरिधियों से चूर्चा गुदिका शृणादि योग बनाये जाते हैं, तब एक वर्षे के पहले ही उनका वीर्य नष्ट हो जाता है । उणीश्वर भवेद्वर्षादृश्य तद्वृत्तीष्वरम् । मानद्वयात्त्वा चूर्चा हीनवीर्य खमायुदात् । हीनत्व गुदिकालेही लेने वेत्त्वरापरम् । हीना सुरुद्वैलापाशतुर्मासिकात्त्वा ॥ (शार्हधर) ।

भवन्ति चाप्र—

गोपालास्तापसा व्याधः ये चान्ये यनचारिण्यः ।

मूलाद्वाराश्य ये तेभ्यो भेपजव्यक्तिरिप्यते ॥१०॥

(घटकी, भैस) गी चराने घाले, तपम्बी, शिकारी तथा अन्य (कन्दकल) मूल का आहार करने वाले बनचारी सोक, उनसे ओपरिधियों की पहचान (सीखना) शुद्ध है ॥१०॥

यक्तद्वय—भेपव्यक्ति—नामद्वय से ओपरिधियों की पहचान । परन्तु वेवल नामद्वय से ओपरिधियों का ज्ञान वैद्य के लिये परोक्ष नहीं है । रोग और रोगी की रटि से उनका उपयोग कैसे करना चाहिये, उसका भी ज्ञान आवश्यक है—ओपरिधिनमह्याभ्यां जानते व्यापकाने । न नामद्वयानामेण रूपमात्रेण वा पुनः ॥ औपरिनामाप्ता प्राप्तिश्चेद्वितुप्रवृत्ति । वैष्णविजागमप्यत्तासा तत्त्वविदुक्ष्यते ॥ (घटक) ।

सर्वायवयसाद्येषु पलाशलवणादितु ।

द्वयस्थितो न कालोऽस्ति तद्व सर्वो विधीयते ॥११॥

(मूल, पत्र, फल आदि) सर्व अवयवों से बनाये हुए जो मलायज्ञादि हैं, उनमें (ओपरिधियों के लिये) कोई काल लियत (होने की आवश्यकता) नहीं है । उसके प्रवृत्त के लिये सब समय उकिल होता है ॥११॥

गन्धयर्णसोपेता पद्धिधा भूमिरिप्यते ।

तसाङ्गूमिस्वमायेन वीजिन पद्ध्रसायुताः ॥१२॥

अव्यक्तः किल तोयस्य रसो निधयनिधितः ।

रसे एव स चावयको व्यक्तो भूमिरसाङ्गवेत् ॥१३॥

इकू भूमिस्वमायागुपार ही बनस्तिर्वा (मुखादि) पद्धसुपुष्ट होती है, इमस्तिर्वा गव्यवर्द्ध और रसतुक भूमि भी छ प्रकार की होती है ॥१३॥ मिद्दास्त दे यह निर्वित हुआ है कि जल का रस मन्त्रक (अनभिन्नपद्धत) होता है ॥१३॥ वह अप्यन रस गृष्णी के रस से मन्त्र (रस) हो जाता है ॥१३॥ सर्वायवयसम्पदा भूमि: साधारणा स्तूता ।

द्रव्याणि यत्र तत्येव लहुणानि विशेषतः ॥१४॥

(पैर्चों प्रकार की भूमि के) सर्वलक्षणों से युक्त असाधारण कहलाती है । जिस प्रकार की भूमि में द्रव्य उ हीते हैं, उसी के ही गुणों से युक्त विशेष करके वे होते हैं ॥१५॥ विगलपेनापरामृष्टमविपञ्च रसादिभिः ॥ नवं द्रव्यं पुराणं वा ग्राह्यमेव विनिर्दिशेत् ॥ जङ्गमानां वयःस्थानां रक्तरोमनवादिकम् । कीरमूत्पुरीपाणि जीर्णाहोरेपु संहेरेत् ॥ (ओपरिधिग्राहाद्वाराश्विचार) ओपरिधि वाहे नहीं हो व पुरानी हो, वही ग्राहा समकानी चाहिये जो दुर्गीष ते न हो (वर्णां दुर्गीष रहित हो) तथा विसके रसादि विगाद न हुआ हो ॥१६॥ जिनकी शरीर की दृष्टि पौर्ण हो पुर है ऐसे प्राणियों का रक्त, बाल, नख आदि अंग ग्राहण कर चाहिये और क्षीर सूत्र और विषा जब पचन हो जाए । पश्चात् प्राण ग्राहण करना उचित है ॥१६॥

यक्तद्वय—विगलेनापरामृष्ट—जिस द्रव्य की गत्त्वा सह उपलग होने के कारण नष्ट न हुए हो अथवा जिसमें सहन कारण हुर्गी उ भाती हो । अविष्ट्र रसादिभि—जिसका र और शीर्ये अविष्ट्र अथोन् अविकृत हो । जगानाम्—ये प्रसूता गी का दूध हेना चाहिये और रक्तादिभाग सह प्राणियों के लेने चाहिये—क्षीर वालयण शार्दूल विष्णुते तत्त्व नीं जाए । वयोरवलतां भातुरिष्टशुक्तुरादिकम् ॥ (अष्टागमकी कल्प ८) ।

स्त्रोतमृद्धालापलकशङ्कुविन्यस्तमेपजम् ।

प्रशास्तायां दिशि शुद्धो भेपजागारमिप्यते ॥१७॥

इनि मुकुरस्तिर्वा भूत्वानेन भूमिरविभावीया

नाम समर्पितस्तिर्वेऽप्याय ॥१७॥

(भेपजागार) जिसमें (समत) ओपरिधियों काहर्णी में, मिट्ठी के पांचों में, (कालके) तल्सों पर और शैंटियों पर सुरक्षित रखती हुई है, ऐसी ओपरिधियाला प्रवास और पवित्र स्थान में (वास्तुप्रिया की रटि से बनाई हुई) होती चाहिये ॥१७॥

यक्तद्वय—उत्तम भूमि से यथोक्तिरिद्वया रसवती ओपरिधियों समर्पीत करने पर यदि सुरक्षित न होती जायेती तो उनमें दुर्गीष, रसवतीति इत्यादि द्रव्य उपलग होते हैं । अत उनकी स्थापना कैसी करनी चाहिये तथा स्थापना ने लिये ओपरिधियाला कैसी होनी चाहिये इसकी विधि संकेत से इस खोल में बर्द्धन की है । प्रथम ओपरिधियों दीक न रखने से, धूर्णी, वर्णा, सील, धूलि, मूरक, दीमग इत्यादि के समर्प्य से विषाक्तिरिद्वयानुष्ट होती है । इसलिये ओपरिधियों पक्षी जारी में कपड़ों में बाष्पक या मिट्ठी के पांचों में भरके करें से तुम्ह बैठ करके तल्सा पर या शैंटियों पर लटकी हुई तल्सी चाहिये—प्राप्तवार्तिलोके मर्त्तिनभितुर्वेदः प्राप्तविषा गृहे व्यसेद विष्टीत्प्रपदम् ॥ (मुख्य, घृत १८) । ओपरिधियाला जहाँ तक हो सके, ऐसे देश में होती चाहिये जहाँ ओपरिधियों मूरु मिलती है इसके अतिरिक्त ओपरिधियाला का भगवान् एवं पा उत्तर (प्रश्न) दिया में होना चाहिये तथा उसमें ओपरिधि के नाप, वीट, शरल इत्यादि उपकरण भी होते

चाहिये । श्रोत—वर्णयण्ड । गदा—सैंटी । प्रश्नतायां दिशि—पूर्वस्यामुत्तरस्या वा । अष्टांगयग्रह में और घटक में ओपरियों की ब्रह्मण और स्थापन की विधि निम्न प्रकार से वर्णन की है—अथ गलाचारः कल्याणगृहः शुनिः शुश्रवामाः संपूज्य च देवताम् । इनी गोमास्त्राणां शुश्रवामः प्राइसुर उरुसुरो वा गृहीणाम् । गृहीणा चातुर्ष्यामुपराजने संसाध्य पूर्वोत्तरारोग्यं निदालपातंक-देशेषु नित्युभूपाराहरविकर्मात्वमित्यिलोपम्बेद्यम् गोमूषिगन्तुभद्राभनिगमनीयानि स्वतन्त्रानि शिखेभ्यात्म्यं स्यापेत् ॥ (घरक, कल्पस्थान, ग्रन्थाय १) ।

इति भास्करसर्मिणा गोविन्दात्मजेन विरचितावामायुरेश्वरस्यीपितायां सुकृतभापादीकायां भूमिप्रिभागीयो नाम सत्प्रिशत्तमोऽध्यायः ॥३॥

अष्टांगिकारभोऽध्यायः ।

अथातो द्रव्यसंग्रहयुग्मध्यायं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अथ यहाँ से द्रव्यसंग्रहयुग्मध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

चक्रवृत्त—द्रव्यसंग्रह—चिकित्सोपयोगी द्रव्यों का संज्ञेप से ग्रहण (प्रतिपादन) ।

समालेन स्वसंविशेषद्रव्यवरणा भवन्ति ॥२॥ तथाथ—
संज्ञेप से द्रव्यों के संतीस गण होते हैं ॥२॥ जैसे—

(१) विदारिगन्धा विदारी विश्वदेवा सहदेवा श्वदंप्रा पृथकूपर्णी शतावरी सारिचा कृष्णसारिचा जीवकर्त्त्यभक्तौ महासहा भुद्रसहा वृद्धत्वौ पुनर्नवैरेण्डो हंसपादी वृश्चिकाल्युपभी चेति ॥३॥

विदारिगन्धादिरस्यं गणः पिचानिलापहः ।

शोपगुल्माद्वमर्द्दर्च्यश्वासकासचिनाशनः ॥४॥

(विदारिगन्धादिगण—) विदारिगन्धा (प्रालपर्णी—Hedysarum Gangeticum), विदारी (भूमिधूमांड, हिं. विलाई कन्द, Ipomoea Digitata), विश्वदेवा (नामगला, हिं. गंगेन, गुल्सकरी, Sida Spinosa), सहदेवा (पीत-पुष्पागला, Sida Cordifolia), श्वदृष्टा (गोक्षुरक, हिं. गोखरु Tribulus Terrestris), पृथकूपर्णी (पृथकूपर्णी, हिं. पिठवन, Uraria Lagopoides), शतावरी (Asparagus Racemosus), सारिचा (अनन्तमूल, हिं. सालसा, Hemidesmus Indicus), कृष्णसारिचा (श्यामलता, Ichnocarpus Frutescens), जीवक, अरपभक (ये दोनों अचर्य की बनस्पतियाँ हैं । हनका हस समय ठीक ज्ञान नहीं है । इनके अभाव में गुह्यची और वंशलोचन का ग्रहण किया जाता है—जीवकर्त्त्यभक्तौ गुह्यचीवंशलोचने । भावमिश्र दोनों का प्रतिनिधि विदारीकन्द लिखते हैं ।), महासहा (भाष्पर्णी, Glycine Labialis), भुद्रसहा (भुद्रपर्णी, Phaseolus Trilobus), वृद्धत्वौ (स्थूलफल और सूक्ष्मफल वृद्धती—वृद्धत्वौ सूक्ष्मफल स्थूलफल च । दो वृद्धत्वौ श्रति एका वृद्धत्वा वपरा स्थूलफल । वृद्धतीहयं व्याख्यानी प्रलक्षणी । ग्रन्ति के अन्तीम

कण्टकारी । यह जो अर्थ किया जाता है, वह बहुचित है, यह उपर्युक्त दीकाकारी के पद्धनों से स्पष्ट है । Solanum Indicum), पुरनवा (Boerhaavia Diffusa हि. सौंठ, गढ़सूरा), पूरण (Ricinis Communis), इंसरादी (इंसरादारपत्रम् वीतस्या ल्लियुक्तेश्वराता 'इंसरी' इति लोके प्रमिदा । कुछ दीकाकार द्रव्यके 'गोधापदी' मानते हैं । हृसको कंगला में 'गोधापदी' कहते हैं । Vitis Pedata । कुछ लोग इसको 'रण लगान्तु' भी समझते हैं ।), वृषिकासी (वृद्धीगशा वैत-पुष्पगुणा दक्षिणांवर्तनीही मैथिशीमेदः । Trigia involucrata, हि. चरांटा, धं. विछातु), करपभी (कपिकल्पु, कंवचवीजः, Mucuna Pruriens) ॥३॥ यह विदारिगन्धादिगण पित्त और घायु को गांत करता है तथा राजयस्मा, गुल्म, अंगर्मद उर्चवध्यास और दाँसी को नाश करता है ॥४॥

(२) वारग्वधमदनगोपघोण्टाकण्टकीकुटजपाठा-पाटलामूर्ध्यवंससंपर्णनिम्बकुरेण्टकदालीबुरुण्टक-गुह्यचीचित्रकशार्देहः (क्षेत्र) प्राकरज्ञद्वयपटोलकिराततिक्क-कानि सुपवी चेति ॥५॥

वारग्वधादिरित्येष गणः श्लेष्मविपापहः ।
मेहकुष्ठज्ञवरमीकारदूमो व्रणशोधनः ॥६॥

(वारग्वधादिगण—) वारग्वध (अमलतास, Cassia Fistula), मदन (सैनफल, Randia Dumetorum), गोपयोण्टा (कर्कटी, घदरभेद हृत्यन्ते, पूराभेदमपरे), कण्टकी (सं. विक्कूतः, धं. वैची Flacourtie Ramontchi), छुटज (कुर्ची, Holarrhe a Antidysenterica), पाठा (इस श्रीपथि के संबंध में योडा मतभेद है), पाटला (वसन्तादृती, Stercopterum Suaveolens), गुर्वा ('धर्मुर्गो-पयोग्या' मर्हीरी, Sansovieria zeylanica), इन्द्रवर्य (कुटज फल), सहपर्णी (छातीन, Alstonia scholaris), निम्ब (Melia Azadirachta), कुण्टक दासीकुण्टक (पीले फूल का पियावास और नीले फूल का पियावासा, Barleria Prionitis), गुह्यची (गिलोय, Tinospora Cordifolia), चित्रक (Plumbago Zeylanica), शार्देहा (कालजंघा, Leea Hirta) । कुछ लोग शार्देहा को 'काकमाची' और 'गुंजा' भी समझते हैं ।), करंजद्वय (? करंज, Pongamia Glabra २ पूतिकरंज, सागरनोटा, Caesalpinia Bonduo), पटोल, किराततिक्क (चिरावता Swertia Chirata), सुखदी (करेला, Momordica Charantia) (इन एकोंस औरवैष्णों का आरग्वधादिगण होता है) ॥५॥ यह वारग्वधादिगण कफ और चिप का हरण करता है; प्रमेह, कुष्ठ, ज्वर, वमन और कण्डु हनका नाश करता है तथा ग्रहा का शोकन करता है ॥६॥

(३) वरुणार्तगलशिशुमधुशिशुतकारीमेहशृङ्गी-पूरीकन्त्तमालमोरटाश्चिमन्थसैरेयकद्वयविम्बील्लु-कचसिरचित्रकशतावरीचिल्वाजशृङ्गीदर्भी वृहस्पी-द्वयं चेति ॥७॥

दरणादिगंगलो हेष कफमेदेनिवारणः ।

विनिहृन्ति शिरःशूलगुल्माभ्यन्तराविद्रधीन् ॥८॥

(वरणादिगण—) वरणा, (वरणा, *Cretacea Religiosa*), अर्जिल (नीले पूल का पिण्यावासा, *Barleria Crisata*), चिपु (चोमांजन, सोहूजन, *Moninger Pterygospurma*), मुतिष्ठु (लाल सोहूजन), तज्जरी (अभिनन्ध, अरणी, *Premna Spinosa*), मेपश्टी (देखालिंगी, *Gymnosma Sylvestre*), पूर्णि (पूर्णिङ), नक्काल फांज, मोट (मूर्वा या अड्डोल या हस्तिर्क्षयपाला), अद्विमय (बोध, एही अरारी), सेपकड्डी (दी भिल रंग के कुरुट), विरी (विरुद्धी, तेला कुवालाता, *Cephalandra indica*), वसुक (वाष्पुला या अर्के), चसिर (अरामार्गी, रक्त अरामार्गी, गम्पिष्ठली या सूर्यांवंती), चिप्रक, शतावरी, चिल (*Aegle Marmelos*), ओड्डी (ओड्डीनी, *Odina wodier*), दम्भ (घुस, सरप्रीदीपी, *Eragrostis Cynosuroides*), चूहसीद्धुप (स्पूलपरा और सूक्ष्मफला शूहसी) ॥८॥ यह घणादिगण कफ और मेद का हरण करता है तथा सिरदर्द, गुलम, और आर्थर्ट विद्रवि का नाश करता है ॥८॥

(४) वीरतस्तद्वच्यरख्यदर्भमृद्युशादनीमुन्द्रामल-
कुशकाशास्ममेदकाञ्जिमन्धमोरटादसुक्ष्मवसिरभू-
ककुरण्टकेन्द्रीयरक्षपोतयक्षः वर्द्धमा चेति ॥९॥

वीरतर्धादिरित्येष गणो वातविकारानुत ।

अश्मरीशर्करामूवक्षज्ञायातरुजापहः ॥१०॥

(वीरतर्धादिगण—) वीरतह (अर्णुन, *Terminalia Arjuna*), सहधरूप (पीत और नीले पूल की पिण्यावासा, पीतीलीलुप्तमेदार, लिटीदूप), दम्भ, शूहादीनी (पंदा, बांड्युल *Loranthus Longifolia*), तुंद्रा (एक प्रकार का तृष्णमेद, *Saccharum Arundinaceum*), नल (नरसल *Arundo Karka*), कुण (*Poa Cilaria*), काया *Baccharum Spontaneum*), अझमेद (पायामेद, पायररूप *Coleus Aromaticus*), अतिमंग, मोट, वसुक, चसिर, भल्लूक (श्योनाक, सोणापाठा, *Oroxylum Indicum*), कुरुटक (पीले पूल का पिण्यावासा—पीत कुरुटको जैय । घन्व ।), इन्हीवर (नीलकमल *Nelumbium Speciosum*), करोतवक्षा (बाई *Herpestis Monnierii*), वर्द्धमा (गोलहल) ॥९॥ यह वीरतर्धादिगण वातविकारों को हरण करता है और पर्यायी, गहड़ा, मूद्रकृष्ण और मूद्रापात की पीड़ा को हर करता है ॥९॥

(५) सालसाराजकर्णयदिरक्षदस्तालस्कन्धक-
मुक्खभूजमेपश्चात्तीतिनिशचन्दनकुचन्दनगर्णिशापाशिरी-
पासनधयार्जुनतालशाकनक्तमालपूतीकाभ्यकणीयु-
क्षण्य कालीयकं चेति ॥११॥

सालसारादिरित्येष गणः कुष्ठविनिश्चनः ।

मेष्पाण्डुमयहरः कफमेदेविष्येषणः ॥१२॥

(सालसारादिगण—) सालसार (सालूदूष, *Shortea Robusta* इसका सार), अब्रर्ण (शालूदूष *Vateria In-*

dica—का ही एक भेद), लादिर (द्वेर जिससे कल्या निकाला जाता है, *Acacia Catechu*), कालस्कन्ध (तिन्दुकूदूष, *Diospyros Embryopteris*) इसके विवाय उंवरवृष्ट विद्वादिर, रामालपत्रकूदूष ये भी वर्य हस्ते होते हैं ।), कम्बु (पूरा, सुपारी का दृश्य, *Aroca Catechu*), भूत्त (भूत्तप *Betula Bhojpatra*), मेपश्टी (मेडासिंगी), तिनि (साइन, *Dalbergia Oojeinensis*), चन्दन (खेतचन्दन *Santalum Album*), कुचन्दन (रक्त चन्दन *Pterocarpus Santalinus*), रिंदवा (सीसम, *Dalbergia Sissoo*) रिंदीप (रिंस, *Albizia Lebbeck*), असन (*Terminalia Tomentosa*), घव (घावडा *Anogeissus Latifolia*) अंडुन, ताळ (ताळ, *Borassus Flabelliformis*), घास (सागावान, शेतुन *Tectona Grandis*), नक्तमाल पूतीत (कंठं और इत्तिकरं), अधर्कर्ण (साल दृश्य का ही एक भेद), अगुर (अगर, *Aquilaria Agallocha*), कालीयक (मल्लर्यर्पतीय रक्तम पीतचन्दन—कालीयक द्वि कलीनी नीताम हरिचन्दनम् । भावक्राक्षण । मल्लर्योप्य पीतचन्दन चतुर्थं हरिचन्दनम् । घन्वन्तरिन्दिवृद्धु ।) ॥११॥ यह सालसारादिगण कुहों का नाश करता है, प्रमेह और पाण्डुरोग का हरण करता है और कफ सथा मेद का शोषण करता है ॥१२॥

(६) रोधसावररोधपलाशकुट्टन्नायोकफशी-
कट्टफलैलवालुकशल्कीजिह्निनीकदम्यसालाः कदली-
चेति ॥१३॥

एष रोधादिरित्युक्तो मेदःकफद्वरो गणः ।

योनिदोषप्रहरः साम्भी वर्णो विष्पविनाशनः ॥१४॥

(रोधादिगण—) रोध (लोध, *Symplocos Racemosa*), सावर रोध (पदार्थीलोध, यह होष का ही एक भेद है जिसकी लच्चा रुद्ध और खेत होती है), पलाण (दाक *Butea frondosa*), कुट्टप (श्योनाक), अयोक (*Sarcaca Indica*), फङ्गी (भार्गी, भारंगी, *Clerodendron Serratifolium*), कद्मल, (कायपल *Myrsina Sapida*), धूलायालुक (एक प्रकार का कोकोलसट्टण कुट्टप्पिं गन्धदध्य), शहुदी साल का दृक भेद, *Boswellia*) जिंगिनी (कासमल, *Odina Wodier*) इसके निश्च अर्थ भी किंते गये हैं—
मजिछ, हृण्यालम्ली), कदम्ब (*Anthocephalus Kadamba*), साल, और कदली (केला, *Musa Sapientum*) ॥१३॥ यह लोधादिगण मेद और कफ का हरण करने वाला, योनि के दोषों की दूर करने वाला, (अतिसारादि रोगों में) स्तम्भन करने वाला, वर्ण में हितकर और विष का नाश करने वाला है ॥१४॥

(७) अर्कालंकरक्षद्वयनामगदन्तीमयूरकमार्गी-
राजेन्द्रपुरीश्चिद्वेतामहावेतावृथिकाल्यवलगास्ता-
पसवृष्टलेति ॥१५॥

अर्कादिको गणो हेष कलमेदेविषपदः ।

कुमिकुष्ठप्रशमनो विषेपाइरुण्यशोधनः ॥१६॥

(अर्कादिगण—) अर्क (आक, *Calotropis Gigantea*), अलंक (संकेद आक), कट्टदूष, नागादन्ती (*Croton*

oblongifolius), भयूरङ (वापामार्ग Achyranthes Aspera), भारी (भारंगी), राता (Vanda Roxburghii), इन्द्रपुष्पी (लंगली Gloriosa Superba), भुद्धेता (भेतसदा खेतपुष्पा 'सफेन्ड') इत्य । २ अतिविषा, ३ विद्यरीकन्द ।), महावेता (नीलपुष्प; मैन्ज़न्ड; वेसा-कॉटी इल्यन्डे, खेतपराजित इल्यपेरे), दृष्टिगती (नेट-सिंगी का भेद), शब्दवणा (ज्ञोतिभूती वर्द्धुपूरुषभूता पीतैला 'काळमर्दनिका' इति लोके प्रसिद्धा । इत्य । दृतीतकी । हाराणधंद ।), तपसदूत (शुद्धदी, Balanitis Roxburghii, हिंगोल । तपस्ती लोग इसके तेत का अधिक उपयोग किया करते थे । इसलिये तापसदूत कहलाता है— मा कसापि तप्तिव शुद्धीतैलनिहन्तीर्थस्य एते पतिवति । कलिदास ।) ॥१५॥ यह वक्तांदिगण कफ, मेद और विष हनका नायक है, छुमि और हुए हनका धमन करने वाला है और विशेष करके माण का शोधक है ॥१६॥

(c) सुरसाद्येतसुरसाकारिज्ञकार्जिकाभूत्तृण-
सुगन्धकसुमुखकालमालकासमर्ददावनस्वरपुष्पादि-
दक्षकदफलसुरसीनिर्गुरुणडीकुलाइलोन्दुरुक्कर्णिकाम-
द्रिप्राचीवलकाकामात्यो विषसुष्टिकथेति ॥१७॥

सुरसादिर्गणो हेष कफहृत् छमिस्तूदनः ।
प्रतिद्ययारुचिश्वासकासद्वो व्रणशोधनः ॥१८॥

(सुरसादिगण—) सुरसा, भेत सुरसा (दृष्या और भेत-र्णी तुलसी, Ocimum Sanctum), करिज्ञक (मरुबूल, मरवा, Ocimum caryophyllum), अर्जिक (आजवला Ocimum gratissimum), गुस्तृण (रोहिस्तृण, Andropogon citratus), सुगन्धक (वृत्तसुगन्धन्या), सुसुख (तुलसी का ही भेद है), कालमाल (काला आजवला, छम्पार्जिक), कासमर्द (कसींदी, Cassia Sophora), चन्दक (नाकछिकली Centipeba ordicularis), घरपुष्पा (छिल्ली का भेद, वनर्द्दीरिकाभेद इल्यन्डे), विंडग (वाय-विंडग, Embelia Ribes), कढ़कल, सुरसी (कापितपदा तुलसी, खेतनिर्गुणी इल्यन्डे), निर्गुणी (नीलपुष्पनिर्गुणी, संभालु, Vitex Negundo), कुलाहल ('सुटिका' 'इकुलसुगा'), उदुरुकर्णिका (भूसाकर्णी, Ipomoea Reniformis), फली (भारंगी), प्राचीबल (वधपि प्राचीबलश्वदेन काकजग्ना गण्ड-दूरी जलपिपली चोत्यते तथापि अथ काकजंघेव केचिदाचार्य वदन्ति । उद्धवण्डीका), काकसाची, विषसुष्टि (राजनिमः, उद्धवलम्बु-पाम्बु, कर्कोटीसन्त्ये) ॥१७॥ यह सुरसादिगण कफहर्ता, छुमि-र्णी के प्रतिश्वाय, श्वास, कास तथा अरुचि हनका दूरण करने वाला और व्यथा का शोधक है ॥१८॥

(९) सुष्ककपलाशावचिन्नकमदनवृद्धकर्णिकापा-
भूत्तृणादिफला चेति ॥१९॥

सुष्ककादिर्गणो हेष देवोऽप्तः शुक्लोष्टृण ।
मेहर्णीःपाणुरोगः शर्करानाशनः परः ॥२०॥

(सुष्ककादिगण—) सुष्कक (मोख Schrebra Swi-
etenoides), पलाश (ढाक), घव, चिन्दक, मदन, शूक्ल

(छड़ा, छटज), विशेष (सीस्तम), प्रमहूत (सेहुंट पा धूठर Euphorbia Antiquorum), विलसा (ईरीनी, चोड़ा और लौकला) ॥१९॥ यह सुष्ककदिगण मेद का नाश करने वाला, शुक्लोषों को दूर करने वाला, प्रमेह वर्ध और पाप्तु रोगों का नाश करने वाला और सूक्ष्मर्जिता (पर्यारी) का परम नापक है ॥२०॥

(१०) पिपलीपिपलीरूलपूव्यचिर्दलश्टृप्तेर-
मस्तिहस्तिपिपलीडेरेत्तुकैलाग्नोवेन्द्रयदपाताजी-
रक्षसर्पमद्वानिस्वफलद्विभूतार्णीगुरुस्तातिविदा-
वचाविद्वानि कद्वरोहिणी चेति ॥२१॥

पिपल्यादिः कफहृतः प्रतिद्ययायानिलारुचीः

निहन्यादीपनो शुल्मशूलमध्यामपाचनः ॥२२॥

(पिपल्यादिगण—) पिपली (Piper longum पिपलीमूल (पिपली की जड़), चम्प (Piper chaba), चिन्दक, शैक्षर (सौंठ, Zingiber officinalis), मस्तिष्ठ (लाली मिर्च, Piper 'Nigrum'), दस्तिपिपली (गजपिपली, चिन्दक का फल—चिन्दिया : फल प्रादृष्टः कविता गजपिपली), द्वेरेणुका (Piper Aurantiacum), पला (छोटी इलायची, Elettaria Cardamomum), अजसोदा (Sosoli Indicum), इन्द्रयद, पाटा, जीरक (जीरा Cuminum oynamnum), सर्पेप (सर्सो, Brassica Alba), मधुनिकल (धकाघन का फल, Melia Semperflorens), दिगु (दींग Assa foetida), भारी, मधुरसा (सूर्वा), अतिविषा (अतीस, Aconitum Heterophyllum), चचा (चच, Acorus Calamus), विंडग, कद्वरोहिणी (छुड़की Picrorrhiza Kurroa) ॥२१॥ यह पिपल्यादिगण कफ का दूरण करने वाला है, प्रतिश्वाय वात और अरुचि का नाश करता है, वस्त्रों का दीपक है, गुल्म और शूल का वातक है और वास रस का पानन करने वाला है ॥२२॥

चन्दकच्य—गामरस—जटराजदौर्येत्त्वादविषकस्तु यो रसः ।
स आमंत्रज्ञो देहे सर्वोप्रक्रोमकः ॥

(११) पलाततगरुष्मांसीच्यामकात्वक्षुप्तनाग-
पुष्पप्रिद्वुद्वेत्तुकाव्याधनस्वशुक्लिच्चरडाल्योणेपक्षी-
देष्टक्षोचचोरकवालुकशुभुलुर्जरस्तुरुपकुन्दुष-
क्षागरस्पृक्षोशीरमद्रदावृज्जुमानि पुजागकेशरं
चेति ॥२३॥

पलादिक्षो वातक्षो निहन्याद्विषसेव च ।

वर्णप्रसादनः कराहूपिडकाकोठनानः ॥२४॥

(पलादिगण—) पला (छोटी इलायची), तार (Tuberacanthus Coronaria), छुट (Saussurea Lappa), भासीं (जटामांसी Nardostachys Jatamansi), ज्वामक (बृचूण, रोहिस्तृण Andropogon paniculatus), घ्वक (दालधीनी, Cinnamomum Zeylanicum), एत्र (समालयन, तेजपत्र Cinnamomum Tamal), नागधुण (नागकेसर, Mesua ferrea), विष्वु (Aglaia Roxbo-
ra), हेरेणुका, च्याघनस (बृहदाल, १

इत्यन्ये), शुक्रि (सज्जेदोऽप्यनस , दलहण), चण्डा (ईपक्ष प्या घोरकभेदः अजमोदाकारा, सुरासानी अजवायन), स्थौर्येक (धुगेर, Taxus Baccata), श्रीवेष्टक (सरल वृक्ष, Pinus Longifolia), चोच (शालचीनी का एड भेद), घोरक (प्रथिपर्शिभेद, गणोठा), पालुक (खण, Pavonia Odorata), गुमुतु (गुमुलूक Balsamodendron Mukul का नियोग), संजैरत (राळ), तुरुक (सिलहक, गिला रस, Liquidamber Orientalis नामक वृक्ष का नियोग), कुन्दुरक (लोबन Boswellia Serrata), आग, दृक्षा (उत्तिन्युषा द्वाग्निभिन्नवैतुरप्यधिकर Anisomeles Malabaria), अरीर (Andropogon Muricatus), भद्रारु (देवदार), कुकुम (केशर Crocus Sativus), युद्धागकेशर (पुष्पाग Calophyllum Inophyllum का केशर पुष्प-किरलक) ॥२३॥ यह पूजादिगण्य बात, कक्ष और विष का नाश करता है, वर्ण का प्रसादन करता है, और खाज, कुन्सिर्व तथा कोट (Urticaria) का नाश करता है ॥२४॥

(१२) यचामुस्तातिविषयाभयाभद्रदारुणि नाम-
केशरं चेति ॥२५॥

(१३) हरिद्रादारुहरिद्राकलशीकुटजवीजानि
मधुकं चेति ॥२६॥

एतौ यचाद्विदिग्नी गणौ स्तन्यविशोधनौ ।

आमातिसारशमनौ विशेषाद्वेषपाचनौ ॥२७॥

(यचादिगण—) यचा (वच), मुला (नागरमोया Cyperus rotundus), अतिविषा, अभया (हरदा), भद्रारु (देवदार), नामकेशर ॥२५॥ (हरिद्रादिगण)—हरिद्रा (Curcuma Longa), दालहरिद्रा (दारु हलडी Berberis Asiatica), कलशी (इक्षिपर्शी), कुटजवीज (इन्द्रजत), मधुक (मुलहडी Glycyrrhiza Glabra) ॥२६॥ ये यचादिगण और हरिद्रादिगण दृष्ट का शोधन करते हैं, अतिसार में आम का शमन करते हैं और विषेष करके (साम) दोषों का पालन करते हैं ॥२७॥

(१४) द्यामामहाद्यामाविवृद्धनीशङ्किनीतिल्य-
ककमिष्ठकरम्यकमुकुपुअधेष्ठीगयदीरजवृक्ष-
करज्ञाद्यगुहृचीसप्तलाच्छगलान्त्रीसुधाः सुर्वण-
शीरी चेति ॥२८॥

उक्त द्यामामहित्येष पुण्यो गुरुमविषयापहः ।

आनादोदरविहसेदी तथोद्यावर्तनाशनः ॥२९॥

(द्यामादिगण—) द्यामा (काला निसोत, Ipomoea Turpethum), महाद्यामा (देवदारक, विशरा Argentea Speciosa), विहृ (रक्त विषेष), इन्ती (Croton Poly andrum), गङ्गिनी (यचनिका, कालमेष या काला दाना), तिलक (सोत), कपिहलक (कपिला Mallotus Philippensis) रम्यक (महानिव अथवा पटोलमूल), कम्युक (सुरारी), उष्णभेणी (इन्तीभेद), गवाक्षी (इन्द्रवासनी Cucumis Trigonus), रामहृत्त (अमलतास), करज्ञाद्य कर्ज (), गुहृची (मिलोय), सप्तला (यिंके

काई A cacia Concinna, सप्तला चर्मसाहा च च सा । शद्विनी दिक्कन चैव वृत्तिक्षमिदीक ॥६॥ छालान्त्री (बृद्धदारक भेद, Ipomoea Pescaprae) (सेहुण), सुर्वणशीरी (केंकुठ, उसरे रेवन, G. Morella) ॥२८॥ यह उक्त द्यामामहित्यगुरुम और दृष्ट करता है, आनाद और उदररोग में मल का भेद करता है ॥२९॥

(१५) वृहत्तीकरणकारिकाकुटजफलपाठः
चेति ॥३०॥

पाचनीयो वृहस्यादिर्णणः पित्तानिलापहः ।

कफारोचकहृदोग्रामूषकच्छुद्धजापहः ॥३१॥

(वृहस्यादिगण—) वृहत्ती, कण्ठकारिका (कटी, S um Xanthocarpum), कुटजफल (इन्द्रजत), और मुलहडी ॥३०॥ यह वृहस्यादिगण चित्त और वा-
नायक तथा कह, अरोचक, हृदोग और मूत्रहृष्ट रो-
नाय करता है ॥३१॥

(१६) पटोलादन्दनकुचन्दनमूर्यागुहृचीपाठ
कटुरोहिणी चेति ॥३२॥

पटोलादिर्णणः पित्तकफारोचकगाशनः ।

ज्वरोपशमनो वैयद्यर्थदिकराहृविषयापहः ॥३३॥

(पटोलादिगण—) पटोल, चन्दन, कुचन्दन, गुहृची, पाठा और कटुरोहिणी ॥३२॥ यह पटोलादिगण कफ और अरोचक हृष्टे नाय करता है, ज्वर को शमन है, घण को हितकर होता है और घमन, कण्ड और दूर करता है ॥३३॥

(१७) काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्पभक्तमु-
पर्णीमापर्णीमेदामहामेदाच्छिन्नरुहाकर्कटशृङ्गी-
क्षीरीपञ्चकप्रौढीरीकर्धिवृद्धिमृद्धीकाजीवन्यो
धुकं चेति ॥३४॥

काकोल्यादिर्णयं पित्तशोणितानिलनाशनः ।

जीवनो धूंधो धृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा ॥

(काकोल्यादिगण—) काकोली, क्षीरकाकोली, उ-
क्तप्रभक (इनके संघर्ष में कोई निश्चित नहीं है), गु-
(वनमैती), भागर्णी (वन उड्डद), मेदा, महामेदा
दीर्घी भी अनिश्चित हैं), छिरहु (गिलोय), कर्कट
तुगाल्लीरी (वायोचन Bamboo Mann), पात्रक (
काष, प्रात्रक Prunus Padum), प्रीतीषीरीक guenia spinosa—पुष्टरिया), अद्वि, शृंदि (ये दोनों
विषयीन हैं), मृद्धीका (ब्राह्मा Vitis Vinifera
जीवन्ती), मधुक (मुलहडी) ॥३४॥ यह काकोल्यादि-
पित्त रक्त और वायु को नाश करता है, जीवन के लिये है
है, शरीर की पुष्टि करता है, वीर्यवर्धक है और दृष्ट तथा
को बढ़ाता है ॥३५॥

वक्तव्य—इस वर्ग में जो आठ अनिर्णीत बनस्पतियाँ, वह 'अष्टवर्ग' कहलाती हैं । उनके असाव में निह ओय-यों का ग्रहण होता है—नदयमावे बला घाशा वृद्धयमावे महा-॥१॥ मेदाभवे चाक्षंगं पा महामेदे तु शास्त्रि ॥ जीवर्कर्मभावावे इहूचीवंशलो वने । काकोलीयुगलाभावे निष्ठिपेच शतावरीम् ॥

(१८) ऊषकसैन्धवशिलाजतुकासीसद्यहिङ्गूनि
युत्थकं चेति ॥३६॥

ऊषकादिः कफं हन्ति गणो भेदोविशेषणः ।
अश्मरीशर्करामूत्रहृच्छ्रगुल्मप्रणाशनः ॥३७॥

(ऊषकादिगण—) ऊषक (ज्ञारस्त्रिका), सैन्धव (सैधानमक), यिलाजसु, कासीसद्य (कासीस और पुष्प-कासीस, हिराकश Ferrus sulphate), हिंग (हींग), तुथक (नीला तृतिया, Copper Sulphate) ॥३६॥ यह ऊषकादिगण कफ को शान्त करता है, मेद को शोषण करता है तथा अश्मरी, शर्करा, मूत्रहृच्छ्र और गुल्म इनका नाश करता है ॥३७॥

(१९) सारिवामधुकचन्दनहुचन्दनपञ्चककाशम-
हलमधूकपुष्पाण्युशीरं चेति ॥३८॥

सारिवादिः पिपासाद्यो रक्तपित्तहरो गणः ।
पित्तज्वरप्रशमनो विशेषाद्वाहनाशनः ॥३९॥

(सारिवादिगण—) सारिवा (अनंतमूल), मधुक (मुल-ि), चन्दन, कुचन्दन (रक्तचन्दन), पञ्चक, काश्मरीफल भारी का फल, Fruit of Gmelina Arborea), कुपुष्प (महुवे के Bassia Latifolia—फूल), उशीर (इस) ॥३८॥ यह सारिवादिगण तृष्णा का नाश करता है, पित्त का हरण करता है, पित्तज्वर का शमन करता है और विशेषतया दाह को शांत करता है ॥३९॥

(२०) अङ्गनरसाङ्गनापापुष्पप्रियजुनीलोत्पल-
लदनलिनकेशराणि मधुकं चेति ॥४०॥

अङ्गनादिग्रीणो हेष रक्तपित्तनिवर्हणः ।
विषोपशमनो दाहं निहन्त्याभ्यन्तरं तथा ॥४१॥

(अङ्गनादिगण—) अङ्गन (सौंबीराङ्गन, Sulphide of lead), रसाङ्गन (रसाङ्गन द्विविध—सौतोंजने कृष्णपापाणाकृति Antimony Sulphide) धातुद्रव्यं, अन्यदास्त्रहिरदिकायेन श्रिमं पीतलोहितम् । ढल्हय । दार्वकायथसं क्षीरं पादं त्यक्त्वा पथाधनम् । तदा रसाङ्गनाल्यं तत् । भावप्रकाश ।), नागपुष्प (लोकेसर), प्रियङ्गु, नीलोत्पल (नीलकमल), नलद (उशीर, खस—वीरणस्थ तु मूलं स्यादुशीरं नलद च तत् । भाव-प्रकाश), नलिनेश्वर (पद्मकिञ्जलि कमलकेश्वर), मधुक (मुलहृदी) ॥४०॥ यह अङ्गनादिगण रक्तपित्त का नाश करता है, विष को शांत करता है तथा भीतर के दाह को शमन करता है ॥४१॥

(२१) पस्तपकद्राक्षाकदफलदाडिमराजादनकतक-
फलशाकफलानि त्रिफला चेति ॥४२॥

पस्तपकादिरित्येष गणोऽनिलविनाशनः ।

सूत्रदोषहरो हृद्यः पिपासाद्यो रुचिप्रदः ॥४३॥

(पस्तपकादिगण—) पस्तपक (फालसा, Growia Asiatica), द्राक्षा, कट्टफल, दाडिम (अनार, Punica Granatum), राजादन (द्विरथी Mimusops Indica), कतकफल (निर्मली—Strychnos Potatorum—का बीज), शाकफल (सागवान का फल), और त्रिफला (हरडा, बेहडा, अंवला) ॥४२॥ यह पस्तपकादिगण वात का नाश करता है, सूत्र दोषों को हरण करता है, हृदय को हितकर होता है, तृष्णा को शांत करता है और (सुख में) रुचि उत्पन्न करता है ॥४३॥

वक्तव्य—इस गण के सर्व द्रव्यों के फल उपयोग के लिये ग्रहण करने चाहिये ।

(२२) प्रियङ्गुसमझाधातकीपुज्जागनागापुष्पचन्दन-
चन्दनमोचरसरसाङ्गनकुम्भीक्षोतोङ्गनपञ्चकेसर-
योजनवल्लयो दीर्घमूला चेति ॥४४॥

(२३) अङ्गद्वाधातकीकुसुमसमझाकद्वज्ञमधुक-
विल्वपेशिकासावररोधपलाशनन्दीबृक्षाः पद्मकेश-
राणि चेति ॥४५॥

गणौ प्रियङ्गुवस्त्रष्टादी पक्षातीसारनाशनौ ।

स्वन्धानीयौ हितौ पित्ते व्रणानां चापि रोपणौ ॥४६॥

(प्रियङ्गवादिगण—) प्रियङ्गु, समझा (लज्जाल, Mimosa Pudica), धातकी (धाय के फूल, Woodfordia Floribunda), पुजाग, नागपुष्प (नागकेसर), चन्दन, कुचन्दन, मोचरस (रक्तशालमली—Bombax Malabaricum—बृक्ष का सस—तत्रसततदुणो आही स च मोचरसः स्थृतः । धन्वन्तरि निघण्ड), रसाङ्गन, कुम्भीक (जलकुम्भी, Pistia Stratiotes), ज्वोतीजन, पद्मकेसर (कमल केसर), पोजनवल्ली (मंजिष्ठा, भजीठ, Rubia Maujista), और दीर्घमूला (शालपर्णी वा दुरालभा) ॥४४॥ (अङ्गद्वाधिगण—) अंबष्टा (पाठा), धातकी, कुसुम, समझा, कद्वज (श्येणाक, सोणापाठा), मधुक (मुलहृदी), विल्वपेशिका (वालविल्वगिरी), सावरलोध (पठायीलोध), पलाश (ढाक), नन्दीबृक्ष (तूल Cedrela Toona) और पद्मकेसर ॥४५॥ यह प्रियङ्गवादि और अङ्गद्वाधिगण पक्षातीसार का नाश करते हैं, (भग्न अस्थि का) संघान करने वाले हैं, पित्त के लिये हितकर हैं और व्रणों के रोपण करने वाले हैं ॥४६॥

(२४) न्यग्रोधोदुम्बवराभवत्थपूत्तमधुककर्णीकन-
ककुम्भाङ्गकोशाम्ब्रचोरकपञ्चजम्बूद्धयपियालमधूक-
रोहिणीवज्ञुलकदम्बवदरीतिन्दुकीसल्लकीरोधसा-
वररोधमङ्गातकपलाशा नन्दीबृक्षश्वेति ॥४७॥

न्यग्रोधादिर्ग्रीणो व्रण्यः संग्राही भग्नसाधकः ।

रक्तपित्तहरो दाहमेदोद्यो योनिदोपष्टृ ॥४८॥

(न्यग्रोधादिगण—) न्यग्रोध (वड Ficus Bengalensis), शिंगा Aegle Marmelos / Tiliacora Olivae, Ayinash/Sha-

(पीपल Ficus Religiosa), झज्ज (पाकुड Ficus Indica), कर्पीतन (वास्तवक, शामडा, Spondias Mangifera), दक्षम (अर्णुन), जाग्र (आग Mangifera Indica), कोणार्घ (आग का भेद, Mangifera Sylvatica), चोरकप्र (छांडालपूर्ण), जमूरप (महाजन्म, एटी जामुर Eugenia gumbolana और काकड़मूर, एटी जामुर Eugenia Caryophyllifolia), पियाल (खोर्सीजूदा Buchanania Latifolia), मधूक (मधुआ), रोटियाँ (कुड़ी), दम्भुत (वेत Calamus Rotundus), कदम्ब, बद्दी (बेर, Zizyphus jujuba) तिमुरी (तेलु), गुडी (सालभेद, सारई, Boswellia Serrata), सोय, सावर सोय, भूतातक (खिलावा Semicarpus Anacardium), पलाण (ढाक), मन्दीरुष ॥४३॥ यह न्यायीपादिगण प्रण को हितकर है, संग्राही है, भग्न अस्ति को छोड़ने वाला है, रक्षित का हरय करने वाला है और दाह, मेद तथा योनि के दोषों को दूर करता है ॥४४॥

(२५) गुद्धचीनिग्युक्तसुमुखधन्दनानि पश्चकं चेति ॥४५॥

एष सर्वज्वराद् हृतिं गुद्धच्याविस्तु दीपनः ।

द्वात्सारोत्तेचकवर्मीपिपासादाद्वादाशनः ॥४०॥

(गुद्धचीनिग्यु —) गिलोप, नीम, कुण्डनुरु (खनिया Coriandrum Sativum), चन्दन और पापात्र ॥४५॥ वह गुद्धचीनिग्यु सर्व प्रकार के व्यर्थों को नाश करता है, दीपन है और द्वात्सार, अहसि, वसन, तृष्णा, दाह को नाश करता है ॥४०॥

(२६) उत्पलरक्तोपलकुमुदसीरौगनियकदुपलय-
पुण्डरीकाणि मधुकं चेति ॥४६॥

उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तविवाशनः ।

पिपासाविपद्धद्रोगच्छदिमूल्छर्द्दिहरो गणः ॥४८॥

(उत्पलादिग्यु —) उत्पल (नीलकमल), रक्तोलल (लाल कमल), कुमुद (खेतकमल), सीगचिह्न (चोदीदय चिकारी अलत सुरुचि नील कमल), कुलकम (खेत और नील वर्ण कमल), पुण्डरीक (अर्द्धते खेत कमल) और यहिमु ॥४८॥ यह उत्पलादिग्यु दाह रक्त रिति का नाश करता है और तृष्णा, विष, हृदयग, वसन और मूँछों इनका हरय करने वाला है ॥४८॥

यत्कर्त्त्वं—उत्पलादिग्यु में कमल के जो भिन्न भिन्न नाम निर्दित किये हैं, उनके वर्णों के संबंध में न केवल भिन्न भिन्न प्राचीन आचार्य परस्पर विशेषादी दिक्षाएँ हैं तो ही अनियु दश्युणाकारों भी अपनी टीका में स्वयं विशेषादी हैं । यथा जड़ीकावचरणीय (१२वं) अचार्य में ‘ग्नोललनिलनुमुद’ सूत्र की टीका में लिखा है—उत्पलनीली, पुण्डरीकमनिलवेषम्, कुलकम रक्तीयम् । और यही टीका में लिखते हैं—उत्पल नीले रस, पुण्डरीक खेतरप, कुलकमनीलीलवेषम् ।

(२७) सुस्ताद्विद्यादाद्विद्याद्विद्यादीतप्रसामलक-
विभीतकुमुदैमवतीवचमाकाद्वीद्यिषीशार्ङ्गद्विति-
ं . . . नि चित्रवयेति ॥४९॥

एष मुस्तादिषो गारा गणः नेत्रमनिपूदनः ।

योनिदोपद्रः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा ॥४९॥

(मुस्तादिग्यु —) मुस्ता, हृषी, दाह इलटी, वा अर्चला, पेहडा, हुठ, दैमवती (वेत वडा), वचा, पा कटुडी, शार्देटा (काकजंघा, काकमार्ची, काकादानी), अलिया, द्वाविरी (छोटी इलायची), भहाताक (मिलाव और चिद्रु ॥४९॥ यह मुस्तादिग्यु दक्ष का नाशक है, ये दोषों का हरय करने वाला है, दूष का धोयक है । प्राप्तक है ॥४९॥

(२८) हरीतत्प्रयामलकविभीतकानि विफला ॥५५॥

विफला वफपित्तमी मेहकुमुख्यिनाशनी ।

चधुर्या दीपनी धेव विप्रमज्जरनाशनी ॥५६॥

(विफला —) हरीतकी (इडा Terminalia Chebula) आमलक (अंबिला Emblica Officinalis), वै विभीतक (बडेडा Terminalia Belerica) यह विफल है ॥५५॥ यह विफल कफ और वित नाशक है, प्रमेह और हृष की नष्ट करता है, नेत्र के लिये हितकर है, अग्नि दीर्घ है तथा विषमन्त्र नाशक है ॥५५॥

यत्कर्त्त्वं—इस विफला के अतिरिक्त दासमी रस्त और प्रस्तवक इनकी दूसरी विफला होती है—इत्या विभीतकी महीनी विफला मात्र । स्वस्य कामयपैलदूषकप्रकारहेतैर् । विफला में तीनों के प्रमाण के समावेश में मतभेद है—इत्या ही तीव्र योन्या है चोल्यो विभीतकी । वालयामलकान्तेव विफलाया महीनी निता । (शार्देटर) । प्रथा विभीतकाशीणी पहले स्वतः विफला संते । (भावयकाय) ।

(२९) पिप्पलीमरिचश्ट्रव्येराणि विकटुकम् ॥५७॥

इयूपर्णं कफमेदोप्रं मेहकुमुख्यगमयात् ।

निद्रन्यादीपनं गुल्मपीनसाम्यव्यस्तामपि ॥५८॥

(विकटु —) विप्पली (Piper Longum), मरिच (काटी मरिच Piper Nigrum) और श्वेतवेर (सोंठ Zingiber Officinalis), ये तीन विकटु अथवा इयूपर्ण केंद्राते हैं ॥५८॥ यह इयूपर्ण कफ और मेद को नष्ट करता है, प्रमेह, हुठ और व्यथा के रोगों को नाश करता है, दीपन है और गुज्ज, धीनस तथा मन्दाद्विष को दूर करता है ॥५८॥

(३०) वामलक्षीद्वीतीकपिप्पद्यविष्मकश्चेति ॥५९॥

वामलक्ष्यादिग्यु चरणः सर्वज्वरापहः ।

चधुर्यो दीपनो चूप्यं कफारोत्तेचकनाशनः ॥६०॥

(वामलक्ष्यादिग्यु —) आंबला, हरदा पिप्पली और विफल (यह आमलक्ष्यादिग्यु है) ॥५९॥ यह आमलक्ष्यादिग्यु सर्व ज्वरों की हरय करता है, नेत्र के हितकर है, दीपन है, श्वीर शूद्रिक है और कफ तथा अरुचि को नाश करता है ॥५९॥

यत्कर्त्त्वं—इत्य—यत् विचारमुरु लिप्य जीवन दृष्टुं युरु । इयं मनसंधैर्व सर्वं तद् वृष्टमुच्यते ॥ (चरक) ।

(३१) अपुसीसताप्ररजतद्वप्पलोद्वस्तुवर्णांगि

लोद्वमलश्चेति ॥६१॥

गणस्त्रिवादिरित्येष गरक्रियिहरः परः ।

पिपासाविपहुद्वोगपाण्डुसेहरस्तथा ॥६२॥

(त्रिवादिगण) त्रियु (बंग, रांगा, Tin), सीस सीसा Lead), तांबा (तांबा Copper), रजत (रौप्य, गंदी Silver), कृष्णलोह (कान्तलोह, तीक्ष्णलोह, Iron), त्रिर्ये (सोना Gold) और लोहमल (लोहकिंद्र, मण्डूर) ह त्रिवादिगण है ॥६२॥ यह त्रिवादिगण विष और कृमियों वा परम नाशक है तथा तृष्णा, विष, हृदोग, पाण्डुरोग और मोह इनका हरण करने वाला है ॥६२॥

वक्तव्य—लोहमल—ओषधि के लिये सौंच पुराने किट जा ही उपयोग करना चाहिये—शतान्द्रमुत्तमं किटं मध्यवारीति-गार्भिकम् । अथं पष्ठिर्वर्धं ततो हीनं विषेपम् ॥ गर—कृत्रिम वेष—नानाप्राणवृक्षशमलविरुद्धौषधिभस्मनाम् । विषाणां वाल्मीरीयाणां घोगे गर इति स्मृतः ॥ (अट्टांगहृदय) ।

(३२) लाक्षारेवत्कुटजाश्वमारकदफलहरिद्वा-
द्यनिम्बससच्छद्मसलत्यायमाणा चेति ॥६३॥

कथायस्तिक्तमधुरः कफपित्तार्तिनाशनः ।

कुष्ठक्रियिहरस्यैव दुष्प्रवणविशोधनः ॥६४॥

(लाक्षादिगण) लाक्षा (लाक्ष), आरेवत (आरवध, अमलतास), कुटज (कुड़ा), अश्वमार (करबीर, करनेर, Verium Odorum), कट्टफल, हरिद्वा और दारहरिद्वा, नेम्य, सत्त्वद (सत्पर्ण, छतिवन), मालती (जाती) और व्रायमाणा (Delphiniun Zallil) ॥६३॥ यह (लाक्षादिगण) कथाय, तिक्त और मधुर है, कफ और पित्त की पीड़ा को नाश करता है, कुष्ठ और कृमियों का हरण करता है और दुष्ट व्रण को शोधन करता है ॥६४॥

पञ्च पञ्चसूलान्त्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ॥६५॥

यहाँ से आगे पांच ग्रनाट के पंच सूलों का वर्णन करते हैं ॥६५॥

वक्तव्य—अट्टांगसंभ्रह में यहाँ वर्णन किये हुए पांच ग्रनाटों के अतिरिक्त 'मध्यम' और 'जीवन' नाशक दो अधिक पञ्चसूल वर्णन किये हैं—वलापुनर्नवैरण्डसूप्रपर्णीद्वेन च । ग्रनाट कफवातम्भं नातिपितकरं लघु ॥ अभीरुवाराजीवन्तीजीवकर्मभैः कृत्य । जीवनात्यं तु चक्षुयं वृष्णं पित्तानिलापहन ॥

(३३) तत्र चिकित्कृहतीद्यपृथक्षूलपर्यवे-
विद्विग्निधा चेति कनीयः ॥६६॥

प्रयतिक्तमधुरं कनीयः पञ्चसूलकम् ।

धातम्भं पित्तशमनं चूहरणं चलवर्धनम् ॥६७॥

(सुपुंचसूल) उनमें से चिकित्कृ (गोखर), छोटी चूहती और दड़ी चूहती, पृथिवीर्णी, विदातिगिन्धा (धालपर्णी) यह लघुपञ्चसूल है ॥६६॥ यह लघुपञ्चसूल कथाय, तिक्त और मधुर है, धातम्भ का है, पित्तशमन है, सुधिग्राक है और गीर्ण का यह दूजों वाला है ॥६७॥

(३४) विल्वादिमन्थादिरुक्पादलः क्षामर्य-
चेति महत् ॥६८॥

सतिक्तं कफवातम्भं पाले लघुक्षिदीपनम् ।

मधुरानुरसं चैव पञ्चसूलं महत् लघुतम् ॥६९॥

(वृहत पञ्चसूल) बिल्व, अस्त्रिमन्थ (गुरुकारिका), ढंडक (झोनाक), पादला (पाल्ल, पाठर हृष्ट, Stereocarpus primum Suaveolens) और काशमरी (Gmelina Arborea), यह महत् पञ्चसूल तिक्त रस, कफ वात नाशन, हृलका, अस्त्रि को दीपन करने वाला और अनुरस में मधुर है ॥६९॥

वक्तव्य—दब्लों का जो रस प्रायः लघुतमा प्रतीत नहीं होता वथवा पथात थोड़ा प्रतीत होता है, वह अनुरस है—व्यक्तः शुष्कस्य चाहौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते । विषयेणानुसः । (चार्ल) अनुरसस्तु रसेनाभिभृततादन्यतो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते ॥ (अट्टांग-संभ्रह) । विशेष विदरण के लिये ४०वें अच्छाय के पहले सूच का वक्तव्य देखें ।

अनयोर्दशसूलसुच्यते ॥७०॥

गरः श्वासहरो हेष कफपित्तानिलापहः ।

आमस्य शाचनश्चैव सर्वज्वरचिनाशनः ॥७१॥

(दशसूल) ये दोनों लघु और महत् पञ्चसूल व्यक्त होते हैं ॥७०॥ यह दशसूलगण धारस का हरण करता है, वात पित्त और कफ को शांत करता है, आम रस वा पात्ता करता है और सर्वे ग्रनाट के जर्वों का नाशक है ॥७१॥

(३५) विदारीलारिकारजनीशुद्ध्योऽजश्वरी
चेति वद्यीसंक्षः ॥७२॥

(चाहीपञ्चसूल) विदारीकन्द, सारिचा, एरिद्वा, निलोद और भेदार्सींगी यह बहुती संक्षक पञ्चसूल है ॥७२॥

(३६) करम्बद्विकरठक्सैरीयक्षशताबरीकृष्ण-
नस्य इति करठकसंक्षः ॥७३॥

(कण्ठपञ्चसूल) करम्बद (कर्तौदा Capparis Coriifolia), निकटक (गोखर), सैरीयक (झरणद्वा, निपाता), शताबरी और चूपनसी (फट्टकपाली शूल Capparis Sepiaria, अथवा ददरहुल) । यह कण्ठक लंदक पञ्चसूल है ॥७३॥

रक्षपित्तार्ही छेतो शोफज्वरमिलामौ ।

सूखयेहरौ चैव शुद्धदोपविनाश्वलौ ॥७४॥

बहुपञ्चसूल और कण्ठकपञ्चसूल ये दोनों गत्य रक्षपित्त हरण करने वाले, तीव्र मकार के पीछे दो घण्ट दूरने दाले, सर्व प्रमेहों को हरण करने वाले तथा वीर्यदोषों से शाश्वत होते हैं ॥७४॥

(३७) कुशकाशनलर्वेकालेभुजा इति शुष्ण-
संक्षः ॥७५॥

सूखदोपविकारं च रक्षपित्तं तथैव च ।

वन्त्यः शुकुकः दीरेण शीघ्रसेव विनाशयेत् ॥७६॥

(गुपंचसूल) कुज (Poa ciliaris), फाल (Saccharum Spontaneum), तल (सरसल, Arundoo Karka).

(पीपल Ficus Religiosa), मूत्र (पाडुङ्ग Ficus Insectoria), करीतन (वाग्रातक, शामडा, Spondias Mangifera), घटुभ (बर्टुन), आग्र (आम Mangifera Indica), कोणाप्र (आम का भेद, Mangifera Sylvatica), खोरकरत्र (लाकारूष), जन्मूर्य (महाजन्म, चढ़ी जासुन Eugenia gumbolana और काक्कजन्म, छोटी जासुन Eu gewia Caryophyllifolia), पियाल (खिरोंगारुष Buchananis Latifolia), मधुक (मधुमा), रोहिणी (घटुकी), घन्तुल (वेता Calamus Rotundus), कदम्ब, बद्री (बेर, Zizyphus jujuba) तिमुकी (तेनु), गुदकी (साल-भेर, साकई, Boswellia Serrata), सोध, सावर सोध, भहातक (भिलावा Semecarpus Anacardium), पलाय (ढाक), नन्दीवृक्ष ॥४३॥ यह न्यग्रोधादिगण शण को हितकर है, संप्राही है, भग्न भरिय को जोड़ने वाला है, रक्षित का हरण करने वाला है और दाह, भेद तथा योनि के दोषों को दूर करता है ॥४४॥

(२५) गुहूचीनिम्बकुस्तुमुखचन्दनानि पद्मकं चेति ॥४५॥

एष सर्वज्वरान् दृग्नित गुहूच्यादिस्तु दीपनः ।

दृक्षासारोद्यक्तव्यमीतिपासादानाशनः ॥४६॥

(गुहूच्यादिगण्य—) गिरीय, नीम, कुस्तुमुख (खनिया Coranandum Sativum), चन्दन और पद्मास ॥४६॥ यह गुहूच्यादिगण सर्व प्रकार के ज्वरों को नाश करता है, दीपन है और दृक्षास, अस्थि, वसन, तृष्णा, दाह को नाश करता है ॥४६॥

(२६) उत्पलरक्तोपलकुमुदसीमगन्धिकफुखलय-

पुएहरीकाणि मधुकं चेति ॥४७॥

उत्पलादिरय दाहपित्तरकविनाशनः ।

पिपासाविप्रहद्रोगच्छदिमुद्दर्ढाद्विरो गणः ॥४८॥

(उत्पलादिगण्य—) उत्पल (नीलकमल), रक्तोपल (लाल कमल), कुमुद (खेतकमल), सौगन्धिक (खदोदय विकासी अथव चुरुभि नील कमल), फुखलय (खेत और नील वर्षी कमल), एउटीक (अखलय खेत कमल) और यष्मिमु ॥४८॥ यह उत्पलादिगण दाह रक्त रित्र का नाश करता है और तृष्णा, विष, दूदोग, वसन और मूर्छाओं द्वारा हरण करने वाला है ॥४८॥

यक्षत्रय—उत्पलादिगण में कमल के जो भिन्न भिन्न नाम निर्दिष्ट किये हैं, उनके वर्णों के संक्षेप में न केवल भिन्न भिन्न प्राचीन भाषाओं परश्या विस्तारी दिसाई हैं देते हैं अतिरुद्धरणात्मार्थ भी अपनी भाषा में स्वयं विस्तारी हैं । यथा जटीकावधारीय (१३वें) अभ्याय में 'प्रोप्लन्तलिलमुद्दृ' सूत्र की दीका में लिखा है—उत्पलनीत्रील, उष्टीकमलित्रप्रथ, कुखलय त्वरेत्वम् । और यही दीका में लिखते हैं—उत्पल नीत्री त्र, प्रुष्टीक खेतप्रथ, कुखलयनीत्रीत्रवलम् ।

(२७) मुख्यादिरादादारुहरिदीरीतम्यामलक-
विमीतकुमुदेमवीतवचपीठाकद्वृरीहरिणीशार्द्रेष्टि-
न्यादाविदीमहातकानि चित्रवद्येति ॥४९॥

एष मुख्यादिको नाशा गणः श्वेतमनिष्टदनः ।

योनिदोषप्रदः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा ॥४९॥

(मुख्यादिगण्य—) मुख्या, हलडी, दाद, हलडी, इन अंपला, मैदू, बुट, हैमवती (खेत वचा), वचा, पा कुडी, घाँटेठा (कालजंघा, कालमारी, काकाइनी), भी विषा, दाविदी (घोटी इलायची), भहातक (भिलावा और चित्रक ॥५०॥) यह मुख्यादिगण दूष का नाशक है, ये दोषों का हरण करने वाला है, दूष का योधक है और पाचक है ॥५०॥

(२८) हरीतप्यामलकविमीतकानि त्रिफला ॥५१॥

त्रिफला कफपित्तमी भेदकुमुदिविनाशनी ।

चक्षुप्या दीपनी वैद्य विप्रमध्वरनाशनी ॥५२॥

(त्रिफल—) हरीतकी (हरडा Terminalia Chebula) आमलक (अविला Emblica Officinalis), घी विमीतक (बहेडा Terminalia Belerica) यह त्रिफल है ॥५१॥ यह त्रिफल का और रित्र नाशक है, प्रमेह और डुष की नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, अग्नि दीप देता विप्रमध्वर नाशक है ॥५२॥

यक्षत्रय—इस त्रिफला के अतिरिक्त कालमरी रुद्धी और पूर्णक इनकी दूसरी गिरेला होती है—प्रथा गिरेला पर्याप्ती मरीत्र भिन्ना मता । स्वस्त्र कार्यपालंसुखस्तकलैनेत्र ॥ त्रिफला में तीनों के प्रभाव के सर्वव में मरमेद है—प्रथा हरीतकी योजा द्वी व योजी विमीतकी । चत्वारीमलकान्देव चित्रलैता प्रभी दिति । (घाँटेठर) । पश्चा विमीतवाचीणा कठे स्वात्र त्रिफला संभी ॥ (भावप्रकाश) ।

(२९) पिप्पलीमरिचशृङ्गवेराणि त्रिकुकम् ॥५३॥

इयूपणे कफमेदोप्त्रं भेदकुमुदत्वगामयाद् ।

निहन्यादीपनं गुल्मपीतसाङ्ग्यस्ततामपि ॥५४॥

(त्रिकुक—) पिप्पली (Piper Longum) मरिच (काढी मिर्च Piper Nigrum) और शृङ्गवेर (सॉठं Zingiber Officinalis), ये तीन त्रिकुक अथवा शृङ्गा कैलाते हैं ॥५३॥ यह इयूपण कफ और मेद को नष्ट करता है, प्रमेह, डुष और त्वचा के दोषों को नाश करता है, दीपन है और गुल्म, धीनस तथा मन्दाद्विष को दूर करता है ॥५४॥

(३०) आमलकीहरीतकीपिप्पलयश्चकथेति ॥५५॥

आमलकयादिरित्येप गणः सर्वज्वराप्रहः ।

चम्पुप्यो दीपनो वृथ्य, कफारोदकविनाशनः ॥५६॥

(आमलकयादिगण्य—) जांबला, हरडा पिप्पली और चित्रक (यह आमलकयादिगण है) ॥५५॥ यह आमलकयादिगण सर्व दोषों को हरण करता है, नेत्र को हितकर है, दीपन है, शरीर धृदिकर है और कफ तथा अस्थि को नाश करता है ॥५६॥

यक्षत्रय—पृथ्य—यद् विनिःन्पुर द्विष्व जीवन दृष्टव एवं ।

मनसाभै सर्व दृष्टव्युत्पन्नो ॥ (चारक) ।

(३१) प्रपुसीसताघारजतष्ट्रप्लोदसुवर्णाणानि
दोदमलधेति ॥५७॥

(पीपल Ficus Religiosa), सुप्त (पाङ्कुड़ Ficus Infectoria), करीतन (बाग्रातक, बामझा, Spondias Mangifera), कुम्भ (झर्णून), आग्र (बाम Mangifera Indica), कोणारा (बाम का भेद, Mangifera Sylvestrica), चोटकपत्र (छाजावृत्र), अम्बुद्य (महागम्बु, पही जामुन Eugenia gumbolana और काकड़मू, दोटी जामुन Eu-

Zizyphus jujuba), तिन्दुकी (तेन्दु), रेहडी (साढ़े भेद, साकड़ी, Boswellia Serrata), लोम, सावर लोग, भद्रातक (भिलाई Semicarpus Anacardium), पलाय (डाक), बन्दीवृत्र ॥४७॥ यह न्यग्रोषादिगण व्याध को हिंसक है, संप्राप्ती है, भज अविद्य को बोने वाला है, रक्षित का हाथ करने वाला है और दाख, भेद तथा दोनों के दोरों की दूर बर्ता है ॥४८॥

(२५) गुह्यचीनिम्बकुस्तुम्बुहचन्दनागि पद्मकं चेति ॥४९॥

एष सर्वज्वरान् द्वन्द्वत् गुह्यादिस्तु दीपनः ।

इलासारोचकवयमीरिपासादादानाशनः ॥५०॥

(गुह्यादिगण—) गिलोय, नीम, कुस्तुम्बु (पनिया Coriandrum Sativum), बन्दन और पद्मास ॥४९॥ यह गुह्यादिगण सर्व प्रकार के घ्वरों को भाष करता है, दीपन है और इलास, वारचि, बमन, शूषा, दाह को नाश करता है ॥५०॥

(२६) उत्पलरकोत्पलकुमुदसीगन्धिकुचब्द्य-
पुरुडीकणि मधुकं चेति ॥५१॥

उत्पलादिर्यं दाहपित्तरकविनाशनः ।

पिपासाविपहदोगच्छर्दिमूर्ध्छाद्वरो गणः ॥५२॥

(उत्पलादिगण—) उत्पल (नीलकमल), रक्तोपल (लाल कमल), कुमुद (चेतकमल), सींगन्धिक (चंद्रीद्वय विकासी अर्थात् सुरभि नील कमल), कुवलय (चेत और नील वर्ण कमल), कुट्टीक (अर्थात् चेत कमल) और यहिमु ॥५१॥ यह उत्पलादिगण दाह रक्त पित्त का नाश करता है और शूषा, पिप, हृदय, बमन और गूर्ध्वी इनका हरण करने वाला है ॥५२॥

यक्षव्य—उत्पलादिगण में कमल के जो भिन्न भिन्न नाम निर्दिष्ट किये हैं, उनके वर्ण के संदर्भ में न केवल भिन्न भिन्न प्राचीन आण्यों परत्वा विस्तारी दिखाई देते हैं अर्थात् उत्पलादिगण भी आपनी दीका में स्वयं विसंवर्द्धी हैं । यदा जड़ीकावचकरशीय (१३वें) अध्याय में 'पद्मोपलनलिनकुसुद' सूत्र की दीका में लिखा है—उत्पलीकील, पुण्डीकविषेषण, कुवलय रस्तेकम्ब । और यहाँ दीका में लिखते हैं—उत्पल नीजी-रस्त, पुण्डीक खेतपल, कुवलयवीकीन्द्रियवलन ।

(२७) मुस्तादिप्रिदादायदिप्रिदादीतप्यामलक-
विभीतकुष्ठदैयमयीवचमीठाकुदीरिदिलीशाहस्त्राति-
पिपाद्राविदीमहातकानि चिष्काश्वेति ॥५३॥

एष मुस्तादिको नासा गणः नेत्रभनिपूदनः ।
योनिदोपद्वरः स्तन्यसोधनः पाचनस्तथा ॥५४॥
(मुस्तादिगण—) मुस्ता, हल्दी, दाद हल्दी, ही अंविला, वेदा, कुठ, हैमवती (चेत वचा), वचा, प कुड़की, यार्देशा (काकजंघा, काकमारी, काकादनी), व विवा, द्रविडी (छोटी इलायची), मधुआतक (मिलाप और चित्रक) ॥५४॥ यह मुस्तादिगण कफ का नाशक है, पे दोरों का हरण करने वाला है, दूध का घोषक है : पाचक है ॥५४॥

(२८) हरीतक्यामलकविभीतकानि विफला ॥५५॥

त्रिफला कफपित्तद्वी मेदकुट्टविनाशनी ।

चक्रुप्या दीपनी चैत्र विप्रमञ्चरनाशनी ॥५६॥

(विफला—) हरीतकी (हरदा Terminalia Cheyla), आमलक (आंबला Emblica Officinalis), विभीतक (बेहडा Terminalia Belerica) यह विफल है ॥५५॥ यह विफला कफ और पित्त नाशक है, प्रमेह वं कुट को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हिंतकर है, जग्मि दीप है तथा विप्रमञ्चर नाशक है ॥५६॥

यक्षव्य—इस विफला के अविरिक काल्मीरी रस्त और परस्यक इलादी दूसरी विफला होती है—यथा दिवीत याक्री मही विफला मता । स्वस्त्रा कारणप्रवर्तन्युपस्थकालैविरेव विफला में तीनों के प्रभाग के संबंध में मतभेद है—यहाँ एवं तीव्र योज्या ही च योज्यी विभीतकी । चक्रुप्यामलकविप्रव विफले प्रार्थिता । (शार्णधर) । पथा विभीतकादीनां कठै स्थाप विफला समै (भावप्रकाश) ।

(२९) पिपलीमरिचमृद्धवेताणि विकुक्तम् ॥५७॥

इयूपाणं कफमेदोद्द्वं मेदकुट्टत्वगमायान् ।

निहन्यादीपनं गुलमपीनसाद्यत्पत्तमपि ॥५८॥

(३०) यामलकीहरीतकीपिपल्यश्विकाश्वेति ॥५९॥

यामलक्यादिरित्येप गणः सर्वज्वरापदः ।

चक्रुप्यो दीपनो चृप्यः कफारोदकनाशनः ॥६०॥

(यामलक्यादिगण—) आंबला, हरदा पिपली और चित्रक (यह आमलक्यादिगण है) ॥५९॥ यह आमलक्यादिगण सर्व घरों को हरण करता है, नेत्र को हिंतकर है, दीपन है, गरीर वृद्धिकर है और कफ तथा अहसि को नाश करता है ॥६०॥

यक्षव्य—इव—पथा विचिन्मधुर लिप्त जीवन बृहण युह । हर्ष मनसवेद सर्व तद् इयमुच्चने ॥ (चतुरक) ।

(३१) ग्रुपुसीसताप्रत्यजतष्टुप्प्रदीहसुवण्णांगि
लोद्दमलध्येति ॥६१॥

गणस्त्रप्वादिरित्येष गरक्रिमिहरः परः ।

पिपासाविषहृद्रोगपाण्डुमेहहरस्तथा ॥६८॥

(व्रतादिगण) अषु (बंग, रांगा, Tin), सीस (सीसा Lead), तांच (तांचा Copper), रजत (रौप्य, चांदी Silver), कृष्णलोह (कान्तलोह, तीक्ष्णलोह, Iron), सुवर्ण (सोना Gold) और लोहमल (लोहकिट, मण्डूर) यह व्रतादिगण हैं ॥६८॥ यह व्रतादिगण विष और कृमियों का परम नाशक है तथा तृपा, विष, हृद्रोग, पाण्डुरोग और प्रमेह इनका हरण करने वाला है ॥६८॥

वक्तव्य—लोहमल—ओषधि के लिये सदैव पुराने किट का ही उपयोग करना चाहिये—शताव्दमुत्तमं विष्ट मध्यज्ञारीति-वार्षिकम् । अथं विष्टीयं ततो हीनं विषोपमम् ॥ गर—कृत्रिम विष—नानाप्राणयशमलिरुद्धौपविधरमनाम् । विषाणां चालवीर्याणां येऽसो गर इति स्तुतः ॥ (अष्टांगहृदय) ।

(३२) लाक्षारेवतकुटजाश्वमरकदफलहरिद्वा-द्वयनिष्वसत्त्वद्वमलत्यल्लायमतणा चेति ॥६९॥

कषायस्तिक्तमधुरः कफपित्तार्तिनाशनः ।

कुष्ठक्रिमिहरस्थैव दुष्प्रवणविशोधनः ॥६९॥

(लाक्षादिगण) लाक्षा (लाल), आरेवत (आरम्भ, प्रमलतास), कुटज (कुड़ा), अश्वमर (करबीर, कनेर, Verium Odorum), कट्टफल, हरिद्वा और दारुहरिद्वा, नेम्ब, सप्तच्छद (सप्तर्णी, छतिवन), भालती (जाती) और आगमणा (Delphinium Zalil) ॥६९॥ यह (लाक्षादिगण) कपाय, तिक्त और मधुर है, कफ और पित्त की पीड़ा को नाश करता है, कुष्ठ और कृमियों का हरण करता है और दुष्प्रवण को शोधन करता है ॥६९॥

पञ्च पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यायाः ॥६५॥

यहाँ से आगे पांच प्रकार के पञ्चमूलों का वर्णन करते हैं ॥६५॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में यहाँ वर्णन किये हुए पांच प्रकारों के अतिरिक्त 'मध्यम' और 'जीवन' नामक दो अधिक पञ्चमूल वर्णन किये हैं—वलपुननैवैण्डसूर्यपर्णीहयेन च । मध्यमं कफवातां नातिपित्तकरं लघु । वरीस्वीराजीवन्तीजीवकर्पेभक्तैः स्तूपम् । जीवनार्थं तु चक्षुयं वृष्णं पित्तानिलापहम् ॥

(३३) तत्र चिक्राटकवृहतीद्वयपञ्चमूलपर्यो विदरिगन्धा चेति कनीयः ॥६६॥

भीयतिक्तमधुरं कनीयः पञ्चमूलकम् ।

धातुभ्यं पित्तशामनं वृहणं दलवर्धनम् ॥६७॥

(लघुपञ्चमूल) उनमें से चिक्राटक (गोखर), धोटी बृहती और बड़ी बृहती, एष्टिपर्णी, विदरिगन्धा (शालपर्णी) यह लघुपञ्चमूल है ॥६६॥ यह लघुपञ्चमूल कपाय, तिक्त और मधुर है, चातनमयक है, पित्तशामक है, पुष्टिकारक है और शीर का दल बढ़ाने वाला है ॥६७॥

(३४) विल्वामिमल्थिरुक्कपाटलाः काष्ठपर्य-चेति महत् ॥६८॥

सर्दिसां कफवातभ्यं पाके लघुपञ्चमूल ।

मधुरालुरसं चैव पञ्चमूलं महत् स्वृतम् ॥६९॥

(वृहत पञ्चमूल) विल्व, अग्निमल्थ (मण्डकारिणी), दुंहुक (इयोनाक), पाटला (पाटल, पाटर वृक्ष, Stereospermum Suaveoleolens) और काम्मरी (Gmelina Arborescens), यह महत पञ्चमूल है ॥६८॥ यह महत पञ्चमूल तिक्त रस, कफ वात नाशक, शलका, अग्नि को दीपन करने वाला और अनुरस में सधुर है ॥६९॥

वक्तव्य—द्वन्द्वों का जो रस ग्रायः दृष्टस्त्वा भ्रतीत नहीं होता वायवा पश्चात थोड़ा भ्रतीत होता है, वह अनुरस है—व्यक्तः शुक्रस्य चार्द्वं च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते । विषयेणानुरसः । (चर्क) । अनुरसस्तु रसेनाभिभूतवद्वयको व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते ॥ (वाटांग-संग्रह) । विशेष विवरण के लिये ४०वें अध्याय के पहले सूक्ष्म का वक्तव्य देखें ।

अनयोर्दशमूलसुच्यते ॥७०॥

गणः श्वासहरो ह्येष कफपित्तानिलापहः ।

आमस्य पातनश्चैव लर्वज्ञरविनाशनः ॥७१॥

(दशमूल) ये दोनों लघु और सहत् पञ्चमूल दशमूल कहलाते हैं ॥७०॥ यह दशमूलगण शास का उत्तर करता है, वात पित्त और कफ को शांत करता है, वाम रस का पातन करता है और सर्व प्रकार के जर्बरों का नाशक है ॥७१॥

(३५) विदारीसारितारजनीगुहूच्योऽजम्भूती चेति वल्लीसंस्थः ॥७२॥

(वल्लीपञ्चमूल) विदारीकन्द, सारिवा, एरिद्वा, गिलोद और भेड़ासींगी यह वल्ली संज्ञक पञ्चमूल है ॥७२॥

(३६) करवर्द्धमिकरुद्धरत्तरीयफाशताजरीगुह्य-लख्य प्रति करण्डकसंस्थः ॥७३॥

(करण्डपञ्चमूल) करवर्द्ध (करौदा Capparis Corindas), क्रिल्पटक (गोखर), सैरीयक (झूल्टट, विशामासा), शतावरी और गृग्नसी (करण्डपाली घृल Capparis Sepiaria, अथवा बदरघृल) । यह करण्डक संज्ञक दंजमूल है ॥७३॥

रक्षपित्तहरौ हेतौ शोकन्त्रयविनाशनौ ।

लर्वसेहरौ चैव शुद्धदोषविनाशनौ ॥७४॥

वल्लीपञ्चमूल और करण्डपञ्चमूल ये दोनों गण रक्षपित्त हरण करते वाले, तीव्र प्रकार के पोथे जो लट करने वाले, सर्व प्रमेहों की एशन करने वाले तथा धीर्घदोषों के नाशक होते हैं ॥७४॥

(३७) कुशकाशनलखर्मकारेक्षुका इति सूख-संस्थकः ॥७५॥

सूखदोषविकारं च रक्षपित्तं तर्थेव च ।

अन्त्यः ग्रसुकः हीरेण शीघ्रमेव विनाशयेत् ॥७६॥

(लघुपञ्चमूल) लघु (Poa ciliaris), लाल (Saccharum Spontaneum), नल (नरसल, Arundoo Karka),

(पीपल Ficus Religiosa), हूष (पाङ्गु Ficus Inte-
ctoria), कपीतन (बाप्रातक, आमड़ा, Spondias Mangi-
fera), कड़म (अर्णुन), भाज (आम Mangifera Indi-
ca), कोणारक (आम का भेद, Mangifera Sylvatica)
चोरकरण (आजावृष्ट), अमूल्य (महावन्धु, वरी जामुन
Eugenia gambolana और काकन्धु), टोटी जामुन Eu-
genia Caryophyllifolia), चिपल (चिरोंगीचूक चुचा-
नानी Latiifolia), मधूक (मधुआ), रोहिणी (बुड़ी),
दम्भुल (वेत Calamus Rotundus), कड़वा, दरी (वेर,
Zizyphus jujuba) तिम्बुकी (सेन्टु), तिउडी (साल-
भेद, सालडी, Boswellia Serrata) लोध, साथ लोध,
महुतक (खिलाडा Semicearpus Anacardium), पलाय
(ढाक), नन्दीहृत ॥४३॥ यह न्यौपायादिगण वध को हितकर
है, संप्रही है, भज भरिय को झीने वाला है, रक्षित का
हरत करने वाला है और दाइ, मेड तथा योनि के दोषों को
दूर करता है ॥४४॥

(२५) गुहचीनिमधुकुसुमयुरवन्दनानि प्रभकं
चेति ॥४५॥

एष सर्वज्वरान् द्वन्द्वित गुहड्यादिस्तु दीपनः ।

हृष्टासारोचकवभीपिपासाद्यादानाशनः ॥४५०॥

(गुहड्यादिगण—) गिलोप, भीम, कुसुमयुर (पत्तिया
Coriandrum Sativum), चब्दन और पद्मास ॥४५॥ यह
गुहचीनिमधु सर्व प्रकार के व्यंतों को नाश करता है, दीपन है
और हृष्टास, अस्थि, घमन, तृष्णा, दाह को नाश करता है ॥४५॥

(२६) उत्पलरकोपलकुमुदसीरोगनिधकुवलय-
पुण्डरीकाणि मधुक चेति ॥४६॥

उत्पलादिरयं दाहपित्तरकविनाशनः ।

पिपासाविपद्वद्रोगच्छर्दिमूर्च्छाद्वयो गणः ॥४७॥

(उत्पलादिगण—) उत्पल (नीतकमल), रक्तोल्पल
(लाल कमल), कुमुद (चेतकमल), सींगनिच (चोदीदय
विकारी ग्रन्थि सुरुमि नील कमल), कुवलय (खेत और भील
वर्षे कमल), पुण्डरीक (अथव खेत कमल) और पश्चिमु
॥४६॥ यह उत्पलादिगण दाह रक्त पित्त का नाश करता है
और तृष्णा, विष, हृदोग, घमन और गूर्जर्दा इनका हरण करने
वाला है ॥४७॥

यत्कथ्य—उत्पलादिगण में कमल के जो भिन्न भिन्न
आम निर्दिष्ट किये गए हैं, उनके वर्ण के संक्षेप में न केवल निष्ठ
भिन्न भाषीन आवार्ता परस्पर विसंकारी दिखाई देते हैं अपितु
इल्लाणा वर्षे भी अपनी टीका में स्वयं विसंकारी हैं । यथा
लल्लीकावचरणीय (१३वं) अन्धाय में 'प्रोपोलनसिनिकुमुद'
मूत्र की टीका में लिखा है—उत्पलीपीती, पुण्डरीकमनिषेदन,
दुवलय रसोपक्ष । और यथा टीका में लिखते हैं—उत्पल नीले
तरल, पुण्डरीक खेतपल, कुवलयमीठीलथलवलम् ।

(२७) सुस्ताहरिद्वादाहरुद्विद्वादीतस्यामलक-
चिभीतकुमुदैभयतीयचार्याठाकटुरीहिणीशार्हाद्याति-
चिप्रपश्येति ॥४८॥

एष सुस्तादिको नामा गणः श्वेष्मनिपूदनः ।
योनिदोषप्रदर् स्तन्यशोधनः पाचनस्था ॥४५॥

(मुमालिदिगण—) गुडा, हल्दी, दारु हल्दी, हर
अंबला, घोडा, कुट, दैवकली (खेत वाचा), वता, पा-
दवुडी, गाँड़ा (काकरंपा, काकमाची, काकाड़ी), ब
विंगा, द्वाविंगी (ढोटी हलावची), भहातक (भिलाव
और चिंगढ़) ॥४६॥ यह मुमालिदिगण कफ का नाशक है, पं
दोषों का हरण करने वाला है, दूष का शोषक है ।
पापक है ॥४७॥

(२८) हरीतक्यामलकभिभीतकानि त्रिफला ॥४८॥
त्रिफला कफपित्तद्वी मेदहुष्टविनाशनी ।

चम्पुधा दीपनी वैव विषमज्वरनाशनी ॥४९॥

(प्रिंदा—) हरीतकी (हरटा Terminalia Che-
wla) आमलक (आयला Emblica Officinalis), और
भिभीतक (बहेडा Terminalia Belericia) यह त्रिफल
है ॥४८॥ यह त्रिफला कफ और पित्त नाशक है, प्रमेह और
कुछ को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, अस्ति दीप
है तथा विषमज्वर नाशक है ॥४९॥

यत्कथ्य—इस त्रिफला के अतिरिक्त कामरी लर्द
और पर्सपर इनकी दूसरी त्रिफला होती है—पद्मा भिभीत
पायी महती त्रिफला मता । रसवा कामर्यवृद्धुपूरुषकर्त्तौ मंत्रित ।
त्रिफला में तीनों के प्रमाण के संबंध में मतभेद है—एक हरी
तकी बीज्वा द्वी व थोड़ी भिभीतकी । चालार्मलकाप्येव त्रिफलेषा भ्रमी
तिता । (गाँड़ीधर) । पद्मा भिभीतपारीणी फैले स्थान त्रिफला समें ।
(भावक्रान्त) ।

(२९) पिपलीमरिचश्टुवेराणि त्रिकटुकम् ॥४९॥
त्र्यूपणं कफमेदोप्रं मेदहुष्टविनाशनम् ।

निहन्यादीपनं गुल्मपीनसाद्यव्यस्तपतामपि ॥५०॥

(त्रिकटु—) पिपली (Piper Longum), मरिच (काली
मिर्च Piper Nigrum) और श्वेतर (सोंठ Zingiber
Officinalis), ये तीन त्रिकटु अवयव अनुप्रय कल्पाते हैं
॥४९॥ यह त्र्यूपण कफ और मेद को नष्ट करता है, प्रमेह,
कुछ और व्याधे के दोषों को नाश करता है, दीपन है और
गुल्म, नीनत तथा मन्दादित को दूर करता है ॥५०॥

(३०) आमलकीहरीतकीपिपलव्यश्विनकश्येति ॥५१॥
आमलक्यादिरित्येप गणः सर्वज्वरापहः ।

चम्पुध्यो दीपनो वृद्ध्यः कफारोचकगामाशनः ॥५०॥

(आमलक्यादिगण—) अंबला, हरटा पिपली और रिंग
(यह आमलक्यादिगण है) ॥५१॥ यह आमलक्यादिगण
सब ज्वरों को हरण करता है, नेत्र को हितकर है, दीपन है,
घरीर वृद्धिकर है और कफ संधा अस्थि को नाश करता है ॥५१॥

यत्कथ्य—पद्म—यद विनिमयु लिङ्ग लीनन दृश्य युह ।
दांग यन्मध्ये सर्वं दृश्यमुच्यते ॥ (चरक) ।

(३१) ग्रुपुसीसताप्रज्ञतष्टुलोद्दुवर्णांगि
लोहमलध्येति ॥५१॥

गणलप्वादिरित्येष गरक्किमिहरः परः ।

पिपासाविपद्वेगपाण्डुसेहरस्तथा ॥६२॥

(वृष्वादिगण—) अङ्गु (वंग, रंगा, Tin), सीस (सीसा Lead), तांबा (तांबा Copper), रजत (रौप्य, चांदी Silver), हृष्णलोह (कान्तलोह, तीक्ष्णलोह, Iorn), सुर्वर्य (सोना Gold) और लोहमल (लोहनिट, मण्डूर) यह वृष्वादिगण है ॥६२॥ यह वृष्वादिगण विष और हृष्मियों का परम नाशक है तथा तृष्णा, विष, हृदोग, पाण्डुरोग और प्रमेह इनका हरण करने वाला है ॥६२॥

बक्तव्य—लोहमल—ओषधि के लिये सैव पुराने किंवद्वि का ही उपयोग करना चाहिये—शताव्युत्तमं किंवद्वि भव्यावारीति-वार्षिकम् । अपमं विषवीर्यं ततो शीतं विषोपमम् ॥ गर—हृष्मिन् विष—नानाप्राणद्वाराशमलविरुद्धौषधिभिरस्मनाम् । विषाणां चाल्वीर्याणां येगो गर इति स्तुतः ॥ (अष्टांगहृदय) ।

(३२) लाजारेवतकुट्टजावसारकटफलहरिद्वा-

द्यनिस्वससच्छदभालत्यख्यमाणा चेति ॥६३॥

कषायस्तिक्तमधुरः कफपित्तार्तिनाशनः ।

कुष्ठकिमिहरश्वेव दुष्टवरणविशोधनः ॥६४॥

(लाजादिगण—) लाजा (लाख), आरेवत (आरवन्ध, मलतास), कुट्टज (कुड़ा), अधमार (करवीर, कनेर, erium Odorum), कटफल, हरिद्वा और दारहरिद्वा, अस्य, सप्तच्छद (सप्तर्णी, छत्विन), मालती (जाती) और श्रावमाणा (Delphinium Zalil) ॥६३॥ यह लाक्षादिगण कपाय, तिक्त और मधुर है, कफ और पित्त और पीड़ा को नाश करता है, कुष्ठ और हृष्मियों का हरण करता है और हुट घण को शोधन करता है ॥६४॥

पञ्च पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ॥६५॥

यहाँ से आगे पांच प्रकार के पञ्च मूलों का वर्णन करते ॥६५॥

बक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में यहाँ वर्णन किये हुए पांच प्रकारों के अतिरिक्त 'मञ्जस' और 'जीवन' नाशक दो अस्तिक रंचमूल वर्णन किये हैं—बलानुरुद्धरेण्डस्यपर्णीयेन च । मध्यमं कफवात्तं नातिपित्तकर लघु ॥ अभीलीवाजीवन्तीलीवर्कर्षभक्तैः लघुम् । जीवनाख्यं तु चकुव्यं वृष्णं पित्तानिलापहम् ॥

(३३) तत्र चिक्काटकवृहतीद्वयपृथक्षृपण्डर्ये विद्यापिनांघा चेति कन्तीयः ॥६६॥

पीयतिक्तमधुरं कन्तीयः पञ्चमूलकम् ।

वातम् चित्तशमनं द्विदणं चलदर्धनम् ॥६७॥

(लघुपञ्चमूल—) उनमें से चिक्काटक (गोदार), छोटी चूर्णी और वडी वृहती, एसियर्सी, विद्यापिनांघा (शालरसी) यह लघुपञ्चमूल है ॥६६॥ यह लघुपञ्चमूल कपाय, तिक्त और मधुर है, वातनाशक है, पित्तानामक है, उष्टिपारक है और गरीर का पल दूरने वाला है ॥६७॥

(३४) विल्वामिनमन्धिरुद्धुकपादलः काष्ठमर्य- चेति मधुत् ॥६८॥

सतिलं कफवात्तं पावै लघुशिदीपत्तम् ।

मधुरानुरसं चैव पञ्चमूलं मधुत् स्वृतम् ॥६९॥

(वृहत् पञ्चमूल—) बिल, अन्निसत्त्व (मणकारिका), दुंडुक (श्योनाक), पाटला (पारस्त, पाउर वृक्ष, Stercosp ermum Suaveolens) और काश्मरी (Gmelina Arbo-rea), यह मधुत् पञ्चमूल है ॥६८॥ यह मधुत् पञ्चमूल तिक्त रस, कफ वात नाशक, हलका, अस्ति को दीपन करने वाला और अनुरस से भ्रुर है ॥६९॥

बक्तव्य—इन्हों का जो रस प्रायः लघुत्तमा प्रतीत नहीं होता वाथवा पश्चात् थोड़ा प्रतीत होता है, वह अनुरस है—व्यक्तः शुक्रस्य चादी च रसो द्रव्यस्य लक्षते । विर्पयेणानुरसः । (चरल) अनुरसस्तु रसेनाभिमूतत्वादन्यत्को व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते ॥ (दाटांग-संभ्रह) । विशेष विवरण के लिये ४०वै अध्याय के पहले सूत्र का बक्तव्य देखो ।

अनयोर्देवद्वयमुच्यते ॥७०॥

गणः श्वासहरो द्वेष कफपित्तानिलापहः ।

आमस्य शक्तवश्चैव सर्वज्ञरविनाशनः ॥७१॥

(दवयमूल—) ये दोनों लघु और मधुत् पञ्चमूल दवयमूल दृश्यते हैं ॥७०॥ यह दवयमूलाण श्वास का दूरण करता है, वात पित्त और कफ को शांत करता है, आम रस या पात्त करता है और सर्व प्रकार दो जर्वों का नाशक है ॥७१॥

(३५) विद्यारीसारिच्चारजनीयुहूच्योऽजश्वर्ती चेति वह्लीसंक्षः ॥७२॥

(वह्लीपञ्चमूल—) विद्यारीकन्द, साविदा, एस्ट्रिया, गिलोय और मेहार्सींगी यह वह्ली संश्लक पञ्चमूल है ॥७२॥

(३६) फारमर्द्यान्धिकरुदपैरीयक्षातावरीयुहूच्य- नर्वय हति करण्डकसंक्षः ॥७३॥

(करण्डपञ्चमूल—) करण्ड (करौदा Capparis Cori-ndas), निकटक (गोदार), सैरासद (हुण्डपत, चिनापाल), चतावरी और चृपनसी (कष्टकपाली धूषा Capparis Sepiaria, अथवा ददरवृक्ष) । यह करण्ड लंगूर दंप्तपूल है ॥७३॥

त्वक्पित्तद्वये द्वेषो शौकलयविनाशयौ ।

सर्वसेहरौ द्वेष शुगदोपविनाशयते ॥७४॥

वह्लीपञ्चमूल और करण्डपञ्चमूल ये दोनों वात रक्षित हरण करने वाले, सीत ग्राहक के घोष जो नष्ट करने वाले, सर्व प्रसेहों को दूरण करने वाले तथा लीरीरों के नाशक होते हैं ॥७४॥

(३७) कुशकाशनलदर्भक्षारेष्मुक्ता हति दृष्ट- संक्षकः ॥७५॥

मूत्रदोपविकारं च दूषपित्तं तदैव च ।

दात्यः मधुजः दीरेण शीर्षमेव विनाशयेत् ॥७६॥

(गुणपञ्चमूल—) हुण (Poni ciliaris), काढ (Saccharum Spontaneum), या (नारायणी Acorus Calamus)

(पीरल Ficus Religiosa), लकड़ (पाङ्कु Ficus Infectoria), करीतन (आग्राताफ़, आमड़ा, Spondias Mangifera), चटुम (अरुण), आम (आम Mangifera Indica), कोणार्ग (आम का भेद, Mangifera Sylvatica), खोटकपत्र (लालापूज), जम्बूद्वय (महाजम्बू, यही जासुन Eugenia gaboniana और काकजम्बू, छोटी जासुन Eugenia Caryophyllifolia), चिशाल (विरोजीवूस Buchanania Latifolia), मधुक (मधुआ), रोहिणी (कुटुंबी), पन्नुल (खेत Calamus Rotundus), कदम्ब, घट्टी (खेर, Zizyphus jujuba), तिन्दुकी (तेन्दु), खिल्की (सालभेद, साकाई, Boswellia Serrata), होम, सावर लोम, भल्हातक (भिलावा Semiarctopanax Anacardium), पलाय (ढाक), नन्दीहृत ॥४७॥ यह न्यौपोषादिगण शण को हितकर है, संप्राप्ति है, भग्न अस्तिष्य को जोहते थाला है, रक्षित का हराय करने थाला है और ढाक, मेद तथा योनि के दीर्घों को दूर करता है ॥४८॥

(२५) गुह्यचीनिमधुक्सुमुखचन्दनानि पश्चकं चेति ॥४९॥

एष सर्वज्वरान् द्वन्द्वित गुह्यच्यादिस्तु दीपनः ।

द्वालासारोचकवर्मीपिपासादादनाशनः ॥५०॥

(गुह्यचादिगण—) गिलोय, नीम, कुसुमुरु (धनियर Coriandrum Sativum), चन्दन और पद्माल ॥५०॥ यह गुह्यचादिगण तर्वे प्रकार के जर्जों को नाश करता है, दीपन है और द्वालास, अरुचि, बमन, तृष्णा, ढाक को नाश करता है ॥५०॥

(२६) उत्पलस्तोतपलकुमुदसीगान्धिककुवलय-
पुण्डरीकाणि मधुकं चेति ॥५१॥

उत्पलादिरयं दादपितरकविनाशनः ।

पिपासाविष्टद्वोगच्छद्मूर्छाद्वरो गणः ॥५२॥

(उत्पलादिगण—) उत्पल (गीलकमल), रक्तोत्पल (लाल कमल), कुमुद (गोतकमल), सीगान्धिक (चढोदय विज्ञासी अर्थात् मुरुभि भील कमल), कुवलय (खेत और नील चर्ण कमल), पुण्डरीक (अर्थात् गोत कमल) और पठिमधु ॥५१॥ यह उत्पलादिगण दाह रक्त पित्त का नाश करता है और हृषा, चिप, हृदय, बमन और मूर्छाओं इनका हरण करने थाला है ॥५२॥

यत्कथ्य—उत्पलादिगण में कमल के जो भिन्न भिन्न गाम निर्दिष्ट किये हैं, उनके चर्णों के संबंध में न केवल भिन्न भिन्न प्राचीन आपार्य परस्पर वित्तवाही दिलाई है देते हैं अपिनु दल्हणाचार्य भी अपनी टीका में स्वयं वित्तवाही है । यथा जल्कीकावचत्वयीय (१३वें) अच्याम में 'पदोत्पलनलिनकुमुद' मूल की टीका में लिखा है—उत्पलीकील, पुण्डरीकपतिषेषण, द्रुतग्रस्तस्तोत्रल । और यही टीका में लिखते हैं—उपल नीने तल, पुण्डरीके नेत्रपंच, त्रुतवल्मीकीलभवलम् ।

(२७) सुस्तादिग्यादारादिग्यादरीतक्षयामलक-
विद्धीतकुष्ठदैमयतीवयवायाटाकदुरीदिहीशार्क्षद्यति-
विपद्यादिवीभद्रातकानि चित्रवद्येति ॥५३॥

एष सुस्तादिको गाद्या गणः श्लेष्मनिष्पदनः ।

श्लेष्मनिष्पदनः स्तन्यदोधनः पाचनस्तथा ॥५४॥
(सुस्तादिगण—) सुस्ता, हलदी, दारु हलदी, हरु अर्विला, येहा, कुछ, हैमवती (खेत खया), वचा, पाते कुटुंबी, शार्हेंदा (काकजंघा, काकमारी, काकादनी), भनि विका, द्वाविदी (छोटी हलायची), भहातक (भिलावा) और चित्रक ॥५४॥ यह सुस्तादिगण इफ का नाशक है, योनि दोर्घों का हरण करने थाला है, दूष का शोषक है और पातक है ॥५४॥

(२८) द्वरीतक्षयामलकविभीतकानि चिफला ॥५५॥

चिफला कफपित्तादी मेहकुष्ठविनाशनी ।

चक्षुध्या दीपनी द्वैव विपमञ्चरनाशनी ॥५६॥

(चिफला—) हरीतकी (दरडा Terminalia Chebulia) आमलक (अर्विला Emblica Officinalis), और विभीतक (बहेडा Terminalia Belerica) यह चिफला है ॥५५॥ यह चिफला कफ और पित्त नाशक है, प्रेषेद और कुटुंब को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, अभि दीपक है तथा विपमञ्चर नाशक है ॥५५॥

यत्कथ्य—इस चिफला के अतिरिक्त काशमी चर्झर

और पृष्ठपक्ष इनकी दूसरी चिफला होती है—पश्चा विनीतक पाती महती चिफल भना । खल्वा काशमर्त्तनदूरपृष्ठकैर्त्तिर्वेद ॥ चिफला में तीनों के प्रमाण के संबंध में मतभेद है—एक ही तरीकी योज्या ही च योज्यी विनीतकै । खल्वायमिलकादेव विपानेषा प्रतीतिः । (शर्वाद्यतर) । पश्चा विनीतवाचीया फलै खल्वा चिफला समै ॥

(भावप्रकाश) :

(२९) पिपलीमरिचश्वस्त्रवेराणि चिकुडकम् ॥५७॥

इयूषणं कफमेदोद्धृं मेहकुष्ठत्वयगमयन् ।

निहन्यादीपनं गुल्मपीनसाद्यवपतामपि ॥५८॥

(चिकुड—) पिपली (Piper Longum) मरिच (काली मिर्च Piper Nigrum) और ज़िंबेर (सोट Zingiber Officinalis), ये तीन चिकुड अथवा इयूषण चिकुडते हैं ॥५८॥ यह इयूषण कफ और मेद को नष्ट करता है, प्रेषेद, कुठ और लवा के रोगों को नाश करता है, दीपन है और गुल्म, भीनस तथा मन्दातिको दूर करता है ॥५८॥

(३०) आमलकीदीरीतकीपिपलयश्वशकथेति ॥५९॥

आमलक्यादित्तिवेष गणः सर्वज्वरपदः ।

चक्षुध्यो दीपनो धृष्यः कफारोचकनाशनः ॥६०॥

(आमलक्यादिगण—) आंविला, दरडा पिपली और चिक्रक (यह आमलक्यादिगण है) ॥५९॥ यह आमलक्यादिगण सर्व इनों को हरण करता है, नेत्र को हितकर है, दीपन है, शरीर धृष्टिकर है और कफ तथा अरुचि को नाश करता है ॥५९॥

यत्कथ्य—१८—यह चिक्रकमुख चिक्र जीवन हरण गुरु । इस जनसंकेत सर्व तत् इयूष्यते ॥ (घटक) ।

(३१) ग्रपुसीसताधारजतद्युलोद्दृष्टुवर्णानि
लोहमलधेति ॥६१॥

गणस्त्रप्वादिरित्येष गरक्षिमिहरः परः ।

पिपासाविपहृदोगपाण्डुस्तेहरस्तथा ॥६२॥

(ग्रन्थादिगण) अङ्गु (वंग, रांग, Tin), सीस (सीसा Lead), ताम्र (तांबा Copper), रजत (रौब, चांदी Silver), कृष्णलोह (कान्त्लोह, तीक्ष्णलोह, Iron), सुखर्या (सोना Gold) और लोहमल (लोहक्षिट, मण्डूर) यह ग्रन्थादिगण है ॥६२॥ यह ग्रन्थादिगण विष और इमियों का परम नाशक है तथा तृष्णा, दिष्ण, हृदोग, पाण्डुरोग और प्रमेह इनका हरण करने वाला है ॥६२॥

वक्तव्य—लोहमल—ओषधि के लिये सदैव पुराने किंवद्दि का ही उपयोग करना चाहिये—शताव्युत्तमं किंवद्दि मध्यवाशीति-वार्यिकम् । अथम पटिवर्यं ततो हीनं विषोपमम् ॥ गर—हृत्रिम विष—नानाप्राणहस्तशमलविरुद्धौपैषभिमस्मनाम् । विषाणां चाल्वीर्चाणां योगे गर इति स्मृतः ॥ (अष्टांगहृदय) ।

(३२) लाज्ञारेवतकुट्टजाभ्यमारकदफलहरिद्रा-

द्युषनिष्वससच्छदभालत्यायमाणा चेति ॥६३॥

कषायस्तिक्तमधुरः कफपित्तार्तिनाशनः ।

कुष्ठक्षिमिहरश्चैव दुष्टप्रशविशेषोधनः ॥६४॥

(लाज्ञादिगण) लाज्ञा (लाख), आरेवत (आरवन्ध, मिलतास), कुट्टज (कुड़ा), अधमार (कर्वीर, करेर, Ferium Odorum), कदफल, हरिद्रा और दारहरिद्रा, नेम्ब, सत्सच्छद (तसपर्ण, छतिवन), भालती (जाती) और श्रायमाणा (Delphinium Zalil) ॥६३॥ यह लाज्ञादिगण क्षाय तिक्त और मधुर है, कफ और पित्त शीं पीढ़ा को नाश करता है, कुष्ठ और इमियों का हरण करता है और हुए व्रण को शोधन करता है ॥६४॥

पञ्च पञ्चमूलान्त्यत ऊर्ध्वं वद्यायामः ॥६५॥

यहाँ से आगे पांच प्रकार के पंच सूलों का वर्णन करते हैं ॥६५॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में यहाँ वर्णन किये हुए पांच प्रकारों के अतिरिक्त 'भव्यम्' और 'जीवन' नाशक दो अधिक पंचमूल वर्णन किये हैं—वलापुनवैरेण्डस्यपर्याप्तिविनेन च । गथम कफवातमं नातिपित्तकरं लयु ॥ अभीरुलीराजीवनीजीवकर्षभक्तैः स्त्रैर् । जीवनालयं तु चकुप्य वृथं पित्तानिलपदम् ॥

(३३) तत्र त्रिकरणकुहतीद्वयषुथरूपणर्यों पित्तारिगन्धा चेति कर्मीयः ॥६६॥

गोपतिक्तमधुरं कर्मीयः पञ्चमूलकस् ।

धात्रां पित्तशमनं चूद्धरणं घलवर्धनम् ॥६७॥

(लघुपंचमूल) उनमें से त्रिकरण (गोपत), धोटी गैरी और दसी वृहती, पृष्ठिपर्णी, विदारिगन्धा (शालपर्णी) यह लघुपंचमूल है ॥६६॥ यह लघुपंचमूल क्षाय, तिक्त और मधुर है, वातनाशक है, पित्तशमन है, पुष्टिकारक है और दीरी का एउटा व्याने वाला है ॥६७॥

(३४) विल्वाग्निमन्थिराहुकपाट्टा: धात्रमर्य-
शेदि मदर् ॥६८॥

स्तितिसं कफवातमं एके लघ्वशिदीपनम् ।

मधुरानुरसं चैव पञ्चमूलं महत् वस्तुतम् ॥६९॥

(वृत्त पंचमूल) विल्व, अग्निगन्ध (गणकारिका), दंडल (ज्योताक), पाट्टा (पास्त, पाठर इत्य, Stercosp ermum Suaveolens) और कास्मरी (Gmelina Arborea), यह मधुर पंचमूल है ॥६८॥ यह मधुर पंचमूल तिक्त रस, कफ वात नाशक, हृलका, अग्नि को दीपन करने वाला और अनुरस में मधुर है ॥६९॥

वक्तव्य—द्रव्यों का जो रस प्रायः लघुत्तमा प्रतीत गर्ही होता वायवा पश्चात् थोड़ा प्रतीत होता है, वह अनुरस है—व्यक्तः शुष्कस्य चादी च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते । विषेयेणानुरसः । (वरक) । अनुरसस्तु रसेनामिभूतवादन्यतो व्यक्तो वा किञ्चिदितते ॥ (अष्टांग-संग्रह) । विशेष विवरण के लिये ४०वें अध्याय के पहले सूचना का वक्तव्य देसी ।

अनयोर्दशमूलसुच्यते ॥७०॥

गणः श्वासहृरो हेष वाक्फपित्तानिलापहः ।

आमस्य धात्रवस्त्रैव सर्वज्वरविनाशनः ॥७१॥

(दशमूल) ये दोनों लघु और मधुर पंचमूल लघुलाते हैं ॥७०॥ यह दशमूलगण धात्र वा एत्रण करता है, वात पित्त और कफ को शांत करता है, आम रस वा पाचन करता है और सर्व प्रकार के ज्वरों वा वायरक है ॥७१॥

(३५) विदारीसारित्वारजनीगुह्यच्योऽजम्भूती
चेति चहीसंक्षः ॥७२॥

(चहीपंचमूल) विदारीकन्द, सारिका, एरिद्रा, मिलोद और शेहार्सीगी यह चही संक्षेप पंचमूल है ॥७२॥

(३६) करमर्द्याग्निप्रथमठक्कर्षीयक्षात्तराजरीयूष्म-
लस्य इति करण्डकसंक्षः ॥७३॥

(करण्डकपंचमूल) करमर्द्य (कर्दीदा Capparis Corundas), त्रिकरण (गोलड), सैर्टायक (हुस्टप्लट, रिपारासा), धात्रारी और चुगाली (लण्डपाली युक्त Capparis Separia, अधवा पद्मसूक्ष्म) । यह करण्डक संयुक्त पंचमूल है ॥७३॥

करमर्द्याग्निप्रथमठक्कर्षीयक्षात्तराजरीयूष्म-

लस्य इति करण्डकसंक्षः ॥७३॥

चहीपंचमूल और करण्डकपंचमूल ये दोनों गत्य एकपित्त एत्रण करने वाले, शीर्ष प्रकार के पीथ को गद छले दाए, सर्व प्रमेहों को एत्रण लगे वाहे तथा वीरदोषों से नाशक होते हैं ॥७३॥

(३७) छुशकाशनलङ्घनारेषुल्लादेषुल्लादेषुल्लादे इति दृष्ट-
संरक्षः ॥७४॥

मूत्रदोषविकारं च रक्तपित्तं तथैषं च ।

वान्त्यः श्रुतुकः दीरेण शीघ्रसेव विनाशयेत् ॥७५॥

(मूत्रपंचमूल) छुत्र (Pocillaria), लात (Sacch arum Spontaneum), नत (नत्सु, Arundoo Karka),

(पीपल Ficus Religiosa), हुच (पाङ्कुड Ficus Infectoria), करीतन (आग्रातक, आमड़ा, Spondias Mangifera), कटुग (मरुंत), आम (आम Mangifera Indica), छोयाम (आम का मेद, Mangifera Sylvatica), चोरकर (आकाशहृष्ट), अमूद्रय (महाजन्म, वही जामुन Eugenia gaboniana और काकजन्म, दोही जामुन Eugenia Caryophyllifolia), चिपाल (चिरीतार्गुस Buchanania Latifolia), मधुक (महुआ), रोदियी (कटुकी), घन्गुल (बेत Calamus Rotung), कदम्ब, बद्री (बेर, Zizyphus jujuba), तिन्हुकी (तेन्दु), राहकी (साल-भेद, साकई, Boswellia Serrata), सीम, सावर सोग, भट्ठातक (भिलास Semecarpus Anacardium), पठाण (ढाक), नन्दीहृष्ट ॥४७॥ यह न्यायोग्यादिगण तथा को हितकर है, संप्राप्ति है, भास अस्तिय को झोड़ने वाला है, रक्षित का हराय करने वाला है और दाह, मेद तथा योनि के दोषों को दूर करता है ॥४८॥

(२५) गुहूचीनिम्यकुस्तुम्युद्यवन्दनानि प्रमां चेति ॥४९॥

एष सर्वज्वरान् द्वन्द्वं गुहूच्यादिस्तु दीपनः ।

इक्षुसारोचकवर्मीपिपासादादानादानः ॥५०॥

(गुहूच्यादिगण—) गिलोय, नीम, उत्सुखुरु (पिनिया Corisandrum Sativum), चन्दन और पायास ॥४९॥ यह गुहूच्यादिगण सर्व प्रकार के ज्वरों को नाश करता है, दीपन है और इक्षुसार, अराचि, वमन, तृष्णा, दाह को नाश करता है ॥५०॥

(२६) उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसीगन्धिकुवलय-
पुएडीकाणि मधुकं चेति ॥५१॥

उत्पलादिरयं दाहपित्तरकविनाशनः ।

पिपासाविपहृदोगच्छदिमूर्ज्ञाद्दो गणः ॥५२॥

(उत्पलादिगण—) उत्पल (गीलकमल), रक्तोत्पल (लाल कमल), कुमुद (खेतकमल), सीगन्धिक (चंद्रीदय विजासी अलत सुरभि नील कमल), कुवलय (खेत और नील वर्ण कमल), पुष्टिरीक (अलत और कमल) और यहिमु ॥५१॥ यह उत्पलादिगण दाह रक्त पित्त का नाश करता है और तृष्णा, विष, हृदीसा, वमन और मूर्छा इनका हरण करने वाला है ॥५२॥

यक्षज्य—उत्पलादिगण में कमल के जो भिज भिज नाम निर्दिष्ट हिए हैं, उनके वर्ण के संबंध में न केवल भिज भिज प्राचीन वाचार्य परस्पर विसंवादी रिक्षाई हेते हैं वर्गितु इहांचार्य भी अपनी टीका में 'स्वयं विसंवादी' हैं । यथा अलीकावचरणीय (१३वे) वचार्य में 'प्राप्तोत्पलनलिङ्गमुरु ' सूत्र की टीका में लिखा है—उत्पलीयील, पुष्टिरीकमिथेपाप, कुवलय रक्तोत्पलम् । और वर्षीय टीका में लिखते हैं—उत्पल वीले तल, पुष्टिरीक खेतपाप, तुवलयमीवीलयवलय ।

(२७) मुस्तादिद्यादारुहृदिद्यादीतफायामलक-
विभीतकुमुदैमवतीयवायाटाकटुरीहिरीशार्ङ्गस्ति-
विपाद्रायिदीमहातकानि विश्रकाम्येति ॥५३॥

एष मुस्तादिको नामा गणः श्लेष्मनिष्ठूद्रवः ।
योनिदोपहरः स्तन्यदोधनः पाचनस्तथा ॥५४॥
(मुस्तादिगण—) मुस्ता, हल्दी, दाद हल्दी, हर अंविला, यहडा, कुट, ईमवती (खेत वसा), वसा, पा बदकी, शार्ङ्गेटा (काकजंया, काकमार्ची, काकादी), अंविषा, दायिरी (छोटी हल्दायरी), भलातक (भिलात और चित्रक) ॥५४॥ यह मुस्तादिकाण दफ का नाशक है, दो दोषों का हरण करने वाला है, दूष का शोधक है उपायक है ॥५४॥

(२८) हरीताक्यामलकविभीतकानि त्रिफला ॥५५॥

त्रिफला कफपित्तस्त्री मेहकुमुद्यविनाशनी ।

चम्पुर्या दीपनी चैव विपमज्वरनाशनी ॥५६॥

(त्रिफला—) हरीतकी (हरडा Terminalia Chebula) आमलक (अंविला Emblica Officinalis), अंविरीतक (बेंदा Terminalia Belericus) यह त्रिफल है ॥५५॥ यह त्रिफल कफ और वित्त नाशक है, प्रमेह और कुट को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, अस्त्री दीरेव तथा विपमज्वर नाशक है ॥५६॥

यक्षज्य—इस त्रिफला के अतिरिक्त कालार्थी रस्त्र और पृष्ठक हरडी दूसरी त्रिफला होती है—प्रथा त्रिफल भारी महनी त्रिफल मता । त्वसा कामर्वेलजूरुपलकहैमेवद ॥ त्रिफला में तीनों के प्रमाण्य के संबंध में मतभेद है—एक हरीतकी पीड़ा दो चोंची त्रिफलीको । चलायामिलकामये विफलेषा मर्हिता । (शार्ङ्गपर) । प्रथा त्रिफलीतार्गीण पैठे स्वात्र त्रिफला संभी ॥ (भावकाण्ड) ।

(२९) पिपलीमरिचमृद्धज्वरेति त्रिकटुकम् ॥५७॥

इयूपणं कफमेदोम्पं मेहकुमुद्यवगमयान् ।

निहन्यादीपनं गुलमपीनसाम्यव्यतपत्तामपि ॥५८॥

(त्रिकटु—) पिपली (Piper Longum), सरिष (काली मिरच Piper Nigrum) और ज़ग्वेर (सोंठ Zingiber Officinalis), ये सीन त्रिकटु अथवा इयूपण कहलाते हैं ॥५७॥ यह इयूपण कफ और मेद को नष्ट करता है, प्रमेह, कुट और वज्जा के दोषों को नाश करता है, दीपन है और गुज्ज, पीनस तथा मन्दाद्वाष को दूर करता है ॥५८॥

(३०) आमलकीहरीतकीपिपलविभ्रकम्येति ॥५९॥

आमलक्यादिरित्येप गणः सर्वेन्द्रवपदः ।

चम्पुर्यो दीपनो इयूपः कफारोचकगादानः ॥६०॥

(आमलक्यादिगण—) आवला, हरडा पिपली और चित्रक (यह आमलक्यादिगण है) ॥५९॥ यह आमलक्यादिगण सर्व ज्वरों को हरण करता है, नेत्र को हितकर है, दीपन है, गरीर त्रुटिकर है और कफ तथा वरचि को नाश करता है ॥६०॥

यक्षज्य—इयूप—दत विकिनिपुरु लिख जीवन बृहत युरु । यस्त ननसवै नव तद इयूपुन्येने ॥ (चरक) ।

(३१) ग्रपुसीसताम्बरजतहाप्लोहसुवर्णानि
लोहभलयेति ॥६१॥

गणस्त्रज्वादिरित्येष गरक्तिमिहरः परः ।
पिपासाविषहृद्दोगपाणहुमेहहरस्तथा ॥६२॥

(त्रिवादिगण) त्रिपु (वंग, रांगा, Tin), सीस (सीसा Lead), ताक्र (तांवा Copper), रजत (रौप्य, चांदी Silver), शृण्यलोह (कान्तलोह, तीक्ष्णलोह, Iron), सुर्वा (सोना Gold) और लोहमल (लोहलिट, मण्डूर) यह त्रिवादिगण है ॥६२॥ यह त्रिवादिगण विष और कृमियों का परम नाशक है तथा तृष्णा, विष, हृदोग, पाण्डुरोग और ग्रमेर हृनका हरण करने वाला है ॥६२॥

बत्तदय—लोहमल—ओपस्थि के लिये सैदैव पुराने किट्ठ का ही उपयोग करना चाहिये—शताव्युत्तमं किट्ठ मध्यवाशीति-चारिकम् । अथमं वस्तिर्वीयं ततो हीनं विषोपमम् ॥ गर—द्वितीय विष—नानाप्राण्यद्वारामलविस्त्रौपिधभस्मनाम् । विषाणां चाल्यवीर्याणां योगे गर इति स्मृतः ॥ (अष्टांगहृदय) ।

(३२) लाज्ञारेचतकुट्टजाभ्वमारकदफलहरिद्वा-
त्यनिष्ठवसप्तच्छद्मालत्यख्यायमाणा चेति ॥६३॥

कषायस्तिक्प्रधुरः कफपित्तार्तिनाशनः ।

कुष्ठक्रिमिहरश्चैव दुष्टुव्रणविश्रोधनः ॥६४॥

(लाज्ञादिगण) लाज्ञा (लाख), आरेचत (आरखध, प्रसलतास), कुट्टज (कुड़ा), अधमार (करबीर, कनेर, Verium Odorum), कट्टफल, हरिद्वा और दाल्हरिद्वा, निस्य, सप्तच्छद (सपर्या, छतिवन), भालती (जाती) और ज्ञायमाणा (Delphinium Zalil) ॥६४॥ यह (लाज्ञादिगण) कषाय, तिक्त और मधुर है, कफ और पित्त की पीड़ा को नाश करता है, कुष्ठ और कृमियों का हरण करता है और हुए व्रण को शोधन करता है ॥६४॥

पञ्चपञ्चसूलान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ॥६५॥

यहाँ से आगे पांच प्रकार के पञ्च सूलों का वर्णन करते हैं ॥६५॥

बत्तदय—अष्टांगसंग्रह में यहाँ वर्णन किये हुए पांच प्रकारों के अतिरिक्त 'मध्यम' और 'जीवन' नामक दो अधिक पंचसूल वर्णन किये हैं—बलपुनर्नवैरण्डस्पर्यपर्णद्येन च । ग्रथमं कफवातामं नातिपित्तकरं लघु ॥ अभीर्लीराजीवन्तीजीवकर्मकैः चतुर्म् । जीवनाख्यं तु कक्षयन्व वृथं पित्तानिलापहम् ॥

(३३) तत्र त्रिकरणकुहरीद्वयपृथग्यूषणयोर्विद्विग्न्या चेति कनीयः ॥६६॥

ग्रयतिरक्तमधुरं कनीयः पञ्चसूलफल् ।

धातमं पित्तशमनं दृश्यां चलवर्धतम् ॥६७॥

(लघुपञ्चसूल) उनमें से त्रिकरण (गोलत), छोटी चूर्णी और छोटी वृहती, पृष्ठियाँ, विद्विग्न्या (शालपर्णी) यह लघुपञ्चसूल है ॥६६॥ यह लघुपञ्चसूल व्याय, तिक्त और मधुर है, वातनायक है, पित्तशमक है, पुष्टिकारक है और गरीर का घल बढ़ाने वाला है ॥६७॥

(३४) विल्वाभिमन्थदिरहुकपादलः धार्मय-
चेति भृत्य ॥६८॥

सतिलं कफवातम्भं पाके लघुमिहीपत्तम् ।

मधुरानुरसं चैव पञ्चसूलं महत् स्वृतम् ॥६९॥

(बृहत पञ्चसूल) बिल्व, अग्निमन्थ (गदाकारिङा), डंडक (स्पोनाक), पाटला (पारख, पातर वृक्ष, Stercospurum Suaveolens) और काशमरी (Gmelina Arborea), यह महत पञ्चसूल है ॥६८॥ यह महत पञ्चसूल तिक्त रस, कफ वात नाशक, हलका, अस्ति को दीपन करने वाला और अनुरस में मधुर है ॥६९॥

बत्तदय—द्वच्यों का जो रस प्रायः स्वष्टतया प्रतीत वहीं होता अथवा पश्चात थोड़ा प्रतीत होता है, वह अनुरस है—व्यक्तः शुक्तस्य चादौ च रसे द्रव्यस्य लक्ष्यते । विषयेणातुसः । (चरक) । अनुरसतु रसेनाभिमूतवादन्वयतो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते ॥ (अष्टांग-संग्रह) । विशेष चिकित्सा के लिये धूर्वे अन्याय के पहले सूत्र का बत्तदय देखो ।

अनयोर्दशसूलसुच्यते ॥७०॥

गणः श्वासहरो लेष कफपित्तानिलापहः ।

आमस्य शावनस्यैव सर्वज्वरविनाशनः ॥७१॥

(दशसूल) ये दोनों लघु और महत पञ्चसूल दशसूल कहलाते हैं ॥७०॥ यह दशसूलगण आस का हरण करता है, वात पित्त और कफ को शांत करता है, आम रस का पाप्त करता है और लव्य प्रकार के जर्जरों का नाशक है ॥७१॥

(३५) विदारीसारिवारजनीणुहृच्योऽजमृदी
चेति लहुसंश्नः ॥७२॥

(लहुपञ्चसूल) विदारीकन्द, लसिता, एरिया, शिलोद्य और भेदासींगी यह लहु संज्ञक पञ्चसूल है ॥७२॥

(३६) करमर्दिनिकरण्डसैरीथकशात्वरीयृज्ञ-
नलय इति करण्डकसंश्नः ॥७३॥

(कण्टकपञ्चसूल) करमर्द (कर्मेदा Capparis Coriifolia), क्रिकटक (गोलत), सैरावक (कुण्डल, जियामाला), शातवरी और गुलनसी (कण्टकपाली लहु Capparis Sepiaria, अथवा ददरसुप) । यह कण्टक संज्ञक पञ्चसूल है ॥७३॥

रक्षपित्तहरी द्येते शोफङ्गयविद्विष्वै ।

सर्वेषहरौ वैव शुगदोपविद्विष्वै ॥७४॥

बलुपञ्चसूल और कण्टकपञ्चसूल ये दोनों गय रक्षित हरण करने वाले, तीन ग्रन्थ के शोध को लट करने वाले, सर्व प्रमेहों को हरण करने वाले तथा दीर्घिदोरों के नाशक होते हैं ॥७४॥

(३७) झुशकादानलदर्भकारेषुक्ला इति एष-
संश्नः ॥७५॥

सूत्रदोपविकारं च रक्षपित्तं तर्हैव च ।

अन्त्यः प्रसुतः दीरेण शीघ्रेव चिनाशयेत् ॥७६॥

(लघुपञ्चसूल) झुश (Poa ciliaris), जाद (Saccharum Spontaneum) वा गोल (Cynodon Dactylon) यह अन्त्यः प्रसुतः दीरेण शीघ्रेव चिनाशयेत् ॥७६॥

(पीपल Ficus Religiosa), लूषा (पाकुड़ Ficus Infectoria), करीतन (आम्रातक, आमड़ा, Spondias Mangifera), कटुम (अरुण), आम्र (आम Mangifera Indica), कोयाम (आम का भेद, Mangifera Sylvatica), चोकपत्र (लाजाइत), अमूद (महाजव्य, वरी आमुन Eugenia gaboniana और काकन्यू, छोटी लासुन Eu-

Zizyphus jujuba), तिनुकी (तेन्दु), सल्ली (सालभेद, सालडै, Boswellia Serrata) सोय, सापर सोय, भाषुतक (मिलावा Semicarpus Anacardium) पलाय (ढाक), नन्दीबूत ॥४३॥ यह न्यौपेशादिगण वाण को हितकर है, संप्रभी है, भास अस्थि को जोड़ने वाला है, रक्षित का हाथ करने वाला है और शह, मेद तथा योनि के दोरों को दूर करता है ॥४४॥

(२५) गुहूचीनिम्बकुस्तुमुखचन्दनानि पश्चकं चेति ॥४५॥

एष सर्वज्वराद् दृष्टिं गुहूच्यादिस्तु दीपणः ।

द्वाषासारोचकवर्मीपिपासादाहनाशनः ॥४०॥

(गुहूचादिगण—) गिलोय, भीम, कुस्तुमुख (धनिया Coriandrum Sativum), चन्दन और पश्चात् ॥४५॥ यह गुहूचादिगण सर्व प्रकार के ज्वरों को नाश करता है, दीपण है और द्वाषास, अरचि, वमन, तृष्णा, दाह को नाश करता है ॥४०॥

(२६) उत्पलरक्तोत्पलकुसुमसौगन्धिककुपलय-पुण्डरीकाणि मधुकं चेति ॥४६॥

उत्पलादिर्यं दाहपित्तरक्तविनाशनः ।

पिपासातिपद्मदोगच्छर्दिमूर्छाद्द्वारो गणः ॥४७॥

(उत्पलादिगण—) उत्पल (नीलकमल), रसोलल (साल कमल), कुसुम (खेतकमल), सौगन्धिक (घोड़ीदय विकासी वृत्तत सुरभि नील कमल), कुपलय (खेत और नील वर्षा कमल), मुर्छारीक (अर्थत खेत कमल) और पश्चिमु ॥४६॥ यह उत्पलादिगण दाह रक्त पित्त का नाश करता है और तृष्णा, विष, द्वाषास, वमन और मूर्छा इनका हारण करने वाला है ॥४६॥

युक्तव्य—उत्पलादिगण में कमल के जो भिन्न भिन्न नाम निर्दिष्ट किये हैं, उनके वर्ण के संबंध में न केवल भिन्न भिन्न प्राचीन वाचाये परस्पर विसंवादी दिया है देते हैं अपितु इह ज्ञानार्थी भी वरनी ईका में स्वयं विसंवादी है । सहा अलीकांकचरदी (१३वे) अन्वय में 'पश्चेष्वनलिनिकुसुम' सूत्र की ईका में लिखा है—उत्पलीवतील, मुण्डीकमितीलपल, कुलक रथीलकम् । और यही ईका में लिखते हैं—उत्पल नीले रत्न, कुण्डीक लेपन, दुवलमीवशीलवत्तम् ।

(२७) मुस्तादिद्विदादाहरिद्रादीतप्यामलक-विमीतकुम्भैमपतीयचायाठाकुदीरिदीशार्हस्ताति विपाद्वयिदीमहातकानि विषवद्येति ॥४८॥

एष मुस्तादिको नामा गणः श्वेष्मनिपूदनः ।

योनिदोपहरः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा ॥४८॥

(मुस्तादिगण—) मुस्ता, हल्दी, दाह हल्दी, हर औंवला, पद्मा, कुट, हैमवती (खेत वचा), वचा, पात कटुकी, यार्देटा (काकन्दा, काकमारी, काकादीनी), अर्द विषा, द्वाविडी (छोटी हलावडी), भहातक (मिलावा और चिद्रक ॥४९॥ यह मुस्तादिगण कफ का नाशक है, यों दोरों का हारण करने वाला है, दूध का घोषक है अं पापक है ॥४९॥

(२८) हरीतप्यामलकविमीतकानि विफला ॥४९॥

विफला एकपित्तझी मेहकुष्टविनाशनी ।

चक्षुप्या दीपनी चैव विषमञ्चरनाशनी ॥५०॥

(विफला—) हरीतकी (हरदा Terminalia Chebula) आमलक (आंवरा Emblica Officinalis), भीं दिमीनक (बेदा Terminalia Belerica) यह शिफल है ॥५०॥ यह विफला कफ और रित नाशक है, प्रमेह और कुट को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, अग्नि दीरक है तथा विषमज्वर नाशक है ॥५०॥

युक्तव्य—इस विफला के अतिरिक्त काशमरी रखने और पृष्ठक इनकी दूसरी विफला होती है—स्वयं विशीर्ण भाजी महती विलय मता । स्वता कार्यमैलर्जुप्रकाशैवेति ॥ विफला में तीनों के प्रमाण के संबंध में मतभेद है—एक ही तरीं वोज्या हो चौंबी विशीर्णकी । चत्वारीमलकम्बव विफलैया प्रभी निना । (पांचदार) । पथ्या विमीतपात्रीणा पहै स्पात् निफला समै ॥ (भावप्रकाश) ।

(२९) पिप्पलीमरिचश्टङ्गवैराणि विकटुकम् ॥५१॥

न्यूपणे कफमेदोभ्यं मेहकुष्टत्वगमयन् ।

निहन्यादीपनं गुलमपीनसाद्यस्पतामपि ॥५१॥

(विकट—) पिप्पली (Piper Longum) मरिच (काली मिरच Piper Nigrum) और ज़िंबेर (सौंठ Zingiber Officinalis) ये तीन विकट अवश्य श्वेष्मन बैलाते हैं ॥५१॥ यह प्रदूषण कफ और मेद को नष्ट करता है, प्रमेह, कुट और वचा के दोरों को नाश करता है, दीपण है और गुलम, दीनस तथा मन्दासि को दूर करता है ॥५१॥

(३०) आमलकीहरीतकीपिप्पलयथियक्षेति ॥५२॥

आमलकविदिरित्येष गणः सर्वज्वरापहः ।

चक्षुप्यो दीपनो चैव्यः कफरोयेचकनाशन ॥५२॥

(आमलकयादिगण—) अंवला, हरदा पिप्पली और वित्रक (यह आमलकयादिगण है) ॥५२॥ यह आमलकयादिगण सर्व ज्वरों को हारण करता है, नेत्र के हितकर है, दीपण है, गरीर धूक्तिकर है और कफ तथा अरचि को नाश करता है ॥५२॥

युक्तव्य—इष्य—यद विचिपशुर स्त्रिय विवत वृण शुरु । एवं मनसवैर्ण सर्व तद वृथमुच्चते ॥ (चारक) ।

(३१) ब्रुसीसताग्ररजतछप्पलोद्द्वयर्णग्नि लोहमलयेति ॥५३॥

गणस्त्रप्वादिरित्येष गरकिमिहरः परः ।

पिपासाविपहुद्वेगपणाण्डुमेहहरस्तथा ॥६२॥

(त्रिव्यादिगण—) अङ्गु (वंग, रांग, Tin), लील (सीसा Lead), तात्र (तांवा Copper), रजत (रौप्य, चांदी Silver), कृष्णलोह (कान्तलोह, तीक्ष्णलोह, Iron), सुवर्ण (सोना Gold) और लोहमल (लोहकिट, मण्डूर) यह त्रिव्यादिगण हैं ॥६२॥ यह त्रिव्यादिगण विष और कृमियों का परम नाशक है तथा तृपा, दिप, हृदोग, पाण्डुरोग और अमोह इनका हरण करने वाला है ॥६२॥

बक्तव्य—लोहमल—ओपयंथि के लिये सदैव पुराने किट का ही उपयोग करना चाहिये—शताव्यमुत्तमं किटं मध्यव्याशीति-चार्पिकम् । अधमं पश्चिमीयं ततो हीनं विषेषमम् ॥ गर—कृत्रिम विष—नानाप्राण्यद्रशमलविलोपयिभस्मनान् । विषाणां चाक्षवीर्णाणां योगे गर इति स्तुतः ॥ (अष्टांगहृदय) ।

(३२) लाक्षोरेवत्कुटजाश्वमारकदफलहरिद्रा-

निस्त्रससच्छद्मलत्यल्लायमाणा चेति ॥६३॥

प्रायतिक्तमधुरः कफपित्तार्दिनाशनः ।

षष्ठिक्रिमिहरश्वेव दुष्प्रवणविशेषधनः ॥६४॥

(लाक्षादिगण—) लाक्षा (लाख), आरेवत (आरम्भ, अत्तस), कुटज (कुड़ा), अश्वमार (कर्वीर, कनेर, nium Odorum), कट्टफल, हरिद्रा और दारहरिद्रा, व, ससच्छद (ससर्पण, छतिवन), भालती (जाती) ए श्रावमाणा (Delphinium Zelil) ॥६३॥ यह ग्राहकादिगण कपाय, तिक्त और मधुर है, कफ और विष पीड़ा को नाश करता है, कुष्ठ और कृमियों का हरण करता और दुष्ट व्याधि को शोधन करता है ॥६४॥

पञ्च पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ॥६५॥

यहाँ से वागे पांच प्रकार के पंच मूलों का वर्णन करते ॥६५॥

बक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में यहाँ वर्णन किये हुए पांच मूलों के अतिरिक्त 'मध्यम' और 'जीवन' नामक दो अधिक वर्मूल वर्णन किये हैं—वलापुनवैरण्डसप्तपर्णीदेवत च । यमं कफवात्पं नातिपित्तकरं लघु ॥ अभीरुलीराजीवनीजीवकर्षभैक्तं ग्रन् । जीवनाल्पं तु चक्षुर्वृथ्यं पित्तानिलापहम् ॥

(३३) तत्र चिकिरटकवृहतीद्यप्तुश्वप्तयों वेदुरिग्न्या चेति कलीयः ॥६६॥

प्रायतिक्तमधुरं कलीयः पञ्चमूलकम् ।

धात्रां पित्तशमनं वृहणं वलवर्धनम् ॥६७॥

(लघुपञ्चमूल—) उनमें से चिकिरटक (गोवर), छोटी वृहती और बड़ी वृहती, पृष्ठिपर्णी, विदारिगन्धा (शालपर्णी) पह लघुपञ्चमूल है ॥६६॥ यह लघुपञ्चमूल कपाय, तिक्त और मधुर है, वातनाशक है, पित्तशमन है, उष्टिकारक है और परीर का वल बढ़ाने वाला है ॥६७॥

(३४) विल्वाद्विमस्तुद्विरुद्धकपाठलः कासमर्य- श्वेति महत् ॥६८॥

लतित्तं कफवात्पं एको लञ्चशिदीपतनम् ।

मधुरामूरत्यं चैव पञ्चमूलं महत् लृदृतम् ॥६९॥

(बृहत पंचमूल—) किल्व, अम्लिगत्य (गरुदारिला), डंडुक (ज्वोनाक), पाटला (पारस, पारुर वृक्ष, Stercosp gruum Suaveolens) और काश्मरी (Gmelina Arbo-roa), यह मधुर पंचमूल है ॥६८॥ यह महत पंचमूल तिक्त रस, कफ वात नाशक, एलका, अश्वि को धीपन करने वाला और अनुरस में मधुर है ॥६९॥

बक्तव्य—द्वन्द्वों का जो रस ग्रायः लृदृतमा प्रतीत रही होता अथवा पश्चात् थोड़ा प्रतीत होता है, वह अनुरस है—व्यक्तः शुष्कत्य चादौ च रसे द्रव्यत्य लक्ष्यते । विषयेणानुरसः । (धरक) अनुरसस्तु रसेनाभिमूलतादव्यक्तो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते ॥ (वाटांग-संग्रह) । विशेष विदरण के लिये ध००० अज्याद पै पहले सूक्ष्म का बक्तव्य देसो ।

अनयोर्देशमूलसुच्यते ॥७०॥

गरः श्वासहरो होप कफपित्तानिलापहः ।

आमस्य पात्रजनश्वेत लर्दज्वरविनाशनः ॥७१॥

(दशमूल—) ये दोनों लघु और महत पंचमूल दशमूल लक्ष्यते हैं ॥७०॥ यह दशमूलगण वाल का एरण करता है, वात पित और कफ को शांत करता है, आम रस वा पाचन करता है और सर्व प्रकार के ज्वरों का नाशक है ॥७१॥

(३५) विदारीस्तारिक्वारजनीशुद्ध्योऽजमध्यां चेति घलीसंक्षः ॥७२॥

(घलीपञ्चमूल—) विदारीकन्द, सारिका, एरिज्जा, शिलोय और मेहासींगी यह घली संक्षक पंचमूल है ॥७२॥

(३६) करसर्वत्रिकराट्टकाजैरीयफलशताबरीशुद्ध- नख्य इति करटकसंक्षः ॥७३॥

(कण्टकपञ्चमूल—) करमदे (करौदा Capparis Cornu-das), त्रिकट्टक (गोस्त्र), सैरंशक (लुप्टटट्र, चिमायाता), शताबरी और शुमनसी (कण्टकपाली चुप्त Capparis Sepiaria, अथवा लुप्टरूप) । यह कण्टक संक्षक पंचमूल है ॥७३॥

सूक्ष्मियचहरी देहों शोफन्यविनाशनौ ।

सर्वसोहररौ चैव शुक्रदोषविनाशनौ ॥७४॥

बहुपञ्चमूल और कण्टकपञ्चमूल ये दोनों गुण रक्षित हरण करने वाले, तीव्र प्रकार के पोथ जो मधु घरने वाले, सर्व मरोहों को हरण करने वाले तथा दीर्घिदोषों के नाशक होते हैं ॥७४॥

(३७) कुशकाशनलद्वर्भकारलेषुक्ता इति लृण- लंशकः ॥७५॥

लृणदोषविकारं च रक्षितं तदैव च ।

वन्त्यः शुद्धुक्तः ज्वरेरेता शीघ्रमेव विनाशयेत् ॥७६॥

(लघुपञ्चमूल—) लृण (Poa ciliaris), नाप (Saco-harum Spontaneum), नल (गरस्तल, Arundoo Kerkta),

(पीपल Ficus Religiosa), पूज (पाङ्कु Ficus Intefloria), कटीतन (वान्नाटक, शामडा, Spondias Mangifera), कटुम (मटुन), आम (आम Mangifera Indica), कोणारक (आम का मेद, Mangifera Sylvatica), चोरकथ (लाक्षाइया), जम्बूप (महातम्य, यही जामुर Eugenia gaboniana और काकन्नू, हीटी जामुर Eugenia Caryophyllifolia), खिशल (खिरोगीश Buchanania Latifolia), मधूक (मधुआ), रोहिणी (कुड़ी), घन्घुल (वेठ Calamus Rotundus) कदम, बरी (चेर, Zizyphus jujuba) तिनुकी (तेन्दु), रसुडी (साल-मेद, साकड़ी, Boswellia Serrata), सोय, सावर सोय, भाष्टालक (भिलादा Semicarpus Anacardium), पलाप (डाह), नन्दीबृंह $\frac{1}{2}$ || यह न्यायोपादिगण मण को हितकर है, संघर्षी है, भगव अस्ति को ओहने बाला है, रक्षित का हाथ उन्हें बाला है और दाह, मेद तथा दोनों को दूर करता है $\frac{1}{2}$ ||

(२५) गुह्यचीनिमधुकुस्तुम्युषचम्दगानि पश्चकं
चेति ॥४९॥

पृष्ठ सर्वज्ञवान् द्वन्द्वित शहच्यादिस्तु दीपनः ।

इहासारोचकवर्मीपिपासादाहनाशनः ॥५०॥

(गुह्यादिग्रन्थ) गिलोप, नीम, कुसुमुर (धनिया *Coriandrum Sativum*), बन्दन और पद्मास (पूर्वोत्तर गुह्यादिग्रन्थ सर्व प्रकार के नर्तों को नाप करता है, जीवन है और दृष्टिस, अरुचि, घमन, शूरा, दाह को नाप करता है। [५०]

(२६) उत्पलरकोउत्पलकुमुदसौगन्धिककुपलय-
पुएक्षटीकाणि मधुकं चेति ॥५१॥

उत्पलादिरयं दाहपित्तरकविनाशन् ।

पिपासा विपद्मोगच्छदिनूच्छाद्वरो गणः ॥५२॥

(दृष्टिपादिगण—) उत्तर (नीलकमल), रक्षोपद
 (लाल कमल), कुमुर (खेतकमल), सांगनिक (चट्ठोदय
 विकासी अवत सुरामि बील कमल), कुवलय (खेत और नील
 धर्य कमल), पुण्डिरीक (नरत्वं खेत कमल) और धटिमधु
 ॥५॥ यह उत्तरपादिगण दाह रक्ष पिच का नाश करता है
 और लूप, चित्र, हृद्देश, घटन और मूर्छों इनका हरण करने
 वाला है ॥५॥

वृक्षावृ—उत्तरलदिग्ंग में कमल के जौ भिज भिज नाम निर्दिष्ट किये हैं, उनके बच्चों के संवध में न केवल भिज भिज प्राप्तीन आपार्थ परस्पर विस्पादी दिशाई है देते हैं अतिरुद्धरणावार्य मी अपनी दीका में स्वयं विस्पादी हैं । यथा अट्ठीकावधारपीपी (१२वे) अध्याय में ‘एग्गलनलिनिकुमुद’ शब्द की दीका में लिखा है—उत्तरलदिग्ंग, पुष्टीरैकमनिषेषपद, बुद्धल रसेष्यनम् । और यहाँ दीका में लिखते हैं—उत्तर नीने तल, पुष्टीरैकेतापद, बुद्धलयीवृष्टीश्वरदन् ।

(२७) मुस्लाद्विदादारहृषिदाहरीतम्यामलक-
विभीतिषु एवमवतीयवस्त्राकृतीर्हीणांश्चांश्चाति
विपाद्विदीमहातकानि चित्रवर्णेति ॥५३॥

एवं मुस्लादिको नास्ता शणः श्वेषनिष्टव्यतः ।

योनिदोषद्वरः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा ॥१४॥

(मुलादिग्रन्थ) मुस्ता, हलीरी, दार हलीरी, हरह अंगूष्ठा, मदेहा, हट, हैमवरी (खेत पचा), वचा, पठी कटुडी, शाहेंदा (काकबंधा, काकमारी, काकादीनी), अति विषा, दालिची (ढोटी इलायची), भानातक (भिलावा) और चिक्रक ॥५४॥ यह मुलादिग्रन्थ कफ का नाशक है, सोने देखें का हरण करने वाला है, दूष का शोषक है और प्राप्तक है ॥५५॥

(३८) इयीवज्यामङ्गलधीरकानि विष्णु ।५५।

શિકલા એવાપણી મેહનત વિગતની ।

चक्रघ्या दीपनी चैव विष्वसज्जराशनी ॥५६॥

(प्रिंसिप्ला) — हरीतकी (हरड़ा Terminalia Chebula), और प्रिंसिप्ला (संबोला Emblica officinalis), और प्रिंसिप्ला (सेदेडा Terminalia Belerica) यह प्रिंसिप्ला है। १५५५ यह प्रिंसिप्ला कफ और प्रज्वलनशाक है, प्रमेह और कृदि को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, अस्ति दीपक है तथा विषमन्त्र नाशक है। १६१॥

वस्त्रब्द्य—इस विकला के अतिरिक्त कालमरी स्वरूप एवं प्रस्तुक हनुमी दूसरी विकला होती है—एव्वा विशेषकृत महीनी विकला मात्र। स्वस्त्रा कालमर्यादन्तवृत्तप्रवृत्तविकला भी देखें। विकला में तीनों के प्रभायां के संख्या में मत्तेमेद है—एक ही विकला ही या योनी विभिन्नताएँ। चतुर्वर्णमिळकालायेव विकलैता प्रकीर्ति। (शास्त्रधर)। एव्वा विभिन्नताकीं फले स्वातं विकला समै॥ वापकाय॥

(२९) पिपलीमर्तिचश्टुवेराणि त्रिकटुकम् ॥५७॥

न्यूदणं कफमेदोभं मेहकुष्ठत्वगामयाद् ।

निहन्यादीपनं शुल्मपीनसात्यत्पतामषि ॥५८॥

(निकुट) चिप्पली (Piper Longum), मरिच (काली च P. Nigrum) और ज़ूबायेर (सोंड Zingiber officinalis) वे तीन निकुट स्थान अमृतसे कैदिताते हैं। वह शूषण कर सौर मेद को नष्ट करता है, प्रमेह, और तथा के रोगों को नाश करता है, दीर्घन है और पीठस तथा मन्दासि को दूर करता है ॥५॥

३०) आमलकीद्वितीयपिपल्यश्चिन्नकाद्येति ॥५९॥

मामलपद्यादिरित्येप गणः सर्वज्ञवरापद्धः ।

वक्षुध्यो दीपनो वृष्य. कफारोचकनाशन ॥६०॥

(आमदान्यादिगण—) आवला, हरहा पिष्ठी और चित्रक
त्र आमदान्यादिगण हैं।

इ भास्मलक्ष्मा दगम ह) १५९। यह भास्मलक्ष्मा दगम
ज्वरों को हरण करता है, नेत्र को हिंतकर है, दीपन है,
र धृद्रिक है और कफ तथा अस्थि को नाप करता है १६०।
धृतिर्थ—स्थ—दद विचिन्मूर लिप्त जीवन दृष्ट गुरु ।

(३१) अपुसीसतामर्जतएष्टलोदसुवर्णानि
दूमदर्शेति ॥६॥

गणखण्डादिस्तिथेष गरकिमिहृः परः ।

पिपासाविपद्मोरपाण्डुमेहस्तथा ॥६२॥

(वृक्षादिगण) इषु (दंग, संग, Tin), सीड (सीसा Lead), लाग (तांबा Copper), रजत (रौप्य, चांदी Silver), कुप्पलोह (कान्तलोह, तीक्ष्णलोह, Iron), सुवर्य (संता Gold) और लोहमल (लोहिन्द, मालूर) यह ग्रन्थादिगण है ॥६२॥ यह ग्रन्थादिगण विष और दुष्मियों का परम नाशक है तथा तृष्णा, विष, एंटोग, पाण्डुरीग और प्रमेह इनका हरण करने पाला है ॥६२॥

वक्तव्य—शोषण—गोपयिते के लिये सैद्ध घुरने किट का ही उपयोग करना चाहिये—ग्रन्थमुत्तम किंतु ग्रन्थार्थानि-यार्पिकन्। अपमं गणित्वर्षयं ततो हीन विपोषणम् ॥ गर—हृषिम विष—नानाप्राणदाशमलविस्तौपिभरतमाश् ॥ विषाणो चाराणिनां योगे गर इति स्मृतः ॥ (अष्टांगहृदय) ।

(३२) लाक्षारेवत्कुटजायग्नरकद्फलद्विद्वा-
द्यनिम्बसत्तच्छदमालत्प्रायमाणा द्वेति ॥६३॥

कपायस्तिक्मधुरः कफपित्तार्तिनाशनः ।

कुष्ठक्रिमिहस्त्वेव दुष्टप्रणविशोधनः ॥६४॥

(लाक्षादिगण) लाक्षा (लाख), आरेवत (आरेव, अमलतास), कुटज (कुटा), वधमार (कर्वीर, कोरे, Nerium Odorum), कद्फल, द्विद्वा और दालहरिद्वा, निष्प, सप्तच्छद (सप्तर्ष, द्वितीन), मालती (मालती) और ग्रन्थमाणा (Delphiniun Zelil) ॥६३॥ यह (लाक्षादिगण) कपाय, तिक और मधुर है, कफ और पित्त की धूता को नाश करता है, कुष्ठ और दुष्मियों का हरण करता है और दुष्ट व्याध को शोधन करता है ॥६४॥

पञ्च पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं वध्यामः ॥६५॥

यहाँ से आगे पांच प्रकार के पंच मूलों का वर्णन करते हैं ॥६५॥

वक्तव्य—अष्टांगलंबन में यहाँ वर्णन किये हुए पांच प्रकारों के अतिरिक्त 'मध्यम' और 'जीवन' नामक दो अधिक पंचमूल वर्णन किये हैं—बलानन्दवैरण्डस्यपर्णिद्वेन च । मध्यमं कफवात्रानं नातिपित्तकरं लघु ॥ जीवीराजीवनीजीवकर्पभक्तः च्याम् । जीवनालं तु चक्षुष्यं दृष्ट्यं पित्तानिलापलम् ॥

(३३) तत्र विकर्णकवृहतीद्यपृथक्ष्यपर्यं
विद्विन्दिन्द्वा द्वेति कलीयः ॥६६॥

वायतिक्मधुरं कलीयः पञ्चमूलकम् ।

पातझ्नं पित्तशमनं दृष्ट्यर्थं वलवर्धनम् ॥६७॥

(लघुपञ्चमूल) उनमें से विकर्णक (गोखर), छोटी दृष्टी और बड़ी दृष्टी, धृषियर्णी, विद्विन्दिन्द्वा (शालपर्णी) यह लघुपञ्चमूल है ॥६६॥ यह लघुपञ्चमूल कपाय, तिक और मधुर है, वातनाशक है, पित्तशमन है, पुष्टिकारक है और शरीर का बल बढ़ाने वाला है ॥६७॥

(३४) विल्वाद्यिमन्थिटिरहुकपादलः क्षामर्य-
श्वेति भवत् ॥६८॥

स्त्रिक्षां कफवात्रान्यं पाके लघुक्षिदीपनम् ।

वधुरानुरसं दीच पञ्चमूलं मदद्व स्त्रहम् ॥६९॥

(भूत पञ्चमूल) दिन्द, अपिनाम (गदानालिन), द्विल (शोलाल), पाटाना (पालग, पाइर हृष, Stercospurium Suaveolens) और काञ्जरी (Gmelina Arborea), यह भवत् पञ्चमूल है ॥६९॥ यह भवत् पञ्चमूल तिळ रस, कफ वात नाशक, एक्स्ट्रा, अस्ति को धैर्य करने वाला और अनुरस में मधुर है ॥६९॥

वक्तव्य—द्वन्द्वों का लो रस प्रायः स्त्रहम् ग्रन्थी द्वोता शयया शदाग्र शोडा भ्रतीत द्वोता है, यह अनुरस है—ग्रन्थी शुक्लय नानी न स्ते द्रव्यत्व द्वारा द्वन्द्वों के लिये विशेषज्ञानः । (धरह) । शुक्लय रसेनामिभूतामालकर्त्तु व्यक्तो वा विशिष्टत्वे ॥ (वार्षांग-संग्रह) । विशेष विशेषण के लिये इन्हें वस्त्राद दें पहले शूद्र का वलव्य देंगो ।

वानयोर्द्वास्यमूलस्त्रोद्यते ॥७०॥

गणः व्वासस्त्रो द्वेत्र फक्षपित्तानिलापदः ।

आमस्य पाचनमध्येय सर्वेज्वरविनाशनः ॥७१॥

(दग्धमूल) ये दोनों लघु और मठत् पञ्चमूल द्वयमूल नहाते हैं ॥७०॥ यह दग्धमूलग्राण वास का दृष्ण करता है, वात पित्त और कफ को धोतं दरता है, आम रस या पायन करता है और सर्व प्रकार के जरूर दा नाशक है ॥७१॥

(३५) विदारीसारिद्वारजनीशुद्ध्योऽजश्टकी
द्वेति वहीसंदरः ॥७२॥

(पट्टीपञ्चमूल) विदारीमूल, सारिद्वा, द्विद्वा, निलोप और योरसर्तनी यह घुटी संद्रक्ष पञ्चमूल है ॥७२॥

(३६) कररार्द्धिकरट्टलसैरीयकाशतावरीशु-
द्वस्य द्वेति करट्टकसंदरः ॥७३॥

(कण्टकपञ्चमूल) करर्मद (करौदा Capparis Corundus), गिरण्टक (गोखर), सैरावल (द्विष्टल, रियापासा), घतावरी और चुम्नरी (कण्टकपाली घुट Capparis Sopipatia, अधवा लघुमूल) । यह कण्टक संदर दंपत्तूर है ॥७३॥

रक्षपित्तहरी द्वेतो शोफश्यविनाशलौ ।

सर्वसेहरी द्वेत्र शुक्लदेवपित्तानुन्ते ॥७४॥

द्विष्टपञ्चमूल और पक्षपालकमूल ये दोनों गल रक्षपित्त हरण करते वर्षे, लीच प्रकार के घोष द्वारा लघु दरते दाले, लव्य प्रमेहों को दृष्ण करते वाले तथा शीर्षोदयों के वाष्पक होते हैं ॥७४॥

(३७) कुशकाशनलवर्धकारेष्टेभुजा द्वेति दृष्ण-
संशकः ॥७५॥

मूद्रदोषविकारं च रक्षपित्तं दृष्णेत च ।

अन्त्यः ग्रयुकः जीरेण शीघ्रसेव विनाशयेत् ॥७६॥

(जग्जपञ्चमूल) जग्ज (Poa ciliaris), कात (Saccharum Spontaneum), जग्ज (अरुद्दो, Arundo Karka),

(पीपल Ficus Religiosa), उच्च (पाङ्कुड़ Ficus Intefioria), करीतन (आम्रातक, आमटा, Spondias Mangifera), उच्चुम (अर्जुन), आम (आम Mangifera Indica), कोणारक (आम का भेद, Mangifera Sylvatica), चोरकरत्र (आमावृत), जग्नदूय (महामवृ, वरी जामुन Eugenia gaboniana और काकमवृ, टोटी जामुन Eu-

Zizyphus jujuba) सिन्हुकी (तेनु), सिंहुकी (साल भेद, साक्षी, Boswellia Serrata), सोय, सावर सोय, भज्ञातक (भिलाया Semicarpus Anacardium), रठाय (राठ), मन्दीहृषि ॥४३॥ यह न्यग्रोपादिगण व्याघ को हितकर है, संप्रादी है, भ्रम अविष्ट को जोड़ने वाला है, रक्षित का हरय करने वाला है और वाह, भेद तथा योनि के दोषों को दूर करता है ॥४४॥

(२५) शुहृचीनिम्यकुस्तुभ्युरचन्दनानि पद्मक चेति ॥४५॥

एष सर्वज्वरान् हृतित शुहृच्यादिस्तु दीपनः ।

इलासारोचकवर्मीपिपासादाद्यनाशनः ॥४०॥

(शुहृच्यादिगण—) चिलोय, नीम, कुतुमुद (धनिया Coriandrum Sativum), चन्दन और पद्माश ॥४१॥ यह शुहृच्यादिगण रखी प्रकार के ज्वरों की नाश करता है, दीपन है और इलास, अदर्जि, बमन, तृप्ति, दाह की नाश करता है ॥४०॥

(२६) उत्पलरक्षोत्पलकुमुदसौगन्धिकमुच्चरय-
पुएहरीकाणि मधुकं चेति ॥४१॥

उत्पलादिरय दाहपिचररक्षाविनाशनः ।

पिपासाविपद्दोगच्छदिमूर्च्छाद्वरो गणः ॥४२॥

(उत्पलादिगण—) उत्पल (गीलकमल), रक्तोल (काल कमल), कुमुद (खेतकमल), संगनिष (चढ़ोदय विकासी प्रथम सुरापि लील कमल), कुमन्य (केत और लील यर्थ कमल), कुण्डलीक (अथवा येत कमल) और पटिमयु ॥४२॥ यह उत्पलादिगण दाह रक्ष पित्त का नाश करता है और तृप्ति, पिप, दृष्टि, बमन और मूर्छा इलाज हरणे वाला है ॥४२॥

यत्कल्प—उत्पलादिगण में कमल के यो मिह्र मिह्र नाम निर्दित हिये हैं, उनके दूषों के संक्षय में न देवल मिह्र भित्ति प्राप्ति आपार्व परतयर विनोदारी दिगाई देते हैं अपितु इम्बायाचार्य भी अपनी ईडा में रख्य विनोदारी है । यथा जट्ठकादपत्रवीर्य (१२वे) अभ्याय में “प्राणालभिन्निनुगुण” एवं की ईडा में निष्पा है—उत्पलादिगण, कुण्डलीकमिधारण, कुरुक्षेत्रस्त्रीरम् । और दही ईडा में लिखते हैं—उत्पल निष्पा, कुण्डली वर्णन, दुर्गामीर्तीरपरम् ।

(२७) मुलादिद्रिदादाहदिदिदारीतक्षयमलक-
विर्मितह उप्रैमयतीपवत्तामात्राद्वृष्टीर्हिताराह्वति
पिपासापिदीगुरापारानि पित्रादेति ॥४३॥

एष मुस्तादिको नाश्चा गणः श्लेष्मनिष्ठूदनः ।

योनिदोपदरः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा ॥४४॥

(मुस्तादिगण—) मुला, इली, दाह इली, हरु अंबिला, बेहडा, कुठ, हैमवती (येत वचा), वचा, पाल कुडी, शाहेंडा (काकजया, काकमारी, काकादनी), अमि विषा, द्वादिरी (छोटी इलायची), भक्षातक (भिलाया और चित्रक) ॥४३॥ यह मुस्तादिकण कफ का नाशक है, दोषों का हरण करने वाला है, दूष का शोषक है और पापक है ॥४४॥

(२८) हृतीतप्यामलकविर्मितकानि त्रिफला ॥४५॥

त्रिफला कफपित्तमी मेहकुष्ठुविनाशनी ।

चम्पुष्या दीपनी धैव विपमज्वरनाशनी ॥४६॥

(त्रिफला—) हृतीतकी (इरडा Terminalia Chebula), आमलक (अंबिला Emblica Officinalis) और विर्मितक (बेहडा Terminalia Beleric) यह त्रिफला है ॥४५॥ यह त्रिफला कफ और पित्त नाशक है, प्रमेह और उष्टु को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, अस्त्री दीपक है तथा विषमज्वर नाशक है ॥४६॥

यत्कल्प—इस त्रिफला के अतिरिक्त कालमी शर्करा और रसपक हवाई दूसरी त्रिफला होती है—पथा विमीर्व वाती मही विफला मता । खला कालमर्दनैरैरुप्त्वकालैर्विनीतः ॥ त्रिफला में तीनों के प्रमाण के संक्षय में मतभेद है—एक ही-तीव्री योन्या ही च वैज्ञानि विर्मितकी । वातावर्यामलकाम्बेद त्रिफले प्रभी हिंग । (राष्ट्रद्वय) । पथा विमीतपात्रीयी पौधे स्त्राव त्रिफला संये ॥ (भावप्रकाश) ।

(२९) पिपलीमरिचश्टुवेराणि त्रिकुडम् ॥४७॥

इयूपाणि कफमेदोम्पि मेहकुष्ठुत्वयामयान् ।

निहन्यादीपनं शुल्मपीनसाद्यस्पतामपि ॥४८॥

(त्रिकुड—) पिपली (Piper Longum) मरिच (काढी मिर्च Piper Nigrum) और ज़िंग्बेर (सॉट Zingiber Officinalis) में तीन त्रिकुड अथवा इयूपाणि बिन्दाते हैं ॥४७॥ यह इयूपाणि कफ और मेद को नष्ट करता है, प्रमेह, उष्टु और त्वचा के रोगों की नाश करता है, दीपन है और गुलम, गीनस तथा मन्दस्त्री को दूर करता है ॥४८॥

(३०) आमलबीहरीतकीपिपलव्यव्यवदेति ॥४९॥

आमलप्यादिरितियेप गणः सर्वज्वरापदः ।

घम्भुष्यो दीपितो शूध्यः वक्षारोचकमादानः ॥५०॥

(आमलप्यादिगण—) अंबिला, इरडा पिपली और त्रिफल (यह आमलप्यादिगण है) ॥४९॥ यह आमलप्यादिगण मर्व चारों की हाल करता है, नेत्र की हितकर है, दीपन है, दीर्घ दृष्टिकर है और दह तथा व्यापि को नाश करता है ॥५०॥ इसे नेत्र-दैर्घ्य दूर करने वाला है ॥५०॥

यत्कल्प—१४—१५ त्रिविषम्पु लिखनं निवेद्या दूरा गुरु ।

(३१) नमुनीसतापारजतद्व्यलोद्युत्यरुपानि
त्रोदमर्थेति ॥५१॥

(विरेचक—) रक्तत्रिवृत् (निशोथ), इयासात्रिवृत्, दन्ती, द्रवन्ती, सप्तला (सिक्केकाई, *Acacia Concinna*), ग्रीष्मी (घरतिका), विपाणिका (वृथिकाली, मेपश्जीभेद—द्वितीया दक्षिणार्बता वृथिकाली विपाणिका । धन्वन्तरिनिधंडु), गवाक्षी (इन्द्रवास्तु), छगलान्ती (वृद्धदारुकभेद *Ipomoea Pescaprae*), बुड़ (धोहर, *Euphorbia Ligularia*), सुवर्णज्ञीरी (उसरेरेवन्द), चित्रक, किणिही (अपामार्ग, *Achigranthes Aspera*), कुण्ड, काश, तिल्वक (लोध), कणिहीक, रस्यक (पटोल—*Trichosanthes Dioica*—का मूल), पाटला, पूरा (सुपारी), दरीतीकी, आमलक, त्रिभीतक, नीलिनी (नील, *Indigofera Tinctoria*), चंतुरंगुल (अमलतास), पूरण्ड, फूलीक (पूतिकर्तज), महोवृत्त (वृद्धक, सेहुण्ड का भेद; *Euphorbia Antiquorum*), सप्तच्छदा (सप्तर्णी) । अर्क (आर्क) और इंद्रोतिक्षीरी (मालकांगानी, *Cardiospermum hirsutum*, *Heliocarpum*), यह ओपधियाँ अधोभागागत दोषों को हरण करने वाली (विरेचनकारक) हैं । इनमें से तिल्वक से पूर्व निर्दिष्ट हुई ओपधियों की जड़ लेनी धौहर्यें; तिल्वक से लेकर पाटलायुक्त ओपधियों की छाल लेनी चाहिये; कंपिलक के फल के ऊपर संचित हुआ रज लेना चाहिये; सुपारी से लेकर एरण्डयुक्त के फल लेने चाहिये; पूरीकरञ्ज और अमलनास के पत्ते लेने चाहिये; और वाकी ओपधियों का क्षीर लेना चाहिये ॥३॥

कोशातकी सप्तला शह्विनी देवदाली कारवेलिका चेत्युभयतोभागहराणि । एषां स्वरसा इति ॥४॥

(उभयभागहर—) कोशातकी, सप्तला, ग्रेसिनी, देवदाली (कोशातकीभेद), कारवेलिका (करेला, *Momordica Charantia*) ये ऊर्जभाग और अधोभाग से दोषों को हरण (वामक और विरेचक) करने वाले हैं । इनका स्वरस लेना चाहिये ॥४॥

पिप्पलीविड्ज्ञपामार्गशिशुसिद्धर्थकशिरीपम-
रिच्करवीरचिम्बीगिरिकर्णिकाकिणिहीचचाज्योति-
ष्मतीकरज्ञाकर्कलश्चुनातिविषाश्यज्ञवेरतालीश-
तमालसुरसार्जकेहुदीमेपश्चिमातुलुझीसुरज्ञीपीलु-
जातीशालतालमधूकलालाहिङ्कुलवरणमद्यगोशकुद्रस-
मूत्राणीति शिरोविरेचनानि । तत्र करवीरपूर्वाणां
फलानि, करवीरादीनामर्कान्तानां मूलानि, तालीश-
पूर्वाणां कन्दः, तालीशादीनामर्जकान्तानां पत्राणि,
इहुदीमेपश्चिमोस्वच्चः, मातुलुझीसुरज्ञीपीलुजातीनां
पुष्पाणि, शालतालमधूकानां साराः; हिङ्कुलाने
निर्यासौ, लवणानि पार्थिवविशेषाः; मद्यान्यासुत-
संयोगाः; शाकुद्रंसमूत्रे मलाविति ॥५॥

(शिरोविरेचक—) पिप्पली, विडंग, अपामार्ग (चिरचिरा),

शिषु (सोहजन), सिद्धर्थक (सरसों), शिराष (शिरस) मरिच, करवीर (कनेर), विष्मी (कुन्वरु), गिरिकर्णिका (अपराजिता), किणिही (कटभी), वचा, ज्योतिष्मती (मालकंगुनी), करंज, अर्क, अर्लक (श्वेतपुष्प अर्क), लशुन (लहशुन, *Allium Sativum*), अतिविपा, शङ्खवेर (सोठ), तालीश, तमाल, सुरसा (तुलसी), अर्जक (तुलसीभेद), इंगुदी (हिजन), मेपश्जी (मेहार्सीगी), मातुलुझी (विजीरा का भेद), सुरंगी (रत्नगिरु), पील (*Salvadora Persica*), जाती, शाल, ताल, मधूक, लाज्जा, हिंगु, लवण, मध्य, गोवर का रस वीर गोमूत्र ये पदार्थ गिरःस्थ दोषों का विरेचन करने वाले हैं । इनमें से कनेर से पहले निर्दिष्ट हुए द्रव्यों के फल लेने चाहिये; कनेर से लेकर अर्जकयुक्त द्रव्यों की जड़ लेनी चाहिये; (अर्लक से लेकर) तालीशपूर्व द्रव्यों के कन्द लेने चाहिये; तालीश से लेकर अर्जकयुक्त द्रव्यों के पत्ते लेने चाहिये; इंगुदी और मेपश्जी की छाल लेनी चाहिये; मातुलुझी, सुरंगी, पील और जाती इनके पुष्प लेने चाहिये; शाल, तमाल और मधूक इनका सार लेना चाहिये; हिंगु और लाज्जा निर्यास होते हैं; लवण खनिज विशेष होते हैं; संधान संयोग से मद्य होते हैं; गोवररस और गोमूत्र ये मल होते हैं (इनको पथारूप ही लेना चाहिये) ॥५॥

संशमनान्यत ऊर्ध्वं चक्ष्यामः—तत्र भद्रदारुकुष्ठ-
हरिद्रावरुणमेपश्चिमीवलातिवलार्तगलकच्छुरासल्लकी-
कुवेराक्षीवीरतस्सहचराद्यन्धिमन्थवत्सादन्येररडाशम-
भेदकालर्किशतावरीपुनर्नवावसुकवशिरकाञ्चनक-
भार्गोकार्पासीबुश्चिकालीपत्तूरवदरयवकोलकुलतथ-
प्रभुतीनि विद्वारिगन्धादिद्ध्वं द्वे चाद्ये पञ्चमूलयै
समासेन वातसंशमनो वर्गः ॥६॥

(वातसंशमन वर्ग—) अब यहाँ से आगे संशमन वर्ग को वर्णन करते हैं—देवदार, कुष्ठ, हरिद्रा, वरुण (वरुणा), मेपश्जी, वला (सिरेटी, *Sida Cordifolia*), अतिवला (कंवी, *Sida Rhombifolia*), आर्तगल (नील पियावासा किंवा कुम, *Terminalia Tomentosa*), कच्छुरा (कपि-कच्छु, कवचवीज), सल्लकी (*Boswellia Serrata*), कुवेराक्षी (पाटल), वीरतरु (अर्जुनवृत्त), सहचर (पियावासा), अक्षिमय (वडी अरणी), वत्सादनी (गिलोय), पूरण्ड, अज्ममेदक (पाथरचूर), अर्लक (अत्तर्क), अर्क, शतावरी, पुनर्नवा (साठी, *Boerhavia Diffusa*), वसुक, वसिर, काढ्वनक (कच्चनार, *Bauhinia Variegata*). डल्हण इसका अर्थ धत्तूर करते हैं), भाङी (भाङी), कार्पासी (बनकपास, *Gossypium Herbaceum*), वृश्चिकाली, पत्तूर (कुचन्दन), बदर (वेर *Zizyphus Jujuba*), थव, कोल (मध्यमाकार के वेर—पच्चपान सुमधुर सौंबीर 'बदर' महत् । सौंबीरालघु संपकं मधुरं 'कोल'मुच्यते ॥ भावप्रकाश), कुलथ (कुलथी *Dolichos Biflorus*) हृत्यादि ओपधियाँ निर्दिष्टगन्धादिगण और लघु तथा महत् पञ्चमूल संयोग से वातशान्तिकारक वर्ग है ॥६॥

दर्म (*Poa cynosuroides*), और कार्पेसुक (लगाट *Sacccharum fuscum*) यह तृणसंक धनधूल है ॥३॥
यह अनित (तृणसंक) धनधूल दूष के साथ उपयोग करने
से मूत्रदोष, मूत्रविकार तथा रक्तपित्त हनको व्यरित नाश कर
देता है ॥३॥

यस्तद्यु—चरक के अनुग्रह शृणुच्यमूल में निम्न
ओषधियाँ होती हैं—सोमुद्दर्भकराणा शालीनो मूलमेव च ॥
(चिकित्सा, अ १) ।

एषां धातहृदावाद्यावन्त्यः पितृविनाशनः ।

पञ्चकौ श्लेष्मशमनावितरी परिकीर्तिं कौ ॥३७॥

हानमें पहले दी (स्पुष्पकमूल और वृहदंपत्तमूल) यात नाशक है, अन्तिम (हृण पचमूल) पित्तनाशक हैं और अन्य (बहुपिचमूल और कटकपचमूल) कफनाशक होते हैं ॥३७॥

त्रिवृतादिकमन्यप्रोपदेष्यामः ॥७८॥

त्रिवृतादिक गण का अन्य स्थान पर उपदेश करेंगे ॥३८॥

समासेन शणा हेते प्रोक्कास्तेपां तु विस्तरम् ।

चिकित्सते पु वक्ष्यामि—

ये शास्त्र संक्षेप से धर्मगति किये गये हैं। इनके द्रव्यों का पिलार चिकित्सा में (रोगचिकित्सा के साथ) किया जायगा।

—शात्या दोपयलायलम् ॥७३॥

परमिलेपान् कथायाद्य तेल सपाय पानकान् ।
प्रविभज्य यथास्यावं पर्वीत मतिमान् सिपह ॥५०॥

दोषों का तथा (रोगी के) वानावल का विचार कर बुद्धि-
मान् वैद्य इन गणेश ओपरेशनों से ही लेप, (पच) कशय,
सैल, घृत तथा दानक दवाकर जिसके लिये उन दवचिन हो, उसे
प्रयोग करे ॥३१-८०॥

धूमयर्पणनिलक्ष्मदै. सर्वंतुष्यनभिद्रूते ।

प्राह्यित्वा गृहे न्यस्येद्विधिनौ पधसंग्रहम् ॥८१॥

(ओषधिरक्षणियिः) (वैदि को वाहिये कि) विधि-
पूर्वक ध्यायियों का संग्रह करके उनको भूमी, वर्षा, वातु और
सौल हनसे सब जटुतों में सुरक्षित ऐसे स्थान में रखते ॥१॥
समीक्ष्य दोषमेदाक्ष मिथान् भित्तान् प्रयोजयेत् ।

पृथिव्याश्चान् समस्तान्वा गण धा व्यस्तसहतम् ॥८॥
इति सुधुनमहिनाया भूत्यास्ते इत्यनग्राहीयो
तामाक्षिं शक्तयोऽप्याप्तं ॥९॥

दोरों के मिथियत या भिन्न भेदों का विवार कर (मुद्रिमान,
३८८) पृष्ठ पृष्ठक औरोंको का उपयोग करे या (एक ही गण
के अनेक) सिंध दीर्घोंको का उपयोग करे या (गणके) सारे
वे मात्र औरोंको का उपयोग करे या (दोपका) दि के अनुसार
अनेक गणकों से उचित) दो दो खार चार । भेदों दर्दिकर
उनका उपयोग करे ॥४३॥

इति भास्तुररामेणा गीविन्दामनकेन विरचितायामात्रुदैरहस्यदीपिकाय।

सुकृतामात्रादीकार्यो द्रव्यमन्ताहरणीयो नामाद्विभास्तमोऽप्याय ॥३८॥

एकोनचल्लारिंगात्मोऽध्यायः ।

वथात् संशोधनसंदामनीयमध्यायं व्याख्या
स्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से संग्रहनसंशमनीय नामक अध्याय व
व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यत्तद्य—स्त्रीपन—यदीरयेद्विरोधान् पूर्वया शोषनं च दद
 (यामट)। वहाँ देखल धमन, विरेचन वीर शिरोविरेक
 तीनों का ही विचार किया है। ग्रामन—न रीपति योरुं
 सप्तमास्त्रीरामयि। स्त्रीपनां वैश्यानां ग्रामनं तत्। (यामट)

मदनकुटजडीमूतकेक्ष्याकुधासार्गवहृतवेधन-
सर्पयविडङ्गपिप्पलीकरथमपुमादाकोविदारकुवैदा पा-
रियाश्वगन्धायिदुलवन्धुर्जीयकभेताशंपुर्णीयमी
यचामुगेवं अधिभा चेत्युर्धमागद्वाराणि । तथं,
कोविदारपूर्णाणां फलानि, कोविदारादीनां
मलानि ॥३॥

(कर्जमागहर—) मदन (भैतफल), कुटज (हडा), नीमूतक (देवदाली *Luffa Pentandra*), हृदाकु (करबी रुधी, *Lagenaria Vulgans*) घामर्गीव (पीत तुप्प कोयताली *Luffa Acutangula*) हृतरेथन (कोयतालीमेद *Luffa Echinata*), सर्पी (धूत सर्सांचे, *Brassica Campestris*) विरंगा, पिण्डली, करज, मुखुड (चक्रमई, *Cassia Tora*), कोविदार (काचनार, कचनार, *Baileya Variegata*), कर्बुदार (सुन्यातक, लसोडा *Cordia Myxa* चारपाई चरक की टीका में कर्बुदार का अर्थ 'खेतीकाचन' होते हैं), अरिट (तिम), अशगाल्या, विठुल (वेतस, *Calamus Rotundus* चारपाईदात चरक की टीका में वेदुन का अर्थ 'हिंदाल' करते हैं *Barringtonia Acutangula*) बुन्नीकवक (दुपदरिया, *Pentapetes Phoenicea*) खेता (खेतचा, *Acorus Calamus*) शशापुष्पी (वन्यशश), विषमी (कंदूती *Cephaelandra Indica*) चवा (चच), हृष्णवर्ण (इन्द्रवास्त्री, *Citrullus colocynthis*) और केत्रा (प्रवन्ती, *Jatropha Montana*) यह शीघ्रधियाँ बननकारक हैं। हनमें से कोविदार से पूर्ण शीघ्रधियों के बननकारक हैं। हनमें से कोविदार जिनमें प्रथम हा उन आधियों की जड़ छल और कोविदार जिनमें प्रथम हा उन आधियों की जड़ धनम के स्थिरे होनी चाहिये तथा।

१४८६। श्रीरामलक्ष्मीतपीतिलिनीचतुरुक्त्वाराट्पूरी
कमद्वावृक्षसप्तद्वार्णं योतिपत्ति । चेत्यधोमाग-
द्वाणि । तत्र तिल्वकपूर्वीणं मूलनिति, तिल्वका
दीना पाठ्यान्तरानां च्यवं, पश्चिमकफलरजः,
पूर्णार्द्धान्तरानां फलनिति, दूर्वाकारयथयोः
पत्राणि, शेषाणि स्थिराणि ॥३॥

(विरेचक—) सूत्रप्रिवृत् (निशोथ), श्यामात्रिवृत्, दन्ती, द्रवन्ती, सप्तला (शिक्केकाई, *Aencia Concinna*), त्रिनी (गवतिका), १ विषालिका (वृथिकाली, मेपश्फी भेद—द्वितीया दक्षिणावर्ती वृथिकाली विषाणिका । धन्वन्तरि-निधंड), गवाक्षी (हन्द्वास्पी), छगलान्त्री (वृद्धदारुक-भेद *Ipomoea Pes-caprae*), छुक् (थोहर, *Euphorbia Ligularia*), सुवर्णजीरी (उसारे-रेघन्द), चित्रक, किणिही (अपांसार्ग, *Achyranthes Aspera*), कुश, आश, तिल्वक (लोध), कणिल्लक, रस्यक (पटोल—*Trichosanthes Dioica*—का मूल), पाटला, पूरा (सुपारी), दीरीतकी, आमलक, विभीतक, नीलिनी (नील, *Indigofera Tinctoria*), चतुर्सुल (अमलतास), पुरण्ड, पूतीक (पूतिकरुज), महावृत्त (बृजक, सेहुण्ड का भेद; *Euphorbia Antiquorum*), सप्तच्छदा (सप्तपर्ण) । अर्क (आक) और झेतोतिष्ठती (मालकांगनी, *Cardiospermum Holostachyum*) यह ओषधियाँ अधीभागगत दोषों की हरण करने वाली (विरेचनकारक) हैं । इनमें से तिल्वक से पूर्व निर्दिष्ट हुए ओषधियों की जड़ लेनी चाहिये; तिल्वक से लेकर पाटलायुक्त ओषधियों की छाल लेनी चाहिये; कंपिलक, के फल के ऊपर संचित हुआ रज लेना चाहिये; सुपारी से लंकर पुरण्डयुक्त के फल लेने चाहिये; पूतीकरञ्ज और अमल-के पत्ते लेने चाहिये; और वाकी ओषधियों का धीर चाहिये ॥३॥

कोशातकी सप्तला शङ्खिनी देवदाली कार-द्रुका चेत्युभयतोभागहराणि । एषां स्वरसा । ॥४॥

(उभयभागहर—) कोशातकी, सप्तला, शंखिनी, देव-तो (कोशातकीभेद), कारदेलिका (करेला, *Momordica Charantia*) ये ऊर्जभाग और अधीभाग से दोषों को । (वामक और विरेचक) करने वाले हैं । इनका स्वरस चाहिये ॥४॥

पिष्पलीविडङ्ग (पामार्गशिशुसिद्धार्थकशिरीषम-चक्रवीरचिम्बीगिरिकरिंगिकिणिहीवचाज्योति-तीकरज्ञार्कालकलशुनातिविषाशृङ्गवेरतालीश-मालसुरसार्जकेहुदीमेपश्फीमातुलुङ्गीसुरज्ञीपीलु-तीशालतालमधूकलाज्ञाहुलवणमध्यगोशकुद्रस-न्नाणीति शिरोविरेचनानि । तत्र करबीरपूर्वोराण-लानि, करबीरादीनामर्कान्तानां सूलानि, तालीश-र्वीणं कन्दा:, तालीशादीनामर्जकान्तानां पत्राणि, हुदीमेपश्फीयोस्त्वचः, मातुलुङ्गीसुरज्ञीपीलुजातीनां गुणाणि, शालतालमधूकानां साराः; हिङ्गलाने नर्यासौ, लवणानि पार्थिवविशेषाः; मध्यान्यासुत-संयोगाः, शकुद्रसमूत्रे मलाचिति ॥५॥

(शिरोविरेचक—) पिष्पली, विडंग, गपामार्ग (चिरचिरा), १ गोमूत्रशुक्रद्रसौ.

शिपु (सोहजन), सिद्धार्थक (सरसों), शिरीष (शिरस) मरिच, करबीर (कनेर), विश्वी (कुन्वरू), गिरिकरिंगिका (अपराजिता), किणिही (कटभी), वचा, ज्योतिष्मती (मालकंगनी), करंज, अर्क, अलर्क (श्वेतपुष्प अर्क), लशुन (लहशुन, *Allium Sativum*), अतिविषा, शृङ्गवेर (सोठ), तालीग, तमाल, सुरसा (तुलसी), अर्जक (तुलसीभेद), हंगुदी (हिजन), मेपश्फी (मेहासीरी), मातुलुङ्गी (विजीरा का भेद), सुरंगी (रक्तशिपु), पीलु (*Salvadora Persica*), जाती, शाल, ताल, मधुक, लाज्ञा, हिंगु, लवण, मध्य, गोबर का रस और गोमूत्र ये पदार्थ शिरःस्थ दोषों का विरेचन करने वाले हैं । इनमें से कनेर से पहले, निर्दिष्ट हुए द्रव्यों के फल लेने चाहिये; कनेर से लेकर अर्कयुक्त द्रव्यों की जड़ लेनी चाहिये; (अलर्क से लेकर) तालीशार्पूर्व द्रव्यों के कन्द लेने चाहिये; तालीग से लेकर अर्जकयुक्त द्रव्यों के पत्ते लेने चाहिये; हंगुदी और मेप-श्फी की छाल लेनी चाहिये; मातुलुङ्गी, सुरंगी, पीलु और जाती हन्तके पुष्प लेने चाहिये; शाल, तमाल और मधुक इनका सार लेना चाहिये; हिंगु और लाज्ञा निर्यास होते हैं; लवण स्वनिज विशेष होते हैं; संधान संयोग से मध्य होते हैं; गोबररस और गोमूत्र ये मल होते हैं (इनको पथारूप ही लेना चाहिये) ॥५॥

संदामनान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र भद्रदारुकुष्ठ-हरिद्रावरुणमेपश्फीवलातिवलार्तगलकच्छुरासलुकी-कुवेराज्ञीवीरतरसहचराज्ञिमन्थवत्सादन्येरारडाश्म-मेदकालकार्कशतावरीपुनर्नवावसुकवशिरकाज्ञनक-भार्गोकार्पासीवृश्चिकालीपन्त्रूवदरथवकोलकुलतथ-प्रभृतीनि विदारिगन्धादिश्च द्वे चाद्ये पञ्चमूल्यै समासेन वातसंशमनो वर्गः ॥६॥

(वातसंशमन वर्ग—) अब यहाँ से आगे संशमन वर्ग को वर्णन करते हैं—देवदारु, कुष्ठ, हरिद्रा, वरुण (वरुणा), मेपश्फी, वला (स्लैरीटी, *Sida Cordifolia*), अतिवला (कंधी, *Sida Rhombifolia*), आर्तगल (नील पियावासा किंवा ककुभ, *Terminalia Tomentosa*), कच्छुरा (कपि-कच्छुर, कवचवीज), सलकी (*Boswellia Serrata*), कुवेराज्ञी (पाटल), वीरतरु (वर्जनवृक्ष), सहचर (पियावासा), अग्निमंथ (घडी अरणी), वस्तादनी (गिलोय), पुरण्ड, अशमभेदक (पाथरचूर), अलर्क (श्वेतर्क), अर्क, शतावरी, पुनर्नवा (साटी, *Boerhaavia Diffusa*), वसुक, वसिर, काज्ञनक (कच्चनार, *Bauhinia Variegata*), डल्हण इसका अर्ध धन्त्रू करते हैं), भार्गी (भांडी), कार्पासी (वनकपास, *Gossypium Herbaceum*), वृश्चिकाली, पत्तूर (कुचन्दन), बदर (वेर *Zyzynthus Jujuba*), यव, कोल (मध्यमाकार के वेर—पञ्चमन सुपात्र सौंधीर 'बदर' महत । सौंधीराहयु संपकं मधुर 'कोल'मुच्यते ॥ भावप्रकाश), कुलत्थ (कुलधी *Dolichos Biflorus*) इत्यादि ओषधियाँ निदारिगन्धादि-गण और लघु तथा महत, पञ्चमूल संकेप से वातशान्तिकारक वर्ग है ॥६॥

दर्म (Poa cynosuroides), और काण्डेशुक (खागड़ Sa echarum fuscum) यह तृणसज्जक पचमूल है ॥७५॥ यह अन्तिम (तृणसज्जक) पचमूल दूध के साथ उपयोग करने से मूरदोष, मूरदविकार तथा रक्षणित हनको व्यरित नाश कर देता है ॥७६॥

चक्रव्य—चरक के अनुसार गृह्णाच्यमूल में निम्न ओपथियाँ होती हैं—रोकुर्दर्मकाशान् शालीना मूलेव च ॥ (चिकित्सा, अ. १) ।

एषां घाटहरावाद्यावस्त्वः पित्तविनाशनः ।

पञ्चकौ झेष्पशमनावितरौ परिकीर्तिरौ ॥७७॥

इनमें पहले दो (लघुपचमूल और वृहत्पचमूल) वात-नाशक हैं, अन्तिम (तृण पचमूल) पित्तवाशक हैं और अन्य (वहीपंचमूल और कटकपचमूल) कठानाशक होते हैं ॥७७॥

त्रिवृतादिकमन्यत्रोपदेश्यामः ॥७८॥

त्रिवृतादिक गण का अन्य स्थान पर उपयोग करेंगे ॥७८॥

समासेन गणा होते प्रोक्तास्तेषां तु विस्तारम् ।

चिकित्सितेषु घक्ष्यामि—

ये गण संक्षेप से वर्णित किये गये हैं । इनके दृश्यों का विस्तार चिकित्सा में (रोगचिकित्सा के साथ) किया जायगा ।

—शात्वा दोषवलायतम् ॥७९॥

एविलेपनं कथायान्द्यं तैलं सर्पीयि पानकान् ।

प्रविभज्य यथान्यायं कुर्वीत मतिमान् भिषक् ॥८०॥

दोषों का तथा (रोगी के) बलावन का विचार कर बुद्धिमान् वैष्य इन गणोंके ओपथियों से ही तेप, (चंच) कथाय, तैल, शृत तथा पानक बनाकर विस्तके लिये जो उचित हो, उसे प्रयोग करे ॥७९-८०॥

धूमरप्तनिलहूरैः सर्वरुप्यनभिद्गुते ।

आदृपित्या शृते स्वस्येद्विधिनौपधसंग्रहम् ॥८१॥

(ओपथित्याग्निविधि—) (वैष्य को आहिदे कि) विधि-पूर्वक ओपथियों का संग्रह करके उनको भूर्जा, वर्णा, वायु और सील इनसे सब बहुतों में सुखित प्रेते स्थान में रखते ॥८१॥

समीक्ष्य दोषमेदान्द्यं मिथान् भिषान् प्रयोजयेत् ।

पृथटिद्यान् समस्तान्वा गणं या व्यस्तसंहतम् ॥८२॥

इनी गुणसहितानि गतस्तेन द्रव्यमन्तर्हीयो

गामानिलतोऽध्यय ॥८२॥

दोषों के मिथित या भिज भेदों का विचार कर (बुद्धिमान् वैष्य) पूर्व एव एव अंगों का उपयोग करे या (एक ही गण के अन्तर्गत) मिथ अंगों का उपयोग करे या (गण के) सारे के घोर अंगों का उपयोग करे या (दोषकर्दि के अनुभाव अनुकूल होने से उचित) दो दो चार चार । ये एंदंदर द्रव्याकार द्रव्यों के ॥८२॥

इनी भास्त्रादर्मानि गोदिनादमेन विचित्याम् तु दूरदायकीतिकामा

द्रव्यमार्दीकर्त्ता द्रव्यमार्दीयो नामादित्येऽन्वाय ॥८२॥

एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातः संशोधनसंशमनीयमस्यायं व्याख्य
स्थामः । यथोचाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से संशोधनसंशमनीय नामक अन्धाय व्याख्यायान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

चक्रव्य—ज्ञारोशन—यदीलोद्दिदिवान् पचया शोषन च ता (वामट) । यहाँ केवल वसन, विरेचन और शिरोविरेतीनों का ही विचार किया है । वसन—न शोषति दोष समाकोदीरवस्थापि । समीक्षा वेष्मान् शसनं तच ॥ (वामट)

मदनकुटज्जीमूतकेद्याकुध्यामार्गवकृतवेधन-सर्पपविहङ्गपिप्पलीकरखप्रुशाढ़केविदारकुवृदाय रिष्टायगन्धाविदुलयन्त्रुजीवक्षेताशपुष्पीविम्ब वचामुगेवीरुद्धित्रा चेत्युर्व्यमागद्याय । तत्र कोविदारपूर्वाणां फलानि, कोविदारादीन मूलानि ॥२॥

(उर्व्यमागद्य—) मदन (मैगफल), कुटज (कूटा) जीमूतक (देवदाली Luffa Penicandra), इद्वाक (कर्वं लैसी, Lagenaria Vulgaris), धामार्ग्व (पीत तुम कोवातकी Luffa Acutangula) हृतवेधन (कोणातीमे Luffa Echinata), सर्पे (ऐत सर्सों, Brassica Campestris), विड्या, पिष्ठली, करज, प्रुशात (चक्कर, Cassia Tora), कोविदार (कांचनार, कचनार, Baudhini Variegata), कर्वुदार (लेमान्टक, लमोडा Cordia Myxa), चक्कपाणि चरक की टीका में कर्वुदार का अर्थ 'सेतकर्चन' करते हैं), अरिट (निम्ब), असगन्धा, विठुल (वेतस, Calamus Rotundus चक्कपाणिद्वय चरक की टीका में विठुल का अर्थ 'हिङ्गल' करते हैं Barringtonia Acutangula), बहुजीवक (दुपडिया, Pentapetes Phoenicea) खेता (खेतवात, Acorus Calamus), गण्युपी (वन्यवाय), शिमी (कंटूरी Cephalandra Indica), धवा (धव), शृगेवांद (इन्द्रवाल्ली, Citrullus colocynthus) और जिता (जूती, Jatropha Montana) यह ओपथियों के वसनकारक हैं । इनमें से कोविदार से पूर्व ओपथियों के फल भी कोविदार तिनमें प्रयत्न हो । उन ओपथियों की जड़ (वसन के लिये) लेनी चाहिये ॥२॥

त्रिवृतादयामादत्तीद्रव्यन्तीसतलाशुक्लिनीविधि-रिष्टायग्नादीच्छुगलान्त्रीसुदुरुपर्वदीरीचित्रफकि-रिष्टायुक्तशतादित्यवकम्पिद्वयस्यकपाटलापूर्ण द्वीरीतक्यामलकविधितवन्नीलिनीवत्पुरुषक्लैस्तदपृती-वसमादृशसप्तद्वार्ष्यं ज्योतिस्मती । चेत्यधोमाग-द्याय । तत्र तिल्यकपूर्वाणां शूलानि, तिल्यक शीराणां पाटलान्तानां च्वचा, विष्ट्रिहृकफलरज़, पूर्णादीनामेरणान्तानां फलानि, दीप्तिरात्रयधयोः पत्राणि, शेषाणां शीरालीति ॥३॥

और यल कम हो तो हीन मात्रा प्रयुक्त करनी चाहिये । वास्तव में मात्रा तथा कपाय कल्पना के संबंध में कोई निश्चित नियम नहीं हो सकता । प्रत्येक रोगी की स्थिति और रोग का विचार के अपने अनुभव के अनुसार मात्रा का प्रमाण निश्चित करना चाहिये—मात्राया न व्यवस्थाप्ति व्याप्ति कोई बलं वयः । आलीच्छ देशकालै च योज्या तद्वच कल्पना ॥ (अष्टांगसंग्रह) । सात्रा के संबंध में पीछे इप्तवं अध्याय के इद्वेष्ट श्लोक के वक्तव्य में कुछ विवरण किया है, उसे देखो ।

इति भास्करशर्मणा गीविन्दात्मजेन विरचितायामायुवेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषादीकायां संशोधनसंशमनीयो नामैकत्वारिंशत्मोऽध्यायः ॥३६॥

चत्वारिंशत्मोऽध्यायः ।

* अथातो द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकविज्ञानीयमध्यायं
व्याख्यास्यामः । यथोदाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से द्रव्य-रस-गुण-वीर्यविपाकविज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—द्रव्यादिविज्ञानीय अध्याय—द्रव्यादीनां विशिष्टं शानं तदधिकृत्य कृतोऽध्याय इत्यर्थः । इस अध्याय में ओषधियों के वैद्यकीय उपयोगों की उपपत्ति (Rationale) का ज्ञान होते के लिए द्रव्यादि आवश्यक वातों का विशेष विवरण किया गया है । वैद्यक के इस विभाग को पाश्चात्य वैद्यकीय परिभाषा में ‘फॉर्माकोलॉजी’ (Pharmacology) कहते हैं । अधिकांश ओषधियों की वैद्यकीय उपयोगिता इन द्रव्यादि वातों की सहायता से सिद्ध होती है । आयुर्वेद में और पाश्चात्य वैद्यक में प्रयुक्त हुई कुछ ओषधियाँ ऐसी हैं कि जिनकी उपयोगिता की उपपत्ति सिद्ध करने में उपर्युक्त द्रव्यादिविज्ञान असफल हुआ है । ऐसी ओषधियों की कार्य करने की पद्धति प्रदर्शित करने के लिये चरक तथा वागभट में ‘प्रभाव’ शब्द का प्रयोग किया है । सुश्रुतसंहिता में ओषधियों की इस शक्ति का निर्देश ‘प्रभाव’ के नाम से व्याप्ति नहीं किया गया है तथापि अग्रव्याकृतया उसी का ही वर्णन इस अध्याय के ‘अभीमास्यान्यचिन्म्यानि’ इत्यादि अन्तिम श्लोकों में किया गया है । प्रभाव का विवरण इत्यलिये इन श्लोकों के वक्तव्य में ही किया जायगा । **द्रव्य—**ओषधियों की सोल्कपर्यवर्कर्य पञ्चमहाभूतात्मक रचना—प्रमाणः प्रभावतावयवानामुक्तपूर्कपरिसंकलनः । इस पञ्चमहाभूतात्मक रचना के अनुसार ओषधियों का वर्णन आगे इप्तवं अध्याय (द्रव्यविशेषविज्ञानीय) में किया गया है । इस अध्याय में ‘तद् द्रव्यमात्मना किंचित्’ इस श्लोक में ‘अत्मना’ शब्द से ओषधियों की पञ्चमहाभूतात्मक रचना ही अभिप्रेत है । आयुनिक परिभाषा के अनुसार द्रव्यं को ओषधियों का संगठन (Composition of drugs) कह सकते हैं । रस—रसयने आवाधत इति रसः । रसनायोः रसः । (चरक) । ओषधियों का जिह्वाप्राप्ति अर्थ । इस अर्थ के अनुसार रसमस्त ओषधियाँ मधुरादि इः रसोः में विभक्ते की गई हैं । व्याप्ति ‘रसनायोऽप्ता’ ऐसी रस की व्याख्या की गई है तथापि ओषधियों के रसों का प्रहण जिह्वा के अतिरिक्त अन्य अंगों से भी होता है; फर्क

होता ही है कि जिह्वा पर रस की संवेदना अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक और विशेष रूप से प्रतीत होती है । जैसे कठुया कपाय रस का ज्ञान जैसे जिह्वा पर होता है वैसे ही गले में होता है, आमाशय में होता है, त्वचा पर होता है । शरीर में रस का कार्य निपातस्थान के साथ संबंध होते ही होता है, उसमें रूपान्तर की आवश्यकता नहीं होती—सो निपाते द्रव्याणाम् । (चरक) । रस विद्यानिपातेन । (अष्टांगसंग्रह) । रस का यह कार्य वृद्धिधानिपातेन के ऊपर प्रत्यक्षतया हुआ करता है और उसी स्थान पर मर्यादित रहता है । यथा फिटकरी जैसी कपाय रस युक्त ओषधि का प्रयोग त्वचा पर करने से स्थानिक लसिकासाव तथा रक्तस्राव बंद होता है, आँखों में करने से पानी का खाव बंद होता है और मुख द्वारा सेवन करने पर आमाशय तथा आन्त्र का खाव (अतिसार) कम होता है । कभी कभी रस स्थानिक वातनाडियों के अंगों (Nerve terminals) द्वारा प्रत्यावर्तन (Reflex action) से भी कार्य करता है । ‘अम्लः क्षालयते मुखम्’, ‘लवणः स्फन्द्यत्वात्यम्’, ‘कड़ः ज्वरयत्यक्षिमासात्यम्’ ये सब उदाहरण प्रत्यावर्तन के हैं । पाश्चात्य वैद्यक में आयुर्वेद की भाँति व्याप्ति रस की कल्पना नहीं है तो भी सुविधा के लिये तिक्त (Bitters), कपाय (Astringents) और अम्ल (Acids) ऐसे रसों के अनुसार ओषधियों के कुछ वर्ग किये गये हैं । पाश्चात्य वैद्यक में रस के लिये कोई ठीक पर्याप्त नहीं दिखाई देता जो रस के पूरे अर्थ को बतला सके, क्योंकि रुचि (Taste) के अतिरिक्त रस में आयुनिक परिभाषा के अनुसार ओषधियों की स्थानिक, प्रत्यक्ष तथा प्राथमिक क्रिया (Local, direct and primary action of drugs) भी अन्तर्भूत होती है । रस और अनुरस—उपर्युक्त छंओं रस ओषधियों में व्यक्त और अव्यक्त द्विविध प्रकार से उपस्थित रहते हैं । इन्हीं को क्रम से ‘रस’ और ‘अनुरस’ कहते हैं । ओषधियों का जी रस जिह्वा के साथ संबंध होते ही विशेषरूप से प्रतीत होता है वह ‘व्यक्तरस’ और जी पीछे तथा अस्पृशतया प्रतीत होता है वह ‘अनुरस’ कहलाता है—तत्र व्यक्ते रसः स्फृतः । अव्यक्तोऽनुरसः विनिदने व्यक्तोऽपि चेष्टते ॥ (अष्टांगहृदय) । व्यक्तः गुरुक्षय चादौ च रसी द्रव्यस्य लक्ष्यते । विपर्येणाऽनुरसः । (चरक) । चक्रपाणिदत्त के भटानुसार अनुरस सदैव कायानुमेय होता है—शुक्रस्य वाऽदर्दस्य वा प्रथमजिह्वांवये वाऽस्त्रावस्वादानते वा यो व्यक्तवेन मुरुरोद्यम्लोद्यमित्यादिना विकल्पेन गृह्णते, स व्यक्तः । यस्तूत्तावस्यान्तुष्टेऽपि व्यक्तो नोपलभ्यते, किंतु ही अव्यपेशतया छायामवेण कार्यमावेण वा मीयते सोऽनुरस इति वाक्यार्थः । (चक्रपाणिदत्तटीका) । रस और अनुरस का बलावलविचार भृत्ये अध्याय के अन्तिम श्लोक के वक्तव्य में और किया गया है । उण—ओषधियों के वैद्यकीय कार्यों के धोतक गुण होते हैं । गुणों को ‘फॉर्माकोलॉजिक धैँक्शन’ (Pharmacological actions) कह सकते हैं । ये संख्या में साधारणतया बीस हैं; परन्तु विकासी व्यवायी द्रव्यादि अन्य गुण भी होते हैं—गुरुमन्दहिमिरपश्क्षणान्दमुत्तिवाः । गुणः सुस्क्रमविशदा विशितः सविपर्याः ॥ इन्द्रियार्थी व्यवायी च विकासी चापरे गुणः ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इनके संबंध में विशेष विवरण भृत्ये

चन्दनकुचन्दनहीविरोशीरमजिष्ठापयस्याविदारी-
शतापरागुद्भास्येवलरहारकुमुदोपलकन्द(द)लीदूर्घा-
मूर्त्यप्रभृतीनि जाकोल्यादिः सारियादिरञ्जना-
दिरुपलादिन्यंयोधादिस्तणपञ्चमूलमिति समासेन
पित्तसंशामनो धर्मः ॥३॥

(पित्तसंशमन—) चन्दन (खेतचन्दन), कुचन्दन (रक्षचन्दन), हींगर (कालावाला), उंगर (रम), मजिष्ठा, पयस्या (क्षीरकाकोनी या अकेलुनी), रिदारी (रिदारी कन्द), शतावरी, गुन्दा (शृगभेद, Saccharum Sara), गैरल (काई), काहार (खेत, गील, या रक्त कमल), कुमुद (खेतकमल), उमर (लिंगु, नीट कमल—इवस्त्रिम्-
योर्बल्मि), नैनंदी (पश्चात), दूर्घा (Cynodon Dactylon)
मूर्त्य हृष्णादि ओषधियाँ, काकोल्यादिशां, सारियादिशां,
मज्जतादिशां, उपलादिशां, न्योदायादिशां और तृणोच्चमूर्त्य
पद्म संकेत से विश्वासितकरक धर्म है ॥३॥

कालेयकाशुरुतिलपर्णीकुष्ठहरिद्राशीतशिवशत
पुत्पासरलाटाक्रामपरीयोदर्कीयैवृद्धीसुमनः काकादनी
लाहूलकीदक्षित्कर्णमुआतकलामज्जम्बूतीनि
यही कण्ठकापञ्चमूल्यो पित्तपल्यादिर्ष्वदत्यादिरुच्छ-
कादिर्यन्वादि, सुरसादिरात्रयधादिगति समासेन
शेषपासंशमनो धर्मः ॥४॥

(कफ्फामन—) कार्यक (हरिचन्दन पा वीतचन्दन),
भगद, तिळाली (रक्षचन्दन), कुट, हिरिदा, गीरियर
(कार पा रेतपद या शात्रुग्ना का भेद), गुणुपां (गोंध,
Peuer lanum Sowa) गराम (गिरू पा राल का घूर),
राधा, प्रसीरूतिशिंख), डडार्प (आज), इंगुरी (इंगुर),
मूगत (आती), कादाली (गुजा), सागल्ली (इल-
हाती, Gloriosa Superba), इनिक्क्य (गम्भीरूक्तेरूप
भूम्भारी एवं गोंध, गोंधल एवं के) गुजाल, आमल
(जाम वा एक भेद) हृष्णादि ओषधियाँ वृक्षोर्जेयू, कारुक-
रेच्छापूर, रिष्टपल्यादिशां, उपलादिशां, गुरुक्षादिशां, वया-
दिशां, गुरुसादिशां और अत्यन्तादिशां वह संकेत से
विश्वासितकरक धर्म है ॥४॥

तत्र गदांपयोगीप्राप्तिश्याप्तिपुरुषात्यानयिति
सर्वाहय विश्वामृत् । तत्र, द्यापित्यादपित्यमीरय
गुरुतुर्मां गुरुपादाय द्यापित्य द्यापित्यमन्यायादहति;
सप्तिप्तन्त्रपित्यमीर्तिं विश्वप या पद्यमें, तुल्य
व्याहारिति व्याहारित्युदांमरात्यापद्यति संशमनम्, पर्यं
व्याप्तेनान्तरिक्षायाति । हीनामेंमें द्यापित्यगिर्वाद-
धर्मयति । गदामाद्यमेंपर विश्वामृत् ॥५॥

(कोर्पस्य वायादिशां—) गोंध वाया वा ज्वालियी
वृक्ष, वायादि वृक्ष एवं हृष्णा हृष्णा वा रेतरात्रा (गृष्मायित
वाया में रेतरात्रा) वायादि वृक्षों, उपले व्यापित्य वाया वृक्ष वृक्ष
वृक्ष वाया में द्वयु वृक्षों वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष
वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष वृक्ष

वृक्ष के अधिक मात्रा में प्रयुक्त ओषधि अतीर्थे उपयोग करती है, या (श्लादिक उत्पन्न करके) दूर से पक्षता है । रोगी के
बल से अधिक मात्रा में प्रयुक्त संशमन ओषधि स्तनि, मूर्त्य
और मट उपयोग करती है । संयोगत ओषधि भी व्यापित्य असि-
जी और रोगी के बल से अधिक प्रयोग करने पर अधिक हानि
करती है । व्यापित्य असि और रोगी की यथि की इसे से गूम
मात्रा में प्रयुक्त ओषधि निष्कल हो जाती है । इसलिए व्यापित्य
असि और रोगी हृतके बल के समान (अतुसार) अंतरि-
की मात्रा प्रदान करनी चाहिये ॥५॥

यत्तद्य—संशमन तथा संयोगत व्यी ओषधियाँ व्यापित्य
मलादि देवकर दीर्घी चाहिए । इनमें अधिक मात्रा में वी
हुई संयोगत ओषधि संशमन व्यी अपेक्षा अधिक हानि किया
करती है । निष्ठो—विश्वे शुभामान विश्वा वानोदान । मन
वापामृतिय सभी मोहोडरीदानम् । (भट्टाचार्यमह) ।

भयन्ति चात्र—
रोगे शोधनसाध्ये तु यो भवेद्योर्दुर्बलः ।

तस्मै दद्याद्विषपक् ग्रासो द्योप्रद्यायनं गृदु ॥६॥
संयोगतमात्र रोग से पीडित रोगी यदि दोसों के कारण
दुर्बल हो गया हो तो उसे गुदिमात्र वैष्य गृदुवीर्ये (वामविरो-
पनादि) दोषात्कार अंतरि प्रदान कर ॥६॥

चले दोषे मृदौ कोष्ठे नेष्टोतात्र यत्ते त्वाम् ।
अद्यापिधुर्युत्स्वापि शोधनं हि तत्त्वं भवेत् ॥७॥

स्वर्यं प्रवृत्तदोषस्य गृदुकोष्ठस्य शोधनम् ।
भवेद्योर्द्युपलभ्यापि प्रयुक्तं द्यापित्यादानम् ॥८॥

दोष चंडामान और काह गृदु दोषी प्रवृत्तमें गृदुप्रयोग
देना नहीं चाहिए, इसलिये कि दोषों के अतिरिक्त
(उपदानादि अन्य) दाराओं से दुर्बल हुए गृदुओं के पिते भी
संयोगत विश्वकर होता है ॥८॥ (इसका कारण यह है कि)
विश्वों द्वारा दसरे अपेक्षे स्वासमें चकावानान् हृप हैं और
किसी को गृदु हुआ है विश्वे अवस्थामें भी गृदु
किसी हुआ संघर्षन व्यापित्याक होता है ॥८॥

द्यापित्यादिषु तु मध्येषु शाप्तपात्राद्विषिष्यते ।
विषात्प्रदर्शं त्वयै देयः वस्त्रोऽप्तमितः ॥९॥

ती वृक्षाद्यन्याद्यामी तीर्प्तामेवाद्यादेः
तीप्रदेवत्वात् विषात्प्रदर्श ॥९॥

(ओषधिमात्रा—) तत्र द्यापित्य असि भी गृदु का
दस ग्राम हो तो काह या गदा अंतरि हीनी चाहिए, चूर्य
विषात्प्रदर्श भी भीर कह अस भर द्यो चृदितं वृ ॥१०॥

यत्तद्य—अप्ती—क्षर दस, १३ तोपा ; विषात्प्रद—
दस, दस तोपा । अप्ती—अप्ती, विषात्प्रद—क्षर ये दस, दस
दस दोहों दोहों का लायरीन दरवा चाहिए । द्योप दस दस
दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस
दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस
दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस
दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस दस

प्रधानम् । द्रव्यलक्षणं तु 'क्रियागुणवत् समवायि-
कारणम्' इति ॥२॥

कहै आचार्य कहते हैं कि (द्रव्य, रस, गुण, वीर्य और
विषाक्त इनमें) द्रव्य प्रधान है । किस हेतु से ? (१) द्रव्य
स्थिर (अपरिरक्ततर्तगील) होने के हेतु से, प्रधान है । क्योंकि
द्रव्यरसवीर्यविषाक्तादि में द्रव्य ही स्थिर होता है न रसादि,
जैसे कचे कफल में जो रसादि होते हैं वे पक पफल में नहीं
होते । (२) नित्य होने से द्रव्य प्रधान है । द्रव्य नित्य
(शाश्वत) है और उसके गुण अनित्य होते हैं, जैसे उसके
कल्पादि क्षयागविभाग नित्य होते हैं परन्तु उनके रसगत्यादि
गुण कभी उत्तम (प्रश्न) होते हैं कभी दृष्टित होते हैं ।
(३) अपनी (पार्थिवादि विग्रह) जाति में स्थिर रहने से
द्रव्य प्रधान है, जैसे कि पार्थिवद्रव्य अन्य (आप्यादि)
जाति में परिवर्तित नहीं होते हैं, इसी प्रकार आप्यादि द्रव्य अन्य
जाति में परिवर्तित नहीं होते हैं । (४) पाँचों इन्द्रियों
द्वारा भी प्रहण होने से द्रव्य प्रधान है, द्रव्यों का प्रहण पाँचों
इन्द्रियों द्वारा होता है परन्तु रसादि का प्रहण पाँचों इन्द्रियों
द्वारा नहीं किया जा सकता । (५) (रसादि का)
आश्रयस्थान होने से द्रव्य प्रधान है, रसादि द्रव्य के आश्रय-
भूत होते हैं (स्वतन्त्र नहीं हो सकते) । (६) (आहरण
कृट्टनादि विविध प्रकार के) कर्म द्रव्यों पर ही हो सकते हैं
इसलिये द्रव्य प्रधान है, जैसे विद्वारिगन्धादि (गगा के
द्रव्यों) को लाकर कृटे और फिर पकाकर दृश्यादि सब क्रियाओं
का आरंभ द्रव्यों में ही होता है रसादि में नहीं ही सकता ।
(७) ग्राघ के प्रमाणों से भी द्रव्य प्रधान है; ग्राघ में योगों
के उपदेश में द्रव्य ही प्रधान माना गया है, जैसे कि (चात-
गोथर प्रलेप का योग वर्णन करते समय) मातुलंग अग्नि-
मेय आदि द्रव्यों का ही उपदेश किया गया है न रसादि का ।
(८) द्रव्य के क्रम (स्थित्यन्तर) के अनुसार रसादिकों की
क्रमापेक्षा होने से द्रव्य ही प्रधान है, क्योंकि रसादि द्रव्य के
स्थित्यन्तर की अपेक्षा करते हुए रहते हैं, जैसे अपक पदार्थ
में रसादि अपक (अप्रशस्त) होते हैं और पूर्ण (पक)
पदार्थ में पूर्ण (प्रशस्त) होते हैं । (९) एकदेशसाध्यत्व
होने से, द्रव्यों का एक एक अंग उपयोग करके व्याधियों का
साधन हो जाता है, जैसे योहर के दूध से (कहै रोग साधन
होते हैं) इसलिये द्रव्य ही प्रधान है । द्रव्य का लक्षण ऐसा
है—जिसमें क्रिया और गुण (दोनों) हैं तथा (जो क्रिया
और गुण दोनों का) समवायिकारण है ॥२॥

वक्तव्य—यहां दिया हुआ द्रव्य का लक्षण वैशेषिक
दर्शन का है । क्रियागुणवत्—क्रियांशु गुणाशु सन्त्यसिद्धिं ।
समवायिकारणम्—यत्समवेतं कार्यमुत्पत्यते, यथा तन्त्रवः पदस्य । उपादान
कारण जैसे वस्त्र का तन्तु और घट का मृत्कपाल दृश्यादि ।

नेत्याहुरन्ये, रसास्तु प्रधानः कस्मात् ? आग-
मात्, आगमो हि शास्त्रमुच्यते; शास्त्रे हि रसा

अधिकृताः, यथा—रसायत्त आहार इति, तस्मिन्न
प्राणाः; उपदेशाच्च, उपदिश्यन्ते हि रसाः, यथा—

मधुराम्लवणा वातं शमयन्ति; अनुप्राजाच्च रसेन

शुभुमीयते द्रव्यं, यथा—मधुरमिति; कपिवचनाच्च,
कपिवचनं देवो यथा—किञ्चिदिज्यार्थं मधुरमाहरे-
दिति; तस्माद्दसाः प्रधानः रसेषु गुणसंघा । रस-
लक्षणमन्यत्रोपदेश्यामः ॥३॥

अन्य कहै आचार्य कहते हैं कि द्रव्य प्रधान मानना
प्रशस्त नहीं है । (वे कहते हैं कि) रस ही प्रधान है । किस
हेतु ने ? (१) आगम के आधार से रस ही प्रधान होते
हैं । आगम ही शास्त्र है और शास्त्र (आयुर्वेद) में रस ही
अधिकृत किये हैं, जैसे रसों के अधीन आहार है और आहार
में प्राण रहते हैं । (२) (शास्त्र में रसों का ही) उपदेश
होने से रस ही प्रधान हैं । रसों का ही उपदेश किया जाता
है, जैसे मधुर, अम्ल और लवण रस वात का शमन करते हैं ।
(३) अनुसार में रस ही प्रधान होते हैं । रस ही के द्वारा
द्रव्य का अनुसार किया जाता है, जैसे यह द्रव्य मंधुर है ।
(४) ऋषियों के वचन से भी रस प्रधान हैं । वेद प्ररिष्ठों
का वचन है—जैसे 'यज्ञ के लिये कुछ मधुर (द्रव्य) लाओ'
दृश्यादि । इन कारणों से रस ही प्रधान हैं । रस के लिये
ही दृश्यी संज्ञा गुण होती है (इसलिये रसप्राधान्य हेतुओं
से गुणप्राधान्य भी सिद्ध होता है) । रस का लक्षण अन्य
स्थान (रसविदेशविज्ञानीय अभ्याय) में वर्णन करते हैं ॥३॥

नेत्याहुरन्ये, वीर्यं प्रधानमिति । कस्मात् ? तद्व-
रेनौपवकर्मनिष्ठते: । इहौपवकर्मारयूर्ध्वादोभागो-
भयभागसंशोधनसंशमनसंग्राहकाद्यिदीपनपीडन-
लेखनवृद्धंणरसायनवाजीकरणश्वयथुकरविलयन-
दहनदारणमाद्नप्राणध्यविषप्रशमनानि वीर्यप्राधा-
न्याद्वचन्ति । तच्च वीर्यं द्विविधमुप्लं शीतं च,
अशीयोमीयत्वाज्जगतः । केचिदपृचिधमाहुः—शीत-
मुप्लं स्तिगं रुक्तं विशदं पिच्छिलं मूढु तीक्ष्णं
चेति । एतानि वीर्याणि स्ववलगुणोत्कर्पद्वसमभि-
भूयात्मकर्म कुर्वन्ति । यथा तावन्महत्पञ्चसूलं
कपायं तिक्तानुरसं वातं शमयति, उष्णवीर्यत्वात्;
तथा कुलत्थः कपायः, कटुकः पलारडः, स्वेह-
भावाच्च; मधुरशेश्वरसो वातं वर्धयति, शीतवीर्य-
त्वात्; कटुका पिण्डी पित्तं शमयति, मूढुशीत-
वीर्यत्वात्, अम्लमामलकं लवणं सैन्धवं च; तिक्ता
काकमाची पित्तं वर्धयति, उष्णवीर्यत्वात्, मधुरा
मस्याच्च; कटुकं मूलकं स्तेष्माणं वर्धयति, स्तिगं
वीर्यत्वात्; अम्लं कपित्थं स्तेष्माणं शमयति,
रुक्तवीर्यत्वात्, मधुरं चौद्रं च; तदेतन्निर्देशनमात्र
मुक्तम् ॥४॥

अन्य आचार्य (द्रव्य, या रस की प्रधानता) नहीं मानते
(वे कहते हैं कि) वीर्य प्रधान है । किस हेतु से ? ओषधियं
के कर्म की सिद्धि वीर्य के अधीन होने से । यहां पर कर्वेभा-
मस्याच्च (अष्टुष्ट, अमोभात् सुष्टुष्ट उष्ट्रिअलंपादश्च Shas-

अध्याय के अन्त में किया गया है। कुछ आधुनिक विद्वान् गुण से भीतिकुणा (Physical properties) समझते हैं, परन्तु यह मत ठीक नहीं है। ५६ वें अध्याय में गुणों का विवरण करते समय लिखा है—**पर्मिग्निसनुमीयने नानाद्रव्याभ्याश्या एवा एषाः । भौतिक धर्मं प्रत्यक्षं होते हैं, परन्तु वैद्यकीयगुणं कर्मानुमेयं होते हैं। इसलिये रस वीर्याति द्वारा ओपचियों के जो भी कार्य शरीर में होते हैं वे सब उनके गुण होते हैं। ओपचियों के इन गुणों का उल्लेखकर्ता भी स्वस्कार तथा भावनार्थी द्वारा किया जाता है—गुणा लाप्त विवात् रस्कारात् सविप्रयन् । शीहेल्जः वया च रु सकृदाः पिद्धिण्डाः॥**

(चरक)। इसमें संदेह नहीं कि गुण, लघु, द्रव, प्रकार, कठिन इत्यादि गद्य ओपचियों की भौतिक स्थिति (Physical state) प्रदर्शित करने के लिये भी प्रयुक्त होते हैं, परन्तु ओपचियों की परिभाषा में गुण सुख्यतया शरीरगत विविध क्रियाओं के घोटक होते हैं। प्राचीनविकृतिविचारदर्शकालवशस्ते खाद्यग्रन्थ द्रवसंकेतु गुणं गुणं गुणीयोऽनिवार्यस्याः । (चरक)।

वीर्यं—इसके द्वी अर्थ होते हैं। (१) वीर्यं तु विषये देन वा निया। नीर्वी बुल्ते किंचित् सर्वा वीर्येषुता निया ॥ (चरक)। देन कुर्वन्ति तदीर्यं। (सुश्रुत)। देनेति रसेन वा विषयक वा प्रभावित वा गुणविपराकारिभिर् गुणीयो विग्रह तर्पणादनश्वमनादि इया कृत्वा नियन् इत्युपादिष्टते तस्या विवाता तद्रसादि वीर्यम् । (चक्रपाणिशृष्टीका)। संहेष में जिसके द्वारा ओपचियों का कार्य निष्पत्त होता है, वह वीर्य है। ओपचियों तरह होने पर वीर्य अल्प होता है, पक होने पर वीर्यं परिणत होता है और तुरानी होने पर वीर्यं घीरे घीरे घटता जाता है—नव वर्षम् औपचियों वर्षतरण्योल्लवीर्यः। ता एव ओपचियों कालरात्रिभावात् परिणतवीर्यं भवन्ति। (सुश्रुत)। वर्षांतीति सर्वत्वान्यं परित्यजति गौरद्रव् । न तु त्वं जाति तदीनी वीर्यं सुख्यत क्रमात् । यह वीर्य का सापारण अर्थ है, इसके लिये औपचियों में पोटन्सी (Potency) कह सकते हैं। (२) 'रमविषयकमावातिरिक्ते प्रभूतराकरिणीयुणे वीर्यम्' इति संज्ञा । रस, विषय, प्रभाव इनके गुणों के अतिरिक्त द्रव्य का जो विशेष कार्यकारीगुण होता है उसे वीर्यं कहते हैं। यह वीर्य की 'पारिभाषिक' संज्ञा है। इस अध्याय में यही दूसरा अर्थ अभिप्रेत है और इसी का ही वर्णन आगे गूढ़ चार में किया गया है। आधुनिक वाक्यात्मक वैद्यकीय परिभाषा में इस वीर्य के लिये कोई भी योग्य पर्यायद्वय नहीं दिखाई देता। शीत और उष्ण कक्षे वीर्य दो प्रकार का होता है। इसलिये ओपचियों के वीर्य का सवध शरीरगत Biochemical और Metabolic processes के साथ मालम पहला है। जैसे हरहा और आवृत्ति दोनों गुण और कर्म में समान होने पर भी वीर्य में विशद होते हैं। हरहा गरम होता है और आवृत्ति शीतल होता है। उष्ण और शीतवीर्य के संश्लग्न—जोशो ग्रहणाद्वयलनिसेवदाहानुकिता। शम च वातव्याद्यो ग्रहण शिरार्थ पुनः ॥ लक्षण जीवन सम्बन्ध प्रमादे रक्तपितृयो ॥

(बट्टांगद्रव्य)। विषयक—महावोत में जटराजि के संयोग से रस कारणम् द्रव्यों का पचन होने के पद्धात् शरीर में जो रसान्तर उपचर होता है वह विषयक है—जटरेणादिना योग पद्धतिं लभन्त् । रसाना परिणामान्ते स विषय इति स्मृता ॥

(अष्टांगहृदय)। विषयक की 'निष्ठापाक' भी कहते हैं। रसों के मधुर, अम्ल और कठु ऐसे तीन विषयक चरक अनुमार और मधुर तथा कठु दो ही विषयक सुख्यत के अनुसा होते हैं। इन विषयों का कार्य रससदाय (रसैरसी तुल्यफलं होता है, फक्त हताता ही है कि विषयक का कार्य सर्वादैविह अप्रयत्न या अनुमेय और द्वितीयक (Systemic, indirect and Secondaries)) तथा रस से बलवत्तर होता है। विषयक बलावल द्रव्यगत रस के बलावल पर निर्भर होता है। यह द्रव्य अस्थम मधुर हो तो विषयक भी दल्हण होता है, यह अस्थम मधुर हो तो भस्यम होता है और यदि अस्थमधुर हो तो अल्पलक्षण होता है—विषयक लक्षणवालमध्यभूषित प्रति द्रव्याणा गुणैरित्यात्मत तथावल्लयेन ॥ (चरक)। जो विषयक के रस, वीर्य और विषयक की उपलब्धि—रस का ज्ञान जिह के साथ संबंध होते ही होता है; विषयक का ज्ञान शरीर और ओपचियों का पचन होने के पीछे दोरीं की दृढ़ि, प्रकारों य साधारण देशकर होता है और वीर्य का ज्ञान कभी शरीर के साथ संबंध होते ही, कभी शरीर पर जो कार्य होता है उससे और जीवी का प्रवर्त्तन तथा अप्रयत्न या कार्यानुमेय और वीर्य का प्रवर्त्तन तथा अप्रयत्न दोनों प्रकार से होता है—ऐसे निष्पत्ते द्रव्याणा विषयक वर्णनिष्ठाः । वीर्यं वातशीतावात्रिपताशी पल्लवेन ॥ (चरक)। अधिवास का अर्थ शरीर में नियाह कर लेखन बृहणादिकार्यं के होता है। चक्रपाणिशृष्ट अधीवास का अर्थ 'भक्षण करने के पीछे परिषयक होने के वृत्ति क्षण तक' (एतच पाकात् पूर्वं नियाहाशीर्च तेवद्) करते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस अधिवास से आगे चौपं सूक्ष्म में निर्दिष्ट किये लेखनवृहणादिकार्यं नहीं हो सकते।

केचिदाचार्या त्रुतते—द्रव्यं प्रधानं, कसात् ? द्रव्यस्थितत्वात्, इह खलु द्रव्यं व्यवस्थितं न रसा द्रव्यः, यथा—आमे फले ये रसादप्यस्ते पके न सन्ति: नित्यवात्, नियं हि द्रव्यमनित्या गुणाः, यथा—कल्कादिप्रविभागः, स एव सप्तप्रदरसगन्धो द्वापद्म-रसगन्धो वा भवति, स्वजात्यवस्थानाथ, यथा हि पारिथियं द्रव्यमन्यभावं न गच्छेत्येवं शोषणिः, पञ्च-निद्र्यप्रदृष्टाच, पञ्चमिरिन्द्रियैर्गृह्यते द्रव्यं न रसा द्रव्यः, आध्यत्वाच, द्रव्यमाधिता रसादयो भवन्ति, आरम्भसामर्थ्याच, द्रव्याधित आरम्भः, यथा—विद्वारिगन्धादिमाहत्य सक्षुद्य विषयेदिवेवमादिषु न रसादिव्यारम्भः शास्त्रप्रामाण्यात्, शास्त्रे हि द्रव्यं प्रधानसुपूर्वेदेव हि योगानां, यथा—मातुलुहास्ति-मन्त्राय चेत्यादी न रसादय उपदिश्यन्ते; क्षमापेति तत्वाच रसादीनां, रसादयो हि द्रव्यकममपेत्यन्ते, यथा—तदृष्णे तदृष्णः संपूर्णे संपूर्णां इति; एक-देशसामर्थ्याच, द्रव्याणामेकदोनामपि द्वाधयः साम्यन्ते, यथा—महादृष्टीर्णेति, तसाद्रव्यं

प्रधानम् । द्रव्यलक्षणं तु 'कियागुणवत् समवायि-
कारणम्' इति ॥२॥

कई आचार्य कहते हैं कि (द्रव्य, रस, गुण, वीर्य और
विपाक इनमें) द्रव्य प्रधान है । किस हेतु से ? (१) द्रव्य
स्थिर (अपरिवर्तनशील) होने के हेतु से, प्रधान है । क्योंकि
द्रव्यस्थिरविपाकादि में द्रव्य ही स्थिर होता है न रसादि,
जैसे कचे फल में जो रसादि होते हैं वे पके फल में नहीं
होते । (२) निल्य होने से द्रव्य प्रधान है । द्रव्य निल्य
(शाश्वत) है और उसके गुण अनित्य होते हैं, जैसे उसके
कल्कादि कपायविभाग निल्य होते हैं परन्तु उनके रसगम्बादि
गुण कभी उत्तम (प्रशस्त) होते हैं कभी दूषित होते हैं ।
(३) अपनी (पार्थिवादि विशिष्ट) जाति में स्थिर रहने से
द्रव्य प्रधान है, जैसे कि पार्थिवद्रव्य अन्य (आप्यादि)
जाति में परिवर्तित नहीं होते, इसी प्रकार आप्यादि द्रव्य अन्य
जाति में परिवर्तित नहीं होते हैं । (४) पाँचों इन्द्रियों
द्वारा भी ग्रहण होने से द्रव्य प्रधान है, द्रव्यों का ग्रहण पाँचों
इन्द्रियों द्वारा होता है परन्तु रसादि का ग्रहण पाँचों इन्द्रियों
द्वारा नहीं किया जा सकता । (५) (रसादि का) आश्रयस्थान होने से द्रव्य प्रधान है, रसादि द्रव्य के आश्रय-
भूत होते हैं (स्वतन्त्र नहीं हो सकते) । (६) (आहरण
कुट्टादि विविध प्रकार के) कर्म द्रव्यों पर ही हो सकते हैं
इसलिये द्रव्य प्रधान है, जैसे विदारिगम्बादि (गण के
द्रव्यों) को लाकर कूटे और फिर पकावे हृत्यादि सब कियाओं
का आरंभ द्रव्यों में ही होता है रसादि में नहीं हो सकता ।
(७) शास्त्र के प्रमाणों से भी द्रव्य प्रधान है; शास्त्र में योगों
के उपदेश में द्रव्य ही प्रधान माना गया है, जैसे कि (वात-
शोथहर प्रलेप का योग वर्णन करते समय) मातुलंग अस्ति-
मंथ आदि द्रव्यों का ही उपदेश किया गया है न रसादि का ।
(८) द्रव्य के क्रम (स्थित्यन्तर) के अनुसार रसादिकों की
क्रमापेक्षा होने से द्रव्य ही प्रधान है, क्योंकि रसादि द्रव्य के
स्थित्यन्तर की अपेक्षा करते हुए रहते हैं, जैसे अपक पदार्थ
में रसादि, अपक (अप्रशस्त) होते हैं और पूर्ण (पक)
पदार्थ में पूर्ण (प्रशस्त) होते हैं । (९) एकदेशसाम्यव्य
होने से, द्रव्यों का एक एक अंग उपयोग करके व्याधियों का
साधन हो जाता है, जैसे थोहर के दूध से (कहे रोग साधन
होते हैं) इसलिये द्रव्य ही प्रधान है । द्रव्य का लक्षण ऐसा
है—जिसमें किया और गुण (दोनों) हैं तथा (जो किया
और गुण दोनों का) समवायिकारण है ॥२॥

चक्कद्रव्य—यहां दिया हुआ द्रव्य का लक्षण वैशेषिक
दर्शन का है । क्रियागुणवत्—क्रियांशु गुणाश सन्त्यस्मिन्निति ।
समवायिकारणम्—यत्समवेत् कार्यमुपत्यते, यथा तन्तवः पट्ट्य । उपादान
कारण जैसे वस्त्र का तन्तु और घट का सूक्ष्मपाल हृत्यादि ।

नेत्याहुरन्ये, रसास्तु प्रधानं; कस्मात् ? आग-
मात्, आगमो हि शास्त्रमुच्यते; शास्त्रे हि रसा
अधिकृताः, यथा—रसायत्त आहार इति, तर्सिश्च
प्राणाः; उपदेशाच्च, उपदिश्यन्ते हि रसाः, यथा—
मधुराम्ललवणा वातं शमयन्ति; अनुमानाच्च, रसेन

घ्ननुमीयते द्रव्यं, यथा—मधुरमिति; क्रपिवचनाच्च,
क्रपिवचनं वेदो यथा—किंचिदिज्यार्थं मधुरमाहरे-
दिति; तस्माद्रसाः प्रधानं; रसेषु गुणसंश्लिष्टा । रस-
लक्षणमन्यत्रोपदेश्यामः ॥३॥

अन्य कई आचार्य कहते हैं कि द्रव्य प्रधान मानना
प्रशस्त नहीं है । (वे कहते हैं कि) रस ही प्रधान है । किस
हेतु से ? (१) आगम के आधार से रस ही प्रधान होते
हैं । आगम ही शास्त्र हैं और शास्त्र (आयुर्वेद) में रस ही
अधिकृत किये हैं, जैसे रसों के अधीन आहार है और आहार
में प्राण रहते हैं । (२) (शास्त्र में रसों का ही) उपदेश
होने से रस ही प्रधान हैं । रसों का ही उपदेश किया जाता
है, जैसे मधुर, अम्ल और लवण रस वात का शमन करते हैं ।
(३) अनुमान से रस ही प्रधान होते हैं । रस ही के द्वाग
द्रव्य का अनुमान किया जाता है, जैसे यह द्रव्य मधुर है ।
(४) ज्ञायियों के वचन से भी रस प्रधान हैं । वेद ज्ञायियों
का वचन है—जैसे 'यज्ञ के लिये कुछ मधुर (द्रव्य) लाओ'
हृत्यादि । इन कारणों से रस ही प्रधान हैं । रस के लिये
ही दूसरी संज्ञा गुण होती है (हृसलिये रसप्राधान्य हेतुओं
से गुणप्राधान्य भी सिद्ध होता है) । रस का लक्षण अन्य
स्थान (रसविशेषपविज्ञानीय अध्याय) में वर्णित करेंगे ॥३॥

नेत्याहुरन्ये, वीर्यं प्रधानमिति । कस्मात् ? तद्व-
शेनौषधकर्मनिष्पत्तेः । इहौपधकर्मराग्युद्धर्वाधोभागो-
भयभागसंशोधनसंश्लिष्टमनसंग्राहकाग्निदीपनपीडन-
लेखनवृहणरसायनवाजीकरणश्वयथुकरविलयन-
दहनदारणमादनप्राणघ्रीष्मप्रशमनानि वीर्यप्रधा-
न्याद्वचन्ति । तच्च वीर्यं द्विविधमुख्यं शीतिं च,
अश्वीषोभीयत्वाज्जगतः । केचिदपृथिविधमाहुः—शीत-
मुख्यं स्त्रिघ्नं रुक्षं विशदं पिच्छिलं मुदु तीक्ष्णं
चेति । एतानि वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद्वसमभि-
भूयात्मकर्म कुर्वन्ति । यथा तावन्महत्यञ्चमूलं
कथायं तिक्तानुरसं वातं शमयति, उष्णवीर्यत्वात्;
तथा कुलस्थः कपायः, कटुकः पलारडुः, स्नेह-
भावाच्च; मधुरश्चेभुरसो वातं वर्धयति, शीतवीर्य-
त्वात्; कटुका पिपली पित्तं शमयति, मृदुशीत-
वीर्यत्वात्, अम्लमामलकं लवणं सैन्धवं च; तिक्ता
काकमाची पित्तं वर्धयति, उष्णवीर्यत्वात्, मधुरा
मत्स्याच्च; कटुकं मूलकं श्लेष्माणं वर्धयति, स्त्रिघ्न-
वीर्यत्वात्; अम्लं कपित्थं श्लेष्माणं शमयति;
रुक्षवीर्यत्वात्, मधुरं चौद्रं च; तदेतन्निर्दर्शनमात्रं
मुक्तम् ॥४॥

अन्य आचार्य (द्रव्य, या रस की प्रधानता) नहीं मानते
(वे कहते हैं कि) वीर्य प्रधान है । किस हेतु से ? ओषधियों
के कर्म की सिद्धि वीर्य के अधीन होने से । यहां पर ऊर्जवा-
संगोधन (व्रमन), अधोभाग संरोधन (विरेचन), उभा-

भाग सलोक्यन, सगमन, संपादक, अभिवीणन, पीडन, लेखन, वृहण, रमायन, वार्ताप्राण, शीघ्रवरण, शीघ्रविलयन, दहन, दारथा, भाइन (मग्नामाहर), भ्रायनामात् तथा विषयमन हायादि ओरपिंयों के कई वीर्यं की प्रयामना में होते हैं । सगमन जगद् अभिव्यामामक होने से यह वीर्यं हो गी । प्रवार का होता है—उच्चा और शीत । कई आचार्य इहाँ आठ प्रवार का मानते हैं । पापा—शीत, डग, चिराप, रुग्न, विद, विचित्र, शूट और तोक्षा । ये वीर्य अपने थल और गुग की उत्कृष्टता से रस के कार्य का नियन्त्रण दरक अपना कार्य विषय करते हैं । जैसे—उदून पथमूर्ति रस में कापाय और अनुराग में तिक्क हान पर भी उच्चावीर्य होने से पापु का ग्रान्त करता है । वैसे ही कापायमनुरूप युग्मी (उच्च वीर्य होने से) और कटुक रस युक्त व्याज द्विवीर्यं होने से (कापु को ग्रान्त करता है) । वैसे का रस मधुर होने पर भी शीतवीर्यं होने से शापु को बढ़ाता है । कटुक रस युक्त पिपली मधुवीर्यं होने से पित को ग्रान्त करती है, तथा अमृत रस युक्त अंगूष्ठा और लकवण रस युक्त मैथा नमक भी शीतवीर्यं होने से पित को ग्रान्त करते हैं । तिक्क रस कामाची उच्चावीर्यं होने से पित को बढ़ाती है, वैसे ही मधुनी मधुर होने पर भी उच्च वीर्यं होने से पित को बढ़ाती है । (मोटी) मूसी कटुक युक्त होने पर भी द्विवीर्यं होने से शेषांकों को बढ़ाती है । अस्त्र रस कपिय रूपवीर्यं होने से सेम्पा का ग्रान्त करता है, वैसे ही मधुररस भूषु भी रूपवीर्यं होने से कफ को ग्रान्त करता है । वीर्य के कार्य की दिशा प्रदर्शित करते के नियंत्रण यह थोड़ा सा वर्णन कर दिया है ॥५॥

वस्त्रव्य—उपर्युक्त पदार्थों में रस का कार्य वीर्यविलद होता है—रसा स्वादस्त्रवणिचेत्यकवायका । तत्त्वाय मात्रत प्रतिक्रियनिकादय करत् । कापायनिकमधुर विषयमये तु तुर्केन ॥ (अद्याग्रहदय) । परन्तु उहाँ पदार्थों का वीर्य रस कार्ये का नाम करके उपर्युक्त विलद कार्य करता है ।

भवन्ति चात्र—

ये रसा घातशमना भवन्ति यदि तेषु वै ।
रौक्ष्यपाद्यरैत्यानि न ते दृश्यु समीरणम् ॥५॥
ये रसा, पितशमना भवन्ति यदि तेषु वै ।
तैज्यांपौद्यलघुतास्वैव न ते तत्वर्मकारिण् ॥६॥
ये रसा लेपशमना भवन्ति यदि तेषु वै ।
स्नेहपीत्यरैत्यानि न ते तत्वर्मकारिण् ॥७॥

नस्यादीर्यं प्रधानमिति ॥८॥

जा रस वायु की शान्ति करते वाले हैं यदि उनमें रुक्षता, लघुता और ढाकन हो तो वे वायु को ग्रान्त नहीं कर सकते हैं ॥५॥ जो रस पित की शान्ति करते वाले हैं उनमें यदि तीक्ष्णना, उच्चाता और लघुता हों तो वे (विषयमन का) वह कार्य नहीं करते हैं ॥६॥ जो रस कफ की शान्ति करने वाले हैं उनमें यदि लकवण, गोत्र और दृष्ट्यन हो तो वे (कफ शमन का) वह कार्य नहीं करते हैं ॥७॥ इसलिये (रस की अरोग्य) वीर्य ही प्रयामन है ॥८॥ इसलिये (रस की अरोग्य) वीर्य ही प्रयामन है ॥८॥

नेत्याहुरन्ये, विषाक, प्रधानमिति । कसान् ?

सम्यदिव्यविषयादन्यात् । इदं सर्वद्वयाण्यभ्यु वृत्तानि सम्यदिव्यविषयापिधानि गुण दोष य जनयन्ति ॥९॥

कई दूसरे आचार्य (द्रष्ट, रथ, वीर्य की प्रयामना की) नहीं सामने । (ये बहते हैं कि) विषाक ही प्रधाम है । यिन्हें होते हैं यद्य द्रव्यों का यात्रा या अयोग्य विषाक होने (पर ही उनकी गरीब पर विषय निर्भाव होते) के होते हैं । सेवन किंव इपु सर्व द्रव्य गरीब में योग्य या अयोग्य विषाक होने पर गुण या दोष उपर बरते हैं ॥९॥

यस्तद्य—इसम भद्रेह नहीं कि ओरपिंयों का शरीर पर कार्य सम्भग् रियाक होने के प्रयाम भी प्रयाम होता है और इस हेतु से विषाक प्रयाम हो सकता है । जैसे कुनीन (Queen) विषयम उद्धृत लिये वही प्रभावी ओरपिंय है परन्तु जब उपरी गर्वाक्षरुतिं गोली (Sugar coated) सेवन भी जाती है तब उपर विषयम उद्धृत पर कभी कभी प्रभाव घोषय विषाक न होने के कारण नहीं पढ़ता । सथापि रस, वीर्य, विषाक और प्रभाव में से किमी एक की गर्वाक्षरा सर्ववस्था में और सर्व व्यापियों में नहीं हो सकती है न देखने में आती है । इसलिये व्याचारी में हूँ विषय पर पेक्षमय नहीं होता है । चारकमहिता में तथा इसी अध्याय के १४-१५ स्तोंकों में इस भविष्यताका सत्र उप बुद्धु समुक्तिक विषयमया है—विषयतन कुने कर्त लीवें चापरद् । द्रष्ट गुणेन पक्त प्रभावेन च चित्तम् ॥ जैसे वित्त, उच्चावीर्य और प्रभावी कुनीन अरोचक पीडित रोगी में केवल रस से हचि उपलक्ष करता है, प्रतिश्वाय पृष्ठलूपन्जा आदि करोन्यां रोग से पीडित रोगियों में उच्चावीर्य से रोग नाशन करता है, उपरिमुखु अवस्था की दुर्बलता में विषाक से यहि देना है और विषय उद्धृत से पीडित रोगी में प्रभाय में उत्तराशन करता है ।

तत्राहुरन्ये—प्रति रसं पाक इति । केचिद्विविध मिछ्छिति—मधुरमन्तं फटुकं चेति । ततु न सम्यक्, भूतगुणादामाशान्योऽमलो विषाको नास्ति, वित्त हि विद्यमभलतामुपैत्यग्नेमन्त्वात्; यद्येव लवणोऽप्यन्यं पाको भविष्यति, शेषां विषयमधुरं लवणातामुपैतीति ॥१०॥

इसमें कई आचार्य ऐसा कहते हैं कि रसादि छ सर्वों के व्यथाकम रसादि छ विषाक होते हैं । कई (आचार्य केवल) तीन प्रकार का विषाक मानते हैं । परन्तु यह (वित्त) तीक नहीं है, क्योंकि पचनामूर्ती के गुणों से और शाक से अस्त विषाक मिन्द नहीं होता है । अस्ति की मन्त्राता से विद्यम हीकर वित ही अमलता को प्राप्त होता है । इसलिये यदि अस्त विषाक माने तो वैषां लवण विषाक भी (ग्रहण करना) होगा, क्योंकि इस विद्यम हालक लवणमात्र को प्राप्त होता है ॥१०॥

मधुरो मधुरस्याम्लोऽमलस्यैवं सर्वेषामिति केचिदाहु, दृष्टान्तं चोपदिशन्ति, यथा—तावत् स्त्रीमुखामात् पच्यमान मधुरमेव स्वासधा शालि-

यवमुदादयः प्रकीर्णः स्वभावमुत्तरकालेऽपि न परित्यजन्ति तद्वदिति । केचिद्विद्विति—अवलवन्तो वलवतां वशमायान्तीति । एवमनवस्थितिः; तस्माद्भिस्मित्वान्तं एषः ॥११॥

कहे आचार्य कहते हैं कि मधुर का मधुर, अम्ल का अम्ल, इसी प्रकार प्रथमें रस का वही पाक होता है । दृष्टान्त देते हैं कि, जैसे स्थालि में पकता हुआ दृश्य (शुरु से आलिर तक) मधुर ही होता है और चावल यव, मैंग याने पर अरोहण के समय भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं, वेरों रस भी (अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते) । कहे आचार्य कहते हैं कि (मधुरादि रसों में) जो अवलवान् होते हैं वे (विषाक के समय) वलवान् (रस के) वश में आ जाते हैं । इस प्रकार सब वातें अवलवस्थित (अनिर्णीत) हैं । इसलिये उपरोक्त विषाक विषयक वातें सिद्ध नहीं मानी जा सकतीं ॥११॥

आगमे हि द्विविध एव पाको मधुरः कटुकश्च । तयोर्मधुराख्यो गुरुः, कटुकाख्यो लघुरिति । तत्र पृथिव्यसजोवायाकाशानां द्विविधं भवति गुरुण-साधस्म्यहुकृता लघुता च; पृथिव्यपश्च गुरुर्योः, प्राणि लघूनि; तस्माद्द्विविध एव पाक इति ॥१२॥

आयुर्वेदशास्त्र से तो दो ही प्रकार का विषाक हैं, मधुर और कटुक । उनमें से मधुरविषाक गुरु होता है और कटुपाक लघु होता है । पृथिवी, आप, तेज, वायु और आकाश न पैच महाभूतों के (गुरुत्व और लघुत्व) गुणों के साथ-से से गुरुत्वा और लघुत्वा ऐसे दो भेद होते हैं । इनमें पृथिवी और जल गुरु हैं और शेष (तेज, वायु और आकाश) लघु होते हैं । इससे विषाक भी दो प्रकार का ही होता है ॥१२॥

भवन्ति चाच—

द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणाः । निर्वैतन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते ॥१३॥ तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु । निर्वैतन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते ॥१४॥

जिन पचन होने वाले द्रव्यों में पृथिवी और जल के गुण अधिक होते हैं वहाँ विषाक मधुर होता है ॥१३॥ जिन पचन होने वाले द्रव्यों में तेज, वायु और आकाश के गुण अधिक होते हैं वहाँ विषाक कटुक होता है ॥१४॥

चक्रठय—जपर विषाक के संवंध में चार मत निर्दिष्ट हैं—(१) प्रतिरसपाक, (२) अनवस्थितपाक, (३) त्रिविधपाक और (४) द्विविधपाक । इनमें से प्रतिरसपाक और अनवस्थितपाक इनका यहाँ विचार करने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि उनका ग्रहण करने से विषाक को रस से रेतन्त्र मानने की भी आवश्यकता नहीं होती । त्रिविधपाक चरक तथा चरकमतानुसारी वाग्मट का मत है—कटुतिकपाणी विषाकः प्रायशः कटु । अम्लोऽम्लं पच्यते स्वारुमधुरं लवणस्तथा ॥

(सूत्रस्थान अध्याय २६) । पराशरसुनि यद्यपि तीन विषाक मानते हैं तथापि उनका वर्णकरण भिन्न है—पराशरसुनि पउति । पाकाख्यो रसानामस्तोऽम्लं पच्यते वाटः कटुकम् । चत्वारोऽयम् मधुरं संकीर्णरसाऽसु संकीर्णग् ॥ कटुतिकपाणीयाणां कटुको येता विषाक दृति पश्चः । तेषां पित्तविषाके वित्तकायां कर्म भवतः ॥ (अष्टांग-संग्रह सूत्र, १७) । सुश्रुत के मतानुसार केवल मधुर और कटु दो ही विषाक होते हैं । इस मतभिन्नता का कारण यह है कि चरक में त्रिविध पाक रसपाक के अभिप्रायानुसार तथा त्रिविधों के तीन रसों (वायु कटु, पित्त गम्ल और कफ मधुर) के अनुसार माना गया है । सुश्रुत में द्विविधपाक भूतगुणपाक के अभिप्रायानुसार तथा दोषों के रसानुसार माना गया है । फँक यही है कि चरकमतानुसार प्रकृतिस्थ पित्त गम्ल है—सस्तेत्युपेत्र तीक्ष्णं च द्रव्यमलं सर्व कटु । सुश्रुत के मतानुसार प्रकृतिस्थ पित्त कटु है और विद्यम् पित्त गम्ल है—उपेत्र कटुसं चैव विद्यम् चाम्लेत्र च ॥ इसलिये पित्त के अम्लत्व को अंगीकार न करने के कारण अम्ल-विषाक भी अंगीकार करने की कोई आवश्यकता सुश्रुत को मालस नहीं हुई ।

पृथक्त्वदर्शिनामेष वादिनां वादसंग्रहः । चतुर्णामपि सामर्थ्यमिच्छन्त्यत्र विपश्चितः ॥१५॥ तद्वयमात्मना किञ्चित्किञ्चिद्विर्येण सेवितम् । किञ्चिद्विसविषाकाभ्यां दोपं हन्ति करोति वा ॥१६॥

(इस अध्याय के प्रारंभ से यहाँ तक जो लिखा गया है, वह केवल द्रव्यादि के प्राधान्य के संबंध में) पृथक् पृथक् प्राधान्य मानने वाले विवादी आचार्यों के वादविवाद का संग्रह है । परन्तु तत्त्वदर्शी लोक (द्रव्य, रस, गुण और वीर्य इन) चारों के समुदाय को (कार्य की दृष्टि से एकत्र) मानते हैं ॥१५॥ (वास्तव में) सेवन किया हुआ द्रव्य दोप-प्रकोप या दोपरस्या का कार्य थोड़ा अपने (द्रव्यात्मक) सामर्थ्य से, थोड़ा अपने वीर्य (के सामर्थ्य) से और थोड़ा रस विषाक (के सामर्थ्य) से करता है (यानि प्रत्येक द्रव्य का शरीर पर जो कार्य होता है वह द्रव्य रस, वीर्य और विषाकों के मिश्रसामर्थ्य का फल होता है) ॥१६॥

चक्रठय—आत्मना—पृथिवी, आप, तेज, वायु और आकाश इनके गुणों के सामर्थ्य से । इनका वर्णन आगे १४ वें अध्याय के ८ से लेकर १३ सूत्र तक किया गया है—एवमेतद्दुणिष्ठित्यं द्रव्ये द्रव्ये विनिश्चितम् । द्विरो वा वेदुगो वापि शात्रा दोपेषु चाचरेत् । चरक में और वाग्मट में भी द्रव्य के कार्य सामर्थ्य के संबंध में ऐसा ही लिखा है—किञ्चिद्विसेन कुल्ते कर्म वीर्येण चापरम् । द्रव्य गुणेन पोकेन प्रभावेण च किंचन ॥ (चरक) । रस, वीर्य, विषाक और प्रभाव के स्वाभाविक वाल के संबंध में चरक और वाग्मट में लिखा है—यद्यपि रसादीनां वलवत्वेन वर्तते । अभियूतेरात्मतत्त्वं कारणत्वं प्रपत्तये ॥ विरुद्धगुणसंयोगे भूतसाम्यं हि जीयते । संविषाकतौ वीर्यं प्रभावस्तान् व्यपोहित ॥ वलसाम्ये रसादीनां मिति नैसर्गिकं वलम् । विरुद्धा अपि चाम्लोन्म रसादाः कार्यसाधने ॥ नावश्च स्वर्विषाकाय गुणदोषोपामिथो यथा । सम्बीर्णवभूतयो भूतोन्म-

१ निर्वैतन्ते,

पर्याप्तरूप । पक्षस्था विना वा उच्चे सम्बोधे है ॥ (अष्टागामंग्रह, सूक्ष्मशान ३० अध्याय) ।

पाको नास्ति विना धीर्याद्वीयं नास्ति विना रसात् ।

रसो नास्ति विना द्रव्याद्वद्यं थेषुतम् स्मृतम् ॥१७॥

वीर्य के विना पाक नहीं, रस के विना वीर्य नहीं और द्रव्य के (आधार के) विना रस नहीं, इसलिये द्रव्य ही वस्तु से भेद है ॥१७॥

जन्म तु द्रव्यरसयोरन्योपेक्षिकं स्मृतम् ।

अन्योन्यापेक्षिक जन्म यथा स्यादेहदेहिनोः ॥१८॥

वीर्यसंसारागुणायेऽप्युत्तेरपि द्रव्याधया स्मृता ।

रसेषु न भवस्येते निर्गुणास्तु गुणा । स्मृता ॥१९॥

द्रव्ये द्रव्याणि यसादि विपच्यन्ते न पद्मसा ।

थेषु द्रव्यस्तो हेय, शेषा भावास्तदाधया ॥२०॥

जैसे शरीर और आमा का जन्म अन्योन्याभित होता है वैसे ही द्रव्य और रस का जन्म एक दूसरे के अभित होता है ॥१८॥ वीर्यसंक (वीर्यादि) और आठ (तपा सूक्ष्मादि अन्य) गुण होते हैं वे भी द्रव्य के अभित होते हैं, रसों में अधिकृत नहीं हो सकते, क्योंकि गुण (द्रव्य) निर्गुण होते हैं ॥१९॥ (पद्मसामक, द्रव्यविध या आधारित वीर्यसंकक एवं विश्वातिगुणामक द्रव्यवात जो मनुष्य सेवन करते हैं उम्म) द्रव्यवात में (विनि) द्रव्यों का ही परिपाक होता है, न कि रसों का (अधार आधारित वीर्य का अधार विनिगत गुणों का), इसलिये द्रव्य को ही भेद समझना चाहिये और (द्रव्य के अनिरिक्त) योग (रस वीर्य गुणामक) भावों को उस द्रव्य के अधीन समझना चाहिये ॥२०॥

धृत्य—रस, वीर्य और विपाक इनका अधिकान द्रव्य होने के कारण वही सब से भेद है, यह इन स्त्रीकों में सिद्ध किया है । अठागहवं स्त्रीक में यह बतलाया है कि, जैसे शरीर के अधिकान क विना आमा प्रकट नहीं हो सकती, वैसे ही द्रव्य के अधिकान के विना रस प्रकट नहीं हो सकता । उच्ची-सर्वे स्त्रीक में यह बतलाया है कि यथाय व्यवहार में 'काराय रस रुच है' 'अस्त्ररस उत्तम है' 'मनुष्याय है' ऐसी परिभाषा प्रयुक्त होती है, तथापि वास्तव में ये स्त्रीय गुण रसों के न होकर रसाधार द्रव्य के ही होते हैं । उपर्युक्त परिभाषा प्रयुक्त होने का कारण रस और गुणों का 'साहचर्य है—गुणदीर्घी गुण द्रव्ये पृथिव्यादौ स्ताप्ये । स्तोऽन्यरित्यन्ते नेहवदोषवात् । (अष्टागहद्य सू. १) । रस स्वयं गुण होते हैं (रसु गुण मता । सुधुन) और गुण स्वयं निर्गुण होते हैं (अथ द्रव्य विना इव निर्गुण लिपिका गुणा । भासापरिच्छेद) इसलिये गीतादि गुण जो रसों के बतलाये जाते हैं वहें द्रव्य के ही समझना चाहिये—गुण गुणधारा नात्यतास्त्रशुगुणान् भिन्न । विशाद् द्रव्यगुणान्, कनुभित्यापि पृथिवी ॥ (चरक सू. २५) । गुणों का द्रव्य के विना दूसरा आधार नहीं हो सकता । हल्ये—आहार तथा ओपरियों के लिये प्रयुक्त समझना द्रव्यवर्ग, उपर्युक्त अनुसार 'पञ्चभूताम्बकं हेतु' । द्रव्यविध—'पञ्चमधूमद्रव्यविधिः' ऐसा भी इसका अर्थ हो सकता है और

विपाक की इष्टि से यह भी अर्थ प्रगत है, क्योंकि विपाक द्रव्यगत पञ्चमधूतों का ही परिपाक होता है ऐसा लि-गया है—ओमप्यतेऽनवद्या एवोभाव सत्ताभाव । पवाहातुप-निन् सत्तावपि विद्यार्थीन् पञ्चस्तु ॥ रथात्वं ते च पुष्टिन्ति च भैरुगुणान् दृष्ट । पायिवा पर्यव नेत्र रोपा देशाध दद्वान् (अष्टागहद्य गा. ३) ।

अमीर्मांस्यान्यचिन्त्यानि प्रसिद्धानि स्वभावत् ।

आगमेनोपेयोज्यानि भेषजानि विचक्षणे ॥२८॥

प्रत्यक्षलक्षणाङ्कलाः प्रसिद्धात्थ स्वभावत् ।

नौपर्यीहेतुभिर्विद्यान् परीक्षेत कथं(दा)चन ॥२९॥

सहक्षेणापि हेतुनां नाम्यष्टुद्विरेचयेत् ।

तस्मात्तिष्ठेतु भविमानापामे न तु हेतुपु ॥२१॥

ताम चत्वारिंशतां द्रव्यगुणसमीक्षिवाविद्यानीयो

नाम चत्वारिंशतां द्रव्यगुणसमीक्षिवाविद्याय ॥४०॥

जौ ओपरियों (अथान् जिन ओपरियों की कार्यक र्थां) भीमासा और तर्क से सिद्ध नहीं होती, परन्तु ज ('धृव्य') स्वभाव से ही प्रयिद हैं वे ओपरियों व्यवहार कुण्डल वैर्यों में शास्त्र के आधार पर ही प्रयुक्त होनी चाहिए ॥२१॥ जिन ओपरियों के गुण और फल प्रत्यक्ष हीं तपा जो स्वभाव से ही माध्यूर हों उन ओपरियों को विद्यान् वैष्णवक्षितकांति में न परतें ॥२२॥ अवषादिग्राम की ओपरियों ('विरेचन करती है यह') हजारों तर्कविकासों से (यदि सिद्ध किया जाय तो) भी विरेचन नहीं करती (क्योंकि यह गांध और प्रायत्र खिल्द है) । इसलिये बुद्धिमान् वैष्णव ('हेतु ओपरियों के विषय में') शास्त्र के आधार पर भोगा रखते और हेतुभ्रों में नहीं (अथान् कायकारण भाव से उन ओपरियों का कार्य प्रिय दर्शन करने में मिर न रघावे) ॥२३॥

घक्तव्य—आमुर्वेद में ओपरियों के वैदिकीय उत्तरों की भीमासा या उपर्युक्त उनके पचत्राद्यामक साड़न, रस, युग्म, वीर्य और विपाक की सहायता से की जाती है । रसाद्वारा चिकित्सा में प्रयुक्त हुई प्रथिक्षमल्य ओपरियों के उपर्योगों की कार्य कारणमीमांसा ज्ञात हो जाती है । तथापि व्यस्त्रित तृष्णरक विपरियि प्रस्त्रीनु कुछ द्रव्य ऐसे—'प्रयुक्त होते हैं जिनके उत्तरों की भीमासा रसादिद्वारा न हो सकती है । इसलिये इन ओपरियों की 'अमीर्मांस्यान्यचिन्त्यानि' कहा है । अमीर्मांस्य या अचिन्त्य का अ 'स्मृतिर्विपाकान्तवाचिन्त्य वाचीमांस या' ऐसा है । ओपरियि अविस्त्र कर्त्तव्यकि का विवरण द्रव्यवात् द्रव्य अनिम्य भ्रोक्तों में किए हैं । चरक और वाचापत्र में द्रव्यगत द्रव्य अचिन्त्यकानि १ ती 'प्रभाव' कहा है । (रसायनविदिषानां सामान्य यत्र व्यक्ते । विशेष, कर्त्तव्य यैव प्रभावमन्य यत्र स्मृत ।) प्रस्त्रीलोचिन्त्य उत्तरों ('पौरा, सू. २१) । मर्मनिराधी प्रस्त्रीलोचिन्त्य ग्राम इत्यानाम ('वृषागव्यग्रह, सू. १०) । रसादिनामे यत्तर्में विशेष ग्रन्थान् ॥ नौराग्रामैत्युत्त्वापि विशेषस्य विरेचन । मधुसूक्ष्म 'मूरीका' इन शीरस्य दीपनम् ॥ कठुडकामैत्युत्त्वाप्तै कठुडकानिति १०ग्रीष्मी चतुर्वर्षाद्वयु नैवेद यत्त्रौ ॥ यिथे विकल्प वाचानीद् स्वेच्छा व्यवन्ति यत् । द्रुवेन्मिन वक्तव्य यत्र गत्यमाविद्युग्मित्यन् ॥ रिति

पादिविष हर्षन्ति स्वप्नायां तद्विषुद्धये । मणिमन्त्रौपथीनां च यत् कर्म विविषात्मकम् । शत्याहरणपुंजनरक्षायुद्धीवशादिकरम् । दर्शनाधैरपि विषं शक्तिरुद्धरति चागदः ॥ विरचयति यदवृष्ट्यमाणु शुक्रं करोति वा । रेत् शोभागिक यच्च द्रव्यं यच्छमनादि च ॥ मात्रादि प्राप्य तत्त्वं यत् प्रपञ्चेन वर्णितम् । तत्त्वं प्रभावजं सर्वमतोऽचिन्त्यः स उच्यते ॥ रेत्सेव वीर्येण गुणेण कर्म द्रव्यं विपकेन च यद्विद्यधात् । सद्योऽन्यथा तत्त्वुरते प्रभावदेतोरतस्तत्र न गोचरोऽस्ति ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र, अ. १७) । यत् सोपपत्तिक कार्यं न तत् प्रभावकृतमिति व्यपदिश्यते; उक्तं हि प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते । (चक्रपाणिदत्त) । पाश्चात्य औपधिगुणविज्ञान में भी ओषधियों के वैद्यकीय उपयोगों के संबंध में भीमांस्य और अभीमांस्य ऐसे दो भेद किये जाते हैं । जिनके उपयोग की भीमांसा उपलब्ध वैज्ञानिक तत्त्वों के अनुसार की जा सकती है, उनको भीमांस्य या रथाशनल (Rational) कहते हैं । जिनके उपयोग की भीमांसा लब्ध वैज्ञानिक तत्त्वों के अनुसार नहीं की जा सकती, ऐसे जिनका उपयोग केवल अनुभवों पर निर्भर होता है तो 'अभीमांस्य' या एम्पीरिकल (Empirical) इत है । विषमज्वर के लिये क्विनिन (Quinine), काला जार निम्बरारोग इत्यादि के लिये अंजन तथा उसके योग Antimony and its preparations), राजयक्षमा के लिये इत्यादि कई शर्तिया दवाहर्वां हस्ती अभीमांस्यवर्ग की । इस अभीमांस्यकार्य को आयुर्वेद में प्रभाव कहते हैं और पाश्चात्य कल्पना के अनुसार (Empirical action) ह सकते हैं, यद्यपि प्रभाव का पूरा पूरा अर्थ इससे निर्दर्शित हीं होता । इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुवेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषायीकायां द्रव्यगुणरसवीर्यविपाकविशानीयो नाम चत्वारिंशतमोऽध्यायः ॥४०॥

एकचत्वारिंशतमोऽध्यायः ।

अथातो द्रव्यविशेषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

यव यहाँ से द्रव्यविशेषविज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—द्रव्यविशेषविज्ञानीय—द्रव्यों के विशेष यानि पार्थिवादि भेद उनके संबंध में विस्तृत रूप से विवरण करने वाला अध्याय ।

तत्र पृथिव्यसेजोवास्वाकाशानां समुदायाद्रव्याभिनिर्वृत्तिः, उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जको भवति—इदं पार्थिवमिदमाप्यमिदं तैजसस्मिदं वायव्यमिदमाकाशीयमिति ॥२॥

(द्रव्योत्पत्ति—) पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँचों तत्त्वों के अपृथक् संयोग से सब पदार्थों की उत्पत्ति हुआ करती है, परंतु (किसी तत्त्व की) अधिकता द्रव्य का विशेषक होती है; यह पार्थिव है, यह आप्य है, यह सैक्षण है, यह वायव्य है और यह आकाशीय है ॥२॥

धर्मवद्य——अभिनिर्वृत्ति—उत्पत्ति । यद्यपि पाँचों तत्त्वों से प्रत्येक द्रव्य उत्पत्त होता है तथापि प्रत्येक तत्त्व का कार्य उत्पत्ति के संबंध में विशेष होता है । इस विषय में वामभट लिखते हैं कि द्रव्य का आधार पृथिवी है, जल योनि है और असि, वायु तथा आकाश ये तीन तत्त्व द्रव्य की विशेषता बनाने वाले होते हैं—इह हि द्रव्यं पंचमहान्तरस्तम्बकरम् । तत्याधिष्ठानं पृथिवी, योनिस्तदक, खानिलानलस्मायाविर्वृत्तिविशेषौ । (अष्टांगसंग्रह) । अभिव्याखक—परस्पर असाध्य करने वाला । यद्यपि रचना की दृष्टि से (Qualitatively) सब पदार्थ एक यानि पंचतत्त्वात्मक होते हैं तथापि पदार्थों में उपस्थित इन तत्त्वों के प्रसामय में (Quantitatively) भेद होने के कारण पदार्थों में भी भेद होता है । यथा जिसमें पृथिवीतत्त्व का प्रमाण अधिक होता है वह पार्थिव कहलाता है, जिसमें जल का प्रमाण अधिक होता है वह आप्य कहलाता है इत्यादि—व्यपदेशस्तु भूयसा । इस सोल्कर्पापकर्य युक्त पंचतत्त्वात्मक संगठन का निर्देश कभी कभी 'द्रव्य' शब्द से किया जाता है । ४० वें अन्याय के पहले सूत्र के वक्तव्य में 'द्रव्य' देखो ।

तत्र स्थूलसारसान्द्रमन्दस्थिरगुरुकठिनं गन्धवहुलमीषत्कषायं प्रायश्चो मधुरमिति पार्थिवं; तत् स्तैर्यवलगौरवसंधातोषचयकरं विशेषतश्चाधोगतिस्तम्बावमिति ॥३॥

(पार्थिव द्रव्य—) इनमें जो स्थूल (मोटा), सार (मज्जूत), सान्द्र (ठोस), मन्द, स्थिर, गुरु (भारी), कठिन होता है, जिसमें गंध बहुत होती है, जो किंचित् कैसला परंतु प्रायः अधिक भीठा होता है वह पार्थिव द्रव्य है । वह पार्थिव द्रव्य (शरीर की) स्थिरता, शक्ति, गुरुता, काठिन्य और चृद्धि करने वाला होता है, विशेष करके 'उसका स्वभाव नीचे की ओर गमन करने का है ॥३॥

शीतस्तिमितस्तिगन्धमन्दगुरुसरसान्द्रमृदुपिच्छिलं रसवहुलमीषपत्कषायास्तलवरणं मधुररसप्रायमाप्यं; तत् स्तेहनहादनक्षेदनवन्धनविष्यन्दनकरमिति ॥४॥

(आप्य द्रव्य—) शीतल, स्तिमित (गीला या जड़), चिकना, मन्द, भारी, सर (फैलने वाला), सान्द्र (गाढ़ा), मृदु, पिच्छिल (लसलसा), अधिक रस युक्त, किंचित् कषाय अम्ल और लवण रस युक्त और अधिक मधुर रस युक्त द्रव्य आप्य होता है । वह आप्य पदार्थ शरीर में स्तेहन (चिकनाई), प्रह्लादन (शृंसि), आद्रेता, धंधन और विक्षावण करता है ॥४॥

उप्पासीकणसूदमरुक्षखरलघुविशदं रूपगुण-वहुलमीषदम्ललवरणं कट्टुकरसप्रायं विशेषतश्चोर्ध्वगतिस्तम्बावमिति तैजसं; तद्दहनपञ्चनदारणतापन-प्रकाशनप्रभावर्णकरमिति ॥५॥

(तैजस द्रव्य)—जो पदार्थ गरम, (मिरच या सरसों की भाँति) तीक्ष्ण, सूक्ष्म, रुक्ष, खरस्पर्श, हल्का, विशद (स्वच्छ), रूप गुण की अधिकता युक्त, किंचित् अम्ल और लवण रस युक्त, कट्टुकरस भूयिष्ठ और विशेष करके ऊर्जवगमन

के स्वभाव बाला हो वह तैयार है। वह तैयार दृश्य दृश्य, पञ्चन, विद्वासंग, तारन, प्रकाशन, कान्ति और वर्ण करने वाला होता है॥४॥

मृक्षमस्तनवारशिहिरलमुविग्रहं स्पर्शं गदुलमीप
तिकं विशेषत् । क्षणयमिति वायवीयं; तद्देहय-
लाथप्रगल्पमविनुदालविचाराद्यस्मिति ॥६॥

(वार्षीय द्रष्टव्य) जो पदार्पण मूलम्, स्वप्न, सुरासारा, धीन, हलदा, विगद (मणिचित्र), रस्य गुण युग्म, किञ्चित् निक रस पातु विशेष करनं कराय रस मुकु छोता है पर वायवीय है। वह वायवीय द्रष्टव्य वैशाख, हलकाशन, ग्न्यन (ज्ञानिया अभ्यर्थी), रौप्य और विचारण (मन में अनेक कलाना दाना) में वायवीय करता है॥४॥

श्रद्धामूलमृद्यपायियिश्वरिकमव्यक्तरसं
श्रद्धद्वालमाकारीयं, तन्माद्यगौर्यिलापकर-
मिनि ॥३॥

(आकाशीय द्रव्य) मरण (विहन), गृह्ण संगो
नुसारी, कोपन, लद्धापि, विहार, विप्रिण (वृषभपूर्व, भावद
द्रव्य दृश्यन् । इत्यत्र), अवश्य रम का और गद्याकृत्य
पुरुष आकाशीय द्रव्य हाता है । यह (गहिर की) श्रद्धा,
महिनामा और लक्ष्मा कर्ते द्वारा है ॥५॥

ਥੇਨੇ ਨਿਦੰਦੇਨੇ ਨਾਨੀਗੁਪਤੀਮੂਰ੍ਤੇ ਜਗਤਿ ਵਿਧਿ-
ਇਤਿਹਾਸੀਤਿ ਏਥਾ ਗ ਤ ਸੁਤਿਧਿਗੋਰਮਥੇ ਚਾਮਿ
ਸਰਮਾਇਥ ਸਰਿਧਿਗੁਰਯੁਨਾਨਿ ਇਤਿਹਾਸਿ ਕਾਮੁਕਸਾਹਿ
ਮਪਲਿਨ। ਤਾਨਿ ਧਸਾ ਕੁਰੰਨਿ ਸ਼ ਬਾਲ, ਯਕੁਰੰਨਿ
ਤਾਰੰਮ, ਧਨ ਕੁਰੰਨਿ ਤਾਰੰਮ, ਧਰ ਕੁਰੰਨਿ ਨਦਿਪ-
ਕਾਰਾ, ਧਾਰ ਕੁਰੰਨਿ ਸ ਉਣਾਧ, ਧਮਿਆਇਨਿ
ਤਾਨ ਪਾਮਿਤਿ ਪਾ॥

इप दिव्यांशु गे भगवान् मे कहि भी इस अनेक लक्ष्मी
राजा, इप देखु गे दि आवासित राजा राजा दिव्यांशु चीर दर्शन लक्ष्मी
का एवं विवाह का (प्रयुक्त दिव्ये दुरा) अपने आवासित
विष्णु भी गुरुमे से गुप्त इप कार्य करने मे शरण्य हात है ।
व अत व्यक्ति, व्यक्ति, दै व्यक्ति, व्यक्ति, व्यक्ति, दै व्यक्ति, व्यक्ति
है ; विष्णु कार्य करने है वह विष्णु है ; वह व्यक्ति है ; वह व्यक्ति है
वह विष्णु है ; विष्णु व्यक्ति व्यक्ति है वह व्यक्ति है ।
भी (विष्णुम व्यक्ति मे) वह व्यक्ति विष्णु दला है वह
व्यक्ति है ।

विदान और साक्षात् योगापरिवान में नियुण हो तो उन्हें
स्वावरप्रागमालायप्रचमहामूलारक जगर में कोई भी दृष्टि
यही तक कि सर्वविषय भी, अनुपरोगी या अपवधक नहीं
भास्त्रम होता। अपवधक में भी इस प्रकार की कहानत में
हुर है—अमनवदुर, नासि नासि मूलानीश्वन् । क्लेश तुम
न लिने दैवज्ञान दुर्लभ ॥ युतिविषय—योगापरिवान—उपर्युक्त
में देवना या तु दुर्लभे । (धरक) । इस योगापरिवेष में आर्यों
के बाद प्रयोग के समय 'अन्यद्वैदेवद्वैपरिवेषको मर्दनादि
का विचार और अन्य प्रयोग के समय 'मात्राकालकिंवद्
ममिदेहोग्यगुणान्तर' का विचार होता है । अर्थ—प्रयोगव-
प्रयोग अथवा स्वरूप स्वरूप व्यापादात्मकान्तर विवरणकरन व
(धरक) । अनिमदीहृ—अनिमदीहृषि 'प्रतुक्तवि' है यह
स्वरूपैयुग्मान्तरि—अन्यद्वैदेवद्वैपरिवेषनि । ए दुर्लभ—एको यह
लिपि उपलब्ध, वर्णकर । इस सूत्रार्थ में प्रयोगप्रयोग है, जिसमें
नन्दैवपूर्व विनिदूषनासि यह प्रतिज्ञा है, 'तं तु द्विः
विदेषामेव विनादीहृ' हृष्यादि हेतु है, और 'अनेन विन्देषामेव
(अयोर् दूर्यो मूलं से ८ वे सूत्र तक) दशाहन या अर्थकि
है । कल—तीव्रात्मक व्यक्तिगत व्यक्तिगत स्वरूप या अतुरात्मका ।
विवरण—प्रत्यमहामूल विविधमराय पुराय । इत्य—प्रिय-
प्रयोग से कार्य होता है यह उपाय है—प्रत्यन्तानिविवेष
प्रत्यमहामूल । (धरक) । एव—गुणापि । (धरक) । मध्यम
त्रिवरोग की प्रतिज्ञा होता । उपाय की दृष्टि में व्यक्तिगतपूर्व
प्रत्यमहामूल इमका विवरण निरपेक्ष होते हैं—प्रत्यन्त-
प्रत्यमहामूलम्—वधा, त्रिवरोगमध्याति दृष्टि विवेषने तु द्विः
निदूषितिर्वात्मक वर्ण । दृष्टि विवेषने तु द्विः
प्रत्यन्ते वै दृष्टि, या प्रत्यमहामूलम् व । ए दृष्टि विवेषने तु द्विः
प्रत्यमहामूलम् । एव इसनाने दृष्टिविवेष द्विः वृत्ति व । एव
वृत्ति वै दृष्टि विवेष व्यक्तिगत व्यक्ति, द्विः वृत्ति वै दृष्टि ।
एव दृष्टि वै दृष्टि विवेष व्यक्तिगत व्यक्ति, द्विः वृत्ति वै दृष्टि ।
प्रत्यमहामूल । एव दृष्टि विवेष वै दृष्टि विवेष वै दृष्टि ।

तथा, शिरचन्द्रवाणि वृग्निमयुग्मविद्युति, वृग्निगतो युज्वलं युक्तवाप्त्ये अस्तुतिः, अस्य द्विषत्प्रपोद्युग्मविद्युतमनुगतात् ॥१०॥

(सिंहदार) इनमें से किसका ज्ञान उपर्युक्त ही अधिक विद्युत रूप है। उपर्युक्त भौतिक और अभौतिक दोनों के प्रकार होने से बड़ी विशेषता एवं लाभ है। इनमें अन्यतरामों (एवं वर्ता या वर्ता है जिनमें
सिंहदार (किसके अन्यतराम का ज्ञान होता है) एवं
उत्तराम (उपर्युक्त विद्या) लाभान्वयन होता है।

सम्पादक अधिकारी श्रीमद्भूषण भवितव्य, शिल्प
के साथ, श्रुति का विषय विवरित है, जबकि
प्राचीन विषयों पर अधिकारी श्रीमद्भूषण

(३०८) राजा राम ने विष्णु को भी बताया है कि

ने के कारण दोनों ही ऊपर की ओर गमन करते गतिये वमन द्रव्य ऊर्ध्वगामीतत्त्व (अग्निवायु) गुण होता है ॥१०॥

भयगुणभूयिष्ठमुभयतोभागम्; आकाशगुणं संशमनं; सांग्राहिकमनिलगुणभूयिष्ठम्, इत्य शोषणात्मकत्वात्; दीपनमग्निगुणं (तत्समानत्वात्); लेखनमनिलानलगुणं; वृंहणं पृथिव्यस्वगुणभूयिष्ठम्; एवमौषधयुग्मानात्साध्येत् ॥११॥

इस पदार्थ में दोनों प्रकार के (अघोरामी और अस्मी) गुण हों वह दोनों तरफ गमन (वमन और वर का कार्य) करता है। आकाश के गुणों की अधिकता होने वाला द्रव्य संशमन होता है। वायु के गुणों अधिकता होने वाला द्रव्य संग्राहक होता है, क्योंकि वायु करने वाला है। अग्नि के समान कार्य करने वाले होने रण दीपनद्रव्य अग्नितत्त्व की अधिकता वाले होते हैं। द्रव्य अग्नि और वायु हनकी अधिकता वाले होते हैं। द्रव्य पृथिवी और जल हनकी अधिकता वाले होते हैं। इस प्रकार ओषधियों के कार्यों को अनुमान से सिद्ध करा हिये ॥११॥

चक्रद्रव्य—उभयगुणभूयिष्ठ—पृथिवी, अग्नि, जल और हनके गुणों की अधिकता युक्त। संशमन—दोनों का उभयमन करने वाला—न शोधवति यदोपान् समान् नोदीपि। समीकरोति कुदांश तत् संशमनस्युते ॥ (शार्ङ्गधर) । ही—द्रव्यांश का शोपण करके मल का संग्रहण करने वाला—आग्रेयगुणभूयिष्ठात् तोयांशं परिशोष्य यत्। सगृहणति मलं ग्राही शृण्णदायो यथा ॥ (भावप्रकाश) । भावप्रकाश की शार्ङ्गधर की व्याख्या में संग्राहक द्रव्य आग्रेयगुणभूयिष्ठ न किये हैं; परन्तु सुश्रुत में वातगुणभूयिष्ठ वर्णन किये हैं। इस विरोध का परिहार आठमलु शार्ङ्गधरदीपिका में प्रकार से करते हैं—ग्राहकद्रव्य उणग्राहक और शीतहक दो प्रकार के होते हैं। उणग्राहकद्रव्य आग्रेयगुणयिष्ठ और शीतग्राहकद्रव्य वातगुणभूयिष्ठ होते हैं—पकाम-हक्केन विविधं वि सद्याहकत्वं तत्र यत् यद्यथामां संपाद्य वहि च तत्स्य द्रव्य च शोपयित्वा स्तम्भन करोति तटुण्ग्राहक शेयम्। द्रव्यमतिसारादौ पक्कमलादिकं संस्तम्भ्य स्प्रह करोति तन्दीतग्राहकं पैमानदिलगुणभूयिष्ठित्यरौपः ॥ दीपन—जठराग्निप्रदीपक ॥ १२—धातुमलों का शोपण करके शरीर को कृषा करने वाला देहस्य विशोष्योद्देशयेत्य यत्। लेखन तत्। (शार्ङ्गधर) । वृंहण—शरीर की पुष्टि करने वाला—वृहत्त्वं वृद्धीरस्य ननयेत्य वृंहणम्। (चरक) । वृंहण और विरेचन केंद्रों के संगठन का विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि दोनों में भी पृथिवी और जल तत्त्व की अधिकता है। परन्तु दोनों की किया भूमि अत्येत फर्क होता है। इसस्लिये यह ग्रन्थकाना चाहिये कि यद्यपि दोनों में अन्य तत्त्वों की अपेक्षा पृथिवी और जल तत्त्वों की अधिकता है तथापि विरेचन द्रव्य में जलतत्त्व अधिकतर और वृंहणद्रव्य में पृथिवीतत्त्व अधिकतर होता है।

भवन्ति चात्र—

भूतेजोवारिजैद्रव्यैः शमं याति समीरणः ।
भूस्यस्वुवायुजैः पित्तं क्षिप्रमाप्नोति निर्वृतिम् ॥१२॥
खतेजोनिलजैः श्लेष्मा शममेति शरीरिणम् ।
वियत्पवनजाताभ्यां वृद्धिमाप्नोति मारुतः ॥१३॥
आग्नेयमेव यद्वद्वयं तेन पित्तमुदीर्यते ।
वसुधाजलजाताभ्यां वलासः परिवर्धते ॥१४॥
एवमेतहुणाधिक्यं द्रव्ये द्रव्ये विनिश्चितम् ।
द्विशो वा वहुशो वाऽपि व्यात्वा दोषेषु चाचरेत् ॥१५॥

पृथिवी, अग्नि और जलभूयिष्ठ द्रव्यों से वायु शांत होती है; पृथिवी, जल और वायु भूयिष्ठ द्रव्यों से पित्त शीघ्र शांत होता है ॥१२॥ और समुद्रों का कफ आकाश, अग्नि और वायुभूयिष्ठ द्रव्यों से शांत होता है; आकाश और वायुगुण भूयिष्ठ द्रव्यों से वायु वृद्धि को प्राप्त होता है ॥१३॥ आग्रेयगुण भूयिष्ठ द्रव्य से ही केवल पित्त वृद्ध होता है और पृथिवी जलभूयिष्ठ द्रव्यों से कफ की वृद्धि होती है ॥१४॥ इस प्रकार द्रव्य द्रव्य में जिस जिस तत्त्व के गुणों की अधिकता विद्युत है उसे जानकर (एक दोष), द्विदोष या बहुत दोषों (की चिकित्सा) में उनका उपयोग करे ॥१५॥

तत्र य इसे गुणा वीर्यसंज्ञकाः शीतोप्लिंगध-
रुक्षस्मृदुतीदेणपिच्छिलविशदास्तेषां तीक्ष्णोप्लिंग-
वाग्नेयो, शीतपिच्छिलावस्वुवायुगुणभूयिष्ठौ, पृथिव्यस्मृ-
युणभूयिष्ठः स्नेहः, तोयाकाशगुणभूयिष्ठं सृदुत्वं,
वायुगुणभूयिष्ठं रौद्र्यं, क्षितिसमीरणगुणभूयिष्ठं
वैश्यधम् ॥१६॥

शीत, उप्ल, ज्ञिग्ध, रुक्ष, मृदु, तीक्ष्ण, पिच्छिल और विशद ये जो वीर्यसंज्ञक (आठ) गुण होते हैं उनमें तीक्ष्ण और उप्ल आप्नेय हैं; शीत और पिच्छिल जलगुणभूयिष्ठ हैं; स्नेह पृथिवी और जल गुण की अधिकता से होता है; मृदुत्वा जल और आकाश की अधिकता से होता है; रौद्र्य वायु गुण की अधिकता से होता है और विशदता पृथिवी और वायु गुण की अधिकता से होती है ॥१६॥

गुरुलघुविपाकालुक्तगुणौ; तत्र, उप्लिंगधौ
बातप्लौ, शीतस्मृदुपिच्छिलाः पित्तप्लः, तीक्ष्णरुक्ष-
विशदाः श्लेष्मप्लः; गुरुपाको बातपित्तप्लः, लघु-
पाकः श्लेष्मप्लः ॥१७॥

गुरु और लघु विपाक के गुण पहले कह लुके हैं। हनमें उण्ण और ज्ञिग्ध वातनाशक हैं। शीत, मृदु और पिच्छिल पित्तनाशक हैं। तीक्ष्ण, रुक्ष और विशद लैमनाशक हैं। गुरुविपाक वातपित्तनाशक है। और लघुपाक लैमनाशक है ॥१७॥

१ वृद्धिमन्त्रेति. २ दोपेडवनारयेत्. ३ गुरुलघुस्मृदुतीक्ष्णा.
४ गुरुसीतौ पृथिव्यस्मृयुगुणभूयिष्ठौ. ५ अग्निगुणभूयिष्ठः. ६ अग्न्याकाश-
समीरणगुणभूयिष्ठ लैमनाश. ७ गुरुपाको बातपित्तप्लः, मृदुसीतौ पित्तप्लः,

ज्ञ ६३ भेदां का वर्णन उत्तरान्त्र के ८३वें अध्याय में दी गया है) ॥३॥

तत्र, भूरभुगुणवाहुल्यानमधुरः, भूम्यशिगुण-
ल्लक्ष्यादस्तः, तोयाद्विगुणवाहुल्याछवणः, वायवद्विगु-
णवाहुल्यात्कहुकः, वायवाकाशगुणवाहुल्यात्तिरः,
थिव्यनिलगुणवाहुल्यात्कपाय इति ॥४॥

इनमें से पृथिवी और जल के गुणों की अधिकाना से गगुर न होता है; पृथिवी और अग्नि के गुणों की अधिकाना से अस्त्र रस होता है; जल और अग्नि के गुणों की अधिकाना से वाय रस होता है; वायु और अग्नि के गुणों की अधिकाना कहु रस होता है; वायु और आकाश के गुणों की अधिकाना तिक्त (कहुवा) रस होता है; और पृथिवी तथा वायु के गुणों की अधिकाना से कपाय रस होता है ॥४॥

बक्तव्य—महाभूतों के अनुसार छः स्त्रों की घटना यान में रखने के लिये अष्टांगलक्ष्य का चिर श्रोक बहुत उपयोगी है—ज्ञामोद्विभाँडुवःगवाच्चन्यनिक्तोऽनिर्वः । द्वोत्तमैःक्रामादभूतैर्मुरोदिसोऽद्रवः ॥

तत्र, मधुराम्ललक्षणा वातम्भाः, मधुरतिक्त-
कपायाः पितम्भाः, कटुतिक्तकपायाः स्फेषम्भाः ॥५॥

इनमें मधुर, अम्ल और लवण रस वातनाशक होते हैं; तिक्त और कपाय रस पित्तनाशक होते हैं; और कटु, विक्त तथा कपाय रस कफनाशक होते हैं ॥५॥

तत्र, वायु(यो)रात्मैचात्मा, पित्तमाद्येयं, नेत्रपासौम्य इति । त एते रसाः स्वयोनिवर्धना अन्य-
योनिप्रशमनात्मा ॥६॥

इनमें से वायु की आत्मा (योनि) वायु ही होती है; पित्त अग्न्यात्मक होता है और कफ सोमात्मक है। वे (मधुर-रोदि) रस स्वयोनि (जो दोप होता है उस) का वर्धन करते हैं और अन्य योनि (जो दोप है उस) का प्रशमन करते हैं ॥६॥

बक्तव्य—स्वयोनि—समान योनि, यथा कपाय रस । समान योनि वायु, कटुक रस का समान योनि पित्त, मधुर रस का समान योनि श्लेष्मा इत्यादि । वर्धनः—इनकी वृद्धि ने वाले । अन्ययोनिप्रशमनाः—विपरीत योनि, यथा कटुक रस का अन्य योनि श्लेष्मा उसका शमन करने वाला इत्यादि ।

केचिदाहुरभीयोमीयत्वाजागतो रसा छिविधाः—
गौम्या आद्येयात्मा । तत्र मधुरतिक्तकपायाः सौम्याः;
कटुतिक्तलक्षणा आद्येयाः । तत्र मधुराम्ललक्षणाः
गौम्या गुरुवश्च, कटुतिक्तकपाया लक्षा लघवश्च;
सौम्याः शीता, आद्येयाद्योषणाः ॥७॥

कहे वाचार्य कहते हैं कि जगत् अग्निरूप और सोमरूप होने के कारण रस भी दो ही प्रकार के हैं—१ सौम्य, और २ आद्येय । इनमें मधुर, तिक्त और कपाय रस सौम्य होते हैं; और कटु, अम्ल और लवण रस आद्येय होते हैं । मधुर, अम्ल और लवण रस स्त्रिय तथा भारी होते हैं; और कटु, तिक्त तथा

२ तोययोनिगुणवाहुल्यादस्तः, भूम्यशिगुणवाहुल्याद्वरणः

कपाय रस रुद्र और हृलवे होते हैं । सौम्य रस छै हैं और आद्येय रस उद्या होते हैं ॥७॥

तत्र शैव्यज्ञैष्वलापवैश्वर्यवैष्वस्यगुणलक्षणो
यायुः; तस्य समानयोनिः कपायो रसः; सोऽस्य
शैत्याच्छैत्यं वर्धयति, दौद्याद्वैत्यं, लाघवाद्वैत्यं,
वैश्वाद्वैश्वयं, वैष्प्रभ्याद्वैष्प्रभ्यमिति ॥८॥

उनमें श्रीतता, लज्जा, ल्लुता, विशदता और विष्मयता इन गुणों से युक्त लक्षणों वाली वायु हैं, और उसके समान योनि कपाय रस है । वह अपनी श्रीततता से (वायु के) शैत्य की वदाता है, स्त्राता से रौश्य की वदाता है, लाघव से लघुता को वदाता है, विशदता से वैयय की वदाता है और विष्मयता से विष्मयत्व (कवरीयत) को वदाता है ॥८॥

श्रौप्यतैद्वयरौच्यलाघवैश्वर्यगुणलक्षणं पित्तं,
तस्य समानयोनिः कटुको रसः; सोऽस्यैष्प्रयादौप्यं
वर्धयति, तैद्याच्चत्तेत्यं: रौद्याद्वैत्यं, लाघवा-
द्वैत्यं, वैश्वाद्वैश्वयं ॥९॥

उप्याता, तीक्ष्णाता, रुद्रता, ल्लुता और विशदता इन गुणों से युक्त लक्षणों वाला पित्त है । उसके समान योनि कटु रस है । वह कटुक रस अपनी उप्याता से पित्त की उप्याता को वदाता है, तीक्ष्णाता से तीक्ष्णाता का, रुद्रता से रुद्रता को, ल्लुता से ल्लुता को और विशदता से विशदता को वदाता है ॥९॥

माधुर्यस्तेष्वैर्गौरवशैत्यपैच्छिल्यगुणलक्षणः: श्ले-
ष्मा, तस्य समानयोनिर्मधुरो रसः; सोऽस्य माधु-
र्यान्माधुर्यं वर्धयति, श्लेषात् खेहं, गौरवादौर्यं,
शैत्याच्छैत्यं, पैच्छिल्यत्पैच्छिल्यमिति ॥१०॥

मधुरता, खेह, गुरुता, गैत्य और पिच्छिलता इन गुणों से युक्त लक्षणों वाला कप्त है । उसके समान योनि मधुर रस होता है । वह मधुर रस अपनी मधुरता से कफ की मधुरता को वदाता है, विष्पता से विष्पता को, भारीपत्र से भारीपत्र को, गैत्य से गैत्य को, और पिच्छिलता से पिच्छिलता को वदाता है ॥१०॥

तस्य पुनरस्ययोनिः कटुको रसः; स श्लेष्मः
प्रत्यनीकत्वात् कटुकत्वान्माधुर्यमग्निभवति, रौद्यादौ-
श्लेषं, लाघवाद्वैरवस्तु, औष्प्रयाच्छैत्यं, वैश्वाद्वैत्य-
मिति । तदेतद्विदर्शनमात्रमुक्तम् ॥११॥

फिर कफ की अन्य योनि कटुक रस होता है । वह कफ के विपरीत होने से कटुक खाद से कफ की मधुरता दो जाता करता है । रुद्रता से श्लेष का नाश करता है, लाघव से भारीपत्र का नाश करता है, उप्याता से श्रीततता का नाश करता है । वह केवल द्विदर्शन रखने के लिए दृष्टीन किया है ॥११॥

बक्तव्य—यहाँ रस के जो मधुरवादि मुख दर्शन दिये हैं वे राम्स शुष्टु शून्य के ही समझे चाहिए—जूना शुणात्या वीक्ता तस्याद्वसुणान् मिष्क छियाद्वस्ययुणान् । [पाठः] । यह स्त्रामन्य नियम है कि लक्षालयोनि इस ही द्वीप ध्रातुर्यों का

वृद्धि होती है और विपरीतयोनि द्रव्य से ज्ञाति होती है—
वृद्धि समानै संवेग विपरीतपूर्वक । (वामभट) ।

रसलक्षणमत् ऊर्ध्वं वद्यायामः—तत्र, यः परितोषमुत्पादयति प्रदूषदयति तर्पयति जीवयति
मुखोपलेपं जनयति क्षेप्माणं चमियर्थयति स
मधुरः ॥१२॥

(मधुरसग्नलक्षण—) इनके आगे अब रसों के लक्षण
कहते हैं—इनमें जो सलोना उत्पन्न करता है, आइलाद देता है,
वृसि करता है, प्राणों का धारण करता है, मुख में मालिन्य
उत्पन्न करता है और कल को बढ़ाता है वह मधुर रस है ॥१२॥

यो दन्तहर्षमुत्पादयति सुखाद्यावं जनयति
थर्द्धां चोपादयति सोऽस्तु ॥१३॥

(अग्नरसलक्षण—) जो दाँतों में हृष्ट उत्पन्न करता
है, मुख में लालाद्याव उत्पन्न करता है और (सेवन करने की)
इच्छा उत्पन्न करता है वह अम्ल रस है ॥१३॥

वक्तव्य—अब—अन्य रस सुख पदार्थों की अपेक्षा
अम्ल रस युक्त पदार्थ ऐसा होता है कि जिसको देखते ही
खाने की श्रद्धा ही जाती है ।

यो भक्तरुचिमुत्पादयति कफप्रसेकं जनयति
मार्दयं चापादयति स लघणः ॥१४॥

(स्वरणरस—) जो भाजन में रुचि उत्पन्न करता है,
कफ का घाव करता है और कोमलता उत्पन्न करता है वह
लघण रस है ॥१४॥

यो जिह्वाग्रं धाधते उद्गेगं जनयति शिरो गृहीते
नासिका च श्वाययति स वडुकः ॥१५॥

(कटुकरस—) जो जिह्वा के अप्रभाग पर भनाहनादृष्ट
उत्पन्न करता है, उद्गेग च वड करता है, (उद्गेग में) भिर में
भारीपन करता है और नासिका से श्वाय उत्पन्न करता है
वह कटुक रस है ॥१५॥

यो गले चोपमुत्पादयति सुखवैश्यद्यं जनयति
भक्तरुचिं चापादयति हृष्टं च स तिक्तः ॥१६॥

(तिक्तरस—) जो गले में लिंगाच (चूपावन वेदना),
मुख में सफाई, भोजन में हस्ति और आमद उत्पन्न करता है
वह तिक्त (कट्टा) रस है ॥१६॥

यो धक्कं परिशोषयति जिह्वा स्तम्भयनि कण्ठं
वध्नाति हृदयं कर्पति पीडियति च स क्षणयः ॥१७॥

(कशायरस—) जो मुख का गोरण करता है, जिह्वा
को स्तम्भन (चलन वलन में कठिनाई) करता है, कण्ठ का
सकोच करता है और हृदय प्रदेश में आरुण्य और पीडा
करता है वह कशाय रस है ॥१७॥

रसगुणानत् ऊर्ध्वं वद्यायाम—तत्र, मधुरो रसो
रसरक्तमांसमेदोस्तिथमज्जोजं शुक्रस्तन्यधर्नश्चक्षुप्यः
केऽयो यर्णो वलहृत्सन्धानः शोणिनरसप्रसादनो
यालवृद्धक्षत्तद्वीण्डितः पदपदपिपीलिकानामिष्टनम-
स्तुष्णामूर्ढ्यादप्रशमनः पदिन्द्रियप्रसादनः प्रसिद्ध-

कफकरश्चेति; स एवंगुणोऽप्येकं पदात्यर्थमाते
व्यमानः कासात्वासालसक्त्वमधुवदनमाधुर्यस्वरो
धातहृमिगलगण्डानापादयति तथाऽर्धुदसीप
वस्तिगुद्रेपलेपाभिष्यन्दप्रभृतीज्ञनयति ॥१८॥

(मधुरसगुण—) इसके आगे रसों के गुणों
वर्णन करते हैं—इनमें मधुरतम रस, रक्त, मास, मेद, अदि
मज्जा, औज, शुक्र (उर्गों में), वृथ (लिंगों में) इन
वदाने वाला, नेत्र वेश और शरीर वर्ण के लिये हिन्द
बल देने वाला, हटी हुई हड्डी को जोड़ने वाला, रक्त औं
रस को प्रसाप करने वाला, बाल शुद्ध और जलशील रोगि
के लिये हितकारक, शृंग और चाँचिटों के लिये अस्तन त्रि
तृष्णा मूर्ढ्यां दाह को शरात करने वाला, पच ज्ञानेदिय औं
मन को प्रसाप करने वाला और कृमि सथा कफ की उल
करने वाला है । वह मधुर रस इतने युग्म करने वाला होने
भी अशेषा ही अत्यन्त (अधिक मात्रा में या अधिक का
तक लगातार) सेवन करने से खांसी, श्वाय, अलम (अजीर्ण का एक प्रकार), घमन, मुख का भीड़ा स्वा-
स्वर भग, कृमि, गणगाङ्ग तथा अर्जुद, श्वीपद (कील पाव)
बलि और शुद्ध विमाग में भारीपन और अभिष्य
(नेत्रोग) इत्यादि रोग उत्पन्न करता है ॥१८॥

अम्लो जरणः पाचनो दीपनः
लोमन् कोष्ठविद्धी घदिःशीतः क्लेदनः प्रायशं
हृदयश्चेति; स एवंगुणोऽप्येकं पदात्यर्थमुपसेव्यमाते
दन्तहर्षनयनसंमीलनरोमसंवेजनकफविलयनशरीरी
शीथिल्यान्यापादयति तथा शताभिहृतदग्धदृष्टमभृत
शतरुग्णप्रच्युतावमूर्चितविसर्पितचिंशमिन्नविद्वो-
तिप्रादीनि पाचयत्याश्रेयस्वभावात् परिदृष्टि करण्ड
मुरो हृदयं चेति ॥१९॥

(अग्नरसगुण—) अग्नरस आहार का पचाव करने
वाला, (गोथ आम दाँतों का) पाषक, अभिरीपक, वातु क
निप्रवृश्य करने वाला, अनुलोमक (Carminative) को
में दाह करने वाला, बाहर से ठडा, शरीर में हूँड़ सचिन
करने वाला और प्राय अन के लिये विक्रान्त होता है । यह
अग्नरस इतने युग्म वाला होने पर भी अरोला ही अधिक
सेवन करने से दन्तहर्ष, नेत्रों का सकोच, शरीर पर रोमाच
कफ का विलयन और शरीर का दीलापन उत्पन्न करता है
तथा ज्ञात (शिळादि से धाव), अभिहत (छेदे के प्रदार के
धाव), दृष्ट (बला हुआ), दृष्ट (सप्तिदि से दमा हुआ-
भ्रम (दृटा हुआ), रुण (टेटा हुआ), प्रत्युत (अपने
स्थान से भ्रम), अवगृहित (गूर्ध्वविष जनुतुओं के मूत्र से
दूरित), विसर्पित (स्तर्ये विष जनुतुओं के स्तर्य से हृतित),
विश (कटा हुआ), भिस (भेदन किया हुआ), विद
(स्त्री इत्यादि से वेष्ठित), अविष्ट (चर्वित, सविषुर
का एक प्रकार), इत्यादि श्वानों को पकाता है तथा
आप्रय स्वभाव के कारण कण्ठ, छाती और हृदय में दाह
करता है ॥१९॥

लवणः संशोधनः पाचनो विश्लेषणः क्लेदनः
त्रिथित्यकृदुषणः सर्वरसप्रत्यनीको मार्गविशोधनः
सर्वशारीराव्यवमार्दवकरश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक
त्यर्थमासेव्यमानो गात्रकण्ड्कोठशोफवैवर्ण्य-
पुस्त्वोपघातेन्द्रियोपतापमुखाद्विपाकरक्तपित्तवात्-
शोणिताभिलक्षप्रभृतीनापादयति ॥२०॥

(लवणरसगुण—) लवणरस (वर्मन विरेचनादि द्वारा दोषों का) संशोधक, पाचक, (संधियों का) विश्लेषक, (वण में) क्लेद उत्पन्न करने वाला, गरीर में फैलापन उत्पन्न करने वाला, गरम, सर्व रसों का विरोधी (लवण से सर्व रसों का स्वाद नष्ट हो जाता है इसलिये विरोधी), (मल मुत्रादि) मार्गों का विशोधक और सर्व गरीर के अवयवों को कोमल करने वाला है । यह लवण रस हृतने गुण शुक्त होने पर भी अकेला ही अल्पतं सेवन करने से गरीर में खाज, कोठ (चकड़े), योथ, वर्ण का नाश, पुरुष्व का नाश, (नेत्रादि) इन्द्रियों की शक्ति का नाश, मुखपाक, अन्जिपाक, रक्तपित, वातरक्त, अम्लिका (Heartburn) इत्यादि रोग उत्पन्न करता है ॥२०॥

कटुको दीपनः पाचनो रोचनः शोधनः
त्यालस्यकफकृमिविपक्षुप्रकरण्डपशमनः सन्धिं-
धैवच्छेदनोऽवसादनः स्तन्यशुक्रमेदसामुपहन्ता
ते; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो
मदगलताल्वोपशोपदाहसंतापवलविधातकम्प-
दमेदक्षत् करचरणपार्श्वपृष्ठप्रभृतिपु च वात-
शानापादयति ॥२१॥

(कटुकरसगुण—) कटुक रस अमिलीपक, पाचन, मुख रुचि उत्पन्न करने वाला, दोषों का शोधन करने वाला, उत्ता, आलस्य, कफ, कृमि, विष, कुष और कण्डू इनको त करने वाला, संधिवर्णों को हीठे करने वाला, अनुसाह त करने वाला, (लिंगों में) दूध, (पुरुषों में) शुक्र र मेद का नाश करने वाला है । यह कटुक रस हृतने गुण ला होने पर भी अकेला ही अल्पतं सेवन करने से अम चक्कर, मद, गला तालु और होठ हृतनमें खुर्झी, दाह, ताप, घल का नाश, कम्प, तोढ़ (पीड़ा) और भेद भेदन की पीड़ा) करने वाला और हाथ, पैर, पार्श्व पीठ आदि अवयवों में वातशूल उत्पन्न करता है ॥२१॥

तिक्तश्छेदनो रोचनो दीपनः शोधनः कण्ड्कोठ-
मूऽन्त्यज्ञवरप्रशमनः स्तन्यशोधनो विष्मूत्रक्लेद-
मेदोवसाप्योपशोषणश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक
एवात्यर्थमुपसेव्यमानो गात्रमन्यास्तम्भाद्वेपका-
दितिशिरःशूलभ्रमतोद्दमेदच्छेदास्यवैरस्यान्यापाद-
यति ॥२२॥

(तिक्तरसगुण—) तिक्त रस (कट्वा रस) कफ का उत्पन्न करने वाला, (स्वयं रुचिकर न होकर भी अन्य भृत्यों के लिये) रुचि उत्पन्न करने वाला, अमिलीपक,

(दोषों का) शोधक, कण्ड, कोठ, तृप्ता, मूच्छों और ज्वर का शमन करने वाला, स्तन्य दोषों को दूर करने वाला, मल, मूत्र, आर्द्रता, मेद, चर्वी (शुद्ध मांस का चेह) और पृथ इनका शोषण करने वाला है । यह तिक्तरस हृतने गुण वाला होने पर भी अकेला अल्पतं सेवन करने से गरीर के अवयवों और ग्रीवा में जकड़न, आक्षेप (पृष्ठन), अर्दित (लकवा Facial paralysis), गिर में दर्द, अम, तोढ़, भेद, छेद (भिन्न भिन्न प्रकार की बैद्यनाँ) और मुख में विरसता उत्पन्न करता है ॥२२॥

कथायः संत्राहको रोपणः स्तम्भनः शोधनो
लेखनः शोपणः पीड़नः क्लेदोपशोषणश्चेति; स
एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो हृतीडास्य-
शोपोदराधमानवाक्यग्रहमन्यास्तम्भगात्रस्फुरणचुर्म-
चुमायनालुञ्ज्ञनाक्षेपणशोधनशूतीञ्जनयति ॥२३॥

(कथायरसगुण—) कथायरस संत्राही, वण का रोपक, स्तंभन (रक्त या अन्य स्राव को रोकने वाला), दोप शोधन, लेखन (वणगत दृष्ट मांस का नाश करने वाला), शोपक, पीड़ा करने वाला और क्लेद का शोपण करने वाला है । यह कथाय रस हृतने गुण वाला होने पर भी अकेला ही अल्पतं सेवन करने से हृदय में पीड़ा, मुख में खुर्झी, उदर, आम्बान, वाक्यग्रह (बोलने में कठिनाई), मन्यास्तम्भ (Stiff neck), गात्रस्फुरण, चुमचुमायन (Tingling sensation), गात्र संकोच और आक्षेप (Convulsions) इत्यादि रोग उत्पन्न करता है ॥२३॥

वक्तव्य—पाश्चात्य वैद्यक में रसों के अनुसार औषधियों
के गुणधर्म वर्णन करने की पद्धति नहीं है । तथापि तिक्क
(Bitters) और कथाय (Astringents) रस शुक्र जो
वर्णाधियाँ हैं उनका वर्णन आयुर्वेद के अनुसार तिक्कवर्ग
(Vegetable bitters) और कथायवर्ग (Vegetable Astringents) ऐसा ही किया गया है और उनके गुण धर्म भी
उपर्युक्त गुण धर्मों के साथ बहुत छोट मिलते हैं ।

अतः सर्वेषामेव द्रव्याण्युपदेश्यामः । तदथा—
काकोल्यादिः दीर्घत्वसामज्जालिपिष्ठिकयव-
गोधूममापशूद्धाटकसेस्कत्रपुसेवीरकर्कास्कालाखु-
कालिन्दकतकगिंलोड्यपियालपुष्करवीजकाश्मर्य-
मधूकद्राक्षाख्यर्जुरराजादनतालनालिकेरेखुविकार-
वलातिवलात्मगुत्तिविदारीपयस्यागोक्षुरकन्तीरमोरट-
मधूलिकाखूपमाण्डप्रभृतीनि समासेन मधुरो
वर्गः ॥२४॥

(मधुरवर्ग—) यव सब रसों के द्रव्यों का उपदेश करते हैं । वे ऐसे हैं—काकोल्यादिवाया, दूध, धूत, चर्वी, मजा, शालि (चावल), पष्ठिक (पक प्रकार के चावल), यव, गेहूं, उट्ट, सिंघाड़ (Trapa Bispinosa नामक वनस्पति के कन्द), चपुस (थीरा Cucumis Sativus), पूर्वाल

१ उमुत्तुमा० २ अनुलोद्य०

(ककड़ी Cucumis utilissimus), कांकड़ (खरदूजा, Cucumis Melo), अलावु (तुंबी, Lagenaria Vulgaris), कालिन्द (खरदूज का ही एक प्रकार, म. कलिन्द), कलड (निर्मली का भीज), मिलोइय (कालेकल मिलोइय कल भावुडगत गोपनियाकारी बहीयुक्ते मिलेठीति लोक । इच्छय । गिन मधुजीवीररलम, उदय निहामितव्यम् । हाराण्चद्ध), रियाल (चिर्णीजी), पुफरबीज (कमलबीज), कार्ष्णरी, घटूक (मटुवा), द्राजा, सर्वेर (Phoenix Sylvestris नामक युक्त का फल), राजाइन (खिर्णी), ताल (Borassus Flabelliformis नामक युक्त का फल), नारिकेर (नारियल Cocos Nucifera नामक युक्त का फल), हृष्टविकार (इस के पदार्थ यथा गुड, चीरी, काकड़ी इत्यादि), बला, अतिवला, आत्मगुप्ता (कवचबीज). विदारी, यथस्या (विदारीमेद), गोभुरक, धीरमोरट (विलमस्तु, गोभुरक्षितेके) । इच्छय । प्रस्तुताया गो तस्त्रानां एतमप्रस्तु धीरमित्युभूत वा । हाराण्चद्ध), मधूलिका (कंटक या मूर्ढा), घृमांड (चेठा, Benincasa Cerifera), इत्यादि द्रव्य संकेप से मधुरर्गी के होते हैं ॥२३॥

शुद्धिमामलकामातुलुक्ष्मिग्रातकपित्थकरम्भद्वदर्कोलभावीनामलकतिन्तिडीककोशाघ्रकमध्यपारायतेव्रफललकुचाचम्लवेतसदन्तशतद्विधितक्षसुरा-शुकसौवीरकतुयोदकधान्यामलप्रभृतीनि समासेनाम्लो धर्म ॥ २४॥

(भलवर्ण—) अनार, आंवला, भींव आम्रातक (आमेदा, Spondias Mangifera), कपिय (कवठ Feronia Elephantum), करम्भ (कटोर), बदर, कोल (बटे और छाटे भेर), प्राचीनमलक (पानी आंवला, Flacourinia Cataphracta), तिनिरी (इमली, Tamarindus Indicus) कोयाग्रक (आम का भेद), भन्ध (कमरल Dilleua Indica), पारावत (तिनुक भेद, हाराण्चद्ध) येश्वरक (वेत का फल), लकुच (Artocarpus Lakoocha), आम्लवेतस (Ruminex Vesicarius) दन्तशठ (जंबीर भींव), दरी, छाठ, मधा, शुक, सौंकीरक, तुरंदक, धान्यामल (कांजी) इत्यादि द्रव्य संकेप से अमलवर्णी के होते हैं ॥२५॥

यस्तद्य—मुरा से लेकर धान्यामल तक मधा ते प्रकार हैं । उनके इन्हाँ धार्विधर में ऐसे दिये हैं—परिकाशसानानसमुखाँ तुरा जगु । कन्दमूलकलानीनि सलहवन्वगानि च ॥ वय देवमित्युक्ते तन्मुक्तमित्युपै ॥ तुरामुक्तमित्युक्तिक्लिपै ॥ गंभेन्दु निनुपै वै सीमीर सवित मदेत ॥ कुरमावधान्दण्डादि मधित कालिक विदु ॥

सैन्धव्यसौपर्चलविहपाकथरोमकसामुद्रकपञ्जिमययातोपरमधृतसुव्यर्थिकाप्रभृतीनि समासेन लघ्यगो धर्म ॥ २६॥

(लबद्धवर्ण—) सेपा ममक, कालावमक, विह लवण, पालय (उद्दिद लवण), रोगक (सौभर लवण), सामुद्रक (समुद्र के पानी से बना हुआ नमक), पवित्रम (ममकीन द्रव्य का पाक करके बनाया हुआ), यवसार, ऊर प्रसूत

(जारारसुतिका से पनाया हुआ), सुवर्चिका (समीकार), प्रभृति द्रव्य संकेप से ध्वन्यर्ग के होते हैं ॥२६॥

पिपल्यादि: सुरसादि: शिमुमधुशिमुमूलकल शुनसुमुलारीतेशियकुप्तेवदायद्वैषुकापस्तुजप्रस्तूत चरद्वयगुलुमुस्तलद्वलकीशुकनासापीशुद्भूतीनि सालसारादिद्यु प्रायशः कटुको धर्मः ॥२७॥

(कटुकवर्ण—) रिष्पल्यादि गण, सुरसादि गण, सोहजना, लूलक (लूली, Raphanus Sativus) लग्नुन, सुमुख (तुलनी भेद), गीतिषिव (करू), कुप, देवदार, हरेणुका (समालु का भीज, Piper Aurantiacum), अपस्तुत फल (थावनी, Vernonia Anthelmintica), चण्डा (अजमोदाकमसुप्तविद्वयम्, दलहन । चंद्र पुष्पमेड, हाराण्चद्ध), गुमुड, मुल (नागरमोया), लांगलकी (कलिहारी), तुकनामा (स्पोताक), पील इत्यादि द्रव्य तथा सालसारादिगण प्राय कटुकवर्ण के होते हैं ॥२७॥

बारगवधादिर्युद्ध्यादिर्युद्ध्यादिर्युद्धकपर्णीविशकरीरहिद्वद्वयद्वाद्वयेन्द्रव्यवयवरणसादुकण्टकसमपर्णेशृद्धीद्वयद्विनीद्वयन्तीविवृहृष्टवेधयनकर्कोटककारवेणुक्षयर ककरीएकर्थीरसुमनःशाहुप्प्यपामार्गात्रायमालाऽशोकरोहिणीवैजयन्तीसुवर्चलामुनर्नवाशुद्धिकाली ज्येतिप्रतीप्रभृतीनि समासेन तिक्तो धर्मः ॥२८॥ (तिक्तवर्ण—) आरम्भपादि गण, गुहुव्यादि गण, मधूपर्णी (धाढ़ी भेद), वेत्रकरी (वेत के अंकुर), हिटी और दाहरिद्रा, हान्द्रवय, घरण, स्वादुकण्टक (विकक Flacourinia Ramontchi), सप्तपर्णी (छातीन), वृहत द्रव (छोटी और बड़ी वृहती), वृत्तिनी, द्रवनी, पितृ (नियोग), हृतेष्वन (कोणारकी), कर्कोटक (Monocidica Dionca) कारवेणुक (कोणा), यातोक (वैगान) करीर (Capparis Aphyllea), करवीर (करेर), सुम (जाती, चमली), शहुपुणी, अपामार्गी, ग्रावमाणा, अशोव रोहिणी (कटुकी), वैग्यनी (अस्तिमल), तुर्वर्चल (मूर्छवर्णी, वा माझी), पुरानेवा, वृशिकाली (मेहासिंही) ज्येतिप्रती (मालाकांगनी) इत्यादि द्रव्य संकेप से तिक्तों के होते हैं ॥२८॥

न्यमोधादिर्यव्यादिदिः प्रियद्रव्यादी रोधादि त्विकलया शालुक्षीजम्माघ्रयुक्तुलतिन्दुकफलानि कृतकशाकपायाणमेदकयनस्पतिफलानि सालसारादिद्यु प्रायशः कुरुवकोविद्वाकजीवन्तीचित्ती पालद्वयाद्वयनिरप्पणकप्रभृतीनि भीवारकादयो मुक्तां द्रव्यद्य वैदला । समासेन प्रायो धर्मः ॥२९॥

(कालवर्ण—) मध्योद्धादिगण, अष्टादिगण, विष ग्रादिगण, रोद्धादिगण, त्रिक्षया, याहूकी, आमुग, आम, बड़व (Mimusopse Llengi) तिनुक इन्वं पम, करक, शग, पालय भेद इन्वं पम, सालसारादिगण, प्राय कुरुवक (कालाव), ओविदर (करनार),

जीवन्तीशाक (Dendrobium Macraei), चिलीशाक (Chenopodium Album), पालंक शाक), सुनिपण्डक (चौपितिया शाक) हस्तादि तथा नीवार धान्यादि और मुद्रादि (वैदल धान्य) सिलकर संकेप से कपाय वर्ग होता है ॥२९॥

तत्रैतेदां रसानां संयोगाखिषिष्ठेवल्ति ।
तद्यथा—पञ्चदश द्विकाः, विशातिस्तिकाः, पञ्चदश
चतुष्काः, षट् पञ्चकाः, एकशः पद्मसाः, एकः
षट्क इति । तेषामन्यत्र प्रयोजनानि वद्यामः ॥३०॥

(रससंयोग—) इन छः रसों के संयोग से ६३ भेद होते हैं । जैसे—दो दो रसों के पंद्रह संयोग होते हैं, तीन तीन रसों के बीस, चार चार रसों के पंद्रह, पाँच पाँच रसों के छः, एक एक रस के छः और छः रसों का एक (ऐसे ६३ संयोग होते हैं) । इनका प्रयोजन अन्य स्थान में (उत्तरस्थान के ६३ अध्याय में) वर्णन किया जायगा ॥३०॥

भवति चात्र—

जग्धा: षडधिगच्छन्ति वर्लिनो धेशतां रसाः ।
यथा प्रकुपिता दोषा वशं यान्ति घलीयसः ॥३१॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने रसविशेषविज्ञानीयो
नाम द्वाच्चत्वारिंशतमोऽध्यायः ॥४२॥

जैसे कि प्रकुपित हुए दोष बलवान् मनुष्य के वश में हो जाते हैं (यानि अपनी प्रकटता नहीं करते) वैसे ही सेवन किये हुए (द्रव्यों के) उभों रस (उन द्रव्यों का जो) बलवान् (व्यक्त) रस होता है उसके वश में हो जाते हैं ॥३१॥

वक्तव्य—सर्वकार्यद्रव्यं पंचमहाभूतास्मक होने के कारण केवल एक रस युक्त नहीं हो सकते—तत्समाकैरसं द्रव्यं भूतसंपातसंभवत् । (वाग्भट) । प्रत्येक द्रव्य में एक या दो घलवान् यानि व्यक्तरस होते हैं और कई अल्प बल यानि अव्यक्तरस होते हैं । ये अव्यक्तरस अपना अस्तित्व व्यक्तरस के सामने नहीं प्रकट कर सकते—तत्र व्यक्तो रसः । अनुरसस्तु रसेनाभिभूतवाद्वक्तः । (संग्रह) । इसलिये प्रत्येक द्रव्य के रस का निर्देश उसके बलवान् रस के अनुसार ही किया जाता है । ऊपर मधुरादि वर्गों में द्रव्यों का जो निर्देश किया गया है वह ‘भूयासाऽल्पं हि जीवते’ के तत्त्वानुसार ही किया गया है यह इस क्षेत्र का तार्पण्य है । चरक विमानस्थान के आठवें अध्याय में पदास्थापनवर्ग का वर्णन करते समय ऐसा ही लिखा है—यु ष्टिप्रथमस्थापनसेकसमित्याचक्षते भिपज्जतद्दुर्लभतमं संस्कृतस्भूयिष्ठवाद् द्रव्याणाम् । तस्मामधुराणि च मधुरप्रायाणि च मधुरविपाकानि च मधुरप्रभावाणि च मधुरस्तन्त्रे मधुराण्येव छत्वोपदेश्यते तथेतराणि द्रव्याण्यपि ॥

इति भास्कररामणा गोविन्दामजेन विरचितायामायुवेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतमापाटीकायां रसविशेषविज्ञानीयो नाम
द्वाच्चत्वारिंशतमोऽध्यायः ॥४२॥

श्रिचत्वारिंशतमोऽध्यायः ।

अथातो वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयमध्यायं
दद्याख्यास्यामः । यथोक्तव्यं भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीय—मदनादि अनेक वमनद्रव्यों के विविध प्रयोग करने का विज्ञान जिसमें वर्णन किया है ।

वमनद्रव्याणां फलादीनां सदनफलानि श्रेष्ठतमानि भवन्ति । अथ मदनमुष्पाणामातपरिशुष्काणां चूर्णशुष्कां व्रत्यक्षुपुष्पीलदापुष्पीनिष्वक्षपायाणां मन्यतमेनालोक्य मधुसैन्धवयुक्तां षुष्पचूर्णमात्रां पाययित्वा वामयेत् ॥२॥

मदनादि वमनद्रव्यों में मैनफल सब से श्रेष्ठ है । धूप में सुखाये हुए मदन के फूलों का एक पल भर (चार तोला) चूर्ण अपामार्ग, आक या नीम के (चूर्ण से चौहुने) छाथ में मिलाकर उसमें मधु और सैंधा नमक डालकर यथोचित मात्रा में पिलाकर वमन करावे ॥२॥

वक्तव्य—फलादीनाम्—फल यानि मदन जिसमें आदि यानि प्रथम निर्दिष्ट किया गया है । ३९ वें अध्याय का द्वितीय सूत्र देखो । मदनमुष्पाणाम्—मदनफलानाम्—अत्र पुष्पाद्वः फले वर्तते, कारणे कायोपचारात् । (डल्हण) ।

मदनशालादुचूर्णान्येवं च वकुलरस्यकोपयुक्तानि मधुलवण्युक्तान्यथिप्रतस्तानि; मदनशालादुचूर्णसिद्धां च तिलतरडुलयवाग्भूम् ॥३॥

मदन के कच्चे फल के चूर्ण को उसी प्रकार (एक पल प्रमाण चतुर्मुण्ड प्रत्यक्षुपुष्पी, सदापुष्पी अथवा निम्ब के छाथ में) पिलावे अथवा बकुल, महानिम्ब (बकायन), हनफे काथ में मधु और सैंधानमक मिलाकर गरम करके पिलाकर वमन करावे । अथवा मदन के कच्चे फल के चूर्ण से सिद्ध की हुई तिल और चावलों की यवगूँ को पिलाकर वमन करे ॥३॥

वक्तव्य—शालादु—आम फल । मधु उष्ण सेवन करना अयोग्य है, परन्तु वमन तथा निरुद्ध में उष्ण सेवन करने में आपत्ति नहीं होती—पञ्चर्द्दिने निरुद्धे च मधुष्णां न निवार्यते । अल्पपाकमात्रेव त्योर्यस्मान्निवर्तते ॥ (अष्टांगहृदय) ।

निर्वृत्तानां च नातिहरितपाइहूनां कुशामूढाद्व-
चम्दृद्वयप्रलिप्तानां यवनुपसुद्धमापशत्त्वादि-
धान्यराशावप्तरात्रोपितक्षुभिज्ञानां फलानां फल-
पिण्पलीरुद्धत्वातपे शोपयेत्, तासां दधिमधुपलल-
विष्टुदितपरिशुष्काणां लुभाजनस्थानामन्तर्जल-
मुष्पिसुष्पे यद्यीमधुक्कपाद्ये कोविदारादीनामन्यतमे
वा कपाये प्रमृद्य रात्रिपर्युषितं मधुसैन्धवयुक्त-

मारीभिरभिमन्त्रतमुद्देश्यः प्राण्युपमातुरं पापये-
दनेन मन्त्रेणाभिमन्त्रय—

“ग्रहादक्षांश्चिरद्वयद्वयभूचन्द्राकौनलानिलाः ।

क्रपयः सौवधिश्रामा भूतसंघात्य पान्तु ते ॥१॥

रसायनमिवर्याणां देवानाममृतं यथा ।

सुधेवोत्तमनागानां भैरवज्ययिदमस्तु ते ॥२॥”

विशेषेण श्लेषमज्ज्वरप्रतिश्यायान्तर्विद्विधु ॥३॥

(मदनफल का अब प्रयान योग कहते हैं) पके हुए मदन फलों को, जो न बहुत होरे हों न बहुत पीले पह गये हों, कुण से लेपेट कर उपर गोबर लगाकर यवतुप, मैंग, उडद, चावल इत्यादि धान्यों की राशि में आठ अंहोरात्र तक रखें, जब छेदित हीकर कूटे तब फलों से बीज निवाल कर भूप में सुखा ले । किर उन बीजों को दही, मधु और तिलकरक में रुदित कर (भिंगोकर) सुखावे और एक सुरक्षित पाथ में रख ले । किर उसमें से जिसके नव भीतर की ओर किये गये हैं ऐसी मुष्टिभर गिरी लेकर गरम मुलाई के बाथ में अथवा कौविदारादि (सरोवरनसनमनीय अध्यायोक्त) गण में से किसी के काप्य में दिन रात भिंगोकर मलकर मधु और सेवा नमक मिलाकर बैदेक आरीविचनों से गूबिमुख बैंड रोगी की अभिमन्त्रित करके उत्तराभिमुख बैठा हुआ वैष्ण इन (निः) मन्त्रोष्ठारणपूर्वक पिलावे—बहारा, दत्त, अधिनीकुमार, रुद, हन्द, उष्णी, चन्द्र, सूर्य, अङ्गि, वायु, घोषधियों के समूह सहित व्रतपिण्ड तथा भूतसमूह तेरी रक्ता करें ॥१॥ जैसे कि व्रतपिण्डों के लिये रसायन, देवताओं के लिये अमृत और उत्तम नागों के लिये सुधा (आरोग्यदायक) होती है, वैसे तुम्हारे लिये यह अंधप (आरोग्यदायक) हो ॥२॥ विशेष करके (उपर्युक्त योग) करोजर, जुकाम और अन्त विदधि हन्में प्रदान करना चाहिये ॥३॥

वक्तव्य—निष्ठृ—पृष्ठ । योग एकावस्था निर्दित रक्तने के लिये ‘नालितिरात्रिङ्गृहा’ का प्रयोग किया है । कुरमूद—कुरुविरतिनिष्ठृटक । वलिपिणी—मदनफलमध्यगतानि रितिनीतेषामानि । (चक्राणि) । वल—तिळकल (इन्दु) । सुभाजनरथाना—योग्य रक्ता से पात्र में रक्ते हुए—जरवराद्य मुष्टिपूष्टातुरुग्रनकमात्रय वृष्णिता नवचन्द्र खन्तु गुप्त लिये आसाम्य व्यापयेत् । (चक्र) । अभिमन्त्र—इन मन्त्रों का व्याप्ति यही पर भासांतर दिया है तथापि उनका प्रयोग मूल संस्कृतमें ही करना चाहिये । विशेष—क्षेत्रज्वराद्यु देवि शत्रुघ्नायाः । अन्तर्मन्त्राद्य—अन्तरीहनुत्तराभुष्टिरितिरात्र । (चक्रपाणिङ्गृहा) अन्तर्नाया मुष्टिरितिम् तुरी नवानि न इश्वरने । (इन्दु) । वसन के लिये यह यो मात्रामात्रा दिया है, वह अधिक है । चार में हृत्वा लिवाय ‘वायदा माधु मदेन’ ऐसा दूसरा प्रमाण दिया है । व्यवहार में सूर्य हुए कलरीज की १०—१० रुपी मात्रा बासक हीनी है ।

अप्रवर्ततमाने या दोषे पिण्डीवचामौरसर्वप
कर्त्तोन्मित्यैः सल्लवैस्तुपाम्बुदिः पुनः पुनः
प्रवर्तयेद्रात्रसम्यग्यान्तर्लक्षणादिति ॥५॥

(इस भेदोग से) यदि दोनों का प्रवर्तन न हो तो पिण्डी, वचा और भेद सरसों के बहुके साथ नमक मिला कर गरम जल के साथ बार बार पिलाकर वसन कराये, जब तक कि ठीक वसन हुए के लक्षण दिखाई है ॥५॥

वक्तव्य—जायमवरान्तर्लक्षणाद्य—पित दर्शन होने पर सम्बन्धान्तर्लक्षणाद्य समझता चाहिये—प्रतिनगिष्ठ वसन तभी धूम । (चरक) ।

मदनफलमज्जचूर्णं वा तत्काथपरिभावितं मदन-फलकागायेण; मदनफलमज्जसिद्धस्य वा पयसः सन्तानिमां हौदियुक्तां, मदनफलमज्जसिद्धं वा पयः, मदनफलमज्जसिद्धेन वा पयसा यवागूम्, अधोभागासूक्ष्मपिच्छाद्वाहयोः; मदनफलमज्जसिद्धस्य वा पयसो दधिभावमुपगतस्य दध्युत्तरं दधि वा कफः प्रसेरक्षर्षिद्मूर्च्छात्मकेषु, मदनफलमज्जरस्य भूष्टात्मक्षेत्रद्वयदायाय फाणितीभूतं लेद्येत्, आतपपरिद्वयं वा तमेव जीवन्तीकापायेण पिते कफस्थानगते, मदनफलमज्जकाथं वा पिण्डल्यादि-प्रतीवापं, तच्चां वा निष्वरूपिकाकापाययोरत्यतरेण संतर्पणकर्त्तव्यादिहरं, मदनफलमज्जचूर्णं वा मधुककाशमर्यद्वादाकपायेण । मदनफलविधान-सुक्रम् ॥६॥

मैन इन की गिरी का चूर्ण उसी के काथ की भावना देकर उसके काथ के साथ पिलाकर वसन करावे । अग्रभाग मदन फल की गिरी दूध में उबाल कर उस दूध की मलाई को छाटने के लिये देकर वसन करावे । अधिक भाग मदन फल की गिरी से मिल दूध को देकर वसन करावे । मदन फल की गिरी से दूध मिह बनाकर उसमें वसन घनाकर अधोभागत रक्त वित और हन्द के दाह में पिलाऊ । कफ से मुख में लार आती ही, वसन होता ही, मुच्छों जा जाती ही, तरक्क खास हो तो मदन फल की गिरी में सिंह दूध का दही बनाकर उस दही का रस या दही ही छाटने के लिये प्रदान करो । जैसे भिलाई का तेल निकालते हैं उसी प्रकार मदन फल की गिरी का तेल निकाल कर उसे एकाकर लागित की भाँति गारा कर छाटने के लिये प्रदान करे अथवा धूप में सुखाये हुए मदन फल की गिरी का चूर्ण जीवन्ती दाया के साथ है, यदि पित एकावस्थान में चल गया हो । मदन फल की गिरी के काथ में चिण्डल्यादि दालकर पीने । अरथा मदन फल की गिरी का चूर्ण नीम या आक (हृषिका) के काथ में पीने; यह सत्ररग्नजन्य तथा कफवर्त्य व्याधियों का हरण करने वाला योग है । अथवा मदन फल की गिरी का चूर्ण महुआ, कास्मीरी और द्राक्षा हन्में काप के साथ सेवन करे । यह मदन फल का वसन सबध में विवान रखन किया है ॥७॥

जीमूतकुसुमचूर्णं पूर्ववदेष शीरेण, निष्ठृतेषु
शीर्यवाणूं, रोमरेषु सन्नानिकाम्, अरोमरेषु दध्य-
चर, दरितपाण्डुषु दधि तत्काशयसंसूष्णो या सुरां,

कफारोचककासश्वासपाराङुरोगयद्मसु; पर्यागतेषु
मदनफलमज्जवदुपयोगः । तद्वदेव कुटजफलविधा-
नम् । कृतवेधनानामप्येष पव्र कल्पः । इद्वाङु-
कुसुमचूर्णं वा पूर्ववत्, एवं क्षीरेण, कासश्वास-
च्छर्दिकफरोगोपयोगः ॥७॥

देवदाली के (सूखे हुए) पुष्पों का चूर्ण पहले की तरह (प्रत्यक्षुपादि तीन द्रव्यों के काथ के साथ) अथवा दूध के साथ देकर वमन करते । फल परिषक हो जाने पर उनसे दूध यवागृ वनाकर देवे । बहुत रोम युक्त हो तो दूध में उत्ताल कर मलाई को प्रदान कर । रोम भड़ जाने पर (उनसे दूध सिद्ध कर दही बनाकर) दही का जल प्रदान कर । जब फल हरित पाण्डु वर्ण हों तो उनसे दही बनाकर दे अथवा उसके काथ से सिद्ध की हुई सुरा प्रदान करे; (इन योगों से) कफ, अरुचि, कास, श्वास, पाण्डुरोग और राजयक्षमा (हतने रोगों में वमन के द्वारा लाभ होता है) । परिषक फल हो जाने पर इनकी गिरी का उपयोग मैनफल की गिरी की तरह करे । इसी तरह कुटज फल (इन्द्रव) का भी विधान समझो । कृतवेधन (कड़वी तोरी) का भी ऐसा ही (देवदाली फल के अनुसार) उपयोग करे । तथा इद्वाङु (कड़वी चुंबी) के फूल का चूर्ण पहले की तरह दूध के साथ ले । इससे कास, श्वास, वमन और कफ रोगों में बहुत उपयोग होता है ॥७॥

धार्मार्गवस्त्र्यापि मदनफलमज्जवदुपयोगो विशेष-
तस्तु गरगुल्मोदरकासश्वासश्लेष्मामयेषु व्यायौ च
कफस्थानगते ॥८॥

धार्मार्गव (राजकोणातकी, पीले फूल की कड़वी तोरी, *Luffa Amara*) का भी मदन फल की गिरी की तरह उपयोग विशेष करके गर (कृत्रिम विष), गुल्म, उदर, कास, श्वास, कफ रोग और कफ स्थान में पहुँचे हुए वात रोगों में होता है ॥८॥

कृतवेधनफलपिप्पलीनां वमनद्रव्यकथायपरि-
पीतानां चहुशश्वर्णमुत्पलादिषु दत्तमाद्रातं वामयति,
तत्त्वनववद्वदोपेषु यवागृमाकराठातीतवत्सु च
विद्यात् । वमनविरेचनशिरोविरेचनद्रव्याण्येवं
वा प्रधानतमानि भवन्ति ॥९॥

कृतवेधन (शेतुपुष्प की कड़वी तोरी, *Luffa Echinata*) के फल की मज्जा को अन्य वमन द्रव्यों के कपाय से बहुत भावना देकर (सुखाकर) चूर्ण करे । फिर उस चूर्ण को कमल आदि पुष्पों में रखकर सुंधाने से वमन हो जाता है । जिसके दोष बहुत प्रकृतिही गये हैं तथा जो आकण्ठ यवागृ पान किया है ऐसे पुष्प में इस योग का उपयोग होता है । इसी प्रकार (तुल्यगण द्रव्यों के कपाय से भावना देने पर) वमन, विरेचन और शिरोविरेचन द्रव्य वलवत्तर हो जाते हैं ॥९॥

वक्तव्य—परिचित—भावित । प्रधानतमानि भवन्ति—
अपना कार्य करने में घलवान् बन जाते हैं । भावना के संबंध

१ पूर्ववदेव ।

में दृढ़बल घरकसंहिता में लिखते हैं—भूयश्चैषा वलाधानं कार्यं
स्वरसमावनैः । सुभावितं शत्पमपि द्रव्यं स्वादुष्कर्मकृत ॥ स्वरसेत्सु-
ल्यवर्यैर्कां तस्माद् द्रव्याणि भावयेत् ॥ (कल्पस्थान, अध्याय १२) ।

भवतश्चात्र—

वर्मनद्रव्ययोगाणां द्रिगियं संप्रकीर्तिता ।
तां विमज्ज्य यथाव्याधि कालशक्तिविनिष्ठ्यात् ॥१०॥
कायायैः स्वरसैः कल्पैश्चर्णैरपि च बुद्धिमान् ।
पेयलेख्याद्यभोज्येषु वमनान्युपकल्पयेत् ॥११॥
इति सुश्रुतसिद्धियां मृत्यानेन वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयो
नाम त्रिचत्वारिंशत्मोऽध्यायः ॥४३॥

वमन द्रव्यों के योगों का यह केवल दिग्दर्शनमात्र यहाँ
वर्णन किया है । इस (सूत्रस्य से वर्णन किये हुए वमनद्रव्य-
विकल्पविज्ञान) को बुद्धिमान् वैद्य विभक्त करके फिर भिन्न
भिन्न रोगों में (रोग) काल और (रोगी की) शक्ति का
निर्णय कर फिर वामक द्रव्यों को कपाय, स्वरस, कल्प, चूर्ण
(तथा अन्य धृतादि) के स्वरूप में व्याय पेयादि भोज्य द्रव्यों
के साथ प्रयुक्त करे ॥१०,११॥

वक्तव्य—विभज्य—विवेचनात्मक अधिक गाहा अभ्यास
करें ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुवंद्रहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषादीकायां वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयो
नाम त्रिचत्वारिंशत्मोऽध्यायः ॥४३॥

चतुर्थत्वार्थशतमोऽध्यायः ।

अथातो विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयमध्यायं
द्याव्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से विरेचनद्रव्यविकल्प (भेद) विज्ञानीय
नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान्
धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

अस्तु त्रिवृत्सुलं श्रेष्ठं मूलविरेचने ।
प्रधानं तिल्वकस्त्वक्षु फलेष्वपि हरीतकी ॥२॥
तैलेष्वेररडजं तैलं स्वरसे कारवेल्लिका ।
सुधापयः पयःसूक्तमिति प्राधान्यसंग्रहः ॥३॥
तैयां विधानं वद्यामि यथावद्वनुपूर्वशः ॥४॥
(श्रेष्ठविरेचनद्रव्य) विरेचनीय मूलों में रक्तर्णा
त्रिवृत् का मूल श्रेष्ठ है; (विरेचनीय) त्वचाओं में तिल्वक
(स्वल्परोप) की त्वचा प्रधान है; (विरेचनीय) फलों में
हरीतकी प्रधान है; (विरेचनीय) तैलों में एरण्ड का तैल
श्रेष्ठ है; (विरेचनीय) स्वरसों में करेले का स्वरस श्रेष्ठ है;
(विरेचनीय) दुर्घों में सेहुण्ड का दूध प्रधान है ।
यह (विरेचनीय द्रव्यों का) प्रधान संग्रह है । इनके विधान
को क्रम से यथाविधि वर्णन करते हैं ॥२,३,४॥

वैरेचनद्रव्यरसानुपीतं
मूलं महत्वैवृतमस्तदोषम् ।

१ वान्तिद्रव्यविकल्पानां । २ विधानमेष्ट वद्याम् । ३ विरेचन-
स्वरसकायीता गाढ़मूलं विवृता कालयुगम् । चूर्णकृतां नागर-
सैन्यवाह्या पिवेत्तरेनिलव्यापिषुः ॥

चूर्णहृतं सैन्धवनागराट्-
मस्तैः पिवेन्मायतरोगुषुः ॥५॥

इत्तोर्धिकारैमधुरे रसैस्तत्
ऐते गदे शीरुतं पिवेत् ।

युहूच्यरिएप्रिफलारसेने

सव्योपमूर्चं कफजे पिवेत्तरे ॥६॥

अन्य विरचनीय द्रव्यों के रस में भावना दिया हुआ मोटे
नियोग का निर्दोष मूल (मूल के ऊपर की छान) चूर्ण करके
उसमें सैंधा नमक और सोड (का चूर्ण) मिलाकर अम्लरस
से यातरोग से पीड़ित मनुष्य सेवन करे ॥५॥ पिस्तोगा से
पीड़ित ही तो इत के पदार्थों के साथ या मनुष्य रसों के साथ
अयवा दृध के साथ उस चूर्ण का सेवन करना चाहिये,
और कफ दोष से पीड़ित ही तो नियोग का चूर्ण गिलोय,
नीम और रिफला हतके काष में विकृत और गोमूथ दाल्वर
पीता चाहिये ॥५॥

त्रिवर्णकञ्जयूपयुक्तमेतद्

गुणेन लिहादनवेन चूर्णम् ।

प्रस्थे च तन्मूलरसस्य दस्या

तन्मूलकस्कं कुड्यपमालम् ॥७॥

कपोनिमिते सैन्धवनागरे च

विपाच्य कल्पीहृतमेतद्यात् ।

तंतकल्पमागः समहौपधार्थः

ससैन्धव्यो मधुयुतथ ऐयः ॥८॥

त्रिवर्णक (त्रिवातक—दालचीनी, तेजपत्र और इला
यची) और शूषण (विकृत—सोड, मिरच और पिपली)
इनके साथ पूर्णे नियोग का चूर्ण पुराने गुड़ के साथ मिला
कर (त्रिवर्ण, विकृत और गुड़ का एक भाग और विहृत
चूर्ण का एक भाग) सेवन करे। अयवा नियोग का स्वरस
एक प्रस्थ (१२ तोला) ऐकर उसमें नियोग का कल्प
एक कुड्यव (१६ तोला) ढाले और सैंधा नमक तथा सोड
एक एक कर्ष (१ तोला) छोड़कर पकावे। जब गाहा (कल्प
की भाँति) हो जाय तब उसमें से (दोपवलातुरूप) सेवन
करे। अयवा एक भाग त्रिवर्णकल्प में आधा भाग सोड
मिलाकर सैंधव और गोमूथ के साथ सेवन करे ॥७,८॥

समाख्यिवृद्धागरकामयाः स्यु

र्मागार्थकं पूर्णकलं सुपकम् ।

विद्वसारो मरिचं सदार

योगः ससिन्धूद्रव्यमूर्चयुक्तः ॥९॥

विरेचनद्रव्यमध्यं तु चूर्ण

रसेन तेऽपां भिन्नजा विमूद्य ।

१ स्वादुपायेषामि नौनीविकरे ऐते शकाशीरुकों निवेदा
२ शौद्धार्दिष्टस्त्रिलालालालुका मूद्दैः योग करने व्योवहारा, ३ कायवस्त्रे
कुड्य तत्त दायुषुस्ता दायाग्रार सैन्धव च । वेदुर्सर्व यात्वेतदन
स्वाक्षीभृत तत् प्रयोग्य तत्तस्तु । ४ विहृतक्षे नागरायगुल
सैन्धवो मूर्चयुत मरय । ५ समे विहृतगर

तन्मूलसिद्धेन च सर्पियाऽऽकं

सेव्यं तदाये गुटिकीहृतं च ॥१०॥

गुडे च पाकाभिगुये निधाय

चूर्णहृतं सर्पिगदे विपाच्य ।

शीतं श्रिगानाकमयो विमूद्य

योगानुरूपागुटिकाः प्रयोज्याः ॥११॥

नियोग, सोड और हरहा प्रयोक एक भाग, सुपक सुगारी,
विशालीन, मरिच और देवदार, आया आपा भाग इनका
चूर्ण सेव्य और गोमूथ के साथ सेवन करे ॥११॥ विरेचनद्रव्यों
के चूर्ण को उड़ीकर इस की भावना देहर उम्बूर्ण में उनकी
जड़ से सिद्ध किये हुए शूत को डालकर गोली बनावे और
विरेचन के लिये हुए शूत के साथ सेवन करे ॥१०॥ अयवा चामीनी
होते हुए गुड में अम् चूर्ण को दानदर पढ़ाने और ढंडा होते
समय उसमें दालचीनी, तेजपत्र और द्वलायची (का चूर्ण
सुगार उपर ढंडे होने के लिये किराता आधदरक ही उत्ता)
मिलाकर जैसी चाहिये वैसी गुटिका बनाकर उपयोग करे ॥११॥

वैरेकीयद्रव्यचूर्णस्य भागं

सिद्धं सार्थं कायथमगैश्वतुमिः ।

आमूद्धीयात् सर्पिया तद्गृतेन

ताकायोप्मस्वेदितं सामितं च ॥१२॥

पाकप्राप्ते फाणिते चूर्णितं सत्

क्षितं पकं चावतारं प्रयत्नात् ।

शीतीभूता मोदका हृदयगन्धा ।

कायांस्त्वेते भद्रपक्षपा समामात् ॥१३॥

(त्रिवृश्यामादि) विरेचन द्रव्यों का चार भाग चूर्ण
देहर उसमें सिद्ध किया हुआ विरेचन द्रव्य का एक भाग चूर्ण
तथा विरेचनद्रव्य के काष से (स्वेदीयंत्रमें) स्वेदित
किया हुआ गेहूं का चूर्ण इनको विरेचनद्रव्यकाष में सिद्ध
किये हुए शूत में मर्दन कर जब गुड की चायनी पकाव पर आवे
तय उसमें उस (शूत में मर्दन किये हुए) चूर्ण को ढात दे
और पक हो जाने पर जब से उतार ले और जब ढंडा होने
लगे तब (उसमें दालचीनी, तेजपत्र द्वलायची सुगारित द्रव्य
छोड़कर) उसके द्रव्याघोषक बनावे। ये सज्जे परं विरेचन
के लिये भक्षण करने के योग होते हैं ॥१२,१३॥

घटदय—गानिन-गोमूथचूर्ण-गोमूथ चम्ता कुटिता

शोधितात्त्वं । प्रोक्तितात्त्वं विनिरुद्धाक्षतिना समिता सूक्ता ।

(राजनिष्ठ) । गेहूं का भैदलः ।

स्वेतं तेऽपां परिमाव्ये मुद्रान्

यूपः ससिन्धूद्रव्यसर्पिणिः ।

वैरेचनेऽन्यैरपि वैदलैः स्या-

देवे विद्वयाद् यमनौपायैषै ॥१४॥

विरेचनद्रव्यों के रस (स्वरस या दाय) में झूर्णों की
भावना देहर उसका यूप सैंधा नमक और शूत के साथ
(विरेचन के लिये) इष्ट होता है। उसा अन्य द्विदल घास्यों को

१ रसे च तेऽपां परिमाव्य

भी विरेचनद्वयरस की भावना देकर विरेचन के लिये चूप के स्वस्थ में प्रयुक्त कर सकते हैं । वर्मन के लिये वर्मग्राह्यों की भावना देकर चूप प्रयुक्त कर सकते हैं ॥१४॥

सिंच्चा द्विवेद्युं परिलिप्य कर्त्तके-

रिभरितजातैः प्रतिवद्य रज्ज्वा ।

पञ्चं च सल्यद्य पुटपाकयुक्त्या ।

खादेतुं तं पित्तगदीं सुशीतम् ॥१५॥

गत्ते की चीच से दो भागों में चारकर उसके बीच में नियोथ के कर्क का लेप कर और ढोरी से चांधकर पुटपाक विधि से उसे ठीक पकाकर ठेट होने पर पित्त का रोगी उसको सेवन करे ॥१५॥

वर्कवद्य—पुटपाकविधि—पुटपाकस्य भाष्येण देहस्थांगारवर्णता ।
ऐप न दवेतुल रथुं कुर्याद्गुडमात्रम् ॥ काञ्चनीवटगम्बादिपैवेष्टन्
मुतमम् ॥ (गार्भधर) ।

सिताजगन्धात्यकृतीर्णीविदारीविवृतः समाः ।

लिशान्मधुवृत्ताभ्यां तु तुद्वद्वहज्जवरशान्तये ॥१६॥

शक्तरा, इन अजनायन, वैशलोचन, भूमिकुमाण्ड और नियोथ सब समझाग देकर तृपा, दाह और ज्वर की शांति उनके लिये मधु और घृत के साथ सेवन करे ॥१६॥

शक्तरात्मौद्रसंयुक्तं विवृद्यूर्णावच्छूर्णितम् ।

देवनं सुकुमाराणां त्वक्प्रयमित्यांशकम् ॥१७॥

शक्तरा और शहद के साथ नियोथ का चूर्ण खिलाकर उसमें धौंया भाग दालचीनी, तेजपत्र और मिरच का चूर्ण मिलावे; यह सुकुमार मनुष्यों के लिये विरेचन है ॥१७॥

पचेषुद्यं सिताज्ञौद्रपलार्धकुडवान्वितम् ।

विवृद्यूर्णयुतं शीतं पित्तघ्नं तद्विरेचनम् ॥१८॥

शक्तरा एक पल (चार तोला) और मधु आधा कुडव (१५ तोला) लेकर उसमें नियोथ का चूर्ण (सब का चीथाई) दालकर अवलोह बनावे और ढंडा होने पर उसका सेवन करे । यह पित्त को नाश करने वाला विरेचन है ॥१८॥

वर्कवद्य—प्रथम मिश्री में पानी दालकर उसकी चाशनी बनावे । किं उसमें विवृत का चूर्ण ढोड़ दे । तत्पश्चात् ज्वर चामनी ठंडी हो जाय, तब उसमें मधु ढाले ।

विवृद्यूर्णावामाक्षारद्युर्दीपिष्पलीर्मधुनामुयात् ।

सर्वशेषेभिकाराणां शेषुमेतद् विरेचनम् ॥१९॥

लिशीतर, बृद्वदाकू, यवकाश, सौंद और पिपली इनका चूर्ण शहद के साथ चाटे । यह लेह सर्व प्रकार के कफविकारों के लिये श्रेष्ठ विरेचन है ॥१९॥

वीजाद्यपथ्याकाशर्यथात्रीदाडिमकोलजान् ।

तैलभृत्यान् रसानस्त्रफलैरावाप्य साध्ययेत् ॥२०॥

धनीभृतं त्रिसौगन्ध्यं विवृद्यौद्रसमन्वितम् ।

लेषुमेतत् कफप्रायैः सुकुमारैविरेचनम् ॥२१॥

१ इसुं दिपा सारपियाऽवलिय विवृताकैः प्रतिस्थानं चाटे ।
फक नयकु पुटपाकत्तमेण खालेन वितरेगमितः ॥

पूर्ण पक (वीजाद्य) हुए हरटे, काञ्चनी, अंबले, अनार और वेर इनके (पक प्रस्त) रसों (स्वरस या क्षाय) को प्रणाल के (चार पल) तैल में भर्जित करके उसमें (वीज-पूरादि) अम्ल फलों का कल्प (चार पल) ढाल दे ॥२०॥ यह गाढ़ा हो जाय तब उसमें विसुगन्ध (दालचीनी, तेजपत्र और द्वलायची का चूर्ण एक कर्प) और विवृत (का चूर्ण चार पल) ढोड़ दे और ढंडा होने पर शहद (दो पल) मिला दे । यह अवलोह कफभूयिष्ट रोगों से पीड़ित कोमल मनुष्यों को विरेचन के लिये चाटना चाहिये ॥२१॥

नीलीतुल्यं त्वरोलं च तैस्तिवृत्ससितोपला ।

चूर्णं संतर्पणं कौद्रफलाम्लं सन्निपातनुत् ॥२२॥

नीली के समान दालचीनी और द्वलायची को ले और सबके समान वर्करामुक नियोथ का चूर्ण मिलाकर मधु और (वीजपूरादि) अम्ल फल के रस के साथ सेवन करे । यह लेह तृस्मिकारक और सन्निपात की नाश करने वाला (विरेचन) है ॥२२॥

विवृद्यूर्णावामासिताळप्णाविफलामाक्षिकैः समैः ।

मोदकाः सन्निपातोर्धरक्तपित्तज्वरापहाः ॥२३॥

नियोथ, विधारा, पिपली और विफल (इनका चूर्ण) समान भाग में लेकर शक्तरा और मधु से उसके मोदक बनावे । ये विरेचक मोदक सन्निपात, कर्वगामी रक्तपित्त और ज्वर का नाश करते हैं ॥२३॥

चक्कवद्य—डलणाचार्य के मतामुसार मधु और शक्तरा सब ओषधियों से दुगुनी लेनी चाहिये ।

विवृद्यूर्णागाम्ब्रयः प्रोक्ताविफला तत्समा तथा ।

क्षारकृप्णाविडज्ञानि संचूर्णयं मधुसर्पिण्य ॥२४॥

लिशाहुडेन गुटिकाः कृत्वा वाऽप्यथ भक्षयेत् ।

कफवातकृतान् गुलमान् लीहोदरहलीमकान् ॥२५॥

हृत्यन्यानपि चाप्येतन्निरपयं विरेचनम् ।

विवृत तीन भाग, विफला तीन भाग, यवक्षार एक भाग, पिपली एक भाग, विदंग एक भाग इनका चूर्ण करके मधु और घृत के साथ चाटे, या गुड़ से गुटिका बनाकर सेवन करे । यह चूर्ण या गोली कफजन्य तथा वातजन्य गुल्म, लीहोदर, हलीमक (पाण्डु रोग का भेद) तथा अन्य रोगों को भी नाश करती है । यह विरेचन किसी भी प्रकार से उपद्रव नहीं करता है ॥२४, २५॥

चूर्णं इयामाविवृद्धीली कट्टी मुस्ता दुरालभा ॥२६॥

चव्येन्द्रवीजं विफला सर्पिमासरसामूभिः ।

पीतं विरेचनं तद्वि रुक्षाणमपि शस्यते ॥२७॥

विधारा, नियोथ, नीलिनी, कटुरोहिणी, नागरमोथा, दुरालभा (धमासा Alhagi Maurorum), चव्य, हृत्यन्य और विफला इनका चूर्ण घृत, मासिरस और जल के साथ मेघन करे । यह विरेचन हृत्यन्य के लिये भी प्रयोग होता है ॥२६, २७॥

चक्कवद्य—स्वप्रकृति मनुष्यों को घृत और गांभूरस

के साथ और विषयमहनि मनुष्यों का जल क साथ दग्धा चाहिए।

दीरेचनिकनि काथभागा शीताखयो मता ।

द्वी फाणितस्य तज्जापि पुनरप्तव्यधित्येत् ॥२८॥

तत् साहुतिद्व विश्वाय शीत इत्वा निधापयेत् ।

कलसे कृतसस्कारे विभज्यर्द दिमादिमौ ॥२९॥

मासादूर्ध्यं जातरेस मधुगन्ध वरासवम् ।

पित्रेदसावेव विधि क्षारसूनासवेष्वपि ॥३०॥

निग्रात्तर का ठड़ा हुआ काथ तीन भाग और छुट की राब (काकड़ी) दो भाग मिलाकर अपि पर पकाव । जब टीक सिद्ध (अधिविष्ट) हुआ मालूम हा । तब सस्कार किये हुए कलसे में ढालकर सदै या गरम छतु क अनुमार मधान करे । एक मास से ऊपर काल हाँसे पर जब उसमें रस तथा मधु की सी गथ उत्पन्न हो जाय तब उसका सवन करे । क्षार मूत्र तथा अम्य आसर्वों क सवन में भी हमी प्रकार बनाने की विधि जाननी चाहिए ॥२८-३०॥

चक्कट्य—मस्कार—कलमी को धाकर सुखाकर मधु पिपली का लेपन कर और अन्न में अगुर स भूपन कर । विष्वर्द्ध दिमादिमौ—शीतकाल में कलमी धाकावागि में एक महीना भर रखनी चाहिए और गरमी के काल में पद्धत दिन रखनी चाहिए ।

विरेचनिक मूलाना वाये मापान् सुभावितान् ।

सुधीतास्तकपायेण शालीना चापि तण्डुलान् ॥३१॥

अवस्थुद्यैकत पिण्डान् द्वयागुष्कान् सुचृणितान् ।

शालितण्डुलचूर्णं च तत्कायायोपमसाधितम् ॥३२॥

नस्य पिष्टस्य मागाळीन् किंग्रभागविमिथितान् ।

मण्डोदकार्थं वाय च दद्यात्तस्यमेकत ॥३३॥

निदध्यात्कलसे ता तु सुरा जातरसा पित्रेत् ।

एष एव सुराकल्पो घमनेष्वपि कीर्तित ॥३४॥

विरेचनदर्थ्यों की जड़ के काङ्ग में भावना दिये हुए उड़दां की तथा उसी विरेचनकाथ से साफ़-पाये हुए चावलों को एक करके (ओवली में) कूट के और उस पिण्ड का सुखाकर चूर्ण करे किर (दूसरे) शालि क चावलों का चूर्ण लकड़ उसी विरेचनीकाथ की भाष पकाव । पिर उम्य (मापुक गालितण्डुलचूर्ण तथा क्षारसवदित्यालिचूर्ण की) पिण्डी भी तीन भाग लेकर उम्यम सुराजी एक भाग मिला और सुरा बनाने के लिये काथ भी उसी क साथ मिलाकर कलग में रख द । जब सुरा सिद्धरस हो जाय तब उसका पान कर । इनी प्रकार बनन के लिये याय सुरा भी बमनदर्थ्यों के काथ में साधन करके सिद्ध हो सकती है ॥३१-३४॥

मूलानि निवृद्धादीना प्रथमस्य गणस्य च ।

महत् पञ्चमूलस्य मूर्याशार्ङ्गप्योरपि ॥३५॥

सुधा हैमवर्ती वैव त्रिफलातिविषे वचाम् ।

सहृत्यैतानि भागी द्वी कारयेदेकमेतयो ॥३६॥

१ त नस्तमापद मधुगामिकम् २ निष्ठा०

कुर्यानि धाथमेकसिद्धेकसिथर्णमेत् तु ।

शुण्णास्तासिस्तु नि वाये भावयेद्दुशो यवान् ।

युक्तगणा सृद्धभृता तेया भागाख्यो मता ।

चतुर्थं भागामावाप्य चूर्णानामनु(त्र)कीर्तितम् ।

प्रतिप्य कलसे सम्यक् समन्न तदनन्तरम् ।

तेयामेव कायायेण शीतलेन सुयोजितम् ॥

पूर्ववत्सचिदध्यातु शय सौधीरक दि तत् ।

(साधायन मध्यमनीयोक) निष्ठादि की जड़ प्रथम

(विदरिगणादिगण) क ओरप्यों की जड़ वहस्तमूल, म

शीर्षांश्च (पूतिकरज) इनकी जड़ ॥३५॥ सुधा (सेहुड

हैमवती (उषरेरेवाद) त्रिफला अतिनिपि और वच

सर को लेकर इनके दो भाग कर । उसमें स एक भाग

॥३६॥ निष्ठाप बनाने और एक भाग का चूर्ण कर ने । ३

निष्ठाप में कूट हुए जीवों को कहै वार भावना ने ॥३७॥

फिर उनको सुखाकर थोड़ा भूल ले और उनक ताल भ

क साथ (पूर्वक) चूर्ण का एक भाग मिलान ॥३८॥ फि

उस चूर्ण की (पूर्वक पढ़ति क अनुसार मरहत) प

घड में ढालकर उसमें (निष्ठादि क) काय दो छड़ा कर

छोड़ ॥ ३९॥ और पूर्वक रीति स सधान कर । इसक

सौधीरक कहते हैं ।

चक्कट्य—म वन विधि—मूल्यों की भावना मामान्यतय

निष्ठ प्रकार स दी जाती है—निवतप शुक रात्रि रात्रि

निष्ठपनयेत् । शुक चूर्णित द्रव्य मासाः भावन विधि द्रवेन वात

द्रव्यमायीभूतात्रा ब्रजेन द्रव्यमाय निर्भित विष्विभावनाविधौ

भावद्रव्यमाय वाय क श्यालहुण जलम् । अटाशोपित काय

भावना तेव भावना ।

पूर्वोक्त वर्गमाहत्य द्विधा क वैकमेतयो ॥४०॥

भाग सम्मुद्र सस्तु यैवे स्थान्यामधिश्वयेत् ।

अजश्चङ्गा वायायेण तमैभ्यासिद्वय साधयेत् ॥४१॥

सुसिद्धद्वयावतार्येतानीपथिभ्यो विवेचयेत् ।

प्रिस्यु सतुगान् सम्यक् तत्त्वान् पूर्वविमितान् ॥४२॥

पूर्वोक्तीपथमायस्य चूर्णं द्रव्य तु पूर्वयत् ।

तेनेत्र सह यूपेण कलसे पूर्ववत् विषेत् ॥४३॥

वाया जातरस वायि तचुयोदकमादिशेत् ।

तुयाम्बुसीधीरकयोविधिरेण प्रकीर्तित ॥४४॥

पद्मानात् समसरात्राद्वा ते च पये प्रकीर्तिते ।

पूर्वोक्त (सौधीरक साधन में कहे हुए विवृतादि विष्णि

ग-धारिगण महत्पत्तमूल सूर्यों और गाहाई) यर्ता लेकर

उसके दो भाग को । उसमें स एक भाग का कूटकर तप तुम

जीवों क साथ मिलाकर एक स्थालि में रखें और मेहसिरी

का काय उसमें ढालकर साधन कर (पकाव) ॥४० ४॥ । जब

यह मिल जाये (पक जायें) तब उसको शोपणियों से

छाँट ने । पश्चात् उसके हुए उन सतुर योंगों को अ-ठी तरह

स कृत्यर उसमें (उनक तीन भाग में) पूर्वोक्त शोपणियों का

है ॥५८॥ शेषम् और पित्तजन्य रोगों से पीड़ित मनुष्यों को इसे स्वाक्षर लगाए दूष पीणा चाहिये । (अपृष्ठ लड्डु आदि) भक्षण पदार्थों की तरह होने से अमीर रागियों में भी इसका प्रयोग हो सकता है ॥५९॥

तिस्थकस्य त्वच शुष्पेऽमन्तर्वलविवर्जितम् ।

चूर्णयित्वा तु द्वौ भागौ तत्कथायेण गालयेत् ॥६०॥
तृतीय भावित तेन भाग शुष्पु तु भारितम् ।

दशमूलीकपायेण त्रिवृद्धत् सप्रयोगजयेत् ॥६१॥

लाघ (मूल) की अन्तर्वल क्षाङ्ककर सूखी छाल को चूर्ण करके उस चूर्ण के नीं तिहाई भाग का उसी के काष में गिरीकर वह काष छाल थे ॥६०॥ और इस काष में शेष चूर्ण को भावना देकर सुपाए । फिर उस दशमूलकाष में भावना रखे और ग्रीष्म की भावित प्रयोग करे ॥६१॥

विधान त्यनु निर्दिष्ट फलनामामथ वृक्षयते ।

(विरेचनीय) त्वचाओं की विधि (अव तक) वर्णन की गई है । अब आग (विरेचनीय) फलों की विधि वर्णन की जायगी ।

हरीतक्या फल त्वस्थिविमुक्त दोषवर्जितम् ॥६२॥
योज्य त्रिवृद्धिधानेन सर्वव्याधिनिर्वहणम् ।

रसायन पर मेघ्य दुष्टात्मण्यशोधनम् ॥६३॥

गुडली निकाले हुए दायरहित हरट के फल नियोथ की विधि के अनुसार उपयोग करने से सब रोगों का नाश होता है । हरीतकी का प्रयोग परम रसायन तुदि के लिये वित्कर और हुए तथा अन्तर्वल को शोधन करने वाला है ॥६२-६३॥

वृक्षदृष्ट—जैवर्जन—गार्भूर्मरसीर्विषि च यावज्ञवा यूनि विषय यग्नानि च (चरक) । रसायन—ल भाषणो दि शस्त्राना रसानीना रसायनम् (चरक) ।

हरीतकी विड्धानि सैधय नागर त्रिवृत् ।

मरिचानि च तासूद गोमूष्ट्रण विरेचनम् ॥६४॥

हरटा विड्ग सैधय सौंठ नियोथ और मिरच इन मटों का सबन गामूत्र के साथ करने से विरेचन होता है ॥४॥

हरीतकी भद्रदारु कुष्ठ पूर्ण फल तथा ।

सैधय शृङ्खल्येर च गोमूष्ट्रण विरेचनम् ॥६५॥

हरटा नेवार कुण्डु सुपारी सैधय और सौंठ इनको गोमूत्र के साथ सेवन करने से विरेचन होता है ॥५॥

नीलिनीफलचूर्ण च नागरामययोस्तथा ।

लिहादु शुडेन सलिल पश्चात्पुण्य विवेदर ॥६६॥

नीलिनीफल सौंठ और हरटा इनका पूर्ण गुरु के साथ सबन कर और ऐसे गरम पानी पीने ॥६६॥

पित्तव्यादिकथायेण विवेतिपादा हरीतकीम् ।

सैधयोपहिता सूद एव योगो विरेचयेत् ॥६७॥

सैधयनमह गिलाकर हरटे का चूर्च पित्तव्यादित्यके काष एव सबन कर । यह पाना तक्ताल विशेष करता है ॥६७॥

हरीतकी भद्रमासण नागरेण शुडेन च ।
सैन्धवोपहिता वाऽपि सातत्येनाग्निदीपनी ॥६८॥

वातानुलोमनी वृष्ट्या चेन्द्रियाणा प्रसादनी ।
सन्तर्पणकृतारु रोगान् प्रायो हन्ति हरीतकी ॥६९॥

सौंठ गुड या सैधा नमक के साथ निरन्तर सेवन करने से हरीतकी अग्नि का दीपन करती है ॥६८॥ हरीतकी प्राप वातानुलोमक शरीरपुष्टिकर हृद्रियों में प्रसाद डलश कर वाली और (दिवास्वम विषय भोजन आदि) सर्वप्रभाव विहार से उत्पन्न होने वाले रोगों का नाश करने वाली होती है ॥६९॥

वृक्षदृष्ट—वृष्ट—शरीरपुष्टि करने वाली—वृक्षिनिमुख विषय जीवन बृहत गुरु । इर्षण मनसादैत तत्त्वम् वृष्टमुद्धने (चरक) । वृष्ट का सामाज्य अर्थ वृष्टेवृद्धिकर होता है परन्तु यह अपेक्षा हरीतकी के सवध में प्रशस्त नहीं है अर्थात् वृष्टेवृद्धी सौंठों के लिये अद्वितीय है—अजीर्णिनो स्फुरुम लीसन विषकर्षिता सेवनाभयामेने (चरक) । चरक में भी हरीतकी को पैष्टिकी कहा है । सर्तणकुण्डे गोम श्रेष्ठकृष्णरुद्रिक वृष्टेवृद्धिप्रवर तुष्णायामप्रश्नो श्रूतकृष्णरोक्तक । तद्वा क्षेत्रमिति—वृमालव वृग्मालव । इन्द्रियोंवता ऐसे उद्देश्य प्राप्तिक । (चरक) ।

शीतमामलक रुक्त पित्तमेद कफप्रहम् ।

विभीतकमनुष्ण तु कफपित्तनिर्वहणम् ॥७०॥

श्रीएत्यप्यमलकपायाणि सतिकमधुराणि च ।

आंवला ढढा सूक्ष और पिंड मेद तथा कक का नाशक है । वेदा अनुष्ण (न गरा न ढढा) और काँ तथा पित्त का नाशक है ॥७०॥ ये तीनों भी (विकला) ममल कपाय तिक और मधुतरसयुक्त होते हैं ।

विकला सर्वरोगान्नि विभागघृतमूर्च्छिता ॥७१॥

यस्य स्वापन चापि कुर्यात् सततसेविता ।

(विकला के गुण—) विकला (हरटा वेदा और आमलक) निःनु पूत के साथ मिलाकर निरन्तर सेवन करने से सब रोगों का नाश करती है और वह वय के स्वापन करती है ।

हरीतकीविधानेन फलायेय प्रयोगजयेत् ॥७२॥

विरेचनानि सर्वाणि—

सब विरेचनीय फलों का उपयोग इस प्रकार हरीतकी विधि के अनुसार करे ।

—विरेचनावनुरक्तलास् ।

फल काढे समुद्रत्व सिफार्पा निधापयेत् ॥७३॥

सप्ताद्वातप शृण्य ततो मज्जानमुद्धरेत् ।

तैत्र यात्र जले पक्षा तिलयद्वा प्रपीडव च ॥७४॥

तस्योपयोगे वाग्ना यावद्वर्धणि यादवा ।

लिहादेरप्पदत्तेलेन कुष्ठविकुद्कान्वितम् ॥७५॥

सुखोदय चानुपिदेषेष योगो विरेचयेत् ।

विशेष करक लिहाद (अमलानाम) इस से परिष्करा वस्त्रा में उनों को एक सात दिन तक वालुका में रखें ।

में सुखाकर उनकी गिरी निकाल दे । फिर पानी कर या तिर्णों की तरह कोल्हू में पेरेकर उस गिरी से छाले ॥७३,७४॥ इस तेल का उपयोग वारह पूर्व तक हीं के लिये होता है । इसको प्रणालै तथा मुहु कटु मिलाकर चोट ॥७५॥ ज्वर से सोषाता जल पीवे । । विरेचन करता है ।

इतैलं चिफलाङ्कायेन विगुणेन तु ॥७६॥
पीतं तथा ज्वीरसाभ्यां तु विरेचयेत् ।

बुद्धस्ततज्जीवसुकुमारेषु योजितम् ॥७७॥
एक का तैत्ति तिरुनं विक्षना के साथ के साथ या दूध वा या मांसरस के साथ पीवे । इससे भी विरेचन है । बालक, शुद्ध, जलज्ञीय तथा सुखमार प्रहृति वाले । के लिये यह योग प्रशस्त होता है ॥७६,७७॥

प्रानं विधिरुद्दिष्टः ज्वीरणां पृथगु सुश्रुत ! ।
सुश्रुत ! (विरेचनीय) फलों का उपयोग फैले करना ये, इसकी विधि वर्णन की गई । अब दुर्घटों की विधि करो ।

वैचनानां तीक्ष्णानां पयः सौधं परं भतम् ॥७८॥
प्रयुक्तं तद्वन्निति विषवत् कर्मविभ्रमात् ।

ज्वानता प्रयुक्तं तु भग्नान्तभयि संचयम् ॥७९॥
तीक्ष्ण विरेचक द्रव्यों में स्तुहीकीर सर्वथ्रेष्ठ है ॥७८॥
के कर्म का ज्ञान न होने के कारण वज्र के स्थाथ का योग किया हुआ उसका ज्वीर विष के समान नाश करता परन्तु ज्ञानी वैद्य के हाता उपयोग करने से वह क्षीरों के भारी संचय को भी हुन्त भेदन कर देता है तथा शरोगों को भी दूर करता है ।

धक्कान्त्य—सुधावृक्ष द्वी प्रकार का होता है, एक बहु-
एक और दूसरा तीक्ष्णाल्पकण्टक । यहुकण्टक को सूक्ष्म, या या स्तुही (Euphorbia Ligularia) कहते हैं ।
स्तुहाल्पकण्टक को सेहुण्ड (Euphorbia Antiquorum)
ही है । इनमें से स्तुही या बहुकण्टक अधिक तीक्ष्ण होता — द्रिविषः स मतो वैष्व वहुभित्रव कण्टकः । सुतीहीः कण्टकेरलः
वरो वहुकण्टकः ॥ (चरकसंहिता) । ऐसे हिरवर्य या त्रिवर्ष
मासु के वृक्ष का क्षीर शिरियकहु के अन्त में ग्रहण करना
शहिष्य—तं विषायाहेतु क्षीरं शरेण मतिमान् शिषकः । द्विर्व वा
शिषक वा शिशिरान्ते विशेषतः ॥ (चरक) ।

तीक्ष्णः पञ्चमूल्यास्तु वृहस्योत्तेकशः पृथक् ॥८०॥
कण्टयैः समभागं तु तद्वज्रैर्विशोपितम् ।

अम्लादिभिः पूर्ववत्तु प्रयोज्यं कोलसंमितम् ॥८१॥
महतपंचमूल, व्यूहवृहती और सूक्ष्मवृहती हून (सात)
वृहतों के पृथक् पृथक् कापाय बनाकर एक साथ मिला दे
और उसमें एक के हुत्य (एक सप्तमांश) योहर का दूध
बालक उसे अंगारों पर सुखा ले और एक कर्व की भाँति में
बहु पदार्थों (सौनीरक, तुपोदक, सुरा, मातुलुंगरस, आम-

लकरस इत्यादि के) साथ पूर्ववत् (निषेय की विधि के अनुसार) प्रयुक्त करे ॥८०,८१॥

महावृक्षपयपीतै यैवाग्रस्तरहुत्यैः कृता ।

पीता विरेचयत्याग्नु शुद्धेनोत्कारिका कृता ॥८२॥
लेद्वे वा साधितः सस्यफ्ल लाहीकीरसिताधृतैः ।

भावितास्तु स्तुहीकीरपिष्पल्यो लघणान्विताः ॥८३॥
चूर्णं काम्पिल्यकं वाऽपि तत्पीतं गुटिकीरुतम् ।

योहर के दूध से भावना दिये हुए आयतों से छाला हुई यथागृ; अथवा (भावना दिये हुए गेहूं के) गुड़ में बनाई हुई उल्कारिका (सप्तमी); अथवा योहर का दूध, शर्करा और पून हनसे योन्य विधि द्वारा सिद्ध किया हुआ होए; अथवा योहर के दूध में भावना दी हुई लवण युक्त पिष्पली; अथवा योहर के दूध में भिगोकर बनाई हुई कमीले की गोली सेपल करने पर तल्काल विरेचन होता है ॥८२,८३॥

सप्तला शहिनी दन्ती त्रिवृदारग्रधं गवाम् ॥८४॥

मूत्रेणाग्रात्य लसादं लाहीकीरे ततः परम् ।

क्षीर्णं तेनैव चूर्णेन मांस्यं वसनमेव च ।

वाद्यायावृत्य वा सम्यद्मृदुकोष्ठो विरिच्यते ॥८५॥

गिकेकाई, शंखिनी, दन्ती, निषेय, अमलतास इनकी (पहले) सात दिन तक गोमूत्र में भावना हो; फिर (सात दिन) योहर के दूध में भावना हो । पश्चात् (चूर्ण करके) उस चूर्ण को फूल पर ढालकर सूखने से या उसी चूर्ण से वस्त्र को भावना देकर परिधान करने से (आहृत्य) व्युतुकोष्ठ मनुष्यों को विरेचन हो जाता है ॥८४,८५॥

ज्वीरत्वक्फलमूलानां विधानैः परिकीर्तिः ।

धन्वेद्य सस्ययोगादीन् यथावदुपयोजयेत् ॥८६॥

सोगादि (वातों के बलावल) को देखकर (विरेचनीय) क्षीर, लवचा, फल और मूल हूनके वर्णन किये हुए विधानों को जहाँ जिसका प्रयोग उचित हो, वहाँ उपयोग करे ॥८६॥

त्रिवृच्छाणमितास्तिस्तस्तिस्तस्त्रिपलात्वज्जः ।

विड्धपिष्पलीकारदारणास्तिस्तस्त्रिचूर्णिताः ॥८७॥

लिलात् सप्तिर्मधुभ्यां च मोदकं वा गुडेन धा ।

भक्षयेत्पिष्परीहारमेतज्ज्वेष्ट विरेचनम् ॥८८॥

गुलमान् हीहोदरं कासं हलीमकमरयेचकम् ।

कफचातलतांश्चान्यान् व्याधीनेताष्यपोहति ॥८९॥

निषोध तीन शाण (ही तोला), त्रिफला की छाल तीन शाण, विडंग, पिष्पली और यवक्षार तीनों (मिलकर) तीन शाण लेकर उनका चूर्ण करे ॥८७॥ और इत तथा मधु के साथ चाटे या गुड़ से मोदक बनाकर सेवन करे । यह योग निर्यत्रण और श्रेष्ठ विरेचन है ॥८८॥ जो गुलम, हीहोदर, कास, हलीमक, अस्वच्छ तथा कफवातलतांश्चान्यान् अन्य रोगों को नाश करता है ॥८९॥

छृतेषु तैलेषु पयःसु चापि

मध्येषु मूर्खेषु तथा रसेषु ।

२ तद्वारपु शंखितम्.

है ॥५८॥ सेव्य और पित्तजन्य रोगों से पीड़ित मनुष्यों को इसे साकर कर्पर दूष पीना चाहिये । (अपूर लहू आदि) भक्षण पदार्थों की तरह होने से अमीर रोगियों में भी इसका प्रयोग हा सकता है ॥५९॥

तिल्यकस्य त्वच शुष्पै मन्तव्यकविवर्जितम् ।

चूर्णेयित्वा तु द्वौ भाग्यो तत्कारायेण गालयेत् ॥६०॥

शुतीय भावित तेन भाग शुष्क तु भावितम् ।

दशमूलीकपायेण विवृद्धत् सप्रयोजयेत् ॥६१॥

साथ (मूल) की अन्तर्निक छाइकर सूखी छाल को चूर्ण करके उस चूर्ण के नीं तिहाई भाग का उसी का दाप में भिगाकर वह काप छान ले ॥६०॥ और इस काप में गोप चूर्ण का भावना दकर सुखा ले । किंतु उस दशमूलकाप में भावना दूर और ग्रिहोंयों की भावित प्रयोग कर ॥६१॥

विधान त्वनु निर्दिष्ट पानानामथ घट्यते ।

(विरचनीय) खचांगों की विधि (अब तक) वर्णन की गई है । अब आग (विरचनीय) कर्णों जी विधि वर्णन की जायगी ।

हरीतकस्य फल त्वस्थिविमुक्त दोपवर्जितम् ॥६२॥

योज्य विवृद्धिधानेन सर्वव्याधिनिर्वद्धेणम् ।

रसायन पर भेद्य दुष्टात्मणशोधनम् ॥६३॥

गुरुली निकाल हुण दापरहित हरह के पल नियोग की विधि के अनुमार उपयोग बरन से सब रोगों का नाश होता है । हरीतकी का प्रयोग परम रसायन तुष्टि के लिये हितकर और हुण रापा अन्तर्देश का गोपयन बरन वाला है ॥६२-६३॥

यक्तदृ—नैवर्त्तिन—शूलांस्त्रीवीणि कले पले ददाविषि । भानिवरपनन्त्यायमस्त्रिनितानि च । यानदत्तन न्वृत्तिनि निर्वाप्यदात्तनि च (चरक) । एस यन—लायोग्यो दि ग्रन्थाना रसायना । रसायनम् (चरक) ।

हरीतकी विडाहनि मैथथ गागर विष्टृ ।

मरिचानि च तासुर्यं गोमधूषण विरेचनम् ॥६४॥

हरहा विठ्ठा सैपद सांड निशाप और गिर्या इन सबों का सदन गम्भूर का साप बरन से विशेष होता है ॥६४॥

हरीतकी भद्रदाय हुण पूर्ण पूर्णल सत्या ।

मैथथ शृष्टयेर च गोमधूषण विरेचनम् ॥६५॥

हरहा च्वान्द, हुण गुरुती सैपद और सोंड इनका गम्भूर का साप बरन ग विशेष होता है ॥६५॥

नीलिनीरुचूर्णं च गागरामयोद्दाया ।

सिराद् शुद्धेन सन्ति॒ पश्चातुष्प विवेद्रः ॥६६॥

भूविर्वैकल सैंड और हरहा इनका चूर्ण हुक का साप गम्भूर कर और चीड़ गरम दानी बींच ॥६६॥

विषद्यापत्रिविषयायेण विवेतिष्ठा हरीतकीम् ।

मैथथोद्दायिता लघु दप योगो विरेचयत् ॥६७॥

विषद्यापत्रिविषयायेण विषद्यापत्रिविषयायेण का दाप ज्वर और दाता ताकार विशेष करता है ॥६७॥

हरीतकी भद्रयमाणा नागरेण शुद्धेन था ।

सैन्धवोपद्धिता वाऽपि सातत्येनामिदीपनी ॥

घातालुलोमनी वृष्ट्या चेन्द्रियाणां प्रसादनी ।

सन्तप्तेणृतात् रोगान् प्रायो द्विन्ति हरीतकी ॥

सोंड गुड वा सैंधा नमक के माय तिरन्त सेवन करने हरातकी अप्ति का दीपन करती है ॥६८॥ हरीतकी प्रवातानुलोमक शरीरपुष्टिकर हृदयों में सप्ताद उत्पत्त वाली और (दिवास्त्रम द्वितीयों जीवन आदि) संतो आहार विहार से उत्पत्त हीन वाले रोगों का नाश करने वा होनी है ॥६९॥

घक्तद्य—४४—यरिपुष्टि करने वाली—यरिपुष्टिम विषय जीवने वृष्ट्या गुरु । इसमें मनमधैव तत्त्वं वृष्ट्यमुख्यम् (चरक) । वृष्ट्य का सामान्य अर्थ हीर्यदृष्टिकर होता है; पर यह अर्थ हरीतकी के संरक्षण में प्रयोग नहीं है क्योंकि हरीतकी वीर्यकारी सीोंगों के लिये अहितकर है—वरीजिनी स्फुरुण शीर्य विषकरिणा । सनेत्रामयाने ॥ (चरक) । चरक में भी हरीतकी को पांचिकी कहा है । सनरंगहन दोग—प्रमेहकालृपैव वृष्ट्यावामय वरा । दुष्टायमप्रावामय शूलसूखमरोवत् ॥ वाऽपि वृष्ट्यमित्रादेवमालयं गुरुसाक्रान्ता । इदिव्योत्तसा लेणे दुखमें प्रसीनक ॥ (चरक) ।

हरीतमामलक रूद्ध पित्तमेद धफापहम् ।

विभीतकमनुष्प तु कफपित्तनिर्वद्धेणम् ॥७०॥

शीर्यस्यस्त्रलयायाणि सतित्तमधुराणि च ।

आंवला ईंडा लूदा और पित्त मेद तथा कफ का नाश है । बहदा अनुला (न गरम न ईंडा) और रात तथा पित्त का नाशक है ॥७०॥ ये सीनों भी (प्रिला) अमल कराये तित और मधुरसकुप होते हैं ।

प्रिला सर्वदोगमी त्रिमागपृतमूर्च्छिता ॥७१॥

यवस्स रसायन चापि कुर्यात् सततसेविता ।

(प्रिला के गुण—) प्रिला (इरहा बोहा वीं आमलक) निगुणे इन के साप मिलाकर विस्तर रोगन करने से सब रोगों का नाश करती है और यह को स्पायन करती है ।

हरीतकीविषयानेन फलायेष प्रयोजयेत् ॥७२॥

विरेचयानां सर्वाणि—

सब विरेचनीय कर्णों का उपयोग इस प्रदार हरीतकी विधि के अनुमार करे ।

—विरेचयाद्युत्तरुग्नात् ।

प्रद वाले समुदूरा मिट्टाया त्रिपापयेत् ॥७३॥

सत्तामातप शुष्प ततो मद्यानुदरेत् ।

तेल ग्राह जले गर्वया तिलयहा प्रपीड्य च ॥७४॥

तस्योपयोगो वानानि यायकृत्याणि ग्राहना ।

तिलादरण्डनेन शुष्पितिदुकानिवित्तम् ॥७५॥

शुरुदाव यातुपियेदेव योगो विरेपयेत् ।

तिल वाले शुष्पुग (अमल्यान) इस न परिकला दावा में रानी का उद्दर ताल रित ताल वानुका में राव ।

इ में सुखाकर उनकी गिरी निकाल ले । फिर पानी लकर या तिलों की दरह कोल्हू में पेरकर उस गिरी से काठे ॥७६,७७॥ इस तेल का उपयोग बारह घण्टे तक कों के लिये होता है । इसको एरण्डतेल तथा कुछ श्रेकदु मिलाकर चाटे ॥७८॥ ऊपर से सोहाता जल पीवे । ग विरेचन करता है ।

एडतेलं त्रिफलाक्षाथेन त्रिगुणेन तु ॥७६॥
तं पीतं तथा क्षीररसाभ्यां तु विरेचयेत् ।

त्रिवृद्धक्षतक्षीणसुकुमारेषु योजितम् ॥७७॥

एण्ड का तेल तिगुने त्रिफला के काथ के साथ या दूध या मांसरस के साथ पीवे । इससे भी विरेचन है । बालक, वृद्ध, जातक्षीण तथा सुकुमार प्रकृति वाले वों के लिये यह योग प्रशस्त होता है ॥७६,७७॥

लानां विधिरुद्धिष्ठः क्षीराणां श्रेणु सुश्रुत ! । -
हे सुश्रुत ! (विरेचनीय) फलों का उपयोग कैसे करना है, इसकी विधि वर्णन की गई । अब दुर्घों की विधि भी करो ।

रेचनानां तीक्ष्णानां पयः सौधं परं मतम् ॥७८॥
प्रश्रयुक्तं तद्विनित विषवत् कर्मविभ्रमात् ।

त्रिवृन्ता प्रयुक्तं तु महान्तमपि संचयभ्य ॥७९॥

भेदस्याख्येव दोषाणां रोगान् हन्ति च दुस्तरान् ।

तीक्ष्ण विरेचक द्रव्यों में सुहीकीर सर्वश्रेष्ठ है ॥७८॥
के कर्म का ज्ञान न होने के कारण अज्ञ के हाथ का योग किया हुआ उसका क्षीर विष के समान नाश करता । परन्तु ज्ञानी वैद्य के हारा उपयोग करने से वह क्षीर वों के भारी संचय को भी सुरक्षा भेदन कर देता है । तथा ऐसे रोगों को भी दूर करता है ।

वक्तव्य—सुधावृक्ष दो प्रकार का होता है, एक वहु-एटक और दूसरा तीक्ष्णाल्पकण्टक । वहुकण्टक को छुक, श्रांथा या सुही (Euphorbia Ligulata) कहते हैं । तीक्ष्णाल्पकण्टक को सेहुण्ड (Euphorbia Antiquorum) कहते हैं । इनमें से सुही या वहुकण्टक अधिक तीक्ष्ण होता है—दिविषः स मतो यैष वहुकण्टक कण्टकः । सुतीणः कण्टकैरत्यः प्रयोग वहुकण्टकः ॥१० (चरकसंहिता) । ऐसे द्विवर्षी या त्रिवर्षी आयु के वृक्ष का क्षीर शिशिरकर्तु के अन्त में ग्रहण करना चाहिये—त विषाव्याहरत क्षीर शख्सेण मतिमान भियक । द्विवर्ष वा त्रिवर्ष वा शिशिरान्ते विशेषतः ॥ (चरक) ।

प्रयोगः पञ्चमूल्यास्तु वृहत्योश्चैकराः पृथक् ॥८०॥
कपायैः समभागं तु तदेज्ञानैर्विशोधितम् ।

अमलादिभिः पूर्ववत्तु प्रयोज्यं कोलसंस्मितम् ॥८१॥

महतपंचमूल, स्थूलवृहती और सूक्ष्मवृहती इन (सात) श्रुतों का पृथक् पृथक् कपाय बनाकर एक साथ मिला दे और उसमें एक के तुल्य (एक सप्तमांश) थोहर का दूध शालक उसे बंगारों पर सुखा ले और एक कर्प की मात्रा में अल पदार्थों (सौनीरक, तुकोदक, सुरा, मारुलुंगरस, आम-

१ तद्दोषे पुरोगुणात् ।

लकरस इत्यादि के) साथ पूर्ववद् (निशोथ की विधि के अनुसार) प्रयुक्त करे ॥८०,८१॥

महावृद्धपयथीतै र्यवागृस्तरदुलैः कृता ।

पीता विरेचयत्याशु गुडेनोत्कारिका कृता ॥८२॥

लेहो वा साधितः सस्यकृ स्त्राहीक्षीरसिताधृतैः ।

भावितास्तु स्त्राहीक्षीरे पिष्पल्यो लवणान्विताः ॥८३॥

चूर्णं कास्पिलकं वाऽपि तत्पीतं शुटिकीकृतम् ।

थोहर के दूध में भावना दिये हुए चाक्खों से बनाई हुई यावागृ; अथवा (भावना दिये हुए गहूं के) गुड़ में बनाई हुई उत्कारिका (लप्सी); अथवा थोहर का दूध, शर्करा और धूत इनसे योग विधि द्वारा सिद्ध किया हुआ लेह; अथवा थोहर के दूध में भावना दी हुई लवण युक्त पिष्पली; अथवा थोहर के दूध में भिगोकर बनाई हुई कमीले की गोली सेवन करने पर तत्काल विरेचन होता है ॥८२,८३॥

सप्तला शङ्खिनी दन्ती चिवृद्धारवधं गवाम् ॥८४॥

मूत्रेणाप्तव्य सप्ताहं स्त्राहीक्षीरे ततः परम् ।

कीर्णं तेजैव चूर्णेन माल्यं वसनमेव च ।

आद्रायावृत्य वा सस्यद्वृद्धुकोष्ठो विरिच्यते ॥८५॥

शिकेकाई, शखिनी, दन्ती, निशोथ, अमलतास इनको (पहले) सात दिन तक गोमूत्र में भावना दें; फिर (सात दिन) थोहर के दूध में भावना दे । पश्चात् (चूर्ण करके) उस चूर्ण को फूल पर ढालकर सूधने से या उसी चूर्ण से वस्त्र को भावना देकर परिधान करने से (आकृत्य) मृदुकोष्ठ मनुष्यों को विरेचन हो जाता है ॥८४,८५॥

तीरत्वच्फलसूलानां विधानैः परिकीर्तितैः ।

अवेद्य लस्ययोगादीन् यथावदुपयोजयेत् ॥८६॥

रोगादि (वातों के बलावल) को देखकर (विरेचनीय) क्षीर, त्वचा, फल और मूल इनके वर्णन किये हुए विधानों को जहाँ जिसका प्रयोग उचित ही, सहाँ उपयोग करे ॥८६॥

त्रिवृच्छाणमितास्तिस्त्रस्त्रिविफलात्वचः ।

विड्धपिष्पलीक्षारशाणास्तिस्त्रश्च चूर्णिताः ॥८७॥

लिश्यात् सर्पिमधुभ्यां च मोदकं वा गुडेन वा ।

भस्येन्निष्परीहारमेतच्छ्रेष्ठं विरेचनम् ॥८८॥

गुलमान् छीहोदरं कासं हलीमकमप्रेचकम् ।

कफचातकृतांश्चान्यान् व्याधीनेतद्यपोहति ॥८९॥

निशोथ तीन शाण (द्वृतोला), विफला की छाल सीन शाण, विडंग, पिष्पली और वचक्षार तीनों (मिलकर) तीन शाण लेकर उनका चूर्ण करे ॥८७॥ और धूत तथा मधु के साथ चाटे या गुड़ से मोदक बनाकर सेवन करे । यह योग निर्यत्रण और श्रेष्ठ विरेचन है ॥८८॥ जो गुलम, छीहोदर, कास, हलीमक, अरुचि तथा कफचातकृत अन्य रोगों को नाश करता है ॥८९॥

घृतेषु तैलेषु पयःसु चापि
मद्येषु मूत्रेषु तथा रसेषु ।

मध्याह्नलेष्टु च तेषु तेषु

विरेचनान्यप्रमतिविद्ध्यात् ॥१०॥

एत, तेल, दूध, मध, मूँग, स्वरस, (मोरक आदि) भवये पदार्थं, (भात आदि) अष्ट पदार्थं और अवलेह इनमें से जो उचित हो उन्हीं में (मिळाकर) बुदिमान् वैष विरेचन दस्तों का उपयोग कर ॥१०॥

स्त्रीर रसः कल्पमयो कथायः

श्रुतश्च श्रीतश्च तथैष फालटम् ।

कल्पा: यहेते खतु मेषजानां

यथोत्तरं ते लघयः प्रदिष्टाः ॥११॥

इति द्वितीयात् द्वितीये विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानोद्यो
नाम चतुर्थत्वारितात्मोऽध्यायः ॥११॥

(वृक्षादि का) दूध, स्वरस, कल्प, शूत कथाय, शीत कथाय तथा फाल्ट ये आयोगियों के छ कल्प होते हैं और ये उत्तरोत्तर इलके हैं ॥११॥

धृतिश्च—स्वरस—आहारात्मगुणाहृताद् द्रव्यात्मगुणात्मय रेत् । वस्त्रनिर्णीकिंतो य स रस स्वरस उच्चते ॥ (शार्ङ्गिधर) । कल्प—य सिंडार्डपिण्डानां स कल्प परिसीतिन् ॥ शूत कथाय—काढा—यानीय वैद्यरशुणे शुणे द्रव्यसे शिरेत् । शूताने काढवेद माहारमण्डाहारयेत्तिम् ॥ काथ को वींप्रेती में दीकोक्तान् (Deep action) कहते हैं । शीत कथाय—शुर्णु द्रव्यपल स्थानक वृद्धिनीर्पते शुर्णुम् । निरोगिनि हिम स ख्याताणा शीतकथायक ॥ काढ—हाथो द्रव्यपले सम्यग्वल्मुण विनिश्चिते । शूताने कुद्वोन्मान तत्त्वं स्थानेत्पात् । अंग्रेजी में शीत तथा फाल्ट दोनों को भी इन्स्यूजनम् (Infusion) कहते हैं । फाल्ट के स्थान में कहीं शूर्ण ऐसा भी पाठ है परन्तु शूर्ण का समावेष कल्प में ही हो जाता है—नूर्ण कल्प एवनामवीयम् । द्विविषेहि कल्प के द्रव्योद्वर्षेति इत्ता । (चक्रवाचिद्यत, धरकटीय) । लघव—जीर से स्वरस इलका, स्वरस से कल्प इलका, कल्प से काथ इलका हृत्यादि और फाल्ट स्वरसे इलका—तेषा यथार्थ द्वाविष्यम्, अन कथाकल्पना न्यायात्मुखलाभिती । तत्त्वे खतु सर्वाणि सर्वोपयोगीनि भवन्ति । (धरक) । यशीर पर अपना कार्य करने की इहि से इलका ।

शीत—मास्करामणः गोविद्युतमेवन विरेचनायामायुर्वद्रव्यवरीक्षिकाया
द्वितीयात्मायाकारी विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानोद्यो
नाम चतुर्थत्वारितात्मोऽध्यायः ॥११॥

पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

वयातो द्रव्यद्रव्यविधिमध्याये व्याख्यास्याम् ।
यथोत्तवाच भगवान् भन्वन्तरि ॥१॥

अब यहाँ से द्रव्यद्रव्यविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

धृतिश्च—द्रव्यद्रव्यविधि—पतले पदार्थों के प्रकार (विधि) जिसमें वर्णन किये हैं, ऐसा अध्याय ।

धृतश्च यासजननं

निद्रादाद्विषमनसेकान्ततः पद्ध्यतमं च ॥१॥

आन्तरिक जल अन्तरास, अशूत के समान जी लिये हितकर, तुसिकर, शीती भाराय करने वाला, सुख करने वाला, धम, हृष, प्यास, भद्र, मूर्ढा, तन्द्रा, तथा दाह की गांत करने वाला और निरवाद पय है ।

धृतश्च—शान्तरिक्ष—भूमोक और सूर्योलोक के बीती आकाश प्रदेश में स्थित । भूषण पर यो जल ही उसकी भाषा सूर्य की उत्तरांश से बनकर आकाश प्रदेशित होती है, वही आन्तरिक्ष जल है । निद्राद्विषम—जरस पानि जिमका स्वाद हेने से किमी एक प्रकार के सभी प्रकटहृष से बोध मर्ही होता । अग्न—असूर्यी जीवन—जीने के लिये आवश्यक और हितकर । हृष—यात अमोहे हेते प्रदृश भास्यकित । हृष स इति विवेद श्व प्रवापक ॥ (मुकुत) । तन्द्रा—निद्रावैष्यमयापिग्नीर वृक्षमय क निद्रात्स्वेत वसेहा तत्व तन्द्रा निरिद्धेत् । तन्द्रा को धृमं 'धृपाकाहृ रेट' (Typhoid State) कह सकते हैं । नन्त यथात्म च—प्रश्नति में जो जल मिलता है, उसमें वर्ष के समान विशुद्ध और पश्यकर दूसरा जल नहीं है । हृष धृतकमहिता में 'आन्तरिक्षनुकानाम्' ऐसा हमका वर्णन किया है । नवीन इष्टि से आन्तरिक्ष जल की दो विवरण होती है—(१) इसमें चना और मग्नेशियम् (Magnesium) के लक्षण नहीं होते जिससे यह अल्पत (Soft) या उलका होता है । (२) इसमें रोगोत्पत्ति जीवाणु, विशेष करके आंत्रिकजर, विशुकिका के जी नहीं होते हैं । इन दो कारणों से आन्तरिक्ष जल स्व के लिये सर्वेव हितकर होता है ।

तदेवावनिपतितमन्यतमं रसमुपलभते स्थान शेषाण्डादीनदसरस्तांगवापीकृपतुर्एटीप्रश्ववशेषिद्विविक्रिकेदारपल्यलादिषु स्थानेष्ववस्थितमिति ॥

पृथिवी पर गिरा हुआ वही आन्तरिक्ष जल (गगा नदी, (सिंधु शाणादि) नद, (मानसादि स्वाभावि परोत्तर, (कृष्ण), नालाल, बावडी, शूर, चीख (आ शूर), प्रलवण (पहाड़ से नीचे गिरने वाला झरन उत्तिर) पृथिवी से जहाँ पानी निकलता हो यथा कुण विक्रिक (जहाँ वालु लोद्देने से पानी निकलता है), के तथा पल्लव (भानूपरेशवाल्मीकिचूल पर) हृत्यादि स्व में स्थित हुआ स्थानावलु के अनुसार किसी न किसी रूपास होता है ॥१॥

धृतश्च—आन्तरिक्ष जल के गुणपर्म तमाम कुविदा एक से ही हुआ करते हैं, परन्तु भूमिगत जल के गुणपर्म प्रस्तान में भिन्न भिन्न हुआ करते हैं । वस्तुत आन्तरिक्ष और भूमिगत जल दोनों एक ही हैं । आनुनिक भौतिकविद से दोनों भी प्रकार का पानी एक रासायनिक योगिता है जिसे भाग इष्टवैज्ञान पानी और एक भाग आसीनत व (H₂O) होती है । परन्तु भूमिगत पानी में भूमि की ज

सार भिन्न भिन्न पदार्थ मिलने से पानी के गुणों में उत्तम भिन्नता हो जाती है। इसका प्रधान कारण यह है की मैं अन्य पदार्थों की अपने मैं विलीन (Dissolve) के विनोय धर्म है, जिससे जिस भूमि में पानी स्थित है उस भूमि के कड़े पदार्थ पानी में विद्रुत हो जाते हैं। पानी के गुण धर्मों में फेरे फार हो जाता है। इसी वरकर में लिखा है—जलमेविधं सर्वं पतस्वेन्द्रं नभस्त्वाण् । पतिं देव देशकालानपेक्षने ॥ लात्पतलोमवाच्यवैः साएं कालानु-
मेः । शीतोष्णलिप्यस्त्वारेवासन्न महीपुणैः ॥ शीत शुचि शिव
मैल लुप्त वायुगम् । प्रश्नत्या दिव्यमुद्रं अर्दं पायमेष्टने ॥ ५, २७ ॥) इसके स्थाय भूमिगत पानी में फर्क होने का कारण यह है कि आन्तरिक जल के वायुमण्डल में से उस भूमि पर गिरते समय उसमें हवा के कई वायुरूप हैं, दूसरे ठोस अवलंबनस्थ सूक्ष्मांशं, धूति के कण इत्यादि एवं मिल जाते हैं। सामान्यतः एक लिटर (९० लोला) जल में २५ सी. सी. (२ लोला) वायुरूप पदार्थ होते हैं जैसमें ६४०/० नायट्रोजन, ३४०/० वारक्सीजन और २०/० नै डायोक्साइड होती है। सुसुदर्सनापवर्ती नगरों के जल में नमक भी मिलता है। वहे यहे व्यापारी नगरों में एक कारखाने वहुत होते हैं, उनसे निकले हुए जहरीले एथेनक्टी, धूलि तथा गन्य पदार्थ वर्षाजल में, मिले होते हैं। वर्षा फ्रतु के प्रारंभ में वायुमण्डल इन अण्डों से भरा रहता है, इसलिये उस समय का वर्षाजल उस करने योग्य नहीं होता—अनार्तव च यदिव्यमार्तवं प्रथम च ॥। लादिवत्तुविष्मूकविपस्तेष्टपूषितम् । न वित् ॥ (वाभट)। लिपे यदि वर्षाजल साक्षात् पीने के लिये इकट्ठा करना तो उपर्युक्त वातों पर ध्यान देकर इकट्ठा करना चाहिये।

तत्र, लोहितकपिलपारदुनीलपीतशुक्रेष्वचनि-
षु मधुराम्ललवणकटुतिक्तकपायाणि यथा-
यमुदकानि संभवन्तीत्येके भागन्ते ॥४॥

उनमें लाल, कपिल, पाण्डु, पीत, नील तथा श्वेत (रंग) शृंखली के प्रदेशों में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त कथाय (रस का) पानी यथाक्रम होता है, इस प्रकार आर्थिक कहते हैं ॥४॥

वर्तक्षय—यथाक्षय—लोहितवर्ण की भूमि में मधुर, श्वेत की भूमि में अम्ल, पाण्डुवर्ण की भूमि में लवण, कटु भूमि में कटु, नीलवर्ण भूमि में तिक्त और श्वेतवर्ण में कथाय रस का पानी होता है। इस मत से भिन्न मत अष्टांगसंग्रह में मिलता है—शेते कथाय भवति पाण्डुर-
वित्तम् । कपिले क्षारसंस्तूपये लवणान्वितम् । कटु पर्वते मधुरे कण्ठमृतिके ॥

तत्र न सम्यक् । तत्र पुथिव्यादीनामन्योन्या-
विग्रहतः सलिलरसो भवत्युत्कर्षपक्षयेण । तत्र,
वायुगम्भूयिष्ठायां भूमावस्थं लवणं च; अम्लवृगुण-
पिष्ठायां मधुरं, तेजोगुणभूयिष्ठायां कटुकं तिक्तं
संयुगम्भूयिष्ठायाम् ।

च; वायुगुणभूयिष्ठायां कपायम्; आकाशगुणभूयिष्ठा-
यमव्यक्तरसम्, अव्यक्तं श्वाकाशमित्यतः; तत्
प्रधानमव्यक्तरसत्वात्, तत्पेयमान्तरिक्षालामे ॥५॥

(धन्वन्तरि भगवान् कहते हैं कि) यह मत ढीक नहीं है। शृंखलीदि महाभूतों के एचीकरण से उत्पन्न हुए जल के रस का भेद (भूमिगत महाभूतों के) उल्कर्त्या अपर्कर्ष के अनुसार हुआ करता है। उनमें से शृंखली के गुण अधिक होने वाले भूमि में अम्ल या लाला जल होता है। जल के गुण अधिक होने वाले भूमि में मीठा जल होता है। अस्ति के गुण अधिक होने वाले भूमि में कटु या तिक्त रस का जल होता है। वायु के गुण अधिक होने वाले भूमि में कपाय रस का जल होता है। आकाश के गुण अधिक होने वाले भूमि में जल का रस अव्यक्त वर्थात् अप्रकट होता है। इसलिए कि आकाश अव्यक्त होता है। वही जल अव्यक्त रस होने के कारण ह्यतर जल की अपेक्षा प्रधान है। आन्तरिक्ष जल के अभाव में वही आकाशगुणभूयिष्ठ भूमि का जल पीने योग्य होता है ॥५॥

तत्रान्तरिक्षं चतुर्विधम् । तद्यथा—धारं, कारं, तौषारं, हैममिति । तेषां धारं प्रधानं, लघुत्वात्; तत् पुनर्द्विविधं—गाङ्गं, सामुद्रं चेति । तत्र गाङ्ग-
माश्वयुजे मासि प्रायशो वर्षति । तयोर्द्वयोरपि
परीक्षणं कुर्वात—शाल्योदनपिण्डमकुर्यात्मविदग्धं
रजतभाजनोपहितं वर्षति देवे बहिष्कुर्वात्, स यदि
मुहूर्तं स्थितस्तादश एव भवति तदा गाङ्गं पततीत्य-
वर्गन्तव्यं; वर्णान्त्यत्वे सिक्षथप्रक्लेदे च सासुद्रमिति
विद्यात्, तज्जोपादेयम् । सासुद्रमप्याश्वयुजे मासि
गृहीतं गाङ्गवद्वचति । गाङ्गं पुनः प्रधानं, तदुपाद-
दीताश्वयुजे मासि । शुचिशुक्लविततपैकदेशव्युत-
मधवा हृस्येतलपरिभ्रष्टमन्यैर्वा शुचिभिर्भजनैर्गृहीतं
सौवर्णेण राजते मूरमये चा पात्रे निदध्यात् । तत्सर्व-
कालमुपयुक्तीत, तस्यालामे भौमम् । तद्याकाशगुण-
वहुलम् । तत् पुनः ससविधम् । तद्यथा—कौपं, नादेयं, सारसं, ताडांगं, प्राक्षवणम्, औद्धिदं
चौण्ट्यमिति ॥६॥

आन्तरिक्ष जल चार प्रकार का होता है । जैसे—१ धार (जो धारा से वर्षा हो उसका जल), २ कार (कर अर्थात् ओले गिरे उसका जल), ३ तौषार (अर्थात् ओस की बिन्दुओं से उत्पन्न हुआ जल), ४ हैम (वर्क गिरता है वह पिंडल कर उत्पन्न हुआ जल) । हन (चारों) में हलका होने के कारण मेघ धारा का जल प्रधान है । फिर वह दो प्रकार का है—१ गांग और २ सासुद्र । हनमें से गांग जल प्रायः आविन के महीने में वरसता है । फिर भी उन दोनों की परीक्षा करनी चाहिये—जो न सदा हुआ है या न जिसका वर्ण बदल गया है ऐसे पकाये हुए शालि चावलों का पिण्ड बनाकर चाँदी के पात्र में रखकर मेघ वरसते समय बाहर रख दे । वह धूं-

मध्यामलेषेषु च तेषु तेषु

विरेचनान्यग्रमतिर्विद्यान् ॥१०॥

एत, तेल, दूध, मध्य, मूत्र, स्वाद्य, (मोरक आदि) भृषे पदार्थ, (भासा आदि) भृष पदार्थ और भृषेहृ इनमें से जो उचित हो उसी में (मिलाकर) कुरिमाद, वैष विरेचन द्रव्यों का उपयोग करे ॥१०॥

शीर रसः कल्पमयो कथायः

शृतश्च शीतश्च तथैव फालट्टम् ।

कल्पः पद्मेते खनु मेपजाना॑

यथोत्तरं ते लघ्यः प्रदिष्टाः ॥११॥

इन सुभ्रतसंहितायाः उत्तरान्ते विरेचनद्रव्यविकल्पविहाने यो
नाम चतुर्भास्त्रार्दितगोड्याय ॥११॥

(त्रृष्णारि का) दूध, स्वाद, कल्प, शृत कथाय, शीत कथाय तथा काल्प द्वे विवरितियों के छ कल्प दोनों इं शीत में उपयोगता इसके हैं ॥११॥

यत्तद्य—त्रृष्ण—भृषात्तुष्ट्राहृष्ट्र द्रव्यात्तुणात्तमुद्देश—
विवरितीयों के ब त रस त्वरम् उपयोगे ॥ (शार्विवर) ।
कल्प—य विवरितीयों स कल्प परिवीर्तिन ॥ शीत कथाय—
काला—यानीय वैद्युत्युपुष्टु उपुष्टे द्रव्यस्ते विदेश । शृताने कालवेद्
प्राद्यमन्तरात्तावदीविवर ॥ काय को अंग्रेजी में शीकोरण (Deep coction) कहते हैं । शीत कथाय—सुखी द्रव्यस्ते सम्बन्ध इत्यनीति
पैते व्युत्पन् । नियोगिः हिम स स्थापत्या शीतकाशवद ॥ वाष्ट—युग्मो
द्रव्यस्ते सम्प्रबन्ध्युष्ण विवरितेत् । शृतोमे कुरुत्योग्यान तत्त्वत्
ज्ञावदेत्याद् ॥ अंग्रेजी में शीत तथा काल दोनों को भी इत्यनु-
जन (Infusion) कहते हैं । काल के स्थान में कर्णी शृष्टि
ऐसा भी पाठ है वरन्तु शृष्टि का समावेश कल्प में ही ही जाता
है—न्यून कल्प द्वानामार्दिनाय । विविदे वि कल्प त्रृष्ट्रवेति
कल्प । (चक्रशिविद्युत, चतुर्कीका) । लघव—जीर मे
स्वरस इलका, स्वरस से कल्प इलका, कल्प से काय इलका
इत्यादि और काल स्वरसे इलका—जो वायार्द्व वायाकथम, भृष
कथायकल्पना व्याधात्तुष्ट्राकाशिणी । नवेत्र खनु सर्वाणि सर्वाणो
पत्रोनीति भवनति । (चतुर) । शीर पर अपना कार्य करने की
दृष्टि से इलका ।

इनी भास्त्ररसग्रामों गोविन्दाम्बेन विरेचनायामात्तुष्ट्रेनद्रव्यविहानीयो
सुभ्रतसंहिताकाला विरेचनद्रव्यविकल्पविहानीयो
नाम चतुर्भास्त्रार्दितगोड्याय ॥११॥

पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो द्रव्यद्रव्यविधिमध्यायं द्याल्यास्याम् ।
यथोत्तर भग्याद्याद् धन्वन्तरिः ॥१॥

अथ यहाँ से द्रव्यद्रव्यविधि नामक अध्याय का अध्यायान
करते हैं, जैसे कि भग्याद् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यत्तद्य—द्रव्यद्रव्यविधि—पतले पदार्थों के प्रकार
(विधि) वित्तमें वर्णित किये हैं, ऐसा कथाय ।

धारणमा॒ यामगतनं भ्रमहृमपिपासामद्भृत्युक्ति॑
निद्रादामदशमनदेकान्ततः पद्यतमं च ॥१॥

आत्मरित जल आमगतस्त, भ्रमून के समान जीक
मिये हितहर, तुषिकर, गरीता पाराय करने वाला, सुन
करने वाला, अम, दूध, व्याय, भृष, मूर्ढा, तम्भा,
तथा दाह को गांत करने वाला और निराकार पथ्य है ॥१॥

यत्तद्य—भास्त्रितु—भृत्योक और शृष्टेशोक के
जैसे आकाश प्रदेश में स्थित । भृषूप वर जो जल होते
उम्मी भासा शृष्टे की उम्माता से बनकर आकाश

स्थित होती है, वही आत्मरित जल है । भास्त्रितस्त—जल
यम पानि वित्तका स्वाद लेने से किमी एक प्रकार के रस
भी प्रकटहर से बोध नहीं होता । भ्रमून—भ्रमूनमि

वीन—जीते के सिये आवश्यक और हितकर । हृष—जी
वास जीते हो पृष्ठ शास्त्रिति । हृष म इन वित्त हीरा
प्रवाहक ॥ (सुखुन) । तद्रा॑—श्रियविवर्जनात्तिर्वात् वृष्टयन कल
निदृत्वेष वसेत्ता तथ नदी विनिरित ॥ तद्रा को जीवी
ट्रायफाइट रेट्ट (Typhoid State) कह सकते हैं ॥१॥

त्वं पथ्यम च—प्रहृति जे जो जल मिलता है, उसमें वर्षी
के समान विद्युत्तु और पथ्यक दूसरा जल नहीं है । इसी
प्रकारमेहिता में 'भास्त्रितुष्ट्राहृष्ट्रान्' ऐसा हमडा य
दर्शन किया है । यानीन इहे से आत्मरित जल की दी जिस
कार्य होती है—(१) इसमें चूता भीर म्यास्त्रिति
(Magnesium) के स्थापत्य नहीं होते जित्तसे यह अत्तेन ।
(Soft) या इलका होता है । (२) इसमें रोगेष्वा
भीरालु, विशेष करके भास्त्रितजर, विसुचिका के जीव
नहीं होते हैं । इन दो कालों से आत्मरित जल स्थान
के सिये सौंदर्य हितकर होता है ।

तद्रेवाचनिपतितमन्यतमं रसमुपलभते स्थानिः
शीपाम्बद्धनद्वारस्तडागायारीकृष्टुर्दीप्रवश्यलोऽङ्गि॑
विकिरकेद्रव्यद्रव्यलादिषु स्थानेष्ववस्थितमिति ॥२॥

पृष्ठियो पर गिरा हुआ वही आत्मरित जल (भास्त्रि
तारी, (सिंचु गोलादि) नद, (भास्त्रिति स्वामाविक
सरोवर, (कृत्यम) तालाब, वारी, कृष, चौला (अक
कृष), प्रश्वाल (पदाक से जीते गिरने वाला भरना
उत्तिर (पृष्ठियो से जहाँ यानी निकलता हो वया कुष्ट
विकिर (जहाँ कालु खोदने से यानी निकलता है), केव
तथा पत्तल (भास्त्रितेनकृत्यान्दित्व नर) इत्यादि स्थान
में स्थित हुआ हायानगुण के अनुमार किसी न किसी रस
प्राप्त होता है ॥२॥

यत्तद्य—आत्मरित जल के गुणधर्म तमाम तुमिता ।
एक से ही हुआ करते हैं, परन्तु भ्रमित जल के गुणधर्म प्राप्ते
स्थान में भ्रमित हुआ करते हैं । वस्त्रान आत्मरित जल
और भ्रमित जल दोनों एक ही हैं । आपुनिक भीनिकविश्वा
से दोनों भी प्रकार का यानी एक रसायनिक पर्याप्ति है जिसमें
जो भाग हायानगुण के अनुमार किसी न भ्रमि की जारी
(H₂O) होती है । परन्तु भ्रमित यानी में भ्रमि की जारी

रार भिन्न भिन्न पदार्थ मिलने से पानी के गुणों में न मिलता हो जाती है। इसका प्रधान कारण यह है कि वे में अन्य पदार्थों को अपने में विलीन (Dissolve) विशेष धर्म है, जिससे जिस भूमि में पानी स्थित है उस भूमि के कई पदार्थ पानी में विद्वत हो जाते पानी के गुण धर्मों में फेर फेर हो जाता है। इसी चरक में लिखा है—जलमेकविधं सर्वं पतत्वैन्द्रं नभस्तलान्। तिं तैव देशकालानपेक्षते ॥ खातपतस्त्वोमवायर्वक्तः स्पष्टं कालानुः ॥ शीतोष्णिन्द्रियस्त्वादैर्यथासत्र महीगुणैः ॥ शीतं शुचि शिं पल लघु पद्मगुणम् ॥ प्रकृत्या दिव्यमुदकं भ्रं पात्रमपेक्षते ॥ २७ ॥

इसके सिवाय भूमिगत पानी में फूक होने का कारण यह है कि आन्तरिक जल के वायुमण्डल में से भूमि पर गिरते समय उसमें हवा के कई वायुरूप, दूसरे ठोस अवलंबनस्थ सूक्ष्मांश, धूलि के कण इत्यादि मिल जाते हैं। सामान्यतः एक लिटर (९० तोला) जल में २५ सी. सी. (२ तोला) वायुरूप पदार्थ होते समें ६४०/० नायट्रोजन, ३४०/० आक्सीजन और २०/० न डायोक्साइड होती है। समुद्रसमीपवर्ती नगरों के जल में नमक भी मिलता है। वडे वडे व्यापारी नगरों में कल कारखाने वहुत होते हैं, उनसे निकले हुए जहरीले घृणकजली, धूलि तथा अन्य पदार्थ वर्षाजल में मिलते हैं। वर्षा कहु के प्रारंभ में वायुमण्डल इन अशुद्धियों से भरा रहता है, इसलिये उस समय का वर्षाजल न करने योग्य नहीं होता—अनातिर च यद्यव्यमानव प्रथमं च। यत्वादित्तनुविष्पूचित्यसंक्षेपद्युषितम् । न पिवेत् ॥ (वाग्भट)। लिये यदि वर्षाजल साज्ञात् पीने के लिये इकट्ठा करना तो उपर्युक्त वातों पर ध्यान देकर इकट्ठा करना चाहिये।

तत्र, लोहितकपिलपाणुदुनीलपीतशुक्लेष्ववनि-
शेषु मधुराम्ललवणकटुतिक्कपायाणि यथा-
पर्यमुदकानि संभवन्तीत्येके भाषन्ते ॥४॥

उनमें लाल, कपिल, पाण्डु, पीत, नील तथा श्वेत (रंग) पृथिवी के प्रदेशों में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्क कवाय (रस का) पानी यथाक्रम होता है, इस प्रकार आवृत्ति कहते हैं ॥४॥

वर्तक्य—यथासंख्य—लोहितवर्ण की भूमि में मधुर, अम्ल की भूमि में अम्ल, पाण्डुरवर्ण की भूमि में लवण, लग्न भूमि में कटु, नीलरवर्ण भूमि में तिक्क और श्वेतवर्ण में कवाय रस का पानी होता है। इस मत से भिन्न मत चूँकि अदांगसंप्रद में मिलता है—थेते कवाय भवति पाण्डुरेत्यम् । कपिले क्षारसंस्थमूपे लवणान्वितम् । कटु पर्वते मधुरं कृष्णमृतिके ॥

तत्त्वं तत्त्वं न सम्यक् । तत्र पृथिव्यादीनामन्योन्या-
विशेषादृतः सलिलरसो भवत्युत्कर्षपर्कर्षण । तत्र,
विशेषाभूयिष्ठायां भूमावम्लं लवणं च; अम्लुगुण-
पिण्डायां मधुरं; तेजोगुणभूयिष्ठायां कटुकं तिक्कं
स्वागुणभूयिष्ठायाम् ।

च; वायुगुणभूयिष्ठायां कवायम्; आकाशगुणभूयिष्ठा-
यमव्यक्तरसम्, अव्यक्तं ह्याकाशमित्यतः; तत्
प्रधानमध्यक्तरसत्वात्, तत्पेयमान्तरिक्षालाभे ॥५॥

(धन्वन्तरि भगवान् कहते हैं कि) यह मत ठीक नहीं है। पृथिव्यादि महाभूतों के पंचोकरण से उत्पन्न हुए जल के रस का भेद (भूमिगत महाभूतों के) उत्कर्ष या अपकर्ष के अनुसार हुआ करता है। उनमें से पृथिवी के गुण अधिक होने वाले भूमि में अस्त् या खारा जल होता है। अस्ति के गुण अधिक होने वाले भूमि में सीढ़ा जल होता है। अस्ति के गुण अधिक होने वाले भूमि में कटु या तिक्क रस का जल होता है। वायु के गुण अधिक होने वाले भूमि में कपाय रस का जल होता है। आकाश के गुण अधिक होने वाले भूमि में जल का रस अव्यक्त अर्थात् अप्रकट होता है। इसलिए कि आकाश अव्यक्त होता है। वही जल अव्यक्त रस होने के कारण दृतर जल की अपेक्षा प्रधान है। आन्तरिक जल के अभाव में वही आकाशगुणभूयिष्ठ भूमि का जल पीने योग्य होता है ॥५॥

तत्रान्तरिक्तं चतुर्विधम् । तद्यथा—धारं, कारं, तौपारं, हैममिति । तेषां धारं प्रधानं, लघुत्वात्; तत् पुनर्द्विविधं—गाङ्गं, सामुद्रं चेति । तत्र गाङ्ग-माश्वयुजे मासि प्रायशो वर्षति । तयोर्द्वयोरपि परीक्षणं कुर्वीत—शाल्योदनपिराङ्गमकुर्थितमविदग्धं रजतभाजनोपहितं वर्षति देवे चहिष्कुर्वीत, स यदि मुहूर्ते स्थितस्तादश एव भवति तदा गाङ्गं पतंतीत्य-वगन्तव्यं; वर्णान्यत्वे सिक्षथप्रक्षेपे च सामुद्रमिति विद्यात्, तत्रोपादेयम् । सामुद्रमप्याश्वयुजे मासि गृहीतं गाङ्गवद्वति । गाङ्गं पुनः प्रधानं, ततुपाद-दीताश्वयुजे मासि । शुचिशुक्लविततपटैकदेशच्युत-मथवा हर्म्यतलपरिभ्रष्टमन्यैर्वा शुचिभिर्भजनैर्गृहीतं सौवर्णे राजते मूरमये चा पात्रे निद्यात् । तत्सर्व-कालमुपयुक्तीत, तस्यालाभे भौमम् । तद्याकाशगुण-वहुलम् । तत् पुनः सप्तविधम् । तद्यथा—कौपं, नादेयं, सारसं, ताडांगं, ग्रास्त्रवणम्, औद्धिदं चौषट्यमिति ॥६॥

आन्तरिक्त जल चार प्रकार का होता है। जैसे—१ धार (जो धारा से वर्षा हो उसका जल), २ कार (कर अर्थात् ओले गिरे उसका जल), ३ तौपार (अर्थात् ओस की बिन्दुओं से उत्पन्न हुआ जल), ४ हैम (वर्षा गिरता है वह पिघल कर उत्पन्न हुआ जल)। इन (चारों) में हलका होने के कारण मेघ धारा का जल प्रधान है। फिर वह दो प्रकार का है—१ गांग और २ सामुद्र। इनमें से गांग जल प्रायः आश्विन के महीने में वरसता है। फिर भी उन दोनों की परीक्षा करनी चाहिये—जो न सड़ा हुआ है या न जिसका वर्ण बदल गया है ऐसे पकाये हुए शासि चावतों का पिण्ड बनाकर चाँदी के पात्र में रस्कर मेघ बरसने समय बाहर न से न जाना।

पृष्ठ मुहूर्त (पृष्ठ मिनिट) (वरसते पानी में) वैसा ही (अविवर्ण और भक्षयित) रहे तो जानवा चाहिये कि गांग लाल बरसता है और यदि वर्षा पलट जाय तथा रिक्ष में कोय दौड़ा हो जाय तो समझना चाहिये कि सामुद्र जल बरसता है । वह प्रह्लाद करने योग्य नहीं है । सामुद्र जल भी अधिन के महोने में प्रह्लाद किया हुआ गांग जल के समान होता है । गांग जल आन्तरिक जल में प्रधान है; वह अधिन के महोने में इकट्ठा कर लेना चाहिये । वही जल स्वच्छ, सफेद, घड़े फैले हुए वर्ष के पृष्ठ देश से गिरा हुआ, अथवा पक्ष मकान की स्वच्छ छत से गिरा हुआ, अथवा स्वच्छ पानी में इकट्ठा किया हुआ सोने, चांदी या मिट्टी के पात्र में रखे और सब काढ़ में उसका उपयोग करे । यदि वह न मिले तो आकाशगृहभूयित् पृथिवी से निकाला हुआ जल प्रह्लाद करे । वह भीम जल निर सात प्रकार का होता है । जैसे—१ कौप (हृष्ट का जल), २ नादेय (नदी का जल), ३ सारस, ४ तालाव का जल, ५ करणे का जल, ६ जमीन से निकाले वाला जल, और ७ वैष्णव (केचु कृष्ण का जल) ॥६॥

धूतव्य—चक्कसंहिता में आन्तरिक जल के गांग और सामुद्र भेद नहीं दिलाई हैं रहे । गांग और सामुद्र पारिभासिक दृष्ट हैं । गांग का अर्थ गांगजल के समान शुद्ध और हितकर हो सकता है और सामुद्र का अर्थ समुद्र के पानी के समान खाराव होता है । हारीतसंहिता में सामुद्र दूष का लक्षण पेसा दिया है—आविले समल मीठ घन धीनमधारि वा । साकार पिंचिल ऐसा सामुद्र तत्त्विगत है । मकानों के छतों से वर्षा जल इकट्ठा करने के लिये आज कल विशेष प्रकार के संत्र (Robert s or Gidd's rain water Separator) होते हैं जो प्रारंभिक दूषित जल की छोड़कर केवल शुद्ध पानी की प्रवाह करते हैं । तत्त्वालोग भौमगृह—आन्तरिक जल सब से उत्तम होता है इसलिये उसी का ही सेवन सैद्धैव करना हितकर है । इसनु वर्षाजल बाहरी साकार मिलता हुलेन है इसलिये इसके समान गुण विस्तरे हीते हैं ऐसे आकाशगृहभूयित् मृदिगत जल का सेवन करना चाहिये । चौर्णव्य—पैदानादी वातानिन्द्रियिक्तम् । (इन्द्रु) ।

तदृष्ट चौर्णव्यस्तरान्तरिक्तमैक्षिक्तं प्य सेपेत, नद्यागुणत्याः, शरदि सर्वे, प्रसन्नत्याः, हेमन्ते सारसं सादानं या; धसन्ते कौपं प्रासवयणं या; ग्रीष्मेऽप्यवेषं, प्रात्युपि चौर्णव्यमनिमित्युप्यं सर्वे देति ॥७॥

इनमें से वर्षा भूतु में आन्तरिक अथवा अंदिर जल महागृहाद्य इनों के कारण सेवन करना चाहिये । रात्रदृष्टु में दूषजल प्रसाद हो जाने के कारण सेवन करना चाहिये । हेमन्तानु में दूषजल या तालाव का पानी पीना चाहिये । धसन्तव्यानु में दूष या करने का जल पीना चाहिये और इसी प्रकार ग्रीष्मव्यानु में भी । माहृष्टानु में शुष्णी का पानी तथा वर्षों के पानी से जो दूषित नहीं हुआ है ऐसा (भनन्तिहृष्ट) सर्व प्रकार का जल पीना चाहिये तथा ॥७॥

धृतव्य—वृष्टि—अधिनमास । वर्षाकृतु के प्रारंभिक

महीने में वायुमण्डल धूलि सथा अन्य जीव जनन्तुओं से रहने के कारण वर्षा का जल भी इनसे दूषित ही जाता बलाहकाया समस्ता । कीदा दूषात्र लेचा । तद्रियोत्तरान्तर्लाला तत्त्वाज्ञा जलम् । प्रसन्नतात्—शरददृष्टु में आकाश निरञ्जन है और अगस्ति का उदय होता है । सुर्य और अगस्ति किरणों पानी में परने के कारण वर्षाकृतु में स्वाच्छ सब जल शरददृष्टु में प्रसन्न हो जाता है । चक्रसंहिता लिखा है—दिवा सर्वाशुमतस निशि वन्द्राशुरीतलम् । कालेन निर्देवमगस्तेन विनीतृतम् ॥ हमें इसमें इत्यतात शारद विन शु ज्ञानपानावगामेषु हितममु यथामृतम् ॥

कीटमूत्रपुरीपाण्डशावकोथयप्रदूषितम् ।
त्रुणपर्योत्कर्त्तुतं कलुवं विषसंयुतम् ।
योऽवग्रहेत वर्षासु पित्रेद्वाप्य नवं जलम् ।
स वाहाराभ्यन्तरान् रोगान् प्रायुषात् विषप्रमेव तु ॥

कीटे, मूत्र, विदा, (कीटों के) अंडे, सटे गले मूत्र वा इनसे दूषित और तृण, तृष्णों के पत्ते, कृष्णा इनसे संयुक्त रोंदे विषयुक्त वर्षों के पानी में जो मनुष्य ज्ञान करता है उस नवे पानी को पीता है वह मनुष्य (फोड़े, कुनिसीया व इत्यादि व्यासार्थीवी) बाहा रोगों को सथा (अजीर्ण, मध्यरोध आदि) आन्यन्तर रोगों को तत्काल प्राप्त है ॥८॥

धूतव्य—कीट मूत्रादि पानी की अमुदियाँ हैं । यह तं प्रकार की होती हैं—१ वनस्पतिज, २ खनिज या पार्वि और ३ प्राशिज । प्रथम प्रकार की अमुदि वनस्पतियों सूखे पते तथा सूखे पेते आदि के पानी में सहज जाने से होती है । दूसरे प्रकार की अमुदि जिन जिन स्थानों में से पा जाता है या जिन स्थानों में कृषा तालाव इत्यादि जीव जाता है उन स्थानों की अन्तर्गत प्रकृति पर निर्भर होती है इस अमुदिता से पानी के बाहा स्वस्थ में विशेष कर्क वा होता । इसमें लोहा, जसद, व्यष्टिक, म्याप्तेसिप्रम जैव इत्यादि खनिज पदार्थ होते हैं । सीमरे प्रकार की अमुदि स्वास्थ्यहानि की रूप से सब से महसूल की है । इससे ज्ञानसंकलन रेत उत्पन्न होते हैं । यह अमुदिता प्रतिरोधी (विशेष करके ममुद्धों के) मलमूत्र का पानी के सा संरक्षी होने से उत्पन्न होती है । अधिपित ममुद्धों के मलमूत्र में अनेक रोगों के जीवाणु उपस्थित होते हैं जो जल के सा मिलकर दूसरे स्वस्थ मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर तो उत्पन्न करते हैं । कालाभ्यन्तरान् रेतान्—स्वता के रोग तथा अद्विमान्य अतिमारादि आन्यन्तरीय रोग—स्वान्तर रोग एवं रोगव कालुद्युक्तिसंरक्षय । परेन करुणामानो द्रुग्नीन बरसतर्म वरोति विभिन्न रेतान् ॥ (हारीतसंहिता) । नवीन वैज्ञानिक सोत्र के मनुसार वनस्पतिज अमुदि से दृत मरोड़, सरित अमुदि दो अद्विमान्य, मलोवरोध और दृत तथा ग्रामाच (Goitre), प्राशिज अमुदि से विषुधिका, (Typhoid fever) तथा भित्ति भित्ति शक्ति के व्याप्ति गृहूपद कृमि (Round worm), सूक्ष्महि (worm), कपटे हृमि (Tape worm) अमुदिमु

ook worm), प्रतोदृष्टमि (Whip worm), स्त्रायुक (Guinea worm) हृत्यादि उत्पत्त होते हैं ।

तत्र यत् पङ्कशैवालटत्तुणपथपत्रप्रभृतिसिरव-
शं शशिसूर्यकिरणानिलैर्नभिजुयं गन्धवर्णरसो-
प्तुं च तद्यापन्नमिति विद्यात् । तस्य स्पर्शरूप-
गन्धवीर्यविपाकदोषाः पद् संभवन्ति ॥१०॥

हनमें जो जल काई, हठरुण (जलकुमिभका—Pistia stratiotes), पश्चपत्र हृत्यादि के पत्तों से व्याप्त है, जिसे और सूर्य की किरणों का तथा बायु का सर्वा नहीं होता जो गन्धवर्ण और रसयुक्त है उसे दृष्टि जल समझना हिते । उसके छ: दोष होते हैं—१ स्पर्शदोष, २ रूपदोष, ३ सदोष, ४ गन्धदोष, ५ वीर्यदोष, और ६ विपाकदोष ॥१०॥

तत्र, खरता पैचिछल्यमौप्यं दन्तग्राहिता च
र्धिदोषः; पङ्कसिकताशैवालवहुर्वर्णता रूपदोषः;
तकरसता रसदोषः; अनिष्टगन्धता गन्धदोषः;
दुपयुक्तं तृष्णागौरवशूलकफ़पसेकानापादयति स
र्धिदोषः; यदुपयुक्तं चिराद्विपच्यते विषम्भयति । स
विपाकदोष इति । तं एते आन्तरिक्ते न
कीर्ते ॥१॥

उनमें से सरता (तीक्ष्णस्पर्शता), पिण्डिलता (चिक-
हट), उडाता और दन्तग्राहिता (अतिशीतता) ये दोष
र्धि के होते हैं । पङ्क, सिळता और शैवाल के (संसर्ग से
जलके) वर्ण का दर्शन या (अन्य दोष के कारण नील
पीतादि) अनेक वर्ण का दर्शन यह रूप के दोष हैं । (किसी
मी प्रकार के) रस की प्रकटता रस का दोष है । दुरी गंध
आना गन्ध दोष है । यदि उपयोग करने से तृप्ता, भारीपन,
दूल, कफ, मसेक (हृत्यादि विकार) उत्पन्न हों तो वीर्य दोष
है । जिसके सेवन से अन्न देर से पचे और पेट में विष्टंभ
(मलावोध, वायु का गुणगुद शुरू हृत्यादि) हो तो यह
विषक दोष है । ये (उपर कहे हुए छोंग प्रकार के) दोष
आन्तरिक्त जल में (तथा आकाशगुणभूयिष्ठ भूमिगत जल में
मी प्रायः) नहीं होते ॥१॥

द्वयापश्चस्य चात्मिकथनं सूर्यातपप्रतापनं तपायः-
पिरडिसिकतालोप्त्राणां चा निर्वापणं प्रसादनं च
कैरत्यव्यं नागच्चस्पकोत्पलपाटलापुष्पप्रभृतिसिद्धाधि-
वासनमिति ॥१२॥

पूर्वित जल का विवोधन अभि पर पानी औटाने से, सूर्य
भी धूप में गरस करने से तथा लोहे, रेती या मिट्टी के पिण्ड
बिही में लाल करके पानी में छोड़ने से करना चाहिये और
पानी को सुरंगित करने का काम नागकेशर, चम्पक, कमल,
पाटल हृत्यादि पुर्खों से करना चाहिये ॥१२॥

चतुर्त्यव्य—दूषित जल के सेवन से अनेक रोग उत्पत्त
होने के कारण उन रोगों से रक्षा करने के लिये पानी का
प्रसादन करना यहुत आवश्यक है । पानी में जो अवलंबनस्थ
सूलसंघ, विदुत पदार्थ तथा जल आए रोगों के जीवाणु होते
हैं उनको पानी से अलग करना यह पानी के प्रसादन या

विशुद्धि (Purification) का अर्थ है । यही प्रसादन की
तीन विधियां प्रदर्शित की हैं । इनमें पहली उल्कथन की विधि
समें उत्तम है और वैज्ञानिक दृष्टि से भी उत्तम प्रमाणित
हुई है । क्योंकि जो विधि जलस्थित रोगोंपादक जीवाणुओं
को नाश करती है, वही उत्तम कहलाती है । पानी उदासने
के पश्चात् उसमें स्थित हुए सर्व विकारी जीवाणु तथा हासि
नहीं हो जाते हैं, उसमें विलीन हुए अमोनिया आदि सर्व वायु
रूप पदार्थ निकल जाते हैं और खटिक तथा अन्य मैला तली
में रहता है । संकेप में उदासन से स्वाध्यानिकारक जल के
प्रायः सर्व दोष दूर हो जाते हैं । केवल जल यदि घुत मटीला
हो तो वह निर्मल नहीं हो सकता । सूर्यप्रकाश में जल
तेपने की दूसरी विधि घुत व्यावहारिक नहीं है, तथा इस
विधि के द्वारा अधिक विद्यास भी नहीं कर सकते; तथापि
यह जिसके द्वारा यहुत युवा है कि सूर्य ली किरणों में जीवाणु-
नाशन की घुत रक्ति है और प्रकृति में नैसर्गिक जल की
(नदी, ताजाय, सरोवर हृत्यादि की) शुद्धि करने में सूर्य
की किरणों द्वारा सहायता करती है । तस्य पिण्डों का निर्वापण
किंके जलप्रसादन करने की तीलरी विधि स्वस्य मनुष्यों का
पीने का पानी शुद्ध छरने के लिये प्रचलित नहीं है । इसका
उपयोग हृणायस्या में शून्य दृश्य करने के लिये होता है—
भूता पर्षटक ज्वर, त्रुपि जल मृदमृष्टोद्योद्धवम् । (अर्दांगहृदय) ।
याधुनिक काल में जलप्रसादन की विधियों में यहुत कुछ
सुधार हुआ है और जहाँ जहाँ इनका प्रयोग जारी हुआ है वहाँ
वहाँ जल दोषीत्यरुप रोग विलक्षण नहीं हो गये हैं या उनकी
संख्या बहुत घट गई है । याधुनिक काल में पानी की शुद्धि
निश्च विधियों द्वारा की जाती है—(१) भौतिक विधि—(२)
तिर्थकृपातन (Distillation)—(आ) उल्कथन, (इ) नील लोहित किंगौरी (Ultra-violet-rays)—ये किंगौरी विधियां
तथा उत्पन्न करके पानी में प्रविष्ट की जाती हैं । (२)
रासायनिक विधि—(अ) प्रक्षेपण (Precipitation)—
इसमें निश्च रासायनिक पदार्थ जल में विशिष्ट मात्रा में छाले
जाते हैं जिनकी किंवा से पानी में जो मैला होता है वह तली
में बैठ जाता है—यथा चूना, फिटकरी हृत्यादि । (आ)
जन्मुनाशन—इसमें निश्च रासायनिक पदार्थ जल में विशिष्ट
मात्रा में छोड़ दिये जाते हैं जिनकी किंवा से पानी में जो
विकारी जीवाणु होते हैं वे मर जाते हैं । यथा—प्रोट्रासिभम
परमेश्वानेट, नीला दूतिया, होरीन वायु हृत्यादि । (३)
यांत्रिक निपारक (Mechanical filtration)—इसमें छोटे
शा बड़े नितारक द्वारा जल की शुद्धि की जाती है । इन सब
विधियों में विकारी जीवाणुओं का पूर्णतया नाश करने की
दृष्टि से उल्कथन के सिवा दूसरी कोई विश्वसनीय विधि नहीं
है । इन विधियों के विशेष विवरण के लिये अंथकार का
'स्वास्थ्यविज्ञान' (पृष्ठ ७५-९०) देखें ।

सौंबर्ये राजसे ताङ्गे कांस्ये भरिष्यते अपि धा ।

पुष्पावतंसं भौमे वा शुगन्धि ललिलं पित्रेत् ॥१३॥

द्वयापश्चं चर्जयेन्नित्यं तोयं यद्याप्यनार्तवम् ।

दोषसंजननं खेतज्ञाददीताहितं तु सत् ॥१४॥

एक सूर्णे (४८ मिनिट) (वरसते पानी में) देता ही (अधिकर्ण और अकुपित) रहे तो जानना चाहिये कि गांग लाल वरसता है और पढ़ि वर्षे पलट जाप तथा पिण्ड में कोष पौरा हो जाप तो समझना पाहिये कि सामुद्र जल वरसता है । वह धृश्य करने पोरा नहीं है । सामुद्र जल भी अधित के सहैने में धृश्य किया हुआ गांग जल के समान होता है । गांग जल अन्तरिक्ष जल में प्रवान है; वह अधित के महीने में इकट्ठा कर लेना चाहिये । वही जल स्वच्छ, सफेद, पढ़े फैले हुए वज्र के एक देश से गिरा हुआ, अथवा पैके मकान की स्वच्छ इत्त से गिरा हुआ, अथवा स्वच्छ पानी में इकट्ठा किया हुआ सोने, चांदी का गिरी के पात्र में रखे और सब काढ में उसका उपयोग करे । यदि वह न मिले तो आकाशगुणधृश्यिष्ठ धृश्यिष्ठ से निकाला हुआ जल प्रवान हो । वह भीम जल किरा सात प्रकार का होता है । जैसे—१. कीप (हृष्ट का जल), २. नारेय (नदी का जल), ३. सारस, ४. तालाब का जल, ५. करने का जल, ६. अमीन से निकालने वाला जल, और ७. चौंड़ीय (कचे कुट का जल) ॥१॥

धर्कठय—चाकसंहिता में अन्तरिक्ष जल के गांग और सामुद्र भेद नहीं दिखाई देते । गांग और सामुद्र पारे भाविक रहत हैं । गांग का अर्थ गंगाजल के समान हुआ और हितकर हो सकता है और सामुद्र का अर्थ समुद्र के पानी के समान स्वास होता है । हारीतसंहिता में सामुद्र जल का इत्यादि देता दिया है—आदिकं समृद्ध नील घन विनमयापि वा । समुद्र पिण्डिल चैव सामुद्र तिविष्ठते ॥ मकानों के छतों से वर्षा जल इकट्ठा करने के लिये आज कल विशेष प्रकार के मंत्र (Robert s or Gibb's rain water Separator) होते हैं जो प्रारंभिक इत्युपि जल को छोटकर केवल छुद पानी को प्रवान करते हैं । दसलाले भौम—आन्तरिक्ष जल सब से उत्तम होता है इसलिये उसी का ही सेवन सौदैय करना हितकर है । दस्तु वर्षाजल बारहों भास मिलना तुरुम है इसलिये इसके समान गुण जियके होते हैं ऐसे आकाशगुणधृश्यिष्ठ धृश्यिष्ठ जल का सेवन करना चाहिये । चौंड़ीय—वर्षानां वापाननिपत्तिनम् । (इन्द्रु) ।

त्राव वर्षासामान्तरिक्षमौद्धिकं या सेवेत, महागुण त्वात्, शरदि सर्वं, प्रसदत्वात्, हेमन्ते सारसं तालागं या, वसन्ते कौपं प्राञ्चवाण वा, ग्रीष्मेऽप्येव, प्रावृष्टिं चौरूपमनभिष्टुष्ट सर्वं चेति ॥७॥

इनमें से वर्षा भौम में अन्तरिक्ष अथवा औद्धिक जल महागुणत्वात् होने के कारण सेवन करना चाहिये । वर्षाकर्तु में धृश्यिष्ठ प्रसद हो जाने के कारण सेवन करना चाहिये । हेमन्तकर्तु में सरोवर या तालाब का पानी पीना चाहिये । वसन्तकर्तु में छूट पा करने का जल पीना चाहिये और इसी प्रकार ग्रीष्मकर्तु में भी । प्रावृष्टिकर्तु में खुणी का पानी तथा वर्षा के पानी से जो दृष्टित नहीं हुआ है ऐसा (अनभिष्टुष्ट) सर्व प्रकार का जल पीना चाहिये ॥७॥

धर्कठय—नीं—अधितमास । वर्षाकर्तु के प्रारंभिक

महीने में वायुमण्डल धूसि तथा अन्य भीव जन्मुओं से रहने के कारण वर्षा का जल भी इनसे दूषित हो जाता बल्किया समझा गया है—वर्षाकर्तु में आकाश निरक्षण तथा जन्म और अधित का उदय होता है । सूर्य और अग्नि कियों पानी में पड़ने के कारण वर्षाकर्तु में स्वास सब जल वर्षाकर्तु में प्रसव हो जाता है । धर्कठय लिखा है—दिवा सौम्यमातृ निरि वाद्राशुषीतलम् । कर्णेन निर्वप्तगत्येनिर्विकृष्टम् । हीरेनविनि स्वान शाद विगत तु साननदानवाग्यै दिवमधु वयाशुपम् ॥

कीटमूर्पुरीयाङ्गदायकोथप्रदूषितम्
दण्डपर्णोत्कर्युतं कलुपं विपसंयुतम्
योऽव्यगाहेत वर्षासु पिवेदाऽपि नवं जलम्
स याद्याभ्यन्तरान् रोगान् प्रामुखात् द्विप्रमेघ तु ।

कीटे, मूत्र, विषा, (कीटों के) अंडे, सटे गडे शृत इनसे दूषित और तूण, शृंखले के पेट, इकड़ा इनसे संतुक्त ; गडे विषुक वर्षा के पानी में जो मनुष्य जान करता है उस नये पानी को पीता है वह मनुष्य (जोटे, कुनिस्तरी व इत्यादि व्यधात्मकत्वी) बाहा रोगों को तथा (अजीर्ण, मरवोष आदि) आम्यन्तर रोगों को ताकाल प्राप्त है ॥८॥

धर्कठय—कीट मूत्रादि पानी की अगुदिनी हैं । यह वे प्रकार की होती हैं—१. वनस्पतिज, २. स्वदिज या वर्षी और ३. प्राणियज । प्रथम प्रकार की अगुदिं वनस्पतियों सूखे पते तथा सूखे पेट आदि के पानी में सह जाने से होती है । दूसरे प्रकार की अगुदिं जिन जिन स्थानों में से पा आता है या जिन स्थानों में इकड़ा तालाब इत्यादि सो जाता है उन स्थानों की अन्तर्गत पहुंचि पर निर्मर होती है इस अगुदिता से पानी के वाषा स्वरूप में विशेष रूप न होता । इसमें लोहा, जस्ता, स्ट्रिक, स्प्यासेसिप्रम अथ इत्यादि स्वनिष्ठ पदार्थ होते हैं । सीसरे प्रकार की अगुदि स्वास्यव्याहानि की इष्टि से सब से भावत्व की है । इससे अने संकामक रोग उत्पन्न होते हैं । यह अगुदिता प्राणियों (विशेष करके मनुष्यों के) मलमूत्र का पानी के सा सर्वांगी होने से उत्पन्न होती है । व्याधित मनुष्यों के मलमूत्र में अनेक रोगों के विवाद्य उत्पन्नित होते हैं जो जल के सा मिलकर दूसरे स्वस्त मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर तो उत्पन्न करते हैं । वाद्याभ्यन्तरान् दीगान्—स्वचा के रोग तथा अस्तिमाण्य अस्तिमारादि अन्यतरीय दीग—स्वानेन त्वं रोगान् काङ्क्षुर्विर्विकृष्ट । पानेन कफगुणमाना कृषीनः वर्षान्तरं करोति विविधान् दीगान् । (हारीतसंहिता) । अक्षीन वैज्ञानिक खोज के अनुसार वर्षान्तरित अगुदिं से दस्त मरोद, स्विन अगुदिं से अस्तिमाण्य, मलोवोष और दस्त तवा गोलाम्ब (Goutre) प्राणिय अगुदिं से विसृक्तिका, अन्त्रिक (Typhoid fever) तथा निष्प्रभित्र प्रकार के वर्षा गोलूपद कृषि (Round worm), सत्राहमि (टी वर्म), चपटे हमि (Tape worm) अंकुषमुख

Hook worm), प्रतोदकुमि (Whip worm), स्नायुक मिमि (Guinea worm) इत्यादि उत्पन्न होते हैं ।

तत्र यत् पङ्कशैवालहट्टणपद्मपत्रभूतिभिरव-
वृद्धेश शशिसूर्यकिरणानिलैर्नाभिजुष्टं गन्धवर्णरसो-
पस्तुषं च तद्वापन्नमिति विद्यात् । तत्य स्पर्शरूप-
रसगन्धवीर्यविपाकदोषाः पद् संभवन्ति ॥१०॥

इनमें जो जल काई, हटवण (जलकुमिका—Pistia stratiotes), पष्पपत्र इत्यादि के पत्तों से व्यास है, जिसे चंद्र और सूर्य की किरणों का तथा वायु का स्पर्श नहीं होता तथा जो गन्धवर्ण और रसयुक्त है उसे दूषित जल समझना चाहिए । उसके छः दोष होते हैं—१ स्पर्शदोष, २ रूपदोष,
३ रसदोष, ४ गन्धदोष, ५ वीर्यदोष, और ६ विपाकदोष ॥१०॥

तत्र, स्वरता पैच्छिल्यमौष्ठ्यं दन्तत्राहिता च
स्पर्शदोषः; पङ्कसिकताशैवालवहुवर्णता रूपदोषः;
व्यक्तरसता रसदोषः; अनिष्टगन्धता गन्धदोषः;
यदुपयुक्तं तृष्णागौरवशूलकफप्रसेकानापादयति स
वीर्यदोषः; यदुपयुक्तं चिरादिपञ्चयते विष्ट्रम्भयति
वा स विपाकदोष इति । तं एते आन्तरिके न
न्ति ॥११॥

उनमें से स्वरता (तीक्ष्णस्पर्शता), पिण्डिलता (चिक-
नाहट), उण्डत और दन्तत्राहिता (अतिशीतता) ये दोष
स्पर्श के होते हैं । पङ्क, सिकता और शैवाल के (संलग्न से
उनके) वर्ण का दर्शन या (अन्य दोष के कारण नील
पीलादि) अनेक वर्णों का दर्शन यह रूप के दोष हैं । (किसी
भी प्रकार के) रस की प्रकटता रस का दोष है । ऊरी गंध
आना गन्ध दोष है । यदि उपयोग करने से तृष्णा, भासीपन,
शूल, कफ, प्रसेक (इत्यादि विकार) उत्पन्न हों तो वीर्य दोष
है । जिसके सेवन से अज्ञ देर से पचे और पेट में विष्ट्रम्भ
(मलावरोध, वायु का ऊड़पुड़ झुरु इत्यादि) हो तो यह
विपाक दोष है । ये (ऊपर कहे हुए छोंगों प्रकार के) दोष
आन्तरिक जल में (तथा आकाशगुणभूयिष्ठ भूमिगत जल में
भी प्रायः) नहीं होते ॥११॥

व्यापनस्य चाश्चिकथनं सूर्यातपत्रापनं तस्याः-
रेष्टसिकतालोध्राणां वा निर्वापणं प्रसादनं च
त्वेवं नागचम्पकोत्पलपाठलाषुष्प्रभूतिभिर्भाधि-
प्रसन्नमिति ॥१२॥

प्रूपित जल का विशेषण अभ्यं पर पानी ओटाने से, सूर्य
में पूष में गरम करने से तथा लोहे, रेती या मिट्टी के पिण्ड
पिण्ड में लाल करके पानी में छोड़ने से करना चाहिये और
पानी को सुर्यांधित करने का काम नामकेशर, चम्पक, कमल,
पाठल इत्यादि पुष्पों से करना चाहिये ॥१२॥

ब्रह्मचर्य—दूषित जल के सेवन से अनेक रोग उत्पन्न
होते के कारण उन रोगों से रक्षा करने के लिये पानी का
प्रसादन करना बहुत आवश्यक है । पानी में जो अचलनगस्य
पूष्पाणि, विषुष्ट पर्याप्त तथा जल वाले रोगों के जीवाणु होते
हैं उनको पानी से अलग करना यह पानी के प्रसादन या

विशुष्टि (Purification) का वर्ध है । यहीं प्रसादन की
तीन विधियाँ प्रदर्शित की हैं । इनमें पहली उक्तथन की विधि
सदासे उत्तम है और वैद्यनिक दृष्टि से भी उत्तम प्रमाणित
हुई है । क्योंकि जो विधि जलस्थित रोगीयादक जीवाणुओं
का नाश करती है, वही उत्तम कहलाती है । पानी उवालने
के पश्चात् उसमें स्थित हुए सर्व विकारी जीवाणु तथा छासि-
नष हो जाते हैं, उसमें विलीन हुए अमरीनिया आदि सर्व वायु
रूप पदार्थ निकल जाते हैं वीर खटिक तथा अन्य मैला तली
में दैठता है । संक्षेप में उवालने से स्वाध्यहनिकारक जल के
प्रायः सर्व दोष ब्रह्म हो जाते हैं । केवल जल यदि बहुत मटीला
हो तो वह निर्मल नहीं हो सकता । सूर्यमकाश में जल
तपाने की दूसरी विधि बहुत व्यावहारिक नहीं है, तथा इस
विधि के उपर अधिक विषास भी नहीं कर सकते; तथापि
यह निःसंदेष सिद्ध ब्रह्म है कि सूर्य की किरणों में जीवाणु-
नाशन की बहुत शक्ति है ज्ञाने प्रकृति में नैसर्गिक जल की
(नदी, तालाब, सरोवर इत्यादि की) शुद्धि करने में सूर्य
की किरणों द्वारा सहायता करती है । तस्य विष्ट्रों का निर्वापण
करके जलप्रसादन करने की तीसरी विधि व्यस्थ मुख्यों का
पीते का पानी शुद्ध करने के लिये प्रधलित नहीं है । इसका
उपयोग लग्नालस्या में सूषा हरण करने के लिये होता है—
मुस्ता पर्टक जरे, तुषि जर्ल शूद्धशूलेयोद्धवम् । (अष्टांगहस्य) ।
आधुनिक काल में जलप्रसादन की विधियों में वहुत कुछ
सुधार ब्रह्म है और जहाँ जहाँ इनका प्रयोग जारी ब्रह्म है वहीं
वहाँ जल दोषीत्पल रोग विलकूल नष्ट हो जाये हैं या उनकी
संस्था वहुत घट गई है । आधुनिक काल में पाकी की शुद्धि
निःसंदेष द्वारा की जाती है—(१) भौतिक विधि—(अ)
तिर्थ्यक्पातन (Distillation)—(आ) उल्कथन, (इ)
नील लोहित किण्णे (Ultra-violet-rays)—ये किण्णे छप्पित-
तया उत्पन्न करके पानी में प्रविष्ट की जाती हैं । (२)
रासायनिक विधि—(अ) प्रक्षेपण (Precipitation)—
इसमें निःसंदेष रासायनिक पदार्थ जल में विषिष्ट भास्त्रा में छाले
जाते हैं जिनकी क्रिया से पानी में जो मैला होता है वह तली
में छैंठ जाता है—यथा चूना, फिटकरी इत्यादि । (आ)
जन्तुनायन—इसमें निःसंदेष रासायनिक पदार्थ जल में विषिष्ट
भास्त्रा में छोड़ दिये जाते हैं जिनकी क्रिया से पानी में जो
विकारी जीवाणु होते हैं वे मर जाते हैं । यथा—प्रोट्रायासिभम
परमैगानेट, नीला तृतीया, छोरीन वायु इत्यादि । (३)
यांत्रिक निधारक (Mechanical filtration)—हूसमें छोटे
या बड़े नितारक द्वारा जल की शुद्धि की जाती है । इन सब
विधियों में विकारी जीवाणुओं का पूर्णतया नाश करने की
दृष्टि से उक्तथन के सिंवा दूसरी कोई विष्ट्रसनीय विधि नहीं
है । इन विधियों के विशेष विवरण के लिये अंथकार का
'स्वास्थ्यविज्ञान' (पृष्ठ ७५-९०) देखो ।

सौनवणे राजते ताम्रे क्लास्ट्रे भरियायेऽपि त्वा ।

पुष्पाबतंसं भौमे वा सुगन्धिस्तलिलं पिक्षेत् ॥१३॥

व्यापनं वर्जयेन्नित्यं तोयं वज्राप्यनात्तर्वम् ।

१४। व्यत्प्राददीताद्वितं तु सत् ॥१४॥

व्याप्तं सलिलं यस्तु पिपीहाप्रसाधितम् ।
भ्यरुं पाण्डुरोगं च त्वग्दोषमविपाकताम् ॥१५॥
भ्यासकासप्रतिद्यायश्वलगुरुमोदराणि च ।

अन्यान्या विषमान् रोगान्नामुयादचिरेण सः ॥१६॥

पुर्वों से मुग्धित किया हुआ जब सुर्खी, थारी, तांबा कोसा, स्टटिक (या कौच) अथवा मिट्टी इनमें बनने में पीता चाहिये ॥१३॥ दोष तुल (भैंस) जल सदा बरो भैंस के अतिरिक्त दूसरे भैंस का (आन्तरिक) जल सदा त्वग्नामा चाहिये । वह दोष उत्पन्न करने वाला है इसलिये प्रहण नहीं करे । उसका ग्रहण अद्वितीय होता है ॥१४॥ दूसरिं जल को विना प्रसाधन किये जो पीता है वह शोष, पाण्डुरोग, त्वचा की व्याधियाँ, अर्तीर्ण ॥१५॥ आम, कास, शुक्राम, शूल, गुस्त, उद्दर और अन्यान्य प्रकार के विषम रोगों को प्राप्त हो जाता है ॥१६॥

चक्रव्य—व्याप्त जल के सेवन से उत्पन्न होने वाले रोगों में गलगाढ़ शृंखु का उदाहरण है; भुक्षगुमुख कुमिरोग (Hook worm disease) पाण्डुरोग का उदाहरण है; स्नायुकृष्णि, दाद, फौंडे कुनियाँ त्वग्दोषके उदाहरण हैं । अविपाकित, शूल इत्यादि लक्षण केंद्रों के (Intestinal worms) कारण उत्पन्न होते हैं । आम, कास, प्रतिश्वाय ग्राघ अप्रव्यहरया उत्पन्न होते हैं ।

तत्र सप्त कल्युपस्य प्रसादमानि भवन्ति ।
तद्यथा—कतकगोमेदकपिसमन्धेशैवालमूलघच्छा-
णि मुक्तामियिष्येति ॥१७॥

मैले जल को निर्भय करने की साज बन्दूई हैं । जैसे—
१ काटक, २ गोमेदक (एक प्रकार का मणि), ३ विस्त्रियि (कमल की जड़), ४ यैवालमूल, ५ वज्र, ६ मुक्ता और
० सफेदिमणि ॥१७॥

चक्रव्य—वज्र के विवा इन सब पदार्थों के पानी में डालने से जल निर्भय हो जाता है । कनक—यह एक प्रकार का फल (Strychnos potatorum) है । पानी के साथ रगड़ कर पानी में मिला होने से थोड़ी देर में पानी की सारी मैल नीचे तली में फैलकर पानी निर्भय हो जाता है । इसलिये इसको 'निर्भयी' भी कहते हैं । वज्र—वज्र में छानने से जल निर्भय और कुद्र जीवजनु रहित हो जाता है । छानने के लिये वज्र धन (गफ्का) होता आवश्यक है । जहाँ नाह की (Guinea worm) बोमारी है वहाँ गफ्कार करके में से जल छानने पर रींग से रक्षा होती है—धनवस्त्रविलावै क्षुद्रजन्मविरुद्धम् । (अहोगांसम्भ), वस्त्रूत विवेदकम् ॥ (मनु इस्तुति ६.४६) ।

पञ्च निषेपणानि भवन्ति । तद्यथा—फलकं,
इयष्टकं, मुञ्जवलयं, उद्कमञ्जिका, दिक्षय चेति ॥१८॥

जलपात्र रखने के लिये पांच वस्त्रूते होती हैं । जैसे—१
फलक, २ इयष्टक, ३ मुञ्जवलय (मृत नामक धातु के बनाया हुआ कला, मराठीभाषा में बुंबल), ४ उद्कमञ्जिका,

५ विस्त्रियीत्यस्यापे लक्ष्मीमूलिष्ये कृषिलाठ, ६ वज्र

और ७ पिण्ड (मुंज के बने हुए छोटे जो घरों में स्टके हैं) ॥१८॥

घक्कव्य—भूमिगत पूलि भादि से रक्षा करने में इन बन्दूओं का उपयोग किया जाता है । निषेपण—नि-
रवायवेन्द्रेनि निषेपणमननम् ॥ उद्धव—भृक्षीनी निष-
भाववर्षट्वदनयेण । (इहश्य) । उद्कमञ्जिका—पानी के लिये विरोध पद्धति से बनाया हुआ उद्ध स्थान (form)—भाकाशान्तराने निष्वर्तनिहेनवैगवादिविरचिता वै
प्रभिताना । (इहश्य) ।

सप्त शीतीकरणानि भवन्ति—प्रवातस्याप
उद्कमप्रोपणं, यष्टिकाभामणं, व्यजनं, घलोद
घालुकाप्रोपणं, शिक्ष्यावलम्बनं चेति ॥१९॥

जल रक्षा करने की सात पद्धतियाँ हैं । १ प्रवातस
(चौंडे मुल के पात्र में पानी भरकर हवा में रखना)
उद्कमप्रोपण (टंडे जल से भरे पात्र में उद्कमप्र रखने
वायिकाभामण (चूंडी से पानी की हिलाना)
व्यजन (चौंडे पात्र में पानी भरकर पंख से पवन करने
५ वज्रोदरण (भींगे छपडे में लंपेट कर रखना), ६ वा
प्रशेषण (जल से भरे मिट्टी के पात्र को बालू में आ
गाढ़कर रखना), ७ पिण्डावनंबन (जलपात्र की छोटी
रक्कर हिलाते रखना) ॥१९॥

निर्गन्धमव्यक्तरसं तुष्णाम्बुद्धुचि शीतलम् ।

अच्छुं लघु च हृष्टं च तोयं गुणवदुच्यते ॥२०॥

गंधरहित, जिसमें छोड़ी भी रस प्रकट नहीं है ऐसा,
को शात करने वाला, हुदू, शीतल, स्वच्छ, इसका
(सेवन करने पर) मन में प्रसवता उत्पन्न करने वाला
जल प्रस्तावगुणुक कहलाता है ॥२०॥

तत्र नयः पश्यमिभिसुखाः पश्याः, लघू
त्वात् पूर्वाभिसुखास्तु न प्रशस्यन्ते, गुरुदक्षिणा
दक्षिणाभिसुखाः नाऽतिदोषलाः, साधारणत्वात्
तत्र सहायमवाः कुष्ठं जनयन्ति, विन्द्यप्रभवाः वृ
पाण्डुरोगं च, मलयप्रभवाः कृमीन्, महेन्द्रप्रभवाः
शीतिपदोदराणि, हिमवत्प्रभवाः हृद्रोगव्ययुषिः
रोगस्तीपदवगलगण्डान्, प्राच्यावन्त्या अप
वन्याद्याशाशृंस्युपजनयन्ति, पारियाप्रभवाः पृ
ष्ठालायर्यकर्य इति ॥२१॥

पश्यम को बहने वाली नदियों का जल हल्का होने का
कारण पश्यकर होता है । पूर्व को बहने वाली नदियों का
भारी होने के कारण पश्यकर नहीं है । इक्षियों को बहने की
नदियों का जल साधारण होने के कारण बहुत दोष उठा
करने वाला नहीं है । इनमें से साधारण पूर्व से निकली
नदियों का जल कुठ उत्पन्न करता है । विन्द्यप्रभव से निक
हुई नदियों का जल कुठ और पाण्डुरोग उत्पन्न करता है
महेन्द्रप्रभव से निकली हुई नदियों का जल कृमीन् उत्पन्न
करता है । महेन्द्रप्रभव से निकली हुई नदियों का जल क्षी
और उद्दर रोग उत्पन्न करता है । हिमालयप्रभव से निक

नदियों का जल हृदोग, शीथ, गिरोरोग, श्लीपद और एह उत्पन्न करता है । उज्जिनी से पूर्व और पश्चिम नदियों का जल अर्थ उत्पन्न करता है । पारियात्र से हुई नदियों का जल पथ्यकर, बलकर और आरोग्यकर है ॥२१॥

वक्तव्य—पश्चिमाभिमुखः—पश्चिमोदधिगः । पूर्वपश्चिमाभुव नदियों के जल के पश्यापथ्य के संबंध में वाघट में एक स्पष्टस्प से लिखा है—पश्चिमोदधिगः शीघ्रवद्या याक्षामलोः । पथ्यः समासाता नवो विपरीतास्ततोऽन्यथा ॥ हिमवत्प्रभवा—गालय और मालय पर्वत से निकली हुई प्रत्येक नदी अपथ्यकर होती है । घरक और वाघट के मतानुसार केवल नदी अपथ्यकर होती है जो मन्दवह अर्थात् उपत्यकाव है । जो शीघ्रवह है अर्थात् अधित्यकाप्रभव है वह कर होती है—उपलास्कालनादेवपदिच्छेदः सेवितोदकाः । हिम-पश्चिमोद्धतः पथ्यः, ता एव च स्थिरः । कुमिभीपदत्वन्थिशिरो-न प्रकुर्वते ॥ (अर्द्धागसंग्रह) । प्राच्यावन्त्या अपरावन्त्याश्च—शादत्त और हन्तु के अनुसार इसका अर्थ दंगाल, मालवा र कोण (महाराष्ट्र) होता है । शीघ्रदग्धगण्ड—ये रोग गालय के तराई प्रेदेश में अधिक होते हैं । इनमें शीघ्रदरोग ऐत जल के सेवन से नहीं होता । यह रोग 'मायको फाय-डेंग' नामक सूक्ष्म कुमि भरडरों के काटने से शरीर में होने के पश्चात् होता है । गलगण्ड रोगनिदान के संबंध अभी तक ठीक निर्णय नहीं हुआ है । कुछ शास्त्रज्ञ मलमूत्र ऐत साधारण्य के सेवन से, कुछ ग्वायांपय में आयोडिन (iodine) की कमी से, कुछ जीवनीयद्रव्य ए, वी, (Vitamin A, B.) और फासफेट की कमी से, कुछ मकड़े, ईसी और गोभी (Cabboge) इत्यादि पदार्थों में मिलने वे गलगण्डनक पदार्थ (Goitrogenous) के सेवन से माण की उत्पत्ति समझते हैं । कुछ शास्त्रज्ञ इसका कारण गाण भी मानते हैं जिसका अभी तक ठीक ठीक ज्ञान नहीं पा है । इसमें संदेह नहीं है कि गलगण्ड अनेक कारणों से ता है परन्तु आयोडिन की कमी उसका प्रधान कारण है ।

नद्यः शीघ्रवहा लघ्यः प्रोक्ता याक्षामलोदकाः ।

गुरुर्थः शैवालसंच्छाशः कलुषा मन्दगाश्च याः ॥२२॥

प्रायेण नद्यो मरुषु सतिका लवणान्विताः ।

पैतक्याया मधुरा लघुपाका वले हिताः ॥२३॥

जो नदियाँ शीघ्र वहने वाली तथा निर्मल जल वाली हीं वे हल्की होती हैं । (यानि उनका पानी हल्का होता हीं काई सिवार से भरी हुई, मैली और मन्द वहने वाली होती हीं वे (उनका पानी) भारी होती हैं ॥२२॥ । प्रायः लेप (मारवाह) की नदियों का जल तिक, लवण, कुछ गाय और मधुररसयुक्त होता है और पचने में हल्का तथा ले के लिये हितकर होता है ॥२३॥ ।

वक्तव्य—शीघ्रवह—नदी, नद, तालाब इत्यादि जल-
मों का पानी कई कारणों से निरन्तर खराब होता रहता है,
जिपि उस खराब पानी को शुद्ध करने के लिये प्रकृति में

१ लन्तः समधुररस्यैव पौरुषेया वले हिताः ।

कई साधन होते हैं । उनमें से सूर्यप्रकाश का दृष्टेत्र फौलं किया गया है । इसके सिवाय निझ शाधन भी प्रकृति में खराब पानी की शुद्धि करने में सहायता करते हैं । यथा—पानी का प्रवाह, काई सीवार इत्यादि जलवासी, वनस्पतियाँ, जलवासी मछली, आविसजन (प्राणवासु) और जीवाणु (Sapiophytic Bacterin Bacteriophage) । प्रवाह के कारण पानी में जो गंदगी होती है वह एक खान में इकट्ठा न होकर तमाम पानी में मिलकर नीचे निकल जाती है और पानी साफ हो जाता है—नदी वेगेन शुद्धि । (मनुस्तुति) ।

तत्र सर्वेषां भौमानां ग्रहणं प्रत्यूपसि, तत्र श्यमलत्वं शैत्यं चाधिकं भवति, स एव चापां परो गुणं इति ॥२४॥

भूमिगत सब जलों का ग्रहण प्रभात समय में करना चाहिये, फर्योकि प्रभात जल में निर्मलता और शीतलता अधिक होती है और यही जल का परम गुण है ॥२४॥

द्विवार्ककिरर्णैर्जुष्टं निशायामिन्दुरश्मभिः ।

अरुष्ममनभिष्यन्दि तत्तुल्यं गगनाम्बुना ॥२५॥

गगनाम्बु शिदोपम्बू गृहीतं यत् सुभाजने ।

बल्यं रसायनं मेष्यं पात्रापेत्ति ततः परम् ॥२६॥

जो जल दिन में सूर्य की किरणों से और रात्रि में चंद्रमा की किरणों से संस्कृत होता है तथा जो रुक्ष और अभिष्यन्दी नहीं है वह जल (गुण की दृष्टि से) आन्तरिक्ष जल के समान है ॥२५॥ अच्छे पाय में ग्रहण किया हुआ आन्तरिक्ष जल ग्रिदोपनाशक, बलकारक, रसायन और शुद्धिवर्धक होता है । इसके सिवा जैसे पाय में उसका ग्रहण किया हुआ हो, उसके अनुसार भी जल के गुण होते हैं ॥२६॥

वक्तव्य—अनभिष्यन्दि—हृदयसाक्षनिर्यासिवाहिस्तोमुखानि यत् । भुक्तं लिङ्पति पैच्छित्यादभिष्यन्दि तदुन्यते ॥ वैशायात् कफहन्तृवात् तान्येव विवृणीति यत् । तदुक्तमनभिष्यन्दि द्रव्यं द्रव्यविशारदैः ॥ रसायन—लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥ (घरक) । मेष्य—मेष्या धारणाशक्तितस्य हितम् ॥

रक्षोम्बं शीतलं ह्रादि ज्वरदाहविषापहम् ।

चन्द्रकान्तोद्भवं वारि पित्तम्बं विमलं स्मृतम् ॥२७॥

चन्द्रकान्त मणि का जल राक्षसों का भयहारक, आह्लाददायक, ज्वर, दाह तथा विष इनको दूर करनेवाला, पित्तनाशक और निर्मल होता है ॥२७॥

वक्तव्य—चन्द्रकान्त मणि के संबंध में प्राचीन कल्पना यह है कि चन्द्र किरणों का संस्पर्श होने पर उससे जल त्वत्ता है—द्रवति च हिमरशमादुदते चन्द्रकान्तः । (भवभूति) ।

भूर्ज्वर्षपित्तोष्णदाहेषु विषे रक्ते मदात्यये ।

अमहूमपरीतेषु तमके वमथौ तथा ॥२८॥

ऊर्ज्वरे रक्तपित्ते च शीतमस्मः प्रशस्यते ।

मूच्छी, पित्त के रोग, उष्ण काल, दाह, विष के रोग, मदात्यय, अम और हम युक्त अवस्था, तमक (चक्र आना),

ते १२,३२, प्रोटीन ०.६२, कार्बोहाइड्रेट (शर्कराजातीय) ० और क्षार ०,२६ । इसमें लेहजातीय कोई द्रव्य होता ।

रोचके प्रतिश्याये प्रसेके श्वयथौ ज्यये ॥४५॥
न्देऽशुद्धुदे कुष्ठे ज्वरे नेत्रामये तथा ।

णे च मधुमेहे च पानीयं मन्दमाचरेत् ॥४६॥

इति जलवर्गः ।

अस्त्रि, प्रतिश्याय, प्रसेक (Catarhal Conditions), प (सर्वोग या अर्धोग), ज्यय, मन्दमाच, उदररोग, कुष्ठ, नेत्रविकार, ज्वर और मधुमेह हृतने रोगों में पानी बहुत पीना चाहिये ॥४५,४६॥

चक्टव्य—उपर्युक्त रोगों में से ज्वर और मधुमेह में सेवन की कमी आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा की दृष्टि प्रशस्त नहीं होती । अन्य रोगों में कम से कम पानी का । सेवन करने से नुकसान नहीं होगा । इति जलवर्गः ।

अथ क्षीरवर्गः ।

गव्यमाजं तथा चौप्लामाचिकं माहिषं च यत् ।

अश्वायाश्वैव नार्याश्व करेणूनां च यत्पयः ॥४७॥

क्षीरवर्ग—गौ का, बकरी का, जँटनी का, भेड़ का, भैंस, घोड़ी का, स्त्री का और हथनी का जो दूध है ॥४७॥

चक्टव्य—अश्वायाः—हृसका अर्थ केवल घोड़ी नहीं है । इशब्द एक शर्कर्वगे के प्राणियों का निर्दर्शक है । आगे येक प्रकार के दूध का गुण वर्णन करते समय घोड़ी के दूले एकशप शब्द प्रयोग किया है—उण्डैकरक वल्यं शायावातपयः । एकशफः—एकविभागः खुरो वस्य स एकशफः अश्वगर्ददिः ॥ (इन्द्रु) । आयुर्वेद में अनेक प्राणियों के दूध का प्रयोग अपौष्टवर्थ किया जाता है; परन्तु पीने के लिये जिनका ध प्रयुक्त होता है वे उपर्युक्त आठ प्रकार के प्राणी हैं । अन्य प्राणियों के दूध का उपयोग अधिकतर लेप के लिये किया जाता है—अश्वायाश्व नार्याश्व करेणूनां चेति चकात्रयमनुक्तमाजतीयक्षीराणां समुच्चयार्थं, तेनाश्वतरीखरीमृगीखइगिनीक्षीरामपि ग्रहणम् । तथुनभूयसा लेपे युज्यत इति न कृतं साक्षात्तदग्रहणम् । डल्हण ।) आज कल गधी का दूध बालकों को पीने के लिये बहुत दिया जाता है, क्योंकि रासायनिक विश्लेषण करने पर उसका संगठन स्त्री के दूध के समान सिद्ध हुआ है । आगे गठन की तालिका देखो ।

तत्त्वनेतौषधिरसप्रसादं प्राणदं गुरु ।

मधुरं पिञ्छिलं शीतं स्निग्धं श्लेषणं सरं मृदु ।

सर्वप्राणभृतां तस्मात् सात्म्यं क्षीरमिहोच्यते ॥४८॥

(यहाँ ऊपर जो कई प्रकार का दूध वर्णन किया है) वह अनेक प्रकार के खाद्य द्रव्यों के सारभाग का प्रसाद, प्राणधारक (बलकारक), भारी, मधुर, गाढ़ा, शीतल, चिकना, श्लेषण, ईयत्, विरेचक और मृदु होता है; अतः सर्व प्राणियों के स्त्रिये दूध सात्म्यकहलाता है ॥४८॥

चक्टव्य—ओपथि—ओपथि शब्द से यहाँ पद्मसात्मक आहारोपयोगी द्रव्यों का वोध होता है—शाणितं पुनर्मूल्याद्यो

वलवर्णोजसां च, स पद्मु रसेष्वायतः, रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः, द्रव्याणि पुनरोपयः ॥ (सुश्रुत) । मधुरादि दूध के साधारण गुण समझने चाहिये, क्योंकि बकरी का दूध उण्णा, कपाय और ग्राही होता है, जँटनी का दूध उण्णा, लवण होता है । सर—मृदुविरेचक (Laxative) । यह विरेचन का कार्य केवल पित्त प्रकृति मनुष्य में होता है—तत्र वहुपितो मृदु; स दुर्ग्रेषणापि विरच्यते ॥ (सुश्रुत) । सर्वप्राणभृताम्—मनुष्य मात्रों के लिये—‘सर्वप्राणभृतां सात्म्यम्’ इत्यत्र सर्वशब्दश्रित्यतया प्रकृतसर्वमनुष्येष्व वर्तते । (चक्रपाणिदत्त) । किंवा सर्व सस्तन प्राणियों के लिये ।

तत्र सर्वमेव ज्ञीरं प्राणिनामप्रतिपिद्धं जाति-सात्म्यात्, वातपित्तशोणितमानसेष्वपि विकारेष्व-विरुद्धं जीर्णज्वरकासश्वासशोपक्षयगुलमोन्मादोदर-मूर्छाभ्रममददाहपिपासाहद्वस्तिदोषपाणुद्वरोगग्रह-रीदोषार्थःश्लोदावर्तातिसारप्रवाहिकायोनिरोग-गर्भासावरक्तपित्तश्रमकृमहरं पाप्मापहं वल्यं वृष्ट्यं वाजीकरणं रसायनं मेध्यं सन्धानमास्थापनं वयःस्थापनमायुष्यं जीवनं वृद्धणं वमनविरेचनं तुल्यगुणत्वाच्चैजसो वर्धनं वालवृद्धज्ञतद्वीणानां क्षुद्रवायव्यायामकर्शितानां च पद्धतमम् ॥४९॥

जन्म से दूध सेवन का अभ्यास होने के कारण मनुष्यों के लिये सर्व प्रकार का दूध (सेवन के लिये) निषेध योग्य नहीं होता है । वात, पित्त, रक्त तथा मानस रोगों में भी दूध विरुद्ध नहीं है । जीर्णज्वर, खाँसी, श्वास, राजयक्षमा, शरीर-शुक्रता, गुल्म, उन्माद, उदर, मूर्छा, अम, मद, दाह, तृष्णा, हृद्रोग, मूत्ररोग, पाण्डुरोग, महणी, बवासीर, श्लूल, उदावर्त, अतिसार, प्रवाहिका, योनिरोग, गर्भास्त्राव (Abortion), रक्तपित्त, श्रम और छुम इतने रोगों को दूध दूर करता है । पाप का नाशक, बलकारक, वृष्ट्य, वाजीकरण, रसायन, मेधावर्धक, दूटी हुड़ी का संधान करने वाला, निरुद्धवस्ति के लिये उपयोगी, वय की यथाग्रमाण स्थिर रखने वाला, आयुर्वेदिक, जीवनीय, शरीरपुष्टिकर, वमनोपग, विरेचक, तुल्यगुण होने के कारण ओज को बढ़ाने वाला होता है । वालक, वृद्ध सथा ज्ञतक्षीणों को और क्षुधा, मैथुन, व्यायाम इनसे क्षीण हुए मनुष्यों को अत्यंत पर्यक्त है ॥४९॥

चक्टव्य—जातिसात्म्यात्—आजन्मनः शीलित्वात् । जीर्णज्वर—जारह या एक्सिस दिन से अधिक काल का पुराना ज्वर—यो द्वादशोम्यो दिवसेभ्य ऊर्ध्वं दोपत्रयेभ्यो द्विष्णेभ्य ऊर्ध्वम् । नृणां तनौ तिथित मन्दवेगो भिषग्भिरत्सो ज्वर एव जीर्णः ॥ (भावग्रकाश) । त्रिसामाहव्यतीतस्तु ज्वरो यस्तनुतां गतः । धीरामिसाद कुरते स जीर्णज्वर उच्यते ॥ वस्तिदोप—मूत्रप्रिण्ड या वृक्त के विकार (Kidney or Urinary disorders) । सर्वेषां पुनर्भूत्रोगेणामपिष्ठानं वस्तिः । (अष्टांगसंग्रह) । पापापह—वस्त्रादि का चौर्य कर्म से जो पाप होता है उसका हरण करने वाला—कारपतकीटजोरीनां द्विशफैकरकस्य च । पक्षिगन्धीपीडीनां च रज्जाशैव च्याहं पयः ॥ (मनुस्तृति) । वृद्धम्—यत्किञ्चिन्मधुरं त्विग्रहं जीवनं वृद्धणं गुरु । हर्षणं मनसशैव तत्सर्व वृष्ट्यमुच्यते ॥ (चरक) । वाजीकरण—ये त्रि

नारीं सामर्थ्य वाजीवलभने नर । ग्रनेकाभ्यग्नि वेन वाजीकरणमव
तप् ॥ (चरक) । संयान—भ्रामसयोजक । जीवन—जीवन के
लिये अत्यन्त आवश्यक, हम दूष में दूष के जी उग्रार्थ्यं वर्णित
किये हैं उनको देखत हुए यह प्रसीदत होता है कि ससार में दूष
के मुकाबले में तुम्हारा कोई पदार्थं नहीं हो सकता । परन्तु यह
अतिरिक्तानि नहीं है । आयुनिक वैज्ञानिक कस्टीटी का प्रयोग
होने पर भी लाघु द्रव्यों में दूष की सर्वभैता सिद्ध हुई है ।
जन्म से लेकर मृत्यु के समय तक ऐसी कोई भी अवस्था नहीं
है कि जिसमें दूष का प्रतिवेष होता है । वातावायस्या के प्रथम
दो तीन वर्षों तक दूष ही जीवन का आधार है । जिनको
माता पा गी का दूष पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता, उनका
स्वास्थ्य सदा के लिये विगड़ जाता है । वातावस्था वृद्धावस्था
में, थके मादे अवस्था में तथा अग्रे प्रकार के रोगों में दूष
ही पर्यक्त होता है । इसका एकमात्र कारण यह है कि शरीर
सर्वधन के लिये खाद्यद्रव्यों के जिन उपादानों की
आवश्यकता होती है ये सब उपादान दूष में विश्वासा होते
हैं, जिससे आवश्यकता के अनुमान न्यूनाधिक मात्रा में
केवल दूष का ही संवेदन करने से मनुष्य स्वस्थ तथा व्यापित

व्यवस्था में सतीत रह सकता है । इसलिये दूष पूर्णांशा
कहलाता है । दूष का मण्डन—दूष में रसरतादि धाराओं की कृदि
और क्षति की पूर्ति के लिये आवश्यक प्रीटीं होती हैं । यस
या चर्ची होनी है । यह वसा इतने सूख मण्डों के रूप में दूष
में फैला रहती है कि एक हैंड में पंद्रह लक्ष के लागतगा कथा होते
हैं । इस कारण से दूष की चर्ची पक्षने में हल्की होती है । दूष
में दुग्धर्गकरा (Lactose) नामक गृहकरा होती है । चूना,
सोडिअम, पोटासिअम आयनेशिअम, लोह, रस्यक, फास्टरम,
आयोडिन इत्यादि शरीर के लिये अत्यावश्यक खनिज भी
दूष में होते हैं । इनके अलावा जीवन रक्त के लिये आवश्यक
सब जीवद्रव्य विशेष करके पु दी है (Vitaminine A D D) भी दूष में उपरित्थ रहते हैं । जो जानवर तामी
हिरण्याली तथा धास अधिक खाता है और दूष प्रकाश में
धूम्रता पिरता है उसके दूष में इन जीवद्रव्यों की मात्रा
अधिक होती है । जिन भिज्ज प्राणियों के दूष में ग्रोटीनादि
उपादानों की भिज्ज भिज्जा हुआ करती है, इसलिये इनके
दूष के सगड़न का कोहक उपर दिया गया है ।

इस कोहक में प्रायेक दूष के क्षार की जो राधि बतलाई
है वह वास्तविक राधि से कुछ कम है, क्योंकि इस राधि का
निरूप उच्च तापमान (Higher Temperature) पर किया गया
है । प्रायेक वर्ग के प्राणी के दूष का संगठन भी विशेष जाति,
नसल (Breed), जलवायु, क्षेत्र, आहारविहार, आयु,
प्रमूलि के पश्चात् का काल, प्रदेश इत्यादि की भिज्जता के
अनुसार बदलता रहता है । दूष पक्षन में हस्का तथा पीटिक
होता है । उसका सारभूत भाग पक्षन करने में तथा मल
स्वस्थ भाग शरीर के बाहर निकाल देने में शरीर के दृढ़ादि
इत्यर्थों को बहुत कम कष्ट करना पड़ता है तथा शरीर के सेलों
का हास भी कम होता है । दूष जब आन्त में पूर्णता है तब
आन्तरिक जीवाणुओं तथा उनके विष का नाश (Anti toxic)
किया करता है । यदि थोड़े दिन के बाल दुग्धाहार सेवन किया
जाय तो आन्तरिक जीवाणुओं की संख्या बहुत कम हो जाती
है । यह कार्य विशेष करके दुग्धर्गकरा से होता है । यह
शर्करा आन्त में स्वाक्षिक तथा सक्सीनिक अम्ल (Lactic and Succinic Acid) में परिवर्तित होकर उनकी सहायता
से जीवाणुनाशन का कार्य दूष तथा दही करता है । इसका
विशेष लाभ आगे दही के बर्जन में होता ।

अल्पाभियन्दि गोहीरी विशेष गुरु रसायनम् ।

रसपिसहरं शीतं मधुरं रसपाकयो ।

जीवनीय तथा वातपित्तम् परम स्मृतम् ॥५०॥

जी का दूष—अल्पाभियन्दि, विष, भारी, रसायन रक्त
पित्त नायक, शीतल, भीड़, विषक में मधुर, जीवनीय तथा
वात और पित्त का परम नाश करने वाला होता है ॥५०॥

गव्यतुल्यगुण त्वाज विशेषाङ्कोपिषया हितम् ।

दीपन लघु संग्राहि श्वासकासाक्षिपित्तनुद ॥५१॥

अज्ञानामन्त्रकायत्यात् बुद्धितिकनिषेवणात् ।

नात्यमुपानाद इयायामात् सर्वयापिधरं पथ ॥५२॥

चकरी का दूध—(गुण में) गी के दूध के समान, प करके राजयक्षमा के रोगी के लिये हितकर, दीपन, का, संग्राहि (अर्थात् अतिसार में उपयोगी) होता है; १ श्वास, कास और रक्त पित्त को दूर करता है ॥५१॥ रियों का दूध शरीर छोड़ होने से; कटु, तिक (चृक्षों पर्वे निय) सेवन करने से; धोढ़ा जल पीने से और लाम करने से सब व्याधियों का हरण करने वाला होता है ॥५२॥

हस्तोप्त्यं लवणं किञ्चिद्दोष्ट्रं खादुररसं लघु ।

रोपशुत्तुलमोदरार्थोऽप्तं कृमिकुष्ठविषापदम् ॥५३॥

ऊँची का दूध—रुक्ष, गरम, किञ्चित् सारा, मधुर और कठा होता है तथा शोथ, गुल्म, उदररोग, अर्ण, कृमि, कुष्ठ और विष का नाशक है ॥५३॥

आंधिकं मधुरं स्त्रिग्रं गुरु पित्तकफावहम् ।

पथ्यं केवलवातेषु कासे चानिलसंभवे ॥५४॥

भेदी का दूध—मधुर, द्विघ, भारी, पित्त और कफ आरक है तथा केवल वात के रोगों में तथा वात के कास में ध्यकर होता है ॥५४॥

महाभिष्यन्दि मधुरं माहिषं चहिनाशनम् ।

निद्राकरं शीततरं गव्यात् स्त्रिग्रं तरं गुरु ॥५५॥

भेद का दूध—अधिक अभिष्यन्दि, मधुर, (मंद) गठरास्त्रि का नाशक, निद्रा उत्पन्न करने वाला, शीतल और गी के दुर्घ से अधिक स्त्रिग्रं तथा भारी होता है ॥५५॥

उप्पामैकशैकं वल्यं शाखावातहरं पथः ।

मधुरास्तररसं रुक्षं लवणानुरसं लघु ॥५६॥

एक शफ वाले चतुष्पादों (धोड़ी, गधी आदि) का दूध—उप्पा, घलकारक, हाथ पैरों के वायु का नाशक, रस में मधुर तथा अम्ल, रुक्ष, अनुरस में लवण और हलका होता है ॥५६॥

नार्यास्तु मधुरं स्तन्यं कपायानुरसं हिमम् ।

नस्याश्वयोतनयोः पथ्यं जीवनं लघु दीपनम् ॥५७॥

स्त्री का दूध—(रस में) मधुर, अनुरस में कपाय, शीतल, नस्य और आश्वयोतन (नेत्र में टपकाने) के लिये पथ्यकर, जीवनीय, हलका और दीपन होता है ॥५७॥

हस्तिन्या मधुरं वृष्ट्यं कपायानुरसं गुरु ।

स्त्रिग्रं स्थैर्यकरं शीतं चभुज्यं चलवर्धनम् ॥५८॥

हथिनी का दूध—(रस में) मधुर, वृष्ट्य, अनुरस में कपाय, भारी, द्विघ, शरीर को स्थिर करने वाला, शीतल, नेत्र के लिये हितकर और चलवर्धक होता है ॥५८॥

प्रायः प्राभातिकं जीरं गुरु विष्ट्रिमि शीतलम् ।

रात्र्याः सोममुण्डत्वाच्च व्यायामाभूतस्तथा ॥५९॥

द्विचाकराभितसानां व्यायामानिलसेवनात् ।

वैतानुलोभि श्रान्तिश्च चभुज्यं चापराह्लिकम् ॥६०॥

रात्रि में चंद्र के (शीतल) गुण होने से तथा (चलने किरने का) व्यायाम न होने से (जानवरों का) प्रभात का दूध भारी, विष्ट्रिमि और शीतल होता है ॥५९॥ दिन में सूर्य की किरणों से अभितस होने से, (चलने किरने का) व्यायाम होने से तथा (शुद्ध) वायु के सेवन से संध्या के समय का दूध वायु को अनुलोभि करने वाला, श्रमनाशक और नेत्रों के लिये हितकर होता है ॥६०॥

पयोऽभिष्यन्दि गुरुमं प्रायशः परिकीर्तितम् ।

तदेवोक्तं लघुतरमनिष्यन्दि वै श्रुतम् ॥६१॥

कद्या दूध—प्रायः अभिष्यन्दि और भारी ऐसा कहा जाता है। वही यदि (युक्ति से ठीक) औटाया जाय तो बहुत हलका और अनभिष्यन्दि होता है ॥६१॥

वर्जयित्वा श्रियाः स्तन्यमाममेव हि तद्वितम् ॥६२॥

स्त्री के दूध के सिवा (सब प्रकार के दूध गरम करके पीने योग्य हैं)। स्त्री का दूध कद्या ही हितकर होता है ॥६२॥

धारोप्त्यं गुणवत् जीरं विपरीतमतोऽन्यथा ।

तदेवातिशृतं शीतं गुरु वृंहणमुच्यते ॥६३॥

धारोप्त्या दूध (अमृत के समान) गुणादायक होता है, और इसके विपरीत (बहुत) देर का निकाला ठंडा (विष के समान) अवगुणादायक होता है। वही अधिक औटाया हुआ ठंडा दूध भारी और शरीर पुष्टिकर होता है ॥६३॥

वक्तव्य—वास्तव में धारोप्त्या दूध अमृत के समान गुणकारक है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु यह दूध अपने स्वच्छ हाथों से स्वच्छ वर्तन में स्वस्य गौ या अन्य प्राणी के स्वच्छ स्तनों से निकाल कर सान्द्र स्वच्छ कपड़े से छान कर गरम गरम पीना चाहिये। इससे दूध में किसी प्रकार का विषम परिवर्तन नहीं होता, उसमें धूलि तथा जीवाणु प्रविष्ट नहीं होते, शरीर उपास्ता के वरावर गरम होने के कारण पचन सुलभ होता है और उसमें होते वाले शरीरपोषक सर्व उपादान तथा जीवद्रव्य शुद्ध और नैसर्गिक अवस्था में मिलते हैं। माता का या भात्री का दूध वालक सीधा स्तन से ही सेवन करता है इसलिये वह दूध धारोप्त्या दूध से भी अधिक गुणकर होता है। इस कारण से लौ के दूध का सेवन आमावस्या में करने के लिये कहा है। यदि उत्तम धारोप्त्या दूध न मिले तो दूध अच्छी तरह उवालकर पीना ही योग्य है। कच्छा ठंडा दूध पीना ठीक नहीं है। कारण यह है कि दूध निकाल कर रखने से उसमें वायुमंडल की कई खराब वायु शुल जाती हैं तथा धूलि और अन्य जीवाणु प्रविष्ट होते हैं जिनके कारण कई प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। अतः जीवाणुजन्य रोगों से बचने के लिये दूध उवाल कर पीना बहुत आवश्यक है। परन्तु उवालने से दूध में निश्च परिवर्तन होते हैं, जिससे उसकी पौष्टिकता कम हो जाती है और वह पचने में गरिष्ठ होता है। उवालने से दूध का जलांश कम हो जाता है, दुग्ध-शर्करा का कुछ अंश जलकर दूध का रंग भूरा होता है, उसके प्रोटीन विघटित हो जाते हैं, फार्स्करस जो पहले सेंद्रिय

नारीपु सामर्थ्य वाजीवहभने नार। प्रेतेचाभ्यन्ति येन वाजीकरणमेव तद् ॥ (चरक) । सत्त्वान—भास्त्रस्योत्तक। जीवन—जीवन के स्तिये अत्यन्त आवश्यक, इस सूत्र में दूध के जो गुणधर्म वर्णन किये हैं उनको देखने हुए यह मनीत होता है कि सत्त्वार में दूध के मुकाबले में दूसरा काँड़ वदार्थ नहीं हो सकता । परन्तु यह अतिशयोक्ति नहीं है । आयुनिक वैज्ञानिक कस्तीटी का प्रयोग होने पर भी साधाद्य दूसरी में दूध की सर्वधेष्ठता सिद्ध हुई है । जन्म से लेकर सात्यु के समय तक ऐसी कोई भी अवस्था नहीं है कि जिसमें दूध का प्रतिवेष होता है । बालवायस्था के प्रथम दो तीन वर्षों तक दूध ही जीवन का आधार है । जिनको माता पार्ही का दूध पायात मात्रा में नहीं भिलता, उनका स्वास्थ्य सदा के लिये विश्वास जाता है । बालवायस्था में, थके मादि अवस्था में सदा अनेक प्रकार के रोगों में दूध ही पथ्यकर होता है । इसका एकमात्र कारण यह है कि शरीर सर्किर के लिये साधारणी के जिन उपादानों की आवश्यकता होती है वे सब उपादान दूध में विद्यमान होते हैं, जिससे आवश्यकता के अनुमान न्यूनाधिक मात्रा में नेतृत्व दूध का ही सेवन करने से मनुष्य स्वस्थ तथा व्याधित

अवस्था में सनीव रह सकता है । इसलिये दूध प्राणीहा कहलाता है । दूध का माघन—दूध में रसस्तादि धातुओं की वृद्धि और क्षति की पूर्ति के लिये आवश्यक मोटीने होती है । वस या चरबी होती है । यह वसा इतने सूक्ष्म कण्ठों के रूप में दूध में फैला होती है कि एक हौंड में पवाह लक्ष के लगभग कम होते हैं । इस कारण से दूध की चरबी पचने में इलकी होती है । दूध में लॉक्टोज़ (Lactose) नामक राहिरा होती है । घृता, सोडियम, पोटायमियम म्यानोनेसिम, लौह, राष्ट्रक, काल्करस आयोडिन हृत्यादि शरीर के लिये अत्यावश्यक सूनिज भी दूध में होते हैं । इनके अलावा जीवन इतने के लिये आवश्यक सब जीवद्रव्य विशेष वरके प् दी है (Vitamins A D E) भी दूध में उत्तिष्ठत होते हैं । जो जननवर ताजी हिरियाली तथा धारा अधिक खाता है और सूखे प्रकार में घृमता किताता है उसके दूध में इन जीवद्रव्यों की मात्रा अधिक होती है । यिन यिन ग्राहियों के दूध में मोटीनादि उपादानों की भित्र भिजता हुआ करती है, इसलिये इनके दूध के भगान का कोष्ठक उपर दिया गया है ।

इस कोष्ठक में प्रायेक दूध के झार की जो हाथि बतलाई है वह सासाकिंव राशि से कुछ कम है, क्योंकि उस राशि का नियमित उच्च तापमान (Higher Temperature) पर किया गया है । प्रायेक वर्ग के प्राणी के दूध का संग्रहन भी विशेष जाति, नसल (Breed), जलायु, जल्दी, आहारविहार, आयु, प्रसूति के पश्चात् का काल, प्रदेश हृत्यादि की भित्रता के अनुसार बदलता रहता है । दूध पचने में हल्का तथा पीटिक होता है । उसका सारभूत भाग पचन करने में तथा मल-स्वस्थ भाग शरीर के बाहर निकाल देने में शरीर के वृक्षादि इन्द्रियों को बहुत कम कष्ट करना पड़ता है तथा शरीर के सेलों का हास भी कम होता है । दूध जब आन्त्र में पहुँचा है तब आन्त्रस्थ जीवाणुओं तथा उनके विष का नाश (Antitoxic) किया करता है । यदि योंदें दिन बेवल दुग्धाहार सेवन किया जाय तो आन्त्रस्थ जीवाणुओं की संख्या बहुत कम हो जाती है । यह कार्य विशेष करके दुधधर्षकरा से होता है । यह शर्करा आन्त्र में ल्याकिंव तथा सक्सीनिक अमल (Lactic and Succinic Acid) में परिवर्तित होकर उनकी सूक्ष्मता से जीवाणुनाशन का कार्य दूध तथा दही करता है । इसका विशेष वर्णन आगे दीर्घ के वर्णन में होगा ।

अल्पाभिस्थितिन्दि गोदीर्हीर्ण विशेषं गुरु रसायनम् ।

रक्षिप्तसहृद शीतं मधुरं रसपाकयो ।

जीवनीय तथा धातपित्तम् परम स्मृतम् ॥५०॥

री का दूध—अल्पाभिस्थितिन्दि, छिरय, भारी, रसायन, रक्षित नाशक, शीतल, मीठा, विषाक में मधुर, जीवनीय तथा धात और विष का परम नाश करने वाला होता है ॥५०॥

गद्यतुल्यगुण त्वाज विशेषाच्छेदिपरिणां हितम् ।

दीपन लघु सप्रादि श्वासकासार्कैपित्तम् ॥५१॥

अज्ञानमध्यकायत्यात् कदुतित्तनियेवणात् ।

नायनमधुयानाद् व्यायामात् सर्वद्याभिहर पय ॥५२॥

दुर्नीमध्यासकादेषु द्वितमग्नेश्च दीपनम् ॥६८॥

दही का दही—कफपिण्डाशक, एल्का, गात और प्रथमनाशक, उर्ध्व (दुर्नीम) शास और काय में द्वितीय नाश व जड़राशि का दीपक होता है ॥६८॥

विषाके मधुरं वृष्ट्यं वातपित्तप्रसाइनम् ।

बलासवर्धनं ग्निरधं विशेषाहविं मादिषम् ॥६९॥

भैंग का दही—विषाक में मधुर, वृष्ट्य, वात और विष का यामक, कफकारक और विनेप सूख से ग्रिघ्न होता है ॥६९॥ विषाके फट्टु सद्वारं गुण भेद्योऽपि दधि ।

वातमशीसि कुष्ठानि कृमीन् दन्त्युदराग्नि च ॥७०॥

डैटी का दही—विषाक में घट्ट, गाता, भारी, विषेशक है और वात, उर्ध्व, उट्ट, हृषि और उदर श्वेतका नाश करता है ॥७०॥

कोपनं कफवातानां दुर्नीज्ञां चायिके दधि ।

दसे पाके च मधुरमत्यभिष्यन्ति दोपलम् ॥७१॥

मेह वा शी—कफ, वात और अर्ध दूनका प्रकोप करता है और विषाक में गमुर होता है, अत्यन्त अभिष्यन्ति है अपश्यक है ॥७१॥

पनीयमच्छ्वस्यं वाडपं दधि वातलम् ।

स्फुर्ष्यमध्यं करायं च कफमूवापहं च तत् ॥७२॥

घोड़ी का दही—दीपन, नेत्र के लिये अहितकर, वात पक, रक्त, उद्धा, फपाय तथा फक और मूत्र दोष का करता है ॥७२॥

ज्वरधं विषाके मधुरं वलयं सन्तर्पणं गुरु ।

ग्रुष्यमद्यं दोषम्भं दधि नार्या गुणोच्चरम् ॥७३॥

स्त्री का दही—लिंग, विषाक में मधुर, कफकारक, उक्त, भारी, नेत्र के लिये अत्यन्त हितकर, दोषवान्तक और औद्धै है ॥७३॥

ठघु पाके बलासम्भं वीर्योप्यं पक्किनाशनम् ।

कृत्यायानुरसं नाश्या दधि वर्चोविवर्धनम् ॥७४॥

इथिनी का दही—विषाक में हल्का, कफनाशक, उपादि, पचनशक्ति का नाशक, अनुरस में कफाय और मल को नाश करता है ॥७४॥

दीर्घीन्युक्तानि यानीह गवयादीनि पृथक् पृथक् ।

विषेशमेवं सर्वेषु गवयमेव गुणोच्चरम् ॥७५॥

(गो के दही की अंगता—) यहाँ गवयादि जो भित्त भिज कार के दही वर्णन किये हैं, उन सब में गो का ही दही गुण है इसी से सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिये ॥७५॥

वातम् कफकुत् स्त्रियं द्वृद्वरं तातिपित्तकृत् ।

कुर्याद्वक्ताभिलापं च दधि यत् खुपरिक्षुतम् ॥७६॥

कपड़े में थांधकर लिचोहा हुआ दही वातनाशक, कफकर, लेप, शीररुद्धिकर होता है, जित्त को विरोप वहाता नहीं और भोजन में अभिलापा उत्पन्न करता है ॥७६॥

ष्टतात् जीरातु यज्ञातं गुणवद्धधि तत् स्मृतम् ।

वातपित्तहरं रुच्यं धात्वविलयर्धनम् ॥७७॥

(ठीक) ओटायं हुए दूध से बना हुआ दही (अधिक) गुणयाद्, यात और भित्त का नाशक, रुचिकर, धातु, जड़राशि वाता वन को बढ़ाने वाला है (अर्थात् कर्त्त्वे दूध से बना हुआ दही गुणजारक नहीं होता) ॥७७॥'

दधः सरो गुरुर्वृष्यो विदेयोऽनिलनाशनः ।

यद्विधिमनन्धापि याक्षयुज्जिवर्धनः ॥७८॥

दही के ऊपर का भाग भारी, वृष्ट्य, वात और विष नाशक तथा वन और शुक्र को बढ़ाने वाला है ॥७८॥

बक्तव्य—ज—दहराद्य ये भागो यतः रोद्दूमवित्तः । म औंक तर इत्युत्ती की मष्टन्तु मस्तिति ॥ (भावप्रकाश) ।

दधि त्वसारं रुच्यं च ग्राहि विषमित्त वातलम् ।

दीपनीयं लघुतरं सकपायं रुचिप्रदम् ॥७९॥

जिसमें देह का भाग न हो पेता दही रुच, ग्राही, विषमित्त, वातकारक, दीपन, एल्का, कपाय रस सुख और रुचिकर होता है ॥७९॥

शरण्यामवसन्तेषु प्रायशो दधि गद्धितम् ।

देहमन्ते शिशिरे चैव वर्षासु दधि शास्यते ॥८०॥

ग्रद, ग्रीष्म सधा वसन्त इन तीन ऋतुओं में दही (अधिक) याना अनुचित है । और हेमन्त, शिशिर और वर्षा ऋतु में दही याना प्रयग्न है ॥८०॥

बक्तव्य—दधिसेवन के सम्बन्ध में चरक में जित्त प्रकार से निषेध किया है—रक्तपित्तकोत्तेषु विकारेष्वदित्तं च तद् । न नक दधि भुजीत न चाप्यत्तरात्तर्त्तु । नामुद्धर्षणं नाशौद्द नोना नामल्केविना ॥ उदराद्यवित्तीत्तर्पुष्टुषाप्त्यामयभ्रामात् । प्राप्त्यात् कामला नींग्रा विष्व इत्वा दधिविष्यः ॥ (सू. ग. ७) ।

स्त्रप्याल्लमहरं मस्तु लघु द्वोतोविशेषोधनम् ।

अम्लं कपायं मधुरमवृत्यं कफवातसुत् ॥८१॥

प्रहुद्वद्यं प्रीणनं च भिन्त्याशु मलं च तत् ।

यलमावद्वते द्विमं भक्तच्छुद्दं करोति च ॥८२॥

(दही का पानी—) तृष्णा और थकावट दूर करता है, एल्का है, लोतोविशेषधक है, (किंचित्) अम्ल, कपाय और मधुर होता है, वृत्य नहीं है, कफ और वात का हरण करता है ॥८१॥ आहुलाद देता है, तृष्ण करता है, सल को शीघ्र भेदेन करता है, बल वधाता है और भोजन में रुचि करता है ॥८२॥

स्वाद्यम्लमत्यम्लकमन्दजातं

तथा श्रुतज्ञीरभवं सरस्य ।

असारमेवं दधि समधाऽस्मिन्

वर्गे स्मृता मस्तुगुणास्तथैव ॥८३॥

इति दधिवर्गः ।

इस दधिवर्ग में १ मीठा, २ खट्टा, ३ अति खट्टा, ४ मन्द, ५ उदारे हुए दूध का, ६ सार, और ७ असार ऐसे सात प्रकार के दही के तथा मस्तु के गुण, वर्णन किये हैं ॥८३॥ इति दधिवर्गः ।

अथ तक्तवर्गः ।

तत्र मधुरम्लमत्यम्लकमन्दजातं

(Organic state) अवस्था में होता है वह निरिदिय (Inorganic) हो जाता है, चूना तथा स्थानेसिलम के सदग प्रभेति हो जाते हैं और सब से विशेष महस्त का एक दृष्ट के फैटर (Ferment) तथा जीवद्रव्यों का कुछ अग्र नष्ट होने से ही जाता है।

अनिष्टगन्धमर्मलं च विवरणं विरसं च यत् ।
यज्यं सलवरणं द्वीर्ण यथा विग्रहितं भवेत् ॥६४॥

इति जीवर्णं ।

(वर्णितुम्) जिसमें खुरी गङ्गा आती है, जो सहा हो गया है, जिसका वर्ण और स्वाद दृढ़ गया है, जो सारा हो गया है तथा जो फट गया है ऐसा दृष्ट वर्णं (सेवन करने के स्थिरे अवयव) होता है ॥६४॥

यत्कथ्य—यहीं सराव दृष्ट के जो गुणपर्म वर्णन किये हैं, उसके विस्तृत गुण युद्ध दृष्ट के होते हैं। युद्ध दृष्ट काँच के बर्णन में उसने से अपारदर्शक और वर्ष्य में घट होता है। उसके तरीनी में कोई अवहोप नहीं देखता। उसका स्वाद भीठा होता है। उसमें किसी प्रकार की गन्ध नहीं आती। योहीं देर तक रखने पर उसके द्वारा भलाई आती है जो कि १२% होती है। लिटमस (Litmus) कालाज से परीक्षा करने पर तांत्रे दृष्ट से अम्ल तथा सारीय दोर्जीं प्रकार की प्रतिक्रिया (Amphoteric reaction) मिलती है। कभी कभी प्रतिक्रिया इंटिन (Neutral) भी होता है। परि गंगी चीमार या सरथप्रसादा हो तो दृष्ट की प्रतिक्रिया चारीय (Alkaline) होती है। दृष्ट की गुलाम (Sp gravis) सामान्यतया १०२३ से १०२७ तक होती है। १० पारनहीट उत्त्पादा के ऊपर प्रति १० का उभानाहृदि के विक्रेते दृष्ट की गुलाम एक अंग कम दुमा करती है। इस गुलाम का मापन दुम्यमापक (Lactometer) से किया जाता है। दृष्ट में पहिं केवल पानी की मिलावट हो तो इस बन्न से पना बढ़ता है। परन्तु यदि उसमें चीनी इत्यादि डाल दिया हो तो इस बन्न से कम पना गारी बल सकता। दृष्ट की उटि के कारण—अस्त्रय पन्नु का दृष्ट भवावन ही दुर्ज होता है। अस्त्रय सनां रोता अस्त्रय हारो से निकला हुआ दृष्ट उपरिन होता है। दृष्ट निकाल कर बहुत दर तक गुण रखने से दृष्टिन हो जाता है। दृष्ट में व्यावर पानी गारी भारि की मिलावट करने से वह दृष्टिन होता है। इन दोनों में दृष्ट में विशारी विशारु प्रति होता है। इन जीवर्णं ।

यथा दधिर्णं ।

देखि तु मुरुरमस्तमयमन्त चेति; सलतायातु-
रम द्विप्रगुणं पीतासपियमन्वयतिसारारोचक-
मूरुरप्यूद्यात्यपदं पृथ्य शानुकरं महस्त य ॥६५॥

हीं (सामान्यतया) मूरु, अम्ल और वर्णि सम्म (नींबू भवार का) होता है। वह अनुरप में व्यावर, विश्व और अस्त्रयर्णं है। पीतास दिग्गजर, विश्वास, वर्णवद,

१०८ दुम्या दर्शनार्थ दुम्यमधिकारि देखिताम्भर्णं
कार्यान्वयी देखित दम्यत च १०८ दर्शनार्थ दम्यमधिकारि च,
प्राप्त वार्ण्ये दुम्यत, दिग्गजर दम्यत ॥६५॥

मूरुहृष्ट और शरीर की इच्छा इनका नाम करता है, जो को बड़ा है, मायगकि की वृद्धि करता है और मंगल क में उपर्योगी है ॥६५॥

यत्कथ्य—लैकिटक अम्ल तैयार बाले जीवाणुओं किया (Lactating fermenting microbes) दृष्ट पर है से दही बनता है। मे जीवाणु दृष्ट में अभियां (Fermentation) उत्पाद करके दुग्धधर्का का अधिकार्य भाग ल्याति अम्ल में परिवर्तित करते हैं। इस अम्ल के कारण दृष्ट के और प्रोटीन जम जाते हैं और दही बनता है। पैकिट की इटि से दृष्ट के सर्व उत्पादन दही में भी मिलते हैं। ऐवल दुग्धधर्का के स्थान में दुग्धाम्ल तथा दुग्धाम्लजन जीवाणु होते हैं। इनके कारण दृष्ट की अपेक्षा दही में निरुण विशेष स्वर से दिखाई देते हैं। दही में होने वाले द्वीर्ण जीवाणु अन्य रीगोपाइक जीवाणुओं का नाम करते हैं। इसलिये दृष्ट की भाँति दही से रोग उत्पन्न होने की दृष्ट कम समाजना होती है। किटातारों नामक जापानी यात्रा की यह राय है कि दही का ३% स्पाइसिटक अम्ल पूँच धने में विस्त्रिका जीवाणुओं (Cholerabacillus) का नाम करता है। दृष्ट की भाँति दही आनंद में मल के सहन हैं रोकता है परन्तु दृष्ट से दही की किया अधिक होती है। इसलिये वैनिक आहार में दही का सेवन द्वयुत आवश्यक है। मेचनीकोफ (Metchnikoff) नामक शास्त्रज्ञ ने प्रयोगी द्वारा यह बतलाया है यथाविधि दही सेवन करने से आनंद में होने वाले जीवाणु (Proteolytic Bacilli) अधिकार्य नहीं हो जाते हैं तथा उनका विर भी नहीं हो जाता है। इस कारण से अनेक दोर्जीं से तथा दृष्टावस्था से शरीर की रक्त होती है। मनुष्य के आनंद में अनेक प्रकार के स्वास्थ्यहानिकर जीवाणु वरपरिण रहते हैं और जैसे भाषु बहती है वैसे इनकी सम्पा और उनका विर बहता जाता है। अकाल दृष्टावस्था बनाय होने का प्रयत्न कारण ये जीवाणु और उनका विर है। यहों के सेवन से इन जीवाणुओं का तथा उनके विर का नाम हो जाता है। परमसंस्थान के अनेक विकारों में इनी द्वयुत कार्यदेवम होता है।

महामिष्यन्दि मधुरं वक्षमेदेवियपूर्णम् ।

वक्षपिण्डाद्यम्ल द्वयाद्यप्यम्ल रसदूषणम् ।

विदादि द्वयाद्याम्लं मन्दजातु विदोग्यत्वत् ॥६६॥

मधुर दीर्घ द्वयुत अभियांदि, कर और देव वर्जन होता है। मन्दा दीर्घ कर और दिल को बढ़ाता है। अधिक मन्दा दीर्घ रक्त को दृष्टिन करता है। मन्दजात (मन्दजात दीर्घ भावावद—दीर्घ दीर्घ न भया हुआ) दीर्घ दीर्घ से दृष्टिन का बढ़ाना दीर्घ भावी करने बढ़ाता भीर विरोध का दृष्टिन करता होता है ॥६६॥

द्वयादि विदादि मधुरं दीर्घ दृष्टपूर्णम् ।

द्वयादादे पवित्र च दृष्टि गदाय द्वयाद्यप्यम्ल ॥६७॥

गंगी का दीर्घ—द्वयादि, दिलार में मधुर, दीर्घ, द्वयावद, दीर्घ और दृष्टिन होता है ॥६७॥

द्वयादि कफपिण्डाद्य दृष्टि यथावपागदम् ।

दुर्नामः वासकासेषु दितमेश्च दीपनम् ॥६८॥

वर्की का दही—कफपिनाशक, एलका, वात और क्षयनाशक, अर्ग (दुर्नाम) शाम और काम में हिंगवर तथा जड़वासि का दीपह होता है ॥६८॥

विषाके मधुरं दृष्ट्यं वातपिनप्रसादनम् ।

बलासवधीनं लिङ्घं विशेषाद्विधि माहिदम् ॥६९॥

मैंस का दही—विषाक में मधुर, दृष्ट्य, वात और विष का नाशक, कफहारक और विषेष सूप ने विषद दोता है ॥६९॥

विषाके कड्ड सज्जारं गुरु भेद्योऽप्तिकं दधि ।

पातमसारं सिंहानि कुमीनि दन्त्युदराणि च ॥७०॥

डैट्टी का दही—विषाक में पटु, रारा, भारी, विंशक है और वात, वर्षा, कुण्ड, दृष्ट्य और उमर हल्का नाश करता है ॥७०॥

कोयंतं काफचातानां दुर्नास्त्रां चाविकं दधि ।

रसे पाके च मधुरमल्पित्यन्दि दोपलम् ॥७१॥

मैंस का दही—कफ, वात और अर्ग एलका प्रकोप करता है, इन और विषाक में मधुर होता है, अत्यंत असिष्टन्दि है ग अपथ्यकर है ॥७१॥

दीपनीयमच्छुल्यं वाडवं दधि वातलम् ।

सूक्ष्मपूर्णं कपायं च कफमूत्रापहं च तत् ॥७२॥

योही का दही—दीपन, नेत्र के लिये अहितकर, वात कोपक, सूक्ष्म, उष्ण, कपाय तथा कफ और मूत्र सूप का अधिक है ॥७२॥

लिङ्घं विषाके मधुरं घलयं सन्तर्पणं गुरु ।

च्छुल्यमध्यं दोपम्बं दधि नार्यं गुणोत्तरम् ॥७३॥

सौं का दही—लिङ्घ, विषाक में मधुर, घलकारक, शृंकर, भारी, नेत्र के लिये अत्यन्त हिंगवर, दोपनाशक और गुणध्रै है ॥७३॥

लघु पाके बलासम्बं धीर्योप्यं पक्षिनाशनम् ।

कपायानुरसं नाश्य दधि वर्चोविवर्धनम् ॥७४॥

इथिनी का दही—विषाक में हल्का, कफनाशक, उष्ण-वीर्य, पचनगुणि का नाशक, अनुरस में कपाय और मल को बढ़ाने वाला है ॥७४॥

दधीन्युक्तानि यानीह गव्यादीनि पृथक् पृथक् ।

विषेषयमेवं सर्वेषु गव्यमेव गुणोत्तरम् ॥७५॥

(गो के दही की श्रेष्ठता—) यहाँ गव्यादि जो भिल भिल प्रकार के दही वर्णन किये हैं, उन सब में गो का ही दही गुण की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिये ॥७५॥

वातध्वं कफलत् लिङ्घं वृद्धरं नातिपित्तलत् ।

कुर्याद्वक्ताभिलापं च दधि यत् सुपरिच्छुतम् ॥७६॥

कपड़े में वांधकर निचोदा हुआ दही वातनाशक, कफकर, लिङ्घ, शरीरतुप्रिकर होता है, पित्त को विशेष बढ़ाता नहीं है और भोजन में अभिलापा उत्पन्न करता है ॥७६॥

श्रुतात् क्षीरात्तु यज्ञातं गुणवद्विधि तत् स्मृतम् ।

वातपित्तहरं रुच्यं धात्वग्निवलवर्धनम् ॥७७॥

(ठीक) औंटाये हुए दूध से यना हुआ दही (अदिक) गुणवान्, वात और पित्त का नाशक, सचिकर, धातु, जड़वासि तथा कल को बढ़ाने वाला है (अर्थात् कर्त्त्वे दूध से यना हुआ दही गुणाकारक नहीं होता) ॥७३॥

दधः सरो गुरुर्वृष्ट्यो विषेयोऽनिलनाशनः ।

वदेविधमनस्यापि कफशुकविवर्धनः ॥७८॥

दही के उपर का भाग भारी, दृष्ट्य, वात और विष नाशक तथा कफ और धुक को बढ़ाने वाला है ॥७८॥

घक्कद्वय—गर—शरारुपरि यो भागो यनः लेहसगन्तिः । स थोंक मर द्वयसे यों मण्डनु मस्तिनि ॥ (भावप्रकाश) ।

दधि त्वसारं रुक्षं च ग्राहि विषमित्वा वातलम् ।

दीपनीयं लघुतरं सकमायं रुचिप्रदम् ॥७९॥

जिसमें ज्वार का भाग न हो ऐसा दही रुक्ष, ग्राही, विषमि, वातकारक, दीपन, हल्का, कपाय रस युक्त और रुचिकर होता है ॥७९॥

शरख्त्रीभवसन्तेषु प्रायशो दधि गर्दितम् ।

हेमन्ते शिशिरे चैव वर्षासु दधि शस्यते ॥८०॥

शरद, भीम तथा वर्मन्त इन तीन क्रतुओं में दही (अधिक) साना अनुचित है । और हेमन्त, शिशिर और वर्षा क्रतु में दही साना प्रश्नन है ॥८०॥

घक्कद्वय—दधिसेवन के सम्बन्ध में शरक में निज प्रकार से निषेध किया है—रक्तपित्तजलोद्येषु विकारेष्टहितं च तद् । न नक्तं दधि गुर्जीत न चायपृष्ठदर्शन्तम् । नामुद्धर्मं नाक्षीद गोणं नामलकीविना ॥ जरासुकपित्तीर्तर्पुष्टुष्टान्यामयभ्रमान् । प्राप्तयात् कामलां लोधां विषि हित्वा दधियः ॥ (स. अ. ७) ।

तृष्णाक्षमहरं मस्तु लघु लोतोविशेषधनम् ।

अम्लं कपायं मधुरमवृत्यं कफवातनुत् ॥८१॥

प्रहुदानं प्रीणनं च भिनत्याशु मलं च तत् ।

बलमावहते द्विप्रं भक्तच्छन्दं करोति च ॥८२॥

(दही का पानी—) तृष्णा और थकावट दूर करता है, हल्का है, लोतोविशेषधक है, (किंचित्) अम्ल, कपाय और मधुर होता है, दृष्ट्य नहीं है, कफ और वात का हरण करता है ॥८१॥ आहाताद देता है, दृष्टि करता है, मल को शीघ्र भेदन करता है, घल बढ़ाता है और भोजन में रुचि करता है ॥८२॥

स्वाद्यम्लमत्यम्लकमन्दजातं

तथा श्रुतक्षीरभवं सरश्च ।

असारमेवं दधि सप्तधाऽस्मिन्

वर्गं स्मृता मस्तुगुणास्तथैव ॥८३॥

इति दधिवर्गः ।

इस दधिवर्ग में १ भीडा, २ लहा, ३ अति खटा, ४ मन्द, ५ उवाले हुए दूध का, ६ सार, और ७ असार ऐसे सात प्रकार के दही के तथा मस्तु के गुण, वर्णन किये हैं ॥८३॥ इति दधिवर्गः ।

अथ तक्षवर्गः ।

तक्षं मधुरम्लं कपायानुरसमुष्णवीर्यं लघु लहा-

मन्त्रिरीपनं गरशोफातिसारप्रहणीपाणद्वयोगार्थःऽपि ह-
गुल्मारोचकविषमज्वरतृष्णाच्छर्दिप्रसेकश्लमेद-
सेप्पानिलहरं मधुरविषाकं हृष्णं मूत्रछल्लोह-
व्यापत्प्रशमनमधुप्यं च ॥४६॥

(तक) तक रस में मधुर तथा अम्ल, अमुरस में
कपाय, उष्णवीर्य, हलका और जटराजि को दीपन करने वाला
है । इत्रिम विष, शोग, अतिसार, घट्टी, पाण्डु रोग, अर्धं,
हीहोदार, गुल्म, अरुचि, विषम ऊर, तृष्णा, वमन, जी मध्यालाना,
शूल, मेदावृद्धि, कफ और वात इनको हरण करता है,
विषाक में मधुर है, हृष्ण के लिये हितकर है, मूत्रछल्लोह-
व्यापत्प्रशमनमधुप्यं च ॥४६॥

वक्तव्य—स्वेह्यापद्म—तद्वा सोडेना आनादे ऊर स्वभूते
विमलना । उद्धानि वन्दू दाण्डुल शोधार्णोम्बुद्धिलक्षण ॥ जटर
घणीरोगा सैमित्य वाक्यनिवाद । शूलमापदेशाश जन्मने स्नेह
विज्ञान ॥ (चरक) ।

मन्थनादिएष्याभूतखेहमर्थोदकं च यत् ।

नातिसान्दद्वयं तकं स्वाद्वम्लं तुवरं रसे ।

यत्तु सखेहमजलं मर्थितं घोलमुच्यते ॥४७॥

(तक और घोल—) मन्थनादि द्वारा जिसमें से मस्तकन
निकाला है, जिसमें आधा पानी मिलाया है, जो न बहुत गाढ़ा
है न पतला है और रस में जो मधुर, अम्ल और कपाय है
वही तक होता है । जिसमें से मस्तकन नहीं निकाला है, जिसमें
पानी नहीं ढाला है और जो दही के बल मधानी से मध
दिया है उसे घोल कहते हैं ॥४७॥

तकं नैव ज्ञाते दद्याभोग्यकाले न दुर्योगे ।

न मूर्च्छाभमदाहेषु न रोगे रक्तपैत्तिके ॥४८॥

(तकविषय—) यथा (से पीड़ित अवस्था) में,
मर्थियों के दिनों में दुर्बल को तथा मूर्छां, भ्रम, दाह और रक्त
पिण्ठ में तक नहीं देना चाहिये ॥४८॥

शीतकालेऽप्तिमान्द्ये च कफोत्थेप्यामयेषु च ।

मार्गायरोधे दुष्टे च धायी तकं प्रशस्यते ॥४९॥

शीत काल में, जटराजि की मन्दता में, कफ के विकारों
में, धोतर्सों के अवरोध में एवं वात की दुष्टि में तक प्रगम्भ
है ॥४९॥

तत् पुनर्मधुरं शेषप्रकोपयं पित्तप्रशमनं च;
अम्लं यात्रां पित्तप्रकरं च ॥५०॥

मधुर तक कफकोपक और पित्तप्रकर है । लहा तक
वातवायग और वित्तप्रकर होता है ॥५०॥

यानेऽप्तं रैत्यन्धोयेतं, स्वादु यिते सदार्करम् ।

पियेत्तकं कफे चापि द्योपदारसमन्वितम् ॥५१॥

बालप्रकोप में लहा तक रैता नमक बालकर खीना चाहिये;
वित्तप्रकोप में मधुर तक खीनी के साथ खीना चाहिये;
और कफकोप में विच्छु तथा पवसार के साथ खीना
चाहिये ॥५१॥

प्रादिषी वातला रुक्षा दुर्जरा तमकूर्चिका ।

तकक्षुयुतरो मण्डः कूर्चिकादधितकंजः ॥५०
तकक्षुर्चिका प्राही, वातल, .. और पचने में का
होती है । दधि और तक कूर्चिका से दलप्र बुआ मण्ड :
से भी अति हल्का होता है ॥५०॥

वक्तव्य—कूर्चिका—दाता तकेण वा सह पाकात् एषामृतप
इवभाग क्षीर कूर्चिकानुच्छवे । सा दिविषा—दाता मह च पत्पक द
मा दधिकूर्चिका । वैषेण पक यत् क्षीर सा भवेत्तककूर्चिका ॥ व
या तक के साथ गरम करके फें हुए दूध का ठोस द
कूर्चिका या तकक्षुर्चिका कहलाता है और तरल भाग म
कहलाता है ।

गुरुः किलादोऽनिलहा पुंसविनिद्राप्रदः स्वृतः ।

मधुरौ दृढ़ण्डी दृष्ट्यौ तद्वत्पीयूपमोरटी ॥५१॥
किलाद (छावा) भारी, वायुवायक, उत्तर और निः
देने वाला होता है । तथा पीयूप और भोठ भुरु, पुष्टि
और दृष्ट्यौ होते हैं ॥५१॥

वक्तव्य—किलाद—नदुरुपस्य पवस्य पिण्ड शोक्त दिल
टक । पीयूपमोरटी—क्षीर सप्रद्युषया पीयूषिति संहितम् । सा
रात्रात् पक्षीयूपवनन्त्रु भोठ ॥

नवनीतं पुनः सद्यस्कं लघु सुकुमारं मधुरं काया
मीपदम्लं शीतले मेध्ये दीपनं हृष्णं संधादि पित्ताति
लहरं दृष्ट्यमिदाद्विद्युत्यकास्तवलशोपार्तोऽर्दिता
पद्म, चिरोत्थितं गुरु कफमेदेविधर्यनं यलकर्ण दृष्ट्यं
शोपम्लं विशेषेण वालानां प्रशस्यते ॥५२॥

(नवनीत—) ताजा मस्तकन हलका, शीत शुक्रोमट
करने वाला, मधुर, कपाय और किंचित् अम्ल, शीतल, मेधा
जनक, अग्निरीक, हृष्ण, प्राहि, वात और वित्त नायक,
दृष्ट्य, अविदाहि, राजयद्वामा, कास, पाण, शीत भी दृष्ट्या,
अर्धं और अर्दित (Facial Paralysis) इनको दूर करता
है । उत्तरा मस्तकन भारी, कफ और मेद वाले वाला बलकर,
गरीषुहिकारक, हृष्टा दूर करने वाला होता है । मस्तकन
विद्योपकरणे के वालकों के लिये वहुत प्रयत्न होता है ॥५२॥

वक्तव्य—लाय दृष्ट्यौ में मस्तकन सप्त से अधिक
प्रयत्न लायने के लिये वाले बलकर

(कास्टेट इयादि) होते हैं । इसके वालावा दृष्टि के अधि-
प्रयत्न भी इसमें उपरिलिपि होते हैं । इसलिये ताजा मस्तकन
लाय, शीतरुक्षयता (Marmasmus), अप्तिमान्द्य इयादि
रोगों में दृढ़ु उपकारी सिद्ध बुआ है । मस्तकन का रसय
करने के लिये दो खीनी में रसता चाहिये या उसमें नमक
बालना चाहिये ।

शीरोत्थं पुनर्नयनीतमुक्त्युपेहमाधुर्यमतिशीतं
सौकुमार्यकरं दृष्ट्युप्यं संधादि रक्तपिण्डनेप्ररोगाद्वार
प्रसादनं च ॥५३॥

१ दधिरुमिलकर, २ वालेशेविक्षन,

कबे दूध से निकाला हुआ मङ्गवन अस्यन्त स्त्रिय, अति-
मधुर, अतिशीतल, शरीर सुकुमार करने वाला, नेत्र के लिये
हितकर, माहि, रक्तपित्त तथा नेत्र रोगों का नाशक और
प्रसादन करने वाला होता है ॥१३॥

सन्तानिका पुनर्वातम्भी तर्पणी वल्या वृष्ट्या
छिग्धा रुच्या मधुरा मधुरविषाका रक्तपित्तप्रसा-
दनी गुर्वीं च ॥१४॥

मलाई बातनाशक, तृष्णि करने वाली, वल वद्वाने वाली,
वैर्मवद्विनी, छिग्ध, रुचिकर, मधुर, विषाक में मधुर, रक्त-
पित्त को प्रसादन करने वाली और भारी होती है ॥१४॥

विकल्प एव दृश्यादिः श्रेष्ठो गव्योऽभिवर्णितः ।

विकल्पानवशिष्टांस्तु द्वीर्घीर्यात्समादिशेत् ॥१५॥

इति तत्कर्वगः ।

ये तत्कादि (दुध के) प्रकार गौ के ही श्रेष्ठ होते हैं
(हस्तिये) वे ही वर्णन किये हैं । जो शेष (प्राणियों के
दुध के) प्रकार हैं उनके गुणधर्म दूध के गुण के अनुसार
जानने चाहिये ॥१५॥ इति तत्कर्वगः ।

अथ धृतवर्णः ।

धृतं तु मधुरं सौम्यं सूदु शीतवीर्यमल्पाभिष्यन्दि-
जेहनमुदावर्तेन्मादापसारश्लज्जवरानाहवातपित्त-
प्रशमनमधिदीपतं स्मृतिमतिमेधाकान्तिखरलावण्य-
सौकुमार्यांजस्तेजोवलकरमायुष्यं वृष्ट्यं मेध्यं वयः-
स्थापनं गुरु चक्षुष्यं श्लेष्माभिवर्धनं पाप्मालक्ष्मी-
प्रशमनं विषद्वर्हं रक्षोऽन्नं च ॥१६॥

(धृत—) (सामान्यतया) धृत मधुर, सौम्य, सूदु,
योद्धा अभिष्यन्द उत्पन्न करने वाला, शीतवीर्य, शरीर में
चिकनाई उत्पन्न करने वाला, उदारवत, उन्माद, अपस्मार,
शूल, ज्वर, आनाह, बात और पित्त हनका शमन करने वाला,
जड़रास्त्रि प्रदीपक, स्मृति, मति, मेधा, कान्ति, स्वर, लावण्य,
मौकुमार्य, ओज, तेज और वल इनको करने वाला, आयु-
षद्वाने वाला, वृष्ट्य, पचिक्र, वय को स्थिर करने वाला, गुरु,
नेत्र के लिये हितकर, कफवर्धक, पाप और अलक्ष्मी का
नाश करने वाला, विषनाशक तथा राज्ञस भय हरने वाला
होता है ॥१६॥

धृतवर्ण—मक्खन गरम व रके धी धनाशा जाता है ।
धी में केवल मेद (१००%) होता है ।

विषाके मधुरं शीतं वातपित्तविषापहम् ।

चक्षुष्यमद्यं वल्यं च गद्यं सर्पिण्युरुगोत्तरम् ॥१७॥

गौ का धी—विषाक में मधुर, शीतल, बात पित्त और
विष नाशक, नेत्र के लिये हितकर वस्तुओं में श्रेष्ठ, वलकारक
और सर्व प्रकार के धी में गुणों में श्रेष्ठ है ॥१७॥

आजं धृतं दीपनीर्यं चक्षुष्यं वलवर्धनम् ।

कासे श्वासे द्योये चापि पद्यं पाके च तल्लघु ॥१८॥

वकरी का धी—असिदीपक, नेत्र के लिये हितकर, वल-
वर्धक, कास श्वास और राज्ञस्कमा के लिये हितकर और
पचने में इलका होता है ॥१८॥

मधुरं रक्तपित्तम्भं गुरु पाके कफावहम् ।

वातपित्तप्रशमनं सुशीतं माहिषं धृतम् ॥१९॥

भैंस का धी—मधुर, रक्तपित्त नाशक, पचने में भारी,
कफकारक, बात और पित्त शामक तथा शीतल है ॥१९॥

ओष्ठं कट्ट रंसं पाके शोफकिमिविषापहम् ।

दीपनं कफवानम्भं कुष्ठगुल्मोदरापहम् ॥२०॥

डैठनी का धी—विषाक में कटु, गोथ कृमि और विष-
नाशक, असिदीपक, कफ और बात हर तथा कुष्ठ, गुल्म
और उदर का नाशक होता है ॥२०॥

पाके लघ्वाविकं सर्पिनं च पित्तप्रकोपणम् ।

कफेऽनिले योनिदोषे द्योषे कम्पे च तद्वितम् ॥२१॥

भेट का धी—पचन में हल्का होता है, पित्त का प्रकोप
नहीं करता है, कफ, वायु, योनिरोग, शोफ और कम्प में
हितकर होता है ॥२१॥

पाके लघूणवीर्यं च कथायं कफनाशम् ।

दीपनं वद्धमूत्रं च विद्यादैकशकं धृतम् ॥२२॥

एक मुर वाले प्राणी (धोढ़ी, गधी इत्यादि) का धी—
पचने में इलका, उण्णकीर्य, कपाय, कफनाशक, असिदीपक,
और मूत्र की राशि कम करने वाला होता है ॥२२॥

चक्षुष्यमद्यं स्त्रीणां तु सर्पिः स्वादसृतोपमम् ।

वृद्धि करोति देहाश्योर्लघुपाकं विषापहम् ॥२३॥

स्त्री का धृत—नेत्र के लिये सर्वोत्तम, अमृत के समान,
देह और जड़रास्त्रि की वृद्धि करने वाला, पचन में हल्का
और विषहर होता है ॥२३॥

कपायं वद्धविरामूत्रं तिक्तमस्त्रिकरं लघु ।

दृन्ति कारेणवं सर्पिः कफकुष्ठविषकिमीन् ॥२४॥

हथिनी का धी—मूल और मूत्र का अवरोधक, तिक्त,
असिदीपक, इलका होता है और कफ, कुष्ठ, विष तथा कृमि
हनका नाश करता है ॥२४॥

द्वीर्घधृतं पुनः संग्राह्य हि रक्तपित्तभ्रममूर्छाप्रश-
मनं नेत्रोरगहितं च ॥२०॥

कबे दूध से निकले मक्खन से धनाशा हुआ धी माही, रक्त
पित्त, भ्रम, मूर्छा हनका नाशक तथा नेत्रोरोग के लिये हितकर
होता है ॥२०॥

सर्पिर्मरणडस्तु मधुरः सरो योनिश्चोत्त्रान्तिशिरसां
शूलघ्नो वस्तिनस्याद्विपूरणेषूपदिश्यते ॥२०॥

जमे हुए धृत के ऊपर जो स्वच्छ पतला धी रहता है
वह (सर्पिर्मणड) मधुर, मूर्छविरोधक, योनि, कर्ण, नेत्र और
सिर के शूल का विनाशक होता है तथा वस्त्रि, नस्य और नेत्र
पूरण के काम में प्रयुक्त करने के लिये कहा है ॥२०॥

सर्पिः पुराणं सरं कट्टविषापकं त्रिदोषापहं
मूर्छामदोन्मादोदरज्जवरगरशोषापसारयोनिश्चोत्त्रा-
न्तिशिरःशूलम्भं दीपनं वस्तिनस्याद्विपूरणेषूप-
दिश्यते ॥२०॥

पुराना थी—मृदुविरेषक, विशाक में कटु, प्रिदोषतायक होता है, मूर्छा, मद, उम्माद, उदार, ऊर, गर, योग, अप-स्मार, योनिशूल, कर्णशूल, नेत्रशूल, और घिरःशूल इनको दूर करता है, अप्रिदीपक है और वनि, नस्य तथा नेत्र पूरण के लिये योग्य कहा है ॥१०३॥

भृति चार्य—

पुराणं तिमिरश्वासपीनसञ्ज्वरकासनुम् ।
मूर्छांकुष्ठियिपोन्मादमहापसारनाशनम् ॥१०८॥
एकादशात् चैव थत्सरानुपितं धृतम् ।
रक्षोम्भं कुम्भसर्पिः स्थात् पंतरस्तु महाधृतम् ॥१०९॥
येऽयं महाधृतं भूतैः कफामं पवनाधिकैः ।
बल्यं पवित्रं मेर्यं च विशेषात्तिमिरापदम् ॥११०॥
सर्वं भूतदूरं चैव धृतमेतत् प्रशस्यते ॥१११॥
इति धृतयांगीः ।

पुराना एत तिमिरोग, बास, धीनस, ऊर, कास, मूर्छा, कुष्ठ, विष, उम्माद, प्रह (की धीना) और अप्स्मार इनका नाश करता है ॥१०८॥ एकादश वर्ष से सी वर्ष का पुराना एत 'कुम्भसर्पि' कहलाता है और वह रक्षीय है। इससे अधिक पुराना एत 'महाधृत' कहलाता है ॥१०९॥ यह महाधृत धात प्रकृति मनुष्यों के लिये धीने योग्य है, कफम् है, खलकारक है, पवित्र है, देखाजनक है, तिशेष करके तिमिर रोग नाशक है ॥११०॥ और (प्रतिशाचार्य) सब भूतों की बाधा को दूर करता है। इसलिये यह एत बहुत प्रस्तुत है ॥१११॥

यत्कथ्य—पुराने धृत के काल के संबंध में कुछ मत-भिन्नता प्राप्तिन वैश्यकार और दीक्षाकारों में दिसती देखी है। कुछ सोग पुराने धृत का काल एक वर्ष का, कुछ दस वर्ष का और पंद्रह वर्ष का मानते हैं—वर्षांन्तर्भूत भवेदाज्ञ पुराणम् । (भावप्रकाश) । सार्व-पुराण विदेय दरावर्षित तु यत् । (योग-रक्षाकर) । पुराणमिति च शुक्रालं पचत्रादीर्वत्विनद् । (अहग-दत) । कुछ सोग कुम्भसूत का काल दस वर्ष मानते हैं, कुछ सी वर्ष मानते हैं—वर्षांन्तर्भूत दरावर्षिकम् । (चक्रपाणिवृत्त चरकटीका) । शतवर्षित युत कुम्भसर्पितदुर्ज्ञे ॥ (योग-रक्षाकर) । तथापि इस विदेय में सब का ऐक्षमत्य है कि धृत जितना अधिक पुराना होगा उतना ही अधिक युणकारी होता—यथा वधा जर्हा वानि शुणवस्यात्तथा तथा ॥ (हारीत संहिता) । इति धृतवर्णः ।

अथ तैलानि ।

तैलं त्याद्येयमुष्ट्यं तीश्यं मधुरं मधुरविपाकं
सृद्धांश्चीणं ध्यवायि सूद्धं सरे विकासि
सृष्ट्यं त्वक्प्रसादनं शोधनं मेधामाद्विवर्मांसस्थैर्यं-
वर्षीयलकरं चाक्षुष्यं यद्भूमूर्चं लेस्वनं तिक्कपाया-
नुरसं पाचनमनिलयलासक्यकरं किमिष्मयित-
पितजननं योनिशिरः कर्णशूलप्रशमनं रामीशय-
शोधनं च, तथा छिमामिद्विविष्टोप्यद्युतमयितदात् ।

पिण्डितभग्नस्फुटितदारामिदधयिक्षिष्ठारिताभिः-
 दत्तदुर्भग्नशूलग्नालविदप्रभृतिपु च परिषेदाभ्यक्ता
 यगाद्वादिपु तिलतैलं प्रश यने ॥११२॥

तद्वस्तिपु च पानेषु नस्ये क्रुर्णांश्चिपूरणे ।

अद्यानविधौ चापि प्रयोज्यं पाताशान्तये ॥११३॥

तिल का तैल—आओय, गरम, तीक्ष्ण, मधुर, विपाक; मधुर, शीतलुष्टिकर, तुसिकासक, व्यवायि, मूहम, विषद-मारी, विरेचक, विकामी, वृष्य, त्वचा की प्रसवता कर वाला, शोधन, मेधा, मार्दव, मास, स्थिरता, वृण, और कहल के करने वाला, नेत्र के लिये हितकर, मूर्छ को रोकने वाला (शीती की रक्षणता नियायक करके) पाता करने वाला अनुराग में तिल और कवाय, पाषाण, वात और कफ के राय करने वाला, किमिनाशक, धीत और पित की उत्तरि का प्रतिरक्षक, धोनि, घिर और कर्ण के इनका शूल नाशक तथा गर्भांश्यगोपक होता है । और छिल, भिज, विद्र, उमित श्वृत, मसित, जल, रिक्षित, भस, स्फुटित, ज्वार तथा भवि दध्य, विश्लिष्ट, दारित, अभिहत, दुर्भग्न, अहित तथा हिं पशुओं से दृष्ट इयादि अवश्याओं में परिषेद, अम्बिंग और अवगाह के लिये तिलतैल प्रशस्त होता है ॥११२॥ परिषेदकारी के अनुसार अस्तिकर्म, द्वेषहान, नस्य, कर्ण और नेत्र के घूरण, विविध लाय तथा पेय पदार्थों का संस्करण और वातु के शान्ति इनके लिये भी उसका उपयोग करना पायिष्ये ॥११३॥

यत्कथ्य—स्वावाची सूझादि गुणों की व्याख्याएँ सूत्र स्थान के इन्हें अध्याय के अन्त में वर्णन की गई हैं । छिल भिजादि संघोवया (चिकित्सास्थान अध्याय २) और भस (निदान अ. १५) के प्रकार हैं ।

पररडतैलं मधुरसुष्ट्यं तीश्यं दीपनं कटु कपी-यातुरसं सूद्धं स्नोतोविशोधनं त्वच्यं सृष्ट्यं मधुर-विपाकं वयःस्थापनं योनिशुकविशोधनमारोग्यं-मेधाकानितस्मृतिवलकरं चातकफद्वरमधोभागदोषं दृष्टं च ॥११४॥

परण का तैल—मधुर, गरम, तीक्ष्ण, धीन, कटु, अनुराग में कवाय, सूहम, धोतोमार्दविगोप्तन करने वाला, त्वचा के लिये हितकारक, वृष्य, विपाक में मधुर, वय-स्थापक, धोनि और गुरु का विषयोपक, आरोग्य, मेधा, कान्ति, स्फुति और कहल इनको करने वाला, वात और कफ को हरण करने वाला और अधीभाग के दोषों को दूरण करने वाला है ॥११५॥

यत्कथ्य—परणी का तैल अनपाची स्वरूप का विरेचक (अधीभाग दोषहर) है । इसका उपयोग वालों के लिये, सुक्रमार प्रकृति के स्वी गुरुओं के लिये, गर्भिणी और प्रसूति शिर्यों के लिये दृष्ट प्रशस्त होता है । चरकसंहिता में इसका वर्णन हिता है—गुलोदरमार्दी ग्रीहेदरमार्दीयनिशुकर्दे । नेत्र कम्बस्ते मालासेत्कवागे च ॥ गृष्णविषेशवचादित्वं विचेचनांतु वातरोगेतु । वाते विवदानों मेदकपितरसेतेन ॥ वस्त्रा माससैर्ये विकलारम्बुष्यमदिरामि । दोषानुवर्षप्रवेगात् प्रशस्तमेवज्ज्वल तैलम् ॥ तद्वातुषु, स्वावाचात् स्वोवशसादिवत्ताच ज्येत् । मेदोद्वस्तुपितकां-मिश्रानिलौगाजित तन्मयात् ॥ वय अरक्षस्त्रज्जन के अन्तर्गत यह

होता है कि पूरणी के तेल का भरीर पर जो कार्य होता अधिकतर विशेषन किया द्वारा होता है ।

निम्बातसीकुसुमभूलकजीमूतकचूचकफृतवेध-
कमिप्लुकहस्तिकर्णपृथ्वीकार्पिलुकरज्जेहुदीशिग्रु-
पसुवर्चलाविड़झ्योतिप्रतीफलतैलानि ती-
नि लघून्युष्मण्डीर्याति कट्टनि कट्टविपाकानि
ग्रयनिलकफलमिकुप्रमेहशिरोरोगापहराणि
ते ॥१५१॥

नीम, अलमी, कुसुंव, मूली, देवदाली, कुट्ठ, कोगातर्की, ह, कमिप्लुक, हन्तिकर्णी (रक्ष पूरण या भूपलाम), काला ग, पील, करञ्ज, दृश्युदी, सोडजन, भरस, स्वर्वान, विडग, उकांगनी इनके फलों (या दीजों) के तेल तीक्ष्ण, कुष्ठके, शर्वीर्य, कट्ट, विपाक में भी कट्ट, मृदु विशेषक तथा वात, ह, कूमि, कुष्ठ, प्रमेह और शिरोरोग इन रोगों के नाशक होते हैं ॥१५२॥

वातम्ब मधुरं तेषु क्षौमं तैलं चलापहम् ।
कट्टुपाकमच्छुष्यं स्त्रिग्योपणं गुरु पित्तलम् ॥१५३॥
कूमिम्बं सार्वपं तैलं करण्डकुष्ठापहं लघु ।
कफमेदोनिलहरं लेखनं कट्ट दीपनम् ॥१५४॥
कूमिम्बमिहुदीतैलमीपत्तिकं तथा लघु ।
कुष्ठामयकमिहरं दृष्टिशुकदलापहम् ॥१५५॥
विपाके कट्टकं तैलं कौसुममं सर्वदोपकृत् ।
रक्तपित्तकरं तीक्ष्णमच्छुष्यं विदाहि च ॥१५६॥

इनमें से अलसी का तैल वातनाशक, मधुर, वलवर्धक, विपाक में कट्ट, नेत्र के लिये अहितकर, स्त्रिय, उण, भारी और पित्तकर होता है ॥१५६॥ सरसों का तेल कूमि, कण्डु और कुष्ठ नाशक होता है, कफ मेद और वायु का हरण करता है तथा लेखन, कट्ट और दीपन है ॥१५७॥ हिंगोट का तैल कूमिनाशक, किंचित् तिक्त तथा हल्का है, कुष्ठ रोग और कूमियों का हरण करता है, तथा दृष्टि, शुक्र और वल का नाश करता है ॥१५८॥ करड़ का तैल, विपाक में कट्ट, सर्व दोपकृत, रक्त पित्त उत्पन्न करने वाला, तीक्ष्ण, नेत्र के लिये दृष्टकर और विदाह उत्पन्न करने वाला है ॥१५९॥

किराततिककातिसुक्ककविभीतकनालिकेरको-
प्तोदजीवन्तीप्रियालकर्वुदारसूर्यवलीत्रपुसैर्वैरु-
कर्कारुकूम्पाण्डप्रभृतीनां तैलानि मधुराणि मधुर-
शाकानि वातपित्तप्रशमनानि शीतवीर्याण्यभिष्य-
नि सृष्टमूत्रारययित्सादनानि चेति ॥१६०॥

विरायता, अतिसुक्कक (माधवीलता का फल), बहेडा, गरियल, वेर, अखरोट, जीवन्ती, चिरोंजी, कचनार, अर्क-पी, त्रुप, एवंसूक, कर्कारु, कोहला इत्यादि के तैल मधुर, विपाक में मधुर, वात और पित्त के शामक, शीतवीर्य, अभिष्यन्दि, मूत्र का उत्सर्ग ठीक करने वाले और जठरास्त्रि के नाशक होते हैं ॥१६०॥

मधुककादमर्यपलाशतैलानि मधुरकपायाणि
क्रफपित्तप्रशमनानि ॥१२१॥

मधुआ, गंभारी और पलाश इनके तैल मधुर तथा कपाय होते हैं और कफ तथा पित्त को प्रशमन करते हैं ॥१२१॥

तुवरकभृत्यतकतैले उणे मधुरकपाये तिक्ता-
भुरसे वातकफकुष्ठमेदोमेहकुमिप्रशमने उभयतो-
भागदोपहरे च ॥१२२॥

तुवरक और भिलाये का तैल उणा, मधुर और कपाय, अनुरस में तिक्त होता है और वात, कफ, कुष्ठ, मेद, प्रमेह तथा कूमियों को दूर करता है और ऊर्ज्ज्वल भाग से तथा अधो-भाग से (भमन विशेषन द्वारा) दोषों को हरण करता है ॥१२२॥

चक्कट्य—तुवरक घृत का वर्णन भागे चिकित्सास्थान के १२वें अध्याय में किया गया है । तुवरक तैल गलित कुष्ठ (Leprosy) के लिये आज भी पुकमात्र औपचिह है । इससे कुष्ठ में बहुत लाभ होता है । इसलिये इस तैल का समावेष (Oleum Hydnocarpi) 'विदिषा फार्माकोपिया' में किया गया है ।

सरलदेवदारुगण्डीरशिशापागुरुसारजेहास्तिक-
कट्टुपाया दुष्टव्रणशोधनाः कूमिकफकुष्ठानिल-
हराश्च ॥१२३॥

सरल (Pinus Longifolia), देवदार, गण्डीर, शीताम, अगुरु इन वृक्षों के सार भाग का तैल तिक्त, कट्ट और कपाय होता है, दुष्ट व्रण का शोधन करता है, कूमि, कफ, कुष्ठ और वात का नाश करता है ॥१२३॥

तुम्बीकोशाद्वन्तीद्वन्तीश्यामाससलानीलिका-
कमिप्लुकशङ्खिनीस्तेहास्तिक्तकट्टुपाया अधो-
भागदोपहरा: कूमिकफकुष्ठानिलहरा दुष्टव्रण-
शोधनाश्च ॥१२४॥

कड्वी तुम्बी, कोशाम्ब्र (एक प्रकार का आम), दन्ती, द्वन्ती, सप्तला, नीलिका, कंपिलुक और शंखिनी इनके तैल तिक्त, कट्ट और कपाय, अधोभाग के दोषों को हरण करने वाले, कूमि, कफ, कुष्ठ और वात के नाशक तथा दुष्ट व्रण के शोधक होते हैं ॥१२४॥

यवतिक्तातैलं सर्वदोपप्रशमनमीपत्तिकमग्नि-
दीपनं लेखनं मेद्यं पथ्यं रसायनं च ॥१२५॥

यवतिक्ता का तैल सब दोषों को शान्त करता है, किंचित् कडवा है, अग्नि प्रदीप करने वाला, लेखन, मेद्य, पथ्य और रसायन है ॥१२५॥

एकैपिकातैलं मधुरमतिशीतं पित्तहरमनिल-
प्रकोपणं श्लेष्याभिवर्धनं च ॥१२६॥

एकैपिका (निशोथ या पाठा) का तैल मधुर, अति शीतल, पित्तनाशक; वातप्रकोपक और कफवर्धक होता है ॥१२६॥

सहकारतैलमीपत्तिकमतिशुग्निधि वातकफहरं
रुक्षं मधुरकपायं रसवज्ञातिपित्तकरं च ॥१२७॥

आम का तैल विकित् तिन्, अग्नन् सुरुप्तु तुम्, यान् कक् नाशक्, रुत्, मधुर, कायाप् है तथा (आम के) रस की भाँति वह अनिपित्तकारक नहीं है ॥१२३॥

फलोद्ग्रवयनि तैलानि यान्यनुकानि कानिचित् ।

गुणान् कर्म च विशाय फलवृत्तानि निर्दिशेत् ॥१२८॥

यावन्तः स्यायार् स्त्रेहा समासात्परिकीर्तिताः ।

सर्वे तैलगुणा ज्ञेयाः सर्वे चानिलनाशनाः ॥१२९॥

सर्वे भ्यस्त्विद् तैलेभ्यस्तिलतैलं विशिष्यते ।

निष्पत्तेलाहुशत्याश् तैलत्वमितेष्यपि ॥१३०॥

जो जो फलों के तैल यहाँ नहीं वर्णन किये हैं उनके गुण कीं फलों के गुण कर्मानुगार समान लेने चाहिये ॥१२८॥ जो जो स्थार (वनस्पतिमन्य) येह संकेत से वर्णन किये हैं उनमें (तिल) तैल के सर्व (सामान्य) गुण धर्म उपरिधित होते हैं, तथा पे मर्दे वातनाशक भी हैं ॥१२९॥ नितने तैल हैं मध्य में तिल का तैल थेठ है । (इतर वानस्पतिक स्नेहों से तिल तैल के कर्मों की) निष्पत्ति होने से तथा के तिल सेन के गुणों से युक्त होने से उनमें भी तैलवृत्त आ जाता है ॥१३०॥

धक्कद्वय—स्थार—वानस्पतिक—लेहानो दिविषा योनि सीम्यावरजग्ना । (चरक) । विशिष्यते—तिल तैल की विशेषता के कारण चरक में इस प्रकार वर्णन किये हैं—लौन स्त्रीय-सल्कारात् सूर्योगापाद् परम् । तैलप्रयोगाद्वय निविकारा विनश्यता । आमत्रनिलत् स्त्रेहे दैषाप्रियत्वं पुरा । निष्पत्ते—(१) कर्मनिष्पत्ते । (२) तिन् यथा तैल निष्पत्ते खूर्णशृग्यन्यादिन तथा सर्वोदावति लेहाकारणत् । भवनि च समाननिष्पत्तिकारया तद्वच्छन्दना । (दिवादासमेन) । इय स्त्रोकार्ध का तात्पर्य यह है कि इतर वानस्पतिक खेड़ी में निल तैल का कर्मसामान्य और गुण-सामान्य होने के कारण उनके लिये भी तैल शब्द रुद्ध हो गया है । तैल—इसका सरल अर्थ ‘तिलोत्था’ है और यह काण्ड, पत्र, खेड़ी इत्यादि के लिये भी प्रयुक्त हो सकता है, परन्तु रुटि से इसका प्रयोग केवल खेड़ीविषयक होता है—लटिपतल-तैलग्रन्थि खेड़ीविषय एव तैलशब्द स्त्रो न काट्यवादि विषये । निकल्य हि काण्ड पत्र वा न तैलमित्युच्यते कि ताहि निकल्य निन्दनाद्वयति । अन एव तैलशब्दोक्तारणत्वं समनवर लेहविषयै वीर्योंवे न पक्षकाण्डादिविषया ॥ (अलगदत्) ।

ग्राम्यान्नपौदकानां च वसामेदोमज्जानो गुरुरुप्त्य
भृद्युरायात्माः, जाह्नैकशफकव्यादादीनां लघुरुरीत
कथाया रक्तपित्ताः, प्रतुदविक्षिकाराणां रेतेष्यम् ।
तत्र घृततैलवसामेदोमज्जानो यथोचरं गुरुर्विषयाका
यातह्राक्ष ॥१३१॥ इति तैलवर्गः ।

(घोटा, गी आदि) ग्राम्य, (महिरादि) आनूप, (मल्यादि) औदक प्राणियों की वसा, मेद और मज्जा भारी, उत्पा, मधुर और वातनाशक होती है । जागल, पूक शफ और हिंख प्राणियों की वसा, मेद और मज्जा हलकी, गीतल, कथाय और रक्तपित्तनाशक होती है । मतुद (कपोत पारावतादि), विकिर (लावसित्तिरादि) प्राणियों की

वसा, मेद और मज्जा कहनाशक होती है । गी, तैल, रुटि और मधुर मज्जा ये येह द्रव्य पदचन के लिये उत्तरोत्तर और भारी तथा वातनाशन के लिये अधिक शक्तिशाली होती है ॥१३२॥

धक्कद्वय—भासुनिक काल में मार्चीन काल की दर्द कई प्रकार के जंगम खेड पदार्थ व्याने के लिये तथा विकिर के लिये प्रयुक्त होते हैं । इनमें मठपी का तैल लिंगेव योग्य है । इसमें घें (Fat) के सिथाय गीरी की पुष्टि रक्ता व लिये अवायवरक जीवनीयद्रव्य (Human A. D.) होते हैं । इसके लो प्रधान उदाहरण हैं—‘हिलबर फ्रॉइल’ और ‘हर्लीवट लिंगर ऑइल’ । तेन, रुन, और मज्जा—ये चारों द्रव्य खेडवर्ग के हैं । इनमें तंत्र (Oil) और वसा (Fat) शुद्ध खेडद्रव्य हैं । खेडद्रव्य निर्वर्ती और फ्याटी प्रसिड के सरोगत से बनते हैं । रासायनिक है मे उम प्रकार के घटा को तैल कहते हैं दियमें निझ खेडिं फ्याटाइएसिड (Lone Fatty acids) होते हैं । इनके कारण वह येह एतला होता है । जिसमें उत्प्रे खेडि (High Fatty acids) फ्याटी प्रसिड होते हैं वह वसा कहलाता है इनके कारण वह येह कुरु गाढ़ा होता है । मेद (Red marrow) और मज्जा (Yellow marrow) खेडमृगिष्ठप्ति पूर्णतया खेड नहीं है—It (Fat) is however found in large quantities in three situations Viz. Marrow, adipose and mammary gland during lactation (Haliburton & Physiology)

अथ मधुर्घर्गः ।

मधु तु मधुरं कथायानुरसं रुद्धं शीतमसिद्धीपूर्व वर्ण्यं वेल्यं लघु सुकुमारं लेखनं हृद्यं वातीकर्त्तव्यं वात्यनं शोधनं रोधनं संग्राहि च वृद्ध्युर्ध्यं प्रसदेन सूदममार्गानुसारि पित्तस्तेव्यमेदोमेहदिकाश्वास कासातिसारच्छर्दित्यप्णाहमिविषयप्रशमनं द्वादिति विदोयप्रशमनं च ततु लघुत्वात्कफम् पैचिद्यामा धुर्योत्कपायभावाच्य वातपित्तमूर्धम् ॥१३३॥

(मधुवर्ग—) मधु—रस में मधुर, अनुरस में कवच सूत, शीतल, अस्त्रिदीपन, गीरी की कान्ति और बल वृत्त वाला, हलका, सीकुमारेहर, लेखन, हृदय के लिये हितवा वातीकर्त्तव्य, अस्थिनाशनक, वर्णरोगण, प्राहि, नेत्रों की इम्प्रेक्षन करने वाला, गीरी के सूक्ष्म मार्गों में प्रवेश करने वाला, लिंग कफ, मेद, प्रसेह, हिङ्क, शाय, कास, अतिसार, वमन, तृष्णा कृषि और विष इनको शात करने वाला, आहुलाद इने वात और त्रिदीपप्रशमन है । यह हलका होने से कफ को गंड करता है, मधुर, पिचिल और कथाय होने से वात की पित्त को शात करता है ॥१३२॥

धक्कद्वय—मधु एकरातुक खाद्य पदार्थ है जो विमुक्तिवर्धी पूलों की मिठास की प्रगत कर अपने छोटी में इक्की करती है । मधु में दाशगार्हका या लक्कोज (Grape Sugar or Glucose) अधिक राशि में (औसत ७५%) होता

है । इसके सिवाय इमुर्शर्करा, लेव्यूलोज (Levulose), पोर्टीडस, गोंद, भोम, रंजन द्रव्य, फार्मिक एसिड (Formic Acid), सुगंधि द्रव्य, लोह, चूना, फास्फरस, जीवनीय द्रव्य (Vitamins), एपि पदार्थों का (Starchy) पचन करने जाला एक पाचक द्रव्य (Diastatic ferment) जल तथा पुष्प पराग भी होते हैं । संदेश में मनुष्य शरीर में मिलने वाले तथा मनुष्य शरीर के लिये हितकर प्रायः सर्व उपादान न्यूनाधिक मात्रा में मधु में मिलते हैं । शर्करा कई प्रकार की होती है । मधु में जो शर्करा मिलती है वह अत्यन्त पचनसुलभ, अविदाहि, उत्तेजक, पोरक, घल्य और हृदय है; इसलिये असिमांघ, ज्वर, घमन, तृष्णा, अग्नावस्था (Acidosis), विषमय अवस्था (Toxaemia), मधुमेह, श्रान्तावस्था, हृदयदीर्घल्य, हृदयावसाद (Collapse) इत्यादि अवस्थाओं में मधु बहुत ही लाभदायक प्रतीत हुई है । हृदय के लिये तो सांप्रत मधु शर्करा भानि गल्फकौज एक प्रधान औषधि मानी जाती है, और रणावस्था में हृदयदीर्घल्य को दूर करने के लिये इसका उपयोग होता है । मधु में जो अम्ल होते हैं उनके कारण वह कासशासादि श्वाससंस्थान के रोगों के लिये हितकर होता है । संतिया, अंजन (Antimouy), विसमय (Bismuth), छोरोफार्म (Chloroform) कार्बन टेट्रा छोराइड (Carbon tetra chloride) आदि विस्तैपे पदार्थों का विषव्यहरण करने की शक्ति मधुशर्करा में है । पाक्षात्य वैद्यक में मधु शर्करा के प्रयोग दिन प्रतिदिन बढ़ रहे हैं । उनको देखते हुए मधु के ने गुण धर्म यहाँ वर्णन किये हैं वे बहुत ही प्रशस्त माल्हम होते हैं । आशा है कि आयुर्वेद में मधु के लिये जो ऊँचा स्थान देया है वही स्थान पाक्षात्य चिकित्सा में भी थोड़े दिनों में मधु के लिये मिल जायगा । असली मधु में सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा देखा जाय तो पुष्प पराग जरूर दिखाई पड़ते हैं ।

पौत्रिकं भ्रामरं क्षौद्रं माक्षिकं छात्रमेव च ।

आर्ध्यमौद्दालकं दालमित्यप्यौ मधुजातयः ॥१३३॥

(मधु के प्रकार —) १ पौत्रिक, २ भ्रामर, ३ क्षौद्र, ४ माक्षिक, ५ छात्र, ६ आर्ध्य, ७ औद्दालक, और ८ दाल ये मधु की आठ जातियाँ हैं ॥१३३॥

वक्तव्य—आठ प्रकार के मधु के लक्षण—१ पौत्रिक लक्षण—हृणा या मशकोपमा लघुतरा प्रायो महापीटिका वृद्धानां तरुकीटरान्तरगताः पुष्पासनं कुर्वते । तासउज्जैरिह पूतिका निगदितातामिः कृतं सर्पिणा तुर्यं यन्मधु तद्देन्नरखनैः नक्षितिं पौत्रिकम् ॥ (भावप्रकाश) । महत्यः पिंगला यास्तु मक्षिका: पुतिका: सृताः । तद्वयं मधु पौत्रिकम् । २ भ्रामर लक्षण—किञ्चित् सूक्ष्मैः प्रसिद्धेभ्यः पृथग्देभ्योऽलिभिश्चित्तम् । निर्मल स्फटिकाभ यत्तन्मधु भ्रामरं सृतम् ॥ (भावप्रकाश) । ३ क्षौद्र लक्षण—मक्षिका: कपिलाः सूक्ष्मा छुट्रास्थासात् कृत मधु । मुनिभिः क्षौद्रमित्युक्त तद्रणिति कपिलं भवेत् ॥ ४ माक्षिक लक्षण—मक्षिका: पिंगवर्णस्तु महत्यो मधुमक्षिका: । तामिः कृतं तैलवर्ण माक्षिकं परिकीर्तितम् ॥ ५ छात्र लक्षण—वरदाः कपिलाः पीताः प्रायो हैमवने वने । कुर्वन्ति छत्रकाकारं तज्जं छात्रं मधु सृतम् ॥ ६ आर्ध्य लक्षण—मधुकृक्षनिर्यासं जरत्कार्वाश्रमोऽवृक्षम् । स्वर्वंत्यार्थं तदास्थात् भेतके मालवे नुनः ॥ तीक्ष्णतुण्डास्तु याः पीतवर्णः

पृथपमतिभाः । अर्धास्तास्तस्तु यत्तदार्थमित्यपरे जगुः ॥ ७ औद्दालक लक्षण—प्रायो वल्लीकामव्यस्थाः कपिला स्वल्पकीटकाः । कुर्वन्ति कपिलं स्वल्प तत्स्यादौदालक मधु ॥ ८ दाल लक्षण—संस्तुत्य पतितं पुष्पासनं पत्रोपरि स्थितम् । गधुराम्लकपायं च तद्धालं मधु कीर्तितम् ॥ (भावप्रकाश) । इन्द्रनीलदालाकाराः मधुमा या मक्षिकाः शुभाः । वृक्षकोटरामध्यस्थासातज्जं दालमुदाहृतम् । चरकसंहिता में केवल चार प्रकार की मधु वर्णन की है—मक्षिकं भ्रामरं क्षौद्रं पौत्रिकं मधुजातयः ।

विशेषपौत्रौत्तिकं तेषु रूक्षोप्यं सविषान्वयात् ।

वातासृक्षपित्तक्षच्छेदि विदाहि मदकृत्तमधु ॥१३४॥
पैच्छिल्यात् स्वांदुभूयस्त्वाङ्गामरं गुरुसंक्षितम् ।

क्षौद्रं विशेषतो द्येयं शीतलं लघु लेखनम् ॥१३५॥
तस्माल्लघुतरं रूक्षं माक्षिकं प्रवरं स्मृतम् ।

श्वादुपाकं गुरु हिमं पिच्छिलं रक्तपिच्छित् ।
श्वित्रमेहकृमिभ्यं च विद्याच्छात्रं गुणोत्तरम् ॥१३६॥

आर्ध्यं मध्वतिचक्षुष्यं कफपित्तहरं परम् ।
कपायं कदु पाके च वल्यं तिक्तमवातकृत् ॥१३८॥

औद्दालकं सचिकरं स्वर्यं कुष्ठविषापहम् ।
कपायमुण्डमम्लं च पित्तकृत् कटुपाकि च ॥१३९॥

छात्रिमेहप्रशमनं मधु रूक्षं दलोद्धवम् ।

(उनके गुण —) सविष मक्षिकाओं से संबंध रखने के कारण उक्त आठ प्रकारों में पौत्रिक मधु विशेषतया रूक्ष और उप्या होता है तथा वातरक्कर, पित्तकारक (मेदोग्रन्थादि का) छेद करने वाला, विदाह और मदकारक होता है ॥१३४॥ आमर मधु गाढ़ा और अत्यंत मीठा होने से भारी होता है । क्षौद्र मधु विशेष करके शीतल, हलका और लेखन है ॥१३५॥ माक्षिक मधु क्षौद्र से भी हलका और रूक्ष है, सबसे श्रेष्ठ है तथा श्वासादि रोगों में विशेषतया प्रशस्त होता है ॥१३६॥ छात्र मधु विषाक में मधुर, भारी, शीतल, पिच्छिल, रक्तपित्त, श्वेत कुष्ठ, प्रमेह और कृष्मि हनका नाशक तथा गुण में भी उत्तम होता है ॥१३७॥ आर्ध्य मधु नेत्रों के लिये अत्यंत हितकर, कफ पित्त का परम नाशक, कपाय, विषाक में कदु, वल्कर तिक्त और किञ्चित् वातकर होता है ॥१३८॥ औद्दालक मधु रुचिकर, स्वर के लिये हितकर और कृष्मि तथा विष का नाशक है । दाल मधु कपाय, उप्या, अम्ल पित्तकर, विषाक में कदु, घमन तथा प्रमेह को शान्त करने वाला और रूक्ष होता है ।

बृंहरीयं मधु नवं नातिश्लेष्महरं सरम् ॥१४०॥
मेदःस्यौल्यापंहं ग्राहि पुराणमतिलेखनम् ।

दोषप्रयहरं पक्कमामम्लं त्रिदोषकृत् ॥१४१॥

नवीन मधु शरीरपुष्टिकर है, कफ का विशेष हरण नहीं करता है तथा मधु विरेचक है ॥१४०॥ पुराना मधु मेद और स्थूलतानाशक, ग्राहि और अत्यंत लेखन है । पक्क मधु त्रिदोषों का नाशक है और आम मधु अम्ल और विदोष प्रकोपक है ॥१४१॥

घटकद्वय—पुराण—एक साल से अधिक समय का—
मधुन् रातोवाच शुद्धत्वापि विरोपा । इनमालोरेज्ञिने पुराणव
स्तु तुषे ॥ (भावप्रकाश) । एक और आम—हज़े में ही
अधिक काल रहा हुआ मधु एक होता है और अतरकाल तक
रहा हुआ आम होता है ।

तद्युक्तं विविधैर्योग्गिरिहन्न्यादामयान् घृन् ।

नानाद्रव्यान्वक्तव्याच योगवाहि परं मधु ॥१४२॥

वह मधु नाना प्रकार के दोगों (के साथ प्रयोग करने)
से अनेक दोगों का नाय करता है; और नाना (प्रकार के
इस कीर्ति प्रभावावलु) मुख्य से उत्पन्न होने के कारण सर्वांतम
योगवाही है ॥१४२॥

घटकद्वय—शीघ्रपी—इस शब्द के कई अर्थ होते हैं ।
इनमें से निम्न अर्थ अधिक संभव है—जो इन्हीं विपरीत गुण
युक्त अन्य द्रव्य के साथ मिलाने पर सेवक के स्थान उसी
द्रव्य के गुणानुकारी कार्य करता है तथा उस द्रव्य को गुण
का विरोध न करते हुए अपना भी कार्य किया करता है वह
योगवाही कहलाता है । इसके विशेष विवरण के स्थिति अष्टांग-
हृदय सूत्रत्वान् अभ्यास पंचम स्तोक ५२ की अनुदृत की
टीका देखो या सिद्ध योग (वृन्दामय) में वृश्णीयविकिसा
में धीकृष्ण की टीका देखो ।

ततु नानोविधानो रसगुणवीर्यविपाकविददानां
पुष्पाण्यां रससंभवत्वात् सविपमक्षिकासंभवत्वाच्चा-
नुष्णोपवारम् ॥१४३॥

उद्धैर्विद्वयते सर्वं विपान्वयतया मधु ।

उद्धर्णार्तमुच्छृङ्खणे वा तद्विहन्ति यथा विषम् ॥१४४॥

तत्सौकुमार्यार्थं तथैव शैत्या-

नानोविधीनां रससंभवत्वाच्च ।

उद्धैर्विद्वयते विशेषतत्त्वं

तथाऽन्तरीक्षेण जलेन चापि ॥१४५॥

रस, गुण, वीर्य और विपाक की इसी से विश्व नाना
कार के मुख्यों के रस से तथा विषयुक्त मतिस्थिरों से उत्पत्ति
होने के कारण वह मधु अनुष्णापचार (किसी प्रकार की
इलाजत्वा के साथ संबंध रखने के लिये अवोग्रोह) होता है ॥१४५॥
विष का संबंध होने से सर्व प्रकार का मधु
उत्पन्न होता है । इसलिये उष्णा (अष्टि या दूर्यों के ताप)
ते पीडित मधुव्य को, उष्णा द्वारा के साथ, उष्ण काल में देने
ते वह विष की भाँति (सेवन करने वाले का) नाय करता
है ॥१४५॥ मधु सुकृत, शीतल और नाना प्रकार के ग्रीष्मिति
म से उपज होने के कारण उग्रता के साथ विशेष रूप से
या आन्तरीक्ष जल से विश्व होता है ॥१४५॥

उद्धैरेण मधु संयुक्तं वयमेवव्याचारितम् ।

अपाकाशनवस्थानाश विद्वयेत् पूर्वत् ॥१४६॥

मध्यामातपरतस्वयन्यदामे काष्ठं न विद्यते ।

विश्वेषेप्रकमत्वाचत् सर्वं द्वन्ति यथा विषम् ॥१४७॥

इति मधुर्यगः ।

मधुन के लिये उष्ण पदार्थों के साथ प्रयुक्त किंवा
मधु परिपाक न होने के कारण तथा शरीर में न दूर्ते
कारण विश्व नहीं होता है ॥१४६॥ मधु की
(अर्मार्गावस्था) से अन्य और आमावस्था
नहीं होती है, किंतु यद्यपि उपक्रम विश्व द्वाने से वह अ-
वस्था विष की भाँति प्राणानायक होती है ॥१४७॥

घटकद्वय—विश्वेषेप्रकाश—आमावस्था के लिये सेड
जलादि स्थानोपलाय नाना स्तंभों में नाना द्रव्य के लिये ते-

लय आहतकर द्वाकर उपचार करन पर भी मृत्यु होत
समाप्त होती है । तथा उपचार न करने से भी रोती
स्थिति असाध्य ही जाती है । इति मधुर्यगः ।

अधोमुख्यर्थः ।

इत्यो मधुरा मधुरविषाका गुरुत्वः ।
द्वितीया यस्या धृष्ट्या मूत्रला रक्तपित्तप्रशमन
कृमिकफकराद्येति ॥१४८॥

सर्व प्रकार के गते रस और विपाक में मधुर, गुरु, शीर्ष
विष, बलकर, वृक्ष, मूत्रल (Diuretic),
हृष्टि और कफ कारक होते हैं ॥१४८॥

ते चालेकविधाः । तद्यथा—

पौष्ट्रिको भीदकवैयै वैशकः अंतेष्टोरकः ।
कान्तारास्तापसेक्षुध्य कैषेष्टुः स्त्रियप्रकः ॥१४९॥
नेपालो दीर्घप्रवृत्ति नीजपेरोदृथ कोशहात् ।
इत्येता जातयः स्त्रीव्याहुणान् वश्यामयतः परम् ॥१५०॥

(हस्त के प्रकार—) वे कई प्रकार के होते हैं । जै
कि—? पौष्ट्रिक, २ भीदक, ३ वैयै, ४ वैशक, ५ अंतेष्टोरक, ६ कान्ता-
रा, ८ तापसेष्टु, ७ कैषेष्टु, ८ स्त्रियप्रक, ९ नेपाल, १० दीर्घ-
प्रवृत्ति, ११ नीजपेरो, और १२ कोशहात् । गते की इन्हीं जातियों
प्रयानतया होती है । इसके आगे अब उनका वर्णन करें
है ॥१४९, १५०॥

सुशीतो मधुरः स्त्रियो धृष्ट्या नेत्रमलः सरः ।

अविद्याही उरुर्ध्व्यः पौष्ट्रिको भीरुकस्तथा ॥१५१॥
आम्यां तुल्यगुणः किंचित्सक्षातो वैशको मतः ।

वैशवैक्षेतपोरस्तु किंचित्पुणः स तु वातहा ॥१५२॥
कान्तारास्तापसायिश्च वैशकासुभौ मतौ ।

वैयुग्यस्तु कैषेष्टुः स तु वातप्रोपणः ॥१५३॥
स्त्रीयप्रको नीलपोरी नैपैलो दीर्घप्रवृत्तकः ।

वातला, कफपिचम्भः सकृपाया विदाहिनः ॥१५४॥
कोशकारो गुरुः शीतो रक्तपित्तव्यापहः ॥१५५॥

(उनके गुण—) पौष्ट्रिक तथा भीदक दोनों शीतल,
मधुर, विष, उष्टिकर, बलकर, सर, अविद्याही, गुरु और हृष्टि
होते हैं ॥१५५॥ वैशक इन दोनों के हृष्टि, किंचित् लाता होता
है । अंतेष्टोरक वय के समानगुण, किंचित् उष्ण और वात
है । नेपालक वय के समानगुण, किंचित् उष्ण और वात

१ नानाद्रव्यरम् वीर्यः २ मुच्चराताना मविषः

भृतीय होता है ॥१५२॥ कान्तार और तापसेष्ठु वंगक के नाम पानगुण होते हैं । काषेष्ठु इन्हीं के समान गुण वाला दूसरा वातप्रकोपक होता है ॥१५३॥ सूचीपत्र, नीलपोर, गल और ईर्धपत्रक वातकारक, कफपित्तनाशक, कपाय और निदाह उपशम करने वाले होते हैं ॥१५४॥ कोशहृन् गुरु, नील और रक्तपित्त तथा ज्ञाय का नाशक है ॥१५५॥

भृतीय मधुरो मूले मध्ये मधुर पद्य तु ।

त्रिप्रिव्यक्षिपु विक्षेय इक्षुणां लवणो रसः ॥१५६॥

गजा मूल की तरफ अति मधुर होता है; वीच में मधुर होता है; और अग्रभाग तथा गाँठों में (कुछ) सारा होता है ॥१५६॥

अविदाही कफकरो वातपित्तनिवारणः ।

वक्त्रप्रहादनो वृष्ट्यो दन्तनिष्पीडितो रसः ॥१५७॥

दाँतों से दवा दवा कर निकाला हुआ गन्धे का रस अविदाही, कफकरक, वात और पित्त नाशक, मुख को प्रसन्न करने वाला तथा घृण्य होता है ॥१५७॥

पुरुर्विदाही विषमभी यान्त्रिकस्तु प्रकीर्तिः ।

को गुरुः सरः स्त्रिग्धः सतीक्षणः कफवातनुत् ॥१५८॥

बन्ध (कोल्ह) का निकाला हुआ रस भारी, विदाह उत्पन्न करने वाला और पेट में विषमभ (गुणगुड शब्द) रिने वाला होता है । अग्नि पर पकाया हुआ रस भारी, गुड विश्वक, स्त्रिग्ध, तीक्ष्णा, वात तथा कफ नाशक होता है ॥१५८॥

वक्तव्य—विदाही—द्रव्यस्वभावाद्य गौरवादा चिरेण पाक विदाहियोगात् । पित्तप्रकोप विदाह करते तदवपान कथित विदाहि ॥ यान्त्रिकरम विदाही होने के कारण वामभट लिखते हैं—मूल-विन्नुजवादीनामलभकरात् । किनित्काले विष्ट्रिय च विकृति वानिं यान्त्रिकः । विदाहि गुरु विषमभी तेनात् ॥ (अष्टांगहृदय) ।

फाणितं गुरु मधुरमभिष्यन्दि वृंहणमवृष्ट्यं त्रिदोषकृच्छ्र ॥१५९॥

काणित (राव या काकवी)—भारी, मधुर, अभिष्यन्दि, एुष्टिक जाती है, वृष्ट्य नहीं है और त्रिदोषप्रकोपक है ॥१५९॥

गुडः सक्षात्मधुरो नातिशीतः स्त्रिग्धो मूत्ररक्त-शोधनो नातिपित्तजिद्वातभ्यो मेदःकृमिकफकरो वल्यो वृष्ट्यश्च ॥१६०॥

(अग्नदृ) गुरु ज्ञारयुक्त मधुर है, अतिशीतल नहीं है, स्त्रिग्ध है, मूत्र और रक्त शोधक है, पित्त का विशेष शमन करने वाला नहीं है वातनाशक है, मेद, कृमि और कफ करने वाला है, बलकारक है तथा वृष्ट्य है ॥१६०॥

पित्तप्रो मधुरः गुडो वातप्रोऽस्त्रक्षप्रसादनः ।

स पुराणोऽधिकगुणो गुडः पश्यतमः स्मृतः ॥१६१॥

गुड गुड वात और पित्त नाशक, मधुर तथा रक्त प्रसादन होता है । (एक वर्ष से अधिक काल का) उराना गुड गुण में अधिक और अतिशय पश्यकर होता है ॥१६१॥

? कफकृच्छ्रविदाही च रक्तपित्तनिवैहणः । शक्तग्रासमनीर्यन्तु दन्त-निष्प्रितिः रसः ॥.

मत्स्यरिडकाखण्डशर्करा विमलजाता उत्तरोत्तरं शीताः स्त्रिग्धाः गुरुतरा मधुरतरा वृष्ट्या रक्तपित्त-प्रशमनाल्लृणाप्रशमनाश्च ॥१६२॥

यथा यथैर्पां वैमलत्यं मधुरस्वं तथा तथा ।

स्त्रेहगौरवशैत्यानि सरत्वं च तथा तथा ॥१६३॥

मत्स्यण्डिका (मीजां र्यांड), स्त्रांड और मिश्री अधिकाधिक विमल होती हैं; इसलिये उत्तरोत्तर शीतल, स्त्रिग्ध, भारी, मधुर, वृष्ट्य, रक्तपित्त प्रशमन और तृष्णा शान्त करने वाले होते हैं ॥१६२॥ जितनी जितनी निर्मलता इन भिज्ज मिल शर्कराओं में अधिक होती है उतनी उतनी मधुरता, स्त्रेह, भारीपन, शीतलता और सरत्व भी अधिकाधिक होता है ॥१६३॥

यो यो मत्स्यरिडकाखण्डशर्कराणां स्वको गुणः ।

तेन तेनैव निर्देश्यस्तेषां विश्वावणो गुणः ॥१६४॥

मत्स्यण्डिका, स्त्रांड तथा शर्करा का जो जो अपना गुण होता है वही गुण उनके विश्वावण (घोल या उनकी उत्पत्ति के समय निकले हुए मल) में समझना चाहिये ॥१६४॥

सारस्थिता सुविमला निःक्षारा च यथा यथा ।

तथा तथा गुणवती विक्षेया शर्करा वृष्ट्यैः ॥१६५॥

शर्करा जितनी अधिक निर्मल होकर सार रूप और ज्ञार रहित होगी उतनी ही अधिक गुण युक्त होगी, यह वैद्यों को जानना चाहिये ॥१६५॥

मधुरशर्करा पुनश्चर्द्यतीसारहरी रुक्षा छेदनी प्रसादनी कपायमधुरा मधुरविपाका च ॥१६६॥

मधुरशर्करा—वमन और अतिसार को हरण करने वाली, रुक्षा, छेदनी, मन को प्रसन्न करने वालीरस और विपाक में कफ यमधुर तथा मधुर होती है ॥१६६॥

यवासशर्करा भेद्यरक्षाया तिक्तानुरसा श्लेष्म-हरी सरा चेति ॥१६७॥

यवासशर्करा—मधुर, कपाय, अनुरस में तिक्त, श्लेष्म-नाशक और भृदुविरेचक होती है ॥१६७॥

वक्तव्य—यवासशर्करा को अंग्रेजी में मना (Manna) कहते हैं । यवास (Alhagi Maurorum) नामक वृक्ष से जो निर्याय निकलता है वही यवासशर्करा किंवा तुरंजीन है । कृत्रिम तौर पर यवासकाथ की धन करके भी शर्करा बनाई जाती है—यवासकाथपाकवनीभावान्धकरा कृता यवासशर्करा । (डलहण) । इसमें कई प्रकार की शर्कराएँ (Cane Sugar, Mannite etc) मिश्र होती हैं ।

यवासशर्करा: प्रोक्ताः सर्वा दाहप्रसाशनाः ।

रक्तपित्तप्रशमनाश्छर्द्यमूच्छ्रातपापहाः ॥१६८॥

उपर जितनी प्रकार की शर्कराएँ तृष्णात हुई हैं वह सर्व दाह को नाश करती हैं, रक्तपित्त को शान्त करती हैं, वमन, मूत्राच्छ्री और यास को दूर करती हैं ॥१६८॥

रुच मधूकपुष्पोत्थ फालित यातपित्तवृत् ।
कफम् मधुर पाके कपाय यस्तिदूषणम् ॥१६९॥
इतीशुर्वर्गं ।

महुर एक फूर्च में बनी हुई राज सूत, बात और पित्त कारक कफनाशक, विषाक में मधुर कपाय और मूत्र दूषक होती है ॥१६९॥

वृक्षतथ्य—आज बल खन्त्र थीट स्ट (Best Root) आदि कई वृक्षों से गर्का बनाई जाती है परन्तु सब में रामा यनिक हटि से एक ही द्रव्य (Saccharose) होता है। इन्हीं इतीशुर्वर्गी ।

अथ मधुवर्गं ।

सर्वे पित्तकर मध्यमम्ल रोचनदीपनम् ।
भेदन कफवातम् हृदय यस्तिविशोधनम् ॥१७०॥
पाके लघु विद्वासुण तीक्ष्णमिन्द्रियवोधनम् ।

विकासि सुष्टुपिण्मूत्र शृणु तस्य विशेषणम् ॥१७१॥

(मध्य के गुण—) सर्वे प्रकार का मध्य वित्तकारक अम्ल सूचि उत्पत्त करन वाला, अमिद्विषक विशेषक कफवात नाशक हृदय के लिये हितकर (अथवा मन का आनंद इन वाला) मूद्यपोषक ॥१७०॥ पचन में लिये हल्का दाह उत्पत्त करन वाला गरम तीक्ष्ण शानदिव्य का उत्तमना इन वाला सविधिपूर्वक तथा मूत्र और मल का सुलकर सान वाला होता है। (अथ) इसके विशेष (भेदों का वर्णन) अध्ययन करो ॥१७१॥

धृतवृक्ष—मध्य में लवण के अतिरिक्त शय पांच रस होते हैं परन्तु अस्त्रस की उपकृता होने से कवल अस्त्रस का ही यहाँ निर्देश किया है—मध्यसाम्लसमावय च वारी—नुरम सूता । मधुरध कपायवश तिक कुड़क एव च गुण श्व त्रा पूर्वोक्ता स्तैश्वर्त्तरमित्युः । सर्वेषां मध्यमम्लानुपुषुपि निधनि (चरक) । हृदय—हृदय इक्षपिण्डिभ्यमय तथा मन दोनों का ही स्थान है—रसपातानिमाणां सत्सुकुर्दीद्रिवात्मनाम् प्रशान्तीज्ञस्त्रैव हृदय स्थानमुख्यते (चरक) । मध्य दोनों के लिये प्रग्रह होता है। इन्द्रियोनेन—अल्प मात्रा में सेवन करन पर मध्य यह कार्य करता है—प्रार्थण प्रीतिकर पानाक्रान्तुरुक्तं वायाशीप्रहमाना कथाना च प्रवनक (चरक) । विशेषम्—प्रायक प्रकार क मध्य के विशेष गुणधर्म उस मध्य के प्रधान द्रव्य के गुणपर्यं पर उसमें दबने वाल भिन्न भिन्न द्रव्यों पर तथा उसम उत्पत्त होने वाल अल्कोहॉल (Alcohol) की राशि पर निर्भर होते हैं ।

मार्दीकमविदाहित्वान्मधुरान्वयतस्तथा ।
रत्तपित्तेऽपि सतत कुर्वन्ते प्रतिरिप्यते ॥१७२॥
मधुर तद्दि रुक्ष च कपायानुरस लघु ।

लघुपाकि सर शोपयितमज्जवलानाशनम् ॥१७३॥

द्राक्षा का मध्य—अविद्विषि आर मधुरसाम्पत्त है परन्तु पित्त में भी सौदैव (सबन करन के लिये) वैद्य लाल इसका निष्पत्त नहीं करते हैं ॥१७३॥ वह मध्य मधुर सूत्र भ्रुरम में कपाय हल्का विषाक में हल्का मूत्रविषयक गाय और

विषम ज्वर का नाशक होता है ॥१७३॥

मार्दीकात्पान्तर किंचित् खाजूर घानकोपनम् ।

तदेव विशाद रच्य कफम् वर्जन लघु ॥१७४॥
कपायमधुर हृदय सुग-धीन्द्रियोधनम् ।

(खाजूरसमय—) हुक्का ग बनाया हुआ मध्य द्राक्षि । मध्य से गुण म याहा कम दिक्षित् बानप्रकारक विशेष गति कारक कफनाशक हृत्याकारक हन्ता ॥१७४॥ कपाय हीं मधुर रस मुत्र हृदय मुग्धिन आर इन्द्रियवापन है ।

कासाशारप्रिहरणीद्रव्यमूत्राधातानिलापहा ॥१७५॥

स्तन्यरत्तक्षयद्विना सुरा वृहणीपनी ।

सुरा—सौमी व्यासीर प्रहर्णी राग मूत्राधात और बात हन्ता नाशक नान्य और रक्त के जय में हितकर योरीतुष्टिता तर्हीं प्रसिद्धीपक होती है ।

छर्योपक्षहु कुचितोदश्लप्रमर्दनी ॥१७६॥

प्रसन्ना कफवाताश्यपिवन्धानाहनाशनी ।

प्रसन्ना (सुरामण्ड)—बमन अरचि हृदय तथा कृति की पन्ना और शूल वक वात ब्यायीर मलावराध और अपारा हन्तों का नाश करती है ।

कासाशारप्रिहरणीश्वासप्रतिद्यायविनाशनी ॥१७७॥

श्रेष्ठो मूत्रकफस्तन्यरत्तमामवरी सुरा ।

भ्रतवर्ष की सुरा—काम अर्ण, मधुवी खास और बुडाम हन्ता नाश करती है और मूत्र क क स्तन्य (दृथ) रक और मास हन्तों की शैदि करती है ।

पित्तलाऽद्यपक्षा रुक्ता यवैर्यातप्रकोपणी ॥१७८॥

विषम्बिनी सुरा गुर्वा श्लेष्मला तु मधुलिका ।

रुक्ता नातिक्षणा वृथा पाचनी चायदिक्षी स्मृता ॥१७९॥

यवमुरा—पित्तकारक अथ कफ करने वाली रुक और वातप्रकारक होती है ॥१७९॥ मधुलिका नामक सुरा—विषम्बिनी गारी भारी और कफकारक होती है । वेष्टे की सुरा—स्त्री, ब्रह्म कफकारक वृथा और पाचक होती है ॥१७९॥

उक्त—य—मधुलिका—स्वलग्नोमूले मधुमूले शीतीकृति रक्षाना संकेत—हृत्याण व त फलकिंव मधुलक मधुकु पात्तमिनि जेझट । (डाग्नीकी)

विदोप्ये भेद्यवृद्ध्यक्ष कोहलो घटनमिय ।

बाह्ल (वयवकुट्टन) सुरा—विदारकारक भद्री अवृद्ध और रक्षिकर होती है ।

ग्राव्यप्तो जगत् पक्ता स्त्रैस्तुदक्षोपकृत् ॥१८०॥

हृदय प्रगाहिकाऽऽटोपदुनामानिलशोपहत् ।

जगल (मध्य का नीचे का भाग—) ग्राही उथा पाचक रुक हृत्याक कफकारक (ऐपन करने से) वायाशीक प्रवाहिका मलावराध अर्ण वात और गाय हन्ता नाशक है ।

यक्ष(क)सो हृत्याक वायाद्विषमी वातकोपन ॥१८१॥

दीपन स्त्रैपरिमूलो विशदोऽल्पमदो गुरु ।

१. वेष्टे की मधुकु

यक्षस (सुराकल्प—) सार निकल जाने से विष्टम्भ-जनक, वातप्रकोपक, अग्निदीपक, मूलमूत्र उत्सर्जक, विशद, इन तंत्रों करने वाला और भारी होता है ।

अथ सीधुः ।

कथायो मधुरः सीधुर्गांडः पाचनदीपनः ॥१८२॥

शार्करो मधुरो रुच्यो दीपनो वस्तिशोधनः ।

चातम्बो मधुरः पाके हृद्य इन्द्रियवोधनः ॥१८३॥

गुड़ की सीधु (एक प्रकार का मध)—कपाय, मधुर और पाचन दीपन होती है ॥१८२॥ शर्करासीधु—मधुर, रुचिकर, दीपन, मूत्रगोधक, वातनाशक, तिपाक में मधुर, हृदय के लिये हितकर और इन्द्रियवोधक होती है ॥१८३॥

तद्वत् पकरसः सीधुर्वलवर्णकरः सरः ।

शोफ्प्रभो दीपनो हृद्यो रुच्यः श्लेष्मार्शसां हितः ॥१८४॥

कर्शनः शीतरसिकः श्वस्थूद्रदरनाशनः ।

वर्णकुञ्जरणः स्वर्णो विवर्धन्दीपनो शसां हितः ॥१८५॥

गन्ते के पके रस की सीधु—वलकारक, वर्ण वढ़ाने वाली, मृदुविरेचक, शोथनाशक, अग्निदीपक, हृद्य, रुचिकारक, कफ और अर्श के लिये हितकर होती है ॥१८४॥ गन्ते के कठोर रस की सीधु—गरीर को कृग करने वाली, शोथ और उदर की नाशक, कान्ति वढ़ाने वाली, आहार का पचन करने वाली, सर के लिये हितकर, मलावरोध को दूर करने वाली और अर्श के लिये हितकर होता है ॥१८५॥

आकृतिकः पाण्डुरोगघो वृण्यः संग्राहको लघुः ।

कपायमधुरः सीधुः पित्तम्बोऽसुखप्रसादनः ॥१८६॥

बहेहे की सीधु—पाण्डुरोगनाशक, वण के लिये हितकर, संग्राही, हल्की, कपाय और मधुर, पित्तनाशक और रक्त-भसादन करने वाली होती है ॥१८६॥

जामचवो वद्धनिष्पन्नदस्तुवरो वातकोपनः ।

जामुन की सीधु—मूत्रनंग्राही (मूत्र की राशि कम करने वाली), कपाय और वातप्रकोपक होती है ।

अथ आसवः ।

नीक्षणः सुरासवो हृद्यो मूत्रलः कफवातनुत् ।

मुखप्रियः स्थिरमदो चिङ्गेयोऽनिलनाशनः ॥१८७॥

सुरासव—तीक्ष्ण, मन को आनन्ददायक, मूत्रल, कफ और वात हर, मुख को प्रिय, अधिक काल तक मद उत्पन्न करने वाला और वातनाशक होता है ॥१८७॥

वक्तव्य—सुरासव—सुरया उयते तोयकार्य क्रियते यस्मिन् सुरासवः । (डबलगुण)

मधुर्मध्वासवश्लेषी मेहकुष्ठविपापहः ।

तिक्तः कपायः शोफ्प्रस्तीक्षणः स्वादुरवातकृत् ॥१८८॥

मधु का आसव—ग्रेडी, मेह, कृष्ण और विष का हारक, निक, कपाय, शोथनाशक, तीक्ष्ण, मधुर और वात न करने वाला होता है ॥१८८॥

तीक्षणः कपायो मदकुरुर्नामिकफगुलमहत् ।

कमिमेदेनिलहरो मैत्रेयो मधुरो गुरुः ॥१८९॥

मैत्रेय मश—तीक्ष्ण, कपाय, मदकारक, अर्श, कफ और गुन्म नाशक, कृमि, मेद और वातहर, मधुर तथा गुरु होता है ॥१८९॥

वक्तव्य—मैत्रेय—आसवस्य सुरायाश्र द्रयोरेकत्र भाजने । मंधान तदिजानीयन्मेयमुभयाश्रयम् ॥

चल्यः पित्तहरो वर्णर्णो हृद्यश्वेष्वुरसासेवः ॥१९०॥

श्वसुरसामव—वलकर, पित्तनाशक, शरीर का वर्ण बढ़ाने वाला और हृद्य होता है ॥१९०॥

श्रीधुर्मधूकपुष्पोत्थो विदाहश्चिवलप्रदः ।

रुक्षः कपायः कफहृदातपित्तप्रकोपणः ॥१९१॥

निर्दिशेद्रसतश्चान्यान्कन्दमूलफलासवत् ।

मुख्ये के पुष्पों का आसव—दाह पैदा करता है, जठराग्नि और वल का बढ़ाने वाला है, रुक्ष है, कपाय है, कफनाशक है और वात तथा पित्त का प्रकोप करने वाला है ॥१९१॥ (इनके अतिरिक्त) कंद, मूल और फलों के जी अन्य आसव होते हैं वे (कंद, मूलादि के) रसानुसार (गुणकारक) समझने चाहिये ।

नवं मद्यमभिष्यन्दि गुरु वातादिकोपनम् ।

अनिष्टग्रन्थिद्विरसमहृद्यं व विदाहि च ॥१९२॥

नवीन मध्य (एक वर्ण से कम पुराना)—अग्निष्यन्दि, भारी, वातपित्त कफ प्रकोपक, अग्निष्यगन्धयुक्त, योग्य रस रहित, मन को प्रिय न होने वाला और विदाहजनक होता है ॥१९२॥

सुगन्धि दीपनं हृद्यं रोचिण्यु कृमिनाशनम् ।

सुटस्नोतस्करं जीर्णे लघु वातकफापहम् ॥१९३॥

पुराना मध्य—सुरांग्र युक्त, अग्निदीपक, मन को प्रिय होने वाला, रुचिकारक, कृमिनाशक, ज्वोतेविकासी, हल्का तथा वात और कफ हर होता है ॥१९३॥

अरिष्टो द्रव्यसंयोगसंस्कारादधिको गुणैः ।

वहुदोषहरश्वैव दोषाराणं शमनश्च सः ॥१९४॥

दीपनः कफवातम्बः सरः पित्ताचिरोधनः ।

शूलाध्मानोदरमृहज्वराजीर्णार्शसां हितः ॥१९५॥

अरिष्ट (अभयाचित्रकादि) द्रव्यों का संयोग होने के कारण तथा (अनेक) संस्कार होने के कारण अधिक गुण-कारक होता है, अनेक व्याधियों का नाशक होता है और (वातादि) द्रव्यों को शांत करने वाला है ॥१९४॥ वह दीपक है, (विशेषतया) कफ और वात का नाश करता है, मृदु-विरेचक है, पित्त का थोड़ा हरण्य करता है तथा शूल, आध्मान, उदर, झीहाह्युद्धि, ज्वर, अजीर्ण और अर्श हन्ते के लिये हितकर होता है ॥१९५॥

पिपल्यादिकृतो गुल्मकफरोगहरः स्मृतः ।

चिकित्सतेषु वद्यन्ते रिष्टो रोगहराः पृथक् ॥१९६॥

पिपल्यादि गण से बनाया हुआ अरिष्ट गुल्म और कफ-नाशक होता है । रोगहर अन्य अरिष्ट चिकित्सास्थान में पृथक पृथक् (रोग के वर्णन के समय) वर्णन किये जाएँगे ॥१९६॥

अरिष्टासवसीधूनां गुणान् कर्माणि चादिशेत् ।

१ शूद्रीकेष्वरसासवः । २ कपायकफः ।

रुक्ष मधुकपुष्पोत्थे फालितं वातपित्तहृत् ।
कफग्र मधुर पाके कथाय चत्स्तिदूपणम् ॥१६९॥
इतीकुवर्गे ।

मटुरे के फूलों से बनी हुई राय रुक्ष, वात और पित्त कारक, कफनाशक, विशुक में मधुर, कथाय और मूत्र दूषक होती है ॥१६९॥

दत्तदय—आज कल खजूर, बीट रूट (Beet Root) आदि कई वृक्षों से गर्करा बनाई जाती है, परन्तु सब में रामा यनिक इष्टि स पक्क ही दृष्टि (Saccharose) होता है । इनी इकुवर्गी ।

अथ मदवर्गे ।

सर्वं पित्तकरं मध्यमम्लं रोचनदीपनम् ।
भेदनं कफवातम्भं हृदयं चत्स्तिविशोधनम् ॥१७०॥
पाके लघु विद्वाण्णं तीक्ष्णमिन्द्रियवोधनम् ।
विकासि सूर्यविषमूर्त्त्यु तस्य विशेषणम् ॥१७१॥

(मध्य के गुण—) सर्व प्रकार का मध्य पित्तकारक अम्ल एवं उत्पत्ति करने वाला, अश्रितीक, विरचक, कफवात नाशक हृदय के लिये हितकर (अथवा मन को आमद देन वाला), मूत्रप्रोत्पक ॥१७०॥ पचन के लिये हल्का, दाह उपत्ति करने वाला गरम, तीक्ष्ण ज्ञानद्विषय का उपचरना देन वाला संधिवस्थितिमालक तथा मूत्र और मल को सुखकर लाने वाला होता है । (मध्य) हमक विशेष (भेदों का वर्णन) श्रवण करो ॥१७१॥

दत्तदय—मध्य में लवण के अतिरिक्त गोप योग तथा होते हैं परन्तु अम्लस की उपकृता हाने से वाले अम्लरस का ही यही निर्देश किया है—मध्यस्याम्लवादवस्थ वा इसे देनुगमा सृष्टा । मधुरक वाक्यत तित्तु कड़क न च ॥। युग्म श दग्ध पूरोता भैषजदुर्दुर्गमिष्ठौ । मैत्रो च मध्यमस्त्वान्मुतुपुरुषं भवति ॥ (चरक) । दृष्टि—हृदय रसपरिवर्तनम् तथा मन दानों का ही स्थान है—रसपरिवर्तनमाणाणि सत्त्वदुर्दिव्यवर्तनम् । प्रधानम्भूतवैश्वर दृष्टि स्थनमुच्छ्वते ॥ (चरक) । मध्य दानों के लिये प्रश्नान होता है ।

इन्द्रियोभन्त—अल्प भासा में सेवन करने पर भय यह कार्य करता है—प्रश्नाग्रं प्रीतिकरं धानाप्राप्तुराग्रं । विशेषीनप्रहसनाना कथाना च प्रवर्तन ॥ (चरक) । विशेषाग्रं—प्रायोक प्रकार के मध्य च विशेष गुणर्थं उम्म मध्य के प्रधान दृष्टि के गुणर्थमें गर, उग्रों पहने वाले भित्र भित्र दम्भों पर तथा उसमें उपर्युक्त होने वाले अल्कोहोल (Alcohol) की रागि पर निर्भर होते हैं ।

मार्दीकमधिदाहित्यान्मधुरान्वयतस्था ।
रत्तपित्तेऽपि सतत मुखेन्म प्रतिपित्त्यते ॥१७२॥
मधुर तद्वि सूक्ष्म च वायायामुरसं लघु ।
लघुपाकि सर दोषविषयमज्यरनाशनम् ॥१७३॥

दाता का मध्य—अनिर्दिष्ट और मधुरसाम्बन्ध है । एवं पित्त में भी संदेश (सेवन करने के पित्त) वैष्य मध्य इम्बा विशेष नहीं कहते हैं ॥१७२॥ वह मध्य मधुर न्त्य, भ्रुवर्य च दृष्टि, इल्का, विशुक में इम्बा, गुडुविशुक गात और

विवर ज्वर का नाशक होता है ॥१७३॥
मार्दीकाल्पान्तरं किंचित् खार्जूर वातकोपनम् ।
तदेव विद्वाद् हृदयं कफग्र कर्जनं लघु ।
कथायमधुर हृदयं सुगन्धीन्द्रियथोधनम् ।

(खार्जूरमध्य—) हुदार स वनाया हुआ मध्य दाकी मध्य स गुण म थाडा कम, किंचित् वातप्रकापक विद्वा कारक, कफनाशक, हृशतवातक हल्का ॥१७४॥ कथाय मधुर रस युन हृदय, सुगन्धित आर हित्रियवापन है ।

कासाशोर्यग्रहणीदोषमूलादानानिलापया ॥१७५॥
सन्त्वन्यरत्तवयहिता सुरा वृहणदीपनी ।

सुरा—सौंधी, वायासीर, ग्रहणी राग, मूत्रादान और दूरकी नाशक, सन्त्वन्य और रस क नय में हितवर, गरीयुरी तथा अग्निदीपक होती है ।

छर्यरोच्रहृकुल्लितोदशलभर्दीनी ॥१७६॥
प्रभमात्रा कफगताशोर्यविवरन्धानाहनाशनी ।

प्रभमात्रा (सुरामण्ड)—बमन अरचि, हृदय तथा का वदना और शूल कक वात, वायासीर, मलाकोष अफारा इनको नाश करती है ।

कासाशोर्यग्रहणीश्वासप्रतिश्यायविनाशनी ॥१७६॥
श्वेता मूत्रकफस्तन्यरत्तमासकरी सुरा ।

भत्तवर्ण की सुरा—काम अर्ग, ग्रहणी शास और उ इनका नाश करती है और मूत्र कक, सन्त्वन्य (दृष्टि) और मास इनकी वृद्धि करती है ।

पित्तलादृपवक्ता रुक्ता यद्यैर्यात्प्रकोपणी ॥१७७॥
पिष्टमिभसी सुरा गुर्जो लेपमला तु मधुलिका ।

रुक्तानातिकर्कुरुप्यापाचनी चालिकी स्मृता ॥१७८॥
यवसुरा—पित्तकरक अल्प कक करने वाली, हृदय वातप्रकार ॥१७८॥ यवसुरा—पित्तकरक सरा—ति वर्णे

स्मृत—हातानु वा लक्ष्मिविवर मधुमक मधुपुण्यप्रसिद्धि (इकलोटीनी) ।

त्रिदोयो भेद्यवृत्पश्य कोहलो यदनप्रिय ।
काल्प (यवस्यकुरुत) सुरा—त्रिदोयकार अरूप भर्त विकर होती है ।

प्रायुषो जग्न एव रक्षस्तन्द्रिपशोरहृत ॥१७९॥
हृदय प्रयातिका इटोरुन्नामानिलशोरहृत ।

जग्न (मध्य का नीये का भाग) याही वाचक, रस, वृशनाशक, कफदारक, (लेपन वर्त गोथनाशक, ग्रहणीका, मलादाराप अर्ग, वात और इनका नाशक है ।

यश (का) मो हृतसारयादिएम्भी वातकोपन ॥१८०॥
दीर्घ रुपण्यमूलो यित्तादेहमदो गुरा ॥

१ देवनं तु मधुमकम्

melancholic according to the individual peculiarities. Ghosh's Materia Medica and Therapeutics.
माहस—मनुष्यमारं सेव्य परदाराभिमरणम् । पारथ्यमन्ते चैव साहसं
स्तुतम् ॥

रक्तपित्तकरं शुक्रं छेदि भुक्तविपाचनम् ।
वैसर्वं जरणं श्लेष्मपाराङ्गुक्रिमिहरं लघु ॥२१०॥
तीक्ष्णोष्णं मूत्रलं हृद्यं कफज्ञं कटुपाकि च ।
तद्रक्तदासुतं सर्वं रोचनं च विशेषतः ॥२११॥
शुक्र रक्तपित्तकारक, छेदि, भोजन का पचाने वाला, स्वर
भंगकारक, आमपाचक, कफ, पाण्डुरोग और कृमि का नाशक
तथा हल्का है ॥२१०॥ शुक्र के अनुसार शुक्र संधित
(कन्दादिक) तीक्ष्ण, उष्ण, मूत्रल, हृद्य, कफनाशक, विपाक
में कटु और विशेषतया रुचिकारक होते हैं ॥२११॥ :

वक्तव्य—शुक्र—यन्मत्त्वादि शुक्रो भाण्डे सगुडक्षौद्र-
काजिकर । धान्यराशी विरावसं शुक्रं चुक्रं तदुच्यते ॥

गौडानि रसशुक्रानि मधुशुक्रानि यानि च ।

यथार्पूर्वं गुरुतरारथस्तिष्ठन्दकराणि च ॥२१२॥

गौड के शुक्र, रस के शुक्र और मधु के शुक्र जितने हैं वे
युक्तम से अधिकाधिक भारी और अभिष्यन्द उत्पन्न करने
होते हैं ॥२१२॥

१७ वक्तव्य—गुडशुक्र—गुडावुना सतैलेन संधितं काञ्जिकं तु
रत् । कदशाकफलैर्युक्तं गुडशुक्रं तदुच्यते ॥ मधुशुक्र—जम्बीरस्य
कलरसं पिपलीमूलसंयुतम् । मधुभाण्डे विनिक्षिप्य धान्यराशी
नियापेत् । व्यहेण तजातसं मधुशुक्तमुदाहतम् ॥ यथार्पूर्व—
गुडशुक्र सब से अधिक भारी और अभिष्यन्दकर तथा मधु-
शुक्र सब से हल्का और कम अभिष्यन्दकर ।

तुपाम्बु दीपनं हृद्यं हृत्पाराङ्गुक्रिमिरोगनुत् ।

प्रहरथर्शोविकारधं भेदि सौवीरकं तथा ॥२१३॥

तुपोदक—अस्त्रिदीपक, हृद्य, हृदोग, पाण्डुरोग, कृमिरोग,
प्रहणी और अर्श हन रोगों का नाशक तथा भेदी होता है ।
सौवीरक मी गुणों में देसा ही होता है ॥२१३॥

वक्तव्य—तुपाम्बु—तुपाम्बु—संधितं वैयमामैविद्विलैर्यैवः ।
यैत्यु नित्यैः पैकः सौवीरं संधितं भवेत् ॥ (शार्ङ्गधर) ।

धान्याम्लं धान्ययोनित्वाज्जीवनं दाहनाशनम् ।

स्पश्यात्पानात्तु पवनकफलृष्णाहरं लघु ॥२१४॥
तैक्ष्णाच्च निर्हेदशु कफं, गरण्डप्रधारणात् ।

सुखवैरस्यदौर्गम्यमलशोषक्तमापहम् ॥२१५॥

लैनं जरणं भेदि हितमास्थापनेषु च ।

निमुद्रमधितानां च जनानां सात्स्यमुच्यते ॥२१६॥

इति मध्यवर्गः ।

धान्याम्ल (शास्त्रिकोद्दिव आदि)—धान्यजन्य होने से
माणधारक, स्पर्श करने से (क्षारजन्य) दाहनाशक, सेवन
करने से वात, कफ और तृष्णा नाशक तथा लघु है ॥२१४॥
तैक्ष्ण होने से शीघ्र ही कफहर होता है, छुला करने से
सुख की विरसता, दुर्गम्य, मल, शुक्रता और कृमि हनका
नाश करता है ॥२१५॥ अस्त्रिदीपक है, पाचक है, विरेचक है,

आस्थापन वस्ति के लिये हितकर है और समुद्रतटनिवासी
मनुष्यों के लिये सात्म्य (अनुकूल) होता है ॥२१६॥ इति
मध्यवर्गः ।

अथ मूत्राणि ।

अथ मूत्राणि गोमहिपाजाविगजहयखरोष्ट्राणं
तीक्ष्णान्युष्णानि कटूनि तिक्कानि लवणानुरसानि
लघुनि शोधनानि कफवातकृमिमेदोविषगुल्मार्श-
उदरकुष्टशोफारोचकपाराङ्गुरोगहराणि हृद्यानि दीप-
नानि च सामान्यतः ॥२१७॥

भवतश्चात्र—

तत्सर्वं कटु तीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं लघु ।

शोधनं कफवातज्ञं कृमिमेदोविषापहम् ॥२१८॥

अर्शोंजठरगुलमज्ञं शोफारोचकनाशनम् ।

पाराङ्गुरोगहरं भेदि हृद्यं दीपनपाचनम् ॥२१९॥

गौ, भैंस, बकरी, भेड़ी, हाथी, घोड़ा, गधा और ऊंट हनके
मूत्र सामान्यतया, तीक्ष्ण, उष्ण, कटूरस, तिक्करस, अनुरस में
लवण, हल्के, मलघुक्किर, कफ, वात, कृमि, मेद, चिप,
गुल्म, अर्श, उदर, कुष्ट, शीथ, अरोचक और पाण्डुरोग हनको
दूर करने वाले, हृद्य तथा अस्त्रिदीपक होते हैं ॥२१७॥ सर्व मूत्र
कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, अनुरस में लवण, हल्के, मलघोधक,
कफवातनाशक, कृमि, मेद और चिप हनको हरण करने वाले
॥२१८॥ अर्श, गुल्म, उदर, शीथ, अरोचक, पाण्डुरोग हनके
नाशक, विरेचक, हृद्य और दीपन पाचन हैं ॥२१९॥

गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं सक्षात्त्वात्र वातलम् ।

लघ्वश्चिदीपनं सेध्यं पित्तलं कफवातजित् ॥२२०॥

शूलगुलमोदरानाहविरेकास्थापनादिषु

।

मूत्रप्रयोगसाध्येषु गव्यं मूत्रं प्रयोजयेत् ॥२२१॥

गोमूत्र—कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, ज्वारयुक्त होने से वातप्रकोप
न करने वाला, हल्का, अस्त्रिदीपक, मेधाजनक (या पवित्र),
पित्तकारक और कफवातहर है ॥२२०॥ शूल, गुल्म, उदर,
आनाह हन रोगों में, विरेचन और आस्थापनबस्ति में तथा
मूत्र प्रयोग से साध्य (सब विकारों में तथा कार्यों में)
गोमूत्र का प्रयोग करना चाहिये ॥२२१॥

दुर्नामोदरशूलेषु कुष्टमेहाविशुद्धिषु ।

आनाहशोफगुलमेषु पाराङ्गुरोगे च माहिषम् ॥२२२॥

भैंस का मूत्र—अर्श, उदर, शूल, कुष्ट, प्रमेह, (वमनादि
की) टीक व्रद्वत्ति न होने की अवस्था, अफारा, शीथ, गुल्म
और पाण्डुरोग हनमें प्रसास्त होता है ॥२२२॥

कासश्वासापहं शोफकामलापाण्डुरोगनुत् ।

कटूतिक्कान्वितं धागमीपन्मारुतकोपनम् ॥२२३॥

बकरी का मूत्र—कास और थास हर, शीथ, कामता और
पाण्डुरोगनाशक, कटु और तिक्करसयुक्त तथा किंचित् वात-
प्रकोपक होता है ॥२२३॥

कासझीहोदरश्वासशोषवर्चोग्रहे हितम् ।

सक्षात् तिक्ककटूकमुष्णं वातप्रमाविकम् ॥२२४॥

युद्ध्या यथास्वं संस्कारमवैद्य कुशलो मित्रह ॥१७॥

भिज भिज अहिं, आमत और सोधु इनके गुण तथा कर्म
बुद्धिमान् वै उनमें उपरित्व होने वाले द्रव्य तथा उन पर
किए हुए नरानार इनको देखकर अपनी बुद्धि में समझ
ले ॥१५॥

सान्द्र विद्याहि दुर्गन्ध विरमं कृमिलं गुरु ।

अहृदयं तस्यां तीक्ष्णमुख्यं दुर्भाजनस्थिनम् ॥१९.८॥

अल्पारथं पर्युपितमत्यच्छं पिच्छिले च यत् ।

तद्वर्ज्य सर्वदा मर्य किञ्चिच्छ्रेपं च यद्वेत् ॥१९॥

(दोर तुक मथ) जी मर्द धन (गाड़), विदाह
करन वाला, दुरीधुक, विरप, कृष्णिक, भारी, दिल की पमद
न होने वाला, सीता, तीक्ष्णा, गरम, सराव पात्र में रक्तवा
या, १०-२० ग्रामों में रक्त वास्तवियों में रक्त हुआ, बामी
स्वन् निर्मल,
ऐमा मथ

तत्र यत् स्तोकस्तम्भार तदेषुं पितृच्छलं गुरु ।

कफप्रकोपि तन्मयं दुर्जरं च विशेषतः ॥२००॥

पित्तप्रकोपि यहलं तीव्रयमुष्णं विदाहि च ।

अहम् एव पूर्व शामल विरस च यत् ।
तत् पर्यन्तं तापि विद्युतविद्युतोपादनं ।

तथा पशुपति चाप्य विद्यादानलक्षणपतम् ।
सर्वदोषेणप्रेतं त लभ्यते प्रसाम् ॥३७३॥

इनमें से जिसमें औपचार्यों की राशि वा संख्या कम होती है तो उसका प्रभाव कम प्रभावी है। ऐसे मध्य, ताजा, पिचिल और भारी मध्य कफप्रकोपक और अस्थिर विशेष करके एवन में कटिन होता है। ॥२००॥ जो मध्य धन, तीण, उष्ण, विद्युत्क इत्यत्र होता है वह चिंतकोदयक है। जो मध्य ग्रहण, स्वच्छ, पिचिल, बृहितुक, चित्रम् ॥२०१॥ तथा वासी होता है वह वातप्रकोपक है। और सर्व शोष तुल मध्य सर्व दोषों का प्रकोपक होता है ॥२०२॥

चिरस्थितं जातरसं दीपनं कफवानजित् ।

सूर्यं प्रसन्नं सुरमि मध्यं स्तेव्यं मदापद्मम् ॥२०३॥

पुराना, जिसमें यह उत्पन्न हुआ है ऐसा, अधिकारीक, कपवर्तीतहर, हथिहर, मन प्रसन्न करने वाला, सुगमद्युक्त तथा वयोर्चिनि नगा उत्पन्न करने वाला मथ सेवन करता अन्तिम “उत्तम”

त्रिपुरानीकाम्बलम् ॥ त्रिपुरा ॥

तस्यानकप्रकारस्य मध्यस्य इसयायतः।
सौदम्यादीप्याश्च तैहण्याश्च विकासित्याश्च धद्विनार०४

समेत हृष्यं प्राप्य धर्मनीर्वर्णमागतम्।

विद्वांस्येन्द्रियचेतांसि धीयं मदयते ऽचिरात् ॥२०५॥

इस और वीर्य की दृष्टि से इस मिथ मिथ प्रकार के भय एवं असुख ज्ञानपि ले सामने मिथक इत्यर्थ से साप ही जाता

का दौर जटाप्र क साथ गोलकर हृष्य म प्राप्त हो जाता है और वहीं से उत्तमामी अवनियों से होकर अपने गृहम्, नीद्या, उत्तम और विकासि गुणों के बाल है जो और चित की विशेषित हरके गोप्ता ही मनुष के मसुन करता है।

चतुर्थ—मद की तीव्र अवस्थाएँ होती हैं—। हे
वल्या (Stage of excitement), २ प्रलोभवल्या (St-
of delirium) ३ विमनवल्या (Stage of narcosis
यवल्यश मदो भेग पूर्वो मध्यो उप पश्चिम । पूर्व वैदेशिकीनिहायें
निवधनम् ॥ प्रलोभ गद्यमें भासा युक्तविद्यान्वया । विनष्ट
गन नष्टकर्तव्यात् ॥ (सुधृत) । मद का विवेप का

उत्तरान्ध्र के पानाल्यप्रभिरेप अध्याय में किया गया है।
चिरेण श्लेष्मिके पुंसि पान्द्रो जायते भदः।
थचिराद्वातिके हष्टः पैत्तिके शीघ्रेव त ॥३

मध्यसेवन से कप्रहृति मनुष्य को देर से जागा होती है, बात प्रहृति मनुष्य को थोड़ी देर से होता है, और तिप्रहृति मनुष्य को गांभीर्य ही हो जाता है ॥२०६॥

सात्त्विके शौचदाक्षिण्यहर्पमण्डनलालक्ष. ।
गीताध्ययनसौभाग्यसुरतोत्साहकमदः ॥२०
गान्धी उपर्याप्ति अवधिर्विवरणं

राजस दुर्वशालृत्यमामत्यगं ससाहसम् ।
कलहं सानुयन्धं तु करोति पुरुषे भदः ॥२०
अशौचनिद्रामन्तर्षागम्यगमनलोलताः ।

असत्यमापणं चापि कुर्याद्धि तामद्वे मदः॥३०

साचिक मनुष्य में उपश्च हुआ मद परिवर्श, परामुहू
कृति, हरे और गरीब सुगोभित करने की हड्डा उपश्च करा-
ह, तथा गाथन, अच्युतन, अपने नाम के लिये योग्य का-
करना और भयुत हन बातों में उत्साह उत्पन्न करता है ॥२०३॥
राजम प्रकृति के मनुष्य में मध्य का मद दुखीलता, भाव
नाशक कर्म, भाइय कर्म, निरतर कहाँ करने की प्रकृति हरे-
ह ॥२०४॥ तामामहृति के मनुष्य में मध्य का मद अपवित्रा
मनस्य, आगम स्थिरों के साथ सहायत करने की हड्डा अ-
वश्य भाषण (करने की प्रकृति) उपश्च करता है ॥२०५॥

धर्म-य—समाज में प्राप्त सब लोगों अपना ध्यवहार
आमतौल्यहीन प्रकृति की रोककर रुहि और वाहा समाज के
एस्टि से किया करते हैं। मध्य सेवन करने पर वाहा जागृत का
उम्रका वर्षन कुछ नहीं हो जाता है और भवुत्य अपनी प्रकृति
का अनुसार सब ध्यवहार किया करता है—जैदेन करताना कि
वाचाक्यव इन स्थिति। लिङ्गमरि भाव एवं प्राराहीन्यमेंउत्तर
सुखन्।) इसी कारण से चरकर्त्तविता में मध्य को 'प्रहृति
' कहा है—समाजसाधक ही वाह्यविद्वान् रथ। दुश्शर जीव
समाजना मध्य व्यवहारन्॥ प्रधानवारक्यवालों सहजा व्यवहारक।
व्यवहार मत्साना मध्य प्रहृतिरथ॥ वैकल्पिक क्षीर में भी
इह विद्य हुआ है कि प्रहृति भेद के अनुसार व्यष्टि के मद में
भेद होता है—In fact the effects depend upon
the nature of the environment and on the inher-
it mentality of the individual and I would prod-
uce quite diverse symptoms on different per-
sons and different effects on the same individual
under different conditions. Owing to a certain
degree of freedom from restraint, the person
will be talkative. In fact some — or

melancholic according to the individual peculiarities. Ghosh's *Materia Medica and Therapeutics*.
साहस—मनुष्यमारण स्तेयं परदारभिमर्णणम् । पारुप्यमनुतं चैव साहसं

स्तुतम् ॥

रक्तपित्तकरं शुक्तं छेदि भुक्तविपाचनम् ।

वैखर्यं जरणं श्लेष्मपारेदुक्रिमिहरं लघु ॥२१०॥

तीक्ष्णोप्तं मूत्रलं हृदयं कफद्वं कटुपाकि च ।

तद्वत्तदासुतं सर्वं रोचनं च विशेषतः ॥२११॥

शुक्त रक्तपित्तकारक, छेदि, भोजन का पचाने वाला, स्वर भंगकारक, आमपाचक, कफ, पाण्डुरोग और कृमि का नाशक तथा हल्का है ॥२१०॥ शुक्त के अनुसार शुक्त संधित (कन्दादिक) तीक्ष्ण, उष्ण, मूत्रल, हृदय, कफनाशक, विपाक में कटु और विशेषतया हृचिकारक होते हैं ॥२११॥

वक्तव्य—शुक्त—यन्मस्त्वादि शुची भाष्टे सुणुडक्षीद्र-
बेक्षु । धान्यराशी त्रिवात्रसं शुक्तं चुक्तं तदुच्यते ॥

ौडानि रसशुक्तानि मधुशुक्तानि यानि च ।

पथापूर्वं गुरुतरारायभिष्यन्दकराणि च ॥२१२॥

गौड़ के शुक्त, रस के शुक्त और मधु के शुक्त जितने हैं वे कम से अधिकाधिक भारी और अभिष्यन्द उत्पन्न करने ले हैं ॥२१२॥

वक्तव्य—गुडशुक्त—गुडांसुता सौतेन संधानं कठिकं तु । कन्दशाककर्तुर्युक्तं गुडशुक्तं तदुच्यते ॥ मधुशुक्त—जमीरस्य लस्तं पिपलीमूलसंयुतम् । मधुभाष्टे विनिक्षिप्य धान्यराशी पापयेत् । च्यहेण तज्जातरसं मधुशुक्तसुदाहतम् ॥ यथापूर्व—
शुक्त सब से अधिक भारी और अभिष्यन्दकर तथा मधु-
क्त सब से हल्का और कम अभिष्यन्दकर ।

तुपाशु दीपनं हृदयं हृत्पारेदुक्रिमिरोगनुत् ।

अहरयशोविकारस्तं भेदि सौवीरकं तथा ॥२१३॥

तुपेदक—अस्त्रिदीपक, हृदय, हृद्रोग, पाण्डुरोग, कृमिरोग, ग्रहणी और अर्श इन रोगों का नाशक तथा भेदी होता है । सौवीरक भी गुरुओं में रेसा ही होता है ॥२१३॥

वक्तव्य—तुपाशु—तुपाशु संधितं शेयमार्मिदलित्तर्यवैः ।
यैत्यु नित्यैः पैकः सौवीरं संधितं भवेत् ॥ (शार्णधर) ।

धान्यामलं धान्ययोनित्वाजीवनं दाहनाशनम् ।

स्पर्शात्पानात्तु पवनकफत्प्याहरं लघु ॥२१४॥

तैक्षयात्त्वं निर्हरेदात्तु कफं, गरहूपधारणात् ।

मुखैरत्यदौर्गिन्द्यमलशोपहृमापहम् ॥२१५॥

यैत्यनं जरणं भेदि हितमास्थापनेषु च ।

समुद्रमाश्रितानां च जनानां सात्प्यमुच्यते ॥२१६॥

इति मध्यवर्गः ।

धान्यामल (शालिकोद्रव आदि)—धान्यजन्य होने से प्रशस्तारक, स्पर्श करने से (क्षारजन्य) दाहनाशक, सेवन करने से वात, कफ और तुष्णा नाशक तथा लघु है ॥२१४॥ तीक्ष्ण होने से शीघ्र ही कफहर होता है, कुला करने से सुख की विसर्ता, दुर्ग्रीष्म, मल, शुक्तता और कृम इनका नाश करता है ॥२१५॥ अस्त्रिदीपक है, पाचक है, विरेचक है,

आस्थापन वस्ति के लिये हितकर है और समुद्रतटनिवासी मनुष्यों के लिये सात्प्य (अनुकूल) होता है ॥२१६॥ इति मध्यवर्गः ।

अथ मूत्राणि ।

अथ मूत्राणि गोमहिपाजाविगजहयखरोष्टाणां तीक्ष्णान्युप्तानि कट्टनि तिक्तानि लवणानुरसानि लघूनि शोधनानि कफवातक्रमिमेदोविषगुलमार्श-उदरकुष्ठशोफारोचकपारेदुरोगहराणि हृद्यानि दीपनानि च सामान्यतः ॥२१७॥

भवतश्चात्र—

तत्सर्वं कटु तीक्ष्णोप्तं लवणानुरसं लघु ।

शोधनं कफवातभ्रं क्रमिमेदोविषापहम् ॥२१८॥

अशोजिठरगुलमध्यं शोफारोचकनाशनम् ।

पारेदुरोगहरं भेदि हृदयं दीपतपाचनम् ॥२१९॥

गौ, भैस, वक्ती, भेदी, हाथी, घोड़ा, गधा और जंट इनके मूत्र सामान्यतया, तीक्ष्ण, उष्ण, कट्टरस, तिक्तरस, अनुरस में लवण, हल्के, मलशुद्धिकर, कफ, वात, कृमि, मेद, विष, गुल्म, अर्श, उदर, कुष्ठ, शोथ, अरोचक और पाण्डुरोग इनको दूर करने वाले, हृदय तथा अस्त्रिदीपक होते हैं ॥२१७॥ सर्व मूत्र कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, अनुरस में लवण, हल्के, मलशोधक, कफवातनाशक, कृमि, मेद और विष इनको हरण करने वाले ॥२१८॥ अर्श, गुल्म, उदर, शोथ, अरोचक, पाण्डुरोग इनके नाशक, विरेचक, हृदय और दीपन पाचन हैं ॥२१९॥

गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोप्तं सद्वारत्वान्न वातलम् ।

लस्त्वग्निदीपनं मेव्यं पित्तलं कफवातजित् ॥२२०॥

शूलगुलमोदरानाहविरेकास्थापनादिषु ।

मूत्रप्रयोगसाध्येषु गव्यं मूत्रं प्रयोजयेत् ॥२२१॥

गोमूत्र—कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, ज्ञारुक्त होने से वातप्रकोपन करने वाला, हल्का, अस्त्रिदीपक, मेधाजनक (या पवित्र), पित्तकारक और कफवातहर है ॥२२०॥ शूल, गुल्म, उदर, आनाह इन रोगों में, विरेचन और आस्थापनवस्ति में तथा मूत्र प्रयोग से साध्य (संबंधित विषयों में तथा कार्यों में) गोमूत्र का प्रयोग करना चाहिये ॥२२१॥

दुर्नामोदरशलेषु कुष्ठमेहाविशुद्धिषु ।

आनाहशोफगुलमेषु पारेदुरोगे च माहिषम् ॥२२२॥

भैस का मूत्र—अर्श, उदर, शूल, कुष्ठ, प्रमेह, (वसनादि की) ठीक प्रवृत्ति न होने की अवस्था, अफारा, शोथ, गुल्म और पाण्डुरोग इनमें प्रशस्त होता है ॥२२२॥

कासश्वासापहं शोफकामलापाण्डुरोगनुत् ।

कटुतिक्तान्वितं छागमीपन्माहृतकोपनम् ॥२२३॥

वक्ती का मूत्र—कास और श्वास हर, शोथ, कामला और पाण्डुरोगनाशक, कटु और तिक्तरसयुक्त तथा किंचित् वात-प्रकोपक होता है ॥२२३॥

कासमुहीहोदरश्वासशोषवर्चोग्रहे हितम् ।

सद्वारं तिक्तकटुकमुष्टं वातमाशिकम् ॥२२४॥

पुद्ध्या यथास्यं संस्कारमवेदय कुशलो मिश्रह ॥१७॥

भिज भिज अरिष, आसव और सीधु इनके गुण तथा कर्म तुदिमारू वैष उनमें उपचित होने वाले द्रव्य तथा उन पर किये हुए तथा इनको देखते अपनी तुलि से समझे हैं ॥१७॥

सान्द्र विद्वाहि दुर्गन्धं विरमं कृमिलं गुरु ।

अद्यन्धं तरुणं तीदण्मुखं दुर्भाजनस्थितम् ॥१८॥

अल्पोपधं पर्युपितमत्यद्वं पिच्छिलं च यत् ।

तद्वन्यं सर्वदा मध्यं कैचिच्छ्वेषं च यद्वेत् ॥१९॥

(दोष युक्त मध्य—) जो मध्य घन (गात्र), विद्वाह करने वाला, दुर्गन्धगुरु, विरम, कृमिलुन, भारी, दिल को पद्धति न होने वाला, सीता, तीक्ष्ण, गरम, ल्वाव पात्र में रक्ता हुआ ॥१६॥ मात्रा में कम औषधियों से बना हुआ, बासी (सुखे पात्र में कुठ समय तक रक्ता हुआ), जलवत् निर्मल, पिच्छिल तथा पात्र के तल में थोटा बचा हुआ है, ऐसा मध्य सर्वदा वर्ज्य समझना चाहिये ॥१७॥

तत्र यत् स्तोकसम्भारं तरुणं पिच्छिलं गुरु ।

कफप्रकोपि तन्मध्यं दुर्जरं च विशेषतः ॥२००॥

पित्तप्रकोपि यहलं तीदण्मुखं विद्वाहि च ।

अद्यन्धं पेलंयं पूति कृमिल विरसं च यत् ॥२०१॥

तथा पर्युपितं चापि विद्वादिनिलकोपणम् ।

सर्वदोषैर्देहेते तु सर्वदोषप्रकोपणम् ॥२०२॥

इनमें से जिसमें औषधियों की राशि या संख्या कम होती है ऐसा मध्य, ताजा, पिच्छिल और भारी मध्य कफप्रकोपक और विशेष करने वाले में कठिन होता है ॥२००॥ जो मध्य घन, तीक्ष्ण, उष्ण, विद्वाहजनक होता है वह पित्तप्रकोपक है । जो मध्य अद्य, स्वच्छ, पिच्छिल, कृमिलुन, विरस ॥२०१॥ तथा बासी होता है वह बातप्रकोपक है । और सर्व दोष युक्त मध्य सर्व दोषों का प्रकोपक होता है ॥२०२॥

विरस्थितं जातरसं दीपतं कफवातजित् ।

रुद्धं प्रसन्नं सुरभि मध्यं सेव्यं मदवाहम् ॥२०३॥

पुराना, जिसमें रम उत्पत्ति हुआ है ऐसा, अदिरीपक, कफवातहर, रुचिकर, मन प्रसन्न करने वाला, सुखद्युक्त तथा वयोवित नगा उत्पत्ति करने वाला मध्य सेवन करना चाहिये ॥२०३॥

तस्यानेकप्रकारस्य मध्यस्य रसवीर्यतः ।

सौक्रद्यादीपायाच्च तैहयाच्च विकासित्याच्च विद्विना २०४

समेत्य हृदयं ग्राह्यं धमनीरूप्यमागतम् ।

विक्षोभ्येन्द्रियचेतासि वीर्यं मदयते चिरात् ॥२०५॥

रस और वीर्य की इष्ट से इस भिज भिज प्रकार के मध्य का वीर्य जटारमि के साथ भिलकर हृदय में आप नी जाता है और वहाँ से जल्जासी धमनियों से होकर अपने सूक्ष्म, तीक्ष्ण, उष्ण और विकासि गुणों के कारण इ यों और वित को विक्षोभिन करके वीर्य ही मधुर्य को मधुर्य करता है ॥२०४,२०५॥

यत्कठ्य—मद की नीन अवस्थाएँ होती हैं—१ इन्द्रियवस्था (Stage of excitement), २ प्रलापवस्था (Stage of delirium) ३ विस्त्रिवस्था (Stage of narcosis) ४ अवस्था मरी वेष पूर्ण गत्योदय पीड़िया । पूर्व वीर्यनिवृत्तिविर्यनिवृत्तिविनामयी निवृत्तिविनामयी । प्रकाशो मध्यम मारी हुनायुतवियालता । विनद पित्तमे रेते नहारवियायुग ॥ (सुधूत) । मद का विशेष वैज्ञानिक उत्तरतन्त्र के पानायथरप्रतिवेष अवस्थाय में किया गया है । विरेण शैक्षिकों पुस्ति पाननो जायते मदः । अधिरात्राद्वातिके दृष्टि: पैस्तिके शीघ्रमेव तु ॥२०६॥

मध्यसेवन से कफप्रकृति मधुर्य को देर से नाना होता है, वातप्रकृति मधुर्य को थोड़ी देर से होता है, और पित्तप्रकृति मधुर्य को गीग्र ही ही जाता है ॥२०६॥

सात्त्विके शौचदात्रियायहर्पणमण्डनलालसः ।

शीदाध्ययनसौभाग्यसुरतोत्साहकृत्यमः ॥२०७॥

राजसे दुःखशीलत्वमात्मत्यागं ससाहस्रम् ।

फलहं सानुवन्धं तु करोति पुष्टे मदः ॥२०८॥

अशौचनिद्रामात्सर्वांगम्यागमनलोलताः ।

असत्त्वमात्प्रयं चापि कुर्यादि तामसे मदः ॥२०९॥

सात्त्विक मधुर्य में उत्पत्ति हुआ मद पावित्र, परामुक्तवृत्ति, हर्ष और गरीब सुरोगमित करने की हड्डा उत्पत्ति करता है, तथा गायन, अध्ययन, अपने नान के लिये थोक्य काम करता और मैसुन इन बातों में उत्साह उत्पत्ति करता है ॥२००॥ राजस प्रकृति के मधुर्य में मध्य का मद हु चमीलता, आमनामक कर्म, साहस्र कर्म, निरतर कलह करने की प्रवृत्ति दाता है ॥२०१॥ तामसप्रकृति के मधुर्य में मध्य का मद अविद्रिता, मात्स्यर्प, अगम्य चिंताएँ के साथ सहवास करने की हड्डा और अवस्था भाषण (करने की प्रवृत्ति) उत्पत्ति करता है ॥२०२॥

यत्कठ्य—समार में प्रायः सब लोग अपना अवहार आवान्तरीय प्रवृत्ति की रोककर हृषि और बाया समाज की इष्टि से किया करते हैं । मध्य सेवन करने पर बाया जगत् का उत्पक्ष बढ़ नह जाता है और मधुर्य अपनी प्रकृति के अनुसार सर्व अवहार किया करता है—मैरेन करणाने तु भावान्तरे इने मनि । निगमादिपि भाव उत्प्रकाशीकृतेऽवहार (सुधूत) । इसी कारण से चारकस्तिहास में मध्य की 'प्रवृत्ति दर्पक' कहा है—सत्त्वमीपक हर्ष मोहप्रदनिराशम् । हुनाह मध्य सत्त्वानी गय तप्यकरकम् । प्रथानवरम्याना रुपाणा निर्जिर्सक ।

विषयप्रिये सत्त्वाना मध्य प्रहृतिरूपकर ॥ वैज्ञानिक खोज से भी यह सिद्ध हुआ है कि प्रकृति भेद के अनुसार मध्य के मद में भी भेद होता है—In fact the effects depend upon the nature of the environment and on the inherent mentality of the individual and would produce quite diverse symptoms on different persons and different effects on the same individual under different conditions. Owing to a certain degree of freedom from restraint, the person will be talkative, boisterous, sentimental or

delecholic according to the individual peculiarities. Ghosh's Materia Medica and Therapeutics. नाम—मनुष्यमारण स्त्रेय परदारागिरणम् । पाण्यमनुतं च न मासम्

स्त्रीलक्षणम् ॥

रक्तपित्तकरं शुक्तं छेदि भुक्तविपाचनम् ।
वैस्वर्यं जरणं शेषपापाराङ्कुमिहरं लघु ॥२१०॥

तीक्ष्णोप्तं भूत्रलं हृदयं कफाद्यं कटुपाकि च ।

तदद्दातुतं सर्वं रोचनं च विशेषतः ॥२११॥

शुक्त रक्तपित्तकारक, छेदि, भोजन का पचाने वाला, स्वर भांकारक, आमपाचक, कफ, पाण्डुरोग और कूमि का नाशक तथा हल्का है ॥२१०॥ शुक्त के अनुसार शुक्त संधित (कन्दिटिक) नीक्षण, उप्पा, भूत्रल, हृदय, कफनाशक, विपाक में कटु और विशेषतया रुचिकारक होते हैं ॥२११॥

वक्तव्य—शुक्त—यन्मत्तादि शुक्त चुक्त नुच्यते ॥
कापिकम् । धान्यराशी पिरापाप्य शुक्त चुक्त नुच्यते ॥

गौलानि रसशुक्तानि मधुशुक्तानि यानि च ।

पूर्वं गुरुतरारायभिप्यन्दकराणि च ॥२१२॥
इ के शुक्त, रस के शुक्त और मधु के शुक्त जितने हैं वे इ से अधिकाधिक भारी और अभिप्यन्दक उत्पन्न करते हैं ॥२१२॥

वक्तव्य—गुदशुक्त—गुदशुक्ता मन्त्रेन मधान काञ्जिक तु बन्दशकार्दिर्युक्त गुदशुक्त तद्वयते ॥ मधुशुक्त—जमीरस्य । पिपलीमूलस्युतम् । मधुभाष्टे विनिक्षिप्य धान्यराशी येत् । व्यहेण तजानरम् मधुशुक्तसुदाहृतम् ॥ यथापूर्वं—
क्त सब से अधिक भारी और अभिप्यन्दकर तथा मधु सब से हल्का और कम अभिप्यन्दकर ।

गम्भु दीपनं हृदयं हृत्पाराङ्कुमिरोगनुत् ।

हरयशेविकाराद्यं भेदि सौवीरिकं तथा ॥२१३॥
तुपोदक—अमिदीपक, हृदय, हृद्रोग, पाण्डुरोग, कूमिरोग, एवं और अर्थ हृन रोगों का नाशक तथा भेदी होता है । ऐक भी गुणों में रेसां ही होता है ॥२१३॥

वक्तव्य—तुपाम्बु—तुपाम्बु मधित देयमार्मिदिलितीयं ।
तु निरुपैः पैकः तौवीर संसित भवेत् ॥ (शार्द्धधर) ।

न्याम्लं धान्ययोनित्वाजीवनं दाहनाशनम् ।

शार्तपानात्तु पवनकफत्प्याहरं लघु ॥२१४॥
शयाच्च निर्हरेनाशु कफं, गरहृपधारणात् ।
खैवैरस्यदौर्गन्ध्यमलशोपहृमापहम् ॥२१५॥
शेन जरणं भेदि हितमास्थापेषु च ।
मुद्रमाश्रितानां च जनानां सात्म्यमुच्यते ॥२१६॥

इति मध्यवर्गः ।

धान्याम्ल (शालिकोद्रव आदि)—धान्यजन्य होने से ग्राघारक, स्पृष्ट करने से (क्षारजन्य) दाहनाशक, सेवन होने से वात, कफ और वृष्णा नाशक तथा लघु है ॥२१४॥
गैरिक होने से शीघ्र ही कफहर होता है, कुला करने से शुष्क की विसरता, हुरीन्ध, मल, शुक्तता और कूम इनका नाश करता है ॥२१५॥ अमिदीपक है, पाचक है, विरेचक है,

आस्थापन वस्ति के लिये हितकर है और समुद्रतटनिवासी मनुष्यों के लिये सात्म्य (वसुकूल) होता है ॥२१६॥ इति मध्यवर्गः ।

धथ मूत्राणि ।

अथ मूत्राणि गोमहिपाजाविगजहयखरोप्राणं
तीक्ष्णान्युप्लानि कट्टनि तिक्कानि लवणानुरसानि
लघूनि शोधनानि कफवातकूमिमेदोविपगुल्मार्श-
उद्रकुष्ठशोफारोचकपाराङ्कुरोगहराणि हृद्यानि दीप-
नानि च सामान्यतः ॥२१७॥

भवतश्वान्न—

तत्सर्वं कटु तीक्ष्णोप्तं लवणानुरसं लघु ।

शोधनं कफवातम्भं कूमिमेदोविपगुल्मार्श ॥२१८॥

अशोजठरगुलम्भं शोफारोचकनाशनम् ।

पाराङ्कुरोगहरं भेदि हृदयं दीपनपाचनम् ॥२१९॥

गां, भैस, वकरी, भेदी, हाथी, घोड़ा, गधा और ऊंट इनके मूत्र सामान्यतया, तीक्ष्ण, उप्पा, कटुरस, तिक्करस, अनुरस में लवण, हल्के, मलशुद्धिकर, कफ, वात, कूमि, मेद, विप, गुल्म, अर्श, उद्र, कुछ, शोथ, अरोचक और पाण्डुरोग इनको दूर करने वाले, हृदय तथा अमिदीपक होते हैं ॥२१७॥ सर्व मूत्र कटु, तीक्ष्ण, उप्पा, अनुरस में लवण, हल्के, मलशोधक, कफवातनाशक, कूमि, मेद और विप इनको हरण करने वाले ॥२१८॥ अर्श, गुल्म, उद्र, शोथ, अरोचक, पाण्डुरोग इनके नाशक, विरेचक, हृदय और दीपन पाचन हैं ॥२१९॥

गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोप्तं साक्षारत्वान्न चातलम् ।

लघूश्विदीपनं सेव्यं पित्तलं कफवातजित् ॥२२०॥

शूलगुल्मोदरानाहविरेकास्थापनादिषु ।

मूत्रप्रयोगसाध्येषु गव्यं मूत्रं प्रयोजयेत् ॥२२१॥

गोमूत्र—कटु, तीक्ष्ण, उप्पा, नारस्युक्त होने से वातप्रकोप न करने वाला, हल्का, अमिदीपक, भेदाजनक (या पवित्र), पित्तकारक और कफवातहर है ॥२२०॥ शूल, गुल्म, उद्र, आनाह इन रोगों में, विरेचन और आस्थापनबस्ति में तथा मूत्र प्रयोग से साध्य (सब विकारों में तथा कार्यों में) गोमूत्र का प्रयोग करना चाहिये ॥२२१॥

दुर्नामोदरश्ललेषु कुष्ठमेहाविशुद्धिषु ।

आनाहरोफगुलमेषु पाराङ्कुरोगे च माहिपम् ॥२२२॥

भैस का मूत्र—अर्श, उद्र, शूल, कुछ, प्रमेह, (वमनादि की) ठीक प्रवृत्ति न होने की अवस्था, अफारा, शोथ, गुल्म और पाण्डुरोग इनमें प्रशस्त होता है ॥२२२॥

कासश्वासापहं शोफकामलापाण्डुरोगनुत् ।

कट्टुतिक्कान्वितं छागमीपन्यारूपकोपनम् ॥२२३॥

वकरी का मूत्र—कास और श्वास हर, शोथ, कामला और पाण्डुरोगनाशक, कटु और तिक्करसयुक्त तथा किंचित् वात-प्रकोपक होता है ॥२२३॥

कासश्वीहोदरश्वासशोषवर्चोग्रहे हितम् ।

सक्षारं तिक्ककट्टुकमुष्टं वातम्भाविकम् ॥२२४॥

भेदी का मूर्त—कास, हींदा की वृद्धि, शास, राजवद्धमा, मलावरोध इनमें हितकर, तारयुक्त, तिक और कुरुग्युक्त, उष्ण और वातनाशक है ॥२४॥

दीपनं कुटु तीदण्डोप्यं वातचेतोविकारनुत् ।

आश्वं कफहरं मूत्रं हृमिदद्वपु शस्यते ॥२५॥

घोडी का मूर्त—अपिदीपक, कुरुत, तीक्ष्ण, उष्ण, वात तथा मानसिक रोगों का नाशक, कफहर, हृमि और दहु (दाद) के लिये प्रयोग है ॥२५॥

सतिकं लवण्यं भेदि वाताङ्गं पित्तकोपनम् ।

तीक्ष्णं ज्ञारे किलासे च नारं मूत्रं प्रयोजयेत् ॥२६॥

हृषिणी का मूर्त—तिक और लवणरसयुक्त, विरेचक, वातनाशक, वित्तप्रकोपक और तीक्ष्ण है तथा ज्ञार और किलास (चेत) कुष के लिये उपयोगी होता है ॥२६॥

गर्वचेतोविकाराङ्गं तीक्ष्णं प्रदृष्टिरोगनुत् ।

दीपनं गर्वामं मूत्रं कुमिवातकफापहम् ॥२७॥

दधी का मूर्त—विषनाशक, (उम्मादादि) मानसिक विकारनाशक, तीक्ष्ण, प्रहणीनाशक, अपिदीपक, हृमि, वात और कफ नाशक होता है ॥२७॥

शोकफुटोदरोन्मादमारुतक्रिमिनाशनम् ।

अर्शीमं कारमं मूत्रं मानुपं च विषापहम् ॥२८॥

हृति मूत्राणि ।

डैट्नी का मूर्त योग्य, कुट, उदर, उम्माद, वात, हृमि और वर्ण हनका नाशक होता है । मनुष्य का मूर्त विषनाशक होता है ॥२८॥

दृष्टव्य—मूत्र प्राप्य स्त्रीजाति का ही प्रयुक्त होता है । परन्तु कहीं आचार्य पहले चार मूत्र स्त्रीजाति के और अन्तिम चार मूत्र तुरुजनाति के प्रशस्त मानते हैं—गोविमा दिहीणा तु स्त्रीण मूत्र प्रशस्ते । स्त्रोमेभूतराधानो उत्ता मूत्र दिति स्वत्र ॥ (भावप्रकाश) ।

द्रवदृष्ट्याणि सर्वाणि समासात् कीर्तितनितु ।

कालदेशिभागझो नुपत्तेदर्तुमर्हति ॥२९॥

इन सुखनहिताया सृष्ट्याने द्रवदृष्टिविहारीये

नाम प्रधनवारितिसमाऽध्याय ॥२९॥

(इस अध्याय में) मर्त द्रवदृष्ट्याणि सेवे वर्णन किये गये हैं । उनको काल भीं देखा विभाग का योग्य ज्ञानी तैयारता के लिये भी देखा विभाग का योग्य ज्ञानी तैयारता के लिये भी देखा विभाग का योग्य ज्ञानी तैयारता है ॥२९॥

हति भास्तराकैणा गोविन्दावयेन विर्जितवायाम्युक्ते द्रवदृष्टीकैवाया

मुखुभासारीकाया द्रवदृष्टिविहारीये नाम

प्रधनवारितिसमाऽध्याय ॥२९॥

बलव्य—अवपानविपि—शालयादि अस, उनका सेव करने के प्रश्नाएँ पीने के विविध द्रव्य तथा आहारविधि हस्त वर्णन जिसमें किया है, ऐसा अध्याय ।

धन्वन्तरिमिथिवाय सुखुत उवाच— ॥१८॥
प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो वलवर्णोजसां च, स पदसु रसेष्वायत्तः, रसाः पुनर्द्रव्याथयिणः, द्रव्य रसगुणवीर्यविषाकतिमित्ते च हायेष्वृद्धी दोपाणां साम्यं च, व्रहादेवपि च लोकस्याहारः स्थित्युत्पत्ति विनाशहेतुः, आहारादेवाभियुद्दिर्घलमारोग्यं वर्णे निद्र्यप्रसादद्रव्य, तथा हाहारवैष्मयादस्वास्यं तस्याशितपीतलीढखादितस्य नानाद्रव्यात्मकस्याने कविधविकल्पस्यानेकविधिप्रभावस्य पृथग् पृथग्द्रव्यसंगुणवीर्यविषाकप्रभावकर्मणीच्छामि शातुं, न ह्यनवदुखस्याभावा भिपजः स्वस्यानुवर्त्ति रोगनिप्रदृष्टं च कर्तुं समर्थोः; आहारायत्ताश्च सर्वप्राणिनो यसाच्चासादप्रापानविधिमुपविशतु मे भगवान् । इत्युक्तः प्रोवत्त भगवान् धन्वन्तरिः—अथ स्व वर्त्त सुखुत ! यथाप्रभुमुच्यमानमुपधार्यस्त—॥१८॥

धन्वन्तरि भगवान् को प्रणाम करके महर्षि सुखुत बोले कि (हे भगवन् ! आपने) पहले (अध्याय में) कर्त्तव्य किया है कि प्राणियों के बल, वर्ण और ओज का मूल आहार है । वह छं रसों के अधीन है और एस किंतु द्रव्यों के अधीन होते हैं । दोषों की ज्यों वृद्धि, तथा समता द्रव्यों के रस, रीर्ण, गुण और विषाक के कारण ही हुआ करती है । इहादि लोक की भी स्थिति, उत्पत्ति और विनाश का कारण आहार ही है । आहार ही से गरीबी की वृद्धि, बल, अरोग्य, वर्ण और इन्द्रियों की प्रसवता उत्पन्न होती है, और आहार की विषमता (म्युताता, अधिकता और अधोगता) से रोग उत्पन्न होते हैं । जिसमें भोज्य (जिसके लिये विदेश वर्णन की आवश्यकता नहीं होती ऐसे पदार्थ, यथा—भात, मीठक इत्यादि), नेव (दूध, रस इत्यादि), लेहा (चाटने के पदार्थ, यथा—अजन्ह, थीरंग इत्यादि), और मक्ष (जिसके लिये विदेश वर्णन की आवश्यकता नहीं होती ऐसे पदार्थ, यथा—हड्डु आदि) से रोग उत्पन्न होते हैं । जिसमें

के रस, गुण, वीर्ण, विषाक और कर्म इनसों जानने की दृष्टिका करना है, क्योंकि (आहार के लिये प्रयुक्त होने वाले विविध द्रव्यों का रसीय विषाकादि दीर्घ वृक्त) व्यरुता और नहीं जानने हैं पैदास मुतुओं वा म्वास्य वा रसायन और व्यापित लोगों को व्यापितिव्योजन करने में भगवान्मर्त होते हैं । जो कि समाज वीरामाया का मूल आहार है, इसमें हे भगवन् ! मूल अवपानविधि का ही दरवर्ष वृक्तिं । इस प्रकार मुखुत के दूड़े पर भगवान् धन्वन्तरि योगे हैं हे वर्ण मुखुत ! मैं प्रभु के अनुगामी ही मैं जो वर्णन करता हूं तू उसे अवश्य और धारण कर ॥१९॥

* दृष्टिकौशल

पद्मत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अयातोऽध्यायनविधिमध्यायं द्यायाम्याम् ।

यथोदाय भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अथ पर्वते भगवानविधि नामक भगवान् धन्वन्तरिः ।

अथ पर्वते भगवानविधि नामक भगवान् धन्वन्तरिः ।

अथ शालिवर्गः ।

तत्र, लोहितशालिकलमकर्दमकपारण्डकसुगन्धि-
नाहृतपुष्पागडकपुण्डरीकमहाशालिशीतभी-
करोधपुष्पकदीर्घशूककाञ्चनकमहिषमहाशूकहा-
नकदूपकमहादूपकप्रभूतयः शालयः ॥३॥

रक्तशालि, कलम, कर्दमक, पाण्डुक, सुगन्धक, शकुनाहृत, पाण्डक, पुण्डरीक, महाशालि, शीतभीरुक, रोधपुष्पक, दीर्घ-
क, काञ्चनक, महिष, महाशूक, हायनक, दूपक, महादूपक
यादि शालि के भेद हैं ॥३॥

मधुरा वीर्यतः शीता लघुपाका चलावहा: ।
पित्तघात्पानिलकफाः स्तिर्ग्राम वज्रालपवर्चसः ॥४॥
ये गालि रस में मधुर हैं, वीर्य में शीत हैं, पचने में हल्के
ं, बलकारक हैं, पित्तनाशक हैं, वात और कफ का थोड़ा
कफके पकरने वाले हैं, स्तिर्ग्राम हैं, मलावरोधक और अल्प
मलोत्पादक होते हैं ॥४॥

तेपां लोहितकः श्रेष्ठो दोषमः शुक्रमूत्रलः ।
चक्षुष्यो वर्णवलकृत् स्वर्यो हृद्यस्तृष्टपापहः ॥५॥
वरयो ज्वरहरश्चैव सर्वदोषविपापहः ।
नेसादलपान्तरगुणाः क्रमशः शालयोऽवराः ॥६॥
इन सब में रक्तशालि श्रेष्ठ है; वह त्रिदोषनाशक, शूक्र और
सूर्य उत्पाद करने वाला, नेत्र के लिये हितकर, वर्ण और बल
कारक, स्वर के लिए हितकर, हृदय के लिए हितकर, तृष्णा शांत
करने वाला ॥५॥ वरण में हितकर, ज्वरनाशक, सर्व व्याधि
और विष को शांत करने वाला है। (शालिवर्ग में) रक्तशालि
के पश्चात् जो दूसरे शालि हैं वे कम से (उत्तरोत्तर) गुण में
हीनतर होते हैं ॥६॥

पष्टिककाङ्क्षकमुकुन्दकपीतकप्रमोदककाकलका-
सनपुष्पकमहापित्तिकचूर्णककुरवककेदारप्रभूतयः
पष्टिकाः ॥७॥

रसे पाके च मधुराः शमना वातपित्तयोः ।
शालीनां च गुणैस्तुत्या वृंहेणाः कफशुकलाः ॥८॥
पष्टिक भेद—पष्टिक, कहुक, सुकुन्दक, पीतक, प्रमोदक,
काकलक, असनपुष्पक, महापित्तिक, चूर्णक, कुरवक, केदारक
इत्यादि पष्टिकेभेद हैं ॥७॥ सब प्रकार के साठी चावल रस
(विपाक में मधुर, वात और पित्त के शमन करने वाले,
में शालि के समान, वृंहण, कफकारक और शुक्रकर
हैं ॥८॥

पष्टिकः प्रवरस्तेपां कषायातुरसो लघुः ।
मृदुः स्तिर्ग्रामदोषपमः स्थैर्यकद्रलवर्धनः ॥९॥
विपाके मधुरे ग्राही तुल्यो लोहितशालिभिः ।
शेषास्त्रवलपान्तरगुणाः पष्टिकाः क्रमशो गुणैः ॥१०॥

साठी चावलों में पष्टिक श्रेष्ठ है। वह अनुरस में कषाय,
लक, मृदु, स्तिर्ग्राम, त्रिदोषनाशक, शरीर स्थैर्य करने वाला,
लवर्धक ॥९॥ विपाक में मधुर, ग्राही और (गुण में) रक्त

शालि के समान होता है। (इस वर्ग के) शेष चावल गुण
में उत्तरोत्तर हीन होते हैं ॥१०॥

कृष्णवीहिशालामुखजतुमुखनन्दीमुखलाचाक-
त्वरितककुकुटारण्डकपाराभतकपाटलप्रभृतयो वी-
हयः ॥११॥

ब्रीहि भेद—कृष्णवीहि, शालामुख, जतुमुख, नन्दीमुख,
लाचाक, त्वरितक, कुकुटाण्डक, पाराभतक, पाटल इत्यादि
वीहि के भेद हैं ॥११॥

कषायमधुराः पाके मधुरा वीर्यतोऽहिमाः ।

अल्पाभियन्दिनस्तुत्याः पष्टिकैर्बद्धवर्चसः ॥१२॥

कृष्णवीहिर्वरस्तेपां कषायातुरसो लघुः ।

तस्मादलपान्तरगुणाः क्रमशो वीहयोऽपरे ॥१३॥

ब्रीहि जाति के चावल रस में कषाय और मधुर, विपाक
में मधुर, वीर्य में उष्ण, थोड़ा अभियन्द उत्पन्न करने वाले,
मल को बांधने वाले और (गुणों में) पष्टिक के समान ही
होते हैं ॥१२॥ इनमें कृष्णवीहि सब से श्रेष्ठ है। वह अनुरस में
कषाय, हल्का है। शेष सर्व ब्रीहि उत्तरोत्तर अल्प गुण वाले
होते हैं ॥१३॥

दण्डायामवनौ जाताः शालयो लघुपाकिनः ।

कषाया वज्रविरमूत्रा रुक्षाः शेषमापकर्षणाः ॥१४॥

जलाई हुई भूमि में उपजे हुए शालि चावल पाक में
हल्के, कषाय, मल और मूत्र की प्रवृत्ति कम करने वाले, रुक्ष
और कफ का कर्पण करने वाले हैं ॥१४॥

स्थलजाः कफपित्तघाः कषायाः कटुकान्वयाः ।

किञ्चित्सतिकमधुराः पवनानलवर्धनाः ॥१५॥

कैदारा मधुरा वृष्या वल्याः पित्तनिर्वहणाः ।

ईष्टककषायालपमला गुरवः कफशुकलाः ॥१६॥

जांगल भूमि में उपजने वाले शालि कफ और वात नाशक,
कषाय, किञ्चित् कटुक, तिक्त और मधुर, वायुवर्धक और अभ्यि-
दीपक होते हैं ॥१५॥ अनूप या सजल भूमि भाग में उपजने
वाले शालि मधुर, वृष्य (स्तिर्ग्राम या वृंहण), बलकारक, पित्त-
नाशक, किञ्चित् कषाय, अल्प मल उत्पन्न करने वाले, गुरु,
कफकर और शुक्रवर्धक होते हैं ॥१६॥

रोग्यातिरिग्या लघवः शीघ्रपाका गुणोत्तराः ।

अदाहिनो दोषहरा वल्या मूत्राविवर्धनाः ॥१७॥

शालयश्चिन्नरूढा ये रुक्षास्ते वज्रवर्चसः ।

तिक्ताः कषायाः पित्तघाः लघुपाकाः कफापहाः ॥१८॥

रोग्य (एक स्थान में बनाये हुए जिनके पौधे केवल एक
ही वार दूसरी जगह बढ़ावे जाते हैं) और अतिरिग्य (जिनके
पौधे कई वार कई जगह बढ़ावे जाते हैं) शालि हल्के, शीघ्र
पचने वाले, गुण में श्रेष्ठ, दाह उत्पन्न न करने वाले, दोषों को
हरण करने वाले, बलकर और मूत्रल होते हैं ॥१७॥ एक वार
काटे हुए पौधों से उपजने वाले शालि रुक्ष, मल को बांधने
वाले, तिक्त, कषाय, पित्तनाशक, पचने में हल्के और
कफकारक होते हैं ॥१८॥

भेदी का मूल—कास, हृदय की वृद्धि, शास, राजयशमा, मलापरोप्य इनमें हितकर, ज्ञानयुक्त, तिक और कुरुमयुक्त, उप्या और वातनाशक है ॥२४॥

दीपनं कदु तीवणोऽयं वातचेतोविकारनुत् ।

आश्वं कफहरं मूँत्रं कुमिदद्रुपु शस्यते ॥२५॥

घोड़ी का मूल—अग्निदीपक, कुरुर, तीर्ण, उप्या, वात तथा मानसिक रोगों का नाशक, कठहर, हृषि और दुदु (दाद) के लिये प्रयोग है ॥२५॥

सतिकं लवणं भेदि वातमें पित्तकोपनम् ।

तीवणं द्वारे किलासे च नारं मूँत्रं प्रयोजयेत् ॥२६॥

हयिनी का मूल—तिक और लवणसतुरुक, विरचक, वातनाशक, पित्तकोपक और तीर्ण है तथा जार और किलास (चेत) कुटु के लिये उपयोगी होता है ॥२६॥

गरचेतोविकारन्म नीवणं प्रदहियोगनुत् ।

दीपनं गार्वं मूँत्रं कुमिवातकफापहम् ॥२७॥

गधी का मूल—विषनाशक, (उन्मादादि) मानसिक विकारनाशक, तीर्ण, प्रहृष्टीनाशक, अग्निदीपक, हृषि, वात और कठ नाशक होता है ॥२७॥

शोफकुषोदरोन्मादमास्तकिमिनाशनम् ।

बर्शोंमें कार्वं मूँत्रं मानुपं च विषापहम् ॥२८॥

इति मूँत्राणि ।

दूटनी का मूल योग्य, कुठ, उदर, उन्माद, वात, हृषि और अर्ध इनका नाशक होता है । मनुष्य का मूल विषनाशक होता है ॥२८॥

चक्षव्य—मूल याय छीजाति का ही प्रयुक्त होता है । परन्तु कई आचार्य पहले चार मूल छीजाति के अंतर अन्तिम चार मूल युख्यवाति के प्रयोग मानते हैं—जो जाविमा हिणीया तु स्त्रीण मूल प्रहृष्टत । शरोहेमन्तरायाना पुत्र मूल हिण सूक्ष्म ॥ (भावनकार) ।

द्रवद्रव्याणि सर्वाणि समासात् कीर्तितानि तु ।

कालदेशविभागहो नुणेदर्तानुमर्हति ॥२९॥

इन सुखुमदिनाया सत्राणां द्रवद्रव्यविज्ञानेये ।

न एष पञ्चनवाचित्तमध्याय ॥४५॥

(इस भग्याय में) सर्व द्रवद्रव्यं सनेप से वर्णन किय गये हैं । उनको काल और देश विभाग का योग्य ज्ञानी वैय राजा के लिये भी है सक्रिय है ॥२९॥

इति भास्तरसीणा गोविन्दात्मनेन विरेचित यामुकुरेद्रवद्रव्याणिकायः

कुमुक्यामादीकावः उद्ग्रहविज्ञानीयो नाम

पञ्चवल्लारित्याय ॥४५॥

षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातोऽध्यापनविधिमध्यायं व्याख्यास्याम ।
यथोदयच भग्यायन् धन्वन्तरि ॥१॥

अब यहाँ से अध्यापनविधि नामक भग्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भग्यायन् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—भवतानविधि—यात्यादि अथ, उवका से करने के पश्चात पीने के विविध द्रव्य तथा आहारविधि इन वर्णन विसमें किया है, ऐसा अध्याय ।

धन्वन्तरिमधिमात्रा सुधुतसंदिता

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो यलवर्णोजसां च, पदसु रसेव्यायत्, रसाः पुनर्द्रव्याधियिषु, द्रव्य रसगुणवीर्यवियाकनिभिते च ज्ञेयद्वृही दोषाः साम्यं च, प्रहादेरपि च लोकस्याहारः स्थित्युत्परि विनाशहेतु, आहारादेयाभिवृद्धिवलमारोय वर्ते निद्र्यप्रसादत्थ, तथा द्याहार्यैव्याप्तावासास्यं तस्याशितपीतलीदखादितास्य नानाद्रव्यात्मकस्यात् कविधविकल्पस्यानेकविधप्रभावस्य पृथग् पृथग् व्यरसगुणवीर्यवियाकप्रभावकर्मणीच्छामि ज्ञातु, धृणवुदसमाया भिषजः स्वस्यानुवृत्ति रोगानि द्रव्यं च कर्तुं समर्थःः आहारायत्ताथ सर्वप्राणिनेयसात्सादनवपानविधिमुपदिशतु मे भग्यायन् इत्युक्तः प्रोत्याच भग्यायन् धन्वन्तरि ॥ अथ यह वर्तस सुधुत ! यथाप्रभृत्युच्यमानुमुपधारयस—॥१॥

धन्वन्तरि भग्यायन् के प्राणाम करके महर्षि सुखुम को कि (हे भग्यायन् ! अपने) पहले (भग्याय में) वर्णन किये है कि प्राणियों के बल, वर्ण और ओज का मूल आहार है वह छ रसों के अधीन है और इस फिर द्रव्यों के अधीन होते हैं । द्रव्यों की ज्ञेय वृद्धि तथा समता द्रव्यों के रस, वीर्य युग्म और विषाक के कारण ही हुआ करती है । प्राणादि होते ही भी स्थिति, उत्पन्न और विनाश का कारण आहार ही है । आहार ही से शरीर की वृद्धि, बल, आरोग्य, वर्ण और इन्द्रियों की प्रसन्नता उत्पन्न होती है, और आहार की विषमता (मृद्गत, अधिकता और अव्योग्यता) से रोग उत्पन्न होते हैं । जिसमें भोज्य (विषयक लिये विशेष चर्चण की आवश्यकता नहीं होती रेसे पदार्थ, यथा—भात मोदक इत्यादि) नेत्र (दृष्टि, रस इत्यादि), तेजः (चाढ़ने के पदार्थ, यथा—भजेह, शीतल इत्यादि), और भृत्य (विषयक लिये विशेष चर्चण की आवश्यकता ही रही है, यथा—लड्डु आदि) से रस प्रकार होते हैं, जो नाना द्रव्यों से याना हुआ है, जिसमें स्वाद के नाना प्रकार होते हैं, और इसके सेवन से गरीबी में वहुनिष गति उत्पन्न होती है रेते आहार के उपर्युक्त द्रव्यों के रस, गुण, वीर्य, विषाक और कर्म इनको जानने की दृष्टि करता है, क्योंकि (आहार के लिये प्रयुक्त होने वाले विविध द्रव्यों का रसवीर्य विवाकादि दीर्घ ठीक) स्वरूप जीव नहीं जानते हैं वे स्वस्य मनुष्या के अन्तर्य का रसन और व्याप्ति लोगों को व्याप्तिप्रियमेन करने में असमर्थ होते हैं । जो कि समस्त जीवमात्र का मूल आहार है, इसने ही भग्यायन् ! मूर्ख भग्यायनविधि का ही उपर्युक्त किंतु इन प्रकार सुखुम के गृहन पर भग्यायन् धन्वन्तरि योदे विषय प्रमुख हैं तो ये व्यष्टि के अनुपार ही में जो वर्णन करता है तु उसे अवश्य और भारण कर ॥१॥

क्षयविदो ।

मुद्रवनमुद्रकलायमकुष्ठमसूरमङ्गल्यचणकसती-
नशिपुटकहरेवाढकीप्रभृतयो वैदलाः ॥२७॥

मुद्र (मूंग, Phaseolus Mungo), वनस्पति (वनमूंग, Piscolus Trilobus), कलाय (मटर का भेद, Pisum sativum), मकुष (मोठ, मटकी), मसूर (Lens Esculetum), मांगल्य (मसूर का भेद), चणक (चना Cicer Arientum), सतीन (मटर का भेद), त्रिपुटक (खेसारी, Lathyrus Sativus), हरेणु (मटर का भेद, चर्तुल कलाय), आढकी (अरहर Cajanus Indicus) प्रभृति वैदल हैं ॥२७॥

कपायमधुराः शीताः कटुपाका मस्तकराः ।
इमूत्पुरीयाश्च पित्तश्लेष्महरास्तथा ॥२८॥

वैदल वर्ग के धान्य कपायमधुर, शीतल, विपाक में वातप्रकोपक, मल और मूत्र का अवरोध करने वाले तथा और क्लेष्म हरण करने वाले हैं ॥२८॥

पर्यं वातलास्तेषु मुद्रा दृष्टिप्रसादनाः ।

ना हरितास्तत्र वन्या मुद्रसमाः स्मृताः ॥२९॥

वैदलों में मूंग अत्यंत वातल नहीं है और दृष्टि को प्रसन्न है । उनमें भी हरे मूंग प्रधान हैं और वनमूंग गुण में मूंग के समान होते हैं ॥२९॥

प्राके मधुराः ग्रोक्ता मसूरा वद्धवर्चसः ।

इष्टकाः कृमिकराः कलायाः प्रचुरानिलाः ॥३०॥

मसूर विपाक में मधुर और मल को वांधने वाले हैं ।

कृमिकारक होते हैं और मटर अत्यंत वातल हैं ॥३०॥

प्राढकी कफपित्तघ्नी नातिवातप्रकोपणी ।

गतलाः शीतमधुराः सकपाया विरुद्धणाः ॥३१॥

कफशोणितपित्तप्राश्वणकाः पुंस्वनाशनाः ।

त एव धृतसंयुक्तास्त्रिदोपशमनाः परम् ॥३२॥

असृद कफ और पित्त का नाश करती है तथा वात का हृत प्रकोप नहीं करती । चना वातल, शीतल, मधुर, कपाय, रीर में रक्तता उत्पन्न करने वाला, कफ और रक्तपित्त घर्षक, पुंस्वनाशक होता है । धी के साथ सेवन करने से जा अत्यंत त्रिदोपशमक होता है ॥३१,३२॥

हरेण्यः सतीनाश्च विक्षेया वद्धवर्चसः ।

कले मुद्रमसूराभ्यामन्ये त्वाध्मानकारकाः ॥३३॥

हरेणु और सतीन (दोनों मटर के भेद) मल को वांधने में होते हैं । मूंग और मसूर के अतिरिक्त अन्य वैदल गोत्र (अफारा) उत्पन्न करने वाले हैं ॥३३॥

मापो मुर्खिभ्नपुरीषमूत्रः ।

जिग्धोल्प्यवृत्यो मधुरोऽनिलमः ।

सन्तर्पणः स्तन्यकरो विशेषाद् ।

बलप्रदः शुक्रकफाचहश्च ॥३४॥

(उड्ड) उड्ड भारी, मल और मूत्र की प्रवृत्ति के वाला, स्तन्य, उण, वृत्त, मधुर, वातनाशक, तृसिकर,

(खियों में) विशेष करके दूध उत्पन्न करने वाला, बलादायक, शुक्र और कफ उत्पन्न करने वाला है ॥३४॥

कपायभावन्नं पुरीषमेद्वी

न मूत्रलो नैव कफस्य कर्ता ।

स्वादुर्विपाके मधुरोऽलसान्द्रः

सन्तर्पणः स्तन्यरुचिप्रदश्च ॥३५॥

(राजमाप —) राजमाप (अलसान्द्र) कपाय भावयुक्त होने से मल का भेदन नहीं करते, न मूत्रल होते हैं तथा कफ को भी नहीं करते हैं, विपाक में तथा रस में मधुर हैं, तृसिकारक हैं, स्तन्यजनक और रुचिकारक होते हैं ॥३५॥

मापैः समानं फलमात्मगुप्तः-

मुक्तं च काकाण्डफलं तथैव ।

धारण्यमापाण गुणतः प्रदिष्टा

रुक्षाः कपाया अविदाहिनश्च ॥३६॥

कौच के बीज उड्ड के समान (गुणकारक) जानने चाहिये । काकोण्डफल (बड़ी शिवी के बीज) भी इसी प्रकार होते हैं । वन उड्ड गुण में रुक्ष, कपाय और विदाह उत्पन्न न करने वाले होते हैं ॥३६॥

उष्णः कुलत्थो रसतः कपायः

कदुकविपाके कफमारुतमः ।

शुक्राद्धमरीगुलमनिपूदनश्च

सांग्राहिकः पीनसकासहारी ॥३७॥

आनाहमेदोगुदकीलहिक्ता-

श्वासापहः शोणितपित्तकृच्छ ।

कफस्य हन्ता नयनामयम्भो

विशेषतो वन्यकुलत्थ उक्तः ॥३८॥

कुलत्थ (कुलथी)—उष्णवीर्य, रस में कपाय, विपाक में कटु, कफ और वात का नाशक, शुक्र अदमरी और गुल्म का नाशक, संग्राही और पीनस तथा खाँसी का हरण करने वाला है ॥३७॥ वनकुलत्थ आनाह, भेद रोग, अर्श, हिक्का और ध्वास इनका नाशक, रक्तपित्तकर्त्ता, कफहर, नेत्ररोग नाशक विशेष करके होता है ॥३८॥

वक्तव्य—वाग्भट और चरक के असुसार कुलत्थ का विपाक अस्त्र है ।

ईपत्कपायो मधुरः सतिक्तः

सांग्राहिकः पित्तकरस्तथोपणः ।

तिलो विपाके मधुरो वलिष्ठः

खिधो वणालेपन एव पथ्यः ॥३९॥

दन्त्योऽश्रिमेधाजननोऽल्पमूत्रः

स्त्वच्योऽथ केश्योऽनिलहा गुस्तश्च ।

तिलेषु सर्वेष्वसितः प्रधानो

मध्यः सितो हीनतरास्तथाऽन्ये ॥४०॥

विस्तरेणायमहिनः शालिवर्गो द्वितादित ॥१९॥

(कर्मी) हितकर और (कर्मी) अहितकर (ज्ञाना) यह शानि (परिक्रमा और पीढ़ि) वर्ग विस्तारपूर्वक वर्णित किया है ॥११॥

धर्माद्य—हिंदूहि—गायि स्वयम्भावला में पक्षानन्दहि
होते हैं, परम्परा स्वयावस्था में दोष विहृनि के अनुसार हितका
या अहितका होते हैं—भवायानन्दाद्यप्राणादीना भवायितम्
दृष्टे नेष्ठनि विधि इच्छानि भवत्वत्त्वे ॥ (सुधुत) । शालिवर्ग—
शालिवर्ग में शालि, पटिक और शीढ़ि इनका समावय होता है।
जो हेमन्त फूल में (अर्धान् रसी की कासल में) होते हैं
प शालि हैं, और जो बर्दाचाल्तु में होते हैं में शीढ़ि हैं—पक्षनेत्र
दिवा द्वाहा हैन्तना रात्र्य रस्ता । वार्षिका किञ्चित् तु तु शीढ़ि

धिराक्षिण ॥ (भावदग्नाम) । यहिंक मीहि का ही पृष्ठ भेद है जो श्रीप्राची की पानि साठ दिन में ही उपजता है—यहिंक मीहिंक भेड़ । (अहाराहृदय) । ते हि धिराक्षिण भवनि ॥ (चक्रदत्त) । भारतवर्ष में बागल विहार, आसाम मद्रास तथा घर्मा प्रान्तों में चावल का उपयोग आहार में प्रमुख है । चावल कई प्रकार के होते हैं । उनके अनुसार तथा जमीन की प्रकृति, सिंचाई, खाद, और तैयार करने की पद्धति उनके अनुसार चावलों के गुण भी में और वीटिका में बहुत फर्क होता है । आगे पर्वें क्षीक के वस्त्रत्व में ही हुई तालिका देखने से पता लगेगा कि चावल में रिट्रैट पर्याप्त (कार्बोहाइड्रेट Carbohydrate) बहुत अधिक है और गरीबातुर्पर्क (प्रोटीन Protein) पर्याप्त चर्ची और खानेव बहुत कम है ।

खनिज में फास्टरस लोह व्यागारीज इत्यादि तत्त्व होते हैं। खनिज और प्रोटीन चावल के ऊपरी पर्श (कदमा कोटा) में होते हैं। इनके अतिरिक्त कदम में जीवद्रव्य भी (Vitamin B) भी होता है। जीवनीय द्रव्यों के सवध में आगे ५२४ क्षुक के बकल्ज में विचार किया गया है। जानवरों की खाद डाली हुई मूली भूमि में वर्णों के पानी से उपजने वाले प्राने के चावलों में रासायनिक खाद डाली हुई भूमि में सिंचाई विभाग क (Channel irrigation) पानी से उपजने वाले धान के चावलों की अपना जीवनीय तथा पौष्टिक द्रव्य अधिक होते हैं। प्रशीन में डालकर कूटने से पानी में बहुत धोने से तथा चावलों को उचालकर माँड़ को केक देने से प्रोटीन खनिज तथा जीवद्रव्य नष्ट हो जाते हैं और चावलों की पीछिकता कम होती है; इसलिये अतिम्बुद्ध (Pol shed rice) चावलों का उपयोग करना तथा चावलों को उचालकर माँड़ को केक देना स्वास्थ की दृष्टि से अहितकर है। चावल में जो कार्बोहाइड्रेट है वह स्टार्च रूप में होता है। यह स्टार्च वचन में सुनम और गीम है तथा इसका अधिकांश भाग अर्ती में शोषित होता है और बहुत अल्प भाग किंठ के रूप में उत्सर्गित होता है। इसलिये चावल की गीष्पाकी अपवर्जन कहा है। इसमें सारक गुण नहीं है इसलिये प्रार्थी और बुर्जर्चम् कहा है। कार्बोहाइड्रेट से गरीर में शक्ति उपज होती है। इसलिये इसे बलवधक स्तिथ कहा है। कोजी के रूप में चावल शुगर एवाहर और ज्वररह है। चावलों के बारे हमेशा पके सूखे सुखे रसायन देने वाले शिक्षिये। बढ़ और तर रसायन में रुक्त से उनमें जै

उत्तरे (Fermentation) लायता है। जिसके कारण दुरुष भारी है और उनमें तोनिन (Toxins and T-aminos) उत्पन्न हो जाते हैं। यसका व्यवहार के साथ में बला जाए तो शाकबद्ध गरम प्रतीत होता है। यसका प्रयोग पटाये हुए शाकबद्ध बेरी बेरी (Ber-Ber) नामक की उत्पत्ति में बड़ा भारी भाग लेते हैं। इसी व्यापक तदृश कुपान्यसुदृढिमायादीना च व्यथयते॥२३॥
इसी प्रकार कुपान्य, सुदृढि और मारादि के वर्णन किये जायते॥२३॥

अथ यात्रान्वयवर्णी ।

कोरदृगकदयामाकनीयारत्यान्तनुवरकोहाल्व
प्रियमधूलिकानानीमुण्डीकुरविन्दगवेधुकवद्द
तोद्(य)पर्मिकुन्द्वयेषुययप्रभृतय कुधा
विशेषा ॥३॥

कौटूपक (प्रोट्रिय), इयामाक नीवार, शालनु व
उहालक (वनकाद्रिय), प्रियदगु मधृलिका नान्दीमुखी
विदि, गरुपुक, चरुक, ताटपारी मुकुन्दक षण्यव भ्र
कुथाल्य (कुत्सित धान्य) विशेष हैं ॥२१॥

यत्तद्य—**धरकमेहिना** में गालि के साथ कुशल्य समायर शुक्रवर्ग (Cereals) में किया है। धरकमेहिना की इसे धरक का वर्गीकरण ठीक है, क्योंकि ये सब अकार के घास (Grass) हैं।

उपणा क्षयायमधुरा रुद्धा कद्गविपक्विन ।
स्त्रेभ्यष्मा वद्धनिद्यन्दा वातपित्तप्रकोपणा ॥२

मेरे कुक्तान्य गरम कथाय और मधुर हन विशेष
चुंडक कफनायक मूल्र की रागि कम करने वाले और बात से
पेत्त प्रश्नोपक होते हैं ॥२२॥

कपायमधुरस्तेपा शीत पित्तपद्ध सून् ।
पोद्रवयथ सनीवार इयामाकथ सशान्तनु ॥२५॥
इनमें से कोद्रव (कोद्रो) नीनार इयामाक वीर शान्त
कपायमधुर गीत धीर पित्त नाशक होते हैं ॥२६॥

कृष्णा रत्नाश्च पीताश्च धेतादैवं प्रियङ्कव ।
यथोत्तर प्रधाना स्यु रुद्रा कफवृष्टि स्मृता ॥२५

काली लाल पीली और सफेद प्रियंगु उत्तरोत्तर (युण में
उ होती हैं तथा रुन भी उ करनायक हैं ॥२४॥

मधुरा मधुरा शीतलिंगधा नान्दीमुखी तथा ।
विशेषी तब भूषिष्ठ वरक समुद्रनक ॥२५
मधुलिका यीर नान्दीमुखी मधुर धीत तथा सिंधुर है
एक और सुदृढनक (यीर के जलाग का) अस्यन्त विद्योपय
करता है ॥२५॥

रुक्षा वेणुग्रहा द्येया धीर्योप्त्था कदुपाकिन ।
वेणुग्रहा कफद्वया कथाया वातकोपना ॥२६॥
वेणुग्रह सूक्ष्म उण्डार्यि विपाक में कुट्ट मूत्र की रागि कम
ने सारो, कफनाशक कथाय और वातग्रोपक है ॥२७॥

१० गोप्यकरणवरहुः २ ननीः

मुद्दवनमुद्दकलायमकुष्ठमसूरमह्मल्यचणकसती-
मुटकहरेराषाढकीप्रभृतयो वैदलाः ॥२७॥

द्र (मौग, Phaseolus Mungo), वनमुद्द (वनमूग, colus Trilobus), कलाय (मटर का भेद, Pisum usse), मकुष्ठ (मोठ, मटकी), मसूर (Lens Escule), मांगल्य (मसूर का भेद), चणक (चना Cicer atum), सतीन (मटर का भेद), त्रिपुटक (खेसारी, Vrylus Sativus), हरेणु (मटर का भेद, वर्तुल), आढकी (अरहर Cajanus Indicus) प्रभृति हैं ॥२७॥

शयमधुराः शीताः कटुपाका मस्तकराः ।

द्रमूत्रपुरीपाथ्य पित्तश्लेषमहरास्तथा ॥२८॥

ये वैदल वर्ग के धान्य कपायमधुर, शीतल, विपाक में चातप्रोपक, मल और मुत्र का अवरोध करने वाले तथा और लेण्ड हरण करने वाले हैं ॥२८॥

पर्थ वातलास्तेषु मुद्दा दृष्टिप्रसादनाः ।

पाना हरितास्तत्र वन्या मुद्दसमाः स्मृताः ॥२९॥

वैदलों में मूग अत्यंत वातल नहीं है और दृष्टि को प्रसन्न हैं । उनमें भी हरे मूग प्रधान हैं और वनमूग गुण में मूग के समान होते हैं ॥२९॥

शोके मधुराः प्रोक्ता मसूरा वद्धवर्चसः ।

द्रिष्टकाः हृमिकराः कलायाः प्रचुरानिलाः ॥३०॥

मसूर विपाक में मधुर और मल को बांधने वाले हैं ।

ठ कुमिकारक होते हैं और मटर अत्यंत वातल हैं ॥३०॥

आढकी कफपित्तज्ञी नातिवातप्रोपणी ।

वातला: शीतमधुराः सकपाया विरुक्षणाः ॥३१॥

कफशोणितपित्तज्ञाश्वणकाः पुस्त्वनाशनाः ।

त एव घृतसंयुक्तास्त्रियदोपशमनाः परम् ॥३२॥

अरहड कफ और पित्त का नाश करती है तथा वात का द्रुत प्रकोप नहीं करती । चना वातल, शीतल, मधुर, कपाय, रीर में रुक्तता उत्पन्न करने वाला, कफ और रक्तपित्त ग्राहक, पुस्त्वनाशक होता है । धी के साथ सेवन करने से भी अत्यंत त्रिदोषशमक होता है ॥३१,३२॥

हरेणवः सतीनाश्च विशेषा वद्धवर्चसः ।

कृते मुद्दमसूराभ्यामन्ये त्वाधमानकारकाः ॥३३॥

हरेणु और सतीन (दोनों मटर के भेद) मल को बांधने वाले होते हैं । मूग और मसूर के अतिरिक्त अन्य वैदल ग्रीन (अफारा) उत्पन्न करने वाले हैं ॥३३॥

माषो गुरुभिन्नपुरीषमूवः

ज्ञिग्न्योण्यवृत्यो मधुरो उनिलघः ।

सन्तर्पणः स्तन्यकरो विशेषाद्

बलप्रदः शुक्रकफावहश्च ॥३४॥

(उहड—) उहड भारी, मल और मूत्र की प्रवृत्ति वाला, स्तिरध, उणा, वृत्य, मधुर, वातनाशक, त्रुसिकर,

(जियों में) विशेष करके दूध उत्पन्न करने वाला, बलदायक, शुक्र और कफ उत्पन्न करने वाला है ॥३४॥

कप्रायभावान्न पुरीषमेदी

न मूत्रलो नैव कफस्य कर्ता ।

खादुर्विषपाके मधुरो उलसान्द्रः

सन्तर्पणः स्तन्यस्त्रिप्रदश्च ॥३५॥

(राजमाप—) राजमाप (अलसान्द्र) कपाय भावयुक्त होने से मल का भेदन नहीं करते, न मूत्रल होते हैं तथा कफ को भी नहीं करते हैं, विपाक में तथा रस में मधुर हैं, त्रुसिकारक हैं, स्तन्यजनक और हृचिकारक होते हैं ॥३५॥

माषः समानं फलमात्मगुप्त-

मुक्तं च काकाण्डफलं तथैव ।

आरण्यमापा गुणातः प्रदिष्टा

रुक्ता: कपाया अविदाहिनश्च ॥३६॥

कौंच के बीज उहड के समान (गुणकारक) जानने चाहिये । काकाण्डफल (वडी शिंबी के बीज) भी हसी प्रकार होते हैं । वन उहड गुण में रुक्त, कपाय और विदाह उत्पन्न न करने वाले होते हैं ॥३६॥

उषणः कुलस्थो रसतः कपायः

कदुर्विषपाके कफमारतघ्नः ।

शुक्राश्मरेणुलमनिषूदनश्च

सांग्राहिकः पीनसकासहारी ॥३७॥

आनाहमेदोगुदीलहिका-

श्वासपापः शोणितपित्तकृच्छ ।

कफस्य हन्ता नयनामयघ्नो

विशेषतो वन्यकुलस्थ उक्तः ॥३८॥

कुलस्थ (कुलथी)—उप्यावीर्य, रस में कपाय, विपाक में कटु, कफ और वात का नाशक, शुक्र अशमरी और गुल्म का नाशक, संयाही और पीनस तथा खाँसी का हरण करने वाला है ॥३७॥ वनकुलस्थ आनाह, मेद रोग, अर्श, हिङ्गा और श्वास हनका नाशक, रक्तपित्तकर्ता, कफहर, नेत्ररोग नाशक विशेष करके होता है ॥३८॥

वक्तव्य—वाग्भट और चरक के अनुसार कुलस्थ का विपाक अम्ल है ।

ईषत्कपायो मधुरः सतीकः

सांग्राहिकः पित्तकरस्तथोष्णः ।

तिलो विपाके मधुरो वलिष्ठः

स्त्रिग्न्यो व्रणालेपन एव पथ्यः ॥३९॥

दन्त्यो उग्निमेधाजननो उलपमूत्र-

स्त्वंच्यो उथ केश्यो उनिलहा गुरुश्च ।

तिलेषु सर्वेष्वसितः प्रधानो

मध्यः सितो हीनतरास्तथाऽन्ये ॥४०॥

१ सन्तो.

विस्तरेणायमुद्दिष्टः शालिवर्गे दिताहितः ॥१॥

(कर्मी) हितकर और (कर्मी) अहितकर (ऐना) यह शालि (पष्टिक और शीहि) वांग विनाराखैक बर्देन किया है ॥१॥

यत्कथ्य—हिताहित—शालि स्वस्यावस्था में एकान्तहित होते हैं, परन्तु स्वस्यावस्था में दोष विहृनि के अनुसार हितकर या अहितकर होते हैं—अवस्थान्तरात्माहुत्वाद्वयादीना व्यवस्थितम्। दृष्ट्य निच्छानि वित्त इच्छानि न्यस्तस्तु ॥ (सुशुन)। शालिवर्गे—शालिवर्ग में शालि, पष्टिक और शीहि इनका समावेष होता है। जो हेमलत अतु में (अर्थात् रकी की कमल में) होते हैं वे शालि हैं, और जो वस्त्र अतु में होते हैं वे शीहि हैं—कड़नेन विना शुद्धा हैनता शाल्य सृजा । बार्विका कठिना शुद्धा श्रीहृष्टि-श्रियाकिन ॥ (भावप्रकाश)। पष्टिक शीहि का ही पृष्ठ भैर है जो शीघ्रप्राप्ती की यानि साठ दिन में ही उपवता है—पष्टिके शीघ्रिषु भेष । (अष्टांगहृदय)। ते दि घटिरेण भवन्ति ॥ (चक्रदल)। मारतवर्षे में बावल, विहार, आसाम, मद्रास तथा बांग्ला प्रान्तों में चावल का उपयोग आहार में प्रमुख है। चावल कई प्रकार के होते हैं। उनमें अनुसार तथा जमीन की प्रकृति, सिंचाई, साद, और तैयार करने की पद्धति उनके अनुसार चावलों के गुण घटनों में भौति परिवर्तन में बहुत कई होता है। आगे भरवे झोक के वक्तव्य में दी हुई तालिका देखने से पता लगेगा कि चावल में पिष्टमय पदार्थ (कार्बोहाइड्रेट Carbohydrate) बहुत अधिक है और शरीरधातुवर्धक (प्रोटीन Protein) पदार्थ, चर्वी और सानिंग बहुत कम है। चतुर्निं भी फास्करस, लोह, श्वार्यार्थीज इत्यादि तत्त्व होते हैं। भरनिं और प्रोटीन चावल के ऊपरी पर्त (कद या कोडा) में होते हैं। इनके अतिरिक्त कद में जीवद्रव्य भी (Vitamino B) भी होता है। जीवनीय द्रव्यों के सवध में आगे ५२४ झोक के वक्तव्य में विवर दिया गया है। जावरों की साद ढाळी हुई सूखी भूमि में वर्षा के पासी से उपवते बाले धान के चावलों में, रायायनिक साद ढाली हुई भूमि में सिंचाई विनाग के (Channel irrigation) पानी से उपवते बाले धान के चावलों की अपक्षा जीवनीय तथा पौष्टिक द्रव्य अधिक होते हैं। मरीन में डालकर हटने से, पानी में बहुत धोने से तथा चावलों को उचालकर मोड़ की फैक देने से प्रोटीन, सिंचन तथा जीवद्रव्य नष्ट हो जाते हैं, और चावलों की पौष्टिकता कम होती है, इन्सिंग अविस्तर (Polished rice) चावलों का उपयोग करना तथा चावलों को उचालकर मोड़ की फैक द्वारा स्वास्थ्य की हाँ से अहितकर है। चावल में जो कार्बोहाइड्रेट है वह स्टार्च रूप में होता है। यह स्टार्च पकन में सुनभ और गीध है तथा इसका अधिकांश भाग जाती में गायत इन्ता है और वहुत भल्ल भाग किंवद्ध के रूप में उत्तर्गित होता है, इसलिये शालि की शीघ्रप्राप्ती, अवस्थावर्ष बहा है। इसमें सारक गुण नहीं है इसलिये ग्राही और व्यवस्थावर्ष बहा है। कार्बोहाइड्रेट से शरीर में गति उत्पन्न होती है। इसलिये इसे व्यक्तिपैक, स्थिरता है। कोंडी के रूप में चावल मूल्य, शुगर और ज्वरहर है। चावलों के बारे हमेण पके मूले सुने स्वान में इनने काहिये। बंद और तर रथान में इनने से उनमें लक्ष

उठने (Fermentation) लगता है। तिसके कारण दुर्ग्राह आती है और उनमें विष (Toxins and Toxamines) उत्पन्न हो जाते हैं। स्वरात्र चावल के द्वारे में डाला जाये तो चावल गरम प्रतीत होते हैं। स्वाद, शुगर घटाये हुए चावल बेरी बेरी (Beri-Beri) नामक की उत्पत्ति में बड़ा भारी भाग होते हैं। इसे शालिवर्गे तद्रत् कुधान्यमुद्धादिमायादीनां च वद्यते ॥२०॥

इसी प्रकार कुधान्य, मुद्धादि और भारादि के वर्णन किये जायगे ॥२०॥

अथ कुधान्यवर्गाः ।

कोरद्यपकद्यामाकनीवारशान्तुवरकोद्दालक
प्रियहुमधूलिकानान्दीमुद्धीकुरुविन्दगेषुक्यरक
तोदयपर्णमुद्धुकुन्दकवेषुयवप्रभृतयः कुधान्यविशेषाः ॥२१॥

कोरद्यपक (कोद्रद्रव), द्यामाक, नीवार, शान्तु, य उद्दालक (वनकोद्रव), प्रियहु, मधूलिका, नान्दीमुद्धी, विन्द, गेषुकु, वल्क, तोदयर्णी, मुद्धुकुन्दक, षेषुयव प्रभृत्य (कुन्दित धान्य) विशेष हैं ॥२१॥

चतुर्थ्य—चरकसंहिता में शालि के साथ कुधान्य समावेष शुकर्वर्ग (Cereals) में किया है। वनस्पतिय की हाँ से चरक का वार्ताविषय ठीक है, क्योंकि मे सब प्रकार के धान (Grass) हैं।

उपर्याः कायायमधुरा रुद्धाः कदुधिपाकिन ।

रेषेष्प्रभा यद्यनिष्यन्दा चातपित्तप्रकोपणा ॥२॥

ये कुधान्य गरम, कायाय और मधुरा, रुद्धा, विपाक कटुक, कफनागक, मूत्र की रागि कम करने वाले और बाल त पित्त प्रकोपक होते हैं ॥२॥

कपायमधुरस्तेयां शीत पित्तापहः स्मृतः ।

कोद्रव्यश्च सनीवारः द्यामाकश्च सशान्तुरु ॥२॥

इनमें से कोद्रव (कोद्रे), नीवार, द्यामाक और शान्तु के कायायमधुर, शीत प्रियत नामक होते हैं ॥२॥

हृष्णा रसात्र्य धीतात्र्य श्वेतात्र्यैष प्रियहृष्ण ।

यथोत्तरं प्रथाना रस्य रुद्धा कफहरा स्मृता ॥२॥

काली, काल, पीली और सफेद प्रियहु उत्तरोत्तर (गुण में ऐसे होती हैं, तथा रुद्ध और कफनागक हैं ॥२॥

मधूलीमधुरा दीतात्र्यां लिङ्गाय नोन्दीमुद्धी तथा ।

यिशोपी तत्र भूपिष्ठे यद्यवः समुद्धुकुन्दकः ॥२॥

मधूलिका और नान्दीमुद्धी मधुरा, शीत तथा रित्य है वाल और मुद्धुकुन्दक (गरीर के जलांग का) अन्यता विशेष करने वाले हैं ॥२॥

रुद्धा वेषुयवां शीता धीर्येष्णा कदुधिपाकिन ।

यद्यमधुरा कफहरा कपाया यातकोपणा ॥२॥

षेषुयव स्वस, उल्लासीर्ण, विपाक में कटु, मूत्र की रागि कम करने वाले, कफनागक, कायाय और बालप्रकोपक हैं ॥२॥

इति कुधान्यवर्गाः ।

१ प्रात्प्रभुप्रभावदः ३ नन्दीः ।

मुद्रवन्मुद्रकलायमकुष्ठमसूरमङ्गल्यचणकसती-
ब्रपुटकहरेवाढकीप्रभृतयो वैदलाः ॥२७॥

मुद्र (मूँग, Phaseolus Mungo), वनमुद्र (वनमूँग, ascolus Trilobus), कलाय (मटर का भेद, Pisum nse), मकुष्ठ (मोठ, मटकी), मसूर (Lens Eocule), मांगल्य (मसूर का भेद), चणक (चना Cicer Ientum), सतीन (मटर का भेद), त्रिपुटक (खेसारी, thyrus Sativus), हरेणु (मटर का भेद, वर्तुल अय), आढकी (अरहर Cajanus Indicus) प्रभृति ल हैं ॥२७॥

तथायमधुराः शीताः कटुपाका मरुत्कराः ।

अद्भूतपुरीपाश्च पित्तश्लेष्महरास्तथा ॥२८॥

ये वैदल वर्ग के धान्य कथायमधुर, शीतल, विपाक में ; वातप्रकोपक, मल और सूत्र का अवरोध करने वाले तथा त और श्लेष्म हरण करने वाले हैं ॥२८॥

त्वर्थं वातलास्तेषु मुद्रा दृष्टिप्रसादनाः ।

धाना हरितास्तत्र वन्या मुद्रसमाः स्मृताः ॥२९॥

वैदलों में मूँग अत्यंत वातल नहीं है और दृष्टि को प्रसन्न तो है । उनमें भी हरे मूँग प्रधान हैं और वनमूँग गुण में र मूँग के समान होते हैं ॥२९॥

कुमिके मधुराः प्रोक्ता मसूरा वद्धवर्चसः ।

कुष्ठकाः कुमिकराः कलायाः प्रचुरानिलाः ॥३०॥

मसूर विपाक में मधुर और मल को बांधने वाले हैं ।
०१-कुमिकराक होते हैं और मटर अत्यंत वातल हैं ॥३०॥

आढकी कफपित्तघ्नी नातिवातप्रकोपरी ।

वातलाः शीतमधुराः सकपाया विरुद्धरणाः ॥३१॥

कफशोणितपित्तघ्नाशेणकाः पुस्तवनाशनाः ।

त एव घृतसंयुक्तास्त्रिदोषपशमनाः परम् ॥३२॥

अरहड कफ और पित्त का नाश करती है तथा वात का बहुत प्रकोप नहीं करती । चना वातल, शीतल, मधुर, कपाय, गरीर में रुक्ता उत्पन्न करने वाला, कफ और रक्तपित्त नाशक, पुस्तवनाशक होता है । धी के साथ सेवन करने से चना अत्यंत त्रिदोषशामक होता है ॥३१,३२॥

हरेणवः सतीनाश्च विशेष्या वद्धवर्चसः ।

कते सुद्धमसूराभ्यामन्ये त्वाधमानकारकाः ॥३३॥

हरेण और सतीन (दोनों मटर के भेद) मल को बांधने वाले होते हैं । मूँग और मसूर के अतिरिक्त अन्य वैदल गोन (अफारा) उत्पन्न करने वाले हैं ॥३३॥

मापो गुरुभिंश्चपुरीप्रमूळः

ज्ञिग्न्योप्यावृप्यो मधुरो उनिलध्नः ।

सन्तर्पणाः स्तन्यकरो विशेषाद् ।

वलप्रदः शुक्रकफावहश्च ॥३४॥

(उड्ड —) उड्ड भारी, मल और सूत्र की प्रवृत्ति जलने वाला, स्तिर्ग, उणा, वृप्य, मधुर, वातनाशक, त्रुसिकर,

(स्थियो में) विशेष करके दूध उत्पन्न करने वाला, वलदायक, शुक्र और कफ उत्पन्न करने वाला है ॥३४॥

कपायभावान्नं पुरीषमेदी

न मूत्रलो नैव कफस्य कर्ता ।

खादुर्विपाके मधुरो उलसान्द्रः

सन्तर्पणाः स्तन्यरुचिप्रदश्च ॥३५॥

(राजमाप —) राजमाप (अलसान्द्र) कपाय भावयुक्त होने से मल का भेदन नहीं करते, न मूत्रल होते हैं तथा कफ को भी नहीं करते हैं, विपाक में तथा रस में मधुर हैं, त्रुसिकारक हैं, स्तन्यजनक और रुचिकारक होते हैं ॥३५॥

मापैः समानं फलमात्मगुप्त-

सुक्तं च काकाण्डफलं तथैव ।

आरण्यमापा गुणतः प्रदिष्टा

रुक्षाः कपाया अविदाहिनश्च ॥३६॥

कौच के बीज उड्ड के समान (गुणकारक) जानने चाहिये । काकाण्डफल (बड़ी शिंदी के बीज) भी इसी प्रकार होते हैं । वन उड्ड गुण में रुक्ष, कपाय और विदाह उत्पन्न न करने वाले होते हैं ॥३६॥

उप्पणः कुलत्थो रसतः कपायः

कटुर्विपाके कफमारुतध्नः ।

चुक्राद्मरीगुलमनिषूदनश्च

सांग्राहिकः पीनसकासहारी ॥३७॥

आनाहमेदोगुदकीलहिक्का-

श्वासापहः शोणितपित्तकृच्च ।

कफस्य हन्ता नयनामयम्भो

विशेषतो वन्यकुलत्थ उक्तः ॥३८॥

कुलत्थ (कुलथी)—उपाचारीय, रस में कपाय, विपाक में कटु, कफ और वात का नाशक, शुक्र अझमरी और गुलम का नाशक, संग्राही और पीनस तथा खाँसी का हरण करने वाला है ॥३७॥ वनकुलत्थ आनाह, मेद रोग, अर्थ, हिक्का और श्वास इनका नाशक, रक्तपित्तकर्ता, कफहर, नेत्ररोग नाशक विशेष करके होता है ॥३८॥

वलत्व्य—वामभट और चरक के अनुसार कुलत्थ का विपाक अस्त्र है ।

ईपत्कपायो मधुरः स्ततिकः

सांग्राहिकः पित्तकरस्तथोप्पणः ।

तिलो विपाके मधुरो वलिष्ठः

स्त्रिघो वणालेपन एव पथ्यः ॥३९॥

दन्त्यो उश्मिमेधाजननो उलपमूळः

स्त्वच्यो उथ केश्यो उनिलहा गुरुश्च ।

तिलेषु सर्वेष्वसितः प्रधानो

मध्यः सितो हीनतरास्तथाऽन्ये ॥४०॥

(तिल—) तिल किंचित् केपाय, मधुर, तिज, सग्राही, पितकर, रुप्या, विपाक में मधुर, बलवर्धक, विश्व, वेवल वयालेपन के लिये पद्धतक ॥३१॥ दाँतों के लिये हितकर, अमिदीपक, तुदिवर्धक, मूत्र की राधि कम करने वाले, वचा तथा वेश के लिये हितकर, वातनाशक और गुरु हैं । सब प्रकार के तिलों में काले तिल प्रधान हैं, जैत तिल मध्यम हैं और अन्य निम्नांक होते हैं ॥४०॥

यवः कणायो मधुरो हिमश्च

कटुविषपाके कफपित्तहारी ।

वणेषु पद्धतिस्तिलवचा नित्यं

प्रवदभूत्रो चहुवातवर्चा ॥४१॥

स्थैर्याग्निमेधाखरवर्यांकुच्छ

सपिच्छलः स्थूलविलेखनश्च ।

मेदोमरुचुद्दहरणोऽतिरुक्तः ।

प्रसादमः शोणितपित्तयोश्च ॥४२॥

(यव—) वयकपाय, मधुर, शीतल, विपाक में कटु, कफपित्तनाशक, तिल की भाँति वयालेपन में सैदैव हितकर, मूत्र कम करने वाला, (अति में) वात और मल को बढ़ाने वाला ॥४१॥ स्थैर्यजनक, अमिदीपक, तुदिवर्धक, कण्ठय, वर्ण, पित्तिल, स्थूल को कृष्ण करने वाला, मेदोरोग, वातरोग और तूपा को हरण करने वाला, अतिपाय सूक्ष्म और रक्त तथा पित्त की प्रसादन करने वाला है ॥४२॥

परिगुरुणैहीनतरैस्तु किंचिद्

विद्याद्यवेष्योऽतियवानशेषै ।

उपर्युक्त मधु गुणों में अतियव (नियन्त्रक कारे साल रक्त के यव) किंचित् निम्नांक समझने चाहिए ।

घृतदृश्य—वणेषु पद्धतिस्तिलवचा विवेद—तिल की भाँति वयालेपन के लिये पद्धतकर—विलवपवकल्तु कंचिदादुर्मीलिण । (वि अ १) । विवेद—आम्बरीय प्रयोग के लिये भी उपयोगी—शक्तु, विशेष कुम्भार्व वन्द वापि भृत्य पितृत । (सूत्र स्थान, अ १९) । भवदमृत—मूत्र की राधि कम करने वाला । इसलिये प्रमेह में यज्ञों का उपयोग होता है—वृत्तप्राप्त न्यू मेलू ग्रमी । (वर्तक) । मदावृद्धहरण—मेदावृत वात तृणां च दृन्ति ॥५१॥ मेदावृत वात तापा तृणा हरण करने वाला । वर्तक में मेदावृत वायु की विकिञ्चिता में यव का भोजन करने के लिए विद्या है—वृत्तक वात । भोजनार्थ प्रयोग ज्यानि । (स २१) । अविवेद—नि दृष्टीविवेद सूत्र । (भावप्रकाश) । आयुर्वेद में जी (Hordeum Vulgare) एक बहुत विकिञ्चितप्रयोगी गुण है । भावप्रकाश में अवश्य निर्धारण जी वाकर अवना निवांड किया करते हैं । जी का संगठन गेहू के बहुत हुए समान है । पात्राल्प देहों में वैद्यकीय उपयोगों के लिये जी का एक प्रकार के (स्थूल वार्षी, पौर्ण वार्षी, 'पूर्ण वार्षी,' 'पेटन्ट वार्षी' ह्यादि) बहाये जाते हैं । इस प्रकार के जी से घूर (Barley water) वाकर मौव महार के उपर्युक्त में तथा सुखाक, उप्य वात हापादि मूत्र विद्यार्ति में

बूब्र के साथ या वैमे ही देते हैं । जी (Hordeum Don) ही से माल्ट (Malt) नामक एक शक्तिवर्धक, एतथा पचनसुलभ पद्धार्य बनाया जाता है । प्रधम जी का में मिलाकर रख दिया जाता है । जब अकुर पूटने लाए तब एक विशेष प्रकार की भट्टी में दाँतों को रखता जब जिससे अकुरों का निकलना बंद हो जाता है । इससे भीनर डायस्टेम (Diastase) नामक पद्धार्य बनाता है स्टार्च को डेविस्ट्रून और माल्ट शूगर (Dextrin and Sugar) में परिवर्तित करता है । इस तरह माल्ट एन्जी में डायस्टेस, डेविस्ट्रून और माल्ट शूगर होती है । माल्ट स्टार्च गर्करा युक्त अन्य पद्धार्यों को पचन करने की वटी २ ग्रामी होती है । गेहू के आटे के साथ माल्ट मिलाकर कल बाजार में बच्चों के लिए कई तरह के पेटन्ट सादा (Savory and Moore's Allenbury's food, Coom food) मिलते हैं । काउंडिनर तेल के साथ मिलाकर व्ययकारक रोगों में माल्ट से बहुत दाम्भ होता है । यह में भी जी से सूक्ष्म, ज्वार, अपूर, मध्य, वाट्य, कुम्भार, ह्यादि विविध विकिञ्चितप्रयोगी पद्धार्य बनाये जाने मधुमेही के लिये जी प्रधान लाभ है और इसके सेवक मधुमेह में बहुत कायदा होता है, इसमें कोई सम्देह नहीं गोधूम उत्तो मधुरो गुरुव्य

वल्यः स्थिरः शुक्रस्त्रियमदश्च ।

विघ्नोऽतिशीतोऽनिलपित्तहन्ता

सन्धानहन्त् श्रेष्ठप्रकारः सरथ ॥४३॥

(गेहू—) गेहू मधुर, भारी, वल्कारक, स्वैर्यक युक्त और रवि उपक्ष करने वाला, अतिस्तिलवचा, अति गी वात और विश्वनाशक, (दृटी हड्डी की) जीहने वाला, कह और सारक है ॥४३॥

सूतः कणायो विषशौषप्राप्त-

वलास्त्रदृष्ट्यक्षयक्षिद्वाही ।

कटुविषपाके मधुरस्तु शिष्यः

प्रभिदेविषण्मारतपित्तलश्च ॥४४॥

गिरी (वर्ण के अन्य साधारणतया) सूत, कणाय, विषय, कफ और रवि उपक्ष करने वाला ज्वर करने वाले, विश्वाद्यन विपाक में कटु, मधुर, मल वा भेद करने वाले और वात तथा विष उपक्ष करने वाले हैं ॥४४॥

मित्रतिता, पूतकरजनयर्णा

भयन्ति ये उन्नेदपिधास्तु दिष्या ।

यथोदितितास्ते युएतः प्रधाना

यथोः कटुव्या रसपाकयोद्य ॥४५॥
मधुर, काल, पौर्ण और लाल ऐसे अनेक प्रकार के ३ विष होते हैं वे तिल कम से यथोन किये हैं उन्ही कम से शुरू में भेट होते हैं (पथा अन्त सर्वप्राप्तान, काल उससे मधुमेह पौर्ण काल गो भयग्रुह और लाल पौर्ण में भी अलगून और रस तथा विराक में कटु तथा उप्य होते हैं ॥४५॥

सहाद्रयं मूलकजाश्च शिष्वा:
कुशिस्तिवचल्लीप्रभवास्तु शिष्म्नाः ।

ज्ञेया विपाके मधुरा रसे च

बलप्रदाः पित्तनिवर्हणाश्च ॥४६॥

इत्पर्णी, मापणी (सहाद्रयं), मूली और आमगुसा त्री से उत्पन्न हुए शिष्म्नी रस और विपाक में मधुर, बल और पित्तनाशक हैं ॥४६॥

विदाहवन्तश्च भृशं विरुद्धा

विष्ट्रभ्य जीर्यन्त्यनिलप्रदाश्च ।

रुचिप्रदाश्चैव सुदुर्जराश्च

सर्वे स्मृता वैदलिकास्तु शिष्म्नाः ॥४७॥
(मुहूर्दि वैदल धान्यों की आर्द्ध) जिस्मी अतिशय विदाह न करती है, शरीर को रुच करती है, पचन के समय पेट डुगड़ शब्द करती है, वात को चढ़ाती है, रुचिकर है और इसे कठिन होती है ॥४७॥

कटुविपाके कटुकः कफझो

विदाहिभावादहितः कुखुम्भः ।

उषणाऽतसी स्वादुरसाऽनिलभी

पित्तोलवणा स्यात् कटुका विपाके ॥४८॥

कुखुब्र (करड़) का बीज रस और विपाक में कटु, कफ़-प्रक, विदाह उत्पन्न करने के कारण अहितकर होता है । ऐसी उणा, रस में मधुर, वातनाशक, पित्तकर और विपाक कटु होती है ॥४८॥

पाके रसे चापि कटुः प्रदिष्टः

सिंद्रार्थकः शोणितपित्तकोषी ।

तीक्ष्णोणारुद्धः कफमारुतम्-

स्थागुरुणाश्चसितसर्पषोऽपि ॥४९॥

थेत सर्पष रस और विपाक में कटु, रक्तपित्तकारक, इण, उणा, रुक्षधात और कफ के नाशक हैं । रक्त सर्पष या कृष्ण सर्पष) भी गुण में ऐसे ही होते हैं ॥४९॥

नर्नार्तवं व्याधिहतमपर्यगतमेव च ।

पभूमिजं नवं चापि न धान्यं गुणवत् स्मृतम् ॥५०॥

यं धान्यमभिष्यन्दि लघु संवत्सरेषितम् ।

वेदाहि गुरु विष्ट्रम्भ विरुद्धं दृष्टिदूषणम् ॥५१॥

जिस धान्य का जो क्रतु स्वाभाविक होता है उसको छोड़कर पन्थ वृत्त में उत्पन्न हुए, विविध लोगों से दूषित, अपरिषिक हुए, अप्रगत्यस्त भूमि में उत्पन्न हुए तथा नये (शालि से लेकर पर्णप तक सर्व) धान्य गुणकारक नहीं होते हैं ॥५०॥ नवीन धान्य अभिष्यन्दि (शरीर में भारीपन उत्पन्न करने वाले) होते हैं और प्रक वर्षे के पुराने हलके होते हैं । विरुद्ध धान्य विदाहजनक, भारी, उदर में विष्ट्रम्भजनक और दृष्टि की सरावी करने वाला होता है ॥५१॥

वस्त्रव्य—नव—प्रक वर्षे तक धान्य नया कहलाता है ।

एक वर्षे से दो वर्षे तक पुराना होता है । उसके पश्चात् उसका वीर्य धीरे धीर घटता है—वर्षोंपिंतं सर्वधान्य गौरवं परिसुत्ति । न तु त्यजित वीर्य सं क्रमानुग्रहतयः परम ॥ (भावप्रकाश) । परन्तु यत्र गोधूमादि अपवाद हैं । इनका उपयोग नवावस्था में करना ही स्वास्थ्यप्रद है । ऐसे यत्रगोधूमतिलमापा नवा हितः । पुराणा विरसा स्त्रा न तथा गुणकारिणः ॥ (भावप्रकाश) । यंगाल और युक्त प्रान्त में अत्यन्त पुराने चावल सेवन करने की जो प्रथा है वह स्वास्थ्यनाशक और आयुर्वेदविरोधी है और इसी के कारण वेरी वेरी नामक रोग उत्पन्न होता है । विस्तु—ठंडक और सील जहाँ होती हैं ऐसे स्थान में अधिक काल तक रखने से अंकुरित हुए धान्य । जो अनाज खाने के लिये पानी में छोड़कर अंकुरित (Sprouted or Germinating) किये जाते हैं उनमें उपर्युक्त दोष नहीं ही सकते हैं । क्योंकि ऐसे अंकुरित धान्य खाने का रिवाज अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवर्ष में है । आधुनिक वैज्ञानिक खोज से अब यह सिद्ध हुआ है कि प्रत्येक धान्य में अपने स्वाभाविक पौष्टिक गुणों के अतिरिक्त अंकुरित होने पर कुछ जीवनीय द्रव्य, विशेष करके वी. सी. इं (Vitamines B. C. E), उत्पन्न होते हैं जो शरीरस्थास्य के लिये बहुत आवश्यक तथा हितकर हैं । इन जीवनीय द्रव्यों का विशेष विवरण आगे लेकर ५२४ की टीका में किया जायगा ।

शाल्यादेः सर्पपान्तस्य विविधस्यास्य भागशः ।

कालप्रमाणसंस्कारमात्राः संपरिकीर्तिः ॥५२॥

(इस प्रकार) शालि से लेकर सरसों तक अनेक प्रकार के धान्य का काल, प्रमाण, संस्कार और मात्रा अंशतः (अल्प प्रमाण में) वर्णन की गई है (आगे कृतान्न वर्ग में अधिक वर्णन किया जायगा) ॥५२॥

वक्तव्य—मुश्तुतसंहिता में धान्य के कई वर्ग किये हैं । भावप्रकाश में भी धान्य के पांच वर्ग किये हैं—शालिधान्य-वीहिधान्य शूक्रधान्य तृतीयकम् । शिष्मीधान्यं क्षुद्रधान्यगित्युत्तं धान्य पचकम् ॥ चरक और वापभट में धान्य के केवल दो ही वर्ग किये हैं—१ शूक्रधान्य (Cereals), और २ शिष्मीधान्य या वैदल (Pulses) । आधुनिक शालि के अनुसार भी धान्य के ये ही दो वर्ग होते हैं । उपर्युक्त धान्यवर्गों में से कुछधान्य जंगली लोगों के अतिरिक्त दूसरे लोग खाने के काम में बहुत कम लाते हैं । शूक्रवर्ग—इस वर्ग के अन्त्र ग्रामीनीएसी (Graminaceae) नामक श्रेणि के बनस्पतियों का वीज है । मनुष्य जाति का प्रधान खाद्य केवल इस श्रेणि के धान्य से ही आता है । इसमें मुख्य चावल, गेहूँ, मकड़ी, जौ, बाजरा, ज्वार इत्यादि हैं । केवल चावल और गेहूँ संसार के $\frac{1}{4}$ लोगों का प्रधान खाद्य है । भारतवर्ष, चीन, जापान, बहादेश इत्यादि पौर्वात्य देशों में चावल का सेवन अधिक है । यूरोप में गेहूँ का सेवन अधिक होता है । इटली, अमेरिका में मकड़ी का सेवन बहुत होता है । इन द्रव्यों में कार्बोहायडेट (शक्तिदायक पदार्थ) की अधिकता होती है और प्रोटीन (धातुवर्धक पदार्थ) तथा चर्यों की कमी होती है । इनमें कुछ सनिज होती है ।

१६ वें स्तोक के वाक्यमें किया गया है। पौष्टिकता की दृष्टि से गेहूँ चावल से बहुत उत्तम है। प्रोटीन, चर्बी और स्विनिंज पदर्थ गेहूँ में चावल में घोड़ा प्रमाण में अधिक होते हैं। इसलिये गेहूँ भारी, बल्कारक, द्रिष्य, स्पिर और सप्ताह छूट होता है। गेहूँ के छिलके (चोकर) का रासायनिक संग्रहण देखने से यह मालूम होगा कि उसमें प्रोटीन और स्विनिंज अधिक परिमाण में होते हैं कि कारण उसको फैक देने से इस गेहूँ के पौष्टिक भाग में बचत हो जाते हैं। इसलिये आठा बहुत बारीक ब्लनी से छानना अच्छा नहीं। बिना छना (सालिम) आठा ही सप्त से अच्छा होता है। उसमें सेल्यूलोज (Cellulose) भी अधिक होता है जो मलबरोप नहीं होने देता। इसलिये गेहूँ 'सर' भी है। तिनिधन्यवदी—इस वर्ग के धान्य बनस्ततिगाढ़ी में लेग्युमिनोसी (Leguminosae) भेड़ियों के हैं। इनमें अन्य बनस्तति द्रव्यों की अपेक्षा प्रोटीन की राशि अधिक होती है। इसको लेग्युमिन (Legumin) कहते हैं। इस कारण से उनको 'तिनिधन्यों का मास' कहते हैं। परन्तु दाल का प्रोटीन मास के प्रोटीन की अपेक्षा पचने में भारी होता है। प्रोटीन वे अतिरिक्त इनमें पोटेयासिं अम, चूना, गधक हस्तादि स्विनिं भी होते हैं। बिनका मुख्य स्वाद चावल है, वे सोए चावल के प्रोटीन और जार की कमी की पूर्ति करने के लिये चावल के साथ दाल का सेवन किया करते हैं। दाल पचने में कठिन होती है और अध्यादान करती है। छिलके उसी हुई दाल छिलकेदार की अपेक्षा पचने में हल्की होती है। दाल में पूर्विन (Purin) नामक द्रव्य भी बहुत हाता है। इसलिये बातरक (Gout) के रोगी के लिये दाल का सेवन हानिकारक है। चिरुड क्षाय (खेसारी दाल) के सेवन से क्षायासज (Latibyr 1920), नामक एक प्रकार का ऊरस्तम होता है। इस दाल के सेवन में कुछ मतभिन्नता दिखाई दी है। नवीन सोज से यह मालूम हुआ है, आकटा (Vicia Sativa) नामक दाल के सेवन से यह रोग होता है।

एक और शिर्षीवर्ग के प्रधान धान्यों का
रासायनिक संग्रहण

नाम	प्रोटीन	स्वेद	वायोहेट्रेट	स्विनिं	जल
१ गेहूँ	१२ २४	२ १८	७० १२	२ २११११३	१ गेहूँ २ चोकर (गेहूँ की) ३ चावल ४ चम्प ५ मक्के
२ चोकर (गेहूँ की)	१६ ४	३ ५	४३ ६	६ ० १२५	
३ चावल	६ ८६	० ८	८० ८	१ २३११५	
४ चम्प	८ ९२	१ ९०	७६ १	२ ३ १२३	
५ मक्के	९ ५२	४ ४४	८८ ९	३ ४५११५	
६ दाल	८ ६२	२ ६१	५८ ५५	४ ५१० ५७	६ दाल ७ अरदह ८ मसूर ९ चना १० बड़द ११ मटर
७ अरदह	२० ६३	३ ३१	५० २७	५ ५ १०८	
८ मसूर	२५ ४३	३ ०	५५ ३	३ ३३ १० २३	
९ चना	१५ १४	४ ३१	५१ १२	३ ३३ १० ७	
१० बड़द	२२ ३३	१ १५	५५ २२	३ ०	
११ मटर	२१ ०	१ ८	६१ ४	२ ६ १३०	

अथोर्ध्वं मांसवर्गानुपदेव्याम् ।

तद्यथा—जलेश्या, आनूपा, ग्राम्या, कव्यभु पक्षशक्ता, जाङ्गलाद्येति 'रामांसवर्गा'। एते धर्माणामुत्तरोत्तर प्रधानतमाः। ते पुनर्द्विविधा जाङ्गला आनूपाद्येति। तत्र जाङ्गलवर्गोऽस्तविध तद्यथा—जाङ्गला, विकिरा, प्रतुदा, गुदाशया प्रसदा, पर्णमूगा, विलेश्या, ग्राम्याद्येति। ते जाङ्गलविधिकौ प्रधानतमौ॥५३॥

अब यहाँ से आग मासर्वम् वा वर्षण करते हैं। (उपर्युक्त) इस प्रकार से है—१ जलेश्य, २ आनूप, ३ ग्राम्य चम्पमुख, ४ एकाक, और ६ जाङ्गल ऐंगा छ प्रकार मासवर्ग हैं। (मास की दृष्टि से) ये वर्ग एक से एक वा होते हैं। किंतु वे (आश्रय के अनुमार) जाङ्गल और आनूप से दो प्रकार के होते हैं। इनमें से जाङ्गलवर्ग आठ प्रकार का होता है। जैसे—१ जंगल, २ विकिर, ३ प्रतुद, ४ गुदा शय, ५ प्रसदा, ६ पर्णमूग, ७ विलेश्या, आठ ८ ग्राम्य। इन चापाल और विकिर प्रधानवर्ग हैं॥५४॥

यत्कदम्य—मासवर्ग—मास के गुणानुरूप बनाये हु मासवर्गी। जलेश्य—जल में रहने वाले जीवों का वर्ग; यथा कोषरथ पारित्वं और भस्त्व। आनूप—जलप्रायप्रदेशवा प्राणी, यथा—कूल चर और पूर्व। चम्पमुख—भूसंभद्रकप्राणी यथा—गुहाशय और प्रसह। एकाक—एक त्वर के प्राणी यथा—घोडा गधा हल्यादिन ग्राम्य और एकाक दोनों समावेश जाङ्गलवर्ग के ग्राम्यमें दोनों में होता है। जंगल—प्राणी और बलवान् जागा होने के कारण तेजी से दौड़ने वाले प्राणी विकिर—वर्जों से कुरेकर खुगने वाले प्राणी। प्रतुद—नोऽ कुरेकर खुगने वाले पक्षी। प्रसह—अपना भृत्य जबरदस्तीं पकड़कर खाने वाले प्राणी। पर्णमूग—ग्राम्याशया, वृक्षों पर होने वाले बानर सर्वा प्राणी। विलेश्या इनमें इन वर्गों के निहिति की है—प्रमाण भृत्यनीनि प्रसहालेन मविना। भूरप विलविमितानानूपानूपानृतवात्॥१८॥ जले निवासा जलज, जलेवर्ग व्यक्तेभावा। रस्तजांगान्वान्वी प्रोत्सा, भूगा जंगलनाशिति। विकिराश्विनि, प्रतुद प्रसुदा सूता॥२०॥१॥ सुधा के अनुसार जाङ्गल और आनूप भिन्नकर मास के तेरह प्रका होते हैं परन्तु चरक और वाम्भट के अनुमार के बल आठ वा हैं और इनके नाम में भी कुछ कर्क होता है। तथापि सुधा के अव्योदय वर्ग इन आठवर्गों के अन्तर्भूत हैं, यह नीचे तालिक देखने से स्पष्ट होगा।

चरक	सुधुत	वाम्भट
१ जंगलमूगा	१ जंगल	१ गूगा
२ विकिर	२ विकिर	२ विकिर
३ प्रतुद	३ प्रतुद	३ प्रतुद
४ भृत्यमाप	४ विलेश्य	४ विलेश्य
५ प्रसह	५ प्रसह	५ प्रसह
	६ गुहाशय	६ गुहाशय
	७ पर्णमूग	७ पर्णमूग
	८ ग्राम्य	८ ग्राम्य

आनुपमृगः	६ कूलचराः	६ महामृगः	आनुप
जलचराः	१० पूवाः	७ अपचराः	
रिशया	११ कोशस्थाः	८ मत्स्याः	वर्ग
	१२ पादिनः	९ मत्स्याः	
भृत्याः	१३ मत्स्याः		
	१ नदियाः		
	२ सामुद्राः		

तावेणहरिणर्क्षकुरङ्गकरालकृतमालशरभश्वदंग्रातचारुष्करमृगमातृकाप्रभृतयो जङ्घाला मृगाः ॥या मधुरा लघवो वातपित्तहरास्तीक्षणा हृद्यात्तशोधनाश्च ॥५४॥

(जंघाल वर्ग—) एण (काला हिरण्य), हरिण (ताम्रण), ऋण (नीले औंडे वाला रोहू मृग), कुरंग (चतुर्चौकिया मृग), कराल (जिसके दाँत नीचे को निकले ऐसा हिमालयादि पर्वतस्थ कस्तूरी मृग), कृतमाल (संघाती मृग), शरभ (अद्यापद उट्ट्रप्रमाणो महाशृंगः पृष्ठगतन्तुष्ठादः शीर प्रसिद्धः), श्वरंटा (चार दाँत का एक मृग भेद), त (जिसके शरीर पर चित्र विचित्र बिंदु होते हैं ग चित्तल मृग), चारुकर (सुन्दर और छोटे शरीर का मृग), मृगमातृका (छोटी और बड़े पेट वाली हिरणी) आदि जंघालवर्ग के मृग हैं । ये (अर्थात् इनका मांस) पाय, मधुर, हल्का, वातपित्तनाशक, तीक्ष्ण, मन को उत्तीता देने वाले और मूत्रविरेचक होते हैं ॥५४॥

कथायो मधुरो हृद्यः पित्तास्तुक्फरोगहा ।

संग्राही रोचनो वल्यस्तेषामेणो ज्वरापहः ॥५५॥

इनमें एण (का मांस) कथाय, मधुर, हृद्य, पित्त, कफ और रक्त रोगनाशक, ग्राही, रोचक, बलकारक और ज्वराशक है ॥५५॥

मधुरो मधुरः पाके दोषोऽनलदीपनः ।

शीतलो चद्विष्मूत्रः सुगन्धिर्हरिणो लघुः ॥५६॥

ताम्र हरिण (का मांस) मधुर, विपाक में मधुर, दोषनाशक, अभिदीपक, शीतल, मलमूत्रावरोधक, सुगंधि और हल्का होता है ॥५६॥

एणः कृष्णस्तयोर्हेयो हरिणस्ताम्र उच्यते ।

यो न कृष्णो न ताम्रश्च कुरङ्गः सोऽभिधीयते ॥५७॥

इनमें से कृष्णवर्ण मृग 'एण' समझना चाहिये, ताम्रवर्ण 'हरिण' कहलाता है और जो ताम्रवर्ण या कृष्णवर्ण नहीं वह 'कुरंग' कहलाता है ॥५७॥

शीताऽस्तुक्पित्तशमनी विक्षेया मृगमातृका ।

सन्निपातक्षयश्वासकासहिक्काऽरुचिप्रस्तुत् ॥५८॥

मृगमातृका (का मांस) शीतल, रक्तपित्त, सन्निपात, नय, श्वास, कास, हिक्का और अरोचक नाशक समझना चाहिये ॥५८॥

लावतित्तिरिक्पित्तलबर्तीरवर्तिकावर्तकनप्तुका

पार्तीकचकोरकलविङ्गमधुरकरोपचककुकुटसारङ्ग

शतपत्रकुतित्तिरिक्पुरुषवाहकयवालकप्रभृतयस्त्याहला विष्किरा: ॥५९॥

लघवः शीतमधुराः कपाया दोषनाशनाः ॥६०॥

(विष्किर वर्ग—) लाव, तित्तिर (काला तीतर), कपिंजल (गोरा तीतर), वर्तीर (घरधरा), वर्तिक, वर्तक, नसूक, वार्तीक, चकोर, कलविङ्ग, मयूर, ककर, उपचक, कुकुट (मुरगा), सारङ्ग (पपहिया), शतपत्र, कुतित्तिर, कुरुत्वाहक यवालक इत्यादि (दोनों पंजे और तीसरी चंचु इन) तीनों से कुरेदने वाले (त्र्याहल) विष्किरवर्ग के हैं ॥५९॥ ये विष्किर (वर्ग के प्राणी) हल्के, शीतल, मधुर, कपाय और दोषनाशक होते हैं ॥६०॥

संग्राही दीपनश्चैव कथायमधुरो लघुः ।

लावः कद्मविपाकश्च सन्निपाते च पूजितः ॥६१॥

लाव पक्षी संग्राही, अभिदीपक, कथाय, मधुर, हल्का, विपाक में कद्म और सन्निपात में प्रशस्त होता है ॥६१॥

ईष्टुरुष्णमधुरो वृष्ट्यो मेधाग्निवर्धनः ।

तित्तिरः सर्वदोपम्भो ग्राही वर्णप्रसादनः ॥६२॥

हिक्काश्वासानिलहरो विशेषान्नोरतित्तिरः ।

रक्तपित्तहरः शीतो लघुश्चापि कपिञ्जलः ।

कफोत्थेषु च रोगेषु मन्दवाते च शस्यते ॥६३॥

काला तित्तिर किंचित् भारी, उष्ण, मधुर, वृष्ट्य, मेधावर्धक, अभिवर्धक, सर्वदोपनाशक, ग्राही और वर्ण प्रसादन होता है ॥६२॥ गोरा तित्तिर विशेष करके हिक्की, श्वास और वात रोग का हरण करने वाला है । कपिंजल रक्तपित्तनाशक, शीतल, हल्का होता है और कफ रोग तथा मन्दवात में प्रशस्त है ॥६३॥

वातपित्तहरा वृष्ट्या मेधाग्निवर्धनाः ।

लघवः ककरा हृद्यस्तथा चैवोपचककाः ॥६४॥

ककर पक्षी वातपित्तनाशक, वृष्ट्य, मेधा, अभि और वल को बढ़ाने वाले, हल्के तथा हृद्य होते हैं । उपचक (गुण में) वैसे ही हैं ॥६४॥

कथायः स्वादुलवणस्त्वच्यः कैव्योऽरुचौ द्वितः ।

मधुरः स्वरमेधाग्निहक्शेत्रेन्द्रियदार्ढ्यकृत् ॥६५॥

मोर कथाय, मधुर और लवण है, त्वचा, केश और अरोचक के लिये हितकर है, स्वर, बुद्धि, जठराम्बि, नेत्र और कर्ण हृनको दृढ़ा देने वाला है ॥६५॥

क्षिरधोष्णोऽनिलहा वृष्ट्यः स्वेदस्वरवलावहः ।

वृण्णः कुकुटो वन्यस्तद्वाम्यो गुरुस्तु सः ।

वातरोगक्षयवर्मीविषमञ्चरनाशनः ॥६६॥

वन का मुरगा स्तिर्ग, उष्ण, वातनाशक, वृष्ट्य, स्वेदल, स्वर और वल बढ़ाने वाला तथा शरीरपुष्टिकर होता है । गांव का मुरगा वनकुकुट की भाँति ही होता है; परन्तु वह भारी और चातरोग, ज्यय, चमन तथा विषम ज्वर का नाश करता है ॥६६॥

१६ वें स्त्रोक के वक्तव्य में किया गया है। पांचिकना की दटि से गेहूँ चावल से बहुत उत्तम है। प्रोटीन, वर्षीय और खनिज-पदार्थ गेहूँ में चावल से हवेदा प्रभाव में अधिक होते हैं। इसलिये गेहूँ भारी, बलकारक, द्रिघ, स्थिर और संधान-कृत होता है। गेहूँ के छिलके (चोकर) का रासायनिक सामान देखने से यह मालूम होगा कि उसमें प्रोटीन और खनिज अधिक परिमाण में होते के कारण उसको फैक देने से हम गेहूँ के पांचिक भाग में वैचित्र हो जाते हैं। इसलिये आठा बहुत धारीक चलनी से छानता अच्छा नहीं। विना छना (सालिम) आठा ही सब से अच्छा होता है। उसमें सेल्युलोज (Cellulose) भी अधिक होता है जो मलावरोध नहीं होने देता। इसलिये गेहूँ 'सर' भी है। शिविधानवर्ग— इस वर्ग के धान्य बनस्पतिगाँधी में लेग्युमिनोसी (Leguminosae) श्रेणि के हैं। इनमें धन्य बनस्पति द्रव्यों की अपेक्षा प्रोटीन की रायि अधिक होती है। इसको लेग्युमिन (Legumin) कहते हैं। इस कारण में उनको 'निर्धनों का मास' कहते हैं। परन्तु दाल का प्रोटीन मांस के प्रोटीन की अपेक्षा पचने में भारी होता है। प्रोटीन के अतिरिक्त इनमें पोटाश-अम, चूना, गोष्ठ इत्यादि खनिज भी होते हैं। जिनका मुख्य खाद्य चावल है, वे सोग चावल के प्रोटीन और जार की कमी की पूर्ति करने के लिये चावल के साथ दाल का सेवन किया करते हैं। दाल पचने में कठिन होती है और आधारान करती है। छिलक उत्तरी हुई दाल छिलकेश्वर की अपेक्षा पचने में हल्की होती है। दाल में प्यूरिन (Purin) नामक द्रव्य भी बहुत होता है। इसलिये बातरक (Gout) के होरी के लिये दाल का सेवन हानिकारक है। चिउट कलाप (सेसारी दाल) के सेवन से कानायसन (Lathyrus sativus) नामक एक प्रकार का अस्त्रसंभंह होता है। इस दाल के संबंध में कुछ मतभिज्ञता दिखाई देती है। नवीन खोब से यह मालूम हुआ है, आकटा (Vicia Sativa) नामक दाल के सेवन से यह रोग होता है।

शुक्र और शिव्यीर्ग के प्रधान धान्यों का रासायनिक संगठन

नाम	श्रीराम	स्नेह	कर्मकोहिंडे	सतित्र	जन
१ गोहृ	१२२४३	२०९६	५०७२	२०७११८५	
२ घोड़ा (गोहृ की)	१५४४	३८५	४३६	६०१२३	
३ चावल	६८६	०८	५८८	१२३	११५
४ यव	८९२	१९०	५९१	२३	१२३
५ मक्के	१५२	४४४४	६८७	३७५	११५
१ गुणा	२३२२	२०९९	५४४५	२५५१०५०	
२ अदाहर	१५५६०	३२३१	५०२७	५५	१०८
३ मसूर	२५५५०	१०	५५२५	३२३१०२३	
४ चाना	१९१५५	५२१	५१११३	३०३१०१७	
५ उड़ान	२२२३३	१५५	५५५२२	३०	
६ मटर	२११०	१८	११४	२६	१३०

अथोध्यं मांसवर्गानुपदेश्यामः ।

तद्यथा—जलेशया, आनूपा, प्राम्याः, कवचमुक्
एकश्चका, जाह्नवाधेति रेमासंवर्गमः । एतेषां
वर्गणांसुत्तरोत्तरं प्रधानतमाः । ते पुनर्द्विविधा—
जाह्नवा आनूपाधेति । तत्र जाह्नवर्गं प्रश्नविधः
तद्यथा—जह्नाला, विप्किरा:, प्रतुदा, गुहाशया,
प्रसद्वाः, पर्णमुगा, विलेशया, प्राम्याधेति । तेषां
जह्नालविधिकरी प्रधानतमाः ॥५३॥

अथ यहाँ से आगे मासवर्ग का वर्णन करते हैं। ५
 (उपरेत्र) इस प्रकार से है— १ जलेश्वर, २ अनन्त, ३ ग्राम्य
 काम्यसुर, ४ पूर्णीक, और ६ जंघाल एवं छा छा प्रकार;
 मासवर्ग हैं। (मास की दृष्टि से) ये कर्ता एक से एक दृढ़
 होते हैं। किंतु ये (आश्रय के अनुसार) जंघाल और आदौ
 रसें दो प्रकार के होते हैं। इनमें से जंघालवर्गी आठ प्रका-
 रा होता है। जैसे— १ जंघाल, २ विक्रिक, ३ प्रतुर, ४ गुहा-
 याग, ५ प्रसाद, ६ पण्डित, ७ विनेश्वर, और ८ ग्राम्य। इन्हें
 जंघाल और विक्रिक प्रधानवर्ग हैं। ॥५३॥

चरक	सुश्रूत	यामद्वा	
जायग्रन्थम्	१ जायाल	१ यूगा	जायग्रन्थ वर्ण
विभिर	२ विभिर	२ विभिर	
प्रतुर	३ प्रतुर	३ प्रतुर	
भूमिहय	४ विभेशय	४ विभेशय	सामरस्य वर्ण
	५ प्रसद		
	६ युहाशय		
	७ एलेषुर		
प्रसद	८ यात्र	९ प्रसद	

धक्कर्य—आज कल अपेक्षे सेवन का प्रचार यहुन वढ़ मया है। प्राय सुरी के अपेक्षे का प्रचार अधिक है, परन्तु कहीं कहीं भिन्न वत्तकों के तथा समुद्रपश्चिमी के अपेक्षे भी सेवन किये जाते हैं। दूध के अतिरिक्त साथ द्रव्यों में अपेक्षे के समान पौष्टिक दूसरा द्रव्य नहीं है। कार्बोहाइड्रेट की ओटकर अपेक्षे में आहार के सर्वे उपादान पाये जाते हैं। अपेक्षे में ग्रीटीन, चर्ची और वालासिन ग्रम, फारफारम, लोह, पौष्टिक प्रभाव इत्यादि रसनिंज यहुन परिमाण में होते हैं, और ऐसे रूप में रहते हैं कि उनका पाचन और शोणग अस्यत सहज में होता है। यह पाच गदा है कि उनके १५ प्रतिशत भाग का शोणग होता है। पौष्टिकता कि इसे से सुरी का एक अण्डा आप पाव दूध के बराबर होता है। एवनसुखभ होने के कारण इससे शीघ्र सूक्ष्म उत्पत्त होती है। इससे थूरिक ग्रम (Ure Acid) उत्पन्न न होने के कारण वातरक के (Gout) संविधों के लिए यह कायदा करता है। यदि उत्तम अपेक्षे का सेवन किया जाय तो मांस घर्ण के सब खाद्य द्रव्यों में अण्डा सब से अधिक सुरक्षित समझना चाहिये। वर्णकि मनुष्यों पर सकामित होने वाला सुरी का कोई भी रोग नहीं है, तर रोगों के जीवाणुओं को अण्डा कैलाना है साथा न उसमें कोई स्वास्थ्यहनिकारक गुण पाये जाते हैं। सज्जों में अभी तक कोई सकामित रोग का पता नहीं चला है जो अपेक्षे के सेवन से मनुष्यों में सकामित होता है। चरकसंदित्ता में अण्डों के शुण्ठर्यमें हम प्रकार दर्जन किये हैं—भारतांचलूरोगाण दक्षाणा चिनिनामरि। चलकना च यानि स्वरुपानि च दिनानि च ॥ रेत-शीणुपु कासु इटेनु शेनु च । मधुराण्यविग्रहीनि सदोवलहरणि च ॥ (सूत अ २०) ।

कपोतपारावतभृहाराजपरभृतकोप्यष्टिकुलिङ्ग-गृहकुलिङ्गोद्वेष्टकिडिइडमेणवकशतपत्रकमाट-निन्दकमेदाशिशुकसारिकावल्लुलीगिरिदालद्वापादूप-कसुगृहीयज्ञरीटहारीतदात्यूहप्रभृतय-प्रतुदाः ॥६७॥

(प्रतुदाः—) कपोत, पारावत (कृत्तर के दो भेद), भृहाराज, परभृत (कैकिला), कोप्यष्टिक (टिहिरी या कोच पश्ची), कुलिङ्ग (रात चीड़ा), गृहकुलिङ्ग (गांव चिह्निया), गोद्वेष्टक (गोनडे पश्ची), विनिदिमाणवक, शतपत्रक (राज-शुक), मानवनिन्दक, भेदामी, शुक (तीता) सारिका (मैना), वल्लूली, गिरिशा, लट्टा, अब्रदूपक, सुरुही, लंग-रीठ (खजन), हारीत, दात्यूह प्रभृति प्रतुदर्क्ष वे हैं ॥६७॥

कपायमधुरा रुद्धा: फलादारा मरुत्करा ।

पित्तस्तेप्यमहारा: शीता दद्धमूपादपर्वतः ॥६८॥

(ये प्रतुदाः के पश्ची सामान्यतया) कपाय, मधुर, दद्ध, फलों का आहार करने वाले, दानकर, रिति और स्नेह नाशक, शीतल, गृह वे यदि करने वाले और अल्पमात्र दमन करने वाले हैं ॥६८॥

सर्वदोषकरस्तेप्यां भेदामी मलदूपकः ।

कपायस्यदुलेयणो गुणः काणकपोतः ॥६९॥

ऐत्पित्तस्प्रशमनः कपायविशदोऽपि च ।

विषाक्ते मधुरस्थापि गुरुः पारावतः स्मृतः ॥६०॥

कुलिङ्गो मधुरः छिन्धः कापाणुकविवर्धनः ।

तेत्पित्तहरो वेदमकुलिङ्गस्वतित्तुकलः ॥७१॥

इनमें में भेदामी पश्ची (बातादि) द्वारा उत्तक और मल वा दूधक है। कपोत पश्ची कपाय, मधुर, लकड़ा और भृह भृहारा है। पारावत पश्ची रक्षविरा ग्रात करने वाला, कर विशेष, विषाक्त में मधुर और भारी है ॥७०॥। कुलिंग मधुर विषेष, इककर, द्रुकवर्धन और रक्षवित्तनाशक है। गृहकुल अथव वीर्य उत्पन्न करने वाला है ॥७१॥।

मिद्यवाद्यवृक्तनरक्तवृक्षार्द्धपिमार्जनरुद्गालमृतं वीहकप्रभृतयो गुहाशयाः ॥७२॥

(गुहालवर्त्त—) विह, व्याघ्र, वृक्ष (मेदिला), तत् (मृदग्युमुख्यविशेष), भृत्र (रीठ), द्वीपि (चीता) मानोर (रानचिलाव), शगाल (गीद), सुग्रीवार प्रस्तुति गुहाशय (पर्वत की गुहा में रहने वाले) वे हैं ॥७२॥।

मधुरा गुरुवः छिन्धा वल्या माद्यतनाशनाः ।

उच्चवीर्यां हिता नित्यं नेत्रगृहाशविकारित्याम् ॥७३॥

(ये गुहाशयवर्य के प्राणी सामान्यतया) मधुर, गुरु विषेष, बल्कारक, घातनायक, उल्लंबीय और नेत्र के तथ गुह्येनिद्र्य के विकारों से पीड़ितों के लिये हितकर हैं ॥७३॥।

काककङ्कुररचारमासशराशयाग्युलक्ष्मितिरेन-नपृधप्रभृतयः प्रसद्धाः ॥७४॥

परे सिंहादिभिः सर्वे समाना वायसादयः ।

संवीर्यविषाकेतु विशेषवृद्धोपिषेद्विताः ॥७५॥

(प्रसहवर्ग—) काक (काग), कुदु, कुरा, चाप, भासि, गशधानी, उद्धक (उद्धू), चिली (चील), इंजन (बाज), गृष्म (गीव) प्रभृति प्रसद (गिकारी पश्ची) हैं ॥७५॥। ये काकादि (प्रसहवर्ग के पश्ची) रस, वीर्य और विषाक्त में सिंहादि के समान होते हैं और राजवद्धमा विकार वाली को विशेष करके हितकर हैं ॥७५॥।

महमूर्यिकवृक्षशायिकावकुशपूतिद्यासवानप्रभ-तयः पर्णसूर्गाः ॥७६॥

मधुरा गुरुवो वृथ्याश्कृत्याः शोपिणे हिता ।

ख्यष्टमूर्यपुरीपाद्य कासारीः व्यासनाशनाः ॥७७॥

(पर्णसूर्गवर्ग—) महमूर्यिक (एक प्रकार का वृक्ष), श्वीरी सर्प, वृक्षाशयिका (गिलहरी), अवकुश (वातर का एक प्रकार), पृतिवास (वृक्षविलाव), वातर प्रभृति पर्ण सूर्गवर्ग के हैं ॥७६॥। (ये पर्णसूर्गवर्ग के प्राणी सामान्यतया) मधुर, भारी, वृक्ष, नेत्रों को हितकर, राजवद्धमा के लिये हितकर, मल और भूत को तुलकर निकालने वाले, शास्ती, अर्ण और खास इनके नामक हैं ॥७६॥।

व्याधिच्छुद्धकगोधारश्यावृष्ट्यशुलोपाक्लोमग-।

गमियकाजगरसर्पमूषिकनकुलमहावभु-
तेशयाः ॥७८॥

१ संहतं कुर्युरेते
२ चौप्लाः पूर्ववत् स्वादुपाकाः ।
३ गुः श्लेष्मपित्ते च कुर्युः

क्षेत्रधाः कासश्वासकाश्यपित्तद्वय ॥७९॥
वर्ण— श्वावित् (सेही), गल्यक, गोधा । (खरगोश), वृपदंग (राम का लिलाव), तीमडी), लोमगर्कण्ठ, कदली, मृगप्रियक शजगर, सर्प, मूषिक (चूहे), नकुल (नेवला), हुलमेड) प्रभृति विसेशगर्वी के हैं ॥७८॥ ये ने बाले जीव साधारणतया) मलमूत्रसंप्राप्तक, मृग की भाँति (पूर्ववत्) विपाक में मधुर, पेत्रकफकर, लिंगद, कास, श्वास और कृदयता को हैं ॥७९॥

उरस्तेपां शाशः पित्तकफापहः ।
तलवीर्यत्वाद्वातसाधारणो मतः ॥८०॥
पाके मधुरा कथायकहुका स्मृता ।
प्रश्नमनी वृंहरी चलवर्धनी ॥८१॥
स्वादुपित्तझो लघुः शीतो विपापहः ।
मारुते पथ्योऽजगरस्त्वर्शसां हितः ॥८२॥
नेलजोपझाः कृमिदूषीविपापहः ।
१ मधुराः पाके सर्पी मेधाग्निवर्धनाः ॥८३॥
१ दीपकाश्चं तेपूक्ताः कटुपाकिनः ।
व्रतिचक्षुप्याः सुप्रविष्ट्मूत्रमारुताः ॥८४॥
खरसोद का भास) कपाय, मधुर और पित्तकफ-
त्ता वीर्य में अतिशीतल न होने से न चात का
ता है, न प्रश्नम करता है ॥८०॥ गोधा (गोह का
वेपाक में मधुर, (रस में) कपाय और कटु,
पासक, शरीरपुष्टिकर और बल बढ़ाने वाली है
यक मधुर, पित्तनाशक, हलका, शीतल और विप-
। प्रियक वात दोगों के लिये पथ्यकर है । अजगर
लिये हितकर है ॥८२॥ सांप अशी, वातदोप,
दूषी विष इनका नाशक, नेत्र के लिये हितकर,
मधुर और दुष्कृति तथा जठराग्निवर्धक हैं ॥८३॥
२ दर्पकर (फण वाले सांप) और राजिमन्त
विपाक में कटु, मधुर, नेत्र के लिये विशेष हितकर
मृग खुल के निकालने वाले हैं ॥८४॥
३ वायव्यतरगोखरोप्रवस्तोरभ्रमेदः पुच्छकप्रभृत-
प्रियाः ॥८५॥

१ वातहराः सर्वे वृंहणाः कफपित्तलाः ।
२ रसपाकाभ्यां दीपना चलवर्धनाः ॥८६॥
३ वर्ण— अश्व (घोड़ा), अश्वतर (खदर,
गधा इनसे उत्पन्न हुआ), गो (गाय), खर

(गधा), उष्टु (ऊंट), ब्रह्म (बकरा), उरभ्र (मैंदा),
मेदःपुच्छ (दुम्बा या पृष्ठक) प्रभृति ग्राम्यवर्ग के हैं ॥८५॥
ये सर्व (ग्राम्यवर्ग के प्राणी साधारणतया) वातनाशक,
शरीरपुष्टिकर, कफपित्तकारक, रस और विपाक में मधुर,
गमिनीपक और बल बढ़ाने वाले हैं ॥८६॥

नातिशीतो गुरुः लिंगधो मन्दपित्तकफः स्मृतः ।
छगलस्त्वनभिष्यन्दी तेपां पीनसनाशनः ॥८७॥
वृंहरीं मांससौरभ्रं पित्तन्तेपावर्हं गुरु ।
मेदःपुच्छोद्धर्वं वृप्यमौरभ्रसद्वशं गुरुः ॥८८॥
श्वासकासप्रतिश्वयविषमज्वरनाशनम् ।
श्रमात्यन्तिहितं गच्यं घवित्रमनिलापहम् ॥८९॥
औरभ्रवत्सलवर्णं मांसमेकशफोद्धवम् ।

इन ग्राम्य पशुओं में से वर्की (का भास) अति शीतल नहीं है, भारी, लिंग, अल्पपित्तकफोत्पादक, अनभिष्यन्दी और पीनसनाशक है ॥८७॥ मेंदे का मांस शरीरपुष्टिकर, पित्तकफोत्पादक और भारी है । पुड़के का मांस वृप्य और मेंदे के समान गुण वाला है ॥८८॥ गौं का मांस श्वास, खर्सी, छुकाम, विपाम जब इनका नाशक, थके मांदे अवस्था में और भस्मक रोग में हितकर, पवित्र और वायुनाशक है ॥८९॥ एक खुर वाले प्राणियों का मांस मेंदे के मांस के समान गुणकारी और नमकीन है ।

अल्पाभिष्यन्द्ययं वर्गो जाङ्गलः समुदाहृतः ॥९०॥
दूरे जनान्तनिलया दूरे पानीयगोचराः ।
ये मृगाश्च विहङ्गाश्च तेऽल्पाभिष्यन्दिनो मताः ॥९१॥
अतीवासननिलयाः समीपोदक्षगोचराः ।
ये मृगाश्च विहङ्गाश्च महाभिष्यन्दिनस्तु ते ॥९२॥

यह जांगल जीवों का वर्ग अल्पाभिष्यन्दी होता है ॥९०॥
जो मृग, पक्षी (तथा जांगल वर्ग के अन्य जीव) मनुष्यों की
वस्ती से तथा जल से दूर निवास करते हैं वे अल्प अभिष्यन्द
उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥९१॥ और जो मृग और पक्षी मनुष्य
वस्ती के तथा जल के अव्यन्त समीप निवास करते हैं वे
अत्यन्त अभिष्यन्द उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥९२॥

आनूपवर्गस्तु पञ्चविधिः । तद्यथा—कूलचराः,
मृगाः, कोपस्थाः, पादिनो, मत्स्याश्वेति ॥९३॥

आनूप (जल युक्त प्रदेश में रहने वाले जीवों का) वर्ग
पांच प्रकार का है । जैसे—१ कूलचर (जल किनारे पर विचरने
वाले), २ मृग (पानी पर तैरने वाले जीव), ३ कोशस्थ
(शंख, सीपी हत्यादि कोग में रहने वाले जीव), ४ पादिन
(पैरों वाले जीव यथा मैडक), ५ और मत्स्य ॥९३॥

तत्र गजगचयमहिपुरुषवयरस्तुमररोहितैवराह-
खङ्गिगोकरणकालपुच्छकोद्धरन्यज्वलररयगवयप्रभृतयः
कूलचराः पशवः ॥९४॥

वातपित्तहरा वृप्या मधुरा रसपाक्योः ।
शीतला वलिनः लिंगधा मूत्रलाः कफवर्धलाः ॥९५॥

धन्तवय—आज कल अर्दे के सेवन, वा प्रचार बहुत वढ़ मगा है। प्राय- मुरी के अण्डे का प्रचार अधिक है; परन्तु वहाँ कहीं भित्ति निष्ठ बचताँ के तथा समुद्रपत्नियों के कार्यालय दूर्धर्मी कार्यालयदेश

विजय जाते हैं।

अण्डे में ग्रीटीन, चरबी और क्याल्यमिन्स, फास्टरस, लोह, पीलासिंथम इत्यादि खनिज बहुत परिमाण में होते हैं, और ऐसे रूप में रहते हैं कि उनका पाचन और शोषण अन्येन सहज में होता है। यह पाया गया है कि उनके १५ प्रतिशत भाग का शोषण होता है। पौष्टिकता कि इसे से मुरी का एक अण्डा आधा पाच दूध के बराबर होता है। पचनसुलभ होने के कारण इससे शीघ्र सूखन उत्पन्न होती है। इससे यूरिक अम्ल (Uric Acid) उत्पन्न न होने के कारण बानरक के (Gout) रोगियों के लिये यह कायदा करता है। यदि उत्तम अण्डे का सेवन किया जाय तो मात्र वर्षे के सब खाय दूर्धर्मी में अण्डा सब से अधिक सुरक्षित समझता चाहिये। क्योंकि मनुष्यों पर संक्षिप्त होने वाला सुरक्षा का कोई भी रोग नहीं है, न रोगों के जीवाणुओं को अण्डा फैलाना है तथा न उसमें कोई स्वास्थ्यहानिकारक गुण पाये जाते हैं। संतुष्टि में अभी तक कोई संकामक रोग का पता नहीं चला है जो अण्डे के सेवन से मनुष्यों में संकामित होता है। चरकसंहिता में अण्डे के गुणधर्म इस प्रकार वर्णित किये हैं—भानैरागचकराता दक्षाणा शित्तिनामय। चटाना च यानि स्तुष्टानि च दित्तिनि च। ऐत शीघ्र बासेतु हृषीगेषु शेषेषु च। मनुष्यप्रिवासीनि स्तोत्रवकराति च॥ (सूत्र. अ. २०) ।

कपोतपारावतभृत्यराजपरभृतकोर्याटिककुलिह-
गृहकुलिङ्गोद्येदकिरिदमाणवकशतपत्रकमाह-
निन्दकमेदाग्निकुसारिकावल्युलीगिरिदालदादूप-
कसुशृंहीवज्ञीटहारीतदात्यूद्यमभृतयः प्रतुदाः ॥६७॥

(प्रतुदार्ग—) कपोत, पारावत (कवूतर के दो भेद), भृत्यराज, परभृत (कोकिना), कोर्याटिक (टिटिही पा कोच पश्चि), कुलिंग (रान चीड़ा), गृहकुलिंग (गाव चिंडिया), गोद्येदक (गोन्द वश्चि), दिरिदमाणवक, गृष्णपत्रक (राज-धूक), मानुनिन्दक, भेदाणी, द्रुक (तोता) सारिका (मैना), वल्युली, गिरिया, लट्टा, अज्जदूपक, सुशृंही, वज्ञीट (खजन), हारीत, दात्यूह प्रतुदति प्रतुदार्ग के हैं ॥६७॥

कपायमधुरा रुक्षाः फलाद्यारा मरुत्कराः ।

पित्तस्तेष्मद्वाराः शीता यद्यमूद्रावर्चसः ॥६८॥

(ये प्रदुर्वर्ग के पश्ची सामान्यतया) कपाय, मधुर, वृक्ष, फलों का आहार करने वाले, वानकर, पित्त और स्त्रेय नायक, शीतल, मूद्रा को बंद करने वाले और अस्तमल उत्पन्न करने वाले हैं ॥६८॥

सर्वदोषेष्वकरस्नेपां भेदाणी मलदूपकः ।

कपायस्तदुत्पत्तयो गुरुः काणकपोतकः ॥६९॥

रक्तपित्तप्रशमनः कपायविशदोऽपि च ।

विषाके मधुरस्थापि गुरुः पारावतः स्मृतः ॥७०॥

कुलिङ्गो मधुरः किंग्रधः कर्मग्नुकविवर्धनः ।

रक्तपित्तद्वारो वेदमकुलिहस्तवित्तग्नुकलः ॥७१॥

इनमें से भेदाणी पश्ची (बानादि) दोषानक और मधुरों का दूषक है। कपोत पश्ची कपाय, मधुर, लवण और भय है ॥७१॥ पारावत पश्ची स्तवित ग्रान्त वर्तने वाला, कपाय विगद, विषाक में मधुर और भासी है ॥७०॥ कुलिंग मधुर विषाक, कफकर, द्रुश्वर्धन और स्तवित्तग्रान्त है। गृहकुलि अन्यं वीर्य उत्पत्त वर्तने वाला है ॥७१॥

सिंहव्याघ्रवृक्तनरक्तवृक्षदीपिमार्जिरित्यगालम्भगे वर्धकप्रभृतयो गुहाशयाः ॥७२॥

(गुहाग्रवर्ग—) सिंह, व्याघ्र, वृक्त (भेदिया), तर (मधुरगुद्युक्त्याप्तिविरोधः), भक्त (रीउ), द्वीपि (चीता) मार्जिर (रानविलाव), शगाल (गोदड), मृगेवंत्य प्रसृति गुहाशय (पैतै की गुहा में रहने वाले) वर्षे के हैं ॥७२॥

मधुरा गुरुवः स्त्रिग्ना दद्या मारुतनाशना ।

उपणीर्यार्था द्विता नित्यं नेत्रगुहाश्विकारित्याम् ॥७३॥

(ये गुहाशयवर्ग के प्राणी सामान्यतया) मधुर, गुरु विषाक, बलकरक, वाननाशक, उत्तरवीर्य और नेत्र के तथा गुहेन्द्रिय के विकारों में पीडितों के लिये हितकर हैं ॥७३॥

काककुलिहस्तवित्तग्नुकर्त्तव्यमासशाश्वाधात्युलकचिह्निश्च-
नगृध्रप्रभृतयः प्रसदाः ॥७४॥

एते सिंहादिभिः सर्वे समाना वायसादयः ।

रसवीर्यविषाकेतु विशेषाच्छोषिणी हिताः ॥७५॥

(प्रसदवर्ग—) काक (काग), कुल, झुर, चार, भास, शगधाती, उल्क (उल्कू), चिह्नी (चील), इतेव (चाज), शृग (गीय) प्रसृति प्रसह (शिकारी पश्ची) है ॥७५॥ ये काकादि (प्रसदवर्ग के पश्ची) रस, वीर्य और विषाक में सिंहादि के समान होते हैं और राजवृद्धमा विकार वालीं को विशेष करके हितकर हैं ॥७५॥

महासूपिकवृक्षदीपायिकावकुशपूर्तिधासद्वानप्रभृ-
तय वर्णसूत्राः ॥७६॥

मधुरा गुरुवो वृक्षाश्वभृत्याः शोषिणी हिताः ।

स्त्रष्टुत्यपुरीयाश्व कालार्दिःश्वासनाशनाः ॥७७॥

(पर्यामुर्वर्ग—) मधुरसूपिक (एक प्रकार का इत्याः शशी पर्प), वृक्षाश्वायिका (गिरलही), अवकृत (वानर का एक प्रकार), पूतिवाल (वृक्षविलाव), वानर प्रसृति वर्ष-सूगवीर्य के हैं ॥७६॥ (ये पर्यामुर्वर्ग के प्राणी सामान्यतया) मधुर, भासी, वृक्ष, नेत्रों की हितकर, राजवृद्धमा के लिये हितकर, मल और शृग को खुलकर निकालने वाले, शांती, वीर्य और वास हृतके वायक हैं ॥७६॥

थायिद्वृक्षवृक्षकगोधाशश्वदृशलोपाकलोमय-

क, किञ्चिन् उपा और वायुनाशक है । ये त केवला जोड़ने वाला, मलमूद्रा को सुलकर निरानने वाला तपित्तनाशक है ॥११॥

ग्रस्तु द्विविधा नादेयाः सासुद्राष्ट्वा ॥१२॥

मत्स्य—) मत्स्य दो प्रकार के होते हैं, एक नदियों व और दूसरे समुद्री के मत्स्य ॥१२॥

**प्र नादेयाः—रोहिनपाठीनपाठलागाजीववर्भि-
स्यहृष्णमन्त्यवागुआरम्भुरलसद्वृद्धमभृतयो
गः ॥१३॥**

॥१३॥ मधुरा मत्स्या गुरवो मारुतापहाः ।

पेत्तकराश्वेष्या वृष्णाः स्निग्धालपवर्चनसः ॥१४॥

नादेय मत्स्य—) उनमें से रोहित, पाठीन, पाटला, चर्मि, गोमत्स्य, कृष्णमत्स्य, वागुआर, मुरल, सहस्रदृति नदियों के मत्स्य हैं ॥१३॥ नदियों के मत्स्य, मधुर, वायुनाशक, रक्षपित उत्पन्न करने वाले, उपा, वृष्ण, और अल्पमल उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥१४॥

नः श्लेषमलो वृष्णो निद्रालुः पित्तिनाशनः ।

द्वितीयित्वं तु कुष्ठरोगं करोत्यसौ ।

त्रै वृंदालो वृष्णः स्तन्यन्तेष्यमकरस्तथा ॥१५॥

यानुरस्त्वेषां शापशैवालभोजनः ।

॒॒४ त्वो मारुतहृतो नात्यर्थं पित्तिकोपनः ॥१६॥

पाठीन मत्स्य कफकर, वृष्ण, निद्राजनक और मांमाहारी । रक्षपित (वा अम्लपित) दृष्टि करके कुष्ठरोग भी है । मुरल मत्स्य शरीर पुष्टिकर, वृष्ण और स्तन्य (दूध) कफ बढ़ाने वाला है ॥१५॥ उनमें से रोहित मत्स्य वृण शैवाल साने वाले हैं, अनुरस में कथाय है, वायुनाशक और पित्त की अधिक प्रकृष्टि नहीं करता है ॥१६॥

चक्रवृय—कुष्ठरोगं करोनि—आगे १२२वें श्लोक का व्य देखो । रोहित—चरक और वारभट के अनुसार रोहित व मारुतों में सर्वप्रेरण होता है—रोहितो मत्स्यनाश । (चरक) । रोहितोर्पेणः रो रो वर्गे वरा: परम । (अष्टांगहृदय) ।

स्त्रिडागसंभूताः स्निग्धाः स्वादुरसाः स्मृताः ।

शहदेवु चलिनः, खल्पेऽम्भस्यवलाः स्मृताः ॥१७॥

मरोवर तथा जालाव में उत्पन्न हुए मत्स्य द्विष्य और रस मधुर होते हैं । जिनमें पानी का संचय भारी हो ऐसे जलाव में उत्पन्न हुए मत्स्य अनिग्य बल देने वाले होते हैं, और समें पानी का संचय अद्य हो ऐसे जलाग्य के मत्स्य अल्प । इने चाले होते हैं ॥१७॥

**तिमितिमिङ्गिलकुलिशपाकमत्स्यनिरूलरुनन्दि-
रलकमकरगर्गरकचन्द्रकमहामीनराजीवप्रभृतयः
गमुद्राः ॥१८॥**

गमुद्रा गुरवः स्निग्धा मधुरा नातिपित्तलाः ।

प्रणा वातहरा वृष्णा वर्चस्याः श्लेषमवर्धनाः ॥१९॥

लावहा विशेषेण मांसाशित्वात् समुद्रजाः ।

(सामुद्रमत्स्य—) तिमि, तिमिगल, कुलिश, पाकमत्स्य, निर्लाल, नन्दिगारलक, मकर, गर्गरक, चन्द्रक, महामीन, राजीव द्विष्यादि समुद्रवासी मत्स्य हैं ॥११॥ समुद्र के मत्स्य (सामान्यतया) भारी, जिघ, मधुर, पित्त का अधिक प्रकोप न करने वाले, उपा, वातनाशक, वृष्ण, विषाकारक और कफवर्धक होते हैं ॥१२॥ ये समुद्र के मत्स्य ('मात्स्यन्याश' के अनुसार अन्य शैवी मद्रनियों का) मांस सेवन करने वाले होने से विषेष करके बलकारक होते हैं ।

समुद्रजेभ्यो नादेया वृंदालत्वाद्वृग्णोत्तराः ॥१२०॥
तेषांमप्यनिलघृत्वाद्याद्येष्यकौप्यौ गुणोत्तरौ ।

स्निग्धत्वात्स्वादुपाकत्वात्येष्यवर्ष्ण्या गुणाधिकाः ॥१२१॥

समुद्रवासी मत्स्य की अपेक्षा नदीवासी मत्स्य वृंदाल होने से अधिक गुणकारी होते हैं ॥१२०॥ उन (नादेय मत्स्यों) में भी उंडी और कूप के मत्स्य वातनाशक होने से गुण में अधिक होते हैं । उंडी और कूप के मत्स्यों में कूप के मत्स्य स्तिष्य और विषाक के मधुर होने से अधिक गुणकारी होते हैं ॥१२१॥

नादेया गुरवो मध्ये यस्मात् पुच्छास्यचारिणः ।

सरस्तडागजानां तु विशेषेण शिरो लघु ॥१२२॥

अदूरगोचरा यस्मात्तसादुत्सोदपानजाः ।

किञ्चिन्सुक्त्वा शिरोदेशमत्यर्थं गुरुवस्तु ते ॥१२३॥

वधस्तादुरवो द्वेष्या मत्स्याः सरसिजाः स्मृताः ।

उरोविचरणात्तेषां पूर्वमङ्ग लघु स्मृतम् ॥१२४॥

जो कि नदीवासी मत्स्य धैर्य और मुख से चलायमान होते हैं, दृसलिये उनका मध्य भाग (धैर्य) भारी होता है (श्रीम धैर्य नथा मुख हलका होता है) । सरोवर और तालाव के मत्स्यों का सिर विशेष करके हलका होता है ॥१२२॥ अति दूर तक विचरने वाले न होने के कारण पर्वत के भरने के मत्स्य, सिर का कुद्र भाग छोड़कर, भारी होते हैं ॥१२३॥ सरोवर की मद्रनी (छाती के) नीचे भारी होती हैं, क्योंकि छाती से चलायमान होने के कारण उनका पूर्व भाग (छाती में सिर तक) हलका होता है ॥१२४॥

चक्रवृय—मछली एक पौष्टिक खाद्य है । मछली में प्रोटीन अधिक होते हैं, चरबी कम होती है, और कार्बोहायडेट तथा खनिज अत्यन्त होते हैं । मछलियाँ कई प्रकार की हैं, परन्तु चरबी के प्रमाण के अनुसार इसके दो मुख्य भेद किये जाते हैं:—कुण और स्थूल । कुण मछली वह है जिसमें चरबी का प्रमाण २ प्रतिशत तक होता है । जिसमें २-५ प्रतिशत या हस्से भी अधिक चरबी होती है वह स्थूल कहलाती है । साधारणतया मछलियाँ का पाचन मांस की अपेक्षा शीघ्र होता है, तथा उसका गोपण भी ६५ प्रतिशत होता है । मोटी मछली, जिसमें चरबी का प्रमाण अधिक होता है, देर से पचती है परन्तु उससे काफी शक्ति मिलती है । जिनका मुख्य अन्न चालव है उनके लिये चालव के साथ मछली का सेवन बहुत उपकारी होता है, क्योंकि मछली से चालव की प्रोटीन की कमी पूरी ही जाती है । मछली के सेवन में दूसरा फायदा यह है

(कूलचर—) गज (हाथी), गवय (मील गाय), मधिप (भैंस), रुह (एक प्रकार का मूर्ग), चमर (बन गाय जिसकी पुँछ से चौंटी बनती है), समर, राहित, वराह (सुकर), लक्ष्मि (गड़), गाकर्णी (मूर्गमेद), काल एुष्टक, उद्र (जलविलाव या उद्विलाव), न्यृदकु (अनेक मींग का मूर्गमेद), अरण्यगवय (गवयमेद) प्रवृत्ति कूलचर (वर्ग के) पशु हैं ॥१६॥ ये (कूलचर पशु समान्यतया) वातपित्ताशक वृद्ध, रस और विपाक में मधुर, शीतल, घलवर्धक विष्व, मूत्रल और कहर्वाह हैं ॥१५॥

विरुद्धणो लेखनश्च धीर्योण्ण पितृदूषण ।

स्वाद्वर्गलवणस्तेया गज शेषमनिलापद ॥१६॥

गवयस्य तु मास हि लिङ्गं मधुरकासजित् ।

विपाके मधुर चापि व्यवायस्य तु वर्धनम् ॥१७॥

लिंगोष्ठमधुरो वृद्ध्यो महिपस्तर्पणे गुरु ।

निद्रापुस्तव्यवलस्तन्यवर्धनो मासदाढ़पैष्ट ॥१८॥

इनमें हाथी (का मास) विरुद्धण, लेखन (शीतल छुकाक), उष्णवीर्य, पितृदूषण, (रस में) स्वादु अस्त, सूक्ष्म और वक तथा वायुनाशक हैं ॥१६॥ गवय का मास लिंग मधुर, कासदर, विपाक में मधुर और मधुरनगकि को बढ़ाने वाला है ॥१७॥ भेस (का मास) लिंग, उण, मधुर, वृद्ध शृष्टिकारक भारी निद्रा, पुस्त्र, बल और स्तन्य बढ़ाने वाला तथा मास को इक्करने वाला है ॥१८॥

द्वरोमासं समधुर कथायानुरस स्मृतम् ।

वातपित्तोपशमन गुरु शुक्रविष्वर्धनम् ॥१९॥

तथा चमरमासं तु लिंगं मधुरकासजित् ।

विपाके मधुर चापि वातपित्तप्रणाशनम् ॥२०॥

खूमरस्य तु मासं च कथायानुरस स्मृतम् ।

वातपित्तोपशमन गुरु शुक्रविष्वर्धनम् ॥२१॥

रुह का मासमधुर, अनुरस में कथाय वातपित्ताशक, भारी और शुक्र बढ़ाने वाला है ॥१९॥ उसी प्रकार चमर का मास लिंग मधुर, कासदाशक, विपाक में मधुर और वातपित्ताशक है ॥२०॥ चमर का मास अनुरस में कथाय, वातपित्ताशक भारी और शुक्र बढ़ान वाला है ॥२१॥

स्वेदनं शृदण वृद्ध्यं शीतलं तर्पणं गुरु ।

थामिनिलहर लिंगं याराह घलवर्धनम् ॥२२॥

कफाप्त लक्ष्मिपितृष्ट व्यायमनिलापदम् ।

पितृष्ट पथिष्मायुद्ध यस्तमूर विरुद्धणम् ॥२३॥

गोवर्णमासमधुर लिंगं मृदु कफायदम् ।

विपाके मधुर चापि रत्नपित्ताशनम् ॥२४॥

मृदूक का मास न्यृदमनक शरीरुष्टिकर वृद्ध, शीतल तृष्टिकारक, भारी, भ्रम और वायुनाशक, लिंग और वक बढ़ाने वाला है ॥२४॥ गैंड का मासम कफानाशक, कथाय बातक वक, पितृष्ट का (भाव में) वित्तार, पितृष्ट, वायुनर्पेड मृदूमधुरक भीर विस्तर है ॥२५॥ गोवर्ण का मास

मधुर, लिंग, किंचित् कफकारक, विपाक में मधुरपित्ताशक है ॥१६॥

काकोतालकाम्बुकुमुटिकामेघरावशेतवारलम्प्र
सुवा सघातचारिण ॥१७॥

रक्तपित्तहरा शीता लिंगधा वृद्ध्या मदजित् ।
स्वएमूर्धुरीग्राव्यं मधुर रसपाकयो
गुह्यणमधुर लिंग व्यर्वर्णवलप्रद ।

शृहण शुकलस्तेया हसो वातविकारतुर् ।

(इति—) हम साराय कोष, चक्राक (चक्री), तुर ताम्र (कलहम), काराइव (शुक्र का भेद), जीवनीवक (एक प्रकार का पश्ची है जो दूर्यों से ज्ञानियुक्त या मृत होता है । आज में विष की स्थिति जानन के लिये उराने जाने में राते लोग रहते थे । इह एव चारिमग्नु लिंगे जीवनीवको ग्राहयि शैषाग्रामप्रह ।), वक, बलाका (वकभद्र), उण्डलिक (भेद), शुक्र शरारीरुमुख, नदीमुख मधुर (जलकार उड़ान (कुरभेद)) काचाज, महिकाज, शुक्राज, उग्नियाका, कानालक अम्बुकुटिका मेप्रात्र भेत्तवर्ण इत्य स्वयं बनाकर विचरने वाले होते हैं ॥१८॥ ये (हे के पश्ची सामान्यतया) रक्तपित्ताशक, शीतल लिंग, वायुनाशक मलमूत्र का सुलकर निकालने वाले और विपाक में मधुर होते हैं ॥१९॥ उनमें से इस उण, मधुर, रिंग, स्वर, वर्ण बल इन वाला, शरीरुष्टि शृकृदिकर और वातरोगानाशक है ॥२०॥

शुद्धशृहुनवशुत्तिशम्बूझम्लूकप्रभृत्य को
स्था ॥२१॥

कूर्मकुम्भीरकर्कटकशुप्पुकर्कटकशिशुमार्पण
तय यादिन ॥२२॥

शृहूकूर्मार्पणः सादुरसपाका मरुन्तुर् ।
शीता लिंगधा हिता पितृष्ट चर्चस्या न्यैतमवर्धना
एष्णकर्कटकस्तेया यह्य वोलोऽनिलापद ।

शृहं सन्धानत्तु शृदणिमूलोऽनिलापित्ता ॥॥

(काश्य और यादिन—) गैंड (वै शैत) गैंड (छाँ शैत), शुगि (सीप), शृंक (योरै) शृंक (योरै का भेद या कवरी) प्रवृत्ति कांचवर्णी के रूप ॥२०॥ हूम (कट्टा), कुम्भीर (धृदियाप) कुम्भीर (केकड़ा), हृष्णकर्कट (काला केकड़ा) हिंडुम (भाक) प्रवृत्ति यादिन (योरै के अपमान्यु) है ॥२१॥

सामान्यतया ये यंत्राद्यादि भीष रस और विपाक में प्रभृत्य वातवायन, शीतल, रिंग, पितृष्टिका में हितार कारक और कफतर्पक होते हैं ॥२१॥ उनमें से कामा-

गरक, किञ्चित् उपा और वायुनाशक हैं । जेत शेकड़ा से बोड़ने वाला, मलमूत्र की सुलकर निरालने वाला बातपित्तनाशक है ॥१११॥

त्वास्तु द्विविधा नादेयाः सामुद्राश्च ॥११२॥

(मस्य) मस्य द्वा प्रकार के होते हैं, एवं नदियों मस्य और दूसरे समुद्रों के मस्य ॥११२॥

तत्र नादेयाः—रोहिनपाठीनगाटलागराजीववर्मि-मत्स्यवृष्णमत्स्यवागुञ्जारसुरलसद्वर्षद्वृप्रभृतयो देयाः ॥११३॥

देया मधुग मत्स्या गुरवो मारुतापहाः ।

प्रिपत्तकराश्वोप्या वृष्ण्याः क्षिरधात्यवर्चसः ॥११४॥

(नादेय मस्य) उनमें से रोहिन, पाठीन, पाटला, शिव, वर्मि, गोमस्य, कृष्णमस्य, वायुज्ञार, मुरुल, सहन-प्रसूति नदियों के मस्य हैं ॥११३॥ नदियों के मस्य, मधुर, वायुनाशक, रक्षित उत्पन्न करने वाले, उपा, वृष्ण, अथ और अल्पमल उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥११४॥

ठीनः श्लेष्मलो वृष्णो निद्रालुः पिशिताशनः ।

प्रथेद्रकपित्तं तु कुष्ठरोगं करोत्यस्त्रौ ।

खलो वृंहणो वृष्ण्यः स्तन्यरूप्यकरत्तथा ॥११५॥

प्रयानुरसस्तेषां शश्पर्शैवालभोजनः ।

रोहितो मारुतहरो नात्यर्थं पित्तकोपनः ॥११६॥

पाठीन मस्य कफकर, वृष्ण, निद्राजनक और मांसादारी कर रक्षित (या अस्लपित्त) दूषित करके कुष्ठरोग भी रता है । मुरुल मस्य शरीर पुष्टिकर, वृष्ण और स्तन्य (दृध) या कफ बढ़ाने वाला है ॥११५॥ उनमें से रोहित मस्य मृण्य गर्भ वैवाल राने वाला है, अनुरस में कराय है, वायुनाशक और पित्त को अधिक प्रकृष्टि नहीं करता है ॥११६॥

चक्कट्य—कुष्ठरोगं जरोनि—आगे १२२र्थे श्लोक का इक्षय देखें । रोहित—चरक और वायमट के अनुसार रोहिन मस्य मास्यों में वर्द्धेन्द्रिय होता है—रोहितो मत्स्यानाम् । (चरक) । अवरोहिनोपेणाः स्वे स्वे वर्गे वराः परम् । (अष्टांगहृदय) ।

सरस्तडागसंभूताः क्षिरधाः स्वादुरसाः स्मृताः ।

महाहृदेषु चलिनः, स्वल्पेऽम्भस्यवलाः स्मृताः ॥११७॥

सरोवर तथा जलाव में उत्पन्न हुए मस्य क्षिर और रस में मधुर होते हैं । जिनमें पानी का संचय भारी हो ऐसे जलाग्य में उत्पन्न हुए मस्य अतिग्रथ बल देने वाले होते हैं; और जिनमें पानी का संचय अल्प हो ऐसे जलाग्य के मस्य अल्प बल देने वाले होते हैं ॥११७॥

तिमितिमिक्षिलकुलिशपाकमत्स्यनिरूलहनन्दि-चारलकमकरगर्भरकचन्द्रकमहामीनराजीवप्रभृतयः सामुद्राः ॥११८॥

सामुद्रा गुरवः क्षिरधा मधुरा नातिपित्तलाः ।

उपा वातहरा वृष्ण्या वर्चस्याः श्लेषमवर्धनाः ॥११९॥

बलवद्वा विशेषेण मांसादित्वात् समुद्रजाः ।

(मामुद्रमत्य) तिमि, तिमिगल, कुलिश, पाकमस्य, निरालक, नन्दियारलक, मकर, गर्भरक, चन्द्रक, महामीन, राजीव इत्यादि समुद्रवासी मस्य हैं ॥११८॥ समुद्र के मस्य (सामान्यतया) भारी, ज्ञिग्न, मधुर, पित्त का अधिक प्रकोप न करने वाले, उपा, वायनाशक, वृष्ण, विषाकारक और कफवर्धक होते हैं ॥११९॥ ने समुद्र के मस्य ('मात्स्यन्याय') के अनुगार अन्य छाँटी मछलियों का) मांस मेवन करने वाले होने से विनेय करके बलकारक होते हैं ।

समुद्रजे भ्यो नादेया वृंहणत्वाहुणोत्तराः ॥१२०॥ तेषामप्यनिलघन्वाङ्गैष्यकौष्ठ्यौ गुणोत्तरौ ।

क्षिरधन्वात्वादुपाकत्वात्योर्वाप्यागुणाधिकाः ॥१२१॥

समुद्रवासी मस्य की अपेक्षा नदीवासी मस्य वृंहण होने से अधिक गुणकारी होते हैं ॥१२०॥ उन (नादेय मस्यों) में भी ऊँडी और कृष के मस्य वाननाशक होने से गुण में अधिक होते हैं । ऊँडी और कृष के मस्यों में कृष के मस्य स्तिर्य और विषाक में मधुर होने से अधिक गुणकारी होते हैं ॥१२१॥

नादेया गुरवो मध्ये यस्तात् पुच्छास्यचारिणः ।

सरस्तडागजानां तु विशेषेण शिरो लघु ॥१२२॥ अदूरगोचरा यस्तात्सादुन्सेदपानजाः ।

किञ्चिन्मुक्त्वा शिरोदेशमस्यर्थं गुरुवस्तु ते ॥१२३॥ अधस्ताहुरवो धेण्या मन्स्याः सरसिजाः स्मृताः ।

उरोविचरणतेषां पूर्वमङ्गं लघु स्मृतम् ॥१२४॥

जो कि नदीवासी मस्य वैूल और सुख से चलायमान होने हैं, इसलिये उनका मध्य भाग (धड़) भारी होता है (आंग वैूल तथा मुख इलका होता है) । सरोवर और तालाब के मस्यों का मिर विशेष करके इलका होता है ॥१२२॥ अति दूर तक विशेष घाले न होने के कारण पर्वत के भरने के मस्य, सिर का कृच्छ भाग छोड़कर, भारी होते हैं ॥१२३॥ मरोवर की मछली (छाती के) नीचे भारी होती हैं, क्योंकि छानी में चलायमान होने के कारण उनका पूर्व भाग (छाती में मिर तक) इलका होता है ॥१२४॥

चक्कट्य—मछली एक पौष्टिक खाय है । मछली में प्रोटीन अधिक होते हैं, चरवी कम होती हैं, और कार्बोहायड्यैट तथा खनिज अत्यन्त होते हैं । मछलियाँ कई प्रकार की हैं, परन्तु चरवी के प्रमाण के अनुसार इसके दो मुख्य भेद किये जाते हैं—कृष और स्थूल । कृष मछली वह है जिसमें चरवी का प्रमाण २ प्रतिशत तक होता है । जिसमें २-५ प्रतिशत या इससे भी अधिक चरवी होती है वह स्थूल कहलाती है । माधारण तथा मछलियों का पाचन मांस की अपेक्षा शीघ्र होता है, तथा उसका गोपण भी ६५ प्रतिशत होता है । भोजी मछली, जिसमें चरवी का प्रमाण अधिक होता है, देर से पचती है परन्तु उससे काफी शक्ति मिलती है । जिनका मुख्य अन्न चावल है उनके लिये चावल के साथ मछली का सेवन बहुत उपकारी होता है, क्योंकि मछली से चावल की प्रोटीन की कमी पूरी हो जाती है । मछली के सेवन में दूसरा फायदा यह है

कि उनके सेवन मे जीवनीय द्रव्य विशेष करके पू और दी (Vitamines A D) मिलते हैं। ये द्रव्य मछलियों के यहात मे होते हैं। कॉड, (Cod), हलीबट (Halibut) आदि मछली पेसे हैं कि उनके यहात मे इन द्रव्यों का यहा भारी सचय होता है, और यहात से जो सेवन निकलता है उसमे ये द्रव्य आ जाते हैं। इसलिये इन देणों का (Cod liver oil Halibut liver oil) उपयोग उन अवस्थाओं मे करते हैं जब इन जीवनीय द्रव्यों की गरीब कितिये आवश्यकता होती है। मछली होणा ताजी और जर्ह मुक हो सके पकड़ने के पश्चात यीथ ही खानी चाहिये, क्योंकि वह जननी सड़ने लगती है। गर्सी के भौतिक मे (गह, झून, झुलाड़ और अगस्त हैं, योंकि इन दिनों मे वह और भी यीथना से सड़ने लगती है) ताजी मछली सज्ज और दुर्गंध इहित होकर यहि भ्रष्ट से समान्वय पकड़ी जाय तो उसकी पैद बींचे की ओर नहीं कुकी। याँचे भरी और उसमी हुई, धुनियाँ काली, पेटके घमड़ीने और साल, गरीब के छिपके भर्त दुष्ट और इह होने और आसानी से अन्दर मही हो सकते। सही गानी मछली तथा हिंदू की मछली खाने से बमन, अतिमार, पेटन, अवसाद इत्यादि पृति विष सकारा (Ptolemaic Poisoning) उपय होते हैं। खाराव पाती मे रहने वाली मछली सभा आनूपवर्ण के अस्त्र प्रादी सेवन करने से विमुचिका, आविकाशन (Typhoid Fever) इतीन (Tape) तथा अस्त्र हमि इत्यादि दिकारी से परिवर्त होने की संभावना होती है। साफनी का सेवन कुटोपति का एक कारण है, मह भी आयुरेंद्र का मत है। सुधुन के अनुसार पाठीन मस्तक से सेवन से कुट होता है। चार के अनुसार साधारण मछली के सेवन से भी कुट होता है—मुकुरानिमत्सलकुचमूलकाकामानी भवतमिगाव मरींगे अ स्वास्थ, विलियन व दयमा। (निदान, अ ५) आयुरिक काम भी भी हो भय आरि बृद्ध वैतानिक खाराव मछली का सेवन कुटोपति का एक साधारण कारण मानते हैं; परंतु उसके साप साय उनका यह अभिभाव इतना है कि अब तक कुट के गीवाल का गरीब के साप संबंध नहीं दोगा तब तक वेष्ट माल्फ्री सेवन कुट उपय करने मे अधिकर्ष है—Bad fish may predispose to leprosy as shown by E. Mair in India but is not the direct cause of infection as once held. Trif: if Uellicine by Rogers on 1 May 11

इत्यानुपो महाभिरथन्दिमानवर्गो इत्याख्यात ॥१२५॥

इन प्रकार यह गांधीजी का अपेक्षित अभियन्त्रिदि-
(कान और मुख्यालय) समिक्षा वर्णन हिंदा गांधी
है।

प्रत्यक्ष—संविदि—संवदात्मनि वै विद्युतिर्विद्युति
इ। प्रथमि विद्युतिर्विद्युति इ। विद्युति विद्युति
इ। विद्युति विद्युति इ। विद्युति विद्युति इ। विद्युति विद्युति
इ।

द्याणि, यसाद्विगतव्यापन्नापहतपरिखतात्मा
धीर्यत्वादोषकराणि भवन्ति; पर्योऽन्येषामु
मांसमिति ॥१२॥

अरोचकं प्रतिश्यायं गुरु शुक्रं प्रकीर्तिं तम्
विषयाधिहृतं मृत्युं यालं छार्दि च कोपयेत्
कासावासकरं शूद्रं विद्वोपं व्याधिदृष्टिम्
हिमसुत्वे शजननं कृशं धातप्रकोपयम्

इन जागेल और धानपूर प्राणियों के भास्मों में से मांस, सदा गला दुर्गमयुक्त मास तथा रोगों से पीड़ित और संरक्षण से सूत, विषाक वाणी से बिद, अतिहृष्ट, वालक (अल्पवय का) और अनुचित प्रदेश में संवार अस्थायजनक धाहार सेवन करने वाले प्राणियों का भ्रष्टय करने योग्य नहीं है, घोंकि (शुक्रमास) वह होने से, (पूर्णव्यापित मास) वीर्यविहीन होने से, वर्षीहृष्ट दिव्यविद्वामास) वीर्य नष्ट होने से, (वीर्यविहीन अतिपक्ष होने से, (कृष्णपूर्ण का मास) वीर्य अन्त से, (भाल का मास) वीर्य वापक होने से दोष उत्पन्न करते होते हैं। इसलिए इन (दोषयुक्त प्राणियों) से प्राणियों का मासम भ्रष्टय करना चाहिये ॥१२॥ सूक्ष्म मास अधिविशनक, शुक्राम करने वाला और भारी होने वेष्टने रोग से सूत प्राणियों का मास सूख करता है। वीर्य प्राणी का मासम वसन करता है ॥१२॥ एट (ठा मास) लंसी और आस करता है। रोग (प्राणियों का मास) प्रिदोष (का प्रकोप) करता है। गला मास वृक्षेण (सिंतली) उत्तर करता है। (प्राणी का मास) बात का प्रकोप करता है ॥१३॥

ता है; तथापि उस पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता । किं अतिरिक्त व्याधित प्राणियों का मांस पौष्टिकता की दृष्टि हीनतर होता है । इसलिये इनका मांस नहीं खाना चाहिये ।

स्त्रियश्वतुष्पात्सु, पुमांसो विहङ्गेषु, महाशरीरे-
ल्लपशरीरा, अल्पशरीरेषु महाशरीराः प्रधानतमाः;
वरेकजातीयानां महाशरीरेभ्यः कृशशरीराः
धानतमाः ॥१२५॥

चतुष्पाद प्राणियों में स्त्रीजाति का मांस श्रेष्ठ होता है; क्षेयों में पुरुषों का मांस श्रेष्ठ होता है; (गजगवयादि) वडे रीर वाले प्राणियों में छोटे शरीर वाले प्राणियों का मांस श्रेष्ठ होता है; (नकुल सूपकादि) अल्प शरीर वालों में वडे रीर मोटे प्राणियों का मांस श्रेष्ठ होता है; इसी प्रकार एक ही गति के वडे शरीर वाले (जीवों) की अपेक्षा हल्के शरीर ले जीव श्रेष्ठ होते हैं ॥१२६॥

स्थानादिकृतं मांसस्य गुरुलाघवमुपदेव्यामः ।
अथात—रक्तादिषु शुक्रान्तेषु धातुपृथक्तरोत्तरा गुरु-
प्रात्स्था सक्तियस्कन्धकोडशिरःपादकरकटीपृष्ठ-
प्रमकालेयक्यहृदन्त्राणि ॥१३०॥

शेरः स्कन्धं कटी पृष्ठं सक्तियनी चात्मपक्षयोः ।
गुरुपृष्ठं विजानीयाद्वात्वस्तु यथोत्तरम् ॥१३१॥
सर्वस्य प्राणिनो देहे मध्यो गुरुरुदाहृतः ।
पूर्वभागो गुरुः पुंसामधोभागस्तु योविताम् ॥१३२॥
उरोग्रीवं विहङ्गानां विशेषेण गुरु स्मृतम् ।
पक्षोत्तेपात्समो द्वयो मध्यभागस्तु पक्षिणाम् ॥१३३॥

(अत्र) स्थानादि के अनुसार मांस की गुरुता या लघुता का उपेक्षण किया जाना है । जैसे—रक्त से लेकर वीर्यपर्यंत उत्तरोत्तर धातुओं में अधिकाधिक गुरुता होती है; तथा सक्ति, स्कन्ध, हृदयविभाग, सिर, पाँच, हाथ (पूर्वपाद), कटी, पीठ, चर्म, इक (कालेयक), यकृत और आन्त्र ये भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक भारी होते हैं ॥१३०॥ स्त्री और पुरुष दोनों जाति के पक्षियों में सिर, स्कन्ध, कटी, पृष्ठ और सक्ति व्युक्तकम में अधिकाधिक भारी होते हैं; और रक्तादि धातु उत्तरोत्तर अधिकाधिक भारी होते हैं ॥१३१॥ सर्व प्रकार के प्राणियों के शरीर में मध्यभाग भारी होता है । पुरुषों में पूर्व भाग और द्वितीयों में पश्चात् भाग भारी होता है ॥१३२॥ आकाशसंचारी पक्षियों का उर और ग्रीवा भाग विशेष करके भारी होता है । और पासों के क्षेपण के कारण मध्य भाग सम (न भारी न लहका) होता है ॥१३३॥

अतीव रुक्षं मांसं तु विहङ्गानां फलाशिनाम् ।
वृद्धेण मांसमल्यर्थं खगानां पिशिताशिनाम् ।
मत्स्यशिनानां पित्तकरं वातद्वं धैन्यचारिणाम् ॥१३४॥

फल खाने वाले पक्षियों का मांस अतिरुक्ष होता है । मांस सेवन करने वाले पक्षियों का मांस शरीरपुष्टिकर होता है ।

मन्त्रलीखाने वालों का मांस पित्तकर और धात्व खाने वालों का मांस वातनाशक होता है ॥१३५॥

जलजानूपजा ग्रास्या क्रव्यादैकशाफास्तथा ।

प्रसहा विलवासाद्य ये च जह्नालसंविताः ॥१३६॥

प्रतुद्रा विष्किराद्यैव लघवः स्वर्यथोत्तरम् ।

अल्पाभिष्पन्दिनश्चैव यथापूर्वमतोऽन्यथा ॥१३७॥

जलज, आनूप, ग्रास्य, मांसभक्तक, एकगफ, प्रसह, विलेग्रय, जंबाल ॥१३८॥ प्रतुद्र और विष्किर हल्के तथा अल्प अभिष्पन्द उत्पद्ध करने वाले होते हैं; और यथापूर्व अधिकाधिक भारी तथा अधिक अभिष्पन्द उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥१३९॥

प्रमाणादिकास्तु खजातो चालपसारा गुरुवश्च ।

सर्वप्राणिनां सर्वशरीरेषु ये प्रधानतमा भवन्ति यहूत्प्रदेशवर्तिनस्तानाददीतः; प्रधानालाभे मध्यमवयस्कं सद्यस्कमहिष्पुषपादेयं मांसमिति ॥१३७॥

अपनी जातिकसाधारणप्रमाण की दृष्टि से जो अधिक मोटे होते हैं वे अल्प सारयुक्त और भारी होते हैं । सर्व प्राणियों में यहूत्प्रदेश के समीप भाग में जो (ज्ञायु मांसादि अंग) होते हैं वे शरीर के अन्य अंगों से (गुण में) अधिक श्रेष्ठ होते हैं; इसलिये उनका ग्रहण करना उचित है । उनके अभाव में मध्यमवय के प्राणियों का ताजा, दुर्ग्रहरहित मांस ग्रहण करना चाहिये ॥१३७॥

भवति चात्र—

चैरः शारीरावयवाः स्वभावो धातवः क्रियाः ।

लिङ्गं प्रमाणं संस्कारो मात्रा चासिन् परीदेयते ॥१३८॥

इति मांसवर्गः ।

मांस के गुरु लाघव का विचार करते समय (आस्मिन्) प्राणियों का आहार विहार, शरीर के अंग, स्वभाव, धातु, क्रिया, लिंग, प्रमाण, संस्कार और मात्रा इन वातों की परीक्षा करनी चाहिये ॥१३८॥

बत्तव्य—‘चर’ के स्थान में ‘वय’ ऐसा भी एक पाठ है । चर—चर शब्द से प्राणियों का आहार और विहार के देश का वोध होता है—चर गतिभक्षणयोः । चरकसंहिता के अन्धपानविधि अध्याय के अन्त में यही श्लोक निलंता है ।

इसके बाद इस श्लोक के प्रत्येक अंग का उदाहरण आगे दिया गया है, इसलिये वे श्लोक यहाँ भी दिये जाते हैं—चराज्ञपूजलाकाशपन्वायो भक्षयसंविधिः । जलजानूपजाश्चैव जलानूपचराश्च ये ॥ गुरुभक्ष्यास्तु ये सत्त्वाः सर्वे ते गुरवः स्मृताः । लघुभक्ष्यास्तु लघवो धन्तजा धन्तन्तराणिणः ॥ शारीरावयवाः सविशिरःस्कन्धाद्यस्तथा । सक्तिप्रमाणाद गुरुः स्कन्धस्ततः कोट्सत्तः शिरः ॥ शृणु चर्मं च में त्रीणि वृक्षीय क्षेत्र गुरुम् । मांसाद् गुरुतरं विद्याधयात्वं मध्यमार्थित्वं ॥ स्वभावाङ्गवो सुंदरात्मा लावकर्पिजलाः । स्वभावाद् गुरुयो माया वराहमिष्पत्तया ॥ भातूनां शोणिताधानान् गुरु विद्याधयोत्तरम् । अल्पसेम्भो विश्वन्ते प्राणिनो ये वृक्षियाः ॥ गौरवं लिङ्गासामान्ये धुंसां खीरां च लाघवम् । महाप्रमाण गुरवः स्वजातो लघवोऽन्यथा ॥ गुरुणां लाघवम् ॥

कि उसमें सेवन से जीवनीय द्रव्य विद्युत करके एं और दी (Vitamines A D) मिलते हैं। ये द्रव्य मछलियों के बहुत में होते हैं। कॉड, (Cod), हलीबट (Halibut) आदि मस्त्य ऐसे हैं कि उनमें यहाँ में इन द्रव्यों का बहा भारी समय होता है, और यहाँ से जो तेल निकलता है उसमें ये द्रव्य ज्ञा जाते हैं। इसलिये इन तेलों का (Cod liver oil, Halibut liver oil) उपयोग उन अवस्थाओं में करते हैं जब उन विशेष जांघों की गतिके लिये शारीरिक सीमा

इन जावानाय द्रव्यों का गरम का लिये आवश्यकता होती है। मरुस्ती इमेहा ताजी और जड़ी तक हो सके वकहने के पश्चात् भीषण ही सानी छाहिये, क्योंकि वह जलदी सड़ने सकती है। गरमी के मौसिम में (मई, जून, जुलाई और अगस्त इन साल महीनों में) मरुस्ती का सेवन न करना ही प्रयत्न है, क्योंकि इन दिनों में वह और भी धीमता से सड़ने सकती है। ताजी मरुस्ती सानी और दुरुपय रहित होकर यदि भूरेट से समानतर पकड़ी जाय तो उसकी ईंट नींबू की ओर नहीं कुकी है। पांसे भरी और उभरी हुई, उत्तिविष कारी, ऐकड़े घमड़ीने और सात, शरीर के छिपके भरे हुए और इह होते और आसानी से झूमग नहीं हो सकते। सही गर्नी मरुस्ती तथा दिवारे की मरुस्ती खाने से बमन, चितिसार, घैरून, घवमाद हायादि घृति विच सकारा (Ptomain Poisoning) उत्पन्न होते हैं। सराव पानी में इन्हें वाणी मरुस्ती तथा आनूपवर्ण के अन्य प्रादी सेवन करने से विसृचिक्षा, आन्त्रिकज्वर (Typ-hoid Fever) इत्यादि (Tape) तथा अन्य हमि इयादि दिक्कारों से पीड़ित होते रही सेवनका होनी है। मरुस्ती का सेवन कुठोंपति का एक कारण है, यह भी आपुर्वेद का मत है। मुमुक्षु के अनुसार पारीत मरुस्ती के सेवन में कुछ होता है। वर्क के अनुसार माधारण मरुस्ती के सेवन से कुछ होता है—मधुकालिक्ष्मद्युम्बूद्धकर्मनी लक्ष्मद्युम्बूद्ध मरुस्ती च समवर्ण, विरिवेच च परमा। (निदान, अ ५) आपुर्विक कारण में भी दो भूर आप्रदि कृष्णानिक सराव मरुस्ती का सेवन कुठोंपति का एक सहायक कारण मानते हैं; पातु दार्शन गाम साध उन्दा पथ आप्रिमाय होता है कि जप तक कुछ के अनिवार्य का गरीब है साध संवर्णन महीं होता तब तक के लिये मरुस्ती सेवन कुछ उत्पन्न करने में असमर्थ है—Bad fish may predispose to leprosy as shown by E. Muir in India but is not the direct cause of infection as once believed. Tr. at Medicina by F. J. Sykes and M. C.

प्रस्तावपो भद्रमित्यन्दिमागत्पर्यं प्राप्तयत् ॥१३॥

हम प्रधार यह गतिशीली जीवी का धर्म अभिप्तिक
 (यह दैर्घ्य सुनाकाक) मानवी पठन विद्या गति
 है।

କାନ୍ତି—ଅମିତି—କାନ୍ତି—କାନ୍ତି—କାନ୍ତି—
କାନ୍ତି—କାନ୍ତି—କାନ୍ତି—କାନ୍ତି—କାନ୍ତି—କାନ୍ତି—
କାନ୍ତି—କାନ୍ତି—କାନ୍ତି—କାନ୍ତି—କାନ୍ତି—କାନ୍ତି—

गरु श्रीनिवासिनीपांडित्येन्द्रिपदित्य
श्रीनिवासिनीपांडित्येन्द्रिपदित्ये प्रभावादम

द्याणि, यस्माद्विगतव्यापन्नापहतपरिणुताल्पल
धीर्यत्वादोषकराणि भवन्ति, पर्योजन्येषामु
मांसमिति ॥१३६॥

अरोचक प्रतिश्यायं गुरु शुर्क प्रकीर्तिम्
विष्वाधितं मृत्युं यालं छार्दे च कोपयेत्॥
कासश्वासकरं धूदं त्रिदोषं व्याधिदूषितम्।
क्लिमसुक्तेशजननं शृण्यं यातप्रकोपणम्॥

इन जींगल और आनंद प्राणियों के मास से मैं से
मास, सदा गला दुर्घटुक मास तथा रोगों से परिवर्ति,
और सपेदण से सूत, विषाक बालों से विद, अतिहृष्ट !
बालक (शख्यवय का) और अनुचित प्रदेश में होता ?
प्रस्त्रास्थानक आहार सेवन करने वाले प्राणियों का
भजाया करने योग्य नहीं है; व्यांकि (शुष्पमास) वै
होने से, (पूर्णव्याधित मास) धीर्घवृचित होने से, (सप्तेवत दिव्यविद्वामास) धीर्घ नष्ट होने से, (वीर्द्ध
धीर्घ अतिपक्ष होने से, (हृणपशु का मास) धीर्घ अस-
से, (बाल का मास) धीर्घ अपक होने से होता उपर
वाले होते हैं। इसलिये इन (दोरघुक प्राणियों) से
प्राणियों का मास महस्त करना चाहिये ॥१२३॥ दूसरा
प्राणियों का मास अधिगिनक, शुक्रम करने वाले और भारी होना
विवेषे रोग से सूत माणियों का मास दृश्य करता है ।
धीरी प्राणी का मास वसन करता है ॥१२४॥ छूट (प्र
दा मास) खार्मी और शास करता है । रीरी
(प्राणियों का मास) शिदोप (का प्रकोप) करता
नदा गला मास उत्तेज (मिती) उत्तेज करता है ।
(प्राणी का मास) वात का मक्षोप करता है ॥१२५॥

यथाइप—एम्बोलिडेसमुखीदेह सामग्रियि—उपर्युक्त दोषों
साथ माझ होता है, अर्थात् दुखा, व्यस्त आविष्यक का न
हो दृश्या करने के पश्चात् बहुत समय तक न रसाया दुखा
मेवन करने योग्य होता है—लेकिन वर यह यह गुण दूरप्रभाव
(अटागोमानप्रभ)। व्यस्त देखो में कोई उच्च काल में
प्रधिक समय तक रसेने से बिहार जाता है। इसका काल
है जि वैनिकाय एटरनटीडाय (B. Enteritidis), वैनिक
बॉटुलिनम (B. Botulinum), दृश्यादि पृथिवीका अंडा
में प्रसिद्ध होकर विष उत्पन्न करत है, जिसके सेवन
में उत्तम, उत्तरात्म, अतिगार, दुर्बलता दृश्यादि ऐनिकिन (P.
Poisoning) व साथा उत्पन्न होते हैं। अतिक्रमित
विषाक्तिकारी प्राणियों का साथ हालिकारक भी उत्तम
तक होता है एवं इन्द्रिय उत्तम सामग्री व्यवहार का अविभ
प्राणियों में निप्र रोग पाये जाते हैं। व्यस्त—आजवर्षा, 3
प्रमुखीया (Pleuro Pueraria), फेंग, चीरिकोहम
एवं (Cetomorpha) मुख वार, रंग (Festu
calis), लेप्रासा (Anthrax) हृतिकर
ते ट्रिचोफाइल Trichophytes) इन्हीं वैनिकों द्वारा
निषेद्ध होती हैं इनियों के घटने साथ में होते हैं व
यह के साथ शरीर के भीतर व्यस्त होते हैं। अतिक्रमित
व्यस्त होती है इनियों द्वारा विभिन्न प्राणियों का भी

प्र, वातनाशक, शीरेषुषुषिकर, भारी ॥१५३॥ पित्त का औष न करने वाला और गुच्छ होता है ।

हुणं मधुरं वल्यं गुरु विष्टभ्य जीर्यति ॥१५४॥
गाम्नातकफलं वृथ्यं सम्हरं श्लेष्मवर्धनम् ।

ब्रेदोपचिष्टम्भकरं लकुचं शुक्रनाशनम् ॥१५५॥
मलं दृष्टपहं रुचयं पित्तकृत् करमदीकम् ।

गतपित्तहरं वृथ्यं प्रियालं गुरु शीतलम् ॥१५६॥
दृचं सादु कषायास्लं भव्यमास्यविद्योधनम् ।

पेत्तश्लेष्महरं ग्राहि गुरु विष्टम्भ शीतलम् ॥१५७॥
गरावतं समधुरं रुचयमत्यश्चिवाननुत् ।

गरदोपहरं नीपं प्राचीनामलकं तथा ॥१५८॥
आम्रातक फल ग्रीरपुष्टिकर, मधुर, वल्कारक, भारी, में गुहगुड वट्ठ करके पचन होने वाला, वृथ्य, दिनधर और कफवर्धक है । लकुच त्रिदोपजनक, विष्टम्भकर और क्लायेटिक है ॥१५४,१५५॥ करोदा खटा, तृष्णाशामक, चेकारक और पित्तकारक है । प्रियाल (चिरंजी का फल) तपित्तनाशक, वृथ्य, भारी और शीतल है ॥१५६॥ भव्य पु, मीठा, कपाय, खटा, मुख्यविशेषक, पित्तकफनाशक, ही, भारी, विष्टम्भजनक और शीतल है ॥१५७॥ पारावत फल मधुर, रुचिकारक, तीव्रान्तिकी को मंद करने वाला और युग्माशक है । नीप (कदंब का फल) विष्टनाशक और अनाशक है । उसी के गुणानुसार पानी ग्रीवना भी होता है ॥१५८॥

ग्रातापहं तिन्तिडीकमामं पित्तवलासकृत् ।
ग्राह्यप्तं दीपनं रुचयं संपकं कफवातनुत् ॥१५९॥

स्याद्वल्यान्तरगुणं । कोशाभ्रफलमुच्यते ।
मल्लीकाया: फलं पकं तद्वद्देवितु केवलम् ॥१६०॥

मलं समधुरं हृदयं विशदं भक्तरोचनम् ।
गतम्भं दुर्जरं प्रोक्तं नारङ्गस्य फलं गुरु ॥१६१॥

रुच्याशूलफलोत्केशच्छर्दिश्वासनिवारणम् ।
गतश्लेष्मविवन्धन्म जम्बीरं गुरु पित्तकृत् ।

रोरावतं दन्तशाठमलं शोणितपित्तकृत् ॥१६२॥
तिन्तिडी का कच्चा फल वातनाशक और पित्तकारक होता है । वही पक फल ग्राही, दण्ण, अम्बिदीपक, रुचिकारक और गतकफनाशक होता है ॥१५९॥ कोशाभ्र का फल गुण में तिन्तिडीफल से कुछ कम होता है । इमली का पकफल गुण में तिन्तिडीफल के अनुसार परन्तु भेदक होता है ॥१६०॥

गारंग का फल (संतरा) खटा, मधुर, हृदय, विशद, भोजन में रुचि उत्पन्न करने वाला, वातनाशक, दुर्जर और भारी है ॥१६१॥ जम्बीर (नीबू) तृष्णा, शूल, कफ, जी मिच्लाना, चमन, श्वास, वात, कफ और मल्लावरोध हनका नाश करने वाला, भारी और पित्तकर होता है । ऐरावत (नारंग का भेद) और दन्तशाठ (काढार्नीबू) खटा और रक्तपित्तकारक है ॥१६२॥

वचनव्य—उपर्युक्त दाढ़िमादिर्ग के अधिकरणव्य फल अम्ल ग्याँ और किंचित् कपाय होते हैं । हनका अम्लता साप्तटिक (Citric), दारटिक, मैतिक, आक्जेलिक (Tartaric, Mallie Oxalic), इत्यादि वानस्पतिक अम्लों (Vegetable acids) की उपस्थिति पर निर्भर होती है । हनका कसैलापन व्यानिन, व्यानिक अम्ल, ग्यालिक अम्लों की उपस्थिति पर निर्भर होता है । हनके अतिरिक्त सोडियम, पोटासियम इत्यादि क्षार, गोद, जीवद्रव्य 'सी', गर्कादि पदार्थ भी हनमें उपस्थित होते हैं । वानस्पतिक अम्ल भोजन को पचाने में और स्वास्थ्य को दीक रखने में घृत भाग लेते हैं । पचन के समय ये कार्बोनेट में परिवर्तित होते हैं और रक्त की क्षारीगता (Alkalinity) लिए रखते हैं । आहारद्रव्यों से यदि हनको विलकूल हटा दिया जाये तो रक्त की स्थिति खराब होकर स्कर्वी (Scury) आदि रोग उत्पन्न होते हैं । हसलिये हनका सेवन बहुत आवश्यक है । हनमें स्कर्वी प्रतिपेधक जीवद्रव्य सी (Antiscorbutic Vitamin C.) होने के कारण स्कर्वरिंग की चिकित्सा में भी हनका उपयोग बहुत होता है । नारंग, नीबू, संतरा, आम हनमें जीवद्रव्य सी पर्याप्त राशि में होता है ।

जीरवृक्षफलजाम्यवराजादनतोदनशीतफलति-न्दुकवृक्षलधन्वनादमन्तकाश्वकर्णफलसुपल्पकगाङ्गे-रुक्षीपुष्करवर्तिविल्वविम्बीप्रभृतीनि ॥१६३॥

फलान्येतानि शीतानि कफपित्तहराणि च ।

संग्राहकाणि स्त्रज्ञाणि कपायसधुराणि च ॥१६४॥

क्षीर वृक्षों (न्यग्रीध, ओडुम्बर, अश्वत्थ, झुक्त और वेतस) के फल, जामुन, राजादन (खिरनी), तोदन (काश्मीरी इमली, Morus Indica), शीतफल, तिन्दुक, वकुल, धन्वन (धामन), अग्नमन्तक, अश्वर्कण, फल्गु (बंजीर), पर्वपक (फालसा), गाङ्गेरुकी (गंगोठ), सुपुकरवर्ति, विल्व, विम्बी (कुदरु) इत्यादि ॥१६३॥ ये फल शीतल, कफपित्तनाशक, ग्राही, झुक्त, कपाय और मधुर होते हैं ॥१६४॥

जीरवृक्षफलं तेपां गुरु विष्टम्भ शीतलम् ।
कपायं मधुरं साम्लं नातिमास्तकोपनम् ॥१६५॥

अत्यर्थं चातलं ग्राहि जाम्बवं कफपित्तजित् ।
स्त्रिगंधं स्वादु कपायं च राजादनफलं गुरु ॥१६६॥

कपायं मधुरं रुक्तं तोदनं कफवातजित् ।
अम्लोपणं लघु संग्राहि खिग्धं पित्ताभ्यिवर्धनम् ॥१६७॥

आमं कपायं संग्राहि तिन्दुकं वानकोपनम् ।
विपाके गुरु संपकं मधुरं कफपित्तजित् ॥१६८॥

मधुरं च कपायं च स्त्रिगंधं संग्राहि वाकुलम् ।
स्त्रिरीकरं च दन्तानां विशदं फलमुच्यते ॥१६९॥

सक्कपायं हिमं स्वादु धान्वनं कफवातजित् ।
तद्वद्देवेशकं विद्यादशमन्तकफलानि च ॥१७०॥

इनमें से क्षीर वृक्षों के फल भारी, विष्टम्भजनक, शीतल, कपाय, मधुर, खट्टे होते हैं, और वायु को अधिक प्रकुपित नहीं करते ॥१६४॥ जामुन अतिवातल, (सूत्र और मल का) संग्रहण करने वाला (संग्राहि मूवराकृत, चाम्भट), कफ

विद्यास्तुकरात्मविपर्ययम् । वैहेर्लग्नं यथा च स्य मकानं भिषणिष्ठ का ॥ अल्पादाने गुरुणां च लूपां भनिसेवने । यात्र कारणमुदित द्रव्याणां गुरुणांपै ॥ गुरुणामल्लादाय लूपानां तृतीरित्वा । मात्रात्रैयाप्यप्यन्ते मात्रा च द्विपोषने ॥ (चतुर्कृश्चर्ष्टान) । इति मासवर्ग ।

अत ऊर्ध्वं फलान्वयुपदेवयामः ।

तद्यथा—दण्डिमामलकयदरकोलर्कम्बुजीवीर-सिंचितिकाफलकपिथमातुलुहान्नामातकरम्बू प्रियालनारक्षजम्बीरलकुचभव्यपारावतये बफल प्राचीनामलकतिन्तिर्डीकनीपकोशाम्भालीकाप्रभू तीनि ॥१३०॥

अम्लानि रसत पारं गुरुण्युप्षणि धीर्यतः ।

पित्तलान्वयनिलग्नानि कफोत्कृशकराणि च ॥१४०॥

अब पहां से आगे फलवर्ग उपरेख करते हैं । जैसे— दाढ़िम (अनार), आमलक (आवैला), बदर, कोल, कर्कन्तु, सौंचीर (और) सिंचिति का फल (ये वेर के पाँच प्रकार हैं), कपिथ (कैथ), मातुलुग, आत्र, आम्भातक, करमदै (बर्दौदा), त्रियाल (चिरंडी), नारग (नारी), जम्बीर (नींव), लकुच, भर्य (कमरख), पारावत, देव्रफल, प्राचीनामलक (पानी आवैला), तिन्तिर्डीक (इमली), नीप (कदवफल), कोशाम्भ, अस्तिका (इमली का एक भेद) हृष्टादि ॥१३१॥ ये (उपर लिखे फल सामान्यतया) इस में स्थें, विषाक में गुरु, धीर्य में उच्चा, विषकारक, वायुनाशक और कफ का दोषों करने वाले होते हैं ॥१३०॥

कणायानुरसं तेऽपां दाढ़िमं नातिपित्तलम् ।

दीपनीय रुचिकर हृष्ट वर्चोविवर्धनम् ॥१४१॥

द्विविष्णं ततु विशेषं मधुर चाम्लमेव च ।

त्रिवोपयम् तु मधुरमस्तु वानकफापदम् ॥१४२॥

(दाढ़िम) इनमें से अनार अमुरस में क्षाय है, विशेष रित्तकर नहीं है, अस्तिकीपक है, रुचिकर है, हृष्टय के लिये हितकर है और मल की वापने वाला है ॥१४१॥ यह अनार दो प्रकार का होता है, मीठा और द्रटा । इनमें से मीठा त्रिवोपयाशक, और द्रटा वान तथा वकनाशक (और विषजनक) है ॥१४२॥

अम्लं समधुरं तित्तु क्षायं बदुकं सरम् ।

चक्षुपूर्णं सर्वदोपयम् वृष्ट्यामामलकीफलम् ॥१४३॥

दृष्टि यातं तदम्लत्वारिपत्त माधुर्यशैत्यत ।

कफं रुक्षकायायत्वात् फलेभ्योऽभ्यधिकं च तत् ॥१४४॥

(आमलक) आवैले का फल आम्ल, मधुर, तिक, क्षाय, बदुक (सर्वगवं पैदारम गुण), मारक, वैत्र के लिये हितकर, सर्वदोपयाशक और हृष्ट है ॥१४३॥ यह आवैला अमुरस से वायु नाश करता है, मधुरम और भीनवाना से रित की शान्ति करता है, दीर्घ और क्षाय इस से कम की दूर लिये करता है; (इमली) मधुर कमों में यह अधिक बेहत है ॥१४४॥

१ अम्लानुरसम्

वर्कन्धुकोलबद्रमामं पित्तकफावदम् । पक्ष पित्तानिलहरं छिग्धं समधुरं सरम् ॥१४५ पुरातनं तदस्मनं भ्रमम् दीपतं लघु । सौंचीर बदुरं छिग्धं मधुरं वातपित्तजित् ॥१४६ कवायं स्वादु संग्राहि शीतं शिंचितिकाफलम् ।

(देर—) वर्कन्धु, बोल और बदर (जाति के) के देर पित्त और वकनाशक होते हैं । ये ही पक्ष हुए पित्त और वायुनाशक, छिग्ध, मधुर और सारक होते हैं ॥१४५॥ पुरा (सूते सलवटदार) देर वृषाशामक, ध्रम का परिहार का वाले, अस्तिकीपक और इलके होते हैं । सौंचीर जाति का स्त्रिय, मधुर और वातपित्तनाशक होता है ॥१४६॥ शिंचिति का फल क्षाय, मीठा, माधी और शीतल होता है ।

आमं कपिथमस्यं कफम्ब ग्राहि वातलम् ॥१४७ कफानिलहरं पक्षं मधुरामलरसं गुरु ।

श्वासकासाहचिद्दरं तृष्णाम्बं कण्ठशोधनम् ॥१४८

(कपिथ—) कच्चा कैप स्वर को बिगाहता है, कफ नाश करता है, माधी है और वातकारक है ॥१४८॥ पक्ष हुए कैप कफ और वायुनाशक, मधुर और अम्लसमुक्त, भारी शासनाशक, कासनाशक, अरुचिनाशक, तृष्णाशामक तथा कण्ठ साक करने वाला है ॥१४८॥

हृष्ट्यम्लं दीपतं हृष्टं मातुलुहमुदाहतम् । त्वक्ति का हुर्जरा तस्य वातकिमिकफापदा ॥१४९

स्वादु शीतं गुरु छिग्धं मांसं माहतपित्तजित् ।

मेध्यं शलानिलच्छर्दिकफारोचकनाशनम् ॥१५० दीपतं लघु संग्राहि गुलमार्योऽप्तं तु केसरम् ।

शलाजीर्णविवन्धेषु मन्देऽप्ती कफमादते ॥१५१ अच्छी च विशेषेण रसस्त्वोपदित्यते ।

(मातुलुग—) मातुलुग हलका, खटा अस्तिकीपक हृष्ट है । उमरी छाल निक, हुर्जर, वातनाशक, हृष्टिनाशक और कफहर है ॥१५१॥ उसका गूदा मीठा, शीतल, भारी, स्त्रिय, वात और वित्तनाशक है ॥१५१॥ उसका बेसर अस्तिकीपक हलका, माधी, गुरु और अमीनाशक है । उसका रस शून्य अपचन, मलावरोज, मदामि, कफ और वात के रोग, अरोग्य इन रोगों में विशेषनया उपयुक्त होता है ।

पित्तानिलकरं यालं पित्तलं वद्रकेसरम् ॥१५२

हृष्ट यणेकरं रुद्धं रक्तमांसयलप्रदम् ।

क्षायानुरसं स्वादु यातमं शृहणं गुरु ॥१५३

पित्ताविदरिति संपकमांसं शुकविष्ठनम् ।

(आल—) बाल वाम (जिसके भीतर की गुली की पूर्ण हृदि गई हुई है) वातकर और वित्तकर होता है, जिसके भीतरी गुली पूर्ण होकर सख्त हुई है ऐसा आल (वद्रकेसर=वद्रात्मि) वित्तकर होता है ॥१५३॥ यह हृष्ट वाम हृष्ट (मन की प्रिय), वर्षीयाक, हृषिक, रुद्ध, मांस और बाल वहांने वाला, अनुरस में क्षाय, (इस में)

नीठा, वातनाशक, शरीरपुष्टिकर, भारी ॥१५३॥ पित्त का विवेरोध न करने वाला और शुक्रल होता है ।

बृंहणं मधुरं वल्यं गुरु विष्टभ्य जीर्यति ॥१५४॥
आप्नातकफलं बृंहणं ससेहं श्लेष्मवर्धनम् ।

चिदोषविष्टभ्यकरं लकुचं शुक्रनाशनम् ॥१५५॥
अम्लं तृष्णापहं रुचयं पित्तकृत् करमदेकम् ।

वातपित्तहरं बृंहणं प्रियालं गुरु शीतलम् ॥१५६॥
हृद्यं स्वादु कषायाम्लं भव्यमास्यविशेषधनम् ।

पित्तश्लेष्महरं ग्राहि गुरु विष्टभ्य शीतलम् ॥१५७॥
पारावतं समधुरं रुच्यमत्यग्निवातनुत् ।

गरदोपहरं नीपं प्राचीनामलकं तथा ॥१५८॥
आप्नातक फल शरीरपुष्टिकर, मधुर, वलंकारक, भारी, ऐट में गुड़गुड़ शब्द करके पचन होने वाला, बृंहण, स्तनधूं प्रीति और कफवर्धक है । लकुच चिदोपजनक, विष्टभ्यकर और शुक्रनाशक है ॥१५४,१५५॥ करोंदा खटा, तृपाशामक, रुचिकारक और पित्तकारक है । प्रियाल (चिरोंजी का फल) वातपित्तनाशक, बृंहण, भारी और शीतल है ॥१५६॥ भव्य हृद्य, मीठा, कपाय, खटा, सुखविशेषधक, पित्तकफनाशक, ही, भारी, विष्टभजनक और शीतल है ॥१५७॥ पारावत फल मधुर, रुचिकारक, तीक्ष्णाग्निको मंद करने वाला और युनाशक है । नीप (कदंब का फल) विपन्नाशक और यनाशक है । उसी के गुणानुसार पानी आँखला भी होता है ॥१५८॥

पातापहं तिन्तिडीकमामं पित्तवलासकृत् ।

पातुष्णं दीपनं रुचयं संपकं कफवातनुत् ॥१५९॥
प्रासादलपान्तरगुणं । कोशाम्ब्रफलमुच्यते ।

अम्लीकायाः फलं पैकं तद्वद्वेदि तु केवलम् ॥१६०॥
अम्लं समधुरं हृद्यं विशदं भक्तरोचनम् ।

वातघ्नं दुर्जरं प्रोक्तं नारङ्गाय फलं गुरु ॥१६१॥
तृष्णाशूलकफोत्केशच्छर्दिश्वासनिवारणम् ।

वातश्लेष्मविवन्धग्नं जम्बीरं गुरु पित्तकृत् ।
ऐरावतं दन्तशाठमस्लं शोणितपित्तकृत् ॥१६२॥

तिन्तिडी का कच्चा फल वातनाशक और पित्तकारक होता है । वही पक फल ग्राही, उष्ण, अग्निदीपक, रुचिकारक और वातकफनाशक होता है ॥१५९॥ कोशाम्ब्र का फल गुण में तिन्तिडीफल से कुछ कम होता है । इमली का पकफल गुण में तिन्तिडीफल के अनुसार परन्तु भेदक होता है ॥१६०॥ नारंग का फल (सेतरा) खटा, मधुर, हृद्य, विशद, भोजन में रुचि उत्पन्न करने वाला, वातनाशक, दुर्जर और भारी है ॥१६१॥ जम्बीर (नीवु) तृपा, शूल, कफ, जी मिच्चलाना, चमन, श्वास, वात, कफ और मलावरोध इनका नाश करने वाला, भारी और पित्तकर होता है । ऐरावत (नारंग का भेद) और दन्तशाठ (काढानीवू) खटा और रक्तपित्तकारक हैं ॥१६२॥

बक्तव्य—उपर्युक्त दाढिमादिवर्ग के अधिकसंख्य फल अम्ल और किंचित् कपाय होते हैं । इनकी अम्लता सायट्रिक (Citric), टारटरिक, मैलिक, आक्जेलिक (Tartaric, Mallie Oxalic), इत्यादि वानस्पतिक अम्लों (Vegetable acids) की उपस्थिति पर निर्भर होती है । इनका कसैलापन व्यानिन, व्यानिक अम्ल, ग्यालिक अम्लों की उपस्थिति पर निर्भर होता है । इनके अतिरिक्त सोडियम, पोव्वासियम इत्यादि क्षार, गोंद, जीवद्रव्य 'सी', शर्करादि पदार्थ भी इनमें उपस्थित होते हैं । वानस्पतिक अम्ल भोजन को पचाने में और स्वास्थ्य को ठीक रखने में बहुत भाग लेते हैं । पचन के समय ये कावोनेट में परिवर्तित होते हैं और रक्त की क्षारीयता (Alkalinity) स्थिर रखते हैं । आहारद्रव्यों से यदि इनको विलकुल हटा दिया जावे तो रक्त की स्थिति खराब होकर स्कर्वी (Scurvy) आदि रोग उत्पन्न होते हैं । इसलिये इनका सेवन बहुत आवश्यक है । इनमें स्कर्वी प्रतिपेघक जीवद्रव्य सी (Antiscorbutic Vitamin C.) होने के कारण स्कर्वीरोग की चिकित्सा में भी इनका उपयोग बहुत होता है । नारंग, नीवु, संतरा, आम इनमें जीवद्रव्य सी पर्याप्त राशि में होता है ।

**क्षीरबृक्षफलजाम्बवराजादनतोदनशीतफलति-
न्दुकवकुलधन्वन्नाशमन्तकाश्वर्कर्णफलगुपरूपकगाङ्गे-
स्कीपुष्करवर्तिचिल्वचिल्वमीप्रभृतीनि ॥१६३॥**

फलान्येतानि शीतानि कफपित्तहराणि च ।

संग्राहकाणि रुक्षाणि कपायमधुराणि च ॥१६४॥

क्षीरबृक्षों (न्यग्रोध, आँडुम्बर, अश्वत्थ, मुङ्ग और वेतस) के फल, जामुन, राजादन (खिरनी), तोदन (काश्मीरी इमली, Morus Indica), शीतफल, तिन्दुक, बकुल, धन्वन (धामन), अशमन्तक, अश्वकर्ण, फल्गु (अंजीर), परूपक (फालसा), गाङ्गेस्की (गंगोठ), उप्करवति, विलव, चिम्बी (कुद्रु) इत्यादि ॥१६३॥ ये फल शीतल, कफपित्तनाशक, ग्राही, रुक्ष, कपाय और मधुर होते हैं ॥१६४॥ क्षीरबृक्षफलं तेपां गुरु विष्टभ्य शीतलम् ।

कपायं मधुरं साम्लं नातिमास्तकोपनम् ॥१६५॥
अत्यर्थं वातलं ग्राहि जाम्बवं कफपित्तजित् ।

स्त्रिगं खादु कषायं च राजादनफलं गुरु ॥१६६॥
कपायं मधुरं रुक्षं तोदनं कफवातजित् ।

अम्लोपणं लघु संग्राहि स्त्रिगं पित्ताग्निवर्धनम् ॥१६७॥
आमं कपायं संग्राहि तिन्दुकं वानकोपनम् ।

विपाके गुरु संपकं मधुरं कफपित्तजित् ॥१६८॥
मधुरं च कपायं च स्त्रिगं संग्राहि वाकुलम् ।

स्त्रीरीकरं च दन्तानां विशदं फलमुच्यते ॥१६९॥
सकपायं हिमं खादु धान्वनं कफवातजित् ।

तद्वद्वाङ्गेस्कं विद्यादशमन्तकफलानि च ॥१७०॥
इनमें से क्षीरबृक्षों के फल भारी, विष्टभजनक, शीतल,

कपाय, मधुर, खटे होते हैं, और वायु की अधिक प्रकृति नहीं करते ॥१६५॥ जामुन अतिवातल, (मूङ और मल का) संग्राहक फल मात्रा W ग्राम विशद वर्षा B या अर्जिपाश / S

पित्तनाशक होता है। विरली का फल स्निग्ध, मधुर, कथाय
और भारी होता है॥१६३॥ सीदून कशाय, मधुर, रुत, कफ-
दातनाशक, अम्ल, उष्ण, हलका, ग्राही, दिवाय, पित्तल और
अस्थिरक है॥१६४॥ कहा तिन्दुक कथाय, ग्राही, वातप्रकोपक
होता है और पक्ष तिन्दुक विषाक में मधुर, मधुर और कफदातनाशक
नथा पित्तनाशक होता है॥१६५॥ बहून का फल मधुर, कथाय,
स्निग्ध, ग्राही, दौतीं को मजबूत करते वाला और विशद होता
है॥१६६॥ धामत कथाय, ग्रीत, मधुर और कफ तथा पित्त
हारण करने वाला है। धामत के शुगालुयार ही गांगेस्ख और
भृगुलक के फल सामने आयिये॥१६७॥

विष्टमिभु मध्ये लिंगं कल्पतं तर्पयेण ग्रह ।

अत्यम्लभीपन्नधुरे कपायासुरसे लघु ॥७६॥
धातम्पि पित्तजननमामि विद्यान् पर्यकम् ।

तदेय एकं मधुरं वातपित्तनिवर्द्धणम् ॥१७॥
विपाके मधुरं शीतं रक्तपित्तमधसादनम् ।

ਪੀਂਘਰ ਸਾਡੁ ਵਿਈਮਿ ਬਵਣੁ ਕਫਕਰੁ ਹੁਹ ॥੧੭੩॥
ਕਫਾਨਿਲਦੁਰੁ ਤੀਕਣੁ ਲਿਗਥੁ ਸੰਪਾਹਿ ਦੀਪਨਮੁ ।

कदुतिक्तकपायोष्णं धौलं विल्वमुदाहतम् ॥७४॥
विद्यार्चदेव संपर्कं मधुरानुरसं गुरु ।

विद्वाहि विष्टम्भकर्त् दोषहत् पृतिमासनम् ॥१३॥
विष्टीफलं साध्वकर्णे स्तन्यहत् कपिपित्तजित् ।

तदृष्टादृज्वरपित्तासूक्ष्मास्थापदम् ॥१७६॥

अंतर विष्वभगवनक, मधुर, विष्व, शुष्कवारक और मुर
होता है। इस परम्परक (जालमा) पायन वाहा, किंचित्
मीठ, अनुप्राम में काया, हल्का ॥१७॥ बाननाशक और
विषदारक होता है। वही पर होने पर मधुर, वानविषनाशक
॥१८॥ शिरक में मधुर, मीठल और रक्षणशमादक होता
है। रात्रक चन (मिठाडा आदि छमल के एस) मधुर,
विष्वभगवनक, वानाशक, काकारक और गुरु होने हैं ॥१९॥
इस विष्वाशक कहवाननाशक, मीठल, विष्व, घासी, अमि-
र्दीरक, (रस में) रुड़, तिक और वायातया उत्ता होता है
॥२०॥ यही पर चन अनुप्राम में मधुर, भारी, विद्वानवनक,
विष्वाशक, दोषविषादक और (योग) वाटु में दूषित
उत्तु वासने वाला होता है ॥२१॥ दूरत और अवश्यक दूर
उत्तु वासने वाले, वर्षिषनाशक, मधुर, दाह उत्त, रक्षण,
वाय, घासी और इस दृग्माला इस वासने वाले हैं ॥२२॥

यानदय—पूर्ववर्षमें दुर्गा पूजा (असाधा)।
इस सीमावर्षी दौरे के अधिकाराएँ तल बनायायत्रान
हैं इसके में शामादिविष दृष्टि में लाभित, लाभित
परिष, लाभित लृगुड़ि हृष्णविष काला तल के अन्य दृष्टियाँ हैं।
हृष्टिक अभितिल गाँव, गोदा, शाह ताला अन्य पराये भी हैं तो
है। बायादायायत्रान हैं के काला हृष्टिक शामादिविष गुरु
परिष काला तल के अनुपाया हैं। उसका गाय विषाड़ि
(विषाड़ि) है जिसके प्रसादों, शंखगाया संस्कृती
प्रसादों दूरा हैं वर्षे की में शामादिविष हैं।

उपर्युक्त फलों में से जामु, क्षीरदृश के लिए अंट ग्राहन का फल चरक वे अनुभव शुद्धयंग्राहक (अंटमु भूत राशि कम करने वाने) भी हैं—जन्मायुधापात्रीनिर्देश स्थितभालाकारमन्तर्कीमद्दलों इन इनमें दूषकारी भवनित (च. म. अ. ४)। भास्तररेखे में आयुर्वेदिक नामानु अस्यन्त प्राचीन काल से जामुन (*Eugenia jambols*) का उपयोग भूमिमेह और शुद्धमूर्खेह में किया जाता है। रोगों में जामुन का वींग प्रयोग करना चाहिए। यिन्हीं के प्रयोगाधिकार के “यमोर्युद्धारादपथेदीनकारारन्त आत्र चरित्य जामु न विवाह करुम भद्र”^१ इस स्थोक की में श्वीचप्टदस लिखते हैं—भास्तरसित जामुन पर्यायावानिक विद्येयरा से यदि विद्युहुमा है कि बीउ में लाहून (*Jambuline*) नामक एक घृकंकमाइड (*G. strob.*) होता है, जिसके प्रयोग से जामुमेह में गुका सूत्र की राशि कम होती है। पाण्डाल्य वैद्य भी आम भूमिमेह की चिकित्सा में अन्य ओपरियों के साथ जामु उपयोग (जैसे—Jambul and Codeine, P. D. and करते हैं। जिन्हें का भी उपयोग पाण्डाल्य वैद्यक में नवे पुराने अनिसार के लिये करते हैं।

तालनारिकेलपनसमौचमधुतीनि ॥१७॥
र्विश्वदायि च ।

स्वादुपाकरसान्याहुयातीपतहृषी
यस्मद्विनि जिग्यथानि षुड्वासनि दिमनि च ॥
ताल, नारियल, पनस (कटहर Allo caria s. In-
folia), केला प्रसूति कम ॥१०३॥ में फल रस और
में मधुर, वातरितानाशक, घटकारक, दिग्ध, गर्भ
और शीतल होते हैं ॥१०४॥

फालं स्वादुरुरन्म तेयां तालजंगं गुरु पितृतिर्
तद्वृत्तं स्वादुपार्कं च मूषकं धानतिर्तिर्
नालिकेर्स गुरु लिपार्पि पितृस्मै भादु शीतलम्
घलमांसमदं हृष्टं सूखणं विस्तिर्योधनम्
एतमं भक्तायां तु लिपार्पि स्वादुरुरन्म गुरु
मौरं स्वादुरुरमे प्रोक्त पवायं नातिशीतलम्
रक्तपितृतं गुरुं रक्तयं संरक्षकारं गुरु

यत्तद्—प्राप्तिकरं च अस्य समावेशितम् ।
प्रतिकरं से इसके बाहर, संसार द्वारा उत्पन्न होने वाले
होते हैं । इसके अलावा इस जगत् में भी कुछ संभव
समावेश होते हैं । इनमें वार्षिक और वैष्णव
समावेश होते हैं । अन्य जगत् की विभिन्न काम का एक समावेश

सें बहुली के सेल (Codliver oil) का युकावला कर सकता है। अमरिका धार्दि दंगों में इसका उपयोग राजयक्षमा तथा अन्य ज्ञायकारक रोगों में गरीबुष्टि के लिये सफलता तै करते हैं। चामट ने श्वासाहृदय में नारिकेलादि फलों का उपयोग ज्ञायरोग के लिये लिखा है—इनमें गुण शीलन्मय। दाइक्षानश्यहरू रस्तपित्रादनम् ॥ नारिकेलादंड का भी राज-यक्षमा में उपयोग होता है। केला भी बहुत पुष्टिकर चवाय है। इसमें शर्करा, मेद, प्रोटीन, चूना, क्षार, लैंह, कास्फारिक श्यस्त इन्पादि रासायनिक पदार्थ होते हैं। इनके अतिरिक्त जीवनीय-द्रव्य यीं ली भी होते हैं। तीन अच्छी तरह पके हुए केले और ऐट सेर दूप एक मनुष्य के लिये एक समय का उत्तम आहार होता है। अतिसार प्रवाहिकादि रोगों में केला पच्य-कर होता है। इसमें केवल एक दोष पठ्ठ है कि पचन में कठिन होता है और कुछ लोगों को उसके सेवन से बदकोष्टता उत्पन्न होती है। केला आँतिडियों में जन्मनाशन का काम करता है।

द्राक्षाकाशमर्यसर्जूरमधूकपुष्पप्रभृतीनि ॥१८२॥

रस्तपित्तहराण्याद्युर्गुरुलिंगि मधुराणि च ।

द्राक्षा (अंगूर), काशमर्य (खंभारी), सर्जूर (छोहारा और खजूर), मधूकपुष्प (फल) प्रभृति ॥१८२॥ (ये फल सामान्यतया) रस्तपित्तनाशक, भारी और मधुर होते हैं।

तेषां द्राक्षा सरा स्वर्या मधुरा स्त्रिरधशीतला ।

रस्तपित्तज्वरश्वासतृष्णादाहक्षयापदा ॥१८३॥

हृदयं सूचविवन्धन्म पित्तासुग्वातनाशनम् ।

केशं रसायनं मेध्यं काशमर्यं फलमुच्यते ॥१८४॥

द्रव्यतज्जयापहं हृदयं शीतलं तर्पयं गुरु ।

ग्से पाके च मधुरं सर्जूरं रस्तपित्तजित् ॥१८५॥

चैर्णीयमहृदयं च मधूककुछुमं गुरु ।

वातपित्तोपशमनं फलं तस्योपदिश्यते ॥१८६॥

इनमें से द्राक्षा दस्तावर, स्वर के लिये हितकर, मधुर, स्त्रिय, शीतल है और रस्तपित्त, ज्वर, श्वास, तृप्ता, द्राह तथा ज्वर का नाश करती है ॥१८३॥ काशमर्यफल हृदय, सूचावरोध, रस्तपित्त और वायु इनका नाश करने वाला, केश के लिये हितकर, रसायन और वृद्धिवर्धक होता है ॥१८४॥ खजूर ज्ञानक्षयनाशक, हृदय, शीतल, तृप्तिकारक, रस्तपित्तनाशक, भारी, रम और विपाक में मधुर होता है ॥१८५॥ महूवा के पुष्प गरीबुष्टिकर, मन को विशेष प्रसवता न देने वाले और भारी होते हैं। उसके फल वातपित्तनाशक होते हैं ॥१८६॥

वक्तव्य—द्राक्षादिवर्ग के फल मधुररम्प्रधान हैं।

इनमें शर्कराजातीय द्रव्य अधिक होता है। इन द्रव्यों से

प्रायः या मध्य प्राचीन तथा अर्वाचीन काल में धनाया जाता

। द्राक्षा के चार भेंद होते हैं—१ द्राक्षा (अंगूर), २

फिलाक्षा (काली दाढ़), ३ क्षुद्र द्राक्षा (किसमिस),

४ गोस्तनीद्राक्षा (भुनका)। यहाँ केवल पहले प्रकार की

द्राक्षा के गुण वर्णन किये हैं। खर्जूर तीन प्रकार का होता

है—१ खर्जूरी (Phoenixsylvestris), २ पिण्डखर्जूरी

(छोहरा Phoenix Dactylifera), ३ खर्जूरी (Phoenic Farnifera)।

वातामास्तोडामिषुकनिचुलपिचुनिकोचकोस्मारुप्रभृतीनि ॥१८७॥

पित्तस्तेष्महराण्याद्याद्युर्गुरुलिंगि च ।

वृंहणान्यनिलभ्नानि वलयानि मधुराणि च ॥१८८॥

वादाम, अखरोट, अभिषुक (काजू ?), निचुल (चिलगोजा), विचु, निकोचक (पिस्ता, Pistacia Vera), उस्माण (नासपाती ?) प्रभृति फल ॥१८७॥ पित्तकफालाणक, जिम्ब, उण्या, दुर्जर, गरीबुष्टिकर, वातनाशक, वलकारक, और मधुर हैं ॥१८८॥

वक्तव्य—वादाम आदि फल 'सूखे में' वर्ग के हैं। उनमें पीषिकांग बहुत होता है। इनका सामान्य रासायनिक संगठन ऐसा है—१५-२० प्रतिशत प्रोटीन, ५०-६० प्रतिशत चर्बी, १-१२ प्रतिशत कार्बोहेडेट, ३-५ प्रतिशत सेल्युलोज, १ प्रतिशत स्वनिज ज्वार, ४-५ प्रतिशत पानी। इनमें प्रोटीन और मेद अधिक होने के कारण इनकी वृंहण शक्ति मासिं के वरावर हीती है। शर्कराजातीय द्रव्य बहुत कम होने के कारण मधु-मेही रोगियों के लिये ये फल पच्यकर होते हैं। परन्तु मासिं की अपेक्षा ये पचन में भारी होते हैं। अतः इनको खूब चवा चवा कर खाना चाहिये। प्रधान मेवे का संगठन नीचे दिया है—

नाम	प्रोटीन	वसा	कार्बोहेडेट	स्वनिज	जल
वादाम	२१०	५४९	१७२	२३	४६
अखरोट	१५५७	७७४३	१३०८	१७	१२२२
पिस्ता	२२६	५४८	१५६	२८	४२

कपायं कफपित्तस्तेष्म किंचित्तिकं रुचिप्रदम् ।

हृदयं सुगन्धिविश्वादं लघलीफलमुच्यते ॥१८९॥

वसिरं शीतपाक्यं च सारुप्तकरनिवन्धनम् ।

विष्ट्रिम्भ दुर्जरं रुक्कं शीतलं वातकोपनम् ॥१९०॥

विषाके मधुर चापि रस्तपित्तप्रसादनम् ।^१

लवली फल (हरफारेवडी—Phyllanthus Disticus) कसैला, कफपित्तनाशक, किंचित्त कडवा, रुचिकर, मन को मिल, सुगंध युक्त, और विश्वद होता है ॥१८९॥ वसिर (सूर्यवर्त फल), शीतपाक्य (बलाफल) और अरुप्तकर निवन्धन (भलातकवृन्त) विष्ट्रिम्भजनक, पचने में कठिन, रुक्क, शीतल, वातप्रकोपक ॥१९०॥ विषाक में मधुर और रस्तपित्त प्रसादक होते हैं।

शीतं कपायं मधुरं टङ्कं मारुतक्षुरु ॥१९१॥

स्त्रिग्धोष्णं तिक्तमधुरं वातस्तेष्ममैङ्गुदम् ॥१९२॥

शभीफलं गुरु स्वादु रुक्कोष्णे कैशानाशनम् ।

गुरु श्वेष्मातकफलं कफक्षमधुरं हिमम् ॥१९३॥

करीराक्षकपीलूनि तुणश्यन्यफलानि च ।

स्वादुतिक्तकदूषणानि कफवातहराणि च ॥१९४॥

१ एतद्वये—ऐरात इन्द्राजालमन्त्र शोणिप्रिसाङ्कृत इत्यचिक्षः पाठः ।

तिनं पित्तकरं नेत्रां सरं कटुयिपाकि च ।

तीक्ष्णोष्टुं कटुकं पीलु सखेहं कफयातजित् ॥१०५॥

टड़ (मील कपिय) गीतल, कशाय, मधुर, वातकारक और भारी है ॥१०६॥ इंगुरीकल द्विष्प, उण, कटुरा, मधुर और वातकारक है ॥१०७॥ गर्मी का फल भारी, मधुर, उत्तर, उण और वेशनागक है । ऐरेपातह (Lिम्बाई, Cordia Myxa) का कफ भारी, कफातरक, मधुर और गंतल है ॥१०८॥ कीरि (Capparis Aphylla), आज्ञिक, पील (Salvadora Persica) और तुणश्लूप (महिका या केन्द्री) इनके फल मधुर, कटुरे, घरपरे, गरम और कफ वातनागक होते हैं ॥१०९॥ इनमें से पील का फल (सम में) कटुरा, पित्तल, दानावर, विपाक में कटु, तीक्ष्ण, गरम, कटु, खेड़युक और कफवातनागक है ॥११०॥

आरुप्परं तौवरकं कपायं कटुयाकि च ।

उष्टुं कुमिज्वरानाद्वमेहोदावर्तनाशनम् ॥१११॥

कुष्ठगुल्मोदावर्तोष्टुं कटुपाकि तथैव च ।"

करञ्जिक्षुकारिष्टफलं जन्मुप्रमेहनुत् ॥११२॥

रुक्षोष्टुं कटुकं पाके लघु वातकफापहम् ।

तिकमीपद्धियहितं विडहं कुमिनाशनम् ॥११३॥

आस्तकर और तीवरक फल वातकारक, कपाय, विपाक में कटु और गरम है और कृमि, ऊर, अफारा, प्रमेह और उदावरने इनका नाश करता है ॥११४॥ करञ्ज, दाक और नीम के फल कृमि, प्रमेह, कृष्ट, गुम्ब, उदर, और अर्थे इनका नाश करने वाले तथा विपाक में कटु होते हैं ॥११५॥ विडग रुक्ष, उष्टा, विपाक में कटु, हलका, वातकफालायक, कटुवा, विप भेदे हितकर और कुमिनाशक होते हैं ॥११६॥

यक्षन्त्रय— तुवरक, करञ्ज, दाक, नीम और विडग आभ्यं-तरीय तथा बाल प्रयोग में जीवाणुनाशक (Antiseptic) और कुमिनाशक (Anthelmintics) हैं । इनमें से तुवरक, करञ्ज और नीम अनेक प्रकार के खचा रोटी में तथा कृष्ट में लाभदायक होते हैं कुट्ट के लिये तो पाथोल्य वैद्यक में भी तुवरक तेल के विविध योगों का ही प्रयोग होता है । बाघट ने इनके फल मज्जा का प्रयोग कृष्ट के लिये लिखा है—*साथन प्रवेषेन तुवराम्भीनि रीतिशत् ॥* (वि अ १६) । दाक के बीच का उपयोग गोल कृमि (Round Worm) के लिये उत्तम होता है । विडग का उपयोग बारेट कृमि (Tape Worm) के लिये उत्तम होता है । इन औषधियों का समावेश पाशास्त्र वैद्यक में भी दिया गया है ।

व्ययमुष्टुं सरं मेच्ये दोषज्ञं शोफकुष्ठनुत् ।

कपायं दीपनं चाम्ल च्याप्तुष्टु चाभ्यापफलम् ॥११७॥

भेदन लघु रुक्षोष्टुं वैस्वर्यं किमिनाशनम् ।

च्याप्तुष्टुं खादुपाकयात्मं कपायं कफपित्तजित् ॥११८॥

हरेद का फल वात के लिये हितकर, उण्य (वीर्य), द्रव्यता वा तुष्टिवर्धक, दोषनाशक, गोप्य और कृष्टनाशक, कपाय रम वाला, अस्त्रिदायक, यदा और नेत्र के लिये हितकर होता

१ प्रत्यय— भृष्टव्यय फल विश्व गुरु फैमहर विस्मृ' इति विक पाठ ।

है ॥११९॥ पोहे का फल भेदक, हलका, रुक्ष, उष्ट और कृमिनाशक, नेत्र के लिये हितकर, विपाक भेदे कपाय और कफपित्तजित है ॥२००॥

कफपित्तदर्दं रुक्षं वफ्क्केदमलापहम् ।
कपायमीपनमधुरं फिचित् पूगफलं सरम् ।
जातीकोशोदथ कर्पूरं जातीकटुकयोः फलम् ।
कटोलकं लघुहं च तिकं कटु कफापहम् ।
लघु तुष्णापहं वफ्क्केददौगन्धयनाशनम् ।
सतिकः सुरभिः इतिः कर्पूरो लघु लेपनः ।
तुष्णार्थं सुवश्वोदे च वैरस्ये चापि पूजितः ।
लताकस्त्रिका तडच्छ्रुता वित्तिविशेषधनी ॥

पूरीफल (सुपारी) कफपित्तनाशक, रुक्ष, सुर गीलापन और मैल को दूर करने वाला, कपाय, किंचित् और किंचित् द्रव्यता वाला है ॥२०१॥ जातीकोश (जाति कर्पूर, जातीहल, कटुका फल (लताकम्भू का या कटोलकफल), कटोलक (Cubeba officinalis) लंबा ये कट्टे, घरपरे, कफानाशक ॥२०२॥ हलके, तुष्ण और सुख का गीलापन तथा दुर्बीष हनके नाश करने वाले करूर कटुवा, सुगप्तुन, गीतल, हलका, लेशन हैं ॥२०३॥ और तुष्ण, सुख की सुखी और अरुचि में कायदेगम्द है । लताकम्भूरिका (सुख दाना Hibiscus Abelmoschus) वैर्दह के अनुमार गुणवाली, गीतल और सूत्रविग्न होती है ॥२०४॥

प्रियालमज्जा भधुरो वृथ्यः पित्तानिलापहः ।
वैभीतको मद्दरः कफमारतनाशनः ॥२०५॥
कपायमधुरो मज्जा कोलानां पित्तनाशनः ।
तुष्णाच्छर्द्यनिलग्न्धश्च तछामलकस्य च ॥२०६॥
चीजपूरकशाम्यामज्जा कोशास्रसंभवः ।
मादुपामोऽग्निवलकृत्यग्निधः पित्तानिलापहः ॥२०७॥
यस्य यस्य फलस्येह वीर्यं भवति यादशम् ।
तस्य तस्यैव वीर्यं भज्जानमपि निर्दिशेत् ॥२०८॥

प्रियालमज्जा (चिरोंडी) मधुर, वृथ्य, वातपित्तनाश है । बैंडे की मज्जा मद्दर और वातकफलायक है ॥२०९॥ कीलमज्जा (बैंडे की मीरी), कपाय, मधुर, वित्तनाश तृप्तिवामक, वयवतर और वातहर है । चीजें की मुख की गिरी भी गुण में कीलमज्जा के गुणानुसार होती है ॥२१०॥ मातुलुग (चिरोंडी), गम्भाक (किसान), और कोंगावर इनके बीज की गिरी विपाक में मधुर, अस्त्रि का ये वरान वाली, विष और वातपित्तनाशक होती है ॥२११॥ जिस फल का जैवा वीर्य होता है उसी के गुणाना उमन मज्जा (के गुणों की) जावना चाहिये ॥२१२॥

फलेपु परिपक्वं यहुगचन्दुदाहतम् ।
विल्वादन्यत्र विवेयमामं तद्वि गुणोन्नरम् ।
ग्रासुष्टुं दीपनं तद्वि कपायं कटु तिककम् ।
व्याधिते कुमिनुष्टुं च पात्रातीतमकालजम् ॥२१३॥

घर्जनीयं फलं सर्वमपर्यगतमेव च ॥२१०॥
दृतिं फलवर्गम् ।

विवफल के अतिरिक्त अन्य फलों में जो एक पके हुए हैं ही (अपने) गुणों से युक्त होते हैं । विल्व तो कच्चा ही गुणाकारक होता है । वह ग्राही, उष्ण, अस्त्रिदीपक, कथाय, कट्ठ और तिक्त (रसयुक्त) होता है ॥२०६॥ जो रोग से खराव हुआ हो, जो काँड़ों से खाया हुआ हो, जो अधिक पका हुआ (गला सड़ा) हो, जो अकाल में उत्पन्न हुआ हो तथा जो आपक (कच्चा) हो ऐसा सर्व (प्रकार का) फल आगना (खाना नहीं) चाहिये ॥२१०॥

वक्तव्य—खगव भूमि में उत्पन्न हुआ, खराव पानी में हुआ हुआ, मक्खियों से तथा मलमूत्रादि से दूषित हुआ फल सेवन नहीं करना चाहिये—हिमानिलोणदुर्विनियालालादि-दृष्टिम् । जन्तुजुष जल मध्मभूमिजमनार्देवम् ॥ (वाम्भट) । अदिग्रहणेन शवकोथमूत्रपुरीपार्निना ग्रहणम् ॥ (अस्सदत्त) । इस प्रकार के खराव फल सेवन करने से अतिसार, प्रवाहिका, विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर तथा पचनसंस्थान के अन्य रोग उत्पन्न होते हैं ।

शाकान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ।—

तत्र पुष्पफलालालुकालिन्दकप्रभृतीनि ॥२११॥

सत्त्वान्यनिलं कुर्युस्तथा मन्दकफानि च ।

एमूत्रपुरीपार्णि स्वादुपाकरसानि च ॥२१२॥

इसके आगे शाकों का वर्णन करते हैं । उनमें पुष्पफल (मांड), अलालु (लंबी), कालिंदक (तरवज्र) इत्यादि ॥२११॥ पित्तनाशक, वातजनक, किंचित् कफकारक, मूत्र की प्रवृत्ति करने वाले, रस और विषाक में मधुर हैं ॥२१२॥

तेत्तम्भं तेषु कूम्भाण्डं वालं मध्यं कफावहम् ।

उक्तं लघूण्णं सत्त्वारं दीपनं वस्तिशोधनम् ॥२१३॥

सर्वदोपहरं हृदयं पथ्यं चेतोविकारिणाम् ।

एषिगुक्त्ययकरं कालिन्दं कफवातकृत् ॥२१४॥

गलालुभित्तचिट्का तु रुक्षा गुर्व्यतिशीतला ।

तेकालालुहृदया तु वामिनी वातपित्तजित् ॥२१५॥

इनमें से वालकुम्भाण्ड (कच्चा पेंडा) पित्तनाशक होता मध्य (अधपका) कफनाशक होता है और खूब पका गया शुक्ल हल्का, उण्ण, किंचित् सलोना, अस्त्रिदीपक और गविशोधक होता है ॥२१३॥ सब दोपों को शांत करता हृदय को हितकर है और (उन्माद, अपस्मार, मूर्च्छा इति) मानसिक रोगों से पीड़ित रोगियों के लिये पथ्यकरता है । कालिन्द इष्टी और शुक्र का नाशक और वातकफरक है ॥२१४॥ अलालु (मीठी तोंबी) मल का भेदन वाली, रुक्त, भारी और अतिशीतल है । कडवी तोंबी हृदय, वमन करने वाली और वातपित्तनाशक होती है ॥२१५॥

वक्तव्य—वेल वाले फलों में कुम्हडा सब से श्रेष्ठ माना या है—नहीं कलानां कूम्भाण्डं प्रवरन् । (वाम्भट) । कूम्भाण्डं वै कृति मिष्ठै कुम्हडा इति ॥२१६॥

त्रपुसैवर्हककर्कशीर्णवृन्तप्रभृतीनि ॥२१६॥

स्वादुतिक्तरसान्याहुः कफवातकराणि च ॥२१७॥

त्रपुस (खीरा), एर्वारुक (ककड़ी), कर्कारुक, शीर्णवृन्त (ये ककड़ी के ही भेद हैं) इत्यादि ॥२१६॥ ये इस मधुर और कड़वे, कफवातकारक, मलमूत्र की प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले और रक्तपित्तनाशक होते हैं ॥२१७॥

वालं सुर्नीलं त्रपुसं तेपां पित्तहरं स्मृतम् ।

तत्पाण्डु कफकृजीर्णमस्तं वातकफापहम् ॥२१८॥

एर्वारुकं सकर्कारुक संपकं कफवातकृत् ।

सत्त्वारं मधुरं रुच्यं दीपनं नातिपित्तलम् ॥२१९॥

संत्वारं मधुरं चैव शीर्णवृन्तं कफापहम् ।

भेदनं दीपनं हृद्यमानाहाष्टीलचुल्लघु ॥२२०॥

इनमें से कच्ची नींमी ककड़ी पित्तनाशक होती है; पूर्ण पक सफेद कफकमरक और खट्टी वातकफनाशक होती है ॥२१८॥ पूर्ण पक एर्वारुक और कर्कारुक कफवातजनक, किंचित् सलोना, मधुर, हृचिकर, अस्त्रिदीपक हृदय, आनाह और (सूत्र) अष्टीला (Enlargement of the prostate) को दूर करने वाला तथा लघु होता है ॥२२०॥

पिष्पलीमरिचशट्टवेरार्द्धकहिङ्गजीरककुस्तुम्बुरु-जम्बीरसुमुखसुरसार्जकभूस्तुरणसुगन्धककासमर्द्द-ककालमालकुठेरकक्षवकखरपुष्पशिशुमधुशिशुफ-णिन्भकसर्पपराजिकाकुलाहलावगुत्थगराडीरतिल-परिंकावर्पाभूचित्रकमूलकलचुनपलागडुकलायप्रभृ-तीनि ॥२२१॥

कट्टन्युष्णानि रुच्यानि वातश्लेष्महराणि च ।

कृतान्येपूपयुज्यन्ते संस्कारार्थमनेकधा ॥२२२॥

पिष्पली, मरिच, शट्टवेर (शृण्ठी), आर्द्धक (अदरख), हिंगु, जीरक, कुम्हडा (धनिया), जम्बीर (नींबू), सुमुख, सुरस, अर्जक (ये नीन तुलसी के भेद हैं), भूस्तुरण (रोहिप), सुगंधक, कासमर्द्दक (कसोंबी), कालमाल (कला अजवला), कुठेरक (तुलसी का भेद), जबक (नाक छिकनी), खरपुष्प (छिकनीभेद या बनवर्धकिभेद), शिशु (सफेद सहिजन), मधुशिशु (लाल फूल का सहिजन), फणिजक (मरवा), सर्पेप (सफेद सरसों), राजिका (राई), कुलाहल, अवगुत्थ (रक्तचन्दन या चोरक), कर्पाभू (थेत पुनर्नवा), चित्रक, मूलक, लशुन, पलाण्डु (प्याज), कलाय (मटर का साग) प्रभृति ॥२२१॥ सामान्यतया ये साग कटु, उण्ण, हृचिकर, वातकफहर होते हैं, और कड़व साल

तिक्त पित्तकरं नेपां मरं कटुविषाकि च ।
तीक्ष्णोप्पणं वटुकं गीतु सखेदं कफयातजित् ॥१९५॥

टड़ (बीज क्षिण्य) शीतल, कपाय, मधुर, वातकारक और भारी है ॥१९६॥ इतुटिकल लिख, उण, कडुका, मधुर और वातकारनाशक है ॥१९७॥ गर्मी का फल भारी, मधुर, रुत, उण और केगनाशक है। शेषमात्रक (लिमोदा, Cordia L. १८८०) का फल भारी, कहतारक, मधुर और गीतल है ॥१९८॥ बरीर (Capparis Aphylla) आतिक, पीलु (Silirodesia Persica) और तुण्डूल्य (महिंका या केन्की) इनके फल मधुर, कड़े, चरपे, गरम और कफ वातनाशक होते हैं ॥१९९॥ इनमें से पीलु का फल (रस में) कटवा, पित्तल, दलातर, विपाक में वटु, तीक्ष्ण, गरम, कटु, घट्टयुक्त और कफवातनाशक है ॥२००॥

आदरकरं तौवरकं कपायं कटुविषाकि च ।

उध्यं कुमिज्ज्वरानाहमेहोद्वायर्तनाशनम् ॥२०१॥

कुष्ठगुल्मोद्वाराशोऽप्त्वं कटुपाकि तथैव च ।'

करञ्जकिशुकारिष्टफलं अनुप्रमेहनुत् ॥२०२॥

रुद्धोप्पणं कटुकं पाके लघु वातकफापदम् ।

तिक्तमीपद्धिपहितं विडहं कुमिनाशनम् ॥२०३॥

आदरकरं और तौवरक एव वातकारक, कपाय, विपाक में कटु और गरम हैं और कृमि, जर, अकारा, प्रमेह और उड़ारके इनका नाश करता है ॥२०४॥ करज, दाक और नीम के फल कृमि, प्रमेह, कृष्ट, गुल्म, उद्धर, और अर्थ इनका नाश करने वाले तथा विपाक में कटु होते हैं ॥२०५॥ विडग रुत, उण, विपाक में कटु, हलका, वातकारनाशक, कटवा, विप भेदे हितकर और कृमिनाशक होते हैं ॥२०६॥

यत्कथ्य—तुवरक, करज, दाक, नीम और विडग आम्ब तीरीय तथा बाढ़ा प्रयोग में जीवाणुनाशक (Antiseptic) और कुमिनाशक (Anthelmintics) हैं। इनमें से तुवरक, करज और नीम अनेक भ्रकार के लक्ष्य रोगों में तथा कुछ में लाभदायक होते हैं कुछ के लिये ता पात्रोत्तर वैद्यक म भी तुवरक तेल के विविध रोगों का ही प्रयोग होता है। वाम्बट ने दूसरे कल मज्जा का प्रयोग कुठ के लिये लिखा है—रात्रेन प्रयोगम तुवरान्ती शीतलेत् ॥ (चि अ १५)। दाक के भी का उपयोग गाल कृमि (Round Worm) के हिसे उत्तम होता है। विडग का उपयोग चपटे कृमि (Tape Worm) के हिसे उत्तम होता है। इन आपीशियों का समावेश पात्रात्य वैद्यक में भी किया गया है।

ब्रह्मयुग्मणं मरं मध्य दोषम शोफकुष्ठनुत् ।

ऋग्य दीपन चाम्ल चक्षुध्य चाम्याफलम् ॥२०७॥

भेदन लघु रुद्धोप्पणं वैवर्त्य किमिनाशनम् ।

चक्षुध्य सादुपान्त्याद् कपायं कफपित्तजित् ॥२०८॥

हाँडे का फल ग्राम के लिये हितकर, उण्य (वैर्य), दम्पत व तुदिकरक, दोषनाशक, गोय और कुष्ठनाशक, कपाय रम वाला, अमिन्दीपक, गहड़ा और नंज के लिये हितकर होता

२ एवं—भड़ालस्य फल विल गुरु के भार हिम् । हय
विक पाठ ।

है ॥२०९॥ बहेडे का फल भेदक, हलका, रुत, उण्य, नाशक, कुमिनाशक, नेत्र के लिये हितकर, विपाक में मध्याय और कफपित्तनाशक है ॥२१०॥

कफपित्तहृदं रुतं चक्रहेदमलापहम् ।

कपायमीपन्मधुरं किंचित् पूगफलं सरथ् ॥२११॥

जातीकोशोऽथ कर्पूर जातीकटुकयोः फलम् ।

कफोलके लघुहं च निकं कटु कफापदम् ॥२१२॥

लघु तुष्णापहं चक्रहेददीर्घन्यनाशनम् ।

सतिकः सुरभि, शीतः कर्पूरो लघु लेघनः ॥२१३॥

तुष्णायां मुखशोपे च धैरस्ये चापि पूजितः ।

लताकस्तूरिका तद्व्युतीता वस्तियशोधनी ॥२१४॥

पीपील (सुपारी) कफपित्तनाशक, रुत, मुख

गीलान और मैत्र के दूर वाले वाला, कपाय, किंचित् मा

ओर किंचित् दसनवर है ॥२१५॥ जातीकोश (जातीत्री,

कर्पूर, जातीकम, कुटुक फल (जातीकस्ती का यास कहोलकफल), कुबेलक (Cubebia officinalis) और लघा ये कटवे, चरपे, कफनाशक ॥२१६॥ हलके, तुष्णायां और मुख का गीलापन तथा दुर्गीष इनके नाम फर्ने वाले हैं कपूर, कडुवा, मुगधयुक्त, गीतल, हलका, लेघन है ॥२१७॥

और तेग, मुख की खुण्की और अरुचि में कायदेशम द्वारा होती है ॥२१८॥

लताकम्बुरिका (मुगक दाना Hiliusca Albuloides claus) कर्पूर के अनुसार गुणवाली, गीतल और मुत्रशोध

होती है ॥२१९॥

प्रियालमज्जा मधुरो वृथ्य, पित्तानिलापद ।

वैभीतको मदकरः कफमारतनाशन ॥२२५॥

कपायमधुरो मज्जा कोलानां पित्तनाशन ।

तुष्णाच्छर्वनिलभ्यश्च तद्वामलकस्य च ॥२२६॥

धीजपूरकशम्याकमज्जा कोशाश्रसंभव ।

साकुपाकोऽश्रिगलकृष्टम्भ्य, पित्तनिलापद ॥२२७॥

यस्य यस्य फलस्येह धीर्य भवति यादशम् ।

तस्य तस्यैव धीर्यं मज्जानमपि निर्दिशेत् ॥२२८॥

प्रियालमज्जा (चिरोंती) मधुर, वृथ्य, पात्रपित्तनाशक है । बहेडे की मज्जा मदकर और वातकारनाशक है ॥२२९॥

कालमज्जा (वेर की मीठी), कपाय, मधुर, वित्तनाशक तुष्णायाम, दमनहार और वातहर है । आंवांसे की खुण्की की गिरी भी गुण में कोलमज्जा के गुणानुसार होती है ॥२३०॥

मानुलग (विरोंती) गम्भाक (किरामज) और कपायाम इनके भीज की गिरी विपाक में मधुर, अम्ल का फैलान वाली, वृथ्य और वातपित्तनाशक होती है ॥२३१॥

जिस फल का जैवा धीर्य होता है उसी के मनुमार उमरी मज्जा (के गुणों की) जानना चाहिये ॥२३२॥

फलेपु परिपक्व यहुण्यवत्तुदाहतम् ।

विल्यादन्यव विल्यमाम तद्वि गुणोत्तरम् ।

प्रातुष्ण दीपनं तद्वि कपायं कटु तित्तकम् ।

द्याधितं कुमिजुष च पाकातीतमकालजम् ॥२३३॥

धर्जनीयं फलं सर्वमपर्यगतमेव च ॥२१०॥
द्वितीये फलवर्गः ।

३ विल्वफल के अतिरिक्त आन्य फलों में जो शीक पके हुए हैं वे ही (अपाने) गुणों से युक्त होते हैं । विल्व तो कचा ही गुणाकारक होता है । वह ग्राही, उषणा, अग्निदीपक, कपाय, कटु और तिक्त (रसयुक्त) होता है ॥२०६॥ जो रोग से खराब हुआ हो, जो कीटों से खाया हुआ हो, जो अधिक पका हुआ (गला सड़ा) हो, जो अकाल में उत्पन्न हुआ हो तथा जो अपक (कचा) हो ऐसा सर्व (प्रकार का) फल लागता (खाना नहीं) चाहिये ॥२१०॥

वक्तव्य—खराब भूमि में उत्पन्न हुआ, खराब पानी में हुआ हुआ, मविषयों से तथा मलमूत्रादि से दूषित हुआ फल सेवन नहीं करना चाहिये—ऐमानिशेषाण्डुविनिवालालादि-दृष्टिम् । वन्मुख वज्र मध्यमधुभित्तमनार्तवग् ॥ (वाम्बट) । अग्निदीपक शब्दोथमूरुरीषादीना वृश्णम् ॥ (अरुणदत्त) । इस प्रकार के खराब फल सेवन करने से अतिसार, प्रवाहिका, विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर तथा पचनसंस्थान के ग्रन्थ रोग उत्पन्न होते हैं ।

शाकान्यत ऊर्ध्वं वक्त्यामः ।—

तत्र पुष्पफलालावुकालिन्दकप्रभृतीनि ॥२११॥

पित्तमान्यनिलं कुर्युस्तथा मन्दकफानि च ।

सृष्टमूत्रपुरीषाणि स्वादुपाकरसानि च ॥२१२॥

इसके आगे शाकों का वर्णन करते हैं । उनमें पुष्पफल (कूमांड), अलादु (तंबी), कालिंदक (तरबूज) दृष्टादि शाक ॥२११॥ पित्तनाशक, वातजनक, किंचित् कफकारक, मलमूत्र की प्रवृत्ति करने वाले, रस और विपाक में मधुर होते हैं ॥२१२॥

पित्तमध्यं तेषु कूमाण्डं वालं मध्यं कफावहम् ।

शुकुं लघूण्णं सज्जारं दीपनं वस्तिशोधनम् ॥२१३॥

सर्वदोपहरं हृदयं पथ्यं चेतोविकारिणाम् ।

दृष्टिशुक्लयकरं कालिन्दं कफवातकृत् ॥२१४॥

अलादुभित्तविद्वका तु रुक्षा गुर्व्यतिशीतला ।

तिक्तालावुरहृद्या तु वामिनी वातपित्तजित् ॥२१५॥

इनमें से वालकूमाण्ड (कचा पेठा) पित्तनाशक होना है, मध्य (अधपका) कफनाशक होता है और खूब पका हुआ शुक्ल हल्का, उषणा, किंचित् सलोना, अग्निदीपक और मृत्युविरोधक होता है ॥२१३॥ सब दोपों को शांत करता है, हृदय को हितकर है और (उन्माद, अपस्मार, मूर्च्छा प्रभृति) मानसिक रोगों से पीड़ित रोगियों के लिये पथ्यकर होता है । कालिन्द दृष्टि और शुक्ल का नाशक और वातकफ-जनक है ॥२१४॥ अलादु (मीठी तंबी) मल का भेदन करने वाली, रुक्षा, भारी और अतिशीतल है । कहीं तंबी अहश्य, चमन करने वाली और वातपित्तनाशक होती है ॥२१५॥

वक्तव्य—वेल वाले फलों में कुम्हडा सब से श्रेष्ठ माना गया है—वहीफलानां कूम्हाण्डं प्रवरम् । (वाम्बट) । कूम्हाण्डं प्रवरं वर्णनि भिषजो वहीफलानां पुनः ॥ (राजनिधंडः) ।

व्रपुसैर्वारुककीर्णवृन्तप्रभृतीनि ॥२१६॥
स्वादुतिक्तरसान्याहुः कफवातकराणि च ।

सृष्टमूत्रपुरीषाणि रक्तपित्तहराणि च ॥२१७॥

व्रपुस (खीरा), एर्वाहक (ककड़ी), कर्कारुक, शीर्ण-वृन्त (ये ककड़ी के ही भेद हैं) दृष्टादि ॥२१६॥ ये रस मधुर और कड़वे, कफवातकरक, मलमूत्र की प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले और रक्तपित्तनाशक होते हैं ॥२१७॥

वालं सुमीलं व्रपुसं तेषां पित्तहरं स्मृतम् ।

तत्पाण्डु कफकृजीर्णमस्तं वातकफापहम् ॥२१८॥

एर्वाहकं सकर्कारु संपकं कफवातकृत् ।

सज्जारं मधुरं रुच्यं दीपनं नातिपित्तलम् ॥२१९॥

सज्जारं मधुरं चैव शीर्णवृन्तं कफापहम् ।

भेदनं दीपनं हृद्यमानाहाष्टीलनुद्धुम् ॥२२०॥

इनमें से कहीं नीली ककड़ी पित्तनाशक होती है; पूर्ण पक सफेद कफकरक और खट्टी वातकफनाशक होती है ॥२१८॥ पूर्ण पक एर्वाहक और कर्कारु कफवातजनक, किंचित् सलोना, मधुर, रुचिकर, अग्निदीपक और किंचित् पित्तकर होता है ॥२१९॥ शीर्णवृन्त स्वारापन लिये हुए मधुर, कफनाशक, भेदक, अग्निदीपक, रुच, आनाह और (मूत्र) अटीला (Enlargement of the prostrate) को दूर करने वाला तथा लघु होता है ॥२२०॥

पिपलीमरिचशृङ्खवेगार्द्धकहिङ्गजीरककुस्तुम्युस-जम्बीरसुखसुरसार्जकभूस्तरणसुगन्धककासमर्द-ककालमालकुठेरकद्वावकखरपुष्पशिशुमधुशिशुफ-रिज्जकसर्पपराजिकाकुलाहलावगुत्थगरडीरतिल-परिंकावर्पाभूचित्रकमूलकलशुनपलाएडुकलायप्रभृ-तीनि ॥२२१॥

कट्टन्युष्णानि रुच्यानि वातश्लेष्महराणि च ।

कृतान्येषुपयुज्यन्ते संस्कारार्थमनेकधा ॥२२२॥

पिपली, मरिच, शृङ्खव (शुण्ठी), आर्द्धक (अद्रख), हिंगु, जीरक, कुस्तुरु (धनिया), जम्बीर (नींबू), सुमुख, सुरस, अर्जक (ये तीन तुलसी के भेद हैं), भूस्तरण (रोहिष), सुगंधक, कासमर्दक (कसोंदी), कालमाल (काला अजवला), कुठेरक (तुलसी का भेद), ज्ववक (नाक लिंगकरी), खरसुष्प (लिंगकरीभेद या वनवर्द्धरिकाभेद), शिशु (सफेद सहिजन), मधुशिशु (लाल फूल का सहिजन), फणिज्जक (मरवा), सर्प (सफेद सरसों), राजिका (राई), कुलाहल, अवगुथ (रक्तगुंजा), गणडीर (सूरण), तिलपरिंका (रक्तचन्दन या चोरक), कपोभू (धेत पुनर्नवा), चित्रक, मूलक, लशुन, पलाण्डु (प्याज), कलाय (मटर का साग) प्रभृति ॥२२१॥ सामान्यतया ये साग कड़, उषण, रुचिकर, वातकफहर होते हैं, और कई स्वाद

२ शुरुविद्यमिशीतानि स्वादनि कफकृन्ति च । सृष्टमूत्रपुरीषाणि सक्षात्समुराणि च ॥ ३ कृतान्येषु ॥

तिक्तं पित्तकरं नेत्रां सरं कटुयिगकि च ।

तीक्ष्णोद्धृणं कटुकं पीतु सम्हादं कफयातजित् ॥१५६॥

टड़ (नील कपिथ) गीतल, कशाय, मधुर, वातकारक और भारी है ॥१९१॥ इत्युक्तिकल स्थिर, उष्ण, कडुका, मधुर और वातकारनाशक है ॥१९२॥ गर्मी वा फल भारी, मधुर, रुक्त, उण और केशनाशक है । स्थेमात्रक (लिमोडा, Cordia Myxa) का फल भारी, काकारक, मधुर और गीतल है ॥१९३॥ बरीर (Capparis Aphylla), आकिक, पीतु (Psilopelta Persica) और तुणशून्य (महिका या केलकी) इनके फल मधुर, कडो, चरपट, गरम और कफ वातनाशक होते हैं ॥१९४॥ इनमें से पीतु का फल (रस में) कटवा, पित्तल, दमावर, विषाक में कटु, सीबण, गरम, कड, रुक्तयुक्त और कवकारनाशक है ॥१९५॥

आदम्परं तौद्वयकं कथायं कटुगकि च ।

उद्धृणं कुमिज्वरनाश्वेषोदावर्यतनाशनम् ॥१९६॥

कुत्तुगुल्मोदराशीमं कटुगकि तथैय च ।

करअंकित्युकुरिटफलं जन्मुप्रमेदवृत् ॥१९७॥

रुक्षोद्धृणं कटुकं पाके लघु वातकाराहम् ।

तिक्तमीपद्धियहितं विडहं कुमिनाशनम् ॥१९८॥

आकृतक और तीव्रकरक फल वातकारक, कशाय, विषाक में कटु और गरम है और कृमि, जर, अफारा, प्रमेह और उदार्वत्त इनका नाश करता है ॥१९६॥ करज, ढाक और नीम के फल कृमि, प्रमेह, कृष्ण, गुलम, उदर, और अर्ध इनका नाश करते वाले तथा विषाक में कटु होते हैं ॥१९७॥ विडग रुदा, उष्ण, विषाक में कटु, हलका, वातकरनाशक, कटवा, विष में हितकर और कृमिनाशक होते हैं ॥१९८॥

धक्षत्तड्य—तुवरक, करज, ढाक, नीम और विडग आम्तरीय तथा शादा प्रयोग से जीवाणुनाशक (Antihelmintic) और कुमिनाशक (Anthelmintics) हैं । इनमें से तुवरक, करज और नीम अनेक प्रकार के त्वचा रोगों में तथा कुछ में लाभदायक होते हैं कुछ के लिये तो पाश्चाय्य वैद्यक में भी तुवरक तेल के विषय योगी का ही प्रयोग होता है । वामभट्ट ने इनके फल भजा का प्रयोग कुछ के लिये लिपा है—त्सानन प्रयोगे तुवरकीनी शीलयन ॥ (वि अ १६) । ढाक के बीज का उपयोग गोल हूमि (Bound Worm) के लिये उत्तम होता है । विडग का उपयोग चारों कृमि (Tape Worm) के लिये उत्तम होता है । इन बीपथियों का समावेश पाश्चाय्य वैद्यक में भी किया गया है ।

व्याघ्रमुखं सरं मेष्यं देवप्रसं शोफकुषुन् ।

कथाय वीपनं चाम्लं क्षुधुष्य चाम्याकलम् ॥१९९॥

मेदनं लघु रुक्षोद्धृणं वैस्यं कुमिनाशनम् ।

चाम्यर्थं स्वादुपास्यादं कथायं कफपित्तजित् ॥२००॥

हार्डे का पाल वश के लिये हितकर, उष्ण (वीर्य), दम्ना-वर तुदिकर्पं, दोमानाशक, गोपी और कृष्णनाशक, विषाय रस वाला, अमिदीपक, वटा और नीत्र के लिये हितकर होता

१ एनम्—‘भृष्टालय पल विल गुरु ऐम्हर हिम्’ इति
प्रिया पाठ ।

है ॥१६६॥ बहेडे का फल भेदक, हलका, रुक्त, उष्ण, नाशक, हृमिनाशक, नेत्र के लिये हितकर, विषाक में कथाय और कफपित्तनाशक है ॥२००॥

कफपित्तदरं रुक्तं वक्त्रहेदमलापहम् ।

कथायमीपन्मधुरं किञ्चित् पूगफलं सरम् ॥१६७॥

जातीकोशोऽथ कर्पूरं जातीकटुकपोः फलम् ।

कफोलकं लघुपदं च तिक्तं कटु कफापहम् ॥१६८॥

लघु रुक्षोद्धृणं वक्त्रहेददीर्गन्धयनाशनम् ।

सतिक्तः सुरभिः शीतः कर्पूरो लघु लेखनः ॥१६९॥

रुक्षार्थार्थं मुखशोपे च वैरस्ये नापि पूजितः ।

लताकुस्तरिका तदच्छ्रीता वस्तिविशेषधर्मी ॥२००॥

पूरीफल (सुपारी) कफपित्तनाशक, रुक्त, मुख

गीतापान और भैंस को दूर करने वाला, कथाय, किञ्चित् भ

और किञ्चित् दूषावर है ॥२०१॥ जातीकोश (जावित्री

कर्पूर, जातीकृष, कटुका फल (लताकस्तृती का याह

कफ्लोकनफल), कफोलक (Cubebia officinalis) ३

लघुवं ये कटवे, चरपट, कफनाशक ॥२०२॥ इसके, तृष्णायां

और मुख का गीतापान तथा दुर्बुध इनके नाश करने वाले ।

कटु, कटवा, सुपींशुरु, गीतल, हलका, लेजन है ॥२०३॥

और तुगा, मुख की खुकी और असुख में फायदेमन्द है

है । लताकस्तृतिका (सुरक दाना Hibiscus Altheoides chrysanthemum) कर्पूर के अनुसार गुणवाली, गीतल और मृत्युगिष्ठ होती है ॥२०४॥

प्रियालमज्जा मधुरो चुध्यः पित्तनिलापहः ।

वैभीतिको मदकरः कफमादृतनाशनः ॥२०५॥

कथायमधुरो मज्जा कोलमानं पित्तनाशनः ।

तुष्णाच्छ्वर्यनिलध्य तद्वामलकस्य च ॥२०६॥

वीजपूरकशाम्याकमज्जा कोशाप्रसंभवः ।

स्वादुपाशोऽस्त्रियलक्ष्यत् निग्रः पित्तनिलापहः ॥२०७॥

यस्य यस्य फलस्यैह वीर्यं भवति यादृशम् ।

तस्य नस्त्रैय वीर्यं मज्जानमपि निर्विशेषत् ॥२०८॥

प्रियालमज्जा (चिरीजी) मधुर, वृष्ण, वातपित्तनाशक है । बहेडे की मज्जा मदकर और वातकरनाशक है ॥२०५॥

कोलमज्जा (घेर की भौंगी), विषाय, मधुर, पित्तनाशक, तृष्णागमक, वमनहर और वातहर है । आँखों की गुरुणी भी निरी भी गुण में बोनमला के गुणानुपार होती है ॥२०६॥

मातुलुग (विंजता), गम्याक (किरमाल) और कोणाक्र इनके बीज के गिरी प्रियाक में मधुर, अमिका भेंटे बदाने गाली, विषाय और वातपित्तनाशक होती है ॥२०७॥

जिम्ब पल का जैमा वीर्य होता है उर्मा के ग्रन्तियार उर्मी मज्जा (के गुणों को) जानना चाहिये ॥२०८॥

फलेपु, परिषकं यहुषेव्वन्दुवाहतम् ।

विल्वाश्वर्यन विज्ञेयमामं तदि गुणोत्तरम् ।

धातुष्णं दीपनं तद्धि कथायं कटु तिक्तकम् ।

व्याधितं कुमिजुएं च पाकानीतमकालजम् ॥२०९॥

घर्जनीयं फलं सर्वमपर्यागतमेव च ॥२१०॥
इति फलवर्गः ।

वित्वफलं के अतिरिक्त अन्य फलों में जो ठीक पक हुए हैं वे ही (अपने) गुणों से युक्त होते हैं । विल्व तो कच्छा ही गुणाकारक होता है । वह ग्राही, उपापा, अग्निदीपक, कपाय, कटु और तिक्क (रसयुक्त) होता है ॥२०६॥ जो रोग से खराब हुआ हो, जो कीड़ों से खाया हुआ हो, जो अधिक पक हुआ (गला सड़ा) हो, जो थकाल में उत्पन्न हुआ हो तथा जो ग्रपक (कच्छा) हो ऐसा सर्व (प्रकार का) फल व्यागना (खाना नहीं) चाहिए ॥२१०॥

चक्षुद्य—खराब भूमि में उत्पन्न हुआ, खराब पानी में हुआ हुआ, मविक्षयों से तथा मलमूत्रादि से दृष्टिपूर्ण हुआ फल सेवन नहीं करना चाहिए—हिमानिनोणट्विन्यालालादि-दृष्टिपूर्णम् । जन्मनुष्ट जले मशमभूमित्वमनार्तवम् ॥ (वामभट) । अनिदृष्टेन शब्दोध्यमूरुपीरादीना ग्रहणम् ॥ (अरुणदत्त) । इस प्रकार के खराब फल सेवन करने से अतिसार, प्रवाहिका, विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर तथा पचनमरुथन के अन्य रोग उत्पन्न होते हैं ।

शाकान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ।—

तत्र पुष्पफलालावुकालिन्दकप्रभृतीनि ॥२११॥

तत्प्रान्यनिलं कुरुत्स्तथा मन्दकफानि च ।

प्रमूत्रपुरीपाणि स्वादुपाकरसानि च ॥२१२॥

इसके आगे शाकों का वर्णन करते हैं । उनमें पुष्पफल (मांड), अलावु (तंबी), कालिन्दक (तरबज) इत्यादि ॥२११॥ वित्तनाशक, वातजनक, किंचित् कफकारक, मृत्र की प्रवृत्ति करने वाले, रस और विषाक में मधुर हैं ॥२१२॥

तत्त्वं तेषु कृष्माण्डं वालं मध्यं कफावहम् ।

प्रकूलं लघूण्णं सक्षारं दीपनं वस्तिशोधनम् ॥२१३॥

उर्ध्वोपहरं हृद्यं पथ्यं चेतोविकारिणाम् ।

प्रिणुकक्षयकरं कालिन्दं कफवातकृत ॥२१४॥

गलावुर्भिन्नविद्वक्ता तु रुक्षा गुर्व्यतिशीतला ।

तेक्कालावुरुहद्या तु वामिनी वातपित्तजित् ॥२१५॥

इनमें से वालकृष्माण्ड (कच्छा पंडा) वित्तनाशक होता मध्य (अधपका) कफनाशक होता है और खूब पका गा शुक्ल हल्का, उष्ण, किंचित् सलोना, अग्निदीपक और विशोधक होता है ॥२१३॥ सब दोपों को शांत करता हृदय को हितकर है और (उन्माद, अपस्मार, मूर्च्छा इति) मानसिक रोगों से पीड़ित रोगियों के लिये पथ्यकर गा है । कालिन्द दृष्टि और शुक्र का नाशक और वातकफक का है ॥२१४॥ अलावु (भीठी तोंवी) मल का भेदन ने वाली, रुक्ष, भारी और अतिशीतल है । कडवी तोंवी हृदय, घमन करने वाली और वातपित्तनाशक होती है ॥२१५॥

चक्षुद्य—वेल वाले फलों में कुम्हडा सब से श्रेष्ठ भाना

गा है—वहीफलानां कृष्माण्ड प्रवरम् । (वामभट) । कृष्माण्ड

रं वर्जित भिषजो वृक्षीकृष्णानं पूर्णं (प्रज्ञिमंदः)

त्रपुसेवर्विकर्कसिकशीर्णवृन्तप्रभृतीनि ॥२१६॥
स्वादुनिकरसान्याहुः कफवातकराणि च ॥२१७॥

त्रपुम् (खीरा), एवाल्क (ककडी), कर्काल्क, शीर्णवृन्त (ये ककडी के ही भेद हैं) इत्यादि ॥२१६॥ ये रस में मधुर और कडवे, कफवातकारक, गलमूत्र की प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले और रक्तपित्तनाशक होते हैं ॥२१७॥

वालं सुनीलं त्रपुसं तेपां पित्तहरं स्वृतम् ।

तत्पाण्डु कफकुर्जीर्णमस्त्रं वातकफापहम् ॥२१८॥

एवाल्कं सकर्कारु संयकं कफवातकृत ।

सक्षारं मधुरं रुचयं दीपनं नातिपित्तलम् ॥२१९॥

सक्षारं मधुरं चैव शीर्णवृन्तं कफापहम् ।

भेदनं दीपनं हृद्यमानाहार्षीलचुलघु ॥२२०॥

इनमें से कच्छी नीली ककडी पित्तनाशक होती है; पूर्ण पक सफेद कफकरक और खट्टी वातकफनाशक होती है ॥२१८॥ पूर्ण पक एवाल्क और कर्काल्क कफवातजनक, किंचित् सलोना, मधुर, रुचिक, अग्निदीपक और किंचित् पित्तकर होता है ॥२१९॥ शीर्णवृन्त खारापन लिये हुए मधुर, कफनाशक, भेदक, अग्निदीपक, हृदय, आनाह और (सूत्र) अटीला (Enlargement of the prostate) को दूर करने वाला तथा लघु होता है ॥२२०॥

पिपलीमरिचशृङ्गवेरार्द्धकदिङ्गजीरककुस्तुम्बुरु-जम्बीरसुमुखसुरसार्जकभूस्त्रणसुगन्धककासमर्द-ककालमालकुठेरकद्वचकखरपुष्पशिशुमधुशिशुफ-रिज्जकसर्पपराजिकाकुलाहलावगुत्थगरडीरतिल-पर्णिकावर्पामूचित्रकमूलकलशुनपलाण्डुकलायप्रभृ-तीनि ॥२२१॥

कट्टन्युष्णानि रुच्यानि वातश्लेष्महराणि च ।

कृतान्यवृपूपयुज्यन्ते संस्कारार्थमनेकधा ॥२२२॥

पिपली, मरिच, शङ्खवेर (शृण्ठी), आर्द्धक (अदरख), हिंग, जीरक, कुस्तुम्बुरु (धनिशा), जम्बीर (नींव), सुमुख, सुरस, अर्जक (ये तीन तुलसी के भेद हैं), भूत्वृण (रोहिप), सुगंधक, कासमर्दक (कसोंदी), कालमाल (काला आजवला), कुठेरक (तुलसी का भेद), ज्वचक (नाक लिंगनी), खरुप (लिंगनीभेद या वनवर्बिक्रिभेद), शिशु (सफेद सहिजन), मधुशिशु (लाल फूल का सहिजन), फणिज्जक (मरवा), सर्पण (सफेद सरसों), राजिका (राई), कुलाहल, अवगुथ (रक्तगुंजा), गरडीर (सूरण), तिलपर्णिका (रक्तचन्दन या चोरक), कर्पाभू (श्वेत पुनर्नवा), चित्रक, मूलक, लशुन, पलाण्डु (प्याज), कलाय (मटर का साग) प्रभृति ॥२२१॥ सामान्यतया ये साग कहु, उष्ण, रुचिक, वातकफहर होते हैं, और कहू खाद्य

१ शुरविद्यन्मिशीतानि स्वादृग्नि काफकृति च । स्वपूरुषपुरीपाणि स्वास्तरमधुराणि च ॥३ ३ कृतान्यवृपूपयुज्यन्ते

द्रष्टों में सकार के हिदे (समाजे के रूप में) विविध प्रकार स उपयोग में आत ह ॥२२१।

मैथा गुर्वी सादुर्सीता पिप्पल्याद्री कफवाहा ।

शुष्का कफनिलझी सा दृष्ट्या पित्ताविरोधिनी ॥२२२।

सादुपाक्याद्रमरिच् गुरु शेषप्रसेकि च ।

कट्टण लघु तच्छुक्मवृथ्य कफवानजित् ॥२२३।

नायुष्ण नातिशीत च दीयतो मरिच् सितम् ।

मुण्डन्मरिच्येभ्यश्च द्युष्य च विशेषत ॥२२४।

नागर कफवानम् विपाक मधुर कटु ।

दृश्योपण राचन हृष्ट सक्षाह लघु दीपनम् ॥२२५।

कफनिलहर स्वर्ये विष्वन्धानादशूलनुत् ।

कट्टण राचन हृष्ट द्युष्य चवाक्रूप स्मृतम् ॥२२६।

लघुष्ण पाचन द्वितु दीपन कफवानजित् ।

कटु क्षिण्य सर नीक्षण शर्णार्जीणविष्वन्धनुत् ॥२२७।

नीक्षणोपण कटुक पाके रूप्य पित्ताविष्विधर्थनम् ।

कटु शेषप्रानिलहर गन्धाद्य जीरकछयम् ॥२२८।

कार्त्ती कर्वी तद्विदेया सोपहुञ्जिका ।

भृष्यव्यज्ञनभोयेषु विविधव्यवचारिता ॥२२९।

आद्रीकुस्तुमुरीकुर्यात् सादुसौगम्यद्युपताम् ।

सा दृष्ट्वा मधुरा पाके जिग्धा दृष्टदाहनाशनी ॥२३०।

दोषमी कुटुका किंवित् तिक्ता श्रोतोविशोधनी ।

उनमें स हरी (आद्रा) विष्वन्धी भारी मधुर गीतल

कफकारक होती है । सूखी विष्वन्धी कफवाननाशक दृष्ट्य

तथा पित्त का विरापन करने वाली (कटु सार्वा की दृष्टि

से शुष्क पित्तकी विष्वकारक हानी है—पुक्त विष्वविनी

राजव्याहम) हानी है ॥२३१॥ हरी (काली) मरिच् विपाक

म मधुर भारी कफ का प्रयोक्त करने वाली है सूखी मरिच्

कटु गरम हलकी अदृष्ट्य और कफवाननाशक होती है

॥२३२॥ मरु मरिच् (गोभीजन क दीप) वाय में त उड़ान

तरम है त गीतल ह कफव व्यक्त की मरिच की अपक्षा

मधिक शुष्कर है और नष्ट क लिय हितकर है ॥२३३॥

प्रुष्टी कफवाननाशक विपाक में मधुर कटु दृष्ट्य उल्ल

प्रिकारक हृष्ट विष्य हलकी और अप्रिकारक है ॥२३४॥

प्रश्न व कफवाननाशक व्यक्त क लिय हितकर मलायाद

प्रश्नर भी शुष्क का भाव करने वाला कटु उल्ल रुग्ण-

श्रवक हृष्ट दृष्ट्य है ॥२३५॥ हितु हलका उप्य वाचक

प्रिकारक, कफवाननाशक कटु लिय मारक ताण्य गूर,

रुग्ण और मलायादप्रश्नर क हृष्ट विपाक

ताण्य विपाक में कटु रुचिकारक लिय

एक अप्रिकारक कटु व कफवाननाशक और मुख्यादुष्ण हान

॥२३६॥ कार्त्ती कर्वी और उत्तरविपाक (कर्वी की व

दृष्टि गीतल क ही भाव है) य भी गुरु में जारक की भाँति

होत है । इस विविध व्यक्त प्रकार क लिय (भारारि)

जार (जाराल) और भारव (भारपत्र इत्यादि)

नीपी में दाहन से उच्ची व्याहु गुणवत्तु भी मत की

भानद देन यात्र यानाता है । सूखा धनिया विपाक में दृष्ट्य तृष्णाशमक दाहनायक ॥२३७॥ तृष्णाशमक, किंचित् कहवा और खोनेविशायक हाना है ।

जम्बूर पाचनस्तीद्यु एमियातकफापह ॥२८।

सुरमिर्दीपना रच्यो मुख्येशायकारक ।

कफानिलविष्वासकासदौर्गम्यनाशन ॥२९।

पित्तरूप पार्वशलम्भ सुरस समुदाहत ।

नद्युत्तु सुमुदो शेयो विशायाद्वराशनः ॥३०।

कफाम्बा लघ्यो रुक्षास्तीद्योप्त्वा पित्तवर्धना ।

कटुपाकरसाक्षय तुरसाजकभूस्तुणा ॥३१।

पम्बीर (नींव) पापक तीण्या कृमि वात और वृद्धि क इनका नाशक ॥३२।

सुगंधि अतिवापक रुचिकारक व सुख का भाफ करने वाली है । सुरवा (तुम्ही) कर वा

विष वाम काम दुगव इनका नाश करने वाली है ॥३३।

तिक्तारक और पापाशग की दूर करने वाली है । सुमु

सुरम भी भाँति हाना है । परन्तु विरोप करक गर (हृषि

विष) का नाश करती है ॥३४॥ सुरस अर्द्धक और भूमु

कफवायक लघु रुक्ष तीण्य वश वित्तवर्पक इस भी

विपाक में कटु होते हैं ॥३५॥

मधुर कफवानम् पापन कण्ठशोधन ।

विशेषत पित्तहर सतिक्त वासमर्देक ॥३६।

कटु सक्तारमधुर शिशुलित्तोऽथपिच्छिल ।

मधुविष्व सरत्तिक्त शापमो दीपन कटु ॥३७।

विद्रादि व्यद्विष्मूर रुक्ष तीण्यापाण्येय च ।

विद्रोप सारंप शाक गाढ़ीर्ट वेगनाम च ॥३८।

विक्रक्तिलयर्थी च कफयोषद्वरे लघू ।

वर्षभू कफवातमी हिता शोपोदरार्थमाम् ॥३९।

कामर्म मधुर कफवाननाशक पापक, कफवायक

विषाहरप म पित्तावाह और (रस में) कहवा होता है

॥३३॥ सहित्ता कटु क्षारपन लिय हुए मधुर इवा और

पित्तिलहै लाल सहित्ता कामा कहवा शायह और

दीपक और कटु है ॥३४॥ सरमी का वाक गोदीर और

वगानाम (महाकाल फल) विद्राहमनक मधुवापादोपक

मन लाल उल्ल और विनोदततक है ॥३५॥ विद्रक

और निलपर्यंत कफवानाशक गाधहर मधु होती है । अतुरुमर्दया

कफवाननाशक है और याप डार तया और क लिय लाल

रुपक हाना है ॥३६॥

कटुनित्तरमा दृष्ट्या रोचनी यदिदीपनी ।

सरपदोपद्वरा लघ्यी कण्ठपा मूलवपोतिवा ॥३७॥

महात्तुरुप विषम्बित्ती तीण्यामाम विद्रोपहृष्ट् ।

तद्य ओद्यमित्त तु पित्तुरुप वपयातचित् ॥३८॥

विद्रोपयमन तुष्य पित्तद्वर्द रुपु ।

पित्तमिम्ब यामल याव तुष्यम्बयत्र मूलवान् ॥३९॥

१ इविवर्त्तन २ इविवर्त्तन ३ इविवर्त्तन

पुण्यं च पत्रं च फलं तथैव
यथोत्तरं ते गुरुवः प्रदिष्टाः ।
तेऽपि तु पुण्यं कफपित्तहन्तु-

फलं निहन्यात् कफमास्तौ च ॥२४३॥

(मूर्ली—) मूलकपोनिका (वालमूर्ली) कटु और तिक्करस-
तुक, हृद, रुचिकर, अभिदीपिक, सर्वदोषवनाशक, लघु और कठ
के लिये हितकर है ॥२४०॥ बड़ी मूर्ली जो अधिग पर पद्ध नहीं
कीं गई है भारी, विषमधृतक, तीक्ष्ण और त्रिदोषवनक होती
है । वर्दा (अधिग पर तैल धृतादि) खेदव्य से मिल की हुई
प्रिदोषगामक होती है ॥२४१॥ सूखी मूर्ली त्रिदोषहर, विष-
दोषवनाशक और लघु है । मूर्ली के त्रिवाय अन्य सब सूखे
गाक विषमधृतक और वातकर होते हैं ॥२४२॥ जो गुणधर्म
वाल, मध्य, वृद्ध, मिलध्य, मिलद और शुष्क मूर्ली के संबंध में
(तथैव) निश्चिकिये हैं वैसे ही मूर्ली के पुण्य, पत्र और
रीं के बारे में होते हैं । पुण्य, पत्री और फली उत्तरोत्तर
धैर्याधिक हलकी होती हैं । इनमें से पुण्य कफपित्तनाशक
और फली वातकफनाशक होती है ॥२४३॥

वक्तव्य—कुछ टीकाकार 'पुण्यं च पत्रं च फलं तथैव'
का अर्थ सर्वसामान्य शाकों के संबंध में समझते हैं और
श्वः के स्थान में 'गुरुवः' पाठ स्वीकार करते हैं । परन्तु
प्रेक्षकार का अर्थ निश्च कारणों से अनुचित मालूम होता
। वातव में यह श्लोक मूर्ली के संबंध में ही लिखा गया है ।
(१) उद्याहार्या भी इस श्लोक को 'मूलकविषयोऽयं' मानते
(२) जिस सिलसिले में यह श्लोक लिखा गया है उसी के
उत्तर भी यह मूलकविषयक ही ही सकता है । (३) शाकों
गुस्ता के संबंध में स्वतन्त्र वर्णन शाकों का गुण धर्म विवरण
करने के पश्चात् किया गया है—पुण्यं पत्रं फलं नाल कन्दाथ
त्रिः क्रमात् ॥ (४) इस श्लोक के वर्णन के अनुसार प्रत्येक शाक
पुण्य कफपित्तनाशक और फल कफवातनाशक नहीं हो
सकते हैं । केवल एक ही शाक के बारे में यह ही सकता है
तर वह शाक पूर्णपर सर्वांग से मूर्ली ही ही हो सकता है । (५)
जवहरम में ये गुण मूर्ली के शाक के ही वर्णन किये हैं—
अन्य गुण विविध नीक्षणामाप्त त्रिदोषकृत । नद्रं स्तेहपक चेत् कफ-
दोषवित्तिन् ॥ शुक्र त्रिदोषप्रशमन शोधन्न गरजिहतु । तत् 'पुण्यं'
शोधन्न तत् 'फलं' कफवातनजित् ॥

स्निग्धोपाणीश्चाः कटुपिच्छिलश्च

गुरुः सरः स्वादुरस्तथ वल्यः ।

वृष्यश्च मेधास्वरवर्णचक्षु-

भैशास्थिसन्धानकरो रसोनः ॥२४४॥

द्वोगर्जीर्णज्वरकुद्दिश्चूल-

विवन्धगुरुमास्त्विकासशोफान् ।

दुर्नीमकुष्ठानलसादजन्तु-

समीरणश्वासकफांश्च हन्ति ॥२४५॥

(लग्नु—) लहशुन लिंगध, गरम, तीक्ष्ण, कटु, चिकना,
मारक, (कुछ) मधुर, बलकारक और वृष्य है; डुँदि,
कंप और तेव्र के लिये हिनकर है, दृटी हड्डी को जोड़ता

है ॥२४४॥ हद्रोग, जीर्ण ज्वर, कृष्णश्चूल, मलावरोध, गुरुम,
अरोचक, कास, गीथ, अर्श, कुप्र, अभिमास, कृमि, बायु, श्वास
और कफ हनका नाश करता है ॥२४५॥

वक्तव्य—रसोन—एक रस हीन होने के कारण लग्नु
'रसोन' कहलाता है—पचमिश रसेन्युनः रसेनानेन वर्जितः । तस्मा-
द्रसोन इत्युज्जो द्रव्याणां गुणवेदिभिः ॥ कटुकशापि मूलेषु, तिक्तः पत्रेषु
संस्थितः । नालं कपाय उद्योगो, नालाये लवणः रम्नः ॥ वीजे तु मधुरः
प्राची रससदाद्युणवेदिभिः ॥ (भावप्रकाश) । समीरण—पित्तरक्त-
निनुस्तासमस्तावरणाद्यते । शुले वा विषने वायो न द्रव्यं लग्नान्
परम् ॥ (अष्टांगहृदय) । पित्तावृत और रक्तावृत वायु को
छोड़कर अन्य सब आवरण युक्त या शुद्ध वायु के लिये लग्नु
परमोपयोग है ।

वक्तव्यमत—रसोन में स्टाचि, गोंद, अल्यूमिन, शर्करा
और एक विशेष उग्रगंध तैल होता है । रसोन के गुणधर्म इसी
तैल के ऊपर निर्भर होते हैं । इस तैल में अलिल, प्रोपिल
डाय सल्फाइड, डाय अलिल, डाय सल्फाइड (Allyl, Propyl
disulphide, Diallyl disulphide) तथा गंधक के अन्य
योगिक होते हैं । इस तैल का गंध वडा खराव होता है । इसके
गंध के संबंध में जगज्ञाथ पंडित लिखते हैं—सकलसायन-
महितो गोर्नेनेकन लग्नुन श्व ॥ यह अभिदीपक, वातानुलोमक,
संधिवातनाशक, रसायन (Alternative) और कफनिःसारक
(Expectorant) है । आसुर्वेद में रसोन एक श्रेष्ठ प्रकार
का रसायन माना गया है—साक्षाद्यूतसंभूतेर्घमणीः स रसायनम् ।
(वास्मट) । लग्नुन श्वास, कास, राजयक्षमा, फुफ्फुसविद्वधि
हृत्यादि फुफ्फुस के रोगों में बहुत लाभदायक होता है ।
इसलिये इसका उपयोग टिक्कचर, साथरप तथा Allylco,
Allylene, Allylene co इत्यादि पेटेंट दवाई के स्वरूप में
आज कल पाश्चात्यवैद्यक में भी किया जाता है ।

नात्युष्णवीर्येऽनिलहा कटुश्च

तीक्ष्णो गुरुर्नातिकफावहश्च ।

वलावहः पित्तकरोऽथ किंचित्

पलाण्डुरस्त्रिं च विवर्धयेत्तु ॥२४६॥

स्निग्धोऽस्त्विष्यः स्थिरधातुकर्ता

वल्योऽथ मेधाकफषुष्टिदश्च ।

स्वादुर्गुणः शोणितपित्तशस्तः

स पिच्छिलः क्षीरपलाण्डुरुक्तः ॥२४७॥

(पलाण्डु—) पलाण्डु (प्याज) अधिक उणवीर्य नहीं
है, वायुनाशक है, कटु है, भारी है, अधिक कफकारक नहीं है,
बलकारक है, किंचित् पित्तकर है और अधिवर्धक है ॥२४६॥
क्षीरपलाण्डु (प्याज का भेद) स्निग्ध, रुचिकर, धातुओं को
स्थिर करने वाला, बलकारक, बुद्धिवर्धक, कफकारक, शरीर-
पुष्टिकर, मधुर, भारी, रक्तपित्त में हितकर और पिच्छिल
है ॥२४७॥

कलायशाकं पित्तघं कफघं वातलं गुरु ।

कपायानुरसं चैव चिपांके मधुरं च तत् ॥२४८॥

कनायाक (मटर का शार) विश्वकरण, वात-
जनक, भारी, अनुरम में कषाय और विषाक में मधुर है ॥२४८॥

चुश्यूथिकानशरीजीउर्नीपित्तिनिशानदी(नदी)
भ्रह्मतकच्छगलान्धीतुवादनीपित्तिशालीशंतुयन-
श्पतिप्रसवशाणक्षुट्टाराकोनिदारप्रभृतीनि ॥२४९॥

कपायसादुतितानि रक्तपित्तहारणि च ।

कफमान्यनिलं कुमुः संग्राहीणि लघूनि च ॥२५०॥

चुश्य, घृधार (जैड Lissum num Aunculusnum), दम्भी (संभी), जीवनी, दिव्वितिस (हुक्के Cetaria andia, India की पर्सी), नर्मी (घरपूज), भ्रह्मतक (भिन्नाचा), इत्तचानी (उड़नाह), वृत्तदंती (यदा), कम्फी (नारायी), गाम्बरी (संमेष), गेतु (लिंगाडा), वनस्पति प्रयत्र (ओंपुष्पादि अनेक वनस्पति के कामल पल्लर), शग, कुदुदार (भेजनान भेद या खेत काथन), कविदार (रक्ताचन) प्रभृति ॥२४९॥ (शाक यामान्यतया) कपाय, मधुर, कड़े रक्तपित्तशक, कठनायक, वातन, सप्ताही और हालक होते हैं ॥२५०॥

लघुः पाके च जन्मतुम् पित्तिलो विलिनं हितः ।

कपायमधुरो ग्राही चुश्यस्तेषां विदोपहा ॥२५१॥

चन्द्रुया सर्वदोषमी जीवनी समुदाहता ।

वृत्तादनी वातहार फङ्गी च्यव्यपला मता ॥२५२॥

क्षीरवृत्तोत्पलादीनां कपाया पलुया सूता ।

शीता सप्रादिण शस्ता रक्तपित्ततिसारिणम् ॥२५३॥

इनमें से चुश्याक विषाक में लघु इमिनायक, पित्तिल, ग्राह वाला व लिय हिन्दर, कपाय और मधुर, ग्राही और विदोपतानाशक है ॥२५१॥ जीवनी शाक नेत्र के लिये हिन्दर, सर्वदोषनाशक है । वाता वातानाशक और कर्णायक अत्यं वल्काकार है ॥२५२॥ अथवादि कीर तृद तथा कमल आदि क पते रस में कपाय, गीतल, सप्ताहक और रक्तपित्त सथा अनिमार तथा पांडित शगियों क लियेलाभद्रायक होते हैं ॥२५३॥

बक्तव्य—जीवनी शाक नर्व शाकों में थेठ है । जीवनीकान शाकानाम् (चारक) । तथापि इमक मूल्यक क गवय में प्राचीन काल से ही मनविज्ञान लिखाई देती है । इलहण के अनुमार जावनी 'पाइमानपत्र' भीकण्ठ के अनुमार जीवनी पीटौपौ नै 'होती है ।

पुनर्नयाद्वरण्तर्मुख्यवन्सादीनिपित्तशक
प्रभृतीनि ॥२५४॥

उधानि स्वादुतितानि वातप्रशमनानि च ।

तेषु पौनर्नरं शाक विशेषाच्चोफनादानम् ॥२५५॥

पुनर्नदा (सारी), वरण, तर्की (अर्जी), उत्तक (पुण्डर), वसाइनी (गिलोय), बिल्ब शाक हस्त्यादि ॥२५५॥ (य शाक यामान्यतया) गरम, मधुर, कड़े और वातनायक हैं । इनमें से सारी का शाक विशेषनया गोधनायक है ॥२५५॥

बक्तव्य—पुनर्नदा दखाव और मूथक होने के कारण

गोध या नाग करती है । उसमें पुनर्नदीन (Puerariae नामक नाय होता है जो पूछ के उत्तर कार्य करने के दूरीर में सिंचा हुए जल का नाग करते गोध दूर करता ।

नाडुलीयकोणोदिकाऽवश्वलाचिह्निपालद्वयान
मनूप्रभृतीनि ॥२५६॥

रसमूष्पुरीयालि स्वकारमधुरायि च ।

मन्दव्यानकपान्याह रक्तपित्तहारणि च ॥२५७॥

तण्डुलीयक (चौला Amaranthus Poligynus उपोदिका (पोई का शार, Bahela Alla), अधक (संधीका भेद), चिह्नी (चास्तुर भेद Chenopodiaceae जानि जी शाक), पालक (पालक Spinacea oleracea), वास्तुर (वधुआ Chenopodiaceae जानि जी शाक) हृणी शाक ॥२५८॥ (मामान्दतया) मल्मूत्र के प्रवर्तक, किंवि धार सुख मधुर, भोजा कायु और कह पैश करने वाले ये रक्तपित्तनायक होते हैं ॥२५८॥

मधुरो रसपाराभ्यां रक्तपित्तमदापह ।

तेया शीततमो कृत्तम्भाग्नीयो विग्रहह ॥२५९॥

खादुपाकरसा चुर्या वातपित्तमदापह ।

उपोदिका सरा निरग्धा वस्त्या श्लेष्मवर्करी हिमा ॥२६०॥

कट्टविषाके कृमिहा मेधाद्विलवर्धनः ।

स्वकारः सर्वदोषमो वास्तुको रोचनं सरः ॥२६१॥

चिह्नी वास्तुकन्त्येषा पालद्वया तण्डुलीयवद् ।

वातश्वद्विषयमूत्रा रुक्षा पित्तके हिता ॥२६२॥

शाकमाध्यवलं रुक्ष वद्विषमूत्रमारुतम् ।

इनमें से चौलाई का शाक रस और विपाक में मधुर, रस पित्तनायक, मदहर, रुक्ष और विशेषायक है ॥२५८॥ पोई का शाक रस और विपाक में मधुर, लघु, वातपित्त और मद नायक, सारक, चिर्घ, वल्काक, इक्षकारक और धीतल होता है ॥२५९॥ वधुआ का शाय विपाक में कड़ इमिनायक तुड़ि, घटिय और बल बदाने वाला, लिंचित जारीय, सर्वदोष नायक, रचिवर और सारक होता है ॥२६०॥ चिह्नी के गुण वधुआ के अनुमार जानने चाहिये । पालक चौलाई के अनुमार, वातकारक, मल्मूत्रवर्तीय, रुक्ष और पित्त कह में हितकर होती है ॥२६१॥ याकब्बल का शाक रुक्ष और मल, मूथ तथा अधीयायु का अवरोधक है ।

बक्तव्य—वास्तुर और चिह्नी शाक के बीज में लेंदों पेंडित्रम नायक तैल (Oil of chenopodium) होता है । यह तैल बैंचे (गोल हूमि Round Worms) और अंड़क (Hook Worm) के लिये उत्तम कृमिनायक (Anthelmintic) सिद्ध हुआ है ।

मण्डूकपर्णीसिसलामुनिशरण्यसुवर्णलिपिली
गुद्धीगोजिहाकाकमार्चीप्रपुशादावल्लगुजसतीनष-
दतीकण्टकारित्याकलपटोल्यार्तुकुरारवेलुकड़
किकोकेलुकोरवृक्षपर्णटकिरतितकर्मेटवारिए-
कोशानकीवेत्रकरीराटरुकराकिमुर्दीप्रभृतीनि ॥२६२॥

कपित्तहराण्याहुर्द्यानि सुलघूनि च ।

एमेहन्त्यरश्वासकास्तारचिह्नाणि च ॥२६३॥

अद्वैती, सत्त्वा, मुनिषण्ड (वौषतिथा Murexia quadrifolia), सुवेला (सूर्योर्ध्वं हुर्द्वूर्द्वं Clavelina), पिष्ठी, गुड्डी (गिलोप), गोजिदा (गोर्भी Phantopsis Seabeck), कामजारी (मलोय Solanum rum), प्रपुत्राऽ (पमाट Coccinia Tiliaceae), अपल्लुड छुडी Vemnonia Antidielmintica), नीन (मट्ट भेद), बृहती (बड़ी कंडी), कृष्णनिका (श्वेती), पटोन (परनन), चानांड (धैगन), कारधेत्तुल नेला), पुडिकिला (वरण्यलाभमर्द), गेजुक (ऐजूस Speciosus), उलवेक (रन एन्टर), पथटक (पिन्डा), किरातित्तिल (चिरगयना), कर्मटिक (कर्मटा Medicina Dioica), अरिट (नीम), होगानडी (नोरडे), दीर्घ (जेत की बोंपल), अट्टस्पक (अड्डमा), वर्की दृश्यादि ॥२६४॥ (ने शाक सामान्यतया) रजपित्त-क, दृष्टि, यमुत हलांक हैं और कुप्त, प्रमेत, ज्वर, धास, उ और अरोत्तक हलका नाश करते हैं ॥२६५॥

पाया तु हिता पित्ते स्वादुपाकरसा द्विमा ।

श्वी भरड्डकपर्णी तु नद्वद्वोजितिका मना ॥२६६॥

विद्वाही विदोपम्भः संग्राही सुनिष्परणकः ।

वल्लुजः कटुः पाके तिक्तः पित्तकफापहः ॥२६७॥

गत्तिकं विदोपम्भं शाकं कटु सतीनिजम् ।

त्युप्पाशीतीं कुष्ठपम्भं काकमाच्यास्तु तद्विधम् ॥२६८॥

एड्डकुष्ठकमिद्धानि कफवातहराण्यि च ।

लानि वृहतीनां तु कद्गुतिक्तलघूनि च ॥२६९॥

कपित्तहरं वरण्यमुष्णं तिक्तमवातलम् ।

दोलं कटुकं पाके वृष्टं रोचनदीपनम् ॥२७०॥

मण्डुकपर्णी कपाय, पित्त में हितकर, इस और विपाक में

हुआ, शीतल और हलकी होती है । उनी के अनुसार गोजिदा

गकारी है ॥२७१॥ सुनिष्परणक विद्वाह न करने वाला,

दोषनाशक और संप्राही है । अवल्लुज विपाक में कटु,

कटु और पित्तकफाशक है ॥२७२॥ सतीन का शाक किंचित्

कटु, विदोपनाशक, कटु, न व्युत्त गरम सं व्युत्त गीतल और

द्विनाशक है । काकमाची का शाक, इसी के अनुसार होता

॥२७३॥ वडी और छोटी कटेरी के फल कण्डु, कुष्ठ और

कृष्ण के नाशक, कफवातनाशक और कद्गुतिक्त तथा लघु

हैं ॥२७४॥ पटोल कफपित्तनाशक, धृण में हितकर,

विपाक और अभिदीपक होता है ॥२७५॥

कफवातहरं तिक्तं रोचनं कटुकं लघु ।

चार्तिकं दीपनं प्रोक्तं जीर्णं सक्षारपित्तलम् ।

तद्वत् कर्कोटिकं विद्वात् कारवेलकमेव च ॥२७६॥

अट्टस्पकवेत्राश्वगुह्यचीनिम्बपर्पटा: ।

किराततिक्तसहितास्तिक्ताः पित्तकफापहाः ॥२७०॥

कफापहं शाकमुक्तं वरण्यप्रपुनाडयोः ।

रचं लघु च शीतं च वातपित्तप्रकोपणम् ॥२७१॥

द्रापनं खानशारं तु गरदोपदरं कटु ।

कौसुमं मधुरं रक्तसुधृं श्वेषमहरं लघु ॥२७२॥

वानलं नालिकाशारं पित्तम्भं मधुरं च तत् ।

अद्वयशोविकारभी सामला वातकफे हिता ।

उणा क्रमायमधुरा चार्नरी चाशिर्दीपनी ॥२७३॥

दानांह (धैगन) रक्तवात्ताशक, निन, निचिर, कटु,

स्थूल, अद्विर्दीपक है । एक हुआ धैगन (पाला), निचिर

वर्गेडा और पित्तात्तरक होता है । वातांक के गुणानुसार ही

कर्मटिक और कंडा होता है ॥२७४॥ गड्डमा, वेन के नींपल,

गिरोय, नीम, पित्तपाला, चिरावता इस में कट्टे और

पित्तकफाशक होते हैं ॥२७०॥ तस्ता और पवाड़ का शाक

कफाशक, स्थूल, हल्ला, शीतल और वातपित्तप्रकोपक होता

है ॥२७१॥ (अब इसके पश्चात् उपर्युक्त मण्डुकपर्णीनिर्मि में

विनिर्दिष्ट परन्तु प्रश्नुति शब्द में जिनका ग्रदणा हो सकता है

ऐसे—काल शाक, नालिका शाक, कौसुम शाक और चांगेरी

शाक—शाकों का गुणवर्णन किया है) काल शाक (शाढ़ी-

शाक) अद्विर्दीपक, गरदोपनाशक और कटु है । कुसुम का

शाक मधुर, स्थूल, गरम, कफाशक और हल्का है ॥२७२॥

नालिका शाक (पटुआ Ipomea Aquatica) वातकर,

पित्ताशक और मधुर है । चांगेरीशाक (Ossalis Corniculata) ग्रहणी और अर्गनाशक, अमल, वात और कफ के

लिये हितकर, उष्ण, कपाय और मधुर तथा अभिदीपक

होता है ॥२७३॥

लोणिकाजातुकत्रिपर्णिकापत्तूरजीवकसुवर्चला-
द्वुहुरककुतुम्बकुठिङ्कुन्तलिकाकुररिटकाप्रभृ-
तयः ॥२७४॥

स्वादुपाकरसा: शीताः कफद्वा नातिपित्तलाः ।

लवणानुरसा रुक्षाः सक्षारा वातलाः सराः ॥२७५॥

लोणिका (Portulaca Oleracea), जातुक (शुक्लाल-
पर्णी), त्रिपर्णिका (दुधिका, बनकापांसी वा), पत्तूर

(शिरवालिकभिदु, शालिंची शाक वा), जीवक, सुवर्चला

(मुर्यावर्तभेद), दुड़रक, छुत्स्वक (दोणपुण), कुर्ठिजर,

कुन्तलिका (चच्चु के समान दीर्घपत्रा अथवा नीलपिया-
वासा), कुरंटिका (पीला वियावासा) प्रभृति ॥२७४॥ शाक

रसविपाक में मधुर, शीतल, कफनाशक, विशेष पित्त न करने
वाले, अनुरस में लवण, रुक्ष, ज्ञारयुक्त, वातल और
सारक हैं ॥२७५॥

स्वादुतिक्ता कुन्तलिका सक्षापायी कुररिटका ।

संग्राहि शीतलं चापि लघु दोपापहं तथा ।

राजचतुवकशाकं तु शटीशाकं च तद्विधम् ॥२७६॥

स्वादुपाकरसं शाकं दुर्जरं हरिमन्थजम् ।

भेदनं मधुरं रुक्षं कालायमतिवातलम् ॥२७७॥

संसनं कटुकं पाके लघु वातकफापहम् ।

शोकमसुप्ताधीयं च पञ्च पूर्विकरञ्जनम् ॥२७८॥
ताम्बूलपञ्चं तीक्ष्णोद्यं कदुं पित्रप्रकोपणम् ।

सुगान्धि विशदं तिक्तं सर्वे यातकफापद्मम् ॥२७९॥
संसनं कटुकं पाके करायं दह्नीपनम् ।

यक्षकण्ठमल्लेददीर्घन्यादिविशोधनम् ॥२८०॥
कुन्तलिका मधुर आर तिक है, कुटिका कथाय है।

राजसाधक (छूप्पाराजिका) शाक संप्रादी, शीतल, हल्का, और प्रिदेपनाशक होता है । शटीयाक (Curcuma Zedoaria) इसी के अनुसार होता है ॥२७६॥ हरिमध्य का शाक (चोर का) रस और विशाक में मधुर और पचन में कठिन होता है । मटर का शाक भेदक, मधुर, रुत और अतिगम्य थातकर है ॥२७७॥ पृतिकरंज के पदों का शाक मन की प्रवृत्ति करने वाला, कटुविषाकी, हल्का, थातकगन्धारणक, योग्यहर और उच्चवीर्य है ॥२७८॥ सामूहनव्र (पान) तीरण, उत्ता, कटु, पितकर, विद्वद, तिक्त, स्वर के लिये द्वितकर, थातकगन्धारणक, सारक, विषाक में कटु, काशय तथा आङ्गिरीपक है, और मुख की साझ, मल, विह्नापन और दुर्बिंध इनको दूर करता है ॥२७९, २८०॥

अथ पृथ्वीः ।

कोदिदार्शणास्मलीपुष्पाणि मधुराणि मधु-
विपाकानि रक्तपित्तह्राणि च; वृषागस्त्ययः
पुष्पाणि तिक्कानि कटुविपाकानि क्षयकासापद्धानि
च ॥२८॥

कोविदार (कपनार), यह और शास्त्रीय इनसे पूर्ण रत्नविवाह में मंडुर और राजपितानाथ हैं। यष (महाता) और यगसि (हृदय) के पूर्ण विवाह, विवाह में कु और यष और शास्त्रीय को दूर करते हैं ॥४६॥

भागस्त्वं मातिशीतोष्णं नकान्धनां प्रशस्यते ॥२८३॥
धरणस्य के दूल न बहुत गरम न बहुत भीत्र है और
जीवी वासी को सामान्यक लेते हैं ॥२८४॥
फरीरमयुग्मिषुद्दुसमानि फटुपिपाकानि धान-
दाति दृष्टप्राप्तादाति ॥२८५॥

१४८ शुभ्रात्रा पर्वत स्थिति ॥
प्रसाद गुरुकृष्ण निष्ठा विजय एवं विजय ॥
प्रसाद गुरुकृष्ण निष्ठा विजय एवं विजय ॥

पुराणात् विद्यते विषयं कुमुदहारं शीकलम् ।
विषयात्मकान्तरगुणे पित्तान् कुमुदयोत्पले ॥२८॥

काला भाजा मुख्यतः (शत वर्षों) के दूसरे शिख
कट, बाहरी गहरी तीव्र वर्षीय प्रदूषण करने वाले हैं
जैसे रेस्टेन्ड (फैले Pentastoe Phoenicea),
पात्र, फूलधारी, अमृत, सारांश आदि कुट्टवाले दूसरे वर्षों
के मुख्यतः हैं। इसके दूषण (गृहिणीय काम) निर्मा-
ना, धूपाल और कर्मिकारण है। उत्तर (पश्चिम वर्षीय
कामी काम) धूपाल, विनिर्माण, विनाश, (दारा वाप करने
काम) अन्यायालय आदि विनाश है। उत्तर और
पश्चिम उत्तर से दूषण में इन काम हैं।

सिन्धुयार विजानीयादिमं पित्तविनाशनम्
मालतीमहिके तिके सौरभ्यात् विचनाशने
सुगन्धि विशदं हृद्यं याकुलं पाटलानि च
स्त्रेष्मपित्तविगम्भं तु नागं तदश्च कुम्भम्
चम्पकं रक्तपित्ताम्भं शीतोष्णं कफनाशनम्
किंगुरं कफपित्ताम्भं तद्वदेव कुररटकम्
मधुशिरामुकरीराणि कट्टस्त्रेष्मद्वाराणि च
यथाहृद्यं विजानीयात् पुण्यं वृक्षोचितं तथा
निर्गुरी के पूर्ण धीतल और विचनाशक हैं ।
वाटी और महिका के पूर्ण और सुगन्ध के
तनाशक होते हैं ॥२८॥ यजुल और पाटल के
न्युगुर, विशद, और हृद्य हैं । नागकेसर
विषहर है । हस्ती के अनुसार केतर (Cervus)
के भी गुणर्थ होते हैं ॥२९॥ अथवा
रक्तपित्तनाशक, समर्पीतोष्ण और कफनाशक
गुण पुण्य कफपित्तनाशक है और दस्ती के अनु-
टक का पुण्य (वियाकासा का पुण्य) होता है ॥३०॥
सहिजन के कोणपल कट्ट और कफनाशक ।
विवामान्य अनुकुल पुण्यों के तथा वृक्षाभित अम्ब भंगों
में दिशलाने की हड़ि से उपसंहार करते हैं ॥३१॥
में होते हैं वैते ही उसके पुण्य तथा (कण्टक अशोद्ध
भंगों के (दुर्सेपित) शुद्धर्थम् होते हैं ॥३२॥

दायकफुलेच(थ)रयंशकरीप्रभृतीनिकफहम
खएमूलपुरीशालि थ ॥३७॥

स्थिरं एमिलं तेषु स्यादुपाकं सरिच्छ्रद्धेम् ।
विष्णन्ति वानलं नातिपित्तक्षेप्त्वकरं ध तद् ॥१९
येषोः करीराः कफला मधुरा रसपाकतः ।
यिद्यादित्तो गारुडः ॥

१५ राजना पालकरा: संक्षयाया विस्तृताः। १२३
सचह, कुमेशर, रंग करी प्रभूति करनालक और दल
मूर्ति की प्रभूति बतने वाले हैं। १२४०८ इनमें से भाउ ईश्वर
कारक, दिवाकर में मायुर, विष्णुल, ऐप्पाचारी, बालदर और
विशेष बात भीर वराकारक महीं है। १२४१० बाँसी की गोल
कड़दारक, रामविकार में मायुर, विश्वामित्र, वाराकारक
त्रिवाप और सूक्ष्मता बतने वाली है। १२४२०

उद्धिष्ठानि पराग्ने शुभ्रीपवेणुसितिजानि । तत्
पलादजातं मयुरं मयुरविपाकं रुदं दोषमध्यमूर्द्-
य, इतुर्जं मयुरं कणायानुरक्तं कर्तुकं शीतलं ॥
प्रदर्शयोर्यं वारीर्यं करायं पालहोपनं च, वेतुङ्गाम-
यायं वानकोरनं च, भूमिभ्यं शुरु सातियाम्ब-
ृमिन्द्रामान्द्रानुरक्तः ॥२९॥३१॥

(बटिं) पाला (दाम रिहिंग कान्हाड भूता जाति),
 (के दून), बटिं (युक्त गोवर), बेंग (वाई लकड़ी
 जि) एवं अमि इसमें बटिं (उद्धरणी) दाम होती है।

लाल में उत्पत्ति हुआ छन्दक रसविषया में सधुर, शोपनापक है; इंज से उत्पत्ति हुआ छन्दक सधुर, क्षयाय, क्षुद्र, और शीतल है; गोमयजन्य छन्दक) हक्कुज छन्दक के अनुसार परन्तु उच्च, जघाय और यांस लकड़ी से उत्पत्ति हुआ छन्दक क्षयाय और वात-इ; भूमि में उत्पत्ति हुआ छन्दक भारी, विशेष न करने वाला तथा भूमि के गुणानुसार २९३॥

याकतिलकलस्थूर्णिकान्युष्कशाकानि सर्व-पेणानि ॥२९४॥

ग्निः स्मृताः सर्वे वटका वातफोपनाः ।

तीव्र वातला साद्री रुचिप्याऽनलदीपनी ॥२९५॥

शाक (खती), तिलकलस्थूर्णिका (तिल के बड़े) शाक सर्व प्रकार के दोषों को प्रकृष्टिपूर्ति करते हैं सर्व प्रकार के बड़े मलावरोध और वातप्रकोपक होते इकी (मूली आखू आदि की पकौड़ी बड़े) आद्री- (ताजी) वातकर, रुचिकर और अग्निदीपक ॥२९५॥

दि गुरु रुक्षं च प्रायो विष्ट्रिष्ठ दुर्जरम् ।

॒ च सर्वे हि स्वादु शाकसुदाहृतम् ॥२९६॥
मधुर शाक मल का मेद करने वाले, भारी, रुक्ष, में विषेष उत्पत्ति करने वाले, पचन में कठिन और क्षयाय रस युक्त होते हैं ॥२९६॥

त्रिं फलं नालं कन्दाश्च गुरुत्वः कमात् ।

शाक, पत्रशाक, फलशाक आर कन्दशाक ये उत्तरोत्तर विषक गणित होते हैं ।

परिजीर्णं च कृमिजुष्टमदेवाजम् ।

॒ सर्वशाकं तथदकालविरोहि च ॥२९७॥
परिजीर्ण (पुराने, वासी या अत्यन्त पक्कर पीले), कीड़ों से भक्षित, अयोग्य भूमि में और अयोग्य उत्पत्ति हुए सर्व शाक त्याग करने चाहिये ॥२९७॥

किव्य—स्लोक २११ से २१७ तक विविध शाकों के य तथा विशेष गुणों का वर्णन किया गया है। इनके समान्यतया यह कह सकते हैं कि इनमें प्रोटीन, मेद, शीरीरुपुष्टिकर अंश अत्यधिक होते हैं। तथापि इनकी विषेषताएँ हैं—(१) इनमें खनिज ज्ञार जो होते हैं उनके सेवन फायदेमन्द होता है। ये ज्ञार प्रोटीन, मेद, के परिवर्तन से शरीर में जो अम्ल बनते हैं उनको छोड़ते हैं। शरीरस्त्रा के लिये रक्त का ज्ञारीय होना अस्वलक्ष्यता (Acidosis) नामक रोग उत्पत्ति होता है। (२) इनमें सेल्यूलोज (Cellulose) की राशि भी अधिक । यह पर्याध मनुष्यों के लिये अपाच्य है, जो आंतरिक चलन पैदा करके मलोत्सर्ग की प्रवृत्ति उत्पत्ति करता मलावरोध को हटाता है। (३) इनमें पोटासिअम

के लवयह होने से ये भूत्रल हैं और पथरी के दोनियों के लिये पञ्चल होते हैं । (४) इनमें स्कर्वी प्रतिपेष्ठक जीवद्रव्य भी होता है। (५) इनके कारण भोजन में रुचि और खुशबू उत्पत्ति होती है। जिससे भोजन पचने में भी सहायता होती है। (६) हन्में कायोंहैड्रेट क्ल द्वारा होने के कारण मधुमेही के लिये भी इनका सेवन अपव्यक्त नहीं होता। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भोजन में सार्व-स्वच्छियों का होना यहुत आवश्यक है। शाक-भाजी हमेशा ताजी होनी चाहिये। ताजी न भिले तो न राना देहत है। वासी या सड़ी गली तरकारी खाना डीक नहीं है। सामान्यतया शाक-सब्जी गंदे पानी से तैयार होती है, इसलिये हमेशा उस पर कीड़े सकोड़े होते हैं और घण्डा देते हैं। इसलिये कचा साग बिना अच्छी तरह से धोये और देखे नहीं खाना चाहिये। तरकारी चीरने के पहले उसमें से वास-पात, कीड़ा-भकोड़ा तथा उसका वें-काम भाग निकाल कर फिर चीरना चाहिये।

कन्दानत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—विदारीकन्दशतावरी-विस्मृणालश्टाटककशेरुकपिरडालुकमध्वालुक-हस्त्यालुककाष्ठालुकवाष्ठालुकरक्लालुकेन्दीवरोत्पल-कन्दप्रभृतीनि ॥२९८॥

रक्तपित्तहराराहुः शीतानि मधुराणि च ।

शुरुणि वहुशुक्षाणि स्तन्यवृच्छिकराणि च ॥२९९॥

इसके आगे कन्दों का वर्णन करेंगे—विदारीकन्द (भूमि-कृष्णागढ़), शतावरी, विस (पद्ममूल), मृणाल (स्थूलपश्च-सूल), श्वाटक (सिंगाड़ा), कसेरुक (चिचोड़ Scirpus Kysoor), पिण्डालु (Dioscorea Globosa), मध्वा-लुक (Dioscorea Aculeata), हस्त्यालुक, काष्ठालुक, शेखालुक, रक्लालुक (पक्करझूटी), हन्दीवर उत्पल कन्द प्रभृति कन्द ॥२९९॥ रक्तपित्तनाशक, शीतल, मधुर, भारी, अतिशयशुक्षमवृद्धि और स्तन्यवर्धक होते हैं ॥२६६॥

मधुरो द्युंद्युमो वृज्यः शीतः स्वर्योऽतिश्वृग्नलः ।

विदारीकन्दो यत्यस्तु पित्तवात्हरस्य सः ॥३००॥

वातपित्तहरी वृज्या खादुतिक्ता शतावरी ।

महती चैव हृद्या च भैधाग्निवलवर्धिनी ॥३०१॥

अहण्यशोविकारधी वृज्या शीता रसायनी ।

कफपित्तहरस्तिकास्तस्या एवाहुरा: स्मृताः ॥३०२॥

विदारीकन्द शरीरपुष्टिकर, वृज्य, शीतल, स्वर के लिये हितकर, अतिमूल्र, वलवर्धक और वातपित्तनाशक है ॥३००॥

शतावरी वातपित्तनाशक, वृज्य, मधुर और तिक्त है। दूसी शतावरी (Asparagus Sarmentosus) हृद्य, द्युचिद्युर्ध्व, अग्निदीपक, वलकारक, ग्रहणी और अर्धनाशक, वृज्य, शीतल और रसायन है। उसके बंधुर कफपित्तनाशक होते हैं ॥३०१,३०२॥

अविदारि विसं ग्रोकं रक्तपित्तप्रसादनम् ।

विषम्भु दुर्जरं स्वर्यं विरसं भारुतावहश ॥३०३॥

शुरुः श्वाटकशेरुकौ । च श्टाटककशेरुकौ ।

पिण्डालुक कृषकर गुरु धातप्रबोगणम् ॥३०४॥
सुरेन्द्रकन्द लेपमधो विषाके कटु पितृश्चत् ।

विष विद्वान् करन वाला रक्षणिस का प्रयात्रक विषम
जनक पचने में कठिन रूप म्यान्हीन और वायुवर्धक है
॥३०२॥ श्वासक और कमरक भारी विषमभजनक और
शीतल है । पिण्डालु कफकर भारी और वानप्रकापक है
॥३०४॥ सुरेन्द्रकन्द (वद्रकन्द जगला सूरग Sy unther as
Sulat ea) कफनाशक विषाक में कटु और पितृकर है ।

वेषो करीग गुरु व कफमाटनकोपना ॥३०॥
बैंस क मूलाङ्कुर गुरु और कफवातप्रकापक है ॥३०५॥

स्थूलसूरणमाणकप्रभृतय कन्दा ईपत्कपाया
कटुका रुद्धा विषमिनो गुरु व कफनाला पित्त
हराश्च ॥३०६॥

माणक स्वादु शीत च गुरु चापि प्रसीनितम् ।
स्थूलकन्दस्तु नायुष्ण सूरणा गुदकीलहा ॥३०७॥

स्थूल कन्द मूरण (गिमी) A norphopl allus
Campanulatus) माणककन्द (माणककन्द Alocas a
Ind ea) प्रभृति कन्द किंचित् कापाय कटु रुद्ध विषमभजनक
भारी कफवातप्रकापक और पितृहर है ॥३०८॥ माणककन्द मूरुर
शीतल और गुरु है स्थूलकन्द विषेष उष्ण नहीं है और मूरण
अग्नाशयक है ॥३०९॥

सत्त्वय—सूरण स पश्चुन का कार्य ठीक हाकर दस्त
भी सूलकर आता है । इससे अग्नाशय विरामों में सकाच
पैदा हात्र रक्त इकड़ा नहीं होने पता । अत खनी वासीर
में सूरण घुल फायदा करता है । इसका अग्नाशय नाम विषकल
सार्थि है ।

कुमुदोत्पलपद्माना कन्दा मारुतकोपना ।
कथाया पित्तशमना विषाके मधुरा हिमा ॥३०८॥

घराहकन्द लेपमध्य कटुको रसपाकत ।
मेहदुष्टरमिदो वल्यो वृष्यो रसायन ॥३०९॥

कमुद उष्णल और पश्च इनक कन्द वायुकारक कपाय
पित्तशमनक विषाक मधुर और शालम है ॥३०१॥ घराहकन्द
(Tacer hypera) कफनाशक रसविषाक में बड़ प्रमह
उठ और हृष्मि का नाशक वल्कारक शृष्म और रसायन
है ॥३०१॥

तालनारिकेलरमजूरप्रभृतीना मस्तकमङ्गान ॥३१०॥
म्यादुपाकरसानाह रसपित्तहरास्तथा ।

मुख्यलाननिलमाद्य कफवृद्धिवरात्परि ॥३११॥
ताल नारिकल और गृहर इयारि दूरी के निर की गिरि
॥३१०॥ रसविषाक में मधुर रसपित्तशमनक वृद्धिवर्धक
वायुतानक और कफ की वृद्धि बढ़न गामी होती है ॥३११॥

पात्र हानानंव जीर्णे व्याधिर विषमिनितम् ।
कन्द विषज्ञेत् सर्वयो यो या सम्यग् गोहनि ॥३१२॥

काल (कपा) व कटुका बूनु पुराना राग स लक्षण
हृष्म दीर्घी ग लाला हुआ और जा ईक नहीं उग रक्ता
है । एया कन्द व्याधाना वाहिय ॥३१२॥

वृक्तव्य—भूमि के घृतभाग के नीचे उपर्य
वनस्पतियों के शारों की गणना कन्द और मूलों में है ।
कन्द और मूलों में वनस्पतियों अपन उपर्योग
पोषक पदार्थों का पूज्य करती है । इनमें स तुद्र
मूल मतुर्धों के लिये भी उपयाती होते हैं । इनमें स
राग अधिक और माटीन तथा चर्ची घुल ही बम ।
इनमें कुछ खनिज (विशेष करके पाण्डामित्रम) हैं ।
इसलिये व्यापि ये भोजन के प्रधान अथ नहीं ब
तथापि पाण्य में तुद्र सहायता जस्त दृष्ट है । अतः क
हाने वाल कुछ कर्वे और तरकारियों का रामायनिक
मीथे दिया है ।

नाम	प्रोटीन	थथा	कार्ब्हिहैट्र	ज्वर
आलू	१२	०१	११७	०९
रातालू	१६	०५	२४३	०५
ब्याज	१६	०३	१३	०३
मूली	१४	११	४६	०१
गाजर	०५	०३	१०१	०१
तुकदर	०५	०१	१४०	१०
मलगाम	०९	०१५	६८	०८
कसेरक	४१	०१०	१७६	११
बड़गामी	१८	०४	५८	११
कूलगामी	२२	०४	४७	०८
टामादा	१३	०२	५०	०५
खीरा	०८	०२	३१	०५
केला	१३	०६	२२०	०८
वेशन	०१९	०१५	३४८	०२१
मिठी	१६	११	५७२	०८
कटुक	०१०	१०	३१६	०१

कन्द और शाकों में याहा मेल्युलानी भी होता है । इ
दस माप हा जाता है । इसलिये इनमें यथापि शैलि
कम होता है तथापि इनका भाजन में हीना आवश्यक है

अथ इयणानि—सैन्धवसामुद्रविडसौख्य
रोमकैद्विदप्रभृतीनि लघणानि यथोत्तरमु
यानहराणि कफपित्तकरणि यथापूर्वे विष
स्यादूनि वृष्ममूर्चपुरीगाणि चेति ॥३१३॥

इयण—मैथथ (सिंधानग) मायुद (सुख
नमक) विष गैविवल रामक उद्दिदप्रभृतीलव
मधिदाधिक गरम वातहर और कफविद्वाकर है ॥३१४॥
उल्ल बम स अधिकाधिक विषय मधुर और मृद्यु
प्रवृत्ति बरन वाल होते हैं । (सैन्धव सब स कम गरम का
और कफविद्वाकर होता है; अंदिदृष्म सब स अधिक है । सै
न्धव स अधिक विषय मधुर और वृष्ममूर्चपुरीग होता है;
अंदिदृष्म सब स कम होता है ॥३१४॥)

यत्त्वय—मैथ—गिरुगाहव हान से दोष बह
है । यह नमक जानो ग तिलाला जाना है । अतीव में
होक सोट (Pock salt) कहत है । रामायनिक है तो

दिसम लूराइट, अभ्यन्त प्रसारण में सोडियम मल्फेट
और क्षेत्रीय पायालमिथम और भ्यारेनिथम
ता है। नामुद—यह नमक धूरी वी डप्पाना से
जी से घनाया जाता है। सोडियम लूराइट के
लिये नामा में इसमें पोटायमिथम और एक्यालमिथम
गठ तथा स्थानेसिथम और एक्यालमिथम के
 $MgCl_2$, $MgSO_4$, $CaSO_4$) होते हैं। बिट-
नमक कहते हैं। आजमल गढ़ नमक छविम ताँर
नमक ($NaCl$) ८२ भाग, आंगनला १ भाग,
ग और सज्जनादार १ भाग द्वारा उत्कृष्ट लग्नार
ग है। चरक और सुधुत के समय छिट लग्नम
या छविम या और किसा घनाया जाता या इसका
नहीं मिलता है। इसमें ग्रविटीन सोडियम लूरा-
ट! और अन्यांग सोडियम नम्फेट (Na_2SO_4),
फेरिक आक्साइट और फेरिक मल्फेट (FeS)
हमर्में गंधक का पृष्ठ ग्राम (H_2S) होता है जिसमें
प्रकार की गंध आती है। सोडरन-चिरीय काल
गे काल द्वारा कहते हैं। इसमें गराने के नमक
के अतिरिक्त थोटा सोडियम मल्फेट (Na_2SO_4)
स्थान में सौर्वर्जन से 'थोटा' (Saltpetre,
समका जाता है। नमक—अजमेर के पास जो
पर है, वहाँ से उत्पन्न हुआ। इसको सांवर लग्नण
है। इसमें गराने के नमक ($NaCl$) के अतिरिक्त
कार्बोनेट (Na_2CO_3) और सोडियम मल्फेट
(Na_2SO_4) तथा थोटा आयोडिन होता है। ओडिट—इसको
या रेहानमक कहते हैं। जमीन मे घनाया जाता
ये ग्रीडिन कहलाता है। इसमें मुख्य सोडियम लूरा-
सल्फेट होता है और अन्यांग में सोडियम कार्बोनेट,
र गोरा होता है। प्रभृति—गुटिका, उपसूत, वाल्टरैल
मूलकरोडव।

संन्ध्यवं हृदयं सूचयं लघ्वग्रिदीपनम् ।
समधुरं वृत्त्यं शीतं दोपम्बुन्नमम् ॥३१५॥
मधुरं पाके नात्युष्णामविदाहि च ।
ग्रिघमीपच्च शूलम्बं नातिपित्तलम् ॥३१५॥

दीपनं सूक्ष्मं शूलहट्टोगनाशनम् ।
तीक्ष्णमुख्यं च चिडं वातानुलोपनम् ॥३१६॥
सौवर्चलं पाके धीर्योष्णं विशदं कदु ।
एतिव्यन्ध्यम्बं हृदयं सुरभि रोचनम् ॥३१७॥
ये नेत्र और हृदय के लिये हिनकर, स्वचिकर, लघु,
कृति, ग्रिघ्न, मधुर, वृत्त्य, शीतल, दोपनाशक और
ज्वरों में) श्रेष्ठ (सैन्धव लवणानाम् । चरक) हैं
सामुद्रछवण विपाक में मधुर है, अतिग्रय गग्म नहीं
है उत्पन्न करने वाला नहीं है, मेडन है, किंचित्
है, शूलनाशक है और विशेष पित्तकर नहीं है ॥३१८॥
वज्र ज्वारीय, अग्निदीपक, सूक्ष्म, शूल और हट्टोगनाशक,
(तीक्ष्ण, उपाय और वातानुलोपक (Carminative)
युक्त।

१३१६॥ स्वीकृत्यल लगण विपाक में हलवा, उष्णार्थार्थ,
निराद, कट्टु, गुम्बा, दूल और सलावतीप हलवा साथक,
इण, सुरंगधी और सचिक्कर है ॥३१७॥

गोमकं नीद्यगमयुवां व्यवायि कुण्डाकि च

वानस्पति लघु विष्णुन्दि मूढमं विद्भेदि मूढलम् ॥३१॥
लघु तीव्रगोणमुक्तेदि मूढमं वानानुलोमनम् ।

सतिकं कदु सज्जारं विद्यालृवणमौद्धिदम् ॥३१०॥
काफ्यावक्रिमिहरं लेपनं पित्तकोपनम् ।

दीपनं पाचनं भेदि लवणं गुटिकात्यम् ॥३८०॥

रोमक लघ्न र्जीझ, अतिग्रन्थ गरम, व्यवायि (पहल गर्भर में न्यासु होकर पीछे पाक होने वाला), विपक में कट्टु, वामनाशक, लघु, विस्तरित, घृतम्, दम्नावर और सूत्रजनन है ॥३८॥ औद्यभिद् लघ्न लघु, तीक्ष्ण, उष्णा, छेदजनक, घृतम्, वामनानुलोभर (वामनानामः प्रवर्तने सरयुग-हस्ताय । आटमाल), निक्त, कट्टु और ज्ञारीय है ॥३९॥ गुटिका लघ्न कफबातनाशक, कुमिल, लेपन, वित्तर, अस्त्रियपक, पाचक और दम्नावर है ॥३१॥

अपस्तुतं वालुकैलं शौलसूलाकरोऽवम्

लवणं कदुकं छेदि विहितं कदु चोच्यते ॥३२१॥

ऊपरमूर्त (क्षारमृतसिक्षा से उत्पन्न हुआ लवण, साजी-भाई), वालुकल (वालुकामय भूमि से यानि रंगिन्तान में उत्पन्न हुआ लवण), शैलमूलाकरोद्धय (पहाड़ों की जड़ के पास स्थित हुई ग्वानों से निकाला) लवण कढ़, (कफ आदि का) द्वेद करने वाला, विपाक में कटु होता है ॥३२॥

यवक्षारस्मिन्काद्यारोपक्षारपक्षिमटक्षणक्षार-
प्रभृतयः ।

गुलमार्शोग्रहणीदोपमेनिइयोगचिनाशनाः

क्षारास्तु पाचनाः सर्वे रक्तपित्तकराः सराः ॥३२२॥

(ज्ञार) यवन्नार, स्वर्जिकाज्ञार, ऊपन्नार, पाकिमज्ञार, टंकगज्ञार, प्रभृतिज्ञार । ये मर्वन्नार पाचक, रक्तपित्तकर और वातानुलोमक होते हैं; और गुण्म, अर्थ, घ्रणीदोष तथा प्रतिदृश्याय इनका नाश करते हैं ॥३२२॥

वर्क्टक्ट्रय—यथक्षार—यह द्वारा यवद्युक्त की रक्ता संत्रिभ्वनाया जाना है इसलिये 'यवद्यार' कहलाता है। वर्तन (भाष्ट) में पाक वनाकर तंयार किया जाता है इसलिये 'भाण्डज्ञार' कहलाता है। यव के अतिरिक्त अन्य वनस्पतियों की लकड़ी (दार) की रक्ता से भी वनाया जाता है इसलिये 'दारखलवण' भी कहलाता है। रासायनिक दृष्टि से उसमें मुख्य द्रव्य कार्बोनेट थ्रॉफ पोड्याण (Carbonate of Potash) है। इसके सिवाय कुछ अशुद्धियाँ भी होती हैं। इसकी वनावट सूत्रस्थान के ११ वें अध्याय में वर्णन की है। मट्टदू़ द्वारा में यवक्षार ही होता है। खर्जिकाशार—इसको 'सज्जी-खार' कहते हैं। रासायनिक दृष्टि से इसमें सोडिअम कार्बोनेट (Sodium Carbonate) मुख्य होता है। इसके अतिरिक्त थोड़े अंग में सोडिअम सल्फेट (Sodium Sulphate)

१ शक्तिरामरिनाशनः

नमक (Sodium Chloride), पोटेशियम आदि अन्य लवण और कुछ अमुदियाँ होती हैं। पाकिमशार—पाक विधि से बनाया हुआ चारा। इसको छुट घोरा या कलमी घोरा कहते हैं। रासायनिक इष्ट से इसमें सुख्य द्रव्य पोटेशियम नायट्रेट (Potassium Nitrate) है। इसके अतिरिक्त सोडियम

कहते हैं। कारण यह है कि इससे ग्राहपचन होता है। रासायनिक इष्ट से इसमें सुख्य द्रव्य सोडियम बायोबोरेट (Sodium Boraborate) है। अंग्रेजी में इसको बोरशेक्स (Borax) कहते हैं।

झेयी घटिसमी ज्ञाती सर्विंजिकायावश्वकज्ञी ।

शुफ़स्तेभवियवन्धार्थेगुभृमधीहितायनी ॥३२३॥

उप्पोउनिलग्नः प्रक्षेत्री चोपद्यारो दलापदः ।

मेदोऽप्तः पाकिमः ज्ञातरस्तेपां वस्तिविशेधनः ॥३२४॥

विद्वद्वाणोउनिलकरः ल्लेप्मङ्गः पित्तदूरणः ।

थाग्निर्दीप्तिकरस्तीष्णाएष्कणः चार उच्चयो ॥३२५॥

सतीज्ञार थीर यवज्ञार अप्तिसमान (तीण्ण) होते हैं; और शुक्र, कफ, मलावरोध, वर्षा, गुर्म, और हीडा (शुद्धि) इनके विनाशक हैं ॥३२६॥ उपज्ञार डण्ण, बातनायक, हेद-जनक और मलनाशक है। पाकिमज्ञार मेदनायक और मूत्रल है ॥३२७॥ हंकण्डार रुक्तता करने वाला, बातनक, कफ-वायक, रित की दुष्टि करने वाला, (जटर की) अजि की व्याने वाला और तीव्रता है ॥३२८॥

सुवर्णं खादु हृष्टं च शृंद्वशीयं रसायनम् ।

दोपत्रयापहं शीतं चभुख्यं विषयस्तुनम् ॥३२६॥

रूप्यमस्तं सरं शीतं सदोहं पित्तवात्तुत् ।

ताम्बं कायायं गम्भुर्त लेखनं शीतलं सरम् ॥३२७॥

सतिकं लेखनं कारयं चसुख्यं कफवातगित् ।

पातष्टुच्छीतलं लोहं तुष्णापित्तकफापदम् ॥३२८॥

कट्टु किमिमं लयणं प्रपुसीसं विलेखनम् ।

मुक्तापिष्ठुमवपेन्द्रपैदूर्यस्कटिकादयः ॥३२९॥

घस्तुप्या मयुषः शीता लेरगा विषयस्तुगा: ।

पदिग्ना धारत्त्वयाय याप्तालद्वीमलापदाः ॥३२०॥

सुर्प्यं मधुर, दप (Cardiac Tonic), शरीरपुष्टिकर, रसायन (Alterative), विशेषनायक, शीतल, नेत्र के लिये दित्तदर और विशेषायक है ॥३२१॥ पारी चम्प, सारक, शीतल, चिप्य और बातिवित्तनायक है। सोंबा कायाय, मधुर, लेखन, शीतल और सारक है ॥३२२॥ कोरय विक लेखन, नेत्र के लिये दित्तदर और कफवातनायक है। सोंबा बातकर, शीतल, तुष्णापात्र और वित्तकातनायक है ॥३२३॥ रोगा और सीता दृढ़, इमिनायक, संबाल और लेखन हैं। मोती, मधुर, हीता, पैरूष, एकटिक इलाहि और दृष्टि नेत्र के लिये

हितकर, शीतल, लेखन, विपनायक, पवित्र, धारण करे पाप, गलवर्मी दीर (शारीरिक) दोरों को दूर करे हैं ॥३२०॥

धान्येषु मांसेषु फलेषु चैव

शाकेषु चानुकमिद्वाप्रमेयत् ।

आसादतो भूतगुणात्थ मत्वा

तदादिशेद् द्रव्यमनवपुदिः ॥३२१॥

(संसार में द्रव्य) असंख्य होने के कारण धान्य मांसों में, फलों में, शाकों में (तथा अन्यर्थी के ग्रन्ति से जिसका गुणर्थण यही नहीं हो सका उसको बैरा चालकर (भुतुरादि इसों के गुणात्मार) तथा (रंभक) भूतगुण (वीर्यविशक) के अनुसार (अन्यर्थ) व्यादि भूत गुणों के अनुसार) तुग में जल के ॥३२१॥

पष्टिका यवगोधूमा लोहिता चे च शालयः ।

सुद्धादकीमस्त्रात्थ धान्येषु प्रवरा: स्तृताः ।

लायतितिरिसारहुर्द्वैषकपिङ्गलाः ।

मयूर्खमिकूर्मात्थ धेष्टा मांसगणेष्विह ॥

द्याहिमामलकं द्वाज्ञा खर्जूं सपरुपकम् ।

रागादनं मातुलुं फलवर्गे प्रशस्यते ॥

सतीनो यास्तुकश्चाचिह्नीमूलकपेतिकाः ।

मण्डूकपर्णी जीवन्ती शाकवर्गे प्रशस्यते ॥

गव्यं द्वीरं धृतं धेष्टुं, सैन्धवं लवणेषु च ।

धात्रीद्याहिममस्तेषु, पिष्टर्ली नाशरं कटी ॥

तिके पटोलयातिके, भधुरे धृतसुध्यते ।

द्वीरं, पूगफलं धेष्टुं कगाये सपरुपकम् ॥३

राक्करेषुविकारेषु, पाने मध्यासवी तथा ।

परिसंवत्सरं धान्यं, मांसं वयसि मध्यमे ॥

अपर्युरितमध्यं तु संस्कृतं माथया शुभम् ।

फलं पर्यागतं, शाकमग्नुष्टकं तदयं मध्यम् ॥३

बनानों में बाढ़ी चालक, रसायनि (भद्रीर्या गहनिनी), गेहूं, मूँग, भारह और मटर ये भेड़हे ॥३

मांसवर्गी में लाय, तीतर, सारोगात्री (थेट इरिय), (काला हिंग), कुरंग (हिंग का एक प्रकार), कपि मोर, वर्षा (मध्यम) और कम्पप ये भेड़हे ॥३३३॥ यह में अनार, आंबेज, चंदू, जगूर, कालसा, हिती भानुलंग भेड़ होते हैं ॥३३४॥ सतीन (मटर), बा (चमुमा), चुच्च, चिली, कोमल मूली, मण्डूकपर्णी : जीवन्ती शाकवर्ग में भेड़हे ॥३३५॥ दूध और धूत में गृह शपथा भी भेड़हे । लेखनों में धैर्यद भेड़हे । अस्त्रद में चांचला और बनारा भेड़हे । कट्टु दम्भों में विष्ट्री : सोंब भेड़हे ॥३३६॥ तिक पश्चात्यों (शाकों) में पराल : पैंगम भेड़हे ; मधुर दम्भों में धी और मधु भेड़हे । कट्टु दम्भों में सुपारी और कालमा भेड़हे ॥३३७॥ गर्जे के पद में चीनी भेड़हे ; फीने के दम्भों में (Beverages) दाका भेड़हे ; (धान्यों में) एक वर्ष का पुराना चाव भेड़हे ।

म में) सभी वायु के जीव का मांस थेष है तो जा (उसी दिन का वनाया हुआ), गम्भारे और डालकर (उत्तम प्रवार से वनाया हुआ, वीम्य वन किया हुआ और पथ्यकर जो होता है वही है; (फलों में) परिपक्वफल थेष है और ताजा वन्या और कोमल शाक (शाकों में) थेष है ॥३३६॥

परं प्रवक्ष्यामि छतावश्चुणविस्तरम् ॥३४०॥
हीं से आगे (असि की वनायना से) वनाये (अशों को) गुणयिनारर्थीक वर्णन करता है ॥३४०॥
ज्ञो विशुद्धानां पद्यः पाचनदीपनः ।
लोमनो हृद्यः गिप्पलीनागरायुतः ॥३४१॥

मेजननी लघ्वी दीपनी वस्तिशोधनी ।
धमग्लानिहरी पेया वातानुलोभनी ॥३४२॥

(ज्ञानादि से) शुद्ध हुए मधुपद्मों के लिये पिप्पली

मुक्त साजमण्ड पचकर, पाचक, अमिदीपक, वाताद्य को दितकर है ॥३४१॥ पेया स्वेदन अभिनगक, और मूद्रविशीपक है; छुया, तृप्ता, धूम और ग्लानि होती है, तथा वातानुलोभन है ॥३४२॥

। तर्पणी हृद्या ग्राहिणी वलवर्धनी ।
स्वादुरसा लघ्वी दीपनी भुचृपापदा ॥३४३॥

अंशोधनी वृष्णा ज्वरातीसारयोर्हिता ।
गांसफलैर्युक्ता यवांग्वस्ताव्य दुर्जरा: ॥३४४॥

गी शुष्किकारक, हृद्य, ग्राही, वलकारक, पस्यकर, मधुर, गमिदीपक, वृषाशामक, छुया को दूर करने वाली शूष्यविशीपक (मूद्रन), वृष्ण और ज्वर तथा अतिरेतकर है। घाक, भास तथा फलों से बनाए हुए तीनों प्रकार की) यवाग्, पचन में कठिन होती

॥
विरहितो मरडः पेया स्त्रियसमन्विता ।
वहुसिकथा स्याद्यागुर्विरलद्वा ॥३४५॥

भक्तावयव रहित होता है; पेया भक्तावयव युक्त होती

विलेपी यवाग् यहुत भक्तावयव युक्त और अल्पद्रव री है ॥३४५॥

कव्य—मण्ड, पेया और विलेपी यवाग् के ही तीन
। मण्ड—पके तण्डुलादि के घन भाग में से उपर का
। छानकर निकाला जाय तो वह 'मण्ड' कहलाता है।
गी विधि तथा वनाने के व्रव्य के अनुसार मण्ड तीन ग होता है। जो मण्ड लाजा या भृष्ट तण्डुलों से
जाता है, उसे 'लाजमण्ड' कहते हैं।—जले चतुर्दशयुगे
। चतुर्पलम् । विपचेत सावयेमण्ड सभातो मधुरो लघुः ॥

द्वितीये स्त्रियो मण्डस्त्रस्विकथकः । लाजैर्वा तण्डुलैर्भृत्यर्जमण्डः
॥ (शारधर) । मण्डस्त्रु विविषेषेय एकद्विपरिस्त्रितः ।

स्त्रीश तण्डुलः परिसंस्कृतः ॥ पेया—चौदह गुने जल में
डालकर खूब पकावे, उसको मण्ड की भाँति छाने नहीं,
हृद्या सत्तर्पी वृष्णा शूणी वलवर्धनी । २ यवाग्वोऽम्लाशः
ग्राह दुर्जराः । ३ यवाग्वूर्दुसित्या स्यादिलेपी विरलद्वा ।

वह द्रवसहित भक्तावयव युक्त पदार्थ पेया है—यतु देशमुग्ने नहीं
स्त्रासाहारिभिः इत्या । द्रवाभिः स्वत्वसित्या ऐया मीक्ता भिपर्गरैः ॥
(भावप्रकाश) । विशेषी—चौंगुने जल में वायल डालकर स्वयं
पकावें; वह अन्यद्रव युक्त गाढ़ा पदार्थ विशेषी है—नातुरुणामु-
भेसित्वा विशेषी घनक्षित्यापना । पूर्वद्रवेण रहिता लयाना शिखिलभस्तिका ॥
(भावप्रकाश) । चरक में भी ये ही तीन प्रकार वर्णन किये
हैं । हुल मध्यकार और दीकाकार 'यवाग्' को कृतात्त का एक
स्वतन्त्र घोंगा प्रकार मानते हैं ।

विष्टम्सी पायसो वलयो मेदः कफकरो गुरुः ।

फलापित्तकरी घलया वृश्चाराऽनिलनाशनी ॥३४६॥

। पायस (पग्नि संस्कृत औदानः, दूध ने चावलों से बनाई
हुई तीरी) विष्टम्भजनक, बनकारक, मेद और कफकर तथा
भारी है । कृत्रा (तिल चावल और डढ़द की सिंचड़ी) कफ
पित्तकारक, बलवर्धक और वातनाशक है ॥३४६॥

घोतस्तु विमलः शुद्धो भनोदाः सुरभिः समः ।

स्विदाः सुप्रच्छुतस्तुप्यो विशदस्त्वोदनो लघुः ॥३४७॥

अधौतोऽप्रच्छुतोऽस्त्रिष्ठः शीतश्वास्योदनो गुरुः ।

लघुः सुगन्धिः कफहा विदेयो भृष्टतरुहुलः ॥३४८॥

स्नेहमौसैः फलैः ऊन्दैर्वैदलाम्लैश्च संयुताः ।

गुरुयो वृद्धणा वलया ये च क्षीरोपसाधिताः ॥३४९॥

धोये हुए, निम्ल, हुद्ध, मनोहर, सुगंधित (चावलों का)
सब ठीक पका हुआ, भौंट निकाला हुआ, गरग और जो
दिजना न हो ऐसा भात हलका होता है ॥३४७॥ दिना धोये
चावलों का, जिसका सांड न निकाला हो, जो सब ठीक न
पका हो और जो ठेंडा हो ऐसा भात भारी होता है । भुने हुए
चावलों का भात हलका, सुगंधित और कफनाशक होता है
॥३४८॥ जो भात (धूतादि) स्त्रिय वर्द्य पदार्थ, मांस, फल,
(आलू तरीहर) कन्द, (मापादि) दाल, गम्ल पदार्थों से
तथा गुरुधादि से बनता है वह भारी, शरीरपुष्टिकर और वल-
कारक होता है ॥३४९॥

सुखिश्चो निस्तुपो भृष्टैर्धत्सूपो लघुर्हितः ।

स्विन्नं निष्परीडितं शाकं हृतं स्यात्त्वेहसंस्कृतम् ॥३५०॥

अस्तिन्नं स्त्रेहरहितमपीडितमतोऽन्यथा ।

ठीक पकी हुई, छिलके उत्तरी हुई और किंचित् भुनी हुई
(दाल का) सूप हलका और हितकर है । खूब पका हुआ,
निचोड़ा हुआ और धूतादि से संस्कृत किया हुआ शाक
हितकर होता है ॥३५०॥ ठीक न पका हुआ, न निचोड़ा हुआ
और धूतादि से न बनाया हुआ शाक विपरीत (अहितकर)
होता है ।

चक्रव्य—उपर चावल का नण्ड निकालने की ओर
स्त्रिय शाकों की निचोड़कर पानी निकालने की जो विधि
वर्णन की है उससे यथापि ये पदार्थ हुच्छ हलके होते होंगे,
तथापि ऐसा करने से हून पदार्थों के स्वनिज, शोटीन जीवद्रव्य
हृत्यादि निकल जाते हैं । हसलिये स्वस्थ मनुजों के लिये
संवेदा हसी विधि से बनाया हुआ चावल और शाक का

सेवन स्थान्य हानिसर होता है। भोजन के विविध प्रकार को इस प्रकार पकाना चाहिये कि उनमें विकिप डाराशानों का नाम न होने पारे। उपर्युक्त विधि के बल रोगियों के लिये है। व्याध द्रव्यों को पकाने का सर्व में उत्तम डाराश उनकी भाग के डारा गनना है। रयंदै बनाने के लिये आवश्यक छूटर (Cooker) का जी प्रचार है उसमें ही विधि से भोज्य पदार्थ पकाय जाते हैं। जहाँ तक हो सर्व अपने भीनर के रथ में ही साग वो पकाना चाहिये। यदि साग बहुत ही सूखा हो तो समें जितनी जम्मत हो जाना ही पानी डाराना चाहिये। परन्तु अधिक पानी डाराशर पक जाने पर उसको पकाना आज्ञा नहीं है। चारन के बारे में भी वही ज्ञान में रम्भना चाहिये। अन्यथा क्षार, जीवद्रव्यादि आवश्यक पदार्थों ने गर्भर विचित होकर व्याध द्रव्यों की पौष्टिकता कम होती है, और विधि रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

मांस स्वभावतो वृष्यं छंदनं वल्यवर्धनम् ॥३५१॥
छेदगोरस्थान्याम्लफलाम्लकटुकैः सह ।

स्त्रिर्मांसं द्वितं वल्यं रोचनं वृद्धं गुरु ॥३५२॥
नदेव गोरसादानं सुरभिद्रव्यसंस्फुतम् ।

विद्यापित्तकफोद्रेकि वलमांसाद्विवर्धनम् ॥३५३॥
परिशुद्धं स्त्रिरं विश्वरं हृष्णं श्रीणनं गुरु ।

रोचनं वलमेघाद्विमांसोजःशुकवर्धनम् ॥३५४॥

(मांस) मास स्वभाव में ही वृश्य, खिप्पनाकारक और बल व्याधि वाला है ॥३५१॥ (तैत्रशतादि) स्त्रिय-पदार्थ, (तत्रादि) गोरस, (कार्तिक आदि) धान्याम्ल, (दारिद्र्मादि) कलाम्ल, (मरिचादि) कटु परार्थ इनमें बनाया हुआ मास हिंडकर, बनकारक, रचिकर, शरीरपुष्टिकर और भारी होता है ॥३५२॥ वही मास द्वित काल्पने से और (दिगुमरिचादि) सुधाय द्रव्य द्वादशने से पिस और कह का प्रकोप करता है; और बन, मांस तथा जड़राजि को बढ़ाता है ॥३५३॥ परिशुद्ध माम गरीगर्वर्धकर, मिन्थ, आनन्दाम्ल, तृष्णिकर, भारी, रचिकर, बलकारक, तुड़िवर्धक, अग्निरूप, मास बांत वाला, शोजोर्विक और शुक्रन है ॥३५४॥

यज्ञवल्य—स्वभाव—थान्य पदार्थों का संयोग या संस्कार न होते हुए भी। गोरस—द्वितीय और तत्र। मास के संस्कार के लिये द्वितीय और तत्र समान विधि और उत्तराणा

तदेवोद्युत्पिष्टत्वादुद्गुतमिति याचनाः ।
परिशुद्धगुणेयुर्मुखं यहौ पकमतो लघु ॥३५५॥
नदेव शुल्काप्रोतमहारपरिपाचितम् ।
झेयं गुरुतरं किंचिन् प्रदिवर्थं गुरुपारुतः ॥३५६॥
उद्गुत भर्जितं पिण्ठं मनस बन्दुपाचितम् ।
परिशुद्धं प्रदिवर्थं न शूल्यं व्याध्यन्दीद्वाम् ॥३५७॥
मांसं यत्तेलसिद्धं तद्वायोप्यं पितॄद्वद्य ।

लक्ष्यग्निर्वाणं हृष्णं रुद्यं दृष्टिप्रसादनम् ॥३८॥
अनुप्यार्थीयं पितॄम् मनोजं धृतसाधितम् ।

उम्मी परिशुद्ध माम को (पहले दूसरे) कृत्वे से (पवात) विश्वय यनाने से शूपस्त्र 'उब्लुम' कहते हैं। उब्लुस मांस (कोम्ता) गुण में परिशुद्ध माम के ए होता है (परन्तु) अंगर पर पकाने से वह उसमें भी हृष्ण हो जाता है ॥३५८॥ वही मांस लोहे की शकाका पर लगा कायंते की अच पर पकाया हुआ। किंतु भारी जाता है। (ब्येद धान्याम्ल तकादि से) प्रदिवर्थ मांस विष में (योदा) भारी होता है ॥३५९॥ उब्लुस, भर्जित, वि प्रतस, कन्दुपाचित, परिशुद्ध, प्रदिवर्थ, शूल्य तथा हीती या का अन्य मांस ॥३६०॥ जो तेज में मिद्द किया जाता है। उण्डीर्वीर्य, पितॄकारक, गुण होता है। जो युग में सेयार वि जाता है वह हल्का, अग्निर्वाण, हृष्ण, रचिकर, दृष्टिप्रसाद ॥३६१॥ वीर्य में अधिक उण्ड जो न हो ऐसा विचारक व मन को प्रिय होता है।

यज्ञवल्य—भर्जितादि शब्दों की व्याख्या—'भर्जित' स शूलद्वे तु पितॄ यत्प्रयत्न उन। अशूपादित यि दीपिदामितोर्मे 'मिद्द' सान्त्येत्वाद्वाचीसादुद्गमित्वेत्पि । अगरारात्य यत्क 'प्रा तदुद्गमनम् ॥ पितॄतो मौरीर्भिर्मै बन्दुपक मधुमलम् । रातिकार निर्म च 'कन्दुपविन'मुच्यते ॥ हिंडुके परिशुद्ध शूल्य लिप्ती ता न। मिलता निलव्याद्मुशुराभिविष्टमैद्वारी प्रतापेत ॥ फलम्लेन यत् एक 'शूल्य' तर्मै सौराणविनय ॥

श्रीणुनः प्राणजननः व्यामकासक्षयापहः ।
शातपित्तश्वमद्वरो वृद्धो मांसरसः स्मृतः ॥३५१॥
स्मृत्योजःखरहीनानां ज्वरस्तीणुक्तोरसाम् ।
भग्नविशुष्टपूर्वन्धीनां कृशानामल्परेतसाम् ॥३५२॥
आप्यायनः संहननः शुक्रदो वलवर्धनः ।
स दाडिमयुतो वृश्यः संस्कृतो दोषनाशनः ॥३५३॥

(मासग्न—) मांसरम तृष्णिकारक, प्राणजनक, बासकाद क्षयनाशक, वातपित्तहर, श्वम दूर करने वाला, त्वय ॥३५४॥ स्तुति और ओज बढ़ाने वाला, स्तर के लिये हिंडकर, जर व जीर्ण, डर जाती, जिनकी हृष्णी हूट गई ही या जिनके जो विलिट (Dislocated) हो गये हीं, दुखे, अस्वस्तीर्य वाले इनकी कूर्ति करने वाला ॥३६०॥ शरीर दृष्ट करने वाले वीर्यवर्धक और श्वल बहाने वाला है। वही मांसरस श्वन (के रस) से सुक तथा कटुतादि से सकृत किया हुआ वृश्य और दोषनाशक है ॥३६१॥

श्रीणुनः संवेदभूतानां विशेषान्मुखसोविलाम् ।
क्षुदृष्ट्यापहरः थेषुः सौरायः सातुरीतलः ॥३६२॥
यन्मांसमुद्गृहतरसं न तत् पुष्टिवलावदम् ।
विषमिति दुर्जरं रुक्षं विरस्तं मारतावदम् ॥३६३॥
दीपासीनां सदा पथ्यः ग्यानिष्टस्तु परं गुरुः ॥३६४॥
मांस द्वा गोवा सर्वं प्राणियों, विशेष करके मुख्योंवियों

लिये तृप्तिकारक, शुधा और तृप्तनाशक, उत्तम, मधुर और शीतल है ॥३६२॥ जिस मांस से रस, निकाल लिया हो है पुष्टिकर और वलवर्धक नहीं होता है । विषम्भ करता है, चन में कठिन है, रुक्ष है, सचिहीन है और वायुकारक होता है ॥३६३॥ खानिक (शुक्रमांसमेद या वेसवारमेद) बहुत आरी है (इसलिये) दीक्षाग्नि वालों के लिये सदा पथ्यकर होता है ॥३६४॥

गांसं निरस्थि सुखिन्नं पुनर्वृष्टिं पैषितम् ।
पैष्पलीशुरिठमस्तिच्छुडसप्तिः समन्वितम् ॥३६५॥
रेकध्यं पाचयेत्सम्यग्वेसवार इति स्मृतः ।
वेसवारो गुरुः स्तिरधो वल्यो वातस्तजापहः ॥३६६॥

(वेसवार—) जो मांस अस्थि निकाल कर, जोश कर, फिर पथ्यर पर चूर्ण किया हो तथा विष्पली, सौंठ, मेरच, गुड़, धृत मिलाकर ॥३६५॥ इकट्ठा पकाया हो उसे 'वेसवार' कहते हैं । वेसवार भारी, स्तिरध, वलकारक और वातरोगनाशक है ॥३६६॥

कफझो दीपनो हृदयः शुद्धानां वर्णिनामपि ।
क्षेयः पथ्यतमश्वेत्वं सुद्धयूपः कृताकृतः ॥३६७॥

कृत और अकृत (दोनों प्रकार के) सुद्धयूप कफनाशक, अग्निदीपक, हृदय, (विरेचनादि से) शुद्ध और वरण वालों के लिये सब से अधिक पथ्यक होते हैं ॥३६७॥

वक्तव्य—यूप—अद्यादशगुणे नीरे शिनीधान्यशृतो रसः । विरेचनो धनः किंचित् पैयतो 'यूप' उच्यते ॥ (भावप्रकाश) ।

कृताकृत—स्नेह लवणादि संस्कृत तथा स्नेह लवणादि असंस्कृत—अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कदृक्विना । विजेयं लवणस्नेहकछकैः संस्कृतं कृतम् ॥—

स तु दाढिमसृद्धीकायुक्तः स्याद्वाग्खाडवः ।
रुचिप्यो लघुपाकश्च दोषाणां चाविरोधकृतः ॥३६८॥

वही सुद्धयूप सुनक्षा और अनार (के रस से) युक्त होने पर 'रागलाडव' होता है । यह रागलाडव रुचिकर, विपाक में हलका और दोषों का विरोधन करने वाला होता है ॥३६८॥

मसूरमुद्गरोध्यमकुलत्थलवरणैः कृतः ।
कफपित्ताविरोधी स्याद्वातव्याधौ च शास्यते ॥३६९॥

मृद्धीकादाढिमैर्युक्तः स चाप्युक्तोऽनिलादिते ।

रोचनो दीपनो हृदयो लघुपाकयुपदिश्यते ॥३७०॥

मसूर, मूँग, गेहूँ, कुलथी इनका लवणयुक्त यूप कफपित्त का विरोधक नहीं है, वातव्याधि के लिये श्रेष्ठ होता है ॥३६९॥

यही सुद्धयूप सुनक्षा और दाढिमस्स से युक्त होने पर वातव्याधि के लिये (विशेष उपयोगी), रुचिकर, अग्निदीपक, हृदय और विपाक में हलका होता है ॥३७०॥

पटोलनिम्बव्यूदौ तु कफमेदोविशोषिण्णौ ।
पित्तमौ दीपनो हृदयो कृमिकुष्यज्वरापहौ ॥३७१॥

वासकासप्रतिश्यायप्रसेकारोचकज्वरान् ।

द्वन्द्वं मूलकयूपस्तु कफमेदोगलामयन् ॥३७२॥

कुलत्थयूपोऽनिलहा श्वासपीनस्तनाशनः ।

तूरीग्रतूरीकासाश्रोगुलमोदावर्तनाशनः ॥३७३॥

पटोल और नीम के यूप कफ और मेद के शोषण करने वाले, पित्तनाशक, अग्निदीपक, हृदय, कृमि, कुष्य और ज्वर के नाशक हैं ॥३७१॥ मूली का यूप श्वास, कास, जुकाम, अरोचक, ज्वर, कफ, मेद और गले के रोगों को नाश करता है ॥३७२॥ कुलथी का यूप वात, श्वास, पीनस, तूनी, प्रतूनी (ये दोनों वातरोग हैं), कास, वातसीर, गुल्म और उदार्वत हनको नाश करता है ॥३७३॥

दाढिमामलकैर्यूपो हृदयः संशमनो लघुः ।
प्राणाग्निजननो मूर्च्छमेदोधः पित्तचातजित् ॥३७४॥

मुद्रामलकयूपस्तु ग्राही पित्तकफे हितः ।
यवकोलकुलत्थानां यूपः करण्योऽनिलापहः ॥३७५॥

सर्वधान्यकृतस्तद्वद् चृंहणः प्राणवर्धनः ।
दाढिम और आँवले के साथ किया हुआ (मुद्रादि का) यूप हृदय, दोषों का शमन करने वाला, हल्का, प्राणजनक, अग्निदीपक, मूर्च्छा और मेदनाशक तथा पित्तचातहर होता है ॥३७४॥ मूँग और आँवले का यूप संप्राहक और पित्तकफ में हितकर है । यव, कोल और कुलथी का यूप करण के लिये हितकर और वातनाशक है ॥३७५॥ सर्व धान्यों से किया हुआ यूप शारीरपुष्टिकर और शक्तिवर्धक है ।

खडकाम्बलिकौ हृदयो तथा वातकफे हितौ ।
बल्यः कफानिलौ हन्ति दाढिमामलीश्विदीपनः ॥३७६॥

दध्यम्लः कफकृद्वल्यः स्तिरधो वातहरो गुरुः ।
तक्राम्लः पित्तकृत् ग्रोक्तो विपरकप्रदूषणः ॥३७७॥

खडक और काम्बलिक (ये दोनों यूप के भेद हैं, एक में छाद और शमीधान्य और दूसरे में छाद और शाक पड़ता है) हृदय और वातकफ में हितकर होते हैं । जिस (यूप) में अनार की खटाई हो वह वलकारक, कफवातनाशक और अग्निदीपन है ॥३७६॥ जिसमें दही की खटाई पड़ती हो वह कफकर, वलकारक, स्तिरध, वातनाशक और भारी होता है । जिसमें छाद की खटाई पड़ती हो वह पित्तकरक और विष तथा रक्त को प्रकुपित करने वाला होता है ॥३७७॥

खडः खडयवाग्वश्च पा(खा)डवाः पानेकानि च ।
एवमादीनि चान्यानि क्रियन्ते वैद्यवाक्यतः ॥३७८॥

अस्लेहलवणं सर्वमकृतं कदुकैर्विना ।
विजेयं लवणस्नेहकट्कैः संयुतं कृतम् ॥३७९॥

अथ गोरसधान्याम्लफलाम्लैरन्वितं च यत् ।
यथोत्तरं लघु हितं संस्कृतासंस्कृतं रसम् ॥३८०॥

खडयूप, खडयवागू, पाडव, पानक (पने) इत्यादि पदार्थ वैद्य उपदेशानुसार किये जाते हैं ॥३७८॥ ये सब पदार्थ यदि स्नेह, लवण और कटुक के विना किये जायें तो उन्हें अकृत कहते हैं; और स्नेह, लवण और कटुकयुक्त 'कृत' कहलाते हैं ॥३७९॥ गोरस (दधि तक), धान्याम्ल, फलाम्ल इनसे युक्त, हन (सेस्कृत) और अकृत (असंस्कृत) वे

(रसयूपादि) उत्तरोत्तर अधिकाधिक हृषके और द्वितकर होते हैं ॥३०॥

यज्ञवद्य—खड—तक कपिरवचागेरीमरिचाजाजिदिक्के । सुपक खड्डयोऽयम् । खड्डयवागू—खड्डयसिद्धायवागू । पाढन—साष्टाम्भमुखोऽयवक्षयलवणोऽण । अतिक घाडव कोलुकुलभवदे वृत्ता ॥ पानक—द्राक्षाम्भुकुरुज्ञकाशमर्थे सप्तस्पक्ष । मुख्यार्थे कलिन पूर्णीत कर्तुर्यासिनम् ॥ पानक पचासाराख्य दाहदृष्णानिवेनक्त ॥ विग्रहतमरिचिवेसु सरक्ता पानकस्थापा ॥

दधिमस्त्वम्लसिद्धस्तु यूपः काम्बलिकः स्मृतः ।

तिलपिण्याकविकृतिः शुफ्फशकं विरुद्धकम् ॥३१॥

सिण्डाकी च गुरुणि स्युः कफपिचकराणि च ।

तद्वच घटकाम्याहुर्विदाहीनि गुरुणि च ॥३२॥

लघवो चृंहणा चृष्णा हृद्या रोचनदीपनाः ।

तृष्णामूच्छर्भधमच्छर्दिधमग्ना रागपाद्याः ॥३३॥

रसाला चृंहणी चल्या चिंगधा चृष्णा च रोचनी ।

द्वेष्वनं गुह्यसंयुक्तं हृद्यं दध्यतिलापहम् ॥३४॥

दधिमस्तु (दही का पानी) और खटाई से सिद्ध किया

हुआ यूप काम्बलिक बहलाता है । तिल खली के विविध

प्रकार, सूखा शाक, अधिक स्फुट हुआ शाक ॥३५॥ और

सिण्डाकी भारी और कफपिचकर होते हैं । इन्हीं के अनुसार

गुण में वे विद्वाहृतक और गुह होते हैं ॥३६॥ रागपाद्य

लघु, शरीरुषिकर, वृत्त्य, हृद्य, रोचन, धीयन हैं, और तृष्णा,

मूर्छा, भ्रम, घमन और भ्रम इनको दूर करते हैं ॥३७॥

रसाला (शिलरिणी) शरीरुषिकर, घलकारक, चिंग, चृष्ण, हृद्यक

है ॥३८॥ गुद्युक दही, चिंग, हृद्य और चातनागक

है ॥३९॥

यज्ञवद्य—राम—जिनाहवकमिन्द्रौषे सूक्ष्माम्पस्तके ।

जग्मूलसैरुद्धो रागो रामिक्या हृत ॥ रसाला—अर्धादक शुर्गिर

पूर्वित्य दृष्ट राष्ट्रस्य दोषस्तप्तानि रातिप्रस्तय । तर्पि पल मधुपल

मरिति द्विर्कृत्युण्डा परार्थमपि चार्यपल विदर्प ॥ एउम पेते तुविनमे

मृदु पाणिप्राण कर्तुर्युक्तिमृद्युक्तप्राप्तरथा । एवा त्वेषरक्त्या सरपा

‘रामा’ ॥ श्रीब्रह्मदे के समान यह एक पकाओ है ।

स्वत्वयः सर्पिण्या ऽभ्यक्ताः श्रीतयारिपिच्छुता ।

नातिद्रव्या नातिसान्द्रा मन्थ इयुपदिश्यते ॥३१॥

मन्थः सद्योवलकरः पिण्यासाभ्यमानाशनः ।

साम्लज्जेद्युद्गुडो मूलश्च्छ्रेद्यतंत्यनाशनः ॥३२॥

शर्वरेशुरसद्वाक्षायुनः पित्तविषारात्मुत् ।

द्राक्षाम्भुकसंयुक्तः कफरोगनियद्येणः ॥३३॥

चर्वयेषोपद्वितो मलदोयामुलोभगः ।

की मिने, हैं पानी में सुने, न बहुत पत्तों न बहुत गाँड़े

सक्त (संप) द्वालाते हैं ॥३४॥ मध्य त्रुत्यत बल देन वाला,

तृष्णा और भ्रम का नायक होने वाला है । नटाई, येद और

गुह (संप) मृद्युल्य और दराने का नायक है

गुह तुक (संप) चिंग और तुका (संप) पित्त

द्वित्र वा नायक है । द्राक्षा और मृद्युला से तुक (संप)

वकरोगनाशक है ॥३५॥ उण्डुक सींवों वर्ण के (साम्ले गुड, शर्वेर्क्षुरसद्वाक्षा, द्राक्षामधु) पदार्थ तुक (संप) और दोष (विशेष करके बात) इनका अनुलोभन क वाला है ।

गौडमस्तमनस्तं वा पानकं गुह मूत्रलम् ॥३६॥

तदेव यण्डमूद्धीकाशकरासद्वितं पुनः ।

साम्लं सतीक्षणं सहिमं पानकं स्वान्निरत्ययम् ॥३८॥

मार्क्किं तु थमहरं मूच्छाददृष्टपापहम् ।

पृथयक्षणां कोलानां हृद्यं विष्टमि पानकम् ॥३९॥

द्रव्यसंयोगसंस्कारं शात्वा मात्रां च सर्वतः ।

पानकानां यथायोगं गुरुलाघ्यमादिरेत् ॥३१॥

इति कुताद्वयर्गः ।

खटाई तुक या खटाई रहित गुड का पानक भारी और

मूत्रल है ॥३१॥ वही गुड का पानक मिथी, मुनका, चीनी

अम्ल द्रव्य, (मरिचिदि) तीक्ष्ण द्रव्य और कर्कू तुक निर्दो

होता है ॥३२॥ ग्वाहू का पानक धमहर, मूत्रजी, दाइ और

तृष्णा को दूर करता है । फालसा और ऐरों का पानक मन के

प्रिय और विष्टमग्नक है ॥३३॥ पानकों में मिलाये हुए

द्रव्य, उन पर किये हुए संस्कार और (उनकी सेवन की हुई)

राधि जानकर प्रत्येक पानक के संवेदन में हल्कापान या भारीपूर्ण

निश्चय करना चाहिये ॥३५॥

अथ भद्रयर्गः ।

यद्याम्यतः परं भद्रयान् रसवीर्यविषप्रकातः ॥३२॥

इसके आगे भद्रय पदार्थों (जिनको दृष्टों से वृक्षकर

खाना प्रदाता है ऐसे पदार्थ, यथा—लूप) को रसवीर्यविषप्रक

के अनुसार खाने करते हैं ॥३६॥

भद्रयः द्वीरक्षता यल्या चृष्णा हृद्या: सुगन्धिनः ।

अद्रादिनः पुष्टिकरा दीपनाः पित्तनाशनाः ॥३७॥

तेपां प्राणकरा हृद्या घृतपूरा: कफायदाः ।

चातपिच्छहरा चृष्णा गुरुयो रक्तमांसलाः ॥३४॥

दृष्ट से बनाये हुए भद्रय पदार्थ घलकर, चृष्ण, भ्रम से

प्रिय, सुगन्धि, दाइ न करने वाले, शरीरुषिकर, अनिरीक्ष

और विषनाशक हैं ॥३७॥ इनमें से पृष्ठपूर (घेव) प्राण (वन) दायक, भ्रम की प्रिय, कफकारक, चातपिच्छनाशक,

चृष्ण, भ्रमी और रक्त तथा मांस पदाने वाला है ॥३४॥

यज्ञवद्य—पृष्ठपूर—मरिता ततिरा (गोधूमपूर्ण)

शीरक्षितिनिधिमि । वरगदा द्वे घेव एन्डूरेऽयुक्त्यो ॥

पृष्ठपूर गौडिका भद्रय गुरुयोऽग्निलग्नाशनाः ।

मद्रादिनः पित्तनाशः फलवर्धनाः ॥३५॥

पृष्ठपूर के भद्रय पदार्थ शरीरुषिकर, भ्रमी, चातपिच्छक,

पित्तनाश ग करने वाले, पित्तनाशक, तुक और कल्परक्ष

हैं ॥३५॥

मधुमस्तकसंयायाः पूषा ये से गिरेपतः ।

गुरुयो षट्टणार्थ्य भोदवस्तु एडमंसः ॥३६॥

गुरुमलाल, रोमाव और दूर होने हैं वे विशेष करके

ोर शरीर पुष्टिकर हैं । मीदक (लड्डु) पद्म में कठिन
है॥

वच्चाय—मधुमत्तक—मधुपौलीर्णीगंगे नेहिः। रामिताधि
मधुमत्तकमुद्दिष्टम् ॥ संयावन्तु धृतार्थासुभूम्याकः ॥

अनो दीपतः सर्वः पिरामः पवनापद्मः ।

अस्त्रपृष्ठमध्येच लट्कः प्राणवर्धनः ॥३५७॥
सदृक् (धीरण सदृग पलाश) रुचिकर, अस्त्रियोग,
के लिये हितकर, पिरा और वातनाशक, भारी, अस्त्रेत
और धूपर्धक है ॥३५७॥

वच्चाय—सदृक्—लवक्ष्मीपरार्थसुदधि निर्मित्य गायित्री ।
पितृनुकं चन्द्रचूर्णवृत्तिगम् । कर्कु वाचका थारुः ॥

: सुगन्धिन्दमधुरः जिर्घः कफकरो शुद्धः ।

पापहस्तस्तिकरो वल्यो विष्वन्दनः स्मृतः ॥३५८॥
'विष्वन्दन' हृदय, सुगंधयुक्त, गुहर, छिर्घ, कफकर,
, वातनाशक, तृष्णिलाशक और धूपर्धक है ॥३५८॥

वच्चाय—विष्वन्दन—आगमोगमचूर्ण व सर्पिक्षीयुग्मा-
म । नातियोग्नी नातियोग्नी नियन्त्रो नाम नामः ॥

रा वातपित्रामा भद्रया वल्यास्तु सामिताः ।

राः पथ्यतमास्तेषां लघवः फेनकाद्यः ॥३५९॥

शदियेसवारायां पूर्णा विष्ट्रिभिन्नो मताः ।

तवारैः स्त्रिपितृतः संपूर्णा शुरुर्युद्धलोः ॥३६०॥
गेहूं के धीसान के नर्व पदार्थ शरीरपुष्टिकर, वातपित्रनाशक,
धूपर्धक, हृदय और अस्त्रेत होते हैं । उनमें फेनक
(फेनी) शादि अस्त्रेत हृदय होते हैं ॥३६०॥ सुखदादि वेसवार

भरे हुए (सामित) विष्ट्रिभवनक हैं, और मांसादि
व्यवार से भरे हुए भारी और शरीरपुष्टिकर होते हैं ॥३६०॥

लला: नेत्रध्वजाः, शाष्ट्रालयः कफपित्तलाः ।

पालल (पलल तिलचूर्ण तेन शृताः पाललः) कफकरक और
छुलि कफपित्तकारक (कफपित्तजनक पदार्थों में श्रेष्ठ ।
सक) हैं ।

रीर्णिणः पैषिका भद्रयाः कफपित्तप्रकोपणाः ।

विद्वाहिनो नातिवला गुरवश्च विशेषतः ॥४०१॥

(वायल के) पिट के पदार्थ उष्णवीर्य, कफपित्तप्रकोपक,
वेदावजनक, अधिक दल न देने वाले और विशेष करके गुरु
होते हैं ॥४०१॥

वैदला लघवो भद्रयाः कपायाः स्त्रृष्टमासुताः ।

विष्ट्रिभिन्नः पित्तसमाप्ता भिन्नवर्चसः ॥४०२॥

वल्या धृष्टप्रास्तु गुरवो विशेषा मापसाधिताः ।

द्विल धान्यों के भक्ष्य हलके, कपाय, वायुवर्धक, विष्ट्रि-
भवनक, पित्तकर, कफनाशक और मल का भेदन करने वाले
हैं ॥४०२॥ (उनमें) उद्देश से बनाये हुए भक्ष्य बलकरक,
हृदय और गुरु होते हैं ।

कूर्चिकाविकृता भद्रया गुरवो नातिपित्तलाः ॥४०३॥

कूर्चिका (विग्राथित क्षीर, कटे हुए दूध) से बनाये
हुए भक्ष्य (जैसे—रसोगुला, संदेश) गुरु हैं और विशेष
पित्तकर नहीं हैं ॥४०३॥

१ युर्मिट०, २ पूर्णो विष्ट्रिभिन्नो मतः ।

चिरुडकसृता भद्रया गुरवोऽनिलपित्तलाः ।

विद्वादोत्तेजसजनना रुक्षा दृष्टिपूरपणाः ॥४०४॥
बांकुरित धान्यों से बनाये हुए भक्ष्य भारी, वातपित्तकर,
विद्वादजनक, उदकी करने वाले, रुक्ष और दृष्टिपूर द्वारा होते
हैं ॥४०४॥

हृद्याः सुगन्धिनो भद्रया लघवो धृतपाचिताः ।

वातपित्तहरा वल्या धर्षदृष्टिप्रसादनाः ॥४०५॥

विद्वाहिनस्तैलकृता गुरवः कदुपाकिनः ।

उप्या मासुतदृष्टिप्रसादः पित्तलास्त्वप्रदूरपणाः ॥४०६॥

धी में बनाये हुए भक्ष्य पदार्थ मन की प्रिय, सुगंधयुक्त,
छलके, वातपित्रनाशक, बलकरक, वर्ण और दृष्टि के प्रसादक
होते हैं ॥४०५॥ तेल में बनाये हुए पदार्थ विदाह करने वाले,
गुरु, विषाक में कटु, गरम, वातनाशक, दृष्टिपूरक, पित्तकारक
और व्याचा को दूषित करने वाले हैं ॥४०६॥

फलमासेष्टुविद्वितिलमापोपसंस्कृताः ।

भद्रया वल्याद्य गुरवो वृंहणा दृद्यग्नियाः ॥४०७॥

फल, मांस, दृष्टुवर्स से बनाये हुए शर्करादि पदार्थ, तिल,
उद्देश इत्यादि पदार्थ ढालकर बनाये हुए भक्ष्य पदार्थ वल-
करक, भारी, शरीरपुष्टिकर और मन को प्रिय होते हैं ॥४०७॥

कपालाङ्गरपकास्तु लघवो वातकोपनाः ।

सुपकास्तनवश्चैव भूर्युष्टुं लघवो भताः ॥४०८॥

कपालांगारों पर पके हुए भक्ष्य हलके और वातप्रकोपक
हैं । वे ही पत्ते और खूब पके हुए हैं तो बहुत हलके होते
हैं ॥४०८॥

सक्षिलाटादयो भद्रया गुरवः कफवर्धनाः ।

कुलमापा वातला रुक्षा गुरवो भिन्नवर्चसः ॥४०९॥

किलाटादि से बनाये हुए भक्ष्य गुरु और कफ बढ़ाने वाले
होते हैं । कुलमाप वातकर, रुक्ष, गुरु और मल का भेदन करने
वाले हैं ॥४०९॥

उदावर्तहरो वाट्वः कासपीनसमेहनुत् ।

धानोलुम्बास्तु लघवः कफमेदोविशेषोपणाः ॥४१०॥

वाट्व (भृष्टवकृतभक्ष्य) उदावर्तनाशक है और कास,
पीनस तथा प्रमेह दूर करता है । धान (भृष्टव) और
उलुम्ब (अन्नप्रक फलायादि शिर्म) जल्दी और कफमेद का
शोषण करने वाले हैं ॥४१०॥

शल्कवो वृंहणा वृष्ट्यास्त्वप्त्यापित्तकफापद्मः ।

पीताः सद्योवलकरा भेदिनः पवनापद्मः ॥४११॥

गुर्वीं पिण्डी खराऽत्यर्थं लघ्वीसैव विपर्ययात् ।

शक्तनामात् जीर्वेत मृदुत्वाद्वलेहिका ॥४१२॥

पद्मतु (भृष्टवकृष्टी) शरीरपुष्टिकर, जल्दी, तृष्णायासक,
पित्तकफनाशक है, सेवन करते ही बल देता है, भेदी है और
वातनाशक है ॥४१२॥ उसका अस्त्रेत कठिन लड्डु भारी होता
है और मुलायम लड्डु एलका होता है । उसका श्वासहै
पतला होने के कारण शीघ्र पचता है ॥४१२॥

लाजाद्वर्धतिसारभाग दीपनाः कृफलनाशनाः ।
वलयाः कायामधुरा लघवस्तुरमलापहाः ॥४१३॥
दृद्धर्किंवाहधर्मार्तिनुदस्तसक्षयो मताः ।
रक्षपित्तहराश्चेय दाहन्यरविनाशनाः ॥४१४॥
लाजा (धान की रीढ़) घमन और अतिमारनाशक,
अग्निदीपक, कफहर, यज्ञशरक, वायर और मधुर, हल्मी,
तृष्णाशामक और अल्पमल करने वाली है ॥४१३॥ लाजमधुर
मूरा, घमन, दाह, लूलगना इन विकारों को दूर करता है,
रक्षपित्तनाशक है और दाह तथा जर का नाश करता
है ॥४१४॥

पृथुका गुरुर्यः क्रिया चूहणाः कफवर्धनाः ।
वलयाः सहीरमायानु घातमाभिवर्धनाः ॥४१५॥

पृथुक (विकार) भारी, क्रिया, गरीरुषिकर और कफ-
वर्धक है। दूध के साथ लेने से बलकारक, बातनाशक और
मल का भेदक करने वाला है ॥४१५॥

सुदुर्जरः स्यादुरसो वृंदणस्त्वगुड्लो नयः ।
संन्धानकृन्मेहद्वरः पुराणस्त्वगुड्लः स्मृतः ॥४१६॥

यदे चावल पचने में कठिन, मधुर और गरीरुषिकर हैं।
पुराने चावल भग्न का संपान करने वाले और प्रमेहनाशक
हैं ॥४१६॥

यदौ कारणमासाच्च भोक्त्वां छन्दोऽपि वा ।

भवयादयः प्रकल्प्याः स्युत्तद्वा सुनिषुणो भिषक् ।

द्रव्यसंयोगसंस्कारविकारान् समवेद्य तु ।

अनेकद्रव्ययोनित्वाच्छावतस्तान् विनिर्दिशेत् ॥४१७॥

(रोगप्रतीकर रूप) कारण के लिये आथवा राने वाले
की इच्छा के लिये जब भृत्य पदार्थों की योगना करनी पड़ती
है तब व्यद्वाराकुपान वैश्य भक्षयोदारों की उत्पत्ति अनेक
द्रव्यों से होने के कारण गायक के अनुसार भक्षयोदारक उन
द्रव्यों के संयोग, सम्कार तथा विकारों का विचार कर उन
भक्षयोदारों के गुणवर्धन निर्दिष्ट करे ॥४१७॥ इति भक्षयर्गम् ।

अतः सर्वानुपानान्युपदेश्यामः ।—

अस्तेन कैचिद्विद्वत् गनुष्या
माखुर्योर्गे प्रणीयभवन्ति ।

तथाऽम्लयोर्गे मधुरेण तुमा

स्तेपां यथेष्ट्र प्रवदन्ति पथ्यम् ॥४१८॥

अब यह अनुपानों का उल्लेख करते हैं—जैसे कि ग्रम
से उद्भवत हुए मनुष्य मधुर पदार्थ सेवन में अथवा अभिलापा
करते हैं, उभी प्रकार मधुर से (अनि) तृष्ण हुए
मधुराय अमल पदार्थ सेवन में अभिलापा करते हैं। उन (ग्रम-
मधुरसि पदमयुक्त पदार्थों के सेवन से हुए मनुष्यों) के
लिये जो उल्लिख होता है वही पथ्यर (अनुपान) कहते
हैं ॥४१८॥

१ लक्ष्मी—‘सपानहृषिकमाम ताण्डुल वृनिगेस्तु’ इति नवि-
दधिक वाऽ, २ गिरह ३ यशाकरण ॥

शीतोष्णतोयासवमद्ययूष-

फलाम्लधान्याम्लपयोरसानाम् ।

यस्यानुपानं तु हितं भवेद्-

सात्रस्मै भाव्याद्य भीरै-

द्रव्याणि भोज्यानि च तानि तानि ।

सर्वानुपानेतु घरं घदन्ति

मेध्यं यदम्भः शुचिमाजनस्थम् ॥४२२॥

लोकस्य जन्मप्रभृति प्रशस्तं

तोयात्ममाः सर्वरसात्म दृष्टाः ।

सहेप एपोऽभिदितोऽनुपाने-

ध्वतः परं विस्तरतोऽभिधास्ये ॥४२१॥

ठण्डा पानी, गरम पानी, आयव, मध्य, यूप, फलाम्ल
धान्याम्ल, दूध, मायरस इनमें से जो अनुपान जिसके लिये
हितकर हो वह उसके लिये यथाप्रमाणा देना चाहिये ॥४१९॥
बुद्धिमान् मनुष्यों को चाहिए कि वह व्याधि और काल का
विचार कर (उपर्युक्त) विविध भोज्य द्रव्यों के सेवन करें।
सर्व अनुपानों में शुद्ध पात्र में किंडा किया हुआ आन्तरिक
जल स्वीकृत है ॥४२०॥ (प्राय) यह देखा जाता है कि
जन्म से ही मनुष्यों के लिये तरलरूप सर्व प्रकार के रस पथ्यकर
होते हैं। अनुपान के स्वप्न में यह सहेप से धृण हुआ,
इसके बागे विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे ॥४२१॥

यत्कथ्य—अनुपान—‘अन्नादतु पथ्यात् शीर्येऽहस्ये’ इत्यनुपानम् ।
किंवा अनुपान लक्ष्मीकृत्य शीर्ये’ इत्यनुपानम् । प्राय अनुपान
आहार करने के पश्चात् ही सेवन किया जाता है । परन्तु
आवश्यकता के अनुसार भोजन के पूर्व या मध्य में भी सेवन
कर सकते हैं । परस्परसहिता में अनुपान की व्याधा ऐसी
मिलती है—यदाहाणुगी पान विपरीत नदियों । अनुपान
भाजूर्ण इत्य पश्चिमोपि च ॥

उप्पोदकानुपानं तु खेदानामथ शस्यते ।

व्रते भद्रातकब्लेहात् खेदात्त्वौवरकात्तथा ॥४२२॥

अनुपानं व्यद्यत्येके तैले यूपाम्लकाङ्किकम् ।

शीतोदकं मालिकक्य पिण्डान्यस्य च सर्वशः ॥४२३॥

दधिपायस्यमद्यार्तिविपञ्चुषे तथैव च ।

कैचित् पिण्डमयस्यादुरनुपानं सुखोदकम् ॥४२४॥

मिलें के तैल और तुवरक के तैन के निवाप और सर्व
प्रकार के लिये पदार्थों पर गरम जल का अनुपान प्रयान होता
है ॥४२२॥ कई ऐसा कहते हैं कि, तैन के लिये यूप और ग्रम-
कांकिक का अनुपान चाहिये। गड़ और पिण्डाज के लिये
हमेशा ढंडा पानी चाहिये ॥४२३॥ दीर्घ, शीर, मदायप और
विनुष्ट (विषकी पीड़ा) पर भी वैसा ही (ढंडा पानी
अनुपान) चाहिये । पिण्ड पदार्थों पर मन्दोण (सोहाना
सोहाता) पानी का अनुपान कही बताते हैं ॥४२४॥

एयो मांससरसो वाऽपि शास्त्रिमुद्रादिभोजिनाम् ।

युज्यायानपर्मतापिण्डमद्यज्ञासु ॥४२५॥

च ॥४२५॥

माषादेरनुपानं तु धान्याम्लं दधिमस्तु वा ।
मद्यं मद्योच्चितानां तु सर्वमांसेषु पूजितम् ॥४२६॥
अमद्यपानामुदकं फलाम्लं वा प्रशस्यते ।

क्षीरं धर्माध्वभाष्यस्त्रीङ्गान्तानामसृतोपमम् ॥४२७॥

चावल, मूँग आदि स्थाने वालों के लिये तथा युड और प्रवास से थके हुए अवस्था में धूप, अस्त्रिमन्तान, चिप और मद्य इनसे पीडितावस्था में दूध अथवा मांसरस (अनुपान देना चाहिये) ॥४२८॥ माषादि पदार्थों पर धान्याम्लया दधि का पानी अनुपान है । मदिरा पीने वालों को सब प्रकार के मांसों पर मद्य ही अनुपान है ॥४२६॥ जो शराबी नहीं है उनके लिये पानी या फलाम्ल उचित अनुपान है । धूप, प्रवास, भाषण, स्त्रीसेवन इनसे थके हुए मनुष्यों को दूध का अनुपान असृत के ममान (गुणकारी) है ॥४२७॥

सुरा कृशानां स्थूलानामनुपानं मधूदकम् ।

निरामयानां चित्रं तु भु(भु)क्तमध्ये प्रकीर्तितम् ॥४२८॥

स्त्रिघोषणं मारुते पथ्यं कफे रुक्षोषणमिष्यते ।

अनुपानं हितं चापि पित्ते मधुरशीतलम् ॥४२९॥

हितं शोणितपित्तिभ्यः क्षीरमिक्षुरसस्तथा ।

अर्कशेषु शिरीणामासवास्तु चिपार्तिपु ॥४३०॥

पतले मनुष्यों के लिये सुरा और मोटे मनुष्यों के लिये मधु और पानी मिलाकर पीना अनुपान है । स्वस्थ मनुष्यों को भोजन के बीच में नाना प्रकार के (अनुपान द्रव्य) पीना उचित है ॥४२८॥ वायु (प्रकृति या रोगों) में स्तिव्य और गरम अनुपान पथ्यकर है; कंक के लिये रुक्ष और उष्ण अनुपान पथ्यकर है; और पित्त के लिये मधुर और शीतल अनुपान हित है ॥४२९॥ रक्तपित्त के रोगियों के लिये दूध और गन्धे का रस हितकर अनुपान है । और चिप की पीढ़ा में अर्क, शेल्ड (लिसोइडा, श्लेष्मातक) और शिरस इनके आसव हितकर हैं ॥४३०॥

अतः परं तु चर्णाणामनुपानं पृथक् पृथक् ।

प्रवक्ष्याम्यानुपूर्वेण सर्वेषामेव मे शृणु ॥४३१॥

तत्र पूर्वशस्यजातीनां बैद्राम्लं, वैदलानां धान्याम्लं, जड्हालानां धन्वजानां च पिप्पल्यासवः, चिप्कराणां कोलवद्रासवः, प्रतुदानां क्षीरवृक्षासवः, गुहाशयानां खर्जूरनालिकेरासवः, प्रसहानामेश्वरगन्धासवः, पर्णमृगाणां कृष्णगन्धासवः, चिलेशयानां फलसारासवः, एकशफानां त्रिफलासवः, अनेकशफानां खदिरासवः, कूलचराणां शृङ्खाटकक्षेरुक्तासवः, कोशवासिनां पादिनां च स एव, सूधानामिक्षुरसासवः, नादेयानां मत्स्यानां मृणालासवः, सामुद्राणां तु मातुलुङ्गासवः, अम्लानां फलानां पद्मोत्पलकन्दासवः, कपायाणां दाढिमवेत्रासवः, मधुराणां त्रिकटुक्युक्तः खरडा-सृष्टि ताण्डुलजटिं लंगामलं कुडालं दर्वा-

नलघेदासवः, पिप्पल्यादीनां श्वदंश्वासुकासवः, कूप्माराडादीनां दार्ढीकरीरासवः, चुच्चप्रभूनीनां लोभ्रासवः, जीवन्त्यादीनां त्रिफलासवः, कुसुम्भा शाकस्य स एव, मण्डूकपर्यादीनां महापञ्चमूलासवः, तालमस्तकादीनामस्त्वलफलासवः, सैन्धवादीनां सुरासव आरतालं च, तोयं वा सर्वदेवति ॥४३२॥

अब इसके आगे भव्य वर्णों के पृथक् पृथक् अनुपान क्रम से वर्णन करेंगे, मुक्त से अवग करो ॥४३१॥

इनमें पूर्वोक्त (शूक धान्यादि) ग्रस्य जाति पर वेरों की खटाई और (कलायादि) द्विदल धान्यों पर धान्याम्ल अनुपान है । जड्हाल और महशती के पशुओं के मांस पर पिप्पली का आसव अनुपान है । चिप्किरों के लिये कोलवद्रासव अनुपान है । प्रतुदों के लिये क्षीर वृक्षों (गूलर इत्यादि) का आसव अनुपान है । गुहा में रहने वालों के लिये खजूर और नारियल का आसव अनुपान है । प्रसहों के मांस पर अग्नवर्गासव अनुपान है । पर्णमृगों (वानरादि) के मांस पर कृष्णगन्धा (सहिजन) का आसव अनुपान है । विलेशयों के मांस पर (मद्दीकादि) फल और (शालमारादि) सार हनके आसव अनुपान है । एक खुर के प्राणियों के मांस पर फलासव अनुपान है । अनेक खुर के प्राणियों के मांस पर खदिरासव अनुपान है । जलाशय के तीर पर विचरने वाले के मांस पर श्वराटक और कशेलक इनका आसव अनुपान है । कोश में रहने वालों और पादिनों के मांस पर वही (श्वराटक करेस्कोसव) अनुपान है । पानी में तैरने वालों के मांस पर इस्तुरसासव अनुपान है । नदी की मछलियों के लिये मृणाल (कमलनाल) का आसव अनुपान है । समुद्र की मछलियों के लिये मातुलुंग का आसव अनुपान है । खट्टे फलों के लिये पद्म और उत्तर के कन्दों का आसव अनुपान है । कषाय फलों के लिये ध्रनार और वेत का आसव अनुपान है । मधुर फलों के लिये त्रिकृयुक्त खण्डासव (चीनी का आसव, कन्दासव ऐसा भी पाय है) अनुपान है । ताल आदि फलों के लिये धान्याम्ल अनुपान है । कटु फलों के लिये दूर्वा, नरसल और वेत इनका आसव अनुपान है । पिप्पली आदि के लिये गोखरू और वसुक क आसव अनुपान है । कूप्माराड आदि के लिये दारुहरिद्रा और करीर इनका आसव अनुपान है । चुच्चु आदि शाकों के लिये लोचामव अनुपान है । जीवन्ती आदि शाकों के लिये त्रिफला सव अनुपान है । कुसुम्भारक के लिये वही (त्रिफलासव) अनुपान है । मण्डूकपर्यां आदि शाकों के लिये वृहत् पंचमूल का आसव अनुपान है । ताल (नारिकेल आदि फलों) वं (मजा के लिये) अम्ल फलों के आसव अनुपान है । सैन्धव वादि लवणों के लिये सुरामव और काञ्जिक अनुपान है अथवा पानी सव पदार्थों के लिये अनुपान है ॥४३२॥

भवन्ति चात्र—

सर्वेषामनुपानानां माहेन्द्रं तोयमुत्तमम् ।

साक्षयं विष्णुष्टुप्रसादोऽनुच्छेष्वित्तिमुच्छेष्वित्तिः Shashidharanash/Sha-

उपर्युक्ते कक्षे तोयं पित्ते रक्ते च शीतलम् ।

सव अनुगामी में माहेन्द्र (आधित वार्तिक का आनन्दित्र) जन ऐतु अनुपान है । अथवा जिसको जो जल सात्रय (भ्रुहृत्य और सुवदारी) है वही उपर्युक्ते लिये हितकर (अनुपान) समकलना चाहिये ॥४३३॥ वायु और कफ में उष्ण जल और पित्त तथा रक्त विकार में शीत जल हितकर है ।

दोषवहुरु वा भुक्तमतिमात्रमथापि च ।

यथोक्तेनानुपानेन सुखमन्नं प्रजीर्यते ॥४३४॥

रोचनं दृष्ट्यां दृष्ट्यां दोषसंघातमेवनम् ।

तर्पणं मार्दवकर्तुं थ्रम्भूमहरं सुखम् ॥४३५॥

दीपनं दोषशमनं पिपासाच्छेदनं परम् ।

वर्षयं वर्षण्टरं सम्यग्नुपानं सदोदयते ॥४३६॥

दोषयुक्त, गरिष्ठ अथवा अतिमात्रा में सेवन किया हुआ भोजन यथोक्त अनुपान से सुखपूर्वक पच जाता है ॥४३४॥ (सामान्यतया) योग्य विचार कर प्रयुक्त किया (सत्यक) अनुपान सौन् व हचिकारक, यरितुष्टिका, वृष्ण, दोरों की भेदन करने वाला, तुष्टिकारक, यरितर्मार्दवकर, थ्रम और कुपनाशक, सुखकर, अग्निदीपक, दोषशमक, तुष्टिगमन के लिये ऐतु, बलकारक और वर्षण्टकर होता है ॥४३५,४३६॥

तददौ कर्त्तयेत् पीतं स्यापेन्द्रध्यसेवितम् ।

पश्चातपीतं दृष्ट्याति तसाद्वीक्ष्य प्रयोजयेत् ॥४३७॥

स्थिरतां गतमहितमधमद्रवपयनाम् ।

भद्रत्यात्ताधजननमनुपानमतः पित्तेत् ॥४३८॥

यह अनुपान भोजन के पहले सेवन करने से शरीर को हृष्ण करता है, भोजन के बीच सेवन करने से शरीर को मध्यम (न मोटा न पतला) रखता है और भोजन के पाश्चात्य सेवन करने से शरीर को उपु करता है । इसलिये (यहने शरीर को पूर्ण, मध्य या अन्त में) उत्तमा ब्रोयोग होता ॥४३७,४३८॥

यत्तद्य—यहीं “तददौ” भोजन से भोजनादि मध्यान्तविभाग के अनुमाता अनुपान के ओं गुणविशेष वर्णन किये हैं ये वापरम ने अधारासप्त और अटांग हृदय में वेष्ट जड़ के ही बनताये हैं—भ्रुहृत्यादी जल और अन्य अन्य वायु जलन मूलतः ॥ (अटांगसंप्रह) । सम्भूत्यहु भलम्बनानप्रयमातुरा ॥ (अटांगददय) । इसका कारण यह ही सकता है कि अन्यहर में जल के अनिरिक्त मध्य अनुपानों का उपयोग अत्यध दृष्टा है । उपर्युक्त अटांगसप्त के क्षोटीं में शरीर की हृगम स्थूलता भी उपति भी बर्णन की गई है ।

न पित्तेन्द्रुष्टासकासातां दोरो चान्युर्ध्वज्ञुगे ।

द्वितोरुक्तः प्रसेकी च यस्य चोपदतः स्वरः ॥४३९॥

पीत्याऽध्यमात्रायात्ययनोदयस्यमात्र इतिल्येत् ॥४४०॥

प्रदूष्यामात्राय तदि तस्य कण्ठोरसि स्वितम् ।

स्वन्द्वामिसाद्यउपर्यीनामाया अनयेत् घूर्न ॥४४१॥

(अनुपानविशेष) लिंगादो वायु हो, स्त्रीमि हो,

जर्मेज्जु (माक का आदि के) रोग हो, अरक्त एव अराद्याद्य दो, (वातादि दोरों से) स्वर विगड गया । उसबो अनुपान का सेवन नहीं करना चाहिये ॥४३९॥ अपान सेवन करने के पश्चात् मवाम, शुक्र कर पीलता, पात गाना और सोना ये काम नहीं करने चाहिये ॥४४०॥ (ये रेता करे तो हस्से) अनुपान आमागद को दूषित करने के बारे उर उर प्रदेश में स्थित हीक लालाशाव, अग्निमात्र वगन इवादि अनेक रोगों को उत्पन्न करता है ॥४४१॥

गुरुलाघवचिन्तेयं स्वभावं नातियर्तते ।
तथा संस्कारामानाश्वकालांश्वाप्युत्तरोत्तरम् ॥४४२॥
मन्दकमीनलालोग्याः सुकुमाराः सुखोचिताः ।
जन्तवो ये तु तेषां हि चिन्तेयं परिकीर्तते ॥४४३॥
घटिनः शरभद्या ये ये च दीपाद्धयो नराः ।
कर्मनित्याद्य ये तेषां नापदयं परिकीर्तते ॥४४४॥

इति सर्वानुपानवर्णः ।

गुरुत्वं और लघुत्वं का विचार (पदार्थों का) स्वभाव तथा (उसके साथ ही साथ) सत्कार, मात्रा, उस पदार्थ से बनाये हुए विविध खाने के प्रकार और काल हनका अतिक्रमण नहीं करता (यानि द्रव्य का गुरुत्व या लघुत्व हन सब वातों पर निभेर होता है) और ये वातों एक से एक घटक होती हैं ॥४४२॥ जो विशेष परिधन नहीं करते हैं (आलसी), जिनकी जठरामित्र हैं, जिनका स्वास्थ्य ठीक नहीं है, जिनका शरीर कोमल है, जो आरामतलब है तब न मुख्यों के लिये द्रव्यों की लुप्ता और गुलाम का विचार दर्शाय वर्णन किया है ॥४४३॥ जो बलयात् है, जो कठिन घटार्थ (च्छे आदि) हमेगा सेवन करते हैं, जिनकी जठरामित्र तीक्ष्ण है, जो हमेगा कष करते हैं उनके लिये यह गुरुलाघवचिता आपदयक नहीं है ॥४४४॥ इति सर्वानुपानवर्णः ।

वक्तव्य—जो पदार्थ गुरु या लघु होते हैं के संस्कारादि से लघु या गुरु होते हैं—गुरुणा लघव विद्यात् स्वास्तरात् स्विवर्वेदम् । ग्रीष्मांश्च व्या च स्यु स्वकृता मिदिष्टदा ॥ काल—धार्म्यों की नवीनता या पुराणता और इतार्थों की वासी या तात्त्वी अवस्था ।

अथाहारविधिं वरस ! विस्तरेणायिलं श्वशु ।

आसान्वितमसंकीर्णं द्वुचिकार्यं महानसम् ॥४४५॥

तथात्त्वेणुर्णसपश्नमध भद्रयं सुमन्दस्तुतम् ।

द्वृचो देशे सुसंगुरुं समुपस्थापयेन्द्रिपरः ॥४४६॥

विष्वार्गदै शृण्ये प्रोक्षितं व्यवनोदयैः ।

सिद्धेन्द्रेष्वैर्देहत्विषये सिद्धमन्नं नियेदयेत् ॥४४७॥

(आहारविधि) — इव यस्य सुधुरं यत्र पर्याप्ति से आहार की विधि संसारे विभागों से व्यवहार कर । (प्रथम) विधाम योग्य मनुष्यों (रम्याद्या, मौक्कर, पैथ इत्यादि) से दुक विस्तार्य, शुद्ध रेता रम्याद्या बनाना चाहिये ॥४४५॥ यहीं विधामयोग्य शूकरारों द्वारा उत्तम संस्कार करने बनाया द्युमा (द्युमारपर्याप्तिरिदि) गुणातुक भोजन का प्रथम शुद्ध इयान में उत्तम प्रकार रूप वृक्षों को इयाना चाहिये

४६॥ किर विषनाशक ओपधिग्नों का उपयोग करके, पंखे से एह उदक का प्रोक्टरण करके और सिद्ध (तल्लाल फल-ल-क) मन्त्रों के अभिमंत्रण से विप नष्ट करके सिद्ध किया ग अन्न (राजा आदि को) सर्वपंथ करना चाहिये ॥४४७॥

वक्तव्य—रसोइंधर, रसोइया, वैद्य तथा परिचारक न होने चाहिये इसका वर्णन आगे कल्पस्थान के प्रथमाय के प्रारंभ में किया गया है ।

व्याख्यतः परं कृत्यामाहारस्योपकल्पनाम् ।

इसके आगे आहार की संपूर्ण उपकल्पना को (कौन पर्याधि किस पात्र में देना चाहिये, थाली में कैसे परोसना हाये, किस क्रम से भोजन करना चाहिये इत्यादि) वर्णन देते हैं ।

तुं काण्णायसे देयं पेया देया तु राजते ॥४४८॥
फलानि सर्वभद्यांश्च प्रदद्याद्वै दलेषु च ।

परिशुद्धप्रदिग्धानि सौवर्णेषु प्रकल्पयेत् ॥४४९॥

द्विराणि रसांश्वैव राजतेषुपहारयेत् ।

द्विराणि खदांश्वैव सर्वान् शैलेषु दापयेत् ॥४५०॥

त्यात्तामये पात्रे सुशीतं सुशृतं पयः ।

पानीयं पानकं मध्यं मृण्मयेषु प्रदापयेत् ॥४५१॥

मावस्फटिकपोत्रेषु शीतलेषु शुमेषु च ।

द्याद् वैदूर्यचित्रेषु रागपाडवस्टुकान् ॥४५२॥

कृणलोह के पात्र में धी देना चाहिये; पेया चांदी के गत्र में देना चाहिये ॥४४८॥ फल तथा सर्व प्रकार के भक्ष-पर्याधि पत्रों पर देने चाहिये; सूखे और प्रदिग्ध पदार्थ सोने के गत्र में देने चाहिये ॥४४९॥ द्रव्यपदार्थ तथा रस चांदी के पात्र में देने चाहिये; कट्ठर और खड़ पत्थर के पात्र में देने चाहिये ॥४५०॥ खूब उवालकर किर ठंडा किया हुआ दूध तंचे के पात्र में देना चाहिये, पानी, पानक और मध्य मिट्टी के पात्र में देने चाहिये ॥४५१॥ अथवा काँच, स्फटिक के शीतल और पवित्र पात्र में देने चाहिये; रागपाडव और सटक वैदूर्य के पात्र में देने चाहिये ॥४५२॥

पुरस्ताद्विमले पात्रे सुविस्तीर्णे मनोरमे ।

सूदः सूपौदनं द्यात् प्रदेहांश्च सुसंस्कृतान् ॥४५३॥

फलानि सर्वभद्यांश्च परिशुद्धकाणि यानि च ।

तानि दक्षिणापाश्वै तु भुजानस्योपकल्पयेत् ॥४५४॥

प्रदवाणि रसांश्वैव पानीयं पानकं पयः ।

द्वाद्रयूषांश्च पेयांश्च सव्ये पाश्वै प्रदापयेत् ॥४५५॥

सर्वोन् गुडविकारांश्च रागपाडवस्टुकान् ।

पुरस्तात् स्थापयेत् प्राक्षो द्वयोरपि च मध्यतः ॥४५६॥

तुद्विमान् रसोइया निर्मल, चौड़ी और मनोहर पात्र में सोने भात तथा (रायता, चट्टनी इत्यादि) सुसंस्कृत लेह पदार्थ स्थापन करे ॥४५३॥ फल, सब प्रकार के (लहू मोद-कादि) भल्प पदार्थ तथा अन्य सूखे पदार्थ भोजन करने वाले के दाहिनी ओर रख दे ॥४५४॥ पतले पदार्थ, मांसरस, पानी, पानक, दूध, खड़, यूप तथा अन्य पीते के पदार्थ वाई-

तरफ रख दे ॥४५५॥ सब गुड के पदार्थ, रागपाडव और सटक इन्हें सामने, फल और द्रव्य पदार्थों के बीच में रख दे ॥४५६॥

एवं विश्वाय मतिमान् भोजनस्योपकल्पनाम् ।
भोक्तारं विजन्ते रम्ये निःसंबाधे शुभे शुचो ।

सुगत्थपुष्परचिते समे देशेऽथ भोजयेत् ॥४५७॥
विशिष्टमिष्टसंस्कारैः पथ्यैरिष्टै रसादिभिः ।

मनोद्वं शुचि नात्युष्णं प्रत्यग्मशानं हितम् ॥४५८॥

इस प्रकार तुद्विमान् (वैद्य या रसोइया) भोजन की उपकल्पना (परोसगारी) करके भोजन करने वाले को एकान्त, रमणीय, निःशंक, पवित्र, स्वच्छ, सुगंधी पुष्पों से रचित (सुंभवित किया हुआ) समतल स्थान में भोजन करावे ॥४५७॥ (सचि की दृष्टि से) इष्ट संस्कारों से बनाया हुआ, पथ्यकर और मनपसन्द रसों से युक्त, मनोहर, पवित्र (स्वच्छ), न बहुत गरम, ताजा भोजन विशेष रूप से हितकर होता है ॥४५८॥

पूर्वं मधुरमशीयान्मध्येऽमललवणौ रसौ ।

पश्चात्त्वेषान् रसान् वैद्यो भोजनेष्वचारयेत् ॥४५९॥
आदौ फलानि भुजीत दाढिमादीनि तुद्विमान् ।

ततः पेयांस्ततो भोज्यान् भव्यांश्चित्रांस्ततः परम् ॥४६०॥

धैनं पूर्वं समशीयात् केचिदाहुर्विषयम् ॥४६१॥

आदावन्ते च मध्ये च भोजनस्य तु शास्त्रे ।

निरत्यं दोषहरं फलेष्वामलकं वृणाम् ॥४६२॥

सूर्णालविसशालूककन्देशुप्रभृतीनि च ।

पूर्वं योज्यानि भिषजा न तु शुके कदाचन ॥४६३॥

भोजन में पहले मधुर रस (युक्त पदार्थ) सेवन करे; बीच में अम्ल और लवण रस (युक्त पदार्थ) सेवन करे; और पीछे वैद्य को चाहिये कि वह शेष रस (तिक्तोपण कपाय युक्त पदार्थ) परोसे ॥४५६॥ तुद्विमान् (मनुष्य) भोजन में पहले दाढिम आदि फल सेवन करे; उसके पीछे पेय पदार्थ सेवन करे, और तदनंतर विधि भोज्य और भल्प पदार्थ सेवन करे ॥४६०॥ पहले गाढ़ा या कड़ा पदार्थ रखना चाहिये; कई हसके विपरीत कहते हैं ॥४६१॥ फलों में से चाँचला मनुष्यों के लिये वाधा न करने वाला और सर्वदोषानाशक है; इसलिये उसे भोजन के पूर्व, पीछे तथा बीच सेवन करना उचित है ॥४६२॥ सूर्णाल, विस (कमलतंतु), शालूक, कन्द और इष्ट हनका उपयोग वैद्य को हमेशा भोजन के पूर्व करना चाहिये, भोजन के बाद नहीं करना चाहिये ॥४६३॥

सुखमुच्चैः समासीनः समदेहोऽशततप्रः ।

काले सात्म्यं लघु लिङ्घं लिप्रमुष्णं द्वोत्तरम् ।

बुधुचितोऽन्नमशीयान्मात्रावद् विदितागमः ॥४६४॥

शाय (भोज्य पदार्थों का पथ्यापश्य) जानने वाला तुभिष्मित मनुष्य सुखपूर्वक (किंचित्) लंचे आसन पर बैठकर, शरीर सम रखकर, भोजन में चित्त लगाकर, भोजन के योग्य समय पर, सात्म्य, लघु, लिङ्घ, द्रवभूयिषु, उप्ता ऐसा अज्ञ

न यहुत जनरी न बहुत विनय करक याम्य मात्रा म सबन करे ॥४५॥

यत्संज्ञ—चरकसहिता विमानस्थान के प्रथम अध्याय में आहारियविधियान का बड़ा मुद्र वर्णन किया गया है। उमड़ा सनाप एसा है—उग्न लिख मात्रावृक्षमें वायविश्वस्मिष्ट एवं इत्यर्थोपराप्त नानिनु नानिविश्वविमानवल्लभम् तस्मा मना मुख्या नानविमानाद्य सम्पद । व—नि यथा और आवस्थिक । नियमान्—यामस्थ न भोजन्य यामस्थुम न व्यवहै । याम्य उस्तोलतिद्यमुमाइलक्ष्यत ॥ आवस्थिक काल—मुद्र स्वतन्त्र पैषेषु रसयोगमेवु च । वाने वा यति वा वाने माद्रक उडाइन ॥ मात्रा—विधिकु त्रौ रसायनवर रादायाय दासुरुवन, तथ ऐक्यवक्तव्यामा भूत्वानामाहरियविराणमभ्र द्रवाणामकुपुत्वानपत्तस्याम् ॥ तत्र मात्रावर्त्त भूषी विलागनुवायायायाय—कुपेरेशी द्वन्मादरण, हृष्यमयनवीय पर्यायविवानम् अननिवीरसुरु वृथ प्रीगलमिद्यामाम तुर्तिप्रयोगम, व्यानामयनयत्वानीच्छा मन्त्रस्याम्यानामु व तुर्तिप्रयोगम सुरान गतिवान्म इति मात्रावरो व्यक्तामाहारत्व भृति । (चरक विमान, ३) ।

वाले भुक्त ग्रीलयति साम्यमन्त्र न व्यापते ।

लघु शीघ्र वज्रेत् पाक लिघ्योण्ण वलयद्विद्म् ॥४६॥
दिग्म भुक्त सम पाक यात्यदोप द्वयोस्तम् ।

सुग्र जीर्यति माप्रावद्यानुसाम्य करोति च ॥४७॥

भूष क ममय किया हुआ भाजन दृष्टि करता है, सम्मय अस (गरीर म किंवी प्रकार की) यापा नहीं करता है हमका अप्त जनरी हमम हाता है । विष्य और उच्च अथ बनदायक है सदा जटाति का दृष्टि वरना है ॥४८॥ व जनरी न विष स चापा हुआ भोजन निर्दोष और ईक पक्षन है, द्वयवृष्टि भाजन सुग स पक्षन है और मात्रा क अनुग्रह सवन किया हुआ भाजन धारुमा (वातादि जाति) की यापदान करता है ॥४९॥

अर्तायायतनयामात्मु दापा येष्टुतुपु मृता ।

तेषु तप्रत्यनीवाट्ट भुज्जीत प्रारोय तु ॥४६॥

येषु चापि भयेषुम्भ दिवसा भुदामयता ।

तेषु तप्रालयितमपगर्हे प्रदाम्यत ॥४७॥

रजन्यो दिवसार्थं येषु चापि समा स्यता ।

एताया सममादोराप्त तेषु भुज्जीत भोजनम् ॥४८॥

दिव चतुर्थो मं रात्रि वर्षी दारी है ता चतुर्थो मे (इमलगिरि) ताकामवल्लभ चारी व प्रतिडार क अनुग्रह (विष और रस) भाजन दृष्टि म करता विषद्य ॥४९॥ दिव चतुर्थो मे दिव वड़ हात है उन चतुर्थो मे (दीप और सालू) यह काल क अनुग्रह (दीप चतुर्थो म नाम) यातादृष्टि मं भाजन वरना विषद्य ॥५०॥ दिव चतुर्थो मे दिव चौं दान वरना दारी है उन चतुर्थो मे (चतुर्थ और वरना) निवारिक व समाप्त भाग करक उप समय (सप्ताह) भाजन करता चाहिय वर्ष ॥५१॥

यत्संज्ञ—इन चतुर्थो मे चतुर्थ अनुग्रह दानार का भोजन वरना करते हा वाच्य काल वरना है । तात्रि का

भोजन दोषद्वय के भाजन के सदा पदर के पश्चात् रात्रि पहल प्रहर म करना चाहिय—जाति तु भोजन तुर्यात् प्रथम रात्रि । किंचित्तु सम नाया दुर्जेर तत्र वरवेते ॥

माप्रावतीतकाल या हीनाधिकमग्यापि या ॥५२॥

अप्राप्तकाल भुज्जान शरीरे हृलयी नर ।

तास्तान् व्यार्थान ग्रामोति मरण या नियद्विति ॥५३॥

वर्तीनकाल भुज्जानो धायुनोपदेत्तनले ।

कुच्छादिपन्यते भुक्त द्वितीय च न व्याप्ति ॥५४॥

हीनमाघमसन्नोप फरोति च वलक्षयम् ।

आलस्यगौर्याटोपसादाश्च कुरुते उधिकम् ॥५५॥

भाजन के योग्य नमय के दृष्टि या पश्चात् तथा मात्रा कम या अधिक (भोजन करना) उचित नहीं है ॥५६॥

(चर्योकि) ममय के पहल भाजन करने वाला मुत्तु (पहल अस का दृष्टि परिवाक न होने स) शरीर हल्का होने के कारण अनेक रोगी का अथवा (विक्रिं) सहु व भी प्राप्त होता है ॥५७॥ समय के पश्चात् भाजन करन वा मनुष्य का प्रदूष वायु दृष्टि न ठाराति नष्ट हात क कारण कट स पचता है और दूसरी पार (रात्रि क समय) भाजन करन की इच्छा नहीं होता ॥५८॥ मात्रा स कम सवन कि हुए भाजन स तृप्ति नहीं हानी और बल का नाश होता है मात्रा से अधिक सेवन किया हुआ भोजन सुना भारीतन पट में गुड़ गुड़ शब्द और व्यवहारी करता है ॥५९॥

तस्मान् सुमन्दृष्ट युक्त्या दोषेरेतैर्यिद्यजितम् ।

योनीं गुणसप्तमुपसेवेत् भोजनम् ।

विभज्य दोषकालादीन् पालयोदययोरपि ॥५५॥

द्वयलिङ्ग उपम प्राप्त से गत्तन विद्या हुआ मात्रा वा

उर्ध्वान दास्तरदिन उत्तमगुणप्रयोग एवा भाजन (शुद्ध और प्रहृति क अनुग्रह) दोष तथा वालकी विचारदा करने वाली समय (पात्र साय) सेवन करना चाहिय ॥५६॥

अपेत दुष्टुरुप्त यागात्मृणोदीयम् ।

द्विष्ट व्युपितमस्यादु पूति चाप्त विरजेयेत् ॥५७॥

विरजिद्य यिर शीतमदमुष्णीहत पुन ।

गदान्तमुपस्थ च तथा व्यादु न व्यापते ॥५८॥

अपेत (भुज्जीत मयिन) (विपादिग) दुष्ट उपम (भुज्जीत एवा) पापर पाप और मिट्टी के पात्र एवा उपम (मात्र) इनम पुक द्विष्ट (मनविप्रापि, विरा वी व चार) गुणित (अपिद वाली) स्वादीन दृष्टि ॥५९॥

(दुष्टुपुरुष या मात्रा गमा) इनम प्राप्त वा भाजन वाले दृष्टि ॥५१॥ बहुत समय स बनाइर रात्रा हुआ बहुत समय दृष्टि हुआ हुआ हात पर विर ताप दिया हुआ अवास्थ (विपादि भाग वाला वाली हुई हा बहुत गमा) और जल हुआ देखा भल भी बैंगा (उपम प्राप्त वा विर हुए ताप वाली भी भैंगी) द्विष्ट वाली सामान है ॥५१॥

यत्प्रद् व्यादु वायादोत्तरम् ॥५१॥

प्राप्तार्थ्यद्विग्राम्य भुज्जानम् मुद्युम् ।

गुद्धरसने तस्यै रोचते उज्जमपूर्ववत् ॥४७८॥
दुना तस्य रसनं प्रथसेनातिरिषितम् ।

त्रिथा स्वादयेदन्तस्तस्यात् प्रक्षालयसन्तरा ॥४७९॥
मिनेस्यं वलं पुष्टिसुत्साहं हर्षणं सुखम् ।

दु संजनयत्यन्नमस्यादु च विपर्ययम् ॥४८०॥
स्वाऽपि यत्प्रार्थ्यते भूयस्तत्स्यादुभोजनम् ।

अधिकाधिक रुचिकर पदार्थ उत्तरोत्तर सेवन करे (प्रथम धारणा रुचिकर पदार्थ सेवन करे, उसके पश्चात् अधिक रुचिकर, उसके पश्चात् अन्त में । से अधिक रुचिकर सेवन करे) ॥४७७॥ (भोजन में ; पदार्थ साने के पश्चात् और दूसरे पदार्थ खाने के पूर्व) ने बाले के झुँह को जल के कुछ से साफ करना चाहिये । इसा करने से) झुँह (जीभ) साफ होने के कारण उसे व पहले से भी अधिक रुचिकर सालूस होता है ॥४७८॥ ले स्यादु पदार्थ से अतिरूप (आवृत) होने के कारण यही रसना दूसरे का स्वाद ठीक नहीं ले सकती, इसलिये जिन के वीच वीच में जल से झुँह साफ करना चाहिये ॥७९॥ रुचिकर अन्न मन की प्रसन्नता, वल, धीर की पुष्टि, साह, आगन्द और सुख उत्पन्न करता है; और अरुचिकर व इसके विपरीत कार्य करता है ॥४८०॥ जिसका सेवन की पर बार बार उसकी असिलापा होती है वही स्यादु जिन कहलाता है ।

अशितश्वोदकं युत्तया भुजानश्वान्तरा पिवेत् ॥४८१॥
दन्तान्तरगतं चाङ्गं शोधनेनाहरेच्छनैः ।

कुर्यादिनिर्हतं तद्वि सुखस्यानिष्टगन्धताम् ॥४८२॥

भोजन करके तथा भोजन के वीच जल का सेवन युक्ति करना चाहिये ॥४८१॥ फिर दाँतों के वीच फैसे हुए अन्न के क्षणों (को (कूची तृण आदि) शोधन से धीर धीर वही सावधानी से मसूड़ों को रुजान कर) निकाले । ह न निकाला अन्न मुख में हुरीध वैदा कर देता है ॥४८२॥

चक्रव्य—युक्त्या—जिस तरह अन्न पचन में बाधा न उत्पन्न होने पावे, उस तरह से । भोजन करने के पीछे तुरन्त अनी पीना ठीक नहीं है । इससे पाचक रस के पतला होने से अन्न ठीक नहीं भवता । एक दो लीन घटे के बाद पानी पीना ठीक है । लेकिन एक समय बहुत पानी पीना उचित नहीं, थोड़ा थोड़ा करके पानी का सेवन थोनक बार करना स्वास्थ्य की ओर से हितकारक है—भोजनान्ते विषं वारि जीणे वारि बलप्रदम् ॥ अनुपुणानात् विष्वयेऽन्नं निरेयुपानाच स एव दोषः । तस्माद्धरो वहिनीयं सुरुमुहुर्वरि पिवेदगृहि ॥ (भावप्रकाश) । अनिदंगेनाम—भोजन के समय दाँतों के वीच जो अन्न के कण्ण फैस जाते हैं उनको निकालना बहुत जरूरी है । यह काम बड़ी सावधानी से कूची, ब्रश या वृण घलाका द्वारा करना चाहिये । ऐसा न करने से समय पाकर वे बहाँ ही सड़ने लगते हैं और सुख में हुरीध आने लगती है । दाँतों की सफाई न रखने से धीर धीर दाँतों पर पीले रंग का भैल जमा होता है, सुख में लबाव सा जमा रहता है, दाँतों की जड़ खराब होकर उन पर

शर्करा (Tarter) जम जाती है और मसूड़ों से पूयजनक जीवाणु अपना देरा जमा लेते हैं । परिणाम यह होता है कि 'दन्तयेष' (Pyorrhoea Alveolavis) नामक रोग उत्पन्न होता है । इससे मुख में हतानी हुरीध उत्पन्न होती है कि देखे मनुष्य के सासने देखना सुश्लिल हो जाता है, दाँत जलदी निकासे होकर गिर जाते हैं, और स्वास्थ्य की हानि होती है, क्योंकि पचन क्षिया का सुख्य काम दाँतों से ही हुआ दरता है । यह रोग प्रथम बहुत साधारण सालूस पड़ता है परन्तु परिणाम में भयंकर होता है, क्योंकि भोजन के समय तथा थूक के साथ पूय रूप विष उदर में प्रविष्ट होकर पचन क्षिया को नष्ट करके पचनसंस्थान के अप्निसायादि विविध रोग उत्पन्न होते हैं । पचनसंस्थान के अतिरिक्त दूसरे संस्थान के भी विविध रोग इससे उत्पन्न हो सकते हैं, ऐसी दन्तसालूसों की राय है । दाग्भट ने भी भोजन के पश्चात् बन्त धावन करने के लिये लिखा है—प्रातर्मुक्त्वा च चूद्यं कथायकुत्तिकाम् । भक्षयेदन्तधनं दन्तानासान्यवाययन् ॥ भोजन के पश्चात् हुँह की सफाई के बारे में लापरवाही करने से आज बल दन्तयेष रोग बहुत फैल रहा है, इसलिये हज़ार बात की भूल हरणिज नहीं करनी चाहिये ।

जीर्णेऽन्ने वर्धते वायुर्विद्वधे विन्दसेय लु ।

भुक्तमात्रे कफश्चापि तस्माद्गुरुरेतिं कफद्ध ॥४८३॥

धूसेनापोद्य हृचैर्वा कपायकुत्तिकामैः ।

पूर्णकङ्गोलकर्पूरलवक्षुत्तमःफलैः ॥४८४॥

कर्तुतिक्षाकाषायैर्वा तुख्यवैद्याद्यकार्यैः ।

तास्वूलपनस्त्वितैः तुख्यन्धैर्वा विचक्षणः ॥४८५॥

ब्रह्म का पचन होने पर बायु वर्धित होती है, पचने स्वरूपित वर्धित होता है और भोजन करते ही कफ वर्धित होता है; इसलिये भोजन से वर्धित हुए कफ को ॥४८३॥ तुख्यान्धू भनुष्य (प्रायोगिक) धूष्रापान करके अथवा चुप्तारी, कंलोल, कपूर, लौंग, जातिकलादि कपाय कहु तिक्ष और हृषि पदार्थों के सेवन से अथवा ताम्बूल पत्र के साथ अन्य तुख्य पदार्थों के उत्पन्न होने से अथवा ताम्बूल पत्र के साथ अन्य तुख्य पदार्थों के उत्पन्न होने से वर्धित होने के बाले पदार्थ सेवन दरमें शांत करे ॥४८४,४८५॥

भुक्त्वा राजद्वास्तीत यावद्वक्षुत्तरो गतः ।

ततः पादवतं गत्वा चतुर्यावैर्व संविद्येत् ॥४८६॥

शब्दूरुपरसान्न गन्धान् ल्याण्ड्यास्त्र अवस्थः विद्यात् ।

तुख्यान्धूपत्तेवेत देनाम्बं ल्याष्टु दिव्याति ॥४८७॥

शब्दूरुपरसाः सप्तर्णा गन्धान्धास्ति तुख्यपित्ताः ।

अनुच्यञ्ज तथा भुक्तमतिद्वालं च गत्येत् ॥४८८॥

शायनं चासेनं चापि वेच्छेद्वाऽपि ग्रयोक्त्वरूपः ।

नाय्यातपौ न पूचनं न थानं नापि चात्मकम् ॥४८९॥

भोजन के पश्चात् जब तक अन्न का छान (शारीरिक) रहे तब तक राजा की नरह (सुखपूर्वक) जाराम करे । उलझे वाद सीं कदम दृढ़ दृढ़ के बाहर करक छेट जाना जाती है

४४८॥ भोजन विश्वा हुआ मनुष्य (भोजन के पश्चात्) विश्वा प्रसादक ऐसे ही शब्द, रूप, इस, गीत और रूपी हनुमो सेवन करे। इससे (पचनसंस्थान में) श्वास ठीक रहता है ॥४४८॥ वित्तवृत्ति विगाहने वाले शब्द, रूप, इस, गीत और रूपी, स्वराम तथा अधिक मात्रा में सेवन किया हुआ अन्त और अधिक हँसना सेवन किये हुए भोजन की कै करा देते हैं ॥४४८॥ (भोजन के पश्चात्) सोना, (देर तक) एक स्थिति में घैडना, अधिक दब पीना यस्ति या धूप में कार्य करना, पानी में तैरना, प्रवास करना, (रुग्ण छोड़ा आदि) वाहनों पर उड़ना हनुम करने की हृष्टा न करे ॥४४९॥

घट्टवद्य—भोजन के पश्चात् शारीरिक और मानसिक अस्तराम बहुत आवश्यक है। घैडीनी में भी एक कदाचित् है तित ा while after dinner ! इसका कारण यह है कि आसाधारण में अस्त का प्रवेश होते ही पचनसंस्थान की ओर रक्त का धारकर्त्त्व विशेषरूप से आप से आप होने लगता है और यह वह होना भी पचन किया की दृष्टि से आवश्यक है; क्योंकि रक्त की सहायता से पचनसंस्थान के विविध पाचक इस परावर्त मात्रा में बनते हैं और अन्त का ठीक परिपाक होता है। जब पचनसंस्थान की ओर रक्त का धारकर्त्त्व खुल होता है तब समय लंबा मरित्यक हृत्यादि शरीर के अन्य इंद्रियों में रक्त की कमी होती है जिससे क्षम (मुस्ती), ऊंचाई, शीत हृत्यादि लक्षण होते हैं। रक्तपरिवर्तन का यह परिवर्तन शारीरिक और मानसिक यानिं की स्थिति में सुधार हूप से होता है। पर्दि भोजन के पश्चात् दोइना, व्यायाम करना, तैरना हृत्यादि शारीरिक कर्म किये गये तो खून परि भ्रम के स्थान की पेशियों की ओर जाकर पाचकसंस्थान की ओर कम जायना और पचनकिया में बाराहू उत्पन्न होती। मानसिक परिवर्तन का भी यही परिवर्तन होता है। काम, धूप तथा वित्तवृत्ति विगाहने वाले उन्निष्ठार्थी सेवन करने से शरीर की मण्डलीविहीन या अनन्तश्वादी (Ductless or endocrone) ग्राहियों में विकास उत्पन्न करते हैं जो पाचक रसों को खाराच कर दाढ़ते हैं। इन सब कार्यों से पचनसंस्थान में उत्थान-मुथाल मध्य शारीरी है, ज्ञाना हुआ अन्त नहीं पचता, जिससे व्यासिये उत्पन्न, दस्त हृत्यादि विकायें सदा के लिये विष्ट एक जीवी हैं। ज्ञानकर्त्ता भासत्वादें रूप, कोलेज तथा अक्षिक्ष सम दोपार के होते हैं। इसलिये विकायियों तथा अपीलिस के बायुओं की भोजन करके हुरन काम के लिये उठ देना पड़ता है। कहीं कहीं जहाँ अक्षिक्ष या कालेज बहुत दूर होने के कारण सापकड़ से या रेत से जाना हो वहाँ सच्चुव दीड़ना पड़ता है। जहाँ भोजन के पश्चात् विकाय की अवश्यकता होती है वहाँ हनुमो कई घटटों तक शारीरिक और मानसिक सफल मसाफ़ा करनी पड़ती है। हमारे इन बेचारों का कोई कहर महीने है, परन्तु यह कार्य महत्वे के विकल्प है और हनुमो इसका एक सुधारता पड़ता है। इनको आशिय में समाध पर पूँछने के लिये दीड़े हुए देख आपु दैद के निम्न छोड़ी की बार भारी है—मुख्यप्रविलास द्वा० श्वराम तु पड़ता । भावुकक्षमालाय, सुखर्वति भवते ॥

(योगरुदावर) इसमें जो लिखा है कि 'भोजन जो दीड़ता है उसके पीछे मन्तु भी दीड़ता हुआ ' । है' यह विलक्षण सत्य है। कारण यह है कि पेट दोनों बहुत नज़रीक होते हैं। पेट भरने से उसका दूँह हृदय पर होता है, जिससे हृदय के संकोच और विकृष्ट कठिनाई होती है। ऐसी अवश्या में यदि दीड़े के किया जाय तो हृदय के संकोच विकास के काम में उत्पन्न होकर हृदय विकृष्ट हो जाता है और हृदय होने से मन्तु होने की भी समावना बढ़ती है। ऐसे मन्तु दिल की धड़कन (Palpitation) से भीमा रहते हैं। वे पश्चात् आराम कर से कम एक सुहृत्ते भर (४५८) करना चाहिये। व्यायाम च व्यायाम च भवन बान (बान) भेद (विषुद) गीत च पाठ च सुहृत्ते मुत्तांपदेद्। (आत्मवर्तीन वैकरससेवायां प्रसज्येत कदाचन शाकावरामध्यभूमिष्ठमम्लं च न समाचरेत् । एककेकशः समस्तान् या नायकशीयादसान् सदा ।

कड़ापि भी एक ही रस के सेवन में आसकि वर्दी चाहिये, शाक उद्धार्य तथा अस्त पद्धर्य विषयों अनि देसा भोजन नहीं करना चाहिये, और एक एक या से को भी अधिक मात्रा में नहीं सेवन करना चाहिये। प्रामुख्यके त्वयविकितेऽप्ती द्विरुद्धं च समाचरेत् । पूर्वभुक्ते विद्युत्येऽप्ते भुजानो इन्ति यावद्यम् । मात्रापुरुदं परिद्वेदाहारं द्रव्यतत्त्वं यः ॥ पिपासां नैव भुजीत मान्यथा च बुमुहित । वित्तुण्य च पिवेत्तोयं सुधं सम्यक् प्रजीर्यते ॥ पेयलेहायमध्यवायाणं शुरु विद्यायथोत्तरम् । गुरुणामध्यसौहित्यं लघूमां तृतिरित्यते ॥

पहले का (मात काल का) भोजन करने के बाद उत्तराभिमि शुद्ध (तीर्ण) नहीं हुई ही तो हृदय (सार्वकाल) भोजन वर्दी करना चाहिये, क्योंकि एक का अन्त अपारका होने पर दूसरी बार भोजन करने मनुष्य अपनी जड़राङ्गि को नह करता है ॥४९१॥ जो (ग्रन्थों से बनने पर भी) मात्रा की दीपि से भारी ही तथा गरिदृष्ट्यों से ही बना है ऐसा भोजन वर्दी करना ॥ ४९२॥ विद्याय (तथा अन्य प्रकार के गरिदृष्टि प्राप्त ग्रन्थ होने पर जहाँ तक हो सके) वर्दी सेवन करे, ॥ तु सुवित्त मनुष्य हृदै (अस) मात्रा में सेवन करे और जान पीछे बैंसे वे सुखर्वति पक्ष यायें ॥४९३॥ ऐसे आदि भींसे के पश्चायें, लेद्य (मनु, अवनी, भीखाद-पाटने के पश्चायें) आदि (भोजय भात हृत्यादि और लहू चाना आदि चावने के पश्चायें) खाने के पश्चायें उत्तराधिक्षिक गरिदृष्टि होते हैं। गुरु पदार्थों का सेवन मात्री सक करना चाहिये और हल्के पदार्थों का सेवन एवं तक करना चाहिये ॥४९४॥

चक्षुव्य—अविविक्त—अशुद्ध । मानागुरुं—मात्रातो गुरुं
निशु शुभ्रमिति तात्पर्यम् । निष्ठाक्र—संस्कार गुरु लव्य पदार्थं
से संस्करना चाहिये—गुरु पिण्डायं द्रव्यं तणुलाभ् पृथुकानपि ।
गुरु मुलान् रादेन्मात्रां संदेश शुभ्रितः ॥ (चरक) । गुरु
द्रव्योत्तरम्—पदार्थों की गुरुता या लघुता शुभ्रतया निज्ञ
वार्तां पर निर्भर होती है—(१) खमात्र (Chemical com-
position) यथा उड़द अधिक चरबी युक्त मांस मछली हल्यादि ।
संस्कार—आस्त्री की सहायता से उस पर जो संस्कार होता
इससे भी द्रव्य लघु या गुरु होते हैं । यथा चावलों की
खेत उसकी लाजा (सील) अधिक हल्की और शुद्धक
पिण्डा) अधिक गुरु होता है । कहो अण्डे की अपेक्षा हल्का
लो हुआ अण्डा लघु और अधिक उदलत हुआ अण्डा गुरु
ता है । (२) भौतिक स्थिति (Physical condition)—
पदार्थ सरत है वह तरल पदार्थ की अपेक्षा अधिक गुरु
ता है । 'पेयलेहादि' इस श्लोक में पदार्थों की गुरुता भौतिक
प्रति के अनुसार वर्णन की गई है । भौतिक स्थिति के
उपरांत गुरुता या लघुता का कारण यह है कि जो पदार्थ
रस और अत्यंत महीन होता है उसके साथ पाचक रस भली
भाँति मिलकर उसका ठीक पाचन करते हैं, जिससे उसका
रस सात्त्व भाग शीघ्रत हो जाता है । जब द्रव्य बहुत तरल
रस महीन नहीं होता तब पाचक रस उसके साथ भली भाँति
शील सकते, जिससे उसका पचन ठीक नहीं होता, सर्व
आत्म भाग का शोषण नहीं होता और अधिकांश भाग वैसा
वार्तां में सङ्कर मल में निकल पड़ता है । व्यावहारिक
पापा में इपको गुरु कहते हैं । स्वाध द्रव्यों की भौतिक गुरुता
एवं चर्वण किया से दूर कर सकता है । पचन किया का
गारंभ चर्वण किया से सुख में ही शुरू होता है । खूब चवाने
वे सुख द्रव्य महीन और लार के साथ मिलने से तरल होकर
शासानी से गठे के नीचे उत्तर जाता है और स्त्रादिष्ट भी
होता है । लहू, सोटक, चना हल्यादि भोज्य पदार्थ यदि खूब
वर्णण करके महीन और तरल बनाये जायें तो वे भी बहुत
द्रलक हो जाते हैं और सहज में पचते हैं । यदि भोजन कूच
द्रक्षकर महीन न किया जाय तो यह दाँतों का काम भी पेट
पर आ पड़ता है; परन्तु पेट में दाँत नहीं हैं कि वहाँ अन्न
शैवा जायगा । इसका नतीजा यह होता है कि पेट स्वयं
निर्विल होकर अपने कार्य को भली भाँति नहीं करता, और
भगीर्ती मंदास्त्री आदि पचनसंस्थान की शिकायतें संदेव के
लिये पिछ पड़ जाती हैं । प्राणियों के सुख में जो दन्तपंक्ति
हल्की है वह केवल उनकी सौंदर्य दृढ़ि के लिये नहीं है, भोज्य
वार्तां को चवाकर खाने के लिये है । गाम, भैस हल्यादि
उपाद जीव खाने से फुरागत पाने पर जुगाली करते हुए
रोलने में आते हैं । दाँतों से चवाकर खाना प्रकृति का नियम
है । इसका उल्लंघन करने का दण्ड अवश्य ही भोगना पड़ता
है । (३) जठरास्त्री की स्थिति—जो पदार्थ वर्षा शूतु और
दृढ़ावस्था में गुरु होता है वही पदार्थ शिंगिर शूतु और युवा-
वस्था में हल्का होता है—अहारमात्रा पुनरश्विलापेक्षणी ।
चरक । सौहित्य—तृसि, शुहित्य लघुस्व भाव: सौहित्यम् ।
मात्राव्यतिक्षेप वृत्तिः । (चक्रपाणिदत्त) । चरक के अनुसार

वर्ध सौहित्य या निभाग सौहित्य द्रव्यों की गुरुता के अनुसार
होता है—द्रव्योपेक्षया च निभागसौहित्यमर्पसौहित्यं वा गुरुणा-
मुपदित्यते ।

द्रवोत्तरो द्रवश्वापि न मात्रागुरुरिप्यते ।
द्रवाढ्यमपि शुचें तु सम्यगेवोपयद्यते ॥४९५॥
विशुक्षमश्वमध्यस्तं न पाकं साधु गच्छति ।
पिण्डीकृतमसंक्षिङ्गं विदाहसुपगच्छति ॥४९६॥
स्नोतस्यवद्यवद्ये पित्तं पक्तौ वा यस्य तिष्ठति ।
विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विद्वाते ॥४९७॥
शुष्कं विरुद्धं विष्टुमि विहित्यापदमावदेत् ।

जिसमें तरल पदार्थ की अधिकता है ऐसा पदार्थ तथा
(द्रव जल आदि) तरल पदार्थ अधिक मात्रा में सेवन
करना ठीक नहीं है । परन्तु पत्ते पदार्थों की अधिकतायुक्त
सूखे पदार्थ ठीक ठीक पचते हैं ॥४९५॥ सेवन किया हुआ
शुष्क अद्वा ठीक ठीक नहीं पचता है । आद्रेता के वाभाव से
वह पिण्ड के रूप में बनकर विदाह को प्राप्त होता है ॥४९६॥
जिसके अन्नवह स्नोतस (आमाशय) में अथवा पित्त के
स्थान में (विदाही) पित्त स्थित है उसका सेवन किया
हुआ अद्वा, विदाहजनक हो या अविदाही हो, विदाह को
ही प्राप्त होता है ॥४९७॥ सूखा भोजन, विरुद्ध भोजन (जैसे
कीर मत्स्य, अम्लदुग्ध इत्यादि) और कब्ज करने वाला
भोजन जठरास्त्री दूषित (नष्ट) कर देता है ।

आमं विदाधं विष्टुधं कफपित्तानिलैखिभिः ।
अजीर्णे केविदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः ॥४९८॥
(अजीर्ण—) कफ, पित्त और वायु इन तीनों (दोषों)
से यथाक्रम आम, विदाध और विष्टु विष्टु अजीर्ण होते
हैं । (इनके सिवाय) रसशेष (वाहार का इसमध्ये
परियुक्त रस की भाँति अवशिष्ट पतला भाग) के फारण
कहे (आचार्य) अजीर्ण का चौथा प्रकार भी मानते
हैं ॥४९८॥

अत्यभुपानाद्विपमाद्वानाद्वा
सन्धारणात् स्वमविपर्ययाद्व ।

कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्त-

मध्यं न पाकं भजते नरस्य ॥४९९॥

ईर्ष्याभयक्तो धयपरिष्ठानेन

लुभ्येन रुद्धैन्यनिपीडितेन ।

प्रदेषयुक्तेन च लेव्यमान-

मध्यं न सम्यक् परिणाममेति ॥५००॥

अधिक पानी पीने से, विषम भोजन (श्लोक ५०७ देखो)
करने से, (येरी के स्वाभाविक) बैगों को रोकने से, स्वम
विपर्यय (दिन में निद्रा, रात में जगना) करने से योग्य
समय पर, सात्म्य और हल्का नज़र भी सेवन किया
हुआ मनुष्य का ठोक नहीं पचता है ॥५०१॥ ईर्ष्या
(परोत्कर्पासहिष्णुता), भय, क्रोध, सोम, चिंता (मानसिक
रोग), दृद्यं (हल्का जीवादि) तथा द्वेष (मात्रार्थ) हृन
१ परिष्ठानेन ।

(मानसिक विद्वारो) से पांचित मनुयों द्वारा सेवन किया हुआ भोजन भी ईक ईक नहीं पथना है ॥५००॥

वक्तव्य—गृने स्तोत्र में द्वारा के भारीतिक शाहार विहारादि कारण कलाये हैं और दूसरे में मानसिक कारण कलाये हैं। मानसिक कारणों से अपवाह कैसे उत्पन्न होता है, उसका विवरण पाँच ४५३ वें स्थोक के बाबन्य में किया है। हमलिये भोजन के समय वित्तार्थि वही प्रभास रसीनी चाहिये। हमके संपर्क में मनुस्तुति में किया है—पूर्वदेवन निष्पवद्यं तद्गुणम् । हुआ हथेन् प्राणेत्रं प्रतिनन्देय मंदं ॥ पूर्ण धरन निष्प बन्धुर्व च वद्धन्ति । अमृतिन् तु तद्गुणमुभव नामेऽदेवम् ॥ (अध्याय २,४५-४५) । ऐसी वित्तार्थि यदि भोजन के समय मनुष्य रसमें तो सेवन किये हुए भोजन में अधिक से अधिक सामग्री उठा सकता है।

भार्युर्यमधं गतमामसंकं

विद्यधसंकं गतमस्त्वामायम् ।

किञ्चिद्विषयकं भृत्योदश्तूलं

विष्ट्व्यमाय(न)द्विवृद्ध्यातम् ॥५०१॥

उद्गामुद्दामपि भक्त्याद्वा ।

न जायते हुहुरुता च यस्य ।

रसावशेषेण तु सप्तसेकं

चतुर्थ्यमेतत् प्रवद्यन्यजीर्णम् ॥५०२॥

भार्याजीर्ण में सेवन किया हुआ भोजन मनुरुता को प्राप्त होता है; विद्यधार्यादि में अगलता को प्राप्त होता है; और विष्ट्व्यमायादि में आया ही परिषाक होकर पेट में पीड़ा गूंह होता है और नीचे का मानी बढ़ होने से यातु कर की ओर चाहती है ॥५०१॥ हुआ द्वारा आगे पर भी विष्पर्यं भोजन की हस्ता नहीं होती, हृदय (प्रदेश) में भारीपन रहता है और गूंह में पानी सा भरता है उसको रसशेष जन्य चीय अवश्यिक कहते हैं ॥५०२॥

वक्तव्य—याटागमायम् में इन चारों अङ्गीर्णों के लक्षण दिये हैं—तकरं गुणोदयेत् रोपो गणाशिक्षयो । उत्तरथ वधा सुकमविद्यप्रवर्तने ॥ विद्यने एतप्रभावं विविधा वापेदना । मन्त्रवानप्राप्तिकृत्य स्वामी गोदैडप्रीडन् ॥ विद्यने ग्रन्थानुपूर्णं तिवाच विविधा रक्ता । उद्गारथ मनुष्यान् स्वरो दहृत्य लायते ॥ रसेषेष्व विद्यो दहृत्युद्दिन्ते ॥ (सूक्ष्मान, च. ११) ।

मृद्ध्या प्रलापो यमयुः प्रसेकः सद्वन् भ्रमः ।

उपद्रवा भवन्त्येते भरण्य चायजीर्णतः ॥५०३॥

अङ्गीर्णे से देखोपी, घर्तवद भायथ, दमन, गूंह में पानी भरना, निर्वनना, घटन आगा ये उपद्रव होते हैं यथा मृद्ध्या भी हो जाती है ॥५०३॥

तप्त्रामे द्वृग्नं कार्यं विद्यधे वमनं द्वितम् ।

विष्ट्व्ये स्वेदनं पद्यं रसशेषे शर्यते च ॥५०४॥

धामयेदाशु तं तसादुपोनेण लवणाम्युग्मा ।

इयं चायानं तावश्याम ग्रहाति भजेत् ॥५०५॥

१ भासे हु वगन कार्य विरले द्वृग्न विनम

लघुकायमतश्चैतं लग्नैः समुपाचरेत् ।

यावद्य प्रहृतिस्थः स्थादोपतः प्राणेतस्था ॥५०६॥

आमाजीर्ण में संवन करना चाहिये, विष्ट्व्यमाय में वमन द्वितीय होता है; विष्ट्व्यमायीर्ण में (उल वर्णरी) संदन पद्यकर है और रसतेवाजीर्ण, में (विना भी लाये) वगन करना चाहिये ॥५०६॥ (प्रदि वगन के द्वारा) तो शाय ही उम अवार्य से विद्वित रोगी की लड्य गरम जल से यथन करना चाहिये । (वर्दि स्वन का हो लो) जब तक उसी अवीर्णनिरूपि (प्रहृति) न तथ तक उसे कुछ भी राने के लिये नहीं (अनगत) चाहिये ॥५०५॥ इस प्रकार (अनगत से जड़ावपि शहूकर) गरीर हलका होने पर भी उसे जब तक दोष और धूप पूर्वत (प्रहृतिश्च) न पैदा हो तब तक ही ही भोजन (लंघन) प्रदान करे ॥५०६॥

युक्तव्य—यद्यपि यहाँ लंघन, वगन और संदन वा बर्ण, विष्ट्व्यमायीर्ण, और विष्ट्व्यमायीर्ण के लिये यथा उपचार क्षयन किये हैं तथापि रोगी की अवस्था देखकर इ परिवर्तन जहर करना चाहिये—यथावत दिन भवेत् ॥ (अष्ट छद्य) । रसतेवाजीर्ण में दिन में विना तु चू सोना चाहिये और जब तु दूष भूख मालवम हो तब धारा करना चाहिये—दशमुनना दिना रत्याद्य द्वृग्नप्रदान ॥ (अद्विग्नप्रदान) ।

द्वितादितोपसंयुक्तमधं समशनं स्मृतम् ।

यहु स्तोकमकाले या विशेषं विष्पमायशनम् ॥५०७॥

अजीर्णे भुज्यते यहु तद्गुणनमुच्यते ।

वयमेतद्विद्यन्त्यामु यहु गुण्याधीन्करोति वा ॥५०८॥

हित और प्रहितकर (दोनों प्रकार के पद्यर्थ एवं रसमय) मिलाकर भोजन करना समयन कहलाता है । कर्णाडा कभी अधिक भोजन की बेला टालकर भोजन कर विष्पमायन कहलाता है ॥५०७॥ यहले सेवन किये हुए का एक परिषाक न होने पर भी दूसरा भोजन करना आग गत कहलाता है । यह तीनों प्रकार का अनुचित भोजन वीर्यमुक्ताकर होता है या विविध व्यायिर्ण उत्पत्त कर देते हैं ॥५०८॥

अद्यं विद्यधं हि नरस्य शीघ्रं

शीताम्बुना वै परिपाकमेति ।

तद्वयस्य शैत्येन निवृत्तिं पित्त-

माहै द्विद्यावाय नयत्यद्यस्तात् ॥५०९॥

मनुष्य का विष्ट्व्यावस्था का अन्त शीतल जल भीने पर जाता है । वह शीतल जल अपनी शीतलता से पित्तम नाय कर पर्यावरण से उत्ते शीघ्रे की ओर (दूत के साथ निकाल देता है ॥५०९॥

विद्यहने यस्य तु भुक्तमाप्नेऽन् ।

दहेत दृत्योद्गुणले च यस्य ।

द्रावायामया माहिकसम्भुक्तां

लीद्वाऽभयां वा च सुखं लमेत् ॥५१०॥

पिण्डिं और कर्कश गुणों में कर सकते हैं। परन्तु वास्तव में मूल सुखतसहिता का पाठ कुछ दूसरा ही होने की संभावना प्रतीत होती है। क्योंकि आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों में गुणों की संक्षया शीत से अधिक नहीं होती और उनमें भी सुखी, हुर्गीयी, विकासी, व्यवायिगुण नहीं होते—उत्थनदिग्लित्य वस्त्रामलद्वयित्वा। युगा बुद्धविद्वाना विहाति सविषयेया ॥ (वाम्बट)। विरतिगुणों गुरुलघुलीतोणिग्लित्यस्कषमन्तीशणमिरस रम्दुकाठिनविशब्दपिञ्चिलहस्तामरसमरुद्दास द्रवातुगमाद् । (चरक सूत्र, अ २५)। भावमिथ को जो सुखतसहिता उपलब्ध थी उसके अनुसार उग्नोने शीत ही गुण निर्दित किये हैं—सुखने तु युगा एवं वित्तनान् तु तु लुण्। उत्तरवृत्ति वस्त्रहस्ती तीज्ञ रक्षण स्त्रिय स्त्री ॥ पिण्डियो विशद रीतव्याय दृढ़कर्त्ता ॥ लग्न धूमी द्रव शुक्ल आयुर्वेद सूक्ष्मा युगा ॥ गुणों के विषय में कुछ विवरण पीढ़ी वालीतर्वेद अध्याय के पश्चे सूत्र के वकल्प में किया गया है।

संप्रवक्ष्याम्यतत्त्वोर्ध्वमाहारगतिनिध्यम् ।

अब इसके आगे आहारगति निध्य के बारे में वर्णन करें।

धर्कठय—आहारगतिनिध्य—सेवन किये हुए खाद्य पेय ग्रन्थों में विविध पावकालियों की सहायता से जी कुछ परि वर्तन होता है, उसका निर्णय । आहारगति या परिवर्तन की अंग्रेजी में ‘हूड मेटाबोलिकम्’ (Food metabolism) कह सकते हैं। इस परिवर्तन में शरीर के भीतर दो प्रकार की कियाएँ होनी रहती हैं। एक प्रकार की किया द्वारा सेवन किये हुए खाद्य ग्रन्थों से रसायनदि शरीर के विविध धातु बनते हैं, उनकी शुद्धि होती है, जल की पूर्ति होती है तथा उनकी रक्त ही रक्त होती है। संकेप में पहली किया से शरीर में ‘रक्तव्याक’ कार्य (संस्कृत) होता रहता है। इस किया की अंग्रेजी में ‘अनाबोलिकम्’ (Anabolism) कहते हैं। इस रक्तव्याक कार्य का संक्षिप्त विवरण ४२४ में और ४२५ में स्लोक में किया गया है। दूसरी किया से पहली किया के विवरण कार्य होता है। इससे शरीर के धातुओं में विघटन उत्पन्न होकर उससे कार्बन द्योजनाइड, जल, अम्बेनिया, पूरिया हायाद्रिड अनेक शरीर के लिये अनुपरोक्षी अतिवृद्ध व्यायय पदार्थ (मप) बनते हैं, जो मूत्र, स्वेच्छ प्रशास द्वारा तथा शरीर के अन्य दिशों से बाहर निकलते हैं। संकेप में इस किया से शरीर में ‘विनाशात्मक’ कार्य होता रहता है। इसको अंग्रेजी में ‘कैंग्यावाकिलम्’ (Katabolism) कहते हैं। इस विनाशात्मक कार्य के संक्षिप्त वर्णन ४२३ में स्लोक में किया गया है (विशेषण) शरीरस्वास्थ्य के लिये दोनों कियाओं का एक शुचारूप से बदला बहुत भावायक है। आयुर्वेद अनु सार हृष कियाओं में व्युत्पन्नकिया होनी रहती है। वास्तव में विनाशात्मक कार्य की अपेक्षा रक्तव्याक कार्य अधिक होता होता ही विलेश शरीर की शुद्धि होती है। युगा भीर मौही अवस्था में रक्तव्याक और विनाशात्मक कार्य बहुत बाहर रहता है शरीर न बदला है न बढ़ता है। इद और हृष अवस्था में रक्तव्याक कार्य की अपेक्षा विनाशात्मक कार्य अधिक तेज रहता है जिससे शरीर द्विप्रतिवित दुर्लभ

और हीण होता जाता है। एव आहारगतिनिध्य निश्च प्रक से होता है—

आहारगतिनिध्य=धातुण्यर्थन+मलीभवन

Metabolism=Anabolism+Katabolism

पञ्चभूतात्मके द्वेष्टे द्वाहारः पाशमैतिवृ ।

विषवृ पञ्चधा रम्यगुणान् स्वानभिवर्धयेत् ॥ १२

पच महाभूतों से निर्मित हुए शरीर में पचमहाभूतात्म द्वाहार (पाशक अविषो द्वारा) पर्वतों में ढी ढीक परिषोचित होने पर अपने अपने गुणों को वर्धित करे है ॥ १२४॥

धर्कठय—भारतीय व्यवहार के अनुसार शरीर ।

बनावट बहुत कुछ सूक्ष्म होने पर भी आयुर्वेद में स्थूलरूप पंचतत्वात्मक ही मानी जाती है—भूतेन्द्री दि पर एव वस्त्राद्वा निना विकितिनो । (सुखुत शरीर १)। शरीर की डरमि वित्ति और शुद्धि द्वाहार से (देशो द्वाहारतत्वम्, चरक) होते हैं इसलिये आहार का योग्य सगड़न वही हो सकता है त कि इसमें शरीर का है। अर्थात् हमारे आहार का संगठन वै पंचतत्वात्मक होना चाहिये। इस पंचतत्वात्मक आहार, शरीर के पंचतत्वात्मक सह धातु कैसे बनते हैं और उनके बनने के समय आहार में क्या क्या परिवर्तन होते हैं उनका अं संक्षिप्त विवरण इस श्लोक में आयुर्वेदिक कल्पना के अनुसार दिया गया है। इस विषय का कुछ विवर चरक, अर्था संप्रह (शरीर, अध्याय ६) और अद्यागद्वय (शरीर अध्याय, ३) में मिलता है। यहाँ चरक के महायोगिकिस्ति अध्याय में वर्णन भी हुई अध्यायपरिपक्विया दी जाती है—अध्यायानकर्त्ता त्रु प्राण वेष्ट प्रकृति । तद द्वैमित्यसंतान देहे मुदुना गद्य ॥ समोनोवधूनोऽपिलर्दयं पवनेन त्रु । कामे त्रुक्त एव सम्यक् पञ्चतत्वात्मिकर्दये ॥ एव रसतामायाद्वामायाद्वस्त्रप लिप्तं पञ्चतत्विर्वा रसान्वयेद्वायाद्वायाद्वल्लय ॥ अन्तर भुक्तात्म वद्वायरूपकर्त्तव्य । मधुराद् प्राक् कामोद्वायाद् नेत्रभूत शरीरे । परन्तर पञ्चतत्वात्मविद्वायात्मवान् । आत्मायात्मवानस्य लिप्तं मन्त्रमुद्दीर्येन ॥ रक्तरागं त्रु प्राणस्य शोष्यमण्यस्य बहिना । एव पिण्डिपरपराया यतु स्वयं बद्धवान् ॥ अन्तिम द्वायात्मिनिप्रियि विद्यि एव धृक् । देहे श्रीलीन ग चारीद् ज्ञानीनिप्रियात्मियं च ॥ भौत व्यवहायाद्या द्वेष्टोप्यमान सनाभ्याम् । वचवात्मागावृद्धान् द्वान् द्वान् पापिकादीन् पवित्रि । वय स्व रुप य प्रुष्टिं देवद्वयाणाम् इव पापिरा एविकानेदशा देवीर्थ्य हृष्टव्य ॥ तामग्निरात्मारो द्विविद्या उन त्रु । यसायत्वात्मिनि पाक वान्ति द्विविद्याद् ॥ इसने अतिरिक्त चरक में पृथग्वस्थान के २८५ अध्याय के शारीर । इस वर्णन का आधार यह है कि शरीरस्व वापकात्मि की सदाचाला से पंचतत्वात्मक आहार पंचतत्वात्मक आयुर्वेद में परिवर्तित होता है। एव पापद्वयि कम्भिमत्ता और श्वास निनाका के अनुसार निषेद्ध त्रापारो में विभृत होती है। यदा—ग्रंजनागति, धूप भूतागति (पापिनागति, आपागति, तेवगति, वापागति और नामागति) तथा शान श्वासगति (श्वासगति, श्वासागति, मांसप्राप्ति मेत्प्राप्ति,

धातु, मणाधातुपि और द्रुक्ष या भास्त्रय धात्रिय)। ऐना हुआ आहार प्रथम भुट में साता और चौथे उत्तमनानिकार्डिनिम, इन्हु) की सामाजिक सेवा के लिए होकर प्रशंसायाएँ भी महागता में श्रमाभाग्य देते हैं। वर्ती आगामिक गतियों से और इव में हीन (गिरन्देश्यात) होता है सभा तात्त्व साप उन गतियों का कार्य प्रारंभ होता है। जटरामि ने अर्थ बत हुआ ('ठरामिना दिनिं परिवित्र वारे'। इन्हु) उन गतियों में से होकर छोटी भूत में पहुँचता है तन (भौतिक गतियों का दर्शन प्रारंभ होता है)। ऐ जग्मियों स्य प्रथम वर्षने अद्यतयों का पचन (दर्शन उत्तमदोषाध्य-इन्हु) करनी हैं। ऐने पर्याप्त अद्य आहार के अंग का पचन बरती है; आप्य गति आहार है; द्रव्यांश ग करती है; एवं पांचों गतियों द्वारा आहार के पांचों द्वा पचन होता है। भौतिक गतियों का कार्य समाप्त र आहार का आन्वनिक परिपाक होने का कार्य भी होत वह सार और किट ऐसे दो भागों में विभक्त है (एवं च पक्षाशाहारादिपीयप्रगमार्दिनि रनेत्राद्यन्तमार-लारः जिल्लालय मलेऽग्निविनिर्वो। 'प्रदानग्रन्थप्रद')। किट अप्य सूक्ष्म और घन भाग विद्या होती है जो शिख और शरा धर्मार के बाहर निलजती है (तत्राच्च जिल्लालय सूक्ष्म वै रुद्र)। अर्णगाढ़य)। आहार का सार भाग आन्व रेत होकर रसायनियों और त्रिराऊं द्वारा इद्य में होकर वही से धमनियों द्वारा इद्य के भंकोच के कारण के समक्ष धारुणों में पहुँचता है (सुखस्त्रान, शोणित-य अच्छाय का द्वितीय सूक्ष्म देशो) और वही धात्वमि द्यता से फिर परिपाचित होकर धारुणों की चूदि और करता है। ऐ धात्वमिर्य कोइ ख्वतन्त्र अस्ति न होकर अस्ति के अंग द्वानी है—न्यस्थानस्थग्य कायादेशा भासुपु ॥ १ ॥ तेऽपां सादातिरीसिभ्यां धातुशृद्धिक्षयोऽस्वः ॥ (थरामागाढ़य)। पैतोमाणः पर्यावादयः रथानांतरप्राप्ता भासुपाण इति व्यपरेश-यनि। (अस्थादत्त)। धारुणों में आहार रस का होकर जो व्याख्य भाग बनता है उससे पित्त द्वेदादि जाते हैं। आयुर्वेदिक कल्पना के अनुसार आहारगति इ संक्षिप्त वर्णन है जो आधुनिक शरीरकार्यविज्ञानगत सति वर्धन के साथ बहुत कुछ मिलता है। नवीन य के अनुसार भी शरीर पंचतत्त्वात्मक होता है; आहार वायक होता है; आहारपाचन के लिये उसके भिन्न उपादानों पर कार्य करने वाले भौतिक गति के तौर पर विश्व पाचक दब्य (Enzymes) होते हैं; इन पाचक गति कार्य होने पर आहार के सार और किट ऐसे दो होते हैं, सार का शोषण अर्थात् से होकर वह प्रथम हृदय त्रु त कर वही से धमनियों द्वारा शरीर के समस्त धारुणों द्वारा है, और धात्वमियों (Intracellular enzymes) परिपाचित होकर धारुणों की चूदि करता है। ऐ में सार का पचन होने के पश्चात् पित्त द्वेदादि मल होते हैं। आयुर्वेद और पाद्धत्य की आहारगति की गति में दूस प्रकार स्थूलरूप से बहुत कुछ समता होने

पर भी तत्त्वसील में द्युत फर्ह दोता है; इत्तिरे पाद्धत्य पद्धता है अनुसार आहारपरियाक, और आहारगति सा विवरण जीवि विनारपूर्वक लिया जाता है। उससे पहले दोनों का तुलनात्मक लोक्त दिग्ग जाता है जिससे दोनों के वैधांश होने में सुविधा होगी।

आहारगति परिवर्तन का तुलनात्मक कोष्ठक

नाम	आतुर्दिक्षा निदान	पाद्धत्य सिद्धान्त
१ गरीरनना	श्वी, पाप, तेज, वासु और आकाश रस प्रकार पंचतत्त्वात्मक	सनिज (पृष्ठी), प्राप, प्रोटीन, कार्बोहाईड्रेट और लस्ता इन प्रकार पंचतत्त्वात्मक
२ आहार का दंगड़न	उपर्युक्त प्रकार ते पंचतत्त्वात्मक	उपर्युक्त प्रकार से पंचतत्त्वात्मक
३ गलगोप में भा-हार या पानान	चठरामि (पित्त) तथा पांचभौतिक गति	पित्त तथा लाला, आमाशय, अन्त्याशय, आन्द्र के सर्वे में मिलने वाले विविध एन्जाइम (Enzymes)
४ आहार रस का धात्वमियों के द्वारा पारुओं से सात्त्वीकरण	धात्वमियों के द्वारा धारुओं के भीतर मिलने वाले भौतिकगतियों द्वारा धारुओं की वृत्ति की पृष्ठीत तथा दृष्टि;	सेलों के भीतरी एन्जाइमों (Intra-cellular enzymes) के द्वारा धारुओं की वृत्ति की पृष्ठीत तथा दृष्टि;
५ सात्त्वीकरण का परिणाम	धारुओं की वृत्ति की पृष्ठीत तथा दृष्टि; और पित्त, कफ, स्वेद इत्यादि मलों की उत्पत्ति तथा उत्सर्गी	धारुओं की वृत्ति की पृष्ठीत दृष्टि; तथा पित्त, कफ, स्वेद इत्यादि मलों की उत्पत्ति तथा उत्सर्गी और उत्सर्गी

शरीर का सगठन—स्वायननयात्रा की दृष्टि से संसार के समस्त पदार्थ नव्वे के करीब मूलतत्त्वों (Elements) से बने हैं। इन मूलतत्त्वों में से शरीर में केवल तेईस मूलतत्त्व पाये जाते हैं, जिनमें आक्सिजन, कार्बन, हायड्रोजन, मैट्रोजन, फास्फरस, चूना, गंधक, लूरीन, सोडियम, लोहा, पोट्यासिअम, मधेसिअर्म और फ्लोरिन विशेष परिमाण में होते हैं। यथपि इन्हें मूलतत्त्व शरीर में होते हैं तथापि सिवा आक्सिजन के वे स्वतंत्ररूप में नहीं पाये जाते, औरिगिक (Compounds) रूप में मिलते हैं। वैष्णवशाश्व में शरीर की बनावट की दृष्टि से ये औरिगिक प्रधान माने जाते हैं। उन्हें पांच प्रधान श्रेणियों में विभक्त किया है:—१ प्रोटीन (Proteins), २ वसा (Fat), ३ शर्कराजातीय पदार्थ (Carbohydrates), ४ पार्थिव पदार्थ (Minerals), और ५ जल। इनमें जल ७०% होता है, पार्थिवदब्य २०% होता है और और वसा, प्रोटीन इत्यादि शेष उपादान २३% होते हैं। जल

प्रथेक सेवन का आवश्यक अवयव है। इसमें गरीब के माल जलपानी (Aquatic) है; पिंवा गड़ के दो बुद्ध नहीं कर सकते। जल की भीति प्रोटीन भी गरीब के प्राप्तक गेल का आवश्यक अवयव है। भाष्ट्र का साफ्ऱन—जिन पदार्थों से गरीब बात है उगांड़ को जीवं गरीब में पाई जाती है वही जीवं लाल के मुख्य उपादान होती है। इसलिये आवश्यक भी पचनायामर होता है, या १ प्रोटीन, २ पाणी, ३ कार्बोहाइड्रेट, ५ एनिन या पर्पिन, और ५ जल। प्रोटीन—प्रोटीनिक सेवनों के दो आवश्यक पटक होती हैं, अतिवृष्ट यारीतिक हास की पूर्णी और धातुओं की कृदि के लिये प्रम्पन आवश्यक है। प्रोटीनों का कार्य दूसरे प्रकार, जो साध द्रव्यों से कहापि नहीं हो सकता, यह कभी नहीं भूखना चाहिये। प्रोटीन अण्डा, मद्दनी, मोस, बूध, दान हायादि चीजों में पाई जाती है। जम—जम जिनसीन और पसाल (Fatty acids) का जीवित है। इसमें गरीब में उपलाता और यकि उपल द्वारा होती है। जयिन राशि में सेवन करने पर में गरीब में सखिन द्वारा सचिन गणि (Reserve energy) का कार्य करता है। कावाहैड्रेट की अपेक्षा घसा से ढाई तुना शक्ति अधिक उपल होती है। धी, मालवन, ख्यावर और जगम तेल, यादाम, पिस्ता, गरोट इत्यादि की गिरी में घसा अधिक राशि में मिलती है। चावल—इनसे गरीब में उपलता और यकि उपल होती है। अधिक भाषा में सेवन करने पर इसका में रुचातर होवर गरीब में सच्च होता है। यारीतिक अम करने वालों की कावाहैड्रेट की अधिक आवश्यकता होती है। ये केवल बनसपनीर्या से प्राप्त होते हैं। चावल, गेहूं, गरोट, सागोदाना, यादाम, गोकरद, यजूल, गुड़, मीठे फल, गहड़ इत्यादि में मुख्य द्रव्य कावाहैड्रेट ही होता है। उनिन वा पर्पिन इत्यादि गरीब की हृदयी स्निग्ध द्रव्यों से ही बनती है। शरीरय स्निग्धद्रव्य का दूसरा बेवल हृदयों में होता है। हृदयों के अतिरिक्त रक्त का रक्तद्रव्य (Haemoglobin) आमतयकारम, दर्ता, देश, मस्तिष्क इत्यादि में स्निग्ध होता है। उनिन पर्पिन दूध, अण्डा, हरी साग सब्जी, बनाज इत्यादि में पाये जाते हैं। जल—जल की सहायता से गरीब के भीति कुछ परिवर्तन होते हैं। साथ द्रव्यों का पचन और साधारणकार, मनुष्यादि त्याज वदामों का उत्सर्ग, रक्त का परिवर्धन जल की सहायता से होता है। मनुष्य को प्रतिदिन तीन सेर के सामान्य पानी की आवश्यकता होती है। यद राशि मनुष्य के रहन सहन, परिव्रम, देश, आहार, जल में दूध इत्यादि पर मनुष्यिक होती है। ईं देश में तथा जाड़ों में उग्न देश तथा गरमियों की अपेक्षा कम पानी की आवश्यकता प्रतीत होती है। मुख मनुष्यों को परिधम करने वालों की अपेक्षा कम पानी लगता है। मांसादारी को गांकाहारी की अपेक्षा अधिक पानी की आवश्यकता होती है, क्योंकि मांसादार ऐ गरीब में यूरिक एसिड (Uric Acid) अधिक बनता है जिसको गरीब से निकलनामे के लिये अधिक पानी की जरूरत होती है, अन्यथा बातरकादि रोग उपल होने की संभावना होती है। मनुष्य को प्रतिदिन जिन्होंने पानी आवश्यक होता है उसमें से २०-३०% स्वास्थ्यद्रव्यों के

साप सेवन किया जाता है, ५% के लागता भावात्परी में गरीब के भीतर उपल होता है और गेल जल के ही सेवन किया जाता है। आवश्यक अवयव तथा आहाररिक जल के अतिरिक्त जल गरीब में अधिक जल की आवश्यकता होती है; इसलिये बालव शरा को भीति जल की मूलता का निर्देशक 'सम' लाहिये। इन पाँचों प्रकारों में से प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट वर्ग गरीब में शक्ति तथा बुद्ध करते हैं परन्तु जल और ही यकि उपल महीने छरते। विटामिन (Vitamines)—प्राप्ति पर प्रयोग करने से तथा मनुष्यों के स्वास्थ्य का निरी करने पर यह प्रता पला है कि यदि भोजन में बेवल प्रोटीन, बारोहाइड्रेट, एविनिं और जल में पाँच जीवों रोग मनुष्यों का स्वास्थ्य बिगड़ता है; रोग-जनुरों का आक भेजने द्वी उपली शक्ति नए होती है तथा विहेप प्रकार रोग भी उपल होते हैं। इसलिये उक पाँच जीवों के अरिक जिन जीवों के प्रधापरिमाण भोजन में रहने से स्वास्थ बना रहता है तथा जिनके न होने से या कम होने स्वास्थ दो किसी न विस्ती प्रकार की हानि धूसरी है, उन 'जीव द्रव्य' कहते हैं। जीवन के लिये भोजन में इनका यह बहुत आवश्यक है। उक पाँचों द्रव्यों की भीति इन जे द्रव्यों में गरीब में रामायनिक या भीतिक परिवर्तन नहीं होता इनका सच्च भी अधिक नहीं होता। योगवाही (Yoga) परापर के तौर पर या भोजन में स्कुलिंग (Spark) के तौर पर में गरीब में कार्य करते हैं, ऐसी शास्त्रों की रहती है। यद्यपि मालकी का तेल, अण्डा इत्यादि प्राणिय परा में में पाये जाते हैं तथापि इनकी उपलति बेवल बनस्पति में ही होती है। इन सब का रासायनिक संग्रह भी जारी होनिक रहती है। अभी तक पाँच या उन प्रकार के जे द्रव्यों का पला लगा है तथापि भवित्व में और भी प्रक्रियाएँ जीव समाजना हो सकती हैं। जीवद्रव्य 'ए' (Vitamin A)—यह जीवद्रव्य महानी का तेल, मटी, आद जानवरों के यहूदी इत्यादि अग, दूध, दही, मालवन, दरकारियों इत्यादि में पाया जाता है। इससे बायावास में गरीब की जीक कृदि होती है तथा जीवाणुजन्य रोगों कुकाकला करने की यकि गरीब में सैदैव उपस्थित होती है इसकी कमी या अभाव से बायन स्वल्पान, पदन संस्कार सूक्ष्म लस्यान में जीवाणुजन्य रोग उत्पन्न होते हैं, गर्द की कृदि जीक नहीं होती, गरीब हृण होता है, त्रुक्कलिया (Xerophthalmia), रत्नीकी हृलदि नेत्र के रोग होते हैं जीवद्रव्य 'बी'—यह जीव द्रव्य गेहूं और चावल का दूध चावल की भूमि, मटर, उड़द इत्यादि दालें, स्वीर (Yeast) अण्डा, जानवरों के यहूदी हृदय इत्यादि अग, मालू दूध इत्यादि में पाया जाता है। यह जीवद्रव्य (B₁, B₂, B₃, B₄, B₅ ऐसे) पाँच जागों में विभक्त किया जाता है। यी नाई स्लान के पोषण के लिये आवश्यक होता है। इसकी से बातबालासक (Beri-Beri) नामक रोग उत्पन्न होता है। जीर त्वचा के पोषण के लिये आवश्यक होता है इसकी कमी से पेलाग्रा (Pellagra) नामक रोग होता है।

प्रकारों के कार्य के संबंध में अभी तक शासनों में मत-
ता पाई जाती है। जीवद्रव्य 'सी'—यह जीवद्रव्य नारंगी,
तांदी, दौमाटो, गाजर, प्पाज, आलू, शलगम इत्यादि
तरकारियों में, आंगूर और आम में, दूध में, अंकुरित
जांजों में पाया जाता है। केशिकार्थों के तथा दाँतों के
ए के लिये इसकी व्यावधिकता होती है। इसकी कमी या
पव से स्कर्वी (Scurvy) नामक रक्तपित्त वर्ग का रोग
होता है। इसके अतिरिक्त शरीर की वृद्धि ठीक नहीं
होती, दृष्टि खराब हो जाते हैं, शरीर से रक्तनाव हुआ करता
तथा शरीर की प्राणशक्ति घट जाती है। जीवद्रव्य 'ई'—
जीवद्रव्य मछली का तैल, दूध, अण्डा, मालून, इत्यादि
जांजों में पाया जाता है। सूर्य की किरणें इस जीवद्रव्य का
महत्वपूर्ण स्रोत हैं। सूर्य की नीललोहिन (Ultra-vio-
let) किरणों के प्रभाव से प्राणियों तथा मनुष्यों की व्याचा में
जीवद्रव्य की उत्पत्ति होती है। दुधालू पशुओं को भी
देख धूप में चरने द्वाया जाय तो उनकी व्याचा में यह द्रव्य
पश्च होकर उनके दूध में मिल जाता है। धूप में धूमने
रेते के कारण ही गो के दूध की अपेक्षा भैंस के दूध में
है द्रव्य अधिक होता है। वैसे ही शीत अंतु की तुलना में
भैंस अंतु के दूध में जीवद्रव्य अधिक होता है। इससे
हार के खटिक और फासफरस का सातमीकरण भली भाँति
कर अस्थि तथा दाँतों का पोषण ठीक होता है और रक्त की
मनों की शक्ति बनी रहती है। इसके अभाव से अस्थिर्या
स्थि तरह नहीं बनती; वे टेही, कमजोर और भुरभुरी हो
जाती हैं। हड्डी के अभाव से छोटे वचों में अस्थिक्रुति
(Rickets) नामक हड्डियों का रोग तथा दाँतों के विविध
वेकार उत्पन्न होते हैं और वड़ी उम्रवाली खियों में ऑस्टिनो-
लेसिया (Osteomalacia) नामक अस्थि का रोग उत्पन्न
होता है। जीवद्रव्य 'ई'—यह जीवद्रव्य सभी बीजों में, उनसे
नेकाले तेलों में, हरे पत्तों में, गेहूँ के अंकुरों (Wheat germ)
में, कच्चे मासं, दूध, मालून में पाया जाता है। इसके अभाव
ने प्राणियों की जनन-शक्ति घट या मर जाती है, जिससे बच्चे
शोते ही नहीं या होकर मर जाते हैं। खाद्य पेय द्रव्यों में एकाध
त्रीज इसकी कमी होने से रोग नहीं होता। यदि लगातार बहुत
शाल तक इनकी कमी हो तो स्वास्थ्य दिगड़ जाता है या
हनके सास रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों को जीवद्रव्या
भवदर्शक रोग (Deficiency diseases) कहते हैं। प्रतिदिन
दिन इनका सेवन करने का परिमाण आयु, शरीर की वृद्धि,
जैवायु, संकामक रोगों के लिये अनावृति (Exposure)
संप्रकाश में काम करने का प्रमाण इत्यादि वातों पर निर्भय
होता है। तथापि यह कह सकते हैं कि द्रव्यों को साधारण स्थिति
में, वाल्यावस्था में और युवावस्था में इनकी पर्याप्ति राशि
सेवन करनी चाहिये। १९३२ तक जीवद्रव्यों का नाम तक
मालून नहीं था। गत बाइंस वर्ष में इनके संबंध में बहुत
कठ ज्ञान ही गया है और भवित्य में भी अधिक ज्ञान होने
की आगा है। यदि मनुष्य स्थाय पेय के व्यवहार में छन्त्रिमत रखता
थोड़ा भ्रष्टि स्थिति हो तो वह उसे बदल देना चाहिये।

वाले विविध रस युक्त फल, फूल, साग सहजी तथा अन्य पदार्थ सेवन करें तो उन्हें जीव द्रव्यों की कमी से उत्पन्न होने वाले विविध आपत्तियों से दरने का कोई कारण नहीं है। जीवद्रव्यों का ज्ञान न होने पर भी इसी व्यापक दृष्टि से वाम्भट ने अन्तर्चर्याशय में लिखा है—नित्य सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृत्तौ पाचकास्मि—उपर्युक्त पाँच प्रकार के द्रव्यों में से जल और खनिज द्रव्यों पर कोई पाचक क्रिया नहीं होती; ये ज्यों वे त्वयों क्षेमल कला में से गोप्तित होकर रक्त में चले जाते हैं अर्थात् इन द्रव्यों के लिये कोई भी पाचकास्मि आवश्यक नहीं होती। पैदे द्रव्यों के लिये निम्न पाचक रस आवश्यक होते हैं। इन स्त्रों में जो पाचक एन्जाइम (Digestive Enzymes) होते हैं वे पाचकास्मि के समान समझे जा सकते हैं। (१) लाला—यह प्रथम पाचक रस है जो कि मुख में चरण के समय भोजन के साथ भिलता है। इससे भोजन गीला और मुलायम होता है। इसके अतिरिक्त लाला में व्यालिन (Ptyalin) नामक एक विशेष पाचक पदार्थ होता है जो भोजन के लेत सार (Starch) नामक कार्बोहाइड्रेट का शर्करा में परिवर्तन करता है। प्रोटीन और मेद पर इसका कोई असर नहीं होता। (२) आमाशयिक रस—थूक से खबू मिलकर भोजन अच्छा प्रणाली में से होकर आमाशय में पहुँचता है। वहाँ उस पर आमाशयिक रस का कार्य होता है। यह दूसरा पाचक रस है। इसमें ‘हाइड्रोफोरिक अम्ल’ ‘पैप्सिन’ और ‘रेनेट’ नामक विशेष पदार्थ होते हैं। इनमें से पैप्सिन प्रोटीनों का विश्लेषण करके उनसे नये पदार्थ बनाता है। इसके कार्य के लिये अम्ल का होना जरूरी है। रेनेट अम्ल की सहायता से दूध का दूधी बना देता है। आमाशयिक अम्ल से गङ्गे की शर्करा का स्पन्तर द्राक्षाशर्करा में होता है। शरीर की गरमी से पिघल कर मेद द्रव्यरूप में आ जाता है तथा वसा के सेलों का आवरण पैप्सिन की क्रिया से हुलकर मेद के विन्दु स्वतन्त्र हो जाते हैं। तथापि आमाशयिक रस की कोई रासायनिक क्रिया मेद पर नहीं होती। (३) पित्त—वसा और तैल के पचाव और शोणण में पित्त बड़ी आवश्यक चीज़ है। पित्त के कारण अग्न्याशय रस की वसा विश्लेषण शक्ति विशेष कर बढ़ जाती है। जब पित्त कम बनता है या किसी कारण आनन्द में नहीं पहुँच सकता (जैसे कि कामला में होता है) तब वसा का ठीक पचन न होकर वह विष्ठा द्वारा शरीर से बाहर निकल जाती है। (४) क्षुद्रान्त रस—यह चौथा पाचक रस है। इसमें इरेप्सिन नामक प्रोटीन विश्लेषक होता है। यह उन पदार्थों का विश्लेषण करता है जो आमाशयिक पैप्सिन के कारण प्रोटीनों के विश्लेषण से बने हैं। दूसरा शर्करा परिवर्तक (Invertase) होता है जो सब शर्कराओं को द्राक्षा शर्करा में परिवर्तित करता है। (५) अग्न्याशय रस—यह पाँचवाँ पाचक रस है। इसमें ट्रिप्सिन नामक प्रोटीन विश्लेषक, लाय-पेस नामक वसा विश्लेषक और अमायलेस नामक थेतसार विश्लेषक होता है। ये विशेष पाचक पदार्थ आहारागत अपने अपने अवश्यकों पर कार्य करते हैं। संक्षेप में—प्रोटीनों पर आमाशय रस का पैप्सिन, अग्न्याशय रस का ट्रिप्सिन और

अन्यायरूप रस का लाइपेस (Lipase) कार्य करता है। कार्डो हैडैट पर लाला का टापालिन, अन्यायरूप रस का अमाइसेंस और सुदामात्र रस का ग्राइंडरा परिवर्तक कार्य करता है। अनियन्त्रित और जल के पचन के लिये कोई पाचक रस की आवश्यकता नहीं होती। वे दोनों के त्वयों शोषित होकर रक्त में चर्चे जाने हैं। पचनत्वामक बाहर पर हृन पाँच पाचक रसों का कार्य होने पर जो असामय और अधिक मात्रा होता है वह चिट्ठा के स्वरूप में बाहर निकल जाता है। सार भाग आन्त्र की लिमिडा वाहिनियाँ (Lacteals) और पिराओं द्वारा हृदय में से होकर समान शरीर में फैलता है और धान्य-सिर्या (Intracellular enzymes) द्वारा परिसञ्चित होकर गरीब का पोषण करता है। पोषण में जलति की पूर्ति, वृद्धि और रक्षा इनका ममानेश होता है और इसको 'अनावेलिक्म' कहते हैं। शरीर में विधिक कार्य के कारण जो स्थायी या मल रस पदार्थ बनते हैं वे फिर रक्त में मिलकर कुछ द्वारा मूत्र से, खचा द्वारा स्वेद से और फुक्सस द्वारा प्रधास से शरीर से बाहर उत्पन्न होते हैं। इन विषटानामक कार्यों को 'व्याटावेलिक्म' कहते हैं। यदी आहारागति का संकेत में पाशास्थ यथीरकार्यविकास के अनुमान वर्णन है। इस विषय का कुछ विवरण पढ़ें २१वें अध्याय के ९वें मूत्र के बहुत ज्यादा गया है।

अविद्याः कर्म पित्तं विद्याः पवनं पनः ।

सम्यनिवपको निःसार आदारः परिचुंहयेत् ॥५३५॥

विदिष्य (मधुर अवस्था की प्राप्त हुआ) आहार कफ की वृद्धि करता है; विदिष्य (अस्त अवस्था को प्राप्त हुआ) आहार पिण्ठ की वृद्धि करता है, और उसम प्रकार से परिपक्ष होने के कारण मार हीन हुआ (मल्हप) आहार वायु की वृद्धि करता है।^{५२३॥}

यत्कथ्य—इस स्तोक का तात्पर्य—यह है कि परिणाम होने के पूर्व आहार कक्ष को यानि मुख की छाला को—उत्तेजित करता है, प्रश्न आवायाच में अस्तना को प्राप्त होकर जब क्षुद्राश्रम में पहुँचता है तब यित को उत्तेजित करता है (यह यात भव भावुकिक विज्ञान से भी सिद्ध हुआ है) और जब साराईन होकर रस्यूलान्त्र में आता है तब यातु को उत्तेजित करता है (यानि मदाव के कारण रस्यूलान्त्र में कई प्रकार की यात—Gaseous घटनाएँ हैं)।

विष्णुत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः ।

स तु द्यनेन विद्मिष्टः सर्वान् धातुन् प्रतिपयेत् ॥५३६॥

विटा और मूर्य आहार का मल है और यह आहार का मार है, यह पहले कह सुके हैं। व्यान घायु से प्रेरित हुआ वही रस (शरीर के) समन घातुओं का तरंग करता है ॥४२॥

देशन्य—प्रियदर्शकामी—प्रायुर्द का यह मत है कि विषा की भूमि मूल भी आप्र में आहार से बनता है, औ इन्होंने आप्र विष में वैष्णव है— अनुच्छेद १३

नीदिनम् ॥ (शार्कर) । तत्र इच्छ निदूमनस्य मूर्च विषय रहन् । (वामपट) । (विशेष विवरण के लिये प्रधान Ayurvedic conception about urine formation in human body नामक द्वाटी पुस्तक देखो ।) । प्रदृष्ट—यांशितवर्णनीय अन्धाय में । वास्तव में हस बान का उभय सुखनसंहिता के मूल में हुआ नहीं है, परन्तु यांशितवर्णनीय अन्धाय के 'सांकेतिक नाम' नामक स्तोक की टीका में दर्शन ने किया है । ब्यान—मुख्यतया हृदय में निवास कर वाला वायु का एक भेद है । इसका मुख्य कार्य रक्तसंबन्ध (Blood circulation) जारी रखने का है—जायो इदि नित (वामपट) : रक्तसंबन्धेन । (सुखन) । प्रथमेष्ट—वैदिक उच्चावाक्यादेन इति सर्वथ । निदानस्थान के प्रथम अन्धाय के १४वें स्तोक का वर्णन देखो ।

वर्चाय—आद्वार रस से जब हन धातुओं का पोषण
या तर्पण होता है तब ये मल कम से उत्पत्त होते हैं । मल
प्रति के संबंध में पाश्चात्य शारीरिकार्यविज्ञान का ऐसा
गत नहीं है । कन निष्ठा—शरीरावाधकर मलस्वरूप पित्त
मौर एक कफ । मल शेतु—काग्निलिनिकाम्प्यले मूलप्रजननमत्र ।
(चरक) । वामपट ने अप्याद्याद्य में ओरोजुकुक्षातु का मल
उत्पत्त होताया है—कफ शित मल होते, मध्येरो नस्त्रोम च । स्लोरो
शेनविग्नामो गो भानुता क्रमसो मरा ॥ (शारीर, ३) । परन्तु
पर्यागसम्प्रद में ओरो शुक्र का सार बलताया है—शुक्रस तर
तो च । अप्युत्तुदायास मलामात ॥ (शा० ६) । तिनी
पाश्चात्य कलना के अनुसार ही पित्त रक्त से बनता है और
इस प्रकार का मल ही है—Liver cells take certain
materials from plasma and elaborate the consti
tuents of the bile. Bile pigments are formed
from pigments of breakdown blood corpuscles.
Bile is doubtless to a certain extent an excretion
Halliburton's Physiology

दिवा विद्युते हृदये जाप्रवः पराहनीकरण ।

अथमहिन्दूतुन्यादजीर्णेऽपि द्वितं निशि ॥५२॥
द्विदि समीलिते रात्रो प्रसुतस्य विशेषतः ।

स्वप्नविद्यास्तथातुत्यादीर्जीये न हितं दिवा ॥५२९॥

दिन में हृदय कमल के समान विकसित होने से, समझ और अभिज्ञ होने से कुछ अंतर्भूत हो, तो भी जागने वाले दृष्टि के लिये रात्रि को भोजन करना हिन है। ॥५८॥ इस हृदय संर्माणन होने से, समान पात्र किंव और विषय के से तथा विशेष करके सोने हुए मधुमधु के लिये अंतर्भूत हो (हूमर) दिन में भोजन करना हिनकर नहीं। ॥५९॥

यत्तद्य—इन भोक्तों का तात्पर्य यह है कि दिन में

लोगों से गमन्तु यह वायु मव जीवों को धैनव्य होने वाला (सर्वांका) है ॥४॥५॥ (स्यावरतजगमाभक) भूतों की अपत्ति, स्थिति और विनाश का कारण है; (मव) अदृश्य है (परंतु) उसके कार्य प्रकट होते हैं, रुक्ष, शीत, लघु और खर है ॥६॥ सर्व ग्रीष्म में घूमने वाला है; (शब्द और स्पर्श ऐसे) दो गुण युक्त हैं; (यिगुणाभक होने पर भी) रजगुण-प्रधान है; अचिन्तयकि है, शीतों का प्रेरणा करने वाला है; रोगों के (कारण) समूह में आता है ॥७॥ शीघ्र कार्य करने वाला है, सैदैव गतिमान् है; और (विगमया) पकायाप सदा गुदा में उत्सका स्थान है।

चक्रद्य—अभ्यक्त—अखंत भूदम होने के कारण अव्यक्त, अमूल या अदृश्यमूर्ति । तिर्ण—जलांशीनिर्याग । दिगुण—हर्षय शब्द गुण शुक्त-माहाभूतानि व वायुप्रिणितप्र मिनिलया । सम्भव स्वरूप च रसो गमयथ तदुगुणा ॥। देवोगेक्षुण् पूर्ण युग्मद्विष्टे परे परे । पूर्ण् पूर्वगुणवैक्ष कमरो युग्मित् रुद्ध । (चक्र, या ?) । दोषाणा भेदा—दोष वायु और मरों का प्रेरक—पित एक कहा पहुँचो मलधानवः । वायुना यथ नीवनो तत्र वचनि मेषेष्ट ॥ (शुर्क्षेप) । रोगमुद्वाराद—दोषों के कारणों में सर्वशेष—विमुलादातुकारिताद्विलापस्येषनात् । वायुन्याद्वृग्गोरगावायाणां प्रवल्लिनिल ॥ (वायुभट) । शास्त्रागाना कौषलगायत्री रोग ममोर्वसवर्ववयवहाग्रायथ । मे सलिते तो न तु कफिदन्ती वायो पर जननि हेतुरुति । (चक्र, सिदि, ?) । भायुकारी—शीत्रि विकर करने वाली, शीघ्र विनाश करने वाली, या वायुया स्वरूप के (Acute) विकार उत्तर वरने वाली । मुदुश्वरी—माहूनिक अवस्था में भी सैदैव गतिमुक्त—अद्वान्तानिर्दित्य स्थानस्य प्रहृती रित । वायु व्यात्सोऽपिक शीत्रि-कृष्णों समा शनम् ॥ (चक्र) ।

देह विचरतस्तस्य लज्जाणि नियोध मे ॥८॥
दोषयात्यग्निसमर्ता संप्राप्ति विनयेषु च ।
दिग्याणामालुन्देष्य च करोत्यकुपितोऽग्निलः ॥९॥

देह में विचरने वाली उम वायु के लज्जा मुक्त से समझ सो ॥१०॥ श्रवित्वा वायु देखो, वायुओं और जड़तामि की समता, (शब्दादि इन्द्रियों के) विषयों में (समनस्क हृदियों का) अभिन्नवय तथा (वृच कर्मेन्द्रियों की वय-नादि) द्विनामी में ढीक ढीक प्रवृत्ति करती है ॥११॥

चक्रद्य—चरक्षमहिना के वातकलाकर्त्तीय अच्याय (म् १२) में गरीबर अविहृत वायु के कर्मों का सुन्दर विवरण किया गया है—वायुसन्तवन्यन्पर, प्रवैष्टेष्वायामुच्च-द्वयातो, नियन्ता प्रेतो च मन्त्र, मौद्यिकायामुदीक, सैन्दिद्यवायामिवेष्ट, सर्वरीत्यामुद्दूक, स्थानकर शीरय, प्रवैष्टीया वाच, प्रहृति इत्यर्थायो, शोक्त्रयोनयोर्मूल, हौस्तवयोनीनि, वाच, प्रहृति इत्यर्थायो, शोक्त्रयोनयोर्मूल, हौस्तवयोनीनि, वाच, प्रहृति इत्यर्थायो, शोक्त्रयोनयोर्मूल, भक्त्यव्युत्तिना, भक्त्यव्युत्तिना, भक्त्यव्युत्तिना, भक्त्यव्युत्तिना, भक्त्यव्युत्तिना ॥ कर्मों गर्भकीनाम्, भक्त्यव्युत्तिना, भक्त्यव्युत्तिना, भक्त्यव्युत्तिना ॥

यथाऽपि: पश्चात्या भित्तो नामस्याना मकर्मिभिः ॥१०॥
भित्तोऽनिलस्तथा हेषो नामस्यानकियामयैः ॥११॥
प्रायोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च ।
—सर्वानिराम ॥११॥

(वायु के पांच भेद—) जैसे नाम के कारण (धैर्यप्रद व्यानाय में) पित वांच विभक्त हुआ है; वसी भर्ति एक ही वायु नाम, व्यान, व और रोगों के कारण पांच प्रकार से विभक्त हुआ है ॥ प्राया, उदान, समाव, व्यान और वापान एसी शब्द (साम्यावस्था में किंवा अपने विशेष स्थान में स्थित हु पांच वायु जीवों के धारण करती हैं ॥१२॥ वायुर्यो वक्षसंचारी स प्राणो नाम देवदृष्ट । सोऽन्नं प्रवेशायत्वन्तः प्राणांश्चाव्यवलम्बने । प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्षाभ्यासादिकान गदान् ।

(प्रायवायु—) जो सुर में संचार करती है, वह 'प्र नाम से प्रसिद्ध देव धारण करने वाली वायु है; वही प्राय वश को (महावीर के) भीतर प्रविष्ट करती है; और प्र को अवश्यन करती है ॥१३॥ (तथा) विहृत हो जाने हिंकड़ी, भास इत्यादि दोष उत्पन्न करती है ।

यक्षद्य—वक्षमंवारी—वक्षमवारितमध्येष्ठानम्, भूर्भूर कल्पनालिकाऽपि प्राणत्वं व्यानम् । (इहल्ला) । प्राणो मूर्त्यवस्थित कष्ठोरधर । (वाहांगमंग्रह) । प्राण वागनीतिं प्रय, प्राणयनीति वा प्राण । प्रशासोऽप्युपास कार्यं जीवन के लिये नितान्त आवश्यक है और इस के साथ इस वायु का धनिष्ठ संवेष द्वाने के कारण ही 'प्राण' वायु कहते हैं—तब प्राणो मूर्त्यवस्थित कष्ठोरधरेष्ट । निवद्वद्वानोपीभारणीवनक्षत्रवृद्धादप्रभावेऽद्वासाप्रवेशन्ति य ॥ (श्रावणांसेवय) । नाभिस्त प्राणदर्शन रहदृष्टि द्वलमलानक कष्ठाद्विर्विनिर्विनीषु पातु विष्णुप्रसादम् ॥ पीत्वा वामवर्त्तेषु प्रापयते वेग । प्रीणवदेवदीर्घिविल जीवदग्नदर्शनकर ॥ (शार्दूल शायाम—उदानादि शेष वायुओं की—प्राणोऽपानो व्यान उदानानोऽन इत्येतत्त्वं प्राण इति ॥ (वृहद्वायकोपनिषद्) पित और कफ के कानुसार प्राणवायु शेष वायुओं को उत्पन्न करती है—उत्पन्नेव (वित) देवाणा वित्यावानम् ॥ प्रद करोति । स तप्तस एव देवाणो देवायानान् अनुग्रह वर्तो (सुख, शून्य, शून्य, शून्य ?) । प्राणो जान—प्राण इति प्रसिद्ध ।

उदानो नाम यस्तुर्यसुपैति पवनोत्तमः ॥
तेन भायितगीतादिविशेषोऽप्रिभवते ।
उर्ध्वजंशुगतान् रोगान् करोति च वित्येततः ॥

(उदान वायु—) जो पवनधेष्ट वायु ऊपर को गत करती है, वह 'उदान' है ॥१४॥ उदानी से संभावया, य इत्यादि विषेष कियाएं प्रवृत्त होती हैं, और (विहृत ही पर वही वायु) विषेष करने के अव्ययवृत्त (मन, कर्म, मुख, नासा और पित के) दोष व्याप्त वर्ती हैं ॥१५॥

धक्षद्य—उदान का स्थान—उर वायुसुरानस नामान्तर्गत नामश्चेष्ट ॥ (वायुभट) । सामपकाशयधर: समानो धदिसङ्गतः । सोऽन्नं पवति तदांश विशेषान्वित्यविनक्ति दि ॥१६॥ गूलमस्तिसादानीसारप्रभूतीय तुरुते गदान ।

सोर्ग से नमस्कृत यह वायु सब जीवों को चैतन्य देने वाला
 (सर्वांगा) है ॥४५॥ (स्थावरजग्माभ्यक्त) भूतों की
 उपतिः, इयति और विनाश का कारण है, (स्वय) अद्वय
 है (परतु) उमके कार्य प्रकट होते हैं, स्वा, शीत, लघु और
 घर है ॥४६॥ सर्व शरीर में घूमने वाला है, (शब्द और स्वर्ण
 एते) दो गुण युक्त है; (विग्रहाभ्यक्त होने पर भी) रवीणुष
 प्रधान है, अचिन्त्यगति है, दोषों का प्रश्न करने वाला है,
 रोगों के (कारण) समूह में आय है ॥४७॥ शीघ्र कार्य करने
 वाला है, सर्व गतिमान् है, और (विशेषता) प्रकाशय
 तथा गुदा में उसका स्थान है।

यत्तद्य—बन्धक—अवयत सूक्ष्म हाने के कारण अव्यक्त,
अप्रतीय या अद्यरम्भिति । तिर्यग—ज्ञानाद्योनितियाः ।
दिगुण—स्वर्ण शब्द युग्म सदाप्राप्तानि सं बाहुगुणादप
गिनिताथा । शब्द स्वरात्मक हृषि च रसी गृष्टक तद्युग्मा ॥ तेषामेक
युग्म पूर्वे युग्माद्युषि परे परे । पूर्वे पूरुषुगुणाद्युषि सूक्ष्म ।
(धरक, या ?) । दोषाणां नामा—दोष धारा और भलों का
भेरक—पित यह कां पहुं परसी मटडारात । बाहुना वन जीवने
तत वचने पेषण ॥ (शार्हिपर) । रीगमनूदराद—हीरों के
वाराणी में सर्वेषु—विमुखादास्याकारित्वाद्विवर्वदवैवनाम् ।
राजन्याद्युद्योगाद्युरोक्ताणां प्रदर्शनिति ॥ (वाभट) ।
शरणात्मा संहेत्रात्मक दीर्घा मनोन्तरविवरकात्मक । ये संनि ते ?
प तु पर्याप्त्यो वायो पर जमनि हेतुति । (धरक मिदि, ?) ।
भासुर दी—शीघ्र विहार करने वाली, शीघ्र विनाश करने
वाली, या शारात्मक व्यस्था के (lepto) विहार उत्पन्न करने
वाली । मुदुर्धरी—माहनिक अवस्था में भी संरीढ़ गणियुक्त—
अवस्थाप्राप्तिव्यवस्था आप्य महोनि रिपन । बायु व्यालोनेपिक भीते
हिन्दीपै संसार ग्राम ॥ (धरक) ।

देहे पिचरतस्तम् लक्षणानि नियोध मे ॥८॥
दोषधात्रयसमतां संप्राप्ति विषयेषु च ।
प्रियालाभाद्रोग्य च करोत्प्रसिद्धे ॥

पियाणामानुलोभ्य च करोत्युपितोऽनिल ॥४॥

इह में विवरने वाली उम वायु के लक्षण गुण से समझ सो। ॥५॥ अविहृत वायु दोष, पानुओं और शराबि की समस्ता (गटदाहि इन्द्रियों के) विरयों में (समग्रक हित्रिया का) अभियंत्रित हथा (पच कोन्द्रियों की वज्रादि) कियाजाएँ में ईंट टीक मृत्यु करती है ॥५॥

यथार्थसि पञ्चानि प्रत्यक्षानां तत्त्वम् ।

विद्युत विद्युति विद्या विद्यान् विद्यमये ॥१०॥

निर्दाशनात्मक संस्थानों द्वारा जन-मन्दिरों की संख्या १००

प्रादुर्भाव समान्य एवाधारन एवं ये । १८
समान्य एवं ये अस्तित्व वर्णित ॥ ॥ ॥

(वायु के पांच भेद—) जैसे नाम
के कारण (मरणप्रश्न अध्याय में) सित एवं
विमल हुआ है, उसी भाँति पृथक ही वायु नामः
और रोगा के कारण पांच प्रकार में विमल हुए
मारण, उदान, समान, ल्यान और अपन एवं
(साम्यावस्था में किंवा अपने शिरोप स्थान में
पांच वायु जीवों (के शरीरों) को धारण करती हैं
वायुयों घटकसंचारी स प्राणो नाम देह
सोऽधं प्रवेश्यत्वन्त प्राणाश्चाप्यवलम्
प्रायश कुरुते दुष्टो द्विष्ठाभ्यासादिकाद ग
(प्राणवायु—) जो सुख में सचार करती है व
नाम से प्रसिद्ध इह धारण करने वाली वायु है वही
अज्ञ को (महायोगे के) भीतर प्रविष्ट करती है, वह
को अवकलन करती है ॥१२॥ (तथा) विहृत हो
द्विष्ठी, आप हृष्टादि रोग उत्पन्न करती है।

यस्तद्य—वज्रवचारी—वज्रवर्ग दिवमध्ये कृष्ण
मूर्खं कल्पनामिकाऽपि प्रणत्य स्थानम् । (८८)
प्राणो मूर्खं वैतित कण्ठोरथः । (अहोगमपदः)
माणगनिति माणः प्राणवर्तीति वा माणः । प्रसादोऽप्युप-
कार्यं जीवनं क्षेत्रे नितान्तं आवश्यक है और इस
के साथ हम वायु का घटनिष्ठ संवर्धन होने के कारण
'माण' वायु कहते हैं—तब प्रणो मूर्खं वैतित कण्ठोरथे
दिव्यहृदयम् अमीत्याग्निकृष्टमन्तर्याहृदयवैतित कृष्टमन्तर्य-
य ॥ (अहोगमपदः) । नभित्य प्राणवर्ग रायुः इक्षुक-
काण्डहृदयवैतिति पुरुषिष्यामृतम् एव वायुवैति-
रायनी वेगः । मीणय रेतमिति वैवज्ञातरनन्तः ॥ (शास्त्रीय-
प्राणान्—उदासादि योग वायुओं को—भाग्योग्यानो भवनम्
समाजेऽन्त इवेत्यन्तम् माण इति ॥ (वैद्यरायवैतिति)
पित और कक्ष के अनुसार प्राणवायु योग वायुओं को
उपयन करती है—उत्पन्नम् (पित) योगाना दिवमध्ये कृष्ण
यद बगानि । स वायुष्य एव योगाना दिवमध्ये कृष्ण
(युवान् शून् ५) । माणो नय—प्रण हसि माणः ।
उदासो शून्

गाम यस्त्रूप्यमुर्पति पद्यनोक्तम् ॥
भाषितात्तिविभिलेपे विन्देते ।

तातारादिविषयोऽमिग्रर्थते ।
उपर्युक्तानन् रोगान् करोति च विषेशतः ॥४
(उपर्युक्त—) जो प्रदूषण वायु वर्ष की गति
ही है, वह 'वायु' है ॥३३ वर्णी से संभास्यत
रारी विनोद कियाहै व्यष्ट हो रही है, और (विषा ३३)
वही वायु (वायु) विषय करक उपर्युक्तान
नामा और गिराके ॥

पात्र—गान्धी जी का विचार

१०४ गुणवत्ता: शास्त्रो विदिताहतः ।

(समानवायु—) आमाशय और पंचाशय में विचरने वाली 'समान' नामक वायु जड़ाग्नि की सहायता कर अद्य को पचती है; और यज्ञपरिपाकजन्य पदार्थविदोगों को (रस, दोष, मूत्र, हत्यादि में) पुथक करती है ॥१५॥ (और विकृत होने पर) गुल्म, मंदाग्नि, अतीसार प्रभृति रोगों को उत्पन्न करती है ।

शृत्क्षदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ॥१६॥
स्वेदासृक्षावग्नश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्पि ।
कुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् ॥१७॥

(व्यानवायु—) समस्त शरीर में विचरने वाली 'व्यान' नामक वायु रस प्रेरणा में प्रवृत्त रहती है ॥१६॥ स्वेद और रक्त का व्यवय करती है तथा (शरीर में) पाँचों प्रकार के कर्म करती है; और विकृत होने पर सर्वदेहश्चित रोगों को उत्पन्न करती है ॥१७॥

वस्त्रव्य—कृत्तिरेत्वरः—व्यानवायु का प्रधान स्थान हृदय है—व्यानो हृदि स्थितः ॥ (वारभट) । परन्तु रससंवहन के कारण वह सर्व शरीर में संचार करने वाली कहलाती है । संसंवहन—रसविहेप । आधुनिक परिभाषा में इसको रक्तपरिभ्रमण (Blood-circulation) कहते हैं । रस कहने का अरण यह है कि आयुर्वेदिक परिभाषा से रक्त 'रंजितरस' ही तो है—रंजितात्मेजसा त्वापः शरीरस्येन देहिनाम् । अव्याप्ताः तदेव रक्तमित्यभिधीयते ॥ (सूत्र, अ. १४) । अस्क्रावणः—शरीर में रक्त का परिभ्रमण हृदय से धमनियों में, धमनियों के शिकाओं में, केशिकाओं से सिराओं में और सिराओं से फैर हृदय में होता है । परन्तु केवल रक्तवाहिनियों में हृस कारण वृत्त परिभ्रमण होने से रक्त के द्वारा शरीर के समस्त धातुओं की वृद्धि नहीं हो सकती । अतः इन रक्तवाहिनियों से रक्त का व्यवय शरीर के समस्त अंगों में होना नेतांत आवश्यक है । रक्तस्वरण का कार्य व्यानवायु कराती है और जिन रक्तवाहिनियों में यह कार्य होता है वे स्त्रीमन्त्र कहलाती हैं—भ्यानद्रमन्यः, च्वाणात् स्त्रीतांसि, सरणात् सिरः ॥ (चरक) । आधुनिक शारीरकार्यविज्ञान के अनुसार भी यह सिद्ध हुआ है कि जब रक्तघोतसों या केशिकाओं (Capillary) में बहता है तो योद्धा सा रस उनकी पतली पतली दीवारों में से छनकर (च्वण) वाहर के धातुओं में डिला करता है, और इसी रस से पौष्टिक पदार्थ ग्रहण कर धातु पुष्ट होते हैं । इसी दृष्टि से आयुर्वेद में लिखा है—स (रसः) तु व्यानेन विक्षिष्टः सर्वान् भावन् प्रत्येत् ॥ (सूत्रस्थान, अ. ४६) (पृष्ठ ८१ देखो) । पञ्चथा—'गत्यपत्तेषोन्त्वपनिमेषेणादिकाः' ॥ (अष्टांगहृदय) । सर्वशरीरग—ज्वरातीसार रक्तपित्तप्रभृतिरोग ।

पक्षाधानालयोऽपानः काले कर्पति चाप्ययम् ।
समीरणः शक्त्वान्मूत्रशुक्रकग्भर्तिवान्यथः ॥१८॥
कुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् चस्तिगुदथ्रयान् ।

(अपानवायु—) अपानवायु पक्षाधान में रहती है; और वही वायु मल, मूत्र, शुक्र, गर्भ और अर्तव को (योग्य) समय पर नीचे की ओर कर्पण करती (निकालती) है

॥१८॥ यही विकृत वायु वस्ति और गुदा के भयंकर रोग उत्पन्न करती है ।

शुक्रदोपप्रमेहास्तु व्यानापानप्रकोपज्ञाः ।

युगपत् कुपिताद्यापि देहं भिन्न्युरसंशयम् ॥१९॥

(मिश्रवायु—) वीर्यविकार और ग्रन्थि व्यान और अपान वायु के कोप से उत्पन्न होते हैं । एक समय कुपित हुई पाँचों वायु निःसंदेह शरीर का नाश कर देती है ॥१९॥ अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नोनास्थान्तराश्रितः ।

बहुशः कुपितो वायुर्चिकारान् कुरुते हि यान् ॥२०॥

अब हृसके आगे नाना स्थानों में स्थित हुई वायु कुपित होने पर प्रायः जिन जिन रोगों को करती है, उनको कहता है ॥२०॥

वायुरामाशये कुद्धद्वच्छर्द्यदीन् कुरुते गदान् ।

मोहं मूर्च्छां पिपासां च हृद्धर्वं पार्श्ववेदनाम् ॥२१॥

पक्षाशयस्थोऽन्धकूजं शूलं नाभौ करोति च ।

कुच्छ्वसूत्रपुरीपत्वमानाहं निकवेदनाम् ॥२२॥

श्रोताद्विप्विन्द्रियवधं कुर्यात् कुद्धः समीरणः ॥२३॥

आमाशय में कुपित हुई वायु मोह (Vertigo चक्कर), मूर्च्छा, तृपा, हृदग्रह (Anginal attacks), पार्श्वपीड़ा, वमन इत्यादि विकारों को करती है ॥२१॥ पक्षाशय स्थित (कुपित हुई वायु) युड्ड्युइ (Borborygmus), नाभि के आस पास शूल (Colic), मल और मूत्र के उत्सर्ग में कष्ट, अफारा और त्रिक्षस्थान में पीड़ा करती है ॥२२॥ कण्ठाद्वि इन्द्रियों में कुपित हुई वायु हृन्दियों का धात करती है ॥२३॥

वस्त्रव्य—आमाशय—पेट तथा उरोविभाग (Thorax) । पक्षाशय—उदर विभाग (Abdomen) । इन्द्रियवध—कर्ण में कुपित होने से श्रुतिनाश, नेत्र में कुपित होने से दृष्टिनाश इत्यादि ।

वैवर्ण्यं स्पुरणं रौक्ष्यं सुसिं चुम्बुमायनम् ।

त्वक्वशो निस्तोदनं कुर्यात् त्वग्सेदं परिपोटनम् ॥२४॥

ब्रणांश्च रक्तगो, ग्रन्थीन् सशूलान् मांससंश्रितः ।

तथा सेदःश्रितः कुर्याद्वन्थ्यन्मन्दरुजोऽव्राणम् ॥२५॥

कुर्यात् सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम् ।

स्त्रायुप्राप्तौ शूलमाज्जेपणं तथा ॥२६॥

हृन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलशोफो करोति च ।

अस्थिशोषं च भेदं च कुर्याच्छूलं च तच्छ्रितः ॥२७॥

तथा मज्जगते रुक्षं च न कदाचित् प्रशास्यति ।

अग्रवृत्तिः ग्रवृत्तिर्वा विकृतिः शुकरोऽनिले ॥२८॥

(धातुगतलक्षण—) त्वचा में कुपित हुई वायु (त्वचा का) वर्ण विग्राह देती है, कड़काव (Twitching) पैदा करती है, रुक्षता, स्पर्शज्ञान (Numbness), चुम्बुमाट (Tingling), तीव्र पीड़ा, तथा छोटे और बड़े दरार उत्पन्न करती है ॥२४॥ रक्त में कुपित हुई वायु व्यण उत्पन्न करती है ॥२५॥

समाप्त चेदं सूत्रस्थानम्

श्रीः ।

सुश्रुतसंहिता ।

निदानस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो वातव्याधिनिदानं व्याख्यास्यामः ।
गोवान् भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से वातव्याधिनिदान का व्याख्यान करते हैं, कि भगवान् धन्वन्तरि ने वर्णन किया ॥१॥

वक्तव्य—वातव्याधि—केवल वात से उत्पन्न होने वाले—वातजनितोऽसाधारणव्याधिवित्वायः । (मधुकोश एवा) । वात के अनुसार पित्त और कफ के भी ऐसे अर्थ रोग होते हैं । चरक वात के अस्ती, पित्त के चालीस कफ के बीस रोग वर्णन कर हनको 'नानात्मज' कहते हैं—विकारः सामान्यजा नानात्मजाश्च; तत्र सामान्यजाः पूर्वमध्यादर्शये इयातः । नानात्मजास्तिव्याधयेऽनुव्याख्यास्यामः । तद्यथा—प्रतिविकाराः; चत्वारिंशप्रतिविकाराः; विशितः षेष्विकाराः । व्याख्यान, आ. २०) । निदान—रोगविज्ञान का हेत्वादि विधि निदान ।

धन्वन्तरिं धर्मस्तुतां वरिष्ठमसृतोऽव्याधिम् ।

मरणाद्युपसंगृह्य सुश्रुतः परिपृच्छति ॥२॥

गोयोः प्रदृष्टिभूतस्य व्यापन्नस्य च कोपनैः ।

आनं कर्म च रोगांश्च वैद मे वदतां वर ! ॥३॥

धार्मिकों में श्रेष्ठ, असृतोऽपत्ति के साथ उत्पन्न हुए धन्वन्तरि (भगवान्) से (मर्हिं) सुश्रुत दोनों चरण इकल छूँठने लगे ॥२॥ हे व्याख्याताओं में श्रेष्ठ भगवन् ! हन और प्रकोपक कारणों से विकृत वायु के स्थान, कर्म र रोग में प्रति वर्णन कीजियेगा ॥३॥

वक्तव्य—असृतोऽव्याधिम्—थमृतेन सह उक्त उत्पत्तिर्यन्त्य तम् । उद्दिमंथन का समय असृतनुमस्त्र द्वायों में लेकर जिसकी पति हुई है ऐसे धन्वन्तरि भगवान् से—मन्यान मन्दर द्वाया । दृश्या च वामुकिम् । तो मधितुमारथा नवेय नरसृतभृ ॥....॥ धन्वन्तरिंवः शेषान्वरयः स्वयम् । विश्रव कमण्डुं पूर्णमगृह्यन् विषाः ॥ (विष्णुपुराण, प्रथमांश, अ० ९) । उमी समय

भगवान् विष्णु ने धन्वन्तरि को वर दिया था कि तुम पुरिवी पर काशिराज के गोत्र में अवतीर्ण होकर अष्टांग आयुर्वेद उत्पन्न करोगे—धन्वन्तरिस्तु दीर्घतमसोऽभूत । भगवता नारायणेन च अतीतसंभूतावस्थै वरी दत्तः । काशिराजगोत्रेऽवतीर्ण त्वमष्ट्या सम्यग्गायुर्वेद करिष्यसि, यशभाग् भविष्यसीति ॥ (विष्णुपुराण, चतुर्थोऽश्वा, अ. ८) । कोपन—प्रकोपक कारण, यथा समान गुण, कर्म और द्रव्य । वायु के प्रकोपक कारणों का विचार सूत्रस्थान के व्याप्रश्न नामक २१५ अध्याय के 'तत्र वलवह्निग्रहात्वायाम' इस सूत्र में पृष्ठ १३५ पर किया गया है । स्थान कर्म च रोगांश्च—साधारण और भेद के अनुसार विशेष स्थान, कर्म तथा वातविशेष रोग । व्याप्रश्न अध्याय में पित्त और कफ के साधारण तथा भेद के अनुसार विशेष कर्म और स्थान वर्णन किये गये हैं, परंतु रोगों का वर्णन कर्ही भी नहीं मिलता । आयुर्वेदिक ग्रंथों में विजयरक्षित केवल वात रोगों के वर्णन करने का कारण मधुकोशव्याध्या में देते हैं—एवं व्यवस्थिते वातव्याधिवत् पित्कामव्याधी कस्माक्तोऽ ? उच्यते—वायोरतिवलवेनाद्युकारित्वेन च गरीयस्त्वात्तद्विकाराणां दुःसाध्यत्वाद्येवात्यकरत्वाद्विशिष्टचिकित्सात्वाद्वातव्याधिभिधानं, ननु कास्त्विक्याधिभिधानम् । अत एव चरकसुश्रुतादिविष्णि वातरोगाध्याय एव निर्दिष्टे ननु पित्कामरोगाध्यायः ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रात्रवीद्धिपजां वरः ।

स्वर्यमूरेप भगवान् वायुरित्यभिशब्दितः ॥४॥

खातन्त्र्याच्चित्यभावाच्च सर्वगत्वात्तथैव च ।

सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोकनमस्तुतः ॥५॥

स्थित्यत्यप्तित्विनाशेषु भूतानामेव, कारणम् ।

अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूद्धः शीतो लघुः खरः ॥६॥

तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोवहुल एव च ।

अचिन्त्यवीर्यो दोपाणां नेता रोगसमूहराद् ॥७॥

आयुक्तारी सुश्रुतारी पक्षाध्यानगुदालयः ।

(चाषु का स्वरूप—) इस प्रकार सुश्रुत का नन्दन सुन दर दृद्धिष्ठ धन्वन्तरि दोनों कि स्वतन्त्र, नितय और सर्वगती होने से गृह यज्ञाशाल वायु चुम्पय दृद्धिष्ठ दृद्धिष्ठ

सोंगों से नमरहा यह पायु मय जीवों की जीवन्य होने वाला (सर्वात्मा) है ॥४५॥ (स्थावरत्रजागामाध्यक) भूमि की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारण है, (स्थ) अदृश्य है (पातु) उसके कार्य प्रकट होते हैं, चतु, चतु, मतु और मर है ॥४६॥ सबै गरीबों में पूमने वाला है, (शब्द और शरण पेतो) दो युग युक्त है; (विगुणाध्यक होने वार भी) इत्योगुण-प्रयाण है; अचिन्यविगति है, दोनों का वेरण करने वाला है, दोनों के (कारण) समृद्ध में आता है ॥४७॥ भीष्म वार्य करने वाला है; स्त्रैव गतिमान् है; और (विशेषता) पक्षाग्रय तथा गुरु भूमि में उसका व्याप्त है।

धनदय—भवत्तु—अग्रयन सूदम होने के कारण अथवा, अमृत या भास्त्रमूर्ति । निर्यात—उत्तर्विनिर्यात । दिगुण—स्वर्ण वस्त्र युग्म मुक्त-भास्त्रानि स वा कामुदित्प विनिमया । इन्द्र वस्त्रात् स्व वा त्वं गवयत् तद्युपा ॥ तेषमर्थ युग्म पूर्वे द्विषुक्ति रो परे । पूर्वे पूर्वुद्युक्ते वस्त्रो युग्मि युग्म । (चरक, ग्रा १) । दोषाणां नवा—द्वौष धातु और सभों का प्रेरक—पूर्व पूर्व कहा पूर्व पूर्वो मत्तवत् । बायुना वृत्त नीचने तन वस्त्रि नेपत्र ॥ (शार्कर) । रोगमन्दूदाद—दोनों के कारणों में सर्वद्वय—विमुख-सुकृतिस्त्रिविद्वास्यदेवन् । सात्त्वन्द्वादद्वौद्युग्म-दोनों प्रदलोऽनिल ॥ (वामट) । इत्यग्रग्र योग्यानाथ रोग मन्द-वैर्यवदवाहकानाथ । से हनि हेतो न तु कविद्यो बदो या अन्मनि हेतुरुक्ति । (चरक, सिद्धि, १) । अद्युक्त यो—नीघ्र विकार करने वाली, गीर्य विनाश करने वाली, या दाहण व्याघ्र के (leute) विकार उत्पत्त वरने वाली । मुद्रधरी—प्राणिनिक अवस्था में भी संदैव गतितुक्त—कल्पाहाङ्गनिवाय स्वामय ग्रहणी रित । वायु व्यालोऽधिक जीवे द्वारा लगा रितम् ॥ (चरक) ।

देहे विचरतस्तस्य लक्षणानि निवोध मे ॥८॥ दोषधात्वविज्ञिसमर्ना संग्रासि विषयेषु च ।

वियापामायुलोभ्य च करोत्यकुपितोऽनिलः ॥९॥

देह में विचरने वाली उम वायु के लक्षण मुक्त मे समझ ला ॥१०॥ भवित्व वायु दोनों भास्त्रों और जडात्मि की समस्ता, (शब्दादि इन्द्रियों के) विषयों में (समनस्त इन्द्रियों का) अभिनवय तथा (वच कर्मेन्द्रियों की वच नादि) क्रियाओं में एक ठीक प्रवृत्ति करती है ॥११॥

धनदय—चरकसंहिता के वातव्याकलीय अथवा (सू. १२) में शरीरवर भवित्व वायु के कलों का मुन्द्र विवरण किया गया है—वायुल वयन्पर, प्रवर्तकेशानामुख्या दद्वाना, विन्यना प्रणोद च मनम, भोवित्यायामुखोव, सर्वेन्द्रियामभिवैद्य, मर्दवरीत्यायुव्यूहकर, सधानकर इरीरत्व, प्रवर्तने वाच, प्रहृति शद्वर्षसी, भोवित्यामयोर्मुद, हृत्याहोदोनि, चर्मगोद्य, दोषवायव, जेता वद्विमलाना, शूल युतोन्तो भत्ता, कर्व गम्भीरानाम, भुत्तोऽनुष्टुप्तियामयभूतो भवत्यकुपित ॥

यथाऽऽग्निः पञ्चधा भिन्नो नामस्थानामकर्मभिः ।

भिन्नोऽनिलस्तथा हेको नामस्थानकियामयैः ॥१०॥

प्राणोदानौ समानव्य व्याग्रनव्यापान व्यय च ।

स्थानस्था मारना पञ्च यापयन्ति शारीरिण्यम् ॥११॥

(वायु के पौच भेद—) तीने नाम, व्याव और किंव ने पारण (पश्यत्रम अन्याम मे) तिल पौच प्रकार विभक्त हुआ है, उमी भास्ति एक ही वायु नाम, स्पान, नि और रोगों के काल पौच प्रकार से विभक्त हुआ है ॥१॥ प्राय, उदान, समान, स्पान और अपान एवी रथान (सामयिक्यमा मे विवा अपो विषेष स्पान मे मिल हुई पौच वायु जीवों (के गरीबों) को धारण करती है ॥१॥

वायुयों वक्षसंचारा स प्राणो नाम देवदृष्ट । सोऽन्ये प्रवेशायत्यन्तः प्राणोऽग्न्यात्ययलयन्तः ॥ प्रायश एुग्ने दुष्टो द्विक्षाव्यासाद्विकान् गदान् ।

(प्राणायायु—) जो भुमि मे रंगार करती है, वह 'प्रा नाम मे प्रसिद्ध इह धारण करने वाली वायु है, वही प्रावृत वायु को (महायोगते ने) भीतर प्रवित करती है, और प्रा को अवरबन करती है ॥१२॥ (तथा) विकृत हो जाने पैदिष्ठी, खाम इयादि रोग उपचर करती है ।

धनदय—वद्वयवार्ता—वद्वयवार्ता रित्यमर्द्देष्यत्वान्, ते मूर्ख वद्वयनिहार्ति विप्राय व्यानम् । (दद्वय) । १ प्राणो मूर्खवयवित्त वद्वयेत्य । (अर्णगमयद) । प्रप्राणगमनिर्मि प्रा॒, प्रणवरीनि वा प्राण । प्रथामीकृत्यात् २ कर्यं वीवन के विषये निवाना आवश्यक है और इस के बे साध इस वायु का धनिष्ठ संबद्ध होने के कारण इस 'प्राय' वायु कहत है—एव प्राणो मूर्खवयवित्त वद्वयेत्य ३ द्विद्वयद्वयमनेवमनीधारणीवद्वयव्यूहद्वयप्रथायेष्वद्वयवित्त वद्वय ॥ (अर्णगमयद) । नाभिष्य प्राणवयवत् स्वद्वय इक्षवक्तनतये वद्वयवित्तिविनोनि पातु विशुद्धायत्वम् ॥ शीता चावरदीप्यु उन रथति वेगन । श्रीगवद्वयवित्त जीवयज्ञठानगलम् ॥ (शार्कर) प्राणम्—उदानादि योग वायुओं को—भाणोजानो व्याव व्याव ममानोइत्त हत्येत्वर्च प्राण इति ॥ (वद्वयवयकोनिदर) वित और काल के अनुसार प्राणवायु योग वायुओं को अव लक्षण करती है—नवत्रये वित्त सेवाणा वित्तसानाम् वद्वय इह करती है । स तत्र एव योगाणा फैप्यानानां अनुप्राप करेति । (सुषुप्त, स्वर २१) । प्राणी नाम—प्राण इति प्रिनिद ।

'उदानो नाम यस्त्वूर्खसैपति पवनोसमः ॥१३॥ तेन भापितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते ।

ऊर्ध्वजुगताम् रोगान् करोति च विशेषतः ॥१४॥ (उदान वायु—) जो पवनधेषु वायु अपर को वायन धरती है, वह 'उदान' है ॥१३॥ उसी से समाप्त्य, गाव इत्यादि विषेष कियाहैं प्रवृत होती हैं, और (विकृत होने पर वही वायु) विषेष करके ऊर्ध्वजुगत (नयन, कर्ण, सुख, नामा और पिति के) रोग उत्पन्न करती है ॥१४॥

धनदय—उदान का स्थान—उदानसुरानप्य नामाननि गांधेत्वा (वामट) ।

आमपकाशयचरः समानो वद्विसङ्गतः । सोऽन्ये पवति तजांश्च विषेषान्विविनकि हि ॥१५॥ गुलामिसादतीसारायभूतीन् कुहते गदान् ।

(समानवायु—) आमाशय और पंक्ताशय में विचरने वो 'समान' नामक वायु जठराद्वि की सहायता कर अच्छ पचाती है; और अन्नप्रियाकरण्य पदार्थविशेषों को (रस, मूत्र इत्यादि में) पृथक करती है ॥१५॥ (और विकृत पर) गुल्म, मंदाद्वि, अतीसार प्रभृति रोगों को ल करती है ।

स्वादेहचरो व्यानो रससंबहनोद्यतः ॥१६॥
दासृक्षसावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्पि ।

दृश्य कुरुते रोगान् ग्रायशः सर्वदेहगान् ॥१७॥

(व्यानवायु—) समस्त शरीर में विचरने वाली 'व्यान' मक वायु रस प्रेरण में प्रवृत्त रहती है ॥१६॥ स्वेद और वाक्य स्वयं करती है तथा (शरीर में) पाँचों प्रकार के में करती है; और विकृत होने पर सर्वदेहश्रित रोगों को यन्म करती है ॥१७॥

वस्त्रद्वय—कुरुदेहचरः—व्यानवायु का ग्रायन स्थान दय है—व्यानो हृदि स्थितः ॥ (वामभट) । परन्तु रससंबहन कारण वह सर्व शरीर में संचार करने वाली कहलाती है । उक्षस्वयन—रसविक्षेप । आधुनिक परिभाषा में इसको रक्तपरिमण (Blood-circulation) कहते हैं । रस कहने का गरण यह है कि शायुवैदिक परिभाषा से रक्त 'रंजितरस' ही होता है—रंजितासेजसा त्वापः शरीरस्येन देहिनाम् । अव्यापत्ताः सिद्धेन रक्तमित्यभिपते ॥ (सूत्र, अ. १४) । असूक्षमावणः—शरीर में रक्त का परिभ्रमण हृदय से धमनियों में, धमनियों से केशिकाओं में, केशिकाओं से सिराओं में और सिराओं से फिर हृदय में होता है । परन्तु केवल रक्तवाहिनियों में इस प्रकार चक्रवृत् परिभ्रमण होने से रक्त के द्वारा शरीर के समस्त धातुओं की वृद्धि नहीं हो सकती । अतः इन रक्तवाहिनियों से रक्त का स्वयं शरीर के समस्त धातुओं में होना नितान्त आवश्यक है । रक्तस्वयं का कार्य व्यानवायु कराती है और जिन रक्तवाहिनियों में यह कार्य होता है वे स्रोतस्य कहलाती हैं—आनाद्रमन्यः, त्र्वणात् स्रोतांसि, सरणात् स्त्रिः ॥ (चरक) । आधुनिक शारीरकार्यविज्ञान के अनुसार भी यह सिद्ध हुआ है कि जब रक्तस्रोतसों या केशिकाओं (Capillary) में बहता है तो थोड़ा सा रस उनकी पतली दीवारों में से छनकर (स्ववण) बाहर के धातुओं में मिला करता है, और इसी रस से पौष्टिक पदार्थ ग्रहण कर धातु पुष्ट होते हैं । हसी इष्टि से आयुर्वेद में लिखा है—स (रसः) तु व्यानेन विक्षितः सर्वान् धातून् प्रतिषेवत् ॥ (सूत्रस्थान, अ. ४६) (पृष्ठ ८१ देखो) । पद्धता—'गत्यपत्तेषाण्त्वेपनिमेषोन्मेषणादिकाः ॥ (अष्टांगहृदय) । सर्वशरीरग—ज्वरातीसार रक्तपित्तप्रभृतिरोग ।

पक्षाधानालयोऽपानः काले कर्यति व्याप्ययम् ।

समीरणः शाङ्खमूत्रशुक्रगर्भर्तिवान्यधः ॥१८॥

कुरुद्वय कुरुते रोगान् घोरान् वस्तिगुदाश्रयान् ।

(अपानवायु—) अपानवायु पक्षाधान में रहती है; और वही वायु मल, मूत्र, शुक्र, गर्भ और आर्तव को (योग्य) समय पर नीचे की ओर कर्पण करती (निकालती) है

॥१९॥ यही विकृत वायु वस्ति और शुदा के भयंकर रोग उत्पन्न करती है ।

शुक्रदोपप्रमेहास्तु व्यानापानप्रकोपज्ञाः ।

युगपत् कुपिताश्चापि देहं भिन्नुरसंशयम् ॥२०॥

(मिश्रवायु—) वीर्यविकार और प्रसेह व्यान और अपान वायु के कोप से उत्पन्न होते हैं । पृक समय कुपित हुई पाँचों वायु निःसंदेह गरीर का नाश कर देती हैं ॥२१॥ अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नौनास्थानान्तराश्रितः ।

वहुशः कुपितो वायुविकारान् कुरुते हि यान् ॥२२॥

अब इसके ध्यागे ताजा स्थानों में स्थित हुई वायु कुपित होने पर प्रायः जिन जिन रोगों को करती है, उनको कहता हूँ ॥२०॥

वायुरामाशये कुरुद्वयर्दीन् कुरुते गदान् ।

मोहं मूल्ड्यो पिपासां च हृद्रहं पार्श्ववेदनाम् ॥२१॥

पक्षाधायस्योऽचाकूजं शूलं नाभौ करोति च ।

कुच्छ्वामूत्रपुरीपत्वमानाहं चिकवेदनाम् ॥२२॥

श्रोत्रादिप्चिन्द्रियवर्धं कुर्यात् कुद्धः समीरणः ॥२३॥

आमाशय में कुपित हुई वायु सोह (Vertigo चक्षर), मूर्छा, तृप्ति, हृदयह (Anginal attacks), पार्श्वपीड़ा, वमन हृत्यादि विकारों को करती है ॥२१॥ पक्षाधाय स्थित (कुपित हुई वायु) गुड्हगुड़ (Borborygmus), नाभि के आस पास शूल (Colic), मल और मूत्र के उत्सर्ग में कष्ट, अफारा और चिक्कस्थान में पीड़ा करती है ॥२२॥ कण्ठादि इन्द्रियों में कुपित हुई वायु इन्द्रियों का धात करती है ॥२३॥

चक्रत्रय—आमाशय—पेट तथा उरीविभाग (Thorax) । पक्षाधाय—उट्टर विभाग (Abdomen) । इन्द्रियवर्धं—कण्ठ में कुपित होने से श्रुतिनाश, नेत्र में कुपित होने से दृष्टिनाश हृत्यादि ।

वैद्यर्ण्यं स्फुरणं रौक्ष्यं सुसिं चुसुचुमायनम् ।

त्वच्छ्वसो निस्तोदनं कुर्यात् त्वच्येद् परिपोटनम् ॥२४॥

ब्रणांश्च रक्तगो, ग्रन्थीन् सञ्चूलान् मांससर्संश्रितः ।

तथा सेदःश्रितः कुर्याद्वन्थीन्मन्दरुजोऽव्रणान् ॥२५॥

कुर्यात् सिरागातः शूलं सिराकुञ्जलपूरणम् ।

स्नायुप्राप्तः स्त्र्यभक्षणो शूलमाद्येपणं तथा ॥२६॥

हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलशोफौ करोति च ।

अस्थिशोपं च भेदं च कुर्याच्छूलं च तच्छ्रूतः ॥२७॥

तथा मज्जागते रुक्षं च न कदाचित् प्रशास्यति ।

अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिर्वि विकृतिः शुक्रगोऽनिले ॥२८॥

(धातुगतलक्षण—) त्वचा में कुपित हुई वायु (त्वचा का) वर्ण विग्राह देती है, फड़काव (Twitching) पैदा करती है, रुक्षता, स्पर्शज्ञान (Numbness), तुम्हसाट (Tingling), तीव्र पीड़ा, तथा छोट और नड़े दरर उत्पन्न करती है ॥२६॥ रक्त में कुपित हुई वायु व्या उत्पन्न करती

१। मांससित उपित वायु ग्रन्थिक गोड़ उत्पन्न करती है। मेंद रिपित कुपित वायु अव्याहारिक वायु, भयविरहित गोड़ उत्पन्न करती है ॥२५॥ सिराओं में कुपित हुई वायु सिराश्ल, सिराकुटिला (Varicosity of Veins) और मिराविस्कृति (Phlebectasis) उत्पन्न करती है। वायु में कुपित हुई वायु अव्याहार, कय, शूल और आहोप (Sprains) उत्पन्न करती है ॥२६॥ संविधों में कुपित हुई वायु संविधों का नाम करती है और संविधों में शूल तथा सूजन उत्पन्न करती है। हड्डियों में कुपित हुई वायु हड्डियों का गोप (Osteoporosis), भेद (भुरसुरापन Fragility) तथा अस्पिश्यूल (Ostalgia) उत्पन्न करती है ॥२७॥ मना में कुपित हुई वायु सदा सर्वदा बीड़ा होती है और मना का गोप करती है। शुक्र में कुपित हुई वायु (खींसग के समय) वीर्य को विलक्षण रोकती है, या वीर्य का (अश्विधिक) व्याप करती है या (नाना प्रकार के वीर्य के) विकार उत्पन्न करती है ॥२८॥

**द्रष्टव्यादशिरोधार्दुस्तथा संचरनि कमात् ।
द्यामुयादाऽखिलं देहं वायुः सर्वंगतो नृणाम् ॥२९॥**
स्तम्भनादोपलग्नापशोकश्लानि सर्वाः ।

(सर्वगीरिगत वायु)—मनुष्यों के सारे शरीर में कुपित हुई वायु हाथ, पांव, सिर तथा (रसादि) जातुओं में सचार करती है, अथवा सारे शरीर में व्याप्त होती है ॥२९॥ ऐसी सर्व शरीर में व्याप हुई कुपित वायु जकड़न (Stiffness) आहोप (Convolusions) स्पर्शशता, शूजन और शूल करती है।

स्थानेपूकेषु संमिथः संमिथाः कुरते रुद्धः ॥३०॥
कुर्यादवयवप्राप्तो भासतस्त्वयनि तान् गदान् ।

पूर्णक (आमागवादि) स्थानों में पित्तादि से संगत हुई कुपित वायु (पित्तादि के लक्षणों से उक) संमिथ स्वरूप की व्याधियाँ उत्पन्न करती है ॥३०॥ और (भिन्न भिन्न) व्याधियों में प्राप हुई वायु उन व्याधियों के अनुभाव (तान् अभि) (भिन्न भिन्न प्रकार की) व्याधियाँ उत्पन्न करती है।

**दाहसन्तापमूर्च्छाः स्वर्यायौ पित्तसमन्विते ।
शैत्यशोफगुस्तव्यानि तसिंधेव कफावृते ॥३१॥**

**सूचीभित्तिव निस्तोदः स्पर्शद्वेषः प्रसुपता ।
शेषाः पित्तविकाराः स्युमर्कते शोणितान्विते ॥३२॥**

**प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहथ्यैवोपजायते ।
दैर्घ्यल्यं सदनं तन्द्रा धैवण्यं च कफावृते ॥३३॥**

**उदने पित्तसंयुक्ते मूर्च्छादाघमङ्गमा ।
अस्वेदद्वयी भन्दोऽस्मिः शीतस्तम्भी कफावृते ॥३४॥**

**समाने पित्तसंयुक्ते स्वेददाहोप्यथगूर्च्छन्म् ।
कफाधिकं च विमूर्खं रोमहर्षः कफावृते ॥३५॥**

**आपाने पित्तसंयुक्ते दाहोप्ये स्वाददुर्ग्रहः ।
अध कायगुहर्वयं च तसिंधेव कफावृते ॥३६॥**

द्याने पित्तावृते दाहो गाम्रविद्योपणं रुद्धः ।

गुरुणि सर्वगांत्राणि स्तम्भनं चास्थिपरेणाम् ।
लिङ्गं कफावृते व्याने देष्टा स्तम्भस्तथैव च ॥

(सावरण वायुं न इन्द्रज)—वायु वित्त से मिली तो दाह, संताप (Pyrexia) और गूच्छ (इत्यादि दोषविशिष्ट विकार) उत्पन्न होते हैं। और वही कफ मिली हो तो जीवना, सूजन और भारीपन (इत्यादि कफ विशिष्ट विकार) उत्पन्न होते हैं ॥३३॥ वायु के रक्त के रित्तने से सुई खुभों की भी पीड़ा, रक्षण सहन न वं (Hyperesthesia), गरीका सुष्ठु पड़ना (Anesthesia), और विष के देश विकार उत्पन्न होते हैं ॥३४॥ प्राणवायु वित्त से संयुक्त होने पर वर्मन और दाह उत्पन्न होते हैं; उक्त से संयुक्त होने पर कमज़ोरी, मृदन (Asthenia), रक्त और लवा की विर्वाता उत्पन्न होती है ॥३५॥ उदानवायु वित्तसंयुक्त होने से मूर्च्छा, दाह, ग्रम और हृल में विष होते हैं। और कफसंयुक्त होने से पर्णीना न आता, वर पर रोगें खड़े होना (रोमर्हष), मन्दाप्ति, शैव औ अकड़ार ये विकार होते हैं ॥३६॥ समानवायु वित्तसंयुक्त होने से पर्सीना आना, दाह, संताप और मूर्च्छा ये विक होते हैं, और कफसंयुक्त होने से मल मूत्र में स्लेष्म (Mucus वायुस्य और रोमर्हष ये विकार होते हैं ॥३७॥ अपानवायु पित्तसंयुक्त होने से दाह, संताप और (लिंगों में) रक्त प्रद होता है, और कफसंयुक्त होने से शरीर के निचले भूंगे भारीपन आता है ॥३८॥ व्यान पित्तावृत होने से दाह, और में विक्षेप और अनायास थकावट ये विकार होते हैं; और कफसंयुक्त होने से सब व्यापों में भारीपन, अस्विधों के जोड़ में घटकाड़, तथा (इच्छानुसार) कार्य करने की वसर्पन (वेषात्मन) ये व्याप होते हैं ॥३९॥

धर्तदय—वायु का वित्तादि के साथ जो संबंध होते हैं, उसे 'आवरण' कहते हैं। ये आवरण वाइस्ट हैं—इति द्वादि गतिविष वायोरावण विदुः । (अष्टागममह) । एव द्वाद्य दीपाभ्या रसादिभि वषभिर्युग्मि, बलेन, मूर्त्येण, विशा सर्वावृत्ति, मुन श्राणदिवस्कात्य विनेन, तदृक् केनेन, इति द्वाविनानिषिद्ध वायोरावणमुक्तम् । (इन्द्रु) । इनमें से भी आवरणों का व्यापन सुधुम में नहीं है, जो अष्टागममह से दिया जाता है—मासेन कठिन शोषा विवर्णं पित्तावरणा । इवं पित्तिकाना च सचार इव नायते ॥ चल लिखो मुदु शीत शोषो गावेचरोचक । आवरणत इनि हेतु सकृद्धौ भेदमानने ॥ सर्वामस्वावृतेऽप्युच्च विनम चामिनन्दनि । सप्तवृत्तुयोद्वलवर्णन्द सीदिन शूलये ॥ ममा इनि विनम वृत्तम एवित्तनम् । शुल च लीकानाने च पापिन्द्री लभते सुपन् ॥ शुक्रावृतेऽनिवेदा वा च वा निकलतापि वा । मुक्ते कुर्वी कृषीणै शाम्यत्वावृतेऽनिवेदे ॥ मूर्च्छामृतिरामान वर्लेष्वावृते भवेत् ॥ विद्यावृते विद्योऽवृते च रुद्धे परिकृतानि । ब्रह्मवायु जरा स्वेदो कुर्वी चाननदेते नर । शुक्र लीकितमनेत दुष्ट शुक्र विराम संनेत् ॥ स्वेदवायुवृते वायो भोगिवद्विष्टवृक्षरूप । विलोमी मालोऽस्वाद्य दृष्ट वृत्तेऽनिवेदी च ॥ (विद्वान्, ११) । भृत्यर—रक्ष प्रदर, Metrorrhagia—तोटेवित्तसेनेन मृदृतमनृतावपि । अस्तर विनायादीयोद्वलवृत्तमुक्तम् ॥ (शरीर, अ. २) ।

यशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम् ।
काष्ठं प्रमदामच्यव्यायामैश्चातिपीडनात् ॥३८॥
—मध्यविषयोसात् स्नेहादीनां च विभ्रमात् ।
व्यवहये तथा स्थूले वातरक्तं प्रकुप्यति ॥३९॥
(वातरक्त, हेतु —) शोक से, चींसेग मरण और ज्वापाम
अतिसेवन से, क्रत्यविरुद्ध आहारविहार करने से, स्नेहादि
अभ्रवित व्यवहार करने से स्थीरेण न करने वाले, स्थूल
मल प्रकृति के और मिथ्या आहारविहार सेवन करने वाले
उम्यों का वातरक्त प्रायः कृपित होता है ॥३८, ३९॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में वातरक्त के प्रकोपकारण वर्णन हैं । मिथ्याहारविहार—लवणाम्लकदक्षारलिङ्गाणाजीर्ण-
जैनः हितशुक्मासुजानपूर्णसप्तियाकमूलैः ॥ कुलधमापनिपाव-
कादिपिलेभुमिः । दध्यानाल्लौबीरशुक्तकसुरासैः ॥ विरुद्धा-
शरनकोथविवासमप्रजागैः ॥ (चरक) । भजतां विपिहीनं च
अष्टांगसंप्रहुमनम् ॥ (अष्टांगसंप्रह) । खेदादीनां च विभ्रमात्—
हेतु स्वेद तथा वमनादि पंचकर्मों के अयोग, मिथ्यायोग और
प्रत्येयोग से । स्थूले—स्थूलानाम् । वातरक्त—‘आद्यरोग सुड
गतदलास वातरोणितम्’ । तद्धुर्नीमभिः ॥ (अष्टांगसंप्रह) ।
भैषजी में वातरक्त को गाउट (Gout) कहते हैं । वातरक्त
कृषुस्तविक कारण अभी तक अज्ञात है । प्रकोप कारणों
में मिथ्याहारविहारादि जो कारण ऊपर वर्णन किये हैं वे
हैं । परन्तु उनमें मध्यातिसेवन, नैट्रोजनयुक्त अर्थात् मांस-
नातीय पदार्थों का अतिसेवन, उसके साथ साध व्यायामा-
भाव (अनुकूलणशीलिनाम्—वाग्मट), शोक कोध चिन्ता
इत्यादि मानसिक विकार, चोट लगना (अभियातात्—
वाग्मट) इत्यादि प्रधान कारण हैं । अमीर और आराम-
दण्ड लोगों में (स्थूलानां सुखिना—आद्यरोग—चरक) यह
रोग अधिक दिखाई देता है । खिलों की अपेक्षा पुरुषों
अधिक होता है । ३५ से ५० साल की आयु में यह
भेद होता है और ५० से ८० प्रतिशत रोगियों में कुलज-
ति दिखाई देती है ।

हस्त्यश्वोर्युर्गच्छतोऽन्यैश्च वायुः
कोपं यातः कारणैः सेवितैः स्वैः ।
तीक्ष्णोष्णाम्लकाराशाकादिभोजैः
सन्तापादैर्भूयसा सेवितैश्च ॥४०॥
क्षिं रक्तं दुष्टिमायाति तच्च
वायोर्मार्गं संरुणक्ष्यात् यातः ।
कुद्दोऽस्त्वयं मार्गरोधात् स वायुः
रत्युद्रिक्तं दूषयैद् रक्तमात् ॥४१॥
तत् संपृक्तं वायुना दूषितेन
तप्यावल्पादुच्यते वातरक्तम् ।
तदत् पितं दूषितेनास्तुजाऽक्तः ॥४२॥
(संप्रसि—) हाथी, घोड़ा, ऊंट की सवारी पर चलने

से तथा (लघुरुक्षादि) अन्य वातकारक कारणों के सेवन
करने से वायु प्रकृपित हो जाती है; और तीक्ष्ण, गरम,
खटे और द्वारे शाकादि भोज्य पदार्थों के सेवन से तथा धूप
आदि का चार थार सेवन करने से ॥४०॥ रक्त शीघ्र ही, दूषित
हो जाता है । और वह दूषित हुआ रक्त शीघ्र संवारी वायु के
मार्ग को रोक लेता है । सार्ग रक्त जाने से (पहले से ही
कृपित हुई) वायु अधिक कृपित होकर अतिदुष्ट रक्त को
और भी दूषित कर देती है ॥४१॥ (दूस प्रकार) दूषित वायु
से संसृष्ट वह रक्त वातप्राधान्य के कारण ‘वातरक्त’ कहलाता
है । उसी प्रकार से (प्रवल वायु के द्वारा) दूषित रक्त से
संसृष्ट (अक्त) पित तथा कफ का विकार भी वातरक्त ही
कहलाता है ॥४२॥

वक्तव्य—हस्त्यश्वोर्युर्गच्छतोऽन्यैश्च वायुः—हाथी, घोड़ा, ऊंट इत्यादि की
सवारी पर अधिक चलने से पाँच नींचे की ओर लटके हुए
रहते हैं (तथ पूर्व पादों प्रधावसि । विशेषाधानयानामैः प्रलो॒ ।
(अष्टांगसंग्रह) तथा उन पर चोट भी अधिक लगती है,
जिससे इस रोग का प्रधम दर्शन या प्रादुर्भाव पाँचों में हुआ
करता है । संतापादैः—उण्णे चात्यध्वगमनात् । (चरक) । आशु
यातः—शीघ्र गच्छतः । मार्गरोधात्—धातुक्षय और मार्गावरोध
इन दो कारणों से वातप्रकोप होता है—वायोर्धुक्षयात् कोपो
मार्गस्थावरणेन च ॥ (चरक) । वातरक्तम्—दुष्टेन वातेन दुष्टेन
रक्तेन च विशिष्टप्राप्तिक विकारान्तरमेव ॥ (मधुकोशाद्याल्य) ।
इन श्लोकों में वातरक्त की जो संप्रसि वर्णन की है उससे यह
स्पष्ट है कि वातरक्त में रक्त दूषित हो जाता है । आयुर्विक
दैज्ञानिक खोज से भी यह सिद्ध हुआ है कि वातरक्त में रक्तस्थित
यूरिक एसिड (Uric acid) तथा यूरेटस् की राशि अधिक
होने से वह दूषित हो जाता है । यह यूरिक एसिड नैट्रोजन-
युक्त खाद्य से (Exogenous) तथा धातुक्षय से (Endogenous) उत्पन्न होता है; और वृक्ष से उसका उत्सर्ग मूत्र में
होता रहता है । रोग के आक्षमण के पूर्व कुछ दिन यूरिक
एसिड तथा यूरेटस् का मूत्र में उत्सर्ग कम होकर रक्त में
उनकी राशि बढ़ने लगती है और किसी अशानत कारण से यह
यूरिक एसिड तथा यूरेटस् अनुषुल सोडियम वाययूरेटस् के
सूक्ष्म कणों के रूप में पृथक होकर अस्थि, तस्थास्थि, संधि,
संधिकला, बंधन, ज्ञायु, त्वचा इत्यादि शरीर के विविध
अंगों में बैठ जाना है । इस रोग में विशेष करके पाँच और
कर्णपाली में इनका संचय अधिक होता है—कृत्त्वं रक्तं विदह-
त्याशु तच्च त्वत् दुष्ट पादयोशीयते तु ॥ (माधवनिदान) । इस
विजातीय या असाम्यपदार्थ के संचय के कारण जो स्थानिक
प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, वही वातरक्त है ।

स्पर्शोद्दिश्चौ तोदमेदप्रशोष-
स्वापोपेतौ वातरक्तेन पादौ ।
पित्तासृष्ट्यासुग्रदाहौ भवेता-
मत्यर्थ्येष्वौ रक्तशोफौ मूदू च ॥४३॥
कण्डूमन्तौ श्वेतशीतौ सशोफौ
पीनस्त्वद्वौ श्लेष्मदुष्टे तु इते ।
सर्वैर्दुष्टे शोणिते चापि दोषाः
स्वं स्वं रूपं पादयोर्द्वयं उपि-
त्तिः ॥४३॥

(वातादि दोषविशेष से लक्षण—) (वाटिक) वातरन से दोनों पाँव तीव्र स्पर्शगांभिणुना, सुख से बुझने की भी पीड़ा, वज्रा विद्युती होने की सी पीड़ा, गुरुत्वा और स्पर्ग-हात की कमी इनसे मुक्त होते हैं । जिन और इन से (जब वातरन होता है तब) दोनों पाँव तीव्र जलनयुक्त, अत्यन गरम, सात रग की सूजनयुक्त और सुलायम होते हैं ॥४३॥ कठ से दृष्टित (कफाधिक वातरन) होती दोनों पाँव क्यट्युक, म्पेद, शीतल, शापयुन, मोरे और सुख होते हैं । सब दोनों से रक्त दृष्टित (साक्षिपातिक वातरन) होती दोनों पैरों में वातादि दोष शपना अपना स्पृद्धित होते हैं ॥४४॥

यत्कथ्य—इन स्लोकों में रोग के केवल स्थानिक लक्षण वर्णित किये हैं । परन्तु मन्दाद्यि, तृप्ता, हल्कास, पेट में भारीपन, कम्फ़, १०१°-१०२° तक ऊर हत्यादि सर्वदैहिक लक्षण भी उपस्थित होते हैं । रोग का आकरणमा प्राय रात्रि के उत्तरार्ध में होता है और पीड़ा के मारे रोगी की नीद खुलकर वह उठ बैठता है । विकार प्राय पादाङ्गुष्ठ की प्रथम सघि में दिखाई देता है; परन्तु कभी भी डलना, घृणा, हाथ की सधियाँ, मणिकव भी विकृत होते हैं । प्राय पीड़ा दिन में कल और रात में अधिक होती है । रोगकाल में तथा उसके पाद मूल में युक्त प्रसिद्ध तथा युरेट्स की रागि अधिक रागि में उत्सर्गित होती है । ५-१५ दिन में ऊर, सप्तिलाम की पीड़ा, सूजन इत्यादि लक्षण घटने लगते तथा धीरे धीरे जाते रहते हैं, और रोगी को पहसे से ही अधिक अस्था मालदम होता है ।

प्रामृद्ये शिथिलौ शीतलौ सविष्पर्यैयी ।

द्वैवर्थ्योद्दस्त्वत्प्रगुह्यत्वौवसमन्वितौ ॥४५॥

(वातरन के पूर्वरूप—) पूर्वरूप में (दोनों पैर) शिथिल, स्फट्युक, शीतल या स्त्रिभित, स्वेदरहित और गरम होते हैं, तथा विवर्णतयुक्त, पीड़ायुक्त, सुख, भारी और जलनयुक्त होते हैं ॥४५॥

यत्कथ्य—मनिपर्यै—शैधित्यादि इन्होंने मैं हेर नेर होता—काल्युक्त्युरनिकोद्भेदोत्तरसाना । भूता भूता प्राय शयनिति मुद्राविरेचनित न ॥ (चारांगभ्रह) । इस स्लोक में वातरन के व्यानिक पूर्वरूप वर्णित किये हैं । इनके अनिवार्य कभी कभी सानिक यकावट, निरापेण, कर्वस्त्री, लालाकाव, नेट में पीड़ा, वमन, अकारा इत्यादि सर्वदैहिक पूर्वरूप भी दिखाई देते हैं । कभी कभी कुछ भी पूर्वरूप नहीं होते, बल्कि रोगी को और भी अस्था मालदम होता है । रिक्तो—‘पादी’ इत्य-स्थाहार ।

पादयोमूलमास्थाय कद्यचिदस्तपोरपि ।

आतादिधमिय कुञ्जं तदेहमनुसर्पति ॥४६॥

यह वाल इन (प्राय) पैरों के मूल में कराण्डि होतों (के भूमि) में (प्रथम) अक्षसात (प्रातं) इसके उपरित इनसे पर व्याद् मृगित्यरिते के समान साते यारी में फैल जाता है ॥४६॥

यत्कथ्य—मूलमास्थाय—तत्र पूर्व स्थिति इत्या (अस्थाद्यत्वात् अप्तोविषयित्वा—आतोविषयित्वा—मूलकोविषयित्वात् दर्शितवा— (मुकुकोविषयात्वा)) । कुण्ड—कुपितावस्था में अर्थात् अप्तो विषयमात्र रहते से । पादयोमूलन—पैरों की अंगुलियाँ । ज्ञ और अष्टागमसंप्रह में उत्तात और गम्भीर करके वातरन दोनों प्रकार वर्णन किये हैं । इनमें उत्तात प्रथम होता और चिकित्सा न करने पर वातान्तर से गम्भीर हो जाता है—उत्तातमन्यथयुक्तात तत्त्वं जापते तत् । कालान्तरेण गम्भीर भी धातुनिदेवत् ॥ (अष्टागमप्रह) । आतुरिक प्राक्ताच्य परिमा में उत्तात के लिये पृक्ष्यूट (Acute, और गम्भीर के विकारिक (Chronic) कह सकते हैं । प्रथम आक्रमणः प्रथात आहारविहारादि द्वारा रोग की गोप्य चिकित्सा न कर जाय तो इसका दौरा बार बार आया करता है । ये दौर कम महीनों के बाद, कभी सालों के बाद और कभी कुछ दिनों बाद आते हैं । बार बार दौर आने से हाथ पैरों की संप्रिण शदा के लिये खराब होकर लंगहापन, अंगुलियों का टेप्स इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं । इन स्थानिक उपद्रवों अतिविक वातरन के विपक्ष का परिणाम गम्भीर के विकियांगों पर होकर मन्दाद्यि, आनकशूल, हृदयवृद्धि, इत्यामाहृदि घमनीदार्ढ्ये (Arterio Sclerosis), हृद्यूल, घडकन, शारीर वातशूल, अस्थमी इत्यादि विकार उत्पन्न होकर रोगी के व्यास्थ सदा के लिये गिर जाता है ।

आजातुरस्फुटिं यद्य प्रभिन्नं प्रलुतं च यत् ।

उपद्रवीष्य यज्ञुष्टं प्राणामासस्त्वायादिभिः ।

शोणिणे तद्वस्थाय स्याद्यात्यं संवत्सरोत्थितम् ॥४७॥

(असाध्यता—) जानुपूर्वत जो वातरन पूर्व निकला हो विदीर्णु हुआ हो, फरने लगा हो और बलक्षण भीमहवर्ति उपद्रवों से पीड़ित हो वह स्थानिक समझो और एक वर्ष (पहले) का यात्रा समझो ॥४७॥

यत्कथ्य—शुद्धित्यरिति—वातरन में गरीर के विकियांगों में साक्षियम शय्युरोटे के लक्टिक बैठ जाते हैं । ये धीरे होकर स्थानिक स्थिति वर्णित होने से अर्जुन वा गौड़ (Tophi) बनती है । इसके कारण इन अर्जुनों के ऊपर की तथ्य दिलेने लगती है और उच्च बाल के नीचे कटकर प्राण वा जाते हैं तथा उनसे खाव बढ़ने लगता है । ये गौड़े हाथ वैकी अंगुलियों के जोड़ों पर तथा कर्णपाली पर अधिक होते हैं और यथा बन जाने पर बाहर निकल जाती है । इन्हीं वाकारण संपर्यां देखी हो जाती हैं । उपद्रव—अस्थारात्रयकामान्तरमेवेषम् । भूर्लीविक्राण इत्यादि इत्यमनेष्यते ॥ (वर्क) । इन उपद्रवों के अतिरिक्त पुरातत इक्षुवेषम् अप्तमी, दृष्टपृष्ठि, यस्तीदार्ढ्यं, शीमद्वयता (Tachycardia), यहतपिकार, आमासायशूल, लागन (Laziness), तथा धन्त्य त्यगेण, आर्थियों में जलन इत्यादि उपद्रव भी होते हैं । रितेव—अप्तवरेत्क (Migraine) । अंडुर—Tophi वायायामात्रा—इन्हें स्लोक में वातरन की साम्यासाम्य वर्णित होती है । एक बार रोग का आक्रमण होने पर यदि भी

१ पर विकिसा न की जाय तो बार बार आक्रमण, होता जिससे रोग पुराना होकर विविध रोग उपद्रव उत्पन्न होते इसके विष का विशेष असर हृदय और वृक्ष पर होता है, से विशेषकर भोह, मूर्छा, संन्यास, पक्षधात, अंगधात एवं भयानक विकार उत्पन्न होकर रोगी की मृत्यु होती। इसलिये चरक में लिखा है—ऐतिहासिक वर्णन में निर्देशन विद्यत ।

॥ तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः ।

राक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्वरः ।

इरुषुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः ॥४८॥

(आक्षेप—) जब बार बार चलनशील वायु कुपित एवं शरीर की समस्त धमनियों में प्राप्त होती है, तब बार शरीर को आक्षेपित करती है। बार बार आक्षेपण करने इसे आक्षेपक कहते हैं ॥४८॥

वक्तव्य—सर्वा—उच्चार्थस्तिवैग्नाशतुविशिति धमन्यः ।

क्षिपित—फटके के साथ शरीर की पेशियों में संकोच उत्पन्न होती है। आक्षेप—शरीर की अधिकांश या सम्पूर्ण पेशियों अक्सात् और, प्रदल जो सिकुड़न होती है उसे आक्षेप कहते हैं। इसको अंग्रेजी में कन्वल्यानस् (Convulsions) कहते हैं। यह मन्तिक्षसंस्थान की व्यावहारिका प्रक्रिया है, अपस्मार, अपतन्त्रक (Hysteria), मन्तिक्षार्थयोथ, मूत्रविपत्ता (Uremia), धनुस्तम्भ इत्यादि निक रोगों में दिखाई देता है। वज्ञों में दन्तोद्देह, उदरश्ल, गामान, केचुप, इत्यादि कारणों से भी आक्षेप उत्पन्न होते हैं।

आक्षेप के साथ साथ हाथ पैरों का टेढ़ा होना, दाँती श्वास, मुट्ठी ब्रंद करना, आँखें फाड़ फाड़ के देखना, तिलियों कैलना, वेहोशी इत्यादि लक्षण भी उपस्थित रहते हैं। बच्चों के आक्षेप (वालग्रह) और अपस्मार का विज्ञार अन्तर्न्द्र में किया गया है। यहाँ धनुस्तम्भ और अपतन्त्रक तथा विवरण अब किया जाता है।

सोऽपतानकसंबोयः पातयत्यन्तराऽन्तरा ।

कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति ॥४९॥

स दण्डवत् स्तम्भयति कृच्छ्रो दरडापतानकः ।

हुयुग्रहस्तदाऽत्यर्थं सोऽन्वं कृच्छ्राच्चिपेवते ॥५०॥

धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुःस्तम्भसंक्लकः ।

अङ्गुलीशुल्फजटरहद्वजोगलसंश्रितः ॥५१॥

अयुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान् ।

पृष्ठधात्रः स्त्रव्यहनुर्भेदश्वार्थः कफं चमन् ॥५२॥

अभ्यन्तर धनुरिच यदा नमति मानवः ।

तदोऽसाम्यन्तरायामं कुरुते मारुतो वली ॥५३॥

वाह्यायुप्रतानस्थो वाह्यायामं करोति च ।

तमसास्य वृधाः प्राहुर्वचःकट्ट्यस्मञ्जनम् ॥५४॥

(अपतानक—) जो आक्षेपक वीच वीच में गिराता है,

१ तदा सोऽभ्यन्तरायामः.

वह श्रपतानक नामक वायु है। यदि वायु कफ से विशेषतया संयुक्त होकर समस्त धमनियों में अवस्थित होती है ॥४९॥ और (शरीर को) ढंडे के समान स्थिति करती है, तब उसे 'दण्डापतानक' कहते हैं और वह कृच्छ्रसाध्य है। उस अवस्था में दाँती लग जाती है जिससे मनुष्य बड़े कष से अग्नि का सेवन कर सकता है ॥५०॥ जो (अपतानक) धनुष की भाँति (शरीर को) टेढ़ा करता है वह धनुस्तम्भ कहलाता है। अंगुलियाँ, दर्वने, पेट, हृदय, छाती, गला हन स्थानों में अक्षित हुई ॥५१॥ वेगवान् वायु जब (आभ्यन्तरीय—Anterior) जायुसमूह को आक्षेपण करती है और जब निश्चल नेत्रों से, स्तवध हनु से, (वेदना के मारे) भग्नपार्थ से, कफ (या भाग) का वस्तन करता हुआ ॥५२॥ मनुष्य भीतर की ओर (छाती की ओर) धनुष की भाँति टेढ़ा होता है, तब चलनान् वायु इसका अन्तरायाम (धनुस्तम्भ) करती है ॥५३॥ वायु (पृष्ठ के) जायुसमूह में स्थित हुई वायु वाह्यायाम (धनुस्तम्भ) करती है। छाती, कटी तथां ऊर को तोड़ने वाले इस (अन्तरायाम या वहिरायाम अपतानक) को वैद्य असाध्य कहते हैं ॥५४॥

वक्तव्य—अपतानक—जिसमें शरीर की पेशियों में वेहद तनाव उत्पन्न होता है, उसे अपतानक कहते हैं। अंग्रेजी में इसको टेट्यानस (Tetanus) कहते हैं, जिसका योगार्थ भी यही है। इस रोग के न्यूनाधिक तनाव के कारण शरीर विविध आकार का होता है। जब शरीर के पूर्वभाग (छाती की ओर) की ओर पश्चिमभाग (पीठ की ओर) की पेशियों का तनाव सम्बल होता है तब शरीर ढंडे की भाँति सीधा और सदृश होता है। इस अवस्था को दण्डापतानक (Orthotonus) कहते हैं। जब एक भाग की पेशियों का तनाव दूसरे भाग की पेशियों के तनाव से बलवन्तर होता है, तब शरीर धनुष की भाँति टेढ़ा होता है; इसलिये इसको धनुस्तम्भ या धनुर्वात कहते हैं। जब पूर्व भाग की पेशियों का तनाव पश्चिम भाग की पेशियों के तनाव की अपेक्षा लालवस्तर होता है, तब शरीर छाती की ओर टेढ़ा होता है, और उसे अन्तरायाम (Emprosthotonus) कहते हैं। इसकी विपरीत अवस्था में शरीर पीठ की ओर टेढ़ा होता है और उसे वाह्यायाम (Opisthotonus) कहते हैं—देहस्त वहिरायामात् पृष्ठो दियते शिष्टः। उरशोक्षिक्षयो तत्र कंभा चावमृद्धते ॥ वाह्यायामं धनु-प्रक्षम त्रुते वेगिन च तम ॥ (आषांगसंग्रह)। क्षचित् एक पार्श्व की पेशियों में अधिक तनाव उत्पन्न होकर शरीर एक पार्श्व की ओर टेढ़ा होता है; उसे पार्श्वायाम (Pleurothotonos) कहते हैं। इसका उल्लेख आयुर्वेद में नहीं है। इस तरह उपर्युक्त श्लोकों में अपतानक के जो भिन्न भिन्न ग्रन्थ किये हैं, वे वास्तव में एक ही रोग के भिन्न भिन्न रूप हैं; तीन स्वतन्त्र विकार नहीं हैं। हुयुग्र—दाँती लगना (Lock-jaw or Trismus)। हुयुग्र हस रोग का एक प्रधान और पूर्व लक्षण है। पहले-पहल सुख की पेशियों का संकोच होता है, जिससे रोगी अपने जबड़े को खोल नहीं सकता। जायुप्रतान—पेशिसमूह (Muscles)। विष्वासः—निश्चलनेत्रः। भग्नपार्थ—तीव्र संकोच के कारण जिसके पार्श्व में मानो पसली

दृटने की सी पीड़ा हो रही है। कभी कभी सीधे सक्रोच के कारण इस रोग में पेशियाँ (विशेष करके उदार की दृगढ़क पेशियाँ Rectus muscles) बिरीयी भी होती हैं। हेतु—इस रोग का कारण एक विशेष प्रकार का दृष्टाकार जीवाणु है, जिसे बैमीलस टेटानी (B. Tetani) कहते हैं। यह जीवाणु पोषाक, गी हल्लादि पशुओं में मल में होने के कारण खाद्यकूप भूमि में तथा साधारणतया तमीन की पर्यायी तह में मिलता है। शरीर में इस जीवाणु का प्रवाग जल द्वारा होता है। जो जल गहरा हो, जिसमें घासुपेशियों का विद्वारण बहुत हुआ हो, जिसमें धूलि, गोबर, लीद, लकड़ी हल्लादि पदार्थ प्रविष्ट हुए हों, ऐसे जल से घुसुत्तम होने की समावना अधिक होती है। ऐसे जल बहुधा रोग पर तथा लेंगों में जो अभिधात होते हैं उनमें बनते हैं। कच्चिन् शिक्कों में प्रसूति या गर्भावात के जल से, नवजात बालकों में नाल-खेदन के क्षय से और बालकों में कर्णीयेन के जल से भी (४८ १०० देसी) अपतानक उत्पन्न होता है। नवजात बालक के रोग को 'नवजात अपतानक' (Tetanus Neonatorum) और जल से होने वाले रोग को 'अभिधातज अपतानक' (Traumatic Tetanus) कहते हैं। कभी कभी अभिधात के बिना भी अपतानक होता है। इसे निज या अनन्याधातज (Idiopathic) कहते हैं। निज का वर्णन यही प्रथम किया गया है। इस प्रकार में भी प्राय शण होता है, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रतीत नहीं होता। सप्राप्ति—जल में पहुँच कर जीवाणु बड़ी तेजी से बढ़ते हैं, और साथ साथ जहर भी बनते हैं। इस जहर का विशेष अवरोधण बालनाड़ियों (Nerves) सुपुष्पा तथा मस्तिष्क की ओर होता है। मस्तिष्क में पहुँचने का भारी भी बालनाड़ियों द्वारा होता है। इसलिये नाहीं के पास या मस्तिष्क के पास जो जल होते हैं, उनसे अपतानक शीघ्र उत्पन्न होता है। विष मस्तिष्क में पहुँचने के पश्चात् खेलपद (Motar) नाड़ियों द्वारा शरीर की पश्चियों में सक्रोच उत्पन्न करता है। विष का असर प्रथम इन की पेशियों पर होकर पश्चात् शरीर की सारी पेशियों पर होता है। रोग का संचय काल (Incubation period) २-५ दिन का है। लक्षण—इस रोग का प्रथम लक्षण शरीरव्यापी आजोप है, जो प्रथम हुये से प्रारम्भ होते हैं। आजोप का आवेग हवा का भोका, सर्ग इत्यादि भास्माली उत्तेजनाओं से भी उत्पन्न होता है। आवेग के समय पेशियों के सक्रोच से रोगी को अस्था पीड़ा होती है। उसका सारा शरीर पश्चिम से तर रहता है। खाने, पीने, साँस सेने में सक्रोच किठाना ही होती है। आजोप के आवेग हवा का भार आते हैं। आवेग कम होने पर रोगी को कुछ स्वास्थ्य मालूम होता है—गों भेदे भेदे, स्वास्थ्य सेवनप्रयोगकालि ॥ (वाम्पट)। परन्तु कुचलादिय की भौंनि पूर्णतया आराम नहीं मिलता। अब बूझा नहीं होता, परन्तु कभी कभी भूमुख धोदा सा उत्तर होता है। सूक्ष्म प्रायः हृदयावरोध, आसा रोध या अवसाद से होती है।

कफपित्तान्वितो वायुर्युरुरेय च केवलः ।
कुर्यादादेषुकं त्वय्य चतुर्थमभिधातजम् ॥५५॥

(आगन्तु अपतानक) कफपित्त से बायु वायु अथ केवल (प्रवेशी), वायु अभिधातजम्य चौपे प्रकार का आपक उत्पन्न करती है ॥५५॥

यस्तद्य—इस स्लोक में अपतानक का आगन्तु से तथा उसकी प्रवेशी वर्णन की है। निज अपतानक केवल वायु से उत्पन्न होता है; यानि वह नानामन्त्र विकार है आगन्तु अपतानक केवल वायु से किंवा कफपित्तान्वित वा से भी उत्पन्न होता है। अर्थात् आगन्तु अपतानक नानामन्त्र या सामाज्ञ द्वारा प्रकार का हो सकता है।

गर्भपातनिमित्तश्च शोणितातिद्वयाच्य यः ।

अभिधातनिमित्तश्च न सिद्धत्यपतानकः ॥५६॥

(असाध्यता)—गर्भपात, रक्ताकावधिक्य और अभिधात (Trauma) इनसे उत्पन्न हुआ अपतानक सिद्ध नहीं होता ॥५६॥

यस्तद्य—इस स्लोक में आगन्तु अपतानक के कारण तथा उसकी असाध्यता बतलाया गई है। गर्भपातनिमित्त—इसको शेषीयों में प्रृथक्यान्वित्या (Eclampsia) कहते हैं। इसका विशेष विवरण आगे मुद्रामे (A. c.) के साथ स्मृत के बलम् में किया गया है। शोणितातिद्वय—घटत रक्ताकाव होने पर सूक्ष्म के पूर्व कभी आज्ञेय उत्पन्न होते हैं—If the haemorrhage is severe, death ensues from Syncope. The patient gasps his respirations become quick and sighing and death ensues after perhaps a few convulsive twitches of the limbs (Rose and Carless Manual of Surgery) वास्तव में यह अपतानक नहीं है। अपतानक (Tetanus) रोग स्वाभाविक ही असाध्य वा कष्टसाध्य है। बर्बी में यह प्रायः असाध्य होता है। अभिधात के पश्चात् शीघ्रता और तीव्रता के साथ रोग की उत्पत्ति, शरीरव्यापी आजोप, तीव्र ज्वर, निद्रानाश, प्रलाप, तिर्यक्तृष्णि—ये असाध्यता के लक्षण हैं। इसके विपरीत साध्यता के लक्षण होते हैं।

अधोगमाः सतीर्यग्मा धर्मनीरुर्ध्वदेहातः ।

यदा प्रकुपितोऽस्यैर्यं मातरिंश्चा प्रपद्यते ॥५७॥

तदा उन्यतरपक्षास्य सन्धिवन्धान् विमोक्षयन् ।

हन्ति यदा तमाहुर्हि पक्षाधातं भियवर्वातः ॥५८॥

यस्य हृत्वं शरीरार्धमकर्मेण्यमचेतनम् ।

ताते पतल्यस्त्रू वायुपि जहात्यनिलपीडितः ॥५९॥

शुद्धवातहृतं पक्षे कुचल्साध्यतमं विदुः ।

साध्यमन्येन संस्युट्मसाध्यं द्यहेतुकम् ॥६०॥

(पक्षाधात—) यदा (एक तरफ की) अवोगामी,

तिरक्ती और उर्वरामी धर्मनियों में अध्यन कुपित हुई एवं प्राप्त होती है ॥५७॥

तब वह वायु दृसी तरफ के संधिविनों

को (आगे गतिकेंद्र—Motor centre से) असाध्य के विषयक्षेत्र पक्षाधात कहते हैं ॥५८॥

विमका पूरा आगा शरीर निकम्मा और संवेदनविरहित हो जाता है, वह

बुरीहित मनुष्य (सदा के लिये शत्र्या पर) पढ़ा रहता है या वों को घात होता है ॥५१॥ (मागांवरण के कारण कुपित) (वायु से जो पक्षाघात होता है, उसको कष्टसाध्य समझते हैं । (पित्तादि अन्य दोषों से) संश्लेष वायु से होता है, उसको य समझते हैं । जो भासुक्षय के कारण (कुपित वायु से) यह होता है, उसको व्यासाध्य समझते हैं ॥५०॥

बक्तव्य—पक्षाघात को पक्षाध्य, पक्षघात, अर्धांगवायु और झौमेजी में हेमीप्लेजिया (Hemiplegia) कहते हैं । उन्हें आधे धड़ का घात होता है, अर्थात् एकी अपनी द्वादुसार अर्ध शरीर की पेशियों का संकोच नहीं कर सकता, हरा काम नहीं करता, बोलने में हरकत होती है तथा संक्षेप में भी झक्के द्वा जाता है—कुणिटिणिनिर्विहि इ रुज वाक्सन-मिद च ॥ (धरक) । यद्य घात हस्तपादाद्वि केवल एक । बंग में होता है, तथ उसे पक्षांगरोग कहते हैं—पांद संकोचयेक हत्त वा तीस्तद्वत् । पक्षांगरोग त विदाप ॥ (धरक) । कांगरोग को झौमेजी में मोनोप्लेजिया (Monoplegia) कहते हैं । यद्य सर्वशरीर का घात होता है, तथ सर्वांगरोग होते हैं—तर्वांग सर्वदैरनम् ॥ (धरक) । सर्वांगरोग को द्वाय-जिया (Diplegia) कहते हैं । ऐतु—पक्षाघात तथा अन्य प्रकार के घात (Paralysis) फिरंग या आत्मक, दोग, वृद्धरोग, वातरक्त, सीसविप, धमनीद्रारूप, अर्धेरोमा Atheroma, धमनी प्राचीर का रोग), मस्तिष्क के अर्द्धुद, रक्त पर आधात, मध्य भास्त्र और न्यायाम का अतिसेवन, त्यादि कारणों से उत्पन्न होते हैं । पुरुषों में पक्षघात अधिक होता है, और इसमें कुद्ध कुलजप्रवृत्ति भी होती है । संमाप्ति—शरीर के समस्त अंगों के साथ मस्तिष्क का संबंध नाड़ियों पर होता है । मस्तिष्क समस्त शरीर का शासक है । बृहत् लिंग के दो विभाग होते हैं । दाहिना विभाग शरीर के पाँई पक्ष पर और दायाँ विभाग शरीर के दाहिने पक्ष पर ग्रासन करता है । प्रत्येक विभाग में शरीर के प्रत्येक अंग के लिये और विशेष काम के लिये विशेष स्थान होते हैं, ऐहे केन्द्र (Centro) कहते हैं । बोलने का केन्द्र केवल एक होता है और वह वाई और रहता है । परन्तु जो लोग उन्हें होते हैं, उनमें यह केन्द्र दाहिनी ओर रहता है । इन अंद्रों से जो चेटावह तार निकलते हैं, वे सुपुन्ना में मध्य-खला को पार कर दूसरी ओर की नाड़ियों के उत्पत्तिस्थानों में पहुँचते हैं । उपर्युक्त फिरंगादि कारणों से शरीर की धमनेयां भंगुर या विहृत होती हैं, जिससे वे जल्दी फट सकती हैं या उनमें रक्त जल्दी जम सकता है । जब मस्तिष्क के किसी विभाग में रक्तवाहिनी फटकर खून घृणता (Haemorrhage) है, या रक्तवाहिनी में रक्त जम जाता (Thrombosis) है, या अन्तःशाल्य (Embolus) के कारण रक्त का बहाव बन्द हो जाता है, तब मस्तिष्क का वह भाग स्वर्कर्मीन होता है । इस द्वारादी का परिणाम यह होता है कि जिसका संबंध मस्तिष्क से दूट गया (विमोत्तयन्) उस अंग का घात या दध होता है; उसमें इच्छादुसार गति नहीं होती तथा उसी की संवेदना मस्तिष्क तक नहीं पहुँचती । यद्य अन्य धड़ वैकास होता है तब अर्धेंग कहते हैं । यद्य

एह इथ या एह पैर या आधा घेहरा घेकाम होता है, तब एकांगवध कहते हैं । यद्य दोनों पैर बैकाम होते हैं, तब पद्मनु (Paraplegia) कहते हैं । एक तरफ के मस्तिष्क के विभाग में वातविक्षिप्ति होने से दूसरे (अन्यतर) पक्ष का घात क्योंकर होता है, इसका कारण ऊपर के विवरण से स्पष्ट होगा ।

वायुरुक्त्यं बजेत् स्थानात् कुपितो हृदयं शिरः ।

शहौ च पीडयत्प्रस्त्रान्याक्षिपेश्मयेश्च सः ॥६१॥ निर्मिलिताक्षो निश्चेष्टः स्तव्याक्षो वाऽपि कूजति ।

निरच्छासोऽथवा कृच्छ्रादुच्छ्रस्यान्नपृचेतनः ॥६२॥ स्वस्यः स्याद्दुदये मुक्ते श्यावृते तु प्रमुहति ।

कफान्वितेन वातेन द्वयं पर्योऽपतन्त्रकः ॥६३॥

(अपतन्त्रक—) कुपित वायु अपने स्थान से ऊपर की ओर हृदय में प्रवेग कर सिर तथा कनपटियों में पीड़ा और बंगों में संकोच तथा टेढ़ापन उत्पन्न करती है ॥६१॥ (इससे मनुष्य) आँखें भैंद लेता है, निश्चेष्ट रहता है अथवा निश्चल आँखों से दंखता है, (कृच्छ्र की भाँति) कूजन करता है, सार्व रोक लेता है या कट से सांस लेता है और मुर्दा (सा) होता है ॥६२॥ हृदय वायु से निर्मुक होने पर स्वस्य हो जाता है और वायु से आवृत होने पर फिर अस्वस्य होता है । यह अपतन्त्रक रोग कफयुक्त घात के कारण उत्पन्न होता है, ऐसा समझना चाहिये ॥६३॥

बक्तव्य—अपतन्त्रक रोग को हिस्टीरिया (Hysteria) कहते हैं । पाक्षात्य दर्यों में पहले यह समझा जाता था कि हिस्टीरिया गर्भांशय (Hysteria—गर्भांशय) की द्वारादी से होता है । परन्तु यह भ्रम है । यह रोग पुरुषों तथा लिंगों में होता है । आतः हिस्टीरिया के लिये योषाप्स्मार शब्द का जो प्रयोग देशी भाषा में हो रहा है, यह अशुद्ध है । साधारणतया लिंगों में यह रोग अधिक दिखाई देता है; परन्तु गत महायुद्ध के समय ध्यासी के सैनिकों में व्युत्त दिखाई देता था । यह रोग भय, चिन्ता, शोक, निराशा, मानसिक आधात, मानसिक दुर्योलता, आकस्मिक दुर्घटनाएँ इत्यादि कारणों से उत्पन्न होता है । कुणिक्षा, भूत चुड़ेल पर विश्वास इत्यादि कारणों से यह रोग और भी घट जाता है । यह एक विचित्र रोग है, जिसमें अनेक प्रकार के लक्षण दिखाई देते हैं । कभी रोगी हँसता है, कभी रोता है, कभी चेहोश होता है, कभी पेट में वायुगोला सा उठता है, कभी आर्धेंग हो जाती है, कभी दिक्षिकी आती है तो घण्टों तक आती है, कभी बोलना बंद कर देता है । संक्षेप में जितने मानवी रोग हैं, उनमें से किसी भी रोग के लक्षण हो सकते हैं । परन्तु वास्तव में शरीर के किसी भी संस्थान में ज्वरादी नहीं दिखाई देती । वामभट अपतन्त्रक और अपतन्त्रक रोग एक मानते हैं—कपोत इव क्रोतव निस्संशः सोऽपतन्त्रकः । स एव चापतानात्यः ॥ (अत्यांगसेप्रह) । इबल भी चरक में एकीय मत से दोनों का अभेद मानते हैं—वायुना दारुण प्राहुरेके तदपतनकम् ॥ (सिद्धि स्थान, अ. ९) । चरकमतानुसारी माधवाचार्य भी दोनों में अभेद मानते हैं । परन्तु सुश्रूत के अनुसार अपतन्त्रक और अपतन्त्रक विवरणम् गामात् चक्षित है Avinash/Sh

में सोने से, भीचे पा ढंचे (तकिया पर सिर) रखने से, तिटा या कपर की ओर देखने से मन्यालम्ब उत्पन्न करती है ॥५४॥

यक्तव्य—मन्यालम्ब (Torticollis) डरकर्म्ममूलिका (Stereo mastoid) पेशी के स्कोच से उत्पन्न होता है। यह स्कोच वातज (जैसा कि घटुतम के पूर्वस्थ में होता है), आमवातज (Rheumatic) (जैसा कि सोने समय पश्चीमे पर ग्रीवा में ढंगी वायु स्थगने से होता है), जन्मज (Congenital) (जैसा कि जन्म के समय पेशी पर आपायत होने से होता है), और आजेपुक (Spasmodic) ऐसा चार प्रकार का होता है ।

गर्भिणीसृतिकायालवृद्धीगेवसृक्षये

उद्धृत्यादत्तोऽस्यथै खाद्यत् कठिनानि च ॥५५॥

इसतो जुम्भतो भाराद्विपमाच्छयनाद्यपि ।

शिरोनासौषुचिद्वुकलटेक्षणसन्धिगः ॥ ५६॥

अर्द्धयित्याऽनिलो वक्तव्यादितं जनयत्यत् ।

यक्तव्यति वक्तव्ये ग्रीवा चाप्यपवर्तते ॥५७॥

शिरश्वलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैकृतम् ।

ग्रीवाचिद्वुकदन्तानां तस्मिन् पार्श्वे तु वेदना ॥५८॥

यस्याप्रजो रोमदृष्टये वैपुरुषेन्नमाविलम् ।

घायुरुच्यं त्यच्च स्वाप्तसोदो मन्याहुमुद्गदः ।

तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं व्याधियिशारदः ॥५९॥

क्षीणस्यानिमियालस्य प्रसक्तोव्यक्तमाप्यिणः ।

न सिध्यत्यर्दितं या(गा)दं त्रिवर्षे वेपनस्य च ॥७०॥

(अर्दित—) गर्भिणी खियों में, प्रसूता खियों में, बालकों

में, बूढ़ों में रक्त का दम्प होने पर उच्च स्तर से बोलने से, अति कठिन पर्दार्थ खाने से ॥५५॥

इसने और जँभाइ सोने से, विरम थोक ठाने से, विरम यथान पर सोने ने गिर, नासा, हौंठ, कणोल, सलाल और नेत्रसंप्रिय में स्थित हुई वायु ॥५६॥

(कुपित होकर) सुख को पीड़ित करती है, अत अर्दित उत्पन्न होता है । (लक्षण—) इसमें आवा बेहरा बाँका होता है, ग्रीवा भी ढंगी होती है ॥५७॥

शिर चालायमान होता है, वायी का ठीक नीरंग नहीं होता, नेत्रादि (श्वागदादि) में विहृत होती है, तथा गिर पार्श्व में अर्दित होता है उस

पार्श्व की ग्रीवा, कणोल और दर्ती में पीड़ा होती है ॥५८॥

(पूर्वस्थ) रोगेषु खड़े होता, कम्प, नेत्र से मलिन पानी

गिरना, दर्ढीबाल, त्वचा में सुक्ताता, नाना प्रकार की पीड़ा, भन्यालम्ब और हुम्हद—ये इसके पूर्वस्थ होते हैं । ऐसी

व्याधि को विद्वान् वैष्य अर्दित कहते हैं ॥५९॥ जो जीव है,

जो आंख बढ़ नहीं कर सकता, जो ढंगे कष से बोलता है,

जो कम्पयुक्त है—ऐसे मनुष्य का तीन साल का पुराना अर्दित

दिल्लुस सिद्ध नहीं होता ॥६०॥

यक्तव्य—विश्वाच्छयनात्—विश्वामुपधानव ॥ (अर्दि सम्प्रह) व्यूताधिक मोटा तकिया सिर के नीचे रखने से गिरेनामौडिविश्वलटेक्षणसंविग—इन रथानों में विश्वव का बाली वायु । आपुनिक शरीरकार्यविश्वान से यह वर्बन इंविभाग में देह उपज बहने वाली नाई का है । इस मौखिकी नाई (Facial nerve) कहते हैं । यह मौस्तिक के सातवीं नाई है । प्रथमे क मूर्खार्थ के लिये एक ख्यतन्त्र नाई है । एक ताप की नाई का घात होने से अर्दित (Facial Palsy Bell's paralysis) उपज होता है । इसे 'एकाशम (अष्टागत्यम्) तथा व्यावहारिक भाषा में 'हड्डा' कहा है । अर्दित पक्षाधार में होता है । इसके अस्तित्व सोहिं ज्वर (Scarlet Fever), रोहिणी (Diphtheria) प्रसूतिज्वर, जलमप्राप्त, घनुस्तम्भ, कषा (Herpes) मध्यर्कण्डीय पश्चीमे पर हवा लगना, खोपडी की जड़ क भंग, आधात, कर्म्ममूलिक अंगियोथ इत्यादि कालों से भी अर्दित उत्पन्न होता है । माधवनिदान में 'गर्भिणी सृतिका' यह सोरकार्य नहीं है । अष्टागत्यम् और बांगांदृदृष्ट में भी इस अर्थ का कोई पाठ नहीं है । चरकसंहिता में इकल अर्दित का अर्थ 'मुखार्थिपातुकुप व्यापायत या मुखार्थिवात' कहते हैं—जैसे लैसिन् तुलसी वा केवले स्वातारदिवय ॥ (विकिता वातव्याधि) ।

पार्श्वप्रत्यक्षुलीनां तु करडरा याऽनिलार्दिता ।

संकझः द्वेषप्रियगुण्डाद्युप्रस्तीति हि सा स्मृता ॥७१॥

(गुप्तसी—) ऐसी विभाग में गुणुलियों की वात से पीड़ित कण्डरा तथा अधीयासा का प्रसारण रोकती है, तब उसे गुण्यनी कहते हैं ॥७१॥

यक्तव्य—गृधर्मी (Sciatica) रोग गृधस्या वादी

(Sciatic Nerve) में पीड़ा होने से होता है । यह नाई

व्योगासा के पश्चिम विभाग में नितम्ब से पैर के तल तक

कैली हुई है । इस नाई में वातरक, मधुमेह, नितम्बविद्युष, पश्चीमे पर ठाक सगना, सञ्जकब्ज, खियों में धोवप्रधि (Ovary) के अंडे, द्वारायत, मोत्त इत्यादि कालों से पीड़ा उत्पन्न होती है । यह पीड़ा नितम्ब से लेकर नीचे पीड़ी तक होती है । इकल ने इसलिये वरकसंहिता में लिखा है—
स्त्रियूर्वाकिंडुओरुत्तुनुजायम् कमात् । गृधर्मी लग्नमन्तरादृक्षुलीन स्वतन्त्रे मुड़ ॥ (वातव्यकिता) । कमात—कही की 'स्वस्त्रो' रेसा भी पाठ है, वह भी ठीक हो सकता है; क्षयोंकी कभी कभी यह विकार दोनों टाईों में भी एक समय दूधा करता है । कम्बर—नाई के अर्थ में कण्डरा वायर का प्रयोग है ।

तेल प्रत्यक्षुलीनां तु करडरा याहुपृष्ठत ।

याहो कर्म्मव्यक्तरी विश्वाच्चीति हि सा स्मृता ॥७२॥

(विश्वाची—) याहु पृष्ठ से लेकर गुणुलियों के तल तक

जो कण्डरा (वाताविभूत होने पर) बाहुओं के (आङ्गुचन, प्रसारयादि) कमों का दम्प करती है, वह विश्वाची है ॥७२॥

यक्तव्य—विश्वाची मुजाराईजाल (Brachial)

१ सरसों २ लड्पत्ता ।

१८) की विहृति से उत्पन्न होती है । इसको Brachial lysis, Erb's paralysis या Mono plegia Brachialis कहा सकते हैं ।

शोणितजः शोणो जानुमध्ये मदारजः ।

: क्रोष्टकपूर्वे तु स्थूलः क्रोष्टकसूर्धवत् ॥७३॥

(क्रोष्टकगौर्ध्व—) बात और रक्त से उत्पन्न हुआ, त पीड़ा देने वाला, श्वास महक के समान भोटा जो जानुमध्य में उत्पन्न होता है, वह क्रोष्टक गौर्ध्व है ॥७३॥

; कलायां स्थितः संकद्धः कण्डरामाक्षिपेच्यदा ।

स्त्री भवेजन्तुः पशुः सक्ष्मोद्दृश्योवधात् ॥७४॥

मन् वेपते यस्तु खञ्जित च गच्छति ।

यस्त्रिं तं विद्यान्मुक्तसन्निधिप्रवन्धनम् ॥७५॥

(यस्त्र और पशु—) कटि में स्थित हुई वायु जब सक्षिप्त होता का वध करती है, तब मनुष्य यस्त्र (विकलगति) होता है । जब दोनों स्त्रियों का धात एहता है, तब पशु होता है ॥७५॥

(कलाय सख्त—) जो चलने के प्रारम्भ विता है, चलते समय जो लहरदाता है वह जिसके संधि दीके पक गये हैं ऐसा कलायसंज नामक रोग है ॥७५॥

वक्तव्य—सख्त, कलायसंज और पशु ये अधो-प्रयों के विकार हैं । यस्त्र—Mono plegia Cruralis ।

-Diplegia । कलायसंज—Lathyrism । यह रोग

जाति की एक विशेष दाल (अक्क—Viscaya Sativa)

नातार सेवन से होता है, ऐसी प्राक्षर्जों की राय है (पृष्ठ देखो) । परन्तु अभी तक कोई निश्चय नहीं हुआ ।

न—गमनारम्भे ।

ते तु विपमे पादे रुजः कुर्यात्समीरणः ।

कण्टक इत्येष विद्येयः खुड़(ल)काश्चितः ॥७६॥

(वातकण्टक—) ऊंची-नीची जगह में पाँव रखने से

में आश्रित हुई वायु (पाँव में) पीड़ा करती है, वह

कण्टक व्याधि है ॥७६॥

योः कुरुते दाहं पित्तासूक्सहितोऽनिलः ।

ऐपतश्च्छ्रुमणात् पाददाहं तमादिशेत् ॥७७॥

(पाददाह—) पित्त और रक्त से मिली हुई वायु दोनों

में विशेष करके चलते समय जलन पैदा करती है, उसे

दाह कहते हैं ॥७७॥

यतश्चरणौ यस्य भवतश्च प्रसुप्तवत् ।

दर्हणः स विशेषः कफवातप्रकोपजः ॥७८॥

(पाददर्हण—) जिसके दोनों पाँव हृष्युक्त और सुत्र होते

वह कफवातप्रकोप से उत्पन्न हुआ पाददर्हण नामक

है ॥७८॥

सदेशस्थितो वायुः शोषयित्वांसंवन्धनम् ।

राश्चाकुञ्च्य तवस्थो जनयत्येव्याहुकम् ॥७९॥

१ सदेशः २ चहृकमतःः ३ हृष्येते चरणौ यस्य भवेता चापि

कौः ४ शोषयित्वा सत्त० ५ उत्पन्नात०

(अंसगोप और अवयाहुक—) स्कन्धप्रदेश में स्थित हुई वायु अंस के वंपनों को शोषण करके (अंसगोप नामक व्याधि उत्पन्न करती है) । वही स्थित हुई वायु शिराओं को सिकोहुकर अवयाहुक उत्पन्न करती है ॥७९॥

वक्तव्य—इस श्लोक के प्रथम श्लोकार्थ में 'थ्रेसशोप' का वर्णन है और दूसरे श्लोकार्थ में 'अवयाहुक' का वर्णन है । वाभटमतानुसारी कुद्र टीकाकार संपूर्ण श्लोक में अवयाहुक का वर्णन है, ऐसा मानते हैं—असमूलस्थितो वायुः सिरः संकोच्य तदगः । याहुप्रथमित्वर जनयत्येव्याहुकम् ॥ (अष्टांगसंप्राए) । परन्तु यह योग्य नहीं है; क्योंकि आगे शारीरस्थान के सिरान्धवधियि नामक अध्याय में दोनों का स्वतन्त्र उल्लेख मिलता है—वायुरोपावायाहुकयोरप्येके वदन्त्यस्योत्तरो ।

यदा शब्दवहं ज्ञोतो वायुरावृत्य तिष्ठति ।

शुद्धः श्लेष्मान्वितो चाऽपि वाधिर्यं तेन जायते ॥८०॥

(वाधिर्य—) शुद्ध अध्याय कफ से मिली हुई वायु यस अवदाहिनी प्रमाणी में अवस्थान करती है, तब उससे वहरापन उत्पन्न होता है ॥८०॥

द्वुशशुशिरोग्रीवं यस्य भिन्दन्द्विवानिलः ।

कर्णयोः कुरुते शूलं कर्णशूलं तदुच्यते ॥८१॥

(कर्णशूल—) जिसकी छुटु, कनपटी, सिर और ग्रीवा इन स्थानों में भेदन करती हुई वायु कान में तीव्र पीटा करती है, उसे कर्णशूल कहते हैं ॥८१॥

आवृत्य सकफो वायुर्धमनीः शब्दचाहिनीः ।

नरान् करोत्यक्रियकान्मूकमिन्मिनगद्रदान् ॥८२॥

(मूकत्व, मिन्मिनत्व और गद्रगदत्व—) कफयुक्त वायु शब्दवह धमनियों का अवरोध करके मनुष्यों को (उच्चारण के कार्य में) किंचित् असमर्थ कर मूक, मिन्मिन और गद्रगद कर देती है ॥८२॥

वक्तव्य—इस श्लोक में उच्चारण के दोष वर्णन किये हैं । मूक—रूपा, जो बोल नहीं सकता । मिन्मिन—जिसका उच्चारण नासा में (अनुनासिक) होता है । गद्रगद—जिसका उच्चारण अस्पष्ट और कट से होता है ।

अधो या चेदना याति वर्चेमूत्राद्योतिथाता ।

भिन्दतीवं शुदोपस्यं सा तूनीत्यमिधीयते ॥८३॥

शुदोपस्थोतिथाता सैव प्रतिलोमविसर्पिणी ।

वैनः पकाशयं याति प्रतितूनीति सा स्मृता ॥८४॥

(तूनी और प्रतितूनी—) पकाशय (वर्चस्थान) और मूत्राशय से उठी हुई वेदना जो नीचे की ओर गमन करती हुई गुदा और लिंग (पिण्ड या भग) को मानो भेदन करती है वह तूनी नामक (वातव्याधि) है ॥८३॥ गुद और उपस्थ (भग और पिण्ड) से उठी हुई वही वेदना जब उलटी (ऊपर की) गमन करती हुई वेंगों से पकाशय (और मूत्राशय) में पहुँचती है, तब उसे प्रतितूनी कहते हैं ॥८४॥

वक्तव्य—तूनी और प्रतितूनी संचरण दिशा के अनुसार किये हुए शूल (Colic) के दो भेद हैं । जो शूल पकाशय या मूत्राशय या दोनों से नीचे की ओर गुदा या उपस्थ

या दोनों में बला जाता है, जैसे कि रेनल कोली (Renal Colic) में होता है, वह तूनी है। जब शूल का रुक उपर की ओर होता है, जैसा कि कभी कभी अन्तर्गृह में देला जाता है, तब उसे प्रतिनिधि कहते हैं।

साटोपमत्युग्रजमाध्मातमुदरं भृशम् ।

आध्मानमिति जानीयाद्वौ वातनिरोधजम् ॥८५॥

(आध्मान—) आटोप और तीव्र धीमा से युक्त, (मणक की भाँति) खूब फूला हुआ उदर (पकाय) आध्मान समझना चाहिये । यह योर व्याधि अधोवात का अवरोध होने से होती है ॥८५॥

यक्तव्य—आटोप—गुदगुड शब्द, Boiborygmus— आटोपे गुदगुडाकार प्रोतो जठरमध्ये ॥ (भावप्रकाश) । आध्मान आन्त में वात (Gas) का सच्च दोने से उत्पन्न होता है । धीमेति में इसको टिम्पनाइटीज (Tympanites) या सिंडिओरिंगम (Meteorism) कहते हैं ।

विमुक्तपार्थ्यहृदयं तदेवामाशयोदित्यतम् ।

प्रत्याध्मान विजानीयात् कफव्याकुलितानिलम् ॥८६॥

(प्रत्याध्मान—) पार्थ्यहृदयीजाविरहित आमाशय से उड़ी हुई वही (व्याधि) प्रत्याध्मान नाम से समझनी चाहिये । यह कफाकृत वात से होती है ॥८६॥

यक्तव्य—विमुक्तपार्थ्यहृदय— जिसमें धाती के दोनों पार्थ्य और हृदयविभाग धीमा से विरहित हों—आमाशयसमुच्चय तेन प्रत्याध्मान पार्थ्यहृदययोरपि वेदतात्कुणिरात्पर्यमह—विमुक्तेवादि ॥ (मधुकोग्यव्याधा) । कफव्याकुलितानिलम्—कफव्याकुलित(आकृत)वातजम् ॥ प्रत्याध्मान आमाशय में वातु (Gas) सच्च दोने से होता है । इसे व्यास्ट्रो टिम्प नाइज (Gastro tympanites) कहते हैं ।

औष्ठीलावद्धनं प्रनिध्यमूर्खमायतमुक्ततम् ।

वातादीलां विजानीयाद्वौहिमीर्गावरोधिनीम् ॥८७॥

एनामेव रुजायुकां वातविमूत्ररोधिनीम् ।

प्रत्यक्षीलामिति वदेज्ञठरे तिर्यगुत्थितम् ॥८८॥

इति शुधुतसंहितायां निशनस्त्राणे वातव्याधिनिशन

नाम प्रथमोऽव्याय ॥१॥

(वातादीला—) अदीला के समान धीम, उपर को ऐसी हुई, उत्तम, और बाहर के मार्ग को रोकने वाली धीमि को वातादीला समझना चाहिये ॥८७॥ (प्रत्यक्षीला—) पेट में तिरकी उड़ी हुई, अधोवायु मूल और मूत्र को रोकने वाली (और विशेष करके) धीमा देने वाली इसी धीमि को प्रत्यक्षीला कहना चाहिये ॥८८॥

यक्तव्य—अदील— एक प्रकार का पर्याय—उत्तराये दीर्घीतुल्यवाताणविदेश रूपेत, अक्षकारणा बहुलीया लौही भाष्यिति, द्वयरो ॥ (दलहण) । वर्हिर्मार्गविशेषीन्—वातविमूत्ररोधित्यरो ॥ (वातादीला—) वातविमूत्ररोधित्यरो वातादीला भी और प्रत्यक्षीला वातव्य में एक विकार है । वातादीला और प्रत्यक्षीला वातव्य में एक विकार है । वातादीला में देना उत्तम होने पर उसे प्रत्यक्षीला कहते हैं । ये दोनों वातविकार चक्र और वातमट में जही मिलते ।

१ विमुक्तपार्थ्य २ अदीलरहने

उत्तरस्थान के मूत्रावातप्रतिपेत्य अध्याय में वातादीला न मूत्रावात का एक भेद है । वह रोग इस वातादीला से है और वृद्धा Enlargement of Prostrate होता । अध्याय की वातादीला और प्रत्यक्षीला वृद्धतालिका या का अर्जुद (Cancer of the rectum or Prostate) हो सकता है ।

इन भास्कररमणा गोविन्दात्मवेन विरचितावामातुर्वेदस्थर्मी भुवनभावादीकायो निदानस्त्राणे वातव्याधिनिशन नाम प्रथमोऽव्याय

द्वितीयोऽव्यायः ।

अथातोऽर्थसां निदानं ड्याल्यास्यामः । य वाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से आगे अर्थों के निदान का व्याल्यान है, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यक्तव्य—मृ——दोषों के कारण नासादि विविध की व्याधि में उत्पन्न हुए मौसाकुर, मौसीसैत्यविसातविकाळ (चरक) । अर्थ का यह माध्यारथ अर्थ है, और इस नई अर्थ को पॉलिपस (Polypus) कहते हैं । परन्तु ये मासाकुर गुदा में उत्पन्न होते हैं तब राहमार की । गुदमारों का निरोध करके रोगी की हिंसा करते हैं, इसे इनके ‘शर्पा’ कहते हैं—अरिंद, प्राणान गृहाति हितल इति पूरोदादिवायविकिमाङ् । यह अर्थ का एकदेशीय विशेष अर्थ है और इस अर्थ से अर्थ को इमोराइम्प पाइल्स (Haemorrhoids or Piles) कहते हैं । अध्याय में साधारण तथा विशेष दोनों प्रकार के अर्थों निदान दर्शन किया है । प्रथम विशेष अर्थ के लिए व करते हैं—

पदशौक्ति भवन्ति वातपित्तकफर्शेणितर्सा पातैः सहजानि वेति ॥२॥

वातव्य, पित्तव्य, कफव्य, शौक्तिव्य, सहित जन्य और सहज ऐसे एक प्रकार के अर्थ होते हैं ॥२॥

यक्तव्य——सहज और जन्मोत्तरकालज ऐसे अर्थ के प्रयत्न विभाग हैं । सप्तासत्तु द्विवायवर्णीयसि सहजानि अन्तेत्क जानि ॥ (अटाग्नशम्भ्र) । इस दूत्र में जो है प्रतिर्दिष्ट किये हैं उनमें से पहले पांच प्रकार जन्मोत्तरका अर्थ होते हैं । चार और बातामट में इसके छ प्रकार वह किये हैं, क्योंकि वहाँ संसार व्यतन्त्र प्रकार माना गया । पहले संसार का समावेश ‘संविपात’ में ही किया गया है ।

तत्रानात्मयतां यथोक्तेः प्रकोपणैर्विद्युत्तात्यशी अधिप्रसङ्गोत्कालसनूपयानवेगमिधरणादिविषयेषैर् प्रकृष्टियां दोपा एकशो द्विशः समस्त शोषितसंहिता या यथोक्त प्रश्नताः प्रधानघर्मर्त्तुप्रपत्यायो गत्या गुदमारम्भ ग्रन्थ्य गुदवर्ल मांसप्रदोहात्मनयन्ति विशेषतो मन्दाप्तेः । तत्

एकाष्ठोपललोष्टुवेखादिभिः शीतोदकसंस्पर्श-
दा कन्दाः परिवृद्धिमासादयन्ति, तान्यशांसीत्या-
द्यते ॥३॥

बणमध (२१ वा अध्याय सून्दर्यान) अध्यायोक्त प्रको-
ह कारणों से तथा विलुप्ताशन, भोजन पर भोजन, अति-
तिसेवन, उल्कटुकासन, (वश, वृष, उष्टुदि की) धीठ पर
वारी करना, धेगदिधारण हृत्यादि दिशेष कुपथ्यों से कुपित
ए अनात्मवान् मनुष्यों के दोष एक एक, दो दो, तीनों तथा
कषहित अनेक प्रकार से प्रसारित हुए प्रधान धमनियों में
वेग कर नीचे की ओर गुदस्थान में प्राप्त होते हैं, और
गुदा की त्रि) वलि को दृष्टि कर मांसप्ररोह (अर्थात्
स्ते) उत्पन्न कर देते हैं । विशेष करके (मांसप्ररोह की
त्रिति) मन्द अस्त्रिवाले मनुष्य में (अधिक हुआ करती
।) तथा तृण, कान, पत्थर, ढेला, खख हृत्यादि (की
गढ़) से, अथवा ढेरे जल (तथा शीत और वार्द्ध भूमि
गादि) के संसर्य से वे मस्ते परिवृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं;
नको (पूर्वाचार्य) अर्थ (अर्थात् वयासीर) कहते हैं ॥३॥

बक्तव्य—अनात्मवान्—मन्दकर्म या आलसी । हृसी
र्थ से आगे चिकित्सास्थान के ३६ वे अध्याय में अनात्म-
न् शब्द का प्रयोग किया है—अनात्मवन्तः पशुवद् मुजन्ते वेऽप्र-
णतः । रोगानीकर्त्य ते मूलमजीर्ण प्राप्नुन्ति हि ॥ Leading a
sedentary life । उल्कटुकासन—कठिन आसन पर बैठना,
ईवा 'गुदाशार्णीसामयोगः प्राहुरुक्तुकासनम्' । भाषा में 'उकिछु'
उना । चरक और वामभट में लिखा है—तपोलुक्तुकियम-
गठिनासनसेवनात् । देवविधारण—मल, मूत्र और वायु के उत्पन्न
गांतों को रोकना । उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त धेगोदीरण,
प्रवाहण की जिनमें आवश्यकता हो ऐसे विकार यथा गुद-
नेरोध, मूत्राशमरी, अधीलवृद्धि (Enlarged prostrate)
हृत्यादि यकृत, विकार, यकृदाल्युदर, जलोदर, पुराना मला-
रोध हृत्यादि कारणों से भी अर्थ उत्पन्न होते हैं । खियों में
इन कारणों के अतिरिक्त सगर्भादस्था, गर्भाशय के अर्द्धुद,
पर्माण्य का अपसरण हृत्यादि कारणों से अर्थ उत्पन्न होते
हैं । प्रथानपमनी—अधीवेगामी दश धमनियों में । अर्थ की
प्राप्ति—अर्थ मलाशय की शिराश्रों की विकृति है । आन्त्र
मि शिराएँ चौड़ाई की ओर रहती हैं । परन्तु मलाशय की
शेराएँ लम्बाई की ओर रहती हैं । हृसके अतिरिक्त उनमें
फ्लाट (Valve) नहीं होते तथा उनके चारों ओर कोई
मजबूत आधार भी नहीं होता । अतः मल त्वागने से पहले
मौर पीछे, प्रवाहण करते समय तथा उपर्युक्त कारणों से हृनमें
एक भर जाता है । यदि उपर्युक्त कारण चिरकाल तक
हैं तो सदा के लिये शिराएँ फूलकर भृस्ते बन जाते हैं । इन
त्रिग की उत्पत्ति में कुलजप्रवृत्ति भी होती है—तत्रादिवलप्रवृत्ता ये
शुक्रोनितेदोपान्वयाः कुषारीःप्रभृतयः ॥ (सूत्र, अ. २४) ।
पाशाशय वैष्टक में अर्थ की कुलजप्रवृत्ति नहीं मानी जाती ।
परन्तु यह मत असत्य है, क्योंकि अर्थ में जिस प्रकार की
सिराविकृति (सिराकुटिलता—Varicosity) होती है उस

प्रकार की सिराविकृति उत्पन्न होने के लिये परंपराग्राही
सिराओं की रथना और सिराओं की दीवार की कमज़ोरी
आदिकारण होता है । (१४६ पृष्ठ देखो) । 'शीतोदक'
हृत्यादि—ये अर्थ की उत्पत्ति के कारण नहीं हैं, परन्तु
उत्पन्न हुए अर्थ के मस्तों में प्रकोप या क्षेभ उत्पन्न
करने के कारण हैं ।

तत्र स्थूलाव्यप्रतिवद्धमर्घपञ्चाङ्गुलं गुदमाहु,
तस्मिन् वलयस्तिस्त्रोऽध्यर्थाङ्गुलान्तरसंभूताः प्रवा-
हरी विसर्जनी संवरणी चेति ॥४॥

चतुरङ्गुलायताः; सर्वास्तिस्त्रियोकाङ्गुलोच्छ्रिताः ।
शस्यवर्तनिभाश्चापि उपर्युपरि संस्थिताः ॥५॥
गजतालुनिभाश्चापि वर्णतः संप्रकीर्तिताः ।
रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्थो गुदौषः परिकीर्तितः ॥६॥

प्रथमा तु गुदौषाङ्गुलमात्रे ॥७॥

(गुदवर्णन—) शरीर में (तत्र) स्थूलान्त्र (के
अन्तिम भाग) से मिला हुआ साडे चार अंगुल (प्रमाण)
का गुद है । उसमें देह देह अंगुल के अन्तर पर उपस्थित हुई
प्रवाहणी, विसर्जनी और संवरणी भासक तीन वलियाँ होती
हैं ॥४॥ सब वलियाँ (मिलकर) आयतन (लम्बाई) में
चार अंगुल (दीर्घ), तिरछी, एक अंगुल उभरी हुई और
गृह्णवार्ता (पेच) की तरह एक के ऊपर एक स्थित होती
है ॥५॥ तथा वर्ण में हाथी के तालु के समान होती हैं । (गुद-
समीपवर्ति) वालों के किनारे से गुदौष देह यव (अन्तर पर) प्रथम
वलि (संवरणी) होती है ॥६॥ और गुदौष से एक अंगुल (अन्तर पर) प्रथम
वलि (संवरणी) होती है ॥७॥

बक्तव्य—र्थप्रवाहुरुलम्—र्थपञ्चमंगुलं यस्मिन् तत्त्वा,
अर्थात् साडे चार अंगुल । युद—रोमान्त से साडे चार अंगुल
लंबाई का महाक्षेत्र का अन्तिम भाग । प्रत्यक्षशारीर की
दृष्टि से इसमें गुदौष (Anus), गुदनलिका (Anal canal)
और मलाशय (Rectum) का अन्तिम हूंच भर का हिस्सा
समाविष्ट होता है । वलयः—छाले या भुरियाँ, Transverse
folds called Houston's Valves । प्रवाहणी, विसर्जनी,
संवरणी चेति—मलस्थायः पीड़नात् प्रथमा प्रवाहणी, गुदविस्कारणे
मलविसर्जनाद् द्वितीया विसर्जनी, गुदसंकोचन्याश्व्य (Spinoteter-
ani) पेशीदमयता चक्राकारा वलिसु संवरणी नाम । (प्रत्यक्ष
शारीर) । इनमें प्रवाहणी सबसे ऊपर, विसर्जनी सभ्य में
और संवरणी गुद-द्वार के पास सबसे नीचे होती है—वलयः
प्रवाहणी तासान्तर्मंथे विसर्जनी । वाण्या संवरणी तस्या गुदौषे बहि-
रुण्णे ॥ (अष्टांगगहदय) ॥ चतुरङ्गुलायताः—आयतन में चार
अंगुल । गुदौष से तीसरी वलि तक गुदनलिका की लंबाई
चार अंगुल होती है; यथा—गुदौष से प्रथमा वलि (संवरणी)
एक अंगुल, प्रथमा से द्वितीया देह अंगुल और द्वितीया से
तृतीया (प्रवाहणी) देह अंगुल । एवं वलियों का स्थान कुल
संबाई में चार अंगुल होता है । इस चार अंगुल के स्थान में
अर्थ उत्पन्न होते हैं । इसलिये अर्थाचिन्ता का आयतन (दैर्घ्य

या लगाई) सर्वेदा (हिंगनिरपेक्ष) चार ही अगुल होता है—तद गत्र (अर्थायत्र) गोलनाकर चतुरुण्यायत्रम् । (सुचि अ—५) अर्थात् गोलनाकर यत्रक चतुरुण्यम् । (अष्टाग हृदय) । परतु परिणाम (Circumference) स्त्री और मुहर के अर्थायत्र में बदलता है—व्याकुलवरिणाम् युत्स वद्युक्तवरिणाम् नारीणाम् । (अ—४) । नाहे पचागुल युसा प्रयदानाम् वद्युक्तम् । (अष्टागहृदय) । हाराणवन्धनं चतुरुगुला यत का अर्थ ‘चतुरुण्यपरिणामहुतु’ ऐसा करते हैं—भव चतुरुण्यायत्रा इति सुखित्वावस्थायामित्वेवाविषेषम्, अन्वया युसा नारीणा य वद्यक्तम्युद्देश्यमानं पश्चात्कुलपरिणामस्त्रोद्यमनुपत्तम् स्वाद ज्ञान प्रमाणाणेक्षया स्फूलनलाल ॥ ११७ ॥ उपर्युक्त विवेचन से यह अर्थ अगुल है, इसमें कोई सन्देह नहीं होगा । यहाँ गुद का जो वर्णन किया है, वह आयुनिक शारीर वर्णन के साथ हीक ठीक मिलता है । इस चार अगुल के स्थान में जो सिराएँ होती हैं वह इच्छा विशेषता के कारण विकृत हो जाती हैं और अर्थ उत्पत्त होता है ।

तेपां तु भविष्यतां पूर्वसूपाणि-अप्तेऽधद्या कृच्छात्परिकर्म्लीका परिदाहो विष्टमः पिपासा सक्षिप्तसदनमाटोपः काश्यमुद्रायाहुल्यमदणोः श्वयपुरुषकृजनं गुदपरिकर्तनमाशङ्का पाण्डुरोग-प्रदृष्टीदोषोदाराणों कासश्वासौ यलहानिर्भमस्तन्द्रा निद्रन्द्रियदीर्घव्यं च ॥१॥

उनके पैदा होने के पूर्वहृप—अब खाने में भद्रा न होता (अभ्यक्तान्द), कट से भज का पचन होता, लाडी इकारे आवा, जलन, देट बफना, प्यास, दौर्गों में यकाशट, देट में गुडगुड होता, शरीर हृण होता, इकारे बहुत भाना, अस्त्रों पर सूतन, और में बारीक गद्द होता, युदा में कठरनी सी पीटा, पाण्डुरोग गृष्णी और उदर की यका होता, कास, श्वास, कमजोरी, अम, तन्द्रा, निद्रानाप और इन्द्रियों में दुखलता है ॥

आतेश्वेतन्येष लक्षणानि प्रद्यक्ततराणि भय-
नित ॥१॥

(अर्थ) उपर्युक्त होने पर ये ही लक्षण अधिक (जोर से) प्रकट होते हैं ॥१॥

यस्तद्य—उपर सूत दो में दोरों के अनुमार अर्थ के वर्णन पर प्रकार कर्णन किये हैं हायापि स्वानिक विहति और व्यवहार की हाई से भारों के दो ही भेद किये जाते हैं—गुरुक और अप्तविशारी—गुरुक्त्वाविवेदाय । (अष्टागहृदय) । ये भेद भी दोनों के अनुमार ही किये गये हैं—वापरेषोदाराण्यानुगुरुक्त्वान्तसि तदित् । प्राचीविति तथाद्रिति रसरिणेन्वाननि च ॥ गुरुक्त्वान्तसि तदित् । प्राचीविति तथाद्रिति रसरिणेन्वाननि च ॥ (चरक, अर्थचिकित्सा) । आयुनिक परिभासा में गुरुक की (चरक, अर्थचिकित्सा) और परिवारी की भावायतीय वादी (External) और परिवारी की भावायतीय वादी (Internal) कहते हैं । गुरुक् या वादी—ये अर्थ गुरीड (Internal) कहते हैं । गुरुक् या वादी—ये अर्थ गुरीड (Internal) कहते हैं । प्राचीकों द्वारा की भाविति होते हैं । प्राचीक के बाहर चारों ओर परिवेश की भाविति होती है, उसके बाहर से दो रहते हैं प्राचीक अवस्था में ये मुदु रहते हैं और प्रतीत नहीं होते सलन बज्जा, वज्जादि की रगड़, सोल स्थान पर बेठना इत्यार्थ कारबों से जो ये प्रतिपित् और गोप्यकुल होते हैं तब वे को पीड़ा होती है और उलने किरने में कष्ट होता है । शोषः भीतर की सिरा कूलती है, सीनिक तन्तु वर्षते हैं और व्यव मोटी होती है । इस तरह चार वार वार शोष होते में अर्थ क कठिन गाँठें बन जाती हैं । ये अर्थ प्राय सूर्य रहते हैं, इसकी इनको शुक्रार्थ कहते हैं । परिस्वामी भाव—ये अर्थ गुरीड वे भीतर होते हैं, हमलिये अभ्यतीरीय अर्थ भी कहलाते हैं इनके बीच में गौड़ीनी सिराएँ अधिक होती हैं, उनके चार ओर सीनिक तन्तु होते हैं और सबसे ऊपर सैमिक कठोर क आवरण रहता है । प्रारंभ में ये मुदु होते हैं और गुरुक और गुरीड इकाले से दब जाते हैं, परतु बुद्ध काल पश्चात् रगा से चार वार वार प्रकृतिल होने से ये भी कहे बन जाते हैं । शोष के समय ये बाहर निकल आते हैं । इनसे शेषा (Mu-
cu) तथा रक का स्वाय अधिक होता है, इसलिये इनके परिवारी अर्थ या राणार्थ (Bleeding, piles) भी होते हैं । अर्थ में जो विविध सहाया दियाई देते हैं उनके स्वानिक पीड़ा और इलाजाद ऐसे ही प्रधान कारण हैं । स्वानिक पीड़ा के मलावरोध, विषम्भ, आटोप, मन्दास्ति, दकार, गुरुपरिक्त्वम् इत्यादि सहाय उपचार होते हैं । मलावरोध से भ्रात में दूष सह जाता है, और विष उत्पत्त होते हैं, यो रक में मिलने से स्वान्तरित्वात् (Iuto intoxication) पैदा होती है । इससे कम्पावरी, इन्द्रियस्त्रीवैद्य, तन्द्रा इत्यादि सहाय होते हैं । रक्तादा से पाण्डु रोग, श्वास, यकायत इत्यादि सहाय उत्पत्त होते हैं—तस्य (रक्त) चानिप्रदृष्टी शोनितात्वोपद्रव भवति ॥ (सूत्र १३) ।

तत्र मारुतापरिगुप्तकाद्यविषयाणि विषम्-मध्यानि कदम्यपुण्यतुरिङ्केरीनादीमुकुलस्त्रीमुल-कृतीनि च भयन्ति, तैरुपतु(ह)तः सगूल सहत मुपेवशयो, कटीपृष्ठापार्थमेद्यगुप्तानाभिमदेशेषु वास्य वेदना भयन्ति, गुरुमादीलामृषीदोदराणि वास्य तद्विमित्तान्येष भयन्ति, गुरुपरिगृहन्तनयनदृश्यन्तमूलपुरीप्रथम् पुरुषो भयन्ति ॥१०॥

(वाकार्य—) इनमें वात से अर्थ मूले (त्रिसे भाव न हो) किंचित् रक्तवर्णं या विविधर्वासे, सुरादेश, कठम्पुष्पसद्या, लक्षणात् (के जल) सहय, नाड़ी के उपसरण या सुही के उपसरण होते हैं । इनसे पीड़ित मुख्य भीम पीड़ा के साथ छें मल का यात्रा करता है, उससे इटि, रीढ़, पार्श्व, विषय, गुरु और भावनि बदहों में पीड़ाहीं होती हैं; उड़ी के कारण उसको गुरुम, बाटीला, झीहाहूदि उपचार होती है और उसकी लक्षण, मल, नेत्र, गुरु, दृष्टि, मूत्र और गल कामे पड़ जाते हैं ॥१०॥

पिपासालामाण्य तन्त्रनि पिसरीणि पीतादमा सानि यष्टप्रकाशानि दुक्तिगिर्दासंस्थानानि यर्द-१ नारीमुरा-

मध्यानि जलौकोवक्षसदृशानि प्रह्लिदानि च भवन्ति; तैरुपद्मु(ह)तः सदाहं सरुधिरमतिसार्थते, ज्वर-दाहपिणासामूर्च्छास्योपद्रवा भवन्ति, पीतत्वद्-नयनदशनवदशनमूत्रपुरीष्य पुरुषो भवति ॥११॥

(पित्तार्थ—) पित्त से (उत्पन्न हुए) अर्थ ग्रन्थभाग में नैं, कृष्ण, फैलेवाले, किंचित् पीलापन लिये, यकृत् के समान चमकिले, तीते की जिद्धा के आकार के, मध्य में स्थूल, जोंक के मुख के समान, और फिरेवाले होते हैं। इनसे पीडित हुए मनुष्य को जलन और खून के साथ दस्त होते हैं; ज्वर, दाह, प्यास और मूर्छा ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं; उसकी ल्वचा नख, नेत्र, दाँत, सुख, मूत्र और मल पीले हो जाते हैं ॥११॥

श्लेष्मजानि श्वेतानि महामूलानि स्थिराणि वृत्तानि स्त्रिघानि पाण्डूनि करीरपनसास्थिगो-स्तनाकाराणि न भिद्यन्ते न स्वचन्ति कण्ठवहुलानि च भवन्ति; तैरुपद्मु(ह)तः स्त्रेष्माणमनलपं मांसधा-यनग्रकाशमतिसार्थते, शोफशीतज्वरारोचकाविपाकशिरोगौरवाणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति, शुक्रत्वद्वन्दशनयनदशनमूत्रपुरीष्य पुरुषो भवति ॥१२॥

(श्लेष्मार्थ—) कफ से उत्पन्न हुए अर्थ सफेद, जड़ में भौंट, कठिन, गोल, चिकने, धौंसूर, करीर (मरुजदुम—Capparis Spinosa—का फल), कठहल की गुठली या द्राक्षा (गोस्तना) के आकार के होते हैं; न थे फटते हैं न भरते हैं (यानि न उनसे रक्त का स्राव होता है) और बहुत सुजलाते हैं। उनसे पीडित हुआ मनुष्य अँवयुक्त, सांसधाचन के समान अधिक राशि में मल का उत्सर्ग करता है; उनके कारण उसको शोथ, शीतज्वर, अरुचि, बदहृजमी, सिर में मूत्र और मल पाण्डुरवर्ण हो जाते हैं ॥१२॥

रक्तजानि न्यग्रोधप्ररोहविद्वुमकाकणन्तिकाफल-सदृशानि पित्तलक्षणानि च, यदाऽवगाढपुरीष्य (प्रवृत्ति)पीडितानि भवन्ति तदाऽत्यर्थं दुष्टमनलपमस्तुक्षसहसा विस्तृजन्ति, तस्य चातिप्रवृत्तौ शोणितातियोगोपद्रवा भवन्ति ॥१३॥

(रक्तार्थ—) रक्तजन्य अर्थ (वर्ण में) बट की झेपल, प्रवाल या तुँजा के समान और लक्षणों में पित्तोल्बणी के समान होते हैं; जब कड़े मल से रगड़ जाते हैं तो और से दुष्ट रक्त का खून उत्सर्ग करते हैं। रक्त का अर्थात् उत्सर्ग होने से शोणितातियोगजन्य उपद्रव उत्पन्न होते हैं ॥१३॥

वक्तव्य—दृष्टे—रक्तार्थ में जो खून निकलता है वह प्रायः सिराओं से आता है, इसलिये अगुद्ध रहता है। परंतु कभी कभी धमनी से भी आता है। अनल्य—प्रारंभ में मल व्यापने के पश्चात् खून के कुछ वृद्ध आते हैं, परंतु कुछ

समय के पश्चात् रक्त अधिक मात्रा में आने लगता है, और कभी कभी अन्यथिक मात्रा में निकलता है जिससे रक्त-हीनता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। शोणितातियोगद्रवा—तदति-प्रवृत्त शिरोऽभिनापमांध्यमणिमन्थतिमिरपादुर्भाव धातुक्षयमाज्ञेपक पक्षाघातमेकाङ्गविकार तृष्णादाहों हिफा कास शाम पाण्डुरोग मरण चापावयति ॥ (सूत्र. अ. १४) । स्थानिक उपद्रव—अर्थ द्वारा वार प्रकृष्टि होने से रक्तस्राव के अतिरिक्त मलाशयशोध (Proctitis), गुदविद्रवि, गुदकौलन्दरविद्रवि (Ischio-rectal abscess), भांगदर (Anal fistula), गुदचीर (Anal fissure), अर्थांत्रय और अर्थविपाश (Prolapse and strangulation), गुदब्रंश, गुदसंसिरोध, गुद का क्यैन्सर (Cancer) हस्तादि अनेक गुद के उपद्रव उत्पन्न होते हैं:—तेपां प्रशमने यत्नमाशु कुर्यादिचक्षणः । तान्याशु हि गुदं वद्धा कुर्याद्वद्धुद्योदरम् ॥ (चरक) ।

सन्निपातजानि सर्वदोपलक्षणयुक्तानि ॥१४॥

(सन्निपातार्थ—) सान्निपातिक अर्थ सर्व दोषों (से तथा उन) के लक्षणों से युक्त होते हैं ॥१४॥

वक्तव्य—श्वापि सर्वोरोग त्रिशोपज (न रेगोऽप्येक-दोषजः) हैं, तथापि दृढबल के अनुसार अर्थ प्रायः सन्निपातज होते हैं—पश्चात्मा मास्तः पित्त कामे गुदवलिश्यम् । सर्व एव प्रकृष्टि-नित गुदजानां समुद्देवे ॥ अर्थात् सुख जायन्ते नासन्निपतितैस्तिभिः । दोषैरोपविरोप्तु विशेषः कल्यते दर्शसाम् ॥ (चरक, अर्थचिकित्सा) ।

सहजानि दुष्टशोणितशुक्रनिमित्तानि, तेपां दोषत एव प्रसाधनं कर्तव्यं, विशेषतश्चैतानि दुर्दर्शनानि परस्पाणि पाण्डूनि दारुणान्यन्तर्मुखानि, तैरुपद्मुतः क्षशोऽल्पसुख सिरासन्ततगांत्रोऽल्पप्रज्ञः क्षीणारेताः शामस्तरः क्रोधनोऽल्पपृश्चित्राणशिरोऽक्षिंश्रवण-रोगवान्, सततमच्छुजान्दोपहृदयोपलेपारोचक-प्रभृतिभिः पीड्यते ॥१५॥

(सहजार्थ—) सहजार्थ मातापिता के बीजदोष के कारण उत्पन्न होते हैं; उनका भी वर्णकिरण (प्रसाधन) दोषों (के लक्षणों) के अनुसार करना चाहिये । ये अर्थ विशेष करके (सूदम या भयंकर होने के कारण) दुर्दर्शन, कर्कश, धूसर, दारुण और अन्तर्मुख होते हैं। हृत्से पीडित हुआ मनुष्य कृश और अल्पभोजन करनेवाला होता है; उसके अंगों पर सिराओं के जाल प्रकटरूप से दिखाई देते हैं; उसके सन्तान कम होते हैं; क्षीणवीर्य होता है; आवाज मन्द होती है; कोधी होता है; मन्दामिलुक रहता है; नासा, सिर, नेत्र और कान के रोगों से पीडित रहता है; तथा सदा आँतीं में गुहगुह, अफारा, हृदय में भारीपन, अरुचि हस्तादि, से व्यास रहता है ॥१५॥

वक्तव्य—सहज—तत्र सहजानि सहजातानि शरीरेण ॥ (चरक) । Congenital । पाश्चात्य वैद्यक में सहज अर्थ का उल्लेख नहीं मिलता है । प्रसाधनम्—लिङ्गः प्रभेदसाधनमिति तात्पर्यम् ॥ (हाराणचन्द्र) । दुर्दर्शनानि—‘कानिचिदण्णनि कानि-चिम्भानि कानिचिदीर्थणि’ हस्तादि ॥ (चरक) । सिरासन्तत-

गाव—जिसके शरीर पर सिराओं के जाल ऐसे हुए साफ साफ दिखाई देते हैं—भयनीजालसनत । (चाक) । भगवी तन प्रलापी । (सुखन) । With enlarged and distended veins ।

भयति चात्र—

याहामध्यवलिस्थानां प्रतिषुर्यादिप्रथरः ।

अन्तर्धलिसमुथानां प्रत्याख्यायाचरेत् कियाम् ॥१६॥

(स्थानानुसार साम्यासाभ्यत्वं) भियोअध याहा और मध्य वलि में उल्लङ्घ हुए धर्य की चिकित्सा (उनको साम्य समझकर) करे, और सबसे भीतर की वलि में उल्लङ्घ हुए धर्य की चिकित्सा (उनको) असाम्य समझकर करे ॥१६॥

धकड्य—सत्त्वाओं के अनुमार असाम्यत्व पीछे (पृष्ठ १०३) सुन्दर्यान के ३३ वें अध्याय में 'तृष्णारोचक' इत्यादि श्लोक से धर्यन किया है । चाक में असाम्यता के निष्प लक्षण मिलते हैं—हरे पादे गुदे नाभी मुखे धृष्णयोत्पत्ता । शोषे इत्यार्थेषु च यस्यासाप्तोऽर्थात् हि स ॥ इत्यार्थेषु समोह इत्यादित्य उच्चवर । दृष्ट्यु तुरस्य पाक्षं निन्दनुद्देशजातुरम् ॥(चाक, अर्थात् चिकित्सा) । ये सत्त्वात् तथ उल्लङ्घ होते हैं जो तु तुरस्याक के कारण रक्त में जहर प्रवृत्त होकर समस्त धर्यर में पैदलता है और यिप्पमयता (जहरावाद—Toxaemia) या पूर्ण पत्ता (Pyæmia) उल्लङ्घ होती है । आजकल शब्दकर्म के कारण धर्य की असाम्यता बहुत कुछ दूर हो गई है । तुरस्य का धर्यन यही समाप्त हुआ है ।

प्रकुपितास्तु दोपा मेद्रूमभिप्रपदा मांसश्योणिते प्रदूष्य करण्व जनयनिति, ततः कराह्यनात् ज्ञातं समु-पञ्चायते, तस्मिष्व धाते हुएमांसजाः प्रोद्धाः पिच्छु-लद्धिरक्षाविष्णो जायन्ते कृचकिनोऽभ्यन्तरमुप-रिष्णादा, से तु शेषो विनाशयन्तुरुपग्रन्ति च पुरुष्यं । योनिमिप्रपदा: सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छुल-रक्षित्रज्ञाविष्णुक्षत्राकारान् करीराज्ञनयनिति, ते तु योनिमुपग्रन्त्यतर्वं च ॥१७॥

(सिंहासन—) प्रदूष्य हुए दोष यिष्य में प्राप्त होकर मांस और रक्त को दूषित करके लात पैदा कर देते हैं, तथ सूक्ष्माने से धाव पह जाता है, तस धाव में (यदि धाव यिष्य-मणि पर हो तो) यिष्यमणि पर या (यदि धाव यिष्यकर्म में हो तो) यिष्यकर्म पर हैर्षी के बाल के समान कड़े लम्फार इल्लुक धाव बढ़ने वाले हुएमांसञ्जन्य धंडुर उल्लङ्घ होते हैं, ये यिष्य की नाश करते हैं और तुरस्याक का धात करते हैं । (खिंची की) योनि में प्राप्त हुए (वातादि प्रकुपित दोष मांस और शंखित को दूषित करके) कौमाम, दुर्गन्धुक, समदार तुरस्याक धाव करने वाले द्रव के धाकाकार के धंडुर उल्लङ्घ करते हैं, वे योनि को लात कर आत्मव को भी नाश कर देते हैं ॥१८॥

यत्तद्य—पश्चात् धर्य दम्भ का अवधार किया गया है, तापापि धर्य से धारो और धर्य वर्णन किये हैं वे एक विभिन्न प्रकार की विहृति है । पश्चात् परिमात्रा के अनुसार विनक्तो

पेपिलोमा (Papilloma), वार्ट (Wart), कॉन्डिलो (Condyloma), ग्रासुलोमा (Grenuloma) और पॉपस (Polypus) कहते हैं, वे सब विकार इसमें समाविष्ट अन्तर्नालुपरिष्टात्—खाला फूल भीतर या कपर अर्थात् गिर्खन् (Glans penis) पर या विश्वलच्चा (Prepuce) करीर—अकुर । योनि—योनिमार्ग या गर्भांशय । वामदार इसको लिंगायं कहते हैं । इस रोग के विवेष विवरण के द्वारा आगे १२ वें अध्याय के ११ वें सूत्र का वर्कम देखो ।

नाभिमिप्रपदा: सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छुलान् गण्डपदमुखसदशान् करीरान् जनयनित एवोर्ध्वमागताः श्रोत्राविद्याणुवदनेवश्चास्युपरि तयनिति; तत्र कर्णेजेषु धाधियं शूलं पूतिकण्ठं नेत्रजेषु धर्मविरोधो धेदना ज्ञावो दर्शननाश ग्राणेजेषु प्रतिश्यायोऽतिमात्रं ज्ञावधुः कृच्छ्रोच सता पूतिनस्यं सातुनासिकवाक्यत्वं शिरोतुच; यक्षेजेषु करदौष्टात्तलूनामन्यतमस्मित्स्तीर्णी वाक्यतां रसायानं सुखरोगाभ्य भवनित ॥१८॥

(अन्यस्थान के अर्थ—) नाभि में प्राप्त हुए कोमल, दुर्गन्धुक, लसदार, केंचुप के सुख के समान उल्लङ्घ करते हैं । ये ही ऊपर गमन करने पर कान, नाक, और सुख में धर्य उल्लङ्घ करते हैं । उनमें से कान (अर्थ उल्लङ्घ होने पर) यिताता (बहाराप), शूल, कान में दुर्गव (उल्लङ्घ होती है), नेत्रों में (उल्लङ्घ पर) वर्षे (पलक) की (गति में) लक्षावट, भी धार्य का बहना और दृष्टि का (न्यूनाधिक) नाश (उल्लङ्घ होता है), नासा में (उल्लङ्घ होने पर) बुकाम, बहुत अनाना, सांस लेने में कठिनाई, नासा में दुरीप, अनुग्रही (गुणगुणी) आवाज और सिरदर्द (उल्लङ्घ होता है) सुख में कण्ठ, होठ या तालु में से किसी एक पर होने वाले विषेशाल में लक्षावट, रसशान का नाश और (अनेक मुखरोग उल्लङ्घ होते हैं ॥१९॥

यानस्तु प्रकुपितः अलेपाणुं परिगृह्य इति स्विरायि कीलयशास्त्रिनि निर्वर्तयति, तानि च वृक्षीलान्यशोसंसीयाच्यत्ते ॥१९॥

(चम्कील—) प्रदूष्य व्यानवायु कफ को प्रहव द्वारा लक्षा पर दियर (ओ जल्दी बहुते भरी रेते) की ल समान भरसे उल्लङ्घ करनी है; वे चम्कील अर्थ (त्वचात्त उल्लङ्घते हैं ॥२०॥

भयनित चात्र—
तेषु वीलेषु निस्तोदो मादतेनोपजायते ॥२१॥
तेषेष्याना तु स्वयंसंवयं धनिधत्यं च विनिर्विषेत ॥२२॥
पित्तशोषेषितं एष्यरेत्तत्वं जिंग्यता तथा ॥२३॥
समुदीर्णयत्वं ॥ च चम्कीलस्य लक्षणम् ॥२४॥

(दोषों के अनुग्राम उल्लङ्घ—) उन चम्कीलों में वा दोष से बीड़ा उल्लङ्घ होती है; कफ से (कफ के १ दोष उल्लङ्घ होता है) तथा २ प्रहवा,

मान (श्रेत्र) वर्षी और शैठीलापन आता है; पित्त और कफ से कालापन तथा लासी होती है; (इनके अतिरिक्त कफ विग्रहता और (वात से) तीव्रपात्र्य ये भी चर्मकील वृद्धि होते हैं ॥२०,२१॥

बक्तव्य—चिकित्सा और समुदीर्णखरत्व में पीछे बताये हुए गुण क्रम से कफ और वात के समझने चाहिये— तेन तोदपात्र्यं पित्तादसितरत्ता । लेघ्मणा लिखता तस्य अधितत्वं वर्णता ॥ (अष्टांगसंग्रह) । सर्वर्णत्वम्—श्लेष्मा का सर्वर्णत्वम् । व टीकाकार इसका अर्थ ‘गात्रसवर्णता’ करते हैं, परन्तु हठीक नहीं है । अनेक प्राचीन टीकाकार चर्मकीलों का यान गुदौष के बाहर (वहिः) गुदसमीपवर्ति प्रदेश में आने हैं । परन्तु यह मत शास्त्रविरुद्ध और प्रत्यक्षविरुद्ध ; क्योंकि चर्मकीलोत्पादक व्यानवायु सर्वशरीरचर (कृत्स्नव्यायो व्यानः; सुकृतः) होती है और चर्मकील भी भरीर पर नेक स्थानों में दिखाई देते हैं ।

पर्शसां लक्षणं व्यासादुक्तं सामान्यं तस्तु यत् ।

त्सर्वे प्राचिविनिर्दिष्टसाधयेऽन्धिषजां वरः ॥२२॥

(चर्मकील प्रकार के) अर्थों के (दोषानुरूप) लक्षण उपर के दो श्लोकों में) विस्तार से कहे हैं; परन्तु (मेट्रादि उपर होनेवाले अर्थों के लक्षण) जो संक्षेप से बताये हैं, उनको भिन्नक्रेष्ठ (दोषानुरूप) पूर्व (व्याप्रभ मध्याय में, वातव्याधि अध्याय में या पूर्वोक्त श्लोकों में) नैर्दिष्ट वर्णन के अनुसार समझ ले ॥२२॥

अर्थः सु हृश्यते रूपं यदा दोषद्वयस्य तु ।
संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः स च पद्विधिः ॥२३॥

अर्थ में जब दोषों के लक्षण (मिले हुए) दिखाई देते हैं तब वह दोपसंसर्ग समझना चाहिये । यह संसर्ग क्र प्रकार का होता है ॥२३॥

बक्तव्य—पद्विधिः—वातपित्त, वातकफ, पित्तकफ, वातरक्त, पित्तरक्त और कफरक्त ।

चिदोपात्रयलिङ्गानि याप्यानि तु विनिर्दिशेत् ।
द्वन्द्वजानि द्वितीयायां चलौ यान्याश्रितानि च ॥२४॥

कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ।
सम्प्रिपातसमुत्थानि सहजानि तु वर्जयेत् ॥२५॥

(याप्य, कृच्छ्रसाध्य और असाध्य अर्थ—) चिदोपजन्य (परन्तु) योडे लक्षणयुक्त अर्थ याप्य समझना चाहिये; चिदोपजन्य, दूसरी (मध्य विसर्जनी) वलि में स्थित हुए, लाल से अधिक पुराने अर्थ कृच्छ्रसाध्य कहलाते हैं । चिदोपजन्य (परन्तु अधिक लक्षणयुक्त) और सहज अर्थ असाध्य होते हैं ॥२४,२५॥

बक्तव्य—परिसंवत्सराणि—पस्तितोऽतिक्रान्तः संवत्सरो भैलानि । सुखसाध्य का लक्षण—वासायां तु चलौ जातान्येकोपेत्यानि च । अर्थांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पत्तितानि च ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

सर्वाः स्वर्वलयो येषां दुर्नामभिरुपद्रुताः ।

१ सुरेपतस्तु

तैस्तु प्रतिहतो वायुरपानः सर्विवर्तते ।
ततो व्यानेन सङ्गम्य ज्योतिर्मुद्राति देहिनाम् ॥२६॥

इति सुकृतसंहितायां निदानस्थानेऽर्थोनिदानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

जिन मनुष्यों की (गुदा की) सारी वलियाँ अर्थों से पीड़ित होती हैं, उनकी (नीचे की ओर) अर्थों से अवरुद्ध हुई अपानवायु उलटी (ऊपर की ओर) चल देती है, और पश्चात् व्यानवायु से मिलकर, मनुष्यों की ज्योति का नाश कर देती है ॥२६॥

श्ति भास्कररामणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यापिकायां सुकृतभाषाटीकायां निदानस्थानेऽर्थोनिदानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातोऽश्मरीणां निदानं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से अश्मरी के निदान का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

बक्तव्य—अश्मरी—वस्तिगत अश्मरी । वस्तिगत अश्मरी को वैसिकल व्यालक्यूलस (Vesical calculus) कहते हैं । पथर (अश्मा) के समान कठिन होने से इसको अश्मरी या पथरी कहते हैं ।

चतस्रोऽश्मर्यो भक्तिं श्लेष्माधिष्ठानाः; तदथा—
—श्लेष्मणा, वातेन, पित्तेन, शुक्रेण चेति ॥२॥

(अश्मरी संख्या—) श्लेष्मा के ऊपर अधिष्ठित हुई अश्मरियां चार प्रकार की होती हैं । जैसे—कफ से, वात से, पित्त से और शुक्र से ॥२॥

बक्तव्य—श्लेष्मोपादानकारणः—श्लेष्मोपादानकारणः, श्लेष्माण-सुपादाय भवति इत्यर्थः । (डल्हण) । मल रूप श्लेष्मा (mucus) को अधिष्ठान यानि केन्द्र करके उत्पन्न हुई । आधुनिक काल में अश्मरी को व्यत्यस्त काटकर देखने से यह सिद्ध हुआ है कि प्रायः उसका केन्द्र (Nucleus) शुक्र श्लेष्मा से बना रहता है । कभी कभी जमे हुए रक्त का थका या जीवाणु भी केन्द्र में मिलते हैं । इस केन्द्र के ऊपर लवण संगठित होने से अश्मरी बन जाती है । इसका विशेष विचार आगे २५,२६ व श्लोकों में किया गया है ।

तत्रासंशोधनशीलस्यापश्यकारिणः प्रकुपितः
श्लेष्मा मूत्रसंपृक्तोऽनुप्रविश्य वस्तिमश्मरीं जनयति ॥३॥

(हेतु—) (पंचकमौं से शरीर का) संशोधन न करने वाले तथा कृपत्व से रहनेवाले मनुष्य का कृपित हुआ कफ मूत्र में मिलकर वस्ति में प्रविष्ट होकर पथरी पैदा करता है ॥३॥

बक्तव्य—अश्मरी के इन प्रकार की होने के कारण उसके कारण भी अनेक होते हैं । तथापि संशोधन का अभाव और अप्राप्ति विवाह का सम्बन्ध से वायुमध्यात्मक वैकल्पिक

गरिष्ठ पदार्थों का अति सेवन, साग सब्जी तथा अन्य क्षार-
युक्त (Saline) पदार्थों का और नमक का कम सेवन, मध्य
वाय और मिट्टाका अतिसेवन, दूष की कमी, कड़ी,
मददगिरि, व्यायामाभाव, अधिक हेर तक मूत्र व्यायाम न करना,
सीसे के साथ हमेशा संबंध होने से शरीर में सीस विषयता
उत्पन्न होना, बातरक, कट्टी धूप में काम करना, कम पानी
पीने से या गर्मी के कारण पर्सीने के द्वारा अधिकांश जल
निकल जाने से मूत्र में घन पदार्थों की राशि बढ़ना, पीने के
पानी में खटिक की राशि अधिक मात्रा में उपरित रहना,
मस्तिष्कदीर्घिल्य इत्यादि अनेक कारणों से अस्थमी उत्पन्न होती
है। यह रोग दस्ती में तथा जवांती में अधिक पाया जाना
है। छिपों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है। डॉ मुख्क
की अपेक्षा गर्म मुखों में अधिक होता है। बस्तिरूप अस्थमी
की उत्पत्ति सूक्ष्म रूप से प्राय वृक्ष या गवीनी में होती है।
वह सूख अस्थमी बस्ति में आकर केन्द्र की भौति काम करती
है। इसके बारे ओर मूत्रस्थ ग्विनिजों के कर्णों के स्तर संगति
होकर पूर्ण अस्थमी बन जाती है। इसका अधिक विवरण
आगे २५ वें श्लोक के वचन्य में किया गया है।

तासां पूर्वरूपाणि—यस्तिपीडारोचकौ मूल
हृष्ट्य यस्तिशिरोमुखशेफसां वेदना कुच्छाम्ब्यरा-
वसादौ यथागन्धित्वं मूलस्येति ॥४॥

पूर्वस्त्रेऽश्वनः कुच्छान्मूर्चं सूजति मानवं ॥१॥

(पूर्वस्थृप्ति) उनके पूर्वस्थृप्ति-वस्तिस्थान में पीड़ा, अस्थायी, कट्टे से मूत्र का खाला, श्वसन, शिर, दृश्य और विच्छिन्नता में वेदना, स्मृतिक्षम्य के कारण ज्वर और कमजोरी तथा मूत्र के (उत्पत्ति) बढ़कर की सी गत्यन् ॥४॥ अस्थमी के पूर्वस्थृप्ति में मुतुषुप्ति दोषों के अनुसार वेदना और वयोरुद्धुक, दूषित, हस्त-दार, मैला आदि कह से खाला करता है ॥५॥

वृत्तद्वय—स्त्रियो—स्त्रियाद्वय Internal urethral orifice : वयास्त्रेनदाकर्णन्—दोषाननिकमेण वेदना कर्त्तव्य परिमित संकेततया ॥ (इड्ड्या) ।

अथ जातासु नाभियस्तिसेवनीमेहनेष्यन्यतम-
सिन् मेहतो वेदता भूषधारासङ्गः सद्विधर्मभूता
भूषविकिरणे गोमेदकप्रकाशमनैयिलं ससिर्वतं
विसुज्जति, भूषयनलहनस्तुष्टयानाध्यगमने-
श्यास्य वेदता भवन्ति ॥६॥

(सामान्य लकड़ी) अस्मरी पूर्ण चंदा होने पर
मुख्यतया करते समय नाभि, बलि, सेवी, विद्ध इनमें
कहीं बेदाना होती है, मूर्त यी धारा (वीर में) एक जाती
है, मूर्त में दूष आता है, धारा टेकी होती है, योगेश्वर के
सामान इवल भूत सिक्कता के साथ लिङ्गलता है, दीन,
धर्म, धैर्य, स्वार्थी करने, मार्ग लाने से उसके (बलि
विद्धाग्र में) पीछा होती है ॥१॥

धर्मादेश—मूलभारतानग—मूलमार्गी में अद्वितीय अद्वितीय—मूलभारतानग—मूलमार्गी में अद्वितीय अद्वितीय जाने से मूलभारता अद्वितीय होती है । महाविमुक्तन—अद्वितीय । रगड़ बस्ति में उत्पन्न होने से खून निकलकर—मूल के सौ आता है । अष्टारणगुण्डय में ये सामाजिक लक्षण संक्षेप में बहुत सुचारारूप से वर्णित किये रखे हैं—मात्रामयलिङ्ग रह नामिसेवन वर्भवितपूर्वु । विशेषणधार मूल शब्दात्मका मार्गिनिरोपणे ॥ तद्वायामासु महेश्वर्य गोपेष्वरोपमग् । तत्पश्चोभात् क्षते साक्षमावायामायापिहित्वेत विविधण—विद्विष इत्येत्यश्च गमनन् । शिवामणि में अद्वितीय अद्वितीय जाने से सभ्य की धारा इच्छ उत्तर विकीर्ण होती है ।

तं ग्रात्यर्थं स्तुप्रमाणमभ्यवहरतः इलेप्ता संय
तमुपगम्य यथोक्तं परिवृद्धिं प्राप्य चस्तिसुखमधिष्ठा
न्नोतो निरुणदि, तस्य मूलप्रतिघातदात्यते भिद्यं
निस्तुद्यत इव च चस्तिगुणः शीतश्च भवति; अस्मर्त
चात्र श्वेता लिङ्घा भहती कुरुकुटाहडप्रतीकाश
मधूकपुण्यवर्णा च भवति, तां स्तुप्रिमकीमिरि
विद्यात् ॥३॥

(सेप्माइमरी—) धार्यत कफकारक भोजन सेवन कर देने का ऐसा सगड़िन और यथोक्त वृद्धि को प्राप्त होन तथा वसिस्थुत में अवधित होकर मृत्युमारी की रोक होते हैं। (मृत्युमारी बंद हो जाने से अधिक राहि में सक्षिण हुए, मृत्यु के प्रत्यापात के कारण वस्ति विदीर्घी दुष्टा सा, विदीर्घ दुष्टा सा और व्यथित हुआ सा होता है, तथा वसिस्थुत भारी और ठंडा मालूम होता है । इसमें पथरी सोनेद चिकनी, बटी, मुरारों के अपेक्षे के समान अथवा महुबे वे फूल के वर्षी की होती है । इसको सेप्माइमरी समान चाहिये ॥७॥

व्यक्तिगतीय—मूरुपतिवाना—सचित् मूरुप के द्वारा से ऐसेभासमरी—वाधाराय विकास में रासायनिक संगठन के मनुष्यान् असमरियों के बेद़ किये गये हैं। कफाइशमरी के रूप, रूपादि का विचार करने पर उत्तरका मैल कार्सेटिक फैक्ट्र्युलस (Pseudohistic Calculus) के साथ होता है। साधारणतया वह असमरी अमोनियम मध्येत्रिभ्रम कार्सेट तथा चूने के कार्सेट से बनती है और ऐसामरी की भाँति खेत और खिकनी होती है।

पितृयुक्तस्तु येभा संघातमुपगम्य यथोक्ता
परिवृद्धि प्राप्य वित्तमुखमधिष्ठाय द्वोतो निर-
णदि, तस्य मूष्मप्रतीघातादूर्घते चूर्यते दद्यते
पचयत इव अस्तिक्षण्यावनश्च भवति; अश्वरी
चान् सरस्ता पीतावभासा कृष्णा महात्मकास्मि-
प्रतिमा मधुयर्णा या भवति, तां पित्तिकीमिति
विधात् ॥१॥

(विजायमी) पितृयुक्त लेप्या संगठित और पश्चात् परिहृदि को मास हीकर बलियुक्त में अधिकार करके शूद्रमार्ग १ नव भेदारमी ३ व्याहारोऽप्यवेष्टित्याख दी-

गे रोक देता है। (इस रुकावट से संचित हुए) मूत्र के तिघाट कंक कारण वस्ति मानो मुल्लस रहा है, तप रहा है, झर रहा है, और पक रहा है ऐसा मालूम पड़ता है, तथा वात भी पैदा होता है। इसमें पथरी रक्तिमा (लालिमा) और पीलापन लिये, काली, भिलाये की गुठली जैसी या शहद रंग की होती है; उसको पित्तास्मरी समझना चाहिये ॥८॥

चक्कव्य—मूत्रप्रतीघातात्—मूत्र के तेजावी तासीर के रूप। यह तेजावी तासीर मूत्र में जलांश की कमी और एक धूमिठ तथा एसिड यूरेटस की उपस्थिति से उत्पन्न होती है। 'क्यव्ये' हृत्यादि—ओष, चौष, दाह और पाफ लन के भिन्न भिन्न प्रकार हैं। उणवात्—वस्तिशोथ (Cystitis)। व्यायामाखात्रैः पित्त वस्ति प्राण्यानिलावृतम् । वस्ति मेहु गुद व प्रदहन् लावयेदधः ॥। मूत्र हारिद्रमधवा सरक्त रक्तमेव वा । च्छ्रात् पुनः पुनर्जन्तोल्लणवात् वदन्ति तम् ॥ (उत्तरतन्त्र)। तेजिम्—इसका मेल यूरिक एसिड कल्च्यूलस (Uric acid calculus) के साथ होता है। यह पथरी या तो शुद्ध यूरिक सिड की या अमोनियम यूरेट की होती है।

वातयुक्तस्तु श्लेष्मा संघातसुपगम्य यथोक्तां गिर्बृद्धि प्राप्य वस्तिमुखमधिष्ठाय स्रोतो निस्त्रियि, तस्य मूत्रप्रतीघातात्तीवा वेदना भवति, धात्यर्थ्यं पीड्यमानो दन्तान् खादति नाभिं पीड़िति मेहं मृद्ग्राति पायुं स्पृशति विशर्धते विद्विति वातमूत्रपुरीपाणि कृच्छ्रेण चाऽस्य मेहतो नैःसरन्ति; अश्मरीं चात्र श्यावा पसषा विषमा वरा कदम्बपुष्पवत्कण्टकाचिता भवति, तां वातिमिमिति विद्यात् ॥९॥

(वातास्मरी—) वातयुक्त श्लेष्मा संगठित और परिद्विको प्राप्त होकर वस्तिमुख में अधिष्ठान करके मूत्रमार्ग ने रोक देता है; मूत्रप्रतीघात के कारण उसको तीव्र वेदना होती है, और तीव्र वेदना से पीड़ित हुआ दाँतों को पीसता है। नाभि को दबाता है, शिख कंक मसलता है, गुदा को छूता कराता है, परितस होता है और मूत्रत्याग करते समय धोवात, मूत्र तथा मल वही सुक्षिल से निकलते हैं। सर्वे पथरी साँचली, कड़ी, टेढ़ी, खुरदरी और कदम्ब पुष्प के मान कण्टकों से व्याप्त होती है; इसे वार्तिक अश्मरी समझना चाहिये ॥१०॥

बक्कव्य—मूत्रप्रतीघातात्—मूत्रास्मरी की रगड़ से । अन्ती—अनिशं कण्ट (अद्यांगद्य)। कण्जानाविधदुखो—वक शब्दं विद्यत्—(अस्थदत्त)। वातिमीम्—इसमरी का मेल आकजेलेट आफ लाइम क्याल्क्यूलस (oxalate of lime Calculus) के साथ ठीक ठीक होता है। यह अश्मरी वोतास्मरी के समान इयाव, विषम और कंटकचिता (Spiculated) होती है। अंग्रेजी में इसकी तुलना शहदूत से (Mulberry) करते हैं, परन्तु कदम्बपुष्प की तुलना शहदूत से कहीं दूरी अच्छी है।

प्रायेणीतास्तिस्थोऽश्मर्यो दिवास्प्रसमदानाद्य-

शनशीतस्तिग्धगुरुमधुराहारप्रियत्वाद्विशेषेण वाला-नां भवन्ति; तेपामेवाल्पवस्तिकायत्वादनुपचितमां-सत्त्वाच्च वस्ते: सुखय्रहणाद्वरणा भवन्ति ॥१०॥

दिन में सोने से, हिताहित संधुक्त आहार करने से, भोजन पर भोजन करने से, शीतल, चिंग, गरिष्ठ और मधुर आहार प्रिय होने से ये तीनों प्रकार की अश्मरियाँ अक्सर दब्बों को हुआ करती हैं। उनका वस्ति तथा शरीर छोटा होने से तथा उनका वस्ति पतला होने से अश्मरियों का (यन्त्र से) ग्रहण तथा आहरण सहज ही में हो सकता है ॥१०॥

महतां तु शुक्राश्मरी शुक्रनिमित्ता भवति ॥११॥
(शुक्राश्मरी—) परन्तु वह मनुष्यों को शुक्र के कारण शुक्राश्मरी होती है ॥११॥

मैथुनाभिघातादिमैथुनाद्वा शुक्रं चलितमनिर्ग-च्छुद्विमार्गगमनादनिलोऽभितः संगृह्य मेद्वृष्टपण्योरन्तरे संहरति, संहृत्य चोपशोषयति; सा मूत्र-मार्गमाद्वरणोति, मूत्रकृच्छ्रं वस्तिवेदनां वृपणयोश्च श्वयथुमापादयति, पीडितमात्रे च तस्मिन्नेव प्रदेशे प्रचिलयमापद्यते; तां शुक्राश्मरीमिति विद्यात् ॥१२॥

(हेतु—) मैथुन के रोकने से वा अथवा मैथुन करने से अपने स्थान से चलायमान हुआ शुक्र जब वाहर न निकल कर उलटा गमन करता है तब उसे वायु पकड़कर वृपण और शिख के दीन्द में हकड़ा करती है और हकड़ा करके सुखा (कर कहा कर) देती है (जिससे अश्मरी बन जाती है); वह अश्मरी मूत्रमार्ग को रोक देती है और मूत्रकृच्छ्र, वस्ति-विभाग में पीड़ा, और वृपणों पर शोथ पैदा करती है; दबाने पर उसी जगह में विलीन हो जाती है, उसे शुक्राश्मरी (Seminal or Spermatic Concretions, Spermolith) कहते हैं ॥१२॥

भवन्ति चात्र—

शर्करा सिकता भेदो भस्माख्योऽश्मरिवैकृतम् ॥१३॥
शर्करामेह, सिकतामेह और भस्मकाख्यमेह में अश्मरी के ही विकार हैं ॥१३॥

वक्कव्य—अश्मरी से जो पीड़ित होते हैं, उनमें कभी कभी मूत्र के साथ शर्करा निकल आती है (शर्करामेह—Passing of gravel); कभी कभी मूत्र में लाल रंग का तलक्कट जम जाता है (सिकतामेह—Brickdust deposit); या कभी कभी राख मिलाये हुए जल का सा मूत्र (भस्ममेह—Phosphaturia) निकलता है।

अश्मर्यः शर्करा श्वेया तुल्यव्यञ्जनवेदना । पवनेऽनुगुणे सा तु निरेत्यल्पा विशेषतः ॥१४॥ सा भिन्नमूर्तिर्वर्तिन शर्करेत्यभिधीयते ।

(शर्करा—) स्वरूप और लक्षण में शर्करा को अश्मरी के समान जानना चाहिये। परन्तु वह शर्करा, जो विशेष करके छोटी होती है, वायु अनुकूल होने पर (मूत्र के साथ) निक-

लती है ॥१४॥ अझमरी (ही) वायु से विर्णीणि होने पर शर्करा कहलाती है ।

घटकद्वय—तुल्यवज्जनवेदना—अझमर्यास्तुल्या व्यजना वेदना च यसा सा । अझमरी और शर्करा का उपादान एक होने से दोनों का वायु स्वरूप भी एक सा होता है, तथा दोनों के लक्षण भी एक से होते हैं । निरेति—‘सह मूत्रेण’ हित देष्य ।

भिन्नति—शरीर के भीतर, दिशेष करके बस्ति में, अझमरी वा आप से व्याप विर्णीणि होना (Spontaneous Fracture)—एक असंभवनीय सी घटना मात्रम् होती है, परन्तु पाश्वास्य वैशानिक अचेषण और प्रयोग करके इस विर्णीय पर पहुँचे हैं कि मूत्र की गुरुता और प्रतिक्रिया में पार्क होने से अझमरी आप से व्याप विर्णीणि हो सकती है । वयवानार, वस्त्रा, पापाण भेद खूब्यादि अंतर्यामी, जो अझमरीम् (Lithotriptic) करके प्रसिद्ध हैं, प्राय मूत्र में उपर्युक्त परिवर्तन करके कार्य करती हैं । यहाँ तृतीय स्तोकार्थ में शर्करा की संप्राप्ति वर्णन की है, और प्रथम स्तोकार्थ में अझमरी के साथ शर्करा की समस्ता वर्णन कर द्वितीय स्तोकार्थ में अझमरी से शर्करा का भेद बतलाया गया है । उसका तात्पर्य यह है कि वायु अनुकूल होने पर शर्करा मूत्रमार्गी से बाहर निकल सकती है, परन्तु अझमरी वायु अनुकूल होने पर भी बाहर नहीं निकल सकती । वायु प्रतिकूल होने पर शर्करा भी अटक जाती है—प्रतिक्रिये विवरणे ॥ (अष्टागहदय) । अब उसी के लक्षण वर्णन करते हैं—

इत्पीडा सक्षिप्तसदनं कुक्षिशूलं सवेपथु ॥१५॥
सृष्ट्योर्ध्यगोऽनिलः काष्ठप्यं दौर्धवल्य पाण्डुग्रामता ।

अरोचकाविषाकौ तु शर्कराते भयन्ति च ॥१६॥

हृदय प्रदेश में पीड़ा, अधोशाखा में यक्षायट, कम्प के साथ कुक्षि में शूल ॥१५॥ प्लास, ऊर्जवात, हृतात, कम्जोरी, देह का फीका पहना, अरुचि और अजीर्ण, शर्करा से पीडित होने पर होते हैं ॥१६॥

घटकद्वय—यहाँ शर्करा के जो लक्षण दिये हैं वे एक या गवीनी (Ureter) में स्थित हुई शर्करा के समझने चाहिये । बस्ति में शर्करा स्थित होने पर इस प्रकार के तीव्र लक्षण नहीं हों । सकते हैं वृक्ष या गवीनी से नीचे की ओर प्रवृत्त हुई शर्करा के लक्षण अब बतलाते हैं—

भूत्रमार्गप्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान् ।

दौर्धवल्यं सदनं काशयं कुक्षिशूलमोरोचकम् ।

पाण्डुत्प्रस्तुप्यायातं च तृष्णा इत्पीडनं धमिम् ॥१७॥

मूत्र मार्ग में नीचे की ओर उत्तरने के लिये प्रवृत्त होने पर रासा तंग होने के कारण अब शर्करा अटकती है तब कम्जोरी, अवसाद, हृतात, कुक्षिप्रदेश में शूल, अरुचि, शरीर में फीकापन, बार बार रक्त के साथ ऐंड ऐंड करके मूत्रमार्ग कहना, तृष्णा, दौर्धवल्य में पीड़ा और बमन ये वरप्रवृत्त होते हैं ॥१७॥

घटकद्वय—इस स्तोक में इक्षूल (Bonal Colic) का वर्णन है । यह व्याप जब शर्करा एक से बस्ति की ओर नीचे की निकलने सकती है तब उत्तर होता है । यहाँ जो

लक्षण वर्णन किये हैं उनका विचार प्रलक्ष्य याही और विर्णा विज्ञान की दृष्टि से करने पर यह मूत्रमार्ग का यहाँ उक्ते किया है वह मार्ग गवीनी (Ureter) प्रतीत होता है इस शूल का एक विशेष लक्षण, जो यहाँ नहीं लिखा है, यह होता है कि एक ओर की कुक्षि प्रदेश में शूल मार्गम् होकर यह नीचे की ओर उसी तरफ के वृपण में चला जाता है जब शर्करा कटाकृत या खुरदी होती है तब शूल इतन सीधे होता है कि रोगी उससे व्याकुल होकर मूर्छित हो जाते हैं और कभी कभी मूत्राधात (Suppression of urine) भी हो जाता है । जब शर्करा बस्ति में आती है तब शूल वह होता है । शूल के इतने आगे उत्तरतन्त्र के मूलकृष्ट प्रति पेष में वर्णन किये हैं—तामिरविनि मूर्छा च मूत्राधातश दारण मूत्रेणिनिरालातु तामु साम्यति वेदना । यावदन्यातुनैनि गुदिक शोषणे मुख्यम् ॥

नाभिपृष्ठकटीमुख्यगुदवक्षुलयेफसाम् ।
एकद्वारस्तनुत्वक्तो मध्ये वस्तिरधोमुखः ॥१८॥
अलाभ्या इव रूपेण सिराम्बायुपतिप्रहः ।
थस्तिर्वस्तिर्विश्रैवैय पौरुषं वृपणौ गुदम् ॥१९॥
एकसम्बन्धिनो होते गुदास्थिविराधिताः ।

मूत्राशयो मलाधारः प्राणायतनमुत्तमम् ॥२०॥

(उत्तरिणी—) नाभि, पृष्ठ, कटी, वृपण, गुद, वंशया और गिर्ध इनके बीच में एक हार का, पतली धीवार का, और नीचे की ओर मुख किया हुआ बस्ति होता है ॥१८॥ आकार में वह (चपटा) तुम्ही के ममान होता है और निरा व्याप्तियों से बना है । बस्ति, वस्तिरधि, गिर्ध, वृपण और गुद ॥१९॥ ये गुदास्थिविर का आधार किये हुए उसी से संबंधित रहते हैं । बस्ति माल का आधार है और प्रार्थी का एक शेष रूपान है ॥२०॥

घटकद्वय—एकद्वार—जिस हार का यहाँ उल्लेख किया है वह मूत्रप्रसेक का अभ्यन्तरीय द्वार है (Internal urethral orifice) और इस हार समीपवर्ति प्रदेश के लिये ‘बनियिर’ शब्द का प्रयोग होता है । पौरुष—मैंड या गिर्धः महामही पाश्वाम विराजत गणनाम सेन पौरुष का आर्यों पौरुषार्थिय (Prostate gland) समझते हैं—पौरुष तु बलिमूलयोग्ये गिरिये प्रत्यक्षादृष्ट व्याविति प्रीति शारीरविद्यम् । न पात्र इहोक वौलमेन्द्रम्—दौर्धवल्य महाच्छन्न, वैष्टप्यस्येण गुदास्थिविरवित्तलविभिन्नात् । परन्तु यह अर्थ विषयाना मात्रम् होता है, इसलिये कि (१) यहाँ निर्दिष्ट किये हुए प्रत्येक अंग का गुदास्थिविर में होना आवश्यक नहीं है; यहाँ वेकल गुदास्थिविर से संबंध रखने वाले घोरों का निर्देश किया है । (२) इत्यत्र गुदास्थिर्विर में नहीं होते । गणनाम सेन जी का इस विषय पर कथन है कि, गर्भावस्था में वृपण भी मूत्रास्थिविर में होते हैं—परंतु वृपणी न तुलान्तिविवरम्यो तथावा गर्भावस्थानकामे वालय के निविलानरेव तथोवानामात् तथाविभान महाच्छन्ने । (प्रथम शारीर वालावाना ।) परन्तु ‘गर्भावस्था का विचार करके ‘हृष्टी’ शब्द का यहाँ प्रयोग किया गया है, यह मुक्ति दूरान्वित मात्रम् ।

१ विश्वरितिना ।

ती है । (३) अष्टांगहृदय में वस्तिवर्णन के समय यही शुत का श्लोक दिया है । उसमें 'पौरुष' के बदले 'मेहू' का रोग किया गया है—वस्तिवर्णनिरोमेहूक्तीयुपणायाव्र: । एक-प्रिणः प्रोक्ता गुदाभ्यविकरात्रयाः ॥ (निदान, अ. १) । (४) शून सुशुत्तसंहिता में पौरुष शब्द का प्रयोग पहिले ही चुका —ैशानरः शिरः पातु विष्णुत्पव पराक्रमम् । पौरुष पुरुषेषो ग्रावात्मान धूर्वौ धुर्वौ ॥ (सूत्रस्थान, अ. ५) । पौरुष के यहाँ र अर्थ ही सकते हैं; (१) वल, (२) पराक्रम, (३) वीर्य, र (४) शिश्व । इनमें से वल, पराक्रम और वीर्य का तन्त्र निर्देश किया गया है । हस्तिये वहाँ भी पौरुष से शिश्व अग्रहण करना चाहिये और वैसा अर्थ वक्तव्य में (शुष्ठ १ देवो) किया गया है । एकमवधिनः—एक आश्रय से संवेद लेने वाले, अर्थात् समान संथ्रय । यह समान संथ्रय है दास्थिविवर और इसी को आधुनिक परिभाषा में वस्तिगुहा श्रोणिगुहा (Pelvic Cavity) कहते हैं । इस गुहा में सि भगवास्यसंधि के पीछे रहता है । पुरुषों में उसके पीछे शुक्राग्र रहते हैं और इनके पीछे 'स्थूलगुद' या मलाशय ता है । खिंचों में वस्ति और स्थूलगुद के बीच में गर्भाशय ता है—खीणा तु वस्तिपार्श्वगतो गर्भाशयः ॥ (सुश्रुत) ।

लाधारः—मूत्ररूप मल के लिये इकट्ठा होने का स्थान । रीर में मूत्र अनवरत बनता रहता है जो मूत्रस्रोतसों द्वारा वस्ति में आकर इकट्ठा होता है । काफी इकट्ठा होने पर मनुष्य ने मूत्राशय करने की आवश्यकता या इच्छा होती है । प्रायतनमुत्तमम्—वस्तिमर्म होने के कारण प्राणायतन कहा या है—मर्माणि ..तेषु स्वभावत एव प्राणास्तिघन्ति ॥ (शारीर, १) । सद्यप्राणाहर और त्रिमर्मों में से एक होने के कारण तम प्राणायतन भी कहा गया है—हृदय वस्ति नामित्र ब्रन्ति योहनानि तु ॥ (शारीर, ६) । तब शारीरिकभ्यो मर्मभ्य कथाश्रितानि गरीयामि, स्कन्धाश्रितेऽच्यादपि हठमिश्रणि तन्मलगच्छरीरस्य ॥ (चरक, सिद्धिस्थान) । इन श्लोकों में वस्ति नी आकृति, बनावट, संवेद और कार्य का जो संक्षेप में वर्णन केया है वह प्रत्यक्ष शारीर रचना के अनुसार प्रायः ठीक है । मैरफ पुक शब्द हस्तमें खटकता है वह 'एक टार' है । वस्ति में गाम्लविक तीन द्वार हैं; एक मूत्रनिर्गमन के लिये और दो द्वारागमन के लिये । इसका विशेष विवरण आगे मूत्रोत्पत्ति के विवरण में किया जायगा ।

पक्षाशयगतस्तत्र नाइयो मूत्रवहास्तु याः ।
तर्पयन्ति सदौ मूत्रं सरिनः सागरं यथा ॥२१॥
सूक्ष्मन्वाचोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः ।
दाढीभिरुपनीनस्य मूत्रस्यामाशयान्तरात् ।
जाग्रनः खपनशैव स निःस्यन्देन पूर्यते ॥२२॥
आमुच्चान्तस्तिलिते न्यस्तः पाश्वभ्यः पूर्यने नवः ।
घटो यथा नथा विद्धि वस्तिमूत्रेण पूर्यते ॥२३॥

जैसे नदियाँ समुद्र में रहा (जल) तर्पण करती हैं वैसे जो पक्षाशयस्थ मूत्रवह नाइयँ दैं वै बनि में मूत्र सदा तर्पण करती रहती हैं ॥२१॥ इन नाडियों के हजारों सुख सूक्ष्म होने के कारण विद्धिन ही होते । ग्रामाशय (और

पक्षाशय) के भीतर से नाडियों द्वारा लाये हुए मूत्र के निस्यन्द से बस्ति जागते स्रोते समय (दिन रात) भरता है ॥२२॥ मुंह तलक पानी में रक्खा (गडा) हुआ नया धडा जैसे चारों ओर (के सूक्ष्म छेदों द्वारा जल के भरने) से भर जाता है, वैसे वस्ति (चारों ओर के सूक्ष्म छोतसों द्वारा) मूत्र से भर जाता है ॥२३॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में मूत्रोत्पत्ति के स्थान से मूत्र वस्ति में कैसे पहुँचता है उसका वर्णन किया है । यह वर्णन प्रत्यक्षविरुद्ध अतएव प्रामादिक है; परन्तु यह प्रमाद आयुर्वेद के उपलब्ध सभी ऋथों में तथा उनकी टीकाओं में दिखाई देता है । यह प्रमाद कैसे और कब उत्पन्न हुआ, इसका निश्चय करना कठिन है । इस प्रमाद का विवरण करने के पूर्व शारीर में मूत्रोत्पत्ति कैसे होती है, उसका संक्षेप में वर्णन नीचे दिया जाता है । प्रत्यक्ष मूत्रोत्पत्ति कैसे होती है?—शारीर के उदर विभाग में विछली दीवार से लगे हुए रीढ़ के दाहिनी ओर बाई ओर लोबिये के बीज के समान दो अंग होते हैं । उनको बृक्ष, गुर्दे या सूत्रपिण्ड कहते हैं । गुर्दे अतिसूक्ष्म नलियों के बने हुए हैं । उदरविभागस्थ बृहत् धमनी की दो शाखाओं द्वारा रक्त इन दोनों बृक्षों में पहुँचता है । भीतर पहुँच कर इन धमनियों की असंख्य सूक्ष्म शाखाओं का जाल बृक्षस्थनलियों के आस पास फैलता है और इन शाखाओं के रक्त में खाने पीने की चीजों का जो निकम्मा भाग रहता है उसको ये नालियाँ अपनी विशिष्ट कार्यशक्ति के द्वारा पुरुक्क कर अपने में रखती हैं । इस प्रकार बृक्ष के नलियों में रक्त से पृथक् हुए तरल को मूत्र कहते हैं । बृक्ष में इकट्ठा हुआ मूत्र दो प्रणालीयों द्वारा वस्ति में धीरे धीरे आता है । इस प्रणाली फो गवीनी (Ureter) कहते हैं । इसका ऊपर का मिरा चौड़ा, पीक जैसा और नीचे की ओर तंग होता है । इसी में जब शर्करा अटक जाती है तब बृक्षशूल पैदा होता है । संक्षेप में मूत्र रक्त से बृक्षों द्वारा उत्पन्न होकर दो प्रणालीयों द्वारा वस्ति में पहुँचता है । इसलिये वस्ति में तीन द्वार होते हैं । वस्तिवर्णन में 'एक टार' जो लिखा है, वह गलत है । उपलब्ध आयुर्वेदिक ग्रन्थों का उल्लेख कड़े जगह मिलता है, परन्तु मूत्रोत्पत्ति के साथ उनका संबंध कही भी नहीं दर्शया गया है । इससे यह स्पष्ट है कि बृक्ष का ज्ञान होने पर भी उसका वास्तविक कार्य अज्ञात था । आयुर्वेद के अनुसार मूत्र की उत्पत्ति खाद्य-पेय द्रव्यों के किट्टभाग से मलधरा कला, पाचक पित्त और समानवायु से आमपक्षाशय में ही होती है:—(१) त्राहार-प्रमादार्थी ग्र. किट्ट च मलारायमभिनवरनते । किट्टत् स्वेदमूत्रपुरीयाः पुर्यनि ॥ (चरक) । (२) विष्मूत्रस्य विष्मूत्रम् ॥ (चरक) । (३) विष्मूत्रामाहारमल. मारः प्राणीरितो रसः ॥ (सुश्रुत) । (४) नचायृष्टेतुकेन विशेषणं पक्षामाशयमध्यस्य पित्त चुर्विभवप्रापन पचति, विवेचयनि च रसमूत्रपुरीयाणि ॥ (सुश्रुत) । आन्त में उत्पन्न हुआ मूत्र असंख्य सूक्ष्म छोतों द्वारा वस्ति में भरता है । इन छोतों के सुख अद्वय होते हैं । मूत्रवाही छोतों का उल्लेख हमेणा अनेक वचन में होता है । वास्तव में वह द्विवचन में होना चाहिये । संक्षेप में बृक्ष की विवरण

में, आम्रकाशय में, मतराकना, पाचक पिच और स्थान कातु की नहायता से होती है और वहाँ से 'मूर अंसम्यमूर-वह जीवन्मो द्वारा बलि में पहुँचता है'। इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये प्रथकर की 'Ayurvedic conception about urine formation in the human body' नामक पुस्तक देखो।

पथमेव प्रथेण वातः पितं कफोऽपि वा।

मूरयुक्त उपज्ञेदान् प्रविद्य कुञ्जनेऽदमरीम् ॥२५॥

मूरम ज्ञातयों के द्वारा मूर प्रयोग के अनुमान (पथमेव प्रयोग) मूर के माध्य मिळकर वात, पित अथवा कफ (वित्ति में) प्रयोग करके उपज्ञेद (उपरेप या तत्त्वद) से अस्मीन उत्पत्ति करते हैं ॥२५॥

अन्तु सच्चादास्या सपि यथा निरिक्तातु नवे धटे।

कालान्तरेण पष्टः स्यादृमरीसंभवत्यथा ॥२६॥

नवे धटे में रक्ते हृष्टे साक पानी में भी तैरे कुद काल ने प्रश्नात् कीव (अवकाश, Precipitate) जम जाता है, वैसे (विटिस्प धटे में हड्डा हृष्ट माक मूर में) अस्मारी की उत्पत्ति (कुद काल के पश्नात्) होती है ॥२६॥

यत्तद्य—प्रायः साधारण जल में कई पदार्थ और सूक्ष्म घुणे रहते हैं। विशुद्ध जल (H_2O) एवं पर नहीं मिल सकता। जल साक मूरे पात्र में रक्ते से प्रति दिन बाल्य बनकर उठ जाता है, परन्तु टम्पे में हुए लकड़ तथा अन्य पदार्थ पात्र में ही रह जाते हैं। जब ये जल से इनकी रागि पृष्ठ विशेष प्रभाव से अधिक हो जाती है तब ये धीरे धीरे भलगा होकर तली में अवक्षित हो जाते हैं और कीर बनती है। मूर में अस्मारी की उत्पत्ति हृष्टी प्रकार से होती है, ऐसी आपुनिक गाम्भीर्यों की भी राय है। हृष्टय नाविर्यों द्वारा यह मूर में धूरिक पर्मिह, धूरटप, भास्करांत्रियम, पार्सेंट्रम् हृष्टादि लकड़ अधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं तब मूरम यानीय में इनका विश्वय होता अथवाय हा जाता है और इनका कुद भंग मूरम स्फटिक (Crystal) के रूप में दृश्य में, गरीबी के उर्ध्व मात्रा में या विन में अवक्षित हो जाता है और उसके लारों और लकड़ तथा कण संगठित होकर अस्मारी बनती है। कर्मीहर्षालयों के काम मूरा सेमान, जब हृष्ट का भका, या हृष्टीके भागे (Ova of Bilharzia) इन पर संगठित होते हैं। इनकों के बर्तनोरथ में हृष्ट की प्रतिक्रिया भी बहुत सहजता होती है। मूर की प्रतिक्रिया विशेष रूपम होने पर पृष्ठीक पर्मिह तथा उपरूप लकड़ियां इने और अस्मारी करती हैं। प्रतिक्रिया अधिक हार्दिय होने पर कालेट्य अवक्षित होकर सेप्टामरी बनती है।

संहृदयो यथा दिया मानतोऽस्मिद्य यैतुगः ।

तद्वद्वलाम् यस्तिम्यमूर्पा संहान्ति राजनिः ॥२७॥

ऐसे आकाशमूल जल को बातु और रितिरी की अति वाई (कर जाने वाला) होती है, जैसे ही विल्लालाम में प्रात हृष्ट (कर जाने वाला) से तुम अपि (रिति) जमा (कर दीखी वाला) होती है ॥२७॥

हृष्टय—पर इत्यनु कर के इत्यान के सामग्री

वस्तुस्थितिनिवृत्यक नहीं है। क्योंकि पथरी न जल से दली है, न कफ से दली है।

मासते प्रगुण घस्तौ मूरं सम्यक् प्रवर्तते ।

विकारा विविधाश्चापि प्रतिलोमे भवन्ति हि ॥२८॥

मूराधाता, प्रमेहाद्य गुफदोपासाध्यैर च ।

मूरदोपाध्य ये केचिद्वस्तावेय भवन्ति हि ॥२९॥

इति मुकुमदितावा निदानस्थानेऽदमरीनिदान

नाम दीर्घोऽत्यय ॥३०॥

बातु अनुकूल होने पर बस्ति में मूर की ठीक हीक प्रृष्ठि होती है; और प्रतिकूल होने पर विविध विकार होते हैं ॥२८॥ मूराधात, प्रमेह, तथा गृहद्रोप और अन्य भी जो मूरविकार हैं वे सब बलि में ही होते हैं ॥२९॥

यत्कथ्य—साम्यक् प्राप्नते—ठीक ठीक मूर की उपर्याती होता है तथा उपर्याते होने पर सीधान हुए मूर का त्वय ठीक ठीक होता है। विविध विकारा—मूराधात, मूरहृष्ट, प्रमेह और अस्मारी ये चार प्रकार के मूर के रोग। तुक दोप वास्तव में बलि का या मूर का विकार नहीं है। मूराधात और मूर हृष्ट—पूर्वान्तरे वृन्दवनमतिरिक्तीर्थिदिवे। मूराधाते तु विवर्ये वज्ञान, इच्छन्वमलविति। (मूरकोश्यायात्या)। यद्यपूर्वते मूर हृष्टेण वज्ञन, मूराधाते मूर होन्यने प्रतिलिप्तये वा। (चक्रोपापिविद्यत)। मूरहृष्ट द्वेतने मूरहृष्टि। मूराधाते मूरहृष्टये। (चक्रघात)। अन्यै (जैसे वास्तव) मूरहृष्टिविहेनेते मूरवासामातु। (चक्रायिदत्त)। इस मनमतान्तर का विवर करने पर यह कह सकते हैं कि मूरहृष्ट में सूर्यायाम वरने समय दुष्क होता है। इसको हित्यूर्तिर्त्रिया (Dysuria) कहते हैं। मूराधात में मूरहृष्ट, मूराधारोये या मूरयोग ही सक्ता है। मूराधारोये के लिये हित्यूर्त्रिय और रूरिन (Retention of urine) और मूरयोग (जिसमें मूर बनता ही नहीं) के निये सरेगन और रूरिन (Suppression of urine) कहते हैं। इनमें मूरहृष्ट प्राय गिराप्रसंद की स्वरूपी में होता है। मूराधारोय द्वारा में अस्मारी अटक जाने से, पौरुष प्रतिक्रिया की वृद्धि या गृजन होने से अथवा मूरदारसंकोषक विष में गिरुड़न पैदा होने से होता है। मूरयोग शुल में सूर्यायाति न होने से होता है। प्राये शुलों में उपर्याते होते हैं। इनमें यह शब्द है कि अस्मारी के निया मूराधातान्त्रि विकार बलि के अतिरिक्त अन्य रूपानां में ही प्राय होते हैं।

उति मास्करामेन गैविन्दमेनेन विभिन्नत्वामनुवैराग्यानीतिवा
द्युम्पाद्यादातो निदानस्थानेऽदमरीनिदान
नाम दीर्घोऽत्यय ॥३१॥

चतुर्थोऽस्यायः ।

मयानो भगवद्गामः निदाने द्याव्यासामः ।

यथोदाय भगवान् पञ्चन्तरः ॥३२॥

अथ दीर्घो आगे भगवान् पञ्चन्तरे के विद्यान का प्राप्तान्तर करने हैं, जैसे कि भगवान् पञ्चन्तरे के विद्या ॥३२॥

वातपित्तस्तेष्मसंविपातागत्तुनिमित्ताः शतपो-
लोष्ट्रीवरपरिच्छाविशम्बुद्धकावर्तन्मार्गिणो यथा-
र्थं पञ्च भगन्द्रा भवन्ति ॥२॥

द्वयात्, पिता, कफ, अविपात और आगन्तु इन कारणों से
मानुषार गतपोतक, उत्तरीन, परिकार्या, मध्यक और
मार्गों पैसे पौत्र भगन्द्र होते हैं ॥२॥

बक्तव्य—प्रथमात्प—यात्र में गतपोतक, पिता गे-
त्पोत, कफ से परिकार्या, मलिपात में गम्भक और आगन्तु
उत्तरी इन क्रम से । पृथ्वी—यात्राट ने भगन्द्र के आठ
द्वार बताये हैं—१) पृथ्वी—इत्यर्थी: मंडिगम्भ: गिर्म: गृहः ।
२) अप्येत्युक्तं पृथ्वी प्रकार के गतिरिक्त निश्च तीन अधिक हैं—
३) पृथ्वी—वातपिता: पृथ्वीपि परिद्वय युद गिरिः । जायने
स्तम्भ प्राप्तार परिनेत्र न ॥ इस भगन्द्र को द्वारमध्यपिन्नुता
Horse stool si-tula । कहते हैं । (२) तत्—शतुर्वात्—
गत्यु—शुरु गत्या दिव्यंते ॥ (३) अर्गंभगन्द्र—गत्युप्ये तु
यैषं द्वारागत्यु तुर्यानः । भौत्यै ततः शास्त्रः गात्रादाशादिमान
विदा । म गंत्र पक्षिभौत्यै लेत्यन् गूलम्भेष्मः । गत्युग्म गति-
भौत्यै लाम्भरः ॥ (अटांगनेप्रथा) । गतपोतक भगन्द्र
में मलिपलकिम्बुती (Multiple fistulae) कहते हैं ।

ते तु भगगुद्वस्तिप्रदेशदारणात् भगन्द्रा
पुच्छन्ते । अपका: पिडका:, पकास्तु भगन्द्रा: ॥३॥

ये भग, गुदा और वन्तिप्रदेश के विद्यारण करने से भग-
न्द्र कहलाते हैं । जब तक अपका होते हैं तब तक पिडका
कहलाते हैं; पकने (से फूट जाने) पर भगन्द्र कह-
ते हैं ॥३॥

बक्तव्य—इस सूत्र में भगन्द्र की निरुक्त बतलाई
। भगन्द्र को डेंगों में (Pustula-in-ano) कहते
। यह इसका सूत्र अर्थ है । चालाद में शुद्र के विकार
में गुदन्द्र, यमि के विकार को वस्तिन्द्र और भग के
विकार को भगन्द्र बतला उचित है । परन्तु इस प्रकार का
गव्य प्रयोग की नहीं किया जाता, इसका कारण इन्द्रु लिखते
हैं—जियेष भगग्य द्रष्टान्त्यापि भगवदारणात् भगन्द्र इत्येवाद्या
न गुदन्द्रो न वलिन्द्र इति । उत्तमं च भोजे । भगं परिमन्नात्य उद-
वन्ति वैष्य च । भगवदारयेषमात्मात् भेयो भगन्द्रः ॥ पकास्तु—
एक होकर फूट जाने से—गुदस्य गुदो तेऽपि पार्थितः पिडका ssrini-
श्च । भित्रा भगन्द्रो योः । (भाष्वविनिदान) । पाश्वात्य गल्य
गाम में भगन्द्र के तीन भेद किये गये हैं । (१) दिसुपी—
जिसका एक सुख मलाशय के भीतर और दूसरा गुदोष के पास
होता है । (२) अनसुपी—जिसका तेवल एक सुख होता है
जिसका चौथा मलाशय में स्थित है । (३) वर्दिसुपी—जिसका सुख
बाहर गुदोष के पास स्थित है । अन्तसुपी और वर्दिसुपी
भेद सुख में भी आगे चिकित्सा के समय बतलाये गये हैं—
भगन्द्र समीक्षा पराचीन(विसुलं)मर्गीनीन (अन्तसुपं) वा
(भगन्द्रचिकित्सा) ।

तेषां तु पूर्वस्त्राणि-कटीकपालवेदना कण्ठदीर्घः
शोफः गुदस्य भवति ॥४॥

इनमें पूर्वन्य—कमर की हड्डियों में पीड़ा, गुदा में साज,
जलन और सूजन ॥४॥

त्रापथ्यसेविनां वायुः प्रकुपितः समिवृत्तः
स्थिरीभूतो गुदमधितोऽनुले दृश्युले वा मांसशो-
गिरे प्रदृष्ट्यारणवर्णां पिडकां जनयति, साऽस्य
तोषादीन् वेदनाविशेषा अनयति, अप्रतिक्रियमाणा
च पाकमुपैति, मूत्राशयाभ्यासगतत्वात् व्यणः
प्रक्रियः शतपोनकवदणुसुखैश्चिद्द्रौरपूर्यते, तानि
च विद्राग्यजन्ममच्छु फेनानुविष्टमधिकमास्त्रावं
स्ववन्ति, वणश्च ताड्यते विद्यते विद्यते सूचीभिरिव
निस्तुयते, गुदं चावदीर्थते, उपेक्षिते च वातसूच्न-
पुर्णपरेतसामप्यगमध्य तैरेव छिद्रैर्भवति; तं भग-
न्द्रं शतपोनकगित्याचक्षते ॥५॥

(शतपोनक—) अपथ्यमेवन करने वालों की प्रकुपित
और समिवृत्त हुई वायु गुदा के धारों और स्थिर होकर एक
या दो अनुल पर मांस और रक्त को दूषित करके लाल वर्ण
की फुन्सी उत्पत्ति होती है । वह फुन्सी शूल तथा अन्य प्रकार
की (शतानुस्प) वेदनाण् उत्पन्न करती है । (अपत्तंयादि
उपायों द्वारा) प्रतीकार न की हुई वह फुन्सी पक जाती है ।
मूत्राशय के समीप होने के कारण (मूत्रा) गीला हुआ
(वह) ग्रय चलनी की भाँति छोटे छोटे छिद्रों से भर जाता
है, और वे छिद्र संख्या स्वल्प, भागदार, काफी स्थाव दरवते हैं;
वण में ताड्यन, भेदन, छेदन और सूचीवेधन की सी पीड़ा
होती है; गुदा विदीर्घ हो जाता है और उपेक्षा करने पर उन
छेदों में से वायु, मूत्र, मल और वीर्य का स्थाव होता है; इस
भगन्द्र को गतपोतक कहते हैं ॥५॥

पित्तं तु प्रकुपितमनिलेनाधः प्रेरितं पूर्ववद्य-
स्थितं रक्तां तन्वीसुच्छितासुप्रीवाकारां पिडकां
जनयति; साऽस्य चोषादीन् वेदनाविशेषाज्ञनयति;
अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति; वणश्चायित्वा-
राभ्यामिव द्विते दुर्गन्धमुष्णेणामास्त्रावं स्ववति, उपे-
क्षितस्थ वातसूच्नपुरीपरेतांसि विद्युजति; तं भग-
न्द्रसुप्रीवायमित्याचक्षते ॥६॥

(उपेक्षा—) वायु से नीचे की ओर प्रेरित, प्रकुपित
पित्त पहले की तरह (गुदा के धारों और एक अनुल या
दो अनुल पर) स्थित होकर लाल वर्ण की छोटी, उभरी हुई,
केट की ग्रीवा के वाकार की फुन्सी उत्पन्न करती है; वह
फुन्सी दाह तथा अन्य प्रकार की (पित्तानुस्प) वेदनाण्
उत्पन्न करती है; प्रतीकार न करने पर पक जाती है, (फूटने
पर उत्पन्न हुआ) वण अग्नि और क्षार से जलता सा सालुम
पहता है और उससे वदवृद्धार, गरम स्थाव निकलता है, तथा
उपेक्षा करने पर वायु, मूत्र, मल और वीर्य का स्थाव निकलता
है; उस भगन्द्र को उपेक्षा कहते हैं ॥६॥

स्त्रेप्मा तु प्रकुपितः समीरणेनाधः प्रेरितः पूर्व-
वद्यस्थितः शुक्रावभासां स्थिरां करद्वमतीं पिडकां

जनयति, साऽस्य करण्डादीन् वेदनाविशेषाजनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, वणश्च कठिनः संरम्मी करण्डप्रायः पिच्छिलमज्ज्ञमास्थावं स्ववति, उपेक्षितथ वातमूत्रपुरीपरेतांसि विद्युजति; तं भगन्द्रं परिक्षाविशेषमित्याचक्षते ॥७॥

(परिक्षावी—) वायु से नीचे की ओर प्रेरित हुआ प्रकृष्टित सेहमा पहले की तरह (गुदा के बारे और एक या दो अंगुल पर) स्थित होकर किंचित सुकेद वर्ण की, स्थिर, कण्ड युक्त कुन्ती उत्पन्न करता है । वह कुन्ती वाज तथा अन्य (कफानुरूप) वेदनाएँ उत्पन्न करती है, प्रतीकार न करने से पक जाती है, (पूटने पर उत्पन्न हुआ) घण कहा, गोच युक्त, अधिक स्वाजवाला होकर मृद्व लसदार स्वाव स्ववता है, और उपेक्षा करने से वायु, मूत्र, मल और धीर्य निकलता है, इस भगन्द्र को परिक्षावी कहते हैं ॥७॥

घायुः प्रकृष्टिः प्रकृष्टितौ पित्तस्तेष्माणौ परित्यु-
क्षाधो गत्वा पूर्ववद्वस्थितः पादाभुष्ममाणां सर्व-
लिङ्गां पिंडकां जनयति, साऽस्य तोददादकरण्डा-
दीन् वेदनाविशेषान् जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च
पाकमुपैति, वणश्च नानाविधर्वणमास्थावं स्ववति,
पूर्णनदीशम्बूकावर्यतव्यात्र समुच्छिन्ति वेदना-
विशेषाः तं भगन्द्रं शम्बूकावर्यतमित्याचक्षते ॥८॥

(शम्बूकावर्त—) कृपित हुई वायु कृपित विशेष कफ को प्रहण करके नीचे की ओर गमन करने पहले की तरह स्थित होकर पैर के धौंगूठ के समान सर्व (दोषों के) स्थायों से युक्त कुन्ती वापक करती है । कुन्ती वेदना, जलन, कण्ड इत्यादि (त्रिरोपानुरूप) वेदनाएँ उत्पन्न करती है । प्रतीकार न करने से पक जाती है । (पूटने पर उत्पन्न हुआ) घण नाना प्रकार के रंग का व्याव व्यवहा रहा है, और उसमें पूर्ण नदी में उत्पन्न होने वाले भैवर के समान तथा शम्बूक (मृस विशेष) के आरंभ के समान विशेष प्रकार की वेदनाएँ (Boring Pains) उठती हैं । इस भगन्द्र को शम्बूकावर्त कहते हैं ॥८॥

मूडेन मांसलुब्धेन यदविश्वस्यमदेन सद्वाभ्य-
वहृतं यदाभ्यगादपुरीपोन्मिथमपानेनाप्तःप्रेरितम-
स्यव्यगागतं गुदं क्षिणोति तथः (तः) क्षतनिमित्सः कोथ उपजायते, तस्मिन्थ ज्ञते पूर्यविधिरावकीर्णमांस-
कोये भूमाविव जलमध्याद्याणां किमयः संजायन्ते, ते भूषयन्तो गुदमनेकधा पार्वतो दारयन्ति, तस्य तैर्मार्गीः कुमिलूतैर्वात्ममुत्रपुरीपरेतांस्यमिनिः सरन्ति; तं भगन्द्रसुमार्गिणशिमित्याचक्षते ॥९॥

(दम्मार्गी भगन्द्र—) मांसलुब्ध मूर्ख से भोजन के साथ खाया हुआ ही का डुकड़ा (श्वस्य) जब गाड़े मास में मिल कर अपना वायु से नीचे प्रेरित (गुदा में) वाया या डेहा जाता है तब गुदा में पाव कर देता है; वहाँ वाया के कारण दम्मा जाता है तब गुदा में पाव कर देता है; उस पीप और रक्त से मरे हुए मास के सहाव पैदा होता है; उस पीप और रक्त से मरे हुए मास के

सहाव युक्त पाव में, जैसे कीचड़ में कुमि पद जाते हैं, हामि उपल्प हो जाते हैं; गुदमांस भक्षण करके वे अनेक दिशा में गुदा को दिशारित करते हैं; तब मुन्त्र कुमिलूत उन मार्गों से वायु, मूत्र, मल और धीर्य नि-
लगते हैं; उस भगन्द्र की उन्मार्गी कहते हैं ॥९॥

भयन्ति चाप्र—

उत्पन्नतेऽल्पशक्षोफात् लिङ्मं चाप्युपशास्यति
पायवन्तदेशे पिडका सा शेयाऽन्या भगन्द्रात्

(भगन्द्ररेत पिडका—) गुद के अनिम प्रदं श्वस पीड़ा और शीघ्र से युक्त जो कुन्ती उत्पन्न होती है शीघ्र ही घोत (वैट) भी हो जाती है वह भगन्द्र से (प्रकार की अर्पां शारी) कुन्ती समझनी चाहिये ॥१०॥
पायोः स्याद्वृप्तहृले देशे गृद्मूला सरग्ज्वरा ।
भागन्द्रीति विशेषा पिडकाऽतो विषयेवात् ।

(भगन्द्र पिडका—) जो गुदा से दो अंगुल दूरी हो, गहरी हो, पीड़ा और ज्वर से युक्त हो वह उपर्युक्त (ए पिडका के) लक्षणों से विपरीत होने के कारण भगन्द्र पि-
समझनी चाहिये ॥११॥

यानयानान्मलोत्सर्गात् करण्डसादाहशोफवान् ।

पायुर्भेदुजः कट्टा पूर्वरूपं भगन्द्रे ॥

(भगन्द्र के पूर्वरूप—) रथादि पर सवारी व से, मलोत्सर्ग करने से खाज, पीड़ा, जलन और शीघ्र हुक्क गुदा तथा कट्टी में पीड़ा ये भगन्द्र में पूर्ण लग होते हैं ॥१२॥

घोराः साधयितुं दुःखाः सर्वं पद भगन्द्राः ।

तेष्वसाध्यतिदोषोत्थः क्षतजश्च भगन्द्रः ॥

इति दुक्षुतसंहितार्थां निदानस्याने भगन्द्ररनिदान
नाम चतुर्थाध्याय ॥१३॥

(साध्यासाध्यता—) सब ही भगन्द्र हु व्यदायक अ-
क्षय से साध्य होते हैं । उनमें साधिपातिक और क्षतज मसा-
होते हैं ॥१४॥

यत्क्षय—स्थान के अनुसार भसाध्य सक्षम्य—प्रवादिः
वर्णी मात्र से वर्णी वा समाक्षिग्र । (अष्टांगसंग्रह) । लक्षणोः
अनुसार भसाध्यता—वातमूत्रपुरीषाणि किमयः शुक्रेव च
भगन्द्रात् स्वन्तसु मात्राभ्यन्ति तमातुरद् ॥ (सू. सू. ३१)
कुमुक या आन्त्र के राजयक्षमा में जो भगन्द्र उत्पन्न होते हैं, वह भी शाय क्षयाद्य होता है ।

इति भास्करसंहार्णा गोविन्दामनेन विरचितायामातुरेवत्सर्वीविकर्त्ता
द्युमुकाशार्दीकार्यां निदानस्याने भगन्द्ररनिदान
नाम चतुर्थाध्याय ॥१४॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातः कुष्ठनिदानं व्याख्यास्यामः । यथोचाच
पवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब वहाँ से कुष्ठनिदान का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि
पान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

थक्कव्य—कुष्ठ—कुण्णातिनि कुष्ठन् । लंगादि धातुओं का
ग करने के कारण कुष्ठ कहते हैं—कुष्ठशुनित तद् । कानोंपें
तं यमाद् सर्वं कुण्णाति तदुः । (अष्टांगोन्मय) । इस
धारण निरक्षि के अनुसार कुष्ठ में कोड़ जैसे दार्शन रोग
ऐकर रुजली जैसे छुद्र रोग तक सब रोगों का यमादेश
वा लाता है । सुश्रुत में कहूं धार कुष्ठ के लिये त्वग्दोष प्रदृढ़ ।
प्रयोग किया गया है—पापत्रियथा पुराशून्यर्णयोगाच त्वज्नोपा
न्ति । तत्र त्वग्नी दिवास्त्रम् व्याधयं न परिदेश । (कुष्ठचिकि-
त्त) । कुष्ठ का यह अर्थ और्मेजी में Diseases of the
skin or Dermatoses शब्द से प्रश्नित कर सकते हैं ।
त्तु व्यवहार में महाकुष्ठ और क्षुद्रकुष्ठ करके इसके दो
द किये जाते हैं । महाकुष्ठों का निर्देश प्रायः केवल कुष्ठ
न् से और क्षुद्र कुष्ठों का उनके स्वतन्त्र नाम से किया
ता है—नप्रादिवलप्रयृता ये शुश्रोगिनदीपान्वयाः कुष्ठशःप्रशृतयः ।
मैति: पापरोगस्य प्रायुः कुष्ठस्य संभवन् । (सुश्रुत) । महाकुष्ठ
। और्मेजी में लेप्रोसी (Leprosy) कहते हैं । क्षुद्र कुष्ठों में
नेक त्वरोग समावित होते हैं । कुष्ठ शब्द की इस संदिग्धता
। दूर करने के लिये लेप्रोसी के सिये केवल एकवचनी कुष्ठ
न् का प्रयोग किया जायगा, और सर्व प्रकार के कुष्ठों के
नये अनेकवचनी शब्द प्रयोग होगा ।

मिथ्याहाराचारस्य विशेषाहु सविरुद्धासात्म्याजी-
र्णहिताशिनः स्वेहपीतस्य वान्तस्य वा व्याख्यामग्रा-
यधर्मसेविनो ग्राम्यानूपोदकमांसानि वा पशसाऽ-
रीद्वेषमश्तो यो वा भजत्यप्सूज्माभित्तसः सहसा-
श्रद्धिर्वा प्रतिहन्ति, तस्य पित्तश्लेष्माणो प्रकुपितौ
गरिगृह्यानिलः प्रवृद्धस्तिर्यग्माः सिराः संप्रतिपद्य-
समुद्धूय वाह्यं मार्गं प्रति समन्ताद्विक्षिपति, यत्र
यत्र च दोषो विद्विसो निःसःश्रुतिः रति तत्र तत्र प्रश्न-
लानि प्रादुर्भवन्ति, एवं समुत्पन्नस्त्वचि दोषस्तत्र
तत्र च परिवृद्धि प्राप्याप्रतिक्रियमाणोऽभ्यन्तरं
प्रतिपद्यते धातुनभिदूपयन् ॥२॥

अहित आहार और आचार करने वाले की, विशेष करके
परिए भोजन, विरुद्ध भोजन, असात्म्य भोजन, अध्यशन और
अहित भोजन करने वाले की, ग्राम्य आनूप और औदक
प्राणियों का मांस दूध के साथ बार बार सेवन करने वाले
की, स्नेहपान और वमन के पीछे व्यायाम और मैथुन करने
वाले की, धूप में संतस होकर तल्काल (ठंडे) जल में तैरने
वाले की और आते हुए वमन को रोकने वाले की प्रवृद्ध हुई
वायु प्रकृष्टित हुए पित्त और कफ को लेकर तिर्यगामिनी
सिराओं में प्राप्त होकर और उनको व्यास कर पित्त कफ को

^१ प्रतिपद्य वातनभिदूपयनि.

धातु रोग मार्ग में फैला देती है । फिर जहाँ पाणी विक्षिप्त
हुआ दोष संचार करता है, वहाँ वहाँ भगदल (घकते) पैदा
होते हैं । इस प्रकार त्वचा में प्रकट हुआ दोष वहाँ ही वृद्धि
पाकर प्रतीकार न करने से (कफ से रक्त मांसादि) धातुओं
को दूषित करके भीतर प्रवेश करता है ॥२॥

वस्तव्य—असु—ठंडे जल में—भयशमनतोपहतस्य च
सहस्य शीलोदकमनवरतः । (चरक) । निर्यग्मा: सिराः—
तिर्यग्मामी धार धमनिर्याँ, जो उत्तरोत्तर सूक्ष्म असंख्य
शारदाओं में विभक्त होकर सर्व भरीर व्यास करती है । (धमनी
व्याकरण नामक भारीरस्थान के नवम अव्याय में तिर्यग्मामी
धमनिर्यों का वर्णन देतो) । वाय मार्गम्—तत्र शाया रक्ताद्यी
धातवरत्वक् च स वायी रोगगारः ॥ (चरक) । सुश्रुतमतानुसार यहाँ
केवल त्वचा अभिप्रेत है । चरक और वामभट के अनुसार त्वचा,
रक्त, लमिका और मांस ये धातु अभिप्रेत हैं । धातुनभिदूप-
यन्—एवं कुष्ठं समुत्पत्त त्वचि कालपर्करतः । कमेण धातून व्याप्तेति
नरस्त्रापनिकारिणः ॥ (सुश्रुत) । इस सूत्र में 'मिथ्याहार-
चारस्य' से लेकर 'दर्दिर्वा प्रतिहन्ति' तक कुष्ठों का निदान
वर्णन किया है । इसके अतिरिक्त चरक में निज्ञ कारण अधिक
है—नवाद्वधिमत्यातिलवणाम्ननिपेविणाम् । मापमूलकपिटामतिल-
क्षीरसुग्रासिनाम् ॥ व्यवाय चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा ।
विप्रान् युस्न धर्यता पाप कर्म च वुर्वताम् ॥ (कुष्ठचिकित्सित) ।
मछली और कुष्ठ के संबंध का विवरण सूत्रस्थान के अन्तिम
अव्याय के १२४ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है ।
नवीन खोज के अनुसार विषमज्वर, कालाद्यजार, फिरंग
(Syphilis), अंकुषामुपरक्षिरोग (Hookworm disease)
द्वयादि दौर्वेल्यजनक रोग भी कुष्ठों की उत्पत्ति में सहायता
देते हैं । कुष्ठ में कुलजप्रवृत्ति भी होती है । इस विषय का
प्राच्यप्रसीच्यमतानुसार विवरण सूत्रस्थान के व्याधिसमुद्दीर्णीय
नामक २४ वें श्राव्याय के चौथे सूत्र के वक्तव्य में १४८ पृष्ठ
पर किया गया है । कोड़ का सुख्य कारण एक जीवाणु है,
जिसको बैंगीलम लेप्री (B. Leproe) कहते हैं । उपर्युक्त
मिथ्याहाराचारादि सब सहायक कारण हैं । 'तस्य
पित्तश्लेष्माणां' से लेकर अन्त तक कुष्ठों की संप्राप्ति
वर्णन की है । चरक में कुष्ठों की संप्राप्ति निज्ञ प्रकार
से वर्णित है—श्रो दोषा वातपित्तश्लेष्माणः प्रकोपणविकृताः ।
द्व्याश गरीरथात्वस्त्वद्मासरोणितलसिकाश्तुर्भु दोषोपवातविकृता
इति । एन्तस्तानां सप्तधातुकमेवद्वत्तमाजनन कुष्ठानाम् ॥ (कुष्ठ-
निदान) । चरकमतानुसार त्रिदोष और त्वचादि चार
धातु 'युगपत्' दूषित होकर कुष्ठ उत्पन्न होता है; सुश्रुत-
मतानुसार त्रिदोष प्रथम त्वचा को दूषित करते हैं और
यदि उपेक्षा की जाय तो कफ से रक्तादि धातु दूषित होते हैं ।
इसलिये आगे सप्तधातुगत कुष्ठों के त्वतन्त्र लक्षण वर्णन
किये हैं । चरक और सुश्रुत की कुष्ठसंप्राप्ति की कल्पना में
यह फैक है । कुष्ठ की संप्राप्ति के संबंध में और एक महत्व की
वात चरक में लिखी है—त्रोपः प्रकृष्टिनाम् स्यानमपिग्म्य सतिष्माना
स्तानेव त्वग्दीन् दूषयन्तः कुष्ठान्यभिनिर्वैत्यन्ति । इसका तात्पर्य
यह है कि प्रकृष्टिदोष अधिक काल तक त्वचादि में अक्ष-
स्थान करके (संतिष्मान) रोग दौर्वेल्यजनक रूपी

काल को रोगसप्ताहिकाल या सचयकाल (Incubation period) कहते हैं। आजुनिक खोज से यह मिद्द हुआ है कोइ का सप्राप्ति काल दो माल से शेषर आठ दस माल तो भी अधिक होता है। आजुवेंद्र के कुछ में यथापि छुदकुड़ों का समावेश होता है, तथापि उसके निदान, पूर्णलगादि कोइ के ऊपर अधिक ध्यान देकर लिये गये हैं। चरक के अष्टोदीर्घ अध्याय में और कुष्ठनिदान में केवल सात महाकुड़ों का ही वर्णन किया गया है—तेजो विकलादिकरभव्यत्वानेऽनिमत्तमागमित्तमीश्वर सत्तविषेव तुष्टविशेष्यमेश्वरम् ॥३॥

**तत्त्व पूर्वरूपाणि—त्वक्पूरुष्यमक्सादोमहर्यः
कण्डूः स्वेदव्याहृत्यमस्वेदनं चाऽङ्गप्रदेशानां स्थापः
क्षतियसर्पणमस्तुः कृष्णता चेति ॥३॥**

उसके पूर्वरूप—त्वचा का तुरदापन, भक्समार्, रोगटे खड़े होता, खाज, अधिक पर्तीना आगा या परीना न आता, शरीर के धोंगों में सुखता, गता (उत्पन्न होकर उम) का फैलना और इस का कालापन ॥३॥

थत्तद्य—इनके प्रतिरित चरक में निझ पूर्वरूप अधिक निलेते हैं—अतिखण्ठा, (त्वचा मुलायम और चम कीली होना Hyperkeratosis), बैर्व, परिह चरिहर (किनकिनिका, सरसराइट Tingling), कम्पायण, गौरव, पक्षरप्तदमहातोपस्त्रिभेष्यतिमाव देना, त्वचानामनि च ब्रानाना दुष्टिते रोग चेति ॥ ये पूर्वरूप अमचाहु, टांगे तथा अन्य हुए स्थानों पर प्रभम हुआ करते हैं ।

**तत्र सप्त महाकुड़ानि, एकादश शुद्धकुड़ानि; पृथ-
मष्टदश कुष्टानि भवन्ति ॥४॥**

कुड़ों में महाकुड़ तात और छुदकुड़ ग्यारह हैं, इस प्रकार अतारह कुड़ होते हैं ॥४॥

थत्तद्य—सप्त महाकुड़ कोइ (Leprosy) के विविध रूप मालूम होते हैं। छुदकुड़ों में त्वचा के अन्य धोंगों का समारोग किया गया है। अर्थात् ये त्वचीय केवल ग्यारह होना असमव है, इसलिये चरक में उनकी असल्येयता बतलाई है—स ताविषेऽङ्गादाशिविषेऽप्तवेदेविषेवा वा भवति। हसी कारण से इन छुदकुड़ों के वर्णन के भक्त में न पढ़कर निदानव्याप्त में केवल सात महाकुड़ों का ही विवरण किया गया है—तेजो विकलादिरामल्यानेऽनिमत्तमागमित्तीश्वर सत्तविषेव तुष्टविशेष्यमेश्वरम् ॥ (चरक) ।

**तत्र महाकुष्टान्यहणीदुम्यरर्घ्यजिह्वकपालकाक-
णकुपुण्डरीशद्वुकुष्टानीति । शुद्धकुष्टान्यपि स्तूला-
कृष्णं महाकुष्टमेककुष्ट चर्मद्वलं विसर्पं परिसर्पं;
सिंधं विचर्चिका किटिमं(मं) पामा रक्सा
चेति ॥५॥**

(कुष्ट के भेद—) इनमें ये महाकुष्ट है—१ अरण, २ आजुमूर्द, ३ रूप्यगिर्ह, ४ कपाल, ५ काकाश, ६ पुण्ड रीक, और ७ दबु । और छुदकुड़ ये है—१ स्तूलाकृष्ण, २ महाकुष्ट, ३ एककुष्ट, ४ चमद्वल, ५ विसर्प ६ परिसर्प, ७ सिंध, ८ विचर्चिका, ९ किटिम, १० पामा और ११ रक्सा ॥५॥

थत्तद्य—चरक, सुश्रुत और वाम्भट हनमें हुई नाम व सबव में मतभिद्धता दियाई दीती है। सुश्रुत—‘अश्वा’ कुष्ट चरक और वाम्भट में नहीं है, उसके बड़े ‘मयाइल’ कुष्ट मिलता है। ‘मयाइल’ सुश्रुत में नहीं मिलता। चरक में ‘दबु’ छुदकुड़ों में दिया है और उसके बड़े ‘मिथ महाकुड़ों में लिया है। सुश्रुतोंके स्थूलाकृष्ण, महाकु विसर्प, परिसर्प, और रक्सा ये पाँच छुदकुड़ चरक में न मिलते। इनके बद्वे अलगम, यतार, विपादिदा, च और विरसोटक ये पाँच कुष्ट मिलते हैं। वाम्भट के त्रु तुष्ट चरकमतानुसार हैं, केवल दबु महाकुष्ट में दिया है और मिथ्य लकुष्ट में समाविष्ट किया है। इस मतभिद्धता वै शुद्धमहाकुड़ों की अन्योन्यानुप्रयोगिता को देखकर यह मान पड़ता है कि आजुवेंद्र में कोइ जैसे भयकर विकार से सेक लुगली जैसे मामूली विकार तक त्वचा के सर्वे धोंगों के समावेश कुष्ट में किया गया है, और ‘वेदना वर्ष्ण सस्प्र प्रभाव’ आदि के कारण कुड़ों की असाधेय कहा है।

**सर्वोणि कुष्टानि सवानानि सपित्तानि सम्मे
प्राणिणि सक्रिमीणि च भवन्ति; उत्सन्नतस्तु दोष
प्रदण्यमभिमव्यात् ॥६॥**

सर्वी कुष्ट वाम्भुक, वित्तयुक, कफ्युक और कृमियुक होते हैं। परन्तु उक्षर्प और प्रावल्य के अनुसार दोष (नाम) का प्रहण होता है ॥६॥

थत्तद्य—सवानानि ह्यादि—कुष्ट हमेशा विदेवप्तो से होता है—ज व विदिति कुष्टमेकोदेवप्तीयपनिमित्तन् । (चरक) तकिमीणि—कोड तथा त्वचा के अन्य धोंगे कृमिकीटादि हैं तद्वय होते हैं । प्रयेक विकार का हृमि स्वतन्त्र होता है कोइ के जीवाणु का उल्लेख भीते दूसरे सूक्ष के वक्ष्यमें किया गया है। इन किमियों के संबंध में आगे उत्तरत्न के कृमिरोग प्रतिवेष अस्वाय में लिखा है—केशरोनलालाद्य दन्वादा विकिसापापा । कुष्टनाश परीमार्दी हेया शोणितमेभवा ॥ ते सत्तात्य कृष्णाय लिखित्या वृषवलसा । रक्षापित्तानानामयो विद्वा राजू जनवन्ति ते । केशराद्यास्वनद्वयाले ॥ दोषवल्य—दोषविद्य—सैवध्वय विदेषेतु व्यप्तेऽरोदिकलत्र । (प्राणीगद्य) । धोंगों में दोषनिर्देश का यह एक साधारण नियम है कि जिसका प्रावल्य होता है उसी का निर्देश किया जाता है—द्रव्येकरम नालि न रोपेष्वकोदेवज । योऽयिकनेन निर्देश विद्य रसदेवयो ॥ अभिवद—(?) प्रावल्य । अप्यामिभवान् कृष्ण भृत्यनिति कुञ्जित्य । (भागदीता) । विद्वा (२) परायन या दूसरे के वय में जाना । दर्शनुकूल इव वर्ष्णकलानालद्वयेनो भिमवादमनि ॥ (शाकुन्तल) । दूसरा अर्थ करने पर ‘इन्’ दोषों पर अस्वाहन करना कहिये ।

तत्र धातेनादण, पित्तेनुदुम्यरर्घ्यजिह्वकपालका-
कणकुपुण्डरीशद्वुकुष्टानीति । शुद्धकुष्टान्यपि स्तूला-
कृष्णं महाकुष्टमेककुष्ट चर्मद्वलं विसर्पं परिसर्पं;
सिंधं विचर्चिका किटिमं(मं) पामा रक्सा और दबुकुड़ हैं

ग्रीष्म धातुओं में प्रवेश करने से उनकी गंभीरता, (शरीर आण करने की) कार्यदाता और असाध्यता अधिक होती है ॥७॥

बक्टव्य—उत्तरोत्तर—व्यचादि से उत्तरोत्तर धातुओं में करने से गंभीरतादि गुण अधिकाधिक हो जाते हैं ।

तत्र, वातेनारुण्याभावानि तनूनि विसर्पीणि तोद-स्खापयुक्तान्यरुणानि; पित्तेन पकोदुम्बरफलातेवणान्यौदुम्बराणि, ऋष्यजिह्वाप्रकाशानि खणे ऋष्यजिह्वानि, कुप्पणकपालिकाप्रकाशानि आलकुप्तानि, काकणन्तिकाफलसद्वशान्यतीव कुप्पणानि काकणकानि, तेऽपां चतुरामिष्योपचोरिदाधूमायनानि त्रिप्रोत्थानप्रपाकमेदित्वानि मिजन्म च सामान्यानि लिङ्गानि; पुण्डरीकपत्रशानि पौण्डरीकाणि श्लेष्मणा, अतसीपुष्पर्णिनि ताम्राणि वा विसर्पीणि पिडकावन्ति च कुष्ठानि; तयोर्द्वयोरप्युत्सन्धता परिमण्डलता एह्यथिरोत्थानत्वं चेति सामान्यानि रूपाणि ॥८॥

(दीपानुसार लक्षण—) वात से किञ्चित् रक्तवर्ण, छोटे, नींवाले, तोद, भेद, स्पर्शज्ञानभाव इनसे युक्त अरुण कुष्ठ होते हैं । पित्त से पके गूजर के फल के समान कार और वर्ण के ओढ़ुम्बर, ऋष्यजिह्वा (शृण्य-एक हरिण) के समान खुरदरे ऋष्यजिह्वा, काले ठिकर के समान गाल कुष्ठ, (और) गुज्जाफलसद्वश अत्यन्त लाल और ले काकणन्तिका कुष्ठ (होते हैं); इन चारों (पैत्तिक ग्रे) के ओप, चोप, परिदाह, धूमायन (जलन के भिन्न प्रकार), शीघ्र उत्पन्न होना, पक्ना और फूटना तथा गमि उत्पन्न होना ये सामान्य लक्षण हैं । कफ से श्वेत पद्म ग्रे के समान पुण्डरीक, (और) अतसी के फूल के वर्ण नील कण्ठ (केंद्रवाते के वर्ण के फैलने वाले, पिडका क ददुकुष्ठ (उत्पन्न होते हैं); इन दोनों (कफ कुष्ठों) के भार, गोलाकार (चक्कते होना), खाज, दंर से उत्पत्ति ये सामान्य लक्षण होते हैं ॥८॥

बक्टव्य—दहु—दाद या दिगाय । अङ्गेजी में इसको गोवर्म या टिनिया (Ringworm or Tinea) कहते हैं । इस व्यविकार का कुमि सोल्ड या फंसस (Mould or Fungus) जाति का है । यह अनेक सेलों का बना हुआ उत्पन्न होता है । इसका नाम ट्रिकोफैटन इन्डोशिक्स और इचोफैटन एक्टोशिक्स (Trichophyton endotheix, Trichophyton ectothrix) है ।

शुद्धकुप्तान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—

अब इसके आगे शुद्ध कुष्ठों (के लक्षणों) का वर्णन करते हैं ।

स्थूलानि सन्धिष्वतिदारुणानि

स्थूलारुपि स्युः कठिनान्यरुंषि ।

(स्थूलारुक्त—) स्थूलारुक्त में संखियों में भोट, अति भयेक और कठिन भ्रण उत्पन्न होते हैं ।

त्वक्कोचमेदस्वपनाङ्गसादाः

कुष्ठे महत्पूर्वयुते भवन्ति ॥९॥

(महाकुष्ठ—) महाकुष्ठ में व्यचा जैं सिङ्गडन, दरार, स्पर्श ज्ञान की कमी और अंगगलानि उत्पन्न होती है ॥९॥

कुप्पणारुणं येन भवेच्छरीरं

तदेककुष्ठं प्रवदन्ति कुष्ठम् ।

(एककुष्ठ—) जिससे शरीर काला और लाल पड़ जाय, उस कुष्ठ को एककुष्ठ कहते हैं ।

स्युर्येन कण्डूव्यथनौपचोया-

स्तलेषु तच्चर्मदलं वदन्ति ॥१०॥

(चर्मदल—) जिससे (हाथ और पैर के) तलुंव भैं खाज, पीड़ा, जलन और चोप ही, उसको चर्मदल कहते हैं ॥१०॥

विसर्पवत् सर्पति सर्वतो य-

त्वव्यक्तमांसान्यभिभूय शीघ्रम् ।

मूर्छ्यविदाहारतितोदपाकान्

कृत्वा विसर्पः स भवेद्विकारः ॥११॥

(विसर्पकुष्ठ—) जो व्यचा, रक्त व मांस को दूपित करके मूर्छा, दाह, वैचैनी, पीड़ा व पाक (इन उपद्रवों) को करके शीघ्र चारों ओर विसर्प की भाँति फैलता है, वह कुष्ठ विसर्प है ॥११॥

शनैः शरीरे पिडकाः च्वत्स्यः

सर्पन्ति यास्तं परिसर्पमाहुः ।

(परिसर्पकुष्ठ—) जो खावयुक्त कुन्तियाँ शरीर में धीरे धीरे फैलती हैं, उसे परिसर्प कहते हैं ।

कण्डून्वितं श्वेतमपायि सिधम्

चिद्यात्तनु प्रायश ऊर्ध्वकाये ॥१२॥

(सिधम—) जो खाज युक्त, सुरेद, कट्टरहित, चुदाकार (तनु) व प्रायः ऊपर के शरीर (घाती, ग्रीवा, सुख) पर होता है वह सिधम कुष्ठ समझना चाहिये ॥१२॥

बक्टव्य—सिधम को अङ्गेजी में पिटिरिजासिस वर्तिकल (Pityriasis Versicolor) कहते हैं । इसका कारण मैकोस्पोरन फरफर (Microsporon furfur) नामक एक फंगस जाति का कृमि है । यह घाती और ग्रीवा में अधिक होता है और खुजाने पर उससे भूसी निकला करती है—भूतं तांत्र तनु च यद्रजी धृष्ट विसुब्रति । अलाक्षपुष्पवर्ण तत् सिधम प्रयोग चौरसि ॥ (चरक) ।

राज्योऽतिकराङ्गर्तिसुरः सरूक्षा

भवन्ति ग्रावेषु चिच्चिक्कायाम् ।

कण्डूमतीः दाहरुजोपपत्ता

विपादिका पादगतेयमेव ॥१३॥

(विच्चिका व विपादिका—) विच्चिका में (हाथ पाँच हव्यादि) गांत्रों में श्वासाय खाज और पीड़ा युक्त स्वी

१ प्रवदन्त्यसाध्यम् २ कण्डूव्यथशोपचोयाः ।

नेवार्थ उत्पन्न होती हैं । यही जब पौर्णी में स्थित होकर ग्राम, दाह और वेदना युक्त होती है तब विषादिका कहलाती है ॥१३॥

यत्कथ्य—विचर्चिका को होंगड़ (Rhingades) कहते हैं । विशादिका को विवाइ और अंग्रेजी में चिल्बैन (Chilblain) कहते हैं ।

यत् व्याधि वृत्तं घनमुद्रकण्डः

तत् स्थिरपृष्ठाण् किटिभं (मं) वदन्ति ।

(किटिभं) जो धावदुक, गोल, ढोय, आप्यन्त कण्ड युक्त, विकला और काला हो उसे किटिभ कहते हैं ।

सासाधावकरण्डपरिदाहकाभिः

पामाऽणुकाभिः पिङ्काभिरुद्धा ॥१४॥

(पामा—) खाब, खाज य अलन इनसे युक्त छोटी छोटी कुमियों से पामा समझनी चाहिये ॥१४॥

यत्कथ्य—पामा को खाजन या पूर्खीमा (Eczema) कहते हैं ।

स्फोटैः सदाहैरति सैवे फट्टौः

स्फिक्कपाणिपादभैरिन्द्रिया ।

(फट्टौ—) कूद, हाप य पौर्णी पर उपच दुरु अतिदाह युक्त छोटी से वही पामा कच्चू कहलाती है ।

यत्कथ्य—इसको तुकरी या ईंचीत (Scabies) कहते हैं । इस रोग कह कारण एक कीड़ा (Sarcoptes Nominis) है जिसकी सताई है इसके करीब होती है ।

करुद्विनिवा या पिङ्का शरीरे

संस्नाधीना रक्सोच्यते सा ॥१५॥

(रक्सा—) कण्ड युक्त छोटी लाज रहित जो कुमियों गरीर में उत्पन्न होती है, वह रक्सा (Dcs. Eczema) कहलाती है ॥१५॥

अहः सस्तिष्ठं रक्सा महाय

यथैकुमुखं कफात्मयमूनि ।

यायोः प्रकोपापरिसंपर्कं

शेषाणि पित्तप्रभयाणि विद्यात् ॥१६॥

(रोगानुगार दुरु कृष्ट—) कक गे स्थूलाक्क, निष्प, रक्सा, महाकृष्ट और पूर्खुड होते हैं; बायु ने म्होर में केवल परियों कृष्ट होता है और योग (विर्यों, किटिभ, विचर्चिका, रासा और चर्मश्य) जिस ने प्रभाव गे होते हैं ॥१६॥

यत्कथ्य—यहीं कुठों वे जो संक्षिप्त लाज उर्द्धन हिये हैं, उनसे अधिकतर लागतों के साथ उनका दीर्घ दीर्घ में लाजना बहुत कठिन है । जिसके लागत में कृष्ट लिप्त हो महा, उनसे दैर्यी वर्षा लाज आत दिये हैं । लापानि जैसे संक्षेप में भी अनुभेद हो गया है ।

किलासमपि तु स्पष्टिक्षयं परः स्थिरियं योनेन

पित्तेन वृद्ध्यान् येति । तु दृष्टिकिळासपोरमान—

स्थगातमेव किलासमपरिस्नावि च । तद्वाते मण्डलमरणं परुपं परिघ्वंसि च, पित्तेन पश्चाप्रतीकाशं सपरिदाहं च, त्वेष्यमणा स्वेतं स्थिरं यद कण्डुमध्यं । तेषु सम्यद्मण्डलमन्तेजान् रक्तरो चासाध्यमग्निदार्थं च ॥१७॥

(किलास—) किलास लवण्डोर का ही एक भेद है । वात से, रित्त से और कफ से तीन प्रकार का है । कुठ भेद किलास का अन्तर (यह है कि) किलाम कंवल खचा स्थित और खाब रहत होता है ; किलाम बायु से गोप किन्चित रक्तवर्ण, तुरदरा और (खचा के बालों का) ना करने वाला होता है, पित्त से कमलपत्र के तुल्य और दा युक्त होता है, कफ से सरेद, चिकना, रूपुल और कण्डु होता है । इनमें से जिसके चक्रे आपस में मिले हुए हैं जो हल्मादातल युद्ध तथा होठ में हुआ हो, और जो का रोग युक्त हो यह असाध्य होता है; तथा अधिन्देश किलास भी असाध्य होता है ॥१७॥

यत्कथ्य—किलास—इसको ध्वनि भी कहते हैं—दाल वाणि ध्वनि किलाम नामभिलिमि । (चरक) । व्यवहारः इसको म्होर दाम और धैयेजी में स्थ्यकोइर्मिमा (Leucoderma) कहते हैं । इसके ही भेद होते हैं, दोपज और व्याज—ध्वनि द्वि दिवि विषादीत्र वैयवता । तत्र विष्योपवार्ता व्याज्ये व्याज स्थनम् ॥ (भोज) । युक्त और किलास का अन्तर—कुठ कुमिन्यन्य, स्त्रामाक और शरीर के भासुदों का नाम बरते वाला होता है, किलास इसमें विलकूल विपरीत है—प्रत्यग वालू या वालू नामान् नैदेव चावहै । सरोद्देशसेवयां हमीद् यूक्तान् सुदाक्यान् ॥ दोषावलक्ष्यात्युपात्मनिक्षणाभ्यानि ये क्षमार् । अष्टुपूर्, विक्रमपात् तुडायाद्युपात्मणः ॥ (अर्धां संप्रद) । इसकी दीक्षा में इन्द्रु लिपते हैं—भ्रमान् कारणान् ध्वनि वायुप्रसरणेन्यते । विद्वान्याधामात् यथात् लग्नोपवार्ता यत्प्रय । आपुत्रिक वैज्ञानिक लोकों से भी उत्पुत्तु आपुत्रों का कथन साध्य ध्वनि हुआ है । किलास में विद्वि—समुद्रीय की लक्षा के धैयों पर्ने में मेलानियम (Melanium) नामक एक रंग देखता है और इसी के कारण लक्षा रंगिन होती है । इस रंग का एक कार्य पूर्ण ने गरीबी की रक्ता करता है; इसमें उन प्रदेशों के सीरीं तथा पूर्ण में काम करने वालों की लक्षा में इसकी अधिकता होती है और वे सोग करते हों जाते हैं । किलास में लक्षा का यह रंग जाता होता है, तिथें रंगातिन व्यापान संसेद हो जाते हैं । अभ्यास यह देखा गया है एक जो विषय लक्ष्या पर यह रोग देखा जाता है उनी व्यापान पर दृष्टिः भ्रात्रहृषा करता है । ऐसे दाम पर कृष्ट की भाँति न युक्तान् होती है एवं इसमें देखें, परम्परा लक्षा की युक्तान् नह होती है । तिथं यह देख—प्रत्येक व्यापान इन्द्रामानि किलासान् युक्तान् युक्तोर्त्वं । एवं यस युक्तान् च अप्तेऽप्तु विक्रम विष्यि वायुम् ॥ (चरक) । व्यापानिक दार्यीर रहि गे विषाद करने वालों के वाह के वर्णान् युक्त वृद्ध और धैयात्रि दर्शन होति, यस्यु वृद्ध वृद्ध लाज करने पर भी इस रोग का दीर्घ दीर्घ आज तक इनाम दी रहा—The etiology is usually unknown. And Tinea and tinea corporis, tinea favosa, tinea

invoked to explain the phenomenon. But very little evidence is at present forthcoming in favour of either view. A text book of the practice of Medicine by Frederick W. Price, यह रोग शरीर-भौमि दोष से उत्पन्न होने के कारण धीरे धीरे फैलता है और एक समय शरीर की सारी की सारी त्वचा कहीं कहीं काले दाग छोड़कर सफेद हो जाती है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि इस रोग के अौपसर्गिक न होने के कारण मैकेड दाग वाले से घृणा करने की कोई जरूरत नहीं होती है। परिच्छिन्न-रोगविवरणमि—मदाहं रोगविवरणमि । (अष्टांग-संग्रह) । अन्ते जातं—हृष्टपादत्तलयुक्तो होतम् । गुणपाणितलैषिति तलमत्र पादतलं, सुन्त्रेऽन्ते जातं । गुणपाणितलैषिति (मधुकोशन्याल्या) । गुणपाणितलैषितु जातमयचिरन्तनग् । वर्जनीय विशेषण विलासं भिडिमिन्दृता ॥ (अष्टांगसंग्रह) । रक्तोम—थेत रोम । यद्यपि यहाँ तथा चक्र में रक्त रोम (उपस्थपतोडिनित्र वहु यद्रक्तारोमवत्) शब्द का प्रयोग किया गया है तथापि उसका अर्थ ‘थेतरोम’ ऐसा करना चाहिये; क्योंकि अष्टांगसंग्रह में किलास के सामग्री लक्षणों में ‘अशुरोमायहुलम्’ ऐसा शब्द प्रयोग किया गया है। अशिद्वध—दधरणा या अन्यवर्णा से उत्पन्न हुआ किलाम् । इसमें दोष वृणस्थान में होता है, इसलिये वर्णस्थान की त्वचा के अतिरिक्त यह रोग और कहीं नहीं फैलता । चिकित्सास्थान के पहले अध्याय में ‘कृष्णाकर्म’ नामक जो उपकरण चर्णान किया है, वह इसी के लिये है—दुख्द्वातुशुकुणान् कृष्णाकर्म हिन भवेत् ॥

कुषेतु तु त्वक्संकोचस्वापस्वेदशोफभेदकौपय-
स्त्रोपघाता वातेन, पाकाधदरणाङ्गुलिपतनकर्ण-
नासाभज्ञाक्षिरागसत्त्वोन्पत्तयः पित्तेन, कण्ठ्वर्यो-
भेदशोफास्त्राधगौरवारिणि श्लेषणा । तत्रादिवल-
प्रवृत्तं पौरेष्ठीकं काकणं चासाध्यम् ॥१८॥

कुषों में पीड़ा, त्वचा में सिकुड़न, सुखता, संद (का अधिक्य या अभाव), शोथ, द्रार, कर (साधारण तथा भंग) वैकल्य और स्वरभंग वायु से होते हैं; पक्ना, विदीर्ण होना, श्रंगुलियों का गिर जाना, कान और नासा का गत जाना, शाँखों में सुखी और कृमियों की उत्पत्ति पित्त से होती है; खाज, वर्ष्यभेद (वैत्य), सूजन, वाव और स्थूलता कफ से होती है । इनमें माता पिता के दोष से उत्पन्न हुआ, पौण्डरीक और काकणक (ये तीन कुष) असाध्य होते हैं ॥१८॥

वक्तव्य—कुषेतु—हमसे यहाँ महाकुष या कोढ (Leprosy) अभिप्रैत है । पाश्चात्य वैद्यक में लक्षणों और विकृति के अनुसार कोढ के तीन प्रकार किये गये हैं । (१) नाड़ीकुष (Nerve Leprosy)—इसमें कुषाणुओं का आकमण शरीर की नाड़ियों पर होता है जिससे सरसराहड, चिसचिमायन हृत्यादि पीड़ाएँ, स्वाप, कौशल इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं । आयुर्वेदिक परिभाषा के अनुसार इसको वातिक कुष कह सकते हैं । (२) ग्रथिकुष (Nodular Leprosy)—इसमें साधा, चेहरा, हाथ, पैरों पर इत्यादि लक्षण होते हैं ।

की त्वचा में क्लोटी छोटी गाँठ बनती हैं, त्वचा पर लाल धन्दे (वर्षभेद) पड़ जाते हैं, त्वचा जगह जगह पर मोटी (गोंवर) पड़ जाती है, जिससे रोगी की आङ्गूष्ठि बेढ़ोल होती है । ग्रंथियाँ फ़टकर वरण बन जाते हैं, इसमें कीड़े भी पड़ते हैं । यह रोग मूँह, गल, कर्ण, नासा, अक्षि इत्यादि स्थानों में भी होता है, जिससे कर्णानासाभज्ञ अक्षिरागादि लक्षण उत्पन्न होते हैं । आयुर्वेदिक परिभाषा के अनुसार इसको ‘पित्तकफ़ज्जुष’ कह सकते हैं । (३) मिश्र (Mixed) कुष—इसमें उपर्युक्त दोनों प्रकार के लक्षण उपस्थित रहते हैं, और इसी प्रकार के रोगी अधिक होते हैं । शुद्ध धातिक या शुद्ध ग्रंथिक स्वरूप का रोग या रोगी प्रायः नहीं होता—So the distinction (nerve or skin leprosy) is not sharply defined: Tropical medicine by Rogers and Megan. इसलिये आयुर्वेद में जो कहा है कि ‘न च किञ्चिदस्ति कुषेकटोप्रकोपनिमित्तं’ ॥ (चरक), वह ठीक है । मिश्र कुष को ‘साज्जिपातिक कुष’ कह सकते हैं । आदिवलप्रयुत—इसका विवरण सूत्रस्थान के व्याधिसमुद्दीय नामक सूत्र स्थान के २४ वें अध्याय में (पृष्ठ १४८ देखो) किया गया है । असाध्य—अस्यां चैवावस्थायामुपद्रवः कुषिन् स्पृशन्ति । तथा—प्रस्वरणमध्यभेदः पतनान्यज्ञावयवानां तृष्णाज्वरातीसारदाहद्वैर्वल्यारोक्ताविपाकाशः नद्रिघमसाध्य विधादिति ॥ (चरक, निदान) ।

भवन्ति चात्र—

यथा वनस्पतिर्जार्तिः प्राप्य कालप्रकर्पणम् ।
अन्तर्भूमि विगाहेत भूलैर्वृष्टिविवर्धितैः ॥१६॥
एवं कुष्टं समुत्पन्नं त्वचि कालप्रकर्पतः ।
कमेण धातून् व्याप्तोति नरस्याप्रतिकारिणः ॥२०॥

जैसे कि उत्पन्न हुआ पौधा अधिक समय पाकर वर्षा से वर्धित हुड़े जड़ों (की सहायता) से भूमि के भीतर फैलता है ॥१६॥ वैसे ही त्वचा में उत्पन्न हुआ कुष प्रतीकार न करने वाले मनुष्य में अधिक समय पाकर उत्तरोत्तर (अभ्यन्तरीय) धातुओं को व्याप्त करता है ॥२०॥

वक्तव्य—त्वचि समुत्पन्नं—चाहे कुष आयुर्वेदिक परिभाषा के अनुसार वातिक पैतिक और कफज हो, चाहे आयुर्वेदिक परिभाषा के अनुसार ग्रंथिक या नाड़ी का हो उसकी उत्पत्ति सर्वप्रथम त्वचा में सुखता, माड़ल, वर्णभेद इत्यादि से दिवाई देती है—सर्वकुषेषु प्रथम त्वच्यवश्य वैकृतं भवति विशेषण, पश्चाद्वैर्विकी दृष्टिः कालप्रकर्पदक्तान्विषु भवति ॥ चक्रपाणिदत्त, चरकटीका ॥ अप्रतिकारिणः—त्वचा में रोग का प्रथम दर्शन होते ही यदि उचित चिकित्सा की जाय तो प्रायः रोग अधिक नहीं बढ़ता । आयुर्वेदिक काल में तुवरक तेल (Hydrocar pus oil) के उत्तमोत्तम योगों (Easters) का सुई द्वारा प्रयोग करने से प्रायः इस रोग में जड़ से आराम होता है । चिकित्सा न करने पर रोग समस्त शरीर में व्याप्त होने से प्रत्यवर्णादि चरकोक्त उपद्रव उत्पन्न होकर रोग असाध्य हो जाता है ।

स्पर्शहानिः स्वेदनत्वमीषत्कण्ठद्वय जायते ।
वैवर्यं रुद्धप्रवास्थ वैवेत्यादि ।

उत्तरण कर जो मनुष्य इस कुष्ट रोग से निर्मुक्त होता है, वह द्रुति को प्राप्त होता है ॥३१॥

वक्तव्य—इस श्लोक में कुष्ट की नंकिस चिकित्सा नलाई है । द्वितीय सूत्र और २५ वें श्लोक के अनुसार कुष्ट 'र्मदोपोद्धर्व' व्याख्या है—कर्मजा न्यायव्यः केनिदीपत्राः सन्ति वापरे । कर्मदोपद्वावान्मे । (उत्तरतन्त्र, अ० ४०) । अर्थात् इस की चिकित्सा भी कर्मदोपद्वावाकारक होनी चाहिये—मंदोपक्षयन्ता तेषां स्तिर्विर्मावते । इस श्लोक में आहारागत तथा विशिष्ट औपचिर्यों के द्वारा दोपज चिकित्सा और प्रोत्तिष्ठेवण द्वारा कर्मज चिकित्सा वर्णित की है । आहाराचारयोः औलां—चिकित्सास्थान के कुष्टचिकित्सित अध्याय के 'तत्र तन्मेषी मांसवसादुन्घ...दद्येष आहाराचारविभागः' हन सूत्रों में वर्णित आहाराचार की विचारणा । औपचिर्यों विशिष्टानाम्—उबरक, खद्विर इत्यादि कुष्ट के लिये विशेष यानि खास (Specific) औपचिर्यों के संबन्ध में । तपसश्च निषेदणात्—ब्रह्म स्त्री सज्जन वधादि पाप कर्त्ता का नक्ष करने के लिये याग, दान, मन्त्र, वति, उपहार, देवताराधन, गुरुभूजन, चांद्रायण, प्रायश्चित्त इत्यादि दैविक क्रिया करने से ।

प्रसङ्गाद्वाग्रसंस्पर्शनिश्वासात्सहभोजनात् ।
सहशश्यासनाच्चापि वस्त्रमालवानुलेपनात् ॥३२॥
कुष्टं उच्चरश्च शोपश्च नेत्राभिष्यन्द पव च ।
औपसर्गिकरोगाश्च संकामन्ति नरान्नरम् ॥३३॥

इनि सुकृतसंहिताया निदानस्थाने कुष्टनिदान
नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥३॥

(संक्षय मार्ग—) (कुष्टादि रोग से पीड़ित मनुष्य के) प्रसंग से, शरीर को स्पर्श करने से, निधास से, साथ भोजन करने से, साथ बिद्धीने पर सोने से, (उसके पहने हुए) वस्त्र माला को धारणा करने से ॥३२॥ कुष्ट, (विविध) चर, राजयज्ञमा, नेत्राभिष्यन्द, और औपसर्गिक रोग (एक) मनुष्य से (दूसरे) मनुष्य पर संक्रान्त होते हैं ॥३३॥

वक्तव्य—प्रसग—मैथुन । गव्यासनाचापि—रोगी के विद्धीने पर वैठने से या लेटने से । अनुलेपनात्—धारण करने से । दूसरे के वस्त्रमालादि धारण करने का निषेध ग्रायः इसी दृष्टि से स्मृति में क्रिया गया होगा—उत्तराहीन च वासश्च इत्यन्मर्यन्ते धारयेत् । उपवासमल्कार चञ्ज करक्मेव च ॥ (मनु) । औपसर्गिकरोगोः—दृढ़त की वीमारियाँ, संकामक रोग । अङ्गेजी में इस प्रकार के रोगों को इन्फेक्शन (Infectious) रोग कहते हैं । मस्त्रिकाश रोमान्त्यो अन्यवीर्यं पव च । उपदशश्च कण्डुवा औपसर्गिकमशक्ताः ॥ इन श्लोकों में आयुर्वेद में जिनको औपसर्गिक रोग कहते हैं, इनमें से कुछ रोगों के नाम उदाहरण के तार पर निर्दिष्ट किये हैं, और औपसर्गिक रोगों के फैलने के मार्ग बतलाये हैं । इन रोगों के तथा उनके प्रसार के मार्गों के उल्लेख अन्यत्र भी मिलते हैं—रप्तैकाहारशय्यादि-सेवनात् प्रायरो गदा । सर्वे मन्त्रारिणो नेत्रवत्त्विकारा विग्रहतः ॥ (अष्टांगसंग्रह) । कण्डुवीपदर्शाद्य भूतीनामादवृणव्वराः । औपसर्गिकरोगाश्च संकामन्ति नरान्नरम् ॥ (भावप्रकाश) । त्वग्क्षिप्तापन्नरागयध्ममध्विकाः । उर्जनात् संगमाद् दानात् संकामन्ति

नरान्नरम् ॥ (उत्तर) । तत्र नासारन्नानुग्रनेन वायुना शासकास-प्रतिश्वाय ..त्वग्निद्रियगतेन जरमस्मुरिकाद्यः ॥ (ढलहण) । अस्माकं शरीराणि ब्रणमुखेन, अन्तपानाद्विरोधे प्रविष्टाः ॥ (सायणाचार्य) । इन विविध मार्गों का विचार करने पर केवल तीन ही सामान्य मार्ग होते हैं । (१) खचा, जिसमें प्रसंग, गात्रसंसर्पण, सहशश्यासन, वस्त्रमालवानुलेपन और ब्रणमुख इनका समावेश होता है । (२) निधास, (३) मुख, जिसमें अन्तपान सहभोजन, एकाहार इत्यादि का समावेश होता है ।

नव्यमत—जो रोग विकारी जीवाणुओं से उत्पन्न होते हैं, तथा जो न केवल मनुष्य ही से मनुष्य को हो सकते हैं, परन्तु मनुष्येतर प्राणियों से भी मनुष्य को होते हैं वे औपसर्गिक कहलाते हैं । ये सीन मार्गों द्वारा होते हैं । यथा (१) त्वचा—उपदंश, फिरंग, सुजाक, धनुस्तम्भ, विसर्प, ऐन्याक्स, जलसंत्रास, मसूरिका । (२) शासप्रशास—राजयज्ञमा, एन्स्ल्युएन्जा, छुक्कर खांसी, रोहिणी (हिपन्थीरिआ), प्रतिश्वाय (जुकाम), रोमान्तिका, न्युमेनिया, फुफ्फुस का छेंग । (३) मुख या खायेय द्वारा—आन्तिकज्वर (मोतीभरा), अतिसार, प्रवाहिका, विसूचिका । इन तीन मार्गों के अतिरिक्त कुछ औपसर्गिक रोग कीटों के द्वारा भी फैलते हैं । जैसे—पिस्सू के दंश से होगा; मच्छर के दंश से विपमज्वर, श्लीपद, पीतज्वर और डेंगूज्वर; एक प्रकार के भुनगों के दंश से कालाअज्जार; जूँग और चिंचली के दंश से टाइफस ज्वर और परिवर्तित ज्वर; और भी कई प्रकार के कीटों से अन्य रोग फैलते हैं । कीटदंश द्वारा फैलने वाले रोगों का समावेश खचा में ही करना चाहिये । कीटों की कल्पना आयुर्वेद में नहीं है । सैन्सन नामक शास्त्रज्ञ ने सर्वप्रथम सन् १९५४ में औपसर्गिक रोगों के प्रसार में कीटों का महत्व वर्णित किया है । उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि औपसर्गिक रोग और उनके प्रसार-मार्ग इनके संबंध की प्राचीन और अवाचीन कल्पना में कोइ विशेष फर्क नहीं है ।

कोइ कैसे होता है—कोही की नासा के सिनक में, उसके फौड़े कुनिसियों और धावों के मवाद में रोग के जीवाणु होते हैं, जो कोही के साथ मैथुन करने से, उसके विस्तरे पर सोने से, उसके वस्त्रपात्रादि का उपयोग करने से, उसकी सेवा शृश्टा करने से या अन्य प्रकार के संसर्ग से स्वाधाविक या कीट दंश के कारण उत्पन्न हुए खचा के कातहारा शरीर में प्रवेग करके रोग उत्पन्न करते हैं ।

इनि भास्करजमाणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुकृतभाषापाठीकायां निदानस्थाने कुष्टनिदान नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अध्यातः प्रमेहनिदानं व्याख्याल्यामः । यथोवाच
भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से प्रमेहनिदान का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने क्रिया ॥१॥

घटकदृश्य—प्रमेह—प्रभूत अथवांत अधिक राखि में और
मनुष्य अथवां भसाधारणा पदार्थकुक्क भूत्र (मेहन) तिसमें
मनुष्य स्थान करता है, वह रोग प्रमेह कहलाता है। ऐसे
मूलांशित पदार्थ और उसके वर्ण के अनुसार उसके प्रकार
किये गये हैं। सामन्य लक्षण तीनों प्रभूत विभिन्नता। प्रभूतवर्गान्दि-
मेहन भेदों से बेतु कल्पने। (मन्त्रांगदृश्य)। इनमें से प्रमेह
को Anomalies of urinary secretion कहते हैं।

दिवास्तमाद्यायामालस्यप्रमत्तं शीतलिग्धमधु-
रमेयद्रवाद्यपानसेविनं पुरुषं जानीयान् प्रमेही
मविष्पर्तीति ॥५॥

(प्रमेहीरुप) दिन को सोने वाला, शार्टीरिक परिधम
न करने वाला, आसासी, गीताम लिख भीड़ पढ़ाई भौंट में
तथा द्वावास्थापन सेवन करने वाला भनुष्य प्रमेहीरुपित होगा
ऐसा जान लेना चाहिये ॥१॥

धर्माधर्म—मैथ—भौदीभिर्वर्षक । पुरा—सी या पुरह ।
 कुछ पूर्कीय मत से यह मानते हैं कि लिंगों को प्रमेह नहीं
 होता—वे प्रकृतकारीण मानि मानि विशुद्धता । ऐसे शरीर
 दाचार्य न प्रदेहन्ति चित्र ॥ परन्तु यह कथन असत्य है—
 शततु न सुक सर्वतन्त्रप्रभिदेः प्रलभ्वश्चित्प्रेष्टः ॥ (इहण) ।
 मधुमेह के संबंध में हठता कह सकते हैं कि लिंगों की
 आपेक्षा इसमें कम संख्या में पीड़ित होती है । प्रमेह का
 माधारण निदान चरक में लिखा है—दश विद्युतिरम्भोद्धिपि
 क्षेम्भेदोद्युष्मनकरन सर्वं स निशानविरोध । बुद्धवेद्यासां दोषविरोध ॥
 बहुद्वं मेत्रोन्नाय च शरीराङ्गेद शुक्र रोगिण च वगा मत्ता लर्णिका
 रम्भोद्युष्मनकरन इति दृश्यविग्रह ॥ (निदानस्थान) ।

तस्य चैदंप्रवृत्तस्यापरिपक्वः पर्य वातपित्त-
स्तेप्रभाणो यदा मेदना सहैकल्यमुपेत्य मूत्रवाहिक्षो-
तांस्यनुस्यत्याघो गत्वा वस्ते मुच्चामाभित्य निर्भिद्धन्ते
तदा प्रमेहाद्यन् जनयन्ति ॥३॥

(प्रेमहन्तिराति—) उपरोक्त आहार विहार में प्रवृत्त
मनुष्य के आम बात, पितृ और कफ जब भेद के साथ
मिलकर मूढ़दाही स्रोतों में से नीचे की ओर गमन कर बलि
मुख का आश्रय कर बाहर निकलने लगते हैं तब प्रमेह उन्धर
करते हैं ॥३॥

तेषां तु पूर्वरूपाणि—हस्तपाददलदाहः क्षिप्त-
पिच्छिलगुद्यता गाथाणां मधुरशुल्मूलता तन्द्रा
सादः पिपासा दुर्गन्धव्य व्यासस्तालुगलिङ्गा-
दन्तेषु मलोपचिर्जटिलीभावः केरणां शृदित्य
नव्यानाम् ॥४॥

उनके पूर्वरूप—हाप और पेर के तलुओं में जलन, अगो
म्ब खिलवता, पिटिहता और भारीपन, सूख में भारीपुर्य और
देश्य, तनदा, थकावट, प्यास, (शरीर पर) दुर्घाँ, हॉफना,
तालु गाना जैसे और दौंत इन पर भैल की उत्पत्ति, केंद्रों
का आपस में अटक जाना और लब्जों की छुट्टि॥४७॥

(सामान्य लक्षण—) मैला और अधिक मूत्र होना प्रमेड़ों का (सामान्य) लक्षण है ॥५॥

सर्वं पव सर्वदोपसमुत्थाः सह पिण्डकामिः ।
स व्र प्रमेह तथा प्रमेहपिण्डा सर्वं धूतो (के)
मे उपश्च होते हैं ॥३॥

तथा, कंफादुकेभुसुरासिकताश्नैलंबणपि
साग्रदशुक्फेनमेहा दशा साध्या:, दोषदृश्या
समकियत्वात् ॥३॥

(कफमेह—) कफ से उदकमेह, हड्डमेह, मुरामेह, पिण्डमामेह, शनीमेह, लवणमेह, विटमेह, मानसमेह, तुक्कमेह, और फेतमेह भेदे दग वाल्य प्रमेह (होते हैं), जब्तो (इनमें) दोष और दृढ़ की चिकित्सा सभ दौती है ॥१३॥

धर्मशास्त्र—दरो—चारक, सुमित्र और वाराहमत में का प्रमहों की सलया दृश्य ही मिलती है, परन्तु उनके नाम उसका है। फिर—वर्णन में वर्णन में वर्णन में वर्णन में वर्णन में

सुरामेह चरक के सांचप्रमाणदमेह से समान मालूम होता है—
सुरातुव्युत्पन्नप्रियमनम शान्तं सुरामेही ॥ (अष्टागाढ़दय) ।
चोपदि विषप्रमाण ॥ (चरक) । सुधुम का पिण्डमेह चरक
शुक्खमेह के समान मालूम पहारा है—तृष्ण विट्ठिमेह मूलमेही
य प्रोटेन। सुखो कल्पितमन नमातु शुक्खमेहिनम् ॥ (चरक)
शेष द्वारा भी भौंई समानता नहीं मालूम पहारी । बालट
लवयमेह भी उत्तमेह के बड़ते शीतमेह और दालमेह मिल
है । लालमेह में सब विकल्प तत्त्वमेहिन द्वारा है । लालमेह

को अल्बुमिनपूरिया (*Albuminopuria*) कह सकते हैं जीवीमेह हृष्टमेह का ही एक प्रकार है, ज्योकि उसमें भी मृदु भूरी होता है। साथा —कफनात्य प्रमेहों में दूष की ओर दूष में दूष प्रसूति है। कफ के लिये जो कानीरीता व्यक्ति आदि किया अनुहृत होती है वही किया देव के लिये अनुहृत होती है, यानि दूष और दूष की चिकित्सा विरुद्धोत्तरम नहीं होता। इत्य चिकित्सा का दोनों के द्वायोग्य उपयाग होने से ये कफन प्रमेह साथ होते हैं। साथान में स्थायित्वामा भी कुछ सहायता होती है—जरे तुर्नी गेवन जैसे हृष्टपूर्णन। इसकाले पराश्रम स्थापन-प्रदेशः—

वरकर में भी हिलता है—ने दस प्रमेहा शाल्या समानगुणमेह
स्थानकर्तव्य, कर्तव्य प्राप्तिव्याच ॥ ये 'कर्तव्यमेह
कफ के गुणों से केंप होते हैं, इही भीमासांख वरकर में तिज
यकार वर्णन की है—गर्भदेशमेह सेप्टेमेटोमियं प्रवित्तं शूद्रव्य
शूद्रव्यमाध्यमानं एम्बियोरैम्बियुरिउरेष्युप्युप्येन देव्युप्युक्ते
प्रदेश—अभिनीतप्रियिकलाल्पकियायुष्मामुरातान्त्रमादाने ॥
उत्तम भेन शुग्नेकन्ननकन वा भूद्रव्यमुराताने 'स्तमास्य तौं न अभि
विदो प्राप्तिः । (प्रमेहनिदान) इसका विवरण धीकरद्द
मापद्यनिदान की अपनी दीका में इस प्रकार होते हैं—
उत्तम भेनाच्छार्गीनैपौष्टिकमेह । शुग्नीकालामित्युमेह । सन्द-
र्भिन्निक्षार्था सन्दर्भमेह । अस्तेन विज्ञानिया शुरमेह । इन्हें

। श्रेतस्मिग्धाभ्यां शुक्रमेहः । सान्द्रभूर्तीभ्यां सिकतामेहः । शीतमेहः । मन्दभूर्तीभ्यां शैनमेहः । पिच्छिलेन लालमेहः । वैताक्षीलहरिद्राम्लज्जारमजिष्ठाशोणितमेहाः । पाप्याः, दोषदूष्याणां विषमक्रियत्वात् ॥८॥

पित्तप्रमेह—) पित्त से नीलमेह, हरिद्रामेह, आम्लमेह, इ, मजिष्ठामेह और रक्तमेह ऐसे छः प्रमेह दोष और नीचिकित्सा में विषमता होने से याप्य होते हैं ॥८॥

वृक्कव्य—विषमक्रियत्वात्—पित्त और मेद की चिकित्सा या विरोध होने के कारण । पित्तप्रमेहों में मधुरादि द्रव्यों का प्रयोग करने से मेदादि दूष्य वृद्धिगत होते हैं और कटुकादि भेदहर द्रव्यों का प्रयोग करने से पित्त प्रकृष्टित होता है । इस प्रकार विरुद्धोपक्रम होने के कारण ओषधियों का अधिक से अधिक परिणाम न होने से प्रमेह याप्य होते हैं । चरक में पित्तप्रमेहों के याप्यत्व और भी एक कारण घतलाया है—सर्व एव ते याप्याः संस्ट-दःस्यानकलाद् विरुद्धोपक्रमलाच्च । चरक और चाम्बट में मेह के बदले कालमेह मिलता है, परन्तु दोनों में समानहीं है । कालमेह में मूत्र 'मसीर्वर्ण' अर्थात् स्वादील होता है । अंग्रेजी में कालमेह को Brown and Clark urins कहते हैं । मूत्र का कृष्णवर्ण निम्न कारणों से भी होता है । (१) पुरानी कामला—हृसमें मूत्र के भीतर बिलिङिन (Biliverdin) नामक रंगद्रव्य उपस्थित होता (२) मूत्र में रक्त या रक्त के रंगद्रव्य की अधिक मात्रा उपस्थिति । (३) मूत्र में इंडिकन, तथा इन्डोल के उच्च ग्रे के अपद्रव्य की अधिक राशि में उपस्थिति । इसको इन्डिरिया (Indicanuria) कहते हैं । यह प्रमेह आन्त्र मांसजातीय (प्रोटीन) पदार्थों के सड़न से या शरीर में बहार मचाद इकट्ठा होने से उत्पन्न होता है । (४) मूत्र में मेलानोरिया (Melanin) नामक रंग की उपस्थिति से । यह है मेलानोरिया (Melanuria) कहलाते हैं, और शरीर मेलानोरेटिक सार्कोमा (Melanotic sarcoma) एक गर का घातक अर्धुद) होने पर पैदा होता है । (५) मूत्र होमोजेनिटिसिनिक एसिड (Homogenitisinic Acid) उपस्थिति से । इसको अल्कायाट्टन्यूरिया (Alkaptonuria) कहते हैं । यह सहज प्रमेह है जो रोगी की जिंदगी भर होता है; परन्तु इससे स्वास्थ्यहानि नहीं होती । (६) कार्बो-लेक प्रसिड का प्रयोग विशेषधन के लिये करने से इसका शोषण रक्त में होकर कालमेह उत्पन्न होता है, उसे शब्दोल्यूरिया (Carboluria) कहते हैं । (७) सैलॉल, सालि साथलेट, ग्यालिक एसिड, रिसोर्सिन इत्यादि पदार्थों के सेवन से भी कालमेह उत्पन्न होता है । इनमें से कार्बो-ल्यूरिया, अल्कायाट्टन्यूरिया और मेलानोरिया में मूत्र त्वागने के योही देर के पश्चात् मूत्र काला हो जाता है ।

वातात्सर्पिर्वसाद्विद्वित्तिमेहाश्रव्यत्वारोऽसाध्य-
तमाः, महात्ययिकत्वात् ॥९॥

(वातप्रमेह—) वायु से सर्पिमेह, वसामेह, चौद्रमेह और हस्तिमेह ये चार प्रमेह अल्पत असाध्य होते हैं, क्योंकि

वृक्कव्य—चौद्रमेह को चरक में मधुमेह कहा है । सर्पिमेह के बदले मज्जामेह मिलता है । प्रायः ये दोनों समान माल्हम पड़ते हैं । महात्ययिकत्वात्—वातप्रमेहों में शरीर के धातुओं का ज्यय होने से तथा विरुद्धोपक्रम होने से असाध्यता होती है—वातजाः पुनः क्षीणेषु धातुपु महात्ययतया विरुद्धोपक्रम-त्वाच् ॥ (अष्टांगसंश्राप) ।

तत्र वातपित्तप्रमेहोमिरन्वितः श्लेषमा श्लेषप्रमे-
हान् जनयति, वातकफशोणितप्रमेहोमिरन्वितं पित्तं
पित्तप्रमेहान्, कफपित्तवसामज्जमेदोमिरन्वितो
वायुर्वातप्रमेहान् ॥१०॥

इनमें वात, पित्त और मेद इनसे युक्त कफ कफप्रमेहों को उत्पन्न करता है । वात, कफ, रक्त और मेद इनसे युक्त पित्त पित्तप्रमेहों को उत्पन्न करता है । कफ, पित्त, वसा, मज्जा और मेद इनसे युक्त वायु वातप्रमेहों को उत्पन्न करती है ॥१०॥

तत्र, श्वेतमवेदनमुदकसद्वशमुदकमेही मेहति;
इष्टुरसतुल्यमिभुमेही; सुरामेही सुरातुल्यं;
सरूजं सिकतानुविच्छं सिकतामेही; शनैः सक्कफं
मृत्सं शनैर्मेही; विशादं लवणतुल्यं लवणमेही;
हप्तरोमा पिष्टरसतुल्यं पिष्टमेही; आविलं सान्द्रं
सान्द्रमेही; शुक्रतुल्यं शुक्रमेही; स्तोकं स्तोकं सफेनं
फेनमेही मेहति ॥११॥

(श्लेषमेह के लक्षण—) इनमें उदकमेह से पीड़ित (मनुष्य) जल के समान सूच्च (श्वेत), किसी प्रकार की पीड़ा न होकर मूत्र का त्वाग करता है; इच्छुमेह से पीड़ित ऊर के रस के समान मूत्रत्वाग करता है; सुरामेह से पीड़ित सुरा के समान मूत्र त्वाग करता है; सिकतामेह से पीड़ित पीड़ा के साथ छोटी छोटी बालुकायुक्त मूत्र का त्वाग करता है; शनैर्मेह से पीड़ित धीरे धीरे कफयुक्त लसदार मूत्र का त्वाग करता है; लवणमेह से पीड़ित स्वच्छ लवणजल के समान मूत्र का त्वाग करता है; पिष्टमेह से पीड़ित शरीर रोमांच खड़े होकर पिष्टयुक्त जल के समान मूत्र का त्वाग करता है; सान्द्रमेह से पीड़ित गँडला और गाढ़ा मूत्र त्वाग करता है; शुक्रमेह से पीड़ित शुक्र के समान (सफेद लसदार या शुक्रमिश्र) मूत्र का त्वाग करता है; फेनमेह से पीड़ित थोड़ा थोड़ा भागदार मूत्र त्वाग करता है ॥११॥

चक्कव्य—आयुर्वेदोंक प्रमेहों के लक्षण अतिसंक्षिप्त होने के कारण आयुनिक प्रमेहों के साथ उनका ठीक ठीक मेल करना बहुत कठिन है । तथापि उपलब्ध चरक सुश्रुतादि के लक्षणों से जितना मेल हो सकता है, उतना किया जायगा । (१) उदकमेह—यह बहुमूत्रमेह (Polyuria) है जिसमें मूत्र वर्ण और गुरुता (Specific Gravity) में पानी के समान होता है । स्थायी और अस्थायी करके उदकमेह दो प्रकार का होता है । अस्थायी उदकमेह जल, चाय, काफी, कोको तथा अन्य पेय अधिक मात्रा में पीने से, हज्जूल, आदर्वावभेदक, अपस्मार, अपतन्त्रक इत्यादि के आवेग के

पश्चात्, भवति तथा मानसिक आघात या उत्तेजना से होता है। म्यार्टी उदकमेह पुराने वृक्षयोथ से, घमनीश्वर्य के कारण रसभार्य यह जाने से, प्रथिक लूक (Cystic Kidney) से और मस्तिश्वरगत विच्छुर्दी (Pituitary) ग्रंथि की विकृति से होता है। पिस्युट्री से होने वाले उदकमेह को डायोटीज इन्सीपीडिस (Diabetes Insipidus) कहते हैं। (२)

इच्छुमेह—इसमें मूत्र में गर्का होती है। शर्करायुक्त प्रेमेह को ग्लायकोसूरिया (Glycosuria) कहते हैं। आयुर्वेद में शर्करायुक्त प्रेमेह कफ और वात से पृथक् पृथक् होते हैं। कफजन्य सर्वर्षण से और वातजन्य धातुकाय से होता है—इच्छुमेह मधुर तपिच्छ मधुरम स्थानद्विवेचित विचार। क्षीणपुष्टोपविनिलापक स्थान सतर्णादा वक्षमव खाल् ॥ (घरक, प्रमोहचिकित्सा)। इस सर्वपायजन्य (कफज) इच्छुमेह को अलिमेन्टरी ग्लायकोसूरिया (Alimentary Glycosuria) कहते हैं। सर्वर्षण के अतिरिक्त अत्यधिक मानसिक और गोरीरिक परिश्रम से, मस्तिश्वरगत से वृक्ष की शर्करा वर्णन मरणदा (Renal Threshold) कम होने से भी इच्छुमेह होता है। पृथक् के कारण होने वाले इच्छुमेह को रेनल ग्लायकोसूरिया (Renal Glycosuria) कहते हैं। घरक में इच्छुमेह के अतिरिक्त शीतमेह नामक दूसरा शर्करायुक्त मेह वर्णन किया है। (३) सुरामेह—इसमें मूत्र 'उर्पव्यक्तमयो घनम्' होता है। सुरामेह घुट्ठा फॉस्फेटूरिया (Phosphatua) होता है। यदि सुरा का विचार गध का दृष्टि से किया जाय तो इसको अमिटोन्यूरिया (Acetonuria) कह सकते हैं। परन्तु घरक, सुखुन, वामपट, भेल हनके वर्णों में गध का उल्लेख नहीं मिलता। हाराणश्वद केवल 'मुग्धतुर्पविवाह्यता गप्तवैष्ण' एवं वृथि करते हैं। असीटोन्यूरिया मुमेह में मिलता है। (४) निरानामह—इसमें मूत्र ख्यागते समय पर्याप्ति के द्वारा होते कथा निरान जाते हैं। इसको Possession of Urine कहते हैं। (५) ग्रामेह—यह प्रेमेह सिकाना से मूत्र मार्ग युक्त अवरुद्ध होने से होता है। मैट्रेंग युक्त निकानमेह। मन्दन मूत्र जाने प्रेमेह ॥ (६) लक्षणमेह—इसमें मूत्र 'लक्षणान्तुनिभ' होता है। (७) पिटेह—इसमें मूत्र 'पिटमिश्रोदकश्वाल्प' होता है। हठरामाय पिटमिश्र मूत्र देखने का मानसिक परिणाम मालूम होता है। इस प्रकार का संपूर्ण मूत्र अम्ब्यूर्मिन, पूर्व या काईल (Chylo) की उपस्थिति से होता है। मूत्र में काईल (अवतरस) स्फीट हनि के कारण आता है। ये हनि आन्तर्य स्वरविनियोग में अवस्थान करके इसप्रयाप्त की अवरुद्ध करते हैं। इस अवरुद्ध के कारण तज भूषणह संस्थान की रसायनियोग कूटती हैं तथा रसमूत्र के माया वाह निकान आता है। इसको काल्यूरिया (Chyluria) कहते हैं। हृषिकेयन के विषये १२ वें अध्याय के २२ वें शब्द का वर्णन दर्शा। (८) साक्षेह—इसमें मूत्र योऽही देव रसो वा पाद गाहा दी जाता है—यथा वृत्तिव मूत्र भवी भवति गते ॥ (घरक)। मूत्र में पूर्व या चौकिन उपस्थिति होने से वाद गाहा होता है। इसके पर्याप्त का निरेण न होने से दर्शनों में से एक का निलंग महीं लिपा जा सकता। पूर्वुक्त दर्शनों में से एक का निलंग महीं लिपा जा सकता। पूर्वुक्त मूत्र का वर्ण अत और फिलियुक्त मूत्र का वर्ण फिलियुक्त

बर्ण होता है। (९) शुक्रमेह—इसमें मूत्र 'शुक्राभ शुक्रपि होता है। शुक्रतुन्य मूत्र को अव्यूप्तिमन्यूरिया (Albuminuria) कहते हैं।

इसमें मूत्र कागदार होता है। इसको न्यूमाट्यूरिया (Numaturia) कहते हैं। बस्ति का सर्वथ द्व्यूलान्न या ग्रय के साथ होने से अथवा यानि में दैत्यित्वस कोलीकम्प या यीष्ट नामक जीवाणु प्रविष्ट होने से मूत्र में वायु उ होकर पेन के साथ उसका ख्याग होता है। कामला में मूत्र अधिक कागदार होता है और भाग देर तक रहता है।

अत ऊर्ध्व पित्तनिमित्तान् वृश्यामः—संय मच्छं नीलं नीलमेही मेहाति; सदादं हरिद्रिमं हरि मेही; अम्लरसगन्धमस्तेही; सुततारप्रतिमं ह मेही; मञ्जिष्ठोदकप्रकाशं मञ्जिष्ठामेही; शोरि प्रकाशं शोरितमेही मेहाति ॥१८॥

(पिटप्रेमेह के वर्णण—) अब इसके आगे विज्ञ प्रेमेही को कहेंगे—नीलमेह से पीडित मनुष्य कागदार, नीलवर्ण मूत्र ख्याग करता है। हरिद्रामेही जलन के। हलसी के समान (पीतवर्ण मूत्र ख्याग करता है)। अमेही घास रस और अमलान्न का (मूत्र ख्याग करता है जामीमेही क्षार जल के समान (मूत्र ख्याग करता है मञ्जिष्ठामेही मञ्जिठ के काथ के समान (मूत्र ख्याग करता है गोणिनमेही रक्त के समान मूत्र ख्याग करता है ॥१९॥

वृक्षय—(१) नीलवर—इसको इन्डिन्यूरिया (Indururia) कहते हैं। इसमें गृह में इन्डिकन नामक एवं उपस्थित रहता है। आन्त्र में या आन्त्रेतर शीर के डिस्ट्रोफ में अल्ब्यूर्मिन के सहिते से यह दृश्य मूत्र में या जै है, जैसे—पुराना कड़ज, आन्त्रावरोध, अतिसार, प्रवाहित आन्त्रायोग, कुरुकुम्भांग, दुर्गीपा यांत्री, राजवश्मर की गृनी वस्ता ह्यायादि। नीलमेह हैं में लागते समय मूत्र का वर्ण प्रायी धूमी धूमी ही देर के बाद भी रहता है, परन्तु कभी क लागते समय भी नीला होता है। (२) प्रशिष्ठमेह—इस मूत्र का वर्ण 'मञ्जिष्ठोदकमकाश' होता है। इस प्रकार पीतवर्ण मूत्र में विज्ञ का विलीनविन (Bilirubin) नाम रूप उपस्थित होने से होता है। इस प्रेमेह को कोलसूरि (Choluria) कहते हैं, भीर पर यह प्रेमेह कामला में दिल देता है। इसके अतिरिक्त मूत्र का व्याभाविक रंगश्वाल्प : सुरुवातिन (Urobilin) उमर्ही अधिक रायि उपस्थित होने से भी मूत्र पीतवर्ण हो जाता है। इस प्रेमेह को मुरं विलिन्यूरिया (Urobilinuria) कहते हैं। यह प्रेमेह दु पायदूरो, विषम उपर, परहराल्पूर इत्यादि इनामां रोगों में होता है। (३) भातह—मूत्र में धूरिक दृश्य तथा पूर्वुक्त अधिक मात्रा में उपस्थित होने हैं। इस प्रेमेह के विलिन्यूरिया (Lithuria) कहते हैं। यह प्रेमेह भातर में तथा गर्हि द्वारा भावधिक सेवन, व्यायामान्तर इत्यादि

उपचार होता है । (४) धूरमेह—प्रथम्पर्तमरमेहः धूरेन गैरदूर । (अटांगहृत्य) । इसकी Alkaline urine होते हैं । यदि में अधिक दूर तक रोक दें रखने से, प्रोस्टेट की शुद्धि के कारण या मूत्र मासे में होते से अधिक दूर होने से, फॉर्मेट की घटिलता में या पुराने घनि पर्चे मूत्र श्वारीय हो जाता है । (५,६) लिंगिनें और ग्लूकोज़—ये प्रोस्टेट मूत्र में रक्त वर्षी उपस्थिति में उपचार होते हैं । मासे के राखित में भी हारिद्र घोर रक्त धूत रखता है, परन्तु इसमें प्रमोटर के लक्ष्य तक्षण उपस्थिति न होने वाले प्रोस्टेट हर्षी राखलाया जाता—गिंदिनी रिट न होने वाले प्रोस्टेट हर्षी उपस्थिति होते हैं । ये मूत्रसंतोष न बढ़ाये प्रोस्टेट रक्तस्थ उल हि स प्रक्रिया ॥ (रक्त, प्रोस्टेटिक्सिनिग्रिन) । यह रक्त इकल रक्तस्थ के रूप में उपस्थित होता है, तब इस प्रेसेन्ड की हीमोग्लोबिन्यूरिया (Haemoglobinuria) कहते हैं । इसमें मूत्र में रक्तकण नहीं होते । जब पूर्ण रक्त उपस्थित होता है, तब उसकी हीमाटोइयूरिया (Haematuria) कहते हैं । इसमें मूत्र में रक्तकण उपस्थित होते हैं । सूक्ष्मदर्शक यन्त्र मूत्र के तलछट की परीक्षा किये दिना दोनों का पार्थक्य दर्शन असंभव होता है । यदि आयुरुनिक कल्पना के अनुसार दोनों में पार्थक्य करना हो तो हारिद्रमेह की हीमोग्लोबिन्यूरिया और गोणियता के हीमाटोइयूरिया कह सकते हैं । ये दोनों प्रमोह दृक्पूर्वक, दृष्टांगमरी, वर्णित का अर्थात्, चिप्पमज्जर, पीतज्जर, गोणिनमेंज्जर (Black water fever), हाँसो-फायलिया, पर्युगा, स्कर्वी दृश्यादि रक्तविकारों में होते हैं ।

अत ऊर्ध्वं वातनिमित्तान् वस्त्वाम्—सप्तिः—
प्रकाशं सर्पिमेही मेहतिः वसाप्रकाशं वसासेही;
क्षौद्रसंवर्णं क्षौद्रमेही; मन्त्रमातृक्षवद्वर्तुप्रवन्धं
द्वितीमेही मेहति ॥१३॥

(वातप्रमेह लक्षण—) अब इसके आगे वातप्रमेहों में कई—सर्पिमेही (पतले) धी के समान मूत्र त्वाग होता है । वसामेही चरवी के समान (मूत्र त्वाग करता है) । शौकमेही मूत्र के रस और वर्ण का (मूत्र त्वाग करता है) । शैतिमेही मदोन्मत्त श्वासी के समान गत्त मूत्र त्वाग करता है ॥१३॥

उक्तकथ्य—(१) सप्तिमेह, (२) वसामेह—मूत्र में पूर्ण, अल्कूमिन या चरवी उपस्थित होने से ये मेह होते हैं । पूर्ण उपस्थित होने पर उसको पायूरिया (Pyuria) कहते हैं । मूत्र में पूर्ण वृक्षविदधि, गवीनी मुखदोष (Pyelitis), वस्तिमेह, सोजाक, मूत्रसंस्थान का राजयक्षमा दृश्यादि विकारों की विकार है । यदि वसा का योगार्थ लिया जाय तो वसामेह और लाप्यमूरिया (Lipuria) कह सकते हैं । वसामेह चरवी एक प्रदार्थ अधिक मात्रा में खाने से, मधुमेह में, वृक्ष के विकारी शोष में और पूर्णमय वृक्ष (Pyonephrosis) में होता है । काल्यूरिया में भी मूत्र में वसा होती है । वीले शिरमेह देखो । (३) क्षौद्रमेह—इसको ऊर्ध्वहार में मधुमेह और फ्रैमेजी में डायाविटीज मेलिटस (Diabetes Mellitus)

कहते हैं । इसमें मूत्र के भीतर 'मधुरग्नभाव्य थ्रोज' उपस्थित होता है । आयुरुनिक रातायनिक परिभाषा में इसको 'ग्लूकोज' (Glucose) कहते हैं । यह एक प्रकार की गंदकरा है, जो और गंदकराओं के साथ मूत्र में उपस्थित होती है । इसलिये मधुमेह शब्द सार्थक है । इसकी उपस्थिति में मूत्र, वर्णपि मूत्र के वरावर नहीं तो भी, तुद गाढ़ हो जाता है और उसकी गुणना (Sp. Gravity) बढ़ जाती है । मूत्र में मधु भी उपस्थिति में रक्त वर्षी के कारण होता है, जिनका परिवर्तन होने के लिये शरीर में गर्भग्राहीं तथा अन्य शालि पिष्ठमय पदार्थों (Carbohydrates) का उपयोग किये होता है, इसको जानकारी बहुत आवश्यक है । अतः गंदकरा परिवर्तन वा संकेत में वर्णन दिया जाता है । जिनके प्रकार के शालि पिष्ठमय पदार्थ मधुमेह सेवन करता है ये सब पाचक द्रव्यों के हारा ग्लूकोज में परिवर्तित होते हैं । कुछ ग्लूकोज यथृत् और धेनियों में ग्लूकोज (Glycogen) के रूप में संचित होता है और आवश्यकता के अनुसार फिर ग्लूकोज में पदल जाता है । कुछ ग्लूकोज गरीब क अन्यान्य व्यायों में वर्षी के रूप में संचित होता है । कुछ ग्लूकोज रक्त में उपस्थित होता है और धेनियों को शक्ति प्रदान कर अन्न में कार्डिन लायोप्रसाइट और जल में परिवर्तित होता है । रक्त में ग्लूकोज की प्रकृत राशि एक हजार भाग में पृक्ष भाग होती है । भोजन के पश्चात् यह राशि कुछ वृद्धी और अनशन से कुछ घटती है । धेनियों में व्यय न होने से या अधिक मात्रा में शालि पिष्ठमय पदार्थ सेवन करने से रक्तस्थ ग्लूकोज की राशि प्रकृतांत में अधिक होती है । तब उसका संचय यथृत् में ग्लूकोज के रूप में होता है और जब यह कुछ इससे पूर्ण हो जाता है तब ग्लूकोज सेवन के रूप में परिवर्तित होकर गरीब के विभिन्न श्रंगों में संचित होता है । जब धेनियों के द्वारा ग्लूकोज का अधिक व्यय होने के कारण रक्तस्थ ग्लूकोज प्रकृतांत से कम हो जाता है तब यह का क्षौद्रमेह ग्लूकोज वनकर रक्त में आता है और रक्तस्थ शर्करा का प्रमाण पूर्ववत् हो जाता है । मूत्र में शर्करा उपस्थित होने के कारण—१ वृक्ष—इनमें यह विशेषता होती है कि रक्तस्थ शर्करा को एक विशेष प्रमाण तक ये श्रेक के रक्तकर उसे मूत्र में नहीं आने देते । यह प्रमाण १८% तक है । इसको वृक्ष की शर्करा वंधन मायोदा (Renal threshold) कहते हैं । जब कारणवश रक्तस्थ शर्करा की राशि इस प्रमाण से अधिक होती है तब मूत्र में शर्करा आने लगती है । कभी कभी यह देसा गया है वृक्ष की शर्करावंधनमर्यादा कुछ मनुष्यों में स्वाभाविक नीची होती है जिससे मूत्र में शर्करा आती है । इस अवस्था को बृहज शर्करामेह (Renal Glycosuria) कहते हैं । यह चिंताजनक विकृति नहीं है । २ शालिपिष्ठमय पदार्थों का अन्यगत—संचय और व्यय की शक्ति के बाहर इन पदार्थों का सेवन करने से रक्तस्थ शर्करा की राशि जब वृक्ष की शर्करावंधनमर्यादा से अधिक होती है तब मूत्र में शर्करा आने लगती है । इसको Alimentary Glycosuria कहते हैं । इसका निर्देश पीछे कफप्रमेहों में संरप्तजनन्य इच्छेमेह करके किया गया है । यह विकृति वातरक्तियों में अधिक मिलती है । ३ महिलाकृति और मानसिक

विकार—कोथ, थोक, चिंता, भय इत्यादि मानसिक विकारों से तथा मनिक विद्रुप, अर्बुद, रक्तमाव, थोथ इत्यादि में मनिक का कार्य प्रवृत्तिश्चित होने के कारण भी मूत्र में शर्करा आने लगती है । ४ अन्व चारी ग्रन्थियों के विकार—शरीरस्थ गर्करा परिवर्तन का नियन्त्रण अग्न्याशय, थोंयराद्रूढ़ (चुहिकाप्रय), सुशारीनल (अधिवृक्षप्रय) और पिचुटी इन चार अन्तःभावी ग्रन्थियों द्वारा होता है । इनमें अग्न्याशय का कार्य एक प्रकार का और शेष तीनों का कार्य दूसरे प्रकार का होता है । अग्न्याशय—इस प्रथियों का एक भाग पाचक रस बनाता है जो वित्तर के साथ मिलकर ग्राहिणी में घुटता है । दूसरा भाग, जो श्वैगरहन्म का हीप (Islets of Langerhens) बहुताता है, विद्यों प्रकार का स्नाय बनाता है । यह खाव रक्त में घुटता है और इसमें इन्सुलिन (Insulin) नामक पदार्थ होता है । यह इन्सुलिन पेशियों को शर्करा का ग्रय करने में तथा धूत की उसका सचय करने में सहायता करता है । विना इनके य कार्य हो नहीं सकते हैं । मधुमेह की उपचिति में इन पदार्थ का अभाव या कमी यही एक प्रधान कारण है । इसके अभाव में न अन्तोड़ शरीर में स्वित हो सकता है, न पेशियों उसका उपयोग कर सकती हैं । परिणाम यह होता है कि रक्त में शर्करा की रागि बृक्षपत्तन मर्यादा से अधिक होकर यह मूत्र में से गरीर के बाहर निकल जाती है । इससे यह स्पष्ट होता कि मधुमेह वृक्ष का विकार नहीं है । अधिकृष्णादि शेष तीन ग्रन्थियों के कार्य इन्सुलिन के विद्रुप होते हैं । ये चारों ग्रन्थियां आपस में मिलकर शर्करा का विनियोग सुचाह रूप से करके शरीर को एक प्रधान करती हैं । मधुमेह में प्राय अग्न्याशय के हैंगरहान के द्वीप की सेवे नष्ट होकर उनके स्वान पर तानव धान या मेद बन जाता है । मध्यम मधुमेह में भोजन के पश्चात दो तीन घंटे तक इनस्थ शर्करा की रागि प्रकृत्यांश से अधिक होकर उसी समय में मूत्र द्वारा शर्करा निकलती है । नीति मधुमेह में निरन्तर रक्तस्थ शर्करा की रागि प्रकृत्यांश की अपेक्षा तीन चार गुना अधिक होती है और मूत्र द्वारा निरन्तर शर्करा का डल्सी होता रहता है । शर्करा का विनियोग दीक न होने से प्रोटीन और मेद का भी विनियोग दीक नहीं होता । मेद से मेदमाल, अमिटो असेटिक एसिड, शीटा-प्रासी एट्रिक पिनिड पसिटोम इत्यादि पदार्थ उपचार होकर मूत्र में उत्तरान्त होते हैं । इन पदार्थों से रक्त की तारीखत पष्ट जाती है और सन्तासादि दात्य उपचार उपचार होते हैं । (४) इलिमेह—इसी मत इन्स्थ मूत्र वेगविक्रिया, स्पृष्टिक विद्रुप च हिसेमी प्रमदनि ॥ (चाहांगहृदय) । इस्तिमेह में रागी के मूत्रमार्ग से मूत्र योगवर्तित अथोर् वृद्ध-वृद्ध होकर निरन्तर दृष्ट होता रहता है । इस प्रमेह में मूत्रमार्ग में कुछ हालात भी होती है—विलेपाश वालों वनस्पतिमूत्र-प्रृष्टिका जीति । (चरक) । इसकी टीका में शायापर मिलते हैं—मूत्रस्थ प्रृष्टिका साथ तो समावर । समावरकरणीय दोष न मूत्रनिवृति करेति, विन्तु मात्रावृक्षमूत्रनिवृति करेति, मरटेपृष्टिप्राप्ति वर्तते । इन लक्षणों का विचार करने पर इलिमेह कोल्प इक्कानितम्य आकृ ष्टिन (False

Incontinence) या इक्कानितम्य क्राम ओद्धाहो (Incontinence from overflow) नामक रोग मात्रम् न है । यह विकार सुपुष्टात मृश्वरेन्द्र का धान होने मनिकथ के कारण, अग्नमी वे कारण या प्रोस्टेट प्रयि के कारण होता है । इसमें वसि में मूत्र भरा रहता है अनिरन्त मृत्र निरन्तर लवता रहता है । उद्ध आप गाँधी इससे 'आयवीटीज इनसीपीइस' समझते हैं ।

मन्त्रिकोपसर्पणमालस्य मासोपचय, प्रतिदृश शैथिल्यारोचकाविपाकः कफप्रसेकच्छदिनि कासश्वासाथेति नेप्पजानामुपद्रवाः; वृयण रबदरणं चित्तमेदो मेद्रूतोदो हृदि शूलमस्ती ज्वरातीसारारोचका वमधुः पंतिप्रूपायनं दा मूल्युर्वा पिपासा निद्रानाशः पाण्डुरोगः पीतविष चनेश्वत्यं चेति पैत्तिकातां; हृद्धहो लौल्यमनि स्तम्भः कष्पः शूलं चद्धपुरीपत्यं चेति धातजानां एवमेते विशेषतः प्रमेहाः सोपद्रवा ध्याव्याता ॥१॥ (प्रमेहों के उपचार—) मन्त्रियों का (यीर पर मूत्र पर) अकर वैठना, सुकी, स्थूलता, तुकाम, पिण्डिल अरुचि, अपचन, कफ का स्वाव, वमन, निदा (की अकरता), खांसी और खास ये कफज प्रमेहों के उपचार हैं । चूपाणीं में धूटने की सी पीटा, बलि भेदन की सी पी भिंभ में धूई तुम्बने की सी पीटा, हृदय (प्रदेश) में शहे टकार, ज्वर, अप्तिसार, अरुचि, वमन, जलन करने व ढाकार, जलन, मूर्दां, प्यास, निद्रानाश, पाण्डुरोग, शूल, मूत्र तथा नेत्रों का वीकापन ये पैत्तिक प्रमेहों के उपचार हैं । हृदय जकड़ा सा रहना, सर्वतस्मिकाहा, निदा आना, शरीर अकड़ जाना, कौपना, शूल और मलावरोप वातिक प्रमेहों के उपचार हैं । इस प्रकार ये बीख प्रमेह उद्वांस हस्तिन वर्धन किये हैं ॥१॥

घटात्य—प्रक्षिप्तवर्णनम्—इपदिपिण्डिकाविषय शरीरश्च सापानम् ॥ (चरक) ।

तथ घसामेदोभ्यामभिप्रशरीरस्य त्रिभिर्दीर्घानुगतथातोः प्रमेहिणो दश पिण्डका जापने तथात्य—श्यराविका, सर्पिपिका, कच्छुपिका, जालिनी, चिनता, पुत्रिणी, मस्त्रिका, अलजी, विद्रिका, विद्रधिका चेति ॥१॥

(प्रमेहिणिका—) त्रिसका यीर कमा और मंद अपास है तथा त्रिसके धातु सींतीं दोपीं से आकाश हुए । उक्ताको इस पिण्डार्थे उत्पन्न होती है । जैसे—१ यालीन् २ सर्पिपिका, ३ कच्छुपिका, ४ जालिनी, ५ चिनता, ६ पुत्रिणी, ८ मस्त्रिका, ९ अलजी, १० विद्रिका, ११ विद्रधिका ॥१॥

घटात्य—पिण्ड—इसको कार्बनकल (Carbuncle) इह सकते हैं । लक्षणों के अनुमार इसके दस भेद विषे गये हैं । चरक में केवल साल भेद विषे किये हैं । प्रमेहिणिका १ परिवृत्त

॥ असदृश कहूं सूतम् छेद होते हैं, वर्णोंकि एक पिंडका सूक्ष्म ऊन्नियों से घनती हैं । यह पिंडका प्रायः श्रीवा जाग, पीठ, शंस, चूड़, होठ आ चेहरे पर होती है । १ दाह, पीड़ा, रक्तिमा यहुत होती है और जलदी फैलती इसका मुख्य कारण सभुमेह या इक्षुमेह और वसामेह है—उपेक्षयात्म (मधुमेहस्य) जायन्ते पिंडकाः सप्त दाग्णाः । उच्चवकरेषु मर्मस्पि च सधिषु ॥ (चरक) । परन्तु कभी यह पिंडका प्रमेह के अतिरिक्त कमजोरी पैदा करने वाले दि से भी उत्पन्न होती हैं, इसलिये चरक में लिखा है— प्रमेहमेता जायन्ते दुष्मेदसः ॥ पिंडका के पूर्य में वहुधा वर्ण पूयजनक गुच्छाणु (Staphylococcus pyogenes ४४४) मिलते हैं ।

अवमात्रा तद्रूपा निष्ठमध्या शराविका ।
सर्वपसंस्थाना तत्त्वमाणा च सार्वपी ॥१६॥
एहा कूर्मसंस्थाना देया कच्छुपिका बुधैः ।
लिनी तीव्रदाहा तु मासजालस्तमाष्टुतैः ॥१७॥
ती पिंडका नीला पिंडका विनता स्फुटा ।
त्वलपचिता देया पिंडका सा तु पुनिर्णी ॥१८॥
एसमसंस्थाना देया सा तु मस्त्रिका ।
उत्सिता स्फोटवती दारणा त्वलजी भवेत् ॥१९॥
शरीकन्दवहृता कठिना च, विदारिका ।
दधैर्लक्षणैर्युक्ता देया विद्विका बुधैः ॥२०॥

(पिंडकाओं के लक्षण—) शराव (तश्तरी) के समान, व के आकार की, दीच में नीची शराविका पिंडका होती सुफेद सरसों के आकार और प्रमाण की सर्वपिका पिंडका है ॥१६॥ दाहयुक्त, क्षुब्धे (के पृष्ठ) के समान पिंडका से कच्छपिका कहलाती है । जालिनी तीव्रदाह और जाल इनसे युक्त होती है ॥१७॥ घड़ी और नीलवर्ण का विनता कहलाती है । घड़ी, घोटी घोटी ऊन्नियों युक्त पिंडका पुनिर्णी कहलाती है ॥१८॥ मसूर के आकार मस्त्रिका कहलाती है । रक्तवर्ण तथा कृष्णवर्ण, ऊन्नियों युक्त और भयंकर पिंडका अलजी होती है ॥१९॥ अरीकन्द के समान गोल और कठिन विदारिका होती है । विंधि के लक्षणों से युक्त पिंडका वैद्यों से विद्विका होती है ॥२०॥

चक्रवय—कूर्मसंस्थाना—कच्छपगृष्ठाभा—थवगाढ़तिनि-
ग मध्यावसुप्रसिद्धा । कृष्णा कच्छपपृष्ठाभा पिंडका कच्छपी मता ॥
प्रक) । जालिनी—स्तम्भा सिराजालवती लिखस्थावा मध्याशया ।
नितोदवहुल उद्धमच्छिद्रा च जालिनी ॥ (चरक) । सर्पपिका—
का नातिमहती क्षिप्रपाका महाल्ला । सर्पीपी सर्पेपाभामिः पिंडका-
क्षेत्रा भवेत् ॥ (चरक) । अलजी—दहति लचमुत्थाने तृष्णा-
ज्ञरपदा । विसर्पेत्यनिश्च दुखाद्वयद्विसिवालजी ॥ (चरक) ।
क के ये लक्षण उपर्युक्त लक्षणों से कुछ अधिक विशद्-
के कारण वर्हा दिये हैं । अलाचिता—सूक्ष्मपिंडकादेष्टा ।

ये यन्मयाः स्फुटा भेदास्तेपासेतास्तु तत्कृताः ॥२१॥
जो प्रमेह जिन दोषों से उत्पन्न होते हैं, उन प्रमेहों की पिंडकाएँ प्रमेहजनक दोषयुक्त होती हैं ॥२२॥

चक्रवय—प्रमेह त्रिदोपजन्य होते हैं । परन्तु ‘व्यपदेशस्तु भूयस्ता’ इस न्याय से जो दोष अधिक होता है उसके अनुसार प्रमेह को संज्ञा दी जाती है । उस प्रमेह में जो पिंडका उत्पन्न होती वह भी त्रिदोपजन्य परन्तु एकदोषोदय रहती है । जैसे वातमेह में वातपिंडका, पित्तमेह में पित्तपिंडका और कफमेह में कफपिंडका । वातव में ग्रसेहपिंडका एक विकार है परन्तु दोषों और लक्षणों के अनुसार उसके सात (चरक), नौ (भोज), दस (सुशुत) या इससे अधिक भी प्रकार हो सकते हैं—तथान्याः पिंडकाः सन्ति रक्तीतापितारणाः । पाण्डुरः पाण्डुवर्णांश भसाभा मेचकप्रभाः ॥ मृद्युश कठिनाशान्याः स्थूलः ग्रसमास्तथापराः । मन्दवेगा महवेगाः स्वल्पशूल महरजः ॥ तां बुद्ध्वा मारुतादीनां यथास्वर्वेतुलक्षणैः । बृयादुपचरेच्चाशु प्रायुपद्रवदर्शनात् ॥ (चरक) ।

गुदे हृदि शिरस्यांसे पृष्ठे मर्मणि चोत्थिताः ।
सोपद्रवा हुंदूलस्य पिंडकाः षट्रिवर्जयेत् ॥२३॥

हुंदूल मनुष्य के गुद (प्रदेश), हृदय (प्रदेश), सिर, वाहुसूल, पीठ तथा अन्य मर्म स्थानों पर उठी हुई उपद्रव युक्त पिंडकाएँ व्यागने योग्य होती हैं ॥२४॥

चक्रवय—उपद्रवः—लुकासामासांसकोथमोहहिकाभद्रज्वराः ।
निर्सप्तमेसोरोधाः पिंडकानामुपद्रवाः ॥ (चरक) । पृष्ठे—प्रमेह-
पिंडका अधिकतर पीठ पर ही हुआ करती है । शिरसि—‘भंगायां
घोपः’ इस न्याय से इसका धर्थ चेहरे पर करना चाहिये ।
आगे चिकित्सास्थान में ‘ततो मधुमहिनामयः काये पिंडकाः प्रादु-
र्भवन्ति ॥ (प्रमेहपिंडकाच्चिकित्सित) —ऐसा जो लिखा है,
वह स्वतन्त्रविरोधी और प्रत्यक्षविरोधी बचन है, ज्योंकि
प्रमेहपिंडका प्रायः कर्वकाय में उत्पन्न होती है । उद—इससे
यहाँ महाल्लोत का अन्तिम भाग अभिप्रेत वर्हा है; परन्तु उद
प्रदेश या मूलाधार पीठ (Perineum) अभिप्रेत है ।

छत्त्वं शरीरं निष्पीड्य सेदोमज्जवसायुतः ।

अधः प्रक्रमते वायुस्तेनाल्लाध्यास्तु वातजाः ॥२५॥

(वातमेह की असाध्यता—) समस्त शरीर को निचोड़
कर मेद, मजा, वसा (ओज इलादि) सहित वायु नीचे
(वस्ति की ओर) संचार करती है; इसलिये वातज प्रमेह
असाध्य होते हैं ॥२५॥

चक्रवय—पीछे सूत्र ती में वातज प्रमेहों की असाध्यता
का जो कारण ‘महात्यर्थिकत्वं’ दर्शाया है उसका विवरण इस
श्लोक में किया है । वह महात्यर्थिकत्व इसलिये उत्पन्न होता
है कि वायु वसा ओजादि शरीर के परम सारभूत धातुओं को
वस्ति में रसाचक्र मूल के साथ शरीर से बाहर निकाल देती
है, जिससे शरीर के समस्त धातु कीण हो जाते हैं—वायुर्दत्तीन्
धातृत् शरीरस्य परमसारभूतान् वित्तिमाकृष्य मूर्त्येण सह विसृजति ।
तस्मात्...वातजः...असाध्याः । क्षीणेषु धातुषु महात्यर्थया विसर्वो-
पक्षमत्वाच ॥ (षट्रिवर्जमंग) । धातु कीण होने से शरीर की
शोमज्जमता निष्कृष्ट होने से रोग असाध्य हो जाता है ।

प्रमेहपूर्वरूपाणामाकृतियंत्रं दृश्यते ।
किंचिद्बाल्यथिकं सूतं तं प्रमेहिणमादिशेत् ॥२४॥
कृत्त्वान्यर्थान्ति वा यस्मिन् पूर्वरूपाणि मानवे ।
प्रवृत्तं (द) सूतमत्ययं तं प्रमेहिणमादिशेत् ॥२५॥
प्रमेह के पूर्वरूपों की जिसमें अभिव्यक्ति हो तथा सूत्र भी
इन्द्र अधिक हो उस मनुष्य को प्रमेही कहना चाहिये ॥२४॥
जिस मनुष्य में (प्रमेह के) समस्त वा आपे पूर्वरूप हों
तथा सूत्र की प्रटीति भी बहुत ही उमड़ी प्रमेही कहना
चाहिये ॥२५॥

यस्तथा—इन सूतों में प्रमेह और सूत्र के ताळालिक
अन्य दोपत्र विकार इनमें भेद दर्शाया है । यथापि पहले
सूत्र ५ में ‘प्रभूताविलम्बप्रता’ प्रमेह का साधारण लक्षण
बनलाया गया है, तथापि वेवल प्रभूताविलम्बक्रता से पीड़ित
रोगी को प्रमेही नहीं कह मकने हैं, जब तक उसमें हस्तपाद
तलदाहादि पूर्वरूप भी उपस्थित न हों । यही नियम सूत्र के
वर्णने के बारे में भी समझकरा चाहिये । इसी दृष्टि से चरक
में सिखा है—इदिवर्णं रथि च सूत्र दिना प्रमेहस्य हि पूर्वस्तै ।
या सूत्रपेत न वैदेय प्रमेह रक्तय एतम्य दितम्य हि त प्रवीप ॥ (प्रमेह
चिकित्सित) ।

पिङ्कारीद्वितं गाढःसुपरुषसुपृष्ठद्वयै ।

मधुमेहिनमावये स चासाध्यं प्रकार्तितः ॥२६॥
स चापि गमनात् स्थानं स्थानादासनमिच्छति ।
गासनादहृते शरायां शयनात् स्वैरमिच्छुति ॥२७॥

पिङ्कारी से अत्यत वीड़ित, और उपद्रवों से व्याप्त हुए
प्रदेही को मधुमेही कहते हैं, वह असाध्य होता है ॥२६॥
मधुमेह का रोगी घनते सं दृढ़रने की हृद्या किया करता है,
दृढ़रने से वैठने की हृद्या किया करता है, दैठने से लेटना
चाहना है और लेटने से मा जाने की हृद्या करता है ॥२७॥

यस्तथा—हृद्यायत्रे श्लोक का तात्पर्य यह है कि पिङ्का

तथा गलिकोर्गर्भादि उपद्रव प्राप्त अन्य प्रदेहों की अवैज्ञानि
मधुमेह में अधिक हुआ करते हैं । इसलिये पिङ्का और उप-
द्रवों से व्याप्त प्रदेही दोनों मधुमेही समक्का चाहिये । सापा-
ईसदै श्लोक का तात्पर्य यह है कि दिन प्रतिदिन मधुमेही
चिकित्सा न करने से बदनाम होता जाता है ।

यथा हि यर्णानां पश्चानामुख्यं गर्भपर्यटतेन

संयोगविशेषेण शशलब्धुकपिलवपोतमेवयादीना-

यागुनामनेवेषामुखपरिमेयति, एवमेव दोपथानुग-
लाहारियशेषेणोत्तर्वर्णपर्यटतेन र्वयोगविशेषणं

प्रमेहाणां गानोकरणं भवति ॥२८॥

जिसे कि (मुख) पाँच रेतों के अधिक वा अन्य सात्रा

में हिंदे हुए मिल्लविशेष से बहल (चिनकरा), बधु

(सिल), कपिन (उमरपरिग्राम), कर्पन (पारावनपर्यं),
मेलक (इषामल) इत्यादि भेदेक रोगी की उन्नति हो जाती

है; उनी तरह दोष, प्राप्ति, मर मरी आहार के अनुपातिक

क्षेत्रोंविशेष से प्रदेही वा नाका भेद पैदे जाते हैं ॥२८॥

भवति धाश—
सर्वं एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः ।
मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥२९॥
इति सुधाराहितावा निदानस्याने प्रमेहनिदान
नाम वृषेऽत्याव ॥२९॥

(प्रारम्भ से ही योग्य) चिकित्सा न करने वाले मनुष्य
के सब ही प्रमेह बहुत समय के बाद मधुमेह में परिवर्त्त-
होते हैं, और तब असाध्य हो जाते हैं ॥२९॥

यस्तथा—सब प्रदेहों का मधुमेह में परिवर्त्तन आयु-
निक वैज्ञानिक दृष्टि से असुक्षियुक्त है । क्योंकि प्रत्येक प्रदेह
के निदान आरंभमाप्ति असंघ यूथक यूथक होती है ।
इति भास्तरामेणा गोविन्दामेन विरचितायामावुत्तेरहस्यरूपिकाया
मधुमेहत्वमायादीकावा निदानस्याने प्रमेहनिदान नाम वृषेऽत्याव ॥३०॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथात उदराणां निदानं व्याख्यास्यामः ।
यथोदाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

बब यहाँ से उदरनिदान का व्याख्यान करते हैं, जैसे
कि भगवान् धन्वन्तरिने किया ॥१॥

यस्तथा—उदर—सौनेष उदरस्य रोगः । उदरशब्द के
प्रयोग की यह खूबी है कि उपसे रोग के स्थान का तथा रोग
के एक प्रथम स्थान (यानि उपसेध) का बोध होता है—
तात्त्वादेवत्वाभ्यां च तत्सामान्याऽपि च । तत्साहचर्यच्छुदान
शृदिव्या चतुर्विंश ॥ अंगेनी में उदर के लिये Generalised
abdominal enlargements कह सकते हैं । उदर का
उपसेध निदान कारणों से ग्राव देता है । (१) मेरोड्डि—
इससे उदर फूलता है, परन्तु नोभी की गति में कोई असीं
होता, उदर के साथ साथ गर्भार के अन्य स्थानों में मेदोड्डि
के लक्षण (चलात्तिहुदरक्तन) चरक (स्वर्वद्वय वैलवत् लक्षण) पर
पूर्ण होते हैं, उदर दीवाल पर श्वयुति से पीड़ा करने पर
गर्भ नहीं बनता और अंगुलितादान करने पर कुठ निदानित
(Resonant) व्यवहार मिलता है । (२) रायु—अन्य में
बायमप्य होने में भी उदर फूलता है । इसका उद्देश यों
बायमप्यनिदान में ‘भास्तरान’ कहके किया है । अंगुलितादान
करने से हार्षमें सर्वज्ञ दीवालवैलवत् लक्षण मिलती है,
और उदर उपसेध से भी लक्षण में कोई कष्ट नहीं होता ।
बायमादान में भास्तरान होता है और उपमें अंगुलितादान करने
से दीवालवैलवत् लक्षण होती है—भास्तरानायात्तिश्चाद (वैल
पूर्णरूपादान) चक्राणि । अवनि । भास्तरान में कृज, दृष्टि,
युद्धाद्यपद इत्यादि अन्य लक्षण भी स्थाप होते हैं । कृज,
यमित्यन्दाना, आन्त्र की बग्गोरी, आन्त्रावरीय इत्यादि के
कारण भास्तरान होता है । कभी कभी इसमें आन्त्र की
मैदानियां और गति भी दिखाई देती हैं । कभी कभी आन्त्र-
गति वा आन्त्र में छेद खनने से बायु उदरवाय की गुहा में
दृढ़ा होती है । इसमें उदर अधिक फूलता है; आपातविनि
अधिक दैर्घ्य संभवी है, रोगी अवसर्प (Colapsed) होकर

समय में भरता है । (३) जल—उदरावरणगुहा में जब कट्टा होता है तब उसे जलोदर कहते हैं । इसके बादि का विवरण आगे हँसी अध्याय में किया गया है । कभी उदर की दीवाल में जल इकट्टा होने से उदर सा दीखता है । परन्तु इसमें अंगुलिपीडन से गदा है, दोनों पार्श्वी और वस्त्रप्रदेश में सूजन अधिक होती है, पैर, मुख इत्यादि शरीर के अन्य अंगों पर भी न मिलती है, क्योंकि उदरप्राचीश्याथ सर्वांगशीथ का शिक्क लक्षण होता है । (४) मल—जीर्णविद्विनिवध से भी फूलता है । इसमें टटोलने पर मल तथा उसकी गाँठें त होती हैं, और दवाने पर वे दव जाती हैं या विभक्त होती हैं । इसके साथ सिरदर्द, मन्दाभिम, सुस्ती, आज्ञान गादि लक्षण भी होते हैं । वहशुदोदर मलसंचयजन्य उदर विरचन का एक दो वार प्रयोग से मलसंचयजन्य उदर वरम प्रायः घट जाता है । (५) उदरस्य अंगों का परिमाण ना—उदरस्य प्रत्येक अंग का परिमाण बढ़ने से तमाम तरफ़ फूल नहीं सकता । परन्तु वस्ति, गर्भाशय, वीजकोष, शृङ् और झींहा का परिमाण अत्यधिक बढ़ने से समस्त उदर ला सा द्विलाई देता है । वस्ति—मूत्र के रुक्क जाने से वस्ति । परिमाण बढ़ता है । इसको मूत्रजठर (Distended ladder) कहते हैं । इसमें भगास्ति के ऊपर उदर का अस्त्रभाग फूलता है, उस पर अंगुलिताडन करने से ध्वनिमंद होती है, परन्तु दोनों पार्श्वों में निनादित होती है, शर्नैमेह देता है, तथा मूत्रोत्सर्जिका डालने पर उदर का उत्सेव नष्ट होता है । गर्भाशय—गर्भवृद्धि के कारण गर्भाशय सब से अधिक पृष्ठा है । कभी कभी गर्भोदक की प्रचुरता होती है तब उदर जलोदर की भाँति माल्हम पड़ता है । हस अवस्था को जलगर्भ (Hydramnios) कहते हैं । दोनों अवस्थाओं में मासिक धर्म का धंद होना, सतनों का कालापन, गर्भस्वद् इत्यादि गर्भावस्था के लक्षण होते हैं । वीजकोषप्रथमि, झींहोदर और यकृदल्युदर का विवरण इस अध्याय में आगे किया गया है । (६) कैन्टर—उदरावरण में कैन्सर होने से भी पेट फूलता है । इसमें टटोलने पर गाँठें माल्हम होती हैं, उदर में पानी इकट्टा होता है, रोगी कृष्ण हो जाता है, कक्षा या वहश की प्रथमियाँ फूलती हैं, और शरीर के अन्य स्थान में मूलकन्तर का पता चल जाता है । उदर का निदान करते समय इन बातों पर ध्यान देना चाहिये ।

धन्वन्तरिधर्मभूतां वरिष्ठो

राजपिण्डिन्द्रप्रतिमोऽप्रवद्यः ।

ब्रह्मपिंपुञ्च विनयोपपन्नं

शिष्येण्युभ्युभ्युतमन्वशास्त्रः ॥२॥

धार्मिकों में श्रेष्ठ, राजपिं, (ज्ञानैश्वर्यादि से) इन्द्र के समान (भगवान्) धन्वन्तरि जो अवतीर्ण हुए थे उन्होंने विनयरील, अन्वय वय शीलादि गुणों से युक्त (झुभ), ब्रह्मपिं (विशामित्र के) युक्त अपने शिष्य सुश्रुत को (उदर रोगों के संबंध में) शिक्षा दी ॥२॥

पृथक् समस्तैरपि चेष्ट दोषैः
झींहोदरं वहशुदं तथैव ।
आगन्तुकं सत्तमप्रसं च

दक्षोदरं चेति वदनित तनि ॥३॥

(उदरसंख्या—) पृथक् पृथक् दोषों से (तीव्र, यथा चातोदर, पित्तोदर, कफोदर), समस्त दोषों से (एक, यथा सक्षिप्तातोदर), झींहोदर (इसमें यकृदल्युदर का समावेश होता है), बढ़गुदोदर, सातवाँ आगन्तुक (ज्ञातोदर) और आठवाँ जलोदर हस प्रकार हस प्रास्त्र में (हस) इनकी (आचार्मि आषविधि) कहते हैं ॥३॥

सुदुर्चलायेरहिताशनस्य

संग्रुष्कपूत्यन्ननिवेचणोद् वा ।

स्नेहादिमिध्याचरणाच्च जन्तो-

वृद्धिं गताः कोष्ठमिप्रपत्ताः ।

गुलमाहृतिव्यञ्जितलक्षणानि

कुर्वन्ति घोरण्युदराणि दोषाः ॥४॥

(उदरहेतु—) अहितकर भोजन करने से आथवा सूखा चाँसी सड़ा अन्न सेवन करने से और लेह (स्वेद तथा चमनादि पंच कल्पों) का ग्रयोग्य आचरण करने से दुर्देह जठराग्नि, चाले सनुष्य के प्रवृद्ध हुए दोष कोष्ठ में प्राप्त होकर गुरुम के (समान) आकार के और प्रकट लक्षण युक्त धोर उदर रोग उत्पन्न करते हैं ॥४॥

वक्तव्य—चरकसंहिता में उदर के हेतु संकेप में इस प्रकार वर्णन किये हैं—अतिसंवित्तदोषाणां पांय कर्म च कुर्वतोम् । उदराण्युपजायने मन्दाशीनां विशेषतः ॥ (उदरचिकित्सा) । पापर्कम से मध्यपान, आग्नयामन इत्यादि कर्म समक्त सकते हैं । इस श्लोक में सब उदरों के साधारण हेतु वर्णन किये हैं । जिनके विशेष हेतु होते हैं, उनका निर्देश आगे प्रत्येक उदर के साथ किया गया है ।

कोष्ठादुपखेहवदशसारो

निःस्त्वं दुर्यान्तिलवेगनुशः ।

त्वचः समुद्धर्य श्वानैः समन्ताद्

विवर्धमानो जठरं करोति ॥५॥

(संप्राप्ति—) (व्यान) वायु के वेग से प्रेरित हुआ दुष्ट आजरस उपस्थेत की भाँति (कोष्ठस्थ अंगों) से (उदर गुहा में) रिसकर (उदर की) त्वचा को उक्त करके धीरे धीरे सब और से बढ़कर उदर उत्पन्न करता है ॥५॥

वक्तव्य—उदरेहत—मिही नै वडे में भरा हुआ ग्रव उसके अनंत सूक्ष्म छेदों थे से चूकर, जिस प्रकार वाहर गिकल आता है उस प्रकार । हस शब्द प्रयोग से शरीर में धातुओं के भीतर आजरस कैसे प्रविष्ट होता है, उसका वर्णन किया गया है । शरीर में आजरस का निःस्त्रण (Transudation) केवल अंतों से विशिष्ट भौतिक क्लियाओं द्वारा होता है उसका उल्लेख पीछे ८१ पर्यं किया गया है । हस श्लोक में जलोदर की संप्राप्ति वर्णन की गई है । जलोदर शीथ का ही पूल श्वास-

विषिट्ठ स्वरूप है । प्रहृतापरया में अद्यत स्थों दी शीघ्रार्थी में से एक भाग्यार्थी का पोषण करके जिर स्त्रिहाकाहिनियों द्वारा रक्त में मिल जाता है । जब किसी कारण से स्थों दी शीघ्रार्थी की छव्यात्मता (Permeability) अव्यक्ति हो जाती है तब भाग्यार्थी में असरम सचित होकर 'उन्नेष-लिंग' शीघ्र उत्पन्न होता है । इसलिये स्थों दी शीघ्रार्थी की अव्यक्ति पर्याप्त से स्थोंनेत्रुटि यही शीघ्र का प्रधान कारण है—लोकनां दृश्यादामाय् सक्षेभादात्पूरणात् । (चरक, उद्दराचिकार्या) । यादा निरा प्राप्त यथा काकासुप्रितानि सदृश्यनीय वायु । दैर्घ्यमाणं स दया विनेन्नुभेदित्वं शयभु करोति ॥ (चरक, शयभुचिकित्सा) । सिरादेन स्थों नामा भेदे प्राणम् । (चक्रायिदत्त) । स्थोंनेत्रुटि के अतिरिक्त इन्हमाराधिक्य भी शीघ्रोपत्ति में सहायता करता है । शीघ्र अथ त्वचा या यहृतादि अर्थों में होता है तब शीघ्र ही कहा जाता है, जब किसी अवकाश सुक्ष्म स्थान में होता है तब उस स्थान के साथ जल गृह्य का उपयोग किया जाता है । जैसे— उदर में जलोदर, ज्ञाती में जलोदर (Hydro thorax), मलिन्क में जलमनिन्क (Hydrocephalus), उपर्युक्त में जलजृषण या मूत्रजृष्णि (Hydrocele), दृश्यापरग में अल दृश्यापरग (Hydro-pericardium) हृत्यादि ।

तत्पूर्वस्तु पयलवर्णकाहृता-

वर्णविनाशो जठरे हि राज्यः ।

जीर्णपरिक्षानविदाहयत्वे

वस्त्रौ रुजः पादगतस्थ शोफः ॥६॥

(पूर्वस्तु) कमजोरी, (शरीर के स्वाभाविक) अर्थ में पलट, अस्थि, कुर्मियों का नाश, उदर पर रेतादृ, भोजन पचा या नहीं पचा हस्का ज्ञान न होना, (गाँड़ में) जहन अक्षि (प्रदेश) में पीटा और पांवों पर स्वजन यह उदर रीतों का पूर्वरूप है ॥६॥

वक्तव्य—विनाशयन्त्र बल से वर्णी तक प्रयोक के साथ संभवित है । वर्णविनाश—शीघ्रने वहा शशक्विल्लिन्दिनि नहिते ॥ (अष्टागमग्रह) । काहा—ज्ञानाभिलाप्य । रात्र— उदर में रक्तापट इने के कारण कूली हुई मिराओं की रेतादृ—व्यक्ता रिता । (चक्रायिदत्त) । Enlarged Sup erficial veins । जीर्णपरिक्षानविदाहवलो वस्त्रौ रुज—जीर्णपरिक्षानविदाहो विदेने वायु शलिहनमुत्तालापा । (हृत्यान्) । जीर्णपरिक्षान—जीर्णजीर्ण न वैति च । (चरक) ।

संग्रह पार्वतेऽरुष्टुनामी-

र्यदर्थते हृष्णसिरागमस्तम् ।

सशलभानाद्युद्गमशान्दे-

सतोदमेदं पवनात्मकं तत् ॥७॥

(वासोदर) इक्षि, देट, पीठ और नाभि हस्का कारण करके, काली सिराओं के जाल से सुक, शूल, अकारा, कारण बरके, काली सिराओं की पीठा हनसे सुक तीव्र हुक्का शब्द, लोकन हाँ भेदन की पीठा हनसे सुक जो उदर बहता है ।—वक्तव्य है (ऐसा सम्भवा जीर्णपरिक्षानविदाहो विदेने वाया ॥ (चक्रवा) । यह—

यशोपद्याज्यरदाद्युक्तं

पीतं सिरा भान्ति च यथा पीतः ।

पीताद्विषयामूल्यनानननस्य
पितोदरं तत्त्वचिराभिवृद्धि ॥८॥

‘ (पितोदर—) जो चोर, प्लास, ज्वर, और दाढ़ से मुक्त हो, जिसमें पीलापन हो, तर्में भी पीती ही चमकती हो, तंत्र मल, मूत्र, नल और सुख वीले हों वह पितोदर है, वह यही ही बढ़ जाता है ॥८॥

यच्छ्रीतलं शुद्धसिराधनम्

गुरु स्थिरं शुद्धनवानननस्य ।

द्विगर्थं मद्द्व्युक्तपुतं ससादं

कफोदरं तत्तु चिराभिवृद्धि ॥९॥

(कफोदर—) जो (स्पृष्ट में) शीतल हो, संक्षि सिराओं से मुक्त हो, कठिन हो, स्त्रिय हो, विस्मय में गल शूल संक्षेप हो, जो विकाना हो, अति शोष तुक हो, जिसमें शंगा ज्ञानी हो, वह कफोदर है; वह यहुत दिनों में शूद्रि की प्राप्त होता है ॥९॥

द्वियोऽप्नापानं नवरोम्भम्

विडार्तव्येतुकमसाधुवृत्ताः ।

यस्मै प्रयच्छन्त्यत्यो भरांश्च

दुष्टाम्बुदीपीदिशेवनाद् वा ॥१०॥

तेनाशु रक्तं कुपिताक्ष दोषाः

कुर्वन्ति धोरं जठर विलिहम् ।

तच्छ्रीतयाते शुद्धादुदिने च

विशेषतः कुप्यति दक्षते च ॥११॥

स वातुरो मूर्च्छ्यति संप्रसक्तं

पार्वतुः क्षादः शुद्धति दृष्ण्या च ।

प्रकीर्तिंते दुष्टुदरं तु धोरं

झीदोदर फीर्तयतो निवोध ॥१२॥

(सक्रियातोदर—) दुष्ट यी (पुरुष) धीर गयु जिसको नल, बाल, मूत्र, मल और आतिव्युक्त अल तथा विष (हृत्य विष) प्रदान करते हैं (अर्थात् खिलाते हैं) उससे अधिक दूषित जल और दूषीविष के सेवन से ॥१०॥ शीती ही रक्त तथा वक्तव्य हुता है और दूषित होकर विदेवलक्षणयुक्त धोर उदर उत्पन्न करते हैं । यह शीत, धीर वाल इनसे तुक दिन में विशेष करके कुपित होता है और दाढ़ उल्लं दरता है ॥११॥ यह (सक्रियातोदर से पीकित) रोगी निरन्तर मूर्च्छित होता है, पाण्डुरवर्ण और कृष्ण ही जाता है तथा पापाम के मारे सूक्ष्म जाता है । यह भयंकर दृष्ट्युदर है । वह झीदोदर वर्णन करता है, उसे ध्वन कर ॥१२॥

वक्तव्य—विष—स्थी उपलक्षण है, इससे समीक्षित यथा दुरुपात्री लोक समझना चाहिये—स्थीयाश्वामोपलक्षण तेनान्वेदि निरिदिग्न अविवेकी याहा ॥ (चक्रवा) । यह—

नानाप्राण्यगशमलविरद्धीपविभसनाम् । विषयाणं चाल्पवीर्याणां वोगो
र इति स्मृतः ॥ कृतिम् गरसंप्तु तु क्रियने विविधेष्यैः ॥ (अष्टांग-
ग्रह) । दूषीविष—जीर्णं विषस्त्रोपथिरिहितं वा दातादिवातातपशो-
त वा । स्वभावतो वा युणविप्रहीनं विष एति दूषीविषतामुपैति ॥
सुश्रुत) । दुर्दिन—मेयाच्छ्रेन्डिद्विदिनम् ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।
पुरुष—दूषीविषजन्य उदर । हस्तमें विद्रोगों का भी प्रकोप
ता है हस्तलिये सज्जिपातोदर भाँ कहा जाता है । सज्जिपातो-
र दूषीविष के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी होता है—
पैलेसेप्याध्यामविरोधिगुरुमोजनैः ॥ (चरक) । समश्वतः सर्व-
सान् मिधाहारविहारिणः ॥ (भेलसंहिता) । श्रीलक्षणदत्त भधु-
ग्रेय व्याख्या में दूष्युदर कहने का कारण लिखते हैं—रक्त दूष्यं
प्रयित्वा भवतीति दूष्योदरं; किना परस्तरं दूष्यन्तीति दोषा एव दृष्ट्या-
ते; इनसुरभिति । परंतु यह कथन अयुक्त है । जैसे कि बात के
गरण बातोदर, पित्त के कारण पित्तोदर और कफ के कारण
कफोदर कहा जाता है, वैसे दूषीविष के कारण यह दूष्युदर
कहा जाता है । दूष्युदर की यही उपपत्ति मानने के निम्न प्रमाणा-
॥ (१) कल्पस्थान में दूषीविष पीडितों के लक्षणों में भवेच
(योदरक्षिणुषः (अ. २) ऐसा स्पष्ट उल्लेख है । (२) शीतवात
यश दुर्दिनादि दूष्योदर प्रकोप के जो खास कारण यहां निर्दिष्ट
के यहां हैं, वे ही कारण दूषीविष प्रकोप के भी होते हैं—कोप च
पीतानिलुद्दिनेषु यात्यशु पूर्वं शृणु तत्र रूपम् ॥ (कल्प. अ. २) ।
(३) भेलसंहिता में दूषीविषोत्पत्त उदर का 'दूष्योदर' करके
अतन्त्र उल्लेख किया है; और सञ्जिपातिक उदर का स्वतन्त्र
उल्लेख किया है—तथा नानावेदनाथमुदर सञ्जिपातिकम् । शीणां
दूष्योदरं नाम जायते साविपातिकम् ॥ इस प्रकार भेलसंहिता में
दो सञ्जिपातोदर पृथक् क्रिये हैं । सुश्रुत में केवल दूषीविषो-
पत्त सञ्जिपातोदर का वर्णन किया है । चरक और वाग्भट में
दोनों का भेल एक ही में किया है—विद्रोपकोपनैस्तौतैः स्त्रीदत्तैश्च
जोमैः । (अष्टांगसंग्रह) ।

विदाय्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः

प्रदुष्यमत्यर्थमसृक्कफश्च

।

स्त्रीहाभिवृद्धिं सततं करोति

स्त्रीहोदरं तत् प्रवदन्ति तज्ज्वाः ॥ १३ ॥

चामे च पार्श्वे परिवृद्धिमेति

विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र ।

मन्दज्वरास्थिः कफपित्तलिङ्ग-

रूपद्रुतः क्षीरावलोऽतिपारदुः ॥ १४ ॥

(स्त्रीहोदर—) विदाहजनक, और अभिष्यन्दजनक
पदार्थों के सेवन में रक्त हुए मनुष्य का अव्यंत कृपित हुआ
रक्त और कफ स्त्रीहा को निरन्तर बढ़ता है; उसे वैद्य स्त्रीहोदर
कहते हैं ॥ १३ ॥ यह स्त्रीहा बाहुं पार्श्वे में बढ़ती है और इसमें
रोगी मन्दज्वर, मन्दास्थि, कफ पित्त के उपद्रव, दुखेलता
और पाण्डु रोग इनसे युक्त होकर (दिन प्रति दिन)
विशेषता से क्षीरा होता (जाता) है ॥ १४ ॥

वस्त्रबद्ध—विदाही—पित्त रक्त प्रकोपक उष्ण तीक्ष्ण अम्ल
दाहजनक पदार्थ—विदाहि द्रव्यमुद्ग्राममलं कुर्यात्तथा त्रुपाम् । वदि-
दाह च जनपेत पाक गच्छति तज्जिरात् ॥ अभिष्यन्दि—कफजनक

और दोष धातु भल्ल स्रोतों का स्फुटन करने वाला वा स्रोतो-
वरोधक—पैचिद्व्याङ्गैरवाद् द्रव्य मूद्वा रसवहा: सिराः । भत्ते यज्ञोदरवं
तत्त्वादभिष्यन्दि यथा दधि ॥ (शास्त्रभर) । स्त्रीहाभिवृद्धि सततं—
धीरं धीरे क्रम से स्त्रीहा का आकार बढ़ता है—तस्य स्त्रीहा
कठिनोऽप्यलेवादौ कर्मानाः कच्छपस्थान उपलभ्यते स चोपेक्षितः
क्रमेण कुर्क्षिं जठरमन्यविषान च परिक्षिप्तश्वदरमभिन्वर्तयति ॥
(चरक) । स्त्रीहोदर—इसको श्रीग्रेजी में कानिक एनलार्जसेन्ट
आफदी स्लीन (Chronic Enlargement of the Spleen) कहते हैं । प्रदुष्यमर्थमसक—अत्यन्त दूषित हुआ रक्त स्त्रीहा
की वृद्धि करता है, यह अत्यन्त चिंतनीय है । आधुनिक वैज्ञा-
निक खोज से यह सिद्ध हुआ है कि स्त्रीहा का रक्त के साथ
घनिष्ठ संबंध है । वद्यपि पूरे तौर से स्त्रीहा के विशेष कार्य स्त्रीहा
के माने जाते हैं । (१) रक्तकणों की उत्पत्ति करना, (२)
श्वेतकणों को बनाना, (३) जो लाल कण अपना काम कर
त्तुके हैं, और जिनकी आशु पूरी हो चुकी है उनका नाश करना,
(४) रक्त का संचय करना, (५) तथा शरीर पर आक्रमण
करके रक्त में प्रविष्ट हुए विकारी जीवाणुओं से सुकायला
करके शरीर की रक्षा करना । इसलिये जब रक्त दूषित हो
जाता है, तथा रक्त में रोग के जीवाणु प्रविष्ट होते हैं तब स्त्रीहा
का कार्य बढ़ जाता है और इस बढ़े हुए कार्य को पूर्ण करने
के लिये उसकी भी धीरं धीरे वृद्धि हो जाती है जिसको
स्त्रीहोदर कहते हैं । स्त्रीहोदर के प्रधान कारण—(१) रक्तोद्य-
श्वेतकणभिवृद्धि (Leukaemia) के विविध प्रकार (यथा
Splenomedullary, Lymphatic and Mixed), लैहिक
पाण्डुरोग (Splenic anaemia), हुष पाण्डुरोग (Per-
nicious anaemia) (२) जीवाणु जन्य रोग—जीर्णी चिषम-
ज्वर, काला अज्जर, हॉजिकिन (Hodgkin) का रोग और
फिरंग । इनके अतिरिक्त यकृताभिवृद्धि (Cirrhosis of the
liver), स्त्रीहा के अर्दुद तथा अन्य असाधारण कारण बहुत
होते हैं । इनमें से रक्त दोषों का असली कारण अभी तक
ज्ञात है । मन्दज्वरादि इत्यादि—जिस कारण से स्त्रीहावृद्धि
होती है, उसी कारण से मन्दज्वरादि लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

सर्व्येनरसिन् यकृति प्रदुषे

ज्येष्ठं यकृदाल्युदरं तदेव ॥ १५ ॥

(यकृदाल्युदर—) दक्षिण पार्श्व में यकृत प्रदुष होने से
चही (स्त्रीहोदर) यकृदाल्युदर समझना चाहिये ॥ १५ ॥

वक्तव्य—यकृदाल्युदर—जिसमें स्त्रीहावृद्धि के साथ
साथ यकृत की वृद्धि होती है (Enlargement of the Spleen with enlarged liver) वह यकृदाल्युदर है । केवल
यकृत की वृद्धि (Enlarged liver) को यकृदाल्युदर निझ
कारणों से नहीं कह सकते—(१) डल्हणाचार्य अपनी दीका
में लिखते हैं—तदेव स्त्रीहोदरं यकृदाल्युदर येयम् । क हेयमित्याह—
यकृति कालपादे, किम्भुते? प्रदुषे । (२) भावप्रकाश में यकृदा-
ल्युदर स्त्रीहोदर का भेद वस्तलाया है—स्त्रीहोदरसैव भेदो यकृदा-
ल्युदर तथा । (३) आयुर्वेद में कठीं भी यकृदाल्युदर के लिये
स्वतन्त्र स्थान नहीं है । उसका समानांश स्त्रीहोदरसैवश्च/Sha-

जाता है। उसके कारण तथा चिकित्सा भी हीडोदर की ही होती है, उसकी स्वतन्त्र स्थिता भी नहीं गिनी जाती है तथा उसको यहूँ हीडोदर भी कहा जाता है—तुल्येतुलिंगपूर्व लतात्प्रयुक्तिकृष्ट एवं वरोप इत्येत्यहीडोदर विचार। (चरक, उद्दर्शिकित्सा)। (५) आधुनिक विकृतिविज्ञान की इटि से देखा जाय तो यह कह मरते हैं कि हीडोदर के लिये अपर रक्तविकार, विषमज्वर, इत्यादि जो रोग घटनाये गये हैं उनमें प्राय जहूँ एक अवस्था आती है जिसमें यहूँ भी प्रदृष्ट होकर बुद्ध यह जाता है। (६) केवल यहूँ की वृद्धि का विचार किया जाय तो भी यह वह मरते हैं कि हीडोदर की उननी वृद्धि कर्त्त्व होती है जिसमें उस वृद्धि के कारण पेट उदर के समान कूला हुआ होता है।

यसान्त्रमन्त्ररूपलेपिभिर्वा

धालाश्मभिर्वा पिहितं यथावत् ।

संचीयते तथ मलः सदोपः

फ्रेण नाड्यामिय संकरो दि ॥१६॥

निष्ठ्यते चास्य गुदे पुरीयं

, निरेति इच्छादपि चास्पमवप्म् ।

हृष्टाभिमध्ये परिवृद्धिमेति

य(त)चोदर विद्समग्निधकं च ।

प्रच्छदंयन् यदगुदी विभाव्यः

तत् परिव्याघ्युदरं नियोध ॥१७॥

(परिव्याघ्युदर—) जिसकी अंति सिंहिल यज्ञ या वाल या कंकड़ से एक भरी हुई है उसकी अंति (नाडी) में इक्षा कर्कट की भाँति धीरे धीरे दोषों के साथ मल इक्षा होता है ॥१६॥ धीर उसके गुदा में मल अटक कर वही सुक्षिक्त रो पोड़ा गोदा निकलता है, इद्य धीर नाभि के धीय में उदर कूलता है, मल के समान गश की उलटी होती है, वह बद्ध गुद एवं समझना चाहिये। इसके बाद परिव्याघ्युदर अप्यण कर ॥१७॥

यसान्त्र—परदसहिता में बद्धुदोदर का वर्णन निष्ठ प्रकार से किया है—एसमाने सारेन गुरैतेजावे गुरे। उद्यावैन्दुर्वार्णमिलिंग्मृच्छीनेन वा। अपानो मार्गान्तरोदादालिंग्मुक्तिनिति। वा गिरान्तरु रुद्रा जनयन्तुरं तत् ॥ (उद्दर्शिकित्सा)। सुखुम और चरक के वर्णन का साप साप विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि बद्धुदोदर में मल गुदा में गुरे गये इक्षा होता है। इसलिये बद्धुदोदर को

१—१ वालासमादि (Due to hard and bulky faeces).

२ उदरगुद (stercorure of the rectum or anus)

३ उदाचर्म (Spasm of the sphincter ani or enteric spasm).

४ अन्त्र ग्रन्थिरुद्रेन (Due to weakness of the intestines)। चादि इय

पद का वर्ण चक्रपाणिदत्त के अनुसार 'आन्त्रपरिवर्तन'। जाय जिसको अंग्रेजी में Volvulus कह सकते हैं, तथ म संमूद्देनगन्य बद्धुदर को Acute Intestinal obstruction कहना चाहिये। विटामिनिक—जब मल का नीचे मांगे अपरद हो जाता है तब वायु आन्त्र में उल्ली पैदा करती है, जिससे आन्त्रसिंत सब चीजें मुल के। वाहर निकला करती हैं और अन्त में बमन में मल की विद्युति तथा गश भी रहता है। मलगानिधि द्वारा शुद्धान्त्र उपर की ओर रक्कावट होने से अहुत धीय धीर अहुत शर्क हुआ करती है, धीर यदि रक्कावट स्थूलान्त्र में हो तो ऐसे धीर कम हुआ करती है। आयुर्वेद तथा पाश्चात्य वैद्यक इटि से भी मलगानिधि द्वारा प्रसाध्य का लक्षण माना जाए—द्विरेण्यवी मूरशक्षणपि सचन्द्रिका । (अष्टांगहृष्ण, १. अ५)।

शुद्धं यद्प्रोपदितं तदन्त्रं

भिनति यस्यागतमन्यथा च ।

तसात् युतोऽन्नात् सलिलप्रकाशः

स्नायः श्वेदै युदतस्तु भूयः ॥१८॥

नामेरथ्योदरमेति शुद्धिं

निष्ठुधतेऽतीय यिद्याते च ।

पतत् परिलाभ्युदरं प्रदिष्टं

दक्षोदरं कीर्तयतो नियोध ॥१९॥

(परिव्याघ्युदर—) आत्र के साप सेवित धीर देखा आया हुआ शल्य विसके आंत्र को धीर देता है उसके आत्र से चूरा हुआ पानी के समान चाव गुद द्वारा श्वेत निकलता है ॥१९॥ (कुछ साव उदरगुदा में प्रविष्ट होने से) नाभि के नीचे उदर कूलता है, सीधी पीढ़ा होती है धीर जलन होता है, यह परिव्याघ्युदर कहा जाता है। अब जलोदर का कथन करते हैं, उसे ध्वन्य करो ॥१९॥

एकठ्य—सन्ध्या—तिर्यक्। अरिथक्षटक सुहै दृश्यति शास्य अथ के साप आन्त्र में प्रविष्ट होने पर सारल धीये के जाँचे तब आन्त्रधेद दोने की छोड़ै संभावना नहीं होती; परन्तु देहे होने पर देह दोना है—प्रिलोमेनानामन्त्र भिन्नि, कलनाम इ शत्यामिति गाम्यमेदम्। भन्यथा वेति जूम्भगाहानान्त्रभ्यान्त्र भिन्ने। (मधुकोणम्याद्या)। सुखुम आन्त्रान से आन्त्रधेद तथ ही राक्षता है, जब आन्त्र में पहले का तज उपस्थित हो। नामेत्र—आन्त्रधेद में से पुल द्वारा आन्त्र में द्वयता ही जो गुदमार्गी से बाहर निकलता है, अती कुल द्वारा आन्त्र के बाहर उदरगुदा में द्वयता है जो नाभि के नीचे के भाग में इक्षा होकर उदर वृद्धि करता है—ऐसे वायूर्ब वर्त्त बदर धोएवं दृष्टः। कभी तर्जेनामे ॥ (मधुगिराद्य)। भिन्न देह—आन्त्र से उदरगुदा में प्रविष्ट हुआ वह रस उदरावर्द्ध (Peritonous) में धोय बरता है, जिससे दोहरा दाह तथा दिवाक, आम, काम, तृप्ता इत्यादि चाकोल उदरगुदा होते हैं। धोय के कारण उदरगुदा में काम भी पैदा होता है, जिससे पेट कूलता है—नदी गाम्या ग्राहोऽस्मिन्देवानुप्रेरत ॥

क) । दकोदर और परिस्त्राव्युदर में फक्के होता ही होता : जलोदर की अपेक्षा इसमें जल जलदी पैदा होता है—
कैवि जलास्ताम् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । परिस्त्राव्युदर—
को छिप्रोदर या क्षतोदर भी कहते हैं—छिप्रोदरमिति प्राहुः
गावीति चापे ॥ (अष्टांगसंग्रह) । अन्नच्छेद, उससे उदर-
में रस का प्रवैश, शूणा श्वास कासादि लक्षण, जल की
उत्पत्ति इन सब वार्ताओं का विचार करने पर परिस्त्राव्युदर
आयुनिक परिभाषा में आन्नच्छेदजन्य उदरावरणशोथ
eritonitis due to perforation of the bowel) सकते हैं ।

यः स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा

धान्तो विरिक्तोऽप्यथवा निरुद्धः ।

पिवेजलं शीतलमाशु तस्य

स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्व्याप्तिः ।

ज्ञेहोपलिसेष्वथवाऽपि तेषु

दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति ॥२०॥

स्थिरं मंहत्संपरिवृत्तनाभि

भृशोन्नतं पूर्णमिवाम्बुना च ।

यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च

शब्दायते चापि दकोदरं तत् ॥२१॥

(दकोदर—) जिसने स्नेह, अनुवासनवस्ति, घमन,
रेचन अथवा निरुद्ध वस्ति सेवन किया है वह यदि इन
याओं के पीछे तल्काल ठारे पानी का सेवन करे तब उसकी
त्वं त्वं स्रोतस दृष्टि हो जाती है; (उससे) अथवा
तसे ज्ञेहोपलिस होने से पहले की भाँति जलोदर उत्पन्न
ता है ॥२०॥ वह जलोदर क्षिगव, सोटा, संपरिवृत्तनाभि
र अस्थंत फूला हुआ रहता है; तथा जैसे पानी से पूर्णतया
री हुई मशक क्षुब्ध होती है, काँपती है और शब्द किया
ती है, वैसे वह जलोदर भी करता है ॥२१॥

वक्तव्य—पूर्ववत्—परिस्त्राव्युदर में जिस प्रकार आन्न
रस चूकर उदरगुहा में हकड़ा होता है, उस प्रकार । संपरि-
तनाभि—उच्चलितनाभि [इसके दो अर्थ हो सकते हैं और
यों के अनुसार व्यवहार में नाभि की दो अवस्थाएँ दीख
जूती हैं ।

(१) जिसमें नाभि की गर्त अधिकांश नष्ट होकर वह
यथा स्पाट (Flush with the surface) हो जाती है ।

(२) जिसमें नाभि उलटी होकर बाहर की ओर निकल
गती (Protrude) है । इन दोनों अवस्थाओं का कारण
कही है उदरगुहा में हकड़ा हुए जल का दवाय पीछे से
नाभि के ऊपर पढ़ना । यदि दवाय मध्यम हो तो नाभि
न्पाट हो जाती है, और यदि जल वेहद उदरगुहा में भरा
हुआ हो तो दवाय अधिक होने से नाभि बाहर की ओर
निकल जाती है । यथा दृतिः इत्यादि—इस ल्लोकार्ध में जलोदर
नीचा की तीनों विधियों का संक्षेप में निर्देश किया है ।

(३) कंपनपरीक्षा (Fluctuation test)—इसमें उदर के
एक पार्श्व में आघात करने से समस्त उदर धलधलाता हुआ

दीख पड़ता है जिसमें आघात की ओर से उदर का कंपन
दूसरी ओर चल पड़ता है ।

(२) क्षेमपरीक्षा (Percussion test)—इसमें उदर
के एक ओर एक हाथ रखने से और दूसरी ओर दूसरे हाथ
से आघात करने पर जो क्षोभ भीतर के जल में उत्पन्न होता
है वह क्षोभ पहले हाथ से टप्प प्रतीत होता है । इसी का ही
स्पष्ट निर्देश चरक में किया है—उदकपूर्णदृतिक्षेमसंरपणम् ।

(३) शब्दपरीक्षा (Percussion)—जल पूर्ण मशक के
उपर आघात करने से जिस प्रकार का मन्द या भद्द
(Dull) शब्द उत्पन्न होता है उस प्रकार का शब्द जलोदर
में भी उत्पन्न होता है । अष्टांगसंग्रह में भी इन वार्ताओं
का उल्लेख किया गया है—तीयपूर्णदृतिक्षेमसंरपणम् ।
आहत न तु शब्दवत् । इन बाल लक्षणों के अतिरिक्त
और एक लक्षण जलोदर में दिखाई देता है, जिसका यहाँ
निर्देश नहीं है । वह लक्षण है—नानावर्णारजिशिराजालसंततम् ।
(चरक) इसका कारण यह है कि उदरगुहा में जल के
दबाव से अधरा महासिरा का मार्ग अवरुद्ध हो जाता
है । इसलिये रक्त उदर की बाल त्वचा की सिराओं द्वारा
हृदय की ओर जाने लगता है, जिससे उदर पर नसों का जाल
बन जाता है । दकोदर—उदकोदर या जलोदर । इसको असा-
इटिस (Ascites) कहते हैं । जलोदर के सुख्य छः कारण
होते हैं ।

(१) यक्षतृष्णद्वि के कारण या यक्षद्वाय अंगों की
वृद्धि के कारण प्रतिहारिणी महासिरा (Portal vein) के
रक्तसंचार में वाधा उत्पन्न होना ।

(२) हृद्रोग ।

(३) वृद्धरोग ।

(४) उदरावरण का शोथ ।

(५) रक्तोदप, जिनका उल्लेख स्थीरोदर में किया गया है ।

(६) रसप्रवाह में वाधा उत्पन्न होना (१२वें अध्याय
के १२ वें सूत्र का वक्तव्य देखो) । इनमें प्रतिहारिणी
सिरावरोधजन्य जलोदर—में अस्तिमान्द्य, मलावरोध, अर्धा,
कामला, सिराकुटिलता (गंठीली सिराएँ), चट्टाव और
झीहावृद्धि हृत्यादि लक्षण होते हैं । हृदिकारजन्य जलोदर
में दिल की धड़कन, तथा पादशोथ हृत्यादि लक्षण उदर
में जल का संचय होने के पूर्व दीख पड़ते हैं । वृद्धचिकार-
जन्य जलोदर में समस्त शरीर पर विशेष करके आँखों के
आस पास, पाँव पर शोथ होता है और सूत्र में मूत्रनलिका
निर्मेक (Casts) मिलते हैं । उदरावरणगोयजन्य जलोदर
में स्थानिक लक्षण अधिक होते हैं । रक्तादोषजन्य जलोदर
में झीहावृद्धि प्रायः होती है और रक्तपरीक्षा करने से निदान
होता है और जल की रागि अल्प रहती है । जलोदर का ठीक
निदान करने के लिये वीजकोशप्रनिय (Ovarian cyst)
का उल्लेख करना बहुत आवश्यक है, यद्योऽपि दोनों में उदरो-
स्तेष और जलसंचय ये प्रधान लक्षण समान होने के द्वारा
परस्पर विभेद करना कठिन होता है । इसलिये दोनों का
पार्थक्यदर्शक कोटक नीचे दिया गया है । शीगदोषप्रथि के द्वारा
क्षिणी में होती है ।

	जलोदर	थीराहोगप्रयि
(१) दर्शन	दुक्षिपार्थं वृक्षा हुया, कुषिमध्य सपाट कुषिपार्थं परमदधनि, कुषिमध्यं भं दिमदिम धनि, करवट यद्दने रे उपर फी और दिम- दिम धनि, भींचे की ओर मन्द धनि	दुक्षिपार्थं सपाट, दुक्षि मध्यं उभा हुया दुक्षिपार्थं पर दिम- दिम धनि, दुक्षि मध्य में मन्द धनि, करवट यद्दने रे कु- षिपार्थं की धनि में कोई भी फर्क न होना
(२) आधान		(१) उर पलकाप्रप्त से नाभि की लंबाई नाभि से भगास्थि की लंबाई से अधिक होती है (२) नाभि पर उद्दर का परिणाह भींचे की ओर क्षा कुछ अधिक होता है (३) जघनकपालपुराहृष्ट से नाभि की लंबाई दोनों ओर समान होती है
(३) मापा		(१) उर पलकाप्रप्त से नाभि की लंबाई नाभि से भगास्थि की लंबाई से कम होती है (२) नाभि पर उद्दर का परिणाह भींचे की अवेक्षा कुछ कम होता है (३) जघनकपालपुराहृष्ट से नाभि की लंबाई दोनों ओर समान होती है

आधानं गमनेऽशक्तिदीर्घवृद्ध्य दुर्बलाभिता ।

शोफ सदनमङ्गानां सहो धातपुरीपयोः ।

दाहस्त्वप्पां च सर्वेषु जटरेषु भवन्ति हि ॥२२॥

(उदरों के साधारण लक्षण—) सब प्रकार के उदर
रोंगों में एट फूलता, जलन की शक्ति न रहना, कमजोरी,
मन्दधनि, शोफ, झोंगों की थकावट, अधोवायु और दक्ष
सुखकर न होना, जलन तथा आप हुआ करती है ॥२२॥

अन्ते सलिलभाव द्वि भजन्ते जडराणि तु ।

सर्वाग्नेय परीकावात्तदा तानि विवर्जयेत् ॥२३॥

इनि सुकुमानिनाया विदानस्ते उदरनिदन

नाम सत्त्वगोऽन्धाम ॥३१॥

(आप) सब प्रकार के उदररोग अन्त में कालपरिणाम
से जल तुम अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं । तब उनको स्थगना
चाहिये ॥२३॥

वृक्षवृद्ध—जलोगति की दृष्टि से उदर रोगों का विचार
करने पर यों कहना पड़ता है कि जलोदर में जल उपर्य होता
है उसमें कोई स्त्रेंद नहीं है, जलोदर में जल उपर्य होता है
यह साफ सिखा है । यह कृहीनोदर में यथापि लिखा नहीं तथा पि
उपर्य होता है, यह अनुमतिसद्विषय है । वातादि चार उदर
वास्तविक जलोदर के ही प्रारम्भिक रूप हैं । इसलिये उसमें भं
वास्तविक जलोदर के ही प्रारम्भिक रूप हैं । वेष्ट रोद्दृष्ट उदरोदर के बारे
उपर्य हो सकता है । वेष्ट रोद्दृष्ट उदरोदर के बारे

में है । इसलिये आप उदर का प्रयोग अनुवाद में कि
गया है ।

पि भारतरामेणा गीविनदात्मने विगचिकादामाकुद्देश्यस्तीक्ष्णा
सुश्रावान्दीकार्या विश्वरथाने उदानिदा नाम सप्तोऽन्धाम ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अधातो मृदगर्भनिदान व्याख्यास्यामः । यथ
वाच भगवान् धन्वन्तरि ॥१॥

आप यहाँ से मृदगर्भनिदान का व्याख्यान करते हैं, कि
कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वृक्षवृद्ध—मृदगर्भं—योनिनार्थं में श्वर्णग्रं रीति
आया हुआ स्वार्थवयवसरत गर्भं—सत्त्विवरण्णौ भवेतुद्दृष्टा
सत्तु । विशुवाशानमेष्टू मृदगर्भोऽक्षिप्तेन ॥ वैदेवी में मृदग
की Mal presentation of the Foetus इहते हैं । गर्भ
ग्राम में गर्भ की स्वामाविक स्थिति—गर्भ का सिर आगे ।
बक्ष पर कुक्का रहता है । रीढ़ आगे को मुड़ी रहती है । दो
जांचे उदर पर चीर दोंगे जांचे पर मुड़ी रहती हैं । दो
बाहु पथ पर चीर एक दूसरे के ऊपर सुधे रहते हैं । प्रसू
काल के कुक्का साम सप्तो उपका सिर भींचे हो जाता है, चू
ऊपर को हती है चीर प्रसूक के समय तिर के बल ही जा
रेता है जिसमें सिर, धीवा, कंपे, ऊर्जवालाएँ, उदर, चू
और प्रथेयाद्यादें कम से बाहर आया करती हैं । प्रसू
समय श्वसनश्व चीर प्रसूतिपत्रिन्य के चींक का भाग या
पीरीय आगे को रखकर (Vertex presentation) अ
लेना यह स्वामाविक और सब से सरल मार्ग है । इस
अतिरिक्त सब मार्गों में कुक्का न कुक्का चिठ्ठा होती ।
इसलिये उनसभी का स्वामाविक मृदगर्भ में करता चाहिये
वृक्षक में गर्भ की स्वामाविक स्थिति चीर प्रसूतिविधि सुधर
से इसी प्रकार वर्णन की है—गर्भसुधु छठ मातृ पृष्ठाभिन्न
कर्षणिः सुकुमाहान्वासे जातायुक्त तुक्तो । स चोपसिनका
नन्तर प्रसूतिमात्रतोयाद परिवृत्वावकसिता विकामप्रस्तरप्रेन
एष प्रकृति, विकृति पुनरतोऽन्धाम ॥ (शारीर, अ ६) ।

आप्यर्थमृद्यानवाहनाव्यगमनप्रस्तलप्रतपतग्र
पीडनधावनाभिधातविषयमशयनासनोपवासवेगा
भिधातातिकृतकुतिकभोजनशोकातिकृतासेवना
तिसारवमनविरेचनप्रेष्टोलनाजीर्णगर्भशतनप्रसृष्ट
तिभिर्थिरेपैर्वन्धनान्मुच्यते गर्भः, फलमिव वृन्त
वन्धनादभिधातविषयेष्ये ॥२॥

भैषज, (शायदि) वान (और अधादि) वाहन ए
सावारी करना, पैरों से (बहुत) सक्त करना, (पैर किसी
कर) गिर पड़ना, (ऊपर से) गिरना, (कही भीइ में)
वृक्ष जाना, (जोर से) दौड़ना, (पेट पर) छोट छाना
कठिन तथा उच्चान्वीच विस्तर पर सोना, (अल्कुकादि)
स्थिति में बैठना, सप्तन करना, (मलमूत्रादि के) देंगों के

कना, अस्त्रंत स्थ, कटु और तिक्क (खाय द्रव्यों का) जेन फरना, शोक करना, अधिक मात्रा में ज्वार का सेवन रता, (मरीड़ के साथ) पतले दम्त होना, बसन, विरेचन, ले पर वैकला, अजीर्ण, गर्भशातक (Ecbolics Or oxytocis) पदार्थों का प्रयोग करना इत्यादि (कारण) विशेषों गर्भ अपने वंधन से छूट जाता है, जैसे कि फल प्रहार शेष से अपने वंधन (ढंठल) से छूट जाता है ॥२॥

वृक्षब्ध्य—विप्रमशयनासन—विप्रम शयन और विप्रम प्रसन् । आगे शारीर के दसवें अध्याय में जो—जयनासन द्वात्तरण नात्युचमपाश्रयोपेतमसंवाधे च विश्वाद—वर्णन किया, उसके विरुद्ध । वन्धन—वंधते अपेन इति वन्धनग् । इस दृष्टि । गर्भ के संबंध में वंधन का अर्थ गर्भशय्या या गर्भाशय रीर जहाँ गर्भे चारों ओर से बांधा हुआ रहता है, और इल के संबंध में ढंठल या ढंडी जिससे फल ऊपर लटका आ रहता है । हाराणचन्द्र वन्धन का अर्थ ‘नाभिनाडीवन्ध’ रहते हैं; परन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में मूढगर्भ भी अपने नाभिन्ध से अलग हुआ नहीं दिखाई देता । इसलिये फल की लिना में यथोऽनाभिनाडीवन्ध अर्थ ठीक मालूम होता है याहि गर्भ की दृष्टि से वंध का अर्थ गर्भशय्या करना गणिक सुयुक्ति है ।

**स विमुक्तवन्धनो गर्भाशयमतिक्रम्य यकृतस्फु-
श्वविवरैरवस्त्रंसमानः**: कोष्ठसंक्षोभमापाद्यति,
तस्या जठरसंक्षोभाद्युरपानो मूढः पश्वस्त्वस्तिशी-
र्वंदरयोनिशूलानाहमूत्रसङ्गानामन्यतममापाद्य गर्भं
व्यावर्यति तरुणं शोणितसावेण; तमेव कदाचित्-
विवृद्धमस्यगागतमपत्यपथमनुप्राप्तमनिरस्यमानं
विगुणापानसंमोहितं गर्भं मूढगर्भमित्याचक्षते ॥३॥

(उक्त कारणों से अपने) वंध से हुटा हुआ गर्भ गर्भापय से निकलकर यकृत स्फुहीं और आँतड़ियों के साथ नीचे की ओर सरक कर उद्वर में शोभ पैदा कर देता है । उसके जठर के संक्षोभ से आपानवायु मूढ होकर पार्श्वशूल, वस्त्रीपिण्डल, उदरशूल, योनिशूल, मलावरोध, मूत्रावरोध इनमें से किसी न किसी व्याप्ति को उत्पन्न करके तत्स्यगर्भ को रक्तसाद के साथ निकाल देती है । वही गर्भ जब कभी अधिक बढ़कर, अयोग्य रीति से आकर, अपव्यपथ में प्राप्त होकर याहर न निकले और आपानवायु के वैगुण्य से, मूर्च्छित हो जाय तब उसे मूढगर्भ कहते हैं ॥३॥

वृक्षब्ध्य—यकृतस्फुहीन्त्रविवरैरवस्त्रंसमानः—इसका तात्पर्य यह है कि यकृत स्फुहा और आन्द्र, जो उदरशूल में गर्भवृद्धि के कारण ऊपर की ओर उत्किस हुए थे, गर्भ के अपने स्थान से घट पड़ने पर नीचे की ओर फिर सरक गये । तरुण—अघनाक और अव्यक्त चेतन । इस प्रकार का गर्भ अयोग्य रीति से आने पर भी अपत्यमार्ग में रुक्ता नहीं । वह रक्तसाव के साथ निकल पड़ता है । विवृद्ध—घनाक और व्यक्तचेतन । अनिरस्यमान—जब अपत्यमार्ग की चौड़ाई की अपेक्षा वालक

के दर्शन भाग की भौटाई अधिक होती है तब वालक रास्ते में अटक जाता है । दोनों में मेल तब होता है जब वालक की स्थिति पहले सूत्र के वक्तव्य के वर्गनानुसार होती है और वालक गीर्धायि के बले जन्म लेता है । दोनों में अनमेल निझ तीन कारणों से होता है—(१) अपत्यमार्ग की विकृति—जैसे संकुचितकटिर (Contracted pelvis), कटिर या गर्भाशय के अर्द्धुद, गर्भाशय की ब्रक्ता, जापरा की गर्भाशय प्रीवा के समीप स्थिति (Placenta praevia) इत्यादि । (२) गर्भ की अस्वाभाविक स्थिति । (३) गर्भ की विकृति—जैसे गर्भ के विविध व्यंग, युग्म, जोड़गर्भ, जलशीर्ष (Hydro cephalus) इत्यादि । अपत्यमार्ग में वालक अवरुद्ध होने के इन कारणों का विचार आयुर्वेदोक्त मूढगर्भ की दृष्टि से करने पर यह कहना पड़ता है कि गर्भ की मूढता में द्वितीय कारण प्रधान है; प्रथम कारण कदाचित् सहायक है और द्वितीय कारण अत्यंत गौण है । ध्रुव अपत्यमार्ग में वालक का अस्वाभाविक आगमन कैसे होता है, इस प्रश्न का उत्तर है अपानवायु का वैगुण्य । पाश्चात्य प्रसूतितन्त्र में वालक के अस्वाभाविक आगमन का कारण अज्ञात मानते हैं । The cause of abnormal presentation is not easy to determine, and in many cases no satisfactory reason can be given. (Ten teacher's midwifery.)

ततः स कीलः प्रतिखुरो वीजकः परिव इति ।
तत्र, ऊर्ध्ववाहुशिरः पादो यो योनिमुखं निरुणद्धि
कील इव स कीलः; निःस्त्रहस्तपादशिराः काय-
सङ्गी प्रतिखुरः; यो निर्गच्छत्येकशिरोभुजः स
वीजकः; यस्तु परिव इव योनिमुखमावृत्य तिष्ठेत् स
परिवः; शति चतुर्विधो भवतीत्येके साधन्ते ॥४॥

(चतुर्विध मूढगर्भ—) अपानवैगुण्य से (ततः) वह मूढगर्भ कील, प्रतिखुर, वीजक और परिव ऐसे (चार प्रकार का) होता है । इनमें जो हाथ, सिर और पैर ऊपर को करके योनि के मार्ग की कील की भाँति रोक देता है वह कील है । जिसमें हाथ, पैर और सिर निकल आवे (परन्तु) शरीर लक जाय वह प्रतिखुर है । जिसका सिर और एक हाथ ही निकले, वह वीजक है । जो अंगला दण्ड की भाँति योनिमुख को रोक के बैठता है, वह परिव है । इस तरह मूढगर्भ चार प्रकार का होता है, यह कई आचार्य कहते हैं ॥४॥

वृक्षब्ध्य—कील—माधवनिदान में इसका उल्लेख
‘संकीलक’ करके किया है । प्रतिखुर—अर्धांगहृदय में
उल्लेख ‘विष्कम्भ’ का एक भेदं करके किया है—हस्तपादशिरो-
भिंवो योनिमुखः प्रपथते । इसकी टीका में अख्यदत्त लिखते हैं—
हस्तेन पादेन शिरसा अतुल्यकाल कदाचिद्दर्शेन कदाचित् पादेन
कदाचिद्विरसा योनि प्रतिखुरः कुटिले मूढगर्भः प्रपथते आयाति
स पक्षे विष्कम्भो नाम मूढगर्भः । यह अर्थ ठीक नहीं है । इस
प्रकार के मूढगर्भ में हस्तपादशिर एक समय में दिखाई देते हैं—
इत्यैः खुरे प्रतिखुरं स हि कायसंगी ॥ (माधवनिदान) ।
इसकी टीका में विजयरक्षित लिखते हैं—टृघ्नैहस्तपादशिरोमि:
प्रतिखुरः खमापाद्यते अपानवैगुण्यम् ॥ अनिनाश/Sha-

माधवनिदान में पिर से साथ दोनों हाथों का निर्देश किया है—गच्छेहृत्यतिर मथ वीकालय । आयु-निक पात्रात्पर परिमाण में इन पाठोंका भायान्तर निझ प्रकार से होता है—(१)—रील—Chest, back and side presentation । (२) प्रतिशुर—Presentation of the head with two hands and two legs । (३) बीबक—Head presentation with one or two hands prolapsing । (४) परिप्रे—Transverse presentation in general । आयुर्वेदमात्रातङ्क पादवी विकल्पी आचार्य द्वारा रिपादित सुक्षुतसंदित्ता और माधवनिदान में कील का अर्थ वर्तेष्ट्रिय (Transverse presentation) के प्रकार है, और प्रतिशुर संघर्ष वीक मंडीर्यं दर्शन (Complex presentation) के प्रकार है ।

ततु न सम्यह, कसात् १ स यदा विगुणा-
निलप्रपीडितोऽपत्यपथमनेकधा प्र(ति)पथते तदा
सद्या हीयते ॥५॥

यह कथन ठीक नहीं । दिस कारण से १ जब विगुण (घण्टा) आयु के हाता पीढित हुआ यह गर्भ अस्तर्यमाने को मास होता है तब सखा (की हृता) नहीं रह सकती ॥५॥

धक्षय—सद्या हीयते—इसका तात्पर्य यह है कि अपल्यमाने में संस्कृत हृष्ट गर्भ के अंगप्रभागों का धारीक विचार कर परि प्रत्येक गति के सिमे स्वतन्त्रमया मानी जाय तो इसकी हृता करायि नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्येक अंगदरीयों के कई भेद हो सकते हैं । सुक्षुत के मूदगर्भ चिकित्साभ्याय में तथा आयुर्गंग्रह में इन अस्तर्य गतियों का सकलन सीन खारों में किया है—स्वभावना । अति व्यते—सदा भवति—सिरो वैगुणादसीर्वेषनस्य वा ॥ (सुक्षुत) । समासनस्तु निरिंश गतिरूपीतिर्थैऽ सुक्षुता च ॥ (आयुर्गंग्रह) । यह वर्ती कारण आयुनिक पात्रात्पर वर्णकरण के साथ ठीक ठीक सिलता है । जैसे—(१) रिंगोति या मृजा गति—Cephalic presentation । (२) भमगति या तिर्थगति—Shoulder or transverse presentation । (३) जननगति या कर्व गति—Pelvic presentation । इन अस्तर्य गतियों में से व्यवहार में प्राप्त मिलने वाली आठ गतियों का वर्णन अब किया जाता है ।

तत्र, कविद्वाभ्या सक्षियम्भाय योनिमुख प्रतिपथते; कविद्वाभुमीकसकिथरेकेन, कविद्वाभुमस-
विथशरीरः स्फन्देशन तिर्थगतिः; कविद्वुर-
पार्थपृष्ठानामन्त्यतमेन थेनिद्वार पिधायावति
ष्टते, अन्त पार्थिवपृष्ठतशिरा, कविदेशेन धाहुना,
कविद्वाभुमशिरा याहुद्वयेन; कविद्वाभुमस्यो
हृत्पादशिरोमि, कविदेशेन नष्टज्ञा योनिमुख
प्रतिपथतेऽपरेण पायुम् इन्यष्टिधा मूदगर्भगति
रुदिष्टा समासेन ॥६॥

इसमें (१) कोई मूदगर्भ सी दोनों सरियर्यों से यो मुख में प्राप्त होता है । (२) कोई एक सरियर्य को मिको एक ही से प्राप्त होता है । (३) कोई सरियर्यों की यो मिकोइ कर कर दोनों से देखा जाता है । (४) कोई छाती, और पीढ़ी इनमें से किसी एक से योनिद्वार का रोक के होता है । (५) कोई पार्थ भी से सिर को कुछाकर एक हाथ आता है । (६) कोई निर भी मुक्ताकर दोनों हाथ से नहीं है । (७) कोई परीर को देखा करके हाथ पर्व और सिर आता है । (८) कोई एक सरियर्य गुदा पर रख कर दूसरी सरियर्य से योनिमुख पर आता है । इस प्रकार संज्ञेष से तार की मूदगर्भ की गति वर्णन की गई है ॥६॥

धक्षय—आयुर्गंग्रह में अन्तिम दोनों का निविक्षम नाम से किया गया है । अन्तिम प्रकार में सहज पादवापक है—प्राने य निमकन मुक्तोज्ज्येन गुरु च । यहीं मूदगर्भ के जो आठ प्रकार वर्णन किये हैं, उनमें प्रकार जप्तनगति (Pelvic presentation) के हैं । यथा (१) Both knees presenting, (२) One knee presenting (३) Slightly oblique pelvic presentation or Breech presentation with thighs flexed & legs extended (४) Footling presentation : पार निर्यक गति के हैं । यथा—(५) Transverse presentation in the 1st or 4th position (६) w. one hand prolapsing (७) Both the hands presenting (८) Presentation of head, two hand and two legs । माधवनिदान में मूदगर्भ की अट्टियर्य गतिज्ञ प्रकार से वर्णन की है—द्वार निर्यक विरसा जटेरे की कविद्वीरपरिवित्तिपृष्ठद्वार । एकेन कविद्वरत्तु मुद्देशेन नि गतो बदति कविद्वाभुमुज्ज्येन । पार्थपृष्ठगतिरिति तदेव की दिव्यधारा गतिरित्यम् ॥ इनमें से बेल दोनों का यहीं विच करता है । सिरो—यदि गर्भ शीर्षांक के बल जन्म से तो प्राप्त संग नहीं होता । परन्तु शीर्ष के अन्य अंगों से यदि जन्म से प्राप्त कुछ च कठिनाई उत्पन्न होती है । इसलिये विरस में सिर की ऊन सब गतियों का समावेश कर सके हैं जो आठ गर्भसंग्रजनक सिद्ध हुई है । यथा—Occipito posterior presentation Posterior Asynctism Brow presentation इत्यादि । माधवनिदान के दोनों दीकाकार विरसा का अर्थ 'विरुद्धेन विरसा' कहते हैं । यदि यहीं अर्थ माना जाय तो इससे प्राप्त जलर्थरै (Hydrocephalus) का बोने हो सकता है, क्योंकि सिर मीटा होने का पर्याप्त प्रधान कारण है । अवाहुपु—सुख अर्थों करने जो जन्म लेता है । इसको Face presentation कहते हैं । मूदगर्भ की इन विच गतियों का तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि आयुनिक पात्रात्पर्यमनिदान ॥७॥

परन्तु यहीं विवरण करना अप्रकृत है । इसके लिये प्रसूति जन्म की कीड़ी फैप्रेजी पुलाक पहनी जाहिये ।

तत्र द्वावन्त्यावसाध्यौ मूढगर्भौं, शेषानपि विष-
तेन्द्रियार्थक्षेपकयोनिभ्रंशसंवरणमक्षलुभ्यास-
स-सभ्रमनिपीडितान् परिहरेत् ॥७॥

इनमें अन्तिम दो मूढगर्भ असाध्य होते हैं । और शेष
इन्द्रियार्थवैपरीत्य, आक्षेपक, योनिभ्रंश, योनिसंवरण,
श्लू, शास, कास और अम इनसे युक्त हों तो व्यागने
होगे ॥७॥

वक्तव्य—द्वावन्त्यावसाध्यौ—मूढगर्भ के अन्तिम दो
घार असाध्य इसलिये माने गये हैं कि आन्द्रोनोर्थीडसंपीट
योनोलेपणादि हस्तप्रक्रिया (Manipulation) द्वारा
उक्त अनुलोमन अशक्य होता है—तौ मूढी एवेनाहरुमगजया-
ति शस्त्रमवचारेत् ॥ (अंतर्गाससंग्रह) । विपरीतेन्द्रियार्थः—
प्रितेन हीनानियोगेनानुभूताः शब्दाद्योऽर्थाः । कर्णीनेत्रादि इन्द्रियों
शब्द रूपादि अर्थों का ठीक ठीक ज्ञान न होना । इन्द्रिय
प्रतिपत्ति पृक्त श्रिष्ट है—स्वस्येभ्यो विकृतं यस्य वानमिन्द्रियसंश-
रू । आलझेतानिमित्तेन लक्षणं मरणस्य तत् ॥ (चरक) । आक्षे-
पक—गर्भान्तेपक । इसका उद्देख पीछे वातव्याधिनिदान
'गर्भपात्तनिमित्तश्च' करके अपतानक में लिखा गया है ।
प्रेजी में इसको पृक्तन्यांतिक्ष्या (Eclampsia) कहते हैं ।
स रोग का असली कारण अभी तक ठीक निश्चित नहीं
आ है । परन्तु गर्भसंग एक सहायक कारण है, इसमें संदर्भ
होते हैं । यह रोग गर्भावस्था में छठे महीने के बाद, प्रसव के
मध्य, तथा प्रसव के बाद पाँच दिन तक होता है । इसमें
निमुक्तम् की भाँति आक्षेप के दौरे पर दौरे आते हैं । प्रत्येक
दौरे का समय एक से दोहरा मिनिट का होता है । प्रारंभिक
वस्था में रोगी के सिर और सुख की पेशियाँ झटके के साथ
संकुटती हैं, अर्थात् फिरती हैं और नासा काँपती है । उसके
बाद रोगी का शरीर सख्त होता है, सिर पीछे झुक जाता है,
सुखुम्भ के वायायाम की भाँति शरीर टेहा होता है, दाँती
गा जाती है जिससे प्रारंभिक अवस्था में यदि जीभ दाँतों के
मीच में हो तो कट जाती है और साँस में रुकावट होती है ।
अपश्वात् धीरे धीरे सख्ती जाती है, साँस की रुकावट कम
होती है और अन्त में रोगी वेहोश रहता है । वेहोशी का
काल दौरों की संख्या पर निर्भर होता है । पहले पहल थोड़े
मिनिटों के लिये वेहोशी होती है, परन्तु बार बार दौरे आने
पर प्रायः वीच के काल में रोगी वेहोश ही रहा करता है ।
दौरों की संख्या एक से लेकर सौ से भी अधिक ही सकती
है, परन्तु दस से अधिक होने पर रोग प्रायः कृच्छ्रसाज्य होता
है । रोगी की मृत्यु हृदयावसाद, फुफ्फुसणोथ और मस्तिष्क
में रुकावट से होती है । योनिस्वरण—गर्भाशय का संकोच
या आक्षेप (Tetanus uteri or Clonic Spasm of the
uterus) । इसके कई कारण होते हैं, परन्तु गर्भसंग में
गर्भ को बाहर फेंकने का अत्यधिक प्रयत्न करना एक कारण
है । तन्त्रान्तर में योनिसंवरण का वर्णन इस प्रकार मिलता
है—नातालान्यन्त्रपानानि ग्राम्यधर्मं प्रजागरम् । अत्यर्थ सेवमानाया
गर्भिण्या योनिसार्थः ॥ मातरिशा प्रकुपितो योनिद्रारसं संत्रितम् ।
कुले स्वदमार्गात् पुनरन्तर्गतोऽनिलः ॥ निरुणद्वयाशयद्वारं पीडयन्
गर्भस्त्रिति । निस्फङ्दनोच्छासो गर्भशाश्वु विप्रते ॥ वदां संस्कृ-

एदयां नाशयत्याश्वु गर्भिणीर् । योनिसंवरणं विद्याद् व्याधिमेन सुदा-
रणम् ॥ मफ्ल—गर्भाशयगत श्लू विशेष । गर्भसंग के समय
गर्भ को बाहर फेंकने के लिये गर्भाशय के मात्र में जो सख्त
सिकुड़ने पैदा होती है उन्हीं से यह तीव्रशूल होता है । प्रसूति
के पश्चात् भी मफ्ल शूल होता है, और अवधार में इसी शूल
को सख्त करने का अधिक प्रचार है—(सुश्रुत शारीर
श्वासाध्य १० सूत्र २२ देखें) । यह शूल गर्भाशय में अपरा का
उछ इस्ता रह जाने से या ज्ञुत रक्त जस जाने से होता है—
मप्लो रक्तमालानः श्लूविशेषः । (मधुकोद्याव्यास्या) । इस
गर्भाशय शूल में 'नाभिवस्त्युद्र शूल' भी शामिल रहते हैं ।
यह उदर वलिशूल प्रसव के बाद उदरयुहा रिक्त होने के
कारण मलस्त्रावरोध से उत्पन्न होता है । पाक्षात्य प्रसूति-
तन्त्र में मफ्ल के इन दोनों विभागों के लिये अलग 'नाम
होते हैं । गर्भाशय में जो शूल होता है उसे After-pains
कहते हैं; और नाभियन्ति उदरशूल के लिये False after-
pains कहते हैं । पीडितान् परिहरेत्—यास्त्र में विपरीतेन्द्रि-
यार्थादि उपद्रव गर्भ के नहीं, माता के हैं । इसलिये 'विपरी-
तेन्द्रियार्थादि उपद्रवों से जिन्होंने माता को पीडित किया है,
उन्हें व्यागना चाहिये' ऐसा इस सूत्र का तात्पर्य है । अष्टांग-
संग्रह में 'शीतागात्रा पृत्युद्वारां' ऐसे असाध्यता के दो अधिक
लक्षण दिये हैं ।

भवन्ति वात्र—

कालस्य परिणामेन सुक्तं वृन्ताद्यथा फलम् ।
प्रपद्यते स्वभावेन नात्यथा पतितुं ध्ववम् ॥८॥
एवं कालप्रकर्पेण सुक्तो नाडीविनि वन्धनात् ।
गर्भाशयस्यो यो गर्भो जननाय प्रपद्यते ॥९॥

जैसे कालपरिणाम के कारण पक्त हुआ फल स्वभाव से
ही वृन्त से विमुक्त होकर गिर पड़ता है; अन्यथा एरगिज
नहीं गिरता ॥८॥ वैसे ही पूरा समय होने पर गर्भाशय में जो
गर्भ होता है, वह नाडीवन्धन से विमुक्त होकर जन्म
लेता है ॥९॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में फल का दृष्टान्त देकर काल
प्रसव कैसे होता है, उसका संक्षेप में विवरण किया है । जैसे
कृमिवातामियात से अनुपमुत फल पूर्ण पक्त होने पर ही अपने
वृन्त से अलग होकर जमीन पर गिर पड़ता है; वैसे ही ग्राम्य-
धर्मादि से अनुपमुत गर्भ पूर्ण बृद्ध होने पर अपने नाडीवन्धन
से अलग होकर जमीन से गिर पड़ता है, अर्थात् जन्म लेता
है । इस तरह दोनों में स्थूलरूप से समता होती है । परन्तु
गर्भजन्म और फलपतन का सूक्ष्म विचार करने से दोनों में
कुछ फर्क भी दिखाई देता है । आकाश में फल जो लटका
हुआ रहता है, वह तुल्यबल परन्तु दो विस्तृदिशा में काम
करने वाली दो शक्तियों के आधार पर होता है । जो शक्ति
नीधि की ओर सींचती है, वह पूर्वी की आकृपण्य शक्ति है ।
जो ऊपर की ओर सींचती है, वह वृत्त की अर्धात् वृक्ष की
शक्ति है । जब फल परिष्क द्वारा लगता है तब उसकी परि-
पक्ता के साथ साथ वृत्त और फल के संयोग का स्थान
कमजोर होने लगता है और जब फल पूर्ण परिष्क होता है

तब यह संयोगस्थान अवृत्त कमज़ोर हो जाता है। इससे पूर्खी की आकर्षणशक्ति, जो पहले से ही फल के संकोची थी, उसको बून्द से अलग करने में समर्थ होकर प्रपती और गर्भ देनी है और इसी को अवश्वार में 'पतन' कहते हैं—आकृष्णित्य मही तथा यद् यथ तु लु लाभिषुल स्वरक्ष्य। आकृष्णे तत्पतनीव भाति ॥ (गोलाभ्याय) ॥ इससे यह स्पष्ट है कि अवश्वतन के दो कारण होते हैं—(१) बून्द और फल के संयोगस्थान की कमज़ोरी और (२) पूर्खी की आकर्षणशक्ति (Force of gravitation)। हनमें से आकर्षणशक्ति सौरैव बही रहती है। न वह फलपतन के समय उत्पन्न होती है, न पतन होने पर समाप्त होती है। अथवा काल्परिणाम की दृष्टि से फलपतन में आकर्षणशक्ति का विचार करने का कोई प्रयोगन मही है। भाता की कुपिं में गर्भ की उपस्थिति भी दो अधारों पर होती है, एक गर्भगद्या या गर्भाशय और दूसरा नाभिनामी। परन्तु फल के आधारों की भाँति ये दोनों आधार न तुल्यता हैं, न विपरीती हैं। इनका परस्पर सर्वेष उपकारी होता है। गर्भगद्या गर्भ का रक्षण करती है और नाभिनामी गर्भ का पोषण करती है। नाभिनामी अपरा के साथ सभी रहती है, अपरा (Placenta) गर्भाशय के भीतरी स्थित के साथ सर्वेष रखत्य है। इस प्रकार भाता का संकेत गर्भ के साथ होकर गर्भ का पोषण होता रहता है—अत्य नाभ्या प्रतिनिदा नारी, नारयानपरा, नथा मातृ दृष्टय, तसी मानुषद्वयाद्वाहरसो गर्भाशय स्वन्दमात्रोपरामूर्तिनि। तत्त्व क्रान्तिभिं, तत्क्ष सुन्नर्गर्भस्य पुकाशये स्वकावचिना १०४ मान प्रमद्वाकुल्याद्वात्तदिविकर नपरते ॥ (अदायासव्यह) ॥ गर्भ जब दिन प्रति दिव विषृद्ध होता जाना है तब फलपून्त-संयोग की भाँति अपरा और गर्भाशय के संयोग में कुछ परिवर्तन होता है जिससे प्रसव के समय अपरा गर्भाशय से अलग होने लगती है और गर्भगद्या भी उत्तेजित होती है। आपुर्वेद के इस मात्र का समर्थन पाद्याल्य शास्त्रशास्त्रों में कुछ छोग करते हैं—Some think it is maternal in origin such as degenerative condition set up in the placenta or decidua—Haltibuton's physiology इस तरह अपरा में जो कुछ भी परिवर्तन होता है वह गर्भ जन्म का एक कारण है, परन्तु अप्रधान है। प्रधान कारण है गर्भाशय में संकोच की लहरें उत्पन्न होती हैं। यह संकोच की लहरें जब तक गर्भ की वृद्धि होती रहती है तब तक नहीं उत्पन्न होती। जब गर्भ एवं विषृद्ध हो जाता है, उत्पन्न होने की कोई आवश्यकता नहीं होती तब दहरे आप से आप प्रारंभ होती है और गर्भ के गर्भाशय में वाहर निकाल होती है। इससे यह स्पष्ट है कि गर्भवत्तम में काल्परिणाम की दृष्टि से दोनों कारणों का विचार करने की आवश्यकता है। अब प्रथम यह डट्टा है कि प्रथम एवं परिपक्व होने के समय फलपून्त संयोग में परिवर्तन, गर्भ एवं विषृद्ध होने पर अपरा गर्भाशय संयोग में परिवर्तन तथा गर्भाशय में संकोच की उपस्थिति, ये कार्य होते उत्पन्न होते हैं। आपुर्वेद में इन तीनों का वर्णन एक ही दिया है—

स्वभावेन नामवता । पात्रात्य देशों में काल्प्रसव के के सवध में बहुत कुछ सूक्ष्म प्रियार और संयोगन हुए और वहाँ के गाल्यान्त इस ननीते पर पहुँचे हैं कि काल के समय गर्भाशय में संकोच की लहरें अनेक कारण उत्पन्न होती हैं। उनमें से निन्द्रा कारण अब तक ज्ञात है—(१) गर्भाशयद्विविस्त्रूति—ज्यों ज्यों गर्भ बढ़ता है, उं गर्भाशय भी बढ़ा होता जाता है। परन्तु गर्भाशय की की भी कुछ सीमा है। अनितम दिनों में गर्भाशय भी रक जाती है और गर्भ के न्याय से उसका मुख भी रुक चाँड़ा हो जाता है। गर्भाशय के प्रतिनिधित्वों का धर्म पह है कि मुख चाँड़ा होने पर घरीर की प्रेरित तन्तुओं में रक्कोच प्रारंभ होता है। (२) भरता का ज स कुछ दिव्वेद जीना—इस प्रिया का विवरण प्रारंभ १०५१९ वें के वनक्षय में दिया गया है। (३) कवन उपेक्षार अविक्षय—गर्भ के अनितम दिनों में माना के रक में द्वायोक्षाङ्कड़ी की अविक्षता होती है। वह बायु बालनाडि तथा महिनार के केन्द्रों की उत्तेजित रक्के गर्भाशय संकोच उत्पन्न कर मनकी है। (४) मानिकामैत्रय उत्तेज प्रथमक मानिक धर्म के समय गर्भाशय में कुछ हल्का रहत तथापि उत्तक नियन्त समय पर गर्भाशय में योदी सी होती है। प्रसवकाल मानिकधर्म के फल के साथ मिलता है और अन्य कारणों की सहायता भिन्नकर हल्कात अधिक जार पकड़ कर संकोच में परिष्ठप्त होती है। (५) गर्भ ने उत्पन्न दुष्कृष्ट प्रथमक धर्म पर गर्भ से ऐसे पर्याप्त उत्पन्न होते हैं कि जो केन्द्रों पर, माहिंयों पर गर्भाशय पर कार्य करके उनमें मकोच की लहरें उत्पन्न हैं। ये सब कारण या आपस में भिन्नकर संकोच करने में समर्थ होते हैं, अफेला कोई भी कारण पर्याप्त होता है। ये सब कारण मालूम होने पर भी किंतु गर्भ समय की प्रथम उत्पन्न करता है? मानिकधर्म के गर्भाशय में हल्कल धर्मों उत्पन्न होती है? कालिन कमाङ्कड़ी की राणि उनी समय अधिक धर्मों होती है? का गर्भाशय से संरंघ वृद्ध दीका धर्मों होता है? ऐसे प्रथ उठते हैं और प्रसवकाल नियन्त समय पर कर्यों ही यह प्रथ हल नहीं होता। इसके लिये आलिं भैं प्रथा ग्राहक लियते हैं कि 'जैसे हृदयक का समय एक का होता है, धारात्मक का समय चार सेकंड का होता है'—इस cardiae cycle is about one second, and the respiratory cycle about four seconds so the menstrual cycle is about four weeks and the human gestation cycle about ten lunar months. Gel's midwifery इस तत्त्व का आपुर्वेदिक परिमाण विज्ञप्ति बहुत ज्ञाता है। जो 'प्रथमवेन नामप्य' के लिए और कुछ नहीं हो सकता। कालप्रसव की अवधि साता तथा २८० दिन या आर्कास यमाद या दृष्ट महीना की।

इसके साथ के भवित्व में हो ग्रसय और
कालप्रसव (Prolonged labour) कहलाता है ।

विद्युत में धर्मिणी पूर्ण होने के पूर्व भी इह वार प्रसव
उसके काल प्रसव इष्टके के साथ जितते हैं—

तामिद्यातेस्तु तदेत्रोपद्युने फलम् ।

ज्ञेयः प्रिय विद्युत नाथा स्पाहर्भविच्युतिः ॥१०॥

भित्युति—) वैसं कृमि, वात और अभिधात से
कर्षी फल प्रकाल में भिर जाता है, वैते ही (हुतितान-
वादि में पृष्ठिन) नर्व भी (प्रकाल में) भिर
है ॥११॥

चिकित्य—शमितातिर्यग्दिः—फल के घर्न में कीड़ि,
गंभीरा, पथर वा लाटी वा भादार फल और धूत का
नष्ट करते हैं जिससे फल भिर जाता है । गर्भ की एषि से
वार किया जायता है । इन तीनों में वर्भविच्युति के सब
समाविष्ट होते हैं । कृमि—वार्भवित्य वा श्रन्तिगोथ,
एव और अपरा के विकार इष्टावादि । जे विकार प्रायः
वा आत्मनिक परिवारा में जीवाणुगम्य होते हैं ।

अत्यधिक मानसिक और ग्राहीक परिव्रम्य अत्यधिक
गर्भवातक योग्यिणीं । ये सब वातनाडियों के हारा
उमे में संसोच उत्पन्न करते हैं । अग्नितात—जैसे उदर पर
ठोना, अत्यधिक घसन और छींक, आज्ञेप, चित्ता
विसानसिक वायान इत्यादि । घ्रव इसके आगे गर्भ-
वे के दो भेद वत्तलामे राग हैं—

तुर्योत्ततो मासात् प्रश्नवेद्भविच्युतिः ।

स्त्रियोत्ततो श्रीरीख्य पातः पञ्चमपष्टयोः ॥११॥

(गर्भवात और गर्भपात—) (गर्भांयान से) जीवे
तक गर्भविच्युति व्यती है (यानि गर्भ सावके रूप
होता है); उससे पौष्ट्र पांचवं और छठे महीने में घन
हुए गर्भ का पात दोता है ॥११॥

चिकित्य—गर्भवात—इसको अवर्ग्यन (Abortion)
है । गर्भापात—इसको मिस्ट्रियार्जन (Miscarriage)
है । कालकमात्रुसार इनकी जो मरणोदा यहाँ वर्तलाई
है, वह पाशात्य परिवापा के साथ यहुत हुच्च मिलती है ।
गत्य परिवापा के अत्युसार अपरा धूर्ण वर्तने के समय तक
विच्युति की गर्भवात् कहते हैं । भोज के अत्युसार गर्भ
वा काल प्रधम तीन नहीने का है—आत्मतात्त्वो मासा-
वादि शेषितम् ॥

श्रव छठे सास के बाद गर्भप्रसव के संवंध में कुछ विवार
करेगा । श्रीकण्ठदत्त माधवनिदान की इसी खोक की
स्त्री में लिखते हैं—बन्धे तु पञ्चमपष्टयोर्व पातः, सप्तमाद्यु-
पित्याप्रिसव इति आचार्येप्रामाण्याद्यवदाराच मन्यन्ते ।
इन्द्र में कालप्रसव के काल के संवंध में कुछ भत्तभिन्नता
होती है । चक्र में प्रसव का काल नीर्वा और दसवाँ
वा वर्तलाया है—तरिमवेकदिवसातिकान्तेऽपि नवमं मासंसुपादाय
भेत्याहुरादामान्मासात्, एतावान् वालः । देकारित्वमः परं
स्यानं गर्भस्य ॥ (शारीर, ग्र. ४) । कुश्ल में जैतैः

इसनां, भ्यारहर्वा और वारहर्वा महीना प्रसवकाल माना
है—न इत्यात्मैक्ष्यादाद्याचारागमगमित्यु वायते ॥ (शारीर,
ग्र. ४) । द्यामपाणिदत्त घरु की टीका में इस भत्तभिन्नता
का व्यवन्यग करते हैं—ग्रादरमाद इनि वनने प्रशततस्यात्माभिप्रायेत ।
नमुना द्यादरमाप्तव्यन्त सन्याक प्रभवकालाभिप्रायेत स्त्रीकर्त्तृपौरोकारस-
दादरमाप्तव्यन्ते इन्द्रव्योपलेनाऽन्तोपश्च एते निर्विपात् वीदव्यग ॥
पाशात्य प्रसूतिगायत्री में भी आयुर्वेद की भाँति प्रसव के
पूर्व प्रकार जिये गये हैं, परन्तु कालमर्यादा में हुदू मेद है ।
इसलिए नीर्वा तुलनात्मक कोष्ठक दिया जाता है ।

प्रसवकाल	आनुवंशिक कालगर्वाया	पाशात्य कालगर्वाया
१ गर्भवाय	प्रथम तीन वा चार महीने के अन्त तक	प्रथम तीन वा चार महीने के अन्त तक
२ गर्भपात	पांचवाँ और छठा महीना	पांचवं महीने से सातवं वे के अन्त तक
३ कालपूर्व वा विगुण प्रसव	सातवाँ और आठवाँ महीना	आठवं महीने के प्रारंभ से १० ने महीने के अन्त तक
४ काल प्रसव	नौवाँ और दसवाँ महीना	दसवं महीने का अन्त, २८० दिन
५ कालातीत वा वैकारिक प्रसव	भ्यारहर्वा और वारहर्वा महीना	भ्यारहवे महीने के प्रारंभ के बाद

प्रविध्यति शिरो या तु शीताही निरपत्रपा ।

नीलोद्वत्सिरा हन्ति सा गर्भ स च तां तथा ॥१२॥

(मूढार्ग वा असाध्य लक्षण—) जो छी सिर को
हिलाती है, ठंडी पह गई है, लज्जा विरहित हो गई है और
(जिसके पेट पर) नीली जसे फूली दुर्दृ (दिखाई देती)
है वह गर्भ को सारती है, और वह (सरा हुआ) धालक
उसे सार देता है ॥१२॥

चक्षुव्य—प्रविध्यति शिरः—इसके घदले माधवनिदान
में ‘अपविद्युतिरिता’ ऐसा पाठ है । इसका अर्थ ‘सिरधारण
करने में जो असमर्थ हो’ ऐसा है । निरपत्रा—लज्जाशृन्या,
शर्यात् वेहोश होने के कारण जो अपनी लज्जा रक्षण करने में
असमर्थ हो । नीलोद्वत्सिरा—नीलवर्ण उद्ता सिरः कुशी यत्या
सा तथा ।

गर्भस्पन्दनमावीनां श्रणाशः श्यावपाणुता ।

भवत्युच्छ्वासपूतित्वं शूलं वान्तर्भूते शिशौ ॥१३॥

(मृत गर्भलक्षण—) (छुलि के) भीतर गर्भ सरने
पर गर्भ की निश्चलता (वा गर्भ के हृदय का त्पन्दन बन्द
होना), प्रसववेदना वा असाध्य, (त्वचा पर) कालपन
लिये वाणुरुता, सांस में हुर्गेश और (पेट में) शूल होता
है ॥१३॥

मानस्लगन्तुभिर्मुतुरुपत्तापैः ग्रीष्मीङ्गितः ।

गर्भो न्यापद्यते कुदौ व्याधिभिक्ष ग्रीष्मीङ्गितः ॥१४॥

(गर्भमृत्यु के कारण—) माता के मानसिक और आगन्तुक दुर्खियों से तथा (अपने भाव) विकारों से पीड़ित हृष्पा गर्भ कुक्षि में मर जाता है ॥१४॥

यत्तद्वय—पात्रात्मव्यसुलियास्त्र में भी गर्भ की शृन्त-
मृत्यु के कारणों का वर्णिकरण इसी प्रकार किया जाता है—
(१) माता के विकार—इनमें किरण, शृक्षयोथ, गर्भापात्राशक (Eclampsia) गर्भायान्त्रायाप, तीव्र लूटदार रोग, तीव्र ज्वर, राजयम्भा, मधुमेह, पाण्डुरोग, सीसविष और सलिया विष ये विकार प्रधान हैं । (२) निया के विकार—
इनमें किरण, सीसविष और राजयम्भा ये विकार प्रधान हैं । (३) गर्भ के विकार—अपरा, गर्भावरण या नाभिनाई के रक्तसंचार में वाता उत्पन्न होना । (४) भावान—माता के उत्तर पर जीर से आघात होना ।

यस्तमारविषयायः कुक्षि प्रस्पन्दते यदि ।

तत्त्वणाञ्चन्माले तं पाटित्येव्वरेद्विषयक ॥१५॥

स्त्रि सुकृतमहिताया निदानाने भूदगर्भनिरान

मामाण्डोऽयाप ॥१५॥

(बालक के) जन्म के समय घनमारविषय छी की कुक्षि पर्दि परकरे स्त्री वीव ही (कुक्षि की) पाइकर (जीवित) बालक को निकाल ले ॥१५॥

यत्तद्वय—इस खोक में प्रसव काल के समय निरुद्ध गति परन्तु सजीव गर्भ के कारण आर्त हुई माता के संबंध में वैय को क्षय करना चाहिये, इसका दिवर्धीतन किया है । भूदगर्भं प्रहृत्वं दुक्षिणिक्षयं (वृष्ट १९) रोग है जिसकी विकिसा शब्दस्य भेद के अनुसार भिन्न भिन्न होती है । जैसे—(१) यदि गर्भ मृत हो तो उसको अनुचितादि इन प्रक्रिया द्वारा या शब्द से स्वचित करके निकालना चाहिये— नोरेतेत मृत गर्भ मृत्युमयि परिषुप्त । मण्डलप्रेण कौन्त्र छेषपत्र दिवानन् ॥ मृते चोत्तनया सतिप्रभावामृतमृत्युमयोमेवाव्येत् । (विकिसा अ ११) । (२) यदि गर्भ जीवित ही तो मन्त्रादि के पठन से, ओषधियों से या अनुचितादि इस्तप्रक्रिया द्वारा ग्राह किया के सिवाय जीवित गर्भ को निकालने की कोशिश करती चाहिये । खोकी जीवित गर्भ के लिये शक्तकर्म का निरेष किया जाया है—जीवित वैय सिक्षागर्भीर्देवते प्रयोग । विहृतुरपाले अवदान् मन्त्रनुग्रहयुग्म । औषधित विशेष्य व्यवहारनि । गृहे चोत्तनया मृत्युमयोमेवाव्येत्—इस्तादि । (विकिसा, अ ११) । मृते वैति । अवदान् अर्थीभौतु मन्त्र व्यापरेतु अर्थपर्याप्ति अवदान् मन्त्रीवे ॥ (इन्हए) । सबतेज च होते न कवचन दादेत् । भूदगर्भं विकिसा की उपर्युक्त दो सापारण अस्त्वाओं के अविशिक्त जब वोनिमायंसंकोचया उत्तिरेत्वेच (Contracted pelvis) के कारण जीवित गर्भ की अनुचितादि विभिन्नों द्वारा जीवितावस्था में निकालना असंभव होता है तो यही तीव्री अविशिक्त अस्त्वा उत्पन्न होती है तब दिग दर्ता को अट्टीकार करना चाहिये । उम्मद वर्षते इन खोक में किया जाया । रसतापत्र—दरवार एवं दूषक रिक्त दरवार सुखादि इस्कारि आपातों से अविन दूषक बहर दिया । दरवार मृत्युमयि दूषक आपातों से अविन दूषक बहर दिया । दरवार मृत्युमयि दूषक आपातों से अविन दूषक बहर दिया । दरवार मृत्युमयि दूषक आपातों से अविन दूषक बहर दिया ।

कहता । मार—आघात या मारपीट । यसपि मार का रथ अर्थ हस्ता या मृत्यु है, और दृहस्ताचार्य उसका य करते हैं—वहानर इगलर्द रामणम् । इतेन श्रीवामीटने मस्तिष्ठ गणनुभान्—तद्यादि सदर्भे के अनुसार या इष्टि से उससे मारपीट का भी अर्थ निवलना है शाकुन्तल में विद्युषक बहता है—शब्द ऐनेपियुमार दीड़नेन लागेनामिनन्दन ॥ (अंक ६) । विप्र— आपद्मपल—स बुद्धो विषवालामापदुदरणदम् । (हितोप अद्यादत्त, इन्हण, हारायाचाद विषप्र का अर्थ मृत क यद्यपि विषप्र का अर्थ मृत हो सकता है तथापि या अर्थ की कोई इस्तरत नहीं मालूम होती । यह खोक निदान के सबथ में लिखा गया है । इसलिये स्त्री की भूदगर्भजनित मानना अधिक सुविक्षिक मालूम होत अब प्रभ वेवल यह बताता है कि यह विषप्रता मृत्यु या यातना रूप है । इस प्रभ का अधिक विचार क यह उत्तर देना पड़ता है कि प्रभव के समय अपर्यम गर्भ अटक जाने से गर्भ की मृत्यु न होकर केवल मार मृत्यु होना यह एक असंभवनीय और आसाधारण सी है । गर्भ की मृत्यु होने पर उसको निकालने से या लते समय अपर्यमार्या दृष्टिं होने से कुछ दिनों के बाद की मृत्यु हो सकती है । इसलिये माता की विषप्रता रूप मानना उचित मर्ही है । अब दूसरे अर्थ की र विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि जिसको मूर कहते हैं, उससे भी अनन्त यातनाएं होती हैं । व्यष्टह प्रसव की छी का पुनर्जन्म भी कहते हैं । ऐसी अवस जब गर्भ आदा होकर रास्ते में अटक जाता है तब यह छी के लिये यातनाओं का महासामार हो जाता है । यातना रूप महासामार में छी हुई असाधार भी की विषप्र करने के लिये बकरे का टाटान दिया है । इसलिये की विषप्रता यातना रूप मानना ही उचित है । अट्टीर और अट्टीगम्यमय में यही खोक बुल पाठ भेद से त्रि है—विनिदोरे विषवाया बुद्धि प्रस्पन्दते यदि । अप्यकाले रीय एव्यविलोद्विष्टु ॥ (शारीरिक्लान, अ २) । ‘ब्रह्ममार’ के बदले ‘ब्रह्मद्वार’ लिखा है । याकी स्त्रीक बाल बही है । ब्रह्मद्वारे—अद्यादत्त के अनुसार इसका द्विजित्यप्रस्पन्दन के साथ है—गविष्या एताया वदि कुषित प्रस्पन्दने चतुर्वि, क प्रेते ॥ विंशता । अद्यागत्यमहादीकालार के अनुसार इसमें उद्दरपात्र का व्याप विदित होता गर्भय अवसरों और वैय विषप्रता व्याप विदित होता व्युद्धेते ॥ दाता चन्द्र चक्रवर्ति संरादित मृत्युमयिहिता में ब्रह्मट का ही स्वीकृतन किया जाता है । उपर्युक्त विषप्र में इस खोक का रथ यह होता है कि प्रस्प के समय अपर्यमार्या या तंत्र होने के कारण जब जीवित गर्भ अटक जाता है उसको अपर्यमार्या से भ निकाल कर पट भीर के उद्दर में निकालना चाहिये । दरमात्रा में गर्भ दिवालने की गर्भ किया की वायाप्त विषवाया में त्रिकोटिन सेक (CreSareen Suction) करते हैं । इसका संहिता वा

किया जाता है । निर्देश—यह ग्रस्कर्म निज्ञ आवस्थाओं में निर्दिष्ट किया गया है । अथ—संकुचित कटि, अपत्य-का अवृद्धियों के कारण या स्वासाधिक संकोच, साता की अवस्था, गर्भ की विपलावस्था, गर्भापतानक, प्रसवपूर्व एव हृत्यादि । काल—यह शब्दकर्म जन्म काल में प्रसव (शुरु होने पर अथवा यदि) पहले से ही गर्भसङ्क के में कुछ कल्पना हो तो कालप्रसव के अन्तिम सप्ताह या जाता है । शब्दकर्म—(१) प्रथम मध्य रेखा में उदर निवाल में आठ हृच का चीरा लगाया जाता है, जिसमें हृच नाभि के नीचे और तीन हृच नाभि के ऊपर होता चीरा लगाने के पूर्व भूत्रोत्सर्जिका द्वारा वस्ति स्थाली करनी होते । (२) सामने आये हुए गर्भाशय में लंगाई की ओर या नींहं का चीरा लगाया जाता है । (३) तत्पश्चात् से गर्भ को निकाल कर नाभिनाडी को दो वंधनों के में काट दिया जाता है । (४) तत्पश्चात् गर्भाशय की रुग्ण से घाड़ निकाल कर उसको ग्रीवा के पास मजबूत इते हैं । (५) तत्पश्चात् अपरा, गर्भावरण तथा जमे हुए को निकाल कर गर्भांग का सुख अंगुलि प्रविष्ट करके विस्तृत किया जाता है । (६) तत्पश्चात् गर्भांग के छेद दोंके लगाकर वह बंद किया जाता है । (७) तत्पश्चात् रुग्ण में रक्त या धून्य पदार्थ जो कुछ गिरे हुए हों उनको निकाल कर उदररुग्ण साफ की जाती है । (८) अन्त में यही दीवार का छेद भी दोंके लगाकर बंद किया जाता है । इस उदरविपाटनपृष्ठति के विशेष विवरण के लिये अस्थ प्रसूतितन्त्र के ग्रंथ देखने चाहिये । इससे अधिक रुग्ण यहाँ करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

ति भास्तरासमां गेविल्लात्मजेन विरचिनायामायुवेटरहस्यदीपिकायां
भृतमापायीकायां निदानस्थाने मृदगर्भनिदान नामाष्टोऽध्यायः ॥८॥

लघ्नोऽध्यायः ।

अथातो विद्धीनां निदानं व्याख्यास्यामः ।
यथोचाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से विद्धियों के निदान का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

सर्वांगरुग्णः श्रीमान्निमित्तान्तरभूमिषः ।

शिव्यायोचाच नित्यिलमिदं विद्धिलक्षणम् ॥२॥

समाल देवताश्चों के गुरु, निमित्तवश भूमि के पालक (पैकर अवतीर्ण) हुए भगवान् धन्वन्तरि ने (अपने) शिव्य (पौरी सुश्रुत) के प्रति विद्धियों के ये संपूर्ण लक्षण लिपि ॥२॥

वक्तव्य—निमित्तान्तरभूमिषः—आयुर्वेदोपदेश के निमित्त इस एव्वी पर काशिरोज के कुल में अवतीर्ण होने से निपति हुए थे—शल्यागमगैरपरेष्ट प्राशीडिग्म गा भूय दशोपदेष्टुग् ॥ शल्यागम में भी लिखा है—काशिराजगोत्रे अवतीर्ण त्वमष्टा शास्त्रायै जन्मित्यस्ति ॥ (कल्पनीग, अ. ८) । इह—जैतर अद्य यत्नाया राया है ।

त्वयक्तमांसमेदांसि प्रदूष्यास्थिसमाश्रिताः ।
दोषाः शोफं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रुता भुशम् ॥३॥
महामूलं रुजावन्तं चृत्तं चाप्यथवाऽऽयतम् ।
तमाहुर्विद्रधिं धीरा विशेषः स च षड्विधिः ॥४॥
पृथग्नोषैः समस्तैश्च दत्तेनाप्यसुजा तथा ।
परणामपि हि तेषां तु लक्षणं संप्रवक्ष्यते ॥५॥

(संप्राप्ति और संख्या—) अल्पत प्रकृष्टिं हुए दोष हालियों का आश्रय कर त्वचा, रक्त, मांस और मेद हैं, दूषित कर धीरे धीरे भयंकर शोफ उत्पन्न करते हैं ॥३॥ उस गंभीरमूल, पीडायुक्त, गोल अथवा दीर्घ (फैले हुए) शोफ को दुष्मिनान् (वैद्य) विद्रधि कहते हैं । वह द्वः प्रकार का होता है ॥४॥ पृथक् पृथक् दोषों से (तीन), समस्त दोषों से (एक), क्षत से (एक) और रक्त से (एक) । इन छहों का लक्षण अब वर्णन किया जाता है ॥५॥

वक्तव्य—महामूलम्—अस्थादिसमाश्रयणाद्वभीरमूलम् ।
विद्रधिः—‘विद्विति’ इति विद्रधिः । दुष्ट्रस्तात्मित्रत्वात्स वै शीघ्र विद्रधिते । ततः शीघ्रविद्विद्वित्वा द्विद्रधीत्यभिर्भिरु ॥ (चरक, सूत्र १७) । इसके दहन के बारे में चरक में लिखा है—तसैः शख्यरूपे मध्येतोल्मुखिरित्व दद्यते ॥ विद्रधिः को अङ्गेजी में आम तौर से अव्वेस (Abscess) कहते हैं; परन्तु आम्यन्तरीय विद्रधियों में कहीं कहीं Inflammation का भी अर्थ निकलता है । विद्रधि, शीघ्र और इन्फ्लूमेशन के संबंध में सूत्रस्थान के आमपैषणीय अस्थाय में विशेष करके द्वितीय, चतुर्थ और पंचम सूत्र के वक्तव्य में (पृष्ठ १०६—१०७) विशेष विवरण दिया है, उसे देखो । यह विद्रधि वाहा और आम्यन्तर करके दो प्रकार का होता है—विद्रधिः द्विविद्यामाहुर्वायामाम्यन्तरीं तथा ॥ (चरक) । अब प्रथम वाह्यविद्रधि के लक्षण वर्णन किये जा रहे हैं—

लघ्णोऽरुणो वा परुणो भृशमल्यर्थवेदनः ।

चित्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वात्संभवः ॥६॥

(वातविद्रधि—) वातजन्य विद्रधि काला अथवा किंचित् रक्तवर्ण, अत्यंत खुरदरा, तीव्र पीड़ायुक्त और विद्यिध प्रकार से उठने वाला तथा पुकाने वाला होता है ॥६॥

वक्तव्य—चित्रो नानाविधौ वायोविष्यमक्रियत्वादुद्गमप्रपाकौ यस्य स तथा ॥ (भृत्योक्तव्याल्या) ।

पकोदुम्बरसङ्क्लाशः इयाचो वा ज्वरदाहवान् ।

चित्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः पित्तसंभवः ॥७॥

(पित्तविद्रधि—) पित्तजन्य विद्रधि पको गूलर फल के समान (वर्ण का) अथवा ऊदा, उवरयुक्त, दाहयुक्त, शीघ्र उठने वाला और पकने वाला होता है ॥७॥

शरावसद्वशः पारङ्गुः शीतः स्तव्योऽल्पवेदनः ।

चित्रोत्थानप्रपाकश्च सकण्डुश्च कफोत्थितः ॥८॥

(कफविद्रधि—) कफजन्य विद्रधि तश्तरी के समान (पैला हुआ, वर्ण में) पारङ्गु, ऊदा, स्वाद, अल्पपीड़ायुक्त, देर में उठने वाला तथा पकने वाला और कण्डुयुक्त होता है ॥८॥

तो धारभट्टाचार्य के सत से भी विरोध नहीं होता । विद्धियों से अधिप्रेत रोग—दूषका निर्णय करना कठिन तो कि न हनके स्थान निश्चित हैं, न हनके लक्षण निम्नत आपि हनमे निश्च रोगों का बोध हो सकता है । गुद-घे—*Hæchio-rectal Abscess* या *Pelvi-rectal abscess* वा *Umbilical-Hæmalith-Cystitis* या *Prostatic Abscess*, नाभि, कुक्षि और चक्षुन विद्धि—Localised peritonitis in the umbilical, lumbar and iliac regions । विद्धि—*Psoas abscess* । दक्षिणवंशगविद्धि—Ventricular abscess । वृष्टिविद्धि—*Pyelonephritis*, *mephilosis*, *Perinephritic abscess* या *Lumbar abscess* । घृण्ड विद्धि—*Liver abscess* । झींडविद्धि—*enio abscess* । हृदयविद्धि—*Purulent Pericarditis* । कोम—यह एक कोषस्य घंग है । परन्तु हनके गर्थ के संबंध मृत मतभिक्त है । कुद्र ग्रास्त्र इत्यसे ग्रसिनिका (*Pharynx*), कुद्र पित्ताग्रय (*Gall bladder*), कुद्र ग्राम्याशय (*ancrens*), कुद्र शासनलिकाएँ (*Bronchi*) और कुद्र ग्रा (*Cysterna chyli*) समझते हैं । इन उपर्युक्त विद्धियों के अतिरिक्त *Subphrenic abscess*, *Peritonillar abscess* *Empyema*, *Lung abscess*, *Brain abscess* इत्यादि विद्धि अन्तर्विद्धियों के ही उदाहरण हैं ।

पांच लिङ्गानि जानीयाद्वायचिद्विधिलक्षणैः ।

ग्रामपक्षीयाश्य पकापकं विनिर्दिशेत् ॥१॥

हनके (दोषानुसार) लक्षण वालविद्धि के (दोषार) लक्षणों से जान लेने चाहिए । और ग्रामपक्षीयाश्य ग्रामक सूत्रस्थान के १७ वें अध्यायमें कहे हुए लक्षणों) इनकी पक्षता या अपक्षता निश्चिन करना चाहिए ॥१॥

वधिष्ठानविशेषेण लिङ्गं श्रष्टु विशेषतः ॥१९॥

(आभ्यन्तरविद्धियों के) विशिष्टान्वयन के अनुमार ग्रामस्प से लक्षण श्रवण कर ॥१९॥

द्वि वातनिरोधस्तु वस्तौ कुच्छालपमूत्रता ।

अथां हिक्का नथाऽटोपः कुक्तौ मारुतकोपनम् ॥२०॥

त्र्यपृष्ठव्रहस्तीवो चक्षुर्खणोत्थे तु विद्धौ ।

क्योः पार्वसङ्कोचः झीङ्गचुच्छासावरोधनम् ॥२१॥

चर्वाह्नप्रव्रहस्तीवो हृदि शूलश्च दारणः ।

वासो ग्रह्यति त्रपणाच पिपासा क्लोमजे उद्धिका ॥२२॥

(अन्तर्विद्धि) गुदा में हो तो (मल और) वात का निरोध होता है; वस्ति में हो तो मूत्र कष्ट से, थोड़ा थोड़ा (और गंदगा) निकलता है; नाभि में हो तो हिचकी तथा उत्पर्सद्वाम होता है; कुक्षि में हो तो वायु का प्रकोप होता है; वक्षज्ञानों में विद्धि हो तो कमर और पीठ में सख्त जकड़न होती है; वृक्कों में हो तो पार्श्व में संकोच पैदा होता है; झींहा में हो तो सांस लेने में रुकावट होती है; हृदय में हो तो मर्मवारीर में संतत जकड़न और हृदय में तीव्रश्ल होता है; यकृत में हो तो धातु और प्यास होती है; क्लोम में हो तो अधिक प्यास होती है ॥२०-२२॥

* ग्रामपक्षीयाश्य

बक्तव्य—धरकसंहिता में इन विद्धियों के कुछ अधिक लक्षण मिलते हैं—रस्तिजायां कुच्छपूतिमूत्रवर्चरत्व; कुम्भायां कृषिपार्वनिरासशूल, वंशगजायां सविषसादः; वृक्षजायां पृष्ठांतिग्राहः; तथा प्रधानमर्मजायां (एत्यजायां) विद्धयां हृददृनतमक्षमोक्षक्षमामाः; श्रीमायां पिपासा मुत्तिरागलयहाः ॥ (धरक, सूत्र, अ. १७) । हाराणचन्द्र की सुश्रुतसंहिता में 'वृक्षयोः' के बदले 'उष्णयोः' ऐसा पाठभेद है; और उष्ण का अर्थ हृदयावरण दिया है—उष्णो नाम दे हृदयावरणे ।

आमो वा यदि वा पक्षो महान् वा यदि वेतरः ।

सर्वो मर्मोन्थितश्यापि विद्धिः कष्ट उच्यते ॥२३॥

नामेरुपरिज्ञाः पक्षा, यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः ।

जीवत्यधो निःस्तुतेषु स्तुतेषूर्व्यं न जीवति ॥२४॥

हृत्ताभिवस्तिवर्ज्यर्या ये तेषु भिन्नेषु चायतः ।

जीवेत् कदाचित् पुरुषो नेतरेषु कदाचन ॥२५॥

(साम्यासाम्यता—) कष्टाहो या पका हो, वहा हो या द्वैषा हो, मर्मस्थान में उत्पन्न हुआ प्रत्येक विद्धि कष्टसाम्य होता है ॥२३॥ नाभि से ऊपर के विद्धियों पक्षने पर ऊपर को (मुख से बाहर) गमन करते (फिरते) हैं । अन्य नीच को (गुदद्वार से बाहर) आते (फिरते) हैं । तीव्रे को फिरते वाले विद्धियों में मनुष्य चक्षता है; ऊपर को फिरते वाले विद्धियों में मनुष्य नहीं चक्षता ॥२४॥ हृदय, नाभि और वस्ति के अतिरिक्त अन्तर्विद्धियों बाहर को फूटने पर कदाचित् मनुष्य जीवित रह सकता है; हृतर (हृदय, नाभि और वस्ति के विद्धियों बाहर फूटने पर भी कदाचित् जीवित नहीं रह सकता ॥२५॥

बक्तव्य—नामेरुपरिज्ञाः—झींहगुदांमुक्षिहृदयजाः । इते—गुदवित्तिवृक्षवृद्धग्नजाः । यानि—रक्तपूर्यादिरूप से बाहर आते हैं । नाभि का विद्धि सुख और गुद दोनों मांगों से भरता है—रक्तप्रभित्ताऽर्थजासु सुखात् स्वावः लक्षिति, अपोजासु युदात्, उभयनग्नु नाभिजासु । (चरक) । ऊर्ध्वं प्रभिन्नेषु मुखान्तराणां प्रवर्तनेऽस्तुकमप्तिनोऽपि पूर्वः । अथः प्रभिन्नेषु च पायुमार्द द्राभ्यां प्रवृत्तितिवद् नाभिनेषु ॥ (हारीन) । भिन्नेषु चायतः—वैयन्यापाणीं सिंवेषु, अन्ये म्यगंगव भिन्नेष्विनि ल्याचक्षने । (मधुकोशव्यास्या) ।

खीणामपप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः ।

दाहज्वरकरो धोरो जायते रक्तविद्धिः ॥२६॥

अपि सम्यक् प्रजातानामस्तुक् कायादनिःसृतम् ।

रक्तजं विद्धिं कुर्यात् कुक्तौ मक्कलसंशितम् ।

सप्ताहान्नोपशान्तश्चेत्तोऽसौ संप्रपञ्चयते ॥२७॥

(आभ्यन्तर रक्तजविद्धि—) अकाल में प्रसूत हुई खियों को तथा (योग्य समय पर) प्रसूत हुई खियों को कुपथ्य करने से दाह और ज्वर करने वाला भयंकर रक्तजविद्धि हो जाता है ॥२६॥ योग्य रीति से प्रसूत हुई खियों को भी शरीर (गर्भाशय) से न निकला हुआ रक्त कुक्षि (गर्भाशय) में मक्कलसंश्वक रक्तजविद्धि उत्पन्न करता है, वह यदि सात दिनों में पाता न हो तो निकला हुआ रक्त कुक्षि

यक्षय—इन स्टोकों में प्रसूत छिंदों का जो रक्त विद्रुषि बर्थन किया है वह आधुनिक पाण्डास्य परिजागा में तिमको Puerperal endometritis, Putrid endometritis कहते हैं वह, विकार हो सकता है।

विशेषमथ वद्यामि स्पष्टं विद्रुषिगुल्मयोः ॥२८॥
तुल्यदोपसमुत्थानाद् विद्रुषेरुदमकस्य च ।
कसान्न पच्यते गुल्मो विद्रुषिः पाकप्रेति च ॥२९॥
(गुल्मविद्रुषिमेद—) अब विद्रुषि और गुल्म का भेद स्पष्टतया कहता है ॥२८॥ समान दोरों से उत्पन्न हुए विद्रुषि और गुल्म में से गुल्म दोरों नहीं पकता और विद्रुषि दोरों पकता है ॥२९॥

न निवन्धोऽस्ति गुल्मानां विद्रुषिः सनिवन्धनः ।
गुल्माकाराः स्वयं दोषा विद्रुषिमासशोणिते ॥३०॥
विवरानुचरो ग्रन्थिरस्तु शुद्धुदको यथा ।
एवंप्रकारो गुल्मस्तु तसात्पाकं न गच्छति ॥३१॥
मांसशोणितवाहुल्यात् पाक गच्छति विद्रुषिः ।
मांसशोणितहीनत्वाहुस्मः पाकं न गच्छति ॥३२॥
गुल्मस्तिष्ठति दोषे स्वे विद्रुषिमासशोणिते ।
विद्रुषिः पच्यते तस्माहुल्मश्चापि न पच्यते ॥३३॥

गुल्मों के लिये बन्धन नहीं होता, विद्रुषि के लिये बन्धन होता है। (गुल्म में गुल्मोत्पादक) दोष स्वयं गाँठ के आकार के बनते हैं, (विद्रुषि में) मास और शोणित (स्वयं) विद्रुषि बनते हैं ॥३०॥ जैसे जनन्य अवकाश में विचरण करने वाला प्रथियुद्धुद है, वैसे ही (कोष्टक अवकाश में विचरण करने वाला प्रथिय) गुल्म होता है। इसलिये नहीं पकता ॥३१॥ मास और रक्त की प्रथिकता के कारण विद्रुषि पकता है, मास शोणित से विरहित होने के कारण गुल्म नहीं पकता ॥३२॥ गुल्म शोणे दोरों में स्थित होता है; विद्रुषि मास और रक्त में स्थित होता है। इसलिये विद्रुषि पकता है और गुल्म नहीं पकता ॥३३॥

यक्षय—(१) निवन्ध—निवित्य रथ्येऽनेनि निवन्ध । गुल्म अर्थात् मास रक्तादि हृष्ट । गुल्म के लिये रक्त मासादि का बन्धन न होने के कारण वह 'सचारी' अर्थात् स्थानान्तर करने वाला होता है। विद्रुषि के लिये रक्तमासादि हृष्ट का बन्धन होने के कारण वह एक स्थान, में निवन्ध होता है। गुल्म और विद्रुषि का यह प्रथम भेद है। (२) गुल्माकारा हृष्टादि—गुल्म दोषो रक्त गुल्माकारा मरणि, विद्रुषा तु मांसाणित विद्रुषिमेत इति वोजना । गुटबाल में जैसी वायु परिप्रिहित होकर कुटबाल के आकार की तथा स्फीतलम्ब होती है, ठीक उसी तरह गुल्म में वायु स्वयं स्वयं परिप्रिहित होकर गुल्म के आकार की ओर स्फीतलम्ब होती है—स्फीतलम्ब परिप्रिहितस्तात् गुल्मो वायोत्पत्तिः नाम । (चरक) । विद्रुषि में विद्रुषि का आकार मांसशोणित के कारण बनता है। गुल्म और विद्रुषि का यह तीनीय भेद है। (३) रथ्यमरणे गुल्मात्—यक्षय विवरानुचरो ग्रन्थिरुदरो मरणि, तथा कोहे अन्तर्विहरणमुद्देश्यमित्यो भ्रातीति दीक्षा । प्रस्त्रि से पहाँ केवल गोप

आकार की वस्तु, इतना ही माध्यरण अर्थ अभिप्रेत है। जैव वायु से जल के अवकाश में गोलाकार बुल्लुता बनता है, ठीक उसी तरह वायु से ही कोहे के अवकाश में गोलाकार गुल्म बनत है। गुल्मापति का यह विवर या अवकाश वीष्टम् महाकान में होता है—म (वायु) प्रदुषितो महाकानेऽनुप्रविश्य अवस्थान करने ॥ (चरक, निदान) । अर्थात् यानि न बद्धार्थं पक्षाश्च विकाशकारे वा यत्ति न्यन्तव्यं परमद्वया वा ॥ (चरक विकिसा ५) । इस तरह गुल्म अवकाश (यानि रिक्तस्थान) में उत्पन्न होता है और विद्रुषि रक्तमास के स्थान में उत्पन्न होता है, यह तीनीय भेद है। (४) पाक न गच्छने—रारीं पाक में पाक उत्पन्न होने के लिये पाकजनक (पाकव) और पाक होने वाले (पाक्य) दोनों की आवश्यकता होती है। वायुवैदिक विहितविवान की एटि में वातादि दोष पाक्य प्रथम और मोमरक्तादि दूष्य पाक होते हैं—तस्मात् मरणान् परिप्रक के पवनि शीक्षित्य एव दोषः ॥ (सूत्रस्थान, अ १७) । विद्रुषि में पाकव और पाक्य दोनों का संयोग होता है, इसलिये पाकोत्पत्ति होती है। गुल्म में पैचल वातदोष परि प्रिहित होकर होता है, पाक्य द्वयों का अभाव होता है, इसलिये पाक नहीं हो सकता—तत् वातान्तरम् सत्रो गुल्म जापते ॥ तत् एव असून्दर्यं पूर्वत्वमिति सत्रिं गुल्म हस्तन्ते । अतएव वातान्तरम् रस्तुलम्बारण प्रति प्राप्तायम् । तस्मात्तद्वयं पाका ननुत्पत्ति ॥ (धर्मण्डित्त) । गुल्म में पाक नहीं होता और विद्रुषि में होता है, यह चतुर्थ भेद है। इस प्रकार सुश्रुतमता, उसार गुल्म की विहृति का विचार करने पर पाण्डास्य परिभाषा में सहीप से उम्मीद Gaseous tumour और विलार से Abdominal tumour due to distension of a part of intestines with gas कह सकते हैं । चरकमहिता में गुल्म के लिये विद्रुषि की भाँति पक्षापक्तावस्था, उपनाद, गृहणके इत्यादि सब घार्तों का वर्णन किया है—गुरु उठिन सम्बन्धीय गृहणात्मितारथम् । अविवर्णं विद्रुषैव वायो गुल्म उच्चने पदाद्याद्याप्तिमश्चोपस्थानारातिज्ञेन ॥ (गुल्मप्रतिक्रितिं) । यसन्तु यहाँ गुल्म शब्द का प्रयोग विद्रुषि के बढ़ने किया गया है, वरोकि पकने वाला गुल्म कृत्याद्युपरिग्रह, हृतमल तथा रक्तमासाप्रथी है। इसलिये सुश्रुत और चरक के विद्रुषमें कोहे विरोध नहीं होता—गुल्म न पक्षने निरावक्तावत् । वया तु वर्णाद्याद्याप्त मायानिकमात्रादेवि, वायोरसमानवै कृत्येतदिग्भिर्वा रक्तदुष्टिप्रिहिति तदा पक्ष्यमानो विद्रुषिमित्तक विविलसामीति । तम्हद्विती पक्ष्यते, गुल्म न पक्षने इति मिदाना निरप्याद ॥ (मुखोक्त अवधारा) । इ इत्याद्युपरिग्रह गुल्मय रात्र उच्चने । वया अवधाराद्युपरिग्रह म न पक्षन इत्याप्यनुभवत् । यस्य इत्यन्तु परिविहारा पक्ष्यते इति उच्चने सर्व विविलसामीति जातव इति सदामवेग तिक्ष्णाद ॥ (चरकायित्त) । इसलिये जहाँ जहाँ गुल्माक का उत्तेव आता है, वही वही गुल्म विद्रुषि के बावर समकाना आहिये ।

हृष्टमिवस्तियः पक्षे यन्यो यद्य विद्रुषैव ।
(धर्मायाःविद्रुषि—) हृष्ट, भावि और अन्ति इन्द्रा एव मालापूर्वि और सांकिष्ठातिक विद्रुषि (धर्मायाः होता है) ।

वक्तव्य—विद्रधि की असाध्यता के संबंध में अष्टांग-
में लिखा है—पौ हत्याभिवस्तिसो भिन्नोऽन्तर्वहिरव वा ।
न्तःप्रिवन् वक्तावात् क्षीणभ्योपदवान्वितः ॥

थ मज्जपरीपाको घोरः समुपजायते ॥३४॥
१५स्थिमांसनिरोधेन द्वारं न लभते यदा ।
तः स व्याधिना तेन ज्वलनेनेव दद्यते ॥३५॥
स्थिमज्जोष्मणा तेन शीर्यते दद्यमानवत् ।
कारः शल्यभूतोऽयं क्लेशयेदातुरं चिरम् ॥३६॥
थास्य कर्मणा व्याधिद्वारं तु लभते यदा ।
तो मेदःप्रभं स्तिग्धं शुक्लं शीतमथो गुरु ॥३७॥
१६१स्थिनिःस्थिनिःस्थिनिःस्थिनिःस्थिनिःस्थिनिः ।
द्रधि शास्त्रकुशलाः सर्वदोपरुजावहम् ॥३८॥

इति उत्तुनसहितार्थानि निदानस्थाने विद्रधिनिदान
नाम नवमोऽध्यायः ॥६॥

(अस्थिगत विद्रधि—) (कभी कभी अस्थिके विद्रधि
मज्जा का भयंकर परिपाक उत्पन्न होता है ॥३४॥ जब
परिपाक अस्थि और मांस के अवरोध से (बाहर आने
हेते) द्वारा नहीं पाता तब उस व्याधि से (पीड़ित)
मनुष्य अस्थि की तरह दाह से पीड़ित होता है ॥३५॥
अस्थिमज्जा के उम दाह से जलती हुई चीज की भाँति
नष्ट भी हो जाता है । यह शल्यभूत (मज्जपरिपाक का)
थेअधिक काल तक रोगी को पीड़ा देता है ॥३६॥ और
(प्राकृत या शब्द) कर्म से अस्थि भिन्न होने पर
के मज्जपरिपाक को (बाहर आने के लिये) द्वारा मिलता
व उससे मेद के समान, चिकना, सुफेद, ठंडा और भारी
द निकलता है । इसे शल्यशास्त्रकुशल वैद्य अस्थिगत
धि जानते हैं । १ यह सर्वदोपयुक्त और सर्व प्रकार की
१ से युक्त होता है ॥३७,३८॥

वक्तव्य—रीरेते दण्डमानवत्—मन्द अभि में रक्खी हुई
। जिस तरह धीरे धीरे जलकर नष्ट होती है, उसी तरह
व्याधि की विषहृष्ट उण्णता (Toxaemia) से रोगी
घुल कर मर जाता है । कर्मणा अस्थि भिन्न—पूर्व कर्म से
१ आप से आप या वैद्य के द्वारा चीरा लगाने. पर ।
यगत विद्रधि—अस्थिमज्जाविद्रधि । इसको Infective
boneyleitis कहते हैं । तीव्रता के अनुसार इसके तीव्र
acute) और मन्द (Subacute) ऐसे दो भेद होते हैं ।
एक भयंकर स्वरूप का रोग है जो अधिकतर वाल्यावस्था
इच्छा करता है । मेदःप्रभ—रक्तमज्जा के समान Like red
10 marrow ।

मास्करार्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामामुवेंद्रहस्यदीपिकायां
भासादीकायां निदानस्थाने विद्रधिनिदान नाम नवमोऽध्यायः ॥६॥

दृश्यमोऽध्यायः ।

अथातो विसर्पनाडीस्तनरोगनिदानं व्यास्या-
पामः । यथोद्योत्तं भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से विसर्प, नाडी और स्तन रोग हनके निदान
का व्यास्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि से
किया ॥१॥

त्वचांसशोणितगताः कुपितास्तु दोषाः
सर्वज्ञसारिरिमिहास्थितमात्मलिङ्गम् ।

कुर्वन्ति विस्तृतमनुन्नतमाशु शोफं
तं सर्वतो विसरणात्वं विसर्पमाहुः ॥२॥

त्वचा (त्वचाश्रित लसिका), मांस और रक्त में प्राप्त
हुए (बातादि) कुपित दोष सर्व शरीर में फैलने वाला,
उत्पत्ति के स्थान में (अधिक देर तक) स्थित न होने वाला,
(बातादि दोषों के) अपने लक्षणों से युक्त, विस्तृत और
कुछ कुछ ऊपर को उठा हुआ शोथ शीघ्रता से उत्पन्न करते
हैं । चारों ओर फैलने के कारण उसे विसर्प कहते हैं ॥२॥

वक्तव्य—त्वक्—त्वक् से त्वचा तथा त्वचाश्रित लसिका
का भी ग्रहण करना उचित है, क्योंकि विसर्पोत्पत्ति में दूध
और दोष मिलकर सात धातु भाग लेते हैं—रक्त लसिका त्वचा-
मांस दूध, दोषायों मला । विसर्पणां समुत्तरौ विशेषाः सप्त धातवः ॥
(चरक) । सर्वांगसारी—(विहिन्तरूप्यतो वाऽवयवशः) सर्वमङ्ग-
सर्तु शीलमस्येति । वहिन्त्रिः अतिश्वान्तस्तथा चोभयसंश्रितः । विसर्पों,
बलमेतां शेयं गुरु यथोत्तरम् ॥(चरक) । हृदयावरणा, कुम्कुला-
वरणा, फुफ्फुस, मस्तिष्कावरणा, रक्त दृव्यादि शरीर के अन्त-
र्गतों में घुसकर हन अंगों को दूषित करने की प्रवृत्ति विसर्प
में होती है । जब ये अंग दूषित होते हैं, तब रोग असाध्य हो
जाता है । कभी कभी विसर्प में शरीर के सब वाले त्वचा पर
फैलने की प्रवृत्ति दिखाई देती है । इस प्रकार के विसर्प को Erysipelas migrans कहते हैं । इहास्थितम्—विसर्प की
एक विशेषता यह होती है कि प्रथम पीड़ित स्थान से जब
शोथ चारों ओर के स्वस्थ स्थान पर आक्रमण करता है तब
प्रथम पीड़ित स्थान का शोथ चला जाता है; इसलिये लिखा
है ‘हह (उत्पत्तिस्थाने) अस्थितम् (अस्थिरम्)’ ।
अनुशत—विद्रधि, ग्रंथि, गुलम इत्यादि विकारों में जैसा शोथ
घुहत ऊपर को उठा हुआ होता है, वैसा इसमें नहीं होता ।
विसरणात्वं—चारों ओर फैलने के त्वचाव के कारण उसको
विसर्प कहते हैं—विनिधं सर्पति यतो विसर्पतेन संशितः । परिसर्पो-
धया नाशा सर्वतः परिसर्पता ॥(चरक) । कुछ के भी विसर्प
और परिसर्प ऐसे हो भेद हैं; परन्तु उनका इस विसर्प से
कोई संबंध नहीं है । विसर्प को परिसिपेलस (Erysipelas)
कहते हैं । त्वचा में विसर्पजनक मालाकार (Streptococcus
Erysipelatis) जीवाणु प्रविष्ट होने से यह रोग उत्पन्न
होता है । यही जीवाणु इसका प्रधान कारण है । त्वचा में
जात होने पर इस जीवाणु का शरीर में प्रवेश होता है । कली
कभी जात अति सूक्ष्म क्षत में से भी शरीर में प्रवेश
कर सकते हैं । व्यवहार में इस दृष्टि से विसर्प के दो प्रकार
किये गये हैं—(१) जिसमें जात का पता न हो उसे ग्रासुर्दे
के अनुसार दोषज और पाशात्य परिमाण में Idiopathic

कहते हैं। (२) जिसमें क्षत का पता लग जाय, उसे क्षतजनया Traumatic कहते हैं। यह रोग बाल्यावस्था में तथा चालीस साल की आयु के बाद, शूद्रोग, यकृत् रोग, मध्याति-सेवन इन कारणों से दुर्बल हुए लोगों में, सील श्वान में, गद मकानों में और खराप हड्डा में रहने वाले लोगों में अधिक होता है। मसूरिका, आविक जर इत्यादि रोगों में उपचाव के तीन पर भी होता है। एक बार होने से बार बार होने की प्रवृत्ति इसमें होती है। खचा में प्रविष्ट होने पर जीवाणु वहाँ पलते हैं और रसायनियों के द्वारा प्रेरणास्थान के चारों ओर फैलते हैं, जिससे श्वानिक गोष्ठ, रक्तिमा, जलन इत्यादि लादन होते हैं। कुछ लोगाणु तथा उनका विष रक्त में प्रविष्ट होकर जरादि सार्वदैक लक्षण उत्पन्न करता है। इस तरह पाकाश्य संसापिसि के अनुमार भी विसर्प में 'रक्त दम्पिका त्वद् मासि' दृष्टि हो जाते हैं। इस लोक के प्रथम पाद में विसर्प की स्थानिक वर्णन की है; द्वितीय और तृतीय पाद में विसर्प के सापारण लक्षण वर्णन किये हैं, और अन्तिम पाद में विसर्प शब्द की विविहिक बतलाई है। अब इसके आगे दोष-प्राप्तान्य के अनुमार विसर्प के स्थान वर्णन किये जाते हैं—

**यातात्मकोऽसितमस्तुः परुषोऽङ्गमर्द-
संमेद्दतोऽप्यवनन्वरलङ्घयुक्तः ॥**

गण्डैर्यदा तु विषमैरतिदूषितत्वा-

द्युकः स पथ कथितः खलु वर्जनीयः ॥३॥

(पातविसर्प—) क्षतज विसर्प इवामल, मृदु और सुरक्षा होता है; धूरा में धीमा, समेद (एक प्रकार की शरीरपीड़ा), तोड़ तथा धातव्र इन लक्षणों से युक्त होता है। परन्तु जब (रक्तदि दूष) अवान्त दृष्टि होने में विस्फोट्युक होता है, तब ल्यागने योग्य है॥३॥

पित्तात्मको द्रुतगतिर्जरदाहपाक-

स्फोटप्रभेदयुक्तः क्षतजप्रकाशः ।

दोषप्रवृद्धिद्वात्मांससिरो यदा स्थाप्ते ॥४॥

(पित्तविसर्प—) क्षतज विसर्प शीघ्र पैलने वाला, द्वादा, शर, पाद विविष्ट प्रकार की कुमिलियों से युक्त और रक्तवर्ण होता है; दीर्घ अव्यायन प्रकृतिन होने से भाव लगा सिराएँ गलवाह जब यह अंतर्नामयण (हृत्याकृ) कीचर के समान हो जाय तब असाध्य होता होता है॥४॥

द्रुतगतिर्जरदाहपाकः सरणि मन्दमर्माश्रिताः ।

जिराधः सितभ्यप्युत्पदयुग्मकेष्टुः ।

(कफविसर्प—) कफ विसर्प मरदता से पैलने वाला, द्वार से मिटने वाला, विष, सुरुद्ध सूजन का, धोरी मेदना 'कुक धीर तीव्रकाह' मुक्त होता है।

सर्वात्मकलिपिपथ्यरुद्धजोऽथगाढः (दं)

पर्होम न निष्यति य मांससिराप्रलायांगम् ॥५॥

(सारिपतित विसर्प—) क्रिंदाच विसर्प शीतों प्रकार (के दोरों) के कर्ण और (तीव्रों दर्तों की) धीमा इन्हों

१. द्रुतगतिर्जरदाहपाक २. मांससिराप्रलाय.

युक्त तथा गमीर होता है। और पक होने पर मांस तथा मिराओं का नाश होने से असाध्य हो जाता है॥५॥

सद्यःक्षतवण्यमुपेत्य नरस्य पित्तं ।

रक्तं च दोषवहुलस्य करोति शोफम् ।

इयावं सलोहितमतिज्वरदाहपाकं ।

स्फोटैः कुलत्यसदौरसितैश्च कीर्णम् ॥६॥

(क्षतजविर्मार—) अतिवेष्युक्त मरुत्य के रक्त और पित्त घोट के माने धाव में प्राप्त होकर कालापन लिये रक्तवर्ण का, तीव्रजवर दाह और वाक इनमें युक्त तथा कुलधी के समान काली कुमिलियों में भरा हुआ गोथ उत्पन्न करते हैं॥६॥

धृतव्य—सप्त क्षतवण्यमुपेत्य—क्षतज विसर्प आधात में धाव हो जाने पर, गद्धिकिया करने पर, स्त्री प्रसूत होने पर, यातक का नाभिनाईडीडेशन करने पर, मसूरिका का टीका लगाने पर ही सकता है। चरक में क्षतज विसर्प का स्वतन्त्र निर्देश नहीं है—प्रति विसर्प इति वातपित्तकर्मप्रिकर्मप्रित्तिप्रित्तिपातात्या । (मृद्गम्भान) : परन्तु उम्बके निदान में हात का स्पष्ट निर्देश किया गया है—मत्ताद्वानदिवास्प्रामाणीर्णाच्यानात् क्षतात् । वधवधवननात्प्रामाणनवक्षनात् ॥ (विकिस्तास्थान) । पाकाश्य वैयक में स्व विसर्प क्षतज ही मानते हैं । चरक के अभिविसर्प, ग्रयिविर्मर्प और र्द्दमविसर्प सुखुत में स्वतन्त्र स्पष्ट से नहीं मिलते—अभिविसर्पाभ्यां प्रव्याप्तयः कर्तवान् । यथु कर्तव्यो धोर म पित्तहस्तभर ॥ (चरक, विसर्पचिकित्सा) । अभिविसर्प—वातपित्त प्रकृतिनमित्याप्त स्वरूपमि । परत्यर क्षतव्य ददृष्टात् विसर्पति ॥ तदुपत्यापादातुर मर्यादीर्यमार्गीत्विर्माणम् मन्येः । अभिविसर्पकारण रसाटोर्चायेन । (चरक) । इस प्रकार के लक्षण कभी कभी विसर्प में भी दिखाई देते हैं—It looks red, feels hot and the superficial layer of the epidermis may be lifted as small blebs—Osler's Practice of Medicine यथुपा इसी का निर्देश 'गण्डैर्यदा तु विषमे' इत्यादि से क्षतज विसर्प में सुखुत न किया है । इसलिये क्षतज विसर्प में इसका समावेश होगा । कर्दमविसर्प—नीमीरापक प्रायाभासा शूद्र किंडीडीर्येन । पद्मप्रसारीनामश वदक्षानुभिराग्नः । तापग्नी च बीमार्प कर्दमाय मुहानि तत् ॥ (अर्द्गम्भेष्ट) । यथु खचा के स्थाप उपचावा का भी नीमीरापक होता है, तब यह अवस्था दम्पत्त होती है । इसमें दृष्टिन भाग की खचा भीर उपचावा गत जाती है । इस प्रकार के विसर्प को मैल्यूली वृद्यैनिध्य एसिटिनेलम् (Cellulo cutaneous erysipelas) कहते हैं । यथुपा इसी का ही दोषेवं 'दोषप्रवृद्धितमासमिर्यो' इत्यादि से यिन विसर्प में किया गया है । इसलिये इनका समावेश विसर्पमय में होगा । अभिविसर्प—दृष्टिवा तु दीप्तिशुल्कात्मकनाम दीर्यी तुन्ते मार्ग मरण । नीमीरापक । (अर्द्गम्भेष्ट) । इसमें शरीर पर दृष्टुल सी गाढ़ विकल आती है । इसलिये यह दृष्टि विसर्प कहलाना है । विसर्प में भी कभी कभी गाढ़ विकलही है—Abscesses may form under the skin or the tense skin may slough and induration

arely suppuration, of the lymphatic glands ensue. Taylor's Practice of Medicine चक्षुदत्त और श्रीकण्ठ लिखते हैं कि यही ग्रंथिविसर्प सुश्रुता में 'अपची' नाम से वर्णित किया है—अय च ग्रंथिः सुश्रुतेऽपनीसजया पठ्यते । (मधुकोशव्याख्या) । परन्तु के लक्षणों का विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि दोनों में ग्रंथियाद के अतिरिक्त और कुछ भी समता नहीं है । उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि चरक और भट्ट में ग्रामेयादि विसर्प के जो तीन स्वतन्त्र ग्रकार दिये गए विसर्प में कभी कभी जो विशेष लक्षण या उपद्रव उत्पन्न होते हैं उनकी इष्टि से किये गये हैं ।

सिद्धन्तिं घातकफृप्तिकृता विसर्पः

सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति ।

पैत्तानिलावपि च दर्शितपूर्वलिङ्गो

सर्वे च मर्मसु भवन्ति हि कृच्छ्रसाध्याः ॥७॥

(साध्यासाध्यता—) घातज, कफज और पित्तज विसर्प साध्य होते हैं । सज्जिपातज, क्षतज और (गण्डीया तु विषयैः, स्त्रीतोजकर्दमनिमो) इन पूर्वनिर्दिष्ट लक्षणों से युक्त घातज तथा पित्तज असाध्य होते हैं । मर्मस्थानों में (उत्पन्न) हुए) सब विसर्प कृच्छ्रसाध्य होते हैं ॥७॥

वक्तव्य—चरक में विसर्प की साध्यासाध्यता—वहि-मर्मांश्वित साध्यमासाध्यमया अतिम् । विसर्प दागण विद्यात् सुकृच्छ अन्तराश्रयम् ॥ यस्य सर्वाणि लिंगानि वलवद्यस्य कारणम् । यस्य चोपद्रवाः कष्ट मर्मणो यथा हन्ति मः ॥ मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis), अन्तर्हृदयावरणशोथ (Endocarditis), गीवाण्मयता (Septicaemia) इत्यादि 'कष्ट उपद्रव' होने पर रोग असाध्य होता है । इसके अतिरिक्त बाल्यावस्था के प्रारंभ में, दुष्टापेर में, ग्रावर्खोरों में यह रोग असाध्य होता है ।

नाडीनिदान

शोफं न पक्षमिति पक्षमुपेक्षते यो

यो चा ब्रणं प्रचुरपूर्यमसाधुवृत्तः ।

अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्थं तस्य

स्थानानि पूर्वचिह्नितानि ततः स पूर्यः ॥८॥

तस्यातिमात्रगमनाद् गतिरित्यतश्च

नाडीच यद्वहति तेन मता तु नाडी ।

दोषैखिभिर्भवति स्ता पृथगेकशश्च

संमूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्ततोऽन्या ॥९॥

अनुचित कर्म करने वाला (वैद्य जब) अपक समझ कर (किसी रोगी के) पक्ष शोफ की अथवा काफी मवाद से भरे धण की उपेक्षा करता है तब वह पूर्य उस रोगी के पूर्वोक्त स्थानों को विदीर्ण करके भीतर प्रवेश करता है ॥८॥ उस पूर्य के अधिक भीतर गमन करने के कारण (वह ब्रण) गति (कहलाता है) और नाली की तरह बहता रहता है, इसलिये नाडी कहलाता है ॥९॥

वक्तव्य—असाधुवृत्तः—अनुचित कर्म करने वाला । अवस्था के अनुसार योग्य चिकित्सा न करने वाला, जैसे कि पहले आमपक्षपर्णीय अध्याय में वर्णित किया है—यस्तिष्कावरणमन्तराश्रयमयाद्यश्च पक्षमुपेक्षते । श्वपचाविव मन्तव्यो तावनिश्चितकारिणोः ॥ डलहणाचार्य हसका अर्थ 'अहिताहाराचाराः' करते हैं, परन्तु यह अर्थ यहाँ अयोग्य है । पूर्वचिह्नितानि—ब्रणासाधाविज्ञानीय अध्याय के हितीय सूत्र में वर्णित किये हुए त्वगादि अष्टस्थान । गतिरित्यतश्च—अतश्च तस्य पूर्यस्यातिमात्रगमनाद्वितिरिति 'इत्यते' इति योजना । माधवनिदान में 'तस्यातिमात्रगमनाद्वितिरिते तु' ऐसा स्पष्ट पाठ है । 'गति' नाड़ी का पर्याय शब्द है । नाडीच—अन्तःशुपिरलतादिनाडीचत् ॥ (मधुकोशव्याख्या) । ९ वें श्लोक के पूर्वार्थ में गति और नाड़ी की निरुक्ति, वर्णन की गई है । नाड़ी की उत्पत्ति के संबंध में पीछे सूत्रस्थान के आमपक्षपर्णीय अध्याय में १०९ पृष्ठ पर कुछ विवरण किया गया है । नाड़ी को साग्रनस (Situs) या फिस्चुला (Fistula) कहते हैं । पाश्चात्य परिभाषा दोनों में भी कुछ भेद करती है । जिस नाड़ी का एक सुख वाला त्वचा पर खलता है और दूसरा सुख पाकस्थान से संबंध रखता है, वह नाड़ी 'सायनस' कहलाती है । दो पाकस्थानों को मिलाने वाली नाड़ी को भी 'सायनस' ही कहते हैं । दो आशयों को या आशय और वाला त्वचा को मिलाने वाली सहज या जन्मोत्तर (Congenital or acquired) नाड़ी को फिस्च्युला कहते हैं । जैसे—भगन्दर, बस्ति और योनि को मिलाने वाली नाड़ी (Vesico-vaginal fistula), बस्ति मलाशयनाड़ी (Recto-vesical fistula) इत्यादि । ये नाड़ी वरण निश्च कारणों से बने रहते हैं या जलदी नहीं भरते—(१) सूत्र, रेशम, तांत, तार, हड्डी इत्यादि के ढुकड़े पाकस्थान में शेष रहने से । (२) सूत्र, तेजावी पूर्य, मल इत्यादि का स्नाव ब्रण से होने से । (३) पूर्य का निःशेष निर्हरण न होने से (पृष्ठ २३ पर 'निराश्रय' की टीका देखो) । (४) जिस अंग में ब्रण हो उसको विश्राम न मिलने से । (५) ब्रण में क्षय की विकृति होने से । (६) वाला त्वचा के सेल ब्रणमुख के भीतर उत्पन्न होने से । (७) रोगी के दुर्बल होने से । (८) ब्रण के आस पास तांतवधातु (Fibrous tissue) की अधिकता होने से ।

तत्रानिलात्परुपसूक्ष्ममुखी सशूला

फेनानुचिद्धमधिकं स्ववति क्षपायाम् ।

तदत्तापतोदसदनज्वरमेदहेतुः

पीतं स्ववत्यधिकमुष्पणमहःसु पित्तात् ॥१०॥

(वत्त और पित्त नाड़ी—) उनमें वात से नाड़ी सुरदरी, थोट मुख की और शूलयुक्त होती है तथा रात्रि को केनमिथ्र स्नाव अधिक स्वती है । पित्त से नाड़ी तृप्या, जलन, पीड़ा, अंगग्लानि, ज्वर और भेदन हनझा होते होकर दिन को भीला और गरम स्नाव अधिक स्वती है ॥१०॥

क्षेया कफाद्वृद्धनर्जुनपित्तिलुलास्त्रा

पात्रिच्छति स्तिमितरुक्तिनि स्कण्डः ।

दोषद्वयमिहितलक्षणदर्शनेन

तिक्ष्णो गतीर्ध्यतिकारप्रभवास्तु विद्यात् ॥१॥

(कफज और हृदय नाड़ी) कफ से नाड़ी अधिक गाहा सुनेद लक्षण आवाही, रात्रि को स्वने वाली, मन्द-बेदामायुक, कठिन और कण्ठयुक होती है । दो दोषों के उक्त संक्षण प्रकट होने से संर्माजन्य (वातकर्कज, वातपित्त और पित्तकर्क ऐसी) सीन प्रकार की नाड़ी होती है ॥१॥

यत्कथ्य—अन्न—अनाश्रयम्। स्थावराची विद्य एव ॥
(इत्यग्निः ॥

दाहज्वरश्वसनमूर्ख्यनवक्रशोपा

यस्यां भवन्त्यमिहितानि च लक्षणानि ।

तामादिशेत् पवनपित्तकफप्रकोपा-

द्वोरामसुख्यकरीमिव कालरात्रिम् ॥२॥

(संक्षिप्तात नाड़ी) जितमें दाह, ज्वर, सौंस, मुँह की सुखी तथा (वातादि तीनों दोषों के) उक्त संक्षण होते हैं उसको कालरात्रि के समान प्राणों का नाश करने वाली भवेष्यत्र प्रिदोष के प्रकोप से उत्पन्न हुई नाड़ी समझो ॥२॥

नएं कथंचिदेषुमार्गमुदीरितेषु

स्थानेषु श्वलयमविरेण गतिं करोति ।

सा केनिलं मधितमच्छमस्युमिधि-

मुण्डं स्वेत सहस्रा सरुजा च नित्यम् ॥३॥

(शब्दज नाड़ी) उक्त (त्वचादि) स्थानों में किसी तरह से अद्यत हुआ सूक्ष्म श्वल अव्यक्ताल में नाड़ी उत्पन्न करता है । वह नाड़ी अकस्मात् भागदार, बिलोये हुए तक के समान सान्द्र, स्वच्छ, रक्तमिथित श्वाव अवाही और हेत्रा पीड़ायुक होती है ॥३॥

स्तनरोगनिधन

यायत्यो गतयो यैश्च कारणैः संभवन्ति हि ।

तायन्तः स्तनरोगाः स्युः रुदीणां तैरेव हेतुभिः ॥४॥

जिन जिन कारणों से जितनी प्रकार की नाडियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें ही प्रकार के स्तनरोग कियों को उन्हीं उन्हीं कारणों से होते हैं ॥४॥

धमन्यः संवृतद्वयः कन्यामां स्तनसंधिताः ।

दोषायिषस्तरणात्तासां न भवन्ति स्तनामयाः ॥५॥

कन्याओं के स्थानों के साथ संबंध रखने वाली धमनियाँ (क्षम्यकावस्था में) संकुचित होती हैं । (इसलिये) दोषों का प्रयोग न होने से उनके स्थानों में रोग नहीं होते ॥५॥

यत्कथ्य—कन्या—असंवृतद्वयाभी यी । विवाह के पूर्व तथा विवाह के पश्चात् प्रथम गर्भपारदा होने के समय तक की अवस्था । धमन्य—उत्पवह स्त्रीला मा दुष्प्रवर्तिनी नाड़ी । परक में लिखा है—लोतानि निरामन्त्रो रसवाहिनी नाड़ी ॥ (विमान, अध्याय, ५) । स्तनरोग की विकिसा में लिखा है—के च दुष्प्रवर्तिनी परिहय नाड़ी ॥ (विकिसा, अ. १०) । आधु-

निक गारीकर्यविज्ञान से भी यह रिद दुष्प्रा है कि कन्य कावस्था में स्तनसंधित दुष्पवह घोतम संकुचित तथा है रहते हैं । दोषावितरणात्—संकुचित या बंद स्थान में दोषों का प्रवेग तथा बंचाव न होने से ।

तासामैय ग्रजातानां गर्भिणीनां च ताः पुनः ।

स्वभावादेव विद्युता जायन्ते संभवन्त्यतः ॥६॥

उन्हीं प्रसूत और गर्भवती कियों की नल की दुष्प्रवर्तिनी नाडियाँ फिर आपसे आए विस्तृत होती हैं; इसलिये नल रोग हो जाते हैं ॥६॥

यत्कथ्य—स्वभावादेव—गर्भाशय और स्थानों में घनिय संबंध रहता है । गर्भाशय में गर्भापान होने पर गर्भ धीरे पीरे बढ़ने लगता है । जन्म के पश्चात् उसका पोषण करने वाले स्थान भी उसके साथ साथ बढ़ने लगते हैं, उनमें रक्त का संचाला अधिक होता है, दुष्प्रवर्तियाँ सूखती हैं, उनकी संख्यावृद्धि भी होती है और दुष्प्रवर्तिनी नाडियाँ दिसती होती हैं । यह परिवर्तन कैसे होता है, इस विषय पर गर्भी तक कोई ठीक निर्णय नहीं हुआ । शाखाशूलों की यह रोग है कि गर्भाशय से या गर्भ से या धीक्रमिय (Ovary) से एक ऐसा रासायनिक पदार्थ बनता है जो रक्तदारा स्थानों में पहुँच बर उपर्युक्त परिवर्तन करता है । यदि यह मत ठीक हो तो यह कहना पेंदा कि गर्भाशयरोग होने के पश्चात् उस विषय पदार्थ की उत्पत्ति 'स्वभावादेव' हुआ करती है । सभवन्त्यत—'स्तनरोग' इति शेषः ।

स्तनरोग—स्तनविद्यु (Mammary abscess) या स्तनकोप (Mastitis या Inflammation of the breasts)—स्तनरोगाद्येन स्तनकोप इति प्रसिद्धो रोग उत्पत्ते । (मुकुोवस्थाल्या) । यह रोग प्रायः प्रसूत और गर्भवती कियों में होता है; परन्तु क्षिर नवजात बालकों में भी होता है । इसका कारण पूर्वजनक जीवाणु (पृष्ठ १०३ देखो) हैं, जो मनाम के दरारों में से भीतर पहुँचते हैं । इसको आयु-विद्युक परिभासा में क्षत्रज विद्युति कह सकते हैं । स्तनरोग की उत्पत्ति में स्तन्य से भी कुछ सहायता होती है, इसलिये अब धीरे के संबंध में जिज्ञात है—

रसप्रसादो मधुरः पक्षाहारनिमित्तजः ।

कृत्यादेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते ॥७॥

(स्तन्य की उत्पत्ति—) अच्छी तरह से परिवर्तित दुष्प्रा आहार विस्तार कारण है ऐसे रस से उत्पन्न हुआ रस का प्रसूत और मधुर भाग समस्त श्वीर से स्तनों में प्राप्त होने पर स्तन्य कहलाता है ॥७॥

यत्कथ्य—पक्षाहारनिमित्त—पक्षाहारी निमित्तमस्तेति वक्ता हारनियितो स्तनस्तमाजाता । स्तन्य—स्तने मत यत् ॥ इस सूक्त का तात्पर्य यह है कि पंचमूलात्मक या पद्मासामक आहार का परिवार होने पर जो सेजीमूल सार पानि रस उत्पन्न होता है, वही रस धमनियों द्वारा स्तनों में प्राप्त होते के पक्षाहार स्तनों के दुष्प्रवर्तिनीक विषिष्ट सेलों से संलकरित होने के

यह दुध में परिवर्तित होने पर नन्य कहलाता है । इधांत ये 'आहाररसयोनि' है ।

वेशस्तेष्वपि गावेषु यथा शुक्रं न दद्यते ।

र्वदेहाधितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥१८॥

सर्वशरीरव्यापी होने के कारण (शरीर में विशिष्ट) अंगों विच्छेद करने पर भी जैसे शुक्र विस्तार हो गई देता, ऐसे ही) शुक्र के लक्षण का नन्य कहलाता है ॥१९॥

बक्तव्य—सर्वशरीरव्यापी गाना गया है—यथा परमि सर्वस्तु गुरुत्वेषुर्ते यथा । तेषु तथा शुक्र नृणां निशायिपन्नः ॥ (सुकृत, शारीर) । इसी पर्यावरण में देव शुक्र संस्थर्णते तथा ॥ चरक) । इस विषय का विस्तृत विवरण सूक्ष्मस्थान में पृष्ठ पर किया गया है । शुक्रलक्षणम्—'नन्यमुच्यते' इन शेष : ।

तदेव चेष्टयुतेऽर्द्धनात् स्मरणादपि ।

शब्दसंश्वरणात् स्पर्शात् संदृश्य ग्रवत्तरते ॥२०॥

सुप्रसन्नं मनस्तत्र दूर्घणे हेतुरुच्यते ।

आहाररसयोनित्वादेवं स्तन्यमपि स्त्रियाः ॥२०॥

तदेवापत्यसंस्पर्शाद् दर्शनात् स्मरणादपि ।

ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत्संग्रवत्तरते ।

अंहो निरन्तरस्तत्र प्रसन्नते हेतुरुच्यते ॥२१॥

वही शुक्र (जो आहार रस रूप योनि ने उत्पन्न होने के कारण सर्वशरीरव्यापी है) प्रिय स्त्री के दर्शन से, स्मरण ते, शब्द सुनने से (और) साथ मैथुन करने से (जो) ईर्ष्य (उत्पन्न होता है उस) से (सर्वशरीरव्यापित्व को छोड़कर एक देश में यानि शुक्राण्य में प्राप्त दीकर शिक्ष मे) बाहर निकलता है ॥१६॥ उस समय ईर्ष्य होने में प्रसन्न गत ही कारण कहलाता है । ऐसे ही आहाररस से उत्पन्न होने के कारण स्त्रियों का स्तन्य भी (सर्वशरीरव्यापी होता) है ॥२०॥ वही स्तन्य वालक के स्पर्श से, दर्शन से, स्मरण से और (स्तनपान के समय उसको) ग्रहण करने से शुक्र की भाँति (सर्वशरीर को छोड़कर एक देश में यानि स्त्री में प्राप्त होकर चूक्षक से) बाहर निकलता है । उस समय स्तन्य का त्वाव होने में भालता का निरन्तर लोह ही कारण कहलाता है ॥२१॥

बक्तव्य—ईर्ष्य—तत्त्वसुख या आनन्द शुक्रप्रवर्तन का यह एक कारण है—हृष्टपत्तात् सरत्वाच्च पैचिट्याद्वौरावादपि । अणुप्रवणभावाच्च द्रुतवान्मालतस्य च ॥ वायाम्य पस्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात् प्रसिद्यने ॥ (चरक) । इष्टयुवतिदर्शनादि हृष्टपत्ति के चतुर्विध बाय वारण हैं; और मन की प्रसन्नता आन्तरिक कारण है । क्योंकि मनःपुरःसर इन्द्रियां अर्थ ग्रहण करने में समर्थ होती हैं; और जब अर्थों का ठीक ठीक ग्रहण होता है तब सुख दुर्लभादि भाव उत्पन्न होते हैं । तत्र—स्त्रीप्रसंग के समय या वालक ग्रहण के समय । निरन्तर—चाहे वालक छूरू हो या सुरु हो, गुरु हो या अवगुरु हो, व्यंग हो या अव्यंग हो, किसी भी अवस्था में जिस प्रेम में फक्क नहीं पड़ता । माता का वालक के प्रति प्रेम हमेशा इसी प्रकार का

होता है—कुपुओं जायेत फचिदपि कुमाता न भवति । इन शोकों में सर्वशरीरव्यापी शुक्र तथा स्तन्य सर्व शरीर को छोड़कर एक देश में यानि शुक्राण्य तथा स्त्री में प्राप्त होकर कैसे बाहर लायता है, उसकी युक्ति (Mechanism) वर्णन की है । पुरुष मन प्रसन्न इरुकर जब स्त्री के साथ मैथुन करने लगता है तब उसे एक विशेष प्रकार का हर्ष या आनन्द प्राप्त होता है । उस हर्ष से मन्त्रित और सुपुज्ञा में स्थित केन्द्र उत्तेजित होकर जननेन्द्रिय की ओर रक्त का प्रवाह बढ़ जाता है । यिथे में रक्तप्रवाह बढ़ जाने से वह लम्बा और मोटा होता है और अण्डों की ओर रक्तप्रवाह बढ़ने से अण्डग्रन्थियां शुक्र पैदा करने लगती हैं और उत्पन्न हुआ शुक्र शुक्राण्य में इकट्ठा हो जाता है । जब यिथे और योनि की रगड़ से उत्पन्न हुआ हर्ष परमोद्ध कोटि तक पहुँचता है तब शुक्राण्य को सहुचित करने वाला सुपुज्ञास्त्रित केन्द्र उत्तेजित होकर शुक्र बढ़ देग के साथ फक्का जाता है और वह यिथे के द्वारा से बाहर निकलता है । जब माता प्रेम से वालक को देखती है या स्तनपान के लिये उसको गोद में ग्रहण करती है, तब उसके स्त्री में और रक्त का प्रवाह बढ़कर शुक्र की भाँति उनमें भी दुर्घ बनने लगता है, और वालक उसको चूस लेता है । कभी कभी अतिवात्स्त्व के कारण वालक को देखते ही माता के स्तन से आप से आप दूध टपकने लगता है—दर्दरा राजा जननीमिव स्वां गमयतः प्रस्त्रियां न सिंहम् । (रुद्धवंश) । उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि स्वाभाविक तौर पर मरीर में शुक्र और स्तन्य की उत्पत्ति सर्वावस्था में और सर्वदा नहीं हुआ करती है, परन्तु आवश्यकता के समय दूर्घणों और स्त्री में सर्वशरीरव्यापी रस अधिक मात्रा में पहुँचने से उसी से उनकी उत्पत्ति हुआ करती है । आयुर्वेद में केवल दृष्टि से स्तन्य और शुक्र दोनों भी 'आहाररसयोनि' और 'सर्वशरीराधारी' कहलाते हैं ।

तत् कपायं भवेद्वातात् क्षिंसं च शुवतेऽम्भसि ।

पित्ताद्मलं सकटुकं राज्योऽम्भसि च पीतिकाः ॥२२॥

कफाद्वनं पिच्छुलं च जले चाप्यवसीदति ।

सर्वैष्टुपैः सर्वलिङ्गमभिधाताच्च दुष्यति ॥२३॥

(दोषदुष्ट स्तन्य के लक्षण—) स्त्री का दुर्घ वायु से कैसेला होता है और पानी में (ढालने से ऊपर ही) तैरता है । पित्त से कड़वापन लिये खाला होता है और पानी में (ढालने से) पीली रेखाएँ उत्पन्न होती हैं ॥२२॥ कफ से स्तन्य गाढ़ा और लसदार होता है, तथा जल में दूब जाता है । सब दोषों से दृष्टि होने पर उपर्युक्त सब लक्षणों से युक्त होता है । (पतन, प्रहार इत्यादि शारीरिक और चिकित्सा, शोक, क्रोध इत्यादि मानसिक) अभिधातों से भी स्तन्य दूषित होता है ॥२३॥

यत् क्षीरसुदके त्रिसमेकीभवति पाण्डुरम् ।

मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तद्विनिर्दिशेत् ॥२४॥

(निर्देष स्तन्य लक्षण—) जो दूध पानी में ढालने से उसके साथ एकरूप हो जाता है, सुफेद है, मधुर है, जिसके वर्ण में फक्क नहीं हुआ है, वह निर्देष समकक्ष आहिये ॥२४॥

सक्षीरो वाऽप्यदुग्धौ या प्राप्य दोषः स्तनौ लियाः ।
रक्तं मांसं च सन्दूष्य स्तनरोगाय कल्पते ॥२५॥

(स्तनरोगसंप्राप्ति) दुग्धयुक्त या जिना दुग्ध के ली
के स्तनों में प्राप्त होकर रक्त तथा मांस को दूषित कर दोष
स्तनरोग उत्पन्न करता है ॥२५॥

यक्तदृश—सक्षीरो वाऽप्यदुग्धौ या—दृश इक्कहा हुआ हो
या न हुआ हो, दुग्धोत्पादन का सामर्थ्य जिनमें होता है ऐसे
स्तनों में प्राप्त होकर ।

पञ्चानामपि तेषां तु दित्या शोणितविद्युतिम् ।

लक्षणानि समानानि वायविद्युतिलक्षणः ॥२६॥

शति मुकुमहितायां निदानस्थाने विसर्पनरीतनरोगनिदान

नाम दशमोऽन्याय ॥१०॥

एव विद्युतिको द्वितीय अन्य वायविद्युतिके लक्षणानि के
समान हन पर्याय (प्रकार के) स्तनरोगों के लक्षण होते
हैं ॥२६॥

शति भास्तरामरणा गोविन्दात्मजेन विरचितायग्राम्युचेन्द्रस्त्रीपिण्डायाः
मुकुमाचारीकाया निदानस्थाने विसर्पनादीननरोगनिदान
नाम दशमोऽन्याय ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः ।

अथातो ग्रन्थ्यपच्युदगलगण्डानां निदानं
ध्यात्यास्यामः । यथोवाय भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से ग्रन्थि, अपर्याय, अर्दुद और गलगण्ड इनके
निदान का अन्यायान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि
ने किया ॥१॥

यातादयो मांसमसृच दुष्टाः

सन्दूष्य मेदध्य कफालुविद्यम् ।

घृतोभृतं विग्रहितं तु शोषे

कुर्वन्त्पत्तो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः ॥२॥

(ग्रन्थि) मटुद हुए यातादि दोष मांस और रक्त तथा
कफसंतुक्त मेद इनको दूषित करके गोलाकार, ढंगा, गाठ
के समान (मर्यादित) गोप्य करते हैं, इत्यलिपे (यह रोग)
ग्रन्थि कहलाता है ॥२॥

यक्तदृश—जेत्य—चकारात् भिरातो ग्रन्थोऽपि यातः ।
(इष्टहण) । माधवनिदान में जेत्य तथा निराशः ऐसा घाट
है । कफानिदित—कफसंस्तुक्तम् । ग्रन्थि यातज, पित्तज, कफज,
मेशोभिति और सिराज ऐसे पर्याय प्रकार के हैं । विग्रहित—
विहस्या ग्रन्थिनामुग्नात् । ग्रन्थि—यहाँ ग्रन्थि का ऐसे वर्णन
दिया है, उसको देखकर ग्रन्थि एक छोटी गोल परिमित आकार
की द्रव्यार्थी गाठ मालूम होती है । उसके बारे भ्रोकोग

(Capulo) भी होता है । यद्योक्ति चाकसहित में उप पर
गोल से भीता लगाकर कोण के साथ उसको निकालने के
लिये सिलाई है—विग्रह योग्य विहस्य करके रखें तब उसका
ग्रन्थिविकल्प । (ग्रोप्यविहितिम्) । इस वर्ष्ण का विचार
करने से ग्रन्थि को सिस्ट (Cyst) कह सकते हैं—B₃ ॥

cyst is usually meant a more or less rounded cavity with a distinct lining membrane, distended with some fluid or semisolid material. *Roi and Carless Stages*

अथवयते व्यव्ययते एति तोदं

प्रत्यस्यते कृत्यत एति भेदम् ।

कृष्णोऽमृदुर्धस्तिविद्यातनश्च

भित्तः स्ववेद्यानिलजोऽव्यमच्छम् ॥३॥

(यातप्रथि) वातज ग्रन्थि आयाम, ध्वथा, सौंदर्य
विवृत्य, लेन और भेद हनको प्राप्त होता है, कृत्यव्यय
कठिन, मरक के समान तना हुआ रहता है और फूटने प
स्वच्छ वाव लगता है ॥३॥

यक्तदृश—आयामादि विविध प्रकार की वेदनाएँ हैं
अथवयते—भीतर विवाचट मालूम होता । प्रत्यस्यते—स्त्रीं
के कहीं दूर फैका हुआ सा मालूम पड़ता । व्यव्ययते—काटने
की सी धीढ़ । अवस्था—ताव । उल्लहसाचार्य इसका आ
'हृषिर' करते हैं परन्तु यह दीकं तुर्ही—अल्लं ताव ॥ (मधु
कोव्यायामया) । पीछे भी ज्वालावाक अव्ययवद् का प्रयोग
किया गया है—जैसा कफाद्वुष्णनामुनविच्छाला ॥ (नाई)
आगे के भोक में भी घाव का अर्थ लाव ही है ।

दम्दहाते धृत्यति चांतिमात्रं

पापच्यते प्रज्वलतीय चापि ।

रक्तः सपीतोऽप्यथवाऽपि पित्ताद्

भित्तः स्ववेद्युप्युपर्याप्तिव चाल्यम् ॥४॥

(पित्तप्रथि) पित्त से ग्रन्थि अवस्था, दहन करता है
संताप करता है, पकाता है, जलता हुआ सा रहता है, रग
या पीतवर्ण होता है, और फूटने पर अस्थंत उण लाव
लगता है ॥४॥

शीतीऽविवयणेऽप्यरुजोऽतिकण्ठः

पापाणवत् संहननोपपनः ।

चिराभिवृद्धिभ्य कफप्रकोपाद्

भित्तः स्ववेद्युप्युपर्याप्तिव पूर्यम् ॥५॥

(कफप्रथि) कफक्रोप से ग्रन्थि शीतल, लवचा व
वर्षा का (पा किंचित् वर्षा हुए वर्षा का), अस्प धीड़ापुण,
चापिक कफाद्वुष्ण, वापाण के समान संप्राप्तुक्त (कठिन),
और देर में बाते काला होता है, तपा फूटने पर सुकेद और
गाढ़ा पूर्य लगता है ॥५॥

यक्तदृश—जिवर्ण—प्रहृतिर्ण, विहितर्ण इति विहित
(मधुकोव्यायामया) ।

शरीरवृद्धिद्वयवृद्धिद्वाहनिः

जिवर्णोऽमदात्यवपरुजोऽतिकण्ठः ।

भेदः छतो गच्छति चात्र भित्तः

पिण्याकसर्पिं प्रतिमं सु भेदः ॥६॥

वोषांश्च

मेदोप्रथि—) मेदोप्रथि गरीरवृद्धिक्षय के अनुसार घटने वाला, स्त्रिय, मोटा, अश्वपीड़ायुक्त, भूषिक युक्त होता है तथा फूटने पर तिल की खली तथा घृत गन मेद स्वता है ॥६॥

वक्तव्य—शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिनिः—शरीरस्य वृद्धिक्षयाविव नी यथ म तथा । शरीर में जिस प्रकार घटावदी होती है उस प्रकार की घटावदी जिस ग्रंथि के आकार में होनी है उसका कारण यह है कि ममय समग पर द्रवाव के पड़ने ह पिचक जाती है, जिस समय उसमें से 'पिण्याकर्त्तिः—मेद' निकलता है । उसका मुँह बंद होने पर किर से उसी द्रव्य से भर जाती है । मेदोप्रथि—इसको मेद-रस सिस्ट (Sebaceous Cyst) कहते हैं । व्याचा में श्रीष्ठि (Sweat glands) और मेदपिण्ड (Sebaceous glands) करके दो प्रकार के पिण्ड होते हैं । मेदपिण्ड ही नहीं थैली के समान होते हैं, जिनसे एक मेदमम किनाहदार वस्तु निकलती है, और इसी वस्तु के कारण या चिकनी सी रहती है । जब मेदपिण्ड का मुँह बंद होते हैं, तब चिकनी वस्तु वाहर न निकल कर भीतर ही एकत्र हो जाती है, तब मेदोप्रथि बन जाती है । शरीर के और स्थानों में अपेक्षा मेदपिण्ड चेहरे पर अधिक रहते हैं; इसलिये दोप्रथि भी चेहरे के आस पास अधिक हुआ करती है । शरीर के कारण सुख खुल जाने से भीतर की चिकनाइदार वस्तु निकल जाती है और ग्रंथि आकार में घटती है; किर मुँह बंद होने से पहले के समान वह जाती है । इसलिये ग्रांस में लिखा है—शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिनिः ।

व्यायामजातैरवलस्य तैत्ति-

राज्ञिप्य वायुहि सिराप्रतानम् ।

संपीड्य सङ्कोच्य विशोष्य चापि

ग्रन्थि करोत्युच्चतमाशु वृत्तम् ॥७॥

ग्रन्थिः सिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो

भवेद्यदि स्यात् सरुजश्चलश्च ।

अरुक् स एवाप्यचलो महांश्च

मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः ॥८॥

(सिराज ग्रन्थि—) (वलवृद्धिग्रहादि) विविध व्यायामों कारण (कृपित हुई) निर्वल मनुष्य की वायु रक्तवाहिनियों के जाल को आज्ञेपित करके, संपीड़ित करके, सिक्कोड़ दि और विशोषित कर ऊँचा गोलाकार ग्रन्थि शीघ्र उत्पन्न होती है ॥७॥ वह सिराज ग्रन्थि यदि पीड़ायुक्त हो और सर्पों हो तो कृच्छ्रसाध्य होता है । यदि पीड़ारहित होने पर भी सिर मोटा, और मर्मस्थान में हुआ हो तो असाध्य होता है ॥८॥

वक्तव्य—सिराज ग्रन्थि—इसको अन्तरिक्षम (Aneurism) कहते हैं । यह विकृति रक्तवाहिनियों के एक हिस्से का प्रोत्तो विस्फार या अपूर्ण विस्फार होने से होती है । पूर्ण विस्फार होने पर Fusiform और अपूर्ण विस्फार होने पर

! स एवाविक्रमः ।

Succulated aneurism कहते हैं । आयुर्वैदिक कल्पना के अनुसार पाश्चात्य वैद्यक में व्यायामाधिक्य (Heavy strain or exertion) इसकी उत्पत्ति का एक कारण माना जाता है । रक्तवाहिनियों की दीवार की कमजोरी भी एक कारण होता है—यत्र भग्नः वैकेषुण्याद् व्याप्तिस्त्रीप्रायत । जब तक उसमें रक्त का वहन होता रहता है, तब तक ग्रंथि में स्फुरण (Pulsations or Thrill) होता है—स्फुरणः निरागिः । (चरक) । जब भीतर रक्त जम जाता है तब स्फुरण प्रतीत नहीं होता—रक्तस्य वहनाभावाच्योपयित्वा । (इत्यु) । इसको निस्फुर ग्रन्थि (Consolidated aneurism) कहते हैं । पाश्चात्य वैद्यक में भिराज ग्रन्थि के तीन भेद किये हैं—१ धमनिजग्रन्थि, २ धमनिसिराज (Arterio-venous) ग्रन्थि, और ३ आघातजग्य (Trammatik) ग्रन्थि । भिराज ग्रन्थि में गैंठीली सिराओं (Vericose veins) का भी समावेश करना चाहिये । चरकसंहिता में 'मांसग्रन्थि' ग्रन्थिक है—यत्रिंहामांसभवः । अष्टांगसंग्रह में ग्रन्थि के नीं भेद बनलाये हैं—त्रोपामृद्मांसमेद्यग्रन्थिसिराजाभवा नव । (उत्तर. अ ३४) । इनमें से निश्च चार भेद सुश्रुत में नहीं हैं । (१) मांसग्रन्थि—मांसवैर्द्धित मांसमाहौर्यग्रन्थिमावहेत् । लिंगम महान्तं कठिन मिरानाद कफाङ्गुनिम् ॥ (२) रक्तग्रन्थि—दौर्युर्धुष्टसुजि ग्रन्थिर्भेदमूर्धृष्टसु जंतुपु । सिरामांस च संश्लित्य मः स्वापः पित्तलक्षणः ॥ (३) अस्थिग्रन्थि—अस्थिभग्निभावाताभ्यामुक्तावत्तं तु यत् । सोऽस्थिग्रन्थि ॥ (४) ब्राग्यथि—अरुदे स्तम्भे वा ब्रणे मर्वरसाशिनः । मांद्रे वा वधरहिते गावेऽद्यमाभिहेत्यवा ॥ वातामस्तुतुं दुष्टं मंगोल्य ग्रन्थित्रयम् । कुर्यात् सदाहः कण्डमान ब्रणग्रन्थिरयं स्मृतः ॥ (उत्तर-तन्त्र, अ. ३४) । इनमें से रक्तग्रन्थि और मांसग्रन्थि का उल्था अप्रेजी में करना कठिन है । अस्थिग्रन्थि बहुधा Fibrous union या Vicious union of bone हो सकता है; और ब्रणग्रन्थि False or Alibert's keloid हो सकता है । इस तरह ग्रन्थि में अनेक विकारों का समावेश ग्रथनधर्म की समानता पर किया गया है—स ग्रन्थिग्रन्थिनात् सृतः ॥ (श्रद्धांगसंग्रह) ।

अपच्यनिदान

द्वन्द्वस्थिकक्षक्षक्षाहुसन्धिः-

मन्त्यागलेषूपचितं तु भेदः ।

ग्रन्थिं स्थिरं वृत्तमथायतं वा

स्थिरं कफश्चालपहृज करोति ॥९॥

तं ग्रन्थिभिस्त्वामलकास्थिमात्रे-

मर्त्याण्डजालप्रतिमैस्तथाऽन्यैः ।

अनन्यवर्णैरुपच्चीयमानं

चय्यप्रकर्षद्वपचर्चीं वदन्ति ॥१०॥

करहुयुतास्तेऽलपसजः प्रभिन्नाः

स्ववन्ति नशयन्ति भवन्ति चान्ये ।

भेदःकफाभ्यां स्वलु रोग एष

सुदुस्तरो वर्षगणालुवन्धी ॥११॥

हन्त्याणि, कक्षा, अक्षक, बाहुसन्धि, मन्या और गला इन स्थानों में इकड़ा हुआ कफ और भेद स्थिर, गोल वा

दीर्घ, मुद्रु और अल्प पीड़ायुक्त मैथि ट्रांश करता है ॥६॥ अर्द्धने की शुद्धी के समान, जलस्थित मद्धती के अग्नों में समान (या ऐर की शुद्धी के समान) अन्य गौटीं से न्यू परिवर्तित होने पर उस मैथि की संवेदी की पराकाष्ठा होने से अवधी कहते हैं ॥१०॥ खोड़युक्त और अल्पयुक्त दोनों वाली वह मैथियाँ कूटकर बहने लगती हैं, (कुछ) नष्ट हो जाती हैं और इन्ह नह बनती हैं। (इस तरह) में कफ से उत्पन्न हुआ यह भद्रकर रोग साल बना रहता है ॥१॥

धूतस्थय—अपवी—इसको Chronic tuberculous lymphadenitis या Scrofula कहते हैं। यह विकार वास्तव्य और दीवान अवश्यका में अधिक होता है। इस रोग का प्राचारण राजवदेश का जीवायु नहीं, जो वायु से या खाद्य पेय पदार्थों से शरीर में प्रविष्ट होता है। यदि खमरा, कुकुर खांसी, विषमज्वर, कालाअज्ञात, फिरंग इत्यादि विकारों से, या मध्य तथा अन्य नशीली दीर्घों से, या गुजारन महात्मा और बलियों में रहने से या आवश्यकतानुसार स्वास्थ्यवर्धक खाद्य न मिलने से या अति भैयुनादि अन्य दैर्घ्यस्तनक कारणों से मनुष्य की प्राणयाकृति घट गई हो तो ये धूरे धूरे शरीर में शराना कहने जाते हैं और महीनों या सालों पीछे अपना असर दिखाते हैं। स्थानवैयुप्य के अनुसार कुकुरु, लसिका ईथि, आन्द्र इत्यादि विविध नेत्रों में इनका प्रभाव पड़ता है। आयुर्विक सोज से यह सिद्ध हुआ है कि पेशीयाँ और आमायण प्राप्ती को छोड़कर शरीर का कोई भी धातु या अवश्यक इनके आक्रमण से नहीं बच सकता। अपवीं में शरीर की लमिका मैथियाँ (Lymphatic glands) विहृत हो जाती हैं। जिन स्थानों की लमिका मैथियाँ अक्सर विहृत होती हैं, उनके नाम पहले स्तोकीय में दिये हैं, जैसे—इन्वालिं (Submaxillary glands) कक्षा (Axillary glands) अवरक (Supra and infra clavicular glands), बाहुस्थिं (glands in the posterior cervical triangle) मध्या (Deep Cervical glands) और गला (Superficial cervical glands)। इन रोगों के अतिरिक्त वक्षण (Inguinal) की मैथियाँ भी विहृत होती हैं। उसका ड्युले अंडागद्वय में किया गया है, मुकुत में नहीं—मेद्दाना कालमन्दाक्षकावृहाणा गला। (उत्तरस्थान, अ २६)। यह मैथियाँ धूरे धूरे बड़ी हैं, उनमें भवाद पह जाना है, पिछ कूट जाती हैं, नह नह विहृत होती है और इस तरह उनका अनुषय सालों साल जारी रहता है, परन्तु पिछ नहीं छृटा। मैथिक राजवदेश की निष्ठ विशेषताएँ होती हैं—(१) यह विकार सालों साल बना रहता है, पिछ छोड़ता नहीं। इसलिये लिखा है—‘वैराग्यानुवर्ती (Chronic)। (२) जहाँ तक ही स्तो मैथियों में ही मध्यादित होता है। इसलिये लिखा है—‘पिर’। (३) उनमें अपसं में सक्त (Matting together) होने की प्रवृत्ति होती है। इसलिये लिखा है—‘मरणायडनाल्पतिम्। (४) उनमें आप से आप पक्कर पूले की प्रवृत्ति (Suppuration) होती है। इसलिये लिखा है—‘प्रभित्रा जवनि। (५)

उनमें कूटने के बाद आप से आप ठीक हो जाने की कमी कमी प्रवृत्ति (Tendency to spontaneous lancing) होती है। जब केवल गने की मैथियाँ कूली हैं व्यवहार में उसको कठनाताता या गण्डमाला कहते हैं। मैं भी ऐसा ही कहा है—गलत पांच मन्त्राण यह स्थान बुझियु गांठ (गोप्तिकिमित)। रोगी के स्व स्वास्थ्य के अनुसार इसमें घटायी जहर होती है, इसका निर्मलन नहीं होता। इस स्थान की वर्णन कर लिये बास्तवाचार्य ने दूर्वा का जो दृष्टान्त दिया है, वह ही सुन्दर है। जैसे कि हारी भरी दूर्वा पानी न मिल पूर्णतया सूख जाया करती है, परन्तु विना प्रवृत्त के जनए नहीं होती; वैसे ही अपवीं स्वास्थ्य ठीक होने पर ही जाती है, परन्तु जब से नहीं होती—गण्डमालान द्वेष व्यवहारितमाल । (अध्याग्नियद्य, उत्तरस्थान, अ ३ दूर्वाच, हवयुक्तियुक्त द्वारापानवदेशनामाली न अक्षीत (हनु))। दूर्वा पानी मिलने से जिस प्रकार ही भरी अपने भटानों से चारों ओर फैलती है; उसी तरह यह अम्बालस्थरूप पानी मिलने से मैथियों की अपनी मलांघ कर वारी और समान शरीर में फैलता है। इस जैसे ऊपर, कास, अग्रमद्दे इत्यादि राजवदेश के हक्कण होते हैं और विकार असाध्य ही जाता है—पीनमध्य कासवृत्तर्दितुन्वास्तात्य । (चरक)। चन्द्र चं अपवीं का अर्थ अस्थि की गांठ (Osteoma) करते परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है।

अर्द्धद्विनिदान
ग्रान्तप्रदेशे क्षिदेव दोया-

संमूचित्ता मांसमभिप्रदृष्ट्यः
शृंसं स्थिरं मन्दरुजं भद्रान्तं-
मनवपमूलं चिरवृद्धप्रपकम् ।

कुर्वन्ति मांसोपचयं तु शोफं
तदर्दुर्वुदं शास्त्रविदो वदन्ति ॥१३॥

शरीर के किनी प्रदेश में प्रवृद्ध हुए दोष साम की अदृष्टि करके गोलाकार, स्तिर, अल्पीडा देने वाला, और न पकेने ऐसा मांसाल्क्ष्य के रूप में प्रतीत होने वाला योगु उपचर्ण है। आयुर्वेदविद् उस योगु को अर्द्धुद कहते हैं ॥१३॥

धूतस्थय—मांसमधिप्रदृष्ट्य—मांस मेदादि शरीर व्याहुती की दृष्टि करके। मांसोपचय तु शोफम्—मांसोपचय प्रतीयमान शोफम्। अर्द्ध—इसको (Tumour) दृष्ट्य नीओप्लास्म (Neoplasm) कहते हैं।

घातेन पित्तेन कफेन चापि
रकेन मांसेन च मेशसा च ।

तज्जायते तस्य च लक्षणानि ।

प्रव्यये: समानतानि सदा भवन्ति ॥१३॥

बातु से, पित्त से, कफ से, रक्त से, मांस से और मेव अर्द्ध वल्ल द्वारा होता है; और उसके सलए जर्वेश मैथि समान होते हैं ॥१३॥

षः प्रतुषो रुधिरं सिरास्तु
संपीड्य सङ्कोचय गतस्तु पाकम् ।
सावमुश्वति मांसपिण्ड
मांसाद्वृरैरान्तिमाशुद्विद्धिम् ॥१४॥
वत्यजनं रुधिरं प्रदुषं
मसाध्यमेतद्विधिरात्मकं स्यात् ।
कद्योपद्रवपीडितत्वात्

पाण्डुर्भवेदद्विद्वित्तस्तु ॥१५॥

क्रांतिद—) प्रदुष हुआ दोष रक्त और सिराओं को
। और संकुचित कर पाक को प्राप्त हुआ सावयुक्त मांसा-
भरा, धीघवधक मांसपिण्ड को उत्तम करता है ॥१४॥
निरन्तर दृष्टिन रक्त निकलता है । यह रक्तार्द्विद्व असाध्य
। अर्द्विद्व में पीडित रोगी रक्तज्य रूप उपद्रव से पीडित
कारण सुकेद (पीला) पड़ जाता है ॥१५॥

क्रिय—गतस्तु पाकम्—इस पाठ की अपेक्षा माधव-
का 'तत्स्वप्नाकम्' यह पाठभेद अधिक प्रभाग्त है ।
—उत्तरातीत्यन्तर्माणवित्यर्थः । तेन मांसपिण्डमुग्रालयनि उत्तरं
। (मधुकोशव्यालया) ।

मुष्टिप्रद्वारादिभिरदितेऽङ्गे

मांसं प्रदुषं प्रकरोति शोफम् ।

अवेदनं स्त्रिग्रथमनन्यवर्ण-

मपाकमश्मोपमप्रचालयम् ॥१६॥

प्रदुषमांसस्य नरस्य वाढ-

मेतद् भवेद्मांसपरायणस्य ।

मांसार्द्विदं त्वेतदसाध्यमुक्तं

मांसार्द्विद—) मुष्टिप्रहार आदि से पीडित हुए थंग में
दुष होकर अल्पवेदनायुक्त, (सर्पी में) जियथ, त्वचा
। का, न पकने वाला, पापागा के समान कठिन और स्थिर
उपेक्ष करता है ॥१६॥ अत्यंत मांसलोल्प भनुप्य का
दृष्टित होने से मांसार्द्विद होता है । यह असाध्य है—

साध्येष्वपीमानि विवर्जयेत् ॥१७॥

संप्रस्तुतं मर्मणि यज्ञ जातं

स्तोतःसु वा यज्ञ भवेद्चालयम् ।

(असाध्य अर्द्विद—) साध्य अर्द्विदों में हनको त्यागना
ये ॥१७॥ (यथा) ज्ञावयुक्त, मर्मस्थानों में उत्पन्न
अथवा (नासा, महाकोत इत्यादि) स्तोतों में हुआ
स्थिर ।

यज्ञायतेऽन्यत् खलु पूर्वजाते

क्षेयं तदध्यर्द्विदमर्द्विदश्चः ।

यद् द्वन्द्वज्ञातं युगपत् कमाद्वा

द्विर्द्विदं तज्ज भवेद्साध्यम् ॥१८॥

(अर्द्विद और द्विर्द्विद—) पहले अर्द्विद होते हुए भी
अन्य अर्द्विद उत्पन्न हो जाय तो अर्द्विद्व वैष उसे सञ्चमुच्च
१ काष्ठप्रहारादिभिं । २ संजायते यत् ।

वाय्मदुंद समर्थे । एक समय में या आगे पीछे दो उत्पन्न हुए
अर्द्विद द्विर्द्विद होते हैं और वे असाध्य हैं ॥१८॥

न पाकमायान्ति कर्त्ताधिकत्वा-

न्मेदोऽधिकत्वाच्च विशेषतस्तु ।

द्वोषस्थिरत्वाद् अथनाच्च तेषां

सर्वार्द्विदान्येव निसर्गतस्तु ॥१९॥

कार की विशेष करके मेद की अधिकता से, दोषों की
स्थिरता तथा कठिनता से और स्वभाव से सर्व अर्द्विद पाक
को प्राप्त नहीं होते ॥१९॥

वक्तव्य—शरीरस्य धातुओं की पृक्देशीय अतिवृद्धि
के जो अनेक विकार हैं, उनमें गर्दुद एक महत्व का विकार
है । अतिव्यासि, अव्यासि इन दोषों से विरहित अर्द्विद की
व्यालया करना आज भी चहुत कठिन है । परन्तु साधारणतया
इस ग्रन्थ से उसकी व्यालया की गई है—जो शरीरस्य धातु
से ही उत्पन्न हुए नयं धातु का एक ठोस पिण्ड होता है, जो शरीर की किसी विशेष आवश्यकता की पूर्ति करने के
लिये नहीं उत्पन्न होता (अर्थात् जिसकी उत्पत्ति निर्यक होती है), जो वृज के यांदे की तरह शरीर पर पलता है
(अर्थात् शरीरवृद्धित्यनिरपेक्षा जिसकी वृद्धि होती है), जिसके उत्पन्न होने से शरीर को छुट्ट भी लाभ नहीं होता,
वातिक संस्थान का जिस पर कुछ भी नियन्त्रण नहीं होता
तथा जिसका कोई भी नियत अवसान नहीं होता, उसको
अर्द्विद कह सकते हैं । कारण—अर्द्विदेत्पत्ति का वास्तविक कारण
अभी तक पूर्णतया निश्चित नहीं है । विकारी जीवाणु, जन्मो-
तर वालक के शरीर में गर्भावस्था के धातुओं के शेष रहना,
धातुओं की स्वास विकृति इत्यादि कई मत हैं । सहायक
कारणों में कुलज प्रवृत्ति और प्रहार या पीड़न प्रधान कारण
हैं । किसी स्थान का निरन्तर पीड़न होने से अर्द्विद उत्पन्न
हो सकते हैं—मुष्टिप्रहारादिभिरदितेऽङ्गे । ओष्ठ, जिहा, मूत्र
तथा त्वचा के अर्द्विद वहुधा हस्ती प्रकार उत्पन्न होते हैं ।
प्रकार—रोगी के जीवन की दृष्टि से अर्द्विदों के सौम्य या अना-
त्यधिक (जिनके कारण मृत्यु होने का भय नहीं होता)
और धातक या आत्यधिक (जिनके कारण मृत्यु होती है)
ऐसे दो विभाग किये गये हैं । सौम्य अर्द्विद के लक्षण—ये चारों
ओर से मर्यादित अर्थात् कोशयुक्त होते हैं, जिससे छेदन से
उनको अरोप किनाल सकते हैं और पुनर्भवन का ड्र नहीं
रहता । प्रायः एक अर्द्विद होता है, हिर्दुद या अर्धर्द्विद नहीं
होता । चिरवृद्धि अर्थात् धीरे धीरे बढ़ते हैं । बढ़ने पर भी
अल्पपीडा देने वाले (मन्दस्त्रु) होते हैं । परन्तु जब किसी
मर्मस्थान पर दवाव डालते हैं, तब उनसे धातक परिशाम
हो सकते हैं । ये न पकते हैं, न रक्तालाव स्वते हैं, न जीवन
का नाश करते हैं । इनकी सूक्ष्म रक्तना चारों ओर के धातुओं
की रक्तना से प्रायः समान होती है । वायुहृवे श्लोक में जो
अर्द्विद के लक्षण वर्णन किये हैं, वे सौम्य अर्द्विदों के हैं । धातक
अर्द्विदों के लक्षण—ये मर्यादित नहीं होते, चारों ओर के धातुओं
में घृस पड़ते हैं । इस कारण से छेदन करके निकालने पर
भी वे स्वीप होते हैं, और फिर उत्पन्न हो जाते हैं ।

के सर्वध में आगे चिकित्सापाय में लिया है—मोर्फोजी पि दि बोडर्डनि करीति तन्यानु उत्तरादनि । नामारपाणि म्युद्रेतु दलु-स्पेषणि यथा हि बढ़ि ॥ सीम्य अर्द्धांडों की अपेक्षा में तेजी से बहते (आशूरुदि) हैं । इनमें यथा उत्पत्त होकर नक्षत्राव होने की प्रवृत्ति होती है, जिसमें पाण्डु रोग, अब भाद्रादि भास्त्र उत्पत्त हो जाते हैं—ग्राहयोदयप्राप्तित्वान्यु भोर्टर्स्ट्रिटिवन्यु । प्राप्त स्थान के पास या दूरवर्ति अग्नों में द्विरुद्ध या अस्युद (Meiosis और Growth) या Second ary deposits । उत्पत्त करने की इनमें प्रवृत्ति होती है । इस अवस्था में ये त्रसापाय हो जाते हैं—रिंगर तथा भेदेन्द्रण-प्यम् । इसकी भूतम रखना चाहीं और के धातुओं की अपेक्षा दिल्लुल चित्र होती है । नामवरण—शरीर में जा पानु है, सांत अर्द्धांड उन्हीं से बनते हैं और धातु के अनुपार उनका नाम ग्राम जाता है । यथा—भैमार्दु (Myoma), व्याकुर्लु (Papilloma) सेटोर्ड (Lipoma), आयुर्दु का भैमोर्द यही है), अस्युद (Osteoma), नाराश्वयुद (Chondrom), डल्नार्दु (Odontoma), म्येलोर्द (Myeloma), नामर्दु (Neuroma), मासार्दु (Myoma) इत्यादि । धातक अंडे त्वचा, अस्ति, मज्जा हृदाति में होते हैं । पाक्षात्प परिभाषा में उन्हें दो विभाग किये हैं—
(१) सर्वनाम (Maloculis)—इस प्रकार का अर्द्ध अस्थया घरण, अस्ति, मज्जा हृतमें प्राय उत्पत्त होता है और वचन तथा लाकानी में अधिक दिखाई होता है । इसकी धानकता और कैसन की शर्ति में बहुत भिन्नता पाई जाती है । जो माकोमा अस्त तीव्र प्रकार के होते हैं वे गम्भै गम्भै बहते हैं, कठिन होते हैं और उनमें रक्त का संचार भी कम होता है । जो अस्त धातक होते हैं वे तेजी से बहते हैं, मुद्रु होते हैं और उनमें रक्त का संचार अधिक होता है । भीतरी रक्त की न्यूनता-विकास के अनुसार उनका रो इलैके भौत्रे से लेकर गाहे आल तक हो जाता है । शरीर के अस्त अग्नों में द्विरुद्ध की उत्पत्ति रक्तमार्ग से होती है । मार्कमा इन्वेश्य, प्रग्राहादास्ति, प्रको-हृस्ति, उत्तेस्ति, नामास्ति और लमिका प्रथियाँ इनमें अधिक उत्पत्त होता है । (२) क्यान्सर या कॉर्निनोमा (Cancer या Carcinoma)—स्थानत वाढ़ और लैमिक त्वचा में अस्त होते हैं इतना है । होठ, जिल्हा, मुख, अक्षयप्रणाली, जड़, शाखा, मलायथ, छिंदी में गम्भै अग्नों और ज्वर, पुरुषों में ग्रहीताप्रथि (Prostate) और गिर्भ हृतके प्रशान स्थान हैं । सापारालतया यह रोग चालीस वर्ष की वायु के प्रभाव द्वारा होता है । इस अर्द्धे के पृष्ठ पर बहुत से अक्षर उत्पत्त हो जाने हैं, (मांसाकुरीप्रथि) जो कभी कभी छिंदे हुए गोमीं के फूल के समान फैलते हैं । कुछ समय के पश्चात् इसमें यथा बन जाते हैं, जिससे हमेगो न्यूलापिक मात्रा में रक्त बहता रहता (स्वल्पत्वम् निर्धर) है । आप पास की लमिका प्रथियाँ बढ़ जाती हैं, उनमें तथा शरीर के अन्य अग्नों में क्यान्सर उत्पत्त होता है । द्विरुद्ध का प्रसार लमिकाशाहिनियों द्वारा होता है । इसका एक प्रकार अस्त कठिन (अस्मोरम) होता है, उसे रक्कीदास (Scirrhous) कहते हैं । स्थान के क्यान्सर भिन्न भिन्न हृत्य होते हैं । भ्रान्त या मुंह में होने से भोजन नहीं

माया जाता; अप्रगतिर्वादी में होने से भोजन निगला जाता; आमायव में होने से भोजन धूमना नहीं है। ही पॉर्ट के साथ एक निकलना है, आन्त में होने से अन, स्वावरोध इत्यादि ही जाते हैं। क्यानसर में लूपेन्ड्रा भी होती है। रक्षावाद, फेना और क्यान्सर का इन कारणों से रोगी किनारा ही खाये, एह एवं पत्ता न दिन प्रतिदिन रक्षान्तरा और क्षीणना बढ़ती जाती (रक्षायोदयक इन्वार्ट पार्श्वबोर्डेंड्रिनिम)। अत्यं प्रकी अपेक्षा क्यान्सर की उचिति में अतिक्रमीकरण प्रथान कारण माना जाता है (मुटिप्रार्टिविटिट्ड), ही की अग्रन्तु कारण (Intrinsic factor) कहते हीरी की अग्रन्तु प्रकृति को निवारण (Intrinsic factor) मानते हैं। भास्तवर्य की अपेक्षा यूरोप अंग्रेजिक में क्यान्सर अधिक पाया जाता है, दिन प्रतिदिन इसमें पीड़ित होने वालों की संख्या जा रही है। अंग्रेजिक में सबुक सम्पार्नी के सेंजों सबुक वे कारणों में क्यान्सर दूसरे नवर का कारण। यायद यह हो सकता है कि मीमांसा ने इसका उत्तर दी—जन्मद्वयान्सरायित्यः। अधिनिक विहृतिविज्ञान के सार आयुर्वेदिक रक्तार्दुष और मायार्दुष ने सर्वशोषों का नामक्र विचार घर्त तक किया गया है। उसको देखकर रोग क्यान्सर का पूर्वप्रकलिप्तम् (Eupheliomus) नामक प्रकार है यह ही सकता है, और मायार्दुष क्यान्सर क्षीरम् (Sciurithin) नामक प्रकार हो सकता है।

ग्रन्थालय

यात कफथैय गले प्रवृद्धौ
मन्ये तु संसृत्य तधीय मेदः ।
कुर्वन्ति गणेषु क्रमशः स्थिलिङ्गः

समन्वित त गलगण्डमाहुः ॥२०॥
 (गलगण्डनिदान और सप्तासि—) प्रदृढ हृषि
 कह नथा मेंदमग्धा का आधय करके गरे में क्रम से अ-
 लज्जाओं से युक्त (बातज, करत और मेंदांज) गाहड उ-
 करते हैं। उमर्को गलगण्ड कहते हैं ॥२०॥

द्वयलब्ध—**द्वयलब्ध** के करतरों का विवर पीछे है। यानि के द्वयलब्धवित्रि नामक पैनालीसेंड्रे अध्याय के लिए सूचि के बाह्य में २५० तुट पर किया गया है। यहाँ पर्याप्त या अधिक की अपेक्षा में सिंपल गॉवर्टर (Simple governor) कहते हैं। गवर्नर में याराइट्ट (Thyrotell) प्रथम स्थायी अविद्युत होती है। यह प्रथम भीया में डेंटर के तथा दोनों ओर होती है। इनके शंकाकार दो पर्याप्त होते हैं, जो डेंटर के दूसरे और तीसरे छहों के सामने तथा भाग द्वारा एक दूसरे से खुद रहते हैं। इसका अंतिम ३० मार्ग के लगभग होता है। छुलें की अपेक्षा लिंगों यह प्रथम कुद वही होती है, जो मासिक घर्षण और गवर्नर के समय और भी कुछ बढ़ जाया करती है। यह प्रथम इस व्याप्ति के लिये बरभावशक है जो आन्वावस्था में होता है और साथारहतया आडारपिवर्तन का नियन्त्रक कर

अण्डा, प्याज, मूली इत्यादि स्वादपेय द्रव्यों में (Iodine) नामक जो रासायनिक पदार्थ होता इस ग्रंथि का घनिष्ठ मंवंध है। यह ग्रंथि आयोडिन कर उससे थायरोमिसन (Thyroxine) नामक आती है; जो रक्त में मिलकर उपर्युक्त कार्य किया। इसकी कमी से शरीर में मोटापन और वेशी से वा आ जाता है। शरीर के अन्य अंगों की अपेक्षा ग्रंथि अपने द्रव्य की न्यूनाधिकता से अधिक प्रभावी है। जब स्वादपेय द्रव्यों में सैदैव आयोडिन की तीव्री है, अधवा चर्बी की अधिकता, खटिक की अधिकविद्यम की कमी, आन्त्र में जीवाणु की उपस्थिति गरण स्वाद द्रव्यों में योग्य मात्रा में आयोडिन उपर्युक्त पर भी उसका ठीक शोषण नहीं होता तब हम ग्रंथि रोमिसन नामक पदार्थ यथोचित मात्रा में नहीं बनता। सर्व प्रथम असर खुद ग्रंथि के ऊपर होकर वह स्वादी बढ़ा जाती है। इस स्वादी वृद्धि के अतिरिक्त गलगण्ड पर्यन्त लक्षण होते हैं उनका विचार आगे २५ वें श्लोक में किया गया है। क्रमशः—१ बहुत धीरे धीरे—उनेन शैनोरेव वर्धन दर्शयति । (मधुकोश) । २ वात से कफ से कफज और मेद से मेदोज इस क्रम से तीन ग्रा—तोनकफमेदासि पुथक् गलगण्डकारणानि, तेन त्रय एव । पैतिकस्तु न भवत्येव, व्याधिस्वभावात् चारुर्धिकज्वरवत् ॥ वैषम् ।

दोषन्वितः कृष्णसिरावनद्वः:

कृष्णोऽरुणो वा पवनात्मकस्तु ।

दोषन्वितश्वोपचितश्च काला-

द्वैदेवितस्त्रिंश्चयतरोऽरुणश्च ॥२१॥

ग्रहयुक्तश्चिरवृच्छापाको

यद्वच्छ्याया पाकमियात् कदाचित् ।

सरस्यमास्यस्य च तस्य जन्तो-

भवेत् तथा तालुगलप्रशोषः: ॥२२॥

(वातज गलगण्ड) वातज गलगण्ड पीड़ायुक्त, काली तों से भरा हुआ, काला या किंचित् रक्तवर्ण, कुछ समय तक बढ़ने पर मेदयुक्त होने से अनिस्तिर्थ और पीड़ा—॥२१॥ सर्प्य में कर्कश, देर में बदने वाला, पाकरहित, कभी आगन्तु कारणों से पकने वाला होता है। उससे मनुष्य के मुँह में अरुचि होती है तथा तालु और गले की रहती है॥२२॥

वक्तव्य—अरुनश्च——मोड़पि वानगलगण्टो यदा कालाद् कालेन मेदोऽन्तिनो भवति, तदा अरुजो भवतीन्यथः ॥ (डल्हन) । यदु—कारणाप्रतिनियमेन। कारणाप्रतिनियमश्च वाहोऽभिप्रेतः, आतु पाककारण वित् रक्त च नियन्त्रेत् ॥ (मधुकोशव्याख्या) ।

स्थिरः सर्वर्णोऽल्परुगुग्रकरणः:

शीतो महांश्चापि कफात्मकस्तु ।

चिराभिवृद्धिं कुरुते चिराच्च
प्रपञ्चयते मन्दरुजः (जं) कदाचित् ।

माधुर्यमास्यस्य च तस्य जन्तो-

भवेत् तथा तालुगलप्रलेपः: ॥२३॥

(कफज शलगण्ड) कफात्मक गलगण्ड निश्चल, लच्छ के वर्ण का, अल्पपीडायुक्त, अधिक कण्डुयुक्त, शीतल, स्थूल होता है, दीर्घकाल में बढ़ता है, जब पकता है तब अल्पपीड़ा होती है, उस मनुष्य के मुँह में भीठापन होता है तथा गला और तालु कफ से लिस रहते हैं॥२३॥

वक्तव्य—प्रपञ्चयते—कदाचित्यदा प्रपञ्चयते तदा मन्दरुज एव प्रपञ्चयते, पाककाले पीडा न भवतीत्यर्थः ॥ (आतक्षर्दर्पण) । प्रलेप—शेषणा लिस इव ॥ (आतक्षर्दर्पण) ।

स्त्रियो मृदुः पाण्डुरनिष्प्रगन्धो

मेदः कृतो नीरुगथातिकरणः ।

प्रलस्वते उलालुवदलपमूलो

देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्तः ।

स्त्रियास्यता तस्य भवेच्च जन्तो-

गलेऽनु शब्दं कुरुते च नित्यम् ॥२४॥

(मेदोज गलगण्ड) मेदोज गलगण्ड स्त्रिय, मृदु पाण्डुरुगर्ण का, अनिष्टांग का, पीडारहित, अत्यंत कण्डुयुक्त, तोंबी के समान लटकने वाला, मूल में पतला और शरीर के समान घटने बढ़ने वाला होता है। उससे पीड़ित मनुष्य का मुख चिकना होता है, और सैदैव अस्पष्ट शब्द करता है॥२४॥

कृच्छ्रशङ्खसन्तं मृदुसर्वगांत्रं

संवत्सरातीतमरोचकार्तम् ।

क्षीणं च वैद्यो गलगण्डनं तं

भिन्नस्वरं चैव विवर्जयेत् ॥२५॥

(गलगण्ड की असाध्यता—) वडी कठिनाई से सांस लेने वाले, दुर्बल शरीर के, एक वर्ष से अधिक पुराने, अरुचि से पीड़ित, क्षीण और स्वरभेद से पीड़ित गलगण्ड के रोगी को वैद्य ल्याग देवे॥२५॥

वक्तव्य—गलग्रंथि ऐसे स्थान में होती है जहाँ टेंदुवा, अनग्रणाली, रक्तवाहिनियाँ, नाड़ियाँ इत्यादि अनेक महत्व के अंग उपस्थित होते हैं। जब यह ग्रंथि बढ़ती है तब इन अंगों पर दबाव डालती है, जिससे भिन्न भिन्न लक्षण उत्पन्न होते हैं। टेंदुवे पर दबाव पड़ने से वह चपटा होता है या एक तरफ अपसारित होता है और श्वास प्रश्वास में कठिनाई (श्वासकृच्छ्र) हो जाती है। अनग्रणाली दब जाने से निगलने में कठिनाई होती है। स्वरयन्त्र की नाड़ी (Recurrent laryngeal nerve) पर दबाव पड़ने से स्वरभेद, स्वराघात या स्वरपरिवर्तन हो जाता है। रक्तवाहिनियों पर दबाव पड़ने से गले की सिराएँ फूल आती हैं (झण्मिरावनदः), तथा मस्तिष्क के रक्तसंचार में बाधा उपस्थित होकर

चक्र आना तथा अन्य वानिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। रोग पुराना होने पर गलगण्ड घटना नहीं, परन्तु इसमें मृत्यु बहुत कम होती है। क्लिंचि॒ श्वासाव॑रोप, गलगण्ड में रक्त स्राव या धातकना (कैन्सर उत्पन्न होना) से मृत्यु हो सकती है।

निवद्यः श्वयशुर्यस्य मुख्यवल्म्यने गले।

मद्दान् या यदि या हस्ये गलगण्ड तमादिशेत् ॥२६॥

उपि॒ मुकुतसंहितार्था॒ निदानरथाने॒ गलगण्डगण्डमालाप्यत्युद्दे॒

निदान नामैकदसोऽन्याय ॥११॥

(गलगण्ड का साधारण चिह्न—) जिसके गले में मर्यादित हुआ शीय धृषण की भाँति लटकता है, उस (शीय) को, यदा हो या छोटा हो, गलगण्ड घटना घटाहोये ॥२६॥

यक्तव्य—निवद्य—गले में मर्यादित हुआ। गलगण्ड का एक साधारण लक्षण यह भी है कि निगलते समय गलगण्ड ऊपर और नीचे की ओर हिलता है। इस साधारण गलगण्ड के अतिरिक्त विद्युतेश्वर गलगण्ड (Exophthalmic goitre) नामक दूसरा गलगण्ड होता है। इसमें भी मर्यादित है, उसका रस अधिक मात्रा में निकल कर धरीर में सबार करता है जिससे निझ लक्षण उत्पन्न होते हैं। अंडे याहर को निकल आती हैं, पलक बढ़ करना मुश्किल होता है, नीचे देखते यमय ऊपर के पालक धाँसों के साथ नीचे नहीं आते, हृदय की गति १२०-१५० लक तेज हो जाती है; धड़कन हवारी अधिक होती है कि श्रीया की धमनिर्यां दूर से फैलकी हुई दिलाई होती है, हाथ यदुत कोपते हैं, स्वभाव चिट्ठिवाह हो जाता है, यादा भी परिश्रम करने से दस्त कूलता है; धरीर में गति का स्वयं अधिक होने से रोगी दिन प्रति दिन लीज होता जाता है।

इति भास्वरार्थां गोविन्दामदेवेन विरचितायामायुरेश्वरस्तीर्पिकाया॒
मुकुतभावार्थार्था॒ निदानरथाने॒ गलगण्डगण्डमालाप्यत्युद्देनिदान
नामैकदसोऽन्याय ॥११॥

द्वादशोऽन्यायः ।

अथातो वृद्धयुपदशक्तिपदानां निदानं व्यालया॒
म्यामः । यथोदाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से वृद्धि, उपदश और धीपद इनके निदान का व्यालयान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने बिया ॥१॥

वृद्धिनिदानम्

व्यालयान्ते॒ धीपदशक्तिपदानां निदानं व्यालया॒
म्यामः । तासां भूदाम्निमित्ते॒ वृद्धी व्यालयसुन्ध्ये॒
केवलमुत्पत्तिहेतुरन्यतमः ॥२॥

वात, वित्त, कफ, रक्त, मेद, और जात्रा इनके कारण वृद्धिर्थी वात (प्रकार की होती) हैं। इनमें से मूत्रवद और जात्रावृद्धि वापु से ही होती है, वेष्टन रक्षण का हेतु (वाहाकारण) भी होता है ॥२॥

अथ. प्रकुपितोऽन्यतमो हि दोषः फलकोशा॒
द्विनीरभिप्रपथ धमनीः फलकोपयोद्युर्द्धि॒ जनये॒
तां वृद्धिमित्याचक्षते ॥३॥

(उदारुहा के) निचले हिस्से में कुपित हुआ॒
देष्ट वृषणकोशवाहिनी धमनी में प्राप्त होकर वृप्तम्
को मोटा करता है, उसे वृद्धि कहते हैं ॥३॥

घक्कट्य—अन्यतो दोष—वायु—कृदा॒ रुदनि॒
रोक्ताल्करश्वरन् । (श्वासगमग्रह)। फलवेशी—प्रदाह॒
उसके कोशा की । ३

चक्रवैहित में वृद्धि ।

उसके पाँच भेद ।
प्रविनेनुद्धुकृदा॒ शूरै॒ मेदमा॒ चेत्॒ लिङ्ग च विचात्॒ कठि॒
शोषम् ॥ (चिकित्सा अ १२) ।

तासां भविध्यतीनां पूर्वरूपाणि॒ चस्तिकटीमु॒
मेद्रेषु॒ वेदना॒ मारुतनिग्रहः॒ फलकोशशोषक्षेत्रिति॒ ॥

(वृद्धि के सामान्य पूर्वरूप—) उन होने वाली वृद्धि
में पूर्वरूप (ये होते हैं)—धूलि, कमर, वृषण, गिरि॒
वीदा, अपेक्षायुक्ता का निरोप और वृषण में सूजन ॥४॥

तथानिलपरिपूर्णे॒ चस्तिमियाततां॒ पद्धताम॒
मिच्चानिलरुजं॒ वातवृद्धिमाचक्षते॒; पकोहुम्बर॒
झाशी॒ ज्वरदाहोध्मवर्ती॒ चाशुसमुत्थानपाकां॒ पि॒
वृद्धिम्; कठिनामल्पवेदनां॒ शीतां॒ कण्ठमर्ती॒ ल्लै॒
वृद्धिम् ॥५॥

(वानज, वित्तज और कफज वृद्धि—) उनमें से वृ
द्धि भी मासक की तरह कूपी हुई, तुरदी, वित्त का
पीड़ा होने वाली वृद्धि को वातज कहते हैं । पकोहुम्बर
समान (धूंगी की), ज्वर दाह और उच्छाता इनसे वृ
द्धि ही उठने वाली और पकोहुम्बर वृद्धि की वित्त वृ
द्धि है । कठिन, अल्पवेदना॒ 'युक्त, शीतल और कण्ठमुक्त
को करत कहते हैं ॥५॥

यत्कल्प—वातवृद्धि दोषान्वय वृद्धि वृद्धा॒ इष्टप्रकृ॒
(Orchitis) के शीत (फूलाल) वृद्धाला॒ (Chloris)
इष्टादि॒ प्रकार है ।

कृष्णस्फोटावृद्धां॒ पिचृद्धिलिङ्गो॒ रक्तवृद्धिम्
मृदुवृद्धिर्थां॒ करहमतीमल्पवेदनां॒ तालफलप्रकार
मेदोवृद्धिम् ॥६॥

(रक्त और मेदोवृद्धि—) काली कुमिली से॒
पित्तवृद्धि के लक्षणों से पुल वृद्धि को रक्त वृद्धि होते हैं
मृदु, दिग्ध, अद्युपुरा, अल्पीडा करने वाली और एक ता॒
कल के समान वृद्धि को मेदोवृद्धि (कहते हैं) ॥६॥

यत्कल्प—मेदोवृद्धि—इसकी वृद्धालाल झील्प (Ele-
phantiasis of the scrotum) कहते हैं । इसकी संक्षिप्त
का विचार हीमी अस्थाय में आगे सीधे देव वृद्धि में विचार
जायगता । मृदुवृद्धि—इसकी हीमाटोमील (Haematocele)
कहते हैं । इसमें वृद्धालाल के भीतर एक संक्षिप्त हो जाता है

शास्त्र से, या भूदृष्टि युक्ति में पानी निकालने से, या शातक अद्वैत की उत्पत्ति होने से पनाही है ।

ब्रह्मधरसाशीलस्य सूत्रवृद्धिर्भवति, सा ते इन्द्रियाणि द्वितिरिव भुभ्यति सूत्रवृद्धं चुप्तयोः व्ययसु कोशयोऽपादयति, तां द्वि विद्यात् ॥७॥

सूत्रवृद्धि—) वृद्ध की रौद्रते की शादन रसतेवाणि र सूत्रवृद्धि होती है । घटने गमय वह पानी से भरी की तरह फलत्यकारी है; सूत्रवृद्ध, वृषण में पीड़ा पौर तें में प्राप्त उत्पन्न करती है; उसके सूत्रवृद्धि समक्षा ॥ ७ ॥

वक्तव्य—सूत्रवृद्धि—इसकी हैड्रोमीन (Hydrocele) है । इसकी संरक्षित में सूत्रवृद्धारण का या गृथ का कुद देख नहीं है । जिसे कि जलोदर में उद्ग्राहयरा की स्थिकान्तियों से चूकर स्थिका उद्ग्राहया में छकड़ी होती है; ये वृक्षांश की स्थिकाकारात्मियों ने चूकर स्थिका में दृक्षी प्राप्ती है । इस लार्यिका के कारण कोण घृनना लोक एक भाँति सूत्रको 'जलवृद्धा' नाम रखना उचित नहीं उद्ग्राहयरा में ऐसे शोक का वक्तव्य देखा । कारणों का ढीक ढीक पता अभी तक नहीं चल गका इरजा वृषण प्रसोप और किंगजन्य घृणा विछुति के सूत्रवृद्धि मिलती है । इसका आकार वृद्धया अगरे के लिए दृढ़वृत्त होता है । भीतरी जल की रागि के अनुसार इदृढ़े स्वयं में कठिन या सुदूर प्रतीत होती है । डॉननन में कोई ग्राह वृषणप्रथि प्रतीत होती है । जलोदर की भाँति में भी कंपन पर्हीजा मिलती है । हृस्की एक ग्वाम परीजा होती है कि वृद्धि के पक्के ओर वर्णी जल कर रसी जाये दूसी ओर कुछ हल्का प्रकाश दिवाई देगा तथा भीतरी वृषणिक की भिज्जि मोटी होने से यह 'दीपरीजा' नहीं होती । इसके कोई ग्वाम लक्षण नहीं होते । परन्तु जब इकाफी घटती है तब वृषणारक्त में ग्वीचने की सी पीड़ा होती है, जहाँ ग्वों की व्वचा के भीतर जित्र चले जाने से वृषण की व्वचा पर ठोकर वहता है जिससे क्षाणु उत्पन्न होती है ।

भारतरण्यवलवद्विग्रहवृद्धप्रपतनादिभिगव्यास-
विश्वर्पियुरिति(भि)प्रवृद्धः प्रकृष्टिपत्थ्र स्थूलांशस्ये-
त्यय चैकदेशं विगुणमादायादो गत्वा वृद्धण-
प्रतिष्ठमुपेत्य अन्तिरूपेण स्थित्वा प्रतिक्रियमाणे च
श्लान्तरेण फलकोशं प्रविद्य युक्तशोफमापादयति,
गत्वातो वस्तिरिवाततः प्रदीर्घः स शोफो भवति,
वृश्चमवपीडितश्चोर्ध्वमुपैति, विमुक्तश्च पुनर्ग-
भायते, तामन्त्रवृद्धिमसाध्यामित्याचक्षते ॥८॥

(अन्नवृद्धि—) वोझ उठाना, (अधिक) बलवान्
माप सहना, वृक्त से गिर पड़ना इत्यादि विशेष परिव्रम-

णे कारण आपन्न पृष्ठ कुड़े व्यायु प्रकृष्टिद्वारा रसूलान्त्र और लग्नान्त्र के पृष्ठ देश को संकुचित करके नीचे की जाकर वृद्धण नीचे में प्राप्त होकर ग्रंथि स्वयं से स्थित होती है; और चिकित्सा त करने से समय पालन करकोग में प्राप्त होकर वृषण में गोक उपता करती है । पूर्णी हुए समक की भाँति वह ग्रीथ कला उप्रा चढ़ा होता है, (जलर को) देखने से बद्द (गडगडाइट) के माध्य जलर की ओर (उदर के भीतर) घना जाता है और द्वाढ़े देने से किर आ जाता है । इस अन्नवृद्धि को असाध्य बहने हैं ॥८॥

वक्तव्य—उत्तर्य च—चुदान्तव्या—ज्ञानवादपवे यदा । (अष्टांगसंप्रह) । विगुणीकृत्य—जन्मान्त्रवृद्धि । दिगुणीकृत्येति पाठ्यन्ते वैत्तितेन दिगुणीकृत्य । (मुकुकोग) । अन्नवृद्धि—आन्त्रागममनजन्यं वृषणवृद्धि । इस विकार में न आन्त्र की वृद्धि होती है, न आन्त्र में अन्य कुद्र विकृति उत्पन्न होती है । निवल आन्त्र उद्ग्राहया का अपना न्यान छोड़कर नीचे वृषण में आ जाता है—विनिंगशारणे नयेत् ॥ (आषांगसंप्रह) । अन्नवृद्धि को हर्मिया (Hernia) कहते हैं । हर्मिया वास्तव में गरीर के किसी घंगे के प्रपने स्थान के द्विद्रुक के बाहर निवल कर दूसरे स्थान में पहुँच जाने को कहते हैं । इस तरह फुक्षुम, स्थितिक श्वीर आन्त्र की हर्मिया हो सकती है । व्यवहार में यह विलुप्ति आन्त्र के संवर्धन में अधिक देखने में आने के कारण हर्मिया घट्द से आन्त्रवृद्धि का ही योग प्राप्त होता है । कारण—इसके सहज और जन्मोत्तर ऐसे दो प्रकार के कारण होते हैं । सहज कारणों में अग्रदग्धिक का समय से देर से उदर से वृषण में उतरना, उदर से वृषण तक का मार्ग बंद न होना, उदर प्राचीर की पेशियों की दुर्बलता, आन्त्रनिवंधिनी की लंबाई अधिक होना इत्यादि प्रधान होते हैं । जन्मोत्तर कारणों में आघात या शस्कर्म के कारण उदरप्राचीर की दुर्बलता, भारी ओंक उठाना (भारहरण), मलावराध, अष्टीलावृद्धि, मूत्रमार्गसंकोच, निस्त्वप्रक्रय इत्यादि के कारण मलमुत्रत्यय में बहुत बल का प्रसारण (कुथन) करना, पुरानी खांसी इत्यादि प्रधान कारण होते हैं । सहज कारण सहायक होते हैं और जन्मोत्तर कारण माजाकारण होते हैं । आयुर्वेदोक्त अन्नवृद्धि आयुनिक परिभाषा के अनुसार वृद्धाणी आन्त्रवृद्धि (Inguinal) हैं; व्योक्त इसमें आन्त्र वृद्धिशासुरंगा में से होकर फलकोप में उत्तरसी है—अन्न विगुणमादाय जन्मेन्यथि वडक्षणम् । (भोज) । यदि आन्त्र वर्हिवृद्धशीशिद्विद तक अस्कर ग्रंथि के रूप में स्थित होता है तो उसे आपासफलकोगवृद्धि कहते हैं—आपासफलकोशायां वातश्रद्धिकमो हितः ॥ (चिकित्सा, अ. १९) । आयुनिक परिभाषा में इसको अपूर्ण आन्त्रवृद्धि या व्यूवोनो-आसील (Incomplete hernia or Bubonocele) कहते हैं । यदि वर्हिवृद्धशीशि छिद्र में से होकर अण्डग्रंथि के ऊपर तक आन्त्र पहुँच जाय तो उसको कोशप्रासवृद्धि कहते हैं—कोशप्रासां तु वर्जयेत् ॥ (चिकित्सा, अ. १९) । आयुनिक परिभाषा में इसको पूर्ण आन्त्रवृद्धि कहते हैं । आन्त्रजन्य वृषणवृद्धि की रचना—आन्त्रजन्य वृषणवृद्धि में आहर से भीतर की ओर आवरण मिलते हैं—१ व्वचा, २ उपत्वचा, ३ उदर-

प्रदर्श आदिमा पेरी के सन्तु से बनी हुई बला, ४ फलकोग-कर्णिणी पेरी और कला, ५ उद्दरात्प्रदर्श कला, ६ मेद-हर और ७ उद्दरकला । वृदि का कोष उद्दरकला से बनता है । परिमाण के लिये प्रत्यक्षारारी द्वितीय खण्ड पृष्ठ ३४-३५ देखो । योग के अग—कोष में निह अंग पाये जाते हैं । अवन्त्र—अन्य अंगों की अपेक्षा लच्छन्त्र अधिक पाया जाता है । चामट ने इसलिये केवल शुद्धान्त्र का ही निरूप किया है—शुद्धात्रावद वदा । स्वनिवारादेश नयेष ॥ इसके अतिरिक्त कथा, शूलान्त्र विशेष करके उण्डक, उण्डकुपुद्ध, बस्ति, शीजप्रयिति, शीजवाहिनी इत्यादि अंग भी गिलते हैं । संक्षेप में अन्याशय के अतिरिक्त उद्दराहु का कोई भी अंग वृदि में मिल सकता है । इक्षु—पूर्ववृद्धाणी आन्त्रवृदि का आकार धर्षणे के समान दीर्घित होता है । दिन प्रतिदिन उसका उत्सेष बढ़ता जाता है । जब रोगी तड़ा होकर खासता है तब वृदि में खांसने की प्रवृद्धिना प्राप्ति होती है, तथा उत्सेष बढ़ जाता है । वृदि पर अगुलिताइन करने से डिमिदिम ज्वनि आती है । ऊपर की ओर दबाने से गवणदाहट के साथ आन्त्र उद्दर के भीतर चली जाती है और उत्सेष नष्ट होता है तथा दबाव छोड़ देने से आन्त्र लौट आकर फिर उत्सेष होता है—शीडिलोन स्वनिवार् नियाति प्रभावित पुनर्व शुक्र । (अष्टांगसंग्रह) । वृदि जीर्ण होने पर अग्निमिदाता, कद्वा, उद्दर में रीढ़ा इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं, तथा कोष की शीखार मोटी होकर बाहर के आवरणों के साथ संस्कृत होती है या भीतर आन्त्र के साथ जुड़ जाती है, जिससे वृदि अंभित होकर ऊपर के दोनों चिह्न सुचिकृत से मिलते हैं—उत्सेषान्तर व सुषाकृदिमान्तरस्तु भवन्ती त बतु ॥ (अष्टांगसंग्रह) । वृषणवृदि में आन्त्र न होकर केवल चपा (Omental hernia) होने से स्पर्य में वह बहुत मुड़ होती है, खांसने पर उसमें प्रवृद्धिना घुलत कम या नहीं प्रतीत होती । ऊपर की ओर दबाने से बिना यद्द के भीतर चली जाती है, और दोष देने से शर्णे शैरे उत्सेष उत्पन्न होता है, तथा अगुलिताइन परीक्षा से मंद ज्वनि आती है । वपाजन्य तथा आन्त्र ग्रन्थ वृषणवृदि में अर्दह के ऊपर टटोलने से अण्डराज्ञु ठीक ठीक प्रतीत नहीं होती । वृक्षतथी आन्त्रवृदि के अतिरिक्त इसके और निश्च प्रकार होते हैं—(१) और्नी आन्त्रवृदि (Femoral Hernia)—विसरक द्वारा और्नी धमनी और मिरा ऊर में आती है उस और्नी सुरगा में (Femoral canal) से होकर आन्त्र ऊर प्रदेश के ऊपरी भाग में आकर उत्सेष उत्पन्न करती है । यह आन्त्रवृदि छियों में अधिक हुआ करती है । (२) नमि की आन्त्रवृदि—इसमें नमि के द्वारा आन्त्रावयव बाहर निकल आता है और नाभिप्रदश में उत्सेष निलाई देता है । नाभिच्छेदन के पश्चात् नाभियाक होने से वृदि नमि दुर्बल हो । गई हो तो शिथुरी और बालकों में यह विकार दिलाई देता है जो वृषावस्था तक स्वयं हीक हो । जाना है । नारीकल्पन ठीक न होने पर धरक में 'आवामन्वामातु पिता' प्रीत्र सुकृत में 'उत्पितिगिता' नामक विकार से इसी का उद्देश किया है । वृषावस्था में नमि के बदले उदरसीवर्णी के विकल्प होने से वृदि उत्पन्न होकर उसके द्वारा आन्त्रा-

वयव बाहर आता है । इस प्रकार की आन्त्रवृदि रूपन में अधिक दिलाई देती है । वृषणवृदि के बालों का विनार—वृषण की वृदि निश्च कारणों से होती है : या आन्त्रवृदि, मृद्वृदि, रक्तवृदि, मेदेवृदि, मिरावृदि, मकोप और अण्ड के वृद्धि । मिरावृदि (Varicocele) सिराजन्य वृषणवृदि है । इसमें अण्डराज्ञु के साथ होने विराएं पूरकर मंडी हो जाती है । यह वृदि दाहिनी की अपेक्षा बाँधी और और शुद्धावस्था की अपेक्षा मुख में होती है । वृषावस्था में हस्तमेथुन से इसी उत्पत्ति है और इसकी उत्पत्ति से कीर्पत भी अधिक होता । वृक्ष के घाटक पूर्वद के साथ भी यह विकार बहुधा जाता है । अग्न—स्पर्य में वृषणवृदि एक ऐसे धैर्य की मालूम होता है कि जिसमें केचुप भरे हों । यांत्रमें पर सिमिराओं का रक्त लौट जाने के कारण उत्सेष आप से नष्ट होता है, जो रोगी के स्वरे हो जाने पर रक्त के भर फिर उत्पन्न होता है । रोगी को हमेशा वृषण में भार द्वारा मालूम होता है । वपाजन्य वृषणवृदि और तिर में फूंक वह है कि रोगी के खोड़ होने के समय वृद्धिवृद्धि विद और्नुलि से दबाया जाय तो सिरावृदि में उत्सेष दूत है परन्तु वपाजन्य वृषणवृदि में नहीं उत्पन्न होना विचार—वृषणवृदि का रोगी सामने आने पर अण्डराज्ञु को भली भाँति टटोल कर देखना चाहिये । रजु ठीक ठीक प्रतीत न होती ही तो आन्त्रवृदि या वपा हो सकती है । इनकी परीक्षाओं का ऊपर वर्णन हो तुका यदि रजु ठीक ठीक प्रतीत हो तो वेवल वृषण का ही न होगा, ऐसे समझना चाहिये । तप्यधातु वृदि द्वारा गर्भ है यनगर्भ, इसका विचार करना चाहिये । द्वारागर्भवृदि ही प्रकीर्णी होती है; सूजन और रक्तज । रक्तज की परीक्षाएँ (प्रीत्र दीपरीता) पहले वर्णन हो सुधा है । रक्तजवृदि वृषण पर हुए आघात का इतिहास मिलता है । यनगर्भ तीन प्रकार की होती है, मेदोज, प्रकोपज और अर्द्धवृद्ध । वृदि में वृषण की त्वचा बहुत मोटी और सुरदी होती तथा भीपद के ज्वरादि संक्षयों का इतिहास मिल से है । अण्डप्रकोप में अण्डप्रयिति मोटी और कठिन होती तथा पीड़ा भी होती है । उत्तराना प्रकोप फिरंग और रक्तज में होता है । फिरंगजन्य प्रकोप में वेवल वृषणप्रयिति है, पीड़ा कुछ भी नहीं होती, वृषण की त्वचा मदेवना (Pemphigus) होती है और वृषण मदन प्रतीत होता है । रात्रेव जन्य प्रकोप में वृषणप्रयिति के साथ साथ उत्पन्न और नी भी विकृत होकर पैदीनी समती है, वृषण की संप्रदान नहीं होती । फिरंग तथा रात्रेवमात्रनित विकृति बहु दोनों वृषणों में हुआ करती है । अर्द्धवृद्ध वृदि बहु तरफ के वृषण में गुरु होती है, पीड़े पीड़े बढ़ती है, पीड़ा ज्वर होती है, रुक्ष भी जल्दी विकृत हो जाती है वृद्धता की हस्ति प्रथियाँ फूलती हैं । वृषण की स्थानिक परीक्षा के साथ से रोगी की सावंदीक परीक्षा तथा रोग की अवधि, रोगी का आयु इत्यादि अनेक बातों की भी जांच करती चाहिये ।

उपदंशनिदानम्

तत्रातिमैयुनादतिब्रह्मचर्याद्वा तथा अतिब्रह्मारिणीं चिरोत्सुष्ट्रां रजस्तलां दीर्घरोमां कर्कशरोमां कट्टीर्णरोमां निगृद्धरोमामल्पद्वारां महाद्वारामभिगमकामामचौक्ष्यस्तलिलप्रक्षालितयोनिमप्रक्षालितरोनि योनिरोगोपसुष्ट्रां स्वभावतो वा दुष्टयोनि वेयोनि वा नारीमत्यर्थमुपसेवमानस्य तथा उरजदशनविश्वरूपनिपातनाद्वन्धनाद्वस्ताभिघाता-पतुष्पदीगमनादचौक्ष्यसलिलप्रक्षालनादवपीडनाद्वृद्धमूत्रवैग-विधारणात्मैयुनान्ते वा उप्रक्षालनादभिमेंद्रमागम्य प्रकृपिता दोषाः क्षतेऽक्षते वा वयधुमुपजनयन्ति, तसुपदंशमित्याच्छते ॥१॥

अतिमैयुन से श्रथवा अतिवस्थर्य से तथा अतिवस्थारिणी, बहुत दिनों से जिसकं साथ व्यवाय नहीं किया गया है ऐसी, अतुसती, लंबे केशवाली, कर्कश केशवाली, नेविड केशवाली, योनि के भीतरी रोमवाली, जिसकी योनि कुचित या विस्तृत हो ऐसी, अप्रिय, जिसका मन मैथुन में हो ऐसी, स्वाराव जल से जिसने योनि धोइँ हो ऐसी, जिसने योनि न धोइँ हो ऐसी, योनिरोगों से पीड़ित, स्वभाव से ही जेसकी योनि दूषित या विकृत हो ऐसी ली के साथ अधिक युन करने से तथा नख, दाँत, विष या शूक के लगने से, गेश को बांधने से, हस्तमर्दन से, चौपायों के साथ नैयुन रने से, स्वाराव जल से शिश धोने से, शिश का पीड़न करने ते, शुक और मूत्र का आवेग रोकने से, मैथुन के पश्चात शिश न धोने से तथा अन्य कारणों से प्रकृपित हुए दोष लिंग में प्राप्त होकर क्षतयुक्त अथवा अक्षत (शिश में) गोथ उपदंश करते हैं; उमको उपदंश कहते हैं ॥१॥

वस्त्रवय—अतिवाचर्य—बहुत दिनों तक व्रहाचर्य का गालन कर पृकाएँ उसका अतिक्रमण करके मैथुन सेवन करना—खोल्यवायनवित्रत्य सहसा भजतोऽध्वरा । (अष्टांगसंग्रह) । विषेगममित्यादि—योनि के वालों का वर्णन इसलिये किया है के इन्हीं की रगड़ मे (स्वरापविवदैः । अष्टांगसंग्रह) मैथुन क समय शिश पर जन्त उत्पन्न होते हैं, जिनके द्वारा दोष भीतरी प्रविष्ट होते हैं । अन्तोक्ष्य—अशुचि या स्वाराव । वियोनि—भयोनि । हत्यजड्यान्तरम् । (डलहण) । पारुद्यादिदोषदुष्टयोनि । (हारणचंद्र) । किंवा विकृत योनि (Malformation of the Vagina) । विपश्कू—विष और शूक या विषयुक्त शूक—शूकपातनैः । (अष्टांगसंग्रह) । शूक—सजन्तुजलालः, लालुदिक्योगो वा । (डलहण) । ऊपरजलेपु बाहुलयेन दृश्यमानो अनुत्स्वाक्षुनि: कथितोपविवेषः शूकः । ते न शूकाः मविपन्निविदेव दिवा । तत्र विषवननो रोगकरिणः । तटुक्तम्—कृष्णानि विचार्यपद्मा शूकानि विषपणितु । पातितानि पचन्त्याशु मेद निरवयेषतः ॥

गति । (इन्दु) । वारस्त्यायन के अनुमान शूक वृक्षों पर जन्म देने वाले जन्मांशों के बाल होते हैं—एवं वृक्षजानां जन्मांशों द्वैतपलिस लिङ दशरावं तेण मृदित । । म यादजीव शूकजो Hinduism Discourse on Indian Philosophy // dclsgg/dharma/

क्षते वा—‘मेदे’ इति शेषः । उपदंश उत्पन्न होने के लिये ज्ञत उत्पन्न होना बहुत आवश्यक है; परन्तु कभी ज्ञत का पता चलता है कभी नहीं चलता, इसलिये ‘ज्ञतेऽक्षते वा’ शब्द प्रयोग किया गया है । उपदंश—इसको सॉफ्ट शंकर (Soft Chancre) कहते हैं । यह रोग वैसीलस ऑफ ड्यूक्रे (Bacillus of Ducrey) नामक जीवाणु के कारण होता है । इस जीवाणु का आविष्कार ड्यूक्रे नामक शास्त्रज्ञ ने सन् १८८६ में किया । उपदंशपीडित व्यक्ति के साथ मैथुन करने से उपदंश उत्पन्न होता है । इसमें मैथुन के पश्चात दूसरे से सातवें दिन के बीच में जननेन्द्रिय के ऊपर स्फोट उत्पन्न होता है, जो थोड़े समय में गलकर पीड़ायुक्त व्रण में रखिरत्ति होता है । यह व्रण अन्य अंगों में न होकर सदा जननेन्द्रिय पर पाया जाता है । व्रण के किनारे साफ कटे हुए होते हैं । इसमें कठिनता नहीं होती । इसलिये इसको मृदुव्रण (Soft chancre) कहते हैं । इससे कुछ दिनों तक काफी गाढ़ा पीला धूर खून मवाद वहता है और यह व्रण बढ़ता है, परन्तु यदि सफाई रखी जाय तो वह स्वयं तीन लसाइ में भर जाता है । इसका स्वाव बहुत विषेला होता है, इसलिये जिन स्थानों पर लगता है, वहाँ पहले के समान व्रण यह जाते हैं । व्रण के आस पास का भाग लाल रहता है । प्रायः एक तरफ वद्धक्षण में गिलिट्यां निकल आती हैं । इन स्थानिक लक्षणों के अतिरिक्त सार्वदैहिक लक्षण इसमें प्रायः नहीं होते । उपदंश स्त्री और पुरुष दोनों में होता है—स्त्रीणां पुसां च जायन्ते उपदंशाश्च दारणाः । पुरुषों में इसका व्रण शिश के मणि पर, मणि की त्वचा के बाहर और भीतर, सेवनी पर तथा मणि के अभ्यन्तरीय सूत्रमार्ग पर होता है । शियों में इसका व्रण भगालिन्द, भगरिशिक्षिका और लुभुभगौष्ठ के ऊपर होता है । स्वाव लग जाने से वृहद् भगौष्ठ, मूलाधार, चूतङ्ग और ऊर के अभ्यन्तरीय प्रदेश में भी व्रण हो सकते हैं । यदि योग्य समय पर चिकित्सा न की जाय तो व्रण शीघ्रता से फैलता है, जिसमें शिशमणि त्वचा इत्यादि गल कर नष्ट हो जाते हैं । वंशण की गिलिट्यां पककर फूटती हैं । कभी कभी समस्त शिश का शोथ होता है—संजातमात्रे न करोति मृदृः क्रियां नरो यो विषये प्रसक्तः । कालेन शोथक्रिमिदाह-पाकैविशीर्णशिलो त्रियते स तेन ॥ (माधवनिदान) । सुशुतोत्ते उपदंश का वर्णन चरकसंहिता में ‘ज्वरभंगकृत फैक्ष्य’ के नाम से योनिन्यापचिकित्सा (चिकित्सास्थान, अ. ३०) में किया गया है ।

स पञ्चविधिभिर्देवैः पृथक् समस्तैरस्तुजा च ॥१०॥

यह उपदंश प्रत्येक दोष से तीन, सक्षिप्तात से एक और रक्त से एक इस तरह पाँच प्रकार का होता है ॥१०॥

वस्त्रवय—पंचविधि—वातज, पित्तज, कफज, सक्षिप्तात और रक्तज । चरक में भी ध्वजभंग पाँच प्रकार का होता है, ऐसा वर्णन किया है—एवं पनविधि केचिद् ध्वजभंगं प्रचक्षते ॥

तत्र वातिके पारुप्यं त्वक्परिपृष्ठन् स्त्वधमेद्वता प्राप्तसोक्त्वा लिप्तिष्ठाव्याप्तिवैद्यि ॥ यद्यस्तकुम्भः

ध्ययशुः पकोद्गृष्यरसद्वाशस्तीवदाहः क्षिप्रपाकः पित्तवेदनाथ्यः ग्रैमिके ध्ययशुः कण्ठमाद् फटिनः छिरधः स्लैभवेदनाथ्यः रक्तजे कृष्णस्फोट-प्रादुर्भावोदत्वर्थमसूक्ष्मप्रवृत्तिः पित्तलिङ्गान्यत्वय ज्वरदाहौ शोपथ्य याव्यश्चैव वदाचित् । सर्वजे सर्वलिङ्गदर्शनमयदरण च शेफस्तः कृमिप्रादुर्भावो मरणं देति ॥१॥

(दोषानुग्राम लक्षण—) इनमें से वातज उपर्दण में शुरु-दरापन, व्यथा में दरार, गिर्भ में कटापन (या सुखता), गूँग में शूक्रता तथा विविध व्यतिक पेटनाएँ होती हैं । पित्तज उपर्दण में ज्वर, जो के गूँग के समान (धर्षा), सीम लपन, शीघ्रता से पक्का और रित की (प्रोटोपोटिड) पेटनाएँ होती हैं । सेवन उपर्दण में कण्ठयुक्त कठिन और दिग्ध धूप तथा कफज वेदनाएँ होती हैं । रक्तज उपर्दण में काही मुनिर्वासी की डल्पनि, रक्त अधिक बहने की प्रवृत्ति, पित्तज उपर्दण के सच्चन, आंखत सीम ज्वर और दाह तथा (मुख) धूप होता है और कभी कभी धात्य हो जाता है । यातिपातिक उपर्दण में सब दोषों के हजारों का प्रादुर्भाव, गिर्भ का विदारण, (गिर्भ में) कृमियों की उत्पत्ति और घायु होती है ॥१॥

धस्तल्य—उपर्दण में मुनुजड्य व्याप्ति है । धोयती में

मैंपुनज्ञन व्याप्ति को लीनीरितिल दिसील (Venereal disease) कहते हैं । वृक्ष सुयुनादि सार्वती धंयों में उपर्दण

या जड़पेंगहृत हृष्ण के अनिरिक्ष मैंपुनज्ञन व्याप्ति कुद

व्याप्तियों का वर्णन मिलता है । पाकारय पेटक में धात तक

उपर्दण के अनिरिक्ष और पांच मैंपुनज्ञन व्याप्तियों का दला

पाल गया है । (१) फिरंग, गर्भी या भानाह (Syphilis)—

जायुर्वेदिक धंयों में इमका सर्व प्रथम वर्णन 'फिरंग' के नाम

से भावदहात में निष्ठ प्रकार से मिलता है—फिरंगके हेतु

इन्द्रुदेव वहैरेऽ । तम्भालिंग इन्द्रुनी व्याप्तिरिप्रिवादे ।

गवर्तो त्रिपात्रा वहो इन्द्रिनी भुरुम् । त्रिपात्रिक्षमान्तर्गति फिरंग

प्राप्त ॥ भूपिरानुनो द्वय दोषातात्पर्य हृष्ण । भूरेष्ट

इन्द्रुदेवो लक्ष्मीनारां द्वय ॥ दितिरिदिवो देवो वाया भावनन्तर-

स्त्रा । वर्दिनर्वेदवाचि तेन नियानि च द्वये ॥ तत वाया रिता

हर्दितोमृद्युद्वद्वास्त्र । त्रुणि व्रग्नर्वेद त्रुपात्रोऽनि स धूम ॥

त्रिपात्रिक्षमाना स व्यादयन इति व्याप्तम् । दीप व वनदेव वन-

मध्ये दुष्ट लूप ॥ कर्तव्य वस्तुयो नमस्त्रावै वदेव मन्त्रा ।

वस्त्रियोऽप्रिवादाने दितिरिद्रामा धर्मी । वृद्धिर्वी भोत्तव्ययो नीरीना

मिलत्रू । वायनान्तर द्वय साप्त सादात्प्रय ॥ वर्दिनर्वेदो

ज्ञेन्द्रुपात्रिपूरुषः । भूरेष्ट व्याप्तिर्वायोद्वयिक्षुपूरुष पुरा ॥

दितिरिदिवात्प्रिवादि के साप्त वित्तुव वर्णों से रितरा इन्द्रुद्वय होता

है । इन रोग का दात्य द्विरोद्धो वार्तिप्रद (Trichonema pallidum) नामक प्रेषदार व्याप्त है, जो वायों की धूम से या अन्न दान गे विष की खेपल लक्षण में उपर्दण दृष्टि के द्वारा प्रदेश दरता है । तन्मादार देवों के व्याद वायों होते हैं, जो वाय दात्याना से विषद विषे गते हैं । व्रग्न-व्याद—देवदुष के द्वे से द्व व्यादों के धीर में (गायत्राव्याद

तीमरे सप्ताह में) जननेदिव पर एक द्वेषो दा दाना जाता है । उलूनों में प्राय यह दाना गिरभमिं पर या उ

व्यथा के भीतरी धूंग पर होता है और छियों में वृहद् भ

के भीतरी धूंग पर होता है । कभी कभी आग्राक का विष

जाने से होड, म्बन, आगुलियाँ, जीभ इत्यादि जननेदिव

धंयों पर भी दाना पट जाता है । धीर धीर वृद कर

दाना फूट जाता है, और यथ बनता है । टोलेने से यह

फटिन प्रतीन होता है हसलिये हसकों कठिन यथ (H. chancro) भी कहते हैं । इसमें ल खून बहता है, ल

बहता है और न पीड़ा होती है । केल लसिका का

स्थाव होता है जिसमें रोग के जीवाणु उत्पन्न होते

धूम प्राय एक ही होता है । विषला धात्र लगने पर भी

धूम प्राय उत्पन्न नहीं होते । यह होने के एक से हो स

पूर्वे धंयों की लसिका धंयियाँ वृदकर धंयूक की गोली

भीति सप्त होती हैं । वह धंयियाँ भी आपम में सेमक ह

हैं, न पीड़ा होती है और न पक्की है । इस धर्मव्यथा में रोग

विष स्थानिक होता है । दिनीवारया—इस धर्मव्यथा में

का विष समस शरीर में पहुंच कर विष धंयों में विष

उत्पन्न करता है, यह होने के तीसरे या छोये सप्ताह के ५

साप्तव्यथा पर दाने निकलते हैं । इनकी निष्ठ विग्राहार्ताँ ह

हैं । (१) धर्ष, जाकार और परिमाण में ये एक-से ५

होते । (२) गरीर के दोनों धार समान लक्षणों पर निक

हैं । (३) लट होने पर इनके स्थान में कुद समय तक ता

धर्ष या मासकर्ष आम घड़े होते हैं । (४) इनमें धात्र वृद्ध

नहीं होती । वाया व्यथा की भीति गोड, जीम, तालु, ग

हृदकी खेपल व्यथा पर छाले वहते हैं । ये छाले गोल, ल

कार, रात के से रंगवाले, विलकुल साफ़-कटे हुए किनारे व

और उत्तान होते हैं । यहाँ धर्षा होगा गीसी होती है । त

जहाँ खेपल और वाया व्यथा मिलती है (जैसे मलदार, भ

हृदके किनारे हस्तापि) वहाँ धारे धारे मरसे (धर्ष) के ३

में दाने निकल धाते हैं । धंयों के अतिरिक्ष और धारों के

विषय करके धीवा, कोहनी, कच्चा हस्तापि की लसिका धंयि

वृदकर सप्त होती है । इन धर्षत वृद्धां ने धनिरिक्ष दो

के ज्वर आता है, तिर में दृढ़ होता है, वाल गिरने व्य

है, जोही में तथा हाँड़ीयों में, विषें कांके रात में, दूरे हो

है, गून की कमी होन्दा है । हाँड़ वायदाना और दीर्घीय आता

कर्मिका प्रक्रोड होता है, धार्षे दुर्योगों का जाती है और

दृष्टि पत्ता होती है । धीर धीर वृदकर होता है । धीर धीर

वृदकर वृदकर होता है । धीर धीर वृदकर होता है । धीर धीर

ने से पक्षाधात, पदुत्व इत्यादि विकार होते हैं; कान, ग्रांस्य ने से सुनने देखने की शक्ति नष्ट होती है। जिहा पर होने वह फट जाती है और रक्तवाहिनियों में होने से उनकी रोटी होती है, उनकी लचक जाती रहती है जिसके ए सून का भार और वेग महन करने में वे अत्यमर्य होकर कभी फट जाती हैं या उनके भीतर रक्त जम जाता है। रक्त की वाहिनियों में ये विकार होने से अंगधात; पक्ष-इत्यादि अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं। चतुर्विषया—अवस्था में मस्तिष्क संस्थान पर विशेष असर पड़ता है। अवस्था के दो विशेष रोग होते हैं—? General paralysis of the insane and 2 Locomotor ataxia या १८९५ Dorsalis। प्रथम रोग से रोगी को एक प्रकार का लपन हो जाता है। दूसरे से रोगी चलने किरने से लाचार जाता है और चलते समय लड़खड़ाकर चलता है। ग के विष का मस्तिष्कसंस्थान पर असर आक्रमण के तीन महीनों के भीतर भी हो सकता है या पचीस तीस के पश्चात भी हो सकता है। यह अवस्थाएँ उपेक्ष्यमाणी की हैं। यदि प्रारंभ में अचूक औपर्यथियों से योग्य चिकित्सा की जाय तो रोग न बढ़कर निर्मल हो सकता है। कुलजग—फिरंग ऐसी धौर व्याधि है कि जो न केवल पीड़ित के भी हानि पहुँचाती है अपितु उसके होने वाली संतान भी सकाती है। कुष के बारे में आयुर्वेद में जो कहा है फिरंग के बारे में सोलह आना सत्य होता है। अतः कुष दो श्रोक आवश्यक परिवर्तन करके सुखस्मरणार्थ नीचे हैं—शुक्रस्थानगत दोषे स्वदारापत्यवापकः। योनिस्थानगते स्वभतीपत्यवापकः॥ फिरंगापात् स्त्रीपुतोर्दृष्टिर्णिनशुक्रयोः। इत्य तपोज्ञत ज्येष्ठ तत्र फिरंगितम्॥ फिरंग और उपदंश की रोगनिश्चिति—फिरंग और उपदंश दोनों विकार दूर्वित इन के पश्चात् जननेद्विषय पर व्रण या स्फोट के रूप में होते हैं। दोनों की चिकित्सा अलग होती है। इस पैदानको आपस में पृथक् करना बहुत आवश्यक है। अतः नौं के व्यवच्छेदक लक्षण नीचे कोषुक में दिये जाते हैं।

उपदंशज व्रण

- (१) मैथुन के पश्चात् नीसरं या चौथे दिन दाना उत्पन्न होता है
- (२) माधारणतया अनेक दाने होते हैं
- (३) दटोलने से मृदु प्रतीत होता है
- (४) उसमें बाह होता है तथा मधुर पूर्ण, रक्तलसिका इत्यादि वहते हैं
- (५) व्रण के किनारे साफ कटे हुए, भीतर से कुछ पोले और व्रण के तल से कुछ ऊचे होते हैं

फिरंगज व्रण

- (१) मैथुन के पश्चात् प्रायः तीसरे सप्ताह में दाना उत्पन्न होता है
- (२) माधारणतया एक ही दाना होता है
- (३) तस्वारास्थि के समान कठिन प्रतीत होता है
- (४) दाह नहीं होता, तथा उससे लसिका के अतिरिक्त कुछ भी नहीं निकलता
- (५) किनारे न साफ होते हैं, न पोले होते हैं, न तल में ऊचे होते हैं

- (६) अत्यन्त पीड़ियुक्त
- (७) सूक्ष्मदर्शक से व्रणस्थाव की परीक्षा करने पर ड्यूफे का जीवाणु मिलता है
- (८) व्रणस्थाव अन्य स्थान पर त्वचा में सुई से प्रविष्ट करने पर समान व्रण पैदा होता है
- (९) व्रण की ओर की जंघासे की अंथियाँ फूलती हैं। वह मृदु, पकने वाली और अत्यन्त वेदनायुक्त होती हैं
- (१०) चिकित्सा न होने से व्रण अधिक बढ़कर स्थानिक धातुओं का नाश होता है, परन्तु सर्वादैहिक लक्षण प्रायः नहीं उत्पन्न होते हैं

इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कभी कभी फिरंग के साथ उपदंश का या उपदंश के साथ फिरंग का उपसर्ग हो सकता है। इसलिये व्रण में मिश्र स्वरूप के लक्षण मिलने पर भी व्यामोह उत्पन्न होने की आवश्यकता नहीं है। लक्षणों की खुब छान बीन करने से तथा व्रणस्थाव की सूक्ष्मदर्शक की सहायता से परीक्षा करने से रोग की निश्चिति ही सकती है। (२) औपर्यथिक पूर्यमेह या सोजाक (Gonorrhoea)—यह तीसरा मैथुनजन्य रोग है। इस रोग का वर्णन आयुर्वेद में नहीं है। कुछ लोग उत्पन्नवात को गोनोरिया समझते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है। इस रोग का कारण गोनोकोक्स (Gonococcus) नामक जीवाणु है, जो सोजाकपीडित व्यक्ति के साथ मैथुन करने से मूत्रमार्ग में प्रवेश कर शोथ पैदा करता है। मैथुन करने के दो से आठ दिन के अन्दर रोग के लक्षण प्रकट होते हैं, जिनमें गिरभ्रणी की सूजन और लाली, मूत्रमार्ग में जलन, मूत्र त्वागने में पीड़ा, मूत्रमार्ग से खून मिला स्थाव का निकलना, कटिभाग में भारीपन, मलावरोध, ज्वर, नैचैनी इत्यादि लक्षण प्रधान हैं। यदि रोग का इलाज न किया जाय तो दो तीन सप्ताह में रोग की तीव्रता घट जाती है और रोग पुराना हो जाता है। पुरुषों में रोग पूर्व मूत्रमार्ग में ग्रारंभ होकर पीछे की ओर फैलता है, और कौपर अंथि, अष्टिला अंथि, वस्ति, मुष्करीर्ण, वीर्यशय इनमें शोथ पैदा करता है। यहीं नहीं जीवाणु रक्त में पहुँचकर संघियों में, हृदय में, द्वायुओं में शोथ पैदा करते हैं। सुजाक गठिया का एक वदा कारण है। कभी कभी स्थाव से दूर्वित इस्त से आंखें, नासा, गुद हृनमें भी शोथ पैदा होता है। रोग पुराना होने पर प्रातःकाल में मूत्रमार्ग से जरा सा चेप या मन्वाद निकलता है, मूत्रद्वार के ओष्ठ चिपक जाते हैं, शिल की खेणियों का शोध होने से उसमें एक प्रकार की सख्ती आती है और वह कुछ देहा (Chordae) ही जाता है, मूत्रमार्ग

में संकोच पैदा होकर मूयकृष्ण होता है तथा सूत में जहर फैलने के कारण उपर्युक्त उपद्रव भी उत्पन्न होते हैं। लिंगों में भी रीग मूत्रमार्ग में प्रारम्भ होकर पीढ़ी की ओर फैलकर थोनि, गर्भावाय, धीजवाहिनी, धीजकोय, उदर इनमें शोथ पैदा करता है। यदि गर्भवती दृशी को सोजाक हो या सोजाक पीड़ित शो गर्भवती हो तो प्रसूति के समय शिशु की आँखों में भवाद लग जाता है और अभियन्त्र ऐदा होकर शिशु अथा हो जाता है। इसको नवनात नेत्राभियन्त्र (Ophthalmitis Neonatorum) कहते हैं। नवनात बालक घरे होने का सोजाक एक बड़ा भारी कारण है। प्रसूति वं पूर्ण सोजाक पीड़ित माता की थोनि पहले साफ कर लेनी चाहिये और जन्म के पश्चात् बालक की आर्ति ऐदा होकर उनमें २% सिस्टर नायट्रेट सोलेन के दो दृष्ट दालने चाहिये। इससे बालक अधा होने से बचेगा। पुरुषों में क्लीवना और लिंगों में बाकफन का सोजाक एक बड़ा भारी कारण है। फिरग की अपेक्षा सोजाक से पीड़ित दोनों का अधिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं, परन्तु सतति में इसका असर नहीं होता। (३) उदारव्यापी कांबुर—(Granuloma Genito Inguinale)—यह चींचा मैसुन अन्य रोग है। इसमें निभ या भग पर एक दाढ़ा पड़ता है जो फूटकर दृश्य बन जाता है। दृश्य दा धृष्ट भाग रक्तर्खण रोहण-धातु के अकुर्तों से भरा हुआ और किंचित् उत्तर होता है। दृश्य केवल एक दिया में होता है और जयासों में पहुँच जाता है। जयासे छी प्रियर्वन नहीं पूर्णतः। भ्रश में खाज बहुत होती है। खाज के कारण लिंग अथा दिल जाती है, बाल घिर जाते हैं। कुछ दूष सूखा होता है, परन्तु कभी कभी निर्वाच पतला लाव निकलता है। यकल में दृश्य कंसर या लिले हुए गार्मी के सूजम पांचुरों के समान होता है। दृश्य ठीक होने पर दृश्य वस्तु में बहुत सिकुड़न पैदा होती है। इस सिकुड़न के कारण लिंग की थोनि तग होकर मैसुन, मासिक धर्म और नर्मधारणा इनमें रुक्कावट पैदा होती है। पुरुषों में निभ देढ़ा होकर मैसुन अम्बव हो जाता है। गुद या मूत्रमार्ग के पास दृश्य होने से इन्ड्रा मक्काव ऐदा होता है। सुखुत के अर्थे निदान के १०८ सूत्र में और आठांगसम्प्रद के गुरुरोगविज्ञानीय (उत्तरस्थान के इत्य) अध्याय में 'लिंगार्थ' नामक एक रोग वर्णन किया है। 'दोषाभ्युपित्येण वलिनागुरज पथा' की का प्रयग हस्त रोग का एक कारण है। इसमें उपर्युक्त रोग के लक्षणों के अनुमार निभ या थोनि पर उत्तरस्थान मांसांकुर उपच होते हैं, उनमें कण्डा होती है, द्वाद निकलता है और उपेशा करने से थोनि, निभ, अर्नव, पुरुष इनका नाय होता है—जाथों कुपिनें और उदारव्यापिनिया भूते। अन्यदिनों मूल्य कांडूला मासीलया। ॥ निभिलासवाया योनी नद्य उपत्यकिभा। १ नगीस्युपभया भनिन मन्तुम्भवभग्निवेम। ॥ इन लक्षणों का विचार करने से दिग्गंग बुधा यही रोग हो सकता है। (४) बद (Climatic tul) (Lympho granuloma)—यह पौच्छार्वी मैसुनअन्य रोग है। इसमें गुरु-निद्रा पर जिसकी ओर ध्यान आकर्षित हो सके इस मकार का दाना या द्राघ नहीं बनता है। और और एक तरफ की जयासे की अधिया निकल जाती है। एक दो स्पाद के बाद

उनके द्वास पाम भी शोथ उपच दोकर पे आपस में तथा उपर की लिंग के साथ समर्प हो जाती है। उपर की लिंग में भी मूल्य भारी है। कुछ दिनों के बाद समुद्र कई स्थानों में पक्का है और फृटने के बाद अनेक नहीं बग्ग बनते हैं, जिनसे गाड़ा भलाई का सो मवाद निकलता है। प्रारंभ में थोनी, सिरदूर, पापसाद, उत्तर, गीव, स्पंद, अरुचि इत्यादि लक्षण होते हैं, परन्तु कुछ दिनों के बाद रक्त होकर केवल सूखा के समय ताप जरा सा बढ़ता है। आयुर्वेद में जन्म नामक रोग तन्मान्तर में वर्णन किया है—अस्यमियनिरुद्धर्ष-सेवनाविनय गत। वरोति ग्राविक्टोप दोषे वड्डमासपितु। उत्तर-वृद्धमालाद्य त सप्तमिति निर्दिष्ट। ॥ कदाचित् ग्राम यही रोग हो सकता है।

शीपदनिदानम्

कुपितास्तु दोषा वातपित्तश्लेष्माणोऽधःप्रपदा घद्द्वाणोरजानुज्ञास्वयतिष्ठामानाः कालान्तरेण पादमाध्रित्य शनैः शोषं जनयन्ति, तं स्त्रीपद-मित्याचक्षते। नव्विविधं—वातपित्तकफनिमित्त-मिति ॥ १२॥

कुपित हुए बाल, विच, कफ दोष भीषि को प्राप्त होकर जयामा, ऊरु, जातु और पिंडली में स्थित हुए समय पाकर पैरों का आध्रय करके थोरे थोरे थोथ उत्पन्न करते हैं। उसे स्त्रीपद (गीलिया) कहते हैं। यदि स्त्रीपद बाल, विच और कफ के कारण लीन प्रकार का होता है ॥ १२॥

वक्तव्य—भीष—इसको फ्लारिस्टियामिस (Elephantiasis) कहते हैं। कायवेनिआ साम्बिनिस होमीनिम (Filaria sanguinis hominis) नामक कृमि के कारण होती होता है। सुख कृमि को कायवेनिआ वैकोस्टाई कहते हैं। ये कृमि वेतवर्ण, पारदर्शी, वेगमध्य पतंग, और ३-४ इच्छ लघ्व होते हैं। की और पुरुष कृमि निभ निभ होते हैं। ये हमेशा आरम्भ में नेत्र की भाँति मुदे हुए इस तरह से होते हैं कि इनको स्वतन्त्र करना कठिन होता है। दोनों का पिंडला सिरा धोया रहता है, सिर चीड़ा रहता है और शीष में सुख होता है। कीकृमि पुरुषकृमि की अपेक्षा दुयुक्त लक्षण और अधिक सोटा होता है और जनवेनिद्रा मिर के नर्मीप रहता है। ये हृस्मि रम्फूल्या, रसायनी, लमिका अधियां, रसायनीजालक इत्यादि में रहते हैं। कीकृमि गार्मी जीवितावस्था में समय समय पर अस्तर्य सूक्ष्म कृमि (Microfilaria) उत्पन्न करती है, जो रक्त और हासिका वाहिनियों में स्थान करते रहते हैं। इन सूक्ष्मकृमियों की लक्षण है—इसके साथसाथ होती है और लीडा होती है लाल कण के बराबर होनी है। ये किंचित् गतिशुक्ल होते हैं, परन्तु इसमें श्वासनातर करने की शक्ति नहीं होती। इनकी एक विचित्र बात यह है कि ये लिंग के रूप में दिन में नहीं पाये जाते। सप्ता के समय में योदे योदे रक्त में आपे लगते हैं, और ज्यों ज्यों रात्रि गुमरती जाती है, यही स्वीकृती इनकी सेव्या बद्दी जाती है। मध्यरात्रि के समय इनकी सेव्या स्वयं समय में अधिक होती है।

(एक द्वैद स्त्री में गे ३००-६०० तत्त्वपाने जाते हैं । इसके र भैन्सन नामक शारद्वजा ने जग्मुगान किया है कि समस्त इनकी संख्या पाँच करोड़ के लगभग ही सहजी है । दी बाद इनकी संख्या फिर घटती जाती है और आठ प्रातःस्नान तक रक्त में गे विलम्ब नहीं मिलते । दिन एवं नियास फुफ्फुस, दृढ़ तथा बड़ी गड़ी रक्तव्याहिनियाँ हैं । रात्रि की इस घटना के कारण इस प्रकार के का नाम रात्रि का (Nocturna) रक्तव्य गया है । दूसरी जाति के कृमि दिन में मिलते हैं । उनका नाम (Diurna) रक्तव्य गया है । दूसरी जाति के कृमि त एक में मिलते हैं । भारतवर्ष में रात्रि के कृमि हैं । इस विचित्र घटना का कारण यह ही सकना है म कृमियों की दृष्टि के लिये जिस भूल्कर की आवश्यकता है वह क्यूलेक्स फैटीजीनम नामक भूल्कर रात्रि का आवश्यकता है । भूल्कर के शरीर में वृद्धगृहियों का जीवन—पिण्डिया से पीछित रोगी को क्यूलेक्स जाति की रात में काटती है तो उसके पेट में रक्त के साथ बहुत म कृमि प्रविष्ट होते हैं । वहाँ पहुँचने के बाद वे अपने ग से याहर निकल कर वक्ष की पैगियों में बुझ जाते हैं । १०-२० दिनों के भीतर इनमें विशेष परिवर्तन होकर वर्धित होते हैं । इस शयस्था में इनकी लम्बाई दृढ़ इंच के ग होती है । पचासेगियों से ये भूल्करी के शरीर में फैलते न्हु बहुत से शुंडा के पास पहुँच जाते हैं । जब भूल्करी घृणित को काटती है तब वे शुंडा में से निकल कर पर आते हैं और काटने के लिये में से खचा में बुस-वसिका हारा लसिकावाहिनियों में और ब्रंथियों में स करते हैं । करीय यः महीने के पीछे ये युवा कृमियों देवतित होते हैं । श्रीकृष्ण असंख्य सूक्ष्म कृमियों की ते करने लगती है । इस प्रकार इस कृमि का जीवनचक्र जारी रहता है । श्रीपदवाहक मन्त्र—इसका नाम क्यू-फैटीजन्स है । यह घेरेलू मन्त्र है जो मकान के पास त हुए खराब पानी में अप्पे देता है । मन्त्रिरी रोग फैलाने में करती है । इसकी जाती उदर पर झुकी रहती है त वह कुण्डा सा द्विलाई देता है । दीवार पर बैठते समय वह उदर दीवार से समान्तर होता है । शुंडा शरीर के सीधी न रहकर कौन बनाती है । पंख के ऊपर चित्तियाँ होती । भूल्करी रात्रि के समय काटती है । श्रीपद की सी—श्रीपद में पैर तथा अंगों पर मरुत सूजन आती है जो दवाने से दवती नहीं—शिलावत पद श्रीपदम् । शनैः ते शीक्षीपदं तत् प्रवक्षते । (अष्टांगसंग्रह) । इस प्रकार सूजन कैसे उत्पन्न होती है, इस विषय का ज्ञान आभी तक ठीक नहीं हुआ है । जब तक लसिकावाहिनियाँ अनवरहती हैं तब तक युवा और स्त्रीम कृमियों की उपस्थिति कुछ भी खारायी नहीं होती । परन्तु युवा कृमियों के कारण लसिका के प्रवाह का भारी अवरुद्ध हो जाता है तब एवं उपचय हो सकता है । कृमि एक सहायक कारण है । के कारण खचा, उपचयचा, और लसिकावाहिनियों में उपसर्ग होकर रोगी की मृत्यु हो सकती है । आष्टांगसंग्रह में ‘सपरिसुति’ लिखा है—पितृवृत्तनक्षत्रात् ॥८८॥

अन्य जीवाणु (Cocc) उनमें मोथ उत्पन्न करके कठिन स्वरूप की भूजन उत्पन्न कर सकते हैं । श्रीपद के आवेग वार वार नियत समय पर आया करते हैं । आवेग के समय उत्तर आया करता है । उत्तर के साथ साथ दीनों पर वा वृष्टियों पर सूजन भी आ जाती है और सूजन के स्थान में पीड़ा होती है । कुछ दीनों के बाद उत्तर अस्त्री ही जाता है, परन्तु कुछ भूजन शेष रहती है जो प्रत्येक आवेग के समय अधिकाधिक वहती जाती है और अन्त में वह भाग मोटा पड़ जाता है । श्रीपद अधिकतर दीनों पर और फौते पर होता है परन्तु द्वाय, गिरा, भग, मन, वृपण दृत्यादि पर भी ही सकता है—यः तज्जर्वलवृश्चामो भृशातिः शीधो नृणां पादगतः क्रमेण । तच्छ्लीष्टं स्यात्, कर्त्तरीनिविश्चिरभौषनासाक्षण्यिकानिदातुः ॥ (माधवनिदान) । जब वृपण की त्वचा मोटी पड़ जाती है तब उसको मेंदोंग वृपणावृद्धि कहते हैं । जब कृमि उदरस्थ बड़ी बड़ी रसवाहिनियों में निवास करके रसप्रवाह में रुकावट उत्पन्न करते हैं तब रम उदरगुहा में संचित होकर जलोदर उत्पन्न होता है, जब रम वस्ति में आता है तब पिष्टमेह उत्पन्न होता है, और जब रम आन्त्र में आना है तब ग्रीतिसार उत्पन्न होता है । इस प्रकार ये कृमि रस्थान स्थान पर रसप्रवाह में वाधा उत्पन्न करके विविध रोग उत्पन्न कर सकते हैं ।

तत्र, वातजं खरं कृष्णं पस्पमनिमित्तानिलरुज्जे परिस्फुटति च वहुशः; पित्तजं तु पीतावभासमी-पन्सुदुज्जवरद्वाहप्रायं च; श्लेष्मजं तु श्वेतं स्त्रिग्धावभासं भन्दवेदनं भारिकं महाग्रन्थिकं कण्टकंरूप-चित्तं च ॥१३॥

(दीपों के अनुसार श्रीपद के लक्षण—) इनमें वातज श्लीपद खुरदरा, कृष्णवर्ण, कठिन, अकारण वेदना होने वाला और वहुत दरारुक्त होता है । पित्तज श्रीपद किंचित् पीतवर्ण, किंचित् मृदु, उत्तर और दाहयुक्त होता है । श्लेष्मज श्रीपद श्वेतवर्ण, चिकना, अल्पवेदनायुक्त, भारी, गंडीला और अंकुरों से भरा होता है ॥१४॥

तत्र संवत्सरातीतमतिमहद्वत्मीकजातं प्रसृत-मिति वर्जनीयानि ॥१५॥

(असाध्यता—) इनमें एक वर्ष से पुराना, अत्यंत वहा हुआ, वल्मीक के समान (अनेक शिखरों और गाँठों से युक्त) हुआ, भरने वाला श्रीपद श्रासाध्य होता है ॥१४॥

वक्तव्य—अतिमहत्—जिसका परिमाण अत्यंत वहा गया हो । कलकत्ते के एक रोगी का वृपण परिमाण से इतना वह गया था कि वह उसका उपयोग टेवल की भाँति लिखने के लिये करता था । वल्मीकजातं—वल्मीकवज्जातग, अतिवक्तव्य-शिखरैर्यथिभिरुपचित्तवात् ॥ (डल्हण) । प्रसृतम्—त्वचा विद्रीर्ण होकर जिससे लसिका का स्वाव होता रहता है । इससे पूर्णजनक जीवाणुओं का खचा, उपचयचा और लसिकावाहिनियों में उपसर्ग होकर रोगी की मृत्यु हो सकती है । आष्टांगसंग्रह में ‘सपरिसुति’ लिखा है—पितृवृत्तनक्षत्रात् ॥८८॥

भवन्ति चात्र—

कीयप्पेतानि जानीयाच्छीपदानि कफोच्छयात् ।

गुरुत्वं च महस्यं च यमादास्ति विना कफात् ॥१५॥

ये सीनों ही प्रकार के क्षीपद कफ की अधिकता से (होते हैं ऐसे) जानने चाहिये, क्योंकि कफ के विना मोटापन और भारीपन नहीं हो सकता ॥१५॥

पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वतुंषु च शीतलाः ।

ये देशास्तेषु जायन्ते क्षीपदानि विशेषतः ॥१६॥

जो देश पुराने जल से भरे हों तथा सब शुद्धियों में शीतल हों, उनमें क्षीपद विशेषतया हुआ करते हैं ॥१६॥

वसाइय—इस स्थोक में क्षीपद का विशेष प्रधार किस प्रकार के देशों में होता है, उसका सहित निर्देश किया है।

इस स्वव्याप्ति की अंग्रेजी में Geographical distribution and prevalence कहते हैं। पुराणोदकभूयिष्ठा—जहाँ बहुत दिनों का पानी इकड़ा होता है ऐसा देश, अर्थात् अनूप देश—अनूपदेश सलिल यतिन बहुत निरान्तरा न शेषियाति । (मधुकारायात्रा) । चक्रमेहिता में अनूप देश का 'सतित्समुद्र पर्यन्तप्रय' यह एक लक्षण दिया है। इन सभ लक्षणों का विचार करने पर सीपोदीपति के लिये योग्य भूमिभाग यह होता है, जिसमें जमीन नीची सतह की होने के कारण वर्षा का पानी इकड़ा होता है तथा जिसमें नदी और सुमुद्र का किनारा बहुत होता है। जैसे—हिमालय की तराई, सयुक्त भास्त का उत्तर और पूर्व भाग, विहार, बागल, उडीसा, मद्रास का पूर्व किनारा, आवश्यकोर, कोकील, मगलोर तथा चबई का पश्चिम किनारा, काठियावाड़ का समुद्रसमीपवर्ती पश्चिम इत्यादि । इन प्रदेशों में इहने से तथा प्रवास करने से भी क्षीपद ही सकता है—भीषण जायने तक देहेऽन्ते भूग्र अमाव ।

(अधिगतमह) । भीतल, आर्द्ध, जलभूयिष्ठ में भी क्षीपदादक मरुस्तों की दलत्ति में सहायता देना है तथा तस्विरासी लोगों की प्रकृति क्षीपद के लिये अनुकूल बनाता है। इन समय में भी उपर्युक्त प्रदेशों में क्षीपद रोग विशेषण से दिखाई देता है।

पाद्यदस्त्योक्त्यपि क्षीपदं जायते नृणाम् ।

कर्णादितासिकौषुपु केविद्युच्यन्ति तद्विदः ॥१७॥

इन सुधुतसंहिताया निदानामे इष्टपुरानार्थीपदनिरान

नाम द्रष्टव्योऽध्याय ॥१७॥

(क्षीपद के स्थान—) पीरों की भौति मरुस्तों के हाथों में भी क्षीपद होता है। कई क्षीपदविद् कान, नेत्र, नासिका और होठ इनमें (भी क्षीपद होता है, ऐसा) मानते हैं ॥१७॥

धन्तदृश्य—क्षीपद का सुख तक्षण जो घन गोक यह पैर के अनिक छाप, कर्ण, नासिक स्थानों में हो सकता है, यह आमतिन वैज्ञानिक गोपन से भी सिद्ध हुआ है।

इन भास्तरामणों गोपी-शम्भेन विचित्रायामामुद्रेशस्त्रिकिताया

सुधुतभासीकाया निदानस्थाने इष्टपुरानार्थीपदनिरान

नाम द्रष्टव्योऽध्याय ॥१८॥

त्रयोदशोऽध्यायः ।

अथातः क्षुद्ररोगाणां निदानं व्यायास्यामि
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से क्षुद्र रोगों के निदान का व्याख्यान कहे जाएं कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वसाइय—क्षुद्ररोग—इसके निम्न अर्थ हो सकते हैं

(१) विशेष वर्गकरण के अनुसार जिनका वर्णन भी समान नहीं हुआ है, ऐसे रोग । (२) दृश्य दृश्यादि के अनुसार विस्तृत रूप से वर्णन न करके सलोक में वर्णन किये हुए रोग ।

(३) जिनकी हेतुलक्षणविकल्पा यद्युत साधारण होती रहे रोग । (४) क्षुद्र रोग के नाम से वर्णन किये गए पारिभाषिक संज्ञा ।

समासेन चतुर्थत्वारिंशत् क्षुद्ररोगा भवन्ति तदथा—अजग्निका, यवप्रस्त्रा, अन्धालै

विवृता, कच्छुपिका, वल्मीकम्, इन्द्रवृद्धा, पनसिक

पायाणगर्दभः, जालगर्दभः, कक्षा, विष्टोटक अभिरोहिणी, चिप्पं, कुनखः, अनुशर्वी, विरिका,

शर्करार्दुंदं, पामा, विचरिका, रक्षा पाद्यारिका, कदरम्, अलसेन्द्रवृत्तौ, दारुण अरुणविषया, पलितं, मसूरिका, यौवनपिङ्डका, पर्वि

नीकण्ठको, जतुमणिः, मशकः, चर्मकीलः, तित कालको, अच्छंड, व्यजः, परिवर्तिका, अवपाटिका

निरुद्धप्रकशः, संनिरुद्धगुदः, अद्विपूतनं, दृष्टव कच्छूः, गुद्भ्रेशश्चेति ॥२॥

(संलेख और नाम—) सलोक से चौबालीस क्षुद्र होते हैं । जैसे—१ अजग्निका, २ यवप्रस्त्रा, ३ अन्धालै

४ विवृता, ५ कच्छुपिका, ६ वल्मीकम्, ७ इन्द्रवृद्धा, ८ पनसिक

९ पायाणगर्दभः, १० जालगर्दभः, ११ कक्षा, १२ विष्टोटक १३ अभिरोहिणी, १४ चिप्पं, १५ कुनखः, १६ अनुशर्वी, १७ विरिका, १८ शर्करार्दुंदः, १९ पामा, २० विचरिका, २१ रक्षा, २२ पाद्यारिका, २३ कदरम्, २४ अलस, २५ इन्द्रवृत्तौ

२६ दारुण, २७ अरुणविषया, २८ पलितं, २९ मसूरिका, ३० यौवनपिङ्डका, ३१ पर्विनीकण्ठको, ३२ जतुमणिः, ३३ मशकः

३४ चर्मकीलः, ३५ निलकालक, ३६ न्यजः, ३७ व्यजः, ३८ परिवर्तिका, ३९ अवपाटिका, ४० निरुद्धप्रकशः, ४१ संनिरुद्धगुदः

४२ अद्विपूतनं, ४३ दृष्टव कच्छूः, और ४४ गुद्भ्रेश ॥२॥

धन्तदृश्य—चतुर्थत्वारिंशत्—वामट

माधव ने तेनान्तर्मधुद्रोग रूपन किये हैं। वामट ने इस विद्वा विदा करके, ओधालनी अलनी करके, माधव ना करके और अच्छंड कान्छन करके पर्णन किया है। वामट यी विचरिका सुधुत से अनुमार बुढ़े में वर्णन किये हैं। इन्द्रवृत्तं पलित दारुण और अरुणविषया गोपी-शम्भेन विचित्रायामामुद्रेशस्त्रिकिताया

किये हैं। परिवर्तिका, अवपाटिका और निरुद्धप्रकश गुद्भ्रेश

वर्णन किये हैं । अहिपूतन 'पुष्टारुदकुंडं च' करके वाला-प्रतिपेत्र (उत्तरतन्त्र) में वर्णन किया है । अनुशयी, सा, पाददारिका, वृषणकच्छु और गुदब्रंश इनका वर्णन भट्ट में नहीं मिलता । निम्न छुद्रोग वामभट में अधिक ते हैं । (१) गर्दभी—ताम्यामेव च गर्दभी । मण्डल विपुले-वा सरामपिटिकान्तिता ॥ (२) गंधनामा—पित्ताद्वन्ति पिटिकाः सा लाजेपमा धनाः । तादृशी महती त्वेका गन्धनामेति वीर्तिना ॥ (३) रजिका—धर्मस्वेदपरीतेऽङ्गे पिटिकाः सूर्जो धनाः । रजिका-सिंसान्तप्रमाणा रजिकाहयाः ॥ इसको Prickly heat या ichen Tropicus कहते हैं । (४) प्रसुति—वायुनोदीतिः प्या त्वचं प्राप्य विशुद्धनि । ततस्त्ववजायने पाण्डुः क्रमेण च विनेना । अत्पकाद्विषेदा सा प्रसुतिः प्रसुतिः ॥ इसको स्वाप या अता और अंगेजी में Local anaesthesia या Numbness होते हैं । (५) इरिविलिका—विलिगा पिटिका वृत्ता जट्रूर्ध्वमिरिलिका ॥ माधवनिदान में इरिविलिका का लक्षण—पिटिका-तमोगसां वृत्तासुग्रजाउवराम् । सर्वार्तिकां सर्वर्लिङ्गां जानीया-रेतिलिकाम् ॥ (६,७) । उत्कोठ और कोठ—असन्ध्यवमनोदीर्घ-रेतेभान्तियैः । मंडलान्त्यतिकण्डुनि रागवन्ति वहूनि च । उत्कोठः, गेन्तुवदस्तु कोठ इत्यमिथीयते ॥ इसको Urticaria या Angioneurotic oedema कहते हैं । उत्कोठ अलर्गी (Allergy) गमक अवस्था का एक प्रकाट लक्षण है । उत्कोठ विशेष ताद्य द्रव्यों (जो प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न भिन्न हो सकते हैं) के सेवन से, क्षीनीन संखिया तथा अन्य ओपविधियों के सेवन से, उदास्य कुमियों (केंचुपु) से, खटिक (Calcium) की कमी से तथा कुछ मानसिक उत्तेजनाओं से उत्पन्न होता है । इन कारणों से खचा में हिस्टामाइन या तत्सद्या दूसरा रासायनिक पदार्थ उत्पन्न होकर वह स्थानिक धमनिकाओं और केशिकाओं को विस्फारित करके उनकी दीवार में से अत्यन्त युक्त लसिका का साव करता है जिससे स्थान स्थान पर मण्डल (Wheals) बनते हैं । इन मण्डलों की विशेषता यह होती है कि ये शीघ्रता से उत्पन्न भी होते हैं और शीघ्रता से मिट भी जाते हैं—वरटीदृष्टकण्डमाण्डोहितोऽवकफितात् । क्षणीयेत्वादविनाशः कोठ इति निगदते तद्देः ॥ (भालुकितन्त्र) । माधवनिदान में इक्सा का वर्णन नहीं है । मसूरिका और विस्फोट का स्तनन्त्र विस्तृत वर्णन किया है । पामा और विचिंचिका का कुष में वर्णन किया है । चर्मकील का वर्षी में वर्णन किया है । गर्दिमिका, इरिविलिका, गन्धमाला, नीलिका और वराहदंष्ट्रे ये छुद्रोग अधिक वर्णन किये हैं । इनमें से पहले तीनों का वर्णन ऊपर आया है । मुख के अतिरिक्त स्थान के व्यंग को नीलिका कहा है—व्यंग वक्त्रादन्यन्त्र नीलिका । वराहदंष्ट्र—सदाही रक्तर्थनस्त्वपाकी तीव्रेदनः । कण्डमान उत्तरकारी च स स्वाच्छूकरदंष्ट्रः ॥

स्थिर्धा स्वरणा ग्रथिता नीरजा सुदृसंचिभा ।

कफवातोत्थिता द्येया वालानामजगलिका ॥ ३॥

(अजगलिका—) चिकनी, खचा के वर्ण की, गाँठदार, पीड़ाहित, भूँग के समान (मोटी), कफ और चात

से वालकों में उत्पन्न हुई (पिटिका) अजगलिका समझनी चाहिये ॥३॥

वक्तव्य—वालानाम—प्रायोभावितादुक्तं, तेनावालानामपि दृश्यमाना संगच्छन्ते । (सञ्चुकोगच्चाल्या) ।

यवाकारा सुकटिना ग्रथिता मांससंश्लिष्टा ।

पिटिका श्लेष्मवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते ॥४॥

(यवप्रख्या—) कफ और चात से मांस में उत्पन्न हुई जों के आकार की (वीच में स्थूल और दोनों ओर नोकीली), वहुत कठिन, गाँठदार पिटिका यवप्रख्या कहलाती है ॥४॥

घनामवक्त्रां पिटिकासुच्चतां परिमण्डलाम् ।

अन्धालज्जीमलपूर्यां तां विद्यात् कफवातजाम् ॥५॥

(अन्धालज्जी—) कठिन, मुँहचिरहिन, ऊपर को उठी हुई, गोल और अलपूर्ययुक्त पिटिका अन्धालज्जी है; यह कफ और चात से होती है ॥५॥

वक्तव्य—इसको वामभट ने अलज्जी और माधव ने अन्धालज्जी कहा है । भोजवचनानुसार यह स्नायुगत होती है—ऐमानिलौ थितौ स्नायुं पिटिका परिमण्डलाम् । दृष्टी जनयतोऽव-वक्त्रामल्पूर्यामकण्डुराम् । आमोदुम्भरसंकाशां विद्यान्त्रालज्जीं तु ताम् ॥

चिवृतास्यां महादाहां पकोहुम्भरसंचिभाम् ।

चिवृतास्मिति तां विद्यात् पित्तोत्थां परिमण्डलाम् ॥६॥

(विवृत—) चौड़े मुँहवाली, अत्यंत जलन (और ज्वर) करने वाली, पके गूलर के समान (वर्ण की), और गोल पित्तजन्य (पिटिका को) विवृता समझना चाहिये ॥६॥

त्रन्थयः पञ्च वा पञ्चा दारुणाः कच्छपोच्चताः ।

कफानिलाभ्यासुदृतां विद्यात्तां कच्छपीमिति ॥७॥

(कच्छपी—) कफ और चात से उत्पन्न हुई, कच्छपे के (पीठ के) समान उच्चत, कठिन, पांच वा छः ग्रन्थियों (के समूह) को कच्छपी समझना चाहिये ॥७॥

पाणिपादतले सन्धौ ग्रीवायामूर्धजञ्जुणि ।

ग्रन्थिर्वल्मीकवद्यस्तु शनैः समुपचीयते ॥८॥

तोद्वेष्टदपरीदाहकपद्मद्विर्वणैर्वृतः ।

द्वायाधिर्वल्मीक इत्येष कफपित्तानिलोङ्गवः ॥९॥

(वल्मीक—) हस्ततल में, पादतल में, जोड़ों में, ग्रीवा में और जनु के ऊर्ध्व प्रदेश में जो ग्रन्थि सौंप की वावी के समान धीरे धीरे बढ़ती है ॥९॥ जो पीटा, साव, दाह और कण्डु हृनसे युक्त वर्णों से व्यास होती है वह कफ, चान और पित्त से उत्पन्न हुई व्याधि वल्मीक है ॥९॥

वक्तव्य—माधवनिदान में वल्मीक के निम्न लक्षण अधिक मिलते हैं—सुरैनेकैः सुतितोदवद्विर्विसंपवत् सर्वति ज्ञेत्रात्मैः । वल्मीकमयूर्भिपौ विकारं निष्प्रथयनीकं चिरं विशेषात् । माधवाचार्य और सुश्रुत के लक्षणों को मिलाकर वल्मीक का जो स्वरूप बनता है उसका बहुत कुछ साम्य पुकिटनोमाय-कोसिस और मायसीटोमा या मदूरापाद (Actinomycosis and mycetoma or madura foot) नामक विकारों के साथ होता है । ये दोनों विकार पुकिटनोमाहस (Actinomyces) नामक जीवाणु के कारण होते हैं । वल्मीक की भाँति

मेरे पादनल, हाथ, जामुसधि, हनुसधि शत्रक (जयपूर्व) भीवा हस्यादि स्थानों में होते हैं, बल्मी के समान आकार में होते हैं, अस्थन चिरज (Chronic), विमर्ष के समान सद्विधि से फैलने वाले, निपत्तिकिय, अनेक पूर्युक्त नारी घण्यों से कुकु और मर्मस्थानों पर आक्रमण घने से धातक होते हैं। रोग स्थानिक होता है, उसमें मांसैनिक लत्य दुष्ट भी नहीं होते। इन सब घण्यों का दिचाः ८८ । यह मास्थम पड़ता है कि बल्मीक बुधा यही विकार हासा।

पंशकर्णिकयन्मध्ये पिङ्काभि समाचिताम् ।

इन्द्रवृद्धा तु तां विद्याद्वातपित्तोथितनं भिषक् ॥१०॥

(इन्द्रवृद्धा—) पश्चीकोप की भाँति जो (हाटी दूरी) कुनियों से न्यास होती है, यह वात और पित्त से उत्पन्न हुई पिङ्का इन्द्रवृद्धा समकक्षी चाहिये ॥१०॥

कर्णौ परिसमन्ताद्वा पृष्ठे वा पिङ्कोप्ररुह् ।

शालूकवृत्पनसिका तां विद्याद्वेष्यवातजाम् ॥११॥

(पनसिका—) कान के ऊपर, आसपास या पीठ पर सीधे पीड़ा कुकु कमलकद के समान (कठिन), वात कफ से उत्पन्न हुई पिङ्का पनसिका समकक्षी चाहिये ॥११॥

वक्तव्य—कर्णौ परिसमन्ताद्वा—थीवचण्डदत्त हस्का अर्थ कान के भीनर ऐसा करते हैं—एशा भोजे 'ममनन' इन बचनात् कर्णाय बहिधि भवतीति केविद् व्याचक्षते। ततु न सम्भव समन्तन इत्यस्य कर्णाभ्यन्तर एवोपवत्वात्। (मुकुकोप्यव्याह्या)। शालूकवृत—कमलकद के समान कठिन तथा उसके आकार की—कठिनोद्यक्त। शालूकाभा पनसिका। (अट्टाग्रसमह)।

हनुसन्धी समुद्भूत शोफमरुपरुज स्थिरम् ।

पायाणगर्दभ विद्याद् वलासपयनात्मकम् ॥१२॥

(पायाणगर्दभ—) हनुसधि में उत्पन्न हुआ, वातकफ जन्म, अल्पपीडा कुकु, स्थिर शोफ पायाणगर्दभ जानना चाहिये ॥१२॥

वक्तव्य—पायाणगर्दभ की कुछ लोग थीवसर्पिक कर्ण्य मूलिक शोय या कर्णेफर (Epidemic paroxysms या Mumps) होते हैं। परन्तु कर्णेफर या हप्पु के लक्षण पायाण गर्दभ के बिल्कुल विल्लेख होते हैं। पायाणगर्दभ में पित्तानुवध न होने के कारण उन नहीं हो सकते तथा उसके लक्षणों में ज्वर का उद्भव नहीं है; कर्णेफर में ज्वर होता है। पायाणगर्दभ का शोय एक तरफ होता है; कर्णेफर में दोनों ओर शोय होता है। पायाणगर्दभ में अल्पपीडा होती है; कर्णेफर में अधिक पीड़ा होती है। पायाणगर्दभ का शोय रित्यर अधिक कठिन (पायाणगवृत कठिनायत् पायाणगर्दभ । मधुकोण) और रित्यर होता है; कर्णेफर का शोय न कहि है न वित्यर होता है। बहुत करके पायाणगर्दभ कर्ण्य, लालाप्रधि (Parotid gland) का कोई साधारण न होगा। (यथा Adenoma Endothelioma) होगा।

विमर्षपत् सर्वंति यो दाहजरकस्तनु ।

अपाक् शयथु पित्तान् स देयो जालगर्दभम् ॥१३॥

(जालगर्दभ—) विमर्ष के समान फैलने वाला, दा और उत्तर करने वाल, ईश या मास्तुक पित्तयुक (प्रबद्धानी) ने गारा इग्ना हड्डा मा शोय जालगर्दभ च। १३।

यत्काय—पि १—५. भूतापत् द् । मनस्तु विषमवल मुद्दा दीपा मुरीव तनुरकाम्यम्। (चरक)। भोज इम्ब विमर्ष कहते हैं—पिनेक्षयाच्चो दोष जनसनि लग्नशिर इव रक्त तनु शीघ्रमार्के बढ़ोदनम् ॥ पि १४. मनस्तु च तुष्ट वृत्तमनियम् । विमर्षाद्वन् व पित्तय जालगर्दभम् ॥ इसके 'शमिवात' भी कहते हैं।

याहुपायाच्चोस्त्रज्ञासु दृष्ट्यस्फोटा स्वेदनाम् ।

पित्तप्रोपसम्भूता क्वामिनि विनिर्दिशेत् ॥१४॥

(क्षा—) याहु पार्ध, अम और कक्षा हत स्थानों में वित्तप्रोपोर से उत्पन्न हुई, पीड़ायुक काली कुम्ही के कक्षा कहना चाहिये ॥१४॥

यत्काय——याहुपायाच्चोमध्याम्बुद्धा—बाल के आस पास के स्थान में। कना—सुखन में वेचन एक ही कोटा र्ध्यन किया है। इसलिये कक्षा से कक्षालिमिकामधि शोय (Acute Lymphadenitis of the axillary glands) का थोथ होता है। कना की स्थिकाप्रधि में शोथ होने से भीरे भीरे वह शोय पार्ध थाए और याहु की ओर फैलता है। बहुत करके सुखन की कक्षा वामभट और मापव की रोधनामार (गधमाला) होती है। चरक और वामभट की कक्षा लातपित्ताय तथा अनेक सूक्ष्म तुमियों से होती है—याहुपायामध्यनियम प्रभूता पित्तनियाच्चो जनितालु कथा । (चरक)। कहेंगे कप्पनबेश्य प्राये देशेषु सानिलाद् । पित्तान् भवति पित्ता नृहमा लालोपमा वता ॥ (अट्टाग्रसमह)। इस कक्षा को हर्पेस (Herpes zoster) कोस्टर कह सकते हैं। इसमें सौंख्य विशेष करके पर्युक्तान्तरीय नाडियों (Intercostal nerves) के सार्ग पर कठिन छोटी छोटी कुनियों निकल आती हैं। अग्निदग्धनियमा स्फोटा सज्जवरा रक्तपित्तत ।

क्षवित् सर्वत्र या देवे स्तूता विस्फोटका इति ॥१५॥

(विस्फोटक—) शरीर क किसी एक भाग में या सार शरीर में रक्त पित्त से उत्पन्न हुआ ज्वर युक्त अस्तित्व के समान स्फोट विस्फोटक कहलात है ॥१५॥

यत्काय—विस्फोटा—इनका विस्फृत वर्णन माधव नियम में किया है। कुम्हलीशीशीणविदाद्वशक्तारैरतीणिश रनानीषेष । तथ्युनेषेव विष्येषेण त्रुयनिं दोषा पवनादयु ॥ तत्त्वजात्रिय ते रक्तमासासीनि प्रदृश च । योरान् कुर्वन्ति विस्फोटकं सदौन् ज्वरुर मरान् ॥ वातज रित्यन्, कफज, वातपित्तज, वात कफज, पित्तकम चातिपातिक और इकज इस तरह विस्फोटक भाठ मकार का होता है। विस्फोटकों में सातिपातिक

१ लक्ष्यम्—पित्तमुदामद्यां शृतादुपरजान्वराम् । सर्वामिको सर्वलिङ्गा जनीयादिवित् तत्त्वम् ॥ इति क्षवित्यविक पाठ २ लक्ष्यम्—पायामेविधा इद्यु पित्तिका स्फोटमनियम् । तत्त्वम् पित्तप्रोपेन गन्धनामां प्रवृक्षते ॥ इति क्षवित्यपिक पाठ

पर रक्त अमाध्य होते हैं—न ते सिंहि समावानि मिर्दयोग-
रुपि । विस्कोटक को उल्स इरप्पन (Bullous eruptions)
(पेंफिगस (Pemphigus) कहते हैं । सञ्चिपानिक और
ज्वर की Pemphigus Acutus Malignus कह सकते हैं ।
ज्ञामगोयु ये स्फोटा जायन्ते मांसहार (रु खा) ।

मन्तदीहज्वरकरा दीसपावकसञ्चिभाः ॥१६॥

मताहादा दशाहादा पक्षादा ग्रन्ति मानवम् ।

गमगिरोद्विर्णि विद्यादसाध्यां सञ्चिपाततः ॥१७॥

(शक्तिरोहिणी—) काँच के प्रदेश में प्रदीप अग्नि के
मान, अन्तर्दीह और ज्वर करने वाले, मांस विद्रीण करने
वाले जो विस्कोट उत्पन्न होते हैं ॥१६॥ वे सात दिन में,
ग दस दिन में या पंद्रह दिन में मनुष्य को मार देते हैं;
उसको सतिपातज होने के कारण असाध्य अग्निरोहिणी
समझना चाहिये ॥१७॥

नखमांसमधिष्ठाय पित्तं घातश्च वेदनाम् ।

करोति दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत् ।

तदेव ज्ञतरोगाख्यं तथोपनखमित्यपि ॥१८॥

(चिप्प—) नखमांस का आश्रय करके वात और पित्त
वेदना, दाह और पाक उत्पन्न करते हैं; उसे चिप्पव्याधि कहते
हैं । वही क्षतरोग तथा उपनख भी कहलाती है ॥१८॥

बक्तव्य—चिप्प—अंगुलियेष्टक । इसको अंग्रेजी में
ओनीकिया पुरुलंटा (Onychia purulenta) कहते हैं ।
इसमें नखमांस (Nail-matrix) पकता है । क्षतरोग—रोगः
क्षतश्मैन्दान्तरे स्यान्मांसास्तृपी भृशशीघ्रपाकः । (चरक) । चरक
के अनुसार जो क्षत रोग है उसमें चर्मनखान्तर (चर्मनख-
स्थै) । चक्कपाणिदत्त (Paronychia, whitlow) पकता है । इसको पारोनीकिया या
व्हिट्लो (Paronychia, whitlow) कहते हैं । उपनख का
भी यही अर्थ (नखसमीपवर्ती प्रदेश का पाक) होता है ।
अभियातात्प्रदृष्टे यो नखो रुक्षोऽसितः खरः ।

भवेत्तु कुनखं विद्यात् कुलीनमिति संक्षितम् ॥१९॥

(कुनख—) चोट लग जाने से जो नख दूषित होकर
रुक्षा, काला और सुरुदरा हो जाता है, उसे कुनख समझना
चाहिये । वही कुलीन भी कहलाता है ॥१९॥

**बक्तव्य—कुनख को ओनिकोग्रिफासिस (Onychogry-
phosis) कहते हैं ।**

गम्भीरमलपसंरभां सवरणमुपरिश्यताम् ।

कफादन्तःप्रपाकां तां विद्यादनुशयीं भिषक् ॥२०॥

(अनुशयी—) गहरी, अल्पशोथयुक्त, त्वचा के वर्ण की,
(मस्तक के) ऊपर स्थित हुई, कफजन्य, भीतर पकने वाली
(पिटका) को वैद्य अनुशयी समझे ॥२०॥

विदारीकन्दचहृत्तां कक्षावङ्गणसन्धिषु ।

रक्तां विदारिकां विद्यात् सर्वजां सर्वलक्षणाम् ॥२१॥

(विदारिक—) काँच और वड्गण की संधियों में
विदारीकन्द के समान गोल, रक्तवर्णी, सर्वदोषजन्य और सर्व
दोषों के लक्षणों से युक्त (पिटका) को विदारिका समझना
चाहिये ॥२१॥

बक्तव्य—विदारिका में कक्षा और वड्गण की
लसिकांग्नियों का गोथ उत्पन्न होता है । सन्निपातज हाँने
पर भी यह साध्य होनी है, क्योंकि इसमें पित्त अल्पवल होता
है । इसमें कुछ ज्वर भी होता है—ज्वरान्विता वद्धकणक्षजा या
वनिनिरन्तिः कठिनायना च । विदारिका सा कफमारताभ्याम् ॥

(चरक) ।

प्राप्य मांससिराङ्गायूः (यु) श्लेषा मेदस्तथाऽनिलः ।

ग्रन्थिं कुर्वन्ति भिन्नोऽसौ मधुसर्पिर्वसानिभम् ॥२२॥

स्त्रवत्यात्मवस्त्वर्थं तत्र वृद्धिं गतोऽनिलः ।

मांसं विशोष्य ग्रथितां शर्करां जनयेत् पुनः ॥२३॥

दुर्गन्धं क्लिन्चमस्त्वर्थं नानावर्णं ततः सिराः ।

स्त्रवन्ति सहस्रा रक्तं तद्विद्याच्छर्करार्द्धदम् ॥२४॥

(शर्करार्द्ध—) कफ, मेद तथा वायु मांस, सिरा और
स्त्रायु में प्राप्त होकर ग्रथि उत्पन्न करते हैं । वह फूटने पर मधु,
धृत और चर्ची के समान ॥२२॥ खूब साव स्वती है ।
उस भिन्न ग्रथि में प्रवृद्ध हुई वायु मांस को शुक करके फिर
गाँठदार शर्करा को उत्पन्न करती है ॥२३॥ तब (उसकी)
सिराएँ दुर्गंधयुक्त होदित नाना प्रकार के वर्ण का साव
एकाएक (सदेव) स्वती हैं । उसे शर्करार्द्ध समझना
चाहिये ॥२४॥

बक्तव्य—नानावर्णम्—षृतमेदोवसावर्णम् । (मधुकोश) ।

रक्त—साव—तमेव भिन्नं दुर्गन्धं षृतमेदोनिभं सिरा: । स्वन्ति स्वाव-
मनिशं तदा स्याच्छर्करार्द्धदम् ॥ (भोज) । शर्करार्द्ध—इसकी

उत्पत्ति भेदोग्रथि (Sebaceous cyst) के ऊपर होती है,
इसमें संदेह नहीं । इसलिये शर्करार्द्ध या तो Sebaceous

Horn होगा या Cock's peculiar Tumour होगा । कॉक के व्यूमर का वर्णन शर्करार्द्ध के साथ बहुत मिलता है—

Should the contents only escape partially, the remainder is liable to undergo putrefactive changes, giving rise to an offensive ulcerated surface with raised edges, which may readily be mistaken for epithelioma. *Manual of Surgery by Rose and Carliss.*

पामाविच्छयौ कुष्ठेषु रक्तसा च प्रकीर्तिः ॥२५॥

पामा, विच्छिका और रक्तसा कुष्ठों में वर्णन किये हैं ॥२५॥

परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थरूक्षयोः ।

पादयोः कुरुते दारीं संरुजां तलसंश्लिताम् ॥२६॥

(पाददारी—) परिक्रमण करने का जिसका स्वभाव
है उसकी वायु (परिक्रमण के कारण) अल्पतं लज्ज हुए
पांचों में तलुओं के आश्ति पीड़ायुक्त दरार (विलाई Rha-
gades) करती है (उसे पाददारी कहते हैं) ॥२६॥

शर्करोन्मयिते पादे ज्ञते वा करण्टकादिभिः ।

मेदोरक्तानुगैश्चैव दोषैवा जायते नृणाम् ॥२७॥

स्कीलकठिनो ग्रन्थिर्निष्ममध्योद्धातोऽपि वा ।

कोलमात्रः सरुक्ष सावी जायते अदरस्तु सः ॥२८॥

(कदर—) कंकड़ पथर से कुचले हुए या कपटकादि से ज्ञात हुए मनुष्यों के पाँव में मेद और रक्त के अनुगत दोषों से ॥२७॥ कीलयुक्त, कठी, नीची अथवा थीच में उत्तर को चढ़ी हुई येर के समान, पीड़ायुक्त, करने वाली गाँठ उत्पन्न होती हैं; यह कदर है ॥२८॥

यक्तदृश्य—यांत्रा—पटकर्णरुखण्डादय । पांव की भाँति हाथ में भी हो सकता है—इलयो पादयोक्षापि गांठरुगत रुखण् । (भोज) । कदर—धात । इसको कॉन (Corn) कहते हैं । बेहूद द्रव्य पदने के कारण उस स्थान की स्वच्छा के उपरितन स्तर के सेल वर्षित होकर कदर उत्पन्न होता है । किन्तु यह स्थनतरौ पांदी करहूदाहरुगच्चितौ ।

दुष्टकदमसंस्पर्शादलसंसं ते विनिर्दिशेत् ॥२९॥

(अलम्प—) खाराव कीचड़ का (अधिक काल तक) संसर्ग होने से जब दोनों पैरों की झंगुलियों के थीच में गीलापन, खाज, जलन और पीड़ा होती है तब उसे अलस समझना चाहिये ॥२९॥

यक्तदृश्य—इसको चिल्डेन (Chilblain) कहते हैं । रोमकूपानुगं पित्तं घातेन स्तह मूर्च्छितम् ।

प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोषिणः ॥३०॥

रुणद्वि रोमकूपास्तु ततोऽन्येपामसंभवः ।

तदिन्द्रिलुसं खालित्यं दृश्येति च विभावयते ॥३१॥

(खालित्य—) रोमकूपों में प्राप्त हुआ पित्त वायु के साथ मिलकर वालों को गिरा देता है, तत्पश्चात् रक्त के साथ मिला हुआ कफ़ ॥३०॥ रोमों के छिद्रों को बंद करता है, जिससे दूसरे (वाली) की उत्पत्ति नहीं होती । इसी की इन्द्रिलुस, खालित्य और रुणा कहते हैं ॥३१॥

यक्तदृश्य—इन्द्रिलुस—गङ्गा । ओंप्रेती में हसे जलोपेसिमा (Alopecia) कहते हैं । खालित्य—घासभट के अनुमार इन्द्रिलुस में बाल सहसा गिरते हैं और खलति में धीरे धीरे गिरते हैं, यह फूल है—खलोरपि अन्ने शतन तत्र तु क्रमात् । (अष्टांगसंग्रह) । रुणा—हसी की अहोगदृश्य में ‘रुणा’ और माधवनिदान में ‘रुदा’ कहा है । इन सीरों के अतिरिक्त खाम्भट ने इसका पर्याय ‘चाप’ दिया है—तदिन्द्रिलुस रुदा च प्रादुशेति चापे । (अष्टांगहृदय) । माधवनिदान की टीका में शीकण्ठद्रुक कार्तिक का मत देते हैं—कातिकस्वाद—“इन्द्रिलुस मरुणि भवति, खालित्य शिरैव, रुदा च सर्वरैह—इति । भागवतस्त्र नासि । इस मत के अनुमार रुदा को Alopecia universalis वा सकते हैं ।

दारदण करहुरा रुदा केशभूमिः प्रपोट्यते ।

कफ्पातम्प्रकोपेण विद्याहाशृणकं तु लम् ॥३२॥

(दारदण—) कफ और वात के प्रकोप से जब वाली का स्थान कठिन, खाजयुक्त, स्लहा और दारदण्युक्त होता है तब उसे दारणक समझना चाहिये ॥३२॥

यक्तदृश्य—शालक—यह रोग अधिकतर शिर-क्षमा में होता है । इसके वासमानार्थां ने इसका समावेश गिरोरोगी

१ प्रमुखता, प्रमाणने.

में किया है । यहाँ के लक्षणों के अतिरिक्त उसमें वाली गिरना, सुन्नता होती है और दारार बहुत सूक्ष्म होते हैं काढ़वेंगस्तुतिरदापौश्वकृशुटन त्वन् । सूक्ष्म कहावाता विवाहरुणक तु तत् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इन लक्षणों का विवरने से यह मालूम होता है कि दारणक Seborrho capititis या Pityriasis capititis होगा ।

अर्कंपि यद्युपक्षाणि वहुक्लृद्रनि मूर्धनि । कफासुक्षमिकोपेन नृणां विद्यादर्शपिकाम् ॥३३॥

(अर्कंपिका—) कफ, रक्त और कूमियों के प्रकोप मनुष्यों के गिर में अनेक मुख घाले और व्यावसुक्त (गोले वर्षा होते हैं, उनको अर्कंपिका समझना चाहिये ॥३३॥

यक्तदृश्य—भरपिका—यह सिर का छाजन (Eczem of the face and Scalp) है ।

कोशधोकथमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः । पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥३४॥

(पलित—) कोष, शोक और परिध्राम से उत्पन्न दुर्योग की गरमी और पित्त गिर में प्राप्त होकर वालों के पकाता है; उससे पलित दरजा होता है ॥३४॥

यक्तदृश्य—पित्तम्—पित्त के साथ वात और कफ़ सहोते हैं—योगेऽनिलायै सह केन्द्रमि दध्ना तु कुर्यात् राजि नरस । किनित्तु दृश्यः एन्तानि बुद्धोदिवसत्वं च शिरोद्दाम् । (चारक) । वित्त का निर्देश इसलिये किया गया है कि वात की सूक्ष्मता करने का काम पित्त का है । पलित—बाल सुनो होना । यहाँ अकालज पलित का वर्णन किया है और उसके कारण है कोष, शोक, परिध्राम । इसको Premature canities कहते हैं ।

दाहज्वररुजायन्तस्ताप्राः स्फोटाः सपीतकाः । गावेषु वदने चान्तविषेयास्ता मसूरिकाः ॥३५॥

(मसूरिका—) दाह, ज्वर और पीड़ा इनसे युक्त पीलापन लिये, रक्तवर्षा, शरीर पर तथा मुँह के भीतर होने वाले विस्फोट मसूरिका समझना चाहिये ॥३५॥

यक्तदृश्य—वदने चान—सुख के भीतर—गोवेन्नन्द ववश्व । (अष्टांगरसग्रह) । मसूरिका—मसूर के तुल्य भाका और वर्षा की पिटकाएँ इस रोग में प्राप्त होती हैं इसलिये मसूरिका कहलाती है—मग्नमानासदार्पणास्ताप्ता शिराः वदनः । (अष्टांगसंग्रह) । या सर्वगलेषु मरुमात्रा मसूरिका वित्तकृत शिराः । (चारक) । इसको शीतला, माता, चेचक या वृद्धन देने चाहे ॥३५॥

दतना घोरतम नहीं या वित्तना कि जात दिलाई देता है । आर्यै वैचक के जो धूंप आज उपलब्ध हैं, उनमें सर्वप्रथम माधवनिदान में मसूरिका का विशृण्व वर्षण मिलता है । तपश्चात् भावप्रकाश में ‘शीतला’ नाम से इसका स्वतन्त्र वर्णन

—गत्य पितं प्रापुरिणं दानि स्तोऽनिष्टो । शोधं मराणं जनयेत्
पितृकाम गत्य आयो ॥ (चरक) । मसूरिका में रक्त में संचार
दर्शन द्वाने बीवाणु उपचारा के अंगुरस्तर (Papillary
layer of cutis vera) में हानि स्थान पर वाचस्पति करके
शोध उपचार करते हैं । शोधस्थान में कुछ समय के बाद
साथ भर जाता है, जिससे ऊपर की त्वचा पिटकाओं के
स्थान में डभर आती है । यह पिटकाएँ प्रायः लोमकूपों के
स्थानान्तर में दुआ करती हैं जिसके कारण निःसन्धि होती है ।
कुछ समय के बाद उनमें पूरा भर कर दें गोल हो जाती है ।
इसका कारण पूर्वजनक जीवाणु है । अन्त में दाने फटकर
गा पीप जनकर सून जाते हैं, और सुरक्षण उत्तरने लगते हैं ।
झूम्पाल त्वचा पर पूरा घनने से पूर्व पिटकाएँ फटकर व्यग्य
दन जाते हैं । रक्तान्धी मसूरिका में त्वचा में रक्तसाव होकर
चकत्ते (लोहितोत्तमण्डल) बग जाते हैं । त्वचा की भाँति
झूम्पाल त्वचा, पुम्फुन इत्यादि अन्य शब्दयों में भी स्नाव
होता है । मसूरिका के भेद—पाचीन काल के भेद ऊपर वर्तसार्ये
होते हैं । आशुनिक काल में दूसरे सुख्त तीन भेद किये गये
हैं—(१) मसूरिका; दूसरे दो प्रकार (अ) असंमीलित या
अल्पस्फोटा, (आ) संमीलित या ब्रह्मोटा । (२) रक्तान्धी
मसूरिका । (३) सौम्य मसूरिका । मसूरिका की निज पांच
प्रवस्थाएँ होती हैं । (१) संवयकाल—यारी में उपर्यन्त पहुँचने
से रोग के लक्षण प्रकट होने तक काल प्रायः जी से पंद्रह
दिनों से होता है । इस काल में साधारणतया दोगी को कुछ
भी मालूम नहीं होता, परन्तु कभी कभी त्रियत छुट पिरी
सी मालूम पड़ती है । (२) पूर्वस्थ या आकाश—तासां पूर्व ज्वरः
नार्गांवभोर्डतिर्थमः । तन्त्र शोथः सैवर्यो नेत्ररागश्च जायते ॥
(माधवनिदान) । ज्ञारायशेषाद्यपिमर्दकासंप्रियशत्वान्विरोम-
हारः । शिरोत्तिनेत्रायणीनाश मसूरिकाणां प्रभवति चाये ॥
(उरभ) । पूर्वस्थों में ठंड लगना, १०४° के लगभग ज्वर,
सिर में तीव्र पीड़ा, कमर में सर्प दर्द, घमन और वर्चों में
आस्थेप ये महस्व के लक्षण हैं । इनके अतिरिक्त कभी कभी
दूसरे दिन लोहितवर्ण की छोटी छोटी पिटकाएँ निकल
आती हैं, जो एक दो दिन रहकर भिट जाती हैं । (३)
विस्फोटदर्शन—रोगारंभ के तीसरे या चौथे दिन मसूरिका के
वास्तविक विस्फोट निकलते हैं । ये विस्फोट एक दम नहीं
निकलते । पहले-पहल माथे पर और कलाई के सामने और
पश्चात् चौदीस धौट के भीतर धेहरे से लेकर पैरों तक सारे
यारी पर फैलते हैं । इनकी संख्या उदार और जंघासे में सब से
कम होती है और छाती, पीठ, स्कन्धान्तरीय प्रदेश तथा हाथ
हन पर उत्तरोत्तर बढ़ती हुई धेहरे पर सब से अधिक होती
है । वाला त्वचा की भाँति गला, गाल, जाक, आँख, त्वर-
यन्त्र, योनि इत्यादि की अन्तस्थ त्वचा पर भी दाने निकलते हैं ।
ज्यों ही दाने निकल आते हैं ज्वर कम पड़ता है, धान्य लक्षण
सौम्य हो जाते हैं और दोनों पीठ को कुछ आराम मालूम पहुँचता
है । प्रारंभ में ये लाल रंग के धब्बे से मालूम होते हैं जो
स्पर्श करने पर कठिन ग्रन्तीत होते हैं । दो तीन दिन के
पश्चात् इनमें पानी भरने लगता है जिससे ये अधिक उभर
आते हैं, हनके चारों ओर एक लाल धेरा धन जाता है, और

इनका मध्य नाभि की भाँति नीचा होता है। दो तीन दिन और बीतने पर इनमें मध्याद पहुँचे रहता है जिसमें ये पीछे होते हैं इनकी निपटमध्यता मिट जाती है और ये गोल धन जाते हैं। इनके बीच की लक्षण सुन जाती है और फिर उत्तरादि लक्षण वह जाते हैं। इनके पहने का प्रम भी उद्धर वं क्रम के अनुसार मापे से शुरू होता है। रहोट पह जाने के कारण रोगी के पास एक विशेष प्रकार की दुरुप्रभ आने लगती है—इनके उत्तरादि लक्षण वृच्छापुण्य च। (शीतलामूत्र)। इस अवस्था में रोगी की बहुत कष होता है। ये होते पर दानों के कारण तीन दो और तेनाद मालूम होता है और रोगी बेलन, राने, पीने, और खालें खालने में असरपूर्ण होती है। अस्थमीलित प्रकार में पाकावस्था का उत्तर प्राप्त चौकीस घटे में यानि रोगारभ से लक्षण या अवारहै दिन उत्तरने सकता है, अन्य लक्षण भी लुप्त होने सकते हैं और स्फोट फूटने या सूखने लगते हैं। समीलित प्रकार में प्रारम्भिक लक्षण कुछ अधिक तीन होते हैं और पिटिकाओं की सराया भी अधिक होती है। चाँपे दिन के पहले निकली दुई पिटि काशों की सराया यहि बहुत अधिक हो तो आगे चलकर उनके समीलित होने की बहुत समावन होती है। पिटिका निकल आने पर भी रोगी की उत्तरा आराम नहीं मालूम होता जिनका कि अपमीलित प्रकार में होता है। पिटिकाओं का समेलन द्रवावस्था में प्रारम्भ होकर पाकावस्था में समाप्त होता है। उस समय चौदह, हाथ, पैर की लक्षण एक बड़ी विद्युपि सी बन जाती है—स्ट्रीटोना में जारी रहती है। (भावप्रकाश)। समीलित प्रकार में भी अतराधि की पिटि काँपे प्राप्त अलग अलग होती है। पाकावस्था के उत्तरादि लक्षण बहुत तीन होते हैं। असाध रोगियों में दस्ते या अवारहै दिन प्रलाप, कप, प्रवाहिका और द्रव्यावस्थाद से शुरू होती है। (५) शुरुआती—पिटिकाओं के फूटने या सूखने से शुरूण बनाने का काम सारे तीनी सप्ताह में जारी रहता है। पश्चात् शैने भौंते शुरूण उत्तरने लगते हैं। शुरूण उत्तर जाने पर उसके नीचे मसूरिका का दाग दिखाई देता है जो बीच में जरा सा दबा रहता है। समीलित प्रकार में शुरूण जल्दी नहीं उत्तरते। भावप्रकाश में पिटिकाओं की इन अवस्थाओं का क्रम सदैरे में दिया है—मस्तिरिक मरलव, मसाहात पूर्णा बदेत्। उत्तरने से सहज शुरूणी स्लूनि स्लूनि स्लूनि॥ (२) रक्तसाकी मसूरिका—इसके प्रारम्भिक लक्षण बहुत तीव्र होते हैं। कभी पहले से ही रक्त विस्फोट निकलते हैं, कभी द्रवावस्था और पाकावस्था में उनमें खून आ जाता है—लेनिनोत्तरनमद्दृश्। इसके अतिरिक्त मल, मूत्र, नासा, घमन इत्यादि से भी रक्तसाक होता है—मुखेन प्रलवद्रक तथा प्रयोन चधुणा। (भाववनिदान)। यह असाध रोग है, जिससे ३-५ दिन में रोगी की शृणु हो जाती है। (३) सीम मसूरिका—कभी कभी मसूरिका स्वामार से ही सीम्य (Variola minor) होती है और दीका काँपे हुए मनुष्यों में जब आती है तब भी सीम्य (Varioioid) होती है। इसमें प्रारम्भिक लक्षण सीम्य होते हैं, केवल योगी सी पिटिकाँ निकल आती हैं, वह शुरू पक्ती नहीं, पाकावस्था का ज्वर नहीं आता है, वह शुरू पक्ती नहीं, पाकावस्था का ज्वर नहीं आता है।

ओर सब लक्षणों में शीम्यना रहती है। उत्तरादि क्षयाव, नेप्रामियन्द, नेप्रवशागुह, सचियोग, विद्युपि, रक्तसाक, वातवाहीसांघ, प्रलाप, आंशेप, प्रवाहिका, तीव्रकाम, न्युमोनिया, पृथमयावस्था (Pyaenoma), स्वरयन्त्रनगोप, विर्यपि, गढ़े की या यगत की शयियों का निकलना, गर्भवती श्यियों में गर्भपत इत्यादि। हत स्वामिक उपदर्वों के अन्तिक मसूरिकार्पाइटिन मनुष्य के निये ये होंगे की सरायी, अगुलियों का गिर जाना, बहारापन, श्यामापन, यानों का गिर जाना इत्यादि यथा आनीव रह जाते हैं। सध्यामास्यन—टीका न कराये हुए लोगों में मसूरिका से २५-३५ प्रतिशत मृत्यु होती है। याल, दुर्बल, मरापी और गर्भवती श्यी इनके निये मसूरिका प्राप्त धातक होती है। प्रारम्भिक लक्षणों की दृष्टिगता, (जैसे कमर में सकल दर्द) पिटिकाओं की अस्थयता, उनका समेलन होता, उनमें रक्तसाक होता, उनका नियन्त्रण होने पर उत्तरादि लक्षणों का न घटना, पाकावस्था में फिर लक्षणों का पेड़ह बड़ना, निद्रानाश, प्रलाप, न्युमोनिया, स्वरयन्त्रयोग इत्यादि लक्षण अव्याप्ताद्युर्धक होते हैं—विद्युप्रत्यनिज्ञनिमरैस्यानिरिक्षन निकलनामोहे। युक्त नियन्त्रणानु मसूरिकार्पाइटिन से बड़े लिङ्गनियमा च॥ (उत्तर)। वर्षे दिक्षा प्रेषेत्र उत्तरसीमा सुराशन। प्रवापप्रारम्भिकूर्जी तुला दाहोड़नियूर्जी। सुनेन प्रत्येकत नया भागेन चकुवा। कठेदुरुरुक रुखा भनियत्यर्थेनम्॥ मसूरिकामिभूतम् यस्तिनि निष्पत्ते। लग्नानि च इदानेन द दधत्र भेदन्॥ (माधवतिशान)। इन याद्य सहायक लक्षणों के अतिरिक्त मसूरिका की अपर्याप्ति के ऊर भी स्वास्याद्यता निर्भर होती है। हमी दृष्टि से भावप्रकाश में लिखा है—कापिदिनानि यनेन नियन्त्रणानु नवरिक। इस कृष्णना कापिदृक् क विद्युपि निष्पत्ति वा न वा। काशित्रव तु मित्यनि साध्यमाना प्रदत्तन॥ वाश्रास्त्र वैदा भी हम यात को मानते हैं—Small pox also has its peculiar kindles which take one form during one series of years and another during another. Sydenham Epidemics vary much in their severity and mortality. In some the disease is so slight and mortality so low that doubts arise whether the epidemic is really small pox. *Text book of the practice of medicine by Price*: शुरुआतिका—सीम्य मसूरिका से बहुत कुछ समान रखने वाला यह एक स्वतन्त्र विस्फोटक ज्वर है। इसको मोनिया गीतला (Chickenpox) कहते हैं। इसका भी कारण अभी तक मान्यम नहीं है। समूरिका से इसकी निद्रा बालों में निकलता होती है—(१) इसके उत्तरादि लक्षण सीम्य होते हैं हैं। (२) विश्वोट रोगारमें सीम्यीं घटे के भीतर निकल जाते हैं। (३) सब पूरे दम नहीं निकलते परन्तु थोड़े कहीं रोज तक निकलते रहते हैं। (४) साकारात्मका सब से पहले ये पीड़ि या ढाती पर निकल जाते हैं, पश्चात् चैहरे और शालाम्बे पर निकलते हैं। (५) इनकी सब से अधिक सल्या धृष्ट पर होती है। (६) इनकी उत्तर होने पर उत्तरादि लक्षण कम होते हैं। इनके पक्ते पर वे फिर बढ़ते हैं। (७) विश्वोट लक्षण में न

वक्तव्य—न्यज्ञ—हसी को सांकेत कहते हैं—पच्छाटनमुख्यते । वाग्मटाचार्ये न्यज्ञ का वर्णन लाम्बन शब्द से करते हैं । इयम् —शुकुनु रुग्णवर्णम् । चर्मसील प्रीतिस् ।—चर्मसीलों का वर्णन पीठे अपेनिदान में किया गया है । वाग्मटाचार्ये के मतानुसार चर्मसील मरक का ही एक घटिक उत्तर प्रकार है—मरोभ्युत्तरनरान् चर्मसीलान् निनानिनान् । (अष्टांगसंग्रह) । न्यज्ञ—इन्द्र जाव मुख के घटिक अन्य स्थानों पर होता है तब उसे चीलिका कहते हैं—श्यामल मण्डल अङ्ग बत्रादन्पत्र नीलिका । (अष्टांगसंग्रह) । हृण्मेवाणी गति नीलिका ना निर्विरोद्ध । (भोज) । न्यज्ञ, न्यज्ञ और नीलिका वालव में एक विकृति के ही नाम हैं । घमिकाओं, सिराओं और केयिकाओं का एक होटा सर गुच्छ वाला में बनने से यह विकार उत्पन्न होते हैं । अपेक्षी मैं इनको प्रथापिली दृन्जियों-माटा या नीची (Capillary angioma of Naevi) कहते हैं ।

मर्दनात् पीडनाथांपि तथैवात्यभिधाततः ।
मेदूर्धमं यदा धारुमजते सर्वतथृतः ॥४४॥
तदा वातोपस्थुं तु चर्मं प्रतिनिर्वर्तते ।
मर्गेऽध्यस्तात् कोशाद्य द्विनिधयेण लम्बते ॥४५॥
स्वेदन् सदाहृष्टा पाकं च व्रजति क्वचित् ।
मारुतागन्तुसंभूतां विद्यात्तां परिवर्तिकाम् ।
सकण्डः कठिना चापि सैव स्लेष्यस्मुत्तिथा ॥४६॥

(परिवर्तिका)—मसलने से, अति दवाने से तथा (मैथुन के समय) चोट आदि लगने से चव सर्वग्रीरवर (न्यान) बायु गिर्भर्म में प्राप्त होती है ॥४४॥ तब वान से दूषित वह चर्म ऊपर को चढ़कर विश्वरूपि के पीछे गैठिला होकर सटकता रहता है ॥४५॥ उसमें पीड़ा और दाढ़ होता है और कवित याक भी होता है । वात और आगन्तुक कारण से उत्पन्न हुई इस (न्यापि) को परिवर्तिका कहते हैं । कफ से उत्पन्न हुई यही परिवर्तिका कठिन और कठुनुक होती है ॥४६॥

वक्तव्य—परिवर्तिका—गिर्भर्म का दार या छेद अत्यधि होने पर यानि निरुद्धप्रकार की अवस्था में जब चर्म बेग से ऊपर की ओर चढ़ता है तब वह अवस्था उत्तर होती है । इससे चर्म में तथोऽग्निशमणि में शोथ उत्पन्न होता है, जिससे चर्म का भीषण को उत्तरना और भी कठिन हो जाता है । यदि योग्य समय पर चिकित्सा न की जाय तो यथोदादन होता है, मणि और चर्म आपम में सकार हो जाते हैं और कवित गिर्भ सड़ने लगता है । परिवर्तिका को अपेक्षी में प्राचाराकायमोसिन (Paraphymosis) कहते हैं ।

अलीयःस्वं यदा हर्षीद्वालो गच्छेत् ख्यियं नर ।
द्वस्ताभिधातादथवा अर्मण्युदर्तिते वलात् ॥४७॥
मर्दनात् पीडनाद्वाऽपि शुक्रवेगविधाततः ।
यस्यावपाट्यते चर्मं तां विद्याद्वपाटिकाम् ॥४८॥

(अव्याटिका—) जब युरा अथ योगि याली याल स्त्री के साथ हर्ष में (अर्धांत्र वृद्ध जोर से) गमन करते हैं तब, अपेक्षा हस्ताभिधात के कारण जोर से धर्म ऊपर चढ़ जाने से ॥४७॥ अथवा, गिर्भ मलने से, दशने से य शुक्र का बारेये रोक (ते भमय गिर्भ को जोर से पकड़) ते से यदि उम्रका चर्म कठ जाय तो उम्रको अव्याटिका समान घाइये ॥४८॥

धातोपस्थुप्रेयं तु चर्मं संश्ययते मणिम् ।
मणिश्वर्मोपनद्धस्तु मूत्रयोतो रुण्डिं च ॥४९॥
निरुद्धप्रकर्ये तस्मिन् मन्दधारमवेदनम् ।
मूर्मं प्रवर्तते जन्तोर्मणिश्वियियते न च ॥५०॥
निरुद्धप्रकर्यं विदात् संखं धातसंभवम् ॥५१॥

(निरुद्धप्रकर्य—) एक बायु से दूषित गिर्भर्म मणि को गूणतया आकृदित करता है तब चार्मस्त्रादित वह मणि सूक्ष्मार्ग की रोक देता है ॥५२॥ उसे वातव्यन्य गैडादायक निरुद्धप्रकर्य समाना घाइये । उस निरुद्धप्रकर्य में मनुष्य का मूर्म पीड़ाहित और पनली धार से बहता है तथा मणि अनावृत नहीं होता ॥५०,५१॥

वक्तव्य—एव—मर्दन् पीडनादि वातप्रक्रोदक कारणोः से । मध्यने—समग्र स्थाने । मणिश्वियते न च—त्वक्तरिवर्ननाशय तथा मणिश्वियो न भरति । गिर्भर्म का छिद्र अत्यल्प होने से उसको गिर्भ पर ऊपर की ओर रस्तिना असंभव होने के कारण मणि सर्पदा चर्म के भीतर रहता है । निरुद्धप्रकर्य—निरुद्धप्रकाशत्रात्रिनिरुद्धप्रकर्य । (मुकुकोण्यावार्या) । चर्मद्वार लोटा होने के कारण जिसमें मणि के ऊपर आगे वाला प्रकाश निरोधित होता है, वह विकार । वाग्मटाचार्य मणि के विकास का निरोध होने के कारण इसको 'निरुद्धमणि' कहते हैं—मणिश्वियमरोध स निरुद्धमणिं । निरुद्धप्रकर्य के अपेक्षी मैं फायमोसिन (Plummosis) बहते हैं । निरुद्धप्रकर्य सहज और जन्मोत्तर दो प्रकार का होता है । यहाँ जन्मोत्तर निरुद्धप्रकर्य का वर्णन किया है । जन्मोत्तर निरुद्धप्रकर्य वाल, युवक और वृद्ध लीनों में भी होता है । वालकों में गिर्भर्म कर्मु और वस्तिगां अशमीये में निरुद्धप्रकर्य के दो प्रधान कारण हैं । कव्यु में सुनाने के लिये और अशमीये मूर्मार्ग की जस्ता वैद्यना को मिटाने के लिये वालक वारावार गिर्भर्म को मसलता है, जोर से दवाता है और आगे की ओर रस्तिना होता है । के भर वनता

से यह विकार उत्पन्न होता है । सोजाक के कारण गिर्भर्म में शोथ और याज होती है और ऊपर कहे हुए के अनुसार निरुद्धप्रकर्य बनता है । मूर्मार्ग के बाद वैद्यनत अशमीय, मूर्मार्ग सही, अशीतावृद्धि, गिर्भर्म की अव्यादिता हस्तादित कारणों से गिर्भर्म में सुकली और जोर वैद्यन होकर सुखाने से, मसलने से ऊपर कहे हुए के अनुसार निरुद्ध बनता है । सक्षेप में ऊपर 'एव (मर्दनीषीहनाभिधातानिरुद्धर्म द्वलस्य) करके

रोग के जो कारण चतुर्लाये गये हैं, वे विलक्षण सत्य हैं । १ निरुद्ग्रक्षण जन्म से होता है और गर्भवृद्धि दोप से ही उत्पत्ति है । यह प्रकार बालकों में दिखाई देता है । छिद्र बहुत छोटा न हो तो इसके परिणाम वाल्यावस्था । दिखाई देकर युवावस्था में दिखाई देते हैं । इस आयु शेषोत्थापन से उसमें जो क्षोभ पैदा होता है उससे हस्तन की कुटैव पड़ जाती है तथा स्त्री के साथ मैथुन करते य पीटा होती है और कभी कभी अवपाटिका या परिवर्तित उत्पन्न होती है । यदि छिद्र बहुत ही ग्राह्य यानि सूचीमुख वा मूत्र निकलने में कठिनाई होती है । वज्ञा शिशुर्चर्म को ने की ओर खींचता है और अशमरी के समान लक्षण तो होते हैं । निरुद्ग्रक्षण किसी भी कारण से उत्पन्न हुआ उसके भीतर शिशुमयि के ऊपर श्वेतरंग का मैल जमता है । यह मैल टॉयस्तन की ग्रंथियों (Tyson's glands) द्वारा है और उसे स्मेग्मा (Smegma) कहते हैं । यह ग दुआ मैल कभी कभी अशमरी की भाँति कड़ा हो जाता । यदि निरुद्ग्रक्षण की चिकित्सा न करने से मैल बहुत दिनों बहाँ रहे तो निरन्तर पीड़न, मर्देन और क्षोभ से शिशु आगे चलकर धातक मांसार्दुइ (कैन्सर) उत्पन्न होने की दृष्टि कुछ संभावना होती है ।

गसन्धारणाद् वायुर्विहतो गुदमाश्रितः ।
रुद्धिं महत्स्रोतः सूक्ष्मद्वारां करोति च ॥५२॥
र्गस्य सौक्ष्मयात् कृच्छ्रेण पुरीपं तस्य गच्छति ।
गमिरुद्गुदं व्याधिमेनं विद्यात् सुदुस्तरम् ॥५३॥
(सन्धिरुद्गुद—) (अधोवायु और मैल के) वेग धारण करने से कृपित हुई (अपान) वायु गुद में प्राप्त कर महास्रोत का निरोध करके (उसका नीचे का) द्वार देता कर देती है ॥५२॥ (तब मैल निकलने का) रास्ता तंग ने के कारण उस पुरुष का मैल कष्ट से निकलता है । इस एसांध्य व्याधि को सन्धिरुद्गुद गुद जानना चाहिये ॥५३॥

वक्तव्य—सन्धिरुद्गुद को स्ट्रिक्चर ऑफ दि रेक्टम Stricture of the rectum) कहते हैं । यह रोग प्रवाहिका, प्रतिसार, अर्थ, भग्नदर, राजयद्मा, फिरंग, सोजाक इत्यादि गुद में जीवण होते हैं उनके स्थान पर संकोच होने से होता है । स्वद्गुद से प्रारंभ में कञ्ज होता है, पिछे पर्याय से इन और पतले दस्त होते हैं । दिन प्रतिदिन मलोत्सर्ग का घट बढ़ता जाता है, मैल कड़ा, फीते के समान चपटा और दंपता निकलता है । उसके साथ कुछ खून और अंच भी गिरती है । पिछे अभिमान्य और आध्मान उत्पन्न होता है ।

शृङ्गमूत्रसमायुक्तधौतेऽपाने शिशोर्भवेत् ।
सिंघस्यास्याप्यमात्रस्य कण्ठौ रक्तकफोङ्गवा ॥५४॥
कण्ठूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटाः स्नावश्च जायते ।
एकीभूतं ब्रैर्धोरं तं विद्यादिहपूतनम् ॥५५॥
(अधिपूतना—) पसीने से तर होने वाले (परन्तु) विप्रित न होने वाले बालक का गुद मलमूत्र से गंदा होने पर न धोने से रक्तकफजन्य कराहू उत्पन्न होती है ॥५४॥ तब खुजाने से शीघ्र ही फुन्सियाँ और स्नाव उत्पन्न होता है ।

(फुन्सियाँ फूटने के पश्चात् उत्पन्न हुए) वर्णों के साथ मिले हुए (यानि वाण्युक्त) उस गुद को धोर अहिपूतन कहते हैं ॥५५॥

वक्तव्य—एकीभूतगित्यादि—व्रणः सहैकीभूतं तमपानं धोर-महिपूतनं विधात् । अहिपूतन—केन्चित्तं यात्राकादोषं वदन्तन्येऽपि पूतनम् । प्रथारुद्धकुरं च केन्चित्तं तमनामिकम् ॥ (अस्तांगहृदय) । यह रोग मलसूत्र स्वेद से सदैव गंदे और गीले रहने वाले अपान की स्वच्छता ठीक न रखने से होता है । इसके अतिरिक्त हुट्टस्तन्यपान से भी होता है—हुट्टस्तन्यस्य पानेन मलसाक्षालेन च ॥ (भोज) । क्योंकि उसके सेवन से बच्चे को खट्टे जलन करने वाले पतले दस्त होते हैं—स तेन सलिलोपममच्छं विच्छिन्नमामं दुर्गन्धिं नानावर्णवेदनं फेनिलमतिसार्यते । (अस्तांगसंग्रह) । अंग्रेजी में अहिपूतन को हूफन्टाइलूल एरिथीमा ऑफ जाक्वेट (Infantile erythema of jacquet) या न्यापकिन स्याप (Napkin rash) या सोअर बटकस् (Sore buttocks) कहते हैं ।

स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंश्रितः ।
प्रक्षिप्ते यदा स्वेदात् स कराहू जनयेत्तदा ॥५६॥
तत्र कण्ठूयनात् क्षिप्रं स्फोटाः स्नावश्च जायते ।

प्राहुर्वृषणकच्छुं तां श्लेष्मरक्तप्रकोपजाम् ॥५७॥

(वृषणकच्छु—) क्षिप्रं उत्पन्न न लगाने वाले और स्नान न करने वाले मनुष्य के वृषणों में जमा हुआ मैल जब पसीने से गीला होता है तब खाज पैदा करता है ॥५६॥ वहाँ खुजाने से शीघ्र ही फुन्सियाँ होती हैं और स्नाव निकलता है; उसे कफरक्त के प्रकोप से उत्पन्न हुई वृषणकच्छु कहते हैं ॥५७॥

वक्तव्य—उत्सादनम्—सलेहकलेनोद्धरणम् । (डल्हण) । वृषणकच्छु—एकीभूता ऑफ दी स्कोटम (Eczema of the scrotum)

प्रवाहणातिसाराभ्यां निर्गच्छति गुदं वहिः ।

रुक्षदुर्बलदेहस्य तं गुदधंशशमादिशेत् ॥५८॥

इति सुक्ष्टसंहितायां निदानस्याने खुद्रोगनिदान

नाम त्रयोदशोऽन्यायः ॥१३॥

(गुदधंश—) अत्यधिक कूथने से तथा अतिसरण से रुक्ष और दुर्बल शरीर वाले मनुष्य का गुद वाहर निकल आता है; उसे गुदधंश कहना चाहिये ॥५८॥

वक्तव्य—गुदधंश—यह रोग अधिकतर बच्चों में और कभी कभी युवकों में भी पाया जाता है । अपूर्ण और पूर्ण करके गुदधंश के दो भेद होते हैं । अपूर्ण में गुदा की केवल श्लेष्मल त्वचा मलद्वारा से वाहर निकल आती है । यह दशा युवकों में अधिक पाई जाती है । पूर्ण धंश में गुदा की सारी भित्ति वाहर आती है । यह दशा बच्चों में अधिक पाई जाती है । अंग्रेजी में गुदधंश को प्रोलॅप्सस रेक्टिं (Prolapsus recti) कहते हैं । कारण—गुदधंश के दो कारणासमूह होते हैं । (१) रुक्षदुर्बलदेहता—रोमान्तिका, ऊक्सर्लांसी, अतिसार, प्रवाहिका इत्यादि कारणों से शरीर का रुक्ष यानि मेद्विहीन और झक्कमजोर होना । शरीर के साथ साथ गुद की भी रुक्षता (यानि आस पास के स्थान से गुद को सहारा देने वाले भेद का नाश) और कमजोरी हो जाती है, जो गुदधंश

होने में सहायता करती है। (२) प्रतारानिवार—जिन चिकित्सागों में अधिक समय तक अनियमय (Tenesmus) होता है, (जैसे—प्रवाहिका, अनियम, कैंचे इत्यादि;) तथा चिकित्सक कारण सोनी को अधिक दूर तक प्रताहय (Straining) करना पड़ता है, (जैसे—इम्ब, इंग, बहिगत अद्मरी, मूत्रामार्गसंकेत, अर्टीलाइट्रि इत्यादि). वे भव गुदध्येण के साक्षात् कारण होते हैं।

इन भास्तुररन्तर गोपीनाथवेत चित्तिवाचनाद्युत्तिरसंतिकाय।

गुह्यमार्गदीक्षाय निशानसने द्वारागुदध्येण नन्द
द्वयोर्दीक्षायः ॥५॥

चतुर्दशोऽस्यायः ।

अथातः शूक्रोपनिदानं व्याख्यास्यामः ।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥६॥

अब दहां से शूक्रोपनिदान का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥६॥

— चक्रध्य—जूक—गिभ्रहृदिकर योग। शूक के स्वरूप के विषय में पांडे बाहरहैं अध्याय के हृष्ण सूत के बहुत में लिखा गया है। अब दहों लिंगवासे पुरुष का बड़ी योनिवासी भी के साप विवाह हो जाता है, तब दोनों की भी कामवासना की तृप्ति नहीं होती। ऐसी अवसरा में भी की योनि का सहोत तथा पुरुष के लिंग का वर्धन करने के लिये कामयात्र में विषय योग वर्द्धन किये हैं (वाह्याद्यनीय कामभूत के अपनिग्रहक नामक सप्तमाधिकरण का द्वितीय अध्याय देखो)। जैसे—भद्रनक्षमिवलद्युमण्डवव्यवन्वित्य मनिदानं एव देवनेन। ॥३॥ शूक्रद्वृद्धिर्विद्येनपेत्तिव वैदिन महितिर्विद्युत्तेऽहे ॥ शूक्र एव उत्तरानुगमनुत्तरम् शूक्र कठोरनिन न दि सहादोऽनित ॥ शूक्रोद्य—शूक्र प्रवेष के कारण उपर्युक्त हुए दीप यानि दीप—दीपा इनी दीपस्त्र लभने। (चक्र) ॥

लिङ्गवृद्धिमिच्छतामकमप्यवृत्तानां शूक्रोपनिमित्ता दश चाण्ठी च व्याधयो जायन्ते। तथापा—सर्पिष्का, अर्द्धालिका, ग्रथितं, कुम्भीका, अलजी, मृदितं, संमूढपिङ्का, अवमन्यः, पुष्करिका, स्पर्यहानि: उत्तमा, शातपोनकः, त्वक्ष्याकः, शोणिनामुद्दें, मांसारुद्दें, मांसपाकः, विद्रधिः, तिलकालक्षेति ॥७॥

अपोवाय पद्मने में प्रदूष हुए लिङ्गवृद्धि की इच्छा करने वालों के शूक्रोप के कारण अद्वार रोग व्यवहार होते हैं। जैसे—१ सर्पिष्का, २ अर्द्धालिका, ३ ग्रथित, ४ कुम्भीका, ५ अलजी, ६ मृदित, ७ संमूढपिङ्का, ८ अवमन्यः, ९ पुष्करिका, १० स्पर्यहानि, ११ उत्तमा, १२ शातपोनक, १३ त्वक्ष्याक, १४ शोणिनामुद्दें, १५ मांसारुद्दें, १६ मांसपाकः, १७ विद्रधि, और १८ तिलकालक्षेति ॥७॥

यत्कथ्य—अवमन्यः—गांधोक कम के अनुयाय अनुषुप्तान न करने वाले अधिक वोग वैद्य की समनि लिये चिना अनुषुप्तान करने वाले।

गौरसंपत्तुव्या तु शूक्रद्वृद्धिर्वेतुका ।
पिङ्का कफरत्काभ्यां शेया सर्पिष्का शुष्टिः ॥३॥

(सर्पिष्का—) सुन्द शर्मों के समान, शूक्रों के हुस्त्योग से उपर्युक्त हुई, कफरत्काभ्यां पिङ्का वैद्यों से सर्पिष्का समझनी चाहिये ॥३॥

चक्रध्य—शूक्रद्वृद्धिर्वेतुक—शूक्र द्वर्द्य वर्तत्वैतिव्ये द्वयेभ्यः सा ।

कठिना विषमैर्न्तेमारुष्टम् प्रकोपतः ।

शूक्रस्तु विषमेभुष्टैः पिङ्काऽर्द्धालिका भवेत् ॥४॥

(अर्द्धालिका—) विषमुक्त शूक्रों के कारण वायु के प्रकोप से उपर्युक्त हुई विषम किंतर की कड़ी पिङ्का अर्द्धालिका होती है ॥४॥

शूक्रैत् पूर्णिं शध्यहृथिनं तत् कफोपित्वम् ।

(प्रथित—) शूक्रों से जो सर्वदा पूर्णित (सा प्रतीत) होता है, वह कफवृद्धि प्रथित है ।

चक्रध्य—जैर्वैर्ये पूर्णित—शूक्रपित्तानितिवृक्त—
शूक्र—पान्द्र्यगृक ।

कुम्भीका रक्तपित्तोथा आव्यायस्थिनिभाऽशुभा ॥५॥

(कुम्भीका—) रक्तपित्तजन्य, जासुन की गुणी के समान और काली (अग्रुमा) कुम्भीका है ॥५॥

अलजीलद्वारैर्युक्तामलजी च विरक्तेयेत् ।

(अलजी—) (प्रमेहपिङ्कोक) अलजी के लक्षणों से पुरुष (पिङ्का) को अलजी जानना चाहिये ।

मृदितं पीडितं यत्तु संरक्ष्य वायुकोपतः ॥६॥

(मृदित—) (शूक्रान करने के पश्चात्) मृदित करने के कारण वानवकोप से जो गोप युक्त हो, वह मृदित है ॥६॥

पाणिभ्यां भृशसंमृद्दे संमृद्धपिङ्का भवेत् ।

(संमृद्धपिङ्का—) (शूक्रान करने के पश्चात्) हाथों से तूत मसहने पर संमृद्धपिङ्का होती है ।

दीपो वाहपश्च पिङ्का दीर्घन्ते मध्यनस्तु याः ।

सोऽस्यमन्यः कफासूख्यां वैदिनारोमहर्यहृत् ॥७॥

(अवमन्य—) विषमें शूल सो वडी कुनियाँ दीप में कट जाती हैं, वह कफरत्काभ्य वैदिना और रोमहर्य करने वाला अवमन्य होता है ॥७॥

पित्तशोणितसंभूता पिङ्का पिङ्काचिता ।

प्रद्युपुक्तरसंस्याना वेया पुष्करिकेति सा ॥८॥

(पुष्करिका—) पित्तरत्काभ्य, (दोही छोही) कुम्भीकों से व्याप, कमलक्षिता के आकार की पिङ्का तुक्तिका समझनी चाहिये ॥८॥

जनयेत् स्पर्यहानि तु शोणिनं शूक्रद्वितम् ॥९॥

(स्पर्यहानि—) शूक्रपित्त रक्त रामहानि (मुहूरा) उपर्युक्त होता है ॥९॥

मृद्धामोपमा रत्ना पिङ्का रक्तपित्तजा ।

उत्तमेया तु विह्वया शूक्राजीर्णितिमित्तजा ॥१०॥

१ शूक्रद्वृद्धिर्वेतुक २ विषमुक्ते ।

(उत्साह—) मूँग या उड़द के समान, रक्तवर्णी, रक्तपित्त-
बार बार शुक का हुख्योग करने पै कारण उत्पन्न हुई
ज उत्साह जाननी चाहिये ॥१०॥

(रेणुमुखैर्लिङ्गं चितं यस्य समन्ततः ।

शोणितजो व्याधिर्विद्येयः शतपोनकः ॥११॥
(शतपोनक—) जिसका लिंग चारों तरफ से छोटे छोटे
के छिंदों से व्याप्त होता है, वह वातरक्तजन्य व्याधि शत-
क समझना चाहिये ॥११॥

तरक्कहुतो द्वेयस्त्वकपाको ज्वरदाहवान् ।

(स्वस्त्राक—) विचरकजन्य ज्वर और दाह से युक्त
गरुक समझना चाहिये ।

रोः स्फोटैः सरक्तैश्च पिडकाभिश्च पीडितंम् ।

य वस्तिरुक्तज्ञोग्रा द्वेयं तच्छोणितार्दुदम् ॥१२॥

(शोणितार्दुद—) जिसका लिंग रक्त के सहित कले
कोंदों से तथा कुन्नियों से पीड़ित होता है और
वे मैं तीव्र पीड़ा होती हैं, वह शोणितार्दुद समझना
हिये ॥१२॥

सदोपेण जानीयार्दुदं मांससंभवम् ॥१३॥

(मांसार्दुद—) मांसदोष से मांस से उत्पन्न हुआ
सार्दुद जानना चाहिये ॥१३॥

पैर्न्ते यस्य मांसानि यस्य सर्वाक्षं वैदनाः ।

यात्तं मांसपाकं तु सर्वदोपकृतं भिपक् ॥१४॥

(मांसपाक—) जिसका मांस गलता हो, जहाँ सर्व
कार की वैदनाएँ होती हों, उसे वैदा सर्वदोपजन्य मांसपाक
मके ॥१४॥

वेदधिं सञ्जिपातेन यथोक्तमभिनिर्दिशेत् ॥१५॥

(विद्रधि—) सञ्जिपात से (नानार्देह्लाक्षावादादि)
योक (लक्षणों से युक्त) विद्रधि समझना चाहिये ॥१५॥

कृष्णानि चित्राग्यथवा शूक्रानि सविष्याणि च ।

गतितानि पचन्त्याशु मेद्रं निरचशेषतः ॥१६॥

कालानि भूत्वा मांसानि शीर्यन्ते यस्य देहिनः ।

संधिपातसमुत्थानं तं विद्याच्चिलकालकम् ॥१७॥

(तिलकालक—) काले अथवा कवरे विले शैयैक प्रयुक्त
करने पर जिसका समस्त मेद्र पका देते हैं ॥१६॥ और जिस
मुख्य (के लिंग) के मांस (काले तिल के समान) कृप्य-
र्णवी होकर गलते हैं, उनको सञ्जिपातजन्य तिलकालक समझना
चाहिये ॥१७॥

तत्र मांसार्दुदं यद्य मांसपाकश्च यः स्मृतः ।

विद्रधिश्च न सिद्ध्यन्ति ये च स्युस्तिलकालकाः ॥१८॥

इति सुकृतसंहितायां निदानस्थाने शूक्रोपनिदान

नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१८॥

(असाध्य शूक्रोदय—) इनमें से जो मांसार्दुद हो,

१ द्वैरेणुमुखैर्वस्तु, छिंगेणुमुखैर्यंतु चितं मेद्रं, २ वातपित्तकृतः ।
३ दूषितम्, ४ वास्तुरुक्तश्चोग्रा.

जो मांसपाक और विद्रधि हों और जो तिलकालक हों, वे
सिद्ध नहीं होते हैं ॥१८॥
इति भारकरार्थमाण गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुवेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतगामाटीकायां निदानस्थाने शूक्रोपनिदानं
नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१८॥

पञ्चदशोऽध्यायः ।

अथातो भग्नानां निदानं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भग्नान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से भग्नों के निदान का व्याख्यान करते हैं, जैसे
कि भग्नान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

पतनपीडनप्रहारादेपणव्यालमृगदशनप्रभूतिभि-
रभिघातविशेषैरनेकविधमस्थां भेद्धमुपदिशन्ति ॥२॥

(भग्नहेतु—) गिर पड़ना, दृव जाना, चोट लगना, फैकना,
हिंस और वर्हिंस पशुओं से दृष्ट होना (भूंह से पकड़ा जाना)
इत्यादि विशेष (प्रकार के) अभिघातों से हड्डियों का अनेक
प्रकार का भग्न (प्राचीन आचार्य) वर्णन करते हैं ॥२॥

वक्तव्य—हस्त सूत्र में वर्णन किये पतनादि कारण भंग
के साक्षात् कारण हैं । लिंग, ध्रायु, व्यवसाय, संधियों और
अस्थियों की विकृति गौण या सहायक कारण होते हैं । जैसे,
काण्डभग्न और संधिमुक्त वाल्य और बृद्ध अवस्था की अपेक्षा
युवावस्था में तथा छिंदों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक हुआ
करते हैं; क्योंकि जवान पुरुष ऐच्छिक या अनैच्छिक आपत्ति-
जनक कार्य अधिक किया करने हैं । संधिव्यंध हीले या कमजोर
होने से तथा संधि का गडा (उद्भवल) उथला होने से जरा
सा जोर पड़ने पर संधिमुक्त हो जाते हैं । वैसे ही अस्थिक्षय,
अस्थिक्रुता, अस्थिभंगरुता (Fragilitas ossium), अस्थ्य-
र्दुद इत्यादि अस्थियों की स्थानिक विकृति से अथवा पक्षा-
धात, अंगधात, फिरंगजन्य मस्तिष्कविकृति से भी जरा सा
जोर पड़ने पर काण्डभग्न हो जाते हैं ।

ततु भेद्धजातमनुसार्यमाणं द्विविधमेवोत्पद्यते
सन्धिमुक्तं काण्डभग्नं च ॥३॥

(भेद्ध के दो प्रकार—) इनमें (तात्त्विक दृष्टि से)
अनुसंधान करने पर समस्त भेद्ध दो ही प्रकार के होते हैं; १
संधिमुक्त, और २ काण्डभग्न ॥३॥

वक्तव्य—अनुसार्यमाणम्—पतनादि कारणों से जो
विकृति भेद्ध में हुई है, उसकी अनुसारणा यानि अनुसंधान
करने पर । संधिमुक्त—संधिविशेष । हस्तमें अस्थियों के स्त्रे
अपना स्थान छोड़कर दूर हट जाते हैं, या संधिकोप के
छिद्र में से बाहर निकल आते हैं । हस्तों के फिस्लोकेशन
(Dislocation) कहते हैं । काण्डभग्न—अस्थिक्रांडभग्न ।
हस्तों के फ्रैक्चर (Fracture) कहते हैं ।

तत्र सन्धिमुक्तम्—उत्पिण्यं, विश्रिष्टं, विचर्ति-
तम्, अवक्षितम्, अतिक्षितं, तिर्यक्षितमिति पद्ध-
विधम् ॥४॥

१ भेद्धमुपदिशन्ति, २ भग्नजातं.

(संधिमुक के भेद—) इनमें से संधिविलेप १ उत्पिट, २ विलिट, ३ विर्वितन, ४ अवत्क्रित, ५ अतिक्षित और ६ तिर्यक्षित करके ७ प्रकार का है ॥३॥

घक्कड्ड्य—उत्पिट—जिसमें हड्डी का चूर्ण या पेणा होता है । इसको Fracture dislocation कहते हैं । विलिट—जिसमें जटा सा विलेप ही जाता है । इसको सबलक्सेशन (Subluxation) या इन्कॉम्प्लीट डिस्लोकेशन (Incomplete dislocation) कहते हैं । विर्वितन—जिसमें वाम या दक्षिण विभाग में हड्डी स्थान से बाहर आयी है । इसको लायार्ड डिस्लेसमेट (Lateral displacement) कहते हैं । अवत्क्रित—जिसमें हड्डी नीचे की ओर स्थान गई है । इसको डाउनवर्ड डिस्लेप मेट (Downward displacement) कहते हैं । अतिक्षित—जिसमें मास सिराघासी है अग विर्वित हुए हैं । इसको कॉम्प्लीट फ्राक्चर (Complicated fracture) कहते हैं । तिर्यक्षित—जिसमें संधि टेढ़ा हो गया है, यानि जिसमें पूर्ण विलेप हुआ है । इसको Complete dislocation कह सकते हैं । इन प्रकारों के अतिरिक्त समय (Open) विलेप और अवग्या (Closed) विलेप पेसे भी दो भेद पायार्थ विद्यक में किये जाते हैं । सदृश में त्वचा विशीर्ण होकर संधि का संपर्क वाया वायु के साथ हो जाता है । अवग्या में त्वचा विशीर्ण न होने से संधिविलेप का संपर्क वाया वायु के साथ नहीं होता । मधुकोशायालवा में श्रीकंठदत्त ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है—दिविष विस्त्रय वाया वायु वायु वायु वायु वायु ॥

तत्र प्रसारणाकुञ्जनविवर्तनादेपणाशुक्तिश्वरूप-
जत्य स्पर्शासदहृत्य चेति सामान्यं सन्धिमुक्तलक्ष-
णमुक्तम् ॥१॥

(संधिमुक का सामान्य लक्षण—) पसारने, सिकोइने, (इधर उधर) दिलाने, डाने (या केकने) की शक्ति न होना, तीव्र दीर्घ, सर्व सदृश न होना ये संधिमुक के सापर-रण लक्षण होते हैं ॥५॥

यन्त्रित्य—इन लक्षणों के अतिरिक्त 'विर्माणिता' (Deformity) संधिविलेप का एक बड़ा महत्व का लक्षण है । ऊँझे में सभी किन दूष और अंग भवने वाले व्यायाम से हटकर गूमेर अस्वासामाविक व्यान में पहुँच जाने के कारण यह संधय दम्पत्ति होता है । यरिज्जा करते समय विवित संधि की गूमरी और भी संधि के साथ तुकड़ा करनी आविह्ये । इसमें अतिरिक्त घटि और के आपात के कारण विलेप हुआ हो तो त्वचा में धात्र, मूत्रन इवायादि संक्षय भी मिलते हैं ।

विशेषेणोत्पत्तिः सन्धायुभयतः: शोफो वेदना प्रादुर्भावो विशेषताः नानाप्रकारा वेदना रात्रौ प्रादु-
भयन्ति; विशेषेऽप्य शोफो वेदनासात्तर्यं सन्धिविक्रिया च, विवरिते तु सन्धिपार्थोपगमनाद्विप्राप्ताहता वेदना च; भयन्ति सन्धिपिक्षेप्रतीय रुक्षयं च; अतिक्षिते द्वयोः सन्ध्यस्त्रोरतिप्राप्तता वेदना च; तिर्यक्षिते ग्येषालिप्याभ्योपगमनमरम्यतये वेदना चेति ॥६॥

(उत्पिटादि के लक्षण—) विशेष करके उत्पिट में सं-
में दोनों तरफ धोय, वेदना की उत्पत्ति होती है, और विशेष
तया रात में नाना प्रकार की वेदनाएँ होती हैं । विलिटः
जटा सी सूजन, निरन्तर वेदना और सन्धि का कार्य ठीक
होना (ये लक्षण होते हैं) । विर्वित में संधि पार्थ व
तरफ चली जाने से अग टेढ़ा हो जाता है और पीड़ा होते
हैं । अवत्क्रित में संधिविलेप और तीव्र पीड़ा होती है । अनि-
शिस में सन्धि की दोनों हड्डीयाँ दूर होती हैं और पीड़ा होते
हैं । तिर्यक्षित में एक हड्डी पार्थ की तरफ चली जाती
और अत्यन्त पीड़ा होती है ॥६॥

काएडमझमत ऊर्ध्वं घदयाम्-कर्कटकम्, अश्व-
फलं, चूर्णित, पिच्छितम्, अस्थिच्छुहितं, काएडमसं-
मज्जानुग्रहम्, अतिपातितं, घक, हिंद, पाटितं-
स्फुटितमिति द्रादशविधम् ॥७॥

(काएडमझ के प्रकार—) अब हमके धारो काएडमा को कहते हैं—१ कर्कटक, २ अश्ववर्ण, ३ चूर्णित, ४ विलिट ५ अस्थिच्छुहित, ६ काएडमस, ७ मज्जानुग्रह, ८ प्रतिपातित ९ घक, १० दिल, ११ पाटित और १२ स्फुटित (इस तरा काएडमस) यारह प्रकार का होता है ॥७॥

घक्कड्ड्य—द्रादशविधम्—सूक्ष्मे से और विशेष महात्म-
के में द्रादश प्रकार वर्णन किये हैं, परन्तु वास्तव में काएडमस के अस्त्रलय प्रकार होते हैं—नया तु काष्ठे वृद्धा प्रयाणि, समाप्तो नामप्रिव तुल्यम् । (मायवनिनान) । भ्रम की धरीजा में 'ज' किरणों का प्रयोग करने से मापवालाये का यह सिद्धान्त विद्युत सत्त्व प्रभावित हुआ है ।

अथयुग्माद्युस्यं स्पन्दनविवर्तनस्पर्शासद्विष्टुत्य-
मयपीड्यमाने शम्दः झस्ताहता विविधवेदनाप्रादु-
भयः स्वर्यस्वस्वस्यासु न शर्मलाभ इति समाप्तेन
काएडमझलक्षणमुक्तम् ॥८॥

(काएडमझ के सामान्य लक्षण—) धोप की अधिकता, विसाना धुमाना या धूना सदृश न होना, राह से शब्द होना, (भ्रम का) धंग गिरिध वाना, नाना प्रकार की वेदनाएँ उत्पन्न होना, और किनी भी स्थिति में आत्माम भास्त्रम न होना ये सूक्ष्मे में काएडमझ के लक्षण हैं ॥८॥

यन्त्रित्य—इस सूक्ष्म में अस्थिमझ के स्थानिक लक्षण वर्णन किये हैं । अवैत्यमाने शम्दः—धंग की धीड़न करने से हड्डी के दोनों दुखे धासन में राह ध्याते हैं, जिसमें शब्द दायर रहता है । इसमें क्रेपिटस (Crepitus) वर्तते हैं । परन्तु वह दोनों दुखे धूर होते हैं या आपस में संसाल होते हैं या दोनों के धीड़ में मार्त्तादि पातू धाता जाती है तथ वह नहीं हो सकता । स्वराङ्ग—धंग की कार्य करने की वर्ती नहीं होना तथा उसमें भ्रम ल्यान वर आस्तामाविक धरणि वाली अस्थिरता (Preternatural mobility) धा जाता । इन लक्षणों के अतिरिक्त विनामीता भी एक लक्षण है । यह विनामी धारायल, धंग का भ्रम और येणियों की तिरुकृत के कम्बल दर्शक होती है । भ्रम में धंग की लंबी ही भ्रुव कम हो-

है। संबाइ का फर्क अधिकतर शाम्भार्डो में दिखाई है। इसलिये परीक्षा के समय रोगी के स्वस्थ लंग के की भूमि लंग के नाम के साथ हुलना करना बहुत स्वच्छ है। नापते समय धोनों और ने समाज स्थानों की नापनी चाहिये। दून स्थानिक लकड़ों के वातिरिक्त सावंदेहिक लकड़ी भी होते हैं—(१) लकड़ा-lock—आधात यदि लकड़ी हो, भूमि यदि मर्मस्थान पर रोगी वातप्रकृति हो या तीव्र देदाना हो तो गाड़ी स्तनधता आती है। (२) भूमजर—प्रायः भूमि के दूसरे दिन ज्वर आ है, जो तीन दिन तक रहकर जाता रहता है। यदि भूमि त (Septic) न हुआ हो तो ज्वर 100° से अधिक नहीं रहा। दृष्टिपूर्ण एवं पर सीधे ज्वर और जीवाणुमत्रावस्था न होती है। (३) नल्पोनमाद—(Delirium tremens)—लकड़ों और कमजोर रोगियों में यह हुईटना उन्पन्न होती भूमि के पश्चात् प्रायः तीसरे दिन लकड़ी उत्पन्न होते हैं, जो निद्रानाश, भयानक स्वप्न, गल्या से या रिस्ट्रक्टी से ला, सारे शरीर में कम्प, उन्माद की सी अवस्था, मलाये हृत्यादि प्रधान हैं। उन्माद की दशा समाप्त होने पर भूमि अवस्था और संन्यन्द्र होकर मर जाता है।

विशेषतस्तु संमूढुभयतोऽस्थि भद्रे भ(ल)ग्रं
न्यिरित्वोन्नतं कर्कटकम्, अश्वकर्णवदुद्रूतमश्वकर्णीकं,
पृथ्वयानं शब्दवश्चर्णितमवगच्छेत्, पिचितं पृथुतां
तमनल्पशोफं, पौर्वयोरस्थि हीनोद्रूतमस्थिच्छ-
डेतं, वैल्लते प्रकस्पमानं काण्डभग्नम्, अस्थ्यवयवोऽ-
समध्यमनुप्रविश्य मज्जानमुश्वल्यतीति मज्जानुग-
म्, अस्थि निशेषतश्चिन्नमतिपातितम्, आभुग्नम-
ष्मुकालिं वक्तम्, अन्यतरपार्श्वावशिष्टं छिन्नं,
गाटितमणुवहुविदारितं वेदनावच्च, शूकपूर्णमिवाध्मातं
वेषुलं विस्तृटीकृतं स्फुटितमिति ॥९॥

(प्रथेक काण्डभम्भ के विशेष लक्षण—) विशेष करके दोनों तरफ से उडा हुआ, बीच में टूटा हुआ और गाँठ की भौंति उभरा हुआ भम्भ कर्कटक होता है। घोड़े के कान के अवगत ढैंचा हुआ भम्भ अश्वकर्ण है। छुरे पर शब्द करने वाला भम्भ चूर्णित समझना चाहिये। चौड़ा हुआ अधिक शोथ युक्त विशेष भम्भ है। अस्थि एक तरफ नीचा और दूसरी तरफ ऊपर अस्थिरुक्षित है। जो हिलाने से कौपता है वह कागड़-भम्भ है। अस्थि का भाग दूसरे अस्थि के भीतर प्रवेश कर मज्जा को बाहर निकाले तो वह मज्जामुगत है। निःशेष अस्थि से जाय तो अतिप्राप्ति है। जो टेढ़ा हो जाय परन्तु फूटे नहीं रख वक है। एक तरफ से शेष रहे (और एक तरफ से कट जाय) वह छिक्का है। छोटे छोटे और अनेक दरार युक्त तथा अद्वग्नायुक्त पापित है। धान्य के ग्रांकों से भरा हुआ सा पीड़ा उड़ और खूब फूटा हुआ स्फुटित है ॥१॥

वक्तव्य—संविविश्लेष के समान भग्न भी सवण और बदल करके दो प्रकार के होते हैं। सवण भग्न में बाहु खचा

तथा भम के ऊपर के मांसादि धातु विदीर्ण होकर चायु भीतर पहुँच जाती है। अद्यतन भम में फेवल भीतर की हड्डी दृट जाती है। पूर्ण ग्रोर अपूर्ण इस तरह से भी भम दो प्रकार के होते हैं। पूरी में पूरी हड्डी दृट जाती है; जैसे—अतिप्राप्ति (Complete)। अपूर्ण में हड्डी का कुछ भाग दृट जाता है; जैसे—द्विल (Incomplete)। पूर्ण भम के विकार—(१) बच्चों में हड्डी मुलायम होने के कारण दृटी नहीं, केवल आर्द्ध दरण के समान टेढ़ी हो जाती है। उसे 'वक' (Greenstick) कहते हैं। (२) कपाल की हड्डियों में आघात से बाहर का स्तर नीचे की ओर दब जाना है और भीतर का स्तर उठता है। इसे अवनत (Depressed fracture) भम कहते हैं। (३) कभी कभी हड्डी दृटी नहीं, उसम दरारें पढ़ जाती हैं; जैसे—पारित या स्फुटिट (Fissured fracture)। (४) कभी कभी आवरण बचता है और थीच की हड्डी दृटी है। उसे उपस्थि भम (Subperiosteal fracture) कहते हैं। पूर्ण भम के प्रकार—(१) कभी कभी हड्डी चौड़ाई में पूर्णतया दृट जाती है, उसे अव्यास भम (Transverse) कहते हैं; जैसे—काण्डभम। (२) कभी कभी हड्डी टेढ़ी होकर दृटी है, उसे तिर्यक् (Oblique) भम कहते हैं; जैसे—अक्षकर्ण। (३) कभी कभी हड्डी लंबाई में दृटी है; उसे अनुदैर्घ्यभम (Longitudinal) कहते हैं। अस्थिच्छ-लित बहुधा इसी प्रकार का भम है—एषा अस्थिच्छलिका) पार्श्वगतस्तोकास्थिविलेपाद्वति। (मधुकोशव्याख्या)। दंदक की गोली से इस प्रकार का भम हो सकता है। (४) कभी कभी हड्डी के छोटे छोटे ढुकड़े हो जाते हैं; उसे चूर्णित (Co-imminuted) भम कहते हैं। (५) कभी कभी हड्डी का दृटा भाग दूसरे में प्रविष्ट होता है; उसे मज्जानुगत (Impacted) भम कहते हैं। (६) कभी कभी रक्तवाहिनियों, नाड़ियों, पेशियों को हानि होती है; उसे पिचित (Complicated) भम कहते हैं। (७) कभी कभी हड्डी अनेक स्थानों पर दृट जाती है; उसे बहुभम (Multiple fracture) कहते हैं।

तेषु चूर्णितच्छन्नातिपातितमज्जानुगतानि
कुच्छसाध्यानि, कुशवृद्धयालानां क्षतक्षीणकुष्ठश्वा-
सिनां सन्ध्युपगतं चैति ॥१०॥

(साध्यासाध्यता—) इनमें से चूर्णित, क्रिया, अतिपाति त और मज्जानुगत कृच्छसाध्य होते हैं; तथा दुर्बल, वृद्ध, बालक, क्रतवीणा, कुषी और भासी इनके तथा संधिसमीपवर्ती भग्न भी कृच्छसाध्य होते हैं ॥१०॥

भवन्ति चाव-

भिन्नं कपालं कट्यां तु सन्धिमुक्तं तथा च्युतम् ।
 जघनं प्रति पिष्टं च वर्जयेत्तच्चिकित्सकः ॥१॥
 असंस्थिष्टं कपालं तु ललाटे चरणिं च यत् ।
 भग्नं स्तनान्तरे शङ्खे पृष्ठे मूर्भि च वर्जयेत् ॥१२॥
 आदितो यच्च दुर्जातिमश्यि सन्धिरथापि वा ।
 संमयग्रामितमप्यस्थि दुर्णीसाहुर्निवन्धनात् ।
 सङ्खोभाद्वाऽपि यद्बच्छेद्विक्रियां तच्च वर्जयेत् ॥१३॥

कपाल और कटि के भिन्न, संधिमुक्त और स्थूत स्थान सेविय के उत्तरांशक स्थान हैं ॥११॥ चिर कपालों का सेवियमेष्ट तथा चूर्णित और स्थान के मध्य का, गंगा प्रदेश का, इष्टवार का और मिर का भग्न स्थानाना चाहिये ॥१२॥ जो अस्थिय वा सेवि पहले से ही विकृत हों, तथा जो अस्थि (और सेवि) ठीक ठीक जोड़ने पर अनुचित रखने से, अनुचित बजन से और हिलाने से खराप हुए हों, उन्हें भी स्थाना चाहिये ॥१३॥

दृक्कठाय—आरितो यथा दुर्जनम्—भग्न होने के पहले ही जो हड्डी स्थान हो। हड्डी की बनावट की स्थानी निझी तीन कारणों से हो सकती है । (१) खास हड्डियों के विकार, जैसे—अस्थिक्रना, अस्थिगुणता, अस्थिशुद्धि, अस्थिरुद्धर हस्यादि ।

(२) अस्थिसमीपवर्ती घंग की विकृति का परिणाम, जैसे—अस्थिप्रधि (Aneurom) के कारण अस्थि का विलय होना । (३) सार्वर्दिक विकृति में अस्थि की भी स्थानी होना; जैसे—पदाश्रावत, मनिक्षयत चिरंग (जैसे Tabes dorsalis) और दूबावस्था हस्यादि । सम्बन्धितमध्यस्थि—हडी हड्डी का योग्य संधान करने पर भी । योग्य संधान तथ कह सकते हैं, तब भग्न के होनों दुक्के पौरीस्थिति में यानि हड्डी और के स्वयं घंग की स्थिति में स्थापित किये जाते हैं । इस स्थिति में भग्न को उस समय तक बराबर रखना चाहिये जब तक भग्न का संयोग मज्जूत न हुआ हो । योग्य संधान में विगाह होने के सीन कारण हड्डी क्षेत्र में दिये हैं—

(१) दुर्वर्षाद्—एसिर की दृष्टि से भग्न घंग को योग्य स्थिति और दिया (Correct position and alinement) में न रखने से । (२) दुर्निर्वन्दन—तुग्गा (Splints) रहे तथा अन्य योग्य पदार्थों का उपयोग करके भग्न घंग को मज्जूत न बोधने से । (३) सर्वीभाव—सहित घंग के होनों दुक्के आपम में संकालित होने से । संधान करने के हड्डे स्थान के व्यापार भग्नस्थान पर नहीं पात्र का बनाना प्रारंभ होता है । हुल हुल में यह घातु अर्थत् गुड़ होती है, इसमें अस्थि की कठिनता नहीं होती है; इससिंधि घंग के हिलने से यह नहीं घातु विगाह आनी है । अस्थिविक्रमन के लिये कुणा के अनिरिक्त बाज़बाज़ चौंदी के तार, घातु की पट्टी, हड्डी वा हाँसीर्ती की कीले, पेंच, हृतियों हस्यादि भी मधुक बनते हैं । तेरहवें ग्लोब में भग्न की अस्थियता (अस्थियों का न होना) के पांच कारण दिये हैं—१ अस्थि के रोग, २ अस्थि संधान न होना, ३ दुम्पांग, ४ दुर्निर्वन्दन और ५ संक्षीप्त । इनके अनिरिक्त और सीन कारण होते हैं । ६ रोगी की गारीरिक बुरेलाना । इसका उद्देश लग्न १० वें ग्रन्त में 'हृत्यूद' ब्रैंड दिया है । ७ अस्थियों के बीच में रेतियों वा घायुमों का चा जागा । ८ भग्न अस्थि की दोषक रक्ताद्विनी हृट जाने से योग्य भाजा में रक्त का न मिलना ।

मर्याद यथसोऽप्यस्यालिप्यो याः परिकीर्तिः ।

तथ स्पिरो भवेष्यमुदपक्षान्तो विजानता ॥१४॥

(आपु के भग्नस्थान साम्बालपत्राना—) मध्यमात्र की जो तीन ब्रह्मादि वर्जन की है, उसमें (भग्नस्थिका)

जानने वाले (वैष्ण) से उपचारित भग्नस्थ (का भग्न) होता है ॥१४॥

धक्काद्य—भवता—सुप्रथान के आत्मोपकम भायम १५ वें भाष्याय में ७४ २०० पर मध्य वर की अवस्थाएँ दर्शन की है—इदियोदन स्पूर्णता हानिरिति । १ से पहली तीन अवस्थाओं में यानि सीलह से सेकर या साल की उमर तक भग्न आसानी से छुड़ जाते हैं । या धध्या में भी भग्न आसानी से छुड़ जाते हैं—परमे वरनि भग्न शुक्रामरित । (चिकित्सास्थान अ ३) । चालीस सेकर सतत तक कृष्णसाध्यता और सतत के प्रयात् भग्नात उपल होती है । साध्यासाध्यता का कुछ अधिक विव भग्नस्थिक्षा में किया गया है ।

तरुणास्थीनि नम्यन्ते भज्यन्ते नलकानि तु ।

कपालानि विभिन्नते स्फुटन्ति रघ्वकानि च ॥१५॥

रति प्रुमुदितायां निरानस्थाने भग्ननिरान

नाम पष्ठदर्शीत्याय ॥१५॥

(अस्थिविशेष के अनुसार भग्न के प्रकार—) त अस्थियाँ लक्ष जाती हैं; नलकास्थियाँ दूर जाती हैं; का अस्थियाँ विद्वायुक्त होती हैं; और दूरते हैं ॥१५॥

धक्काद्य—नरणात्य—कारिलेज (Cartilage) । ये या पींचे रंग का अम्बिकाश और लक्षकाश होता है कान, नाक, स्तरवर्यन, देहुवा इत्यादि खानों में संदैव तत्त्व स्थित्याँ होती हैं । बाल्यावस्था में और गर्भावस्था में व सी अस्थियाँ तत्त्वावस्था में होती हैं यानि उनमें अस्थि समान कठिनता नहीं होती, किन्तु संक्ष पक्ष होती है । इसमि आपात या प्रहार होने पर वे केवल दृष्ट जाती या लाल जा हैं । बाल्यावस्था में भग्न प्राय वक (Green stick fracture) व्याप्त होता है । नक्क—संती इड्डीयाँ (Long bones) वराल—चौंदी, चाटी और सपाट इड्डीयाँ (Flat bones) जैसे कि लोगाई की बड़ी अस्थियाँ । इक—इतन रघ्वकानि । (शारीरस्थान) ।

ती भग्नस्थानां गोदिन्द्रियान्तेन विरक्तिवायामयुरेतत्त्वारीतिक द्वुभग्नामधीकाना निरानस्थाने भग्ननिरान नाम पष्ठदर्शीत्याय ॥१५॥

पोडशोऽस्थ्यायः ।

यथातो मुपरोगाणां निरानं व्यारुप्यास्थामः यथोदाच भग्नान् धन्वन्तरिदिः ॥१॥

यथ वही से मुरागत रोगों के निरान का व्यारुप्याच कर है, जैसे वे भग्नान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

मुपरोगाः पञ्चस्थिः रासस्थापतमेषु । तत्रायत गानि—ओष्ठी, दम्भमूलानि, दन्ता, जिङ्गा, तातु वर्णः, सर्वाणि चेति ॥२॥

(रसाय और वायतन—) सातो रोगों में (विवर) मुपरोग उसक होते हैं । (तात) रसाय—दोष, इलाम रस, चीम, तातु, वर्ण, और सूर्यम् गुरु ॥२॥

वक्तव्य—पश्चाद्विः—वामभट ने पचाहनर मुखरोग किये हैं—जोते सोते खेलता; पश्चात्प्रनिगमयतः । (अष्टांग-) । दृढ़शर चरकदेहिता में मुखरीगमयन्या चोंपेट गते हैं—पश्चात्प्रदाहतिनामेष्टने चप्पुपरित्यभयनि । विक्षया, वा. २५) । शारीर भौंहचर और भावप्रकाश इस रोग वर्णन किये हैं । आयतन—संस्थान । वामभट इष्ट का समान्य मुखरोगों के आवश्यन में करते अदादर वर्णन किये हैं ।

तत्राप्तावोष्टुयोः, पञ्चदश दन्तमूलेषु, अद्यौ तेषु, पञ्च जिह्वायां, नवौतालुनि, सप्तदश करादे, पृष्ठैः सर्वेषायतनेषु ॥३॥

(वायवनानुसारं संस्था—) इनमें से होठों में आठ, दूसरों में पंद्रह, दाँतों में आठ, जीभ में पाँच, तालु में नीं, इष्ट में सत्रह और संस्थै दुख में तीन ॥३॥

वक्तव्य—वामभट के अनुसार होठों में भारत, इष्ट में छ, मस्तुकों में तेरह, दाँतों में दस, जीभ में छ, तालु में एट, कण्ठ में अद्यारात्र और संस्थै दुख में आठ रोग होते—ज्ञानदीर्घे दश च धोयेद्वा तथा च एव । अष्टावदायाद्यै च चतुर् ॥ (अष्टांगसंस्मरण) ।

तत्रौष्टप्रकोपा वातपित्तस्मैप्रसन्निपातरक्तमांस-
मेदोभिवातनिमित्ता: ॥४॥

(ओष्टरोग—) उनमें ओष्टप्रकोप वात, पित्त, कफ, ग्रन्ति-
गत, रक्त, मांस, मेद और अभिवात इनके कारण
होते हैं ॥४॥

वक्तव्य—वामभट ने निष्ठ तीन रोग अधिक वर्णन किये हैं—(१) तत्र पाण्डोष गत्युको वरिनोषी दिया इतः । (अष्टांगसंग्रह) । खण्डोष वहुधा हेशरिलिप (Hare lip) होगा । यह सहज रोग है । (२) खर्जसदृश वात क्षीणे रक्त-
देह में देह । गंधुद वहुधा एपियेलियोम (Epithelioma) होगा । (३) जलदुसुद्वदातकफादेषि जलार्द्धम् । जलार्द्ध वहुधा भ्यूक्स सिस्ट (Mucous cyst) होगा ।

कर्कशौ पर्ष्पौ स्तव्यौ कृष्णौ तीव्रसुगन्धितौ ।

वालयेते परिपाटेवते ह्योष्टौ मारुतकोपतः: ॥५॥

(वातज ओष्टप्रकोप—) वातप्रकोप से होठ खुरदरे, कठिन, सुझ, काले, तीव्र पीड़ायुक्त और विद्यरुक्त होते हैं ॥५॥

वक्तव्य—मास्तज ओष्टप्रकोप—Cracked या Chapped lips ।

आचितौ पिङ्काभिस्तु सर्पयाकृतिभिर्भृशम् ।

सदाहपाकसंस्कारौ नीलौ पीतौ च पित्ततः: ॥६॥

(पित्तज ओष्टप्रकोप—) पित्त से होठ सरसों के आकार की वहूत सी कुन्नियों से व्यास, दाह पाक और ज्वाव हनसे युक्त, नीले और पीते होते हैं ॥६॥

सर्वर्णभिस्तु चीयेते पिङ्काभिरवेदनौ ।

करद्धमन्तौ कफाच्छूनौ पिच्छलौ शीतलौ शुरु ॥७॥

की कुन्नियों से व्यास पीड़ारहित, कण्डुयुक्त, फूले हुए, पिच्छल, छाँदे और भारी होते हैं ॥७॥

सदृश्कृष्णौ सदृश्पीतौ सकृच्छ्रैतौ तथैव च ।

सदिपातेन विदेयावनेकपिडिकाचितौ ॥८॥

(सदिपातज ओष्टप्रकोप—) सदिपात से होठ कभी काले, कभी पीले, तथा कभी सुरुक्द होते हैं और अनेक प्रकार की कुन्नियों से ज्वास रहते हैं ॥८॥

वक्तव्य—पित्तज, कफज और सदिपातज ओष्टप्रकोप व्युधा Herpes labialis रोग होगा ।

खर्जरफलवरण्मिः पिडिकाभिः समाचितौ ।

रक्तोपस्थृष्टौ रधिरं स्ववतः शोणितप्रभौ ॥९॥

मांसदुष्टौ गुरु श्वृलौ मांसपिराडवदुद्रतौ ।

जन्तवद्वात्र मूर्च्छन्ति सूक्ष्मस्योभयतो मुखात् ॥१०॥

(रक्तज और मांसज ओष्टप्रकोप—) रक्तदूषित होठ रुग्गर के फल के वर्ण के समान कुन्नियों से व्यास, रक्त ख्ववने वाले और रक्तवर्ण होते हैं ॥१॥ मांसदुष्ट होठ भारी, मोटे, मांसपिण्ड के समान उभरे हुए होते हैं तथा मुख से दोनों तरफ के ओष्टभागों पर कृमि मूर्च्छित हो जाते हैं ॥१०॥

वक्तव्य—रक्तज और मांसज ओष्टप्रकोप तथा वामभट का अंतुंद ओष्ट का प्रपियेलियोमा (Epithelioma) होगा ।

मेदस घृतमण्डाभौ करद्धमन्तौ स्थिरौ मृदू ।

अच्छस्फटिकसङ्काशमास्यावं स्ववतो गुरु ॥११॥

(मेदोज ओष्टप्रकोप—) मेद से होठ घृतमण्ड के वर्ण के, कण्डुयुक्त, स्थिर, मृदु, स्वच्छ स्फटिक समान ज्वाव ज्ववने वाले और भारी होते हैं ॥११॥

वक्तव्य—कफज ओष्टप्रकोप वहुधा न्याकोचेलिया (Macrocheilia) होगा ।

ज्वतजाभौ विदीर्घेते पाट्येते चामिधाततः ।

ग्रथितौ च समाख्यातावोष्टौ करद्धसमन्वितौ ॥१२॥

(ज्वतज ओष्टप्रकोप—) अभिवात से होठ ज्वत के समान, विदीर्घी और छिले हुए, गाँधदार तथा कण्डुयुक्त होते हैं ॥१२॥

दन्तमूलगत रोग

दन्तमूलगतास्तु—शीतादो, दन्तपुष्पुटको, दन्त-वेष्टकः, शौषिपिरो, महाशौषिपिरः, परिदर, उपकुशो, दन्तवैद्रभो, वर्धनोऽधिमांसो; नाडयः पञ्चेति ॥१३॥

(दन्तमूलगत रोग—) और दन्तमूलगत रोग १ शीताद, २ दन्तपुष्पुटक, ३ दन्तवेष्टक, ४ शौषिपि, ५ महाशौषिपि, ६ परिदर, ७ उपकुश, ८ दन्तवैद्रभ, ९ वर्धन, १० अधिमांस, ११-१५ तथा पाँच नाडियाँ (मिलकरे पंद्रह होते हैं) ॥१३॥

वक्तव्य—वामभट में दन्तवेष्टक और परिदर नहीं वर्णन किये हैं । वर्धन दन्तरोगों में दिया है । दन्तविद्रविष अधिक है—दन्तमासे मैलः साक्षीवीशान्तः श्वयसुरुणः । सर्वदाः लवेद भिन्नः पूर्यावं दन्तविद्रविषः ॥ (अष्टांगसंग्रह) । दन्तविद्रविष को एल्बी-डीब्लीबर इन्डोज (Alveolaris) भी कहते हैं ।

शोणितं दन्तवेष्टम्यो यस्याकसात् प्रवर्तते ।
कुर्गन्धीनि सहृष्णानि प्रहेदीनि मृदूनि च ॥१४॥

दन्तमांसानि शीर्यन्ते एचन्ति च परस्परम् ।

शीतादो नाम स व्याधिः कफरशोणितसंभवः ॥१५॥

(शीताद—) जिसके दाँतों की जड़ से अकारण खूब निकलता है, तथा जिसके मसूड़े दुर्गंध युक्त, काले, गीले और पिलपिके ॥१४॥ हांकर गलते हैं और एकते हैं वह कफरक जन्य शीताद नामक व्याधि है ॥१५॥

धक्कदय—अकग्नाद—अकारण—वह दस्तमेहुकम् ।

(आर्गासप्रह) । सूक्ष्मानि—खून रक्त में परिवर्तन होने से दाँत तथा मसूड़े काले हो जाते हैं । शीताद—इसको व्लींडिंग (Bleeding) वा स्पॉन्जीगम्स (Spongy gums) कहते हैं । यह रोग मुख की मकाई ठीक न रखने से, पारद सेवन से या स्कर्वी (Scurvy) नामक रोग से उत्पन्न होता है ।

दन्तयोखिपु वा यस्य भ्यवयु सहजो महान् ।

दन्तपुण्डुको हेयः कफरक्तनिमित्तज ॥१६॥

(दन्तपुण्डुक—) जिसके दो या तीन दाँतों (की जड़) में पीढ़ाएक वर्दी मूत्रान उत्पन्न होती है, वह कफ और रक्त के कारण उत्पन्न हुआ दन्तपुण्डुक रोग जानना चाहिये ॥१६॥

धक्कदय—दन्तपुण्डुक—इसको गम् बॉल (Gum boil) कहते हैं । दन्तविद्विति से यह छोटा और परिमित होता है और बहुवा मसूड़े को होट करके कूटता है । दन्त विद्विति परिक गहराई तक कैलता है और कभी कभी हतु का नाश (Necrosis of the jaw) भी कहता है । प्राय हस्तिये यह विद्विति माना गया है । ऊपर ३५वें श्लोक का वर्णन देखें ।

स्थवन्ति पूर्यस्थिर चला दन्ता भवन्ति च ।

दन्तवेष्टः स विशेषो दुष्टशोणितसंभवः ॥१७॥

(दन्तवेष्ट—) (जिसमें दाँत धीप और खूब खत्तते हैं तथा हिलने वाले होते हैं वह दुष्ट रक्तजन्य दन्तवेष्ट रोग जानना चाहिये ॥१७॥

धक्कदय—दन्तवेष्ट—इसको पारेंटिडा अलिंगोलास्टिस (Pyorrhoea alveolaris) वा सान्पुण्डित्वा विजिवाटिस (Suppurative gingivitis) कहते हैं । घृट ३०५ पर ४८८ श्लोक का वक्तव्य देखो ।

भ्यवयुर्दन्तमूलेषु रुजावान् कफरक्तज ।

लालाक्षादी स विशेषः इहूमान् शीपिरो गदः ॥१८॥

(शीपिर—) पीढ़ायुक्त, कफरक्तजन्य, लाला स्वेतावाना और कण्ठायुक्त दाँतों की जड़ों का शोषण शीपिर रोग जानना चाहिये ॥१८॥

दन्ताध्वलन्ति वेष्टेयसालु चायथीर्यते ।

दन्तमांसानि पृच्यन्ते मुख च परिपीडपते ।

यस्मिन् स सर्वज्ञो व्याधिमद्यात्रीपिरसंक्रम ॥१९॥

(महार्णोपिर—) जिसमें दाँत अपने स्थान से हिलने लगते हैं, तालु विरीर्य होती है, मसूड़े गलते हैं और मुख

में पीढ़ा होती है, वह सविपातजन्य महार्णोपिर संज्ञ रोग है ॥१९॥

दन्तमांसानि शीर्यन्ते यस्मिन् धीर्यति चायथसूक् ।

पित्तासुक्कफज्जो व्याधिर्हेय, परिदूरो हि स ॥२०॥

(परिदूर—) जिसमें मसूड़े गलते हैं, रोगी बार बार र थूकता है, वह पित्तकफतजन्य परिदूर नामक व्याधि जाना चाहिये ॥२०॥

वेष्टेषु दाहः पाकश्च तेभ्यो दन्ताध्वलन्ति च ।

आधृताः प्रव्वरन्ति शोणितं भन्दवेदनाः ॥२१॥

आधामायन्ते स्तुते रक्ते मुखं पूति च जायते ।

यस्मिन्षुपुकुश स स्पात् पित्तरक्ततो गदः ॥२२॥

(उपकुश—) जिसमें दन्तवेष्ट में जलन और पाक होते हैं, उससे दाँत हिलने लगते हैं, दवाने पर रक्त का जाव होता है, मन्द पीढ़ा होती है ॥२१॥ रक्तजाव होने पर मसूड़े फूलते हैं, और मुख दुर्गं ध्युक होता है, वह पित्तरक्तजन्य उपकुश नामक व्याधि है ॥२२॥

वेष्टेषु दन्तमूलेषु संरम्भो जायते महान् ।

भवन्ति च चला दन्ता स वैद्यमोऽपिधातजः ॥२३॥

(वैद्यम—) दाँतों की जड़ों में रगड़ने से जिसमें शो और लाली उत्पन्न होती है तथा दाँत हिलने लगते हैं, वा अनियन्त्रितजन्य वैद्यम रोग है ॥२३॥

धक्कदय—शीपिर से लेकर दन्तवेष्टमें तक दन्तवेष्टको (Gingivitis) के विविध प्रकार मालूपम पहते हैं । महार्णोपिर के व्यक्तिगतजन्य में इस प्रकार मिलते हैं—ग्रामियातान्तराः प्रत्यपिरुति । (अर्हाग्रसंप्रह) । विद्यमानिर दन्तान् तालोऽ मपि दातेषु । महार्णोपिरविद्युत्त तसरातानिहन्त्यकर । (भोज) ।

इन लक्षणों का विचार करने से महार्णोपिर बहुत कठोर ग्रीनीस स्टोमाटायर्टीज वा कम्ब्रम्प्रोट्रिस (Gangrenous stomatitis वा Cancrum oris) होता है । इसमें गाल में भीतर या मसूड़ों पर एक व्याप्त बनता है, जो जिङ्गा तालु इत्यादि पर फैलता है । तीव्र ज्वर भी होता है और रोगी ७-१० दिन के भीतर मरता है—This rare disease occurs in children It occurred in two men A sloughing ulcer develops in the inside of the cheek or on the gums perforates the cheek or spreads to the tongue chin jawbone Cancrum oris is accompanied by severe constitutional symptoms the patient being prostrated with a high temperature and rapid pulse Death generally occurs between seven and ten days of the onset Text book of the practice of Medicine by F W Price

मादतेनाधिको दन्तो जायते तीव्रवेदन ।

घर्धनः स मतो दधिर्जाति दक्ष च मरणापति ॥२४॥

(वर्धन—) बायु से तीव्र पीड़ा करने वाला अधिक दाँत, (कभी कभी) उमर होता है, वह रोग वर्धन है । उसमें दाँत निकल आने पर पीढ़ा धीर्य हो जाती है

बक्तव्य—वर्णन—हसको अधिदन्त या खलवर्धन भी कहते हैं—इन्तोऽधिमांसऽधिदन्ताख्यः स चौक्तः खलवर्धनः । (अष्टांग-प्रभा) । अंग्रेजी में एक्स्ट्रा टूथ (Extra tooth) कहते हैं । चन्द्रचक्रवर्ती तथा अन्य आधुनिक टीकाकार इसे अकलदाइ (Wisdom tooth) समझते हैं । परन्तु चिकित्सा में इसको उसाहने का इलाज बतलाया है—उद्याधिकदन्तं तु तोऽधिमांसवारेत । इसलिये यह रोग अकलदाइ नहीं हो सकता ।

हानव्ये पश्चिमे दन्ते महाज्योथो महारुजः ।
लालाक्षावी कंफक्टो विशेष्यः सोऽधिमांसकः ॥२५॥
(अधिमांस—) निचले जबडे के पिछले दाँत के पास तीव्र पीड़ा युक्त, लालाक्षाव करने वाला कफजन्य भारी शोथ होता है, उसे अधिमांस समझना चाहिये ॥२५॥

बक्तव्य—अधिमांस में निचले जबडे के अन्तिम दाँत के बीच पीछे की ओर से कुछ मांस आ जाता है तो चर्चण के समय कुचल जाने से हानुसंधि, कर्ण में पीड़ा करता है और निगलते समय भी कठिनाई होती है—इनुकर्णरुचाकरः । प्रतिहत्ययवहातिम् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । बहुधा यह रोग Impacted wisdom tooth होगा ।

दन्तमूलगता नाड्यः पञ्च श्वेया यथेरिताः ॥२६॥
(दन्तनाडी—) जैसे कि (दशमाख्याय में) कहा है दाँतों की जड़ में (वातज, पित्तज, कफज, सज्जिपातज और श्वेयज इस प्रकार) पाँच प्रकार की नाड़ियाँ जाननी चाहिये ॥२६॥

दन्तगत रोग

दन्तगतास्तु—दालनः, क्रिमिदन्तको, दन्तहर्षे, भजनकः, शर्करा, कपालिका, श्यावदन्तको, हनु-मोक्षश्चेति ॥२७॥

(दंतरोग—) १ दालन, २ क्रिमिदन्त, ३ दन्तहर्ष, ४ भजनक, ५ शर्करा, ६ कपालिका, ७ श्यावदन्तक और ८ हनुमोक्ष ऐसे (आठ) दाँतों के रोग हैं ॥२७॥

बक्तव्य—वारभट ने निश्च ३ रोग अधिक वर्णन किये हैं । १ कराल—करालस्तु करालानां दशनानां समुद्रवः । २ चाल—चालश्वलद्विरेत्सनैर्भक्षणादधिकव्ययैः । ३ दन्तमेद—दन्तमेद द्विजा-सोदेमदखलस्तुनान्विताः ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

दाल्यन्ते चहुधा दन्ता यस्मिस्तीव्ररुग्नविताः ।

दालनः स इति श्वेयः सदागतिनिमित्तज्ञः ॥२८॥

(दालन—) जिसमें दाँत विदीर्ण से होते हों और तीव्र पीड़ायुक्त हों, वह वात से उत्पन्न हुआ दालन नामक रोग जानना चाहिये ॥२८॥

बक्तव्य—दालन—हसको शीतदन्त भी कहते हैं—वातादुण्णासहा दन्ताः शीतस्पर्शाधिकव्यथाः । दाल्यन्त इव श्वेन् शीतास्यो दालनश्व सः ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इसको टूथएक (Toothache) या ओडोटोडायनिया (Odontodynia) कहते हैं ।

कृष्णशिष्ठद्वीचलः ज्ञावी स्वसंरक्षी महारुजः ।

अनिमित्तरुजो वाताद्विक्षेयः क्रमिदन्तकः ॥२९॥

(क्रमिदन्तक—) जो काला हो, छिद्रयुक्त हो, हिलता हो, स्वता हो, शोथयुक्त हो, तीव्रपीड़ायुक्त हो, विना कारण जिसमें पीड़ा शुरू होती हो, वह वातजन्य क्रमिदन्तक रोग जानना चाहिये ॥२९॥

बक्तव्य—क्रमिदन्तक को Dental caries कहते हैं ।

दाँतों के बीच में फैसे हुए खाद्य द्रव्यों के सहन से जो अम्ल उत्पन्न होते हैं, उनकी क्रिया से दाँत पोले होते हैं । दंतगूल या दालन रोग का क्रमिदन्त प्रधान कारण है । जीवद्रव्य दी और खटिक की कमी से भी दाँतों में कीड़ा लग जाता है ।

दशानाः शीतमुष्णं च सहन्ते स्पर्शनं न च ।

येस्य तं दन्तहर्षं तु व्याधिं विद्यात् समीरणात् ॥३०॥

(दन्तहर्ष—) जिसके दाँत शीतल, गरम तथा स्पर्श सहन नहीं कर सकते, उसकी व्याधि वातजन्य दन्तहर्ष जाननी चाहिये ॥३०॥

बक्तव्य—दन्तहर्ष—ओडन्टायटीज Odontitis । माधव के अनुसार 'पित्तमारुतकोपेन' यह रोग होता है ।

वक्कं वक्कं भवेद्यस्मिन् दन्तभङ्गश्च तीव्ररुक् ।

कफवातकृतो व्याधिः स भजनकसंश्लितः ॥३१॥

(भजनक—) जिसमें मुँह टेहा हो जाय, दाँत टूट जाय, तीव्र पीड़ा हो, वह कफवातजन्य भजनक संश्लित रोग है ॥३१॥

शर्करेच स्थिरीभूतो मलो दन्तेषु यस्य वै ।

सा दन्तानां गुणघी तु विशेया दन्तशर्करा ॥३२॥

(दन्तशर्करा—) जिसके दाँतों में शर्करा (पथरी) के समान मल स्थिर हुआ है, वह दाँतों का गुण (कठिनता) नाश करने वाली दन्तशर्करा है ॥३२॥

बक्तव्य—दन्तशर्करा को टार्टर Tarter कहते हैं । हसमें दाँतों के बीच में फैसी हुई चीजों के सहने से खनिज पदार्थ, विशेष करके क्यालसिथिम फॉस्फेट, (Calcium phosphate) उनकी जड़ पर जम जाते हैं ।

दलन्ति दन्तवलकानि यदा शर्करया सह ।

श्वेया कपालिका सैव दशनानां विनाशिनी ॥३३॥

(कपालिका—) जब शर्करा के साथ दाँतों के छिलके उत्तरने लगते हैं तब दाँतों का नाश करने वाले वही छिलके कपालिका जानने चाहिये ॥३३॥

बक्तव्य—दन्तवलक—दाँतों का कवच । हसको इन्यामल (Enamel) कहते हैं । शरीर में जितने धातु हैं, उनमें दन्तवलक सब से कठिन है । मसूरों से ऊपर दाँतों का जो भाग निकला रहता है, उस पर हस द्रव्य का आवरण होता है और इसी के कारण कठिन से कठिन खाद्य द्रव्यों का चर्चण मनुष्य कर सकता है । मुख की सफाई ठीक न रखने से जब हस कवच पर पथरी जम जाती है तब मोर्चा लगे हुए लोहे के समान कवच की मजबूती जाती रहती है; और एक दिन पथरी के साथ वह कवच निकल आता है ।

योऽसुद्धिक्षेण पित्तेन दम्पो दन्तस्त्वयशेषतः ।

दयायतां नीलतां याऽपि गतः स दयायदन्तकः ॥३४॥

(दयायदन्तक—) जो दर्दी रक्तुक चित के कारण पूर्ण तथा दम्प होकर कापा पा मीला पह जाता है, यह दयायदन्तक है ॥३४॥

यातेन तैस्तेभविष्टु दग्धसन्धिविसंदतः ।

दग्धमोत्त इति देहो द्याधिरिद्विलक्षणः ॥३५॥

(दग्धमोत्त—) उन दो भावों करने वायु से दग्धसन्धि दिग्गंड जाती है, उसे दग्धमोत्त जानना आहिये । पह द्याधि अर्दित दक्षणों से दुख होती है ॥३५॥

यक्तदय—तैसोभीर—उद्देहाद्योद्यर्थ शादो बठिनानि वा । इसने दग्धमोत्त जाती ॥ विस्तृत—विसेपिति, विपृष्ठित ।

दग्धमोत्त—दग्धमेपितिलेप (Dislocation of the lower jaw) । दग्धमेपितिलेप कीले होने से या, हिस्ते और जब्बाई होते समय मर्यादा से अधिक मुख दोनों से या सुने मुख पर आधार होने से या दोने निकालते समय अध्येत्तु पर अधिक भार पहने से दग्धमुण्ड दग्धमात के अंदुरे पर से किसलता दुखा उसके आगे पहुँच जाता है । पह विसेप कभी एक और कभी दोनों ओर होता है । नार्दिन्दग्धुग—

दोनी का मुख देख होता है, यदि एक ओर का विसेप हो । यदि दोनों ओर का विसेप हो तो ठोकी भीचे की ओर दूर जाती है, मुँह सुला रह जाता है, उसमें हार टपकती है, बोलने निगलने में कठिनाई होती है । कर्णपुनिका के आगे गहा और उसके आगे उभार दिखाई देता है । अर्दित और दग्धमोत्त के छह्याओं की समता पूर्ण नहीं है अपर्यंत है; जैसे दक्षीभूति वस्त्रार्थी वास्तवंग, दग्धमेप—प्राप्तम्—दग्धमेपेत्यादेवेत्यचे । (भात्त दर्शी) । जिहा कण्ठक (Chronic superficial glossitis) नामक रोग है और बातादि से उसकी तीन अवस्थाएँ ज्ञाई गई हैं । जैसे—यत्कण्ठक Cracked or fissured tongue, विस्तकण्ठक red glazed tongue और कक्षकण्ठक Ichthyosis है ।

इत्यादि रासायनिक चित्र इनसे भी दौतों की तथा समूह की स्तराती होती है ।

जिहागत रोग

जिहागतास्तु—यस्तकास्त्रिविधालिभिर्दोषैः
यस्तास उपजिह्दिका विति ॥३६॥

जिहा के रोग—तीनों दौतों से तीन प्रकार के कण्ठ
स्थान और उपजिह्दिका (इस प्रकार पाँच होते) हैं ॥३६॥

जिहाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुता

भवेय शाकच्छदनप्रवाशा ।

पित्तेन पीता परिवृत्यते च

विता सरसौरपि कण्ठकैव्य ।

कफेन गुर्वी यहुला विता च

मांसोद्भूमै शालमलिकारटकामैः ॥३७॥

(विविध कण्ठक के स्थान—) बातप्रकोप से और विश्वायुक्त, रसस्तान, विरहित, और शालमलि के समान (दुर्दरी होती है) । चित से पीती, दाढ़पुक और रक्तु और दौतों से व्याप्त होती है । कफ से भारी, रक्तु और शालमलि कण्ठक के समान मांसाङ्कुरों से व्याप्त होती है ॥३७॥

यक्तदय—प्राप्तम्—स्वर्त्वानवेष्टिदेवेत्यचे । (भात्त दर्शी) । जिहा कण्ठक (Chronic superficial glossitis) नामक रोग है और बातादि से उसकी तीन अवस्थाएँ ज्ञाई गई हैं । जैसे—यत्कण्ठक Cracked or fissured tongue, विस्तकण्ठक red glazed tongue और कक्षकण्ठक Ichthyosis है ।

जिहातले यः भवेयः प्रगाढः

सोऽलाससंहः कफरकमूर्तिः ।

जिहां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो

मूले तु जिहा भृशमेति पाकम् ॥३८॥

(अलास—) जिहा के भीचे कफरक प्रधान दोषवद्य जो गमीर योग होता है, वह अलास संकेत है । वह बाते से जिहा को स्तम्भित करता है और जड़ के पास जिहा दीन पाक को माप्त होती है ॥३८॥

यक्तदय—अलास—Sublingual abscess । प्रदृढ़—
बहुत पर यह योग भीचे की ओर गमन कर अपेहतु उपर्या
योर्य (Submaxillary cellulitis) उत्पत्ति करता है । कफ
लक्ष्यूर्ति—कफरकमूर्त्य । इसमें बात भी संमीलित रहता है
और यह व्याधि विशेषज्ञ तथा भास्त्र भासी गई है—
कफलयों प्राप्तम्, जिहालमेन वायुप्रसिद्धि, भृत दोनों पिति
मध्यलय, भृतपृष्ठ विद्युत्वेत्यासावलम्बपि, दुर्घटकमूर्त्य । (इत्यम्)

जिहाप्रसूरः भवेयसुर्द्धि जिहा-

मूलभूम्य जातः कफरकपोतिः ।

प्रसूरेकाद्यपरिवादयुक्ता

प्रकथयसे उपजिह्दिकेति ॥३९॥

(उपजिह्दिका—) जिहा के अप्र के आकार की, जिहा
को ऊपर उठाकर उपस तुड़, कफरकमूर्त्य, कात, कठूड़ और
दाढ़ इनसे उप दून उपजिह्दिका कहलाती है ॥३९॥

योऽसुद्धिक्षेण पित्तेन दम्पो दन्तस्त्वयशेषतः ।
दयायतां नीलतां याऽपि गतः स दयायदन्तकः ॥३४॥
(दयायदन्तक—) जो दर्दी रक्तुक चित के कारण पूर्ण तथा दम्प होकर कापा पा मीला पह जाता है, यह दयायदन्तक है ॥३४॥
यातेन तैस्तेभविष्टु दग्धसन्धिविसंदतः ।
दग्धमोत्त इति देहो द्याधिरिद्विलक्षणः ॥३५॥
(दग्धमोत्त—) उन दो भावों करने वायु से दग्धसन्धि दिग्गंड जाती है, उसे दग्धमोत्त जानना आहिये । पह द्याधि अर्दित दक्षणों से दुख होती है ॥३५॥
यक्तदय—तैसोभीर—उद्देहाद्योद्यर्थ शादो बठिनानि वा । इसने दग्धमोत्त जाती ॥ विस्तृत—विसेपिति, विपृष्ठित ।
दग्धमोत्त—दग्धमेपितिलेप (Dislocation of the lower jaw) । दग्धमेपितिलेप कीले होने से या, हिस्ते और जब्बाई होते समय मर्यादा से अधिक मुख दोनों से या सुने मुख पर आधार होने से या दोने निकालते समय अध्येत्तु पर अधिक भार पहने से दग्धमुण्ड दग्धमात के अंदुरे पर से किसलता दुखा उसके आगे पहुँच जाता है । पह विसेप कभी एक और कभी दोनों ओर होता है । नार्दिन्दग्धुग—दोनी का मुख देख होता है, यदि एक ओर का विसेप हो तो ठोकी भीचे की ओर दूर जाती है, मुँह सुला रह जाता है, उसमें हार टपकती है, बोलने निगलने में कठिनाई होती है । कर्णपुनिका के आगे गहा और उसके आगे उभार दिखाई देता है । अर्दित और दग्धमोत्त के छह्याओं की समता पूर्ण नहीं है अपर्यंत है; जैसे दक्षीभूति वस्त्रार्थी वास्तवंग, दग्धमेपेत्यादेवेत्यचे । (भात्त दर्शी) । जिहा कण्ठक (Chronic superficial glossitis) नामक रोग है और बातादि से उसकी तीन अवस्थाएँ ज्ञाई गई हैं । जैसे—यत्कण्ठक Cracked or fissured tongue, विस्तकण्ठक red glazed tongue और कक्षकण्ठक Ichthyosis है ।

वक्तव्य—उपजिह्विका—हसको रेन्यूला (Ranula) कहते हैं। हसमें जिह्वा के नीचे श्लेष्मलद्रव (Glairy mucoid fluid) का संचय होने से उत्पन्न होता है। बहुत करके यह संचय जिह्वाधरीय लालाग्रंथि के स्रोतसों में होता है। चरू के अनुसार उपजिह्विका केवल कफजन्य होती है—यस्य रेम्पा प्रकृषितो जिह्वामूलेऽवतिष्ठते । आशु सजनयेच्छोर्यं जायतेऽस्योपजिह्विका । (सूत्र, अ. १८) । वामभटाचार्य इसी की 'अधिजिह्वा' कहते हैं। अधिजिह्वा—सरकण्डवाक्याहारविधातकृत । (अष्टांगसंग्रह) ।

तालुगत रोग

तालुगतास्तु—गलशुण्डिका, तुरिङ्केरी, अधृपः, मांसकच्छपः, अर्दुदं, मांससङ्घातः, तालुपुष्टुः तालुशोषः, तालुपाक इति ॥४०॥

तालुगत रोग—१ गलशुण्डिका, २ तुरिङ्केरी, ३ अधृप, ४ मांसकच्छप, ५ अर्दुद, ६ मांससङ्घात, ७ तालुपुष्टु, ८ तालुशोष और ९ तालुपाक ॥४०॥

श्लेष्मासृग्भयां तालुमूलात् प्रचुद्धो

दीर्घः शोफो धमातवस्तिप्रकाशः ।

तृष्णाकासस्वासकृत् संप्रदिष्टो

द्वयाधिवैद्यैः करण्डशुरडीति नाम्ना ॥४१॥

(गलशुण्डिका—) कफ और रक्त के कारण तालुमूल से बड़ा, भरी मसक के समान, तृष्णा कास और श्वास करने वाला दीर्घियोग (रूप) रोग दैर्घ्यों से करण्डशुण्डी करके कहलाता है ॥४१॥

वक्तव्य—दीर्घ—प्रलंब—प्रलंबः पिञ्छिलः शोफः । (अष्टांगसंग्रह) । धमातवस्तिप्रकाशः—धमातमत्यवस्तिप्रकाशः—मत्यवस्तिनिमो मृदुः । (अष्टांगसंग्रह) । कास—इससे जो कास उत्पन्न होता है उसकी विशेषता यह होती है कि वह रात्रि के समय या लेटने पर अधिक आता है। कारण यह है कि गलशुण्डिका लेटे हुए मनुष्य के गले के पिञ्छले भाग पर स्पर्श कर सुरसुराहट उत्पन्न करती है, जिससे खांसी आती है। इससे कभी बमन भी होता है—कठोरपरोगथरूट्सवमिक्त गलशुण्डिका । (अष्टांगसंग्रह) । गलशुण्डिका—हसको इलांगेट्ड उद्धुला (Elongated uvula) कहते हैं।

शोफः स्थूलस्तोदाहप्रपाकी

प्रागुकुक्षाभ्यां तुरिङ्केरी मता तु ।

शोफः स्तब्धो लोहितस्तालुदेशो

रक्ताक्षेयः सोऽध्युषो रुग्जवरात्यः ॥४२॥

(तुरिङ्केरी—) कफ और रक्त से उत्पन्न हुआ, पीड़ा दाह और पाक करने वाला, दीर्घियोग तुरिङ्केरी समकक्षा चाहिये। (अधृप—) तालुदेश में रक्त के कारण उत्पन्न हुआ, तीव्र पीड़ा और ज्वर इनसे युक्त रक्तवर्ण कठिन शोथ अध्युष जानना चाहिये ॥४२॥

वक्तव्य—तुरिङ्केरी—वनकार्पासीफल । उसके समान योथ होता है, हसकिये तुरिङ्केरी नाम रक्ता गया है—हृष्टसंस्थापितः काये कार्पासीफलस्तिविमः । पिञ्छिलो मन्दरुकशोफः कठिन-

स्तु रकेरिका ॥ (अष्टांगसंग्रह) । वामभटाचार्य इसका समावेश कण्ठरोग में करते हैं। तुरिङ्केरी बहुधा Enlarged Tonsils होगा। अध्युष बहुधा तालुप्रकोप (Palatitis) होगा।

कूर्मोत्सङ्घोऽवैदनोऽशीघ्रजन्मम्

रोगोऽश्वेयः कच्छपः श्लेष्मणा स्यात् ।

पद्माकारं तालुमध्ये तु शोफं

विद्याद्रकादर्दुदं प्रोक्तलिङ्गम् ॥४३॥

(कच्छप—) कम्बुचे की भाँति लपर को उठा, वैदना रहित, देर में बहने वाला कफजन्य रोग कच्छप समझना चाहिये। (अर्दुद—) पश्चकर्णिका के आकार का, (रक्तार्दुद के) पूर्वोंक लक्षणों से युक्त रक्त तालुगत शोफ अर्दुद जानना चाहिये ॥४३॥

वक्तव्य—कच्छप—तालुका Sarcoma और रक्तार्दुद तालुका क्यान्सर (Cancer) होगा।

दुष्टं मांसं श्लेष्मणा नीरुजं च

ताल्वन्तःस्थं मांससङ्घातमाहुः ।

नीरुक् स्थायी कोलमात्रः कफात् स्या-

न्मेदोयुक्तात् पुप्पुट्स्तालुदेशे ॥४४॥

(मांससङ्घात—) कफ के कारण तालु में उत्पन्न हुए पीड़ारहित हुए मांस को मांससङ्घात कहते हैं। (तालुपुष्टु—) पीड़ारहित, स्थिर, वेर के समान, मेदयुक्त कफ से तालुप्रदेश में उत्पन्न हुआ पुष्ट होता है ॥४४॥

वक्तव्य—मांससङ्घात Adenoma of the palate और तालुपुष्टु Epolis of the palate होगा।

शोषोऽत्यर्थं दीर्घते चापि तालुः

श्वासो वाताच्चालुशोपः सपित्तात् ।

पित्तं कुर्यात् पाकमत्यर्थघोरं

तालुन्येन तालुपाकं वदन्ति ॥४५॥

(तालुशोप—) पित्तयुक्त वात के कारण अत्यंत सुखी होती है, तालु विदीर्घ होती है, श्वास होता है वह तालुशोष है।

(तालुपाक—) तालु में पित्त जब तीव्र पाक उत्पन्न करता है, तब उसे तालुपाक कहते हैं ॥४५॥

वक्तव्य—तालुपाक Ulceration of the palate होगा।

करण्डगत रोग

करण्डगतास्तु—रोहिण्यः पञ्च, करण्डशालूकम्, अधिजिह्वो, बलयो, वलास, एकवृन्दो, वृन्दः, शतभी, गिलायुः, गलविद्रिधिः, गलौधः, स्वरम्भो, मांसतानो, विदारी चेति ॥४६॥

कण्डगत रोग—पांच रोहिणी (१ वातज, २ पित्तज, ३ कफज, ४ सल्लिपातज, ५ रक्तज), ६ कण्डवालूक, ७ अधिजिह्वा, ८ वलय, ९ वलास, १० एकवृन्द, ११ शतभी, १२ गिलायु, १३ गलविद्रिधि, १४ गलौध, १५ स्वरम्भ, १६ मांसतान, और १७ विदारी ॥४६॥

गेलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छ्यतौ
पृथक् समस्ताथ तथैव शोणितम् ।
प्रदृश्य मांसं गलरोधिनोऽकुरान्
सूजन्ति यान् साऽसुहदा हि रोहिणी ॥४३॥
जिह्वा समन्ताद्वृश्ववेदना ये
मांसाकुरा करणिरोधिनः स्युः ।
तां रोहिणी वातहृतां घटन्ति
वातात्मकोपद्रवयगाढ़युक्ताम् ॥४४॥
क्षिप्रोद्धमा क्षिप्रयिदाहपाका
तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तजा स्यात् ।
घोतेनिरोधिन्यपि भवन्तपाका
गुर्वा स्थिता सा कफसंभवा यै ॥४५॥
गम्भीरपाकाऽप्रतिवारीर्या
विद्रोषलिङ्गा भ्रयसंभवा स्यात् ।
स्फोटचित्ता पित्तसमानलिङ्गाऽ
साध्या अदिष्टा रुधिरात्मिकेषम् ॥४६॥

(रोहिणी) वात, पित्त और कफ पृथक् पृथक् तीनों मिलकर तथा रक्त गले में वर्धित होकर मास को दृष्टि करके गले के रोकने वाले जो अंकुर उत्पत्त करते हैं, वह प्राणवायरक रोहिणी (नामक रोग) है ॥४३॥ जिह्वा के आस पास, अत्यन्त पीड़ा करने वाले, कदं भी रोक देने वाले और वात के उपद्रवों से अस्थन्त युक्त जी मासांकुर होते हैं, उन्हें वातज रोहिणी कहते हैं ॥४४॥ गीर्ध उत्पत्त होने वाली, शीघ्र जलन करने वाली, शीघ्र पाक को प्राप्त होने वाली और तीव्र व्यरुत्त युक्त रोहिणी पित्तनिमित्तज होती है । (कठयालूपी) घोत का निरोध करने वाली होने पर भी देर से पकने वाली, गुरु, (बहुत) न फैलने वाली कफनन्य रोहिणी होती है ॥४५॥ गम्भीर (धातुओं में) पाक करने वाली, दुर्विवायकि और तीनों धौरों के लक्षणों से युक्त संस्थिपातज रोहिणी होती है । युक्तियों से व्याप्त, पित्त की रोहिणी के समान लक्षणों से युक्त यह रक्तज्वर रोहिणी असाध्य कहलाती है ॥४६॥

धृक्कद्य—भुवरा—शीघ्र चिकित्सा न करने पर निश्चय से प्राणहरण करने वाली । धौरों के अनुसार इसका मारक काल—सप्तसिद्धांता इन्ति, वहाल्लैभ्यम्युद्भवा । प्रशादात् पित्तसमाना, साहात्, पवनेतिमा ॥ (सरनाद) । घरक में मारक काल की परम सीमा प्रियात्र बतलाई है—प्रियात्र परम तत्त्व जन्मोभवति जीवितम् । उत्तरेण त्वनुसानत् त्रिप्र संपत्ते दुष्की ॥ (सूत्र अ १८) । वातात्मकोपद्रवयगाढ़युक्ता—वातात्मका उपद्रवा कपादिनमालमाध्यतैतिवासमुग्ना ॥ (मुखोग्य) । रोहिणी—इसको दिप्फीरिक इन्क्षयेनां और्क दि थ्रोट (Diphtherial inflammation of the throat) कहते हैं । यह विकार डैफी-सस दिप्फीरिमा (B. Diphtheria) नामक जीवाणु से होता है । इसमें गले के भीतर एक फिल्ही बनती है जो स्वर

१ गेलेऽनिल वित्तकमो च मूर्च्छ्यी मूर्च्छ्य मास च तथैव शोणि-
तम् । गलेपत्रोपकौतुल्याऽकुरोनिन्यपूर्त भ्यापित्रिय तु रोहिणी ॥

यन्त्र और मासा में फैलकर खासावरोध करती है । प्राप हमी कारण अधिकसंख्य रोगी मरते हैं । इव व्याप १०४ तक होता है । नाई तेज और हृदय कमज़ोर होता है । यदि प्रारंभ में ही योग्य चिकित्सा न की जाय तो वातावरोध य हृदयवसाद से युत्पु होती है । यदि सुरैव से रोगनिर्मुक हो जाय सो अनेक उपद्रवों से रोगित होता है । इनमें हृदय दैर्घ्य और पेशीयात प्रधान उपद्रव (वातात्मकोपद्रवगाढ़ युक्ता) होते हैं । साथ और प्रसन्निका की विधियों का पात होने से स्वर अनुनासिक (मिमिनता) होता है और निगलने में कठिनता होती है, और तों की विधियों का पात होने से भैंगापन (द्रिपादृष्टि) हो जाता है । कभी कभी पश्चात्यात (Hemiplegia) और पहता (Paraplegia) भी उत्पन्न होती है । रोगी के गले में जो फिल्ही होती है उसमें रोग के जीवाणु होते हैं, जो स्वासने, शोलने, हृकंकने के समय थूक और फिल्ही के सुहम कदों के साथ वाहर आते हैं और समीपस्थ मतुप्यों के गले में वायु के साथ प्रवेश करके रोग उत्पन्न करते हैं । बालकों में रोहिणी अधिक होती है । उनमें हृसका संक्रमण व्याप पेन्सिल, ह्याल, तीलिया, गिलास इत्यादि सुख के साथ संबध रखने वाली चीजों से होता है । यह बहा भवानक संकामक रोग है ।

**कोलास्यिमात्रः कफसंभवो यो
प्रनिर्धन्गले कण्ठकश्चक्षुत् ।**

**दरः स्थिरः शख्वनिपातसाध्य
स्तं कण्ठयालूकमिति शुभवन्ति ॥४७॥**
(कण्ठयालूक—) बड़े घेर की गुरुली के बराबर, कफ से उत्पन्न हुई, काँटे के या शूक्र के समान, सुरदरी, स्थिर (न जलदी बढ़ने वाली न स्वान बढ़लने वाली), शख्व क्रिया से साध्य जो प्रथि गले में होती है, उसे कण्ठयालूक कहते हैं ॥४७॥

धृक्कद्य—कण्ठकश्चक्षुत्—कण्ठवत् शूक्रवश, भूतण्ड उपमानार्थे । अष्टांगसमृद्ध में भी लिखा है—शूक्रकंकत्वं, कण्ठे । शालक—जलोत्तरा कंदू । कण्ठयालूक—इसको पृदीवाहृद्य (Adenoides) कहते हैं । यह विकार गले के नासाप्रविन भाग में होता है । इससे नासामार्प का अवरोध होता है—शालको मार्पिणम् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इसलिये रोगी मुख से धूत लेता है । सोते समय सुराई के साथ सांस चलती है—बन्धगे बुद्धिरिकान्ति च शूक्रज्ञन्द्वासिरोधापात्र । (घरक, वि अ १२) । कण्ठयालूक कोऽन्न भी है । क्योंकि प्रसन्निका प्रथि (Pharyngeal Tonsil) की लसिका धातु (Lymphoid tissue) बढ़ने से हस्की उत्पत्ति होती है—दोनों काँटे वैष्णों शोक बोलबद व्यक्तिओं ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

**जिह्वाप्रकृपः भ्रयस्तु कफात्
जिह्वाप्रयन्धोपरि रक्तमिथात् ।**

**ज्वरोऽधिजिह्वा वातु रोग एव
पित्तज्वरेवागतपाकमेनम् ॥४८॥**
(अधिजिह्वा—) जिह्वामूत्र के द्वारा जिह्वाप्रय के समान रक्तमिथ कफ से उत्पन्न हुआ शोय अधिजिह्वा नामक रोग जानवा चाहिये । पकने पर उसको त्यागना चाहिये ॥४८॥

वक्तव्य—ननु—वाक्यालंकार या पादपूरण के लिये—
प्राक्यालकरिद्विमानुनये रातु ॥ उक्ते रक्षण—अधिगिर्जः
कम्बलबायाहरनिमानश्च । (अष्टांगसंग्रह) । चरक और
टजिद्वा के ऊपर होने वाले शोथ के लिये उपचिदिका
तीर्थे होने वाले शोथ को अधिगिर्जिता कहते हैं—जिन्हों-
उपचिदिका साथ कफद्रस्तादधिगिर्जिता च ॥ (चरक, चि.
२) । अधिगिर्जिद्वा को पृथिवीटाइटिट् (Piglottitis)
है ।

बलास पवायतसुश्रतं च
शोफं करोत्यप्तगतिं निवार्य ।
तं सर्वथैवाप्रतिबारवीर्यं

विवर्जनीयं बलयं बदन्ति ॥५३॥
(बलय—) अक्षमार्ग का निवारण करके (जय) अकेला
फला हुआ और दैंचा शोथ उत्पन्न करता है तब सर्वे
र से दुर्निवारत्यकि और स्थागने शोग्य उस (व्याधि)
उत्पत्ति कहते हैं ॥५३॥

वक्तव्य—अप्तगति—भवत्य गतियेन खोलसा सोडगतिरत्न-
गी, अक्षम्य प्रवेशी ना । (मधुकोशम्यालया) । चक्रपालि-
के मतानुसार चरकोच विडालिका (चि. आ. १२)
(बलय एक है । बाम्भट के मतानुसार गलौघ और बलय
एक रोग है; केवल बलय में पीढ़ा और शोफ की अन्यता
ही है—नलय नातिरुक्त शोफस्तदेवायतोदातः । (अष्टांगसंग्रह) ।

गले तु शोफं कुरुतः प्रचुड़ो
श्लेष्मानिलौ श्वासरुजोपपन्नम् ।
मर्मचिछुदं दुस्तरमेतदाहु-
र्धलाससंशं निपुणा विकारम् ॥५४॥

(बलास—) कफ और वायु उद्धकर गले में श्वास और
इनसे युक्त शोथ उत्पन्न करते हैं; उस मर्मधाती धोर
कार को कुयांल वैद्य बलास करके कहते हैं ॥५४॥

वृत्तोद्धतो यः श्रवयुः सदाहः
करद्वन्नितोऽपाक्यमूदुर्गुरुश्च ।

नष्टैकवृन्दः परिकीर्तितोऽसौ
व्याधिर्वलासक्ततजप्रसूतः ॥५५॥

(पृक्वन्द—) गोल, ऊँचा, दाहयुक्त, कण्ठयुक्त, न
करे वाला, मृदु, और भारी जो शोथ (गले में) होता है,
इह कफरकजन्य व्याधि एक वृन्द नाम से कहलाता है ॥५५॥

समुद्धतं वृत्तममन्ददाहं
तीवज्वरं वृन्दसुदादहरन्ति ।

तं चापि पित्तक्षतजप्रकोपाद्
विद्यात् सतोदं पवनास्तेजं तु ॥५६॥

(वृन्द—) अधिक उठा हुआ, गोल, तीव्रदाह और तीव्र-
ज्वर युक्त (ऐसे शोथ) को वृन्द कहते हैं। इसको पित्त और
रक्त से उपजा हुआ जानना चाहिये, और यदि वेदना युक्त होती
बात और रक्त से उपजा हुआ जानना चाहिये ॥५६॥

१ पवनात्मक.

वर्तिर्धना कण्ठनिरोधिनी या
चिताऽतिमात्रं पिशितप्ररोहैः ।
नानारुजोच्छयकरी श्रिदोषा-
ज्ञेया शतद्वीव शतस्त्यसाध्या ॥५७॥
(शतस्ती—) कठिन, कठिन का निरोध करने वाली,
मांसांकुरों से अलंत व्यास, नाना प्रकार की पीढ़ा उत्पन्न
करने वाली श्रिदोषप्रजन्य शतस्ती के समान जो गाँठ (गले में)
होती है, उसे ग्रसाध्य शतस्ती समझना चाहिये ॥५७॥

अनिर्घले त्वामलकास्थिमात्रः
स्थिरोऽल्पस्त्रैत्यकफरक्तमूर्तिः ।

संलक्ष्यते सक्रमिवाशनं च
स शतसाध्यस्तु गिलायुसंश्कः ॥५८॥

(गिलायु—) गले में कफ और रक्त से उत्पन्न हुई,
गाँवाले की गुठली के घरावर, स्थिर, अल्पपीड़ा करने वाली
गाँठ, भोजन अटका हुआ सा मालूम पड़ता है, वह शत से
साध्य होने वाली गिलायुसंश्क व्याधि है ॥५८॥

सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः
शोफो रुजो यत्र च सन्ति सर्वाः ।

स सर्वदोषो गलविद्रधिस्तु
तस्यैव तुल्यः ललु सर्वजस्य ॥५९॥

(गलविद्रधि—) जो शोथ समस्त गले में कैलकर उत्पन्न
हुआ है, जिसमें समस्त (तीनों दोषों की) पीढ़ा होती है वह
श्रिदोषप्रजन्य गलविद्रधि नामक रोग है, और वह श्रिदोषप्रजन्य
विद्रधि के घरावर होता है ॥५९॥

शोफो महानश्चलावरोधी
तीवज्वरो वातगतेनिहन्ता ।
कफेन जातो रुधिरान्वितेन
गले गलौघः परिकीर्त्यतेऽसौ ॥६०॥

(गलौघ—) अल्प और जल का अवरोधक, तीवज्वरयुक्त,
(उदान) धायु का अवरोधक, रक्तयुक्त कफजन्य जो वायु
शोथ गले में होता है, वह गलौघ कहलाता है ॥६०॥

वक्तव्य—अशजलावरोधी—अज्ञ और जल के सेवन में
कठिनता उत्पन्न करने वाला । वातगतेनिहन्ता—अतिमहत्वादु-
दानवायुगतिरोधकः । (मधुकोश) । अर्थात् धोलने—सांस लेने
में कठिनता उत्पन्न करने वाला ।

योऽतिप्रताम्यन् श्वसिति प्रसक्तं
भिन्नस्वरः शुष्कविसुक्तकरणः ।

कफोपदिग्धेष्वनिलायनेषु
ज्ञेयः स रोगः श्वसनात् स्वरम्भः ॥६१॥

(स्वरम्भ—) जिसमें (रोगी) बड़े कट से निरन्तर
सांस लेता है, स्वर भिन्न होता है, कण्ठ सूखा और विसुक्त
होता है, वायु के मार्ग कफ से उपलिप्त होते हैं, वह वायु से
उपजा हुआ स्वरम्भ रोग जानना चाहिये ॥६१॥

धक्कद्वय—भृष्टिमामग्र—इकट्ठ से । मुखरिमुक्तवण—
मुख्ये नीरसी विकुलशारीरन कठोर वय म तथा । भ्रसारीनां च
दिव्यि गिलिषुभ्रश्ववद्या शोद्यु ॥ (मुखुकोण) ॥

प्रतानवाद् यः श्वययुः सुकुटो
गलोपरोधं कुरुते क्रमेण ।

स मांसतानः कथिथोऽवलम्बी
प्राणप्रयुत् सर्वकृतो विकारः ॥६३॥

(मांसतान—) जो विस्तारयुक्त, महादुर्भवारी, नीचे,
को लटकने वाला, प्राणनाशक, दिवोपजन्य शोष धीरे धीरे
गले को बढ़ कर हेता है, वह मांसतान कहलाता है ॥६३॥

सदाहतोदं श्वययुः सरक्त-
मन्तरंगेष्ठे पूतिविशीर्णमोसम् ।

पित्तेन विद्याद् वदने विदारी
एवं विशेषात् स तु येन शेते ॥६४॥

(विदारी—) दाह, पीड़ा, रक्त (घाव) और बद्र-
दार तथा सदा गला मांस इनसे युक्त जो शोष मुख में गले
के भीतर होता है, वह वित्तजन्य विदारी समझना आहिये ।
(यह विदारी जिस तरफ मुख्य अधिक सोता है, उस
तरफ (मुख में होती है) ॥६४॥

सर्वसर दोष

सर्वसरास्तु वातपित्तकफशोणितनिमित्ता ॥६५॥

सर्वसर रोग वात, पित्त, कफ और रक्त से (घाव प्रकार
के) होते हैं ॥६५॥

धक्कद्वय—सर्वमर—मुख्यान्तोऽदिव्यासानव्यापकवद्या सर्वसर्वते
वेवम् । (मुखुकोण) । मर्मरिमुक्ते ये वर्तनि ते सर्वसरा ।
(बलहण) । सर्वमुखेषु सर्वतीति सर्वसर । (आदमल) ।
वायमट शार्क्खरादि प्रन्यान्तरों में इसलिये सर्वसर को 'मुख-
पाक' कहते हैं । वायमट और शार्क्खर में मुखरिमुक्त यांच प्रकार
का वर्णन किया है—मुखरिमुक्त भवेदात् विचारदत्काफदि ।
रक्ताच संत्रिपाताच ॥ (शार्क्खर) । मुखरिमुक्त की स्टोमाटाइटिज
(Stomatitus) कहते हैं ।

स्फोटैः स तोदैर्वदनं समन्वाद्

यस्याचितं सर्वसरः स याताद् ।

रक्तैः सदाहैस्ततुमिः सपीतै-

यस्याचितं चापि स पित्तकोपात् ॥६५॥

(वातज मुखरिमुक्त—) जिसका मुख पीड़ायुक्त कुसिंह
(छालों) से व्याप्त हो, वह वातजन्य मुखरिमुक्त है । (यिन
मुखरिमुक्त—) जिसका (मुख) रक्तवर्ण, दाहयुक्त, धीरे
पीते (छालों से) व्याप्त हो, वह पित्तजन्य (मुख
रिमुक्त) है ॥६५॥

करद्युतैर्द्यपद्यजैः सर्वैः-
यस्याचितं चापि स यै कफेन ।

कफेन पित्तोद्वित एक एव
कैवित्रि प्रदिष्ठो मुखरिमुक्तसंह ॥६६॥

इन भवता शीतन्यन्तरिपोषदिवार्या तद्विषये गर्हणिणा
मुखरिमुक्तवितार्या द्युष्टुभवितार्या निदानस्थाने
मुखरिमुक्तिनाम नाम शेषोऽप्याय ॥६६॥

(कफब्र मुखरिमुक्त—) जिसका (मुख) कफब्रयुक्त
मलपरीदायुक्त और सर्वर्ण (कफ के वर्ण के, छालों से
व्याप्त हो, वह कफजन्य मुखरिमुक्त है । (रक्तज मुखरिमुक्त—
कुरु (आचार्य) रक्तजन्य मुखरिमुक्त संशक (शीर्ष) पु
(सर्वमर) कहते हैं ; (पात्नु यह) पित्तजन्य ही (समकल
चाहिए) ॥६६॥

धक्कद्वय—सर्वेन हृत्यादि—कैविद (आचार्य) रेत
मुखरिमुक्तसंह एक (सर्वमर) प्रदिष्ठ (स) सितोद्वित यथा (शात्रु)
सितोद्वित—मुखरिमुक्ते पाके दाहीके नित्तवन्तवता । क्षारोऽप्तिग्रहता
मायातद्वय रक्ते ॥ (शार्दूलगमयह) । इसलिये पर्वा सर्वम
यस्याचितं चार वर्णानि किये हैं, तथापि वास्तव में वे तीन ।
दोते हैं ।

महारात्मूरेणै वै रात्मुरीभावनामेना ।

'धारीकर'अपादेन कारीदैविनामेनासिना ॥६७॥

शीतोर्योविन्दस्य उत्तेण भास्त्ररेण द्युमिता ।

वैषके पाय्याशास्त्रे शाचाद्योपापिलारिणा ॥६८॥

आकुर्वेद स्त्रीर्यथा पायास्त्र वैषकं तथा ।

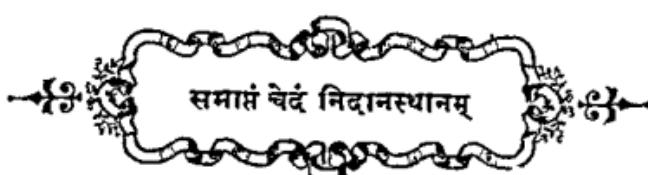
नामात्मविहीनाना भिषजा॑ चात्यपेषसाद् ।

छात्राणां चौपकाराय यचनामयामुणा ॥६९॥

भास्त्रोदरहस्याद्या दीपिका लिखिता च या ।

इयताऽप्तिनाम तथा निदान च समाप्ते ॥६९॥

इति भास्त्ररामेण गौविन्दात्मजेन विचित्रावायामुवैरेत्यदीपिक
मुखरिमुक्ताकावा निदानस्थाने मुखरिमुक्तिनाम शेषोऽप्याय ॥६९॥



श्रीः

सुश्रुतसंहितायाः संरक्षण-हिन्दी-शब्दानुक्रमणिका

— ८८२ —

अंडरोष	अ	शंगुलिहार	४६	श्विदन्त	२३,१५४,४०७
अचलदाद		अंजुरित पाल्म	३१३	अधिमन्त्र	६६
अचवा		अग्नगर	२७४	अधिमासि	४०७
अधिनिमेश		अग्नपटिका	३६१	अधिवासन	४४
अहरोट		अग्नीर्णे हेतु	३०७	अग्नोमागहर द्रव्य	२१८
आदृतन्त्र		,, चतुर्विंश प्रकार	३०७	,, संगठन	२२६
,, के अचाय		,, संप्राप्ति और लक्षण	३०८	अग्न्यनसंप्रदानीय अचाय	१२-१६
आगतिकूल		,, उपद्रव	३०८	अग्न्यधेष्ठार	४६
आस्तितारका, जलशुद्धि से		,, चिकित्सा	३०८	अग्न्युद	३७८,२५०,४८१
संबंध		,, पर मोगन फरने का विचार	३१४,३१५	अग्नाशन	६६,१९३,३०८
अग्निर्मल अचाय		अंगन	२१३	अग्निस्ति	२२,६३,१४४
अग्निर्मल ४१,५१ दहनकर्म भी देखो		अंगनशालाका	१४	अग्नुष्टुप	४०६
अग्निरथ, दग्ध देखो		अंगनादिगण	२१३	अग्नप्रायकाल	१४
अग्नि (पाचक)		अंजनीर	२८३	अग्नभिष्मन्दि	१४७,२४८
,, चतुर्विंश प्रकार और लक्षण		अटस्पृक	२८६,२६०	अग्नार	५८०
,, धातुगत पांच प्रकार		अएडल	११	अग्नुपालर्णी	३००
,, त्रिपोदश प्रकार		आएट्रप्रकोप, धृष्णप्रकोप देखो		,, व्याख्या	३००
,, तीच्छादि से दोप्रकोप और		अग्नदर्भत्तु धृष्णप्रद्युम्निदान में		,, विविष	३००,३०१
चिकित्सा		उपयोग	३८४	,, सामान्यागुण	३०२
,, तीच्छादि से अग्नपचन काल		अग्ने (मुरी धीरह के) संगठन		,, निषेध	३०२
,, सहायक घायु		गुण इत्यादि	२७४	अग्नुमान (प्रमाण)	६
,, शरीर का ईतर		,, गुण लघुता	३०७	अग्नुपेष्ठित वंध	११३,११४
अग्निर्देहणी		अतसीतैल	२५७	,, बायिने की रीति	११५
अग्निवात		अतितेज दग्ध	७०	अग्नुलोम, (सेप) लगाने की रीति	१११
अग्निविसर्पे		अतिदग्ध लक्षण	६७	अग्नुलोम (शल्य) २३,१६३,१६६,१६७	२३०,२६३
अग्न्याशय		,, चिकित्सा	६६	अग्नुलोमक	२३०,२६३
,, रस ७६,१३०,१३२,३१३,		अतिपाती रोग	२६	अग्नुशयी	३६३
अग्नवक्त्र		अतिसार, असाध्य लक्षण	१८८	अग्नुशास्त्र, नाम	३०
अग्नोपहरण		,, अशुभस्त्रप्र	१७८	,, व्याख्या और उपयोग	४१
,, अचाय		,, प्राही श्रीष्ठ का निषेध	१६८	अग्नुरस	२१५,२१६
अंगुलिताङ्गनपरीक्षा		,, वैक्सीन और सीरस प्रयोग	१२८	अन्तःपरिमार्जन	१४७
अंगुलिप्राणक		अत्यमि, भस्मकामि देखो		अन्तर्सुख	४७
अंगुलिवेष्टक		अविजिहा	४५,४०६,४१०	अन्तरागमन	१६
				अन्तर्वल्कल	४४
				,, कुशा के लिये प्रयोग	११३

अनन्तर	८२	अभिप्रगतज्वर	३३	अनुद केन्द्र और सार्कोमा	१
अनन्तवसायी	१७८	अन्तमेह	३५०	,, निर्मल दी विधि	१
अन्ताली (अन्ताली)	१६१	अन्तरस, सण्डन	२२८	अन्ते	१
अन्तर्विष	१५३	,, लद्दण और मुण	२३०	अर्द्धचीन (शत्र्य)	१६
अन्तसायी प्रथि	१२०, ३०६, ३५२	,, द्वयवाणी	२३२	अर्थनिदान अथाय	३२८-३३
अप्र. शाहार और मोजन भी देखो		,, अधिक देवन का फल	२३०	अर्थ, अर्थ	३२
,, एकले विधि	२६५, २६६	अन्तिका	२३१	,, दोषानुपार का प्रकार	३२
,, पचन का काल	११८	अनोनिया, बेहोरी में टप्पेगे ७०, १६६	२३१	,, दहन और जन्मोत्तर मेद	३१
,, अन्तकाल	३०४	अन्त, द्विष्ण, उत्तर	१८	,, शुष्क और परिस्त्री मेद	३१
अन्तरानिधि अथाय	२६६-२७२	अन्यकान्त	४३, १९५, १६६	,, हेतु, संशासि	३२
अन्ती निधन	६७७	अरहर	२६६	,, पूर्णल्प	३३
,, कारणभूत औराण्ड	१७८	अरिट (मय)	१२२, २६३	,, लद्दण	३३
,, होने की आयु	१७८	अरिष्ठ, व्याघ्रा	१७१, १७६	,, विहृतयारोर	३१
,, सहायक कारण	१७८	,, स्थायी और अस्थायी मेद	१७१	,, वातग के लद्दण	३३
,, होने के स्थान	१७८	,, उत्पत्तिश्चित	१७१, १८६	,, वित्त, कफ और रक्त	३३
,, स्पनिक लद्दण	१७८	,, उत्पन्नकथय	१८१	,, के शुद्धता वपद्व	३३
,, दिवोवार्द्धे	१७८	,, विवरण की शक्यता	१८१	,, संसारात्म	३३
,, और प्रथेविचरण का संबंध	१७८	,, अदर्शन के कारण	१८१	,, सहज	३३
अपतन्त्रक	१२२	,, और सूत्र का संबंध	१८१	,, लिंगात्र	११३, ११८
,, और अपतनक का संबंध	१२२	,, कलने का काल	१८२	,, अन्य स्थान के	३३
,, में आदिवलप्रहृष्टि	१२०	,, देखने का उद्देश्य	१८२	,, चैम्कील	३३
,, अपतनक, निरुक्ति	१२१	अधिका	१८४	,, गान्धर	३३
,, के प्रकार	१२३	अधोवक	४८, १८४	,, साम्यासाम्भाता १८५, १८३, १८३	
,, का शीवाण्ड	१००, १२४	अर्कादिव्यष	२१०	,, में सूरज	१४०, १४१
,, सहायक हेतु	१२४	अर्दितंडैतुलद्दण और साम्यासाम्भाता १८६	२१०	,, में कुलप्रहृष्टि	१४४, १४१
,, नवात	१२४	,, वपद्व के हप में	२११	अलगी	१०३, २३६, २६९, १००
,, संशासि	१२४	,, असाय होने की कालमयोद्धा १८६	२११	अलस	३१
,, संवद्धकल	१२४	अशीर्णवाण्ड	१८५	अलाङ् (फल)	२११
,, सद्दण	१२४	अर्धप्राप्तसंविदं	१००, १०१	अलाङ् यन्द, द्रुम्बीयन्द देखो	
,, इडला विष से मेद	१२४	अथेवर	४६	अलाट	४०८
,, अग्नद्व	१२४	अर्देन्दुमुखी	४३	अवद	१११
,, असामता	१२४	अर्दुदनिदान	१८८	अवपादिका	३६८
अपत्त	१६४	,, बातादि के लद्दण	१८८	अवनुजसाक	१०८
अपत्तपत्तन	४३	,, रुच	१८१	अवलबक रुक	८८, ११४
अप्सामार, मानसुरोग कहने का		,, मांसत्र	१८१	अवसादन द्वय	१०८
,, कारण	८	,, साम्यासाम्भाता	१८१	अवारणीय अथाय	१८६-१८८
,, असाध्यद्व	१८८	,, अच्छुद, द्विष्ठुद	१८१	अवदाकु	१२७
,, अशुमस्त	१८८	,, पात्रमल का कारण	१८१	अपतन्त्रक	११३, ११३
अपानवाण्ड	११६	,, व्याघ्रा और हेतु	१८१	अपत्तीनिदान अथाय	१११-११३
अप्रहृष्ट	११२	,, तीम्प के लद्दण	१८१	असामी, निरुक्ति	३१
अभिप्रदन	११४	,, पतक के लद्दण	१८१, १८०	,, लद्दण	३१३
अभिप्रदन	११६, २४७, १७८, २२८	,, नामकारण की तीनि	१८०	अभिल	३११
अभिप्रदग		,, पातक के हो मेद	१८०	,, हेतु	३११, ३१४

पूर्वलूप	३३४
सामाज्यलक्षण	३३४
कफल, संगठन, संप्राप्ति, लक्षण	३३४
पितृज, संगठन, संप्राप्ति, लक्षण	३३४, ३३५
वातज, संगठन, संप्राप्ति, लक्षण	३३५
बालकों में अधिकता	३३५
शुक्रज, हेतु और लक्षण	३३५
विकार	३३५
और शर्करा में अन्तर १८७, ३३५	
उत्पत्ति और बनावट ३३३, ३३३,	
उत्पत्ति में मूत्रप्राप्तिक्रिया	३३६
हरण का कर्म	४२
आत्माध्यता	१८७
भ्रूओषधि, कार्य करने का तरीका	१८७, ३३६
टक	४३
, ओषधियाँ और उनके प्रतिस्थिति	२०६, २१३
धराकर्कमीय अध्याय १५६-१६१	
(वातरोग)	३२८
मूत्ररोग	३२८
प्रथि ८६, ६०, २८० २८५,	
ग(झ)	३२८
य-रोग	४३, ३२८
र	५६, १६६
थ	३२०
, कार्य	६७
भ्रू-काराडभ्रू देखो	७६
के रोग, १५४, १६३, ३१३,	
४०१, ४०४, १५०	
के रोग में जीव द्रव्य ढी	
और खटिक का पहच्च	३१३
विवर	१६३
विद्व लक्षण	१६०
गत शत्य लक्षण	१६३
निकालने की विधियाँ ४३, १६७	
पूता	३६६
आ	
दिमक रोग	१५१, १५२

आकाशीय द्रव्य	२२६
आचेप (वातरोग)	३२३
आगतुक व्याधि	८, १२, १५१
, के कारण	१०६, १५१
, और शारीरिक में अन्तर	६
आचार, अर्थ	६
, चिकित्सा	६
आचारिक	२६
आचूषण	४४, १६५
आञ्जछन	४४
आटीमुख	४६
आटोप	६३, १३८, ३२८
आव्यरोग	३२१
आव्यवात	३२०
आतक	१३७
आतप (मूर्च्छा) ज्वर	७०, १२०
आतशक, फिरंग देखो	
आतुरोपकमणीय अध्याय	१६२, २०४
आत्ययिक	६६
आदान	२८, १३१
आदिवलप्रवृत्त, अर्थ	१४८
, रोग	१४६, १५०
आध्मान	७३, ३२८
, हेतु, संप्राप्ति और चिह्न	३५४
आध्मापन	१६६
आध्यारिमक	१४८
आधिदैविक	१४८
आधिभौतिक	१४८
आनाह	५८
आनुप देश	२०२
, जल शुगा	२४८
आनुपर्वगी	२७२
, पाँच विभाग	२७५
आन्तरिक गल, जल देखो	
आन्त, ताँत देखो	
आन्त, कूद और स्थूल	१३०
आन्तपरिवर्तन	३४८
आन्तुच्छयोथ, सेक और उण्ण बस्ति प्रयोग	१४७
आन्तरस	७६, १३१, १३२, ३१३
आन्तुद्विदि	३८३
, अर्थ	३८३
, सहज और जमोतर	३८३
, अप्राप्तकल कोश	
" , की चिकित्सा	४२
कौशग्रास या पूर्ण	१३८३
आवरणयुक्त रचना	३८३
में मिलने वाले कोष्ठय अंग	३८४
विपाशित की चिकित्सा	१४८
, के लक्षण	३८४
, और्वा	३८४
, नाभि की	३८४
, सापेक्षनिदान का विचार	३८४
आन्त्रसंमूच्चर्ण	३४८
आन्तिकज्वर, बूषित जल से उत्पत्ति	२४४
, दूषित मधुली ज्वे	
उत्पत्ति	२७८
, प्रतिषेधक चिकित्सा	१२८
आप्यद्रव्य	२२५
आमपहेलणीय अध्याय	१०५
आमरस, व्याख्या	१११
, मेदोवृद्धि से संबंध	६६
आमलक (आवला)	२१४, २२०, २४०, २८०
, फलों में श्रेष्ठता	२८०
प्राचीन	२८१
, मज्जा	२८४
आमलक्यादिगण	२१४
आमाजीर्ण	३०७
, लक्षण और चिकित्सा	३०८
आमाशय, निरुक्ति	१३१
, समाई और प्रयोजन	१३४
, गत पचन का कार्य ३३४, ३११, ३१३	
आमाशयिक रस ७६, १६०, १३२, ३१३	
आम (आम)	२८०
आम्रातक	२८१
आमु, व्याख्या	६
, युगानुषार मान	४
कलियुग में मान १८६, २००, २०१	
प्रकृति के अनुसार मान १६२	
दीर्घता के लक्षण १६२, १६५	
मध्यमता के लक्षण १६३, १६५	
अल्पता के लक्षण १६३, १६५	
के अनुसार दोषवृद्धि २०१	
वृद्धि की युक्ति १८६	
समाप्ति के कारण १८४	
समाप्ति पर औषधों के	

निष्कर्ष होने के कारण १५४, १५६	आपरिनकर्णवंश १००, १०१	इदवति
), समाप्ति पर उपचार की	आपत १२३	इदमद
१५७ निष्कर्षता १६३	“ विवेष आपत के गुण २१३	इदतुष्ट
अमुखरीया, महत्व और प्रमाण १६३	आपत २१, ४४, ५८	इदवदा
अमुखरीया, शक्ति से उत्पत्ति ३, १२०	“ योग्या ४२	ईद्रिय, कर्त्ता
“ उत्पत्ति का अर्थ १	“ योग्य विद्वार १२७	“ उदि २४
“ का देव ३	“ के गुण ४८	“ के अर्थ ४४
“ व्याख्या ६	आपात, अप्य और मोजन भी देखो	“ “ प्रहण में मन
“ प्रयोग्यन ६, १२१	“ विवेष मेद ४, ४४, ५६	इनिद्यार्थविश्वासि १४६
“ अधिकार ८	“ चतुर्विदि मेद ५६, १३४, २११	इसती
“ के द्वे प्रधान संप्रदाय १	“ के उपादान ५६, १३३, २१२	इरिहिका
“ अटविमाण ४	“ पचन और शोषण ५६, १३३,	इकुर्म
“ करने का प्रयोग्यन ३	३११, ३१३, ३१४	“ में घेठ इथ्य
“ अटविमाण के स्वतन्त्र ग्रन्थों	“ युर लघुता का विचार ३७१, १०२	इकुर्म के सामान्यगुण
का अस्तित्व ५	“ से रणादि घातुओं की उत्पत्ति	“ के प्रकार और उनके गुण
“ यात्र करने का कारण २०	का काल ८०	“ भी मूलमध्यामतुषार मधुरता
“ उत्पत्ति विधि १५	“ का महत्व ३८, २६६	इकुर्म, इन्द्रियादित
“ पठनपाठन का कल ३, १३	“ -विधि ३०३	“ वन्द्रीविदि
“ नात चार प्रमाण ६	“ उपकरणना ३०३	“ का आपत
अमुखदेवप्राप्त यात्रा ३०	“ के लिये योग्य स्थान ३०३	“ भी सीधु
आरम्भवादिगण २०८	“ विवेष रथ सेवन का क्रम ३०३	इकुर्मेद
आप ४७, ४८	“ मक्ष्य भोज्यादि के सेवन	उ
अस्तु १४३	का क्रम ३०३	उच्छवास, अर्थ और अरिष्ट
आस्थक निष्पत्त्युण २८३	“ सेवन का काल ३०४	उद्द
“ फलगुण २८४	“ सेवन संबंधी नियम ३०३, ३०४	“ के मक्ष्य पदार्थ
“ देवगुण ३४७	“ नियम के पालन का फल ३०४	उद्गुड़
“ याक २८८	“ नियम पालन न करने से	उत्कटकासन
आस्थक (अस्तु) २८६	हानि ३०४	उक्तोठ
आलेप १११	“ माप्रा ३०४, ३०५	उत्कासन
“ उपाने की दिशा १११	“ अयोग्य ३०४	उत्कथन विधि
“ प्रकार और इनमें अन्तर ११२	“ पचन के समय दोषादि	उत्कर्णन
“ पृष्ठ-पृष्ठक्षम्य ११२	क्रम ३०३, ३१४	उत्तुरेष्ट
“ दृश्यविदि दोत्य ११२	आहाराति निश्चय ३१०	उत्तरासंग
“ मोटाई का प्रमाण ११२	“ का त्रुतनात्मक कोष्ठ ३११	उत्तरतन्त्र, निष्कृति और विषय
“ शुक्र का निवेष १११	आहार्य कर्णवंश १००, १०१	उत्तरायण
“ रायि का निवेष ११२	इ १११	उत्पलादिगण
“ दोषतुषार ज्ञेयव्य की मात्रा ११२	इकुर्मी २११	उत्पलमेषक कर्णवंश
“ संवेदी कुञ्ज नियम ११२	“ कल २८४	उत्पलपत्र
आओवक पित ८८, १३३	“ तैत्र २८७	उत्पाटन
आवरण (शुपु के) ३२०	इति २५	उत्पात
आवरण, संख्या ७७	इकट्ठ ११६	उत्संगवंश
आमुकारीया ३०६	इदगोप १४	उत्सादन
आमुकारण २८८	इदवतुष्ट ११०	“ इथ्य १११, ११

क्रमांक	३४६, ३५०	दोषानुसार लक्षण	३८६	ऋगुग्रंथि सीवन	१५८
दिनान अध्याय	२४६	“ और फिरंग के भेदों का		ऋगुभग्नदर	३३६
“ , अर्थ	३५४ ३६०	कोष्ठक	३८७	ऋतु, नाम	२७
“ शुदि के साधारण हेतु	३५४, ३५५	उपद्रव	१८७, १९७	“ साधारण और तीव्र मेद	१६८
“ संख्या	२५५	उपधातु	८२	“ के अनुसार वलावल	२८
“ पूर्णहृष	३५६	उपनदि	३८३	“ दोष संशोधन	३०, ३४
“ वातादि दोषानुसार लक्षण	३५६	उपनाह स्वेद	७५, १११, २०४	“ दोष संशमन	३१
“ इष्टुदर	३५६	उपमानप्रमाण	६	“ दिन विभाग	३१
“ “ कहने के कारण	३५७	उपयन्त्र व्याख्या	३६, ४२	“ की व्यापत्तियाँ	३२, ३५
“ धीह	३५७	“ संख्या	३६	“ के स्वाभाविक लक्षण	३३, ३४
“ यकृदाली	३५७	“ वर्णन	४२, ४३	“ के अनुसार वमनादि किया	
“ बद्धुद	३८८	उपशय	१५३, २०२	करने की विधि	१६८
“ परिज्ञावी	३८८	उपसर्ग, उपसर्गग	१५२	ऋतु विभाग, रसवलानुसार	२७, २८,
“ जल	३८८	“ के सार्ग	३४७		२९, ३१
“ सामान्य लक्षण	३६०	उपहार	१२२	“ दोषवलानुसार	२६, ३१
“ साधारणाध्यता	१८८, ३६०	उपनयन, व्याख्या	१३	“ हुलनात्मक कोष्ठक	३१
“ में अल्प जल सेवन	२४८	“ विधि	१३	“ सूर्यसंकान्ति के अनुसार २८	
“ इष्टरण	३५८	“ आधिकार	१३	“ की द्विविधता का कारण	३१
“ शोथ	३५९	उपाय	२२६	ऋतुचर्चय अध्याय	२७, ३५
“ ग्रीवायु	२११	उपोदिका	२८८	ऋतुचर्चय का तत्त्व	३३
“ द्रव्य	३५८	उभयभागहर द्रव्य	२१७	ऋतु (आर्तव) काल	६०
“ विलक्ष	३६८	“ महाभूतात्मक संगठन	२२७	ऋतुज रोग	३५, १५२
“ द्रव्य	६६	उल्लूप	२६६	ऋतुसात्म्य	२०२
“ देद, छक्रक देसो	११	उष्णीय	३३६		
“ ममन	४४	उष्ण (शुण)	३०६		
“ भयन	४४	उष्णवात	२३५	ए	
“ भाद, असाध्य लक्षण	१८८	“ और सोजाक	३८७	एककुष्ठ	३४३
“ अशुभ स्त्री	१७८	उष्णवातात्पद्ग्रव्य	७०	एककालवातुपौषण्यकम	७६
“ मानस रोग में समावेश		उष्णतानियमन	७०, १३३	एकड्डन्द	४११
“ का कारण				एकाक्रम रोग	३२५
“ मार्गिभग्नान्दर	६			एकान्ताहित द्रव्य	१२४, १२५
“ कुषिका	३४०	जंटनी, दूध	२५०	एकान्ताहित	१२४
“ कुण्ड	२८६	“ दही	२५३	“ स्वस्यास्वस्थावस्था की	
“ चक्रक	४०६	“ धी	२५५	दृष्टि से विचार	१२५, १२६
“ ग्रीविका	२७३	“ मूत्र	२६६	एकायाम	३२६
“ विच्चा	४०८, ४०६, ४१०	जर्चरमागहर द्रव्य	२१८	एकराफ, अर्थ	२४६, २७२
“ दंदा, निदान और संप्राप्ति	६८, १४१	“ महाभूतात्मक संगठन	२२६	“ का दूध	२५०
“ आ जीवाशु	३८५	जर्चरांज तन्त्र	४	“ दही	२५२
“ स्थानिक लक्षण	३८५	उपकादिगण	२१३	“ धी	२५५
“ के भय का स्थान	३८५	उष्मसूत लवण	२६३	“ मास	२७४
“ चिकित्सा न करने का फल	३८५	उष्मज्ञार	२६४	“ मूत्र	२६५
“ संस्था	३८५	उष्मज	११	इडका	२७५
		ऋजुफल	४४	एष, मास	२७३
				“ हरिण और कुरंग में मेद	२७३
				एरटलैल, शामान्यगुण	३५६

प्रत्येक दैलों में धेन्हा २३५	सर्वीय प्रदण के लिये विधित काल की अनावश्यकता २०८	कच्छी
विविध रोगों में उपचार २५६	गुणानुसार विचित्र मूलि २०७	कट्टरांकरा
दूर्लो में विरेचन के लिये	प्रदण विधि २०६	कट्टर
प्रशस्त १४१,२५६	रद्दण विधि २०८,२०९,२११	कट्टरस, संगठन
एर्डोट २८१	शाला २०८,२०९	कच्छ
एलादिगण १ २११	मुण्ड १६१	मुण्ड
एथर २१,४४,४८,५१	नशीन, पुरानी और आईं	इव्वर्ग
की शिखा ५२	प्रयोग के नियम २०७	अधिक सेवन का फल
योग्य विकार १५७	चूर्णांदि के पुराने होने का	इव्व में शेष इव्व
एथरी ४७,४९,५१	काल २०८	कट्टर
के कार्य ४८	वैतीस गण २०९	कण, रुक्ष देखो
के प्रकार ५०	कथायादि लू. कल्प १४२	कण्ठमाला
ऐरपत कम व्यो	की मात्रा का विचार २१८	कण्ठशाल्य संह्या
ओ	मात्रा का व्योनुसार प्रमाण २०३	नाम
आज व्याख्या ६३	संबंधी सामान्य नियम	कण्ठशाल्यदखोक्ती
और वल का संबंध ६३	२१८,२१९	कण्ठशाल्य, निकालने की विधि ११
का कार्य १३,४४	पांचवार्दि पांच प्रकार २२५	कण्ठशालूक
का स्वर्ण ४४	रसानुसार लू. विचार २१६,	कदर
संतोषी प्राचीन संप्रकारों के	३११,३३२	कदम्ब
मतमानार ४४	रसवीर्य विपाक का विचार २१६,	कन्दपार
के लो प्रकार ४४	२२०	सामान्य गुण घर्म
के विविध अर्थ ४४,४५,१४२	रसवीर्य विपाक का बलावल ३३३	वर्णनीय
की व्यापति, प्रकार, लकड़ण	रारीर पर कार्य करने का	संगठन और भौजन में स्था
शीर चिकित्सा ४५	तरीका १८६,२२३	कनुषाचित
शीर शुक का संबंध ४४,४५,३१४	कार्य के लिये रारीर के	कन्या, अर्थ
का मधुमेह में उत्तरी १४४	सहयोग की आवश्यकता १८६	कण्ठसंधिक रूप १००
ओदन १६२	गतानुय में निष्कर्षता, का	कण्ठिका (दंत)
ओषु रोग ४०८	कारण १८४,१८६	कण्ठिय
ओषु संधान विधि १०२	ओ	नील
ओषु का अर्थ १११	शीद्धिगण ११	कणिकल
ओषु में नीलिमा का कारण १६२	शीपेन्व तन्त्र ११	कोट
ओषुपि १०,११,२१	शीपिनादिष्ट ५	कफ, निदिक ११०
स्वादर लंगमाल्यक भेद १०	शीपिनिक रोग, व्याख्या १८३,१८७	,, भेद, नाम और कार्य ८८
स्वादर लंगम चिकित्सीयोगी	,, नाम ३४७	स्वान १३०,१३१
घोने ११	संक्रमण मार्ग १४७	,, स्वस्त्र
हवाय ग्रामपाल विचार २०८	शीरप्रतन्त्र २१	,, प्रश्नेव कारण
शूषु के भ्रमणर व्यापत्ति ३५,३०	क	,, ,, काल
श्वास के कारण १३	कुन्दराति १४२	,, घय लघुण
श्वासप्रद देवन करने का काल ३१	कषा ११६,११९	,, ,, में अभिक्षिदित इव्व
शूषु के लिये प्रयत्न मूलि २०६,२०७	कंसुय ४४	दृदि लघुण
मूक्तादादि एक एक अंग	कंउड १७३	, निष्कर्ष संह्या
शूषु के लिये दर्शन कारण ३०७	कम्पन ४०६	,, का मधुर रस से शारम्भ

का कटुक रस से विरोध	२२६	कर्मविरुद्ध	१२६	काल, विमाग	२७
संशमन वर्गी	२१८	कर्मभ्यास, महत्त्व	१८, १९६	„ चिकित्सा में उपयोग	११
ल, विविध प्रकार	७३, २१४, २१८	कलायस्तड़ा	३२७	„ चक्र	२६
पुष्प गुण	२६०	कलायशाक	२८८	कालवलप्रवृत्त व्याधि	१५१
चार का रक्त पित्त में योग	५७	कल्क	११२, २४२	कालमेह	
कन्द गुण	२६२	कवचवीज	२६६	कालस्कन्ध	२१०
फल गुण	२८२	कवलिका	२४	काला नमक	२६३
पत परीक्षा	१०८, ३८३, ३५६	क्षपायरस, संगठन	२२६	काललून	२६३
पौन्माद	४०३	„ लक्षण	२३०	कालिन्दशाक	२८४
पत्र	४५	„ गुण, शाधिक सेवन का फल	२३१	कालीयक	२१०
ण, भेद और कार्य	६४	„ द्रव्य वर्ग	२३२	काश्मरी	२८३
ज, फल	२८४	„ „ में श्रेष्ठ द्रव्य	२६४	कासमर्द	२८६
तेल	२५७	„ रक्त स्तम्भन में प्रयोग	८७	कासीस	२०६, २१३
दी भेद	२०६	कषाय, शूत और शीत	२४२	कांस्य	२६४
रात्रि	४०७	काकमाची शाक	२८६	„ पात्रादित्य दश दिन के घृत	
रीर	५१, २८४	काकाराखफल	२६६	का निषेध	१२६
रेता	२८१	काकोल्यादिगण्य	२१२	किटिम	३४४
कीटक	२७६	कारण्डम	४०१	किएव, खमीर देखो	
कीद	२८५	„ सामान्य स्थानिक लक्षण	४०२	किलाट	२५४
कौटक	२८८	„ सार्वदैहिक लक्षण	४०३	„ घृत भक्त्य के गुण	२६६
कैशगुण	३०८	द्वादश प्रकार	४०२	किलास	४८, ३४४
र्णपालि, उपद्रव	१०३	„ लक्षण, विवरण	४०३	„ दोषानुसार भेद	३४४
„ चिकित्सा	१०४	„ सत्रण और अत्रण भेद	४०३	„ में छिकृति	३४४
„ वर्धन अप्रभंग	१०२	„ के अस्तित्व विशेष के अनुसार		„ हेतु	३४४
र्णपीठ	१०१	प्रकार	४०४	„ ग्राण और दोषण प्रकार	३४४,
र्णपीठ	३६४	साध्यासाध्यता	४०३, ४०४	३४५	
र्णवंध	१००	की असाध्यता के कारण	४०४	„ असाध्यता	३४५
„ की विधि	१०२	में हड्डी जोड़ने की चीजें	४०४	„ और कुछ में अन्तर	३४४
कर्णवेपन, उद्दृश्य	६६	परीक्षा में 'क्ष' किरणों का		कीटक, रोग प्रसार में योग	३४७
„ काल और स्थान	६६	उपयोग	४०२	„ दंश में ज्ञार प्रयोग	४८, ६३
„ योग्य और अयोग्य स्थान		„ में कुशा का उपयोग	४३, ५१	कील	३६१, ३६३
वेधन के लक्षण	६६	काम्बलिक यूष	२६७, २६८	कुक्कुट	२७३, २७४
„ अयोग्य स्थान वेधन के		कायचिकित्सा	५	कुट्टन	२१
उपद्रव	६६, १००	कारवी	२८८	कुठारिका	४७
„ अयोग्य वेधन की		कार्योहैड्रट, ७६, १३२, २६८, ३११		कुधान्यवर्ग	२६८
चिकित्सा	१००	„ शरीर में परिवर्तन	१३२,	कुख	३६३
„ योग्य वेधन की चिकित्सा	१००		३५१, ३५२	कुनीन, गुणधर्म	३२३, २२५
„ शक्ति	४८	„ के लिये पाचक द्रव्य	३१४	कुन्द्र	२८२
कर्णशक्ति	१०१	कार्पोसाङ्गोष्ठीषा	४१	कुमारघार	६३
कर्णशल्य, चिकित्सा	४०, १६६, १७०	कार्श्य	६७	कुम्भसर्पि	२५६
कर्णशोधनशलाका	४२	„ की स्थौल्य से प्रशस्तता के		कुरंग	२७३
कर्तीरी	४७, ४८	कारण	६७	कुरुविन्द	५१
कर्दम विसर्पि	२७२	„ के लिये अनुपान	३०९	कुलत्य	२६६, २६७
कर्पूर	२८४	काल, निषक्ति	२७	कुलिंग	२७४

कुलीन	१७३	हम्पमयदल	१३३,१४५	चार, तीर्णादि का व्यापिका-
कुट्टा	४३,५१	केदारकूल्यन्दाय	५५	मुख प्रयोग १०
कुट्टा के लिये इड	४३,१११	केला	२८३,२८३	“ गुण और दोष ११
कुमार	१४६	केटिकरे	८१,११२	“ कर्म ११
कुठ निशन अध्याय	१४१-१४७	केसर	१६०	“ गत रसों का विवरण १२
“ निश्चिक	१४१	केसर	१८०	“ बनाने की विधि का विवरण १२,११
“ मुख और सहायक हेतु	१४१	“ में वादिकलप्रसौति	१४६	विवरण १२,११
“ में कुलीन प्रसौति	१४८,३४६	कोळ	१४१	“ मुद्र, मध्यम और तीर्ण जी
“ का लीकाढ़	१४१	कोशर्वंश	११३,११४	परीक्षा ११
“ संप्राप्ति	१४१	कोटीनदंष्ट्र	१७६	“ की अस्थि से शान्ति का विवरण ११
“ संचय काल	१४२	कोळ, व्याह्या	१४१	घारार्म के क्षिये अशोम्य होनी ५८,५४
“ पूर्वस्त्र	१४२	“ गत वस्त्रवच्छय	१११	घारादग्ध, प्रकार और लक्षण ५२
“ शुरू और महान्, भेद, संक्षय		कोरीनदंष्ट्र	११६	“ विकिता ११
“ और नाम	१४३	कोमारश्य	५	चार के क्षिये प्रदुषक वृक्ष ५८
“ नाम और संख्या में मतभिस्ता	१४३	“ के अध्याय	१७	चारगंग ११३
“ विदोषत्व	१४३	“ में प्रसौति रस्त्र	१७	चारमेह ३५१
“ वीवाशुगन्यन्ता	१४३	कृष्ण	६६	चारणकविपि अध्याय १५०-१५२
“ देवानुषार महाकुण्ड के नाम	१४३	कृष्णरिणामन्त्र	७२	चौसोरट ११३
“ दोषानुषार संख्या	१४४,३४५	कियाकाल, प्रथम	११५	चौदशिव्यन्याय ७६
“ वास्तुवृषेधाद् रम्भीरता	१४४	“ द्वितीय ११७	चौराहा २०४,२८१	
“ और किलास का अन्तर	१४४	“ हृतीय, चटुर्ये	११८	“ फल के गुण २८१
“ वैष्ण की असाधता	१४४	“ पंचम, षष्ठी	१३४	“ पती के गुण २८८
“ चाल्यासाध्यता और उपद्रव	३४४,१८८	“ पर विकिता करने का महत्व ११८	चौर पलतार्ड २८७	
“ शासुद्धत लक्षण	३४४	“ के पूर्ण और पश्चात्	१४४	चौरसर्प २४४
“ संतान में संवार की प्रसौति	३४६	विकिता का फल ११८	“ में खेत चौर २४४	
“ विकिता	३४४,१८७	किया और काल का विकिता में	“ अष्टविष प्रकार २४६,२५०,२५१	
“ संक्षण मार्ग	३४७	महत्व ११९-१२०	“ के संग्रहन का क्रोधक २५०	
कुमारह	३५२	कियार्वंशक निषेध	२०३	चौर, सामान्य गुण २४४
कुलुमिरी	३५६	क्षेत्रुकृतीय	१२७	“ सामान्य संग्रहन २४०
कुरु	५३	क्षम	१४२	“ संग्रहन में परिवर्तन के कारण २२०
कुर्व	४७,८८	क्षेत्रक कफ	८८,११४	“ प्राभाविक और आपराहिक २२१
कुर्विका	१३६,३४४	क्षेत्र	११,११८	“ कश और चीटाया २५१
“ हृतमस्त्रपदार्थ	१४४	“ व्यवसेय कृत	१८८	“ पारोषण की सर्वभेदा २५१
कूलवर वर्ग	१७२	क्षोम	१७६	“ अशुद्ध के लक्षण ११२
कूलवर वर्ग	११४	क्षपक	१२०	“ भौतिक और रासायनिक
कृत्य	१५	क्षोदर	१५६	गुण २८२
कृत्याकृत्यविपि अध्याय	१४४-१४८	क्षार, निष्क्रिय	१७	“ पूरित होने के कारण २२२
कृत्यित	४०८	“ अनुष्टुत और अनुकृत में		“ के विकृद पदार्थ ११६,११६
कृत्यित, आनन्दस्त्र	१४४,१४४,१४५,१४६,	समोरेता का कारण	११	“ शोषणीय प्रयोग के लिये
	१४८,१४८,१४८	“ की खेत्र	१७	प्रारात्य २०८
“ अनुष्टुत	१४४,१४४,१४५	“ गुणवर्ती	१०,१०	“ कृत्याकृत्य पदार्थों के गुण ११८
“ अनुष्टुत वा	१४४,१४४,१४८	“ के दो प्रकार	१८	“ में अनुष्टुत और प्रसाद के
कृत्यितरात्र	१४४,१४८	“ के तीर्णादि दीन मेद	११	अनुसार लीकाद्य जी यथि ११८
कृत्यितरात्र	१४४,१४८	“ बनाने की विधि	११,१०	कृष्ण देव, अर्य ११०

शुरोग संख्या	३६०	गंपपरीक्षा	५६	गदय	२७६
शुरोग निदान अध्याय	३६०-४००	गंपवित्रिपति	१८०,१८२	गवीनी	३३६,३३७
शुर	४५	गद्यगद्	३२७	गामावल	२४३
शुरान्व रस, आम्ररस देखो		गर (विष)	५८,२१५,३५६	, की परीक्षा	२४३
घोड़मेह, मामुमेह देखो		गरसी	३८६	, इफ्टा छरने की रीति २४३,२४४	
चौथ	११३	गर्दमी (रोग)	३६१	गोपेश्वर	२८२
	स्थ	गर्भ, लक्षण	६०	गिलासु	४११
स्थ	४७,४८	,, स्थ्यलक्षण	६१	गिलोट्य	६३२
स्थ्र	३२७	,, घुड़िकर योग	६२,६६	गु, अशुद्ध और शुद्ध के गुण	२६१
स्थन	१८२	,, स्वाभाविक प्रसवकाल	३६५	, पुराणत्व	२०८,२६०
स्थरीट	१८२,२७४	,, स्वाभाविक प्रसवरीति	३६०	, पुराणे के गुण	२६१
स्थर्यूत्	२६७,२६८	,, स्वाभाविक प्रसवदेहु ३६०,३६३,		, के भव्य पदार्थ गुण	२६८
स्थ्राव वंध	११३,११४,११५		३६४	, शुक्र	२६५
स्थर्मीष	४०५	,, माता से संबंध	३६४	गुद्धाच्यादि गण	२१४
स्थित्	२०६	,, योनि में अटक जाने के हेतु ३६१		गुण, अर्थ	२१६,२२०
स्थिति पदार्थ	३१२	,, की मरुत्यु के हेतु	३६५	, संस्था	२१६,३०६,३१०
स्थीर	१४७,२१२	,, की मरुत्यु के लक्षण	३६५	, प्रत्येक के अर्थ	३०८
स्थैर	२८३,२६२	गर्भपात	३६५	, में संस्कार से उत्कर्षपक्षी	२१०
,, के भेद	२८३	गर्भेशातक ग्रन्थ	३६१,३६५	गुद, रचना	३२६
,, मय	२६२	गर्भयाहुक्	४२	, तीन बलियाँ	३२६
स्थलती	३६४	गर्भक्षोपपरासंग	१८८	, सिराओं की रचना	३२६
स्थले क्षेत्रतन्याय	७६	गर्भक्षाव	३६५	, चीर	३३१
स्थरोत्रा	२७५	गर्भाधान का फाल	१६५	, अंर्या, हेतु संप्राप्ति	३४६,४००
स्थलवर्धन	४०७	गर्भाशय	३३७,३५५,३६७	, „, चिकित्सा	४२
स्थमुख	४१	,, में गर्भ की स्वाभाविक स्थिति ३६०		गुदसंकोचनी पेशी	१८७
स्थमर, रोमान्तिका देखो		,, और स्तनों का संबंध	३७४	गुदविद्वि	३६६
स्थानिक	२६७	गर्भी(पतानक)च्छेपक	३२४,३६३,	गुरु (गुण)	३०६
स्थानिक्य	३६४		३६६	गुरु, शिष्य के प्रति कर्तव्य	१४
स्थिरी	३८२	गलगण्ड निदान	३८०	, कर्तव्य न करने का फल	१४
स्थिरीने	१६८	,, हेतु २४४,२४७,३८१		गुलम, घ्याल्या	५८
खीक (धान की)	३००,३०७	,, संप्राप्ति	३८१	, और विद्रीषि में अन्तर	३७०
खट	३२१	,, संख्या	३८१	, की असाध्यता	१८८
	ग	,, धातानादि के लक्षण	३८१	, के लिये अशुभ स्थान	१७८
गमणिष्ठी	२११	,, साध्यासाध्यता	३८१	गुहाशय अर्थ	२७२
गंग	३६४	,, के उपक्रम	३८१	, वर्ग और उसके गुण	२७४
गणेशकर्ण	१००,१०१	,, संधारण चिह्न	३८२	गृहसी	३२६
गणेशमाला	३७८	,, विशेष चिह्न	३८२	गेडा	२७६
गणेशपदमुखी	३४	,, वर्हिनी	३८२	गेहूँ, गुण	२७०
गति (नास्त्र)	६७३	गलामंथि (थौयरॉइड)	३८०,३८१	, के गुणों का विशेष विवरण	२७२
गधी, मूत्र	२६६	गलशुशुरिङ्का	४०६	, संगठन	२७२
,, दूध संगठन	२५०	,, अन्य खाँसी की विशेषता ४०६		गेहूँ चोकर	२७२
,, माता के दूध के अभाव		,, का शक्तिकर्म	४५	गोकर्णी	२७६
में प्रयोग	२४८	गलविद्रधि	४११	गोगिङ्गा	३८६
गंधनामा (माला)	३६१	गलीय	४११	गोधा (गोह)	३४९

गोधूङ्, गेहूँ देखो		पूर्व, अष्टविष के शुण	२४५	चिकित्सा, वाचुणिक	१६१
गोप्य गदा	२०६	कर्चे दूष के मक्कन का	२४६	" वैशीन	१२१
गोक्कुलादधि	११३, ११४	मुराने के शुण	२४७, २४८	" सीरम	१२७
" वायने की रीति	११६	मुरुने की कालमयोद्दा	२४९	" सरोधन	६
" गुदप्रसा में उत्स्योग	४२	बलच्छादि में नवीन का योग २०८		" सरामन	६
गोक्कुलादीप्रसादी सौख्य	१२८	में श्रेष्ठ पूर्व	२४४	" सूर्यरथिम	१२०
गो, दूष	२५०	में वनामे पदार्थ के शुण	२४५	" गृहु के अनुपाद	१६५
" ददी	२५२	पूर्वमण्ड	२५५	" के पूर्व आयुपरीचय का	
" घी	२५५	पूर्वपूर (घेवर)	२५८	" महत्व	१६३
" गूद	२६५	पेमा, गलगदूद देखो		" के स्थिते ध्यान देने योग्य	
" मासि	२७२	धोल	२५४	" वाते	६, ११२
" के दूष आदि की शेषता	२५५	प्राणार्थुरायोग्यन्त्र	४०	" में स्लुट्टि का सदृश्य	१५
प्रथि, तुकिका	३२२				१४१, १५०
" अपिह	३५२	च		" के समय त्रियों के साथ	
" पिच्छुटी	३२०, ३२२	चक्केश	२३१	" बर्ताव	४५
" अन्त शारी	३०६, ३२२	चन्द्रकान्त का जल	१२७, २३६, २४८	" में सहजता के लिये	
" लचा की	६१, ३७७	चना	२६६	" शुणवद् पादचतुर्ष्य की	
" लंडिका	३७८	" का साग	२६७	" आवश्यकता	१२१
" भट्टीला	४६, ६०, ३८०	चमर	२७६	" में योग्यि परिवर्तन का	
प्रथि (हेण) संप्राप्ति	३७६	चमक	२८०	" नियम	२०३
" सहृष्टि	३७६	चर्वी, बढ़ा और मेहोजातीय इन्ध		" में योग्यि परिवर्तन का	
" धातुगादि के लक्षण	३७६	देखो		" काल	२०४
" मेदोग	३७७	चमे, उपयोग	४१, ४४	" में वैष्ण का महत्व	१४१
" विरुद्ध और उसके प्रकार	३७७	चर्मोक्ति	१३३, १३५, ३८८	" के लिये फौस सेने का	
" मौसूल, रहज, वरुण	३७७	चर्मदल	३४३	" नियम	७
" निष्ठिके	३७८	चर्वण	५६, १३२, १३४, २०७, ३११	चित्रकथाक	२८६
" साधारणप्रत्यय	३७८	चाच, चालित्य देखो		दिव्य	११३
प्रथि भरवी गत्तगण्ड निशान ग्रथ्य		चागेठी	२८८	चित्रीयमि	११६
	३५६-३८२	चावल, चालि देखो		" दूष से विरोध	१२६
प्रथि विसर्पि	३७२	" नये और मुराने के शुण	१००	चिह्नी	१८८
प्रथिनिधि	४१०	चान्दी	२५४	दिव्या	३००, ३०५
प्रहृण	२१	चालन	४४	चैनवय	११३, ११४
प्रह (देवण्ण)	११३	चिकित्सा, व्याध्या	१८१, १४१	" वायने की रीति	११२
प्रह, अष्टि लक्षण	१८२	" के चार भाग	१६१	कुचुल्याक	२८८
" अट्टिविष गति	१८६	" के पोदश शुण	१६, १६२	देवक, महरिशा देखो	
" अनुकूल्या से मुरुणाप्रत्यय	२०३	चनागत व्याधि	१२८	चौथ्य इर्ष	२४४
प्राप्त्यर्थ	२८५	" चान्त व्याधि	१२८	" वालगुण	२४४
प्रौद्य ग्रह	१४	" चान्त व्याधि	१२८	चौकाई शाक	२८८
	प	" चहार	१		
प्रत रोप	१०८	" चावार	१		
प्रटिसन्त्र	४०, ४३	दिव्य	११	द्वयपाराणगुण	१३
प्रुष	४३	" दस्तिविष	१२०	दर्दि, बमन देखो	
प्रुष, सप्तरुद्ध गुण	११२	" वृक्षायु	१०२	द्वयातिविष	१२३
" लक्षण	११२	" वृक्षानुदाह	११३	द्वयक	१८०

१३३,१८९	जल आन्तरिक्ष हकड़ा करने की रीति	३५६
श्रौ प्रभा का अन्तर के पाँच प्रकार	१८९	२४३,२४४
ग, किलोट देखो	१८९	„ „ अनुपानों में शेष ३०९
नि की विधि	२४६	„ „ अनार्तव श्रौ आर्तव
ी, स्वास्थ्यिक और विकृत प्रकार १६३		प्रधम का पीने का
देवर	३५६	निषेध २४३,२४४
। की वीमारी	३४७	„ भौमिक २४२,२४३
अर्धचन्द्रादि प्रकार श्रौ उनके		„ „ भूमि के अनुसार रस २४३
स्थान	२३	„ „ की अशुद्धियाँ २४४,
ल (शब्दकर्म),	२१,४८	२४५
योग्या	५२	„ „ स्पर्शादिष्टदोष श्रौ
योग्य विकार	१५६	उनके लक्षण २४५
के शब्द	४८	„ „ से होने वाले विकार
दन (द्रव्यगुण)	६६	२४४,२४६
ज		शुद्धि के स्वास्थ्यिक उपाय
गल	९६२	४०,२४४
गमवर्ग	१०,११	„ छन्निम उपाय २४५
“ के वैद्यकीयोगी अंग	११	„ शुद्धि की वस्तुएँ २४६
“ वैद्यकीयोगी अंग ग्रहण के		„ रखने की वस्तुएँ २४६
लिये नियम		„ शीतल करने की विधियाँ २४६
घाल, अर्थ	२७२	„ की प्रशस्तता के लक्षण २४६
“ वर्ग श्रौ उसके गुण	२७३	„ सपुत्रिध प्रकार २४३
घासिय	१४५	„ अनु के अनुसार सेवन का
गठामि, श्रामि और पाचक पित देखो		नियम २४४
गतुमणि	३६७	ग्रहण के लिये उन्नित काल २४७
गतु, अर्थ	४	शीतल के गुण २४७,३०८
जनपदोच्चंक रोग, कारण	३२,१५२	शीतल का निषेध २४८
“ विशेषताएँ	१५२	शीतल का शब्दकर्म में उप-
“ फैलने के राग ३२,	३२,	योग २४,१६६
	१५२,३४७	शीतल का अनुपान ३००
परिहार	३३	उषण २४८
जन्मदलप्रकृत रोग	१५०	उषण का अनुपान ३००
जप	३३	पर्युषित का निषेध २४८
जम्बीर	२८१,२८६	शृतशीत के गुण २४८
जरायु, जरायुज	१०,११	कम सेवन करने योग्य विकार २४८
जल, संग्रह	२४२,३३८	भोजन से संबंध ३०२
“ आन्तरिक्ष २४२,२४३,२४७		शरीर में कार्य ३१२
“ की विशेषताएँ २४२,		आनुपादि स्थान के गुण २४८
	२४५	नादेयादि स्थान के गुण २४८
“ के चार प्रकार २४३		जलगर्भ ३५५
“ के अभाव में पीने		जलशूल १०३
योग्य जल २४३,२४७		बलमन्त्रचिकित्सा १६८,१६९
		जलवायु चिकित्सा २०३
		जलोदर व्याख्या ३५५

पौद्रव्य, 'धी'	२४७, २७१, २६८, २८३, २१२	गोक, दोय और स्थाननुसार प्रयोग ७१ " दुष्की और सींग की विशेष- ताएँ ७१	तौत रहस्यमन के लिये ४२, वापसइड ३१ वाम्बलन्त्र २५
" 'सी'	२७१, २८१, २८३, २६१, २१२	लौ, यज देखो ७१	" का मसाला २८ " मोजन के पश्चात् सेवन ३०
" 'टी'	२५०, २८८, २८८, ३१३, ४०७	चर, हेतु १०८ असिंगन ११३	ताप्र (तांबा) २६ ताल (ताह) १८२, १८
" अमाव के रोग ३१३	२५०, २८१, २१२	" शीर्ण २४६ भ्रम ४०३	ताल, अर्ध ३ तालमन्त्र, संख्या ३
" घूमने वाले जानवरों के दूस में ३५०	३१३	विस्टोटक ३३ शुखसामाग्र ४१	" वर्णन ३ वालुगत रोग, संख्या ४०१
जीवनीय रोग १०४	१०४	" के अग्रम स्वर १७८	" नाम और वर्णन ४०१
जीवनीक २७६	२७६	" के असाध्य लक्षण १८८	विष्टस, संगठन २३१
" विष परीचा में उपयोग २७६	२७६	" की आमावस्या में भेदग निषेष १८८	" लक्षण २३०
जीवनी २८८	२८८	" में ठड़ने का निषेष १८२	" गुण, अधिक सेवन का फल २३१
जीवनोहित ७८, ८३	७८, ८३	" में लक्षणेन २४६	" वां २३२
जीवामुख १११, १२३, १२३	१११, १२३, १२३	" शुखसामाग्र २०३, ३४८	वित्ति २०३
" आनन्द २४०	२४०	म	" गैर २०४
" पूर्विगनक २७८	२७८	महो का महत्व १६१	विनिधी २०१
" पूर्वगनक १०८	१०८	ट	विनुक २०२
" वायुगनक १२७	१२७	टह २८४	विमिर २०३
" सूखसंरक्षकारी १२३, १२३	१२३, १२३	टहायादार २१४	विव २०४
जीवाद्युक्त्यन्त रोग ३३, १२३	३३, १२३	ट	सालि, कल्क, स्थूलिका (वटे) २०५
जीवाशुनाराक	२८४	ठाक फल २८४	" तैल २०६
जीवाशुनारान	१०	त	" तैल वी घेऊता २०८
जोक, निरक्षि ४२	४२	टक्करी २४३	विलपर्णी २०९
" संख्या ४२	४२	" सामान्य गुण २४३	विलकाहक २१०
" उपरि, निर्विद् भेद ४२	४२	" आलया २४४	वीश्वामुख २०१
" उपरि वी उपरि ४२	४२	" सेवन निषेष २४४	पुरिद (नाभिविकार) २०२
" निर्विद् की उपरि ४२	४२	" सेवन के योग्य काल और विकार २४४	पुरिदेही २०३
" नाम, द्वाहप ४२	४२	" मधुरादि भेद से गुण २४४	पुरेषेनी दीवन २०४
" विकारेद, उपरि के अनुसार प्रयोग के नियम ४२	४२	" के आय दोषशेषानुसार उपरि २४४	गुम्भी २०५
" मिळने के प्रैष ४२, ४३	४२, ४३	" उपरि के इष्य २४४	गुम्भीयन्त्र २०५
" पात्रनीति ४३	४३	" दूर्विका २४४	" रहदुषि और स्थाननुसार प्रयोग ४१
" लगाने वी विपि ४३, ४५	४३, ४५	तएड्डीयक २४५	गुम्भी और उपरि भेद २४६
" वैदन विपि ४४	४४	फल, व्यासा २४५	द्वारक तैल २४७, २४८
" दृष्टि वार लगाने वी नियम ४४	४४	" और विपि में अन्तर ४५	" फल २४८, २४८
" अन्य रस्तद के करण ४४	४४	उपरि प्रतीति १०८, ११८	गुरेद २४९, २५०
" वी विकिर्या ४५	४५	लालारित १४, १०४	दीपी २४९
" भलवती और रस्तदारी ४५	४५	तैल फल ४८, ११४	एण्डूल्य २५४
" साप्त रोग ४५	४५	तैलेण ४८, ११४	टेलोरक्ष २५५
" के विपि देख रोगी ४५	४५	तैल (इन्तर) ११८, १२३	तैलस इष्य २५५
" विटेर ऐडों में लगाने वालन ४५	४५		२५५

, निरहकि	२५८	दन्तपुष्पुटक	४०६	दधि प्रस्तु के अनुसार सेवन की-
रासायनिक विवरण	३५८	,, और दन्तविद्धि में		दधि ग्रीष्मी निषेध २५३
और चर्वी में अन्तर	२५८	अन्तर	४०६	,, सेवन के कुछ नियम २५३
में वनाये पदार्थ के गुण	२६६	दन्तमूलगत रोग, संख्या और नाम	४०५	दधि कूर्चिका २५४
सिद्ध करने की पद्धति	२३६			दाइम २८०
ज	२८२	दन्तवल्क	४०७	दाम वंध ११३, ११४
स	२८४	दन्तवेष्ट	३०५, ४०६	दारण ४४, १६५
पादिगण	२१४	दन्तविद्धि	४०५	,, प्रव्य २०४
ह	१३४	दन्तरोग, संख्या	४०५	दारणक ३६४
द्वि	२१४	,, नाम और वर्णन	४०७	दाए खावण २६३
कूचिक	४७	,, सामान्य निदान	४०८	दालन ४०७
कुला छोटी	२१४	दन्तशर्करा	४७, ३०५, ४०७	दीपपरीक्षा, (वृषण घृदि में) ३८३
, बड़ी, प्रमाण	२१४	दन्तशङ्कु	४७, ५०	दुःख, त्रिविष १४८
, गुणधर्म	२१४, २४०	दन्तलेखनक	४७	दुर्मन्ध गुण ३०६
दृष्टक	२३६	दन्तहृष्ट	४०७	दुर्दैर्घ्य, लक्षण ६७
इक	२४६	दन्तशठ फल	२८१	,, चिकित्सा ६८
चा, रचना	६८, १४१	दर्शनपरीक्षा	५४, ५५	दुर्दिन ८४, ३५७
, की प्रथियाँ	६९, २७७	दर्शमूल	२१५	दूत, अर्थ ५४
, के कार्य	१३३	दंष्ट्रचिकित्सा	५	,, दर्शन का शुभाशुभ १७३
, के रोग	१५५, २६७, २४१	दहनकर्म	२२, ६५	,, वैष का शुभाशुभ १७३
, गत शल्य लक्षण	१६२	,, के उपकरण	६५	,, भापण का शुभाशुभ १७३
, गत शल्य की परीक्षा	१६३	,, की श्रेष्ठता	६५	,, चेत्य का शुभाशुभ १७३
व		,, की विविध विधियाँ	६५	,, का वैष की स्थिति के अनुसार
कोदर, जलोदर देत्तो		,, के लिये काल	६५	शुभाशुभ १७४
कोदरथन्न	३६	,, के स्थानानुसार प्रकार और		,, का काल तिथि के अनुसार
चिण्यायन	२८	लक्षण	६६	शुभाशुभ १७४
उथ (असि)	६७	,, के लिये योग्य विकार	६६	,, की स्थिति का दोषानुसार शुभा-
, हृद और धेह जनित दो भेद	६७	,, के आकारानुसार प्रकार	६६	शुभ १४७
, प्लुषादि चतुर्विध प्रकार और		,, की पद्धति	६६	,, और वैष समागम का शुभाशुभ १७४
लक्षण	६७	,, के लिये अयोग्य	६७	,, कार्य करने के लिये प्रशास्त १७४,
, की अवस्थाएँ	६८	,, रक्तस्राव रोकने के लिये		१७५
, के सार्वदेहिक लक्षण	६८	उपयोग	६५, ८७	
, की चिकित्सा	६८, ६६	दधि (दही) वर्ग	२५२	
, के लिये रोपण धूत	६६	,, गुण	२५२	
, आतप तेजादिजनित अन्य		,, श्रीर धूत में अन्तर	२५२	
प्रकार	६६, ७०	,, आन्तस्थ जीवाशु पर प्रमाण	२५२	
दरडधारणागुण	५३	,, मधुर, अम्ल, मन्दजात के गुण २५२		
दन्त (दाँत), उपतिकाल	२००	,, अष्टविध प्रकार और सामान्य		
, कार्य	१३४, २००, २०७	गुण	२५२, २५३	
, पोषक द्रव्य	३१३, ४०७, ४०८	,, में गौ का दही श्रेष्ठ	२५३	
, का श्रेष्ठि	१८१	,, सुपरिकृत के गुण	२५३	
दन्तथावन काल	३०५, ४०८	,, -सर के गुण	२५३	
दन्तनाई	४०८			
दन्तोद				

पश्मलू, करटक	२१५	पाक्यद्वार	६०	पायाणगर्दम और कण्ठेर का	
,, कसी	२१५	पाचक वित्त	८८, १३२	अन्तर	१४२
,, तृष्ण	२१५, २१६	” पश्चात	१३३, १३१	पिण्डिल गुण	१०८
,, शुणधर्म	२१६	पाचक रस	७६, १३३, १३३	वित (दोष) विशेष	१३०
पश्चात	१६८	पाचन (शोक का)	८७, १३४	” स्थान	११०, १११
पंचवल्क	१०४	” इय	२०४	” मेदानुषार स्थान	१११
पंचवार्षीय (भग का)	११३, ११४	पक (शोक का) विधि	१०६	” पौचं भेद और नाम	८८, १३१
” घोड़े का	१६८	” के लिये पाक्य और पाचक		” साधारण कार्य	१३२
पथेनिराय विप्रतिपत्ति अथवा १५८-१५९		की आवश्यकता १०६, १३०		” पंचविध प्रकार के कार्य	१३३
पटोल	२८६	” स्थान में कमी होने का		” लक्षण	१३३
पटोलादिगण्य	२१२	कारण	१०६, १३३	” साम और निराम के लक्षण	१३३
पट	२२, ४३, ११३	पाठीनमर्त्य	२७७	” चय के लक्षण	१०
पठनपाठन विधि	१६	पायुद्वेष में रक्तद्विनक उपाय	८७	” शृदि के लक्षण	४२
” में अन्तरामरन	१६	” में यहृत ऐवन	८४	” चय में अभिलाखित हृष्य	४२
पत्रोर्य	११३	” अङ्गुष्ठ मुख कृमिगन्य	२४६,	” प्रोक्टोप के कारण	१३६
पथ्य, महत्व	६	” के असाध लक्षण	१८६	” प्रोक्टोप के काल	१३६
पथिकीर्तक	११७	” के अशुभ लम्प	१८८	” कुकुरत से साधार्य	१३८
पन्थ	२८२	पाद	१६१	” और अमि का संबंध	१३९
पन्थिका	१६३	पाददारी	१६१	” भीर रुक का संबंध	१३९
पतायु	२८८	पाददाह	१२७	” घरा कला	१३९
पतित	३१४	पादहृद	१२७	” विकार संस्था	१३९
पत्तण, व्यास्ता	१४३	पादधारारथयुग्म	५३	वित रस	१११
” वडगुण	२४८	पादिनवंश	२७६	पितसंशामनदर्म	११५
पत्तनीन (यस्त)	१६७	पानक	२१८	पिपल्ही, शार्द और शुक	१८६
परिक्लीन	४२	पानीयद्वारा, अर्थ	५८	पिपलादिगण	१११
परियोगी मान्द्र	३११	” विधि	५८	पिट्टेर्ड	३४०, ३४१
परियारु शुष्क	२३, १६१	” रासायनिक संगठन	६३	पिता	३४१
परियारु	१६१	” उपयोग	५८	पिस्तू से दोष संवहन	३४७
परियोगी	१८०, १८२	” उपयोग की वरपाति ६३, ६४		पीठन, व्यास्ता	४४, १४५, २०८
परियोगी शुष्क	१४१	” निरेप	५८	” के लिये शुक लेप की	
परियोगी	३७१	पामा	१४१	” गर्ही	१११, ११२
परियोट	१०२	पास्ता (यज)	१०	” इय	२०४
परिय	१६१, १६२	पायस	१४१	पीठनाद्यमता	१०६
परिर	४०६	परावत पवी	२७४	पीयूष (चीर)	२४२
परिवर्तिका	१६८	” फल	२८१	पील	३४८
परिवर्त्य	६०	परिव और परि	११	पुनर्वासी	३११
परिवायुरु	१६८	परिव इव्युप	२०१	पुरीय, कार्य	८६
” और गोदावर में अन्तर	१६८	परिवु	१४३	” चय लघुण	४१
पर्यक	१८३	परिषु	१४३	” चय विकिता	४१
पर्यादिगण	११२	पावत	१११	” शृदि लक्षण	४१
पर्यामा, अर्थ	१७२	पालंधी	१८८	” विकिता	१११
” एवं	१५४	पारावद, तीन प्रकार	१००	” रात्रयद्वा में महत्व	४१
पर्याद, अर्थ	३१	” विकिता	१००	” संगठन	१११
पर्यामाद	१८४	पायाणगर्दम	११३	पुरुष	४१, १११, ११२

धिरथालुकमण्डिका

८६ गव्यगुण	२७५	१२६ अनुपादेय मांस	२७८	१६७ तोदन के गुण	२८१
८८ एकशफ मांस गुण	२७५	१२७-१२८ शुष्कादि मांसों के दोष	२७८	१६८ तिन्दुक के गुण	२८१
१२ अल्पभिष्यन्दी और महाभिष्यन्दी प्राणी	२७५	१२९ मांस के लिङ्ग भेद और	२७९	१६९ वाकुत के गुण	२८१
६३ आनूपर्व भेद	२७५	शरीर भेद से गुण	२७९	१७० धान्वगाजीरुक और अश्मन्तक के गुण	२८१
६४ कूलचर प्राणी	२७५	१३०-१३३ स्थानादि भेद से मांस	२७९	१७१ फलगु के गुण	२८२
६५ कूलचरों के सामान्य गुण	२७५	की गुरुत्वघुता	२७९	१७२ पहलवक के गुण	२८२
६६ गजमांस के गुण	२७६	१३४ आहार विशेष से मांस के गुण	२७९	१७३ पौष्टक "	२८२
६७ गवयमांस के गुण	२७६	१३५-१३६ उक्त मांस वर्गों की गुरुत्वघुता	२७९	१७४-१७५ विल्व "	२८२
६८ महिषमांस के गुण	२७६	१३७ सम्पूर्ण शरीर में से गुण वाले शाङ्ग प्रहण करने चाहिये	२७९	१७६ विस्ती तथा अक्षकर्णी फलों के गुण	२८२
६९ रुक्म मांस के गुण	२७६	१३८ मांस के गुरुत्वाघव के निर्णय में परीक्षणीय विषय	२७९	१७७-१७८ तालादि मधुर फल और उनके सामान्य गुण	२८२
१०० चमर मांस के गुण	२७६	१३९ फलवर्ग-	२८०	१७९ ताल के गुण	२८२
१०१ सुमर मांस के गुण	२७६	१४० दालिमादि फलों के सामान्य गुण	२८०	१८० नारिकेल के गुण	२८२
१०२ वराह मांस के गुण	२७६	१४१-१४२ दालिम के गुण	२८०	१८१ पनस और सौच के गुण	२८२
१०३ खड़ी मांस के गुण	२७६	१४३-१४४ आमला के गुण	२८०	१८२ द्राक्षादि मधुर फल	२८२
१०४ गोकर्ण मांस के गुण	२७६	१४५-१४६ वदर, सिद्धितिका के गुण	२८०	१८३ द्राक्ष के गुण	२८२
१०५ इंसादि छव व प्राणी	२७६	१४७-१४८ कपित्थ के गुण	२८०	१८४ कारमर्य के गुण	२८२
१०६ छवों के सामान्य गुण	२७६	१४९-१५१ मातुलुम के गुण	२८०	१८५ खर्जूर के गुण	२८२
१०७ हंसमांस के गुण	२७६	१५२-१५३ आम्र के गुण	२८०	१८६ मधुक के गुण	२८२
१०८ कोशत्य प्राणी	२७६	१५४-१५५ आम्रातक और लहुच के गुण	२८१	१८७ वातामादि मधुर फल	२८२
१०९ पादी प्राणी	२७६	१५६-१६२ करमद, ग्रियाल, भव्य, पारावत, प्राचीना-मलक, तिन्तिर्डीक, कोशाम्र, अम्तीका, नारजी, जम्बीर, ऐरावत और दन्तशठ के गुण	२८१	१८८ लवली फल के गुण	२८२
११० कोशत्य और पादी प्राणियों के सामान्य गुण	२७६	१६३ कपायरस प्राय फल	२८१	१८९ वसिरादि के गुण	२८२
१११ कर्कट के गुण	२७६	१६४ कपायरस प्राय फलों के सामान्य गुण	२८१	१९० ऐरावत दन्तशठ, टहु ऐम्बु, शमीफल और श्लेष्मातक के गुण	२८२
११२ मर्त्यों के नादेय और सामुद्र भेद से दो प्रकार	२७७	१६५ क्षीर वृक्ष फल	२८१	१९१-१९३ ऐरावत दन्तशठ, टहु ऐम्बु, शमीफल और श्लेष्मातक के गुण	२८२
११३ नादेय मर्त्य	२७७	१६६ जाम्बव और राजादन के गुण	२८१	१९४-१९५ करीर, आच्चिक, पीलु, तृणशून्य फलों के गुण	२८२
११४ नादेय मर्त्यों के सामान्य गुण	२७७	१६७-१६८ विहृद्ध फल के गुण	२८१	१९६ तुबरक फल के गुण	२८२
११५ पाठीन मर्त्य के गुण	२७७	१६९ क्षीर वृक्ष फल के गुण	२८१	१९७ करझ, पलाश और निष्ठव फल के गुण	२८२
११६ रोहित मर्त्य के गुण	२७७	१७० जाम्बवन और राजादन के गुण	२८१	१९८ विहृद्ध फल के गुण	२८२
११७ गुरुत्व मर्त्य के गुण	२७७	१७१ जाम्बवन और राजादन के गुण	२८१	१९९ दूरीतकी के गुण	२८२
११८ सर और तड़ागादि स्थित मर्त्यों के गुण	२७७	१७२ जाम्बवन और राजादन के गुण	२८१	२०० विसीतक फल के गुण	२८२
११९ सामुद्र मर्त्य	२७७	१७३ जाम्बवन और राजादन के गुण	२८१	२०१ पूगफल के गुण	२८२
१२० सामुद्र मर्त्यों के सामान्य गुण	२७७	१७४ जाम्बवन और राजादन के गुण	२८१	२०२-२०४ जातीकोश, कर्पूर, कार्त्तिक, कृष्ण और लताकरत्तरी के गुण	२८२
१२१ सामुद्र मर्त्यों की उत्तरोत्तर सारता	२७७	१७५ जाम्बवन और राजादन के गुण	२८१		
१२२-२४ नदियादि मर्त्यों की उत्तरोत्तर सारता	२७७	१७६ जाम्बवन और राजादन के गुण	२८१		

०४ २०५ विषाल, विभीत, कोल,
आमलक, बीजरू,
शम्य क और कोशाल
की मजाओं के गुण २८४

२०६ मजागुण भी फल समान
होते हैं २८४

२०७ पक फल गुण युक्त
होते हैं २८४

२१० स्थाय फल २८४
शाकवर्गी-

२११ वृक्षमारडादि फलशाक २८५

२१२ कृष्णमारडादि क सामान्य
गुण २८५

२१३-२१४ कृष्णमारड, कालिन्द और
अलाकु के गुण २८५

२१५ व्रियुमाद फल शाक २८५

२१७ मनुसादि के सामान्य
गुण २८५

२१८-२१९ प्रयुम, ऐवाहक और
कर्कटक के गुण २८५

२२० सीर्पेश्वरक के गुण २८५

२२१ विषद्वयादि कट्टुफलशाक
गुण २८५

२२२ विषद्वयादि के सामान्य
गुण २८५

२२३ विष्पली के गुण २८६

२२४ मरिच के आदि गुण जैव
से गुण २८६

२२५ खेतमरिच के गुण २८६

२२६ शुण्डी के गुण २८६

२२७ आंदें के गुण २८६

२२८ हिंदु के गुण २८६

२२९ दिविष और के गुण २८६

२३० कारवी और उपकृतिका
के गुण २८६

२३१ कुमुखवी के गुण २८६

२३२-२३४ जम्बू, मुरस, मुम्बा,
अर्जंक और भूत्युण
के गुण २८६

२३५ छासदंड के गुण २८६

२३६ मनुशील के गुण २८६

२३८ संयोगशाक, गर्भीरशाक
और वेगानाम शाक के
गुण २८६

२३६ चिक्रक, तितपर्णी
और वर्षभूशाक
के गुण २८६

२४०-२४३ गूनी के अवश्या भेद
से गुण २८६

२४४-२४५ रमेश के गुण २८६

२४६-२४७ पलाशदु के गुण २८७

२४८ कलापशाक के गुण २८७

२४९ कवायमधुरशाकवर्ग २८८

२५० उनके सामान्य गुण २८८

२५१ चुन्नू के गुण २८८

२५२ फली शाक के गुण २८८

२५३ छीरझूळ और उत्तला
दि के पक्षव गुण २८८

२५४ पुनर्नवादिशाक २८८

२५५ पुनर्नवादि के सामान्य
गुण २८८

२५६ तरडुलीयशादि शाक २८८

२५७ उनके सामान्य गुण २८८

२५८ तरडुलीय के गुण २८८

२५९ उपेक्षिका के गुण २८८

२६० वास्तुक के गुण २८८

२६१ चिल्वी, पालझी और
अबूला के गुण २८८

२६२ मधुडकपर्णी आदि
शाकवर्ग २८८

२६३ उनके सामान्य गुण २८८

२६४ मधुडकपर्णी, गोजिहा
के गुण २८८

२६५ सुनिषेण्यक, अबल्मूल
के गुण २८८

२६६ सीतीन, काकमाची के
गुण २८८

२६७ बूढ़ीफल के गुण २८८

२६८ पटोल के गुण २८८

२६९ वार्तिक काकोटक के
गुण २८८

२७० अटहपक, वेपाप,
गुहवी, निम्ब, पर्णद,
किराततिह के गुण २८८

२७१ वरण और प्रयुक्षशाक
के गुण २८८

२७२ कालशाक और कुमुख-
शाक के गुण २८८

२७३ नलिका और चाँदी
के गुण २८८

२७४ सोणिकादि शाक २८८

२७५ इनके सामान्यगुण २८८

२७६ उन्नतिलिंग, कुराएंदशा
राजत्वक और
शादीशाक के गुण २८८

२७७ हरिमन्य और कलाय-
शाक के गुण २८८

२७८ पूर्णिकरम के गुण २८८

२७९-२८० ताम्बूल पत्र के गुण २८०
पुष्पदर्गी—
२८१ कोविदारादि पुष्पशाक २८०

२८२ अगस्त्य पुष्प के गुण २८०

२८३ करोरादि पुष्पों के गुण २८०

२८४ रक्तझूळ, निम्ब, मुखक,
अंडे, असन और
कुद्रुक के पुष्पों के
गुण २८०

२८५ पथ्यपुष्पादि के गुण २८०

२८६ सिन्दुकार, मालती,
महिला पुष्पों के
गुण २८०

२८७ वडुल, पाटल, नाग-
केशर और कुट्टुम
के गुण २८०

२८८ चम्पक, किंजुक और
कुररेटक के गुण २८०

२८९ मधुरिषु और करीर
पुष्पों के गुण २८०

२९० चकवादि उद्दिद शाक २८०

२९१ द्विवक के गुण २८०

२९२ बेलुकरीर के गुण २८०

२९३ आधारविशेष से उद्दिदों
के गुण विशेष २८०

२९४ शुक्कशाक के विशेष
गुण २८०

२९५ घटक और सिंहडाकी
के गुण २८०

२९६ शाक सामान्य के गुण
और शाकों के पुण,
फल, नाल और
कन्द शाकों में उत्तरो-
तार गुण २८०

२६७ वर्जनीय पत्रशास्त्रादि	२६९	स्फटिकादि के गुण	२६४	३७२ सूलक यूप के गुण	२६७
२६८ विद्यार्थीदि कन्दशाक	२६९	३२१ अनुकूल द्रव्य के ज्ञान का उपाय	२६४	३७३ कुलतथ यूप के गुण	२६७
२६९ उनके सामान्य गुण	२६९	३३२-३३६ उक्त धान्यादि वर्गों में प्रधान द्रव्य	२६४	३७४ दाढ़िमालक यूप के गुण	२६७
२०० विदारीकन्द के गुण	२६९	३४१ लाजमरड के गुण	२६५	३७५ सुद्रामलक यूप के गुण	२६७
-३०२ शतावरी के गुण	२६९	३४२ पेगा के गुण	२६५	३७६ यव, कौला, कुलतथ- यूप और सर्वधान्य कृत यूप के गुण	२६७
३०३ विस के गुण	२६९	३४३-३४४ शाकादि संयोग से विलेपी के गुण	२६५	३७६-३७७ खड़, काम्बलिक, दाढ़ि- माल, दध्यमल,	
३०४ श्वासाटक रहस्यक, पिण्डालु और चुरेन्द्र कन्दों के गुण	२६२	३४५ मरडादि के लक्षण	२६५	तकाम्ल यूप के गुण	२६७
३०५ चंशाद्वजरी के गुण	२६२	३४६ पायस और कृसरा के गुण	२६५	३७८ खड़, यवागू, पाड़व और पानक	२६७
३०६ स्थूल सरण और माणकादि कन्दों के गुण	२६२	३४७ ओदन के गुण	२६५	३७९ कृत और अकृत यूप की परिभाषा	२६७
३०७ माणक और सरण कन्दों के विशेष गुण	२६२	३४८ भृष्टतरडुलकृत ओदन के गुण	२६५	३८० संस्कृत और असंस्कृत यूप मांसादि के गुण	२६७
-३०८ कुमुद, उत्पल, पद्म और वराह कन्दों के गुण	२६२	३४९ खेद, मांस, कंदादि योग से सिद्ध ओदन के गुण	२६५	३८१ काम्बलिक यूप लक्षण	२६८
०-३१२ ताल, नारिकेल, खर्जूर आदि मस्तक मज्जा के गुण	२६२	३५० सूप और शाकों के संस्कार विशेष से गुण विशेष	२६५	३८२ शुष्क शाक विशेष, कृतान्न तथा बटकों के गुण	२६८
३१३ वर्ज्य कन्द लवण्यवर्गी—	२६२	३५१ मांस के गुण	२६६	३८३ राग-घाड़व गुण	२६८
३१४ सैन्धव	२६२	३५२ सिद्ध मांस के गुण	२६६	३८४ रसाला, एवं गुडयुक्त दधि के गुण	२६८
३१५ सामुद्र	२६२	३५३ प्रदिवध मांस के गुण	२६६	३८५ मन्थ के लक्षण तथा गुण	२६८
३१६ खिड	२६२	३५४ परिशुष्क मांस के गुण	२६६	३८६-३८७ द्रव्यान्तर संयुक्त मन्थ के गुण	२६८
३१७ सौवर्चद्दि	२६२	३५५-३५६ अंगारपक मांस के गुण	२६६	३८८-३९१ पानक के गुण	२६८
३१८ न्योमक	२६३	३५७ शूल्यमांस के गुण	२६६	भद्रवर्गी—	
३१९ औद्धिद	२६३	३५८ तैत्तिष्ठतसाधित मांस के गुण	२६६	३९२ भद्र भिन्देश	२६८
३२० गुटिका लवण के गुण	२६३	३५९-३६१ मांस रस के गुण	२६६	३९३ चीर कृत भद्रयों के गुण	२६८
३२१ ऊपर, वालुकैल, शैल मूलाकरोद्भूत लवणों के गुण	२६३	३६२ सौवर्चद्दि के गुण	२६६	३९४ घृतपूर के गुण	२६८
३२२ चार और उनके सामान्य गुण	२६३	३६३ उद्धृतरस मांस के गुण	२६६	३९५ गुडकृत भद्रयों के गुण	२६८
२३-३२५ यवज्ञार-स्वर्जिका, ऊप- चार और टक्कणादि के गुण	२६४	३६४ खानिष्क के गुण	२६६	३९६ मधुमत्तक, संयाव, अपूर और मोदकों के गुण	२६८
३२६-३३० सुवर्ण, रौप्य, ताम्र, त्रिपु, सीसक, मुला, विद्वम, वज्र, वैद्यनी,		३६५-३६६ वेसवार के गुण	२६७	३६७ सटक के गुण	२६८
		, ३६७ मुह यूप के गुण	२६७	३६८ विष्णुन्दन के गुण	२६८
		, ३६८ रागवाड़व के गुण	२६७	३६९ साभिता कृत फेन-	
		, ३६९ मस्रादिवधक यूपगुण	२६७	कादिकों के गुण	२६९
		, ३७० पश्चक यूप में गृदीकादि योग से गुण विशेष	२६७		
		३७१ पटोल निम्ब यूप के गुण	२६७		

४०० मुद्रादि वैसवार गमे	४३३ मेदन्द्र जल के अनुपाने
भव्य के गुण २६६	की प्रतासा ३०१
४०१ वाला, शशुली के	४३४-४३५ अनुपान सामान्य के
गुण २६६	गुण ३०२
४०२ ऐटिक भव्य के गुण २६६	४३६ भोजन के आदि, मध्य
४०३ मुद्रादि वैदलकृत भव्य	एव अन्न में उपयुक्त
के गुण २६६	अनुपान के गुण ३०३
४०४ यापहृत भव्य के गुण २६६	४३७ अनुपान न होने के दोष ३०४
४०५ कृष्णकृत भव्य के	४३८ अनुपान के अन्यथा
गुण २६६	प्राणी ३०३
४०६ अद्युरित मुद्रादि कृत	४४०-४४१ अनुपान पीने के पदार्थ
भव्य के गुण २६६	दृश्य ३०२
-४०७ घृत तैति पक्त भव्यों	४४२ गुह लापव विन्ता,
के गुण विरोप २६६	स्वामव संक्षार एवं
४०८ भव्यों के योनिविरोप	मात्रा की अपेक्षा
से गुण विरोप २६६	रसती है ३०३
४०९ क्षात्र एवं आहार	४४३ गुह लापव विन्ता-
पक्त भव्यों के गुण	योग्य पुरुष ३०३
विरोप २६६	४४४ किंव मे गुह लापव
४१० क्षात्र, भानोलुम्ब	विन्ता आवश्यक
भव्यों के गुण २६६	नहीं है ३०३
१-४१२ सकृ के गुण २६६	४४५ महानस विचार ३०२
४१३ लाजागुणा ३००	४४६ सुसरहत अच वा
४१४ लाज सकृ के गुण ३००	रक्षास्थान ३०२
४१५ पुषुक के गुण ३००	४४७ भोजन का स्थान ३०३
४१६ धान्य पिण्ड के गुण,	४४८ किस प्रकार का अशन
तथा नव और	हितकर होता है ३०३
पुराण भेद से	४४९-४५२ क्रतुभेद से भी आहार
उपराहु के गुण ३००	की विधि ३०३
४१७ उक्तगुक धान्यों का	४५४ किस प्रकार वैठ भोजन
उपसाहार ३००	हना चाहिये ३०३
अनुपानवर्ग—	४५५-४५६ समय पर मात्रापूर्वक
४१८ अनुपान विचार ३००	किये हुए भोजन का
४१९ अनुपान इव्यों का	फल ३०४
सम्पद ३००	४५७-४५८ प्रतुभेद से भोजन का
१०-४२१ अनुपानों में जल की	काल ३०४
वेष्टता ३००	४५९-४६२ अकाल भोजन के दोष ३०४
१२-४३० उप्षोदादि अनुपान	४६३ हीनमात्र और अति-
का विस्तार ३००-३०१	मात्र भोजन के दोष ३०४
१३-४३२ पूर्वोक्त रासायनिक वर्णों के	४६४ किस प्रकार का अभ
पृथक् २ अनुपान ३०१	सेवन करना चाहिये ३०४

४३३ मेदन्द्र जल के अनुपाने	सेवन करना चाहिये ३०५
की प्रतासा ३०१	४५६-४५८ भोजनदाल में गण्डव
४३४-४३५ अनुपान सामान्य के	करने के गुण ३०५
गुण ३०२	४५९ लातु अच के गुण ३०५
४३६ भोजन के आदि, मध्य	४६० लातु अच के गुण ३०५
एव अन्न में उपयुक्त	४६१ लातु अच का लदण ३०५
अनुपान के गुण ३०३	४६२ भोजन में जल धीने
४३७ अनुपान न होने के दोष ३०५	का विधान ३०५
४३८ अनुपान के अन्यथा	४६३ दातों में केंद्रे हुए अच
प्राणी ३०३	के शोधन का विधान ३०५
४४०-४४१ अनुपान पीने के पदार्थ	४६४ जीर्ण और जीर्णशत
दृश्य ३०२	में दोष विरोप का
४४२ गुह लापव विन्ता,	प्रक्रोप ३०५
स्वामव संक्षार एवं	४६५-४६६ भोजनोत्तर कुपित छेष्मा
मात्रा की अपेक्षा	का प्रतिकार ३०५
रसती है ३०३	४६७ भोजनोत्तर कर्त्तव्य ३०५
४४३ गुह लापव विन्ता-	४६८ मुशालाहिपराके लिये
योग्य पुरुष ३०३	मन प्रिय रासायनि
४४४ किंव मे गुह लापव	दिवसों का सेवन ३०५
विन्ता आवश्यक	४६९ भोजनोत्तर जुपित
नहीं है ३०३	रासायनि दिवसों का
४४५ महानस विचार ३०२	रथाग ३०५
४४६ सुसरहत अच वा	४७० भोजनोत्तर कर्त्तव्य ३०५
रक्षास्थान ३०२	४७१ अतिमात्र सेवित रसीं
४४७ भोजन का स्थान ३०३	के दोष ३०५
४४८ किस प्रकार का अशन	४७२ मन्दासि में दो वार
हितकर होता है ३०३	भोजन का नियेष ३०५
४४९-४५२ क्रतुभेद से भी आहार	४७३ मन्दासि में गुह आहार
की विधि ३०३	का नियेष ३०५
४५४ किस प्रकार वैठ भोजन	४५३ पिण्डांक का नियेष ३०५
हना चाहिये ३०३	४५४ लोकप्रेयादि चतुर्विध
४५५-४५६ समय पर मात्रापूर्वक	आहार की योत्तर
किये हुए भोजन का	गुरुता ३०५
फल ३०४	लातु-गुरु इव्यों का
४५७-४५८ प्रतुभेद से भोजन का	मात्रा विचार ३०५
काल ३०४	४५९ प्रभूत दवायुक्त गुरुक्षाल
४५९-४६२ अकाल भोजन के दोष ३०४	सेवन में दोषावाह ३०५
४६३ हीनमात्र और अति-	४६४ गुरुक्षाल सेवन में दोष ३०५
मात्र भोजन के दोष ३०४	४६५ अशविदाद के देष्ट ३०५
४६४ किस प्रकार का अभ	४६६ गुरुक्षाल के भेद ३०५
सेवन करना चाहिये ३०४	४६७ अजीर्ण के भेद ३०५
४६५-४६६ हैय अन्न का वर्णन ३०४	४६८-४०० अजीर्ण के कारण ३०५

-५०२ अजीर्णों के लक्षण ३०८	११ स्थान भेद से वायु के नाम ३१८	५६ अपतानक के असाध्य लक्षण ३२४
५०३ अजीर्ण बहुत व्याधियों का कारण है ३०८	१२ प्राण वायु के स्थान और कर्म ३१८	५७-५८ पक्षाधात के लक्षण ३२४
५०६ अजीर्ण की चिकित्सा ३०८	१३-१४ उदान वायु के स्थान और कर्म ३१८	५९-६० पक्षाधात का साध्या-साध्य विचार ३२४
५०८ समशन, विषमाशन और अध्यशन के लक्षण ३०८	१५ समान वायु के स्थान और कर्म ३१८	६१-६३ अपतन्त्रक का लक्षण ३२५
५०९ विदर्घाजीर्ण की चिकित्सा ३०८	१६-१७ व्यान वायु के स्थान और कर्म ३१८	६४ मन्यास्तम्भ लक्षण ३२६
५१० आमाशयगत अव्याधि विदाह की चिकित्सा ३०८	१८ अपान वायु के स्थान और कर्म ३१८	६५-६६ अर्दित का लक्षण ३२६
५११ रसरेशाजीर्ण की शान्ति ३०८	१९ विकृत व्यान और अपान के कर्म ३१८	७० अर्दित नायु का असाध्य लक्षण ३२६
५१२ अजीर्ण में भी दुमुक्ता विनाशकरी होती है ३०८	२०-२३ वायु की स्थान विशेष से रोगविशेषकारिता ३१८	७१ गृध्रसी लक्षण ३२६
१२-५२३ उषण आदि बीस गुणों के कर्म ३०८	२४-२८ वायु की धातु विशेष-श्रय से रोगविशेष-कारिता ३१८	७२ विश्वाची लक्षण ३२६
५२४ आहारगुणकथन ३१०-३१४	२९ सर्वाङ्गगत वायु के कार्य ३२०	७३ कोष्ठुक शीर्ष लक्षण ३२७
५२५ आहारावस्था पाक से दोषवृद्धि के लक्षण ३१४	३० दौषान्तरमिश्र वायु मिश्रित पीड़ाओं को करता है ३२०	७४ खञ्ज और पद्मु वात के लक्षण ३२७
५२६ रस से ही अन्य धातुओं की उत्पत्ति होती है ३१४	३१-३७ कफपित्ताशुद्ध वायु जनित पीड़ाएं ३२०	७५ कलाय खञ्ज का लक्षण ३२७
५२७ धातुओं से क्रमशः मलोत्पत्ति का वर्णन ३१४	३८-३६ वात रक्त प्रकोप के कारण ३२१	७६ वातकरटक लक्षण ३२७
५२८-५२९ अजीर्ण में भोजन विचार ३१४	४०-४२ वात रक्त सम्प्राप्ति ३२१	७७ पाद दाह लक्षण ३२७
५३० सूक्त के पठन का फल ३१५	४३-४४ वातादि विशेष से वात रक्त के विशिष्ट लक्षण ३२१	७८ पाद हर्ष लक्षण ३२७
सूत्रस्थान संमाप्ति	४५ वातरक्त का पूर्व हृप ३२२	७९ अंसशोष और अव-बाहुक के लक्षण ३२७
निदानस्थान	४६ हस्त पाद मात्र से शारम्भ होकर वातरक्त सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है ३२२	८० वाधिये के लक्षण ३२७
प्रथम अध्याय	४७ वातरक्त के असाध्य लक्षण ३२२	८१ कर्णशूल लक्षण ३२७
१ वात व्याधि निदान का उपक्रम ३१७	४८ आज्ञेयक के लक्षण ३२३	८२ मूलमिन्मिन शौर गद्दद के लक्षण ३२७
२-३ प्रकृति भूत एवं व्यापक वायु के स्थान, कर्म और रोगों के सम्बन्ध में प्रश्न ३१७	४९-५४ आज्ञेयक भेद-अपतानक, दरडापतानक, धूमः-स्तम्भ, अभ्यन्तरा-याम और वाया-याम के लक्षण ३२३	८३-८४ तूनी प्रतितूनी के लक्षण ३२७
४-७ वायु का स्वरूप वर्णन ३१७	= अर्श के पूर्वलूप ३२०	८५ आधान के लक्षण ३२८
८-९ शरीर में विचरण करने वाले वायु के कर्म ३१८	= अर्श के सामान्य लक्षण ३२०	८६ वाताशीला के लक्षण ३२८
१० वायु के नाम, स्थान, कर्म भेद से पांच	१० वाताशीले के लक्षण ३२०	८७ प्रत्यक्षीला के लक्षण ३२८
प्रकार	११ पितार्श के लक्षण ३२१	८८ द्वितीय अध्याय
	१२ श्लेष्माशीर्ण के लक्षण ३२१	१ अशनिदान का उपक्रम ३२८
	१३ रहजाशीर्ण के लक्षण ३२१	२ अर्श के छः प्रकार ३२८
		३ अर्श के निदान और सम्प्राप्ति ३२८
		४ गुदविलियों का वर्णन ३२८
		५ अर्श के पूर्वलूप ३२०
		६ अर्श के सामान्य लक्षण ३२०
		७० वाताशीले के लक्षण ३२०
		७१ पितार्श के लक्षण ३२१
		७२ श्लेष्माशीर्ण के लक्षण ३२१
		७३ रहजाशीर्ण के लक्षण ३२१

१५ सहजरी के लक्षण	३३१
१६ अर्णी की स्थानानुसार साध्यासाध्यता	३३२
१७-१८ मेद्यनामि और स्पानों में होने वाले अर्णी के लक्षण	३३२
१९ चम्प कील का लक्षण	३३२
२०-२१ चम्पकील में दोषों के विह	३३२
२२ मेद्य और दोषों में होने वाले अर्णी में वातादि लक्ष- णातिरेका	३३२
२३ मेद्य और दोषों के विह अर्णी का लक्षण	३३२
२४-२५ अर्णी का साध्यासाध्य विचार	३३२
२६ सर्वेवति व्याप्त अर्णी असाध्य होता है	३३२
तृतीय अध्याय	
१ अरमरी निदान का उप- कम	३३३
२ अरमरी चार प्रकार की होती है	३३३
३ अरमरी की सम्प्राप्ति	३३३
४ अरमरी का पूर्व रूप	३३४
५ अरमरी का सामान्य लक्षण	३३४
६ अरमरी का लक्षण	३३४
७ ऐमारमरी का लक्षण	३३४
८ पितारमरी का लक्षण	३३४
९ वातारमरी का लक्षण	३३५
१० शुक्रारमरी की सम्प्राप्ति निदान और लक्षण	३३५
११-१६ शक्ता और सिकता के लक्षण	३३६
१७ सूक्ष्मार्गंगत अरमरी के लक्षण	३३६
१८-२१ अरमरी का आधारभूत वस्ति के स्थान, स्थान और दूर ३३६-३३७	३३६
२४-२८ अरमरी की उत्पत्ति का वर्णन	३३८

२७-२८ वरितगत रोगों का वायु ही कारण होता है	३३८
चतुर्थ अध्याय	
१ भग्नदर निदान का उपकम	३३९
२ भग्नदर के नाम और भेद	३३९
३ भग्नदर की निष्क्रिया	३३९
४ भग्नदर के पूर्वरूप	३३९
५ शतपथोक भग्नदर के लक्षण	३३९
६ उद्धूप्रीव भग्नदर के लक्षण	३३९
७ परिद्यावी भग्नदर के लक्षण	३४०
८ राम्बूकावते भग्नदर के लक्षण	३४०
९ उन्माणी भग्नदर के लक्षण	३४०
१०-११ भग्नदरेतर एवं भग्नदर- पिदाका का भेद	३४०
१२ भग्नदर का पूर्वरूप	३४०
१३ असाध्य भग्नदर	३४०
पञ्चम अध्याय	
१ कुष्ठनिदान का उपकम	३४१
२ कुष्ठ सम्प्राप्ति	३४१
३ कुष्ठ पूर्वरूप	३४२
४ अटादारा कुष्ठ	३४२
५ सप्त महाकुष्ठ तथा एकादशा कुष्ठकुष्ठों के नाम	३४२
६ दोषमेद में कुष्ठ विशेष की उत्पत्ति	३४२
७-८ सप्त महाकुष्ठों (अहण, लद्धुम्बर, प्रध्यनिज़, कवाल, काकणुर, पुरुडीक और ददु) के लक्षण ३४३-३४३	३४३
९ शूलाहाक और महाकुष्ठ के लक्षण	३४३
१० एकुष्ठ और चर्मदल कुष्ठ के लक्षण	३४३
११ विसर्ज कुष्ठ के लक्षण	३४३
षष्ठ अध्याय	
१ प्रमेदनिदान का उपकम	३४४
२ प्रमेद के देव	३४४
३ प्रमेद की सम्प्राप्ति	३४४
४ प्रमेद के पूर्वरूप	३४४
५ प्रमेद के सामान्य लक्षण	३४४
६ प्रमेदपिदाका एवं प्रियोगन होती है	३४४
७ वफ प्रमेद	३४४
८ पित प्रमेद	३४४
९ वात प्रमेद	३४४
१० सर्व प्रमेद संबंध होते हैं	३४४
११ कफन दासों के कमरा लक्षण	३४४
१२ पिताप्रमेदों के लक्षण	३४०
१३ वातज प्रमेदों के लक्षण	३४०

१ प्रतिक्षेप प्रमेहों के उपद्रव	३५२
२ प्रमेह पिडकाओं की सम्प्राप्ति	३५३
१ प्रमेह पिडकाओं के लक्षण	३५३
२ पिडकाओं के असाध्य	लक्षण ३५३
३ चातज प्रेमहों की असाध्यता के कारण	३५३
४ प्रमेह रोगी के सामान्य	लक्षण ३५४
५ मधुमेही का लक्षण	३५४
६ तीन दोषों का वीस प्रमेहों के उत्पादक होने में दृष्टांत प्रदर्शन	३५४
७ प्रमेह उपेक्षा करने से असाध्य होते हैं	३५५

सप्तम अध्याय

-८ उद्दरनिदान का उपक्रम	३५४
१ उद्दर रोगों की संख्या	३५५
२ उद्दर रोगों के हेतु	३५५
३ उद्दर सम्प्राप्ति	३५५
४ उद्दर के पूर्वल्प	३५६
५ वातोदर के लक्षण	३५६
६ पित्तोदर के लक्षण	३५६
७ कफोदर के लक्षण	३५६
-१२ सन्धिपातोदर के लक्षण	३५६
-१४ झींहोदर के लक्षण	३५७
१५ यक्षादालयुदर के लक्षण	३५७
-१७ बद्धगुदोदर के लक्षण	३५८
-१८ परिस्थावी उदरके लक्षण	३५८
-२१ जलोदर के लक्षण	३५९
२२ अष्टविधि उदर रोगों के सामान्य लक्षण	३६०
२३ उदर रोगों का साध्यात्मक	
४ साध्य विचार	३६०

अष्टम अध्याय

१ मूढगर्भ निदान का उपक्रम	३६०
२ मूढगर्भ के हेतु	३६०
३ मूढगर्भ के लक्षण	३६१
४ मूढगर्भ के चार भेद	३६१
५-६ मूढगर्भ के अन्य भेद	३६२

७ असाध्य मूढगर्भ के लक्षण	३६२
८-९ स्वाभाविक प्रजनन के लक्षण	३६३-३६५
१० गर्भ विच्छुति में दृष्टांत प्रदर्शन	३६५
११ गर्भ का चतुर्थ मास तक श्वाव और प्रव्रम पष्ठ मास में पात	३६५
१२ मूढगर्भ के असाध्य लक्षण	३६५
१३ अन्तर्भूत गर्भ के लक्षण	३६५
१४ गर्भस्थुति के कारण	३६५
१५ माता के भरने पर भी जीवित गर्भ का निकालना	३६६-३६७
१६ नवम अध्याय	
१७-१८ विद्रधि निदान का उपक्रम	३६७
३-५ विद्रधि रोग की सम्प्राप्ति	३६७
६ वात विद्रधि के लक्षण	३६७
७ पित्त विद्रधि के लक्षण	३६७
८ लेघ्म विद्रधि के लक्षण	३६७
९ विद्रधिश्वाव के लक्षण	३६८
१० सञ्जिपातिक विद्रधि के लक्षण	३६८
११-१२ आगन्तु विद्रधि की संप्राप्ति	३६८
१३ रक्त विद्रधि के लक्षण	३६८
१४ सञ्जिपातज विद्रधि असाध्य होती है	३६८
१४-१६ आभ्यन्तर विद्रधि के हेतु और सम्प्राप्ति	३६८
१७ अन्तर्विद्रधि के स्थान	३६८
१८ अन्तर्विद्रधि के लक्षण	३६८
१९-२२ वात्य और आभ्यन्तर विद्रधियों के अधिष्ठान भेद से लक्षण	३६८
२३ मर्मोत्त्य विद्रधियों सर्वावस्था में कष्टप्रद होती हैं	३६९
२४-२५ विद्रधियों की अवस्था भेद से साध्यासाध्यता	३६९
२६-२७ रक्तविद्रधि के	३६९

२८-३३ विद्रधि और गुलम में भेद	३७०
३४-३८ अस्थिगत विद्रधि के लक्षण	३७१
३९ दशम अध्याय	
१ विसर्प, नारी, स्तन रोग निदान का उपक्रम	३७१
२ विसर्पों की सम्प्राप्ति, निदान, लक्षण और निरुक्ति	३७१
३ वातिक विसर्प के लक्षण	३७२
४ पैत्तिक विसर्प के लक्षण	३७२
५ श्लैषिक विसर्प के लक्षण	३७२
६ साञ्जिपातिक विसर्प के लक्षण	३७२
७ विसर्पों का साध्यासाध्य विचार	३७३
८-९ नाडीवण के निदान, सम्प्राप्ति तथा निरुक्ति	
१० नाडी रोग की संख्या	३७३
११ वातिक एवं पैत्तिक नाडी रोग के लक्षण	३७३
१२ कफज एवं द्वन्द्वज नाडी रोग के लक्षण	३७४
१३ शल्यनिमित्तज नाडी के लक्षण	३७४
१४ स्तन रोग संख्या	३७४
१५ असंभूतगर्भी खियों को स्तन रोग नहीं होते	३७४
१६ प्रजात एवं गर्भवतियों को ही स्तन रोग होते हैं	३७४
१७ स्तन्य के लक्षण	३७४
१८-१९ शुक्रप्रशस्ति के समान ही त्रियों में स्तन्यप्रवृत्ति होती है	३७५
२२-२३ वातादि दुष्ट स्तन्य के लक्षण	३७५
२४ निर्देश स्तन्य के लक्षण	३७५
२५ स्तन रोग की सम्प्राप्ति	३७६

२६ संदेश से स्तन रोग के सङ्क्षण का आविदेश ३७१	३ शुद्धि के सात भेद ३८२	१८ विष्प का संक्षण ३८८
एकादश अध्याय	४ शूद्धिरोग की सम्प्राप्ति ३८३	१९ कुनैश का संक्षण ३८९
१ मंथि, अपची अर्द्ध, तथा गलगाह एवं निदान का उपकरण ३८५	५ शूद्धिरोग के पूर्वस्थ ३८३	२० अनुसायी का संक्षण ३९०
२ मंथि का निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण ३८६	६ वाटज, वित्तज, कफज इदि के संक्षण ३८३	२१ विशारिका का संक्षण ३९१
३ वातान्म मंथि के संक्षण ३८७	७ मूव्रहृष्टि के संक्षण ३८३	२२-२४ शर्करारुद का संक्षण ३९१
४ वित्तज मंथि के लक्षण ३८७	८ अन्व्रहृष्टि लक्षण ३८३-३८४	२५ पामा, विचची, रक्षा के संक्षण ३९१
५ कफज मंथि के लक्षण ३८७	९ उपर्देशरोग के निदान और सम्प्राप्ति ३८४	२६ पाददारी के संक्षण ३९१
६ मेदोज मंथि के लक्षण ३८७	१० उपददा के भेद ३८५	२७-२८ कदर का संक्षण ३९१
७-८ उपर्देशरोग की सम्प्राप्ति और साध्यासाध्य संक्षण ३८७	११ वातादि प्रयोक उपददा के लक्षण ३८५-३८८	२९ अलत का संक्षण ३९१
९-११ अपची रोग के निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण और नियक्ति ३८७	१२ शीपद निदान संप्राप्ति ३८८	३०-३१ इन्द्रिय का संक्षण ३९१
१२ अर्द्ध रोग के निदान और सम्प्राप्ति ३८८	१३ वातादि भेदसे शीपद के लक्षण ३८८	३२ दाशक का संक्षण ३९१
१३ वातादि दोषज अर्द्ध के मंथि के समान संक्षण होते हैं ३८८	१४ शीपद के असाध्य संक्षण ३८८	३३ अर्होपिका का संक्षण ३९१
१४-१५ रक्तरुद के संक्षण ३८८	१५ शीपदों में कफजपित्र निष्पत्ति ३८९	३४ मसूरिका वा लक्षण ३९१
१६ मांसरुद के संक्षण ३८८	१६ शीपद के असाध्य संक्षण ३८९	३५ पद्मनीकरणका संक्षण ३९१
१७-१८ अर्द्ध रुद के संक्षण संषय ३८८	१७ शीपद के इत्यान अधिकतया होता है ३९०	३६ अतुमणि का संक्षण ३९१
१९ अर्द्धरुद के पाकाभाव में संषय ३८८	१८ शीपद के इत्यान प्रयोदश अध्याय ३९०	३७ ग्रयक का संक्षण ३९१
२० गलगाह का निदान सम्प्राप्ति ३८९	१ शुद्धोग के निदान का उपकरण ३९०	३८-३९ परिवर्तिता का संक्षण ३९१
२१-२३ गलगाह के संक्षण ३९१	२ वित्तज का संक्षण ३९०	४०-४८ अद्याटिका का संक्षण ३९१
२४ कफज गलगाह के संक्षण ३९१	३ अन्व्रालंबी का संक्षण ३९१	४९-५१ निदृष्टप्रकाश का संक्षण ३९१
२५ मेदोज गलगाह के संक्षण ३९१	४ विहृता का संक्षण ३९१	५२-५३ सनिदृष्ट गुद का संक्षण ३९१
२६ गलगाह के अग्राय संक्षण ३९१	५ वर्षवर्षी का संक्षण ३९१	५४-५५ अधिपूतन का संक्षण ३९१
२७ गलगाह का संक्षण ३९१	६-८ वृद्धीक का संक्षण ३९१	५६-५७ इष्टदृष्ट्युका संक्षण ३९१
२८ गलगाह का संक्षण ३९१	९ इन्द्रिया का संक्षण ३९१	५८ गुरुद्रेश का संक्षण ३९१
२९ गलगाह के अग्राय संक्षण ३९१	१० विनियोग का संक्षण ३९१	४८-४९ अग्रुद्य अध्याय
३० गलगाह का संक्षण ३९१	११ वर्णनिया का संक्षण ३९१	१ शूद्धोग निदान का उपकरण ४०
३१ गलगाह का संक्षण ३९१	१२ वचाणार्दन का संक्षण ३९१	२ इट्टदेवतन्य गोवी की गामाग्र उपर्याप्ति ४०
३२ गलगाह का संक्षण ३९१	१३ वचाणार्दन का संक्षण ३९१	३ वर्षप्रिवा का संक्षण ४०
३३ गलगाह का संक्षण ३९१	१४ वचा का संक्षण ३९१	४ अर्होपिका का संक्षण ४०
३४ गलगाह का संक्षण ३९१	१५ विहृतोदय का संक्षण ३९१	५ वर्षित और कुमिता के संक्षण ४०
३५ गलगाह का संक्षण ३९१	१६ विष्पेशी का संक्षण ३९१	६ अहवी और शूद्धि के संक्षण ४०
३६ गलगाह का संक्षण ३९१	१७ विष्पेशी का संक्षण ३९१	

INDEX

OF

English words used in the book

A				
bones	163,319	Allergy	391	Auroscope
" enlargement of	354	Allyl sulphide	287	Auscultation
ocean	107,367	Alopecia	394	Auricule
" alveolar	405	" universalis	394	Auto-intoxication
" appendicular	369	Alterative	287,294	Awl
" brain	369	Alveolar abscess	405	Azospomia
" ischio-rectal	381,369	Amnærosis	69	
" liver	369	Amblyopia	85	B
" lumbar	369	Amphoteric reaction	252	Bacillus Botulinus
" lung	369	Amputation	115	" of cholera
" mammary	374	Amylase	318	" coli
" perirectal	369	Anæsthesia	320	Diphtheriae
" peri-nephritic	369	Anæsthetic, general	22,110	Enteritidis
" peri-tonsilar	369	Anabolism	82,310	" of leprosy
" prostatic	869	Anarobes	157	Pyocyaneus
" psoriasis	369	Anal canal	329	Typhosus
" sublingual	408	" fissuro	331	Tuberculosis
" subphrenic	369	" fistula	331	Tetani
portion	365	Anæmia, pernicious	357	" Welchii
ctonuria	350	" splenic	357	Acne
tidosis	259,291	Aneurism	377,404	Bacteria
ids	219	Anginal attacks	319	" saprophytic
" Fatty	258,812	Angioma, capillary	398	Bacteriophage
" homogentisic	349	Angioneurotic oedema	391	Bacillary dysentery
" hydrochloric	313	Anodyne	24,110	Bandage
" vegetable	281	Anorexia	58	22,42,44,113
" uric	64,274,321	Anthelmintic	284,288	armsling
ection of drugs, pharmacolo-		Anthrax	278	cephaline
gical	219	Antimony sulphide	212	fourtailed
" local, direct	219	" compounds	225	for eye
" primary	219	Antiphlogistic	75	manytailed
" systemic,		Antiseptic	284	Sheath
" secondary	220	Anti-thrombin	89	" Sling
" empirical	225	Anti-toxic	250	Spiral
" rational	225	Anti-tragus	101	Spica or cross
lene vulgaris	397	Anus	329	Stump
Actinomycosis	391	Aorta	76	T
Actinomycosis	278,391	Apoplexy	183	Barley, Patient
Adenoides	410	Appendicitis	368	Beet-root
Adenoma	392	Artery	99	Beri-Beri
" of palate	409	Arterioles	81	Beverages
After-pains	369	Arteriosclerosis	82,322	Bilirubin
Albumin	95	Artery-forceps	86	Biliverdin
Albuminuria	348,350	Ascites	87	Bilharzia
Alcohol	262	Asphyxiation	36,359	Biochemical process
Alibert's keloid	377	Astringents	69,169	Biochemistry
Alimentary glycosuria	350,351	Asthenia	219,231,282	Biology
Alkali	57	Asynditism, posterior	320	Biot's respiration
Alkaline urine	351	Atavism	362	Bistoury
Alkaptonuria	349	Atheroma	150	Bitters
		Atropine	325	Blastomycosis
			148	Black water fever

२६ संदेश से स्तन रोग के लक्षण का अविदेश ३७६	२ वृद्धि के सात भेद ३८३	१८ विष्णु का लक्षण १६
पकादश अध्याय	३ गृहिरोग की सम्प्राप्ति ३८३	१९ बुनुश का लक्षण १६
१ प्रथि, अच्ची अरुंद, तथा गलगण निदान का	४ वृद्धिरोग के पूर्वस्थ ३८३	२० अनुशासी का लक्षण १६
उपकम ३७६	५ वातज, पितज, वयज वृद्धि के लक्षण ३८३	२१ विदारिका का लक्षण १६
२ प्रथि का निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण ३७६	६ रक्तज, भेदोज वृद्धि के लक्षण ३८३	२२-२४ शर्करारुंद का लक्षण १६
३ वातज प्रथि के लक्षण ३७६	७ मूत्रवृद्धि के लक्षण ३८३	२५ पामा, विच्ची, रक्ता के लक्षण ३८३
४ पितज प्रथि के लक्षण ३७६	८ अन्तर्नश्वदि लक्षण ३८३-३८५	२६ पादादारी के लक्षण ३८३
५ कफज प्रथि के लक्षण ३७६	९ उपदंशरोग के निदान और सम्प्राप्ति ३८५	२७-२८ कदर का लक्षण ३८३
६ भेदोज प्रथि के लक्षण ३७६	१० उपदंश के भेद ३८५	२९ अलोस का लक्षण ३८३
७-८ सिराज प्रथि की सम्प्राप्ति और साध्यासाध्य लक्षण ३७६	११ वातादि प्रत्येक उपदंश के लक्षण ३८६-३८८	३०-३१ इन्द्रलुम का लक्षण ३८३
९-११ अपनी रोग के निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण और निवाहि ३७७	१२ श्रीपद निदान संप्राप्ति ३८८	३२ दाक्षणक का लक्षण ३८३
१२ अरुंद रोग के निदान और सम्प्राप्ति ३७८	१३ वातादि भेद से श्रीपद के लक्षण ३८८	३३ अर्धेष्ठका का लक्षण ३८३
१३ वातादि दोषज अरुंद के प्रथि के समान लक्षण होते हैं ३८८	१४ श्रीपद के अमाच्य लक्षण ३८८	३४ पलित का लक्षण ३८३
४-१५ रक्तारुंद के लक्षण ३८८	१५ श्रीपदों में काषाधिक्य निष्पत्ति ३८९	३५ यसूरिका का लक्षण ३८५-३८६
१६ मोसारुंद के लक्षण ३८८	१६ किन दोशों में श्रीपद अधिकतया होता है ३८९	३६ सुखदूषिका का लक्षण ३८५
५-१८ अरुंद के अमाच्य लक्षण ३८८	१७ श्रीपद के स्थान ३८९	३७ पद्मानीकटक का लक्षण ३८५
१९ अरुंद के पाकामाव में कारण ३८८	१८ योदश अध्याय	३८ जटुमणि का लक्षण ३८५
२० गलगण का निदान सम्प्राप्ति ३८९	१ चुद्रोग के निदान का उपकम ३९०	३९ सप्तक का लक्षण ३८५
११-२२ गलगण के लक्षण ३९१	२ चौबालीस चुद्रोगों के नाम ३९०	४० तिलकालक के लक्षण ३८५
२३ कफज गलगण के लक्षण ३९१	३ अग्नगोल्मिका का लक्षण ३९०	४१ न्यच्छु का लक्षण ३८५
२४ भेदोज गलगण के लक्षण ३९१	४ वयप्रस्था का लक्षण ३९१	४२ चर्मदीली का लक्षण ३८५
२५ गलगण के अमाच्य लक्षण ३९१	५ अन्यालीका का लक्षण ३९१	४३-४४ अव्याह का लक्षण ३८५
२६ गलगण का स्थान कठन ३९३	६ विहता का लक्षण ३९१	४५-४६ परिकर्तिका का लक्षण ३८५
ग्राम्य अध्याय	७ कर्कटी का लक्षण ३९१	४७-४८ अवपाटिका का लक्षण ३८५
१ वृद्धि उपरंतु, श्रीपद के निदान का उपकम ३९३	८-९ वरमीका का लक्षण ३९१	४९-५१ निहृप्रकशा का लक्षण ३८५
	१० इन्द्रूदा का लक्षण ३९२	५२-५३ सनिदृष्ट गुद का लक्षण ३८५
	११ पनसिका का लक्षण ३९२	५४-५५ अहिपूतन का लक्षण ३८५
	१२ पालायगर्दम का लक्षण ३९२	५६-५७ इयणकच्छु का लक्षण ३८५
	१३ यालगर्दम का लक्षण ३९२	५८ गुद्रंगा का लक्षण ३८५
	१४ कदा का लक्षण ३९२	५९ चतुर्दश अध्याय
	१५ विक्षेप विदान का उपकम ४००	
	१६ शूक्रोपजन्य दोशों की गामान्य सम्प्राप्ति ४००	
	१७ सर्वेषिका का लक्षण ४००	
	१८ अर्धेष्ठिका का लक्षण ४००	
	१९ मीथि और कुमिता के लक्षण ४००	
	२० अलंगी और मृदित के लक्षण ४००	

isease	Sporadic	152	Eustachian tube	166	Fumigation	25,40,123
"	Sex-limited	150	Excision	21	Fungus	343
"	Veneral	386	Expectorant	287		
"	Primary	197	Exploration	21,44		
"	Secondary	197	Extraction	21,44,48		
"	Deficiency	313	Extension	44	Gangrene, inflammatory	70
isinfectant		40	Exostosis	154	Gastric glands	63
istichiasis		38,66			Gastric juice	132
istillation		245			Gastro-tympanitis	328
islocation		401			Gauze	24
issecting knife		46			General paralysis of the insane	387
luretic		260			Geographical distribution	390
ouche vaginal		39			Germinating (grain)	271
rainage		21			Gingivitis	406
tube		24			Gland, Lymphatic	378
Drilling		22			Gland, Suppurative	406
Ductless glands		306			Gland, Sweat	91,377
Duodenum		132,166			Pituitary	350,352
Dummy		52,114			Sebaceous	91,377,397
Dyschezia		358			Suprarenal	352
Dysentery, Bacillary		128			Thyroid	352
Dysuria		338			Tyson's	399
					Glucose	132,258,351
					Glycogen	95,351
					Glycosuria	350
					" alimentary	350,351
					" Renal	350,351
					Glossitis	408
					Goitre simple	244,380
					" Exophthalmic	382
					Gonococcus	109,387
					Gonorrhoea	387
					Gout	139,272,274,320,322
					Granulations	38,107,147
					Granuloma	332
					" genito-inguinal	388
					Gravel, passing of	350
					Gravitation, force of	364
					Green-stick fracture	403,404
					Gum-boil	406
					Gums, spongy	406
					Gumma	386
						H
					Haemoglobin	77,312
					Haemophilia	88,149
					Haematics, Haematrics	87
					Haematocele	382
					Haemorrhoids	328
					Haemoglobinuria	351
					Haematuria	351
					Halibut liver oil	258,278
					Hanging	170
					Hard chancre	386
					Hare lip	405
					Hay fever	32,150
					Heredity	20
					Heat stroke	70
					" apoplexy	70
					Helio-therapy	120
					Hereditary	
						148,153

Bleeding, distended	355	Cautery Actual	65	Curette sharp	45
Blood Alkalinity	281 291	" Galvano	65	Nasal	41
circulation	81,314 319	" Thermo	65	Cuttle fish bone	51
Pressure	163	Cautery knife	23	Cuticle	68
" high	150	Cell (Body)	79 80 141,107	Cutis vera	68
Bleeding time	83	Cellulitis submaxillary	408	pupillary layer of	395
Bones long and flat	404	Cellulose	272 291	Culex Fatigans	389
fibrous or vicious		Cereals	268 271	Cyanosis	182
union of	377	Cerebral anaemia	84 182	Cyst	376
Bonesau	46	Cerebro spinal fever	37,128,183	" mucous	405
Borax	294	Cephal haemostoma	150	" ovarian	389
Botany	20	Chemistry	20	" sebaceous	377 393
Bougie	39	Chest Alar	193	Cystic kidney	350
urethral	42	" Flat	193	Cystitis	335 369
Borborygmus	93,138,199 319	" Rickety	193	Cystoscope	36 38
Brachial plexus	326	Barrelshaped	193	D	
Breast pump	38	" Pigeon	193		
Breathing stertorous	70	Channel irrigation	268		
Periodic	183	Cheyne stoke's respiration	183	Decapitating knife	45
" Cheyne stoke's	183	Chyle	80 350	Decoction	242
" Biots	183	Cisterna chyl	76 369	Deformity	402
Bronchi	360	Cicatrix	141	Delirium tremens	403
Brain-centres	69 70,325,364 324	Chilblain	344 394	Deficiency diseases	313
Bubonocle	42 383	Choluria	350	Dental caries	407
Bulimia	199	Chancre, hard	386	Dentistry	4
Bullous eruptions	393	soft	385	Depression	44
Burn	67	Chordae	387	Dermatosis	341
		Chicken pox	396	Dermatitis, solar	120
		Chromo therapy	120	Doxtran	270
		Clavicle	4	Diabetes insipidus	350
		Climatic treatment	203	mellitus	351
Caesarean section	366	bubo	388	Diabetic coma	56
Cancer	380	Corundum	51	Diastase	270
Cane Sugar	261	Converging lens	51	Diagnosis	197
Cannula	39	Corrosive	62	Diathesis	149
Calculus vesical	333	Contagious	252	Dialysis	81
" Phosphatic	334	Conch shell	62	Diabetics	20
" oxalate of lime	335	Convulsion	85 320 323	Dietetic treatment	9
" mulberry	335	Cornea	133 194	Diffusion	81
" Spermatic	335	Congenital	150 153 331	Digestive juices	132
" Uric acid	335	Cosanguinous	149	Dilatation	44
Cancrum oris	406	Coecum	168	Dilator prepuce	36
Canthus	75	Colour	181	Rectal	36 39
Capillary	81 319	Completeness	181	urethral	36 39
Capsule	376	Complication	187	uterine	36 39
Carbohydrate	76 132 268 311	Cowling's rule	201	Diphtheria	32,128 326 410
	312 351	Copper sulphate	212	Diplegia	325 327
	metabolism of	Composition of drugs	219	Director	39 44
Carboluria	319	quarantine	225	Fistula	39
Cardiac tonic	294	qualitative	225	Hernia	36 39 43
Carbuncle	353	Collapse	259	Lithotomy	36 39
Carmminative	230 293	Cod fish	278	Probe	36 39
Cartilage	64 404	Cod liver oil	278 233 258	Disease causes of	151,152 153
Catalism	82 310	Cooker	290	congenital	150
Cataract needle	48	Cocco intestinal	319 328	contagious	153
Catarrhal conditions	249	renal	328 336	Acquired	153
Catalytic	312	Contracted pelvis	361,366	Developmental	150
Cat gut	42 86 153	Corn	324	chronic	153
Catheter	36	Crochet	42	Epidemic	32 152
Castile	57	Crushing	41	Natal	150
lance	58	Crepitus	402	Hereditary	148
Cautery	41 65	Cupping glasses	40	Pandemic	32 152
" potential	62			parturial	150

isease Sporadic	152	Eustachian tube	166	Fumigation	25,40,123
" Sex-limited	150	Excision	21	Fungus	343
" Venereal	386	Expectorant	287		
" Primary	197	Exploration	21,44		
" Secondary	197	Extraction	21,44,48		
" Deficiency	313	Extension	44	Gangrene, inflamatory	70
isinfectant	40	Exostosis	154	Gastric glands	63
istichiasis	38,66			Gastric juice	132
istillation	245			Gastro-tympanitis	328
islocation	401			Gauze	24
issecting knife	46	F		General paralysis of the	
luretic	260	Facial paralysis	326	insane	387
ouche vaginal	39	Fainting	182	Geographical distribution	390
rainage	21	Fallopian tubes	89	Germinating (grain)	271
tube	24	Fats	76,132,258,311,312	Gingivitis	406
Drilling	22	Fatty acids	258,312	suppurative	406
Ductless glands	306	Fascia	110	Gland, Lymphatic	378
Duodenum	132,166	Femoral canal	984	Sweat	91,377
Dummy	52,114	Hernia	384	Pituitary	350,352
Dyschezia	358	Ferments	252	Sebaceous	91,377,397
Dysentery, Bacillary	128	Diastatic	259	Suprarenal	352
Dysuria	398	Fermentation	136,252,268	Thyroid	352
		Ferrus sulphate	213	Tyson's	399
E		Fibrin, Fibrinogen	83	Glucose	132,258,351
Ear scoop	42	Fibroma	392	Glycogen	95,351
Ecbolics	361	Filaria Sanguiris Hominis	388	Glycosuria	350
Eclampsia	324,363,366	Filtrate	60	alimentary	350,351
Ezema	150,322,344	Filtration	245	Renal	350,351
of face and scalp	394	Finger-guard	40	Glossitis	408
of the scrotum	399	stall	40	Goitre simple	244,380
Edge (of an ulcer)	147	knife	46	Exophthalmic	382
elevated	146	Fistula	373	Gonococcus	109,387
undermined	146	Anal	339	Gonorrhoea	387
Electro-magnet	44	acquired, congenital	373	Gout	139,272,274,320,322
Elephantiasis	139,388	Horse-shoe	339	Granulations	38,107,147
of the scrotum	46,383	Multiple	339	Granuloma	332
Elevation	44	Recto-vesical	373	genito-inguinal	388
Embolism	323,325	Vesico-vaginal	373	Gravel, passing of	350
Empirical	225	Flax	113	Gravitation, force of	364
Emprosthotonus	323	Fluctuation test	108,359	Green-stick fracture	403,404
Empyema	369	Fœtus, malpresentation of	360	Gum-boil	406
Endocarditis	373	Forceps, Fergusson's	37	Gums, spongy	406
Endocerene glands	306	Farabeuf's	37	Gumma	386
Endometritis. Putrid	370	Aural	37		
Endothelioma	392	Dental	37	H	
Endogenous poisons	152	Bone	37	Haemoglobin	77,312
Enema	39	Lion	37	Haemophilia	83,149
Enterospasm	358	Mouse teeth	37	Haematics, Haematirics	87
Enzymes	311,313	crocodile	37	Haematocele	382
Intracellular	311,314	Bulldog	37	Haemorrhoids	328
Digestive	313	Dressing	38	Haemoglobinuria	351
Epidemic	32	Epilation	38	Haematuria	351
Epiglottitis	411	Forci-pressure	86	Halibut liver oil	258,278
Epithelioma	380	Foreign body	161	Hanging	170
of the lip	405	Foot, arch of	193	Hard chancre	386
Erysipelas	371	Fractures	401	Hare lip	405
migrans	371	dislocation	402	Hay fever	32,150
Traumatic	372	open and closed	402	Heredity	20
cellulo cutaneous	372	complete, Incom-	402,403	Heat stroke	70
Idiopathic	371	plete	403	" apoplexy	70
Eustachian catheter	166	varieties of	403	Helio-therapy	
		Fragility	320	Heterid.	
		Fragilitas ossium	150,401		
		Frost-bite	70		

INDEX

Heart burn	231	Instrument case	50	Limestone	62
Herpes zoster	239,326,393	Insufflation	44	Japase	313 314
" labialis	405	Insulin	352	Lapuria	351
Hernia	383	Intercostal nerves	393	Lepoma	390
" Inguinal	383	" spaces	166	Liquor Soda	63
" omental	384	Internal secretion	82	" Potash	63
" Femoral	384	" of the		" Ammonia	63
" strangulated	148	testes	91,95	Lant	21
Hemiplegia	325,410	" of the ovary	95	Lachen Tropicus	
Hirudu	71	Interrogation, General,		Lap, Epitheboma of	405
Hirudin	74	Special	55	" cracked or chapped	405
Hodgkin's disease	357	Intestine, small and large	130	Lithium Salts	64
Holder, Tongue	38	Intestinal obstruction	358	Lethontriptic	336
" caustic	36	Iodine	247,391	Lithotomy scoop	42
" needle	36	Iris	194	" straps	43
Hock	41,47	Iron perchloride	75	Lithotripsy	44
" Blunt	42	Irrigator	39	Lithurus	330
Homoio thermic	28	Ischium	145	Liver, carbosis of	357
Hook worm disease	246,341	Ialets of Langerhans	352	Lexivation	63
Houston's valves	329	J		Lead stone	43 165
Huntington's chorea	150	Jambul and codeine	282	Lobule (ear)	99
Hydramnios	355	Jaw, necrosis of	406	Lock jaw	323
Hydrocele	39,93,356,383	" dislocation of lower	408	Locomotor ataxic	387
Hydro cephalas	356,361,362	K		Lotion	205
Hydro pericardium	356	Kangaroo tendon	153	Lustre	181
Hydro thorax	356	Katabolism	82,310	Lymphadenitis T B	378
Hygiene	6	Knife, dissecting	46	" of axilla	392
Hyperchlorhydria	199	" decapitating	45	Lymphatic glands	378
Hyperkeratosis	342	" circular	45	Lympho granuloma	388
Hyperesthesia	320	" Paget's	46	Lymphoid tissue	80,410
Hypertrophy	92	" Axe-shaped	47	M	
Hysteria	150,323,325	" Narrowbladed	47	Macrochelia	405
I		Koplik's spots	397	Madura foot	391
Ichthyosis	408	L		Malformations	150
Immunity, natural	5	Laborde's method	169	Malt	270
Impotence	155	Lactic acid	250	Sugar	270
Incision	21	Lactose	250	Manna	261
Incompatibility chemical	125	Lactometer	252	Mannite	261
" Physical	127	Lactic fermenting microbes	252	Manipulation	363
" Physiologi	127	Lacteals	314	Marble	63
" cal	127	Lancet	46,47	Marrow, red	77 258
Incontinence of urin	352	Laryngoscope	36	" yellow	258
" false	352	Lathyrism	202,327	Marasmus	254
" from overflow	352	Laxative	249	Mastitis	374
Incubation period	140,321,343	Lead	215	Measles	391
Indicanuria	349,350	" Sulphide	212	Medicine, Preventive	6,100
Infantile erythema	of	Leech	71	" curative	6,100
Jacquet	399	" Aquatic	75	Medical Practice Ethics	53
Infections	152	" Terrestrial	75	" License council	53
Inflammation	106,367	Legumin	272	Medullary cavity	153
Inflation of the ear	166	Leguminosae	272	Melanin	344 349,397
Influenta	32	Lens (eye)	133	Melanuria	349
Infusion	242	" converging	51	Melanotic Sarcoma	349
Inhalation	40	Leprosy	257,341,342,345	Meningitis	183,373
Inhalers	39	Leuco derma	344	Meningo coccus	109
Inherited predisposition	149	Leukaemia	357	Metabolic process	220,310
Inspection	55	Ligature	42,46,51,66	Metastatic growth	386
Instruments cruciform	36			Metroorrhagia	320
" Pincherlike	36			Microbes	100
" Scooplike	36			Microorganisms	33
" Tubular	36			" Pycogenic	100

I N D E X

Microfilaria	389,359	Oedema Solid	109	Pelvic cavity	337
Microsporon furfur		Oesophagus	166	Pemphigus	393
Migraine	322	Oesophagoscope	168	Pepsin	313
Minerals	311,312	Oil	253	Percussion	55,359
Miscarriage	365	" Chenopodium	298	Pericarditis, purulent	369
Mole	397	" Hydrocarpalis	257,345	Perineum	353
Monoplegia	325	Oligospermia	69	Peristalsis	130
" Brachialis	327	Omentum hernia	384	Peritonism	358
" eruralis	327	Onychia purulenta	393	Peritonitis	359,369
Monster	150	Onychogryphosis	393	Permeability	856
Motor centre (Brain)	324	Opiothotenus	323	Phagocytes	109
Mould	313	Ophthalmia neonatorum	383	Pharmacology	219
Mucus	320,320,333	Ophthalmology	4	Pharmacological actions	219
Muscles	323	Orbital cellulitis	66	Pharynx	369
" Bectus	324	Orchitis	382	Pharyngoscope	36
" Sterno-mastoid	326	Organotherapy	11	Phimosis	189,398,39
" Sphincterari	329	Orthotonus	323	Phlebectomy	320
Muscular tissue	80	Osteoma	154,378,380	Phlebitis	163
" involuntary	81	Osteomalacia	313	Phlyctinules	239
" striped	141	Osteo-myritis	370	Phosphaturia	335,350
Mumps	392	Osteo-porosis	320	Physical cause	152
Mycetoma	391	Ova	10,81,89,148,164,195	" property	920
Myceloma	380	Ovary	78,89,326,373	" state	220,307
Myoma	380	Oviparous	11	Physiology	199
Myxoma	380	Oxidation	82	Pigment	113
Myxoedema	108	Oxygen	71,170	Pigmentation of skin	120
		Oxyhaemoglobin	84	Piles	328,330,331
N		Oxytocies	361	Pinnia (ear)	101
		Oyster shell	62	Pituitary	350,352
Nailparer	46			Pityriasis capitis	394
Nail matrix	393			" versicolor	343
Nape of the neck	194		P	Pitting on pressure	108
Napkin rash	399	Paediatrics	5	Placenta	10,364
Natal	150	Palatitis	409	" Previae	361
Nausea	154	Palate, Adenoma of	409	Placentalia	10
Nevi	398	" Epulis of	409	Plague	128
Necrospermia	89	" ulceration of	409	Plasma	77,78,80
Needles, varieties of	46	" Sarcoma and cancer	409	Plastic Surgery	105
" Aneurism	48	Palpation	55	Plaster	113
" cataract	48	Palpitation	90,306	Platelets	77,83
Neoplasm	378	Pancreas	369,372	Pleurisy with effusion	38
Nerve	80,99,324	Pancreatic juice	130,313	Pleurothotonus	323
" Facial	324,326	Pandemic	32,152	Pneumococcus	109
" Intercostal	392	Papillae of skin	68	Pneumaturia	350
" Motor	324	" of Tongue	182	Politzer's method	166
" Recurrent laryngeal	381	Papilloma	332,380	Polypus	40,328,382
" Sciatic	326	" of skin	397	Polyphagia	199
Nerve terminals	219	Paralysis	325	Polyuria	349
Neuroma	380	" Bell's	326	Postnatal	153
Neurosis (gastric)	199	" Brachial	326	Potain's aspirator	38
Neutralization	63	" Erb's	326	Potassium salts	64,293,294
Nurse	190,192	Paraphymosis	398	Potency	220
Nursing	191	Paraplegia	325,410	Poultice	75,111,204
Numbness	319,391	Parasite	152,153	Precipitate	60
		Parotid	392	Precipitation	63,245
O		Parotitis epidemic	392	Premature canitis	392
Occipit	192	Paronychia	393	Premonitory Symptom	139,197
Odontodynia	407	Parturial	150	Prepuce	332
Odontitis	407	Partus Matutinus	365	Presentations of foetus	360,362
Odontome	154,380	Paste	113	Preternatural mobility	402
Oedema inflamatory	106	Pathology	198	Pricking	21
" Angioneurotic	391	Patient, preparation of	21	Prickly heat	391
		Pellagra	312	Probes	36

INDEX

Probes Blunt	41	Resolution	100,111	Speculums	36,38,39,41
" Sharp	48	Resuscitation	169	Sperm (atozoa)	10,89,90,48,151
" Swab	41	Retention of urine	336	Spermolith	331
" needle-shaped	48	Retina	61,133	Sphincter ari	187
Probang	43,168	Retractors	41	Spleen, enlargement of	351
Frobung	21,44	" eyelid	36	Spincter anaemia	351
Froctitis	331	" wound	36	Splint	42,51,401
Proctoscope	36	" Abdominal	36	Spoon	36,39,41
Prodrome	139,197	Retraction	44	Sporadic	151
Frognaes	186	Rhagades	311	Starch	259,313
Prolapse of the rectum	399	Rhinoplasty	105	Staphylococcus	107,353
" of piles	331	Rice, Polished	268	Steel	51
Prostate gland	90,336,380	Rickets	193,313	Sterile	24
" enlargement of	328,285,329	Ringworm	343	Sterility	135
" cancer	328			Sterilization	21,60,100
Prostatic Secretion	90,95			Stethoscope	56
Proteins	76,132,268,311,312			Stomatitis	412
Psychology	20	Saccharomyces	137	" Gangrenous	406
Pterygium	38	Saccharose	262	Strangulation	170
Ptomaine poisoning	152,278	Salt petre	293	Streptococcus	109,371
Ptyalin	313	Sarcoma	380	Stricture of rectum, arms	
Pulses	271	Sarcopetes Hemoris	344	39,145,358,399	
Pulsations	377	Scabies	344	Stropping	60
Puncturing	21	Scald	67	Straining	165,400
Pupil	133,194	Scalpel	46,47	Styptic	53,86
Purn	272	Scarlet fever	327	Subluxation	402
Purpura	83,183	Schaffer's method	169	Suction	44
Pus	109	Sciatica	326	" pump, ball	42
Pus pockets	23,24	Scfirthus	380	Succus Entericus	131,313
Pyaemia	332,396	Scissors	46,47,48	Sugar	145
Pyelitis	351	Scoop	38,42	Sun rays	120
Pylonephritis	369	Scraping	91	Sunstroke	70,183
Pyogenic bacteria	109	Scrofula	139,378	Suppuration	103,378
Pyorrhoea alveolans	305,406	Serotol Swelling	382	Suppression of iron	336,338
Pyonephrosis	351,369	Scurvy	63,281,313,406,128	Surgery	4
Pyosalpinx	109	Sebaceous cyst	377,393	" operative	52
Pyrexia	321	" Gland	377,397,91	" Plastic	> 105
Pyuna	351	" Horn	393	Suturing (stitching)	21
		Seborrhoea capitis	394	" maternal	42,43,158
Q		Septic	142,403	" varieties of	158
Quinine	222	Septicaemia	373	Sweat glands	91,377
		Sequales	187	Syphilis	145,341,386
R		Serum	83,86	Syringe, Enema	39
		" treatment	128,281		
Ranula	409	Shock	68,183,403	T	
Raphe	64	Sigmoidoscope	36	Tabes dorsalis	387,404
Rectum	229	Silver nitrate	59,63	Tachycardia	322
" Prolapse of	999	Silvester's method	169	Tarter	304,407
" cancer	328	Silkworm gut	158	Taste	210
Rectoscope	38	Sinus, diseases of	23,110,373	Tempering	50
Reflex action	219	" Papillae of	341	Tenderness	106,153
Regeneration	141	Sloughs	68	Tendon	141,158
Renal threshold	350	Small pox	147	Tenesmus	400
" Glycosuria	350,351	Smeqma	394	Tetanus	100,323,324
" colic	328,336	Sodium Salts	145,399	" uteri	188,563
Bennet	313	Soft chancre	385	Thermic fever	70
Replacement	44	Sore but-tocks	399	Thermogenic centre	108
Respirators	40	Sound	36	Thorax	319
Respiration, Artificial	70,169	" urethral	42	Thrill	377
" Periodic	183	Sounding	44	Thrombin	83
" centres of	69,169	Spasmodia	326	Thrombosis	325

troubling	170	Trismus	923	" Varicosity of	149,320,
thyroid	380	Trocar	47	" valves of	329,377
thyroxine	381	Truss	42	Venacava inferior	329
Lia	145	Trychophyton	343	Venereal diseases	76
ingling	143,239,319,342	Trypsin	313	Vertigo	386
mea	343	Tumour	378	Vibrio Septic	319
issue	79,141	" Bony	93	Vienna paste	157
" elastic	80	" cock's	393	Villi	63
" Epithelial	80	" Gaseous	370	Virus	76
" connective	80,82	" Secondary	380	Vitality	32,33,123
" Fibrous	80,141,373	Twitching	319	Vitamin	10,56,173
" Fibroocatricial	26,147	Tymparitis	93,328	" 'A'	95,259,312
" Granulation	26,107,147	Typhoid fever	244,278	" 'B'	247,250,258,278,
" Lymphoid	80,410	" state	242	" 'C'	312
" Muscular	80			" 'D'	268,247,283,271
" Nervous	80			" 'E'	271,281,313
longuo, coated	182			Vitreous humour	250,258,278,313
" fissured, glazed	408	Ulcer	141	Viviparous	250,271,313
onsils, enlarged	409	" stages etc.,	147		133
" Pharyngeal	410	Ultra-microscopic	133	W	
tooth, extra	407	Ultra-violet rays	120,245,313	Ureter	
" wisdom	407	Uric acid	64,274,321	Urine, anomalies of	
" " impacted	407	Uremia	183,323	Black	
" carious	407	Ureter	336	Alkaline	
" enamel of	407	Urino, anomalies of	348	incontinence of	
Toothache	407	" Black	349	retention of	
Tooth elevator	42	" Alkaline	351	suppression of	
Tooth scaler	47	" incontinence of	352	186,386,	Wisdom tooth
Cophi	322	" retention of	338	338	407
Dorsion	86	" suppression of	388	Whitlow	393
Torticollis	326	Urothroscope	36	Worms, intestinal	244,246
Poxaemia	259,332,371	Urinary disorders	249	" Round	244,284,288
Toxicology	5	" casts	359	" Tape	244,278,284
Toxins	268	Urobilinuria	350	" whip	245
Trachea	4	Urticaria	212,391	" Thread	244
Tragus	101	Uterin intertia	188	" Hook	245,288,341
Transudation	355	Uvula elongated	408	" Guinea	245,246
Transfusion	86				
Treponema pallida	386				
Treatment, Antiseptic method					X
of	123				
" after	21	Vaccine treatment	128	Xerophthalmia	312
" climatic	203	Valsalua's method	166	X-ray therapy	120
" conservative	9	Varicocele	384		
" curative	100,128	Variola	394	Y	
" Dietetic	9	" minor	396	Yeast	137,312
" Eliminative	9	Varioloid	396	Young's rule	201
" Radical	9	Varix	149		
" Regiminal	9	Vegetable kingdom	11	Z	
" Sedative	9	Vein	99	Zinc chloride	
" Symptomatic	198	" Portal	359	Zoology	
" Preventive	100,128	" Subclavian	76		
Trichiasis	38,66	" enlarged, distended	332,356		
Trichinosis	278				20



COLLECTION OF VARIOUS

- HINDUISM SCRIPTURES
- HINDU COMICS
- AYURVEDA
- MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

[creator of
hinduism
server]

